श्रावण १९८५

खंड २, अंक १

मूल्य ४)
(मूल्य २॥)

संपादक { श्री हरिभाऊ उपाध्याय
श्री क्षेमानन्द 'राहत'

एक संख्या का ।)
विदेशों के लिए ५)

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर, से प्रकाशित

सस्तामंडल के ग्राहक होने के नियम

(१) हमारे यहाँ से "सस्ती-पुस्तकमाला" नाम की माला निकलती है जिसमें वर्ष भर में लगभग ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें निकलती हैं और वार्षिक मूल्य पोस्ट खर्च सहित केवल ८) है। अर्थात ६) रुपये ३२०० पृष्ठों का मूल्य और २) डाकव्यय। इस (सस्ती-पुस्तक-माला) के दो विभाग हैं; एक साहित्य-माला और दूसरी प्रकीर्णमाला। दो विभाग इसलिये कर दिये हैं कि जो सज्जन वर्ष भर में आठ रुपये खर्च न कर सकें वे एक ही माला के ग्राहक बन जावें। प्रत्येक माला में १६०० पृष्ठों की पुस्तकें निकलती हैं और पोस्ट खर्च सहित ४) वार्षिक मूल्य है।

(२) **वार्षिक ग्राहकों को** उस वर्ष की—जिस वर्ष में वे ग्राहक बनें—सब पुस्तकें लेनी होती हैं। यदि उन्होंने उस वर्ष की कुछ पुस्तकें पहले से ले रक्खी हों, तो अगले वर्ष की ग्राहक-श्रेणी का पूरा रुपया यानि ४) या ८) भेज देने पर उस माला की (दोनों मालाओं के ग्राहक बनें तो दोनों मालाओं की) पिछले वर्षों की पुस्तकें जिस के वे ग्राहक बनें जो वे चाहें एक एक कापी लागत कीमत पर मंगा सकते हैं।

(३) **वार्षिक ग्राहक बनने के लिए** शुरू में केवल एक बार प्रत्येक माला पीछे आठ आना प्रवेश फ़ीस यानि दोनों मालाओं का १) प्रवेश फीस जमा कराना होता है। यह प्रवेश फीस वापिस नहीं लौटाई जाती। इस तरह शुरू शुरू में (केवल एक बार) ग्राहक होने समय प्रत्येक माला पीछे ।) प्रवेश फीस और ४) वार्षिक मूल्य अर्थात दोनों मालाओं के ग्राहक बनने के लिये ९) भेजने होते हैं फिर आगे के सालों के लिए प्रत्येक माला पीछे केवल ४) या दोनों मालाओं का ८) भेजने होते हैं।

(४) **दोनों मालाओं का वर्ष**—जनवरी मास से शुरू हो कर दिसम्बर मास में समाप्त होता है। मालाओं की पुस्तकें प्रायः हर चौथे महीने इकट्ठी निकलती हैं और ग्राहकों के पास भेजदीजाती हैं।

दोनों मालाओं में नीचे लिखी पुस्तकें प्रथम वर्ष में निकली हैं—

सस्ती-साहित्य-माला (प्रथम वर्ष)

(१) द० आफ्रिका का सत्याग्रह (महात्मा गाँधी लिखित) पृष्ठ ५७२ मूल्य ।।।)
(२) शिवाजी की योग्यता पृ० १३२ मू० ।=)
(३) दिव्यजीवन पृष्ठ १३६ (चौथी बार) मू० ।=)
(४) भारतके स्त्री-रत्न-पृष्ठ ४१० (दू०बार) मू० १)
(५) व्यावहारिक सभ्यता-पृ० १०८ " मू० ।)।।
(६) आत्मोपदेश-पृष्ठ १०४ (दूसरी बार) मू० ।)
(७) क्या करें ? (टॉल्सटॉय) पृष्ठ-२६६ मू० ।।=)
(८) कलवार की करतूत (,,) पृष्ठ ४० मू० –)।।।
(९) जीवन-साहित्य पृष्ठ २१८ (कालेलकर) मू० ।।) (भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी)

सस्ती-प्रकीर्ण-माला (प्रथम वर्ष)

(१) कर्मयोग पृष्ठ १५२ मू० ।=)
(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा मू० ।–)
(३) कन्या-शिक्षा पृष्ठ ९४ मू० ।)
(४) यथार्थ आदर्श जीवन-पृष्ठ २६४ मू० ।।–)
(५) स्वाधीनता के सिद्धांत-पृष्ठ २०० मू० ।।)
(६) तरंगित हृदय (ले० गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य पं० देवशर्मा विद्यालंकार) पृ० १७५ मू० ।=)
(७) गंगा गोविंदसिंह पृ० २८८ मू० ।।=)
(८) स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्तव्य (ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय) पृ० १५८मू० ।–)
(९) यूरोपका इतिहास (प्र०भाग) पृ० २६६मू० ।।=)

विषय-सूची

पृष्ठ

त्यागभूमि

विवाह
समारंभ

(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान ॥

खण्ड २ अंश १ | सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर । | वैशाख संवत् १९८५

धोखा

न कर, यह, भ्रमर भयंकर भूल ।
सरस सुमन यह नहीं, अरे यह नीरस कृत्रिम फूल ॥

मुख पर मृदु मुस्क्यान-मधुरिमा सुन्दर रूप अनूप ।
अन्तर में पर छिपी हुई है गन्ध-हीन कुछ धूल ॥

तजकर व्यर्थ विमोह विश्व-उपवन में खुल कर खेल ।
ललित-कलित स्वातंत्र्य-लता पर झूम-झूम कर झूल ॥

'गाहन'

अमरता की गोद में—

लड़के नाटक का खेल दिखा रहे थे। महात्माजी अपना चर्खा कात रहे थे। मैंने देखा, महात्माजी के चेहरे पर पीलापन छा रहा था। विद्यापीठ से आश्रम को वह इन एक दो दिनों में दो-तीन बार आते-जाते थे। आश्रम के विद्यार्थियों ने अपने विद्या-मन्दिर के वार्षिकोत्सव का आयोजन किया था। शायद उसी दिन सुबह कुछ देर हो जाने से महात्माजी ने कुछ दौड़ कर भी समय पर पहुँचने की कोशिश की थी। सुबह के कार्य-क्रम में देर तक धूप में भी बैठे रहे। इधर राष्ट्रीय महासभा से लौटने के बाद से दूध लेना बन्द कर दिया था—बादाम और नारियल का दूध बना कर पीते थे—इस बात का प्रयोग बुढ़ापे में, शुरू कर दिया था कि बिना दूध के भी मनुष्य रह सकता है, और दूध का गुण देने वाले दूसरे पदार्थ भी हैं। वह शायद यह समझते हैं कि और बातों में तो मैंने अपना सन्देश दे दिया, व्यवहार-विधि भी बहुत-कुछ बता दी, अब एक काम रह जाता है—इसको भी करता जाऊँ। इस लोभ में दूध बन्द कर दिया था, खुराक कम लेते थे, वज़न कम होता जाता था, शरीर दुबला पड़ता जाता था। इधर गुजरात-विद्यापीठ की पुनर्रचना की धुन में मन में काफ़ी परिश्रम का बोझ पड़ रहा था। फिर आश्रम के उत्सव में आने की दौड़-धूप। उस पीलेपन में इतना इतिहास छिपा हुआ था। जमनालालजी ने भी देखा कि बापू कुछ उदास मालूम होते हैं। उन्होंने एकाध ऐसी बात छेड़ी, जिससे हँसी आवे। पर महात्माजी हँसे नहीं। थोड़ी ही देर में उन्होंने चर्खा कातना बन्द कर दिया, एक विद्यार्थी तार लपेटने लगा। सब लोगों का ध्यान नाटक की ओर लगा हुआ था। एकाएक मैंने देखा कि महात्माजी मीराबहन के कंधे का सहारा लेकर उठ रहे हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि यह क्या? मैंने सोचा कि बुढ़ापा है, फिर इधर कमज़ोरी ज़्यादा आ गई है, उठते समय सहारा लेने की ज़रूरत पड़ गई हो। मीराबहन एक ही दो क़दम आगे बढ़ी होंगी कि पैर लटक गये—शरीर का सारा बोझ मीराबहन पर आ गया जमनालालजी ने मुझे सचेत किया—फ़िट आ गया, पैर सम्हाल लो। मैं झपटा और लटकते हुए पैरों को सहारा दिया। और भाई भी दौड़ पड़े और सबने महात्माजी को हाथों पर सम्हाल रक्खा। लड़कों का खेल बन्द हो गया—सन्नाटा छा गया। महात्माजी का सारा शरीर पीला पड़ गया। आँखें खिंच आईं। इतनी पीली पड़ गईं कि देख कर रुलाई आने लगी। गरदन लटक गई। बहुत-से लोगों ने समझ लिया कि बापू चल बसे। मुझे तो ऐसा मालूम हुआ, सारा ब्रह्माण्ड सूना हो गया। कुछ ही दिन पहले मेरी माताजी का स्वर्गवास हुआ था। अन्त-समय उनके शरीर की जो अवस्था हो गई थी वही चेष्टायें महात्माजी के शरीर की इस समय दिखाई पड़ीं। एक ही दो दिन पहले महात्माजी ने प्रार्थना के समय प्रवचन करते हुए कहा था—'मरना तो ऐसा कि चर्खा कात रहे हैं, कातते-कातते दम निकल गया। बात कर रहे हैं, बोलते-बोलते साँस छूट गई।' मेरे मन में हुआ, महात्माजी मृत्यु का भी पदार्थ-पाठ दे गये। मौत भी करके दिखा दी। वह एक पुनीत दृश्य था। शोक, करुणा, उदासीनता, चिन्ता, उद्विग्नता का अजीब मिश्रण लोगों के चेहरे पर छा गया था। कोई देश के भविष्य की चिन्ता में डूब गया था। कोई आश्रम के सोच में पड़ गया था। किसी के सामने खुद अपनी समस्यायें आ खड़ी हुई थीं। किसी को बापू के मिशन की फ़िक्र थी। मेरे मन में उस समय क्या-क्या भाव उठे, यह लिखना शक्ति के बाहर है। या तो हृदय भाव-शून्य हो गया था, या वे इतनी मात्रा में और इतनी तेज़ी से आते-जाते थे कि उनका स्मरण रहना असम्भव था। मैं तो बड़ी कठिनाई से अपनी रुलाई रोके उनके पैरों में सोंठ मलता रहा। इसीको मैंने बड़ा अहोभाग्य माना। जिसे मैंने अपना हृदय-देव बनाया है ऐसे समय उसकी चरण-सेवा करने का सौभाग्य मिला—उस महा अन्धकार में यह भाव एक प्रकाश-रेखा सा मेरे हृदय को आश्वासन दे रहा था। ढाई-तीन मिनट में महात्माजी ने आँखें खोलीं। नज़र सीधी रंग-मंच की ओर गई। कष्ट-पूर्वक मुरझाये मुख से आवाज़ निकली—'खेल क्यों बंद कर दिया, उसे जारी करो।' यह शब्द सुनते ही इधर लड़कों का खेल फिर शुरू हुआ, उधर हम लोगों के गये प्राण मानों फिर लौट आये। ब्रह्माण्ड फिर हिलता-डोलता मालूम हुआ। ५ ७ मिनट बाद

महात्माजी ने पूछा—'मेरा सूत कितना हुआ है, गिना ? कितना कम है ?' एक ने कहा—१९ तार कम है। हुक्म हुआ—'मेरा चर्खा लाओ, शेष तार कातना है।' आस-पास वालों के खिले चेहरे फिर मुरझाने लगे। प्राण तो शरीर में अभी लौटे ही नहीं हैं, और बैठ कर चर्खा कातने का आग्रह ! राम, यह कैसा बे-पीर है। जमनालालजी ने बुरा मुँह बना कर कहा—बापूजी, अब आज न कातें तो न चलेगा ? उत्तर मिला—'यह कैसे हो सकता है ?' इस समय महात्माजी के चेहरे का भाव मानों कह रहा था—'जमनालालजी, तुम तो ऐसा न कहते ?' शंकरलाल भाई को तो चर्खा कातने की बात एकबारगी असह्य हो गई। एक तो उनका यह इलज़ाम रहा ही करता है कि बापू शरीर की पर्वा नहीं करते। फिर ऐसे समय चर्खा कातने का आग्रह उन्हें इतना बुरा लग रहा था मानों बापू हम लोगों की बिलकुल पर्वा न करके मौत को ज़बर्दस्ती बुला रहे हों। अन्त को चर्खा आया और महात्माजी कातने बैठे। कात रहे थे कि डाक्टर शहर से देखने आये। देख कर बोले—'यह तो भले-चंगे हैं, इन्हें क्या देखूँ ?' महात्माजी ने हँस कर कहा—'मेरी नहीं, शंकरलाल की दवा करो।'

एक मित्र, जो दूर खड़े अनिमेष नेत्रों से महात्माजी को पी रहे थे, मुस्कुरा कर बोले—भाऊजी, आज तो भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों की फ़िल्में मेरी आँखों के सामने दौड़ रही थीं—बुड्ढे इसी तरह, एकाएक चल बसने वाले हैं।

लड़कों के नाटक का जो नया दृश्य खुला तो एक पात्र कह रहा था—'देखो, अभी दो घड़ी के बाद मेरी मृत्यु आने वाली है, इसलिए धर्म के बारे में जो कुछ पूछना हो, पूछ लो।' मेरे दिल में एक हलका सा भय दौड़ गया—'ईश्वर, यह कैसी भविष्यवाणी ?'—'अतिस्नेहः पाप शंकी' !

वह चित्र मेरी आँखों से हटाये नहीं हटता। अब वह एक सपना-सा मालूम होता है—पर उस दृश्य में कितनी पवित्रता थी, कितना जीवन था ! उस मूर्च्छा में और उससे उत्पन्न उद्विग्नता में कितनी गज़ब की चेतना थी ! मृत्युवत् मूर्च्छा; ज़रा चेतना आते ही खेल शुरू करने की आज्ञा; किंचित् थकावट दूर होते ही चर्खा कातने बैठना—इन बातों के इतिहास में महात्माजी के सारे जीवन का रहस्य और माहात्म्य आ जाता है। जब-जब उस भव्य और दिव्य दृश्य का स्मरण हो आता है तब-तब हृदय के अन्तस्तल से यह आवाज़ उठती है—धन्य है हमारी यह गुलामी ! अमर रहे हमारी यह विपत्ति ! इन्हींके बदौलत ऐसे पुरुष हमें नसीब होते हैं। यदि ईश्वर कहे कि 'लो मैं तुम्हें आज़ाद कर देता हूँ, तुम्हारे सब दुःखों और कष्टों को दूर किये देता हूँ, पर इसके बदले में महात्माजी जैसों का जन्म लेना बन्द कर देना चाहता हूँ, तो मैं कहूँगा—'मैं गुलामी से ज़रूर ऊब गया हूँ, आज़ादी का ज़रूर भूखा हूँ, देश की दुर्दशा मुझे बिच्छू की तरह डस रही है, उसके लिए मुझसे बड़ी से बड़ी क़ीमत ले लीजिए—महात्माजी जैसे तक की आहुति लेना हो तो ले लीजिए, पर उनका आना मत रोकिए।' यदि गुलामी और विपत्ति की यातना में ही ऐसों का जन्म होता हो, तो मैं आगे बढ़ कर उस गुलामी और विपत्ति के चरण चूमूँगा। वह स्वराज्य बेकार है, जिसमें पवित्र विभूति न हो—उसके लिए स्थान न हो; वह पराधीनता, वह नरक, स्वर्ग और अपवर्ग से भी बढ़ कर है, जिसमें पवित्र विभूतियों का दर्शन होता हो।

(२)

बुद्धि के उदय के युग की याद दिलाने वाले हमारे मित्र इसे भोली भावुकता कह कर इसपर हँस पड़ेंगे। मुझे इसकी शिकायत नहीं। मैं कह चुका हूँ, दीवानों का रास्ता जुदा है—समझदारों का रास्ता जुदा है। समझदारों का ठण्डापन, ख़ुदग़रज़ी, ग़ैरत और ज़िल्लत से मुझे दीवानों का आत्मार्पण, ऊँचा उठना, उड़ना और कूद पड़ना अधिक गौरवपूर्ण मालूम होता है। बुद्धि की तीव्रता की अपेक्षा हृदय की शुद्धता मनुष्यत्व के अधिक नज़दीक है। बुद्धि की तीक्ष्णता में हृदय को ऊँचा उठाने का उतना सामर्थ्य नहीं है, जितना हृदय की निर्मलता में बुद्धि को तीक्ष्ण बनाने का है। हृदय की मलिनता ज्यों-ज्यों कम होती जाती है त्यों-त्यों बुद्धि की तीव्रता और साथ ही निर्णय की शुद्धता अपने आप बढ़ती जाती है। पवित्रता की चाह और स्वाधीनता की चाह एक ही वस्तु है। कोरी स्वाधीनता चाहने वाला दूसरे व्यक्तियों के अंकुश से अपनेको छुड़ाना चाहता है; पर पवित्रता का इच्छुक तो अपनी भी बुराइयों और दोषों से अपनेको मुक्त कर लेना

चाहता है। अतएव वह बढ़कर और ऊँचे दर्जे का स्वाधीनता-प्रेमी है।

मेरे दूसरे भाई कहेंगे—यह क्या बीसवीं सदी में तुम व्यक्ति-माहात्म्य का गीत गाने लगे? दुनिया कहां जा रही है, तुम कहां जा रहे हो?

हां, बात कुछ है उल्टी ही। उस पवित्र दृश्य को पाठकों के सामने उपस्थित करने की आज़ादी मैंने इसलिए नहीं ली कि पाठक महात्माजी को ईश्वर समझ लें, उनकी मूर्ति बनाकर उसका ध्यान और उनके नाम का जप किया करें—हालां कि हिन्दू-जीवन की वस्तुस्थिति में तो इसे भी एक हद तक स्थान है। मेरा कहना इतना ही है कि दुनिया व्यक्तियों की बनी हुई है, व्यक्तियों के लिए है, और सिद्धांतों, आदर्शों की कल्पना हम व्यक्तियों के ही द्वारा कर सकते हैं। व्यक्ति क्या है? एक जीता-जागता आदर्श और सिद्धांत ही तो है? लोग क्यों राम, कृष्ण, ईसा, बुद्ध, महावीर, रामदास, मुहम्मद, गोविंदसिंह, मार्क्स, लेनिन को याद करते हैं? क्यों गांधी को याद रखना चाहते हैं? यदि ये कुछ सिद्धांतों के प्रतिपालक, कुछ आदर्शों के प्रवर्त्तक न होते, तो इनकी हड्डी-पसलियों में क्या रक्खा था? लोग उनके शरीर को नहीं मानते हैं, उनके गुणों और कार्य को पूजते हैं; और शरीर इन बातों का साधन होता है, इसलिए जब तक वह है तब तक उसकी महिमा और प्रतिष्ठा को मिटा देने का सामर्थ्य किसी में नहीं। फिर मैंने तो उस पवित्र प्रसंग का वर्णन इसलिए किया है कि हम—महात्माजी को किसी भी अंश और किसी भी अर्थ में अपनेसे श्रेष्ठ समझने वाले—उनके संबन्ध में सावधान हो जायँ। जो उनसे विशेष अनुराग रखते हैं, जिन्हें उनका जीवनादर्श प्रिय है, जो अपनेको उनका अनुयायी मानते हैं, वे अपने कर्त्तव्य का विशेषरूप से विचार और निश्चय कर लें। अब तक न समझा हो तो अब शीघ्र समझ लें कि महात्माजी क्या चाहते हैं, और क्या कर रहे हैं। देश के नवयुवक और विद्यार्थी कम से कम उनके जीवन से तो वाक़िफ़ हो लें। यह कितने आश्चर्य और दुःख की बात है कि जर्मनी, आष्ट्रिया और फ्रांस के विद्वान महात्माजी पर बढ़िया विवेचनात्मक पुस्तकें लिखें और भारतवर्ष के स्कूल-कालेजों में पढ़ने वाले हज़ारों विद्यार्थी उनके जीवन के मर्म तक को समझने की फ़ुरसत न पावें! अस्तु।

जिन्हें पहचानने की बुद्धि और भविष्य को देखने वाली आंखें हैं वे तो आज भी देख सकते हैं कि महात्माजी भारत के ही मन, वचन, कर्म में नहीं बल्कि दुनिया के भी इतिहास में क्या उलट-फेर कर रहे हैं; फिर भी अधिकांश लोग तो उन बातों को स्पष्ट रूप से तभी समझ पावेंगे, जब आज का भविष्य अपनेको वर्त्तमान के रूप में सामने लावेगा। यह बात मानकर चलने में कोई बुराई नहीं है कि महात्माजी का शरीर अधिक दिनों तक उनकी आत्मा का साथ न दे सकेगा। यह हम इसलिए नहीं मानें कि हम उनके जीवन से निराश हो चुके हैं, बल्कि इसलिए मानें कि मृत्यु प्रकृति का एक नियम है और जागरूक मनुष्य को सदा उसके लिए तैयार रहना चाहिए और न हम मृत्यु की बातों और चर्चा को अमंगल या भयजनक ही समझें। मृत्यु शरीर की एक मीठी चिरनिद्रा है। मृत्यु जीवन के विकास की एक अवस्था है। शरीर का विकास मर्यादित है; वह प्रकृति के—पंचमहाभूतों के—नियमों से बंधा हुआ है। आत्मा का विकास अमर्याद है और प्रकृति की पहुँच के परे होना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है। किसी की आत्मा का विकास जब एक शरीर के विकास की मर्यादा के बाहर जाने लगता है तब शरीर का छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। विकासशील आत्माओं के जीवन में शरीर की जीर्णता और अन्तःस्थिति को हम विशेष-रूप से देख सकते हैं। अतएव शरीर का नाश दुःख, भय, या निराशा का कारण न होना चाहिए। महात्माजी के संबंध में भी, शरीर-मोह से, हमें किसी प्रकार प्रभावित न होना चाहिए। बल्कि मैं तो देखता हूँ कि वह तो अमरता की गोद में दिन-दिन आगे बढ़ रहे हैं। हाँ, जब तक उनका शरीर अपने स्वाभाविक क्रम में छूटने की स्थिति को नहीं पहुँच जाता तब तक उसके रक्षा और पोषण की चिन्ता उन्हें और हमें सबको होनी चाहिए; पर उनके शरीर की वर्त्तमान जीर्ण-शीर्णता को ध्यान में लाकर हमें अपने-अपने कर्तव्यों में अधिक सावधान और जागरूक अवश्य हो जाना चाहिए।

(३)

खुद महात्माजी ने तो अपनी ओर से यह कही दिया है कि मेरे शरीर का ख़याल छोड़ दो—असली बात तो स्वराज्य है; उसकी प्राप्ति में जुट पड़ो, और उसके लिए आकाश-पाताल एक कर दो। साथ ही उन्होंने बताया कि विदेशी कपड़े का बहिष्कार इस समय स्वराज्य-प्राप्ति का प्रभावशाली कार्य-क्रम हो सकता है। और उसका मध्य-बिन्दु है खादी और चर्खा। अतएव स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमें कम से कम इतना अवश्य करना चाहिए—

(१) विलायती वस्त्र का उपयोग हम बिलकुल छोड़ दें। विलायती वस्त्र पहनते या इस्तेमाल करते हुए हमें शर्म आने लगे और मन को असह्य पीड़ा होने लगे।

(२) केवल स्वदेशी ही वस्त्र पहनें और बरतें। उसमें भी जितनी अधिक खादी इस्तेमाल कर सकें नियम-पूर्वक करें—कम से कम हर भारतवासी एक कुरता और टोपी खादी की अवश्य पहनें और बहनें खादी की साड़ी या फ़िल-हाल कंचुकी ही पहनने का व्रत धारण कर लें।

(३) रोज़ नियम-पूर्वक चर्खा या तकली पर सूत कातें।

जिन्हें महात्माजी का जीवनादर्श प्रिय है उन्हें इतनी बातों पर ख़ास तौर पर ध्यान देना चाहिए—

(१) मन, वचन और कार्य में अधिकाधिक सत्य का अवलंबन करें।

(२) मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम का व्यवहार करने का यत्न करें।

(३) जीवन के हर अंग में संयम को प्रधानता दें; क्या स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक संबंध में, क्या भोजन-पान और रहन-सहन में, क्या सुख और भोग की सामग्री में; सब जगह संयम से काम लेने की आदत डालें।

(४) अछूतों से छुआछूत मानना छोड़ दें।

(५) हिन्दुओं और मुसलमानों के वैमनस्य को घटाने में अपनी शक्ति लगावें। कम से कम अपनी ओर से उसे बढ़ने न दें।

(६) नियमनिष्ठ और निर्भय बनने का यत्न करें।

(७) मरे हुए पशु की ही खाल का चमड़ा इस्तेमाल करें; कटे पशु का नहीं।

(८) जिन लोगों ने कुछ न कुछ काम अपनी तरफ़ ले रक्खा है वे इस उत्साह, भाव और लगन से उसमें जुट पड़ें, मानों महात्माजी को हम जीते-जी दिखा दें कि आपके न रहने पर भी हम अपने कामों को और भी ज़िम्मेवारी और दृढ़ता के साथ करते रहेंगे।

यदि हम इतना कर सके तो महात्माजी के मर जाने पर भी, सर्वदा हमें अमरता की गोद में दिखाई देंगे और यदि हम कोरे शब्दों से उनकी पूजा करते रहे तो वह हमारे सामने अमर होकर भी अपनेको मरे से बदतर समझेंगे। और मैं ज़रूर मानता हूँ कि इस पिछली अमरता से पहली मृत्यु हर तरह श्रेयस्कर है। यों तो महापुरुषों का जीवन जैसे चैतन्य का स्रोत और प्रकाश की शिखा होता है, वैसे ही मृत्यु एक स्फूर्ति की बैटरी होती है। जीवित अवस्था में उसकी आत्मा शरीर के क़ैदख़ाने में बंद रह कर अपना काम करती है; पर मृत्यु के पश्चात् वह स्वतंत्र और स्वाधीन होकर फैलती और अपना काम करती है। अतएव, आइए, हम तो चिन्ता और आशङ्का की घटाओं को चीर कर अपने काम में आगे बढ़ते चले जावें और इसी बात पर परमात्मा का उपकार मानें कि हम महात्माजी जैसी विभूति के समय में उसीके देश में उत्पन्न हुए, रहे, उसके दर्शन किये, उसके लेख पढ़े, उपदेश सुने और स्वराज्य की सेना में—एक छोटे और मामूली क्यों न हों—उसके सिपाही बनने का गौरव प्राप्त किया। और महात्माजी के पुरुषार्थी जीवन को देखकर उनकी सी विभूति बनने का हौसला रक्खें। महात्माजी का जीवन क्या है? आशा, अमरता और आत्मा का सन्देश है; जीवन, जागृति, बल और बलिदान का नमूना है। अमरता की गोद ऐसे ही जीवन के लिए सिरजी और खुली है। ओ मनुष्य, तू मृत्यु की भयानकता से न सिहर—उसके अंदर अमरता की ज्योति जगमगा रही है। तू गा—

"अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे?
राग-द्वेष जग-बंध करत हैं, इनको नाश करेंगे।
मर्यो अनन्तकाल ते प्रानी, सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी-नासी हम थिरवासी, चोखे व्हे निखरेंगे॥'

हरिभाऊ उपाध्याय

हमारा झण्डा

हमारा झण्डा उड़ता रहे !
राष्ट्र का मूर्तिमान अभिमान ।
विश्व में स्वतन्त्रता की शान ।
देश के नवजीवन की जान ।
करेगा यह उठ कर उत्थान ।
दृढ़ता की—
भव-धर्म-वीरता की—
विक्रम की खान ।
विपुल वैभव का विशद वितान ।
सुझायेगा सुनीति का मर्म ।
सिखायेगा यह सच्चा धर्म ।
सदा देश-सेवक-दल—
इसके नीचे जुड़ता रहे !
हमारा झण्डा उड़ता रहे !

(२)

हमारा झण्डा उड़ता रहे !
त्रिवेणी सी हैं तीन तरंग ।
सरस्वति सुन्दर यमुना-गंग ।
विष्णु का चक्र सुदर्शन संग ।
बढ़ाता उर में अतुल उमंग ।
एक ओर है शांति—
दूसरी ओर—
जंग का रंग ।
हो रही दुनिया सारी दंग ।
मित्र लहराना लख कर मस्त ।
शत्रुओं की हिम्मत है पस्त ।
सदा देश-सेवक दल—
इसके नीचे जुड़ता रहे !
हमारा झण्डा उड़ता रहे !

(३)

हमारा झण्डा उड़ता रहे !
दीन भारत के सिर का ताज ।
सम्हाले यह स्वदेश के काज ।
सुखी छाया में रहे समाज ।
कह रहे कोटि-कोटि मुख आज—
मिट जायें—
चाहे हम, हमको—
रखना इसकी लाज ।
दिलायेगा यह सुखद स्वराज ।
फूंक देगा यह ऐसा मंत्र ।
बनेगा भारतवर्ष स्वतंत्र ।
सदा देश-सेवक-दल—
इसके नीचे जुड़ता रहे !
हमारा झण्डा उड़ता रहे !

(४)

हमारा झण्डा उड़ता रहे !
कौमियत के दिल का अरमान ।
यही है मातृ-भूमि का मान ।
यही भारत-वीरों की आन ।
यही है धर्म यही ईमान ।
बसते इसमें
गुप्त रूप से—
हैं त्रिमूर्ति भगवान् !
चलो, सब इसपर हों बलिदान !
बताकर सीधी-साधी युक्ति ।
दिलायेगा यह जीवन-मुक्ति ।
सदा देश-सेवक-दल—
इसके नीचे जुड़ता रहे !
हमारा झण्डा उड़ता रहे !

'कर्णाटक'

भारतीय दर्शनशास्त्र

दर्शन उत्तर और परिपक्व जीवन का विषय है। जीवन की अनुभव-भूमिका में इस विषय के द्वारा रस लिया जाता है।

दर्शनशास्त्र—दर्शन और शास्त्र। दर्शन के मानी? दर्शन का सामान्य अर्थ है आँख से देखना। परन्तु यह सामान्य अर्थ यहाँ पर नहीं लेना चाहिए। यहाँ पर तो इसका अर्थ अनुभव या साक्षात्कार लगाना चाहिए। तब दर्शनशास्त्र का अभिप्राय हुआ साक्षात्कार का शास्त्र। किसी भी वस्तु का अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेने का नाम है साक्षात्कार; और इसी अर्थ में दर्शन शब्द व्यवहृत हुआ है।

पर, यदि दर्शनशास्त्र साक्षात्कार का शास्त्र है तो कहना होगा कि समस्त दार्शनिकों ने अपने दर्शनशास्त्रों में अपने साक्षात्कार ही दर्ज किये हैं। और साक्षात्कार यदि सत्य है तो प्रत्येक के लिए वह एकसा ही होना चाहिए।

समस्त दार्शनिकों के साक्षात्कार एक-दूसरे से जुदे हैं। अगर ये सब साक्षात्कार सत्य हों तो उनमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं होना चाहिए। पर हम देखते हैं कि इन भिन्न-भिन्न दर्शनों के विचारों और उन्हें जिस भाषा में प्रकट किया गया है, उसमें बड़ा फ़र्क है। दर्शन का अर्थ यदि हम सच्चा साक्षात्कार मानें तो फिर उसमें मतभेद की गुंजाइश न होनी चाहिए। उसी एक बात को सबको भिन्न-भिन्न भाषा में वर्णन करना चाहिए। परन्तु हुआ इससे बिलकुल विपरीत है। यहाँ तो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपने से भिन्न मत वालों का खंडन किया है।

अतएव दर्शन का अर्थ पूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता। अनेक ऋषियों ने भिन्न-भिन्न विचार करते हुए जो अनुभव प्राप्त किये उनका नाम साक्षात्कार है, परन्तु उसे पूर्ण साक्षात्कार नहीं कहा जा सकता। इससे दर्शन का अर्थ साक्षात्कार का प्रयत्न अथवा प्रयत्न करते हुए प्राप्त हुआ अनुभव-रूप फल हो सकता है। वे ऋषि अपने अनुभव को पूर्ण साक्षात्कार भले ही मानें; पर हम तो उसे अंतिम अनुभव कदापि नहीं कह सकते। दर्शनशास्त्र का अभिप्राय तो है वह शास्त्र जोकि संपूर्ण साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करते हुए प्राप्त हो। भारतीय जनता में दर्शनशास्त्र का विकास किस तरह होता है, इसकी हमें जाँच करनी चाहिए। क्योंकि भारतीय जनता का इतिहास जितना थोड़ा मिलता है उतना भारतीय दर्शन का इतिहास विरल, अल्प नहीं है। दूसरी सारी चीज़ों के विस्तार के साथ-साथ दर्शन का विकास भी धीरे-धीरे ख़ूब बढ़ता है। और जब भारत का समाज उन्नति-शिखर पर पहुँचता है तो दार्शनिक विचार भी उतने ही ऊँचे चढ़े हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

हमारे पास ऐसे अनेक साधन हैं कि जिनसे हम भारत के दार्शनिक ज्ञान की प्रतिष्ठा के बारे में जान सकते हैं। कोई भी विषय लीजिए, उसमें आपको दर्शनों की प्रतिष्ठा के विस्तार का आभास मिल जायगा। प्राचीन नाटक, काव्य आदि चाहे जो रस-प्रधान चीज़ लीजिए; योगी, तप, आत्मा एवं आश्रमादि का कुछ न कुछ ज़िक्र तो उनमें आपको अवश्य ही मिलेगा। वानप्रस्थ के एकांतवास की अवस्था में तो धर्म-चिंतन होता ही है; परन्तु बिलकुल बाल्यावस्था से भी धर्म को साथ ही रक्खा गया है। भारत में तो प्रत्येक युग में दार्शनिक विचारों को बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

दार्शनिक विचार से अभिप्राय है तत्त्व विचार—भारतीय दर्शन में विचार का मुख्य विषय त्याग है। भारतीय दर्शन का जब पूर्ण विकास हुआ तब त्याग भी उतनीही उत्कृष्टता पर पहुँचा था। चार वर्ण, चार आश्रम, चार पुरुषार्थ, सब में दार्शनिक विचारों की छाप मौजूद है। कामशास्त्र को देखिए या अर्थशास्त्र को, सबका परमोद्देश्य तो मोक्ष ही है। यहाँ तक कि वैद्यक और ज्योतिष वाले भी अपने शास्त्रों का परमोद्देश्य मोक्ष को ही मानते हैं।

अच्छे से अच्छे तत्त्व को मनुष्य ग्रहण न कर सके तो उसकी विचार-शक्ति की खामी ही उसका कारण है। केवल योगी ही नहीं बल्कि रोगी और भोगी भी हमारे यहाँ तो तत्त्वज्ञान की बातें करते दिखाई देंगे। इस प्रकार, हमारे यहाँ, सार्वजनिक जीवन में सब प्रसंगों पर तत्त्वज्ञान का उपयोग हुआ है। और सामान्यतः सबके जीवन में तात्त्विक विचारों की प्रधानता है।

भारत के कवियों और कलाविदों ने भी जाने-अनजाने, अपने काव्य-कलाओं में, तत्त्वज्ञान के कलापूर्ण और गूढ़

विचार रक्खे हैं। अपने स्वभावानुसार मनुष्य तत्त्वज्ञान का उपयोग करता है। रस नौ हैं। उनमें शृंगार प्राथमिक है, हास्य, करुण इत्यादि भी सहज हैं। पर शांत-रस स्वाभाविक नहीं है। इसका उद्भव तो जीवन के परिपाक में ही हुआ है। अलंकारशास्त्र में नौ रस थे, परन्तु दर्शनशास्त्र जब उच्च कोटि को पहुंचा तो दसवां शान्त-रस भी उसमें शामिल हो गया। इस प्रकार शांत-रस दर्शनशास्त्र का परिणाम है।

तरह-तरह की राग-रागनियां एवं नयी-नयी पद्धतियों के बदते जाने पर भी संगीत में संत पुरुषों के भजनों को ही सर्वाधिक लोकप्रियता मिली है। इसका कारण उनके जीवन-स्पर्शी दार्शनिक विचार ही हैं। इन भजनों में विचार पृथक्-पृथक् रीति से भलेही रक्खे हुए मिलें, परन्तु वे भक्ति, श्रद्धा, त्याग आदि से उमड़े पड़ते हैं। भक्त कवियों की आत्मा से तो संगीत सहज ही गर्ज उठता है।

व्यापारी भी अद्वैत आदि के दार्शनिक विचार तो करता ही है। यह दूसरी बात है कि उसमें उसका उद्देश्य जुदा होता है। मनुष्य को जब आश्वासन पाना हो तो वह अद्वैत के विचार करता है। सदाचारी हो या दुराचारी दार्शनिक विचार तो फिर भी होते ही हैं।

कौन दार्शनिक श्रेष्ठ है, यह कहना मुश्किल है। हमतो यही कह सकते हैं कि अपनी-अपनी जगह प्रत्येक दार्शनिक असाधारण है।

उपनिषद्-पूर्व काल में दार्शनिक विचार स्थूल और अस्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। उसके बाद समय के साथ-साथ वे विचार सूक्ष्म, विशद और विशाल होते गये हैं।

भौतिक विषयों में भी इन विचारों ने बड़ी प्रगति की है। बौद्धिक और काल्पनिक क्षेत्र में प्राचीन ऋषियों की पंक्ति में बैठने योग्य विचारक तो आज भी कम ही मिलेंगे। इसीलिए, भारतीय आध्यात्मिक दर्शन का स्थान अभी भी सर्वश्रेष्ठ है।

भारतीय दर्शन के प्रकार मुख्यतः दो हैं—(१)प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन और (२) निवृत्ति-प्रधान दर्शन। कुछ का मत है कि भोगों को भोग कर क्रमशः त्याग करना चाहिए। दूसरों का कहना है कि वासना को दबा कर भोगों को भोगे बिना त्याग करना चाहिए। 'न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते, इत्यादि पहला मत व्यावहारिक जीवन बिताने का उपदेश देता है। दूसरा 'यदहरेव गिरिजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' यह सलाह देता है। दर्शनों में प्रवृत्ति-प्रधान को प्रधानता दी गई है और कुछ में निवृत्तिप्रधान है। इन दोनों के विचार एक से मालूम होंगे, परन्तु इनके साहित्य इत्यादि में तो भेद हैं ही।

मनुष्य जब तक विचार के अनुसार आचरण न रक्खे तब तक वह प्रवृत्ति और निवृत्ति को ठीक-ठीक तौर से नहीं पहचान सकता।

निवृत्ति-सम्प्रदाय के दर्शन निवृत्ति को प्रधान बता कर प्रवृत्ति को गौण मानते हैं। प्रवृत्ति-सम्प्रदाय वाले इसके विपरीत करते हैं। पर मनुष्य ऐसा ऐकान्तिक नहीं हो सकता कि वह केवल निवृत्ति-परायण या प्रवृत्ति-परायण ही हो।

इस बात को और स्पष्ट करने की ज़रूरत है कि दर्शन-शास्त्र का अर्थ संपूर्ण साक्षात्कार न करना चाहिए। दार्शनिक कभी सर्वज्ञ और सम्पूर्ण होने का दावा नहीं करते, परन्तु अपने मत का समर्थन और दूसरे के मत का खण्डन करते हुए हम उन्हें देखते हैं। अपने मत को बिलकुल सच्चा उन्होंने नहीं बताया। उनके अनुयायियों ने उन्हें सर्वज्ञ और सम्पूर्ण सिद्ध करने के लिए बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं, परन्तु मूल प्रवर्त्तकों ने इस तरह का दावा कभी नहीं किया। इससे हमें चाहिए कि दर्शन का अर्थ सम्पूर्ण साक्षात्कार न करें।

यूरोप के तत्त्वज्ञ जगत् को सम्पूर्ण ज्ञेय नहीं मानते। वे अज्ञेयवादी हैं। इसके विपरीत पूर्वी दार्शनिकों के अनुयायी हैं। वे अपने दार्शनिक को पूर्ण ज्ञानी मानते हैं, और दूसरे के मत को अयथार्थ और अपूर्ण मानते हैं।

पर हमें तो समस्त दर्शनों का विचार तटस्थता के साथ करना चाहिए। इन सब दर्शनों का विचार करके, तमाम पूर्वग्रहों को दूर करके हमें यह सोचना चाहिए कि इन दर्शनों में वर्णित मत उचित हैं या अनुचित, अथवा इससे भी अधिक बड़ा सत्य कोई हो सकता है या नहीं।

पश्चिम में तो केवल अज्ञेयवाद है, पर भारत में ज्ञेय एवं अज्ञेय दोनों वाद हैं।

आर्य दर्शनों की आत्मा है विचार और त्याग, अथवा ज्ञान और क्रिया। विचार और त्याग दोनों आर्य दर्शनों की

आत्मा का भला कैसे ? पश्चिम में दार्शनिक अपने विचार प्रकट करता है और उसके अनुयायी भी होते हैं। परन्तु उस दर्शन में क्रिया के लिए स्थान नहीं है। केवल विचार ही विचार है। वहाँ तत्वज्ञानी के अनुयायियों का उसके आचरण से सम्बन्ध नहीं होता। पर हमारे यहाँ यह बात नहीं है। जैन अथवा ब्राह्मण अपने धर्म-पंथ के अनुसार विचार रखता हुआ भी यदि तदनुसार आचरण न करे, तो कोई उसे जैन या ब्राह्मण नहीं कहेगा। यदि कोई जैनी वैष्णव मन्दिर में जाता होगा तो लोग उसे जैन नहीं किन्तु वैष्णव ही मानेंगे। महात्माजी और आचार्य ध्रुव अनेकान्तिक दृष्टि से विचार करते रहते हैं। तथापि इन्हें कोई महावीर का अनुयायी न कहेगा, बल्कि वैदिक ही मानेगा; क्यों कि इनके आचरण वैदिक मत के अनुसार हैं। हमारे दर्शनों में विचार और कर्म का समन्वय है, जब कि पश्चिम में केवल ज्ञान है।

हमारे देश में ज्ञान और क्रिया का समुच्चय और पश्चिम में केवल विचार—यह क्यों ? बात यह है कि भारत में जो दार्शनिक विचार हुए हैं वे केवल जिज्ञासा या कुतूहल ही के लिए नहीं हुए। पर पश्चिम में विचार के लिए विचार हुआ है। हमारे देश में जिज्ञासा के साथ ध्येय मोक्ष है। मोक्ष ही साध्य है, दूसरे सब साधन हैं। धर्म भी एक साधन ही है। प्रत्येक भारतीय दर्शन का अन्तिम ध्येय तो मोक्ष-प्राप्ति ही है। इसी कारण दर्शनों की पुरानी गणना में चार्वाक के मत को दर्शन के रूप में नहीं लिया गया है। दर्शनों में तो इसकी गणना पीछे से हुई है। कर्मकांड तो वासनाओं की पूर्त्ति के लिए है। परन्तु उसका अंतिम फल तो मोक्ष ही है। अथातोधर्म जिज्ञासा की पूर्ति में अथातो ब्रह्मजिज्ञासा है। परन्तु इन दोनों का समन्वय होने के बाद प्राप्ति तो न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते अर्थात् आत्यन्तिक मोक्ष ही है। जैन दर्शन में भी आस्रव (वासना) में से स्वतंत्र होना अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति ही परम ध्येय है। बौद्ध दर्शन में भी मानसिक और बाह्य जगत् का विचार करने के उपरान्त भी अन्तिम ध्येय तो निर्वाण ही रहता है। भारतवर्ष के दार्शनिकों ने सूचित किया है कि मोक्ष ज्ञान ही से मिलता है। परन्तु जब यह बात उठी कि केवल विचार से ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता, तब उन्होंने आचरण को भी स्थान दिया और मोक्ष के साधन-स्वरूप इन दोनों के समन्वय का उपदेश दिया। हमारे तत्त्वचिन्तकों ने यह निर्णय किया कि विचारों के अनुसार जब तक आचरण न हो तब तक मोक्ष हीं प्राप्त नहीं होती।

दार्शनिकों के गृहत्याग आदि प्रयत्नों का उद्देश सिर्फ़ ज्ञान-प्राप्ति न था; उनका उद्देश तो था विचारों के अनुसार अपना जीवन बनाना; धार्मिक जीवन कैसे बिताया जाय इस बात का अनुभव करना, और इस बात का निश्चय करना कि मुमुक्षु अपना आचरण कैसा रक्खे। धर्म-प्रवर्त्तक के त्याग को मनुष्य पूरी तरह नहीं समझते। बस, उनके आचरण के स्थूल रूप को ही झट से लोग ग्रहण कर लेते हैं; अन्दर के सूक्ष्म रहस्य को समझने वाले तो विरले ही होते हैं। अस्तु।

इसमें ख़ास तौर पर विचारणीय हैं ये बातें:—

(१) भारतीय प्रजा में दर्शनों का विकास-क्रम।

(२) भारतीय जनता में दर्शनों की प्रतिष्ठा।

(३) दर्शनों के दो विभाग।

(४) आर्य दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति का मूल मोक्ष की इच्छा है।

(५) आर्य दर्शनशास्त्र में ज्ञान-समुच्चयवाद के कारण और इष्ट-अनिष्ट दोनों उत्पन्न हुए हैं।

(६) मोक्ष के लिए जो विचार हुए हों वही काम के हैं और जो कर्म विचार-पूर्वक हुए हों वही निर्दोष हैं।

सुखलाल

अज्ञानियों के लिए 'एकान्त' के समान कोई दूसरा वैरी नहीं; और आत्म-ज्ञानियों के लिए 'मनुष्य-संसर्ग' के समान दूसरा कोई सबल वैरी नहीं।

जो वस्तु स्वभाव ही से अनित्य और वियोगशील है, भला उस वस्तु पर ममता रखने से किस प्रकार शाश्वत सुख प्राप्त करने की आशा की जा सकती है ?

एक अनुभवी

समाज की दो दशायें

जिन लोगों ने किसी भी समाज का कुछ भी अध्ययन किया है उनका ध्यान समाज की आदर्श तथा वास्तविक दशाओं से अवश्य ही आकृष्ट हुआ होगा। जिन लोगों को सूक्ष्म विचार करने का अभ्यास नहीं है, वे भी किसी समाज की इन दोनों दशाओं से किसी न किसी रूप में अवश्य ही परिचित रहते हैं। सब लोग जानते हैं कि किसी समाज के वैवाहिक आदर्श क्या हैं और वास्तविक अवस्था क्या है? प्रसंगवश यहाँ विवाह का उल्लेख कर दिया गया, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि केवल विवाह ही के सम्बन्ध में यह नियम लागू होता है। कदापि नहीं। यही बात समाज की हर एक बात के लिए सत्य है। जिन लोगों का ध्यान समाज की इन दो दशाओं—आदर्श और वास्तविक की ओर आकर्षित हुआ होगा, उन लोगों ने इन दोनों दशाओं के अन्तरों को भी खूब समझा होगा। उन्नत से उन्नत तथा अवनत से अवनत सभी समाजों में ये अन्तर पाये जाते हैं। यहाँ पर यह तो प्रश्न ही नहीं है कि किसी समाज को आदर्शों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए अथवा वास्तविकता की ओर। यहाँ पर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सब समाजों में इन दोनों दशाओं का अस्तित्व पाया जाता है और सभी समाजों में इन दोनों दशाओं में अन्तर भी अवश्य ही रहता है। प्रत्येक समाज में यह बात स्वीकार की जाती है कि हमेशा सच बोलना चाहिए, परन्तु प्रत्येक समाज में झूठे भी पाये जाते हैं। समाज का आदर्श सच बोलना है, परन्तु समाज की वास्तविक दशा सर्वदा ऐसी नहीं रहती। इसलिए कहा जाता है कि किसी समाज की वास्तविक दशा तथा उसके आदर्श में अवश्य अन्तर पाया जाता है।

जब हम लोग इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लेते हैं कि समाज के आदर्श तथा वास्तविक दशा में अन्तर सर्वदा ही पाया जाता है, तब यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि यह अन्तर सर्वदा बना रहेगा अथवा इस अन्तर का कभी अन्त भी होगा? इसमें लेश-मात्र भी सन्देह नहीं है कि समाज के प्रारम्भ से ही इस अन्तर का अस्तित्व पाया जाता है। चाहे हम किसी देश के इतिहास का अध्ययन करें अथवा उसके साहित्य का, समाज की इन दोनों दशाओं का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य ही पाया जाता है। इसमें भी सन्देह नहीं कि इस अन्तर की सत्ता आज भी पाई जाती है। अब प्रश्न ये उठते हैं—क्या यह अन्तर स्वाभाविक है? क्या इस अन्तर का अन्त न होगा? क्या इस अन्तर का नाश करने के लिए कोई औषधि नहीं है? क्या इसका भी कुछ उद्देश्य है?

समाजशास्त्र का यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों ने इसका उत्तर दिया है, जो एक नहीं है और सम्भवतः एक हो भी नहीं सकता; क्योंकि इन उत्तरों के आधार प्रायः धर्म, आचार तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं और यह भी प्रकट ही है कि इस संसार में भिन्न-भिन्न धर्मों का अस्तित्व पाया ही जाता है। जिसे एक समाज अच्छा समझता है, उसे दूसरा समाज बुरा समझता है। एक समाज की आचार-नीति में गाय खाना कोई पाप नहीं है, और दूसरे समाज के लिए इससे बढ़ कर कोई दूसरा पाप हो ही नहीं सकता। धार्मिक, राजनैतिक, आचार सम्बन्धी, सामाजिक तथा अन्य विभिन्नताओं के कारण उक्त प्रश्न के उत्तर भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं।

यदि यह बात मान ली जाय कि इस अन्तर का अस्तित्व कभी नहीं मिट सकता, यदि हम लोग इस बात को स्वीकार कर लें कि अन्तर स्वाभाविक है और

सदा इसी प्रकार बना रहेगा, तो हम लोगों के सामने एक बड़ी भारी समस्या उठ खड़ी होती है। उस दशा में हम लोग धार्मिक रह जाते हैं या नहीं, इसमें भी सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

यदि हम लोग इन सामाजिक बुराइयों को मिटा नहीं सकते, यदि हम लोग इन अनन्त दोषों को दूर नहीं कर सकते, यदि हम लोगों में पाप का अस्तित्व सदा इसी प्रकार बना ही रहेगा, तो फिर भला बनने का प्रयत्न किसलिए किया जाय? यदि हमारे सामाजिक भाई सदा बुरे कामों में ही लगे रहेंगे, यदि वे कभी भी उन्नति कर ही नहीं सकते, यदि वे अथवा उनमें से अधिक सदा इन बुराइयों के शिकार ही बनते रहेंगे, तो हम लोग समाज से इन बुराइयों के अस्तित्व को हटा देने का प्रयत्न क्यों करें? यदि दुःख तथा बुराई का भी कुछ उद्देश्य है, यदि यह स्वाभाविक है, यदि यह आवश्यक है, तो इसके दूर करने का प्रयत्न क्यों किया जाय? यदि इन सामाजिक बुराइयों की सत्ता नहीं मिटाई जा सकती, यदि ये दुःख दूर नहीं किये जा सकते तो फिर सांख्यदर्शन के कर्ता ने दुःखों को दूर करने को अत्यन्त पुरुषार्थ क्यों कहा? यदि समाज की इन दोनों दशाओं—आदर्श और वास्तविक—में सर्वदा अन्तर ही बना रहेगा, तो फिर दार्शनिक तथा धार्मिक लोग इसे हटाने का उपाय क्यों बतलाते हैं?

यदि हम लोग इस बात को स्वीकार कर लें कि यह अन्तर सदा इसी प्रकार बना रहेगा, तो फिर हम लोग स्वार्थियों तथा चोरों को कैसे समझावेंगे? ऐसी दशा में जब कोई चोर हमसे कहेगा कि 'चोरी तो स्वाभाविक है, आवश्यक है, और उसका भी एक उद्देश्य है, और वह उद्देश्य बहुत अच्छा है,' तो उसे हम किस प्रकार समझायेंगे कि चोरी करना बुरा है? जब चोर कहेगा कि चोरी करना भी हम लोगों का परमधर्म है, तो हम लोग उसका क्या उत्तर देंगे?

जो दार्शनिक यह मान कर चलेगा कि इन बुराइयों का अस्तित्व अवश्य ही समाज में रहेगा, उसे कई कठिनाइयों का सामना पड़ेगा और उसके लिए संसार की इन उलझनों को सुलझाना असंभव हो जायगा।

यदि कोई धार्मिक मनुष्य उक्त बात को मान लेगा, तो फिर उसे इस संसार से बहुत अधिक संबंध रखना असंभव हो जायगा; क्योंकि इस संसार में उसकी आशायें कभी पूरी नहीं हो सकतीं। वह धार्मिक मनुष्य इस संसार की बुराइयों को मिटाने की आशा कर ही नहीं सकता। इसलिए उसे एक ऐसे आदर्श परन्तु दूरस्थ संसार का स्वप्न देखना होगा, जहाँ उसकी आशायें पूरी होंगी। उसके लिए इस संसार में भलाई का स्वप्न ही देखना अच्छा होगा, क्योंकि वास्तविक भलाई की आशा तो यहाँ वह कर ही नहीं सकता।

परन्तु ऐसा मानना स्वयं अपने स्वभाव के विरुद्ध जाना होगा। यदि हम यह मान लें कि हम बुराई के अस्तित्व कभी नहीं मिटा सकते, तो फिर भलाई तथा भले कामों के करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। तथापि हम लोग भली भाँति जानते हैं कि भलाई करना भी हम लोगों का स्वभाव है। आजतक संसार भर के धर्म भलाई करने का ही उपदेश देते चले आये हैं। इस लेख में मैं भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करूँगा कि भलाई करना मनुष्य का स्वभाव है अथवा बुराई करना। परन्तु इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं है कि समाज में ऐसे लोग भी अवश्य ही पाये जाते हैं जो भलाई करते हैं और ऐसे लोग भी पाये जाते हैं जो बुराई करते हैं। इस प्रश्न का हल करने के लिए कि मनुष्य का स्वभाव भलाई करना है अथवा बुराई करना, एक महाभारत लिखने की आवश्यकता होगी और तब भी निश्चित रूप से एक बात नहीं सिद्ध हो सकेगी।

अतएव इस प्रश्न को प्रायः सब लोग अपने-अपने विश्वास की सहायता से ही हल कर लेते हैं, क्योंकि इस सम्बन्ध में युक्ति-वाद बड़ा जटिल रूप धारण कर लेता है। इसमें भी संदेह नहीं कि इस संसार में दोनों बातों में विश्वास करने वाले आदमी पाये जाते हैं। कुछ लोग विश्वास करते हैं कि इस संसार-समाज से एक न एक दिन सब बुराइयों का अन्त अवश्य होगा। आज आदर्श और वास्तविक दशा में जो अन्तर पाया जाता है एक न एक दिन उसका अन्त अवश्य हो जायगा। एक दिन आदर्श और वास्तविकता के अन्तर अवश्य मिट जायँगे और भलाई बुराई पर विजय पा जायगी। इन लोगों का विचार है कि एक दिन हम लोगों का समाज उस आदर्श की प्राप्ति अवश्य कर लेगा, जिसकी ओर यह जा रहा है। प्लेटो ने इस आदर्श समाज की कल्पना बहुत पहले की थी। पाश्चात्य देश के अनेक और विद्वानों ने भी इस आदर्श समाज के विषय में बहुत कुछ लिखा है। प्लेटो ने तो उस आदर्श समाज के बारे में बहुत कुछ लिखा है। संस्कृत ग्रन्थों में भी ऐसे आदर्श समाज का वर्णन मिलता है। महाकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में अयोध्या के जिस समाज का वर्णन किया है वह वास्तव में आदर्श समाज ही है। जब हम लोग ऐसे आदर्श समाज की सत्ता में विश्वास करेंगे, तब हम लोगों को भलाई करना सुगम हो जायगा और तब हमें भलाई करना आवश्यक भी होगा। सरकार, धर्मोपदेशक, दार्शनिक, धर्म, कला तथा विज्ञान इसी आदर्श के वास्तविक अनुभव कराने का प्रयत्न करते रहते हैं। इन सबों का एक आदर्श रहता है और इसी आदर्श की ओर ये सबका ध्यान आकर्षित करते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो विश्वास करते हैं कि दिन-दिन बुराई तो कम होती चली जायगी परन्तु इसका अस्तित्व कभी नहीं हट सकता। इनका विचार है कि जीवन सहने योग्य हो सकता है, परन्तु वह आनन्द-मय नहीं हो सकता। परन्तु यह बात ठीक नहीं मालूम पड़ती। क्योंकि, सच्ची पवित्रता का भी इस संसार में अस्तित्व पाया जाता है। यदि ईश्वर इस संसार का निर्माता है, यदि पवित्रता की भी वास्तविक सत्ता है, यदि आत्मोत्सर्ग केवल उपन्यासों में ही नहीं किन्तु मनुष्य के वास्तविक जीवन में भी पाया जाता है, यदि त्याग भी इस संसार का एक वास्तविक पदार्थ है, तो मनुष्य-समाज का भी एक वास्तविक आदर्श अवश्य है। कोई इस आदर्श की कितनी ही निन्दा क्यों न करे, कोई इस आदर्श के विपक्ष में चाहे कितना कहे, परन्तु इसके अस्तित्व को सबको स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस आदर्श पर ही आज संसार चल रहा है। हम लोग प्रतिज्ञा करते हैं और उसके अनुसार कार्य भी करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि बहुत लोग अपनी प्रतिज्ञाओं को भंग भी कर देते हैं। परन्तु प्रतिज्ञा-पालन करने का आदर्श लगभग सब समाजों में वर्त्तमान है। यदि यह आदर्श न होता, तो इस संसार का एक दिन भी काम न चलता। न तो कोई प्रतिज्ञा करता और न कोई उसके अनुसार काम करने का प्रयत्न ही करता।

इसमें संदेह नहीं कि समाज में बुराइयाँ हैं, इसमें कोई भी शंका नहीं कर सकता कि समाज अंधकार में है; परन्तु इन सबका अन्त अवश्य होगा। यदि इनका अन्त न होता, तो परमेश्वर को ऐसी सृष्टि करने में क्या मजा मिलता कि जिसमें ऐसी-ऐसी उलझनें भरी पड़ी हैं? इसपर यह कहा जा सकता है कि परमेश्वर के मानने की आवश्यकता ही क्या है? क्या परमेश्वर की सत्ता बिना माने ही इस प्रश्न का उत्तर नहीं आ सकता? यहाँ पर इन सब प्रश्नों की विवेचना करने की न तो आवश्यकता है और न

स्थान है। इस संबंध में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि ईश्वर के न मानने से ही यह प्रश्न सुगम नहीं हो जाता। उस दशा में भी इस समस्या का हल करना आवश्यक ही रह जाता है। क्योंकि जिन दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को भी नहीं स्वीकार किया है, उन्हें भी आचार-शास्त्र के नियमों को बनाना पड़ा है। वास्तव में ऐसे कई बड़े प्रसिद्ध दार्शनिक हो भी गये हैं, परन्तु समाज-शास्त्र के उक्त प्रश्न का उत्तर उन्हें भी देना पड़ा है। इसीलिए समाज की इन दो दशाओं के संबंध में ग्रेज कहता है—"मैं इस बात को स्वीकार ही नहीं कर सकता कि जीवन एक बुरा सौदा है। मैं इस बात को कभी नहीं मान सकता कि इस जन्म में हम लोग बुराई हो बुराई की आशा कर सकते हैं और आनन्द, पवित्रता तथा भलाई दूसरे जन्म में। मैं बुराई की अन्तिम तथा आवश्यक सत्ता में कभी भी विश्वास नहीं कर सकता। मेरा पूर्ण विश्वास है कि हम लोग बुराइयों का सुधार कर सकते हैं। इसमें संदेह नहीं कि इन बुराइयों को हटाने के लिए हम लोगों को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ेगा—सिर तोड़ परिश्रम करना पड़ेगा।"

इसी सम्बन्ध में पाश्चात्य देश का एक प्रधान कवि कहता है—

"To seek, to find, to strive, and not to yield."

अर्थात्, खोजो पता लगाओ, प्रयत्न करो और अपनी पराजय मत स्वीकार करो।

यह वाक्य उपनिषद् के वाक्य से बहुत कुछ मिलता है।

इसी सम्बन्ध में एक दूसरा विद्वान् कहता है—'इसमें तो लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि हम लोगों ने ही इस संसार में बुराइयों को जन्म दिया है। जो बुराइयों को जन्म दे सकता है वह उन्हें दूर भी कर सकता है।"

यदि हम लोग इस बात को स्वीकार कर लें कि एक न एक दिन समाज का आदर्श वास्तविक घटना हो जायगा, एक दिन समाज की दोनों दशा मिलकर एक ही रूप धारण कर लेंगी और उस दिन समाज में आदर्श का ही पूर्ण साम्राज्य होगा, तब यह प्रश्न उठता है—इस आदर्श का अनुभव हम लोग कैसे कर सकते हैं?

यह प्रश्न भी बड़े महत्व का है। इस सम्बन्ध में हम लोगों को समाज में उन-उन बातों पर विचार करना पड़ेगा, जिनका प्रभाव समाज की उन्नति तथा अवनति पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में समाज के राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक तथा शिक्षा सम्बन्धी सभी बातों का विश्लेषण करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध में समाज में व्यक्ति का स्थान भी निश्चित करना पड़ेगा। इसके लिए हमें यह भी देखना पड़ेगा कि समाज के लिए व्यक्ति है अथवा व्यक्ति के लिए समाज? इसके लिए हमें इस बात का भी पता लगाना पड़ेगा कि कभी व्यक्ति समाज के विरुद्ध जा सकता है अथवा नहीं? एक प्रकार से समाज तथा व्यक्ति के सब सम्बन्धों की पर्यालोचना ही नहीं किन्तु विवेचना भी करनी पड़ेगी। समाज और व्यक्ति के इस सम्बन्ध के बारे में मैं फिर कभी विचार करूंगा।

अवध उपाध्याय

"वेद भी अगर विस्मृत हो जाय तो फिर याद कर लिये जा सकते हैं; मगर सदाचार से यदि एक बार भी मनुष्य स्खलित हो गया, तो सदा के लिए अपने स्थान से भ्रष्ट हो जाता है।

ऋषि तिरुवल्लुवर

जापान और भारत

लगभग पचास वर्ष पूर्व जापान भी भारतवर्ष की भाँति एक पराधीन देश था और अपने अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग जीवन में उतना ही परवश एवं विवश था, जितना कि आज भारतवर्ष है। परन्तु, आज ? आज जापान पराधीन देश नहीं है। विदेशियों के पद-दलन आज उसे उसके अस्तित्व और स्वाभिमान से वंचित नहीं कर रहे हैं। आज तो वह संसार के दूसरे स्वतंत्र राष्ट्रों की भाँति एक स्वाधीन देश है। यह कैसे हुआ ? विवशता और परवशता से जापान को किस प्रकार मुक्ति मिली ? विदेशी शासन के दास्य-बन्धनों से निकल कर किस प्रकार वह विश्व के स्वाभिमानी राष्ट्रों के सन्मुख अपनी मान-मर्यादा की रक्षा कर सका ? ये ऐसी बातें हैं कि परतंत्रता के कठोर बन्धनों में जकड़े हुए, अपनी धार्मिक और नैतिक क्लेश-वेदना में बिलबिलाने और तड़पने वाले, हमारे जैसे देशों के लिए उनका जान लेना उचित ही नहीं बल्कि श्रेयस्कर भी है।

जापान का इतिहास पठनीय है। पराधीन समाज तथा देश के लिए वह आदर्श है। जापान के इतिहास को तीन भागों में विभक्त कर उसके एक-एक भाग का अध्ययन और अनुशीलन करना चाहिए। (१) जापान का पराधीन-काल, (२) उसके स्वतंत्र साधन, और फिर (३) उसका स्वतंत्र जीवन। भारतवर्ष की भाँति जापान में विदेशी शासन का आडम्बर कभी कृतकार्य नहीं हुआ। विदेशी सभ्यता और शिष्टाचार की मुहर जापान में अपना प्रभाव नहीं कर सकी। भारतीयों की भाँति जापान के निवासी विदेशी शिक्षा-सभ्यता में अनुरक्त नहीं हुए। अपने पराधीन जीवन में भी जापान अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा का विस्मरण नहीं कर सका। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि जापान को अपने जीवन पर जो स्वाभिमान था, वह विदेशी शासन-काल में भी नष्ट नहीं हो सका। जापान के गर्वित शब्द "हमारे देश का नैतिक और धार्मिक जीवन जो कुछ है, वही सब कुछ है" पराधीन देशों के लिए प्राण हैं।

अपने यहाँ विदेशियों को पदार्पण करने देना जापानियों को स्वीकार न था। उनको किसी विदेशी से घृणा न थी, विदेशियों के सहवास, संस्पर्श से उन्हें घृणा न थी, उन्हें घृणा थी—उन्हें अरुचि थी, विदेशी शासन से—विदेशी हुकूमत से। इसीलिए स्वाभिमानी जापानियों ने सबसे प्रथम यह चेष्टा की कि जापान में विदेशी शक्तियों को स्थान न मिले। किन्तु समय और दौर्भाग्य-क्रम से वे इसमें कृतकार्य न हो सके। उनका बल-प्रयोग असफल हुआ। तब उन्होंने विदेशी शिक्षा-सभ्यता के रोग से अपने देश और समाज को सुरक्षित रखने के लिए चेष्टा की। इसी अवसर पर उन लोगों ने एक बात और की। उन्होंने विदेशी शक्तियों का भली प्रकार मनन किया और अंत में यह निष्कर्ष निकाला कि विदेशी साधनों को देखकर हमें अपने साधन शक्तिशाली बना लेने चाहिएँ। इसके लिए उन्होंने यथोचित आयोजना की। जिस प्रकार की गम्भीरता और उत्साह के साथ जापानियों ने अपने साधन और शक्तियों का संचय किया, वह उनके ज्वलन्त देशानुराग का प्रमाण है। देश का शासन अपने हाथों में लेने के लिए जिन शक्तियों और साधनों की आवश्यकता होती है, एक-एक करके, जापानियों ने उनका संकलन किया। जिस उत्साह और उद्योग से उन्होंने कार्यारंभ किया, उसने देश के नवयुवकों में देशानुराग की लहर उत्पन्न करदी। अपनी असमर्थता की भी जापानियों ने खूब विवेचना की। उनका राष्ट्रीय आन्दोलन पद-पद पर सफल हुआ।

जितनी शीघ्रता के साथ हो सका, देश में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली प्रवर्तित की गई। प्रत्येक बालक और बालिका की शिक्षा के लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध हुआ, जब कि इसके पहले जापान में स्त्री-शिक्षा बहुत कम थी और बालकों की शिक्षा भी साधारण ही थी। साथ ही इसके सेना-विभाग में अनिवार्य भर्त्ती जारी हुई, जिससे प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को सेना में भर्ती होने की सुविधा होगई। देश का वाणिज्य-व्यवसाय सुशृङ्खलित किया गया और कितने ही सरकारी-गैर-सरकारी बैंकों की स्थापना हुई। इस प्रकार देश में नवीन जीवन का आविर्भाव हुआ। इस नवीन अनुष्ठित और व्यवस्थित परिचालन में देश के कार्य-संचालकों से कार्य लेने में अनेक असुविधायें हुईं। उस समय यथासंभव विदेशी व्यक्तियों से काम लेकर तुरन्त देश के सहस्रों नवयुवक शिक्षा-दीक्षा के लिए विदेश भेजे गये। विदेश से लौटकर उन नवयुवकों ने जापान के विभिन्न राजकीय विभागों में अधिकार किया। इस प्रकार अपनी नवीन प्रणाली के आधार से जापान धीरे-धीरे अपने देश का कार्य-संचालन करने के उपयुक्त हो गया।

भारतवर्ष की भांति उस समय जापान में भी अनेक जातियाँ और उपजातियाँ थीं और उनका परस्पर जातिगत पार्थक्य ठीक वैसा ही था, जैसा आज भारतवर्ष में विद्यमान है। एक जाति का दूसरी जाति के साथ विवाह जैसी लौकिक प्रथाओं में सम्बध न होता था। जापानियों ने इन प्रथाओं को राष्ट्र के लिए विष समझा और उन्हें दूर करने का प्रयास किया। प्राचीन रूढ़ियों को सुसंस्कृत करने में जो कठिनाइयाँ और बाधायें पड़ती हैं वे उनके सन्मुख भी उपस्थित हुईं; परन्तु, सौभाग्य और अनवरत परिश्रम से, जापानियों को इसमें सफलता हुई। आज जापान की उन बातों में और वर्त्तमान परिस्थितियों में अत्यधिक अंतर है। वहाँ आज जातीय विद्वेष नहीं है। ऊँच और नीच का झगड़ा नहीं है। समस्त जापान के निवासी एक राष्ट्र के नाम से पुकारे जाते हैं। वहाँ का एक कुली समाज में वही अधिकार रखता है, जो अधिकार एक प्रधान मंत्री का होता है। वहाँ के इन सामाजिक सुधारों ने राष्ट्र को शक्तिशाली होने में साथ दिया। राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए सामाजिक परिष्कार और सुसंस्कृति की अत्यन्त आवश्यकता है। भारतवर्ष में भी सामाजिक आन्दोलन हो रहा है। हिन्दू महासभा का आन्दोलन हमारा सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन है। परन्तु जापान के आन्दोलन और हमारे आन्दोलन में उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर वहाँ के सामाजिक आन्दोलन की सफलता और हमारी सफलता की आशावादिता में है। समाज-गत प्राचीन रूढ़ियों में हमें किन-किन प्रथाओं में क्या-क्या परिष्कार और परिवर्तन करने हैं, हमारे आन्दोलन ने कदाचित् अभीतक इन बातों को स्पर्श भी नहीं किया। आन्दोलन के प्रवर्त्तकों एवं व्यवस्थापकों ने अभी तक यह सोचा भी नहीं है कि सामाजिक सुधार एक दूसरे के साथ अश्लील व्यवहार करने और अपने आपको देवता समझने में ही हो जाते हैं अथवा उनके लिए और भी कुछ करना होता है। जब हम अपने देश के पत्र-प्रकाशकों तथा संपादकों के नैतिक ढिंढोरे और उनकी कार्य-प्रणाली की आलोचना करते हैं, तब तो हमें अपनी आशावादिता पर भी सन्देह होता है।

संकल्प और विकल्प ने हमारे नैतिक जीवन को जर्जरित कर डाला है। हम कभी राष्ट्रीयता के रंग में होते हैं और कभी सामाजिकता के बन्धन में! कभी हम राष्ट्रीय प्रगति में इतनी उतावली दिखाते हैं, मानों स्वराज्य को कहीं से लेकर ही लौटेंगे, और कभी सामाजिकता तथा धार्मिकता में पिघल कर राष्ट्रीयता से इतनी दूर हो जाते हैं, मानों अब तक हमारी राष्ट्रीय

यात्रा हमारे लिए भ्रान्ति मात्र थी। कदाचित् अब तक हम राष्ट्रीयता और सामाजिकता के वास्तविक अर्थ भी नहीं समझ पाये हैं। कितना बड़ा हमारे लिए राष्ट्रीय आन्दोलन का उपहास है। एक ज्वर-पीड़ित व्यक्ति को ज्वर के साथ-साथ शारीरिक वेदना, मस्तक-पीड़ा, कफ, खाँसी आदि अनेक कष्ट होते हैं। इन कष्टों को प्रथम दूर करने का प्रयत्न कितना भ्रान्ति-मूलक है, यह बताना अत्यन्त दुरूह है। चतुर वैद्य और डाक्टर ज्वर के साथ-साथ इन कष्टों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं और ज्वर दूर होने के पश्चात् इन कष्टों का यदि कुछ अंश शेष रह गया तो वह अत्यन्त सरलता-पूर्वक शांत हो जाता है। पराधीन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन उनके समाजगत और जातिगत सुधारों तथा परिष्कारों से बनते हैं। सामाजिक तथा जातीय सुचारु व्यवस्थायें राष्ट्र के आन्दोलन की सहायक होती हैं। दुर्भाग्य से अभी तक तो हम यही नहीं समझ पाये कि देश में पहले राष्ट्रीय उद्धार होगा अथवा सामाजिक और धार्मिक परिष्कार! जापान के निवासियों ने इस जटिलता को हल करने में उतना समय नहीं लगाया, जितना हमारे लिए आवश्यक जान पड़ता है। उन लोगों ने समस्त बन्धनों को तोड़ कर समुज्ज्वल, परिष्कृत राष्ट्रवादी होने में ही अपना परमार्थ समझा था। जातिगत और समाजगत उलझनों में पड़े रहने के स्थान पर उन्होंने अपने देश में कल-कारखानों, वाणिज्य-व्यवसाय को जन्म देना और देशानुराग का व्रत लेना प्रारम्भ किया था। शिक्षा, चिकित्सा और वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ अपनी युद्ध-शक्ति से पृथ्वी की श्रेष्ठ जातियों को परास्त करने की प्रतिज्ञा की थी। वीर-व्रती जापानियों की दृढ़ प्रतिज्ञाओं से जापान स्वाधीन हो सका था। देश को स्वाधीन देखने के हम नित्य स्वप्न देखते हैं; किन्तु, करते क्या हैं? हमारी विदेशी सरकार में अनेक दोष हैं—अनेक त्रुटियाँ हैं। क्या सरकार की त्रुटियाँ और उसके दोषों का निरीक्षण करने से ही हमारे देश का उद्धार हो जायगा? सभाओं में हम या तो सरकार की आलोचना करते हैं, या दूसरों की बुराइयों की तालिका उपस्थित करते हैं, और उसके पश्चात् दिन और रात के चौबीस घंटे अर्थ-चिंता में विह्वल रहते हैं! किन्तु देश में ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, जिनके सन्मुख आर्थिक चिंता नहीं है—जिनके नेत्रों में प्रत्येक घड़ी अन्न-कष्ट का प्रश्न नहीं है। उनका सम्बन्ध न तो राष्ट्र के आन्दोलन से है और न सामाजिक सुधारों से। भोग और विलास के उन ठेकेदारों के कानों में अभी तक न तो राष्ट्रीय पुकारों की ध्वनि-प्रतिध्वनि का प्रवेश हुआ है और न सामाजिक तथा धार्मिक बातों का पदार्पण! कल-कारखानों की बातें जाने दीजिए—उनकी व्यवस्था में आर्थिक प्रश्न की बात है, तो भी देश में अनेक बातों की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, जिससे हमारे राष्ट्र और धर्म की प्रगति एक ही मार्ग पर गमन करने लगे। दोनों एक दूसरे से पृथक् न रह कर परस्पर एक दूसरे के जीवन-प्राण बन सकें। अन्य बातों को छोड़ कर यदि शिक्षा-समस्या पर ही विचार किया जाय, तो भी कितना आश्चर्य होता है। हमारे देश के प्रेत-तत्त्व, भूत-तत्त्व, प्राणितत्त्व, भाषा-विज्ञान, मानव-जाति-तत्त्व आदि का यूरोप के लोग अध्ययन और अनुशीलन करें और हम लोग केवल आर्यत्व की प्रशंसा करें—इससे अधिक हमारी हास्यकर अवस्था का और क्या प्रमाण हो सकता है?

भारतवर्ष की भाँति बालक और बालिकाओं की शिक्षा-समस्या जापान में नहीं है। वहाँ पर उनकी शिक्षा के लिए राजकीय नियम है, जिससे विवश होकर जापान के प्रत्येक बालक और बालिका को शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती है। वहाँ पर बालक और बालिकायें समान रूप से—समान संख्या में शिक्षा पाते हैं।

किन्तु भारतवर्ष में यह बात नहीं है। अत्यन्त प्रयत्न करने पर प्रति-शत बीस बालक शिक्षा पाते हैं और बालिकाओं की संख्या प्रति-शत दो से अधिक नहीं है—यह हमारे देश की शिक्षा-समस्या है ! पृथ्वी के समस्त देश स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती हैं; किन्तु स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भारतवर्ष की नीति क्या है, यह कल्पना एक जटिल बात है। अशिक्षित व्यक्तियों का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, शिक्षित व्यक्तियों में भी एक बड़ी संख्या है, जो वर्तमान स्त्री-शिक्षा-प्रणाली की अनुयायी नहीं है। उनकी समझ में वर्तमान स्त्री-शिक्षा-प्रणाली स्त्री-समाज को मिटा कर नष्ट-भ्रष्ट कर देगी। उनकी बातों से अभी तक यही निष्कर्ष निकलता है कि वे स्त्री-शिक्षा के विपक्षी नहीं हैं; विपक्षी हैं वर्तमान प्रणाली के। इस वर्तमान प्रणाली के स्थान पर वे किस प्रणाली की आयोजना करना चाहते हैं, इसका कुछ पता नहीं। हो यह रहा है कि या तो किसी ने स्त्री-शिक्षा को आवश्यक समझ कर उसका अनुमोदन समर्थन कर दिया; नहीं तो स्त्री-शिक्षा के कुछ दोष दिखा कर वर्त्तमान प्रणाली की निन्दा करने लगे। इन दोनों ही बातों से स्त्री-शिक्षा का प्रश्न हल नहीं होता, जब तक कि कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उसकी आयोजना न की जाय।

सहस्रों की संख्या में जापान ने अपने नवयुवकों को देशानुराग का व्रत लेकर कला-कौशल के सम्बन्ध में विदेश भेजा था; किन्तु भारतवर्ष के लिए तो यह पाप की बात होगी न ! भारत को तो अपनी जातीयता और धार्मिकता की रक्षा से ही अवकाश नहीं है। क्षण-क्षण में वह अपनी जातीयता और धार्मिकता के खोने के दुःस्वप्न देखता है। हमारी जातीयता और धार्मिकता संसार के बड़े से बड़े पाप काण्ड करने में नहीं जाती, पर वह घर से बाहर निकलने में चली जाती है ! चोरी और व्यभिचार में हमारा धर्म नहीं जाता, किन्तु शिक्षा-प्राप्ति के लिए विदेश जाने में हमारा धर्म जाता है ! परमात्मा जाने, हमारे इस धर्म और जाति की कब तक रक्षा होगी, जो जीवन की श्रेष्ठता से विमुख करके विश्व की दासता के लिए हमें विवश करती है !

हमें अपने सामाजिक जीवन में क्रान्ति करने की आवश्यकता है। जापान की भाँति देश के नवयुवकों को देशानुरागी बनाने की आवश्यकता है। विवाह करके घरों के भीतर स्त्रियों के मुँह ताकने से काम न चलेगा। रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए घर के भाइयों में कलह करने में हमारा कल्याण नहीं है। हमारा कल्याण है घरों को छोड़ कर बाहर विदेशों में जाने में। वहाँ रह कर हमें वकील और डाक्टर बनने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है वहाँ रह कर विज्ञान, वाणिज्य और व्यवसाय के लिए शिक्षा प्राप्त करने की। ऐसा करने के लिए हमें त्याग और तपश्चर्या करनी होगी। बिना जीवन के सुखों का बलिदान किये देशों को स्वाधीनता नहीं मिला करती।

केशवकुमार ठाकुर

कौन ?

कौन राजपूतों बिना माता की व्यथा को हरे ?
डूबते स्वधर्म के जहाज़ को बचावे कौन ?
कौन बढ़ आगे रण-चण्डी की पुकार सुने ?
प्यासी हुई काली की पिपासा को बुझावे कौन ?
प्राण-धन-धाम-सुत-नारी डालि संकट में
झुकती पताका हिन्द-देश की उठावे कौन ?
पूछता "किसान" राजपूत, राजपूतों ही से—
आप बिना देश-धर्म जाति को बचावे कौन ?

'किसान'

उन्नीसवीं शताब्दि के जापानी नाटक

जापान के प्राचीन नाटकों का आरंभ संसार के अधिकांश साहित्यों की भाँति धार्मिकता से होता है। इस विषय में एशिया और यूरोप—पूर्व और पश्चिम में अत्यधिक सादृश्य है। यूरोप में भी नाटकों का आरंभ धार्मिक रूढ़ियों और विश्वासों से संबध रखने वाले आनन्दोत्सवों का ही फल था। प्रायः सभी देशों के प्रारंभिक साहित्य पर धार्मिक विश्वासों और गाथाओं ने बहुत अधिक प्रभाव डाला है। हमारे यहां भी संस्कृत, हिंदी, बँगला इत्यादि में नाटक और रंगमंच का आरंभकाल धार्मिकता के परदे के अंदर से ही होता है। जापान के साहित्य और विशेषतः नाटकों के सम्बंध में भी यही क्रम दीख पड़ता है। जापानी नाटकों का रूप बनने के पहले जो 'नों'-नृत्य वहाँ प्रचलित थे और शताब्दियों तक जनता का मनोरंजन करते एवं साधारण विश्वास के साँचे में ढली हुई टोलियों के सामने धर्म का एक अस्पष्ट रहस्यमूलक और असाधारण भयप्रद रूप प्रकट करते रहे, और जो आज भी विशेष अवसरों पर धनियों एवं रईसों द्वारा अभिनीत कराये जाते हैं, वे ही एक प्रकार से जापान के लोकप्रिय नाटकों के जन्मदाता कहे जा सकते हैं।

परन्तु इतना सादृश्य होते हुए भी जापानी नाटकों की प्रारंभिक गति और सबसे भिन्न है। नों-प्रणाली के संगीत-नृत्य-नाट्य के बादही जिन धार्मिक नाटकों का आरंभ हुआ, उनमें देश-प्रेम का भाव सर्वत्र दीख पड़ता है। इस प्रकार जहाँ प्रारंभिक यूरोपीय अथवा अन्य देशीय नाटक केवल पौराणिक गाथाओं और धार्मिक विवादों से ही भरे पड़े हैं, वहाँ प्राचीनतम जापानी धार्मिक नाटक भी पाठक के देश-प्रेम और धर्म-जन्य विश्वास दोनों उपकरणों को सन्तुष्ट करते हैं। 'शिटो-' सम्प्रदाय के नाटकों में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। ये नाटक तो आज भी कभी-कभी अभिनीत होते रहते हैं और यद्यपि कला की दृष्टि से इनमें अपूर्णता विद्यमान है और ये वर्तमान उन्मत नाटकीय दृष्टि से अविकसित मस्तिष्क की उपज मालूम होते हैं, फिर भी सुसंस्कृति से भरे हुए हैं।

जापानी नृत्य ने कब अभिनय का रूप धारण किया, इसके सम्बंध में ठीक-ठीक कहना तो कठिन है, पर खोज से इतना मालूम होता है कि वे सुन्दर 'स्मृति-नृत्य' (कियोकु-माई), जिनमें जापान के उल्लसित अन्तःकरण और संगीत तथा आंदोलन-कला का बहुत सुंदर सम्मिश्रण दीख पड़ता है, मारमोची शोगन के समय से अभिनय और नाट्य-कला की ओर झुकने लगे। कियोत्सुगू (जिसकी मृत्यु १४०६ ई० में हुई) ने इस परिवर्तन में बड़ा भाग लिया था, पर इस परिवर्तन का स्पष्ट आभास तो उसके पुत्र मोतोकियो (जो १४५५ में मरा) के समय में मिलता है। इन पिता-पुत्र ने जिस युसाकी-कुटुम्ब में जन्म लिया था, उसका शताब्दियों से नारा स्टेज के प्रबंध में प्रधान हाथ था: अतएव इन लोगों को अपनी योजना को कार्यान्वित करने में दूसरों की सहायता पर बहुत अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ा। फिर इन लोगों को बड़ी सरलता से राजकीय संरक्षण भी प्राप्त होगया था।

किन्तु सच पूछिए तो इन नाटकों में भी संगीत और नृत्य की इतनी अधिकता थी कि इन्हें नाटकों का बहुत ही आरंभिक और अविकसित रूप मान सकते हैं। इनके बाद अधिक विकास होने पर जो नाटक बने उनमें राजनीतिज्ञ और पुरोहित (धार्मिकनेता) के द्वंद्व-प्रकाशन की चेष्टा स्पष्ट है। सच पूछिए तो रोमन चित्रकला और कविता की भांति जापानी नाट्यकला में भी इन दो प्रधान विरोधी शक्तियों का खूब संघर्ष देख पड़ता है।

सोलहवीं शताब्दि में जा कर इन पौराणिक संगीत-प्रधान नाटकों का रूप स्थिर होता है। इस काल के नाटकों में निम्नकोटि के अज्ञानजन्य पौराणिक विश्वासों का प्रभाव घटता मालूम पड़ता है। भूत-प्रेत, जो प्रारम्भिक नाटकों में पुरोहितों के उपदेशों को न मानने पर कष्ट देने के लिए अवतीर्ण होते थे, नष्ट हो गये-से मालूम पड़ते हैं। धार्मिकता अथवा साम्प्रदायिकता की छाया भी क्षीण और जीर्ण हो गई है —विशेषतः बुद्धवाद का पुरोहितों द्वारा प्रचलित रूप कम प्रभावजनक हो गया है। यह सब राजनैतिक प्रभाव की

वृद्धि के स्पष्ट चिन्ह हैं। यद्यपि अब भी और इसके बाद भी बहुत दिनों तक 'नो'-नृत्य-प्रणाली की लोकप्रियता कम नहीं हुई, फिर भी इतिहास इसका साक्षी है कि सोलहवीं शताब्दि के बाद कोई लोकप्रिय नया 'नो'-गीत नहीं लिखा गया। धनियों और ज़मींदारों के यहाँ उनके आनन्द-प्रमोद के लिए अवश्य ही सत्रहवीं शताब्दि के अंतिम भाग तक 'नो'-नर्तकियों और नर्तकों का एक न एक दल रहता था। और अब भी टोकियो में इस प्रकार के मध्यकालिक नृत्यों के ज्ञाता नर्तकों का एक बड़ा दल मौजूद है।

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और जापान में धार्मिक अधिकारियों के ऊपर राजनैतिक शक्तियाँ विजय पाती गईं, इन धार्मिक नाटकों का रूप बदलता गया। पहले राजनीति और धार्मिक शक्ति का युद्ध प्रतिफलित हुआ; फिर पिछले नाटकों में धार्मिक अंध-विश्वास पर राजनैतिक भावनाओं और बुद्धिवाद ने विजय पाना आरंभ किया। धीरे-धीरे व्यंग्य का प्रवेश हुआ। इन पौराणिक नाटकों में ही धार्मिक उपदेशकों और अत्याचारी पुरोहितों की दिल्लगी उड़ाई जाने लगी। 'शुंक-उन' नामक नाटक में (जिसका अर्थ ही 'महापुरोहित निर्वासन में' होता है) पुरोहितों और पोपों पर राजनैतिक विजय के लक्षण स्पष्ट हैं। पिछले काल में जब ये नाटक अभिनीत होने लगे तो दर्शक इनमें अत्याचारी महन्तों को राजभक्त एवं देशप्रेमी राजनैतिक अधिकारियों द्वारा दण्डित और शासित होते देखकर बड़े प्रसन्न होते थे।* इन दर्शकों में युवकों की संख्या सबसे अधिक थी। इससे मालूम होता है कि नई संतति के भाव बदल रहे थे और उनमें एक नई शक्ति काम कर रही थी।

धीरे-धीरे इन नाटकों का विकास होता गया और उन्नीसवीं शताब्दि में पौराणिक नाटकों ने काल्पनिक एवं ऐतिहासिक लोकप्रिय नाटकों का रूप धारण कर लिया। उन्नीसवीं शताब्दि के अंतिम अर्द्धांश में, जो जापान के इतिहास में सबसे प्रगतिशील समय है, देश के सब अंगों की भाँति साहित्य ने भी बड़ी तीव्रगति से अपनी दौड़ आरंभ कर दी। इस काल के कतिपय नाटक तो बहुत ही लोकप्रिय हुए।

इस काल के नाटकों की उन्नति का बहुत बड़ा श्रेय उन महान् अभिनेताओं को है, जिन्होंने अपनी परमोन्नत अभिनय-कला के बल पर जापान का मुखोज्ज्वल किया है। जैसे गिरीश बाबू का नाम बँगला स्टेज और नाट्यकला के साथ इस तरह मिल गया है कि अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही इस काल के तीन-चार जापानी अभिनेताओं का नाम जापानी नाट्य-साहित्य के साथ मिल कर एक हो गया है। इनमें श्री 'इछिकावा इनजूरों' का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। ५० वर्ष से भी अधिक काल तक ऐतिहासिक और काल्पनिक चरित्रों का अभिनय करने के कारण वह इस कला में इतने निपुण हो गये थे कि उनका नाम ही नाट्यकला-प्रेमियों के मन में एक विचित्र श्रद्धा की सृष्टि करता था। हेनरी इरविंग का नाम जैसे शेक्सपीरियन नाटकों के अभिनय का समानार्थवाची शब्द हो गया है, और जैसे उस महान् नट के अभिनय के समय लोग यह बिलकुल ही भूल जाते थे कि यह इरविंग अभिनय कर रहा है, वैसे ही इछिकाव इनजूरों भी अपनी आश्चर्यजनक शक्ति से लोगों को विमूढ़ कर देते थे।

श्री ओबोजीरो कावाकामी दूसरे प्रसिद्ध नट हैं, जिनका जापानी स्टेज की उन्नति में बड़ा हाथ रहा है। अभिनय की बात छोड़ दी जाय तो भी नाटकों के विकास के इतिहास में इनका नाम अमर रहेगा। इन्होंने स्वयं कई अभिनय-योग्य नाटक लिखे, जिनमें दो-तीन तो उन्नीसवीं शताब्दि के सर्वाधिक लोकप्रिय नाटकों में गिने जाते हैं। दो तो बहुत ही अधिक प्रसिद्ध हैं, जिनमें एक चीन-जापान-युद्ध को लेकर लिखा गया है। इस नाटक में देशभक्ति की मात्रा इतनी अधिक है और उसके ऐसे ऊँचे दृश्य देखने को मिलते हैं कि देशभक्त जापानी युवक के प्राण इसे देख कर उद्दीपित हुए बिना रह ही नहीं सकते; और यही कारण है कि इस नाटक के द्वारा जितनी ख्याति श्री कावाकामी को प्राप्त हुई और जितना आर्थिक लाभ उन्हें हुआ, और किसी नाटक से नहीं हुआ। श्री कावाकामी का दूसरा नाटक भी, जो अंग्रेज़ी के

---

* ये मध्यकालिक नाटक अब भी जब कभी खेले जाते हैं तो जनता उनसे अपना खूब मनोरंजन करती है। उन्नीसवीं शताब्दि के अंतिम चतुर्थांश में तो इन नाटकों के अभिनय प्रायः होते रहते थे।

'अस्सी दिन में पृथ्वी की परिक्रमा' (Round the World in Eighty Days) के आधार पर लिखा गया है, कम प्रसिद्ध नहीं हुआ।

'ज़िंगोरो' नाटक नामक भी उन्नीसवीं शताब्दि के अभिनीत होने वाले लोकप्रिय नाटकों में से एक है। यह नाटक घात-प्रतिघात-मूलक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो उतना महत्वपूर्ण नहीं है, पर रहस्यपूर्ण सांकेतिकता ('सिम्बोलिज़्म' से अभिप्राय है) के विचार से पूर्व के एकाध ही नाटक इसकी कोटि में रक्खे जा सकते हैं।

इसका छोटा सा कथा-भाग अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक आदर्श का संगम-चित्र है। ज़िंगोरों एक मूर्तिकार है। वह गेलेटी नामक परमसुंदरी लज्जावती कुमारी गेशा ('गेशा' एक प्रकार की नर्तकी होती है, जो बहुधा सभ्य घराने की होती है और नृत्यकला से मनोरंजन करना ही उसका कार्य है। गेशा को पाठक हमारे यहाँ की वेश्यायें न समझ लें) की मूर्ति (लकड़ी पर) बनाता है। यह कलाकार (ज़िंगोरों) पीछे अपनी कलाजन्य मूर्ति पर ही आसक्त हो जाता है। इस प्रकार अपनी कृति में घनिष्ट आकर्षण के उपकरण पाने की घटना नई नहीं है। मनुष्य-जीवन के विकास के इतिहास में ऐसे अवसर अनेक बार आये हैं। कई यूनानी मूर्तिकार, स्वनिर्मित मूर्तियों के सौंदर्य में जीवन की कलाओं की स्पष्ट छाया देखकर, उनपर सर्वस्व न्यौछावर कर चुके हैं। किन्तु इस नाटक में एक अद्भुत स्वर्गीय सत्य की सृष्टि की गई है। लेखक कहता है—'परछाँई वा प्रतिकृति स्त्री की प्राण-शक्ति है': और इसीको सिद्ध करने की चेष्टा नाटक में की गई है। धीरे-धीरे मूर्तिकार (ज़िंगोरों) मूर्ति (गेलेटी) के प्रेम में निमग्न होता जाता है और अन्त में स्पर्श करते ही मूर्ति को सजीव स्त्री (गेलेटी) के रूप में पाता है। मूर्ति में मूर्त को प्रत्यक्ष करना, चित्र और चित्रकार—मूर्ति और मूर्तिकार का एकाकार करने की साधना, बड़ा विराट भाव है। मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा साधारण साधना के अन्तर्गत नहीं है। इसी तरह की कुछ कल्पना फ्रेंच नाटक 'लापों' तथा रवि बाबू की एक छोटीसी कहानी में भी है। यह अत्यंत उच्च कोटि के 'सिम्बोलिज़्म' का उदाहरण है।

'कोजीमा ताकानोरी'* नाटक भी सच्चे 'जापानी' को बहुत प्राणोदित करता है। यह देशभक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत एक ऐतिहासिक नाटक है। इसका वस्तु-भाग तेरहवीं शताब्दि की उस घटना के आधार पर तैयार किया गया है, जो जापान के इतिहास में योशी-तोकी के अभ्युदय के नाम से विख्यात है। कथानक के अनुसार 'होजो'-वंश का सरदार 'योशी-तोकी' शक्ति-संचय कर जापान का सर्वेसर्वा बन बैठता है और 'शिकेन' (प्रधान सेनापति) की उपाधि धारण करता है। वह तीन सम्राटों (इस समय जापान एक राष्ट्र नहीं था) को 'ओकी'—द्वीप में निर्वासित कर देता है। इनमें से एक 'कोदीगो' जब इनोशा नामक स्थान से गुज़र रहा था, तो 'ताकानोरी' नामक एक स्वामी-भक्त सरदार उसके आगमन का समाचार सुनकर किसान का वेश बना राजकीय उद्यान में छिप गया। चूंकि इस स्थान पर भी 'योशी-तोकी' के सैनिक अधिकारियों और पहरेदारों से अपने सम्राट् की रक्षा करना उसकी शक्ति के बाहर था, उसने वीरता और वफ़ादारी के प्रदर्शन द्वारा अपने स्वामी के हृदय में सन्तोष की एक हलकी रेखा खींचने का निश्चय किया। अपनी तलवार से एक वृक्ष की ऊपरी छाल काट कर एक स्थान पर उसने वह प्रसिद्ध जापानी कहावत लिख दी, जिसका अर्थ यह होता है कि 'जब तक मैं जीता हूँ, तुम्हें सिंहासन से कोई नहीं हटा सकता।' इस लिखावट को देख-कर 'शिकेन' के पहरेदार उसे खोज निकालते और उसपर आक्रमण करते हैं। वह वीरता के हाथ दिखाकर उन्हें दूर भगा देता पर अंत में चुटीला हो जाता है। इसी समय उद्यान-प्रासाद की खिड़की खुलती है और निर्वासित मिकाडो अपने वफ़ादार सरदार के वीर कृत्य पर मुस्कुराते दिखाई पड़ते हैं। स्वामी-भक्त 'ताकानोरी' द्रवित-हृदय हो भक्ति से आँखों में आँसू भर लाता है और प्राणोत्सर्ग करता है। यही कथानक का सारांश है।

इस नाटक में श्री कावाकामी 'ताकानोरी' का अभिनय स्वयं करते थे और उनका अभिनय इतना उच्चकोटि का होता था कि दर्शक नाटक के भावों से भावावेश में आ जाते थे।

* इस शब्द का अर्थ 'राज-भक्त' से मिलता-जुलता है।

श्री कावाकामी का लिखा एक नाटक पिछले समय में बहुत लोकप्रिय हुआ। इसका नाम 'गेशा और सरदार' है। १८९० ई० के लगभग इसे श्री कावागामी ने लिखा था। बहुतों के मत से यह उनके नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। कावागामी के साथ इस नाटक के अभिनय में श्रीमती सादा याको भी भाग लेती थीं। श्रीमती सादा की गणना जापान की सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्रियों में है। पश्चिमी आलोचक उन्हें 'जापान की एलेनटेरी' कहा करते थे। कितने ही यूरोपीय आलोचकों ने उनके अभिनय देखकर उनके अद्भुत नाट्यकला-ज्ञान की प्रशंसा में पन्ने के पन्ने रंग डाले हैं।

'गेशा और सरदार' के कथा-भाग का सारांश यह है—कस्तूरगी एक परमसुंदरी युवती है। उसे बंजा और नागोया नामक दो सरदार प्रेम करते हैं, पर नागोया का विवाह पीछे एक दूसरी रमणी ओरीकीम से ठीक हो जाता है और एक दिन अपने पहले रक़ीब—प्रतिद्वंदी—बंज़ा द्वारा अपमानित होकर अपनी प्रेमपात्री ओरीकीम को साथ ले कस्तूरगी (पूर्व-प्रेमपात्री) के भय से भाग जाता है। पीछे एक बुद्ध-मंदिर में जाकर शरण लेता है। जिस समय का यह कथानक है उस समय इन मन्दिरों में कोई स्त्री अकेले नहीं प्रवेश करने पाती थी। इतना जानकर भी कस्तूरगी उक्त मन्दिर में (जहाँ नागोया अपनी प्रेमपात्री ओरीकीम के साथ छिपा है) जाती है और बुद्ध की भक्ति में नाचने का बहाना करके पुरोहितों को धोखा देना चाहती है। आज्ञा मिल जाती है। पहले वह मन्दिर के उपयुक्त एक 'नो-माई' (नृत्य) करती है और ज्यों-ज्यों पुरोहित उसपर मुग्ध हो अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, वह एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा नृत्य करती है। निश्चय ही उसके भावावेशमय नृत्य से पुरोहितों पर एक प्रकार का नशा चढ़ जाता है, पर उसे चालाकी में सफलता नहीं मिलती। किसी भी बहाने से मन्दिर में प्रवेश करने की चेष्टा करते ही पुरोहित एवं पण्डे उसे बुरी तरह फटकारते हैं। पर कस्तूरगी इससे हताश नहीं होती और एक बार नाचते-नाचते अतिशय शीघ्रता से फाटक के भीतर जाती और ओरीकीम को घसीट लाती है। फिर वह मन्दिर का घण्टा पीटने की बड़ी मोगरी से उसे मारती और दबाती है। इस समय उसके नंगे हाथ और बिखरे हुए बाल उसे स्टेज पर एक भयानक प्रतिशोध की आकांक्षा से पागल रमणी के रूप में व्यक्त करते हैं। विनोदकर दृश्य एकाएक, आशातीत शीघ्रता से, भयप्रद दृश्य में बदल जाता है—'कामेडी' 'ट्रेजेडी' हो जाती है। एक पुरोहित उसको कोई प्राणघातक चीज़ फेंक कर मारना चाहता है। ऐसे ही समय नागोया आ जाता है और पुरोहित को ऐसा करने से अलग कर देता है। विरोधी भावनाओं के संघर्षण और घात-प्रतिघात में डूब कर तथा नागोया की इस प्रेम-प्रवीणता पर मुग्ध हो सुषुप्तावस्था में वह उसके बाहु-पाश में लिपट जाती है।

जिन्होंने अंग्रेज़ी नाटक के विकास का अध्ययन किया होगा उन्हें दोनों देशों के वर्तमान राजनैतिक सादृश्यों की भांति नाटकों के सम्बन्ध में भी एक विचित्र समानता दिखाई पड़ेगी। जापान में अभिनय तथा नाटक का आरम्भ वस्तुतः १५७५ ई० से होता है। पहला अभिनय क्योटो में पुजारिन ओकोनी (जो नागोया सेंजाबुरो के साथ भाग गई थी) द्वारा हुआ। इंग्लैण्ड में भी नाटकों का अभिनय १५७६ ई० से आरम्भ हुआ, जब लाइसेस्टर के अर्ल के कर्मचारियों द्वारा ब्लैक फ्रायर्स में सार्वजनिक थियेटर की नींव डाली गई। स्टेज के नेताओं में भी समानता पाई जाती है। इंग्लैण्ड के ग्रीन एवं मार्लो तथा जापान के चिकामत्सु दोनों ही परम्परा के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। फिर इसाई 'रहस्यों' तथा बौद्ध 'नो' में भी बहुत कुछ समानता पाई जाती है। शेक्सपियर और चिकामत्सु का काल भी लगभग एक है।

ऊपर उन्नीसवीं शताब्दि के जिन लोक प्रियनाटकों का उल्लेख किया गया है उनमें से अधिकांश आज भी खेले जाते हैं। उनके अभिनय की मूल प्रणाली में भी बहुत कम अन्तर हुआ है। जापान की अधिकांश जनता ऐसे नाटकों को देख कर प्रसन्नतालाभ करती है, जिसमें सौंदर्य और कर्तव्य ये दो प्रधान उपकरण हों। जापान के सब नाटक कर्तव्य तथा देश-प्रेम की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। इनका तथा चीनी एवं उच्चकोटि के भारतीय नाटकों का विश्लेषण किसी अंग्रेज़ लेखक की इस बात का पूर्ण समर्थन करता है कि 'पूर्वीय कला का उद्देश्य व्यामोह नहीं विकास है' (The aim of eastern art is not illusion,

but edification) । इनमें सौंदर्य की भावना चाहे जितनी शक्तिशालिनी हो, पर कर्तव्य-ज्ञान का भाव उससे भी अधिक ज़बर्दस्त होता है ।

जिस प्रकार के नाटकों का उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ उनके अतिरिक्त 'सेवामोनो' (सामाजिक नाटक) प्रणाली के भी कई नाटक बहुत लोकप्रिय हैं । इनमें प्रायः प्रेम की शक्तियों का चित्रण है; पर यह प्रेम यूरोपीय ढँग का नहीं, कर्तव्य और त्याग की भावना उसमें भी प्रधान ही रहती है । उन्नीसवीं शताब्दि के अंतिम भाग में सोशी-शीबाई स्कूल के लोगों ने, जिनमें अधिकांश सोशी * थे, जापानी नाट्य-प्रणाली में क्रांति करने के लिए टोकियो में एक थियेटर खोला। इनमें अन्य देशों के कई अच्छे नाटक अनुवाद करके खेले भी गये, पर इन लोगों के पास धन न होने के कारण शीघ्र ही इस थियेटर का प्राणान्त हो गया । श्री कावाकामी ने—जो सोशी ही थे—बीच का मार्ग पकड़ा, इसलिए अधिक सफल हुए । नाटकों को यूरोपीय रूप देने का श्री ओसादा ने भी बहुत प्रयत्न किया । वह स्वयं पेरिस स्कूल के भक्त हैं और इसीलिए उन्होंने १८९८ में प्रसिद्ध फ्रेंच 'कामेडी' Le monde on l'on s'ennui ' का अनुवाद करके स्टेज पर खेला भी था, पर इस चेष्टा में उन्हें अधिक सफलता न मिली ।

पिछले काल में जापानी नाटकों में सुधार करने वालों में सबसे सफल श्री तसूबोची और श्री फूकोची हुए । इनमें श्री तसूबोची नाटक लिखने के पूर्व समालोचना और उपन्यास के क्षेत्र में अच्छी सफलता प्राप्त कर चुके थे । इन लोगों ने भी बीच का रास्ता पकड़ा। अपने यहाँ की ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नये ढंग से नाटक लिखने की प्रथा चलाई । श्री फूकोची ने लगभग ४० नाटक लिखे, जिनमें कई बहुत लोकप्रिय हुए । इनमें बिलकुल आधुनिक ढंग से लिखा हुआ 'कासूगा—नो—तसूबोन' बहुत प्रसिद्ध हुआ ।

जापानी स्टेज और नाटक को आधुनिक उन्नत यूरोपीय रूप देने में अनेक बाधायें हैं । जापानी का राजभक्त हृदय और संस्कार अपनी मूल संस्कृति पर विश्व-प्रेम को विजयी नहीं होने दे सकता । इसीलिए जापानी साहित्य में विश्व-व्यापी चरित्र-चित्रण का अतिशय अभाव है । कविता के क्षेत्र में तो इधर क्रांति हुई है, पर नाटक तथा अन्य क्षेत्रों में पूर्ण परिवर्तन अभी 'दूर की बात' है ।

श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

* सोशी स्कूल, उन विद्यार्थियों द्वारा चलाया गया था जो जापानी स्टेज में सुधार करने के पक्षपाती थे ।

रौरव को स्वर्ग बना जाऊँ

मां, क्यों आप दूर जा बैठीं- वीणा गहा कर कर में ।
क्या मैं इसे बजा सकता हूं उसी मनोहर स्वर में ?
हँसती है रजनी विलोक कर मेरी करुण दशा को,
नहीं जानता पुलकित है क्यों क्या रस मिला रसा को ।
उड कर नन्दन-वन से ये मन्दार सुमन आते हैं,
मेरे लज्जानत सिर पर भी फूले नहीं समाते हैं ।
इस सुर धुनि-निर्झर काशी कर करता है मेरा अभिषेक,
करती हैं ऋतुयें प्रदक्षिणा शीश झुका कर बार-अनेक ।
ताराओं के दीप सजा शशि आ आरती उतार रहा,
त्रिविध-समीर सुगन्ध और शीतलता मुझपर वार रहा ।
प्रति मुहूर्त करता है सागर, मां, क्यों यों मेरा जयनाद ?
प्रकट कर रहा है वह दुर्लभ रत्न लुटा सच्चा आल्हाद ।
विश्रुत अहंकारियों ने आ कर मेरे चरणों के पास,
समझा निज को धन्य-धन्य श्रद्धांजलि देकर सहित हुलास।
मां, तेरी वीणा पा कर मैंने इतना आदर पाया ।
सुधि समाज को खड़ा चतुर्दिक स्तुति करते सादर पाया ।
कवि-मानस-मन्दिर-निवासिनी ! जो मैं कहीं तुझे पाऊँ,
आह ! लेखनी के बल से रौरव को स्वर्ग बना जाऊँ ।

मोहनलाल महतो गयावाल

राजा गिरधर कछवाहा

कछवाहों का राज्य पहले नरवर और ग्वालियर पर था। ग्वालियर के राजा मंगलराज कछवाहे के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र वज्रदामा तो अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ और उस (मंगलराज) के छोटे पुत्र सुमित्र को जागीर मिली। सुमित्र के पांचवे वंशधर ईशासिंह ने धौसा में आकर वहाँ पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार राजपूताने में कछवाहों का प्रवेश हुआ और शनैः शनैः वे अपना राज्य बढ़ाते गये और पीछे से उनकी राजधानी आंबेर में स्थिर हुई। ईसासिंह का चौदहवां वंशधर राजा उदयकरण था, उसके पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र नरसिंह (बरसिंह) आंबेर का स्वामी हुआ। उस (नरसिंह) का छोटाभाई बाला और उसका पुत्र मोकल तथा पौत्र शेखा हुआ। शेखा के नाम से कछवाहों की शेखावत-शाखा प्रसिद्ध हुई। शेखा और उसके वंशजों ने अपने बाहुबल से एक विस्तृत स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, जो शेखावाटी नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग बहुत बढ़े, परन्तु पीछे से जयपुर राज्य ने उनको अपने आधीन कर लिया और उनके परस्पर के झगड़ों से लाभ उठाकर उनका बल तोड़ने के लिए खेतड़ी और सीकर के सिवा शेखावतों के सब ठिकानों में यह नियम कर दिया कि एक सरदार के जितने पुत्र हों वे सब अपने पिता की जागीर का बराबर हिस्सा करलें।※ इस प्रकार शेखावतों की जागीरों के अनेक विभाग हो गये।

शेखा का पुत्र रायमल हुआ। हुमायूँ से दिल्ली का राज्य छीनने वाले शेरशाह सूर का पिता हसनखां उक्त रायमल के दरबार में बहुत दिनों तक नौकर रहा था।‡ उक्त रायमल के पुत्र सूरजमल का पांचवां बेटा रायसाल बहुत प्रसिद्ध हुआ।

रायसाल ने बादशाह अकबर की सेवा स्वीकार कर ली, और अपनी बुद्धिमानी से वह उसका इतना विश्वास-पात्र बन गया कि शाही जनानखाने का मुहाफिज (अध्यक्ष) नियत हुआ। यह बादशाह के दरबार में सदा उपस्थित रहता था, जिससे 'दरबारी' के खिताब से प्रसिद्ध हुआ। वि० सं० १६६२ (ई० सं० १६०५) में उसका मनसब तीन हज़ारी हो गया। उसी वर्ष उदयपुर के महाराणा अमरसिंह को अधीन करने के लिए शाहज़ादा परवेज के साथ बादशाह जहाँगीर ने सैन्य भेजी, जिसमें रायसाल भी शामिल था।※ फिर वह दक्षिण में नियत हुआ और वहीं उसका देहांत हो गया।

रायसाल दरबारी के पीछे उसके २१ पुत्रों में से सबसे बड़ा राजा गिरधर बादशाही सेवा में उपस्थित हुआ। वि० सं० १६७२ में जहांगीर ने दक्षिण में फौज भेजी, जिसके साथ गिरधर को भी ८०० जात और ८०० सवार का मनसब देकर भेजा।†

गिरधर की सेवा से प्रसन्न होकर वि० सं० १६७५ (ई० स० १६१८) में बादशाह (जहांगीर) ने उसका मनसब १००० जात और ८०० सवार का‡ और संवत् १६७८ (ई० स० १६२१) में १२०० जात और ९०० सवारों का कर दिया।× फिर दक्षिण से लौटने पर वि० सं० १६७९ (ई० स० १६२२) में राजा का खिताब और खिलअत देकर उसका मनसब दो हज़ार जात और डेढ़ हज़ार सवार कर दिया गया।÷

※ कर्नल जे० सी० ब्रुक: पॉलिटिकल हिस्ट्री आफ़ दी स्टेट आफ़ जयपुर: पृ० ९।

‡ मुंशी देवीप्रसाद; हुमायूं नामा; पृ० २१।

※ अलेग्जैण्डर रोजर्स-कृत तुजुके जहांगीरी का अंग्रेज़ी अनुवाद: जिल्द १, पृ० १६-१७।

† वही; जिल्द १, पृ० २९८।

‡ वही; जिल्द २, पृ० ४४-४५।

× वही; जिल्द २, पृ० २०६।

÷ वही; जिल्द २, पृ० २५२।

बादशाह जहांगीर अपने पिछले दिनों अपनी बेगम नूरजहां के हाथ की कठपुतली हो गया था, जिससे जो वह चाहती वही उससे करा लेती थी। नूरजहां ने अपने प्रथम पति शेर अफ़ग़न से उत्पन्न पुत्री का विवाह शाहज़ादे शहरयार से किया था, जिससे वह जहांगीर के पीछे उसको बादशाह बनाना चाहती थी; इसलिए वह शाहज़ादे ख़ुर्रम (शाहजहाँ) के विरुद्ध बादशाह के कान भरा करती थी। उसने उक्त शाहज़ादे को हिन्दुस्थान से बाहर इस अभिप्राय से भिजवाना चाहा कि यदि वह उधर रहे तो शहरयार के लिये मार्ग सुगम हो जाय। उन्हीं दिनों ईरान के शाह अब्बास ने कन्धार का क़िला अपने आधीन कर लिया था, जिसको फिर से विजय करने के लिए नूरजहां ने ख़ुर्रम को वहां भेजने की सम्मति बादशाह को दी। बेगम के कथनानुसार बादशाह ने उसको बुरहानपुर से कन्धार जाने की आज्ञा दी, परन्तु वह बेगम के प्रपञ्च से परिचित हो गया था और यह भी जानता था कि यदि हिन्दुस्थान का कोई भी हिस्सा मेरे अधिकार में न रहा तो मेरे लिए बादशाह बनने की कोई आशा न रहेगी। इसी विचार से उसने बादशाह की आज्ञा के अनुसार कन्धार जाना स्वीकार न किया, जिससे बादशाह ने उसे विद्रोही मान लिया और उसको सजा देने के लिए ४०००० सवार और कई बड़े-बड़े अधिकारियों को दक्षिण में भेजा। उस समय गिरधर भी उक्त सैना के साथ दक्षिण में भेजा गया, जहाँ थोड़े ही दिनों बाद वि० सं० १६८० में उसने अपने प्राण परार्थ न्यौछावर कर दिये। इस विषय में स्वयं बादशाह जहांगीर अपनी दिनचर्या की पुस्तक में इस प्रकार लिखते हैं:—

"इन दिनों सूबे दक्षिण से बख़्शी अक़ीदतख़ाँ की अर्ज़ी आई, जिसमें राजा गिरधर के मारे जाने का हाल इस तरह था। शाहज़ादा परवेज़ के नौकर बारहा के सैयद कबीर के एक भाई ने अपनी तलवार चमकीली बनाने और धार तेज़ कराने के लिए एक सिकलीगर को दी थी, जिसकी दूकान राजा गिरधर की हवेली के निकट थी। दूसरे दिन जब वह अपनी तलवार लेने को आया तो मज़दूरी की बाबत बातचीत करते हुए सैयद के नौकरों ने सिकलीगर के कुछ लाठियां मार दीं। राजा के नौकरों ने सिकलीगर की हिमायत कर सैयद के नोकरों को पीटा। संयोगवश बारहा के दो-तीन जवान सैयद, जो नज़दीक में रहते थे, उस सैयद की मदद को गये, जिससे लड़ाई की आग भड़क उठी और सैयदों तथा राजपूतों में तीर-तलवार चलने की नौबत पहुँच गई। यह ख़बर पातेही सैयद कबीर तीस-चालीस सवारों के साथ उन सैयदों की मदद को पहुँचा। उस समय राजा गिरधर हिन्दुओं की रीति के अनुसार वस्त्र खोल कर अपने राजपूत भाई-बन्धुओं के साथ बैठ कर भोजन कर रहा था। सैयद कबीर के आने और सैयदों की ज्यादती की ख़बर पाने पर राजा गिरधर ने अपने आदमियों को हवेली में बुला लिया और उसका दर्वाजा बन्द करवा दिया। सैयदों ने दर्वाज़े को जला कर हवेली में प्रवेश कर लिया, जिससे वहाँ ऐसी लड़ाई हुई कि राजा गिरधर अपने २६ सेवकों सहित मारा गया और ४० आदमी घायल हुए तथा ४ सैयद भी मारे गये। राजा गिरधर के मारे जाने पर सैयद कबीर उसके तबेले से घोड़े लेकर लौट गया। अन्य राजपूत मनसबदार राजा गिरधर के मारे जाने की ख़बर पाते ही घोड़ों पर सवार होकर बड़ी संख्या में अपने-अपने डेरों से चले। उधर बारहा के तमाम सैयद भी कबीर की सहायता को आ पहुँचे। क़िले के बाहर के मैदान में वे जमा हो गये, जिससे आपत्ति की आग भड़क कर बड़ा बखेड़ा होने वाला ही था कि इतने में यह ख़बर

महाबतख़ां* के पास पहुँची । वह तुरन्त सवार होकर वहाँ आ गया और सैयदों को क़िले में लाकर राजपूतों की समयानुकूल सान्त्वना कर दी, और उनके कईएक मुखियों को अपने साथ लेकर ख़ान आलम के यहाँ पहुँचा, जो निकट ही था। उसने अच्छी तरह उनको शांत कर इस विषय की तहक़ीक़ात करने का ज़िम्मा अपनेपर लेने का वचन दिया । जब इसके समाचार शाहज़ादे (परवेज़) को मिले तो वह ख़ान आलम के डेरे पर पहुँचा और समयानुसार राजपूतों को तसल्ली देकर उन्हें अपने डेरों पर भेज दिया । दूसरे दिन महाबतख़ां ने राजा गिरधर की हवेली पर पहुँच कर उनके पुत्रों को दिलासा देते हुए शोक प्रकट किया और सैयद कबीर को पकड़वा कर क़ैद कर दिया। राजपूत लोग सैयद कबीर को मारे बिना शांत नहीं होते थे, इसलिए कुछ दिनों बाद उसने उसका शिरच्छेद करवा दिया ।"‡

इस प्रकार सैयदों के ज़्यादती करने तथा राजा गिरधर की हवेली के दर्वाज़े के किवाड़ जला या तोड़ कर भोजन करते हुए राजपूतों पर टूट पड़ने से राजपूतों की विशेष हानि हुई, तोभी उस समय वहाँ रहने वाले अन्य राजपूत मनसबदारों की एकता के कारण ही सैयद कबीर को प्राणांत-दंड दिये जाने की सजा हुई । यह एक प्रकार से वहाँ के शासक की न्यायपरायणता का एक अच्छा उदाहरण है ।

*उसका असली नाम ज़मानबेग था । वह काबुल के रहने वाले गारबेग का पुत्र था । बादशाह अकबर के समय उसका मनसब ५०० का था, परन्तु जहांगीर के समय वह बहुत प्रसिद्ध हो गया और बादशाह के अफ़सरों में सर्वोपरि गिना जाने लगा । उसका देहांत ई० स० १६३४ में दक्षिण में हुआ।

‡ तुज़ुके जहांगीरी का अंग्रेज़ी अनुवाद: जिल्द २, पृ० २८२–८४ ।

राजा गिरधर का उत्तराधिकारी उसका पुत्र द्वारकादास भी बड़ा वीर राजपूत था, जिसको शाहजहाँ के राज्य के पहले वर्ष (वि० सं० १६८५) में एक हज़ार ज़ात और ८०० सवार का मनसब मिला था।* दो वर्ष पीछे दक्षिण के निज़ामुल्मुल्क पर की चढ़ाई में उसने ऐसी वीरता दिखलाई कि बादशाह ने उसकी बहादुरी से प्रसन्न होकर १५०० ज़ात और हज़ार सवार का मनसब दिया।† फिर संवत् १६८७ में ख़ांजहां लोदी की चढ़ाई के समय वीरता से लड़ता हुआ तीर के लगने से वह मारा गया । उसका पुत्र बरसिंहदास भी अच्छा वीर था, जिससे उसका मनसब भी ८०० ज़ात और ८०० सवार तक पहुँच गया था, और वह काबुल तथा बरार के क़िलों का सूबेदार भी रहा था।

इस समय राजा गिरधर के वंश में जयपुर राज्य के खंडेला (दोनों विभाग), कूहड़ी और दांता के सरदार हैं ।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

प्रण

दीन, मति-हीन, पंगु, बधिर रहूँ मैं मूक;
तृषित क्षुधा से होके व्याकुल ही पड़ा रहूँ ।
घोर विपदा की मार सहता रहूँ जीवन में,
पाप-पंक में न किन्तु सिर तक गड़ा रहूँ ।
आंसुओं की धारायें बहा दूं यदि रो-रो के ही,
कंटक-मय पथ में चाहे विकल खड़ा रहूँ ।
किन्तु निज शत्रुओं को पीठ दिखलाऊं नहीं,
करुणा-निधान निज 'प्रण' पै अड़ा रहूँ ।

भुवनेश्वरसिंह 'भुवन'

* मुंशी देवीप्रसाद: शाहजहां नामा: भाग १, पृ० ८ ।

† वही; भाग १ पृ० ३३ ।

चिलों का कैदी

"ये पद-चिन्ह न मिटने पावें—
रहे सभी को इनकी याद;
ज़ालिम के ज़ुल्मों की करते,
क्योंकि, सदा से ये फ़र्याद !"
(महाकवि बायरन की कविता से)

यूरोप में स्विट्ज़लैंड देश के प्राकृतिक सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा है—यहाँ तक कि उसे वहाँ का 'नन्दन-वन' कहा जाता है। इसी स्विट्ज़लैंड में जेनेवा की प्रसिद्ध झील है, जिसके तट पर कितनी ही ऐतिहासिक घटनायें घट चुकी हैं और जिसका जल कितनी ही बार स्वतंत्रता के संग्राम में मर मिटने वालों के रक्त से रंजित हो चुका है। इस समय तो जेनेवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र सा हो रहा है। राष्ट्र-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मजूर-परिषद् इत्यादि के दफ़्तर वहीं हैं; और इसके निवासियों में संसार के प्राय: प्रत्येक देश के प्रतिनिधि मिल सकते हैं। जेनेवा नगर उक्त झील और एक छोटी सी नदी के संगम पर बसा हुआ है। इस समय यहाँ पूर्ण शांति है, पर इसके इतिहास से पता चलता है किसी समय यहाँ बड़ी खून-ख़राबी हो चुकी है और जिस सुख-शांति का लोगों को यहां आज अनुभव हो रहा है वह इसके उसी 'विशुभ्र बलिदान' का फल है। इस देश के अन्य नगरों का इतिहास भी इस विषय में इससे मिलता-जुलता है। मौक़ा पड़ने पर सभी बहादुरी से लड़ चुके हैं, सभी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यथेष्ठ आत्म-त्याग कर चुके हैं। स्विट्ज़लैण्ड की एकता के मार्ग में कई कठिनाइयाँ थीं। विभिन्न जातियाँ, विभिन्न भाषायें। यहाँ तक कि आज भी सभी की सन्तुष्टि के लिए इस देश में तीन सरकारी भाषायें—जर्मन, फ्रेंच और इटालियन—हैं। पर स्वतंत्रता की प्यास सब की एकसी तीव्र थी, अन्याय और अत्याचार का विरोध करने का भाव सब का एकसा प्रबल था। इसलिए इन नगरों या प्रांतों ने अपनी सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर अपनेको एकराष्ट्र में परिणत कर डाला। स्विट्ज़लैंड, बल या क्षेत्रफल में, ब्रिटिश साम्राज्य की समता नहीं कर सकता; न उसके पास जहाज़ी बेड़े हैं, न बड़ी फ़ौज है, न बड़ी तोपें हैं। संसार में न तो उसके कोई उपनिवेश हैं, न 'सन्धि-पत्र द्वारा प्राप्त' कोई बन्दरगाह है। पर वहाँ स्वतंत्रता की सच्ची उपासना है, परतंत्रता से वास्तविक घृणा है। और इसका फल यह है कि दारिद्र्य-दुःख वहाँ के लोगों से

जेनेवा की भील

दूर है, जो साधन प्रकृति से प्राप्त हुए हैं उनका राष्ट्रीय सदुपयोग हो रहा है, खेती और कल-कारखाने दोनों ही उन्नत अवस्था में हैं। वहाँ के निवासी आप मक्खन-मलाई खा रहे हैं और संसार को भी खिला रहे हैं। आप समयानुकूल चल रहे हैं और—अपनी बनाई हुई घड़ियों के द्वारा—संसार को भी समयानुकूल चला रहे हैं।

पर मैं जेनेवा की झील की बात कर रहा था। गत बार जब श्री घनश्यामदासजी बिड़ला जेनेवा गये थे तब अपनी मण्डली के साथ इस झील के तट पर प्रायः तीन सप्ताह ठहरे थे। उनके साथ एक दिन झील की परिक्रमा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। झील बहुत लंबी चौड़ी है। परिक्रमा में पूरा दिन लग गया। पर ऐतिहासिक महत्वपूर्ण स्थानों को देखने का यह अपूर्व अवसर था। इस झील के तट ने समय-समय पर कितने ही ऐसे विप्लववादी लेखकों और स्वदेश-भक्तों को आश्रय प्रदान किया है, जिन्हें और कहीं खड़े होने को भी जगह नहीं मिल सकती थी। भारत-भक्त श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को अपना देश तो क्या, लंदन और पेरिस का भी परित्याग करना पड़ा। पर जेनेवा और जेनेवा की झील ने उनका स्वागत किया। आज भी वह इसीके तट पर भारत के भविष्य की चिन्तना करते हुए अपने जीवन-दीप के निर्वाण की राह देख रहे हैं। इस स्थल की नैसर्गिक सुंदरता और शान्ति में भी कम आकर्षण-शक्ति नहीं है। क्या आश्चर्य कि इसके किनारे ऐसी वीर आत्मायें काल-यापन कर चुकी हैं और कर रही हैं, जिन्हें संग्राम के बाद विश्राम की आवश्यकता थी और जिन्हें उस विश्राम के लिए ऐसा उपयुक्त स्थान दूसरा नहीं मिल सकता था?

महाकवि बायरन

हम लोगों की इस परिक्रमा का प्रधान उद्देश्य चिलों का जगत्प्रसिद्ध क़िला देखना था। यह झील के उत्तर तट पर है। और यद्यपि इस समय इसका नाम सार्थक नहीं है, तथापि किसी समय इसका महत्व बढ़ा-चढ़ा था और अभेद्य दुर्ग होने के साथ यह प्रसिद्ध शासन-केन्द्र भी था। पर आज जो सैकड़ों यात्री दूर-दूर से यहां आते हैं और इसके दर्शन कर अपने को धन्य समझते हैं, इसका कारण इस क़िले का वह अतीत गौरव नहीं है। क़िले तो ऐसे, या इससे भी बढ़े-चढ़े, यूरोप में सैकड़ों होंगे; पर उनमें यह आकर्षण-शक्ति कहाँ? चिलों की प्रसिद्धि केवल एक कविता के कारण हुई—

और उस कविता का विषय एक ऐसे क़ैदी की कहानी है, जिसे वर्षों इस क़िले की कालकोठरी में रहना पड़ा था। अँग्रेज़ कवि बायरन के हृदय से निकले हुए उद्‌गार ने "चिलों के क़ैदी", और साथ ही चिलों के क़िले को, अमरत्व प्रदान कर दिया है; इसीलिए यह प्राचीन स्थान आज राजनैतिक मुक्ति चाहने वालों के लिए तीर्थ-स्वरूप हो रहा है और इसका यशःसौरभ संसार भर में फैल रहा है।

इस क़िले में स्वतन्त्रता के कितने भक्त क़ैदी रह चुके हैं—कितनों की जीवन-लीला इसीकी काल-कोठरियों में समाप्त हो चुकी है, यह बताना कठिन क्या असम्भव है। पर एक क़ैदी—बोनिवार्ड—की कहानी लोग इतने वर्षों से कहते-सुनते चले आते हैं और बायरन की कविता का विषय उसी एक का कारावास है। बायरन ने यह कविता सौ से कुछ अधिक वर्ष पहले लिखी थी। इस बीच में ऐतिहासिक गवेषणा से उसकी कविता का कुछ अंश निर्मूल सिद्ध हो गया है। पर फिर भी उसमें यथेष्ट ऐतिहासिकता है और कविता के आरंभ में तो जो चतुर्दशपदी है उसका दाम चौदह लाख भी थोड़ा ही है।

इस क़िले की नींव कब और किसके द्वारा पड़ी, यह अभी तक निश्चित नहीं हो पाया। पर इतना निश्चित है कि आज से कम से कम हज़ार बरस पहले, इस क़िले का कुछ अंश क़ैदख़ाने के तौर पर बर्ता जाता था। इस समय हम इसे जिस रूप में देखते हैं वह इसे तेरहवीं सदी में प्राप्त हुआ था। उस समय चिलों सवाय नामक प्रान्त के ड्यूक के अधिकार में

चिलों का क़िला, जहां बोनिवार्ड क़ैद था

आ गया था। पर यह चाहे जब बना हो और इसे चाहे जिसने बनाया हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह जिस स्थान पर बना है उसकी समता आसानी से नहीं हो सकती। एक ओर तो इसकी दीवारें झील के पानी में खड़ी हैं, दूसरी ओर उनका हिम-मण्डित गिरि-शिखर से, सान्निध्य का सम्बन्ध है। स्वच्छ-तोया झील मानों इसके पैर पखारती है और उत्तुङ्ग गिरि-शृङ्ग इसका पृष्ठपोषक है। वास्तव में क़िला कुछ चट्टानों के समूह पर बना हुआ है, और इसकी भौगोलिक

स्थिति ऐसी है कि प्राचीन समय में यह जब चाहता पास की घाटी से लोगों का आना-जाना बिलकुल बन्द कर देता। सुन्दरता के बीच भयङ्करता का मूर्तिमान् उदाहरण यह चिलों का क़िला है। इसलिए यहाँ की दृश्यावली देखकर मनुष्य की "हारिणा प्रसभं हृतः" की सी अवस्था हो जाती है; पर यहाँ का इतिहास स्मरण कर उसे रोमाञ्च हो आता है, यद्यपि अन्त में इन सब भावों के स्थान पर केवल यह उल्लास रह जाता है कि ऐसे क़िले की कालकोठरियों में बन्द किये जाने और वहाँ बरसों बेरहमी से सताये जाने पर भी इन आधुनिक प्रह्लादों ने अपनी हठ न छोड़ी और उनके प्रेम या उत्साह की आग में उनके देश या जाति की स्वतंत्रता के मार्ग के कण्टक एक न एक दिन भस्म ही हो गये!

सोलहवीं सदी में सवाय के ड्यूक का जेनेवा पर आधिपत्य हो चला। बहुत दिनों से इस घराने की नज़र झील के दक्षिण तट पर लगी हुई थी, यद्यपि उसके पैर इधर नहीं जम सके थे। जेनेवा-निवासियों ने एक ओर अपनी स्वतंत्रता खोई, दूसरी ओर इस पाप का दारुण फल भोगने लगे। कुछ समय के लिए ड्यूकशाही नादिरशाही की बराबरी में आ गई। जिन लोगों ने ड्यूक का विरोध किया था उनके साथ बेहद सख़्ती की जाने लगी। क़ैद और क़त्ल—दोनों ही सज़ाओं का दौर-दौरा हो चला। कुछ समय के लिए जेनेवा में ऐसा आतङ्क फैल गया कि जान पड़ता था वहाँ ड्यूक का विरोध करने की किसीमें हिम्मत न रही। पर यह आशंका निर्मूल निकली। अपने नगर और प्रान्त की स्वतंत्रता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले वीर सैकड़ों की संख्या में निकल पड़े और अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए वे सब के सब इस बहादुरी से लड़े कि जेनेवा की तो बात ही क्या, ड्यूक के घराने को चिलों से भी सदा के लिए हाथ धोना पड़ा।

झील से क़िले का दृश्य

जिस समय जेनेवा-निवासियों का यह आन्दोलन आरम्भ हुआ उस समय नगर से थोड़ी ही दूर पर किसी गिर्जाघर में एक पदाधिकारी था, जिसका नाम बोनिवार्ड था। वह वास्तव में 'सवाय' प्रदेश का निवासी था और ड्यूक की सेना में भरती होकर विलों आया था। बोनिवार्ड की

विद्वत्ता बढ़ी-चढ़ी थी; साथ ही वह बड़ा आदर्शवादी था। जब उसने देखा कि सत्य और न्याय जेनेवा-निवासियों के पक्ष में हैं और ड्यूक की ओर से ही सारी ज़्यादतियाँ हो रही हैं, तब उसने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया और जेनेवा आकर ड्यूक के विरोधी-दल में सम्मिलित हो गया। इस आन्दोलन में बोनिवार्ड ने बड़ी कार्य-क्षमता दिखाई। जेनेवा और उसके आस-पास के प्रदेशों का यह विश्वास हो चला था कि बिना आपस की एकता के, हममें से कोई न तो अपनी खोई हुई स्वाधीनता को फिर से पा सकता है, न अपनी बची-खुची स्वाधीनता की रक्षा कर सकता है। इसीलिए उन्होंने, एक दूसरे की सहायता करने के उद्देश्य से, अपना छोटा-मोटा संघ बनाया और इस एकता के बल के आधार पर ड्यूक का सामना करने की तैयारी करने लगे।

बोनिवार्ड ने इस संघ के निर्माणमें प्रमुख भाग लिया था। इसलिए ड्यूक की आँखों में वह काँटे के समान चुभ रहा था। संयोग-वश वह एक दिन ड्यूक के हाथ पड़ गया। बस, उसके हाथ-पैर ज़ंजीरों से जकड़ दिये गये और वह बात की बात में चिलों के क़िले की एक कोठरी में पहुँचा दिया गया। वह दो बरस उसी कोठरी में बन्द रहा। इसके बाद वह किसी प्रकार फिर जेनेवा जा पहुँचा। पर उसकी यह स्वतंत्रता अधिक काल के लिए न थी। एक दिन वह कहीं से लोसां नगर को लौटा आ रहा था कि रास्ते में ड्यूक के कुछ सिपाही, जो घात में बैठे थे, उसपर टूट पड़े और उसके हाथ-पैर बाँध कर उसे चिलों उठा ले गये। वहाँ इस बार बोनिवार्ड भयानक से भयानक कोठरी में रक्खा गया। इस आशंका से कि वह कहीं फिर न निकल भागे, उससे उस कोठरी में घूमने-फिरने की भी आज़ादी छीन ली गई और वह एक मज़बूत ज़ंजीर से पत्थर के खम्भे में बाँध दिया गया था। आज भी वह खम्भा ज्यों का त्यों खड़ा है और बोनिवार्ड के कठोर कारावास के स्मारक का काम दे रहा है। उसकी जड़ के आस-पास की पत्थर की पटरी आज भी लोगों को बोनिवार्ड के इन शब्दों की याद दिलाती है—"घूमने के लिए काफ़ी समय होने के कारण मैं दिन भर उस खम्भे के चारों ओर चक्कर लगाता, जिससे मेरे

शृंखलाबद्ध बोनिवार्ड

पैरों के नीचे के पत्थर भी बहुत कुछ घिस चले थे।" बोनिवार्ड को इस बार पूरे छः बरस इस कालकोठरी में बिताने पड़े। इस स्थान का नाम कालकोठरी ही उपयुक्त है। ज़मीन के नीचे, सुरङ्ग खोदकर, यह क़ैदखाना बनाया गया है। सीढ़ियों से नीचे उतर कर इसमें कठिनता से प्रवेश करना होता है, और प्रवेश करने पर जिस भयङ्करता का अनुभव होता है, वह वर्णनातीत है। दीवारों में कुछ पतले सूराख़ हैं, जिनसे सूर्य की इनी-गिनी कमज़ोर किरणें कभी-कभी इन कोठरियों में

क़िले का सरदार-भवन

आ जाती हैं—नहीं तो यहाँ प्रकाश को दुर्लभ ही समझना चाहिए। चारों ओर मोटे-रूखड़े पत्थर ही पत्थर नज़र आते हैं—अगर इस अंधकार-कूप में कोई भी वस्तु नज़र आ सकती है तो! पथ-प्रदर्शक बड़ी जल्दी से सब स्थानों का परिचय देता जाता है—"यहाँ बोनिवार्ड इतने बरसों तक शृङ्खलाबद्ध रहा—यह देखिए, उसके पैरों से घिसे हुए पत्थर आपके पैरों के नीचे हैं। यहाँ फाँसी की सज़ा पाने वाले अपने जीवन की आख़िरी रात बिताते थे और जो टूटी-फूटी, बेहद रूखड़ी पत्थर की पटरी आपके सामने है वह उस रात उनके बिछावन का काम देती थी। यह यन्त्रणागार है। यह सूली घर है।" तब तक आप बायरन की मूर्ति के सामने पहुँच जाते हैं। "यह उस अंग्रेज़ महाकवि की मूर्ति है जिसने प्रायः तीन सौ बरस बाद बोनिवार्ड की स्मृति में ऐसी कविता लिखी, जिसके कारण सारा संसार इस स्थान और इसके इतिहास से परिचित हो गया।" केवल रूस ही नहीं; और देशों में भी ऐसे लेखक, कवि या कार्यकर्ता हुए हैं, जो उच्च या धनाढ्य कुल के होते हुए भी विप्लववादी थे और जिनके हृदय में अपनी श्रेणी के लोगों के प्रति सहानुभूति का लेश भी न था। अगर संस्कार का प्रभाव पड़ता तो लार्ड बायरन बोनिवार्ड जैसे व्यक्तियों को ऐसी गीतांजलि कभी समर्पण न करता और हम आज ऐसे स्थानों में उसका स्मारक न पाते। ऐसे महापुरुषों की वाणी या कृति से उनकी श्रेणी के लोगों के पाप का थोड़ा बहुत प्रक्षालन अवश्य होता है। [illegible]

कुछ भयङ्करता है वह क़िले के इसी भाग में। सीढ़ियों से ऊपर उठते ही सारा दृश्य बदल जाता है। पहले आप न्यायालय में पहुँचते हैं, जहां वस्तुतः न्याय का गला घोंटा जाता था। न मालूम इस न्यायालय की आज्ञा से कितने बेगुनाह सूली पर चढ़ा दिये गये, कितने यों ही क़त्ल कर दिये गये और कितने उन कालकोठरियों में सड़ा कर मार डाले गये। पर कर्तूतें चाहे जितनी काली रही हों, देखने में यह स्थान, उन अन्धेरी गुफाओं की तुलना में, दूसरा ही लोक जान पड़ता है। इसके बाद, क़िले के ऊपरी हिस्से में भी जो कमरे मिलते हैं, उनकी सजावट भी किसी समय देखते ही बनती होगी। बहुत से सामान जो उस समय ड्यूक या उनके अनुचरों द्वारा काम में लाये जाते थे, अपनी-अपनी जगह पर बड़ी हिफ़ाज़त से रक्खे हुए हैं। ड्यूक के सोने के कमरे में उनका पलंग ज्यों का त्यों सुरक्षित है। रसोई-घर में पुराने बर्तनों का ख़ासा बड़ा संग्रह है। पास ही वह स्थान है, जहाँ ड्यूक के सरदारों की सभा हुआ करती थी—अब उनके कुछ अस्त्र-शस्त्र और वेश-भूषा के सामान यहाँ दर्शकों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करते हैं। हाँ, इन सब के साथ क़िले में गिर्जाघर भी था। प्रति रविवार को वहाँ ड्यूक, सरदार तथा क़िले के कर्मचारी, स-परिवार एकत्र होकर, सामाहिक पूजा-प्रार्थना में सम्मिलित होते थे। क्या ही वैषम्य था! ऊपर की दुनिया में आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, शराब-कबाब, और धार्मिकता का वह अभिनय—और नीचे की दुनिया में यन्त्रणाओं के नित-नये संस्करण, अन्याय और अत्याचार की चक्की में इतने बेगुनाहों का पिसना, कहीं कुछ कमज़ोर दिलों का कराहना, कहीं वीर आत्माओं का हँसते-हँसते सूली पर चढ़ जाना! ऐसे ही स्थान में सत्य और स्वतन्त्रता का साथ देने वाले बोनिवार्ड ने, पिंजरे में बन्द चोर की तरह, अपने जीवन के छः वर्ष बिताये। इस बीच में क़िले की चहारदीवारी के बाहर भी बहुत से पत्थर घिस चले थे। अस्तु।

छः वर्ष बाद जेनेवा के भाग्य ने पलटा खाया और वहाँ स्वतंत्रता का झंडा फिर फहराने लगा। पर जेनेवा-निवासी इतने से ही सन्तुष्ट न हुए। बर्न और जेनेवा की सम्मिलित सेना ने चिलों पर चढ़ाई करदी। दो दिन तक ड्यूक की फ़ौज ने किसी प्रकार सामना किया, पर जब उसने देख लिया कि जीत की आशा दुराशामात्र है, तब उसने आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार ड्यूक के घराने को अन्त में लेने के देने पड़े। क़िले में प्रवेश करते ही जेनेवा-निवासियों के नेता बोनिवार्ड की कालकोठरी की ओर दौड़ पड़े। और उसके पास पहुँचते ही हर्ष और अधीरता से चिल्ला उठे—'बोनिवार्ड' तू अब स्वतंत्र है'। पर बोनिवार्ड को इससे सन्तोष न हुआ; क्योंकि उसे वह समाचार नहीं मिला था, जिसे सुनने को वह अधीर था। उसने पूछा, "और जेनेवा?" उत्तर मिला कि "जेनेवा भी स्वतंत्र है"। जिस ज़ंजीर से बोनिवार्ड बँधा हुआ था वह तोड़ दी गई और विजयी सेना बड़े सम्मान के साथ उसे अपने स्थान पर ले गई। चलने के समय बोनिवार्ड की आँखों से आँसू बह चले। कालकोठरी से उसे इतना प्रेम हो गया था कि उसे छोड़ते समय बोनिवार्ड वियोग-दुःख अनुभव करने लगा। कहते हैं कि कुछ काल तक उसे प्रकाश भी अच्छा नहीं लगता था, बल्कि उसकी आँखों को उससे कष्ट सा होता था।

इसके बाद भी चिलों इतिहास के रंग-मंच पर कई बार आता है; पर हम उससे यहीं विदा ग्रहण करते हैं। हम भारतवासियों को चिलों का क़ैदी क्या उपदेश देता है, इसका निर्णय भी हमारे पाठक ही करलें। यूरोप या अमेरिका के इतिहास से कोई शिक्षा मिलती है तो यही कि आज़ादी की क़ीमत पाई-पाई चुकाये बिना कोई उसे पा नहीं सकता। भारत पहले आत्म-त्याग की भूमि बन ले, फिर वह स्वाधीनता की निवास-भूमि बन सकेगा।

पारसनाथसिंह

"हम इसलिए विजय प्राप्त नहीं करेंगे कि हमने बराबरी के मैदान में जवांमर्दी दिखाई है, हम इसलिए विजय प्राप्त नहीं करेंगे कि हमारे देशवासियों ने देश-देशान्तरों में जाकर शत्रुओं के दाँत खट्टे किये हैं; परन्तु हम विजय प्राप्त करेंगे वीर प्रसविनी जन्मभूमि के उन पवित्र स्थानों की याद करके, जिन्होंने इस जन्मभूमि का नाम संसार की अजेय जातियों की सूची में अंकित कर दिया है।"

टेरेन्स मैकस्विनी

निराश पथिक

(१)

कितनी दूर चला मैं आया,
चलना है कितना अब और ।
कबतक पहुँच सकूँगा, अबतक—
निकल चुके हैं कितने ठौर ।
पता नहीं मुझको यह कुछ भी,
चला जा रहा हूँ अश्रान्त ।
किन्तु अभी उतने ही अन्तर—
पर लगता है लक्षित प्रान्त ॥

* * *

(२)

उषा बहन ने लग छाती से,
किया रोकने का उद्योग ।
हाथ पकड़ कर लगी सिसकने,
रख छाती पर सिर सवियोग ।
मेरे उत्तरीय में मुख को,
ढक कर रोने लगी समीर ।
कहने लगी, "कहाँ जाते हो—
मुझको सौंप हृदय की पीर" ॥

(३)

पथ-प्रान्त-वर्त्ती वृक्षों पर,
बैठ विहंगगण ने कर गान ।
निज कलरव से आकर्षित कर
लेना चाहा मेरा ध्यान ।
रात्रि दिवस ने मुझे उठाया,
निज गोदी में कितनी बार ।
ऋतुओं ने रत करना चाहा,
डाल नवल हाथों का हार ॥

(४)

प्रकृति-जननि ने रह जाने को,
साग्रह कहा बना कर अंक ।
मृदुल हरी घासों को मेरे—
प्रशिथिल अंगों का पर्यंक ॥

* * *

उधर हृदय तो खिंचा जा रहा,
था अज्ञात देश की ओर ।
इधर प्रेम के आकर्षण से,
उठी हृदय में विषम हिलोर ॥

(५)

किन्तु न विचलित हुआ ध्येय से,
बढ़ा हृदय पर धर कर हाथ ।
बस उन चिर-परिचित प्रणयी जन
की रख स्मृति अपने साथ ।
पावस में पानी की झड़ियां,
गरमी का प्रचन्ड उत्ताप ।
शीतकाल का असह्य शीत, सब—
बीत गये कितने चुपचाप ॥

(६)

कांटों से क्षत-विक्षत, पथ में,
जर्जर पैर हुए बल-हीन ।
उस मोहन के मधुर ध्यान में,
किन्तु हुए दुख सभी विलीन ।
इतनी दूर चला मैं आया,
साहस किन्तु रहा अब टूट ।
कोई आकर मुझे पिला दो,
आशा का सञ्जीवन घूँट ॥

(७)

यद्यपि हरा-भरा है अब तक,
मन का कल्पित सुखमय द्वीप ।
किन्तु क्षीण होता जाता है,
मेरा यह आशा का दीप ।
हृदय मिलन की उत्कण्ठा से,
उछल रहा है बारम्बार ।

निरुत्साह, नैराश्य उसे, पर—
दबा रहे हैं सौ-सौ बार ॥
(८)
पैरों में अब शक्ति नहीं है,
मार्ग बहुत है अब भी शेष ।
किन्तु बैठ जाने से होगा,
भग्न हृदय को अति ही क्लेश ।
ले जावेगा पर कौन वहाँ तक,
मुझ व्याकुल का यह सन्देश ।
❀ ❀ ❀
है अनन्त पथ, तुम ही आकर,
मिल जाओ मेरे हृदयेश ॥

भद्रजित "भद्र"

मध्यभारत के कुछ ऐतिहासिक स्थान

ग्वालियर राज्य के प्राचीन स्थानों में उज्जयिनी (उज्जैन), विदिशा (भेलसा), पद्मावती (आधुनिक पवाया पिछौर), कुन्तलपुर, (आधुनिक कोतवाल, ग्वालियर), मयूरवन, (मोरबन, नीमच), दशपुर (मन्दसौर), तुंसवन (आधुनिक तुमेन, पछार) मुख्य स्थान हैं; और, विश्वास है कि, यदि इन स्थानों पर खुदाई का काम किया जाय तो वहां इतिहास की अपूर्व सामग्री उपलब्ध होगी। उज्जयिनी प्राचीन-तर महत्व-पूर्ण स्थान है; और उदयन, वत्सराज, विक्रमादित्य आदि राजाओं से उसका संबन्ध रहा है। विदिशा का नाम बुद्ध-धर्म के ग्रंथों, पुराणों तथा "मालविकाग्नि मित्र" नाटक में पाया जाता है। पद्मावती और कुन्तलपुर तृतीय शताब्दि में नाग राजाओं की राजधानी थे। पद्मावती का नाम भवभूति के "मालती माधव" नाटक में पाया जाता है। यहां पर प्रथम शताब्दि के प्राचीन चिन्ह पाये जाते हैं, और नाटक में वर्णित संगम, महादेव तथा जल-प्रपात भी मौजूद हैं। मयूरवन में ईसा-पूर्व की सामग्री भी उपलब्ध हुई है। दशपुर में पांचवीं और छठी शताब्दि की गुप्त-कालीन सामग्री पाई जाती हैं। बुद्ध-ग्रंथों में उल्लेख है कि तुम्बवन श्रावस्ती और प्रतिष्ठान के मार्ग पर है। सांची-स्तूप पर भी इस बात का उल्लेख है। बुद्ध-कालीन शिल्प के नमूने बेसनगर, बीगन, (भेलसा), बाग (अमझेरा), खेजड़िया, भोप (मन्दसौर) तथा राजपुर (नरवर) में पाये जाते हैं, विदिशा के आसपास ईसा-पूर्व तृतीय शताब्दि से लगाकर दशवीं शताब्दि तक के स्तूप और विहार पाये जाते हैं, जो विशेषतया सांची (भोपाल) में हैं। बाग में बड़े-बड़े विहार और गुफायें हैं, जो चट्टानों में खुदी हुई हैं। वहां की चित्रकला भारत की तत्कालीन परिस्थिति का अच्छा ज्ञान कराती है। यह स्थान भारतवर्ष के प्रसिद्ध स्थानों में से है और हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि लंदन की इन्डिया-सोसायटी के द्वारा बाग के चित्र प्रकाशित हो गये हैं। इनका समय सातवीं शताब्दि है। ८ वीं शताब्दि का एक विहार खेजड़िया भोप में पाया गया है। और राजपुर में भी एक स्तूप है। बेसनगर में प्राचीनतर हिन्दू-शिल्प का नमूना गरुड़-स्तम्भ के रूप में पाया गया है, जिसके लेख से एक यूनानी राजा के भागवत-धर्म की दीक्षा लेने का पता चलता है। भेलसा के निकट ही उदयगिरि में चौथी से लगाकर छठी शताब्दि तक के शिल्प और शिलालेख पाये जाते हैं। वहां की विशालकाय वराह-मूर्ति की सी मूर्ति भारत में अन्यत्र नहीं मिली। मध्यकालीन शिल्प के नमूने ग्वालियर के सास-बहू-मन्दिर और तेली के मन्दिर में पाये जाते हैं। सुहानिया (तवरघार) दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दि में एक प्रसिद्ध नगर था। नरवर के सुरवाया और तेरही में, ईसागढ़ के कदवाहा में, तथा भेलसा के बड़ोह, उदयपुर, और ग्यारसपुर में अच्छे मन्दिर हैं। विशेष कर उदयादित्य परमार राजा का ग्यारहवीं शताब्दि में बनाया हुआ उदयेश्वर मन्दिर देखने योग्य है। मध्ययुगीन हिन्दू शिल्पकला का वह एक उत्कृष्ट नमूना है। मन्दसौर के निकट वाले सौंदनी गांव में छठी शताब्दि में हूण राजाओं को परास्त करने पर यशोधर्मदेव का बनाया हुआ विजय-स्तम्भ भी अनूठा है,

जिसपर एक शिला-लेख भी अंकित है। हिन्दू विहार के नमूने (९-१० वीं शताब्दि) सुरवाया, रनोद, तेरही, और कदवाहा में पाये जाते हैं। १५ वीं शताब्दि के राजा मानसिंह के मान-मन्दिर का उल्लेख पीछे किया ही जा चुका है। जैन शिल्प-कला के नमूने आठवीं और दसवीं शताब्दि के पूर्व के नहीं पाये जाते। चट्टानों पर खुदे हुए पन्द्रहवीं सदी के मन्दिर और मूर्तियां ग्वालियर में मौजूद हैं। ऐसी विशाल मूर्तियां मैसोर को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलतीं। इसी समय की कुछ जैन मूर्तियां चंदेरी में भी पाई जाती हैं। तवरघार के पठावली और सुहानिया में, ग्वालियर के बराई और पनिहार में, नरवर के सेसई और भीमपुर में, शिवपुर के तूपकुंज में, ईसागढ़ के इन्दोर, पचराई, गोलाकोट, बूंटी चंदेरी, थोबन और तुमेन में, भेलसा के ग्यारसपुर, बढ़ोर और अहमदपुर में, उज्जैन ज़िले के गंधावल और मकसी में और मन्दसौर ज़िले के नीमपुर गांव में भी तत्कालीन अवशेष पाये जाते हैं। मुसलमान-कालीन इमारतें उज्जैन, चंदेरी और ग्वालियर में पाई जाती हैं। क्षिप्रा के तट पर बनाया हुआ रमणीय कालियादेह महल, चंदेरी के पास का कुशाक महल, और चंदेरी की जामा मसजिद पठान बादशाहों के समय के अच्छे नमूने हैं, जो पंद्रहवीं शताब्दि के हैं। सोलहवीं शताब्दि की ग्वालियर की मुहम्मद ग़ोस साहब की दरगाह प्रेक्षणीय है। ग्वालियर राज्य में ख़ास ग्वालियर, नरवर, चंदेरी के क़िले उल्लेखनीय हैं। बजरंगगढ़, शिवपुर, गोहद आदि छोटे-छोटे क़िले तथा गढ़ियां भी बहुतायत से पाई जाती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से सती-स्तंभों का भी बड़ा महत्व है। छठी शताब्दि का एक सती-स्तम्भ शिवपुर ज़िले के हसलपुर ग्राम में पाया गया है; और ९ वीं १० वीं शताब्दि के तेरही, लगदी, बड़ोद (नरवर), बदोह (भेलसा), और कोलारस (तवरघार) में पाये जाते हैं। आंत्रीग्राम अकबर के वज़ीर अबुलफ़ज़ल का मृत्यु-स्थान है। और शिवपुरी में 'ग़दर' के मशहूर सेनापति तांत्या टोपी को फाँसी दी गई थी। शिलालेखों की दृष्टि से भी ग्वालियर राज्य अत्यन्त समृद्ध तथा उर्वर क्षेत्र है। यहाँ शिलालेखों, सिक्कों, तथा अवशेषों आदि से ईसा की द्वितीय शताब्दि से लेकर १८ वीं शताब्दि तक के इतिहास की कई अज्ञात बातें पाई जाती हैं। किन्तु वे स्थान अब नष्ट-प्राय से हो गये हैं। तथापि ग्वालियर में पुरातत्व का कार्य एक स्वतंत्र विभाग के द्वारा किया जाता है, यह सौभाग्य की बात है।

ग्वालियर के अनंतर मध्यभारत की बड़ी रियासतों में दूसरा नम्बर इन्दौर का है। यद्यपि इन्दौर राज्य मध्य-भारत की प्राचीन महत्व-पूर्ण ऐतिहासिक सीमा में विभाजित है, तथापि इस राज्य ने पुरातत्व के विषय में कोई विशेष कार्य नहीं किया। कुछ वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ, दक्षिणी पुरातत्व—विभाग के अधिकारी, श्रीयुत राखालदास बनरजी महोदय ने गरोठ के निकटस्थ कुछ प्राचीन स्थानों की अवहेलना को देख कर उसके विषय में कुछ कड़ी आलोचना भी की थी। किन्तु उसका कोई संतोषप्रद फल दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। आशा है, इन्दौर की वर्तमान कौन्सिल इस विषय में कुछ प्रयत्न करेगी।

इन्दौर राज्य में धमनार और वहाँ के प्राचीन स्थान ही विशेष उल्लेखनीय हैं। मावलपुर, ज़ीरापुर, रामपुर, गरोठ, महीदपुर आदि होलकरशाही परगनों में दसवीं से लगा कर तेरहवीं शताब्दि तक के हिन्दू तथा जैन मन्दिर पाये जाते हैं। मोरी, इन्दोक, झारडा, मकला आदि स्थानों के अवशेष नष्ट-प्राय से हो गये हैं। निमाड़ ज़िले में पठान-कालीन इमारतें पाई जाती हैं। हिंगलाजगढ़, बीजागढ़ तथा सेंधवा के क़िले विशेष उल्लेखनीय हैं। धमनार, पोला डोंगर, तथा खोलवी (झालावाड़) में, जो पास पास हैं, सातवीं शताब्दि से लगा कर नवीं शताब्दि तक के चैत्य और विहार, धमनार की बड़ी कचहरी, भीम का बाज़ार, पांडव-मूर्तियां तथा चतुर्भुज, आदि हिन्दू देवता तथा खोलवी के अर्जुन, भीम आदि देखने के योग्य हैं। वास्तव में ये बुद्ध की मूर्तियां हैं, जो चट्टानों में खुदे हुए मौजूद हैं। नेमावर ग्राम में परमार राजाओं के समय का एक सुंदर जैन-मन्दिर बना हुआ अभी तक क़ायम है। ईसा की तीसरी शताब्दि में हैहयवंशी राजा बड़े पराक्रमी हो गये हैं। उनकी राजधानी माहिष्मती (महेश्वर) थी। यह स्थान परमार राजाओं के अधिकार में भी रहा है। उनके समय के जैन और हिन्दू मन्दिर ऊन, हरसूद, सिंघाना और देवला में मौजूद हैं। खोलवी का ऊपर उल्लेख आ चुका है। खोलवी, आवर और बिनेगा पहले होलकर राज्य में थे, जो

अब झालावाड़ में हैं। रामगाँव और हाथीगाँव होलकर राज्य से ही टोंक राज्य को दिये गये हैं। इन स्थानों पर भी बुद्धकालीन तथा ब्राह्मण-कालीन गुफायें, विहार तथा चैत्य पाये जाते हैं; किन्तु वे धमनार की अपेक्षा केवल दो शताब्दि बाद के हैं। जिन पुण्यशीला सती देवी अहिल्याबाई की राजधानी बनने का सौभाग्य महेश्वर को प्राप्त हुआ है उसका प्राचीन ऐतिहासिक महत्त्व भी कम नहीं है। इस नगर के हैहय-वंश की राजधानी होने का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। सातवीं शताब्दि में पश्चिमी क्षत्रप राजा विनयादित्य ने हैहय-वंश पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया था। हैहय राजाओं का चालु राजाओं के सूबेदार होने का भी उल्लेख पाया जाता है। ७ वीं शताब्दि में यह स्थान परमारों के अधिकार में था। महीदपुर का उल्लेख प्राचीन पुराणों में महाकालवन के नाम से पाया जाता है। वहाँ पर हमें ईसा-पूर्व के बहुत से पंच-चिन्हों के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। खास महीदपुर और उसके आस-पास हिन्दू शिल्प के भी बहुत से नमूने पाये जाते हैं। यहीं पर सन् १८१५ में अंग्रेज़ों का होलकरों से युद्ध हुआ था। सुनेल ग्यारहवीं शताब्दि में गुहिलोत राजपूतों के अधिकार में था। उसके आस-पास भी बहुत से हिन्दू शिल्प के अवशेष पाये जाते हैं।

इंदौर के अनन्तर भोपाल का नम्बर है। इस राज्य में भारत के अद्वितीय साँची-स्तूप हैं, जो मध्य-भारत के लिए एक बड़ी गौरव की वस्तु की हैं। भोपाल के पास ही राजा भोज का बसाया हुआ भोजपुर ग्राम है, जहाँ पर सन् ११८४ में उदयादित्य की रानी का बनाया हुआ सभा-मंडल मंदिर है। महिलपुर, सम्भसगढ़, नरवर, साचेर, जामगढ़ आदि स्थानों पर भी प्राचीन ऐतिहासिक अवशेष क़ायम हैं। रायसेन, गिन्नूरगढ़, सिवांस और चौकीगढ़ के क़िले उल्लेखनीय हैं। महिलपुर और भोजपुर में हिन्दू मंदिर पाये जाते हैं। उपर्युक्त अन्य स्थानों पर भी हिन्दू तथा जैन शिल्प के नमूने हैं। भोपाल के निकट ही पठारी नामक एक छोटी सी जागीर है, जिसका राजकीय संबन्ध ग्वालियर राज्य से है। यह स्थान प्राचीन काल में बड़ा महत्वपूर्ण रहा होगा। सन् ९६१ का परबल राष्ट्रकूट राजा का एक शिलालेख भी यहां पर प्राप्त हुआ है। इस स्थान पर विष्णु, शिव, आदि हिन्दू देवताओं की बहुत सी मूर्तियां और कई ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। अनहिलपट्टन गुजरात का राजा जयसिंह सिद्धराज मालवे की चढ़ाई के समय अपने साथ सेंगर राजपूत लाया था और उन्हें उसने मालवा में बसाया था। सेंगरों ने सिरोंज को अपनी राजधानी बनाया था।

देवास राज्य में केवल नागदा नामक स्थान पर परमार और उनके पूर्वकालीन मूर्तियां तथा मंदिरों के निशान पाये जाते हैं। प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय इतिहासज्ञ श्रीयुत नीलकंठराव कीर्तने ने, जब वह ४० वर्ष पूर्व देवास में दीवान थे, नागदा में बहुत कुछ संशोधन किया था। उनके द्वारा इकट्ठा किया गया मूर्तियों का संग्रह अब भी उपलब्ध है। ११ वीं शताब्दि के परमारों का एक शिलालेख उन्हें मिला था, जिसकी प्रतिलिपि हमारे पास मौजूद है। नागदा में अब भी हिन्दू और जैन मूर्तियां बिखरी पड़ी हैं। रिंगणोद स्थान पर भी हिन्दू और जैन शिल्प पाया जाता है। इस राज्य के अन्तर्गत सारंगपुर नामक स्थान है, जो बाज़बहादुर नामक मालवे के सुलतान की राजधानी था। बाज़ बहादुर और रूपमती के प्रेमालाप की अनेक दंत-कथायें और लोकगीत अब भी गाये जाते हैं। बाज़बहादुर को अकबर ने परास्त किया था। रूपमती और बाज़बहादुर के गुंबज सारंगपुर में बतलाये जाते हैं। उस स्थान से अब भी यह ध्वनि निकलती है—

> 'तुम बिन जियरा रहत है, मांगत है सुखराज ।
> रूपमती दुखिया भई, बिना बहादुरबाज ॥
> पापी प्राण रहत घट-भीतर, क्यों चाहत सुखराज ।
> रूपमती पिया हममी दुखिया, कहां गया पिया बहादुरबाज ॥
> बाज़ बहादुर के सेह ऊपर निछावर करूंगी जीवन
> और धन........"

यद्यपि सारंगपुर में मसजिद और मक़बरों में चुने हुए मंदिरों के अंश पाये जाते हैं, और उनसे उसकी प्राचीनता का पता चलता है, किन्तु इस समय वहाँ पर पठान शिल्प के ही नमूने बहुतायत से हैं। सन् ११२१ का एक तीर्थंकर का मंदिर भी वहाँ मौजूद है।

टोंक राज्य की गुफायें गरोद(होलकरशाही)के निकट होने

का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसी राज्य का पिडावा ग्राम बहुत प्राचीन है। उसमें ग्यारहवीं शताब्दि का एक जैन-मंदिर मौजूद है।

धार राज्य की राजधानी धारानगरी का नाम भारतवर्ष के साहित्य के इतिहास से कदापि नहीं भुलाया जा सकता। 'गते मुंजे यशः पुंजे निरालंबा सरस्वती'—मुंज राजा के अनन्तर सरस्वती निराश्रित हो गई। यह कहावत धार का महत्व बतलाने के लिए पर्याप्त है। धार का प्राचीन इतिहास प्रकाशित करने का प्रयत्न मेरे सम्माननीय मास्टर लेले साहब तथा कर्नल ल्यूअर्ड ने किया था। धार के साथ वैभवशाली राजवंश परमारों का संबंध ९वीं शताब्दि से रहा है। परमार राजा द्वितीय वैरीसिंह ने धार को अपनी राजधानी बनाया था। मुंज, वाक्पति, सिन्धुराज तथा भोज के समय तो यह स्थान भारतवर्ष में विद्या के केन्द्र के नाम से प्रसिद्ध था। धार में वास्तव में हिन्दू शिल्प का बाहुल्य होना चाहिए था; किन्तु, मुसलमानों के आक्रमणों के कारण, प्राचीन मंदिरों के अंश लाट-मसजिद, कमालमौला आदि मुसलमानी स्थानों पर पाये जाते हैं। भोजकालीन सरस्वती-मंदिर और उसके पास की ज्ञानवापि (आधुनिक अक्कलकुई) का पता वहाँ पर बड़ी भारी शिला पर लिखे हुए एक संस्कृत नाटक से पाया गया। इसी राज्य में मांडू का नाम मुसलमानी राजत्वकाल के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध है। यों तो जैन धार्मिक ग्रन्थों में मांडवगढ़ एक तीर्थक्षेत्र माना गया है। पर हमारे प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में भी यह मंडव दुर्ग के नाम से मशहूर है। वहाँ की पठान इमारतों में हिन्दू शिल्प के जो अवशेष चुन दिये गये हैं उनसे साफ़-साफ़ पता चलता है कि यहाँ पर पठान राज्य की स्थापना होने के पूर्व, हिन्दू और जैन मंदिर बहुतायत से होंगे। वहाँ का क़िला बड़ा विस्तृत और प्रेक्षणीय है; जिसमें विशाल इमारतें, मसजिदें, महल तथा दरगाहें हैं, जो पठान शिल्प के अच्छे नमूने हैं। हिन्डोला महल, जहाज़ महल, जामा मसजिद, होशंगशाह की क़बर, मुहम्मद ख़िलजी की क़बर, बाज़बहादुर और रूपमती के महल, आदि क़िले पर की इमारतें देखने योग्य हैं। तिरला की रणभूमि, बहुर (कंचनपुर) की जैन मूर्तियाँ, नालछा, बूढ़ी मांडू, धरमपुरी आदि स्थान भी इतिहास-प्रसिद्ध हैं।

बड़वानी राज्य में बावनगजा पहाड़ पर गोमटेश्वर की एक विशालकाय मूर्ति है, जिसके कारण वह जैनियों का एक तीर्थ माना जाता है। यहाँ पर बारहवीं शताब्दि के लेख भी पाये जाते हैं।

दतिया की सीमा बुन्देलखंड और मध्यभारत की सीमा पर है और वह ग्वालियर के निकट होने के कारण हम उसे मध्य-भारत ही में गिनते हैं। ओरछा, चरखारी, छत्रपुर, पन्ना आदि बुन्देलखंड के राज्यों का हमने अपने लेख में उल्लेख नहीं किया है। दतिया के राजा वीरसिंहदेव और राजा शुभकरण के सत्रहवीं शताब्दि के महल देखने के योग्य हैं। दतिया से ५ मील पर उनाव ग्राम है, यहाँ का सूर्य मंदिर देखने के योग्य है।

यह मध्यभारत के मुख्य-मुख्य प्राचीन ऐतिहासिक स्थान हैं। बुन्देलखंड के स्थानों का इसमें समावेश नहीं किया गया है। इतिहास-प्रेमी सज्जन यदि चाहें तो पन्द्रह दिन में लगभग १५० रुपये व्यय करके उक्त सभी स्थान देख सकते हैं। हमने उन छोटे छोटे ग्रामों का उल्लेख नहीं किया है, जहाँ पर केवल नाम-मात्र के प्राचीन अवशेष मिलते हैं। उनका विस्तार-पूर्वक उल्लेख पुरातत्व-संबंधी प्रकाशित साहित्य में पर्याप्त रूप से पाया जाता है। हमने तो इस निबंध में इतिहास की अभिरुचि उत्पन्न करने के विचार से सिर्फ़ मोटी मोटी बातें ही बतलाई हैं। इतिहास-ज्ञान का प्रचार करने और खोज करने के लिए तथा होनहार विद्यार्थियों को उत्साह प्रदान करने के लिए यदि मध्य-भारत-हिन्दी-साहित्य समिति मध्य-भारत के ऐतिहासिक स्थानों पर एक सचित्र विस्तृत ग्रंथ प्रकाशित करने का उद्योग करे तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में उससे एक अच्छे ग्रन्थ की वृद्धि होगी। अस्तु। यदि इस निबंध को पढ़कर हमारे मध्यभारत के ऐतिहासिक स्थानों को देखने की स्फूर्ति किसी को होगी, तो मैं अपना यह परिश्रम सफल समझूँगा।

भास्कर रामचन्द्र भालेराव

शिक्षा की व्यावहारिक कसौटी

शिक्षा के जिस पहलू की बड़ी उपेक्षा की जाती है वह है उसका आर्थिक महत्व। शिक्षा का महत्व आर्थिक दृष्टि से भी है, इस बात को अमेरिकनों ने भली भांति सिद्ध कर दिया है। उन्होंने शिक्षा को ऐसा सुसंगठित और सुव्यवस्थित कर दिया है कि अब वहाँ शिक्षा एक भूषण या विलास की वस्तु नहीं रह गई, जिसका आनंद केवल इने-गिने भाग्यवान लोग ही ले सकें। वह तो व्यक्तिगत विकास का एक असली क्रम है, जिसकी सहायता से ग़रीब से ग़रीब आदमी भी देश के ऊँचे से ऊँचे स्थान पर पहुँचने की आशा कर सकता है। अमेरिका की शिक्षा-प्रणाली संसार को हाथ उठाकर कहती है कि ज्ञान के समान सस्ती और अज्ञान के समान महँगी कोई चीज़ नहीं है। शिक्षा से होने वाले आर्थिक लाभ का हिसाब लगाकर श्रीयुत जेम्स एम्० डॉज़ नामक एक अमेरिकन सज्जन ने एक पुस्तक में अपने विचार अंकित किये हैं। श्री डॉज़ अमेरिका के एक विख्यात कारख़ाने वाले हैं और अमेरिकन सोसायटी ऑफ़ मेकानिकल एंजीनियर्स के सभापति रह चुके हैं। मामूली मज़दूरों की कमाने की शक्ति की अपने अधीनस्थ अनेक कारख़ानों में काम करने वाली भिन्न-भिन्न कोटि के पढ़े-लिखे आदमियों की अर्जन-शक्ति से तुलना करके उन्होंने बताया है कि किस तरह मनुष्य ज्यों-ज्यों उसे शिक्षा अधिकाधिक मिलती जाती है त्यों-त्यों मज़दूर से गुमाश्ता, गुमाश्ते से तालीम पाया हुआ कारीगर, वहाँ से व्यापारी, ग्रेजुएट आदि बनकर अपनी आमदनी बढ़ाता जाता है। उनकी पुस्तक से लिया हुआ नीचे लिखा उद्धरण बड़ा शिक्षाप्रद होगा—

"इस तरह जो कोष्टक बनता है वह बताता है कि एक मज़दूर प्रति सप्ताह ३ डॉलर के हिसाब से १६ वर्ष की अवस्था में जीवन की शुरुआत करता है। और २१ वर्ष तक पहुँचते-पहुँचते वह १० डॉलर प्रति सप्ताह तक बढ़ जाता है। इससे आगे नहीं बढ़ने पाता। उस समय उसकी कुल अर्जन-शक्ति १०,२०० डॉलर होती है। एक मुनीम या गुमाश्ता भी जो दूकान में काम सीखने के लिए रहता है, इसी उम्र में उतनी ही तनख़्वाह से शुरुआत करता है, पर अधिक तेज़ी से बढ़ता है और २४ वर्ष की उम्र तक वह प्रति सप्ताह १५.८० डॉलर पैदा करने लग जाता है, और उस समय उसकी कुल पैदा करने की शक्ति १५,८०० डॉलर समझी जाती है। पर वह इससे अधिक नहीं बढ़ सकता। एक ट्रेड-स्कूल ग्रेजुएट की आमदनी भी १६ वर्ष की अवस्था में वही होती है, पर वह और भी तेज़ी से बढ़ता है। २५ वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते वह २२ डॉलर प्रति सप्ताह पैदा करने लग जाता है। और तब उसकी संपूर्ण अर्जन-शक्ति २२,००० डॉलर आंकी जाती है। यहाँ से वह बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है। ३२ वर्ष की उम्र में वह २५ डॉलर प्रति सप्ताह कमाने लग जाता है, और तब उसकी अर्जन-शक्ति भी २५,००० डॉलर तक बढ़ जाती है। टेक्निकल स्कूल का ग्रेजुएट भी उसी आय से, अर्थात् प्रति सप्ताह ३ डॉलर से शुरुआत करता है। जब वह १८ वर्ष की अवस्था में कॉलेज में भरती होता है तब प्रति सप्ताह ४ डॉलर पैदा करता है। २२ वर्ष की अवस्था में वहाँ की उपाधि प्राप्त कर लेने पर उसे प्रति सप्ताह १२ डॉलर मिलते हैं। वह मामूली मज़दूर से तो आगे बढ़ गया, पर अभी मुनीम-गुमाश्तों से पीछे रहता है। परन्तु नौकरी पर लगते ही वह उसे भी मात कर जाता है। पर ट्रेड स्कूल का ग्रेजुएट अब भी उससे आगे ही रहता है। २५ वर्ष की अवस्था तक पहुँचने के पहले वह उसकी बराबरी में आ जाता है और अब वह ट्रेड स्कूल ग्रेजुएट से भी आगे बढ़ता जाता है। ३२ वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रति सप्ताह ४३ डॉलर पैदा करने लग जाता है। तब उसकी अर्जन-शक्ति ४३,००० डॉलर हो जाती है। इस तरह टेक्निकल स्कूल में चार वर्ष शिक्षा पाने पर एक आदमी ३२ वर्ष की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते गुमाश्ते की अपेक्षा चौगुना और एक ट्रेड-स्कूल ग्रेजुएट की अपेक्षा ७२ फ़ी सैकड़ा अधिक क़ीमती हो जाता है। सचमुच ४ वर्ष की तैयारी का यह कितना अच्छा बदला हुआ!

"बच्चों के विषय में भी यह देखना उपयोगी है कि शिक्षा से उनकी योग्यता और धन कमाने की शक्ति कितनी बढ़ जाती है।

"एक लड़के ने १४ वर्ष की अवस्था में पाठशाला छोड़

थी और दूसरे ने १८ वर्ष की अवस्था में। जब दूसरा लड़का २५ वर्ष की अवस्था में पहुँचा तब उसने पहले लड़के की अपेक्षा २,००० डॉलर अधिक कमा लिये थे। और प्रति-वर्ष पहले लड़के की अपेक्षा ९०० डॉलर अधिक कमाता था। आगे भी इस अधिक शिक्षा पाये हुए लड़के की तनख़्वाह बढ़ने ही को थी। और यदि प्रतिवर्ष ९०० डॉलर का फ़र्क़ दोनों की तनख़्वाह में मान लिया जाय, तो वह उस रक़म के बराबर होजाती है, जो किसी विश्वसनीय बीमा-कम्पनी की १९,००० डॉलर देकर ख़रीदी जा सकती है। यौवन के चार वर्ष स्कूल में ख़र्च करने के बदले में यह रक़म मिलना कोई कम नहीं है।"

श्री डब्ल्यू० डब्ल्यू० स्मिथ नामक एक दूसरे अमेरिकन सज्जन ने अमेरिका के 'हू-इज़-हू' (Who is who ?) का बड़ी बारीकी के साथ निरीक्षण किया और नीचे लिखे नतीजे पर पहुँचा। अमेरिका के इस 'हू इज़ हू' नामक ग्रन्थ में उस देश के ८००० विख्यात नेताओं के नाम हैं, उनका वितरण यों हुआ है—

अशिक्षित	स्त्री-पुरुषों में से	नेता हो सके	अर्थात्
	५०,१०,०००	३२	१,५०,००० में १ बालक
मामूली पाठशाला में पढ़े	३,३०,००,०००		
		८०८	,, में ४ बालक
हाइस्कूल में पढ़े	२०,००,०००	१२४५	,, में ८७ बालक
कालेज-शिक्षा या यूनिवर्सिटी की उपाधि-प्राप्त	१०,००,०००	५७६८	,, में ८०० बालक

यह स्मरण रहे कि उपर्युक्त ८००० स्त्री-पुरुषों में ख़ास धंधे तथा उद्योग, व्यापार, खेती आदि सभी क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों के नाम हैं। फिर भी शिक्षित लोग ही सबसे अधिक कार्यकुशल और धनोपार्जन करने वाले पाये गये हैं।

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि किस प्रकार एक सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली देश के स्त्री-पुरुषों के जीवन को सफल बना देती है। वहां हम देखते हैं कि मनुष्य ज्यों-ज्यों अधिक अधिक शिक्षा प्राप्त करता जाता है, उसकी धनोपार्जन-शक्ति भी उसी परिमाण में बढ़ती चली जाती है। इस को देखते हुए हम यहाँ पर यह कह सकते हैं कि जो शिक्षा-प्रणाली इस तरह के परिणाम नहीं बता सकती वह बिलकुल निकम्मी है। सचमुच यह बड़े ही दुःख की बात है कि शिक्षितों की बेकारी के कारण भारतवर्ष में तो शिक्षा बजाय एक भलाई के बुराई साबित हो रही है। शिक्षितों की बेकारी का प्रश्न दिन ब दिन गंभीर होता जा रहा है। उसकी भयंकरता प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है। सचमुच यह शिक्षा का कैसा दुर्भाग्य है कि जहाँ उसके भक्तों को इस ख़तरे से सुरक्षित रहना चाहिए वहां वे ही उसके शिकार हो रहे हैं! यह भी दुःख की बात है कि यह बुराई अशिक्षितों की अपेक्षा शिक्षितों में ही अधिक भयंकर रूप में दिखाई देती है। पर इसका कारण वह शिक्षा-प्रणाली है जो एक ख़ास राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जारी की गई थी। वह उद्देश्य पूर्ण हो जाने के कारण वह अब निकम्मी हो गई है। लोगों की आर्थिक दशा सुधारने में शिक्षा का असफल होना इस बात को स्पष्टतया प्रमाणित करता है कि उस शिक्षा में अब महान् और जड़ से परिवर्तन कर देने की ज़रूरत खड़ी हो गई है। शिक्षा की उपयोगिता पर विचार करते समय यह भी स्मरण रहना ज़रूरी है कि उससे मनुष्य की धनोपार्जन की शक्ति भी अवश्य बढ़नी चाहिए। बल्कि शिक्षा-नीति का यही उद्देश हो कि प्रत्येक विद्यार्थी ऐसा तैयार होकर निकले जो अपने समाज की सम्पत्ति को बढ़ा सके। बेकारी एक

महाभयंकर चीज़ है, जो समाज में ऐसी-ऐसी बुराइयों को भर देती है कि उनसे सारा समाज छिन्न-भिन्न होजाता है। अपनी शिक्षा को समाप्त करने वाले प्रत्येक युवक में इतनी योग्यता आ जानी चाहिए कि वह समाज की सम्पत्ति और आय को बढ़ा सके। सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक स्थिति में भी एक अशिक्षित और शिक्षित के बीच स्पष्ट अंतर दिखाई देना चाहिए। आदर्शवाद से आत्म-सुधार में बड़ी सहायता मिलती है। अतः शिक्षा-प्रणाली ऐसी रक्खी जाय, जिससे शिक्षा से मिलने वाली उच्चाभिरुचि ज़रा भी कम न होते हुए मनुष्य अपने दैनिक जीवन के लिए आवश्यक चीज़ों को जुटाने में समर्थ हो सके। संक्षेप में कहना चाहें तो उच्चाभिरुचि और योग्यता दोनों पर प्रत्येक प्रकार की शिक्षा में सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए। इन दोनों में से एक भी बात की जिस शिक्षा में त्रुटि हो वह निकम्मी ही समझिए। इसलिए उपर्युक्त ढंग से शिक्षा देना परम आवश्यक है।

देशी राज्य और ख़ासकर जो कि बड़े हैं और जिन्हें इस बात की ख़ास सुविधायें हैं वे नये रास्ते ढूँढ सकते हैं, नये नये प्रयोग कर सकते हैं और पुराने अनुभव तथा वर्तमान परिस्थिति पर विचार करके अपनी पूर्व कार्य-प्रणाली में आवश्यक परिवर्त्तन तथा सुधार या विकास कर सकते हैं। नवीन ढंग के विश्वविद्यालयों की स्थापना करना बड़ा ख़र्चीला काम है। अतः उसे हाथ में लेने से पहले यदि वे अपने राज्य के प्रारम्भिक और मध्यम शिक्षा के क्रम पर ही ध्यान देकर उनकी त्रुटियां दूर कर दें और इन्हें विश्वविद्यालयों के साथ जोड़ दें तो बड़ा अच्छा हो। इसमें ख़र्च भी कम लगेगा और फ़ायदा भी ज़्यादा होगा। हमारी इस सूचना का यह अर्थ नहीं है कि जिनके पास अनुकूल साधन हैं वे भी विश्वविद्यालयों की शिक्षा को अपने हाथ में न लें। यूनिवर्सिटी में शिक्षा प्राप्त करने से मनुष्य में जो बौद्धिक शक्ति आ जाती है उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। पर हम तो इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि यदि वे चाहें और आवश्यक व्यवस्था कर दें तो बहुत सी रियासतें विश्वविद्यालय के नीचे की श्रेणी की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध आसानी से कर सकती हैं। दूसरे उसकी ज़रूरत भी ज़्यादा है। आवश्यकता है सिर्फ़ सुयोग्य और कार्यदक्ष कार्यकर्ताओं की नियुक्ति कर देने की—क्योंकि किसी भी योजना की सफलता या विफलता कार्यकर्ताओं पर ही निर्भर रहती है। अच्छे से अच्छे फल की आशा दिलाने वाली योजना अयोग्य कार्यकर्ताओं के हाथ में विफल हो सकती है, वहाँ एक अपूर्ण और सदोष योजना उत्तम कार्यकर्ताओं के हाथ में आने पर सम्पूर्णता और सरलता को प्राप्त कर सकती है। प्रगति के सबसे भारी शत्रु तो वे दिमाग़ होते हैं, जो पुराने ढर्रे में पड़े-पड़े अपनी ताज़गी को खो देते हैं। उनके सामने तो प्रत्येक नई बात ख़्याली, अव्यवहार्य और मूर्खता-पूर्ण हो जाती है। वे कभी नई राह को पसंद नहीं करते—जहाँ तक होता है ऐसे कामों में रुकावटें ही डालते हैं।

व्यक्तियों की उन्नति से समाज किस प्रकार उन्नत होता है और सामाजिक उन्नति का व्यक्तियों के जीवन पर कैसे असर होता है, यह दिखाने के लिए हम श्री० क्लेरेन्सपो के ये उद्गार उद्धृत कर देना आवश्यक समझते हैं—"अपने दैनिक व्यापार-व्यवहार में आप जिन लोगों के सम्पर्क में आवेंगे उन्हींके हिसाब से आपकी भी उन्नति होगी। अगर अधिकांश जनता ग़रीब और अपढ़ है, तो समाज के प्रत्येक व्यक्ति-प्रत्येक संस्था और प्रत्येक उद्यम-व्यवसाय पर उसका वैसा ही गिराने और नीचे खींचने वाला परिणाम होगा, जैसा कि थरमामेटर पर वायु-मण्डल की गर्मी और सर्दी का परिणाम अनिवार्यतः होता है। व्यापारी का व्यापार कम चलेगा, वकील और डॉक्टरों की फ़ीस कम होगी, रेलों पर जाने आने वालों का आमद-रफ़्त कम होगी, बैंकों में कम और छोटी-छोटी रक़में जमा होंगी और मास्टर तथा धर्मोपदेशक आदि की तनख़्वाहें भी कम होंगी। इससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि कोई मनुष्य विद्या या तालीम के अभाव अथवा अयोग्यता के कारण अपनी शक्ति से आधा या कम पैदा करता है तो वह अपनी अयोग्यता से सारे समाज को ग़रीब बनाता रहता है।" इसलिए शिक्षा और द्रव्य उपार्जन करने की शक्ति का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। और प्रत्येक प्रकार की शिक्षा-प्रणाली में यह बात ख़ास तौर से ध्यान में रहनी चाहिए; बल्कि यदि वह सच्ची शिक्षा देना चाहती है, तो यह उसका मूलभूत सिद्धान्त होना चाहिए। और यह तभी हो सकता है, जब हमारी शिक्षा प्रधानतया

व्यवहारोपयोगी और असली हो।

पाठशाला भी तो एक जाति या समाज ही है। तब उसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक उस जाति या समाज का नेता है। वह डरावना शासक नहीं परन्तु एक ऐसा लोक नायक है, जिसके दिल में सहानुभूति और प्रेम है, जो जाति के हिताहित को अपना हिताहित समझता है। उस ग्राम के सुधार की सारी ज़िम्मेदारी उसके सिर पर रहती है। उसकी पाठशाला में गाँव के गण्यमान्य लोग आकर उससे अपने काम-काज में सलाह मशविरा ले सकते हैं और अपने दिल की बातें उसपर प्रकट कर सकते हैं। पाठशाला का संचालक होने के कारण गाँव में फैले हुए अज्ञान, अनीति और पतन पर वह सीधा प्रहार कर सकता है। लड़कों में जो अपने गाँव के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है उसको उच्च निस्वार्थ सेवा-भाव से परिणित करने की शक्ति शिक्षक में होनी चाहिए। सच तो यह है कि शिक्षक बिजली सी शक्ति पैदा करने वाला यंत्र और लड़के उस शक्ति को गाँव के कोने-कोने में पहुँचाने वाले साधन हैं।

यहां पर शिक्षकों की वर्तमान अवस्था पर एक-दो शब्द कह दें तो अनुचित न होगा। उच्च अथवा मध्यम किसी भी श्रेणी की पाठशालाओं में काम करने के लिए जिस ढंग से शिक्षकों को चुना जाता है, उसपर हमें गंभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए। जान पड़ता है कि इस समय तो माँग और उपज का क़ानून शिक्षकों की योग्यता का निर्णय करता है। सचमुच यह तो बड़े दुःख की बात है। अबतक शिक्षक की जो कुछ भी दशा रही हो, उससे जिन कर्तव्यों के पालन की आशा की जाती है, उनका ख़याल करते हुए जहाँतक हो सके उसे इस योग्य बना देना आवश्यक है कि वह अपना जीवन भली भांति और प्रतिष्ठा-पूर्वक व्यतीत कर सके। शिक्षक को अपने विद्यार्थियों के आचार-व्यवहार और चरित्र का निर्माण करना पड़ता है। उसे उनमें उच्च आदर्श के भाव भरने पड़ते हैं और नीति-सिद्धान्तों के प्रति प्रेम उत्पन्न करना पड़ता है। इसलिए जहाँ तक हो सके उसके मार्ग में ऐसी कोई बाधा न होनी चाहिए, जो उसे अपने अंगीकृत कार्य में हानि पहुँचावे। बालकों में अपने शिक्षक के प्रति श्रद्धा उपजाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षक समाज में नीति और प्रतिष्ठा-पूर्वक रह सके। उसकी परिस्थिति ऐसी होना परमावश्यक है कि वह समाज में एक उच्च स्थान प्राप्त कर सके।

दूसरे शिक्षकों का चुनाव करते समय बौद्धिक विकास पर आवश्यकता से भी अधिक ज़ोर दिया जाता है। सच तो यह है कि यही सबसे बड़ी और एकमात्र कसौटी समझी जाती है। होना यह चाहिए कि अन्य महत्वपूर्ण बातों में से यह केवल एक हो। मानवता के गुणों की तो बिलकुल ही चर्चा नहीं की जाती, जब कि बच्चों को पढ़ाने के लिए इन्हीं गुणों की सबसे अधिक ज़रूरत होती है। एक कवि, चित्रकार या सिपाही की भाँति शिक्षक भी स्वयं जन्मतः अपने आवश्यक गुणों को लेकर आते हैं। और ऐसे शिक्षकों को खोजना पड़ता है। वयस का भी ध्यान रखना चाहिए। छोटे-छोटे बालकों को पढ़ाने के लिए वयो वृद्ध लोगों को रखना बहुत आवश्यक है।

यदि शिक्षा के प्रचार के लिए हम ख़र्च करना चाहें तो इस बात का भी ध्यान रखना ज़रूरी है कि वह पढ़ाई जनता में क़ायम रहे। यदि लोग पढ़-पढ़ कर फिर भूल गये, तो पढ़ाई और ख़र्चा दोनों व्यर्थ होंगे। भारत में शिक्षा के प्रचार पर (१९०७-१९१२, पैरा ३२४) जो सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसमें साफ़ लिखा है कि पाठशालाओं में शिक्षा पाने वाले फ़ी सैकड़ा ३९ विद्यार्थी पाठशाला छोड़ने पर पांच ही साल के अन्दर सब पढ़ाई भूल-भाल जाते हैं और अपढ़ से हो जाते हैं। इस बुराई को दूर करने के लिए असली उपायों को काम में लाना चाहिए। इस बात को ध्यान में रखते हुए प्रांतीय भाषाओं में विविध विषयों पर सस्ती और सरल पुस्तकों का प्रकाशित होना बहुत ज़रूरी है। ऐसे साहित्य के अभाव के कारण प्रायः लोगों की पढ़ने की रुचि ही मर गई है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए एक छोटा सा पत्र प्रकाशित किया जा सकता है, जो पाठशालाओं में पढ़े विद्यार्थियों की विद्याभिरुचि बनाये रख सकता है। उसमें अच्छी-अच्छी कहानियां, प्रचलित विषयों और घटनाओं की ख़बरें, स्वच्छता, शिक्षा जैसे ग्राम्य-जीवन सम्बन्धी विषयों पर सरल-सरल लेख हों। महाभारत, रामायण तथा पुराणों में से भी इनके लिए बड़ी अच्छी और काफ़ी सामग्री मिल सकती है। घूमते हुए ग्रन्थालयों के प्रश्न पर भी इस विषय में विचार कर लेना चाहिए। बड़ौदा राज्य का उदाहरण

बड़ा शिक्षाप्रद है । अनिवार्य शिक्षा के क़ानून के बाद ही वहाँ ग्रन्थालयों का भी एक विभाग खोल दिया गया । और उसे शिक्षा-संगठन का एक अंग बना दिया गया है ।

पश्चिम में शिक्षा-विज्ञान और शिक्षा की कला ने बहुत तरक़्क़ी कर ली है । परन्तु इधर उनका ध्यानपूर्वक अनुकरण करने के प्रयत्नों का भी अभाव है ।

वहाँ नित्य नये-नये प्रयोग होते रहते हैं । प्रतिदिन नये सिद्धांत और नवीन प्रणालियों का वहां आविष्कार और विकास होता है । स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए उनके उन परिश्रमों से फ़ायदा उठाने, उनके आविष्कारों को अपनाने या उचित परिवर्तनों के साथ स्वीकार करने की व्यवस्था होना परमावश्यक है । दरिद्रता, अज्ञान, वहम, संकीर्णता, पुराणप्रियता, अंधविश्वास, धर्मान्धता तथा पराधीनता इत्यादि अनेक सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों और पापों के लिए शिक्षा एक रामबाण दवा है और उनका दूर होना ही शिक्षा की व्यावहारिक कसौटी है । अतः शिक्षा-विभाग को सेवाक्षम और लोकोपकारी बनाने के लिए जितना भी द्रव्य व्यय किया जाय वह उसका सदुपयोग ही होगा ।

गोविन्द बलवन्त मार्कोंड़े

विश्वास

हम जिस चीज़ को लेने चले थे, वह हमें न मिली । हम पहली ही चोट में ठोकर खाकर गिर पड़े । आह, कितनी सुन्दर, कितनी उच्च, कितनी उत्कृष्ट दीखती है वह !

सफल साहस सन्मान का पात्र होता है । पर आज हमारे पड़ोसी हमारे जी की बावली विकलता पर हँस रहे हैं ।

आज तो हम छोटे और क्षुद्र हैं, उपेक्षणीय और निन्द्य हैं, निरीह और निरक्षर हैं; पर एक दिन आयेगा, जब सारे संसार को अभिमान से मर्दन करने वाले तुम झुकोगे और झुक कर हमें अभिवादन करोगे ।

क्या हारे हुए सदा हारे हुए ही रहते हैं ? नहीं ! कोई कहता है, हम जीतेंगे और जीत कर रहेंगे ।

'राहुल'

हृदय की फुलझड़ी

आंखें

आंखें हृदय की वाणी हैं; लाख तप करने पर भी गिरा को वह शक्ति और सरसता न मिल सकी ।

आँखें बालक की भाँति संसार के सौन्दर्य को चखती हैं और वैसीही चञ्चल उदारता के साथ हृदय की सरसता को उंडेल देती हैं ।

प्रेम और लज्जा ही से तो सुंदर मुखड़े पर जड़े हुए इन दो बड़े-बड़े अमूल्य मोतियों की आब है ।

यह आँखें हैं या प्रेम-मद से लबालब भरे हुए दो प्याले !

रूप-सुधा का भिखारी आँखों के दो प्याले लेकर तेरे द्वार पर खड़ा है । क्या तू इन्हें भर दे सकता है, ऐ मेरे दाता ?

अरे ओ आनन्दी खिलाड़ी ! चारों ओर सौंदर्य-लीला का जाल बिछाकर क़ैदी की तरह अन्दर बैठ कर इन झरोखों से तू उसे क्यों देखता है रे ?

भूलभुलैयों की चादर ओढ़कर तू मेरी आंखों के आगे आकर सो गया और कहता है, मुझे खोज ।

बेचारी भोली आंखें तुझे कहां पातीं ? ढूँढ-ढूँढ कर थक गईं और थक कर रो उठीं ।

आज सामने पड़ी हुई सबसे पहली चीज़ को लेकर प्याज़ के छिलके की तरह उसे जो छीला तो देखा कि निगूढ़ अन्तर में बैठा हुआ तू हँस रहा है !

तबसे यह मेरी वहमी आँखें आग और पानी में, शत्रु और मित्र में, तुझीको खोजती हैं ।

रमानन्द 'राहत'

'हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी ।
हाँ, विश्व गगन में भारत को फिर एक बार चमका देंगी ॥'

विवाह

विवाह क्या बुरी चीज़ है ? क्या वह गा-बजा कर काठ में पाँव देने के समान है ? बेशक वह व्यर्थ है, यदि किसी को उसकी आवश्यकता नहीं है।

विवाह दुनिया का खेल खेलने का आज्ञापत्र है सही, पर साथ ही वह संयम का जनक है।

शरीर के मंदिर में बैठी हुई दो आत्मायें जब एक दूसरे का आह्वान करती हैं तो विवाह दौड़कर उन्हें मिला देता है।

विवाह हमें इकाई की परिधि से निकालकर विश्व-प्रेम का पहला पाठ पढ़ाता है।

विवाह गुड़ियों का खेल नहीं है, वह आनन्द मनाने का अस्थाई प्रबन्ध भी नहीं है। वह तो दो आत्माओं का परस्पर मिलन है—कभी न टूटने वाला बन्धन है।

सच्चा विवाह तो आत्माओं का होता है, शरीर का विवाह भी लोग करते हैं मगर।

यह कहना बहुत बड़ी बात है कि विवाह आनंद के लिए नहीं है; पर इसमें सन्देह नहीं कि वह आनंद आनन्द के लिए नहीं, कर्तव्य को सुस्निग्ध बनाने के लिए है।

विवाह हाथ पकड़कर आत्मा को प्रेम की दीक्षा देता है। वह उसे आत्म-समर्पण करना, दूसरे के लिए जान देना, मरना और मिटना सिखाता है।

विवाह का लक्ष्य क्या है ? यही कि मनुष्य अपने अनुभूत ज्ञान-समुच्चय संसार को दान कर जाय, अथवा पुत्र के रूप में संसार की सेवा करने के लिए अपने को एक बार फिर संसार में भेजे।

क्षेमानन्द 'राहत'

वेश्यावृत्ति की समस्या

(१)

यह तो सभी मानते हैं कि वेश्यावृत्ति एक अत्यन्त कुत्सित प्रथा है। क्या ऊँच और क्या नीच, क्या धनी और क्या निर्धन, क्या सवर्ण और क्या अस्पृश्य, क्या ज्ञानी और क्या मूर्ख, क्या पुरुष और क्या स्त्री, आबाल-वृद्ध कौन ऐसा है, जो इस प्रथा पर अंगुली नहीं उठाता और इसकी चर्चा छिड़ने पर स्वभावतः लज्जावनत नहीं हो जाता? सच तो यह है कि धार्मिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टि से जितनी हेयता एवं कालिमा इसे प्राप्त है, उतनी और किसी प्रथा को शायद ही कहीं प्राप्त हो। वास्तव में यह है भी मानव-जाति के लिए घोर कलङ्क, मनुष्य को पतित कर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-सम्पत्ति से हीन-कर्त्ता, और अन्त में उसे समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखों से ही वञ्चित कर देने वाली।

परन्तु फिर भी संसार और ख़ास कर हमारे भारतवर्ष में आज इसने जो व्यापकता और भीषणता धारण कर रक्खी है, उसे कौन नहीं जानता? गाँवों में तो अवश्य ही इसका उतना बाहुल्य और बीभत्स रूप नहीं; पर आधुनिक सभ्यता के चिह्न-रूप शहरों में तो, जो जितना बड़ा और समृद्ध उतना ही अधिक, इसका नग्नरूप ही दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए संसार के कुछ ख़ास-ख़ास शहरों को देखिए। उनकी वेश्याओं की संख्यायें निम्नप्रकार हैं—

नाम शहर	वेश्याओं की संख्या
न्यूयार्क	४०,०००
बर्लिन	४०,०००
पेरिस	५०,०००
लन्दन	६०,०००
कलकत्ता	१६,०००

फिर यह संख्या तो सिर्फ़ उनकी हुई जो खुलेआम, समाज और देश की मान-मर्यादा को तिलाञ्जलि दे, अपने शरीर का सौदा करती हैं। लोकलाज अथवा परम्परागत या स्वाभाविक सङ्कोच-वश किम्वा परिस्थिति की विवशता अथवा अन्य ऐसेही किन्हीं कारणों से लुके-छिपे अथवा अन्य नामों से भी तो यह व्यवसाय चलता है! और इस विषय से ज़रा भी दिलचस्पी रखने वाला कौन ऐसा व्यक्ति है, जो यह नहीं जानता कि वह व्यवसाय—क्या संख्या और क्या परिणाम, दोनों में—इसकी अपेक्षा भी कहीं व्यापक, भीषण और निंद्य एवं हानिकर होता है?

कहीं दास-दासियों के रूप में यह (गुप्त या अप्रत्यक्ष) व्यवसाय चलता है, तो कहीं रोटी या चौका-बर्तन करने वाली अथवा माऊन-नायनों आदि के रूप में। कहीं होटल-नृत्यशाला के रूप में तो कहीं उपहार-गृह, गायन वादन-शाला, क्लब, विभिन्न सुसाइटियों अथवा टर्किशबाथ आदि के रूप में। यहाँ तक कि नैतिक और मानसिक सुधार के नींवस्थल मन्दिरों और शिक्षणालयों तक में इसका अभाव नहीं! सच तो यह है कि गुप्त या अप्रत्यक्ष रूप से होने वाले दुराचार का यदि पूरा पता लगाया जा सके तो उसकी संख्या और भीषणता उससे अत्यधिक नहीं तो दूनी अवश्य निकलेगी, जो कि चौड़े-धाड़े या प्रत्यक्ष होता है।

क्या यह स्थिति वाञ्छनीय है? इस प्रश्न का उत्तर कोई भी यही देगा—'नहीं, हर्गिज़ नहीं।' तब, क्या यह ठीक नहीं कि जैसे भी हो इसके निवारण का उपाय किया जाय? जिसे हम समाज और मनुष्य-जाति का कलङ्क समझते और मानते हैं उसका उन्मूलन ही क्यों न कर डालें? क्यों न ऐसा कुछ करें कि जिससे हमारे बीच इसका अस्तित्व ही शेष न रहे? यदि ऐसा हो जाय तो हमें वह सुख और लाभ न प्राप्त होगा, जिससे कि आज यह कुप्रथा हमें वञ्चित किये हुए है?

पर, प्रश्न यह है, ऐसा हो कैसे? जैसा कि गत वर्ष 'स्वराज्य' (मद्रास) में श्रीयुत एम० कृष्ण ने लिखा था, "उस वक्त तक इससे छुटकारा नहीं मिल सकता, जबतक कि वेश्यावृत्ति के उत्पादक कारणों का ही अन्त नहीं हो जाता। अतः यदि सचमुच ही सुधारकगण इस अभिशाप से समाज को मुक्त देखना चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि सर्वप्रथम वे इसके कारणों की ही खोज और मीमांसा करें।" यही है भी ठीक। अतः आइए, हम भी, पहले इसके कारणों पर ही दृष्टिपात करें।

(२)

"वेश्यावृत्ति समाज-सङ्गठन से उद्भूत एक ऐसा रोग है कि जिसकी जड़ें भी सामाजिक ढाँचे में ही धँसी हुई हैं।" श्रीयुत कृष्ण का यह कथन बिलकुल ठीक है। और देशों के लिए तो हम नहीं कह सकते, प्रत्येक देश की परिस्थिति में कुछ न कुछ विभिन्नता एवं विशेषता होती ही है, पर हमारे देश में तो वेश्यावृत्ति का बहुत कुछ उत्तरदायित्व निश्चय ही हमारे समाज-सङ्गठन पर ही है। यही कारण है कि पराधीनता एवं पश्चात्य सभ्यता के प्रभावस्वरूप हमारे सामाजिक सङ्गठन में जो अस्त-व्यस्तता एवं शिथिलता आती जाती है, उसके साथ-साथ, यह समस्या भी अधिकाधिक विस्तृत और विषम रूप ही धारण करती चली जा रही है। सच तो यह है कि संसार के अनेक व्यावसायिक कार्य जिस प्रकार आर्थिक नियमों पर सञ्चालित होते हैं, ठीक उसी प्रकार वेश्यावृत्ति ने भी आज दिन एक व्यवसाय का ही रूप धारण कर रक्खा है।

'ग़रीबी सारे अनर्थों का मूल है'—यह जो कहा जाता है, सो अयथार्थ नहीं। इस समस्या पर तो यह बहुत ही लागू होता है। कौन नहीं जानता कि इसमें पड़ने वाली अधिकांश स्त्रियां किसी न किसी प्रकार के अर्थाभाव या आर्थिक प्रलोभन से ही इसपर आकर्षित होती हैं? यह एक प्रकट बात है कि वेश्यावृत्ति अख्त्यार करनेवालियों में अधिक संख्या नीच और ग़रीब जातियों की ही है। यहाँ तक कि अस्सी सैकड़ा से भी अधिक संख्या आप उन्हींकी पायेंगे। वस्तुस्थिति यह है कि एक ओर तो अर्थाभाव के कारण अपनी सांसारिक आवश्यकताओं को ही वे पूरा नहीं कर पातीं, साथही कुछ तो स्वभावतः और कुछ दूसरों को देख-देख कर आराम और ऐश्वर्य-भोग की भी इच्छा होती है। ऐसी स्थिति में बड़ों-बड़ों के चित्त डावाँडोल हो जाते हैं, फिर वे तो ठहरीं अज्ञान और बहुतांश में निपट मूढ़; तब क्या आश्चर्य, यदि वे इस ओर लुढ़क पड़ती हैं? सच तो यह है कि हमारे यहाँ आज वेश्याओं का जो संख्याधिक्य दृष्टिगोचर होता है उनमें से अधिकांश इस या इससे मिलती-जुलती किसी स्थिति के ही कारण इसपर आकर्षित अथवा बाध्य हुई मिलेंगी। इनमें से बहुतों में तो इस पेशे के प्रति आदर-भाव भी नहीं, पर भीख माँगने अथवा भूखों मरने से बचने के लिए किसी तरह वे इसे अख्त्यार किये हुए हैं। वेश्यावृत्ति का सबसे बड़ा कारण तो यही अर्थाभाव और भौतिक आकांक्षा है।

और ऐसी परिस्थिति की विवशता के कारण जो इस वृत्ति पर आकर्षित होती हैं उनमें भी अधिकता किनकी? विधवा, अनाथा और जातिच्युतों ही की न? इसके कारणों पर विचार करने पर हमारे समाज-संगठन का दोष स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। विधवा, अनाथिनी और जातिच्युतों का अस्तित्व ही क्यों बढ़े और क्यों उसे ऐसी बाध्यावस्था प्राप्त हो? बाल-विवाह, बलात् वैधव्य, और कठोर एवं किसी हद तक अस्वाभाविक नियम-पालन ही क्या इसके लिए दायी नहीं? ज़रा-ज़रा सी वय में, गुड्डे-गुड़ियों की भांति, बालक-बालिकाओं के जो विवाह कर दिये जाते हैं—बिना उनके स्वास्थ्य, योग्यता एवं उपयुक्तता का कुछ विचार किये—उसीका तो यह परिणाम है कि हमारे यहाँ और तो और पर दुध-मुँही विधवाओं तक की संख्या कुछ नगण्य नहीं! फिर, 'दुबले को दो आषाढ़'। एक तो ऐसी स्थिति में वैसे ही उनके लिए वैधव्य मुश्किल होता है, ऊपर से कड़े से कड़े नियमों से उन्हें और दबोचा जाता है। चाहिए तो यह कि जिनको ऐसा वैधव्य कठोर जान पड़े उनको सहर्ष पुनर्विवाह करने दिया जाय—कम से कम उन अबोधों को तो इससे हर्गिज़ ही वंचित न रक्खा जाय, जिन्होंने कि अपने पतियों को कभी मन भर कर देखा तक नहीं। पर होता क्या है? उलटे यह कि वे वैधव्य का पालन भी करें ऐसी कठोरता के साथ कि जो, कम से कम इस ज़माने में, बड़े-बड़े पकी उम्र वालों के लिए भी सरल नहीं! राग-रंग, पहरना-ओढ़ना, हँसना-बोलना, खाना-पीना तो दूर, एकादशी आदि त्यौहारों पर 'पानी पानी' चिल्लाते हुए मर जाने पर भी उन्हें पानी तक न दिये जाने की घटनायें ही क्या कम होती हैं? यह सब अमानुषी नहीं तो क्या? फिर यह और दिल्लगी कि इच्छा या अनिच्छा से, जाने-अनजाने, उनसे ज़रा भी किसी नियम का भंग हुआ नहीं कि जात-बाहर का दण्ड सिर पर सवार! न केवल जात-बाहर बल्कि निर्दयता के साथ कुटुम्ब से भी उन्हें निकाल दिया जाता है। फलतः उदर-पूर्ति के लिए उन्हें

कुछ सहारा ढूँढना ही पड़ता है। इधर सामाजिक और पारिवारिक कठोरता की प्रतिक्रिया होती है। तब इन दोनों के बीच वे बाध्य होती हैं इस नीच वेश्यावृत्ति को ही स्वीकार करने के लिए! यह इसका दूसरा और ज़बर्दस्त कारण है।

तीसरा कारण है बेमेल विवाह। वेश्याओं की संख्या-वृद्धि में इसका भी कुछ कम भाग नहीं। हमारे यहाँ नारीत्व का आदर्श तो यह है कि पति के प्रति पूर्ण भक्ति रक्खी जाय—मनसा, वाचा, कर्मणा उसमें श्रद्धा-भक्ति रहे. पर इसके लिए वातावरण का कुछ ख़याल नहीं। मनोविज्ञान पता नहीं किस लिए है, जब कि ऐसे महत्व के मामलों में ही उसका उपयोग नहीं किया जाता! जब आदर्श इतना ऊँचा है, तो क्या यह वांछनीय नहीं कि परिस्थिति भी इसके अनुकूल ही रक्खी जाय? और उस वक़्त तक क्या यह सम्भव है, जब तक कि पति-पत्नी का मन बिलकुल न मिल जाय—एक-दूसरे का तादात्म्य न हो जाय? प्राचीन स्वयंवर की प्रथा थी भी सर्वथा इसके उपयुक्त। पर आजकल तो सब अँधा कारबार है। सवाल तो पति-पत्नी के मन-मिलन का; पर उन्हें इस बारे में बोलने का हक़ नहीं—मानों उन्हें नहीं वरन् उनके अभिभावकों को ही विवाह से लाभ-हानि होती है, जो सब कुछ उन्हींकी पसन्द-बेपसन्द पर निर्भर! नतीजा यह होता है कि अधिकतर विवाह बेमेल रहते हैं। पति जाये उत्तर तो पत्नी जाये दक्षिण यही ढंग रहता है। यहाँ तक कि अनेक स्वार्थान्ध अभिभावक, रुपयों के प्रलोभनवश, अल्पायु कन्याओं को बुड्ढे-ठुड्डे, पौरुषहीन, रोगाक्रांत और मरणोन्मुखों तक को समर्पित करने में भी नहीं झिझकते। ऐसी स्थिति में क्या यह सम्भव है कि कन्या दृढ़ता के साथ पति में श्रद्धा-भक्ति रख सके? जो ऐसा कर सकें, वे वन्दनीय; पर, सामान्यतः तो यह अस्वाभाविक ही है। मगर लुत्फ़ यह कि जाने-अनजाने किसी से ज़रा इस नियम की उपेक्षा हुई नहीं कि कलंक का सेहरा उसके सिर बँधा; हो गई वह पक्की पापिन; पापी भी ऐसी कि जिसका फिर उद्धार भी सम्भव नहीं! यहाँ तो वही हिसाब कि 'गिरा सो गिरा'। इन बातों का नतीजा यही होता है कि घर में तो रहती है कलह, और मनों में अशांति एवं तृष्णा। तब रात-दिन की खटपट और अशांति के फलस्वरूप घर से निकलने की नौबत आती है; अथवा इस बेमेल वातावरण के कारण अतृप्त वासनाओं की किसी प्रकार पूर्ति की स्वाभाविक उत्कट प्रेरणा होती है। और दोनों का ही परिणाम अन्त में होता है यही वेश्यावृत्ति—पहली दशा में प्रकट और दूसरी में अप्रकट।

स्त्रियों में अर्थोपार्जन की अयोग्यता इसका चौथा कारण है। हमारे समाज की यह एक बड़ी भारी कमी है कि स्त्रियों को आरम्भ से ही परावलम्बी बनाया जाता है। शास्त्रों में जो आदेश है कि स्त्री कौमार्यावस्था में पितादि के, विवाहित दशा में पति श्वसुरादि के, और वैधव्यावस्था में पुत्रादि के अधीन रहे, उसको लेकर ही उन्हें अर्थोपार्जन की योग्यता से वंचित रक्खा जाता है। नतीजा यह होता है कि जहाँ कहीं उनपर आर्थिक समस्या आकर पड़ी नहीं कि वे घबरा उठती हैं। तब क्या करें? कभी कुछ सिखाया गया हो, तब न? फलतः सदैव पुरुषों की अधीनता में रहने का तो यह कारण होता ही है, साथ ही उन्हें वेश्यावृत्ति पर घसीट ले जाने में भी इसका प्राबल्य कुछ कम नहीं होता। और ऐसी समस्यायें जीवन में प्रायः पड़ा ही करती हैं। जैसे किसी के घरवालों का एकाएक ख़ात्मा हो जाय, घरवालों से सहसा बिछुड़ पड़ें, किसी घटनावश घर के लोग अकेले छोड़ कर गुप्तवास करने निकल पड़ें और परिस्थितिवश ख़ैर-ख़बर न ले सकें, अथवा अप्रसन्नतादि किसी कारण घर से ही निकाल दें। यही नहीं, अनेक अभिभावक ग़रीबी आदि कारणों से कन्याओं का विवाह करने में ही समर्थ नहीं होते उधर बड़ी उम्र हो जाने पर कन्या को घर में रखना भी असह्य हो जाता है। ऐसी अनेक स्थितियां हैं कि उनमें यदि स्त्रियां स्वयं अर्थोपार्जन कर सकें तो कोई ख़तरा न रहे। पर उन्हें इस योग्य बनाया ही कहाँ जाता है? फलतः इधर-उधर टक्कर खा कर अन्त में वेश्यावृत्ति पर ही उन्हें अपना अवलम्ब करना पड़ता है।

धर्म के नाम पर जो वेश्यावृत्ति चलती है, उसे भी कौन नहीं जानता? तीर्थस्थानों में लुके-छिपे जो व्यभिचार होता है, सो तो होता ही है; पर यहाँ हमारा अभिप्राय उस वेश्यावृत्ति से है, जो धर्म के नाम पर प्रत्यक्ष और बाक़ायदा होती है। देवदासी की प्रथा से कौन धार्मिक हिन्दू परिचित नहीं? इसने तो धार्मिकता का ऐसा रूप धारण किया है कि इसे भक्तिपूर्ण जीवन और मुक्ति का निश्चित मार्ग ही समझा

जाने लगा है ! वस्तुतः तो देवदासी और खुलेआम व्यभिचार करने वाली वेश्या दोनों एक ही समान हैं; पर बाहरे धार्मिकता, जहाँ दूसरी निंद्य मानी जाती हैं वहाँ पहली मानी जाती हैं पवित्र और निर्दोष ! यह हमारी बेवक़ूफ़ी और अन्धश्रद्धा तो है ही, साथ ही वेश्यावृत्ति को भी इससे कुछ कम प्रोत्साहना नहीं मिलती। ऐसी दशा में इसे भी वेश्यावृत्ति का एक कारण अवश्य मानना होगा।

इनके अलावा यह भी मानना होगा कि कुछ स्त्रियाँ स्वभाव से ही चंचलमना होती हैं। वे जब देखती हैं कि इस वृत्ति वाली कैसी शान-शौक़त, तड़क-भड़क के साथ रहती हैं, कैसे अच्छे-अच्छे कपड़े-लत्ते पहनती और नाज़-नख़रे से रहती हैं—फिर वह दिखावटी ही क्यों न हो,—तो वे इस ओर झुकने लगती हैं और क्रमशः पतित होती हुई अन्त में, सम्पूर्णरूपेण इसीपर अवलम्बित हो जाती हैं। साथ ही घर की दासियों, होटलादि की नौकरानियों, नटनियों, नर्तकियों आदि इस प्रकार के धन्धेवालियों में भी कुछ तो स्वभावतः इस ओर प्रवृत्ति होती है, कुछ आस-पास का वातावरण भी उन्हें ऐसा ही मिलता है कि जिससे वे शीघ्र ही इस ओर आकर्षित हो जाती हैं।

ये सब तो वेश्यावृत्ति के कारण हैं ही, पर इसके अलावा, आधुनिक सभ्यता भी इसके लिए कुछ कम उत्तरदायी नहीं। सच तो यह है कि "आधुनिक परिस्थिति में वेश्यावृत्ति एक सामाजिक आवश्यकता ही हो गई है। समाज की एक निश्चित आवश्यकता की इससे पूर्ति होती है। इसीलिए यह चाहे बुराई है, पर वर्तमान दशाओं में यह है अवश्यम्भावी।" यह कैसे ? यह जानने के लिए हमें आधुनिक सभ्यता के चिन्हरूप शहरों पर दृष्टिपात करना होगा। शहरों में वेश्यावृत्ति कैसी बढ़ी हुई है, यह तो हम पहले बता ही चुके हैं, अब देखना यह है कि इस वृद्धि का कारण क्या ? इसके लिए किसी भी एक बड़े शहर को हम ले लें तो हम देखेंगे कि वर्तमान पूँजीवाद के कारण वहाँ ऐसे पुरुषों की संख्या बहुत मिलेगी, जो कि दूर-दूर के गाँवों और छोटे शहरों से जीविकोपार्जन के लिए वहाँ आये होते हैं पर शहर के बढ़े हुए ख़र्चों के कारण अपने कुटुम्बों—ख़ास कर स्त्रियों—को अपने साथ नहीं लाते। कम से कम आधी जन संख्या को ऐसे स्थानों में ज़रूर ही अविवाहित या ख़र्च के अभाव से अकेले रहते पाया जायगा। फिर यह भी मानना ही होगा कि वे सब सद्‌गुणों के अवतार ही नहीं होते। अलावा इसके अर्थाभाव अथवा अन्य ऐसे कारण स्वाभाविक कामवासना को भी रोक सकें, सो बात नहीं। फिर वहाँ का वातावरण तो और उत्तेजक ही न होता है ? इस प्रकार एक ओर तो वासनायें उठतीं और उत्तेजना पा-पा कर प्रबल होती हैं, दूसरी ओर अर्थाभाव या तो विवाह से ही वंचित रखता है नहीं तो विवाहित जीवन के उपभोग से। ऐसी दशा में वे अपनी वासनाओं की पूर्ति वेश्यावृत्ति द्वारा न करें तो और करें भी कैसे ? निश्चय ही कुछ लोग शौक़ की पूर्ति के लिए भी इसे करते हैं; पर अधिकांश तो उक्त परिस्थितिवश ही न इसपर आकर्षित—नहीं, कहना चाहिए, बाध्य—होते हैं ! "या तो वे प्रकृति के आदेश की अवहेलना करें अथवा वेश्या के पास जायें, सिवा इसके और चारा भी क्या?" और यह सब वर्तमान सभ्यता के फलरूप पूँजीवाद और आर्थिक विषमता का ही परिणाम नहीं तो और क्या है ?

(३)

वेश्यावृत्ति के जो कारण हैं, उनका दिग्दर्शन हो चुका; अब विचार यह करना है कि इसका हल कैसे किया जाय ? क्या उपाय अथवा कौन से साधन अख़्त्यार किये जायें कि जिनसे हम इस समस्या पर विजय प्राप्त कर सकें ? ऊपर वेश्यावृत्ति के जो कारण बताये गये हैं उनका किसी प्रकार हम निवारण भी कर सकते हैं या नहीं ?

कइयों का मत है कि यदि सरकार कोई अवरोधक क़ानून बना दे तो इस समस्या का बहुत कुछ हल हो जायगा। अनेक समाज-सुधारक नर-नारी इसके लिए प्रयत्नशील भी हैं। और इसमें शक नहीं कि यदि सरकार नेकनीयती से इसके लिए प्रयत्न करे तो इस दिशा में बहुत कुछ सुधार हो भी सकता है। पर पहले तो हमारी सरकार नेकनीयती से इस ओर प्रवृत्त ही क्यों होने लगी ? फिर, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, जब कि इसका सूत्र हमारे समाज-संगठन के ही अन्तर्गत है, तब मात्र क़ानून से हो भी क्या सकता है ? क्षणिक सुधार भले ही हो; पर स्थायी सुधार तो तभी न होगा, जब कि इसके उत्पादक उपर्युक्त कारणों को ही दूर किया

जाय ? सच तो यह है कि इसके मूल में ही हमें कुठाराघात करना होगा ।

इसके लिए सर्वप्रथम हमें अपने समाज-संगठन और आर्थिक बँटवारे की विषमता को दुरुस्त करना चाहिए । समाज का संगठन ऐसी भित्ति पर होना चाहिए कि जिससे पुरुष या स्त्री कोई भी एक जाति दूसरी एक जाति पर अन्याय, अत्याचार या सख़्ती न कर सके । स्त्रियों को इच्छा या अनिच्छावश सदैव ही जो पुरुषों की मनमानी के अधीन होना पड़ता है, उसका ख़ात्मा होना चाहिए । स्त्रियाँ पुरुषों से अपेक्षाकृत छोटी बन कर रहें, यह तो समझ में आ सकता है; पर स्त्री होने ही के कारण वे उनके सब अन्याय-अत्याचारों को भी न केवल चुपचाप बल्कि प्रसन्नतापूर्वक सहें और फिर भी उनमें अचल-अगाध श्रद्धा-भक्ति ही रक्खे रहें, यह नहीं हो सकता । आदर्श की दृष्टि से चाहे यह ठीक हो, पर व्यवहारतः तो असम्भव और अस्वाभाविक ही है । अतः इसका भी अन्त होना चाहिए । यदि विवाह एक पवित्र और जीवन-मरण का प्रश्न है, तो इस सम्बन्ध में ऐसी उपेक्षा न होनी चाहिए, जैसी कि आजकल होती है । बेमेल विवाह क्यों हों, यदि जिनका इससे सम्बन्ध हो उन्हींकी पसन्द-बेपसन्द पर वह निर्भर रहे ? अभिभावकों का कर्त्तव्य तो यहीं तक न सीमित होना चाहिए कि वे अपने पुत्र या कन्या को उपयुक्त पालन-पोषण और शिक्षण द्वारा इस योग्य बना दें कि अपना साथी चुनने में वे धोखा न खावें ? बाल-विवाह रूपी अभिशाप पर एकदम ही कुठाराघात करना चाहिए । ऐसी दशा में विधवाओं का प्रश्न प्रथम तो स्वयं ही न रहेगा । फिर जो विधवायें हों भी उन्हें हम इतना क्यों जकड़ें ? क्या विधुरों पर भी हम ऐसा ही कड़ा नियंत्रण करते हैं ? यदि नहीं तो बेचारी विधवाओं पर ही इतना दबाव क्यों ? उनके साथ जब तक हम मनुष्योचित व्यवहार करना न सीखेंगे तब तक यह स्वाभाविक ही है कि वे अन्ततः वेश्यावृत्ति को ही गले लगायें। उन्हें अछूत मानना, उनसे शुभावसरों पर परहेज़ करना आदि बातें बिलकुल वाहियात हैं—इनसे दौरात्म्य एवं घृणा-भाव प्रकट होता है । ऐसी बातों का बिलकुल उठ जाना ही वांछनीय है । इसी प्रकार धर्म के नाम पर प्रचलित देवदासी की प्रथा भी सच पूछो तो एक कलङ्क ही है । इसका जितना शीघ्र और समूल नाश हो उतना ही श्रेयस्कर, और जितना विलम्ब हो उतना ही हानिकर । यदि ये बातें दूर हो जावें तो नौकर-चाकरों द्वारा फुसलाये जाने तथा ऐसे ही अन्य प्रलोभनों में फँसने का भी अपने आप ही अन्त हो जायगा ।

रही आर्थिक विषमता । सो इसके लिए भी बहुतांश में समाज-संगठन को ही दोषी मानना पड़ेगा । हमारे समाज में आज जो यह स्थिति है कि कोई तो अपने ज़रा-ज़रा से नाज़-नख़रों के लिए लाखों-करोड़ों न्यौछावर कर देता और इच्छानुसार ऐश-आराम भोगता है और कोई दाने-दाने के लिए तरसता है, उसका अन्त होना चाहिए । जब तक यह विषमता बनी हुई है, वेश्यावृत्ति भी किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व रक्खे होगी । क्योंकि आवश्यकता से अधिक आराम के साधनों के उपयोग से एक समुदाय में तो विषय-वासना बढ़ेगी, दूसरा समुदाय भी उनकी यह दशा देख, अपनी हीनावस्था पर झुंझलाकर अपनी वृत्तियों को तृप्त करने के लिए जैसे भी हो इसी पर प्रवृत्त होगा । इधर जब तक यह विषमता न मिटे, शहरों में मध्यम तथा निम्न श्रेणी वालों का अकेले रहना नहीं मिट सकता; न स्त्रियों का निम्न श्रेणी के गंदे व्यक्तियों के बीच काम करना ही बन्द किया जा सकता; और इन दोनों ही दशाओं में वेश्यावृत्ति का अस्तित्व अवश्यंभावी है । साथ ही जब तक स्त्रियों को भी अर्थोपार्जन के उपयुक्त न बनाया जाय, वे पुरुषों पर निर्भर रहना न छोड़ेंगी । और पुरुषों पर बिलकुल निर्भर रहना, दूसरे रूप में, वेश्यावृत्ति को उत्तेजन देना ही नहीं तो और क्या है ? क्योंकि इस दशा में जहाँ ज़रा भी पुरुष का आसरा कम हुआ नहीं कि वे एकदम निराश्रय होकर भटक ही तो पड़ती हैं और उस डाँवाडोल स्थिति में यही एक सहारा तो उन्हें मिलता है ! अतः मज़दूर-समुदाय का गन्दी गलियों में रहना, मध्यम समुदाय के ग़रीब लोगों का अधिक किराया न दे सकने के कारण तंग घरों में रहना, स्त्रियों का केवल पुरुष की आय पर निर्भर रहना, विधवा स्त्रियों की कला कौशल द्वारा निर्वाह करने की शक्ति और पारिवारिक बन्धन के शिथिल हो जाने से स्त्री-धर्म-सम्बन्धी प्राचीन तत्वों का नष्ट होना, मज़दूर स्त्रियों का मिलों में तुच्छ दशाओं तथा हीन परस्थितियों में नियुक्त होना

आदि और अनेक आर्थिक और सामाजिक कुप्रथाओं का तुरन्त ही नाश होने की अत्यधिक आवश्यकता है। इसके साथ ही हमें वर्तमान आर्थिकवाद के फलरूप शहरों की चमक-दमक के प्रलोभन और उद्योगों को छोड़ प्राचीन ग्रामों और चर्खा-खादी सरीखे घरेलू उद्योगों की ओर भी प्रवृत्त होना पड़ेगा। तभी और एकमात्र तभी हम इस समस्या से मुक्ति पा सकते हैं; नहीं तो यह दिन-दूनी रात-चौगुनी जैसी बढ़ रही है बढ़ती ही रहेगी, और हम साश्चर्य मूढ़वत् ताका ही करेंगे।

मुकुटबिहारी वर्मा

नारी-महिमा

बेना आपो ओछी नीहां,
ओछमित रे कणी कियो के नीच जात नारी हां।
नारी हां तो कंई वियो म्हे नारारी नारी हां ॥१॥
सुख में सदा पछाड़ी री हां, दुख में आगे वी हां।
माथो काट हाथ मुं मेल्यो पीतम पेली गी हां ॥२॥
हातां पेट फाड़ पाप्यां सुं म्हे ललकार लड़ी हां।
हंसती धशी धधकती में म्हें अब पण वीरी वी हां ॥३॥
सुवरण-पुरी शीश दश ऊपर म्हें थूंकण वाली हां।
सत्यवान रो प्राण बचायो जम शूं पण जीती हां ॥४॥
सिद्धराज रो शाप न लागो कियो कंई बुगली हां।
कोढ्यो खोड्यो पति उंचाय ने वेश्या रे लेगी हां ॥५॥
शूरां रे जन्मी हां आपां शूरां रे परणी हां।
शूरां री जननी हां आपां पोते ही शूरी हां ॥६॥

(महाराज) चतुरसिंह

भावार्थ

बहनो, हम क्षुद्र नहीं हैं।

कौन कहता है कि हम नारियां क्षुद्र और नीचे दर्जे की हैं? ऐसा कहने वाला स्वयं ही कोई ओछी बुद्धि वाला मनुष्य होगा। यदि नारी हैं तो क्या हुआ, हैं तो नाहरों—सिंह पुरुषों की ही नारियां ॥ १ ॥

हम सुख के समय हमेशा पीछे रहीं और दुःख में सदैव आगे हुई हैं। अपने हाथों से सिर काट कर सामने रख दिया है और प्रियतम से पहले हम परलोक चली गई हैं ॥ २ ॥

अपने हाथों से पेट फाड़ कर ललकारते हुए हमने पापियों से लड़ाई की है। हमने धधकती हुई आग में हँसते-हँसते प्रवेश किया, हम अब भी वैसी ही वीर नारियां हैं ॥ ३ ॥

स्वर्णपुरी लंका में रावण पर थूकने वाली भी हम हीं हैं। सत्यवान का प्राण बचा कर हम ही यमराज से जीती हैं ॥ ४ ॥

हमें सिद्धराज का शाप भी नहीं लगा, हमने उनसे कहा कि हम कोई बगुली नहीं हैं। अपने कोढ़ी और पंगु पति को उठा कर वैश्या के यहां हम ही ले गई हैं ॥ ५ ॥

हम शूरों के यहाँ जन्मी हैं और शूरों के साथ ही ब्याही गई हैं। इसी प्रकार हम शूरों की जननी हैं और खुद भी शूर-वीर हैं ॥ ६ ॥

उन्नति कैसे हो ?

संसार कर्म-क्षेत्र है। जो मनुष्य या जो जातियां कर्मशील हैं, वे श्रेष्ठ और शिरोमणि बनकर संसार के अन्दर चैन और सुख का उपभोग करती हैं; और जो अकर्मण्य हैं, वे दूसरी जातियों द्वारा पददलित होती हुई अपना नामोनिशान मिटा देती हैं। आज जातियों की घुड़दौड़ हो रही है। प्रत्येक दूसरे से आगे बढ़ने की कोशिश कर रही है। परन्तु हम भारतवासी सिर्फ़ जबानी जोड़-बाक़ी निकालकर प्रसन्न हो रहे हैं, और फूले नहीं समाते। अपने प्राचीन उज्ज्वल इतिहास का नक़शा खींचना, अपने प्राचीन ऋषियों के जमाने का राग, और अपनी पुरानी सभ्यता का ढोल पीटना यहीं तक भारतवासियों की कर्मशीलता की पराकाष्ठा हो जाती है। जब समय पड़ता है, तब छाती खोलकर आगे बढ़ने वाले माई के लाल अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं; शेष संख्या भीरुओं की होती है।

हम भारतवासियों को कहना आता है, करना नहीं आता। जिन जातियों ने उन्नति की है, उनके इतिहास के पन्ने कर्मण्यता के उदाहरणों से पूर्ण हैं—थोथी बातों से नहीं। नैपोलियन अपनी सेना का सेनानायक बना हुआ दुर्ग जीतने के विचार से दुर्ग की ओर प्रस्थान करता है। सामने खाई पड़ती है; सेना असमञ्जस में पड़ जाती है कि खाई को कैसे पार किया जाय ? उसी समय दुबला-पतला सेनापति हाथ में झंडा लिये आगे बढ़ता है और अपनी सेना को सम्बोधन करके कहता है—'ऐ फ़ान्स के वीरो, क्या यह छोटी सी खाई फ़्रान्स के वीरों को कर्त्तव्य से च्युत कर देगी ? हमें दुर्ग को प्राप्त करना है। जो फ़्रांस की लाज रखना चाहें, वे मेरे पीछे आ जायँ, शेष अपने घरों को वापिस चले जायँ।' अब कौन था जो वापिस जाता ? सेनापति को गोलों की बौछार से दूर करके सेना क़तारें बाँध कर खड़ी हो जाती है। एक, दो, तीन क़तारें गोलों से भुनती हुई खाई के अन्दर गिरती चली जाती हैं। खाई भर जाती है, शेष सेना लाशों पर पैर रखती हुई आगे बढ़ जाती है और दुर्ग पर अधिकार करके फ़्रान्स का झंडा फहराती है। जापान को देखिए, थोड़े दिनों के अन्दर वह उन्नति के शिखर पर चढ़ गया है। रूस-जापान का युद्ध हुए सदियां व्यतीत नहीं हुई। देखते ही देखते थोड़े से शृंखला-बद्ध जापानियों ने इतने बड़े देश पर विजय प्राप्त की है। सेनापति घोषणा करता है कि सैनिकों की आवश्यकता है। उसी समय नौजवानों ने अपनी अंगुलियों से खून निकाल कर पत्र लिखे कि हम सैनिक होने को तैयार हैं और मरने-मारने को उद्यत रहेंगे। मेवाड़ का इतिहास ही लीजिए, कितना रक्तरञ्जित है ! राणा लाखा से लेकर राणाप्रताप तक का इतिहास वीरता और स्वतन्त्रता के लिए बलिदानों का इतिहास है। राणा सांगा मरते समय ८० घाव खाकर तथा नेत्र, हस्त, पाद से विहीन होकर मरे थे। राणा प्रताप ने सारी आयु वनों में भटकते तथा कन्द-मूल खाते व्यतीत की। तात्पर्य यह है कि जो जाति अपने सुखों पर लात मार कर अपने कर्तव्य पर लीन रहती है और कर्तव्य-पथ की ओर अग्रसर होती है, वही इतिहास में अमर हो जाती है।

परन्तु, आज यह सब कहां है ? भारतवर्ष की वह स्वतन्त्रता, भारत की वह कर्मनिष्ठा, भारत का वह शौर्य, और भारतवर्ष का वह ऐश्वर्य आज कहां है ? आज तो भारतवर्ष गुलाम है, ग़रीब है, कमजोर है, अपने पैरों उठ नहीं सकता। कारण ? क्यों वह उठने की कोशिश करने पर भी नहीं उठ सकता ? क्यों उसमें कर्मण्यता का प्रादुर्भाव नहीं होता ? इसके

बहुत से कारण बताये जा सकते हैं; परन्तु सबसे मुख्य कारण तो है अशिक्षा और स्त्रियों की वर्तमान शोचनीय स्थिति। अगर अशिक्षा किसी के भाग में अधिक आई है, तो अभागे भारतीय स्त्री-समाज के। शायद सम्पूर्ण भारत में एक(?)प्रतिशत स्त्रियां शिक्षित हैं। अन्य दृष्टियों से भी स्त्री-जाति बहुत नीचे है।

कोई जाति तब तक उन्नत नहीं हो सकती, तब तक संसार की घुड़दौड़ में आगे नहीं बढ़ सकती, जब तक कि उस जाति का आधा अंग—स्त्री-समाज-उन्नत न होजाय। यह निश्चित है, इसमें आज विवाद की आवश्यकता नहीं। जबतक भारतीय पुरुष स्त्री-समाज की उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं देंगे, उनकी उन्नति की, शेष सम्पूर्ण योजनायें और आन्दोलन व्यर्थ जावेंगे। जब तक भारत का स्त्री-समाज निर्भय, उत्साही, पुरुषार्थी और उन्नत नहीं होगा, भारतवर्ष की उन्नति असंभव है। जब तक वृक्ष की जड़ में घुन लगा हुआ है, उस ओर ध्यान न देकर हज़ार यत्न करने पर भी, वृक्ष कभी नहीं लहलहायगा। जब तक भारत का सारा समाज शिक्षित, कर्मण्य तथा उन्नत न हो, उससे उत्पन्न भारत की भावी सन्तान से कोई आशा करना व्यर्थ है। अतएव स्त्री-समाज की उन्नति और शिक्षा की तरफ़ ध्यान देना सबसे प्रथम और आवश्यक है।

यदि जापान इतना उन्नत हुआ तो जापान की महिलाओं के अपूर्व त्याग-भाव और अनुपम देश-भक्ति से। एक जापानी माता के पाँच पुत्र रण-क्षेत्र में काम आये। एक सैनिक ने आकर माता को यह शोक-संवाद सुनाया। माता सुनकर रोने लगी। सबने सांत्वना दी और समझाया। उस समय माता ने जो शब्द कहे, वे सुनहले अक्षरों में लिखने-योग्य हैं। उसने कहा—'मैं इसलिए नहीं रोती कि मेरे पाँचों पुत्र मारे गये हैं। मैं तो इसलिए रोती हूँ कि मेरे घर में और कोई ऐसा पुत्र नहीं, जिसे सुसज्जित कर रण-भूमि में भेजूँ।' धन्य! माता, तुम धन्य हो, तुम्हीं जैसी माताओं ने ही जापान को बनाया है।

यह भाव जब तक देश की स्त्रियों में नहीं आवेगा, तब तक देश का स्वतंत्र होना कठिन ही नहीं असंभव है।

मेवाड़ के उज्ज्वल और गौरवशाली इतिहास के बनाने में भी स्त्रियों के साहस, त्याग, व देश-प्रेम का बहुत बड़ा भाग है। रानी पद्मिनी, रानी हाड़ी, ताराबाई, राजमाता जवाहरबाई, पन्ना धाय और चंचलकुमारी के चरित्र मेवाड़ के इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ हैं। जब-जब राजपूत राजा या सैनिक अपने कर्तव्य से च्युत होने लगे, तब-तब उनकी माताओं और पत्नियों ने उनको उत्साहित कर कर्तव्य से विमुख न होने दिया। पृथ्वीराज को संयुक्ता ने, आल्हा-ऊदल को उनकी वीर माता ने, और महाराज जसवन्तसिंह को लक्ष्मीबाई ने ही कर्तव्य से विमुख होने से बचाया था। कितनी ही राजपूत रमणियों ने देश की विकट-स्थिति में स्वयं शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर रणक्षेत्र में राजपूत सैन्य का संचालन करते हुए देश की स्वतन्त्रता को क़ायम रक्खा। इन्दौर की अहल्याबाई और झांसी की लक्ष्मीबाई ने जो कुछ किया, वह किसी से अविदित नहीं।

संसार के प्रायः सब महापुरुषों के जीवन पर उनकी माताओं ने गहरा प्रभाव डाला है। शिवाजी, नैपोलियन और महात्मा गांधी इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। शतपथ ब्राह्मण में बिलकुल ठीक कहा है—'मातृमान्, पितृमान् आचार्य्यवान् पुरुषो वेद।' माता यदि गुणवती और विदुषी हो, तो सन्तान को गुणी और विद्वान् बना दे; और यदि वह स्वयं भीरु और मूर्ख हो, तो पुत्र ऐसा हुए बिना रह नहीं सकता। आजकल सोने-चांदी की बेड़ियों से बन्धा

हुआ भारतवर्ष का परतन्त्र महिला-समाज घरों में बन्द है, तो यह स्वाभाविक ही है कि उसकी सन्तान छोटी-छोटी बातों में फँसी हुई भीरु, अकर्मण्य, कायर और मूर्ख हो।

आज भी भारतवर्ष उन्नति करता हुआ फिर अपना पूर्व-गौरव पा सकता है; परन्तु तभी, जब स्त्री-समाज की उन्नति की ओर भी विशेष ध्यान दिया जाय। सन्तान को उन्नत, संयमी, और देशभक्त बनाने के लिए पहले स्त्रियों को सुशिक्षित कीजिए, उनकी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझ कर उनके साथ सखा-भाव से व्यवहार कीजिए। फिर आप इसी लोक में स्वर्ग का सुख अनुभव करेंगे, आपका गार्हस्थ्य जीवन शान्तिमय होगा और आपकी भावी संतान देशभक्त तथा सुयोग्य बनेगी।

(स्व०) सुभद्रादेवी

लड़कियों की शिक्षा

लड़कियों की शिक्षा के लिए कोई योजना तैयार करने से पहले वे जिस जाति में पैदा हुई हों उसकी पूर्व-परम्परा तथा उनके भावी कर्त्तव्यों का ख़याल कर लेना और उनके आदर्शों को भी समझ लेना ज़रूरी है। लड़कियों के माता-पिता उनमें जिन उदात्त विशेषताओं को देखना तथा विकसित करना चाहते हैं, तथा जिन कार्यों की उनसे आशा की जाती हो, उनको भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

ग्रामों में लड़कियों को बहुत काम करना पड़ता है। वे कुँए से पानी खींचती हैं, पीसती हैं, नाज साफ़ करती हैं, ईंधन इकट्ठा करती हैं, मकान को झाड़-बुहार कर साफ़ करती हैं; और इन सब कामों से जब छुट्टी मिलती है तब अपनी गोद में उस बच्चे को भी लेकर घूमती हैं, जिसकी हिफ़ाज़त और परवरिश करने का उन्हें काफ़ी ज्ञान तक नहीं होता। फिर भी यह कह देना ज़रूरी है कि शिक्षा के प्रारम्भ में पाठ्यक्रम में लड़कियों के लिए अलग ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है। क्योंकि इस समय पढ़ने-लिखने आदि में वे लड़कों के साथ-साथ आसानी से चल सकती हैं। इस वय में उन्हें गृहस्थी के आवश्यक कर्त्तव्यों की शिक्षा देना अनुचित भी है।

लड़के और लड़कियों की साथ-साथ शिक्षा होना भी बहुत महत्वपूर्ण है। नैतिक और आर्थिक दृष्टि से भी प्रत्येक विचारशील मनुष्य उसकी उपयोगिता और फ़ायदे को महसूस किये बिना न रहेगा। हां, इस विषय में भले ही मतभेद हो सकता है कि लड़के-लड़कियों को किस वय तक साथ-साथ शिक्षा दी जाय। परन्तु यह मतभेद ऐसा नहीं होगा, जो उसके समर्थकों को इस बात में निरुत्साह करे या उसे अव्यवहार्य ही बना दे। उससे स्त्री-पुरुषों के चित्त पर जो अमूल्य एवं हितकर प्रभाव पड़ेगा, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक तो उससे लड़के-लड़कियां एक दूसरे को ठीक-ठीक तरह समझ सकेंगे, और दूसरे वह उनके आचार-व्यवहार को अधिक शुद्ध और ऊँचा बना देगी। बालक-बालिकाओं के दिल से अशुद्ध और हेय भाव हट कर उनमें अधिक कोमल, उदात्त और कलामय भावों का संचार होगा। इस विषय में वायकाउंट ब्रायन के, जो एक विख्यात तत्वज्ञानी इतिहासकार थे, विचार बड़े मननीय हैं। वह लिखते हैं—"जिस किसी विश्व-विद्यालय में जाता हूँ, मैं बराबर इस बात की पूछ-ताछ करता हूँ। और प्रत्येक स्थान पर मुझे विश्वास दिलाया गया है कि लड़के और लड़कियों को एक साथ ही बैठा कर पढ़ाने से लड़कों का आचार बहुत शिष्ट हो जाता है और लड़कियों की प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। दोनों को आत्म-संयम की आदत हो जाती है और पढ़ाई में आनन्द आता है।"

आर्थिक दृष्टि से भी वह फ़ायदेमन्द तो है ही। खर्चा बहुत कम हो जायगा। स्त्री-शिक्षिकायें निःसंदेह छोटी तनख्वाहों पर मिल सकेंगी। ज्यों-ज्यों स्त्री-शिक्षिकाओं की माँग बढ़ेगी त्यों-त्यों उससे पढ़ी-लिखी विधवाओं या अन्य रीति से असहाय बनी हुई स्त्रियों को बहुत लाभ होगा। सहशिक्षा उनके समाज-सेवा-विषयक भावों को जगा देगी। उनके हृदय में आनन्द होगा और आत्मा को सान्त्वना मिलेगी। और भी कई प्रकार से सामाजिक प्रगति में उनसे बड़ी सहायता मिलेगी। उनके आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो जाने के कारण समाज का बोझा भी हलका हो जायगा।

गोविन्द बलवन्त माकोड़

पढ़ो कम, गुनो ज्यादा

(१)

'बेटा, तेरी हज़ार बरस की उमर हो!'

'बड़ी अच्छी लड़की है, माँ, तू देख कर खुश होगी।'

'आख़िर वक्त में यही इच्छा थी कि तेरी बहू को देखती जाती।'

'इसी महीने में ब्याह पक्का हो जायगा। फिर तुझे इतनी मेहनत न करनी पड़ेगी मां! हम दोनों जने खूब तेरी सेवा करेंगे।'

'सेवा! ना बेटा! इस बुढ़ौती बेर मैं तुमसे सेवा लूंगी! मेरी ही सेवा करने की साध पूरी नहीं हुई।'

'तेरी रोटियां तो बड़ी स्वाद लगती हैं, मां, पर अब चौका-चूल्हा हम तुझे न करने देंगे।'

'लड़की पढ़ी-लिखी होगी?'

'हाँ, खूब पढ़ी-लिखी है। कन्या-महाविद्यालय के सबसे ऊँचे दर्जे में पढ़ती है।'

'आजकल की लड़कियां पढ़ती-लिखती बहुत हैं। जाने पढ़ने में उनका जी कैसे लगता है! तुम्हारे लाला ने बहुत कहा-सुना, पर मैं तो पहली किताब से आगे न पढ़ सकी। घर-गृहस्थी के काम से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। हां, बेटा, यह ब्याह ठीक किसने किया?'

'हमीं दोनों ने।'

मां ने आश्चर्य से पूछा—सो कैसे?

सुरेश बोला—उस दिन हाकी-मैच था। इलाहाबाद से एक ज़बर्दस्त टीम आई थी। हम लोग हार चुके थे, मगर आख़ीर वक्त हम लोग जी तोड़ कर खेले और एक गोल से उसे हरा दिया। शहर के लोग मारे खुशी के उछल पड़े। मुझे तो गोद में उठा कर तोहफ़े की तरह इधर-उधर लिये-लिये फिरे।

माँ ने कहा—हां, उस दिन तूने खेल का जिक्र किया था।

सुरेश—मैच देखने के लिए कुछ स्त्रियां भी आई थीं। उनमें से एक लड़की ने मेरे पास आकर कहा—'कैप्टन साहब, आपकी इस विजय पर नगर की महिलायें आपको बधाई देती हैं।' यह कह कर उसने गुलाब का फूल और रेशमी रुमाल मुझे दिया। रुमाल के एक कोने पर लिखा हुआ था—'करुणाकुमारी'। यही करुणा तुम्हारी बहू है।

माँ ने कहा—अच्छा; तो तू अपनी बहू को देख भी चुका है।

सुरेश—देखा भी है और बातें भी की हैं।

माँ ने कहा—भैया, आजकल के छोकरे-छोकरियाँ जो न करें सो थोड़ा है!

(२)

सुरेश और करुणा का ब्याह हो गया। नये-नये विवाह के नये-नये दिन नये-नये आनन्द का उपहार लेकर उपस्थित होने लगे। सुरेश ने देखा, संसार कितना सुंदर है! इसकी सभी चीजें प्यार करने लायक

हैं। न जाने दुनिया ने अब तक अपने इतने बड़े आनन्द-भण्डार को कहाँ छिपा रक्खा था ?

प्रेम-सागर उर्मिल हो रहा था। प्रेम की एक लहर समाप्त भी न हो पाती थी कि दूसरी लहर लहराती हुई दिखाई देती थी। जितना ही अन्दर घुसो उतना ही रस का स्रोत उमड़ता आता था। प्रेम की भूख जैसे कभी बुझेगी ही नहीं। पर यह पंचम की तान थी, गायक का गला कब तक साथ देता ? बे-हिसाब अन्धाधुन्ध खर्च दीवाला निकाले बिना नहीं रहता।

सुरेश के लिए सारा संसार 'करुणा'-मय बन रहा था और करुणा 'सुरेश-दीवानी' हो रही थी। सुरेश जब तक दफ़्तर से न लौटता, करुणा छटपटाती रहती। शाम के वक़्त की प्रतीक्षा कुछ देखने ही लायक़ थी। कान कितने सतर्क रहते ! ज़रा-सी आहट हुई और वे दौड़े ! दिल तो उछल कर पहले ही से दर्वाजे के पास खड़ा हो जाता। समय से पूर्व दफ़्तर से लौटने के लिए भांति-भांति के बहानों का आविष्कार करने के लिए सुरेश को तो एक पदक दिया जा सकता है !

एक दिन करुणा पलङ्ग पर लेटी हुई किताब पढ़ रही थी। सुरेश ने चुपके से आकर उसकी आँखें मींच लीं।

करुणा ने पूछा—आज तुम इतनी जल्दी कैसे आ गये ?

सुरेश बोला—आज तुम्हारे लिए आया हूँ।

करुणा—और रोज़ किसके लिए आते थे ?

सुरेश—रोज़ तो मैं अपने घर आता था अपनी प्यारी बीबी से मिलने के लिए। आज मैं आया हूँ एक आसामी को पकड़ने के लिए।

करुणा—वह आसामी कौन है ?

सुरेश—तुम।

करुणा—मैं ? क्यों मैंने क्या अपराध किया है ?

सुरेश—तुमने खून किया है।

करुणा—किसका ? यह तुम कैसी हँसी कर रहे हो ?

सुरेश—हँसी नहीं, तुम्हें फाँसी दी जायगी।

करुणा ने ठुनक कर कहा—हाँ, अब मुझे फाँसी न दोगे, तो और क्या करोगे ?

सुरेश—दोष तुम्हारा ही है। मैं क्या करूँ ?

करुणा—मेरा क्या दोष है ?

सुरेश—तुमने तो मोहनी डाल कर जैसे मेरी मति ही काट दी है !

करुणा—साफ़ क्यों नहीं कहते, आखिर बात क्या हुई ?

सुरेश—बात क्या बताऊँ ? आज दफ़्तर में नया निब लगाया था। उसे साफ़ करने के लिए मैंने न जाने कितनी बार लिखा 'करुणाकुमारी', 'करुणाकुमारी'। उसके बाद मैंने जो मिसल तैयार की, उसमें भी अपराधी के नाम के स्थान पर मैंने लिख दिया—'करुणा-कुमारी'। साहब यह देख कर बहुत बिगड़े। पेशकार हँसा, पर मुझे बचाने के लिए बोला—'क्यों आपका सिर-दर्द अभी बन्द नहीं हुआ ?' मैंने कहा—'क्या बताऊँ, आज तबियत बड़ी बेचैन रही।' साहब ने दया करके मुझे छुट्टी दे दी और मैं हँसता हुआ यहाँ तुम्हारे पास चला आया।

(३)

वह प्रेम था या मोह ? खैर, कुछ भी कहो, वह नशा पैदा करने वाली दवा खतम हो गई, नीचे केवल तलछट रह गई। दरिया का चढ़ा हुआ पानी उतर गया। किनारे पर कीचड़ की कोई कमी न थी।

पहले यह बात थी कि बात-बात पर हँसी आती थी। अब ठीक वैसी ही बात नहीं रही। पहले हर बात में सूत्री नज़र आती थी, अब उसी बात का केवल अर्थ समझा जाता है। पहले बेचारे चाँद को

न जाने कितनी बार करुणा के मुख की तुलना में लज्जित और अपमानित होकर लौटना पड़ा था, पर अब उस प्यारे मुखड़े की जगह एक अच्छा सा इन्सान का मुँह भर रह गया है। स्वर्ग की देवी ने संसार की साधारण स्त्री का रूप धारण कर लिया।

सुरेश की माँ के लिए तो वे दोनों राजा-रानी थे। वह दिन-रात अपने मुन्नू और मुन्नू की बहू के लिए व्यस्त रहती। थक जाने पर भी अपने बूढ़े हाड़ों को आँगन भर में घसीटे लिये फिरती, कभी इस घर में तो कभी उस घर में जाती। जब तक उसका बस चला, उसने कभी किसी को ज़रासी बात की भी तकलीफ़ न होने दी। पर आख़िरकार उसे चारपाई की शरण लेनी ही पड़ी।

करुणा तो 'पंडिता' थी, वह कोई रसोईदारिन तो थी ही नहीं। सखी-सहेलियों में बैठ कर किस प्रकार हँस-हँसकर बातें की जाती हैं, यह वह जानती थी; कालिदास और भवभूति, शेक्सपियर और शेली और कुछ-कुछ तुलसीदास की आलोचना भी वह कर सकती थी; पर भीड़ पड़ने पर घर को किस तरह सम्भाला जाता है, यह उसे बिलकुल मालूम न था। बाल सँवारकर अच्छी सी साड़ी को अच्छी तरह पहनकर क़रीने के साथ सभा में बैठना तो वह जानती थी, पर अपनेको भूलकर तनदेही के साथ रोगी की सेवा-सुश्रूषा करना बिलकुल दूसरी ही बात है। यह पढ़ी-लिखी सभ्य स्त्रियों का काम नहीं है। इससे उनकी साड़ी में शिकनें पड़ जाने का डर है!

माँ के बीमार पड़ जाने पर करुणा चौके को अपने श्री चरणों से कृतार्थ अवश्य करने लगी, मगर चौके ने इस अजनबी व्यक्ति का कोई विशेष स्वागत नहीं किया। चूल्हा है कि जलता ही नहीं। करुणा जब झुँझला कर लकड़ियों को झकझोर कर फूँकती है तो ढेर का ढेर धुँआ उसकी आँखों में घुसकर आँसू निकाल लाता है। करुणा सचमुच दुखी हो उठती। वह कहती पक्वान्न होते तो अच्छे हैं, उन्हें बिलकुल भले आदमियों की तरह खाया जा सकता है, पर उन्हें पकाना तो एक दम 'फूहरपन' का काम है। सुरेश किसी तरह रोटियाँ बनाता, माँ को खिलाता, थाली परोस कर देवी जी को भेंट करता, और फिर खा कर दफ़्तर जाता!

माँ जब सुरेश को रोटियाँ बनाते देखती, तो उससे रहा न जाता। लाख मना करने पर भी वह कढ़िलती हुई आ बैठती और सुरेश को खाना बनाने में मदद देती। सुरेश करुणा के सम्बन्ध में जब कुछ कहता तो, वह कहती—'बेटा, उसने यह काम सीखा ही नहीं। इसके लिए तुम उसे तंग न किया करो। मैं अब अच्छी हो गई हूँ। अब कुछ चिंता नहीं।'

ऐसे नितांत गद्य-मय समय को कुछ कविता-मय बनाने के लिए करुणा अपने ऊपर के कमरे में चली जाती और वहाँ सुगन्धित तेल के नये आये हुए पार्सल को खोलती होती अथवा कुर्सी पर बैठी कोई उपन्यास पढ़ती होती।

(४)

आज सुरेश किसी काम से बाहर चला गया। माँ तो बीमार थी ही। रसोई का काम करुणा को सम्हालना पड़ा। दस बजे के क़रीब जब सुरेश लौट कर आया, तो देखा कि अभी दाल ही नहीं गली है। बटलोई एकदम धुँआगई है। वह बिना खाये ही दफ़्तर चला गया।

लौटना भी उसका देर से हुआ। एक तो दिन भर का भूखा था, दूसरे काम करने के कारण, थक गया था। घर सुनसान था। दाल की बटलोई वैसी ही चूल्हे पर चढ़ी हुई थी। आवाज़ दी, पर किसीने कोई जवाब न दिया? घर में घुसकर देखा, माँ बुख़ार में बेहोश पड़ी है।

करुणा ऊपर के कमरे में थी। देखते ही बोली-तुम्हें तो दफ्तर के काम से ही फ़ुरसत नहीं मिलती। मैं यहाँ दिन भर की भूखी हूँ। घर में कुछ खाने को नहीं था।

सुरेश—क्यों रोटी नहीं बनाई ?

करुणा—रोटी बने तब न ?

सुरेश—तब तो फिर यह भूखे रहने ही के ढंग हैं।

करुणा—तुम भूखे रहो तो रहो, मुझ से तो भूखे रहा नहीं जाता।

उसने एक रुपया मेज़ पर फेंककर कहा—जाओ, बाजार से पूरियाँ ले आओ।

सुरेश ने बिना कुछ कहे ही वह रुपया उठाकर जेब में रख लिया और नीचे माँ के कमरे में पहुँचा। माँ वैसी ही बेसुध पड़ी थी।

थोड़ी दूर पर एक हक़ीम जी रहते थे। वह दौड़कर उन्हें बुला लाया। उसके बाद बाजार से जाकर माँ के लिए दवा और करुणा के लिए पूरियाँ खरीद लाया। अपने लिए उसने रोटियाँ बनाईं। माँ ने आज कुछ नहीं खाया।

रात को सुरेश ने कहा—आखिर ऐसे कितने दिन चलेगा ?

करुणा बोली—मैं भी यही कहना चाहती थी। मैंने जो इतना पढ़ा-लिखा है, वह रसोईदारिन बनने के लिए नहीं।

सुरेश—मगर रोटियाँ तो पढ़े-लिखे भी खाते ही हैं।

करुणा—इसके लिए एक ब्राह्मणी क्यों नहीं रख लेते ?

सुरेश—तुम्हारे कहने से कहारी तो मैंने रख ली। ब्राह्मणी भी तलाश की, पर कोई मिलती ही नहीं तो क्या करूँ ?

करुणा—मिलती क्यों नहीं ? रुपये की जगह दो रुपये दो तो जितनी चाहिए उतनी मिल जाँय।

सुरेश—इतने रुपये लाऊँ कहाँ से ? तुम जानती हो कि मैं ग़रीब आदमी हूँ।

करुणा—जब ऐसे ग़रीब हो तो फिर ब्याह क्यों किया था ?

सुरेश सुनकर सन्न रह गया। थोड़ी देर बाद बोला—देखता हूँ, अब निभाव होना कठिन है।

करुणा बोली—इसके लिए चिंता करने की ज़रूरत नहीं है। मैं सवेरा होते ही पिता के घर चली जाऊँगी;

आज चार दिन होने आये, पर करुणा की सूरत इस घर में दिखाई न पड़ी।

(५)

श्रीमती करुणाकुमारी स्थानीय कन्या-पाठशाला की मुख्य अध्यापिका हैं। जब से वह आई हैं, तब से पाठशाला ने बड़ी उन्नति की है। नगर भर में उनकी योग्यता की धूम है।

लच्छी पाठशाला के चौकीदार की स्त्री का नाम है। वह किसी छोटे से गाँव की नीच जाति की औरत है। यह सब जानते हैं। तभी तो यह आश्चर्य होता है कि पाठशाला की लड़कियाँ उससे इतना प्रेम क्यों करती हैं !

करुणाकुमारी की योग्यता तो प्रसिद्ध है ही, साथ ही उनका अभिमान भी कुछ कम प्रसिद्ध नहीं है। इसका हाल पूछिए अध्यापिकाओं की सहयोगिनियों तथा मिलने वालियों से। बेचारी लच्छी तो एकदम अवाक् रह गई, जब उसने करुणाकुमारी को आज अपने द्वार पर खड़े देखा।

करुणा ने कहा—अरी लच्छी, लड़कियां जब तेरे पास पानी पीने आती हैं, तब तू उन्हें क्या सिखाया करती है ?

लच्छी—मैं बेपढ़ी भला क्या सिखाऊँगी ? यही

कह देती हूँ कि माँ-बाप का कहा करो, रोज सवेरे उन्हें प्रणाम किया करो।

करुणा—कल तेरी एक शिकायत आई थी।

लच्छी—कौन बात की हजूर?

करुणा—कल तू बाहर गई थी, तो रानीसाहबा यहाँ आई थीं; तुझे पूछ रही थीं।

लच्छी—मुझे क्यों पूछ रही थीं?

करुणा—तूने राधा को कुछ सिखाया था?

लच्छी—मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं सिखाई।

करुणा—राधा बड़ी हठीली लड़की है, किसी का कहा नहीं मानती। कल जब पाठशाला से गई तो उसने माँ के पाँव छुए और कहा—'अब मैं तुमसे कभी न लड़ूंगी।' क्या तूनेही उसे यह सीख दी थी?

लच्छी—कल वह आई तो मुझसे अपनी बहादुरी का बखान करने लगी। तब मैंने उसे समझाया कि माँ से लड़ने में बहादुरी नहीं, यह भली लड़कियों को शोभा नहीं देता। बड़े-बूढ़ों से तो नम कर चलने में ही बड़ाई है।

करुणा—रानीसाहबा तेरे लिए २० रुपये इनाम के दे गई हैं।

लच्छी—इसमें इनाम की कौन सी बात है? आप उन्हें लौटा दें

करुणा—लौटाना अच्छा नहीं: बड़े लोग हैं, बुरा मान जायँगे।

लच्छी—तो लड़कियों को मिठाई बाँट दें। इसमें लड़कियों को भी शिक्षा मिलेगी।

(६)

करुणा—लच्छी, मुझे तुझपर ईर्ष्या होती है!

लच्छी—क्यों मास्टरनीजी?

करुणा—जहाँ जाती हूँ तेरी ही प्रशंसा सुनती हूँ।

लच्छी—मेरी प्रशंसा किस बात की?

करुणा—यह मैं न बताऊँगी। अच्छा, यह कहो, तुम्हारा रामू कैसा है?

लच्छी—मेरा महरा हीरा है, हज़ारों में एक है।

करुणा—रामू है तो अच्छा, सीधा और मिहनती आदमी। पर क्या तुमने उसमें कभी कोई दोष नहीं देखा?

लच्छी—पहले तो उन्हें दारू पीने की और जुआ खेलने की लत थी।

करुणा—फिर कैसे छूटी?

लच्छी—बड़ी मुश्किल से। मेरे मना करने पर एक बार उन्होंने मुझे मारा भी।

इसके बाद स्नेह और विनम्र अभिमान के साथ लच्छी ने कहा—यह देखो उनकी निशानी है।

करुणा—फिर भी तुमने उसे नहीं छोड़ा?

लच्छी—राम-राम, भला अपने पति को कोई छोड़ती है? उस दिन से मैं उनकी सेवा-टहल और भी अधिक जी लगा के करने लगी। अब कभी महरा उस चोट को देख लेते तो लजा जाते हैं।

करुणा—अच्छा, यह तो कहो, क्या रामू भी तुम्हें प्यार करता है?

लच्छी कुछ शर्मा गई। बोली—यह तो वही जानें। मैं तो यही जानती हूँ कि अपनी दासी को कौन नहीं चाहेगा?

करुणा—मैंने सुना है, तुम रामू के पाँव का धोवन पीती हो; यह तो गन्दी आदत है।

लच्छी—हजूर यह चरनामृत का ही प्रताप है, जो मेरी बुद्धि ठीक-ठिकाने रहती है।

करुणा—पर आदमी के पैर का धोवन!

लच्छी—जब हम अपने हाथ में बनाये हुए देवता का चरनामृत पीते हैं, तो फिर भगवान् के बनाये पतिदेव का चरनामृत पीना क्या बुरा है? मेरे तो वही देवता, वही गुरु, वही सब कुछ हैं।

करुणा—हां, आदमी अच्छा हो तब तो सब ठीक है।

लच्छी—अच्छा तो अच्छा है ही; पर जिसे हम अपने हाथों अपने मन के अनुकूल बनाते हैं उसमें जो मामता होती है, उसे कौन पा सकता है ?

करुणा—पर जो अपने अनुकूल न हो तो क्या करें ?

लच्छी—पति को अपने अनुकूल बनाने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि हम अपनेको पति के मन के माफ़िक बनायें।

करुणा—बहन लच्छी, तुम पढ़ी-लिखी तो नहीं, फिर ये बातें कहाँ सीखीं ?

लच्छी—मेरे गाँव में एक लालाइन थीं। उन्होंने मुझे यह ज्ञान की बातें बताईं। वह कहा करती थीं, 'पढ़ो कम, गुनो ज्यादा।'

करुणा—इसका क्या मतलब ?

लच्छी—वह कहती थीं कि यों तो पढ़ने और सीखने को दुनिया भर है; पर जो सीखने लायक़ बातें हैं, वे बहुत अधिक नहीं हैं।

करुणा—हां, पर गुनने से क्या मतलब ?

लच्छी—गुनने से यही मतलब है कि हम जो कुछ पढ़ें उसे अपने घट में उतार लें, उससे अपने अन्तर को रङ्ग लें, उसे हम अपने जीवन का गुण बना लें।

करुणा—हूँ !

लच्छी—वह तो कहती थीं कि गुने बिना जो अधिक पढ़ता है उसे हानि होती है।

करुणा—सो कैसे ?

लच्छी—जो भोजन पच कर, रस बन कर, अङ्ग में नहीं समा जाता वह विकार पैदा करता है। इसी तरह जो विद्या पढ़ी तो गई, पर गुनी नहीं, वह फूट निकलती है।

करुणा—हूँ—हूँ।

लच्छी—गुनी हुई विद्या से ज्ञान पैदा होता है, कच्ची विद्या से अभिमान।

करुणा—लच्छी, लच्छी, तुम नौकरानी नहीं मेरी गुरुआनी हो। तुमने आज मेरी आंखें खोल दीं।

लच्छी—क्यों, क्या हुआ ?

करुणा—मैं अपनी विद्या के अभिमान में अन्धी हो गई थी। अपने पति और अपनी सास को छोड़ आई।

लच्छी—कब ? कब ?

करुणा—आज पाँच वर्ष होने आये।

लच्छी—नहीं, झूठ है, आप हँसी करती हैं।

करुणा—नहीं, लच्छी, हँसी नहीं, मैं बड़ी पापिन हूँ। मैं दुनिया भर को सिखाती हूं, पर खुद भूले बैठी हूँ।

लच्छी—तुम्हारे पति कहाँ रहते हैं ?

करुणा—यहीं, इसी शहर में।

लच्छी—मास्टरनीजी, आपने बड़ी भूल की। आपने आज तक मुझसे कहा क्यों नहीं ? मैं आज ही उनका पता लगाती हूँ।

करुणा—नहीं, लच्छी, अब वह मेरा मुँह भी नहीं देखेंगे।

लच्छी—आप इसकी चिन्ता न करें। आप, अपने मन को साफ़ कर लें।

करुणा ने बहुत कुछ सोच-विचार कर कहा—मुझ अभिमानिनी से तो यह बेपढ़ी लच्छी अच्छी है। मैं तो इसके पैरों की धूल के बराबर भी नहीं हूँ। लोग झूठ नहीं कहते, लच्छी सचमुच सती है।

रामानन्द 'राहत'

पुरुष ध्यान दें

आज हमारे देश में जो दुर्व्यहार पति अपनी पत्नियों के साथ करते हैं, उसका दृश्य बड़ा हृदय-विदारक है। इसका फल यह होता है कि राष्ट्र की भावी मातायें कुन्ती, सीता और लक्ष्मी-बाई की तरह न हो कर मूर्ख और कुरूप सन्तान पैदा करती हैं। इस मूर्ख सन्तान से उत्पन्न सन्तान भी कुरूप और मूर्ख होती जाती है; और हम अपनी आँखों से देख रहे हैं कि इस कार्य-क्रम से हमारा भारत का विशाल राष्ट्र दासता की ओर बड़े वेग से प्रगतिशील हो रहा है।

देश की भावी उन्नति का मूल स्त्रियां ही हुआ करती हैं। एक लेखक ने लिखा है—Slaves suckle slaves; pure and enthusiastic women bring forth saints and heroes. All his tory atest the fact that great men had mothers. अर्थात, दासदासी ही का पालन करता है। सच्चरित्र और उत्साही स्त्रियां शूर और धार्मिक संतान पैदा करती हैं। इतिहास कहता है कि बड़े-बड़े आदमियों की मातायें भी वैसी ही होती थीं। यदि उन्हीं माताओं को अनाड़ी रक्खें या उनको मानसिक, शारीरिक अथवा सामाजिक रूप में क़ैद कर दें, तो क्या उनकी सन्तान भी ग़ुलाम विचारों वाली न होगी ?

लेकिन, हमारे यहाँ, आज क्या दशा है ? पुरुष कितना ही दोष क्यों न करे, वह कभी दोषी नहीं कहलाता; जितना भी दोष है, वह सब, हमारे यहाँ स्त्रियों के ही हिस्से आया है—मानों वह स्त्रियों की जन्मसिद्ध विरासत ही न हो ! वैसे, अनुभव बतलाता है कि, प्रत्येक अपराध में ज्यादा भाग पुरुषों का ही हुआ करता है। मैं यह नहीं कहता कि स्त्रियाँ सर्वथा निर्दोष ही होती हैं। लेकिन, यह तो मानना ही पड़ेगा कि, अधिकांश दशाओं में उसका कारण पुरुष ही हुआ करते हैं। समाचारपत्रों में हम सदैव पढ़ते हैं कि अमुक स्थान में अमुक गुण्डे ने बलात्कार किया, पर क्या कभी यह भी देखते हैं कि किसी स्त्री ने किसी पुरुष के साथ जबर्दस्ती की ?

पति शराबी हैं। नशे में चूर बाहर से आते हैं। भोजन में थोड़ी सी देर है, फ़ौरन जूता उठाकर अपनी स्त्री पर टूट पड़ते हैं। यदि स्त्री बेचारी सहनशील हुई, तब तो कोई बात नहीं—सब कुछ सह लेगी; पर यदि श्रीमतीजी भी कुछ उग्रस्वभाव हुई, तो बस लीजिए, घर ही में देवासुर-संग्राम आरम्भ होजाता है। और यदि कहीं स्त्री से सहन भी न हुआ, और उसके शरीर में बल भी नहीं है, तो वह किसी न किसी तरह आत्मघात कर डालती है। हम प्रति दिन सुनते हैं कि अमुक स्त्री कुँए में गिर कर मर गई। सेठ देवीप्रसाद की लड़की जहर खाकर मर गई, हनुमान पण्डित की पतोहू ने रेल की लाइन पर अपने प्राणों को आहुति देदी। यह सब क्यों होता है ? अधिकांश दशाओं में यह पता चलता है कि इन लोगों का दाम्पत्य-जीवन कलहपूर्ण था—शान्तिदेवी इनसे रुष्ट थी। क्यों ? क्योंकि स्त्री ने जूते पर पालिश नहीं की। रसोई में देर होजाती है। भोजन अच्छा नहीं बनाती।

पड़ोस के पंडित रामदेव शुक्ल की स्त्री ने प्राण दे दिये। पता लगा कि उसकी यह इच्छा नहीं थी कि पंडितजी मुवक्किलों से घूस लिया करें। शुक्लजी सरिश्तेदार थे। घूस न लें, तो काम न चले। स्त्री ने कई बार समझाया। इसपर यह कहकर कि 'तुम मुझको उपदेश देने चली हो!' वह उसपर टूट पड़े—और फिर कई दिन तक उससे बोले तक नहीं। स्त्री ने दूसरा रास्ता न देख विष खाकर प्राण दे दिये।

पुलिस ने मुक़द्दमा चलाना चाहा। पर वहाँ भी 'घूस' की ही विजय रही।

उस दिन मेरी बहन कमला कन्या-पाठशाला में पढ़ने गई। कन्या-पाठशाला में प्रधानाध्यापिका अपनी पुत्री-सहित पढ़ाने का कार्य करती हैं। प्रधानाध्यापिका की पुत्री विवाहिता है। उसने मेरी बहन से ज़हर माँगा; क्योंकि वह जानती थी कि मेरे यहाँ औषधियों के तौर पर कुछ ज़हर भी रहता है। कमला ने अपने भोलेपन से यह न जानकर कि विष क्या होगा, वादा कर लिया कि 'भैया जब कहीं जायँगे तो मैं उनकी ताली लेकर आलमारी खोलकर ला दूँगी'। यह घटना श्रीमतीजी की माता को मालूम होगई। वह हाँफती हुई मेरे पास आई। और मेरे पैर पकड़ कर कहने लगीं कि 'ताली कहीं ऐसी जगह रख दीजिए कि कमला न पा सके'। कमला को समझा दिया। श्रीमतीजी की माता से कारण पूछने पर पता चला कि पति व्यभिचारी है और श्रीमतीजी से प्रेम नहीं करता। श्रीमतीजी एक पवित्र और सुयोग्य स्त्री है। यह बात भी नहीं कि उसके कुरूप होने के कारण पति महाशय ने उसका परित्याग किया हो।

तहसीलदार साहब विवाह होने के पहले से ही अनैसर्गिक व्यभिचारी हैं। फलतः पत्नी भी व्यभिचारिणी हैं। एक पुत्र और एक पुत्री वर्तमान है। पुत्री बाल-विधवा है। तहसीलदार के ही साथ रहती है। माता की देखा-देखी वह भी व्यभिचारिणी होगई है। और तारीफ़ यह कि पिता का माशूक़ पुत्री का आशिक़ है। पुत्री के कई बार गर्भ रह गया। लड़का कालेज में पढ़ता है। सदाचारी है। उससे न रहा गया। उसने तहसीलदार साहब के माशूक़ की हत्या करने की ठानी। पर कई कारणों से ऐसा कर न सका। तब अपने पिता के विरुद्ध कलक्टर के पास गुमनाम अर्ज़ी दी। कलक्टर साहब के यहाँ से तहसीलदार साहब के माशूक़ को तहसील की चहारदिवारी से बाहर निकल जाने की आज्ञा हुई। पर व्यावहारिक रूप में वह अब भी वहीं रहता है। और तहसीलदार धार्मिक इतने हैं कि बिना 'श्रीगणेशाय नमः' लिखे कोई काम ही आरम्भ नहीं करते!

पण्डितजी कथा-वाचक हैं, पर हैं मांसाहारी। श्रीमती जी ने कभी मांसाहार किया ही नहीं। माँस पकाना नहीं आता—कभी नमक ज़्यादा होजाता है, तो कभी माँस जल जाता है। फलतः रोज़ दुर्गाजी का प्रसाद श्रीमतीजी को मिला करता है। सभा में पण्डितजी मांस का नाम सुनते ही कानों पर हाथ रख लेते हैं और राम-राम जपने लगते हैं!

हेडमास्टर साहब नपुंसक हैं। लुई कुहनी का बाथ (स्नान) लेते और शिलाजीत का सेवन करते-करते थक गये—पर, सब व्यर्थ। तिसपर भी जान-बूझकर शादी करली। सन्तान न होने से दुःखी हैं; और उसका रंज स्त्री की पीठ पर घूँसे जमाकर निकालते हैं!

पेशकार साहब बड़े कमज़ोर कायस्थ हैं। कलक्टर साहब अभी फ़ौज से आये हैं। जब कोई बात साहब की समझ में नहीं आती, तो फ़ौरन पेशकार के मुँह पर एक चाँटा जमाते हैं। पेशकार साहब भी बड़े बहादुर हैं! दिन भर साहब के चाँटे गिनते जाते हैं और सन्ध्या-समय उनका वर्ग निकाल कर अपनी स्त्री ही को साहब मानकर उससे बदला लेते हैं!

यही क्रम आज चारों तरफ़ दृष्टिगोचर हो रहा है। समझ में नहीं आता, हम पुरुषों ने क्या सोच रक्खा है। नहीं तो हमारी शरीर-रचना में चाहे कुछ थोड़ी भिन्नता है, समाज की सुव्यवस्था के लिए किसी समय हमने-उन्होंने मिल-जुलकर अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियों का विभाजन किया हुआ है; मगर फिर भी हमारी-उनकी आत्मा तो एक ही न है? फिर ऐसे

कृत्य तो धर्म और नीति, नैतिकता और व्यावहारिकता की दृष्टि से भी उचित नहीं। न इससे समाज की सुव्यवस्था का ही कोई सम्बन्ध है। और अब तो नई रोशनी आ रही है। जमाना दिन-दिन समानता और पारतन्त्र्य-नाश का आ रहा है। यदि हम स्वयं उसके लिए तैयार न भी हुए, तो काल और गति का प्रभाव इसके लिए अवश्य बाध्य करेगा। अतः क्या यह अच्छा न होगा कि हमारे पुरुष-बन्धु, बुद्धिमानों की भांति, पहले से ही सचेत हो जायँ और बजाय अपने अधिकारों के अपने कर्त्तव्यों के पालन पर ही ज्यादा ध्यान देने लगें? ऐसा होने पर स्त्रियों को ही नहीं, स्वयं पुरुषों को भी शांति प्राप्त होगी और हमारा समाज आज से कहीं अधिक सुव्यवस्थित एवं सुखी हो जायगा।

शिवप्रसादसिंह 'विश्वेन'

माता की याद

हृदय फटा जा रहा है! आह!! आज मेरी बुरी हालत है!!! आज उस स्वर्गीय आत्मा की याद हृदय में एक भयंकर उथल-पुथल, एक अजीब हलचल और एक गज़ब की अशान्ति मचाये हुए है। आज उस पूजनीय प्रेम-मूर्ति की एक-एक बात—उसका दुलारना, पुचकारना, उसका स्नेह-सिक्त मीठी-मीठी डाट बतलाना और उसकी वे अमृतोपम बातें—हृदय पर पत्थर की लीक की नाईं एक-एक शब्द लिख लेनेवाली बातें याद आ रही हैं! 'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के एक-एक अक्षर का मूल्य आज मुझे जितना अमूल्य, जितना महत्वपूर्ण और जितना उत्कृष्ट मालूम हो रहा है, उतना पहले कभी सोचा भी न था। सचमुच, माँ! ऐ मेरे लिए सौ सौ बार जान देने वाली, मेरे सुख-शौक़ के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने वाली माँ! तुम्हारा स्थान मेरे ही लिए नहीं, संसार में सब के लिए अत्यन्त आदरणीय, बहुत उच्च—सर्वोपरि है। पर कितने खेद और विषाद की बात है कि अपने जीवनकाल में तुमने अपने पद के इस महत्व की झलक अप्रत्यक्ष रूप से भी नहीं दिखला दी! अगर तुम्हारा महत्व उस समय अब ही की नाईं महसूस किया होता, तो माँ! एक बार तुम्हारे चरण-कमलों को अपने अकिंचन आँसुओं से पखार कर, हृदय-निकुंज की एक-एक अधखिली कली को निर्दयतापूर्वक पर अत्यन्त उल्लास के साथ तोड़ कर, उनपर चढ़ा देता और तुम्हारे प्रति अपने अटूट प्रेम के कमनीय कर्पूर की अनोखी आरती उतार, एक बार मन भर कर तुम्हारी पूजा—तुम्हारी उपासना—कर लेता और तब शायद इतना तृप्त हो गया होता कि आज ऐसी व्याकुलता, इतनी उद्विग्नता और इतना शोक न होता! पर उस समय तुम्हें अपने 'लल्लू' के सामने अपने महत्व की आभा दिखाने की फ़ुर्सत कहाँ थी? उस समय उसके लिए अच्छे खाने-पहनने और उसे इस संसार में एक आदर्श मनुष्य बनाने के सिवा तुमने और कुछ सोचा ही कब था? और अगर सोच कर अपने मातृत्व के महत्व को जतलातीं ही, तो मैं इसपर कैसे विश्वास करूँ कि उस समय दरअस्ल मैं तुम्हारी महत्ता को महसूस कर ही लेता? उस समय तो मैं शायद उसपर ध्यान भी न देता। उस समय मुझे ऐसी बातों पर ध्यान देने की फ़ुर्सत और सुध भी कहाँ थी? तब तो मेरा सारा समय तुम्हारी उपदेशमय विनोद की बातें सुनने और अठखेलियाँ करके तथा घूम-फिर कर घर में आ तुम्हें बार-बार तंग करने ही में बीत जाता था! माँ, ऐ मेरी स्वर्गीय माँ, इस समय तुम्हारी वे सारी स्मृतियाँ मेरे हृदय को खल रही हैं। क्या तुम नहीं जानती थीं कि तुम मुझे एक दिन छोड़कर चली जाओगी, और उस समय मैं तड़पता रह जाऊँगा? फिर तुमने मुझे इतना अधिक प्यार ही क्यों किया? अपने प्रेम-बन्धन में इतनी दृढ़ता के साथ, न मालूम कैसे अनोखे लोहे की इतनी मज़बूत ज़ंजीर में, क्यों बाँध गईं? और अगर ऐसा ही करना था, तो जिस प्रकार देश की बलिवेदी पर हँसते हँसते क़ुर्बान होने, परोपकारी कार्यों के लिए अपना सर्वस्व देने, उसमें आने वाली अनेक आपत्तियों को सहने और धर्म, आत्म-गौरव की रक्षा के लिए अविचल दृढ़ता दिखाने का उपदेश देकर, अपने बच्चे

के हृदय को कुछ हद तक दृढ़ बना गई, उसी प्रकार अपने वियोग की ऐसी व्यथा को सहने और शान्ति के साथ सहने की ओर एक बार इशारा तक क्यों न किया ? जिस प्रकार मुझे अनेक अच्छी-अच्छी चीज़ें खिलाने, सुन्दर-सुन्दर कपड़े पहनाने और चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी अनेक आदर्श बातें बताने में तुम्हें सुख मिलता था, क्या अपने जाने—और सदा के लिए जाने के बाद मुझे इस प्रकार तड़पाने में भी तुम्हें कुछ वैसा ही सुख मिलने वाला था ? अगर ऐसी बात है और दरअसल तुम्हें इस प्रकार कुछ सुख मिला हो, या मिल रहा हो, तब तो मुझे बहुत संतोष है ! पर मैं कैसे विश्वास करूँ कि अपने जीवन-काल में जो अपने 'राजू' के एक काँटा चुभने पर भी अत्यन्त कातर और विह्वल हो जाती थी, जिसे अपने 'लल्लू' का एक क्षण के लिए भी अपनेसे अलग होना नागवार गुज़रता था, वह अपने जाने के बाद—जब कि 'राजू' को उसी स्नेह और दुलार के साथ कोई सान्त्वना देने वाला भी न होगा—उसका ऐसा तड़पना पसन्द कर सकती होगी ?

शुरू से ही ब्रह्मचर्य की महत्ता बतला, ब्रह्मचर्य-मय जीवन बिताने के अनुकूल ही खाना-पीना और परिस्थितियाँ रखकर भी दो वर्ष पहले क्या तुमने इसीलिए मुझे गृहस्थ बना दिया था कि तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम विभक्त हो जाय, अथवा तुम्हारे न रहने पर तुम्हारी प्यारी 'बहू' मुझे उत्साही, प्रसन्न और तृप्त रख सके, जिस प्रकार तुम रखती थीं ? सच कहता हूँ, और एक-एक अक्षर सत्य कहता हूँ, ऐ स्वर्ग से मेरे अन्तस्थल को देखने वाली माँ, मैं आज २५ वर्ष का होकर भी तुम्हारे सामने वही १० वर्ष का अबोध बालक था और हूँ; और, तुम्हारे प्रति मेरी जो अपार श्रद्धा, जो अलौकिक प्रेम और जो अनोखा भाव हृदय में जम गया था, विवाह के बाद भी उसमें रत्ती भर की भी कमी न हुई थी। पत्नी बहुत प्यार करती है, दुःख और आपत्ति में बहुत भारी सहारा है, उसका प्रेम और श्रद्धा मेरे लिए एक अनुपम वस्तु है; पर तो भी, आज मैं तुम्हें यह कैसे बतलाऊँ कि पत्नी और माता के प्रेम की तुलना नहीं हो सकती—कतई नहीं हो सकती ? मातृत्व के अभाव की पूर्ति पत्नी के द्वारा कदापि नहीं हो सकती। दोनों दो विभिन्न वस्तुयें हैं और अपने-अपने स्थान पर अपना अलग-अलग महत्व रखती हैं। किन्तु माँ क्या तुम यह नहीं समझती थीं ? खूब समझती थीं और मुझसे कहीं ज़्यादा समझती थीं। फिर भी मेरी इस वेदना-मयी घड़ी के लिए तुम क्यों न कुछ कर गईं ?

अगर तुम समझो कि 'मुन्नी' और पिताजी को भी तो छोड़ गई हो और वे मेरे लिए बड़े सहारे और बहुत कुछ हैं, तो माँ, मैं आज तुम्हें यह कैसे बतलाऊँ कि वे मेरे हृदय की धधकती हुई ज्वाला को शान्त नहीं कर सकते—कदापि नहीं कर सकते ? मुन्नी ? आह ! उस नन्हीं-सी बच्ची का कहाँ वह कोमल, स्निग्ध, कमल की नाईं उत्फुल्ल दमकता हुआ प्रसन्न मुख-मण्डल, और कहाँ आज उसका मुरझाया, पीला पड़ा हुआ, वह अवसन्न वदन !! ओह ! उसकी उदासी, विलखना और समय-समय पर 'माँ माँ' शब्दों की अन्तस्तल को जाकर चोट पहुँचाने वाली आज की आवाज़ तो और भी मुझे व्याकुल किये देती है ! आज उस बच्ची को तुम्हारी तरह गोद में बैठाकर पुचकारने वाली, हँस-हँस के उसके गालों पर चपतें लगाकर हँसाने वाली, उसे सीता, सावित्री, दमयन्ती, गान्धारी आदि महिलाओं की उत्तम एवं रोचक कहानियाँ सुना-सुना कर तृप्त करने वाली कौन है माँ ? अब तो उसे यह संसार निःसार और बिलकुल सूना जान पड़ता है ! वह एक निरी अबोध बालिका है, सांसारिकता से लाखों कोस दूर है, वह अनजान—बिलकुल अनजान है; पर इतना होते हुए भी तुम्हारा वियोग वह अच्छी तरह अनुभव ही नहीं कर रही, बल्कि वह इस कारण सदा विकल है। जब मेरे हृदय और मन की यह हालत है, तो उस अबोध बालिका के हृदय में और क्या-क्या बीतता होगा, यह मैं बतला भी क्या सकता हूँ ? पिताजी ? भला वह मुझे क्योंकर सान्त्वना दे सकेंगे ? उनकी गंभीरता, उनकी संजीदगी और उनके आचार-विचार को देख और सुनकर मैं उनसे इतना भयभीत सा रहा, और तुम्हारे रहते उनसे इतना हिलने-मिलने का अवकाश भी न मिला, जिससे उनसे अच्छी तरह कभी बात भी नहीं कर सका। मेरी एक-एक आवश्यकताओं और एक-एक इच्छित वस्तुओं को तुम भलीभाँति जानती और समझती थीं; पिताजी के द्वार खटखटाने की कभी ज़रूरत ही न हुई। तब भी वह मुझे प्यार करते थे और अब, जब तुम नहीं हो, और भी चाव और

उत्सुकता से मुझसे बातें करते और मुझे समझाते हैं। मैं भी उनके चरणों में घंटों बैठकर उनकी बातों को सुनता और मन को शान्त करने की चेष्टा करता हूँ। पर यहाँ भी पिता और माता के प्रेम का अन्तर आकर बीच में खड़ा हो जाता है और न मालूम क्यों मुझे पिताजी के प्यार द्वारा वही आनन्द, वही सुख और वही तृप्ति नहीं प्राप्त करने देता, जो तुम्हारे स्नेह या प्यार से प्राप्त होती थी। पिताजी भी अब साधारणतया वैसे प्रसन्न नहीं रहते और उनका मन वैसा उल्लसित नहीं मालूम होता, जैसा तुम्हारे रहते रहा करता था। आज तुम्हारे बिना मेरा यह घर ही हीन हो गया है—उसकी सारी रौनक, सारी प्रभा मारी गई है! क्या एक बार और आकर इस घर में घी के चिराग़ न जलाओगी? माँ, क्या एक बार और आकर इस घर में आनन्द और प्रेम का— जो सब प्रकार के राग, मोह और वासना से पूर्णतया रहित था—सोता न बहाओगी?

वर्ष के सभी त्यौहार और उत्सव आयेंगे। विविध प्रकार की सुस्वादु और बढ़िया वस्तुयें भी बनेंगी। पर उतनी रुचि, उतने आग्रह और उतने प्रेम के साथ मेरे पास बैठकर खिलाने और बार बार कुछ और खा लेने का अनुरोध अब कौन करेगा? उत्सव और त्यौहारों के हफ़्तों बाद तक मेरे लिए चुन चुन कर अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ कौन रक्खेगा? और, इतना बड़ा होकर बच्चों की नाईं तुम्हें तंग करते देख, तुम्हारी 'बहू' को कोने से मेरे लड़कपन पर मुस्कुरा देने का मौक़ा अब कौन देगा माँ? तुम्हारे जीवन की एक-एक बातें अब याद आती हैं। घर के कमरे, आँगन और द्वार सभी तुम्हारे बिना शून्य—बिलकुल शून्य दीखते हैं। वह अन्धा लड़का रोज़ 'माँजी-माँजी' कहते हुए तुम्हारी याद करता हुआ द्वार पर पहुँच जाता है और तुम्हारी दया, उदारता और प्रेम को याद करके बार बार आँसू बहाता है। दीन और अनाथों के लिए तुम्हारे हृदय में कितनी दया—कितनी उदारता थी माँ! माँ, तुम साक्षात लक्ष्मी थीं—कम से कम इस घर के लिए ज़रूर। तुम्हें, इस घर को इस प्रकार हीन और अवसन्न कर जाना कैसे अच्छा लगा?

घर से कुछ दिनों के लिए भी जब बाहर जाने लगता, तुमसे अलग होता, तुम्हारी छाती फटने लगती थी। तुम्हारे नेत्रों से ममता और प्रेम की अमूल्य बूँदें छलक-छलक तुम्हारे मुख-मंडल को भिगोने लगती थीं। तुम उद्विग्न हो जाती थीं। तुम्हारी हालत देख मुझ दुर्बलात्मा की जो हालत होती, तुम्हें अच्छी तरह मालूम था। तुम्हारे आँसुओं को देख मेरा चित्त अस्थिर हो जाता, हृदय में एकदम हलचल मच जाती, और मैं हज़ार कोशिश करने पर भी अपनेको कभी न रोक पाता—रो देता था! तुम्हें मेरा कुछ दिनों के लिए भी अलग होना इतना अखरता था: पर अब सदा के लिए तुम मुझे छोड़कर चली गईं, फिर भी यह वियोग तुम्हें कैसे सह्य हुआ—कैसे इस कठिनता को तुम सम्हाल सकीं, मेरी अत्यंत कोमल हृदय वाली माँ?

तुम चली गईं और सदा के लिए चली गईं। हाय! अब तुम्हारी उस दिव्य, सौम्य और पवित्रता की साक्षात् मूर्ति का दर्शन न होगा! माँ, इस समय मैं क्या कहूँ, क्या सोचूँ और क्या गुनूँ? तुम अगर एक बार फिर लौटकर अपने 'लल्लू' को पुचकार नहीं सकतीं, अगर एक बार और उसे बड़े प्रेम से अपने पास बिठाकर अपने हाथों बनाये सुंदर और सुस्वादु पदार्थ खिला नहीं सकतीं, अगर अपने स्नेह के रंग में सराबोर आँचल से अपने बच्चे का मुख एक बार और पोंछ नहीं सकतीं, अगर एक बार और मुझे अपनी मीठी डांट नहीं बतला सकतीं, और अगर एक बार धर्म—सेवा—देश की भक्ति से परिपूर्ण अपनी विमल वाणी सुना नहीं जा सकतीं, तो इतना तो कर सकती हो कि वहीं से—स्वर्ग से अपने 'लल्लू' को इतना आशीर्वाद दे दो, ताकि वह तुम्हारे बताये हुए सुन्दर पथ का दृढ़ अनुगामी हो, वह अपनी मातृभूमि, धर्म-रक्षा और परोपकार के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने में अपना सौभाग्य माने, और उसमें कर्त्तव्य-परायणता, निर्भीकता, सत्यनिष्ठा, सहिष्णुता, वीरता और धीरता कूट-कूट कर भर जाय, जिससे वह लाखों विपत्ति पड़ने पर भी अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न हो! माँ, मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करना और अवश्य स्वीकार करना! मैं यह भी जानता हूँ कि मुझे इन बातों के लिए आरज़ू करने की ज़रूरत नहीं, क्योंकि मेरे कर्त्तव्य-भ्रष्ट होने और तुम्हारे दूध की लाज रक्षित रखने की मुझसे कहीं अधिक चिन्ता तुम्हें स्वयं थी और स्वर्ग में भी होगी। पर, क्या करूँ माँ, मैं तो अभी निरा

बच्चा, वही तुम्हारा दूधमुँहा अबोध बच्चा ही तो हूँ । इसी लिए उस अत्यन्त विषाद की घड़ी में ये शब्द निकल गये हैं । इसके लिए क्षमा करना ।

एक बात और । माँ ! तुम अपने गाँव के दूसरे लड़के-लड़कियों को भी कितना प्यार करती थीं और मेरे मित्रों को तो तुम मानों अपने उदर का पूत ही बना लेती थीं ! गाँव का कोई भी लड़का, मेरा कोई भी मित्र या सहपाठी, द्वार पर आ जाता, तो उसे बिना कुछ खिलाये घर से जाने ही नहीं देती थीं । उनसे उनके पढ़ने-लिखने की, स्वास्थ्य-शरीर की और अन्य अनेक मनोरंजक बातें करती थीं ! क्या मैं तुमसे यह भी प्रार्थना करने की धृष्टता करूँ कि उनके लिए भी तुम भगवान् से इतनी विनय कर देना कि वे नवयुवक और नवयुवतियाँ अपने मानवोचित अधिकारों और कर्त्तव्यों को अच्छी तरह महसूस करें और उनके अनुसार आचरण करें। वे अपनी मातृभूमि की बलिवेदी पर अपनेको बलिदान करना सीखें । माँ, मातृभूमि को इस समय इसीकी सबसे बड़ी आवश्यकता है । यह बात मैंने तुम्हींसे सैकड़ों बार सुनी है और अनुभव भी कर रहा हूँ । और ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि भारत के प्रत्येक घर में तुम्हारे ही जैसी माताओं का आविर्भाव हो; तभी युधिष्ठिर और अर्जुन, राम और कृष्ण, हरिश्चन्द्र और दधीचि, शिवाजी और प्रताप, तिलक और गाँधी जन्मेंगे; और तभी इस अभागे देश का उद्धार भी होगा। तभी यहाँ के परिवारों में आनन्द के सोते बहेंगे और तभी गार्हस्थ्य जीवन स्वर्ग-तुल्य होगा । मैं तो तुम्हारी काया में जन्म ले कृत्य कृत्य हो गया, माँ !

देवव्रत शास्त्री

"मेरी माँ ने मुझपर नजर रखके मुझे मेरे सहचरों के बुरे प्रभाव से बचाया है ।"

—स्व० दादाभाई नौरोजी

"मेरे सूक्ष्म विचारों का मूल मेरी जननी की प्रेमपूर्ण लोरियों में है ।"

—जॉन्सन

"एक आदर्श जननी सौ उस्तादों से भी श्रेष्ठ है ।"

—जार्ज हरबर्ट

स्व० राजकिशोरी मेहरोत्रा

राजकिशोरी मेहरोत्रा खत्री-जाति की एक सुयोग्य महिला थीं । सम्वत् १९६३ वि० में, फर्रुखाबाद जिले में, उनका जन्म हुआ था और बाल्यकाल के १४ वर्ष फर्रुखाबाद में ही व्यतीत हुए। कुमारी राजकिशोरी अपने संबन्धियों पड़ोसियों तथा अध्यापिकाओं की नजर में एक होनहार कन्या थीं; और, अपनी मृदुलता एवं आज्ञाकारिता के कारण, सबकी प्यारी थीं ।

इनका विवाह, इनकी इच्छानुसार, कानपुर के श्री परशुराम मेहरोत्रा के साथ सन् १९१८ ई० में हुआ था। विवाह के एक वर्ष पश्चात् तक यह तपस्या और संयम से रहती रहीं; क्योंकि पाणि-ग्रहण के समय इनके पति बी० ए० की परीक्षा देने वाले थे। पतिगृह-प्रवेश के उपरान्त भी राजकिशोरी को संयम का अवसर मिला, क्योंकि परशुरामजी फौरन ही वकालत और एम० ए० पढ़ने प्रयाग चल दिये । इतना ही नहीं, पाँच मास पश्चात् ही वह असहयोग-आन्दोलन में कूद पड़े और कालेज छोड़ कर महात्मा गाँधी के साथ भारत-भ्रमण करने लगे ।

दिसम्बर १९२० में राजकिशोरी नागपुर-कांग्रेस में सम्मिलित हुईं और वहां उन्होंने महात्मा गांधी के सन्देश को अपने कानों सुना। तदनन्तर वह वर्धा होती हुई सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती, गईं, जहां वह कुछ दिन रहीं भी । वहां उन्होंने अपने जीवन में पहले-पहल अमीर घरानों की स्त्रियों को खद्दर पहने, पांचों यमों का यथावत् पालन तथा अपने हाथ से सब काम करते हुए देखा । अभिजातकुल में पली हुई तथा खुशहाल घराने में ब्याही हुई और कोई खत्री महिला शायद सरल और सात्विक जीवन के पाठ को इतनी जल्दी न सीख सकती थी । पर इनके संस्कारों ने

इनकी मदद पहुँचाई और अनुभव ने इनका साथ दिया। यही कारण है कि एक मास पश्चात् जब यह कानपुर लौटीं तब इनको खद्दर धारण करते असमंजस न हुआ। कुछ आभूषण तो यह नागपुर में ही उतार कर दे आई थीं, शेष बांध कर रख दिये और आवश्यकता पड़ने पर एक दिन अपने जेठ के हवाले कर दिये। कुछ बेल-फ़ीते जला डाले, कुछ धोतियां बांट दीं और कुछ साड़ियां ग़रीब कन्याओं के विवाह में दे डालीं। सन १९२१ में इनका खद्दर का व्यवहार

श्री० राजकिशोरी मेहरोत्रा

आंशिक था, सन १९२२ में क़रीब-क़रीब पूरा हो गया, यहां तक कि प्रथम पुत्र को, जो संवत् १९७८ में हुआ, इन्होंने केवल खद्दर के वस्त्र पहनाये।

ऐसे वायुमंडल में जहाँ कपड़ों-गहनों से लदना स्त्रियाँ शोभा समझती हों, जहां पति को प्रतिवर्ष नये आभूषण बनवाना पड़ते हों और जहाँ छल्ल, पछेली, नेकलेस, पारसी धोती पहने स्त्रियाँ गहना न पहनने वाली स्त्रियों को तिरस्कार की दृष्टि से देखती हों, तथा जहाँ पर आपस में गहने-कपड़े का अधिक स्टाक रखने की स्पर्धा होती हो, वहाँ राजकिशोरी जैसी परिस्थिति में रहने वाली स्त्री को, जिनका पति रुपया कमाने के बजाय अवैतनिक सेवा कर रहा हो, कितना कठोर मानसिक संयम करना पड़ता है, इसका अनुमान नारी-स्वभाव से परिचय रखने वाले लोग सहज में कर सकेंगे। राजकिशोरी को पाणिग्रहण से मरण-पर्यंत इसी प्रकार का आत्म-शासन करना पड़ा। मगर श्रीमती कस्तूरबाई गाँधी, श्रीमती जानकीबाई बजाज तथा श्रीमती अनुसूया बहन सरीखी आदर्श महिलाओं के सात्विक जीवन को देख चुकने वाली "नन्हींबहू" (राजकिशोरी का ससुराल का नाम) भला मन में क्षोभ कैसे कर सकती थी? इनके पति सन १९२३ के मध्य तक प्रायः भ्रमण, सम्पादन और चर्खा-प्रचार में ही लगे रहे और यह घर में आश्रम के सिद्धान्तों का यथासंभव पालन तथा पति के कार्य में सुविधायें पैदा करती हुई शान्ति से रहती रहीं। आवश्यकता पड़ने पर कई बार उनके साथ भी गईं और सन १९२२ ई० में तो उन दोनों को आनन्द-भवन (प्रयाग) में काफ़ी समय तक रहना भी पड़ा।

इसके बाद श्रीमती कमला नेहरू ने 'स्त्री-दर्पण' नामक मासिकपत्र का भार इनके कंधों पर डाला। 'स्त्री-दर्पण' को जीवित रखने तथा उसके द्वारा १४ वर्षों से होती आई स्त्री-समाज की सेवा को जारी रखने की लगन ने इनके जीवन के चार वर्ष लिये, विश्राम का अपहरण किया, स्वास्थ्य बिगाड़ा और रहा-सहा ज़ेवर इत्यादि तक उसकी भेंट चढ़ गया। सन् १९२५ की कानपुर-कांग्रेस में यह स्वयंसेविका भी थीं। 'स्त्रीदर्पण' की उचित व्यवस्था करके सन् १९२६ में बीमारी से तंग आकर, स्वास्थ्य-लाभ के लिए, मंसूरी गईं और वहां से सीधी साबरमती चली गईं। वहां तथा वर्धा में वह छः मास रहीं, तदनन्तर कानपुर आईं।

'स्त्री-दर्पण' की स्थिति को फिर सम्हाल कर आने पर जनवरी सन् १९२७ में अपने पिता के यहां गईं। कुछ दिनों बाद दिल्ली में असेम्बली देखने तथा कुंभ पर हरिद्वार, स्नान करने के बाद अपने विलायत से लौटे हुए बड़े भाई के पास मेरठ गईं। वहीं, दो मास ज्वर से पीड़ित रहने के बाद, हृदय की धड़कन बन्द हो जाने से उनका शरीरांत होगया।

उनके विचार तथा उनके जीवन की चंद फुटकर बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) वह बाल-विधवा-विवाह के पक्ष में थीं और कहा करती थीं कि जो विधवायें संयम से न रह सकें उन्हें विवाह कर लेना चाहिए। छिपकर व्यभिचार करने से समाज की हानि अधिक होती है।

(२) पर्दे के विषय में उनकी धारणा यह थी कि स्त्री का चारित्र्य-बल ही स्त्री का सच्चा संरक्षक है। आजकल का परदा निरर्थक और स्वार्थपरता तथा अविश्वास का द्योतक है।

(३) कन्याओं के विवाह के पूर्व उनके माता-पिता को अपने ही सुभीते, मान-मर्यादा, बदनामी-नेकनामी अथवा शील-दबाव को न देखना चाहिए; उन्हें ब्याही जाने वाली कन्या की भी अभिरुचि का ध्यान रखना चाहिए।

(४) एक बार रोग-शय्या पर जब ताक़त के वास्ते अंडा उनके सामने लाया गया तब दृढ़तापूर्वक उन्होंने अपना संकल्प प्रकट किया कि प्राण बचाने के हेतु मैं अंडे का सेवन न करूँगी।

(५) उनका ख़याल यह था कि स्त्री के चरित्र के विषय में पुरुष ज़रूरत से ज़्यादा सतर्क रहा करता है।

(६) वह कहा करती थीं कि आज स्त्रियों में द्वेष, रोष और छल इतना अधिक होता है कि कभी-कभी भयंकर परिस्थितियां लाकर खड़ी कर देता है। स्त्रियों को अपना स्वाभाविक सौजन्य कभी न छोड़ना चाहिए।

(७) भूगोल और भारतवर्ष का इतिहास पढ़ना अँग्रेजी की ए. बी. सी. डी. जान लेने से कहीं बेहतर है।

(८) यदि हो सके तो संगीत का अभ्यास प्रत्येक महिला को थोड़ा-बहुत करना चाहिए।

(९) आजकल की आपस की अनबन या गृह-कलह मुख्यत: मिथ्याभास अथवा अनमेल विवाह के कारण होती है। यदि दम्पती दोषों की अपेक्षा एक दूसरे के गुणों को अधिक पहचानने की कोशिश करें तो पति-पत्नी के मानसिक धरातलों में भारी अंतर रहते हुए भी शान्ति भंग होने की कम संभावना रहेगी।

जो हो, अब राजकिशोरी इस दुनिया में नहीं हैं। अपने पति और दो अबोध बालकों को विरह-व्याकुल छोड़कर किशोरावस्था में ही उन्होंने इस असार संसार को त्याग दिया। इसमें शक नहीं कि पति और बालकों के लिए ही नहीं बल्कि खत्री-जाति के लिए भी उनका यह असामयिक विछोह दु:खकर है। पर परमात्मा की करनी में किसका बस? अब तो परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि स्वर्गीय आत्मा को वह सद्गति दें, दु:खी परिवार को शान्ति दें, और खत्री जाति की इस कमी को शीघ्र पूर्ण करें।

शंकरलाल टंडन

"मनुष्य का चरित्र उसकी रक्षा करने में एक अच्छी घुड़सवार सेना से भी बढ़कर है।" —मोनटेन

"सर्वश्रेष्ठ आदत यह है कि अच्छी आदत सीखने में सावधान रहने की आदत डाली जाए।" —[illegible]

"मुझे प्रसन्नचित्त रहना पसन्द है; पर लाख रुपये की आमदनी वाली जायदाद का मालिक बन कर भी उदास रहना पसन्द नहीं है।" —ह्यूम

बाल-विवाह का धार्मिक स्वरूप

हिन्दू-समाज में बाल-विवाह प्रचलित है। समाज के हित-चिन्तक इस प्रथा से होने वाली बुराइयों की ओर दृष्टिपात कर इस प्रथा को समाज से लुप्त करने की चेष्टा में हैं। किन्तु हिन्दू-समाज में रूढ़ीवाद की प्रबलता है। समाज रूढ़ीवाद से जर्जरित हो चुका है। ऐसी बहुतसी असत्य बातों को, जिनका धर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं, धार्मिकता का जामा पहना कर अशिक्षित पुरुषों को सत्यपथ से विचलित करने में रूढ़ीवादी लोग बहुत आगे हुए बढ़े हैं। किन्तु असत्य का अस्तित्व क्षणिक है, इसलिए यह अनिवार्य है कि क्रान्तिमय उपायों द्वारा सत्य का प्रकाश प्रकट हो और भूली हुई जनता सत्य को पहचाने। वर्तमान में इसी नियमानुसार हिन्दू-समाज में क्रान्ति उत्पन्न हो चुकी है। समाज में सुधार-कार्य की ओर जनता का दृष्टिकोण बदल गया है। रूढ़ीवादी समय की इस तीव्र गति को देखकर घबरा गये हैं और रूढ़ियों से स्वाभाविक मोह होने के कारण झूठ को सच करने में धन और समय की बरबादी कर रहे हैं। बाल-विवाह रूपी अनार्य प्रथा को अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी समाज से दूर न होती देखकर, लुप्त करने के लिए, कुछ समय पूर्व श्री हरविलास सारडा ने एक क़ानून का मसविदा बड़ी धारा-सभा में पेश किया है। अधिकांश हिन्दू-समाज ने इसका समर्थन किया है। किन्तु रूढ़ी के गुलाम और अपनेको धर्मध्वजी समझने वाले कुछ लोगों ने, जो देश और समाज के काम में सदैव से विरोधी रहे हैं, इस अनार्य प्रथा पर कुठाराघात होते देखकर "धर्म डूबा, धर्म डूबा" आदि चिल्लाना आरम्भ कर दिया है। किन्तु जब हम प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं, और यह ढूँढते हैं कि बाल-विवाह जैसी अनार्य प्रथा को रोकने में धर्म में क्या बाधा पड़ती है, तब हमें निराश होना पड़ता है। हिन्दू-धर्म का गौरव ऐसी हीन प्रथाओं से नहीं है। हिन्दू-धर्म का गौरव तो इसकी नैतिकता, धार्मिकता की विशालता से ही हुआ है। जिस बाल-विवाह से नैतिकता नष्ट होती हो उसका हिन्दू-धर्म कभी समर्थन नहीं कर सकता है। हमने प्राचीन ग्रन्थावलोकन से विवाह-प्रणाली के सम्बन्ध में जो कुछ उदाहरण प्राप्त किये हैं उनसे स्पष्ट है कि हिन्दू-समाज में मुसलमानी समय के पूर्व इस बाल-विवाह रूपी अनार्य प्रथा का नामो-निशान भी नहीं था।

हिन्दू-समाज में वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रचलित है। यह वैदिक काल की प्रथा है। आश्रम-व्यवस्था चार भागों में विभक्त है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त। ब्रह्मचर्य अवस्था का प्रमाण वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों में पच्चीस वर्ष का मिलता है। कहीं-कहीं इससे भी ज्यादा अवस्था का प्रमाण प्राप्त होता है। पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अर्थ ही स्त्री और पुरुष का विवाह-बन्धन में आबद्ध हो जाना है। अतः इससे निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिक काल में ब्रह्मचर्य-व्रत के बाद अर्थात् पच्चीस वर्ष की उम्र हो जाने पर विवाह किया जाता था। महाभारत काल में भी प्रौढ़ावस्था में विवाह करने के ही प्रमाण मिलते हैं। महाभारत-काल में स्वयंबर की प्रथा थी। स्वयंबर की अवस्था प्रौढ़ थी। द्रौपदी का स्वयंबर के समय प्रौढ़ होना जाहिर है। अर्जुन ने जिस समय सुभद्रा का हरण किया, उस समय सुभद्रा की अवस्था भी प्रौढ़ थी। महाभारत-काल में तो विवाह होने की पति पत्नी-समागम की विधि प्रचलित

थी। इससे स्पष्ट है कि महाभारत-काल में विवाह की अवस्था प्रौढ़ ही थी।

महाभारत-काल के पश्चात भी ईस्वी सन् ८०० तक प्रौढ़ावस्था में ही विवाह होने के प्रमाण मिलते हैं। हर्ष-चरित्र में बाण ने हर्ष की बहन के विवाह का वर्णन किया है। उसमें वर संध्या-समय बड़े सज-धज से वधू के घर आता है। दरबार में स्वागत होने पर मधुपर्क से उसकी पूजा होती है और विवाह-लग्न आते ही अग्नि के सन्मुख सप्तपदी की जाकर विवाह-कर्म सम्पन्न होता है। फिर भोजनादि होने के पश्चात् खास तौर पर सजाये हुए महल में पति-पत्नी का समागम होता है। सारांश यह है कि हर्ष की बहन राज्यश्री के विवाह तक जो प्रमाण मिलते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन हिन्दू-समाज में विवाह प्रौढ़ावस्था में ही होता था और बाल-विवाह का नामोनिशान भी न था।

जो लोग आजकल पण्डित काशीनाथ जी का श्लोक

"अष्ट वर्षा भवेद् गौरी नव वर्षाच रोहिणी।
दश वर्षा भवेत् कन्या तदूर्ध्वञ्च रजस्वला॥"

आदि देकर बाल-विवाह की पुष्टि करते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि काशीनाथजी मुसलमानी ज़माने में हुए हैं; और मुसलमानों का उस समय स्त्री-समाज पर अत्याचार बहुत था। अतः यवन राज्य की कठोरता को देखकर उस समय यह नियम बनाना आवश्यक हुआ होगा। लेकिन, आज की अवस्था में यह वाञ्छनीय नहीं है। बहुतसे लोग स्मृतियों का भी सहारा लेते हैं। उन्हें भी समझ लेना चाहिए कि स्मृतियां सिर्फ देश और समाज का उस समय का क़ानून मात्र समझी जाती हैं। समय के अनुकूल वातावरण देखकर ही उस समय ऋषियों ने अनेक स्मृति-ग्रन्थ रचे हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जैसा समय हो उसके अनुकूल ही स्मृति बनने की आवश्यकता है। महाभारत-काल में विवाह की अवस्था के लिए "हृद्यां षोडशवार्षिकम्" प्रमाण आता है, तो मनुजी के समय "त्रिंशद्वर्षो भवे? कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकम्" प्रमाण मिलता है; अतः स्मृतियों का सहरा अनावश्यक है।

वर्तमान समय में सामाजिक शृंखला छिन्न-भिन्न हो चुकी है। यवनों का सा अत्याचार भी स्त्री-समाज पर इस समय नहीं है। ऐसी परिस्थिति में सामाजिक शृंखला को सुसंगठित करने के लिए, और जो नैतिक पतन समाज में हो रहा है उसका पुनरुत्थान करने के लिए, बाल-विवाह जैसी अनार्य प्रथा का समाज से लुप्त हो जाना ही श्रेष्ठ है। कई सज्जन यह कहते हैं कि सामाजिक काम राज्याधीन करने में हानि होती है। वर्तमान में यह कई अंशों में ठीक भी है। लेकिन जब अन्य उपायों से इस प्रथा का प्रतिकार होता हुआ प्रतीत नहीं होता, तो मजबूरन राज्य-सत्ता का अवलम्बन भी करना पड़ता है। अनेक सामाजिक सभाओं और धार्मिक परिषदों ने उपाय किया, नियम बनाये, लेकिन सब व्यर्थ गये। अतः जो भी रास्ता मिले उसीपर चलना श्रेयस्कर है।

हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! इस अनार्य प्रथा को हिन्दू-समाज से लुप्त कर दे, और इस समाज को बल दे कि यह पुनः संगठित होकर देश की उन्नति करे।

मदनगोपाल कावरा

"मेरी समझ में, यह धर्म-सङ्कट नहीं है।......एक ही श्लोक के अनेक अर्थ हो सकते हैं, और वे एक दूसरे के विरोधी भी होते हैं।......फिर यह बात भी नहीं कि प्रत्येक श्लोक एक ही हाथ से लिखा गया हो। ...स्वेच्छाचार हर्गिज़ धर्म नहीं हो सकता।"

—महात्मा गाँधी

ब्रह्मदेश की स्त्रियां

किसी देश के रहन-सहन अथवा आचार-विचार से भली प्रकार परिचित होने के लिए यह आवश्यक है कि उन लोगों के बीच कुछ समय तक रहा जाय। पाँच वर्ष ब्रह्मा में रहकर जो अनुभव प्राप्त किया है, वही, मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

ब्रह्मी स्त्रियों को पुरुषों के समान पूर्ण स्वतंत्रता तो प्राप्त है ही, साथ ही वे पैत्रिक संपत्ति में भी बराबर की हिस्सेदार होती हैं। इस बात ने सोने पर सुहागे का काम किया है। एक कुमारी अथवा विधवा को माता-पिता या पति का साया सिर से उठ जाने पर ग़ैरों के टुकड़ों का मुहताज होने की ज़रूरत नहीं पड़ती, बल्कि वह फ़ौरन अपनी पैत्रिक संपत्ति से कोई छोटी-मोटी दूकान कर लेती है। सच तो यह है कि वहाँ पर अधिकतर विवाहिता स्त्रियाँ भी अपने पति की रोटियों की मुहताज नहीं होतीं। कारण यह है कि माता-पिता लड़कों की अपेक्षा लड़कियों से अधिक प्यार करते हैं और उनको ही अपने बुढ़ापे का सहारा समझा जाता है। इसीलिए लड़कियों की शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। उन्हें या तो थोड़ा-बहुत लिखा-पढ़ाकर व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी दूकान पर बैठा दिया जाता है, अथवा किसी सिगार-फ़ैक्टरी में काम सिखाने के लिए छोड़ दिया जाता है। ब्रह्मी स्त्रियाँ साग-तरकारी बेचने के काम से लेकर जौहरी तक के काम को पूरी योग्यता से करती हैं। आप किसी भी शहर के म्यूनिसिपल बाज़ार में जाकर देखें, ९० फ़ी सदी दूकानदार स्त्रियाँ ही नज़र आयेंगी। ब्रह्मी स्त्रियों में से शायद एक भी स्त्री ऐसी न निकलेगी, जो ब्रह्मी भाषा लिख-पढ़ न सकती हो।

ब्रह्मी स्त्रियाँ अकसर शौक़ीन और सफ़ाई-पसन्द होती हैं। मैंने तैल के कुँओं पर कुली का काम करने वाली स्त्रियों को देखा है। वे भी काम पर जाते समय साफ़ कपड़े पहन कर जाती हैं और एक मैलख़ोर पोशाक तौलिये में लपेट कर अपने साथ ले जाती हैं। काम शुरू करने से पहले साफ़ कपड़े उतार कर रख देती हैं और मैले कपड़े पहन कर दिन भर काम करती हैं। शाम को, काम समाप्त होने पर, वहीं स्नानादि करके, साफ़ कपड़े पहन कर हँसती-खेलती घर को वापस आ जाती हैं।

उच्च शिक्षा उनमें अभी नहीं के बराबर है। जो अँग्रेजी ढँग की शिक्षा प्राप्त कर भी लेती हैं वे फिर दूकानदारी और हाथ का काम करना पसन्द नहीं करतीं; बल्कि अधिकतर नौकरी की तरफ़ झुक जाती हैं।

जहाँ स्वतंत्रता ने उन्हें पुरुषों से भी अधिक उद्योगी, साहसी और मिहनती बनाया है वहाँ उसके अनुचित इस्तेमाल ने उनको फ़ज़ूल-ख़र्च, विलासिता-प्रिय, व्यभिचारी और बेवफ़ा भी बना दिया है। विवाह-संबंध उनके यहाँ कोई धार्मिक वस्तु नहीं है; वह जितनी आसानी से हो सकता है, उतनी ही आसानी से तोड़ा जा सकता है। लड़कियाँ अपना वर खुद तलाश करती हैं। यदि माता-पिता स्वीकृति दें तो ठीक, न दें तो न सही; परन्तु वे विवाह करती उसी से हैं, जिससे उनका दिल चाहे। विवाह हो चुकने के बाद यह ज़रूरी नहीं कि वे अपने पति के घर चली जायँ; बल्कि जिन स्त्रियों के पास कुछ संपत्ति हो और पतिदेव कुछ ग़रीब हों, तो अक्सर पति को ही पत्नी के घर बसना पड़ता है। ऐसी दशा में पति की ख़ैर इसीमें होती है कि वह एक 'राजा बेटे' (Good boy) की तरह पत्नी के हरएक हुक्म को स्वीकार करता रहे। इस प्रकार की एक सच्ची घटना सुनिए। एक युवती दूकानदारिन ने एक युवक से विवाह किया, जिसकी माता की भी कुछ दूकानें थीं और

उनका किराया आता था। स्त्री को पति के घर पर रहना स्वीकार न था, और युवक की माता यह चाहती न थी कि उसका पुत्र घर छोड़कर अपनी स्त्री के यहाँ बसे। तब स्त्री ने यह ढंग निकाला कि दिन भर तो वह दूकान करती और शाम को घर लौटते समय पति के घर के सामने होकर निकलती। पति पहले से ही उसके इन्तज़ार में बैठे रहते। फिर पति को साथ लेकर वह घर आती, भोजन बनाती, स्वयं खाती, पति को खिलाती, और रात भर आराम करती। भोर होते ही पति अपने घर लौट आते और पत्नी अपनी दूकान पर चली जाती। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी हालतों में पति अकसर अपनी स्त्रियों की ही कमाई खाते हैं और स्वयं काम-धन्धा बहुत कम करते हैं।

ब्रह्मी स्त्रियों में पति-भक्ति नहीं के ही बराबर होती है। ज़रा सा मत-भेद होने पर भी स्त्री पति को छोड़ने पर कटिबद्ध हो जाती है! जिस प्रकार विवाह की कोई ख़ास रस्म नहीं है, उसी तरह, तलाक के लिए भी कोई ख़ास रस्म नहीं। हाँ, स्त्रियाँ खर्चे का दावा (यदि वे स्वयं दोषी न हों) अदालत में कर सकती हैं। मगर वे ऐसा करतीं नहीं; क्योंकि वे एक पुरुष को छोड़कर दूसरा पुरुष कर लेती हैं, और इसलिए अदालत में जाने की नौबत ही नहीं आती। ऐसी स्त्रियों की संख्या कुछ कम नहीं, जो अपने जीवन-काल में दो या तीन बार पति-परिवर्तन न कर लेती हों। यों तो पुरुष किसी भी प्रदेश का हो, वे उससे विवाह-संबंध कर लेती हैं, परन्तु गोरी जाति के पुरुषों से विवाह करने में वे अपना बड़ा गौरव समझती हैं। विलासिता की तो वे ऐसी दासी हो गई हैं कि धन की कमी होने पर, कपड़े-गहने गिरवी रख देना तो एक ओर, कभी-कभी अपने सतीत्व को भेंट चढ़ाने में भी वे संकोच नहीं करतीं।

ब्रह्मी स्त्रियों की इस शोचनीय दशा के दो मुख्य कारण मालूम होते हैं। एक तो ब्रह्मी फुंगी (बौद्ध धर्माचार्य) हैं, जो स्वयं काफ़ी विलासी हैं और ब्रह्मी स्त्री-पुरुषों के विलासी और अन्ध-विश्वासी बने रहने में ही अपनी चाँदी समझते हैं; दूसरा कारण है वहाँ का बढ़ता हुआ अश्लील साहित्य और गंदी सिनेमा-फ़िल्में। ये सब अवगुण जो मैंने लिखे हैं विशेष करके उन्हीं स्त्रियों में पाये जाते हैं, जो शहर या कस्बों की रहने वाली हैं और जहाँ वर्तमान सभ्यता के चरण-कमल पहुँच चुके हैं। रेल और जहाज़ की पहुँच से इन छोटे छोटे ग्रामों में रहने वाली ब्रह्मी स्त्रियाँ इन अवगुणों से मुक्त हैं। विलासिता तो वे बेचारी जानती नहीं किस चिड़िया का नाम है; हाथ का कता हुआ मोटा खद्दर पहनती हैं, और रूखा-सूखा भोजन करके दिन भर खेत में काम करती हैं। पति-भक्ति की भी उनमें कमी नहीं। परन्तु शोक! इनकी संख्या प्रति दिन घटती ही जाती है। शहरों की आबादी बढ़ती जाती है और गाँव उजड़ते जा रहे हैं। देश के नेता कौन्सिलों के चक्कर में पड़े हैं। सच्चे देश-हितैषी उत्तमा का प्रभाव क़रीब-क़रीब नष्ट हो चुका है। असहयोग के समय जो आशा की झलक दिखाई दी थी, वह लुप्त सी हो चुकी है। उच्च-शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ सरकारी नौकरियों के गोरख-धंधे में फँसती सी नज़र आ रही हैं। नौकरशाही का जादू जैसा ब्रह्मा में चला है, शायद वैसा कहीं भी नहीं चला। भारतीय बहनो! स्वतंत्रता के लिए युद्ध करो और ख़ूब ज़ोरों से करो। परन्तु, देखना, कहीं नाशक पश्चिमी सभ्यता के चंगुल में न फँस जाना। पुरुषों के अत्याचार से तो छुटकारा हो सकता है, परन्तु इससे नहीं। यदि इसके जादू-भरे असर से बचना चाहती हो, तो खद्दर के ताबीज़ को धारण करो।

—— [illegible]

स्फुट प्रसंग

स्त्रियों का युग

मिस मेयो के देश की एक महिला करीब एक वर्ष से भारत का निरीक्षण और अध्ययन कर रही हैं। भारत की वर्तमान अवस्था का चित्र चित्रित करते हुए उन्होंने अपनी बातचीत के सिलसिले में जो कहा, उसका सार इस प्रकार है—

"दिल्ली की महिला-परिषद् के दृश्य को देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। हम सुनते हैं कि भारत में एकता के साथ कोई काम नहीं हो सकता। पर उस परिषद् को देख कर तो मुझे वर्णनातीत आनन्द हुआ। मालूम होता है भारत में स्त्री-सुधार का आन्दोलन बहुत जड़ पकड़ गया है। देश में भ्रमण करते हुए भी मुझे इस बात का काफ़ी प्रमाण मिल चुका है। मैं देखती हूँ कि अब भारत के बहुतसे लोग इस बात को अनुभव करने लग गये हैं कि देश का उद्धार स्त्रियों के सुधार के बिना नहीं हो सकता। क्या शास्त्रों में वर्णित सत्-युग के आगमन के ये स्पष्ट चिन्ह नहीं हैं। और यह परिषद् केवल दो दिन का उत्सव होकर ही नहीं रहेगी, ऐसा मुझे विश्वास है। परिषद् में ही शिक्षा के कोष के लिए तीस हज़ार रुपये का एकत्र हो जाना ऐसी-वैसी बात नहीं है। बाल-विवाह को रोकने के लिए महारानी मण्डी का एक प्रस्ताव था। इसी सम्बन्ध में वाइसराय से मिलने के लिए एक प्रतिनिधि मण्डल भी गया है। वह असेम्बली के सभ्यों से भी मिला और उसने अपने इस कार्य में उनकी सहानुभूति भी प्राप्त की है। अब इस सम्बन्ध में जो समिति नियुक्त हुई है उससे महारानी मण्डी काम ले रही हैं। और वह एक देशव्यापी आन्दोलन करने की तैयारी कर रही हैं। परिषद् में दिये गये सुन्दर भाषणों को सुन कर तो मैं चकित हो गई। भारतीय महिलाओं का चरित्र, बुद्धि, उद्योगशीलता और उच्चनीतिशीलता से मैं बड़ी प्रभावान्वित हुई हूँ। अब सबसे भारी ज़रूरत है स्त्री शिक्षा के प्रचार की। इसके लिए एक देशव्यापी संगठन होना आवश्यक है। यह भारत की एक महत्त्वपूर्ण समस्या को हल कर देगा। मैं समझती हूँ, इस सम्बन्ध के अनेकों प्रश्नों से इस देश की महिलायें नावाक़िफ़ नहीं हैं।

"कई वर्षों तक विशाल जनता को ध्यान में रख कर उच्च शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने की ज़रूरत नहीं है। अभी हाल सबसे भारी ज़रूरत तो प्राथमिक शिक्षा की है। और इस काम के लिए अध्यापिकायें तैयार करने के लिए एक बहुत भारी ट्रेनिंग स्कूल (अध्यापन-मन्दिर) चाहिए। मेरा ख़याल है इस आवश्यकता को देश की विदुषी महिलायें अनुभव भी करती हैं और उसे पूर्ण करने के उद्योग में लग जावेंगी। इस नवीन शिक्षा कोष का इससे बढ़ कर उपयोग और क्या हो सकता है? मैं आशा करती हूँ कि इस आन्दोलन में भाग लेने वाले और उसका संचालन करनेवाले व्यक्ति पश्चिम की स्त्री-शिक्षा की संस्थाओं और उनके कार्य का भी अध्ययन करेंगे। उनको बड़ी सावधानी के साथ यह काम करना चाहिए। इस काम में पश्चिम ने जो ग़लतियां की हैं उनसे लाभ उठा कर उनकी प्रगति को अवश्य अपना लेना चाहिए। आँखें मूँद कर पश्चिम का अनुकरण करते चले जाना बहुत बुरा है। और उतना ही बुरा है पश्चिम की बातों का अंधा विरोध भी। भारतवर्ष के विषय में यह एक बड़ी बुरी बात मैं देखती हूँ कि यहाँ के निवासी पश्चिमी जातियों के दुर्गुण तो ले लेते हैं, पर उन गुणों को ग्रहण नहीं करते, जो उन दुर्गुणों के होते हुए भी उन्हें जीवित रहने में सहायता करते हैं।"

अन्त में मिस मेयो की पुस्तक की निन्दा करते हुए श्रीमती पिम ने विश्वास दिलाया है कि "मिस मेयो उन लोगों में से है, जिसके लेखों को उच्चशिक्षित अमेरिकन बहुत कम पढ़ते हैं। मुझे आश्चर्य है कि इस देश के निवासियों ने उसपर इतना ध्यान ही कैसे दिया! वह तो एक ऐसी चीज़ थी, जिसे एक हँसी में उड़ा दिया जा सकता था।" श्रीमती पिम भी एक पुस्तक लिख रही हैं। लेकिन वह उनके निजी अनुभवों के रूप में प्रकट होगी। "मैं अपने भारतीय मित्रों की बहुत ऋणी हूँ, मैं अब तक किसी ऐसे देश में नहीं गई, जिन्होंने एक विदेशी को इतनी आत्मीयता के साथ अपना लिया हो। मैं तो भारत को अपना स्वदेश बनाने की इच्छा रखती हूँ। क्योंकि मैं जानती हूँ कि मुझे यहां बड़ा सुख

मिल सकता है। मिस मेयो की पुस्तक मुझे दुःख दे रही है; उसका एक यह भी कारण है कि मैं जानती हूँ कि उसे भी इस देश में ऐसा ही सुख मिला था। और किसी देश का नमक खा करके बाहर फिर उसके निवासियों के बारे में झूठी-झूठी ऊट-पटांग बातें फैलाना तो अमेरिकन स्वभाव के विपरीत है।

किरीट

स्त्रियों का शासन ?

"यह एक ऐसा युग है, जिसमें एकाएक स्त्रियों की महत्ता बढ़ रही है। वर्तमान युग में स्त्रियों का उत्थान और आन्दोलन आरम्भ हो गया है। समग्र संसार और जीवन के समस्त कार्यों में स्त्रियों की हलचल दिखाई पड़ती है। 'समानता' प्राप्त करने के लिए वे यह सब कर रही हैं, यह कहना ठीक नहीं, वस्तुतः तो वे प्रभुता प्राप्त करने के लिए उद्योगशील हैं।" यह लिखते हुए जर्मनी का एक प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक काउण्ट हरमेन ए० केसरलिङ्ग लिखता है— "अमेरिका के लिए यह बात बिलकुल सच है। वहाँ पर स्त्रियाँ आरम्भ से ही बड़े-बड़े कार्य करती आई हैं। वहाँ कहने को तो पुरुष शासन करते हैं; पर, उनके पीछे, वास्तविक शासन स्त्रियों के ही हाथ में है। स्त्रियाँ नियम बनाती हैं। वे नियम और बन्धन बहुत लगाती हैं। उन्होंने विवाह को सहयोग-संबंध समझ लिया है, जिसका कोई अर्थ ही नहीं है। स्त्रियों ने यह एक नई ही बात निकाली है। स्वतंत्रता की अपेक्षा वे अधिक रीति-रिवाज़ों के विवाह जारी कर रही हैं। इसका परिणाम यह होगा कि लोग जल्दी और प्रायः विवाह करेंगे। यदि पुरुषों ने नियम बनाये होते, तो वे सहयोग-संबंध के विवाह न करते। वे कहते—'पहले हम संसार का उपयोग कर लें, फिर विवाह करेंगे'।"

इसपर, 'श्रीकृष्ण-सन्देश' के अनुसार, न्यूयार्क (अमेरिका का 'ईवनिङ्ग पोस्ट' लिखता है—"हमारी इस प्रवृत्ति या रुचि का कारण यह है कि हमारा सामाजिक संघटन बिलकुल मातृत्व की मर्यादा पर स्थापित है। स्त्रियाँ हमपर शासन करती हैं। और, यह उनकी स्वाभाविक इच्छा है कि प्रत्येक कार्य नियम या क़ानून के द्वारा हो।" एक दूसरा अमेरिकन पत्र लिखता है—"हम अमेरिकन लोग समस्त जातियों से अधिक धनाढ्य और प्रसन्न हैं। इसका कारण ? हमें आश्चर्य था कि अन्य जातियों से हममें क्या भिन्नता है। पर अब जर्मन काउण्ट ने उसे समझ लिया है—हम, अमेरिकन, संसार के आश्चर्य हैं; क्योंकि यहाँ स्त्रियाँ शासन करती हैं। ठीक ! उन्हें शासन करने दो। वे शासन करेंगी ही—हम चाहे उन्हें करने दें या न करने दें।" और जर्टरूड एथर्टन नामक एक उन्नतिशील अमेरिकन महिला लिखती हैं—"पुरुषों ने बहुत समय तक मनमानी कर ली, अब स्त्रियों की बारी है। आज कितने ही उन्नतिशील सभ्य राज्यों में स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार पुरुषों के समान हैं, और अधिक संख्या में स्त्रियाँ राजनैतिक क्षेत्र में पुरुषों के समान कार्य करती हैं। इस प्रकार एक बार फिर संसार नर-नारी की समानता की ओर झुक रहा है। क्या स्त्रियाँ फिर शासन करेंगी ?"

यही ध्वनि हमें एक बार पहले भी सुनाई दी थी, जब कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए महामना एण्डरूज़ ने बताया था कि संसार का भावी शासन स्त्रियाँ करेंगी। यह बात एकदम अस्वाभाविक भी नहीं कही जा सकती। क्योंकि प्रतिक्रिया स्वाभाविक नियम है; और इस मामले में भी यदि वह लागू हो जाय तो क्या ताज्जुब ? फिर प्रेम के द्वारा तो स्त्रियाँ सदा से ही पुरुषों पर अपना प्रभुत्व रखती रही हैं। आज भी—स्त्रियों पर पुरुषों की प्रभुता के इस ज़माने में भी—और तो और हमारे भारत में ही ऐसे अनेक पुरुष मिलेंगे जो स्त्रियों पर दबंग रहते हुए भी, नारी प्रेम के वश, अनेक बातों में उनसे दबते रहते हैं। लेकिन, यह भी हमें जान लेना आवश्यक है कि प्रेम का शासन एक बात है और अधिकारों का शासन बिलकुल दूसरी बात है। प्रेम के शासन में शासित स्वयं आत्मार्पण करता है—उसपर न किसी दबाव की ज़रूरत होती है, न वह उसे असह्य ही होता है। इसके विपरीत अधिकारों के शासन में शासित अनिच्छापूर्वक बाध्य होता है—उसमें असंतोष सदा बना रहता है, और ज़बर्दस्ती 'भक्त' (Loyal) बनाये रखने के लिए उसपर किसी प्रकार का दबाव आवश्यक होता है। पहली स्थिति सुख-शान्ति-कारक है और दूसरी सुख-शान्ति-नाशक। पहली से समाज में सुव्यवस्था

बढ़ती है और दूसरी से अव्यवस्था उत्पन्न होती है। इसलिए जैसे पुरुषों का शासन पूर्ण स्वाभाविक स्थिति नहीं उसी प्रकार स्त्रियों का शासन भी, यदि किसी समय वह हो, पूर्ण स्वाभाविक स्थिति न होगा। शासन पूर्ण और स्वाभाविक और इसलिए शान्तिकारक भी वही होगा कि जो पुरुष-स्त्री दोनों के सम्मिलित सहयोग पर निर्भर हो—सहयोग भी कैसा? ज़बर्दस्ती या बाध्यता पर नहीं, किन्तु, पारस्परिक प्रेम और सद्भाव पर स्वेच्छया प्रस्थापित सहयोग। तभी और एकमात्र तभी मानव-समाज सुख-शांति की सुखदायी गोद में क्रीड़ा कर सकेगा—फिर शासन-शीर्ष पर चाहे कोई पुरुष हो या स्त्री। नहीं कह सकते कि ऐसी स्थिति कभी आयगी भी या नहीं, पर यह एक आदर्श और सुख-स्वप्न तो है ही। क्या मानव-समाज इस दिशा में प्रयत्न करेगा?

स्वाधीनता कैसी?

हिन्दुओं के सामाजिक सुधार का विवेचन करते हुए, स्त्रियों की स्वाधीनता के बारे में, 'वेदान्त-केसरी' में स्वामी ईश्वरानन्द लिखते हैं:—

"कट्टर लोग तो इसके विचार से ही बड़े डरते हैं, जब कि सुधारक हर हालत में इसके लिए तुले हुए हैं। कट्टर लोगों को भय है कि उनके लड़के-लड़की इससे कहीं अपने—सदाचार और पवित्रता से न गिर जायँ। यही विचार उनके दिमाग़ों में भरा हुआ है। परन्तु हमारी स्त्रियां पश्चिमवालों की स्वाधीनता को उस सदाचार एवं पवित्रता में क्यों नहीं मिला लेतीं, जिसके लिए कि हिन्दू स्त्रियां जीतीं और मरती रही हैं? सीता क्या महीनों और सालों तक राक्षसों के बीच नहीं रहीं? प्राचीन काल की ब्रह्मवादिनियां अपने समय के बड़े-बड़े दुराचारियों को चुनौती देती हुई निर्भयता के साथ इधर-उधर नहीं घूमी फिरीं? इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियों की स्वाधीनता हिन्दू-समाज के लिए कोई नया विचार नहीं है। लेकिन सुधारक-दल इस बात को भूलता है कि स्वतंत्रता के साथ-साथ प्राचीन काल में ब्रह्मचर्य से उद्भूत ज़बर्दस्त इच्छा-शक्ति और शुद्धता एवं आत्म-संयम की ज्वाला भी रहती थी। जहाँ पर यह बात न हो वहाँ स्त्री-पुरुषों का स्वतंत्रता-पूर्वक मिलना-जुलना निश्चय ही ख़तरनाक है, जैसा कि शनैःशनैः पश्चिमी राष्ट्र स्वयं ही समझ रहे हैं। और जब कि यह आवश्यक बात पूरी हो जाय तब आप देखेंगे कि कोई कट्टर मत वाला स्त्रियों की स्वाधीनता का विरोध नहीं करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ जाति के आदर्श सुरक्षित हों, दूसरी सब बातों को हम यथासम्भव होने दे सकते हैं। इसलिए सुधारकों का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि प्राचीन काल की नाईं स्त्रियों को जाति के आदर्शों की शिक्षा दें, और फिर उन्हें अपने आप अपनी समस्याओं को हल करने दें।"

हमारी दशा

हमारी दशा आज भी क़रीब-क़रीब वैसी ही है, जैसी कि पहले थी। महिलाओं ने उसके निवारणार्थ आन्दोलन शुरू किया है सही; पर उससे सफलता कहाँ तक मिलेगी, यह अभी कुछ संदिग्ध ही है। इस दिशा में हमारी सबसे ज़बर्दस्त आशा महिलाओं की अपनी परिषद् से है, जो कि अभी गत मास दिल्ली में हो चुकी है। जहाँ तक हमें पता है, उससे अधिक प्रातिनिधिक और कोई संगठन हमारे देश की स्त्रियों का अभी तक नहीं है। और पिछले दिनों देश भर में—भिन्न-भिन्न सभी भागों में—उसकी ख़ासी धूम भी रही है। मगर हमें दुःख होता है, जब हम देखते हैं कि उसकी कार्य-प्रणाली कुछ बहुत सन्तोषजनक नहीं बताई जाती। जहाँ परिषद् हुई वहीं का सहयोगी 'महारथी' उसपर किसी दूसरे ही रूप में विचार करता है। उसके लेखानुसार परिषद् मानों एक तरह की अच्छी-ख़ासी औरतों की नुमायश थी! परिषद में सर्व-साधारण के बजाय अमीर-उमरा औरतों का जमाव था। खद्दर और सादगी के बजाय विदेशी साज-सामान और तड़क-भड़क का प्राबल्य था। लेडी इरविन के स्वागतार्थ क़तार के रूप में चुन-चुनकर गोरी और शानदार औरतें ही खड़ी की गईं। जिस परिषद् में देश की ग़रीबी पर भी विचार हो रहा था उसमें कोई महिला दो-तीन सौ मूल्य से कम के वस्त्राडम्बरों से युक्त न थी! यही नहीं, काम सब अंग्रेज़ी में होता था और देश के नेताओं के बजाय देश के बहिष्कृत सर साइमन और सरकारी अफ़सरों की ही आव भगत पर विशेष ध्यान दिया गया। हम नहीं कह सकते,

ये सब बातें बिलकुल ठीक हैं या नहीं; लेकिन यह निश्चित है कि महिलाओं का रुख़ जनता के बजाय सरकार की ही ओर अधिक है। हमारी नम्र-सम्मति में सुधार का यह उपाय नहीं—ख़ास कर जब कि हमारी सरकार हमारी अपनी नहीं, बल्कि एक विदेशी और हमसे विमुख हितों वाली सरकार है। अपने सुधार के लिए तो हमें अपने भाई-बहनों पर ही अवलम्ब रखना होगा—फिर वह पुरुषों-संबंधी सुधार हो या स्त्रियों-संबंधी, अथवा दोनों के हित का हो। हमारा आग्रह है कि सुधार के लिए उतावली हमारी बहनें हमारी इस नम्र-प्रार्थना पर ध्यान दें और बिलकुल अपने पर निर्भर होकर अपने ही ढंग पर इसके लिए प्रयत्न करें।

बाल-विवाह-निषेध बिल

हिन्दुओं में बाल-विवाह रोकने के लिए अजमेर के राय-साहब हरविलास सारडा ने बड़ी धारा-सभा में जो बाल-विवाह-निषेध बिल पेश किया था, उसपर विचार करने के लिए नियुक्त सिलेक्ट कमिटी ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी है। बिल में बहुत कुछ फेर-बदल होकर सिर्फ़ हिन्दुओं के बजाय अब वह भारत की सब जातियों के लिए हो गया है। विवाह-वय बढ़ाकर लड़के-लड़कियों के लिए १८ और १४ वर्ष कर दी गई है। क़ानून भंग करने वाले के लिए एक मास की सादी क़ैद या एक हज़ार रुपये जुर्माना अथवा दोनों सज़ायें साथ-साथ रक्खी गई हैं। इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि ज़रा ज़रा सी बात के लिए मुक़द्दमा न चलाया जाय। यही नहीं, एक ख़ास बात यह भी हुई है कि जो विवाह इस क़ानून के ख़िलाफ़ होंगे उन्हें रद्द करने के बजाय उनके कराने वालों को ही सज़ा दी जायगी। विवाह-वय की वृद्धि में भी सिवा मालवीयजी के और किसी सदस्य ने कोई आपत्ति न की। परंतु अभी भी बिल पास होने में विलंब ही है। नये रूप के कारण वह फिर से प्रकाशित होगा और ३ मास बाद शिमला के अधिवेशन में उस पर विचार होगा। जो हो, 'देर आयद दुरुस्त आयद' का ही मसला यदि सिद्ध हो, तो मानना होगा कि 'जो कुछ होता है अच्छा ही होता है।' हम शिमलाधिवेशन की प्रतीक्षा में हैं।

माता की शिक्षा राष्ट्र की शिक्षा

१८ मार्च के सबेरे नागपुर में सेवा-सदन (पूना) की नागपुर-शाखा का प्रथम वार्षिकोत्सव मनाया गया। इस अवसर पर उसके सभापति-पद से रायबहादुर डा० लक्ष्मीनारायण ने सुन्दर भाषण दिया। उन्होंने बताया कि माता की शिक्षा ही राष्ट्र की शिक्षा है। "अगर हम माताओं को शिक्षित कर दें तो हम राष्ट्र को शिक्षित कर देंगे"—यही उनके भाषण का निचोड़ है। इसकी सत्यता में संदेह ही क्या हो सकता है? राष्ट्र-निर्माताओं की जननी भी तो मातायें ही होती हैं। और मातायें क्या—स्त्रियाँ ही माता होती हैं! जिस दिन वे समुचित शिक्षा प्राप्त कर लेंगी वह दिन अवश्य ही हमारे देश के लिए उद्धार की दिशा में पदार्पण का दिन होगा।

सौ० सुभद्रादेवी का स्वर्गवास

सौ० सुभद्रादेवीजी जात-पांत-तोड़क मण्डल के श्री परमानन्दजी की धर्मपत्नी थीं। आप एक योग्य, उत्साही, धैर्यशील और धर्म-परायण सुशिक्षिता महिला थीं। आपके विचारों की झलक अन्यत्र प्रकाशित 'उन्नति कैसे हो?' शीर्षक आपके लेख से मिलेगी, जो अपने स्वर्गवास से लगभग एक मास पूर्व आपने 'त्यागभूमि' के लिए लिखा था। व्याख्याता भी आप अच्छी थीं। आपकी उम्र इस समय २५-३० के बीच थी और प्रसव-पीड़ा से आपका स्वर्गवास हुआ है। आपकी इस असमय मृत्यु से श्री परमानन्दजी को तो दुःख हुआ ही, किन्तु परिचितों को भी कम शोक नहीं। श्री परमानन्दजी और उनके दोनों बालकों के प्रति हम अपनी सम-वेदना प्रकट करते हैं। परमेश्वर उन्हें शान्ति और मृतात्मा को सद्गति दें।

मुकुट

कर्म-भूमि

अब उठो, चलो, बढ़ चलो वीर !
है यही तुम्हारी कर्म-भूमि ।

इस पर भगवान अवधपति ने,
निशिचर-कुल का संहार किया ।
इसपर करुणानिधि केशव ने,
श्रीगीता-ज्ञान प्रसार किया ॥
इसपर ऋषि गौतम बुद्ध हुए,
प्रभु शंकर की यह पुण्यभूमि ।
अब उठो, चलो, बढ़ चलो वीर !
है यही तुम्हारी कर्म-भूमि ॥

इसपर रणवीर शिवाजी से,
सारे अरिगण श्री-हीन हुए ।
वन-वासी हो राना प्रतापसिंह,
धन्य अमर स्वाधीन हुए ॥
जिनके गौरव की स्वर्ण-शिखा,
अब तक भारत-नभ रहा चूमि ।
अब उठो, चलो, बढ़ चलो वीर !
है यही तुम्हारी कर्म-भूमि ॥

इसके सुत मालवीय से हैं,
भगवन् ! उनका सन्मान रहे ।
अनुपम त्यागी श्री गांधीजी का,
नित्य हमें अभिमान रहे ॥
आदर्शों से परिपूर्ण सुधी,
अगणित वीरों की त्यागभूमि ।
अब उठो, चलो, बढ़ चलो वीर !
है यही तुम्हारी कर्म-भूमि ॥

नीरजदेवी शुक्ल 'लल्ली'

पुरुषार्थी बनो

प्रत्येक देश का भविष्य उसके नवयुवकों पर निर्भर रहता है। यदि नवयुवक बुद्धिमान, उद्यमी, स्वाभिमानी, तेजस्वी, वीर और चरित्रवान होंगे, तो आप निःसंकोच कह देंगे कि उस देश का भविष्य उज्ज्वल है। परन्तु यदि यही आलसी, मन्दबुद्धि, उत्साहहीन गुलाम, कायर और शिथिल-चरित्र होंगे, तो आप आँखें मूंदकर कह देंगे कि ऐसे युवकों के हाथों उनका या उनके देश का भला नहीं हो सकता है।

और मनुष्य के इन उपर्युक्त गुणों की परीक्षा कब होती है? पद-पद पर। यदि कोई बिना किसी प्रयोजन के ही अँग्रेजी भाषा का व्यवहार अपने दैनिक व्यवहार में करता है, तो हमें कहना होगा कि उसे अपनी मातृभाषा का अभिमान नहीं। यदि कोई दूसरे के परिश्रम पर गुलछर्रे उड़ाना चाहता है तो यह कहने के लिए किसी ज्योतिषाचार्य की जरूरत नहीं कि वह काहिल है। स्वाभिमानी और तेजस्वी पुरुषों को कभी किसी बात में पराधीनता बर्दाश्त नहीं हो सकती। ऐसे प्रसंगों पर वे आग की तरह चमक उठेंगे और अपने तथा अपने आस पास के लोगों में बिजली भर देंगे। चरित्रवान और वीर पुरुषों की परीक्षा आपत्काल और प्रलोभनों के सामने होती है। संकट के समय वीर पुरुष अपने मित्र और प्रियजनों या पूजास्थानों को अरक्षित छोड़कर कभी नहीं भागते देखे जाते। ऐसे मौक़े पर पर्वत की तरह अचल रह कर वे संकट का सामना करते हैं और या तो उसपर विजय प्राप्त करते हैं या खुद वहीं मर मिटते हैं।

पुरुषार्थी मनुष्य के मुँह से कभी ये शब्द नहीं निकलते—"क्या करें, अभी ऐसी परिस्थिति नहीं है. जब परिस्थिति अनुकूल होगी, तब यह किया जा सकेगा।" वह तो कहेगा—"परिस्थिति मेरे हाथ की चीज है, वह मेरी दासी है। मैं जैसी आज्ञा करूँगा वैसा रूप उसे धारण करना ही पड़ेगा।" और आप निश्चय समझ लें कि वह परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेगा। पर यह समझना ग़लत है कि ऐसी इच्छा करने भर से परिस्थिति बिजली की तरह अनुकूल हो जाती है। यदि ऐसा होता, तब तो संसार में सफल और वीर पुरुष अगणित होजाते। पुरुषार्थ ऐसी इच्छा कर लेने में नहीं है। पुरुषार्थ है उस ध्येय-निष्ठा का नाम, जो एक बार अपने ध्येय को निश्चित कर लेने पर हजारों कठिनाइयों, रुकावटों और निराशा के गड्ढों में से अपनी आशा को प्रज्वलित रखते हुए रास्ता निकालती चली जाती है। पुरुषार्थ है उस दुर्दमनीय संकल्पशक्ति का नाम, जो प्रतिकूलताओं को अनुकूलताओं में परिणत कर देती है।

पुरुषार्थी मनुष्य पुरानी लकीर को नहीं पीटते रहते। वे अपनी आँखें खोलकर चलते हैं। और प्राचीनता एवं नवीनता का भी आवश्यक उपयोग करते चले जाते हैं।

विचारों को सुलझा लेना पुरुषार्थी पुरुष का प्रधान लक्षण है, और विचार सुलझ जाने पर उनके अनुसार आचरण करना उनका अटल स्वभाव।

पुरुषार्थी मनुष्य पुराने पण्डितों की तरह बौद्धिक विजय पाने या समय गँवाने के लिए वाद-विवाद नहीं करते। उनका उद्देश्य होता है सत्यान्वेषण—सत्यान्वेषण सत्य-पालन के लिए।

मुसीबतों और कठिनाइयों का रोना रोने में पुरुषार्थ नहीं, उनको दूर करने में सच्चा पुरुषार्थ है।

आज भारतवर्ष को स्वतंत्र बनाने के लिए अनेकों प्रकार के कामों की जरूरत है। प्रत्येक मनुष्य को

चाहिए कि वह अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार किसी काम को उठा ले और उसे करने लग जाय।

इंग्लैण्ड, जर्मनी और अमेरिका आदि देश जो इतने आगे बढ़ गये हैं, सो अपने पुरुषार्थी निवासियों के कार्य के कारण। यदि उनके निवासी भी दूसरे बड़े-चढ़े लोगों की ओर अंगुली दिखाकर अपने भाइयों को कोसते रहते, तो वे कदापि इतने आगे नहीं बढ़ सकते थे।

भारत के नवयुवक अपनी मातृभाषा के दोष दिखाकर, खादी को बुरी बता कर, देशी कारखानों में बनी चीजों को भद्दी कह कर और अपने गरीब देश-भाइयों को गुलाम और गरीब कह कर न अपना भला कर सकते हैं, न देश का; और न ऐसा कहने वाले संसार में भले ही कहला सकते हैं। अगर वे मनुष्य हैं, देश के लिए उनके हृदय में सच्चा प्रेम है, तो उन्हें चाहिए कि वे इन त्रुटियों को फ़ौरन दूर करने में लग जावें और संसार को दिखा दें कि भारत और उसके निवासी किसी देश से पीछे नहीं रह सकते।

किसी की ग़लती या त्रुटि को देखकर उसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने में नहीं, उसे चुपचाप दुरुस्त करके आगे बढ़ने में सच्चा पुरुषार्थ है। भारत के नवयुवकों में इस पुरुषार्थ की सबसे बड़ी जरूरत है। जब वे इस एक बात को सीख लेंगे, तो बहुत सी व्यर्थ की बड़बड़ाहट कम हो जायगी और हमारा काम तेजी से होने लग जायगा। परन्तु पुरुषार्थी मनुष्य को एक खतरे से बचना चाहिए।

पुरुषार्थ जब व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के लिए किया जाता है तब उसे कहते हैं स्वार्थ-साधन की चेष्टा। उसमें मनुष्य के पतन की बड़ी भारी संभावना होती है। तब उसके कार्यों में न स्फूर्ति होती है, न शक्ति। लोग उसकी मदद भी कम करते हैं। परन्तु जब वह किसी सार्वजनिक हित के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग करता है तब वह अपने हृदय को अनन्त शक्ति का खजाना बना लेता है। कठिनाइयों का सामना करते हुए उसकी अन्तरात्मा कुम्हलाती नहीं, वह दूने ज़ोरों से खिल उठती है और मनुष्य खुली छाती से कष्ट का सामना करता है। बल्कि इस समय जनता की सहानुभूति को भी वह अपनी तरफ़ खींच लेता है। इसलिए तुलसीदासजी ने कहा है, जिसे पर-हित की चिन्ता है उसके लिए संसार में कोई बात दुर्लभ नहीं है।

कई बार पुरुषार्थ के मानी समझने में ग़लती भी होती है। मनुष्य स्वच्छन्दता को स्वाधीनता समझ लेता है और ठीक रास्ते से बहुत भटक जाता है। सार्वजनिक कार्य करते हुए अनुशासन (Discipline) को भूलने से ज़रा भी काम नहीं चल सकता। अंध नियम-निष्ठा बहुत बुरी चीज है। परन्तु अन्ध अनियम-निष्ठा तो उससे भी बुरी होगी न? कितने ही कार्यकर्ता और सब बातों में अच्छे होने पर भी केवल इस एक कमजोरी के कारण अपने हाथ आई हुई सफलता को खो देते हैं।

कीर्ति की इच्छा भी एक स्वार्थ है। इसकी सिद्धि का—यदि यह इष्ट ही है—उपाय तो यही है कि वह अपने आपको सार्वजनिक सेवा में भुला दे। कुछ समय तक उसे खूब परिश्रम करना होगा, ग़लतफ़हमी का भी सामना करना होगा। परंतु अंत में विमल यश उसका पुरस्कार होगा। उसे दुहेरी सफलता मिलेगी—सेवा और यश दोनों, तहां नाम का लोभी मनुष्य सेवा को भी खोयेगा और यश को भी।

पुरुषार्थी युवकों के लिए सार्वजनिक सेवा से बढ़कर और कौनसा क्षेत्र हो सकता है?

वैजनाथ महोदय

विचार-वीचि

कहते हैं, 'धर्म' में बड़ी शक्ति होती है। शक्ति उसी धर्म में हो सकती है, जो प्रति दिन के जीवन में चरितार्थ होता रहता हो। आपके धर्म में और वास्तविक जीवन में जितना अन्तर है, आपके धर्म की शक्ति उतनी ही कम होनी चाहिए। केवल बाह्य स्वरूप को धर्म समझने वालों का धर्म शक्तिशाली नहीं हो सकता।

* * *

सत्य एक है। अन्तर उसके समझने में है। सत्य के चारों ओर जब और अनेक जाल बन जाते हैं तो सत्य का स्वरूप छिप जाता है; और जो अनेक स्थानों में अनेक प्रकार के जाल हो जाते हैं उनका अन्तर समाज के लिए बड़ा अहितकर सिद्ध होता है।

* * *

अन्तःकरण के विश्वास में बड़ा सामर्थ्य होता है। आन्तरिक विश्वास से कार्य करना एक प्रकार का योग-साधन है, जो निष्फल नहीं जा सकता है। अन्तःकरण के भाव के बिना चाहे जितने बाहर के आडम्बर की रचना कर लीजिए, और थोड़ी देर के लिए संसार को चाहे उससे प्रभावित भी कर दीजिए, फिर भी आपको उससे वास्तविक सिद्धि नहीं मिल सकती।

* * *

सत्य-भावना और वस्तु है, हठधर्मी और। मनुष्य सत्य-भावना से ही प्रेरित हुआ करें, तो समाज में सुख का प्रचार हो। और हठधर्मी तो हानि ही करेगी।

* * *

एक शिकारी अपने धनुष की डोरी को ठीक कर रहा था, उसको समय लगा। इसी समय में एक सेना उसके पास होकर निकल गई। सेना के निकल जाने के बाद एक ऋषि आये। उन्होंने शिकारी से पूछा—"अभी इधर होकर सेना गई न?" शिकारी ने कहा—"नहीं"। ऋषि ने शिकारी को अपना गुरु माना। क्यों कि वह अपने कार्य में इतना दत्तचित्त रहने की शक्ति वाला था कि सेना निकल गई और उसको पता नहीं।

* * *

धनुष की डोरी सुधारने में और प्रार्थना में तो बड़ा अन्तर है। यदि आप वास्तव में प्रार्थना करते हैं, तो किसी प्रकार भी बाजा या संगीत आपकी एकाग्रता में बाधक नहीं हो सकता। एक बालक संध्या कर रहा था। एक और बालक उसे हँसाने के उद्योग में लग रहा था—संध्या करने वाले को एक-दो बार हँसी आ भी गई। संध्या से निवृत्त होने पर विघ्न करने वाले बालक की माता के पास संध्या करने वाला पहुँचा और शिकायत की। अशिक्षिता माता ने फौरन उत्तर दिया—"तुम ऐसी क्या संध्या करते थे, जिसे करते-करते तुमको हँसी आ गई? अच्छी संध्या किया करो! वह तुमको हँसाता था, परन्तु तुम संध्या करते हुए क्यों हँसे?"

* * *

आप बड़े भारी अहिंसावादी हैं। स्वयं कभी हिंसा नहीं करते। आप अपना यह धर्म समझते हैं कि दूसरों को भी अहिंसा का उपदेश दें। आपने उपदेश दिया और उन्होंने नहीं माना तो आपको इससे क्या? फिर उद्योग कीजिए। आपको अहिंसावादी होने का हक़ हासिल है, दूसरों को हिंसावादी होने का हक़ हो सकता है, करने दीजिए। आप अपने धर्म को बल-पूर्वक दूसरों पर कैसे आरोपित कर सकते हैं?

"गीतासंघार"

करने से पहचानना

कहानियों से मुझे प्रेम है। अतएव मैं एक सुन्दर छोटी-सी कहानी ही न सुनाऊँ? कहानी भी एक ऐसे आदमी की है कि जो पूर्णतया विद्वान् और शुद्ध एवं प्रेमल है। अनेक तरुणों पर उसके सादा जीवन और ज़ोरदार उपदेश का चमत्कृत प्रभाव पड़ चुका है। और, वे उसे 'सन्त' कहते हैं। एक दिन वे उसके पास पहुँचे और विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, राष्ट्रीय जीवन तथा धर्म सम्बन्धी विविध विषयों की बातें उससे पूछीं। चुपचाप वह सब सुनता रहा; इसके बाद बोला:—"तुम्हारे सारे सवालों का मेरे पास सिर्फ़ एक जवाब है।" तरुणों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा:—"भला यह कैसे हो सकता है! महाराज, हमारे प्रश्न तो विचार और जीवन के विभिन्न विभागों और भावनाओं से सम्बन्धित हैं; उन सब का एक ही जवाब भला कैसे सम्भव है?" पर सन्त सिर्फ़ मुस्कुराया और, अपने उपयुक्त, शान के साथ बोला:—"अनेक प्रश्न?—हाँ, ठीक है; पर जवाब तो, सबका, एक ही है।" तरुणों की उत्सुकता और बढ़ी और अधीरता के साथ उन्होंने कहा:—"तो, बताइए न महाराज!" इसपर वह बोला:—"तुम्हारे सारे सवालों का जवाब इन तीन शब्दों में है—'करने से पहचानना'।"

कितना सुन्दर सत्य है! सचमुच, कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं कि जिसमें थोड़ा-बहुत काम न करना पड़े। क्या तुम विज्ञान का कोई तथ्य जानोगे? तब तुम्हें कुछ काम अवश्य करना होगा—विज्ञानशाला में परीक्षण करने ही पड़ेंगे। तत्त्वज्ञान का कोई तथ्य तुम जानोगे? तब भी कुछ न कुछ काम तुम्हें करना ही पड़ेगा—अपने आत्मसंयम का विकास तो तुम्हें अवश्य ही करना होगा। जो अपनी वासनाओं पर क़ाबू नहीं रखता, उन्हें मनमाने तौर पर फूलने-फलने देता है, वह तत्त्वज्ञान का उपयुक्त विद्यार्थी नहीं हो सकता। क्या तुम आध्यात्मिक धारणाओं में वृद्धि करोगे? तब भी थोड़ा-बहुत काम तुम्हें करना ही होगा—अपने दैनिक जीवन में आदर्श की प्राप्ति के लिए, मतवाले होकर, तुम्हें जुटना ही पड़ेगा। धर्म कोई पुस्तकों का विषय नहीं है; वस्तुतः यह जीवन ही का विषय है—करने से पहचानना है।

इस प्राचीन आदर्श पर मैंने बारम्बार ज़ोर दिया है। यही रात को मेरा सपना है और दिन को मेरा गीत है। प्राचीन राष्ट्रों के बीच भारत का निवास है—और वह बिना किसी प्रयोजन के नहीं। ऋषियों के प्राचीन सन्देश को देने के लिए ही वह क़ायम है। उस प्राचीन आदर्श को अधिक से अधिक जानने के लिए तुम उत्सुक हो। अगर तुम उसे अधिकाधिक जानोगे और उसमें सहायक बनोगे तो, मैं अपने पूरे ज़ोर के साथ तुमसे कहूँगा, कि आदर्श को अपने दैनिक जीवन में कार्यान्वित करने के लिए जुट पड़ो! करने के द्वारा पहचानो; अमल में लाकर जानो। इस सन्देश को हृदयस्थ करलो। भारतीय आदर्श को कार्य में परिणत करके बतला दो। क्रियात्मकता ही आने वाले काल का धर्म है। हमारी आध्यात्मिकता और देश-भक्ति का विस्फोट होना आवश्यक है। भारत और भारतीय आदर्श की हम सेवा करें—माता और उसके प्राचीन सन्देश को अपने दैनिक जीवन के द्वारा गौरवान्वित करें! दिन की चहल-पहल और ज़ोरों के शोर-गुल से बचकर, दैनिक प्रेरणा के लिए प्राचीन माता की शान्त मुद्रा पर ही अवलम्बित रहते हुए, चुप-चाप हम अपना कार्य करें; और, उसके आशीर्वाद हमारे सिर पर हों!*

टी० एल० वास्वानी

* अंग्रेज़ी से

युवकों के विचार

['त्यागभूमि' खण्ड १ अंश ५ में युवकों से यह प्रश्न किया गया था—"अपने देश के लिए तुम क्या करना चाहते हो और अब तक उसके लिए तुमने क्या किया है?" इसपर हमारे पास युवकों के जो विचार आये, उनमें से दो यहाँ दिये जाते हैं। —सं० 'त्यागभूमि']

(१)

मैं गत मई से शुद्ध खद्दर पहनता हूँ और इस बात की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि आजन्म खद्दर ही पहनूँगा। दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि मैं, जब तक भारत को स्वतंत्र न कर लूँगा तब तक, विवाह नहीं करूँगा। तीसरी यह कि, जब तक भारत को स्वतंत्र न कर लूँगा, सिर के बाल न कटवाऊँगा—जैसे कि महाराणा प्रताप ने दिल्ली लेने की कठोर प्रतिज्ञा की थी। चौथी यह कि अपने वचन पर अटल रहूँगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं इन प्रतिज्ञाओं को पूर्ण रूप से पालन कर सकूँगा।

मैं अभी तक तो कोई कार्य नहीं कर सका हूँ—केवल दूसरे लड़कों को राष्ट्रीयता की ओर खींचने की चेष्टा करता रहा हूँ; परन्तु, हाँ, भविष्य में मैं यथाशक्ति बहुत कुछ करने की चेष्टा करूँगा।

मेरा उद्देश्य है कि मैं भारत को स्वतंत्र करके फिर उसी सीढ़ी पर पहुँचा दूँगा, जिसपर वह भगवान् रामचन्द्रजी के समय में था।

कुछ दिन हुए, मैंने महात्माजी की एक पुस्तक पढ़ी थी। उसमें महात्माजी के लिखे एक पत्र से कुछ बातें दी थीं। जैसे—

पश्चिमी या यूरोपीय सभ्यता के ऐसी कोई चीज नहीं है; हाँ, आधुनिक सभ्यता है, और वह बिलकुल भौतिक है।

आधुनिक सभ्यता के सम्पर्क में आने से पहले यूरोप-वासी पूर्व-निवासियों से बहुत कुछ मिलते-जुलते थे। यहाँ तक कि भारतवासी और आज के वे अँग्रेज भी, जो कि आधुनिक सभ्यता के सम्पर्क में नहीं आये हैं, उस सभ्यता से बने हुओं की अपेक्षा भारतीयों से अधिक अच्छी तरह मिल-जुल सकते हैं।

भारत पर ब्रिटिश लोग नहीं किन्तु आधुनिक सभ्यता अपनी रेलों, तार, टेलीफोन और उस सभ्यता की विजय-रूप प्रायः प्रत्येक खोज के द्वारा शासन कर रही है।

अगर कल भारत पर ब्रिटिश शासन की जगह आधुनिक उपायों पर अवलम्बित भारतीय शासन हो जाय, तो भी भारत की दशा आज से कुछ ज्यादा अच्छी न होगी—सिवा इसके कि इंग्लैण्ड को जो धन खिंचा जा रहा है उसमें कुछ कमी हो जाय; लेकिन उस वक्त भारत यूरोप या अमेरिका की द्वितीय या पंचम आवृत्ति-मात्र बन जायगा।

पूर्व और पश्चिम केवल और वस्तुतः तभी मिल सकते हैं, जब कि पश्चिम लगभग पूरी तौर पर आधुनिक सभ्यता को दूर फेंक दे।

यह आम तौर पर कहा जा सकता है कि भौतिक सुविधाओं की वृद्धि से किसी प्रकार नैतिक विकास नहीं होता।

भारत की मुक्ति इसी बात में है कि पिछले पचास सालों में उसने जो कुछ सीखा है उसे भूल जाय। रेल, तार, अस्पताल, वकील, डाक्टर जैसी सब चीजों को नष्ट होना होगा; और 'उच्चवर्ग' कहलाने वालों को सादा कृषक-जीवन को ही जीवनप्रद सच्चा आनन्द मानते हुए, जान-बूझ कर विचार-पूर्वक धर्म-भावना से अपनाना पड़ेगा।

भारतवासियों को मशीन से बना कोई कपड़ा न पहनना चाहिए—चाहे वह अंग्रेजी मिलों का बना हो या भारतीय मिलों का बना हो।

त्यागभूमि 卐 卐 卐 卐 卐 卐 अभिवचन

इंग्लैण्ड इसमें भारत की मदद कर सकता है और तभी वह इस बात को सिद्ध कर सकेगा कि उसने भारत पर जो अधिकार किया है वह अनुचित नहीं किया।

प्राचीन ऋषि सच्चे ज्ञानी थे, जो उन्होंने समाज की भौतिक आवश्यकताओं की मर्यादा बांध दी है। पाँच हज़ार बरस पहले जो भद्दा हल था वही हल आज के किसानों के पास है। इसीमें हमारी मुक्ति है। ऐसी दशाओं में लोग अधिक समय तक जीते हैं, और उस शांति को अनुभव कर सकते हैं कि जिसे आधुनिक आविष्कार एवं हलचल को अपनाने वाला यूरोप भी नहीं अनुभव कर सकता। और मैं चाहता हूँ कि हरेक सभ्य मनुष्य—हां, अंग्रेज़ भी, यदि वे चाहें तो—इस सचाई को समझें और उस-पर अमल करें।

इनमें से कई बातें ऐसी हैं, जिनको मैं इनके पढ़ने के पहले ही मानता था; शेष में अब मेरा पूर्ण विश्वास है।

मेरा विचार है कि मैं भारत को 'शान्ति-मय जगत' बना दूँ। मैं गान्धीजी की सभी किताबें पढ़ना चाहता हूँ और उनसे मिलकर अपने विचारों को परिपक्व करना चाहता हूँ।

मैंने भारत को स्वतंत्र करने का एक कार्यक्रम भी लिखा था, और लाहोर के 'स्वाधीन भारत-संघ' को भेजा था।

*** विद्यार्थी कक्षा १०,

गवर्नमेंगट हाइस्कूल, मथुरा।

(२)

मैं अपनी जन्मभूमि भारत-देश की हर तरह उन्नति करना अपना महान् कर्त्तव्य और उद्देश्य समझता हूँ। इसकी अवनति को अपनी अवनति समझता हूँ; और, इसलिए, मेरा धर्म है कि देश के लिए तन-मन-धन द्वारा सेवा करूँ।

(१) त्याग और सादगी से जीवन व्यतीत करके अधर्म और अत्याचारों को इस देश से बाहर करने का इच्छुक हूँ। ऐसा करने वालों से प्रायश्चित कराने का भी इच्छुक हूँ।

(२) अपने जीवन को सादगी में लाकर ग़रीब भाइयों के दुःख में दुःखी और उनको शिक्षा-द्वारा उन्नत बनाने की कोशिश की है। हर तरह से उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने को अपना कर्त्तव्य समझता रहा हूँ।

(३) अछूत शब्द से मैं घृणा करता हूँ और उनको अपने भाई बल्कि उच्च सेवा करने वाले समझता हूँ। उनके अपवित्र विचारों को हटाने के लिए समय-समय पर शिक्षा-द्वारा उनकी आर्थिक दशा पर विचार करके उनके साथ सहानुभूति प्रकट करता रहता हूँ। सिवाय खान-पान के मैं उनमें मिलना-जुलना और स्वरस होना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उनसे मिलने में मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है।

(४) खद्दर-स्वदेशी धारण करने को मैं देश-हितैषिता समझता हूँ; और अपने मित्रों से तथा घर में सब से यही उत्तम भिक्षा, प्रार्थना-रूप से, माँगता रहता हूँ कि देश के लिए पवित्र खद्दर का ही प्रयोग करो।

(५) अन्याय और अत्याचार का विरोध करना और उसके मुक़ाबिले में हर तरह के अपमान सहने को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता हूँ।

(६) देश की उन्नति के लिए ब्याह-शादी, औसर-मोसर में ज्यादा खर्च करने को मैं इस समय पाप समझता हूँ। मेरा खयाल है कि इसी कारण से ग़रीबों का ह्रास हुआ है और मैं समझता हूँ कि अपने धन

का दुरुपयोग करना देश की उन्नति के लिए बाधक है।

(७) दुःख पड़ने पर सत्य से विमुख होने को मैं पाप समझता हूँ। अपनी कमजोरियों का हर वक्त खयाल रहता है और किये पर प्रायश्चित करने को हर वक्त तैयार हूँ।

(८) किसी भाई की आत्मा को दुखाना मैं हिंसा समझता हूँ, लेकिन भय खाना और दूसरों को डराना भी पाप समझता हूँ।

खूबराम सराफ, भादरा।

झूठ का आरम्भ

(१)

श्रीहरि (एक ढाई साल का बच्चा)—ऊं ऊं, चाची पाछ दाऊं ऊं ऊं ऊं।

चाचाजी—यहीं खेलो लल्ला, तुम्हारी चाची रोटी पका रही है।

श्रीहरि—ऊं ऊं, दादी पाछ दाऊं ऊं ऊं ऊं।

चाचाजी—ठहरो, दादी यहीं आई जाती हैं।

श्रीहरि—ऊं ऊं, पन्नी (पंडित) पाछ दाऊं।

(जब बड़ा भाई पंडित खुद ही उसके पास आ गया तब)

श्रीहरि—ऊं ऊं, नीचे उतलूं।

ज्योंही श्रीहरि को नीचे उतारा वह फ़ौरन चाची के पास भाग गया।

* * *

प्रायः हम ध्यान नहीं देते कि किस तरह छोटी-छोटी बातों का असर बच्चों के दिल पर पड़ता है। श्रीहरि ने पहले तो सच कहा कि मैं चाची के पास जाना चाहता हूँ। जब उसकी सच्ची बात न सुनी गई, तब उसने कई झूठी बातें बनाकर चाची के पास जाना चाहा।

मनुष्य पहले-पहल तो सत्य ही बोलता है; जब उससे काम नहीं चलता, तब वह टेढ़े रास्ते ढूंढता है। माता-पिताओं को चाहिए कि जहाँ तक हो सके वे बच्चों को ऐसे प्रसंगों से बचावें, जिनमें उन्हें झूठ बोलना पड़े।

(२)

शकुन्तला—दा साहब, आज जीजी ने हमको मारा।

दा साहब—क्यों मारा बच्ची ?

शकुन्तला ज़रा सोचने लग गई।

दा साहब—बताओ बच्ची, तुमने कोई काम तो नहीं बिगाड़ा था, जो तुम्हारी जीजी ने तुमको मारा ?

शकुन्तला—जीजी कपड़े धो रही थी, और मैं पानी उछाल रही थी। जीजी ने कहा—जा बच्ची, यहाँ न खेल। पर मैं खेलती रही; तब, जीजी ने मारा।

दा साहब—राजा बेटी मेरी, कैसे सब सच-सच बता दिया! तो बता बच्ची, पहले तुझे यह कहना चाहिए था न कि मैं पानी उछाल रही थी तब जीजी ने मारा ?

शकुन्तला (ज़रा सोचकर)—हाँ।

दा साहब—राजा बेटी, अब कह तो भला जीजी ने अच्छा किया कि बुरा ? तूने जब कहा न माना, तब वह क्या करती ?

शकुन्तला—हाँ, अच्छा किया।

दा साहब—तो बच्ची, अबसे सब बात पूरी-पूरी कहनी चाहिए न भला ?

शकुन्तला—हाँ।

बालकों को इस तरह सच कहने की आदत डालने से वे किसी बात की शिकायत करने से पहले खुद ही सोचते हैं कि हमने अच्छा किया या बुरा। और इसका असर उनके आचार-विचार पर पड़े बिना नहीं रहता।

'सत्येन्द्र'

साहित्य-संगीत-कला

मराठी का सामयिक साहित्य

महाराष्ट्रीय भाषा में जितने मासिक-पत्र हैं उनमें "विविध ज्ञान-विस्तार" विशेष महत्त्व रखता है। मराठी मासिकों में यही सबसे पुराना मासिक-पत्र है, तथापि आज भी वह बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। आजकल इसमें श्रीयुत चापेकर के ग्राम्य जीवन सम्बन्धी लेख प्रकाशित हो रहे हैं। इन लेखों में देहात के धंधे, ग़रीब किसान, कारीगर आदि लोगों की स्थिति, उनके रीति-रस्म, काम करने के साधन, इत्यादि सहित कोंकण की एक आदर्श ग्राम्य संस्था की सच्ची स्थिति का वर्णन, जो अंकों की सहायता से सिद्ध की गई है, प्रकाशित हो रहा है। ऐसे गाँवों में रहने वाले लोग चाहे इसको महत्त्व न दें, परन्तु दूसरे प्रान्तों में रहने वाले और समाज-शास्त्र का अध्ययन करने वाले सज्जनों के लिए वह बड़ी उपयोगी चीज़ होगी। सितम्बर और अक्तूबर के अंक में उदार मतवादी दल पर एक मार्मिक लेख प्रकाशित हुआ है। इस दल के मुख्य-मुख्य लोगों के वचनों के उद्धरण देकर इस दल के तीन महत्त्वपूर्ण लक्षण बताये गये हैं। पहला लक्षण है उनका आशावाद। "इंग्लैंड के समान प्रत्येक बात में आगे बढ़े हुए देश से हमारा बिलकुल नज़दीक का सम्बन्ध प्रस्थापित हो गया है। इससे लाभ उठाकर हमें आवश्यक बातें ग्रहण कर लेनी चाहिएँ। अपने आलस्य को छोड़कर कुछ पुरानी बातों को फिर से उजली करके हम उद्यमशील बनेंगे तो निश्चय ही हम अपने देश का भविष्य उज्ज्वल कर सकते हैं।" इस दल का दूसरा लक्षण है यह श्रद्धा कि देश को उन्नति की ओर अग्रसर करने के लिए राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक सुधार का एक साथ आन्दोलन किया जाय। और तीसरा लक्षण है इसकी सब लोगों के विषय में समत्व-भावना और सबको साथ में लेकर चलने की इच्छा। स्व० दादाभाई नौरोजी, फ़िरोज़शाह मेहता, तय्यबजी, डॉ० भांडारकर, न्यायमूर्ति रानडे, न्या० तैलंग, श्री ह्यूम, सर चंदावरकर, महात्मा गोखले आदि इस दल के अध्वर्यु थे। यह बात जुदी है कि इनके अनुयायियों का आचरण उपर्युक्त लक्षणों के अनुरूप था या नहीं। परन्तु इस दल के नेताओं के जीवन में तो ये बातें पद-पद पर प्रकट होती हैं। यह बात श्रीयुत कर्नाटकी ने इनमें से प्रत्येक नेता के लेखांश और वचनों को उद्धृत करके तथा उनके जीवन की कुछ घटनायें सुनाकर सिद्ध कर दी है। भारत के एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक दल का यह छोटा सा इतिहास और परम्परात्मक वर्णन सचमुच पठनीय एवं मननीय है। इसी पत्र में मराठी के प्रसिद्ध व्याकरणकार दादोबा पाण्डुरङ्ग का आत्मचरित्र भी क्रमशः प्रकाशित हो रहा है। यह आत्म-चरित्र क्या है, तत्कालीन अंग्रेज़ी सल्तनत के प्रारम्भकाल का पूरा इतिहास ही है। "महानुभावी" मराठी वाङ्मय में से "महदंबा का धवल" नामक लेख दिसम्बर में सम्पूर्ण हो गया है। लेख का विषय है एक श्रीकृष्ण और रुक्मिणी की भक्ता स्त्री और उसके भजन। "महानुभावियों" के सुप्त संग्रह में से यह तो केवल एक ही रत्न प्रकाशित किया गया है। 'महानुभावियों' के पंथ को स्थापित हुए आज सदियाँ हो गईं। परन्तु उस संप्रदाय के ग्रंथों को बिलकुल गुप्त रक्खा गया है। हाल ही में मठाधिपति के सौजन्य से कुछ ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे हैं। इस संप्रदाय का प्रचार महाराष्ट्र से लेकर ठेठ पंजाब तक हो गया था। आज भी इस संप्रदाय के कई मठ पंजाब में मौजूद हैं। संप्रदाय इतना फैल जाने पर भी इसकी ग्रन्थ-सम्पत्ति को बिलकुल गुप्त ही रक्खा गया था। इस संप्रदाय के ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन मराठी भाषा में लिखे हुए हैं। यह क़रीब-क़रीब सिद्ध हो चुका है कि इनमें से कुछ ग्रन्थ तो ज्ञानेश्वरी से भी—जो कि अब तक मराठी

का आद्यग्रन्थ समझी जाती थी—प्राचीन हैं। इसलिए मराठी भाषा की दृष्टि से ये ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इस पंथ के आद्य-संस्थापक श्री चक्रधर नामक कोई पुरुष थे। चक्रधर के श्रीमुख से निकले हुए तमाम सूत्रों का संग्रह केशव राज सूरि ने अपने "सिद्धान्त सूत्रपाठ" नामक ग्रन्थ में किया है। इसलिए यह ग्रन्थ इस संप्रदाय का धर्म ग्रन्थ समझा जाता है। श्री देशपांडे ने इस पत्र के नवम्बर और दिसम्बर के अंकों में इस ग्रन्थ का विस्तृत रूप से विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त सरदार किबे का 'धर्म-शिक्षण' नामक लेख, आचार्य राजवाड़े का "ब्राह्मण-कालीन जातिभेद", श्री ओगले का "कालिदास और चित्रकला", श्री नांदेड़कर का "अविमारक" और श्री कोल्हटकर के "मूक नायक" का तुलनात्मक विवेचन आदि मननीय लेख गत तीन-चार महीनों में प्रकाशित हुए हैं।

"रत्नाकर" के दिसम्बर के अंक में राजकुमारों के शिक्षा-संवर्धन पर जो बातें लिखी गई हैं वे और लोगों के भी काम की हैं। स्वर्गीय ग्वालियर-नरेश महाराजा माधवराव सेंधिया के हिन्दी और उर्दू भाषा में लिखे "दरबार पॉलिसी" नामक ग्रन्थ से वे बातें उद्धृत की गई हैं।

नवम्बर के "मनोरंजन" में "माझा (मेरा) आश्रम" नामक एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लिखे विचार किसी भी संस्था के विद्यार्थी तथा संचालकों के लिए अनुकरणीय हैं। किसी भी संस्था का कार्य तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक उसमें काम करने वाला प्रत्येक मनुष्य उसमें आत्मीयता नहीं अनुभव करने लगता। सितम्बर के "मनोरंजन" में "शाहीर की लड़की" नामक कविता बड़ी रम्य है। एक सुशील लड़की अपने मधुर गायन और प्रकृति-मनोहर पवित्रता के सहारे किस तरह एक क़िले की स्वामिनी बन गई—यह है उस कविता का विषय। कवि ने प्रसंग के अनुरूप भाषा को प्राचीनता का स्पर्श देकर निसर्ग-रमणीय स्थान के सौंदर्य का हूबहू भी वर्णन किया है। कोल्हटकर के नाटकों की समीक्षा मराठी भाषा के अध्ययनकर्ता के लिए बड़ी उपयोगी है।

औद्योगिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले केवल दो ही सामयिकपत्र मराठी भाषा में हैं। एक तो सतारा का "उद्यम" और दूसरा "किर्लोस्कर खबर"। "उद्यम" में क्रमशः एक न एक चीज़ बनाने की सम्पूर्ण विधि प्रकाशित होती रहती है। जनवरी से साबुन बनाने की विधि प्रकाशित होने लगी है। व्यवहार-शास्त्र पढ़ाने का ठेका "किर्लोस्कर ख़बर" ने ले रक्खा है। उपदेशक बनने का प्रयत्न छोड़ कर यदि वह कोई उपयोगी कला सिखाने का उद्योग करेगी तो "ख़बर" इससे अधिक काम कर जायगी।

आजकल मराठी में प्रकाशित होने वाले साहित्य में प्रायः उपन्यास और कहानियों की पुस्तकों की ही ज़्यादा भरमार है। यह साहित्य प्रायः अल्पजीवी ही होता है, इसमें से बहुत थोड़ी पुस्तकें चिरकाल तक टिक पाती हैं। ऐसी उपयोगी पुस्तकों में से कुछ "भारत-गौरव-ग्रन्थमाला" तथा "महाराष्ट्र कुटुम्ब-माला" द्वारा प्रकाशित हो रही हैं। "भारत-गौरव-ग्रन्थमाला" में प्रकाशित अध्या० बेहरे का "सन् सत्तावन का ग़दर" पठनीय है। उसी प्रकार कुटुम्ब-माला की "स्वाधीन संसार" नामक पुस्तक भी पढ़ने लायक़ चीज़ है। परन्तु उपन्यास-संसार में अगर किसी चीज़ ने हलचल उत्पन्न कर दी है तो वह है डा० केतकर (महाराष्ट्र ज्ञानकोष के सम्पादक) का "आशावादी" नामक उपन्यास। उपन्यास में नवीन कल्पनायें, नवीन विचार और पुरानी रूढ़ियों को ज़बर्दस्त ठेस पहुँचाने वाले नवीन व्यवहार-सूत्रों का बाहुल्य है। यद्यपि पात्रों की भूमिकायें पूर्ण नहीं हो पाई हैं, तथापि पद-पद पर नवीन दृश्य, नवीन कल्पना, नवीन प्रसंग और नवीन पात्र इस तेज़ी से हमारे सामने आ कर उपस्थित होते हैं कि उस अपूर्णता की ओर पाठकों का ध्यान भी आकृष्ट नहीं होता। प्रसंगानुसार राजनीति, सामाजिक अत्याचार, शुद्धि, संगठन आदि सभी नये-पुराने आन्दोलन और हलचलों पर अपने विचार प्रकट करके पात्रों का स्वभाव-परिपोष भी डा० केतकर ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। इस तरह की पुस्तकों में श्री हड़प-लिखित "पेशवाई चा प्रभु ढळला", श्री खाडिलकर का "मत्र्तामन्मर" नाटक तथा श्री मा० ह० आपटे की "पहाटे पूर्वांचा कालोख" इत्यादि पुस्तकें स्वतंत्र रचना की दृष्टि से अच्छी हैं। "रविकिरण मण्डल" की "प्रभा" भी उसी मण्डल की अन्य पुस्तकों के समान सुन्दर है।

गत दो-तीन महीनों में जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उन में अजमेर के अध्यापक ल० ग० साठे, एम० ए०, लिखित "गीतेवरील गद्य-संवाद" मननीय और प्रशंसनीय है। श्रीमद्भगवद्गीता भारतवर्ष का प्रधान धर्म-ग्रन्थ है। ईसाइयों की बाइबल तथा मुसलमानों के कुरान के समान इसका पाठ घर घर और रोज़ होना चाहिए। गीताधर्म-मण्डल भी इस बात के लिए प्रयत्न कर रहा है। गीता के सार्वत्रिक प्रचार के ख़याल से यह ज़रूरी है कि गीता ऐसे रूप में और भाषा में प्रकाशित की जावे जो सबकी समझ में आ सके। कई लोग अपने अनुभव से इस बात को जानते हैं कि केवल श्लोकों का अनुवाद भर कर देने से गीता की दुर्बोधता दूर नहीं होती। इसलिए अध्यापक साठे ने गीता को सवाल-जवाब के रूप में सरल भाषा में लिखी है। इस पुस्तक के द्वारा पाठकों के लिए गीता बहुत कुछ सरल हो गयी है। पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी हो रहा है। हम आशा करते हैं कि हिन्दी के पाठकों को उससे बहुत लाभ होगा। धर्म-विषयक दो पुस्तकें और प्रकाशित हुई हैं, जिनका उल्लेख यहाँ पर कर देना ज़रूरी है। एक तो है प्रार्थना-समाज का इतिहास और दूसरी "नवयुग-धर्म" खण्ड १ है, जिसमें ब्राह्म समाज और देव-समाज इन दो नवीन धर्म-पन्थों का इतिहास है। पुस्तक अच्छी है और ख़ूब जानने योग्य बातों से भरी हुई है।

सात्विक ग्रंथों में अध्या० गो० चि० भाटे लिखित "ललितकला मीमांसा" पुस्तक महत्वपूर्ण है। इस पुस्तक में साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि कलाओं पर तत्त्वविवेचनात्मक और उदाहरण-संगीत वर्णन है। इस विषय पर श्री वासुदेव गोविंद आपटे लिखित "मृण्मूर्ति व रंगकला-विज्ञान", "सौंदर्य और ललितकला-विज्ञान" आदि कुछ इनी-गिनी पुस्तकें और श्री वझे जैसे इस विषय के विशेषज्ञ तथा पं० श्री कृ० कोल्हटकर आदि सज्जनों के लिखे मार्मिक लेखों के अतिरिक्त बहुत थोड़ा साहित्य है। ललितकला का मुख्य काम है प्राकृतिक अथवा कृत्रिम सौंदर्य-कृति की सहायता से मानव-हृदय में भव्य भावनाओं को उत्पन्न करके उसे ऊंचा उठा देना। परमेश्वर सौंदर्य की आत्मा और भोक्ता है। सौंदर्य ही सत्य है और सत्य का नाम सौंदर्य है (Beauty is truth and truth is beauty)—यह कीटस की व्याख्या कितनी औचित्यपूर्ण है! अतः अध्या० भाटे कहते हैं कि सौंदर्य की उपासना करने वाली ललितकलायें ईश्वर-प्राप्ति की मार्ग-दर्शक ही हैं। इस पुस्तक ने मराठी-साहित्य की समृद्धि को सचमुच बढ़ा दिया है।

महाराष्ट्र-साहित्य-मधुप

अरबी साहित्य-सुमन

वार्त्तायें

(१)

किसी ईश्वर-भक्त ने यह बात कही कि मैंने अपने मित्रों के साथ एक दिन जंगल में एक लड़की देखी। वह अकेली ही आनंद-पूर्वक घूम रही थी। मेरे साथियों ने पूछा—'तू कहाँ से आई है?' उसने कहा—'अपने मित्र के पास से।' फिर कहा—'तू किधर जाना चाहती है?' उसने कहा—'अपने मित्र के पास।' उन्होंने कहा—'तू अकेली है। क्या तुझको इस भयानक जंगल में डर नहीं लगता?' वह ज़ोर से चिल्ला कर बोली—'मनुष्य कहीं भी जाय, चाहे आकाश में उड़े चाहे भूमि पर घूमे, परमात्मा हर जगह मौजूद है। हर स्थान पर हमारे किये हुए को देखता है। ऐ मूर्खों, जिसने परमात्मा से चित्त को जोड़ा, उसका संसार की वस्तुओं में चित्त नहीं लग सकता; जिसने उसकी प्रसन्नता को ढूँढा, उसका चित्त हर स्थिति में निर्भय रहता है।' यह कहकर वह हमारे सामने से चल दी।

(२)

अब अली फ़रहा ने कहा कि एक बार मैंने रमज़ान के महीने में एक लौंडी ख़रीदी, जो शरीर से दुबली थी और रंग उसका पीला पड़ गया था। मैंने उससे कहा—'चलो, बाज़ार से रमज़ान के महीने में रात के खाने की सामग्री ख़रीद लायें?' उसने कहा—'हमारे घरवाले तो बराबर ही रमज़ान मनाते हैं।' मैंने समझ लिया, इसके माता-पिता नेक थे। वह रातभर खड़ी रहकर नमाज़ में लगी रहती थी। फिर जब ईद की रात आई, तो मैंने उससे कहा—'चलो, बाज़ार से ईद का सौदा ख़रीद कर लायें।' उसने पूछा—'हे

स्वामिन्, आप साधारण लोगों का सौदा ख़रीदना चाहते हैं या विशेष लोगों का?' मैंने पूछा—'साधारण लोगों का सौदा कौनसा है और विशेष लोगों का कौनसा?' इस पर उसने बताया कि साधारण लोगों के लिए तो ईद का सामान खाने-पीने की सामग्रियां होती हैं। विशेष लोगों की सामग्री यह होती है कि एकांत-सेवन करके अपने चित्त को स्थिर करें, जिससे ईश्वर की सेवा यथार्थ हो सके और चित्त में निरभिमानता की मात्रा अधिक बढ़ सके। मैंने उससे कहा कि मुझे तो भोजन की सामग्री की ज़रूरत है। इस पर उस लौंडी ने कहा—'भोजन भी दो प्रकार का होता है। एक तो शरीर सम्बंधी और दूसरा मन-सम्बन्धी। आप कौनसा भोजन चाहते हैं?' फिर मैंने पूछा कि शरीर सम्बन्धी भोजन कौनसा है, और मन सम्बन्धी कौनसा? उसने कहा—'शरीर सम्बन्धी वही है, जिसको सर्व-साधारण खाते हैं और मन-सम्बन्धी इस प्रकार है, जैसे—

पापों को त्याग देना।

अपनी बुरी आदतों को दुरुस्त करना।

आत्म-साक्षात्कार करके अपना परम अभीष्ट प्राप्त करना।

अपनेको तुच्छ समझना और इन्द्रिय-दमन करना।

घमंड एवं अहंकार का त्याग करना।

अपने स्वामी की ओर चित्त को केन्द्रित करना।

अंतर्बहिर ईश्वर पर ही भरोसा रखना।'

शिक्षा

(१)

हज़रत अली ने फ़र्माया—

जो कोई प्रेमी बना जन्नत का,
वह दौड़ा नेकी की तरफ़।
जो कोई डरा नरक की अग्नि से,
वह दूर रहा विषयों से।
जिसने निश्चय माना मरने को,
नहीं आया उसको आनंद विषयों में।
जिसने दुनिया के तत्व को जान लिया,
दूर हुईं उससे मुसीबतें।

(२)

अब अब्बास ने वर्णन किया कि एक दिन हमारे रसूल मुहम्मद साहब ने शैतान से पूछा कि मेरे मत के माननेवालों में से तेरे मित्र कौन-कौन हैं?

शैतान ने उत्तर दिया—वे दस व्यक्ति, जो इस प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं—

१—वह इमाम (धर्म-पथ-प्रदर्शक), जो लोगों को पीड़ा देने वाला और घमंडी हो।

२—वह धनी, जो यह ध्यान नहीं रखता कि मैं किन साधनों से धन प्राप्त करता हूँ और किन-किन कामों में दान करता हूँ।

३—वह विद्वान्, जो किसी बड़े व्यक्ति के अन्याय के कार्य को भी युक्ति और प्रमाणों द्वारा सच्चा सिद्ध करने वाला हो।

४—व्यापारी पेशे का वह व्यक्ति, जो अपने पास किसी के रक्खे हुए धन को हड़प जाय।

५—वह वाणिज्यकर्ता, जो अन्न को रोक रक्खे।

६—वह मनुष्य, जो व्यभिचार में रत रहे।

७—वह धनी, जो कृपण हो।

८—मद्यपान करने वाला व्यक्ति।

९—मद्य पर सदा निर्वाह करने वाला।

१०—सूदख़ोर (ब्याज खाने वाला) व्यक्ति।

* * *

पुनः मुहम्मदसाहब ने पूछा कि मेरे अनुयायियों में तेरे (शैतान के) शत्रु कौन-कौन हैं? इसपर उसने कहा—

१—विधवाओं, अनाथों और दरिद्रों के साथ नेकी करने वाला।

२—मृत्यु के लिए सदा तत्पर रहने वाला।

३—उदारचेता और सरल स्वभाव वाला एवं अपने ईश्वर को सत्य मानने वाला।

४—जिसके चित्त में कोई बुराई न रहे।

५—वह व्यक्ति, जो रात्रि को नमाज़ पढ़े, जब कि अन्य लोग सोते हों।

६—जो धर्म की कमाई खाता है।

७—जो अपने मनको हराम चीज़ों से रोके और लोगों की भलाई करे।

८—जो लालच करे, किन्तु नमाज़ पढ़ने में।

९—जो जवानी में बड़े ईश्वर की भक्ति के लिए।

१०—जो प्रेम रखते हैं, ईश्वर में।※

श्रीराम शर्मा

गौरव-गीत

(१)

चन्द्रगुप्त मौर्य का गीत

"किसने संसार-विजयी अलक्षेन्द्र के साम्राज्य से पञ्चनद को स्वाधीन करने में नेतृत्व ग्रहण किया था? किसने ब्राह्मण-द्रोही, नीच-कुलोत्पन्न, अन्यायी शासक के शासन से स्वतन्त्र कर पाटलिपुत्र-निवासियों को सुखी किया था? किसने कौशल, तिरहुत, वाराणसी, अङ्ग तथा मगध के अधिपतियों पर विजय प्राप्त कर अपना साम्राज्य विस्तृत किया था? मौर्य-वंश-संस्थापक, प्रबल, प्रतापी महान् चन्द्रगुप्त ने।

※ मुहम्मद साहब ने शैतान से पूछा और उसने उत्तर दिया। इस प्रकार में जो बातें लिखी हुई पाई जाती हैं उनसे पता चलता है कि आख्यायिकायें लिखने का इस्लामी ग्रंथकारों में भी प्रचार था। परन्तु खेद है कि अधिकांश संख्या मुसलमानों की ऐसी ही पाई जाती है, जो ठीक यही मानते हैं कि वह शैतान जिस पर लानत हो खुदा की, सचमुच शरीरधारी व्यक्ति है और सचमुच उसके साथ खुदाताला और मुहम्मदसाहब आदि की बातें हुई। जिस समय मुसलमान लोग वा अन्य कोई भी व्यक्ति, जिनका ऐसा विश्वास है कि आख्यायिकायें सच्ची घटनायें ही हैं, विज्ञानमयी शिक्षा द्वारा लेखों के और भाषणों के तात्विक अधिकारों को समझने लग जायेंगे तभी साम्प्रदायिक झगड़ों का अंत हो सकेगा। कोई भी लेख पढ़े तो सबसे प्रथम यह अवश्य विचारना चाहिए कि इसका तात्विक अभिप्राय क्या है और किस देश-काल के लिए ऐसा लिखा गया था। अरबी-साहित्य में से सुमन-चयन का अभिप्राय यही है कि हमारे देशवासी यह अनुमान कर सकें कि उन लोगों ने कहां तक ईश्वरादि अपरोक्ष विषयों को पहचाना था और किस प्रकार का जीवन-ध्येय उनको अभीष्ट था।

—अनुवादक

"किसने अपनी अद्वितीय चतुरङ्गिणी से सिन्धु से गंगा-सागर तक और हिमाचल से विन्ध्याचल तक को कंपित कर दिया था? किसने अपनी अद्वितीय चतुरङ्गिणी से विजयी सेल्युकस का साम्राज्य स्वप्न भङ्ग कर दिया था? किसने अपनी अद्वितीय चतुरङ्गिणी के बल पर यवन-राज को परोपनिसदई,[1] एरिया,[2] अरकोसिया,[3] जेड्रोसिया[4] तथा अपनी प्राणप्रिय कन्या देकर प्राण छुड़ाने पर बाध्य किया था? मौर्य्य-वंश-संस्थापक, प्रबल, प्रतापी महान् चन्द्रगुप्त ने।

"किसने अपने पराक्रम से आर्य-जाति का प्रताप दिग-दिगन्त प्रस्फुरित कर दिया था? किसने अपने अतुल वैभव से यूरोप-शिरोमणि ग्रीकों को चकित कर दिया था? किसने अपनी असाधारण योग्यता से प्रसिद्ध नीति-विशारद चाणक्य को अपने पर मुग्ध कर लिया था? मौर्य्य वंश संस्थापक, प्रबल, प्रतापी महान् चन्द्रगुप्त ने।"

(२)

अशोकवर्धन का गीत

"वह कौन है, जिसने बौद्ध-धर्म्म को विश्वव्यापी बना दिया था? वह कौन है, जिसने बौद्ध-धर्म्म-प्रचारार्थ काश्मीर, गान्धार, महिषमंडल,[5] बनवासी,[6] अपरांत[7] और महाराष्ट्र में बौद्ध-भिक्षु भेजे थे? वह कौन है, जिसने यूनान, हेमवत,[8] सुवर्णभूमि,[9] सिंहल आदि सुदूरवर्ती देशों में बौद्ध-धर्म्म का प्रचार किया था? वह उनका वंशज है, जिसने यवन राज्य का साम्राज्य-स्वप्न भङ्ग किया था। वह उनका पौत्र है, जिसने पञ्चनद को विदेशी चंगुल से मुक्त किया था। वह 'देवताओं का प्यारा' 'प्रियदर्शी' अशोक है।

"वह कौन है, जिसने अपने समस्त साम्राज्य में परोपनिसदई महिषमण्डल और सौराष्ट्र[10] से ताम्रलिप्त[11] तक में धर्म्म-प्रचारार्थ आज्ञायें प्रचलित की थीं? वह कौन है, जिसने एक-दो नहीं, चौरासी हज़ार स्तूपों का निर्माण किया था? वह उस भाग्यवान को छोड़कर और कौन हो सकता है, जो

१ काबुल। २ हिरात। ३ कन्दहार। ४ बलोचिस्तान। ५ मैसूर। ६ पश्चिमीय मैसूर और उत्तरीय-दाक्षिणीय कनाडा। ७ गुजरात। ८ नेपाल। ९ ब्रह्मा। १० काठियावाड़। ११ तमलुक।

आचार्य्य उपगुप्त का शिष्य था। वह 'देवताओं का प्यारा' 'प्रियदर्शी' अशोक है।

"वह कौन है, जो प्रसिद्ध योद्धा होते हुए भी धर्म्म-प्रचारक था? वह कौन है, जो प्रबल शक्तिशाली कलिङ्ग-नरेश को नतमस्तक करने की शक्ति रखता हुआ भी इतना दयालु था कि फिर उस शक्ति से काम नहीं लेता? वह उन विशाल और सुन्दर स्तूपों का निर्माता है, जिन्हें विदेशियों ने मानव-निर्मित होने की अपेक्षा देव-निर्मित होना ही अधिक बुद्धि-ग्राह्य समझा था। वह 'देवताओं का प्यारा' 'प्रियदर्शी' अशोक है।

"वह कौन है, जिसने नवीन भारतीय सभ्यता से संसार को परिचित किया था? वह कौन है, जिसने विदेशों से भारत राष्ट्र का सम्पर्क जोड़ा था? वह यवन-राज अन्तियोक[1] मिश्राधिपति तुरमय,[2] मकदूनिया नरेश अन्तिकोन[3] और एपिरस-नरेश अलिकसुन्दर[4] का मित्र, 'देवताओं का प्यारा' 'प्रियदर्शी' अशोक है।"

[२]

कनिष्क का गान

"वह कौन था, जिसकी सेना ने चीनी तुर्किस्तान में हलचल मचा दी थी? वह कौन था, जिसकी चतुरंगिणी ने विदेशों में आर्य वीरत्व का डंका बजा दिया था? वह कौन था, जो काशगर, यारकन्द और खोतान को अपने साम्राज्य के अंग बनाने में कृतकार्य हुआ था? वह कौन था, जो विदेशी राज-परिवार को प्रतिबन्धक के रूप में लाया था? आर्य वीरो! ऐसे अद्भुत कार्यों का सम्पादन एक मनुष्य ने किया था। वह था, तुम्हारा पूर्वज, पुरुषाधिपति, महाराज कनिष्क।

"वह कौन था, जिसके सुशासन में काश्मीर-सा प्राकृतिक वन फला फूला था? वह कौन था, जिसका साम्राज्य समस्त उत्तरीय-पश्चिमीय भारत था? वह कौन था, जिसकी राजाज्ञा हिमाचल से लेकर विन्ध्याचल तक अविरोध स्वीकार की जाती थी? वह कौन था, जिसका साम्राज्य सौराष्ट्र तक अपना अञ्चल फैलाये था? आर्य-वीरो! केवल एक मनुष्य ऐसा था। वह था तुम्हारा पूर्वज, पुरुषपुर[1] से राज्य-चक्र घुमाने वाला महाराज कनिष्क।

"वह कौन था, जिसकी अपरिमित कार्य-शक्ति केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही परिमित न रही थी? वह दूसरे अशोक के समान बौद्ध-धर्म को विश्वव्यापी बनाने वाला प्रातः-स्मरणीय वीर कौन था? आर्य पुत्रो! केवल एक मनुष्य ऐसा था। वह था तुम्हारा पूर्वज, प्रबल, प्रतापी, महाराज कनिष्क।"

बालकृष्ण बलदुआ

हिन्दी कवियों से

भारतवर्ष की अवनति का एक कारण राज-प्रासादों में शृंगाररस-प्रधान कवियों का आदर भी है। जबसे वीररस-प्रधान काव्य को दबाकर शृंगार-रस ने अपना सिक्का जमाया है, तभी से हमारे यहाँ के बल का ह्रास हुआ, तेज भी नष्ट हुआ और सभी ऐश-आराम में लीन हो गये।

जयचंद और पृथ्वीराज के समय तक वीर रस का ही साम्राज्य था। यदि चंदबरदाई ने पृथ्वीराज को उसकी शक्ति का भान न कराया होता, तो पृथ्वीराज को लोग उस आदर की दृष्टि से न देखते, जैसे आज देखते हैं। यदि पृथ्वीराज और चंपादे ने राणा प्रताप को उसके प्रण और आन का दिग्दर्शन न कराया होता, तो राणा प्रताप शायद अपनी आन से च्युत हो गये होते। यदि भूषण ने शिवाजी को इतना उत्साहित न किया होता, तो महाराष्ट्र-साम्राज्य की जड़ दक्षिण में न जमती। मतलब यह कि वीर रस का काव्य ही इनमें शक्ति का संचार करता है। इसमें इतनी शक्ति है, जो वास्तविक बल में नहीं है। यहाँ तक देखने में आया है कि वीरता पूर्ण कथन के कारण एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति बड़े से बड़े हट्टे-कट्टे जवान से भिड़ गया है और उसे परास्त कर दिया है। नित्य प्रति ऐसे अनेकों उदाहरण सभी जगह देखने को मिलते हैं।

जब वीररस पूर्ण काव्य में इतनी शक्ति है, फिर उसका इतना ह्रास हो, यह क्या हमारे लिए हास्यास्पद नहीं है?

१ Antiochos। २ Ptolemy Philadelphus। ३ Antigonos Gonatos। ४ Alexander।

१ पुरुषपुर-पेशावर।

यदि हमारे शब्दों में कुछ भी शक्ति है, हमारे कवियों में कुछ भी उद्गार है, तो उन्हें दिल खोलकर वीर-रस-पूर्ण काव्य द्वारा पुनः अपनी जातीय शक्ति को जीवित करना चाहिए। आज हममें जो मुर्दे-दिल लोग दिखाई पड़ते हैं, उन्हें पुनः ज़िंदा-दिल बनाना इन्हीं कवियों के हाथ में है। जो काम बड़े-बड़े नहीं कर सकते, वे ये कवि बड़ी सरलता से कर सकते हैं।

श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' ने जितना उपकार हमारा किया है क्या वह किसी से छिपा है? स्व० बंकिम बाबू के 'वन्देमातरम्' गान ने जो शक्ति हमें दी है, वह हम कभी भूल सकते हैं? 'के बोले माँ तुमि अबले?' वाला पद सुनकर कौनसा ऐसा भारतीय हृदय है, जिसके रोयें नहीं खड़े हो जाते? आज इन दोनों कवियों का जितना हममें प्रचार है, उतना क्या किसी भी शृंगारी कवि का हो सकता है? इतना होते हुए भी यदि हमारे कविगण शृंगार-रस पर ही ध्यान दें और वीर-रस की ओर ज़रा भी अपनी दृष्टि न डालें, यह हमारे लिए कितना हानिकर है? इस समय हमें शृंगार-रस के कवियों की ज़रूरत नहीं; हमें ज़रूरत है चन्द्र बरदाई जैसों की। यदि हमारे में चन्द्र बरदाई से कविगण दो-चार ही हो जावें, तो फिर देखिए हमारा देश कितना शीघ्र परतंत्रता की बेड़ी से छूटता है। अतः हमें अपने कवियों से यही प्रार्थना करनी है कि अब चन्द्र बनिए। यदि वे ज़रा भी हमारी प्रार्थना के अनुसार अपनी क़लम को मोड़ दें, तो फिर देखिए सब काम फ़तह है। आशा है, कविगण इसपर पूरा ध्यान देंगे।

उमाशंकर मेहता

अमीर अफ़ग़ानिस्तान की यूरोप-यात्रा

कुछ महीनों से अफ़ग़ानिस्तान के अमीर अमानुल्लाखां यूरोप की यात्रा कर रहे हैं। वह टर्की, इटली, फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्ड इन सभी देशों में गये और वहाँ की सरकारों से अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में उन्होंने बातचीत की। यह यात्रा राजनैतिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व की है। जब वह टर्की में कुछ समय तक रहे थे तभी इंग्लैण्ड और इटली के समाचार-पत्रों में अमीर की यात्रा के राजनैतिक रहस्य की चर्चा चली थी। कई राजनीतिज्ञों का विचार था कि वे दोनों देश मुसलिम राष्ट्रों के संघ बनाने पर विचार कर रहे हैं, जिसमें टर्की, मिस्र, अरब, ईरान, और अफ़ग़ानिस्तान होंगे। हम नहीं कह सकते कि यह अनुमान कहाँ तक ठीक है। परन्तु यदि यह सत्य हो, तो संसार में एक नवीन बृहत् शक्ति पैदा हो जायगी, जो यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के लिए बहुत भय-प्रद और चिन्ताजनक होगी। इसका प्रभाव अवशिष्ट एशिया पर भी पड़े बिना नहीं रहेगा। परन्तु यह प्रभाव कैसा पड़ेगा, यह उस संघ की मनोवृत्ति पर निर्भर है।

अफ़ग़ानिस्तान एक प्रगतिशील राष्ट्र है। उसकी राजनैतिक स्थिति भी बहुत महत्त्व की है। अमीर स्वयं नीतिज्ञ और बहुत महत्त्वाकांक्षी हैं, अमेरिका के 'न्यूयार्क टाइम्स' ने अमीर की मुसोलिनी से उपमा दी है। उस पत्र ने लिखा है कि जिस प्रकार मुसोलिनी ने कुछ ही समय में इटली को उन्नत बना दिया है, उसी तरह अमीर ने भी देखते-देखते

अफ़ग़ानिस्तान का दर्जा ऊँचा कर दिया है। 'डेली टेलीग्राफ़' 'डेली न्यूज़' और 'वेस्टमिंस्टर गज़ट' ने उसकी नवीन जापान से उपमा दी है। इस नवीन अभ्युदीयमान शक्ति से सभी राष्ट्र अच्छा सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, और इसी कारण सब राष्ट्र एक दूसरे से बढ़कर उसका स्वागत कर रहे हैं। अफ़ग़ानिस्तान में रूसी और जर्मन विशेषज्ञों के बहुत अधिक मात्रा में होने के कारण इंग्लैण्ड वाले ज़रूर चिन्तित हैं, और अमीर का विशेष स्वागत कर रहे हैं। अंग्रेज़ी सरकार उसे हर तरह से खुश करने का प्रयत्न कर रही है। स्थान स्थान पर भिन्न-भिन्न संस्थाओं की ओर से मानपत्र और उपाधियां दी जा रही हैं। उसे प्रत्येक प्रकार की युद्ध-सामग्री दिखाई जा रही है। हमारा अनुभव है कि इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि अमीर उसे देख कर भयभीत हो जाय और इंग्लैण्ड से मित्रता करने में ही अपना हित समझे। परन्तु अमीर भी इतना भोला नहीं कि इनसे विचलित हो जाय।

पनडुब्बियों के अन्त का असफल प्रयत्न

गत युद्ध में जर्मनी की पनडुब्बियों ने अपने शत्रुओं को बहुत हानि पहुँचाई थी। इसलिए तभी से इसका प्रयोग बन्द करने की चर्चा छिड़ती रही, परन्तु इसका कोई विशेष फल नहीं हुआ। अब संयुक्तराष्ट्र के मन्त्री श्रीयुत किलोग फिर इस चर्चा को छेड़ रहे हैं। उनकी इच्छा है कि सब राष्ट्रों से सन्धि द्वारा निश्चित कर लिया जाय कि पनडुब्बियों का प्रयोग युद्ध में न हो। उन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया भी, परन्तु सफलता की आशा नहीं है। इंग्लैंड इस का विरोध नहीं कर रहा, क्योंकि इससे उसको विशेष हानि नहीं है। उसके जंगी जहाज़ों को नष्ट करने वाली पनडुब्बियां नष्ट हो जायँ तो अच्छा ही है। कई अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने अमेरिका के इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया है। परन्तु इंग्लैंड के स्वीकार करने पर बात समाप्त नहीं हो जाती। आस्ट्रेलिया ने अभी इंग्लैंड में दो बड़ी-बड़ी पनडुब्बियां बनाई हैं। उसका कहना है कि पनडुब्बियाँ ही छोटे राष्ट्रों के लिए क्रियात्मक और कमखर्चीली हैं, जिनसे वे अपने समुद्री तटों की रक्षा कर सकते हैं। वे न बड़े-बड़े जहाज़ बना सकते हैं और न भारी सेनायें रख सकते हैं। केवल आस्ट्रेलिया ही नहीं, जापान भी पनडुब्बियों को नष्ट करने के लिए तैयार नहीं है। इटली भूमध्यसागर के पास रहते हुए अमेरिका की इस योजना को स्वीकार करेगा, यह असंभव है। जर्मनी के समाचारपत्र भी इसके पक्ष में कुछ नहीं लिख रहे। फ्रांस के लिए भी यह विकट समस्या है। उसकी सारी जहाज़ी ताक़त ही पनडुब्बियों में है। वाशिंग्टन के प्रसिद्ध सम्मेलन में पनडुब्बियों का प्रयोग न करने का निश्चय हुआ था, परन्तु फ्रांस के न घटाने पर यह विचार क्रिया में न आ सका। फ्रांस का कहना है कि उसकी स्थिति ही ऐसी ही है कि सामुद्रिक शक्ति में प्रबल इंग्लैंड उसके दर्वाज़े पर है। भूमध्यसागर में भी, जिसके द्वारा फ्रांस उत्तरीय अफ्रिका से व्यापार करता है, कई महत्वशाली स्थानों पर इंग्लैंड का अधिकार है। वह केवल पनडुब्बियों द्वारा ही अपने व्यापार और तट की रक्षा कर सकता है। इटली के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि उसका तट सुरक्षित नहीं है। केवल यूरोप ही नहीं अमेरिका के भी कई छोटे राष्ट्र इस योजना को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। पेरू की शक्ति ही केवल पनडुब्बियों में है। यहीं तक ही नहीं, संयुक्तराष्ट्र के भी कुछ पत्र श्रीयुत किलौग की इस योजना के पक्ष में नहीं। वाशिंग्टन के 'पोस्ट' ने लिखा है कि पनडुब्बियों को नष्ट करने से इंग्लैंड ही जल-सेना में सबसे प्रबल हो जायगा। संयुक्तराष्ट्र को भी अपने व्यापारियों और पनामा नहर की रक्षा के लिए शस्त्रास्त्र से सुसज्जित जंगी जहाज़ों को डुबोने में समर्थ पनडुब्बियों की आवश्यकता है। जब तक संसार के अन्य सभी राष्ट्र जहाज़ी शक्ति कम नहीं करते अमेरिका भी अपनी नाशक पनडुब्बियों को बहुत बढ़ावेगा।

तीन ऐसे छोटे-छोटे राष्ट्र भी हैं, जो श्रीयुत किलौग की इस योजना को मानने के लिए तैयार हैं। ऐसे राष्ट्र केवल स्विट्ज़रलैण्ड, अण्डोरा, ज़ेकोस्लोवेकिया और सनमैरिनो हैं। इनमें से पहले दो के पास तो समुद्र ही नहीं है। इन तीनों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर कुछ प्रभाव नहीं।

इस तरह श्रीयुत किलौग का यह प्रयत्न भी व्यर्थ ही गया।

इंगलैण्ड और मिस्र

इंग्लैण्ड ने मिस्र के साथ अब तक क्या कूट चालें चली हैं, यह पाठक जानते ही हैं। स्व० जगलूलपाशा के प्रयत्न से

जो वहाँ राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हुई, उसके कारण मिस्र पर से उन्होंने अपना नाम का अधिकार तो दूर कर लिया था, परन्तु वहाँ सेना रखने और कुछ विशेष अधिकार लेने का फ़ौलादी पंजा वैसे का वैसा ही रहा था। इसे दूर करने में मिस्र सफल न हो सका। जगलूलपाशा के बाद सरवतपाशा ने वहाँ के राष्ट्रीय आन्दोलन को जारी रक्खा।

अभी कुछ समय हुआ कि अँग्रेज़ों ने एक संधि की योजना मिस्री सरकार के पास भेजी। इसके अनुसार मिस्र में अँग्रेज़ी सेनायें रखने का अधिकार इंग्लैण्ड के पास ही रहा था और वहाँ अँग्रेज़ों के जान-माल की रक्षा के बहाने भी कई अधिकार इंग्लैण्ड के पास रक्खे गये थे। मिस्र की राष्ट्रीय सरकार के प्रधान मन्त्री सरवतपाशा ने इसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि इससे मिस्र की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। सरवतपाशा के इस उत्तर से अँग्रेज़ हैरान रह गये हैं। उन्हें मिस्र से ऐसे साहस की आशा न थी। वे वहाँ से सेना हटाने और विशेषाधिकार छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे, यह निश्चित है। अँग्रेज़ों का कहना है कि हमने संधि में पर्याप्त उदारता दिखाई है।

इस घटना के बाद सरवतपाशा ने प्रधानमन्त्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया है। अब नहसपाशा वहाँ के नये प्रधानमन्त्री नियुक्त हुए हैं। उन्होंने आते ही कहा कि आपस में समझौता हो जाने की बहुत संभावना है, परन्तु मिस्र की सरकार कोई ऐसी बात स्वीकार नहीं करना चाहती कि जिससे मिस्र की पूर्ण स्वतन्त्रता और उसके सूडान के अधिकारों में कोई बाधा होती हो। समझौता दो मित्रराष्ट्रों की तरह होना चाहिए, न कि जैसा प्रभु और सेवक में होता है। नये प्रधानमन्त्री ने विदेशियों को भी विश्वास दिलाया है कि उनके हितों की रक्षा की जायगी। अभी नहीं कहा जा सकता कि इस विरोध का भावी परिणाम क्या होगा। अँग्रेज़ अपने अधिकार छोड़ने को कहाँ तक तैयार होंगे, यह कहना कठिन है। इस स्थान पर अधिकार रखना अँग्रेज़ों के लिए राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्व का है। स्वेज़ नहर पर अधिकार रखने के लिए उसपर अधिकार रहना आवश्यक है। परन्तु मिस्र भी अब अँग्रेज़ों के इस पंजे से छूटने के लिए कटिबद्ध हो चुका है। एक न एक दिन अवश्य ही वह इस जुए को अपने कंधे से उतार कर फेंक देगा।

ईराक़ पर इब्नसऊद

ईराक़ का राज्य भले ही स्वतन्त्र कहा जाता हो, परन्तु है उसपर अँग्रेज़ों का प्रभुत्व ही। वहां का नाम मात्र का राजा फैजूल है, पर वहां के शासन और सैनिक रक्षा के सम्बन्ध का सब उत्तरदायित्व अँग्रेज़ों ने ले रक्खा है। अभी कुछ समय हुआ, हेजाज़ के महत्वाकांक्षी शासक इब्न सऊद ने उस प्रदेश पर आक्रमण कर दिया, जिसे वह धार्मिक युद्ध के नाम से पुकारता था। वह इस उपजाऊ प्रदेश पर बहुत समय से आँखें लगाये हुए है। इब्नसऊद के इस आकस्मिक आक्रमण से अंग्रेज़ों को बहुत चिन्ता हुई और उन्होंने भी सीमा की रक्षा का पूरा प्रबन्ध करने के लिए हवाई सेना भेजदी। बहुत संभव था कि यह युद्ध विकट रूप धारण कर लेता, परन्तु शीघ्र समझौते की बातें चलने लगीं। अभी नहीं कहा जा सकता कि क्या समझौता होगा? ईराक़ का प्रदेश व्यापारिक दृष्टि से ही महत्वशाली नहीं, फ़ारस की खाड़ी के तट के समीपवर्ती होने के कारण राजनैतिक दृष्टि से भी कम महत्व नहीं रखता। इसलिए अँग्रेज़ों ने इस प्रदेश पर फैजूल को राजा मान कर अपना अधिकार कर रक्खा है। पहले भी इब्नसऊद ने इस प्रदेश पर अधिकार करने का प्रयत्न किया था, परन्तु सफलता नहीं हुई। गत वर्ष जेद्दा की संधि में इब्नसऊद ने कोवीट और बेहरिन से मित्रता बनाये रखना स्वीकार किया था, परन्तु यह निश्चित है कि वह केवल हेजाज़ से संतुष्ट नहीं हो सकता। वह ईराक़ के उपजाऊ प्रदेश को लेने की कोशिश में है और इसके लिए उद्योग करता रहेगा। बेहरिन के रास्ते से ही प्रायः उसका संपूर्ण व्यापार होता है।

फ्रांस और संयुक्तराष्ट्र की संधि

इस सन्धि का वस्तुतः कोई महत्व नहीं है। केवल पुरानी संधि को किसी तरह जारी रखने के लिए ही दोनों राष्ट्रों ने यह संधि की है। इससे युद्ध रुके, ऐसी कोई सम्भावना नहीं है।

कृष्ण

वस्त्र-व्यवसाय के मज़दूर

नवम्बर १९२६ में श्रीयुत टी० शा की अध्यक्षता में वस्त्र-व्यवसाय के श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ की ओर से एक प्रतिनिधि-मण्डल भारतवर्ष के कपड़े के कारखानों के मज़दूरों की जांच करने आया था। एक साल तक उसने भारत में भ्रमण कर श्रमिकों की दशा के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट लिखी, उसका सारांश 'आज' के आधार पर नीचे दिया जाता है—

"श्रमिकों की आर्थिक अवस्था बहुत ही ख़राब है। उनके रहने का तो कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता। आबो-हवा, आदत, परम्परा तथा धर्म का विचार करते हुए भी भारतीय मज़दूरों के रहने के मकान, किसी भी सरकार के, चाहे वह ब्रिटिश हो या भारतीय, कार्य पर काला धब्बा और अप्रतिष्ठा हैं।

"भारतीय और यूरोपीय मिलों के मज़दूरों के कार्य-काल तथा वेतन में कोई अन्तर नहीं है। ब्रिटिश भारत से कहीं कम वेतन पर देशी रजवाड़ों में अधिक काम करना पड़ता है।

"केवल राजनैतिक स्वाधीनता से ही काम न चलेगा। ब्रिटिश भारत (यूरोपियन और भारतीय) तथा रियासतों में संगठित श्रमीसंघों आवश्यकता है। परन्तु इसमें सबसे बड़ी कठिनता यह है कि मज़दूर अशिक्षित हैं। इस व्यवसाय के कार्यकर्ताओं द्वारा सञ्चालित एक शक्ति-सम्पन्न व्यवसाय संघ (श्रमीसंघ) न होने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश तथा देशी सरकारों की लज्जास्पद उपेक्षा पर है। सरकार की अपेक्षा तो मिल-मालिक ही मज़दूरों की शिक्षा पर अधिक ध्यान दे रहे हैं।

"जब तक मज़दूर स्वयं शिक्षित होकर व्यवसाय-संघ का कार्य नहीं करेंगे, तब तक विशेष लाभ न होगा।

"अखिलभारतीय व्यवसाय-संघ के बनने में भी एक कठिनता है और वह यह कि भारत के एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में इतना अन्तर है कि व्यवसाय-संघ की केन्द्रीय संस्था बनने में कई वर्ष लगेंगे। स्वतन्त्र तथा स्फुट संघ बहुत से बन गये हैं।

"मज़दूर अनपढ़ होने के कारण बहुत कम वेतन पर काम करने को तैयार हो जाते हैं।

"भारतीय व्यवसाय-संघों की दशा बहुत शोचनीय है। बम्बई में वस्त्र व्यवसाय के मज़दूरों के दो संघ हैं, पर वे दोनों एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हैं। मद्रास में भी यही अवस्था है।

"व्यवसाय-संघ की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण वे अधिक उपयोगी काम नहीं कर सकते। उसके सदस्यों का चन्दा ही इतना कम है कि आर्थिक व्यवस्था अच्छी नहीं हो सकती।

"भारतीय मज़दूरों को उस विकट परिस्थिति का सामना तो करना ही पड़ रहा है, जिसका यूरोप के मज़दूरों को पहले करना पड़ा था; परन्तु साथ ही उन्हें जाति-पांति, रीति-रिवाज़ तथा धर्म-भेदों से भी लड़ना पड़ रहा है। फिर भी भारत के मज़दूर इतने उन्नत हो गये हैं कि वे बड़ी दिलेरी और साहस के साथ किसी अन्याय का विरोध करते हैं।

"यह आश्चर्य की बात है कि भारत में श्रमिकों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए कोई सहयोग की संस्था नहीं है।

"अहमदाबाद को छोड़कर चारों ओर व्यवसाय-संघ वस्तुतः व्यवसाय-संघ न होकर प्रतिस्पर्द्धी-संघ बन गये हैं। स्फुट प्रयत्न तथा विभाजित कार्य का सबसे कठिन कटु, दुःखद उदाहरण कलकत्ता है। यद्यपि वहां कई हज़ार श्रमी हैं, परन्तु उनमें केवल दो हज़ार ही संगठित हैं। और उनमें भी दो दल हैं। मज़दूरों का प्रबल संगठन बम्बई, अहमदाबाद तथा मद्रास में है।

"यूरोपीयन देशों के मिल मालिकों की भांति भारतीय मिल-मालिक व्यवसाय-संघों की स्थापना में वैसी बाधा नहीं डालते। कई तो इसे उत्तेजन भी देते हैं।

"यूरोप के कारख़ानों से भारतीय कारख़ानों की तुलना करना असंभव है। रुई या ऊन के सूत को कंघा करने के काम में लंकाशायर के कारखाने से ५ गुने अधिक श्रमी भारत में लगते हैं। जिस काम पर लंकाशायर में एक आदमी नियुक्त रहता है, उसी काम पर मद्रास में चार आदमी लगते हैं।

"भारत में मज़दूरों की दशा बहुत बुरी है, तथापि अब वह एक गुलाम नहीं रह गया है। उसको व्यवसाय-संघ में सम्मिलित होजाने का अधिकार है। यूरोप में इन संघों के जन्म के समय जो अवस्था थी, उससे अच्छी अवस्था भारत में अब है। यह आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही भारत का व्यवसाय-संघ उन्नत होजायगा।"

इस रिपोर्ट में भारतीय श्रमिकों की शारीरिक अवस्था, जाति-पांति, उनके व्यर्थ व्यय आदि पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। कुछ ऐसी बातें भी लिखी गई हैं, जो सरकार की व्यर्थ और असत्य प्रशंसा में हैं। उन्हें हमने छोड़ दिया है।

रेलवे मज़दूरों की हड़ताल

भारतवर्ष के तमाम मज़दूरों में सबसे अधिक संगठित और सुव्यवस्थित वस्त्र-व्यवसाय और रेलवे के मज़दूर हैं। इन्हीं में सबसे अधिक जागृति और शक्ति है। अन्य मज़दूरों की अपेक्षा अन्याय का विरोध यही दोनों अधिक काल तक और सफलता के साथ कर सकते हैं। कुछ मास पूर्व खड़गपुर के रेलवे मज़दूरों ने बड़ी शानदार विजय प्राप्त की थी। उसके बाद लिलुआ के वर्कशाप में हड़ताल शुरू हुई, परन्तु शीघ्र समझौता होजाने के कारण वह बन्द कर दी गई। अब फिर लिलुआ के वर्कशाप में हड़ताल होने के समाचार मिले हैं।

इस हड़ताल का कारण वही है, जो प्रायः होता है। मज़दूरों के वेतन और उनके साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न। लिलुआ के वर्कशाप के मज़दूरों की देखा-देखी हवड़ा के कैरेज विभाग के ५०० मज़दूरों और बामनगाछी के ३०० मज़दूरों ने भी हड़ताल कर दी है। यही नहीं, बंगाल-नागपुर रेलवे के श्रमी-संघ की कार्यकारिणी ने उनकी सहायता करने का निश्चय किया है।

खड़गपुर की शानदार हड़ताल से पराजित होने पर भी सरकार ने कोई शिक्षा नहीं ली. ऐसा मालूम होता है। अब मज़दूर जाग चुके हैं, उन्हें अपनी शक्ति पर विश्वास हो चुका है। अब सरकार को यह समझ लेना चाहिए कि उन्हें दबाने से काम नहीं चलेगा। इसी तरह मिल-मालिकों को भी हर समय यह ख़याल रखना चाहिए। टाटा के लोहे के कारख़ाने में रेल की पटरी बनाने वाले मज़दूरों ने वेतन न

बढ़ाने के कारण हड़ताल कर दी है; यह समाचार भी अभी मिला है।

यह समय हमारे लिए बहुत विकट है; यह समय हमारे राष्ट्र-निर्माण का समय है। इस समय का प्रत्येक आन्दोलन हमारे अन्दर एक विशेष स्थिर भाव—एक विशेष प्रवृत्ति—पैदा कर देगा, जो हमारे राष्ट्र के बन जाने पर दूर न होगी। वह हमारा स्थिर स्वभाव बन जायगा। यदि अभी हमने मज़दूर-जागृति की उपेक्षा की दृष्टि से देखा, तो यह पूंजीपति-मज़दूर-विद्वेष बढ़कर एक उग्र समस्या हो जायगी, जो हमारे राष्ट्र-निर्माण अथवा राष्ट्र की प्रगति में बहुत भयावह बाधा उपस्थित करेगी। यूरोप के राष्ट्रों की वर्तमान विकट स्थिति से उन्हें शिक्षा लेनी चाहिए। पिछली इंग्लैण्ड की सार्वजनिक हड़ताल से उसे करोड़ों रुपयों का नुक़सान हुआ।

एक बात और। पूंजीपतियों की इस विदेशी सरकार से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह भारत में इस समस्या का सच्चे दिल से उपाय सोचेगी। भले ही वह भारतीय लोकमत के आन्दोलन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रमी-संघ में भारतीय प्रतिनिधि भेज दे और श्रमी-सम्बन्धी कुछ क़ानून भी बना दे, परन्तु वह इस विद्वेष को सच्चे दिल से शान्त करने की चेष्टा करे, यह असंभव है। वह तो चाहती है कि यहां विद्वेष बढ़े और हमारे कारख़ानों को क्षति पहुँचे। इसलिए यह काम भारतीय मिल-मालिकों तथा नेताओं को ही करना पड़ेगा। यदि वे चाहते हैं कि भारतीय व्यवसाय उन्नत हो, और उसे संरक्षण मिले, तो उन्हें मजदूरों को उन्नत करना होगा और उन्हें संरक्षण देना होगा।

कृ॰ गा

किसानों के सुधार की समस्या

बम्बई इलाक़े के खेती विभाग के सुप्रसिद्ध डाइरेक्टर डॉ॰ मैन अभी २० वर्ष की अपनी नौकरी की अवधि पूरी करके इंग्लैण्ड गये हैं। वहाँ उन्होंने 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' के संवाददाता को मुलाक़ात दी। उसमें अपने अनुभव का सार सुनाते हुए उन्होंने कहा—

"भारतवर्ष के किसानों की स्थिति का विचार करते हुए हम एक बात को नहीं भूल सकते। वह यह कि भारत के किसानों को साल में छः महीने कोई काम न रहने के कारण बेकार रहना पड़ता है। आबपाशी के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय, बम्बई इलाक़े में तो फ़ी सैकड़ा तीन या चार ही आदमियों को बारहों महीने काम मिल सकेगा। अन्य किसानों को तो मामूली खेती पर ही निर्वाह करना पड़ता है। और उसमें ज़मीन में हद दर्जे का सुधार कर लेने पर भी उन्हें छः महीने से अधिक काम नहीं मिल सकता और खेती को छोड़कर देश के और सब धन्धे नष्ट हो जाने के कारण किसानों को शेष छः महीने बेकार ही रहना पड़ता है। इसलिए किसानों का सुधार करते समय हमें जिस बात का विचार करना चाहिए वह उनकी खेती का सुधार नहीं बल्कि उनकी इस बेकारी को दूर कैसे किया जाय यह है। उनका सवाल यह है कि बेकारी के छः महीने कैसे कटें? देश के शासक और समाज-सुधारक इस बेकारी के प्रश्न की उपेक्षा करके किसानों की उन्नति के लिए और चाहे कितने ही प्रयत्न करें, पर यह निश्चय है कि उन्हें उन प्रयत्नों में सफलता नहीं होगी। आप लोगों के सामने चाहे कितनी ही बड़ी-बड़ी और उदात्त योजनायें रक्खें, परन्तु यह पेट इन भूखों मरने वाले किसानों के दिमाग़ में उन्हें घुसने ही न देगा। और इसीलिए सरकार तथा देश के अन्य सुधारकों के प्रयत्न निष्फल हो रहे हैं। इसलिए उन्हें चाहिए कि वे इस महत्वपूर्ण प्रश्न को हाथ में लें। दूसरी बातों में महात्मा गांधी के विचार जो कुछ भी हों, परन्तु वर्तमान परिस्थिति में तो सिवा चर्खे के बेकार किसानों की मुक्ति का और कोई उपाय ही नहीं है।"

हमें आशा है कि बीस वर्ष के लम्बे अनुभव और अध्ययन के पश्चात् प्रकट किये गये डॉ॰ मैन के इन विचारों पर पाठक भी विचार करेंगे।

वै॰ प्र॰

विविध

फ़ैसिस्ट सरकार की आर्थिक नीति

किसी भी देश की आर्थिक अवस्था का ज्ञान सप्ताह दो सप्ताह के अध्ययन से नहीं हो सकता। फिर यदि कोई यात्री विदेश देखने की नियत से सरकारी अहलकारों की सहायता पाकर ख़ूब घूमे भी, और साथ ही सरकारी आँकड़ों के साथ पुस्तकें भी लिखता चले, तो उस पुस्तक को कहाँ तक प्रामाण्य माना जा सकता है? दूसरों को बदनाम करना हम नहीं चाहते, किन्तु हमें आश्चर्य होता है कि सर फ्रैंक फ़ोक्स ऐसे सुलेखक ने किस प्रकार केवल १०-१५ दिन में 'वर्त्तमान इटली' नामक पुस्तक लिखी और उसमें मुसोलिनी के शासन की आर्थिक विजय का झूठा चित्र खींच डाला! सर फ्रैंक ने यहाँ तक लिख डाला है कि मुसोलिनी के शासनारूढ़ होने के समय इटली छिन्न भिन्न हुआ ही चाहता था, तथा उसकी आबादी भूखों मरा चाहती थी। इन कथनों तथा मुसोलिनी की प्रशंसाओं की सत्यता जानने के लिए यह उचित है कि हम 'रोम पर फ़ैसिस्ट आक्रमण' के समय के पूर्व अर्थात् अक्तूबर १९२२ के पूर्व की इटली की अवस्था का थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त कर लें।

१९१३ में इटली का आंतरिक व्यवसाय इतना बढ़ा चढ़ा था कि वहाँ की रेलों द्वारा लगभग ३७१ लाख टन सामान का प्रति वर्ष यातायात होता था। महासमर के कारण चारों ओर कारोबार मन्दा पड़ रहा था। उस समय १९१८ में हिसाब करने पर पता चला कि यह संख्या घट कर केवल २८० लाख टन ही रह गई है। महासमर के कारण उत्पन्न दरिद्रता के परिणाम-स्वरूप १९२० में यह माल २७० लाख टन के लगभग ही रह गया। परन्तु व्यापार और व्यवसाय पुनः चमका और १९२२ में रेलवे कम्पनियाँ ३६१ लाख टन के लगभग माल पुनः ले जाने लगीं।

इटली का व्यवसाय भी साधारण न था। १९१३ में १११ लाख टन के लगभग कोयला वहाँ ख़र्च होता था और बाहर से आता था। महासमर में जब चारों ओर माल आना जाना बन्द हो रहा था, इटली में भी कोयला केवल ५० लाख टन ही आता था। परन्तु यह अवस्था सदैव न रही। यद्यपि सन् १९१९ में यह संख्या ६० लाख तक पहुँची थी, पर पुनः सन् १९२० में ५०½ लाख के लगभग हो गई थी। परन्तु इसमें इटली की दरिद्रता का कारण नहीं, बरन्तु आवागमन की कठिनाइयों के साथ साथ कोयले के मूल्य में बेहद बढ़ती थी। जो कोयला बृटिश बन्दरगाहों पर २ पौंड प्रति टन के हिसाब से पड़ता था, वही इटली आकर ८ पौंड प्रति टन पड़ता। परन्तु सन् १९२१ में कोयले का दाम घटकर २ पौंड १० शिलिंग हो गया था इटली में इसका आयात पुनः बढ़ गया और १९२२ में बढ़कर पुनः ९० लाख टन हो गया। परन्तु इस बीच में जब कोयले की खपत विशेष होने पर भी कोयला न मिला तो बिजली और तेल से बहुत सा काम लिया जाने लगा। उद्योग-धन्धे, जिन्हें कहा जाता है कि मुसोलिनी-शासन में बड़ी उत्तेजना मिली है, उस समय कैसे पनप रहे थे, इसका उदाहरण निम्न अंकों से जाना जा सकता है—

वर्ष	कम्पनियों की संख्या	पूंजी
१९१८	३,४६३	७२,५७० लिरा (इटली का सिक्का)
१९१९	४,५२०	१,३०,१४० ,,
१९२०	५,५४१	१,७७,८४० ,,
१९२१	६,१९१	२,०३,५०० ,,
१९२२	६,८५७	२,१३,९५० ,,

पाठक भली प्रकार समझ गये होंगे कि वह, जो सर फ्रैंक की पुस्तक* के अनुसार 'रोम पर आक्रमण' के समय

* Italy Today. By Sir Frank Fox (Jenkins. 105. 6d). March to Rome.

'भूखों मर रहा था,'‡ किस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि और उन्नति करता जा रहा था। पाठकों को एक संख्या और भी रोचक ज्ञात होगी। यदि इटली भूखों मर रहा था, तो उसने नीचे लिखी संख्या के अनुसार मोटर आदि विलासिता की वस्तुओं को किस प्रकार ख़रीदा होगा ? निम्नलिखित संख्या इटली में रजिस्ट्री की हुई मोटर-गाड़ियों की है—

वर्ष	निजी गाड़ियां	सरकारी गाड़ियां
१९१८ ...	१५,५६२	... १,२३५
१९१९ ...	२१,७५६	... २,११८
१९२० ...	२८,६०४	... २,८६२
१९२१ ...	३१,१६१	... २,६७७
१९२२ ...	३७,१६४	... ३,८७१

इससे पाठकों को मालूम होगया कि इटली मुसोलिनी से पूर्व कितना समृद्ध और सम्पन्न हो रहा था। परन्तु ऐसे अवसर पर सर फ्रैंक समृद्धि का श्रेय मुसोलिनी को देते हुए लिखते हैं कि १९२२ में सरकारी बजट में १२६,४९० लाख लिरा की कमी थी। फ़ैसिज़्म के प्रथम वर्ष अर्थात् १९२३ में वह कमी ३०,२९० लाख लिरा ही रह गयी और सन् १९२४ में तो वह घट कर ४,१८० लाख लिरा ही रही। १९२५ में ४,७९० लाख लिरा की बढ़ती हुई तथा १९२६ में वह बढ़ कर २०,६८० लाख हो गयी। इस प्रकार १९२२ से तुलना करने पर १९२६ में १४९,१७० लाख लिरा का लाभ रहा। यह है मुसोलिनी-शासन का महत्व। परन्तु अभी हम देखेंगे कि सर फ्रैंक के कथन में कहाँ तक सचाई है।

ख़ज़ाने के हिसाबों को जाँचने के लिए एक समिति इटली में होती है। उसका नाम है 'कार्ते दी कोन्ती' (corte dei conti)। इसके सभापति ने सन् १९२६ की २२,६८० लाख की अधिक आय पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी तथा यह घोषित किया था कि हम आपको १८,००० लाख लिरा इटली के पुनरार्थिक निर्माण (Economic reconstruction) के लिए व्यय किया जायगा।

‡ Italy Today Page 62.—"Italy seamed on the verge of dissolution ..." Population was put to the stress of starvation."

अब हम पाठकों को आय की इस धोखे की टट्टी का पूरा-पूरा रहस्योद्घाटन करेंगे। जिस समय शासन उसने अपने हाथ में लिया उस समय महासमर के उपरान्त प्रज्वलित आर्थिक अग्नि शान्त हो चुकी थी। महासमर के बाद संसार की अधिकांश महाशक्तियों को भयंकर आर्थिक सङ्कट का सामना करना पड़ा था। उस तूफ़ान का मुक़ाबला मुसोलिनी-सरकार को नहीं, पर उसके पूर्व की सरकार को करना पड़ा था। परन्तु फिर भी बहुत प्रशंसनीय योग्यता के साथ उसने अपना सङ्कट निबाहा। जनवरी १९२० में एक स्वतंत्र राष्ट्रीय ऋण द्वारा १८०,००० लाख लिरा उगाहा गया। १९२१ में साधारण क़ानून द्वारा ६०,००० लाख लिरा का व्यय कम कर दिया गया। सरकारी आय किस प्रकार बढ़ती गयी, यह निम्नलिखित अङ्कों से जाना जा सकता है—

वर्ष	आय
१९१८—१९	६,७५० लाख लिरा
१९२०—२१	१८८,२०० लाख लिरा
१९२१—२२	१९७,९०० लाख लिरा

यह तो उसकी आय हुई। परन्तु व्यय कितना करना पड़ता था, यह भी जानना चाहिए। महासमर के कारण विशेष व्यय बहुत बढ़ गये थे और बहुत बड़ी रक़म युद्ध सम्बन्धी ऋण आदि के चुकाने के लिए देनी थी। १९२०—२१ में १२१,००० लाख लिरा और १९२१—२२ में १२६,००० लाख लिरा उस व्यय की मद में दिया गया। सर फ्रैंक की संख्या पर विश्वास न कर पाठक यदि वास्तविक अंकों पर ध्यान देंगे तो उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मुसोलिनी-सरकार से कहीं अच्छी वह पूर्व की सरकार थी। १९१८—१९ में महासमर के व्यय इत्यादि के कारण वहाँ २२७,००० लाख की कमी थी, तहाँ सन् १९२२ में वह कमी केवल ४५,००० लाख की ही रह गयी। इतना बड़ा काम इतने थोड़े समय में फ़ैसिस्ट सरकार से पहले की सरकार ने किया। अब ज़रा सन् १९२६ के फ़ैसिस्ट बजट की इस अप्रतिम आय का रहस्य भी समझना चाहिए। इससे पूर्व की सरकार ने इतना सुंदर प्रबन्ध किया था कि जिस समय इनका शासन हुआ उस समय लड़ाई के ख़र्चों की केवल ६१ लाख लिरा के लगभग की रक़म देनी रह गयी थी।

१९२३–२४ में यह रक़म ४१ लाख के लगभग और १९२४–२५ में ३१ लाख रह गई। परन्तु इतने पर भी कर न घटाया गया था। इस प्रकार आय होती ही रही।

अब ज़रा सन् २६ की महान् आय का असली अर्थ समझना चाहिए। आय-व्यय के चिट्ठे में आय तथा व्यय पूरा-पूरा जोड़ लेने के उपरान्त जो बचता है वह अधिक आय कहा जाता है। परन्तु बिना व्यय जोड़े यदि हम कहना चाहें तो सभी व्यय की रक़म को आय कह सकते हैं। यही फ़ैसिस्ट बजट का रहस्य है, जिसको न समझने के कारण सारा संसार चमत्कृत हो जाता है तथा फ़ैसिस्ट शासन की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। पाठकों ने ऊपर 'कोर्ते दी कॉन्ती' के सभापति का वक्तव्य पढ़ा है। आपने बड़ी प्रसन्नता के साथ २२,६८० लाख अधिक 'आय' घोषित की है। परन्तु किस मक्कारी के साथ व्यय बिना जोड़े ही यह 'आय' 'आय' बतलायी गयी है, यह आपके इस कथन से जाना जा सकता है कि इसमें से १८,००० लाख लिरा देश के आर्थिक निर्माण में व्यय होगा। अब यदि इस २२,६८० लाख की नक़ली या ख़याली 'अधिक आय' में से १८,००० लाख की रक़म निकाल दी जाय तो केवल ४,६८० लाख ही बचता है और वास्तव में यही रक़म अधिक आय है, × जो मुसोलिनी के कई वर्षों के परिश्रम से तथा उस शान्तिकाल का विचार करते हुए बहुत थोड़ी है। क्रान्ति और आर्थिक संकट की अवस्था में ही मुसोलिनी के पूर्व की सरकार ने जो आर्थिक व्यवस्था और सुप्रबन्ध किया था, वस्तुतः उसीका यह परिणाम है। १९२१ के अन्त में ही इटली के एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ने तत्कालीन आर्थिक प्रगति देख कर कह दिया था कि १९२३-२४ तक सरकारी बजट की यह कमी पूरी होजायगी।

'विशेष आय' का रहस्य पाठक समझ गये। अब मुसोलिनी–सरकार की दूसरी आर्थिक विजय पर विचार करना चाहिए। कहा जाता है कि मुसोलिनी–सरकार की सफल आर्थिक नीति का यह परिणाम है कि (मई १९२७ तक) लिरा का मूल्य पौंड स्टर्लिंग में ८८ के बराबर होगया है। कहाँ १९२५ में १२१.१६ का अनुपात था, १९२६ में तो वह १४८.३२ तक होगया था। यदि हम 'मुसोलिनी–युगागमन' के पूर्व सन् १९२२ का विचार करें तो उस समय वह लिरा ९३ के मूल्य का (पौंड स्टर्लिंग में) था। फ़ैसिस्ट शासन प्रारम्भ होते ही वह गिर कर ९९ हो गया। इसके बाद यह फ़ैसिस्ट शासन का ही कुपरिणाम था कि वह निरन्तर गिरता ही जा रहा था। इसी कारण इटली की बहुत बड़ी हानि हुई। ऐसी अवस्था में यदि फ़ैसिस्ट-शासन ने अन्त में बड़े प्रयत्न के उपरान्त उसे ८८ तक पहुँचाया—सो भी अपनी आर्थिक योग्यता के कारण नहीं, परन्तु अमेरिका से तीन करोड़ लिरा क़र्ज़ लेकर—तो यह किसी प्रकार से उनकी योग्यता का समर्थन नहीं कर सकता।

कहा जाता है कि मुद्रा के चलन में नियन्त्रण करके यह मूल्य स्थिर किया गया है। चलन में जो रक़म फँसी थी, उसे कम किया गया है तथा १९२६ के अगस्त से लेकर १९२७ के अगस्त तक एक अरब लिरा चलन में से उठा लिया गया है। परन्तु किस मक्कारी के साथ यह रक़म बतलायी जाती है! हम इतने मूर्ख नहीं हैं कि साधारण अर्थशास्त्र की बात भी न समझ सकें। अवश्य एक अरब मूल्य की चलन उठा ली गयी है। पर वह रक़म काग़ज़ी चलन थी। चांदी का भी मूल्य नीति से तय किया गया है। जहाँ उसका असली मूल्य सुवर्ण का [illegible] भाग है वहाँ [illegible] ही रक्खा गया है। स्पष्ट शब्दों में काग़ज़ी सिक्का हटा कर चाँदी का सिक्का चलाया गया है, परन्तु चलन की संख्या में वह मात्रा छिपा दी गयी है। किस मात्रा में

× यह वस्तुतः ठीक नहीं है। मुसोलिनी के इस नये बजट में पहले सालों की अपेक्षा बहुत अधिक आय हुई है। वर्ष के साधारण व्यय को देखते हुए २२,६८० लाख लिरा अधिक आय ही है। इस बचत का बड़ा हिस्सा वहां की सरकार ने आर्थिक निर्माण—व्यवसाय, व्यापारादि की उन्नति के लिए (जो प्रतिवर्ष का ख़र्च नहीं है)—लगाया है, जो उसका बहुत प्रशंसनीय कार्य है। एक दूकानदार अपने वार्षिक व्यय को निकाल कर २००० रु० बचत करता है और उसमें से ५०० को नयी पूंजी का रूप देकर व्यापार बढ़ा लेता है, तो भी उसकी बचत १५०० न कहला कर २००० कहलायेगी। यही व्यवस्था यहां भी है। सं०

चाँदी का सिक्का चलाया गया है, यह भी किसी को नहीं मालूम ! मुसोलिनी की आर्थिक विजय का राग अलापने वाले भी यह नहीं जानते !

इस प्रकार आर्थिक दृष्टि से मुसोलिनी का फ़ैसिस्ट शासन कोई भी महत्व नहीं रखता, यह पाठकों को भली भांति विदित हो गया होगा।*

पं० पूर्णानन्द वर्मा

प्रतिस्वर

साधारणतः यूरोपीय विद्वानों और उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का विश्वास है कि भारतवासी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में बिलकुल जंगली और वहशी थे। उन्हें शिक्षा और सभ्यता का पाठ पढ़ाने का गौरव किसी को है तो वह यूरोप है। यही नहीं, बल्कि उनका यह भी विश्वास है कि संसार के लम्बे इतिहास में आज की बीसवीं सदी ही सब से उज्ज्वल पर्व है। आये दिन संसार में जो नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार और उनके विविध उपयोग दिखाई दे रहे हैं उनके आविष्कार का सेहरा भी दरअसल पश्चिम के सिर ही है। उनके इस विश्वास का एक कारण है; और वह कारण बड़ा प्रबल है। यूरोपीय शिक्षित समुदाय के दिमाग़ पर सृष्टि की उत्पत्ति और उसके विकास के सम्बन्ध में डार्विन के विकास-वाद ने गहरा प्रभाव डाल रक्खा है। हम जिस किसी भी प्रसिद्ध लेखक की पुस्तक को उठाकर देखते हैं उसपर डार्विन के विकासवाद की छाप लगी हुई होती है। उनके विश्वास के अनुसार मनुष्य (Vertebrate Type) रीढ़दार प्राणी है और उसके अवान्तरभेद (Mammal) स्तन वाले प्राणी की विभिन्न जातियों से विकसित होकर अथवा बन्दर (Ape) और (Half ape) वानर के भीतर से होता हुआ मानव रूप में पहुँचा है और वहाँ से विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार क्रमशः उन्नति करता हुआ आज इस योग्य हो सका है। विकास-वाद का यह सिद्धांत उनके दिल में इतना गहरा स्थान पा चुका है कि वे इसके विरोध में किसी बात को सुनना ही नहीं चाहते।

मगर हम डार्विन के विकास-सिद्धांत के अनुयायी नहीं। इसलिए सभ्यता-विकास सम्बन्धी हमारा विश्वास भी इससे बिलकुल विभिन्न है। भगवान मनु ने लिखा है—

> एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः

हमारा—और हमारा ही नहीं, बहुत से यूरोपीय विद्वानों का भी—विश्वास है कि भारतवर्ष ही संसार का आदिगुरु है। उसने ही दुनिया को शिक्षा और सभ्यता का पाठ पढ़ाया है। हम युक्ति और प्रबल प्रमाणों के आधार पर ज़ोरदार शब्दों में कह सकते हैं कि विज्ञान के वे आविष्कार जिनके ऊपर आज पश्चिम नाज़ कर रहा है, भारतीय ऋषियों के दिमाग़ से बाहर नहीं थे। नीचे की पंक्तियों में हम भौतिकी के प्रकाश वाले अध्याय में आये प्रतिस्वर (Focus) का उज्ज्वल स्वरूप संस्कृत साहित्य में दिखलाने का प्रयत्न करेंगे। साथ ही यह भी सिद्ध करने का यत्न करेंगे कि वह वृद्ध भारत, जिसके चरणों में बैठकर एक दिन संसार ने आचार-व्यवहार, शिक्षा और सभ्यता का पाठ पढ़ा, जो संसार को अध्यात्म-ज्ञान का प्रमाण दिखलाने वाला है, भौतिक विज्ञान के लिए भी यूरोप, अमेरिका या पश्चिम का ऋणी नहीं है; बल्कि उसके वह लंगोटबन्द ऋषि ही, जिन्हें आज जङ्गली और वहशी गिना जाता है, इस भौतिक विज्ञान के भी जन्मदाता हैं और वह मानवीय प्रयोगशाला (Loboratory) में बैठकर उन सिद्धांतों की आलोचना उतनी सुन्दर और कदाचित् उससे बढ़कर विद्वत्ता, दृढ़ता और सुन्दरता के साथ कर सकते थे, जितनी से कि आज सभ्यता के ठेकेदार और विज्ञान के उपासक पश्चिमी वैज्ञानिक करते हैं।

प्रायः हमारे पाठक आतिशी शीशे से परिचित होंगे। आतिशी शीशे को धूप में सूर्य के सामने रख कर उसकी दूसरी ओर एक नियमित दूरी पर अगर हम कोई चीज़ रखदें तो हम देखेंगे कि शीशे की शक्ति के अनुसार जल्दी या देर से उसमें अग्नि पैदा हो जायगी और यदि शीशे में तीव्र शक्ति है तो वह चीज़ स्पष्टतः और अच्छी तरह से जलने लगेगी। पश्चिमी विज्ञान के शब्दों में इसी सचाई को हम इस रूप में कह सकते हैं—

* अध्यापक मलंबर्ना के एक लेख के आधार पर।

Heat is also reflected to the focus, and if the glass is large paper can be ignited.

वैज्ञानिक कोष में इस शीशे का एक नाम Burning mirror भी है और वही बिन्दु, जिसका संकेत हमने 'नियमित दूरी' शब्द से किया है, वैज्ञानिकों की भाषा में Focus कहलाता है।

पाश्चात्य विज्ञान का फ़ोकस और उसका उपयोग लगभग इसी प्रकार का है।

संस्कृत साहित्य में भी हमें वह (Focus) बिन्दु उतने ही उज्ज्वल और प्रकाशमान रूप में दिखाई देता है, जितना कि वैज्ञानिक साहित्य के प्रकृत क्षेत्र में।

संस्कृत साहित्य का परिशीलन करने वालों से यास्क मुनि का काफ़ी से ज़्यादा परिचय होना चाहिए। इन्हींके निरुक्त के 'वैश्वानर' की विवेचना वाले प्रकरण में फ़ोकस का स्वरूप दिखाई देता है। उन्होंने लिखा है—

'उदीचि प्रथम समावृत्ते आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्क गोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते।'
(दैवत; अ०, १, पा० ६।)

अर्थात् सूर्योदय होने पर कंस या मणि को शुद्ध करके उसके प्रतिस्वर बिन्दु पर शुष्क गोमय—उपला—रख दिया जाय तो वह जलने लगता है। यास्क मुनि की ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तियां इतनी स्पष्ट हैं कि उनकी विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु फिर भी इनमें दो ऐसे रहस्य प्रयुक्त हुए हैं, जिनके सम्बन्ध में कुछ न लिखना केवल उनके साथ ही नहीं बल्कि सारे संस्कृत साहित्य के साथ अन्याय करना है। संस्कृत साहित्य का हरएक शब्द रहस्यमय और भावपूर्ण है—उसके एक-एक शब्द के भीतर लम्बा-चौड़ा और विस्तृत अर्थ भरा हुआ है।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त हुआ प्रतिस्वर शब्द भी इसी प्रकार का रहस्यमय शब्द है। हम ज्यों-ज्यों उसकी तह में घुसते हैं त्यों-त्यों उसके सौन्दर्य का विकास होता जाता है और अन्त तक पहुंचते-पहुंचते हम मुग्ध और स्तब्ध हो जाते हैं। और ऋषियों के दिव्य मस्तिष्क की, जिसने इसकी सृष्टि की, हज़ार बार तारीफ़ करते हैं।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार प्रतिस्वर शब्द की उत्पत्ति "स्वृ शब्दोपतापयोः" धातु से होती है, जिसका एक अर्थ है उपताप और दूसरा शब्द।

वैज्ञानिक संसार में भी फ़ोकस का प्रयोग विशेषतः दो बाद के प्रकरणों में ही आता है। एक है प्रकाश या ताप का प्रकरण और दूसरा है शब्द वाला अध्याय। स्वृ धातु के दोनों अर्थ इन्हीं दो भिन्न-भिन्न प्रकरणों में प्रयुक्त होने वाले भिन्नार्थक और एकरूप 'प्रतिस्वर' शब्द के बोधक हैं। प्रकाश के प्रकरण में आये हुए Focus शब्द के पर्याय में 'प्रतिस्वर' उपतापार्थक 'स्वृ' धातु से सिद्ध होता है। उपताप शब्द में आया हुआ उपसर्ग उप उसी अर्थ का बोधक है, जिसका कि 'उपप्रधान' शब्द का उप। एक ताप होता है और वह सीधा सूर्य से आता है। परन्तु इस शीशे से—लैंस से—कंस से—प्राप्त होनेवाला ताप सचमुच ताप नहीं है। वह उपताप है। अर्थात् प्रतिस्वर (Focus) से प्राप्त होने वाला ताप सीधा सूर्य से नहीं आता बल्कि वह उन किरणों का उपताप है जो कि उस लैंस—कंस—के द्वारा प्राप्त हुआ है अर्थात् प्रकाश या ताप के प्रकरण में आये हुए प्रतिस्वर शब्द में 'उपताप' की विशेषता रहती है। इस धातु से बने इस शब्द के साथ प्रति उपसर्ग को जोड़कर उसे और भी रहस्यमय बना दिया गया है।

स्वृ धातु का दूसरा अर्थ शब्द है। हम ऊपर की पंक्तियों में लिख आये हैं कि आधुनिक विज्ञान में फ़ोकस का उपयोग शब्द के अध्याय में भी होता है। फलतः स्वृ धातु के दूसरे अर्थ को लेना ही 'प्रतिस्वर' शब्द वाले अध्याय में प्रयुक्त हुए फ़ोकस का वाचक होता है।

जिस प्रकार फ़ोकस बिन्दु के द्वारा ताप का विशेष प्रभाव देखा जा सकता है उसी प्रकार फ़ोकस शब्द के विशेष प्रभाव को भी स्पष्ट कर सकता है। जिस प्रकार फ़ोकस द्वारा ताप प्राप्त हो सकता है उसी प्रकार शब्द भी। विज्ञान की पुस्तकों में इस प्रकार के अनेक परीक्षण दिये हुए हैं।

जिस प्रकार फ़ोकस के द्वारा प्राप्त ताप ताप नहीं

कहलाता है उसी प्रकार फ़ोकस के द्वारा प्राप्त शब्द स्वर नहीं कहला सकता। फ़ोकस द्वारा उपलब्ध ताप उपताप के रूप में परिणत हो जाता है तो फ़ोकस के द्वारा प्राप्त शब्द स्वर भी उपशब्द--प्रतिशब्द--प्रतिस्वर के रूप में परिवर्तित हो सकता है।

धन्य है! कमाल है!! एक ज़रा से शब्द के भीतर इतना रहस्य!!! गागर में सागर भरना और किसे कहते हैं?

अन्त में हम ज़ोरदार शब्दों में कह सकते हैं कि भारतीय ऋषि इस प्रकार के सम्पूर्ण वैज्ञानिक तत्वों से पूर्णतया अभिज्ञ थे, मगर फिर भी ये भौतिक बातें उनका ध्येय न थीं। इस त्याग-भूमि भारत में रह कर उनका ध्येय बस एक त्याग था—भौतिक सुख का त्याग, धन का त्याग, ऐश्वर्य और भोग का त्याग। बस, इस त्यागभूमि का त्याग ही एक आदर्श था और उसके त्यागी ऋषि इन सब लौकिक वासनाओं को त्याग कर अन्त में भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः। (गी० अ०३)

का अनुसरण करते हुए अपनी इहलीला को त्याग देते थे।

विश्वेश्वर

वर्तमान शासन और हिंसा

महात्मा गाँधी ने एक सज्जन के प्रश्न के उत्तर में उपर्युक्त विषय पर कुछ प्रकाश नीचे लिखे शब्दों में डाला है—

"अगर मुझे इस सरकार और हिंसा में से एक को चुनना ही पड़े, तो मैं हिंसा को ही पसंद करूँगा, गो कि मैं हिंसा के आधार पर चलते हुए युद्ध में सहायता नहीं करूँगा और न कर सकूँगा। मेरे लिए तो इसमें दूसरा रास्ता ही नहीं। आज की शान्ति तो हिंसा का ख़तरनाक रूप है, जो उससे भी बड़ी हिंसा या उसके करने की तय्यारी के नीचे दबाई हुई है। क्या यह अच्छा न होगा कि जो मरने या घर-बार छिन जाने के कायर भय से, मन में हिंसा से कुढ़ते हुए भी, जब्र किये हुए हैं, हिंसा कर लें और गुलामी से या तो स्वतन्त्र हो जायें या अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को लेने के प्रयत्न में मर जायँ?

......मैंने उसे (पुजारी को) कहा था कि अगर तुम अपनी जगह पर अहिंसा-भाव से डटे रह कर अपनी मूर्ति की रक्षा में मर नहीं सकते थे, तो तुम्हें दूसरों को मार कर भी मूर्ति की रक्षा करनी चाहिए थी। इसी भाँति मैं मानता हूँ कि वर्तमान कुशासन से हिंसा के द्वारा भी भारतवर्ष की स्वतन्त्रता प्राप्त करना अच्छा है, बनिस्बत इसके कि उसकी सम्पत्ति और प्रतिष्ठा दिन-रात लूटी जाती रहे और वह असहाय होकर तमाशा देखे।

मिलें क्या कर सकती हैं?

आजकल खद्दर का आन्दोलन बहुत महत्वपूर्ण हो गया है, परन्तु क्या यह आन्दोलन करते हुए स्वदेशी मिलों की बिलकुल उपेक्षा कर देनी होगी? यह शायद अभीष्ट होते हुए भी क्रियात्मक नहीं है। इसलिए अब विकट स्थिति में महात्मा गाँधी ने मिल-मालिकों और खद्दर के आन्दोलन-कर्ताओं को मिल जाने की सलाह दी है। मिलें क्या कर सकती हैं, इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित एक योजना 'यङ्ग इण्डिया' में लिखी है—

किसी दिन उन्हें (व्यापारियों को) इस विदेशी सरकार और प्रजा में से एक को चुनना ही पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश में इस सरकार की यदि सहायता नहीं तो रज़ामन्दी पर उनका जीवन निर्भर है।

......मगर कारख़ानों का अस्तित्व यदि सरकार की रज़ामन्दी या सहायता पर निर्भर है, तो प्रजा की भी सहायता या रज़ामन्दी पर भी कम निर्भर नहीं है। मिल-मालिक प्रजा की उपेक्षा तभी तक कर सकते हैं, जब तक कि वह अज्ञान, निर्बल या असंगठित रहे।

किन्तु मिलों की तो एक प्रकार की विशिष्ट स्थिति है। थोड़ा सा साहस, राष्ट्र के सच्चे स्वार्थ की थोड़ी सी पर्वा और थोड़ा सा ही आत्मत्याग करके, मिल-मालिक प्रजा और सरकार दोनों की सेवा कर सकते हैं।...मेरी नम्र सम्मति में वे यह काम यों कर सकते हैं—

(१) कुछ तेज़ी और मन्दी के सालों का कम से कम औसत जोड़कर वे अपने कपड़ों का दाम निश्चित कर सकते हैं।

(२) बहिष्कार-आन्दोलन (विदेशी कपड़े के) के

संगठनकर्ता नेताओं के साथ वे इसका समझौता कर सकते हैं कि कितना और किस क़िस्म का बनाना चाहिए।

(३) खादी बनाने वाले जो कपड़े तुरंत बना सकते हैं, उन कपड़ों का बनाना छोड़कर वे उन्हीं कपड़ों को बनाने में शक्ति लगा सकते हैं, जिन्हें वे खादी वालों से ज़्यादा जल्दी ही बना सकते हैं।

(४) अपना लाभ कम से कम लेकर जो बचत रहे, उसे वे बहिष्कार-आन्दोलन में लगा सकते हैं या यह ज़रूरी न होने पर अपने मज़दूरों की दशा सुधारने में लगा सकते हैं।

इसके अर्थ होंगे सभी ओर से ईमानदारी का बर्ताव, अध्यवसाय, पारस्परिक विश्वास, मज़दूरों, पूंजीपतियों और ख़रीदारों के बीच में स्वेच्छापूर्वक और तिहरा सम्मानित संगठन। इससे बहुत बड़े पैमाने पर संगठन करने की शक्ति सिद्ध होगी। यदि एक दिन हमें अहिंसा के द्वारा विदेशी कपड़े का बहिष्कार पूरा करना है, तो मेरी बतलाई जाँचें पूरी करनी होंगी।

……बहिष्कार में शीघ्र सफलता पाने के लिए खादी और सच्ची स्वदेशी मिलों का मेल इष्ट है, परन्तु नितान्त अनिवार्य नहीं है।

मृत्यु पर विजय !

आज-कल पाश्चात्य वैज्ञानिक जो आविष्कार कर रहे हैं, उनको देख कर दांतों-तले अँगुली दबानी पड़ती है। उन्होंने प्रायः सब काम करने के लिए मशीनों का आविष्कार कर लिया है। बहुतसे वैज्ञानिक कृत्रिम मनुष्य तथा कृत्रिम हृदय बनाने का बहुत काल से प्रयत्न कर रहे थे। कुछ ही समय पूर्व एक वैज्ञानिक ने एक ऐसा कृत्रिम मनुष्य बनाया था, जो बिलकुल जीता जागता मालूम होता था। उसमें ऐसा यन्त्र लगाया गया था कि वह अपने हाथों को उठा और नीचे कर सकता व स्वयं चल भी सकता था। अब एक दूसरे वैज्ञानिक ने बिजली के एक कृत्रिम हृदय का आविष्कार किया है। इस कृत्रिम हृदय को बहुतसे डॉक्टरों के सामने एक मरे हुए कुत्ते के शरीर में लगाया गया। हृदय की हरकत से कुत्ते के रुधिर में गति पैदा हुई और कुत्ते ने आँखें खोल कर इधर-उधर देखना शुरू किया। वह हालत एक-दो मिनट नहीं, कई घण्टे तक रही। अभी इसके दूसरे भी परीक्षण किये जा रहे हैं और उसकी कमियों को सुधारने का प्रयत्न हो रहा है। यदि इसमें वैज्ञानिकों ने पूर्ण सफलता पाई, तो मृत्यु पर विजय पाना आसान हो जायगा।

कृष्णा

कुछ ज्ञातव्य अंक

मृत्यु-संख्या

सन् १८७१-१८७५ से सन् १९२१ तक भिन्न-भिन्न देशों की मृत्यु-संख्या में इस क्रम से कमी हुई—

देश	१८७१-७५	१९२१
		प्रति सहस्र
इङ्गलैण्ड	२२०	१२१
जर्मनी	२८२	१४८
आस्ट्रिया	३२६	१७१
हंगरी	४५३	१९३
बेल्जियम	२३४	१३५
फ्रांस	२५०	१७७
स्पेन	३०१	२१५
इटली	३०५	१७५

परन्तु हमारे 'मा-बाप' अँग्रेज़ों के शासन-काल भारत में २७४ से ३०६ हो गई है, अर्थात् ३२ प्रति सहस्र बढ़ गई है !

पदार्थों की महंगाई

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकल कर जब भारतवर्ष इंगलैण्ड के हाथ में गया, तब से यहाँ पदार्थों की महंगाई निम्नलिखित वेग से बढ़ी—

पदार्थ	१८५७	१८९०	१९१८
गेहूं	३९ सेर	२५ सेर	५ सेर प्रति रुपया
चना	५१॥ ,,	२८ ,,	७ ,, ,,
चावल	१८॥ ,,	१२ ,,	४ ,, ,,
दूध	१६० ,,	६४ ,,	[illegible] ,, ,,

नन्दकिशोर अग्रवाल चौधरी

पहला सुख

एक नया अचेत आत्मघात

कुछ काल से इस देश में एक नवीन रूप में अचेत आत्मघात होने लगा है। इस आत्मघात में बहुधा एक दो घण्टे नहीं वरन् कई मास व्यतीत हो जाते हैं तब यह समाप्त होता है। यही कारण है कि इसका सच्चा रूप मरने वाले को अंत तक भी प्रकट नहीं होता। वह बिलकुल नहीं जानता कि मैं आत्मघात कर रहा हूँ। विपरीत इसके वह तो शरीर को सुख पहुँचाने के लिए इसको ग्रहण करता है। यह नया आत्मघात कोकेन का सेवन है।

कोकेन एक प्रसिद्ध औषधि है, जिसको डॉक्टर लोग अकसर आपरेशन करने के लिए काम में लाते हैं। इसको युक्त रीति से जहां भी शरीर में लगाया जाता है वही अंग ऐसा सुन्न हो जाता है कि चाकू से काटने पर भी पीड़ा नहीं होती। इस अनोखे और अत्यंत कष्ट-निवारक गुण के कारण डॉक्टरों के हाथ में इस विष ने अमृत-रूप होकर मनुष्य-जाति का बड़ा उपकार किया है।

यह तो इसका सदुपयोग है। परंतु ज्ञाताओं के हाथों से निकल कर यह चीज़ जहां अज्ञानों के हाथों में गई वहां उन्होंने अज्ञानवश इसको मनुष्य जाति के नाश का हेतु बना दिया। मूर्ख लोगों ने इस विष को पान में खाना प्रारंभ कर दिया। इसके सेवन करने वालों को यह ज्ञान नहीं कि यह विष है। एक ने खाया, दूसरे को खिलाया; इस भेड़चाल से इसके प्रेमियों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। सरकार ने इस विष को सर्व-साधारण मनुष्यों तक न पहुँचने के लिए पूरा यत्न कर रक्खा है, तिसपर भी इसका प्रचार दिन-दिन बढ़ता ही दीख रहा है।

इसका क्या कारण है? क्या इस वस्तु में कोई अनुपम गुण है, या पुष्टिकारक शक्ति है, कि जिसको प्राप्त करने के लिए लोग इसके बेतरह पीछे पड़े हुए हैं?

इस प्रश्न का उत्तर डॉक्टरी-शास्त्र से मिल सकता है। कोई सा भी विष-शास्त्र निकाल कर कोकेन के गुण-अवगुण देख लीजिए। सब शास्त्रकारों की यही सम्मति है कि कोकेन बड़ा भारी विष है। कोकेन के एक रत्ती के चौथाई भाग से भी कम का सेवन करने से साधारण व्यक्ति को विष चढ़ जाता है और पाँच रत्ती खाने से तो ४०—५० मिनट के अन्दर मनुष्य मर जाता है। कई और विष भी ऐसे हैं कि जिनका मनुष्य सेवन करता है—जैसे अफ़ीम, चण्डू, तम्बाकू, भंग, सुलफ़ा, गांजा, पोस्त, शराब इत्यादि। मगर कोकेन इन सबका दादा है। कोकेन पान में खाने से मुँह में सुन्न पैदा करता है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानों जिह्वा है ही नहीं, और क्षण-मात्र के लिए शरीर में बल मालूम होता है। बस, इतने ही सुख के लिए मूर्ख लोग इसको खाते हैं।

नशा—मात्र का यही स्वभाव है कि थोड़ी देर के वास्ते शरीर में कुछ जाग्रति पैदा होती है। सुख का भ्रम होता है। परंतु शीघ्र ही नक़ली सुख अपना सच्चा रूप (अर्थात् दुःख का) धारण कर लेता है। थोड़ी देर पहले शरीर में जो जाग्रति मालूम पड़ती थी, क्रम—क्रम से अशक्ति रूप में प्रकट होती है। मनुष्य निर्बल होकर फिर मात्रा को ढूँढता है। फिर ज़रा सी क्षणिक प्रबलता के पश्चात् वही बल्कि पहले की अपेक्षा अधिक अशक्तता लौट आती है। ज्यों-ज्यों नशे की मात्रा ली जाती है त्यों—त्यों उसकी आतुरता (craving) और प्रबल होती जाती है। परंतु साथ ही साथ शरीर का नाश भी होता जाता है। पहले-पहल यह दृष्टिगोचर नहीं होता, इसी कारण नशे वाले को उसका ज्ञान नहीं होता, परंतु कहां तक? आखिर विष अपना राज्य जमाता ही है। शारीरिक सहायक शक्ति की पराजय होती है। कोकेन की जय होती है। नशे ही नशे में भोजन की सुधि नहीं रहती। पाचन-शक्ति न्यून होती जाती है। मानसिक हानि साथ-साथ चलती है। शरीर के कुछ

होते-होते सब इंद्रियां शिथिल होती जाती हैं । रक्त पैदा नहीं होता । निद्रा का अभाव होने से रहा-सहा शरीर-बल नष्ट हो जाता है । अन्ततः मनुष्य नपुंसक हो जाता है ।

यहां यह बताना उचित है कि बहुधा कोकेन खाने वाले इसको वाजीकरण समझ कर खाते हैं। परन्तु इसका तो असर बिलकुल उलटा है । बस,होते-होते एक घातक चक्र (Vicious circle) के फंदे में वह मनुष्य फँसकर अत्यन्त दुःखदाई जीवन व्यतीत कर अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है ।

भला बताइए, ऐसी कोकेन कि जो तन, मन, धन तीनों को हर लेती है, कहाँ तक सेवन करने योग्य है ? प्राण को पुष्ट करने वाले तो दुग्ध, अन्न, जल ही हैं । अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि इन नशों को उनके सच्चे रूप में देख कर, अर्थात् विष जान कर, अपने शरीर में उनको कदापि स्थान न दें । शरीर-साधन के वास्ते इनकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है । इनको तो दूर से ही नमस्कार करना उचित है ।

रहा यह कि जो फंदे में फंसे हुए हैं वे किस उपाय से मुक्त हों । उनके लिए परमावश्यक बात यह है कि प्रथम तो उनको कटिबद्ध होना चाहिए कि नशे का परित्याग करना है । जब यह निश्चय कर लिया तो किसी अच्छे डॉक्टर की सहायता लेनी चाहिए । नशा त्यागने के दो मार्ग हैं । एक तो तत्काल त्याग और दूसरा क्रम-क्रम से। किस जगह कौन-सा काम देगा, यह निर्णय स्वयं नहीं करना चाहिए; बल्कि डॉक्टर की राय पर छोड़ना चाहिए । वह जैसा उचित समझे, उसकी आज्ञा पालन करके, अपना कार्य सफल करना चाहिए ।

नशे की आतुरता का स्वभाव है कि ज्यों-ज्यों उसकी पूर्ति करो त्यों-त्यों वह प्रबल होती जाती है । यदि मन को दृढ़ करके उसको रोका जाय, तो प्रथम बार जो रोकने में मानसिक बल खर्च होगा उससे दूसरी बार कम और तीसरी बार उससे भी कम खर्च करना पड़ेगा और इस प्रकार आतुरता का वेग क्षीण होता जायगा । इसके विपरीत मानसिक बल बढ़ता जायगा, जो अन्त में आतुरता का नाश कर देगा ।

इसकी सचाई और सफलता की परीक्षा करते हर एक को मालूम हो सकती है । आशा है, इस नये अचेत आत्मघात से तो लोग बचे होंगे; पर दूसरे नशों में भी यदि वे पड़े होवें, तो उनसे भी छूटने का प्रयत्न करेंगे ।

(डॉ०) ज्वालाप्रसाद

जीवन-वृद्धि का उपाय

समस्त प्राकृत पदार्थों में चैतन्य तत्व का अस्तित्व है । पशु-पक्षी, जल-चरादि प्राणी-मात्र इसी तत्व की सत्ता से घटते-बढ़ते और चलते-फिरते हैं । इस तत्व के 'प्रकट' होने से 'लय' होने तक का काल जीवन कहलाता है। इसी जीवन के उपयोगार्थ सद्गुणादि से द्रव्यादिक संग्रह किये जाते हैं । जीवन-संग्राम में सुख-शान्ति-लाभ का सम्मान भी इसी तत्व को प्राप्त है । यथार्थ में जीवन ईश्वरीय कृपा का अमूल्य प्रसाद तथा चैतन्य तत्व का शस्त्र है। इसी शस्त्र की सहायता से हम अपने लिए मोक्ष प्राप्त करते और अभीप्सित बन्धुओं को नरक के पंजे से छुड़ाते हैं । अस्तु ।

यूनान और मिस्र के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि पूर्वकाल में मनुष्यों ने जीवन को दीर्घ बना कर उससे लाभ उठाने के बड़े-बड़े उपाय किये थे । उनका विश्वास था कि प्रकृति के नियमों का पालन कर से आयुष्य की वृद्धि होती है । इसके लिए हिपाक्रेटिस और लाइकरगस आदि तत्कालीन विद्वानों ने जो नियम बनाये, वे आज भी उपयोगी हो सकते हैं—

१. स्वच्छ वायु-सेवन ।

२. स्वच्छ जल से स्नान ।

३. व्यायाम करना, और शरीर को मसल कर उसके प्रत्येक अवयव को सुन्दर-सुडौल बनाना ।

४. मिताहारी बनना ।

इन उपायों को वे प्रकृति के नियमानुकूल और श्रेष्ठ मानते थे । इन्हीं व्यायामों से आगे चलकर कसरत-विद्या (Gymnastic) का जन्म हुआ है ।

यही क्यों, मस्तिष्क शक्ति को सुशिक्षित करने पर भी वे पूर्ण ध्यान देते थे । डाक्टर क्रिस्तोफर के कथनानुसार शस्त्र-विद्या, खगोल-विद्या, शस्त्रोपचार तथा अन्य कला-कौशलादि का वे उत्साह-पूर्वक अध्ययन करते थे । व्यायाम

और आयुर्वेद में पूर्ण दक्षता प्राप्त करना तो उनका परमोद्देश्य था। उनका सिद्धान्त यह नहीं था कि उन्हें थोड़ा प्राप्त हों, बल्कि उनके द्वारा रोगादि शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करके दीर्घकाल तक जीवित रहना उनका लक्ष्य था।

इसी परमोत्तम जीवन की वृद्धि के अर्थ, जो यथार्थ में मनुष्य-मात्र के लिए बड़ा हितकर है, श्री प्रीटार्क का कहना है—"अपने दिमाग़ को शान्त रक्खो। पैरों को गर्म रक्खो। हरएक कमज़ोरी को दूर करने के लिए दवा खाने के बदले उपवास करो। शरीर और मन को एकसा व्यायाम कराओ, तो तुम्हारा जीवन दीर्घता और सुख-श्रेष्ठता को अवश्य प्राप्त होगा।"

अठारहवीं शताब्दि में यह विद्या यूरोप के अन्धकार में लुप्त थी, पर उन्नीसवीं शताब्दि में बेर मिलन नामक एक नामाङ्कित डाक्टर ने इंग्लैण्ड में इसपर प्रकाश डाला। इससे वहाँ अनेकों व्यक्ति रोग-मुक्त हो चुके हैं और अब दिनोंदिन इसकी प्रगति हो रही है। हम भी इसपर ध्यान दें, और उपर्युक्त नियमों का पालन करें, तो क्या अच्छा न होगा?

क.

उपवास

('फ़िज़िकल साइन्स' में बरनार मेक्फ़डन नामक विद्वान ने इस सम्बन्ध में एक विचारपूर्ण लेख लिखा है। उसके मुख्य-मुख्य अंशों का आशय निम्न प्रकार है।)

रोग-निवारण के लिए उपवास करने की प्रथा उतनी ही पुरानी है जितनी कि यह मनुष्य-जाति। बाइबल (ईसाइयों की धर्मपुस्तक) तक में, स्थान-स्थान पर, इसके अनेक हवाले मिलते हैं। कितनी ही बीमारियों के लिए उसमें उपवास और प्रार्थना करने का आदेश किया हुआ है।

क्षुधा हो चाहे नहीं पर अपने शरीर-बल को क़ायम रखने के लिए भोजन तो हमें करना ही चाहिए, यह विचार भ्रमोन्माद है। सालोंसाल जो अनेक व्यक्ति अपने समय से पहले ही चल बसते हैं वे सब प्रायः भोजन सम्बन्धी हमारी इन विक्षिप्त आदतों—ठूँस ठूँस कर खाने ही के कारण। सम्भव है कि कदाचित् विक्षिप्त शब्द इसके लिए बहुत उपयुक्त न हो, पर विवेक तो इसमें निश्चय ही बिलकुल नहीं। यह तो हमारी जिह्वा या स्वाद की गुलामी के ही कारण है।

फिर दावतों आदि में हम जितना खा जाते हैं साधारणतया वह हमारी आवश्यकता से कहीं ज़्यादा होता है। सच पूछो तो हमारी आवश्यकता तो उससे आधे में ही भली भाँति पूर्ण हो सकती है। अतः यदि हम इतना ही खायें, साथ ही बीच-बीच में उपवास द्वारा पेट को शान्ति भी पहुँचाते रहें, तो हम अपनी इच्छानुसार तो खायेंगे ही, साथ ही भोजन लगेगा भी मज़ेदार।

ऐसे भोजन से मांसपेशियों को उत्तेजना और पुष्टि भी ख़ूब मिलेगी। क्योंकि भोजन के आनन्द के प्रभाव से उनके द्रवपदार्थ पेट में पहुँच जाते हैं और वहाँ पहुँचते ही पाचन-क्रिया का आरम्भ हो जाता है। इसके विरुद्ध भूख न होने पर जो खाया जाता है वह अनिच्छित पेट में पहुँचता है। वह हज़म तो होता नहीं, बस वहाँ पड़ा रहता और सड़ कर गुड़गुड़ किया करता है। असल में इसीसे फिर हममें अनेक भयंकर-भयंकर बीमारियाँ भी पैदा हो जाती हैं।

अतः यह बात सचमुच बड़ी बढ़िया और विचारपूर्ण है कि "अपने स्वास्थ्य एवं बल को क़ायम रखने के लिए जितना भी कम भोजन किया जाय ये अमूल्य निधियाँ उतने ही अधिक काल तक क़ायम रहेंगी।"

पर विचित्रता तो यह है कि हरएक यही चाहता और करता है कि जितना भी मुझसे खाया जा सके वह सभी मैं खा जाऊँ! यदि इसका उलटा हो जाय—अर्थात् अपने स्वास्थ्य एवं बल को क़ायम रखने के लिए हम कम से कम खाने लगें, तो निश्चय ही इससे बड़ा लाभ होगा। सच तो यह है कि तमाम आधि-व्याधियों (रोगों) से बिलकुल बचा जा सकता है, ज़रूरत है सिर्फ़ यह जान लेने की कि कब और कैसे उपवास किया जाय? अपवाद इसमें भी मिलेंगे सही, पर बहुत कम।

अनेक धर्मादेशों में उपवास के लिए कुछ दिन निश्चित भी किये हुए हैं। बहुतसे धर्मोत्साहियों ने बिलकुल निराहार या दूध-फल अथवा ऐसे ही कठिन किसी अन्य नियम पर रहकर उनका पालन भी किया है। परन्तु बाद में जब 'शरीर-बल को क़ायम रखने के अर्थ ठूंस-ठूंस कर खाने' की पुन

सवार हुई, तो उनकी इस धुन पर चौका फिर गया।

लेकिन शरीर को तो इसकी ज़रूरत है ही। उसे तो बीच-बीच में अनेक बार भोजन की छुट्टी या उपवास की आवश्यकता होती है—ख़ास कर जब कि हमेशा हमें अपनी इच्छानुसार भोजन, बिना किसी रुकावट के, मिल जाता हो। क्योंकि जो लोग इस प्रकार के भोजन के आदी होते हैं, बीच-बीच में, उन्हें कोई न कोई रोग घेरे ही रहता है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे उनकी क्षुधा भी नष्ट हो जाती है; इच्छा होने पर भी वे खा नहीं सकते। उगल-घुगल कर ज़बर्दस्ती कुछ खा भी लेते हैं तो पेट हज़म नहीं कर पाता; किसी न किसी रूप में तुरत ही उसे बाहर निकाल देता है। तब अन्त में उन्हें उपवास करना ही पड़ता है। ऐसी दशाओं में अच्छा यही है कि उसी समय उपवास शुरू कर दिया जाय, जब कि भूख न लगने की शिकायत का आरम्भ ही हो। ऐसा किया जाय तो फिर न तो उन्हें अन्त में उत्पन्न होने वाली बाध्यावस्था का सामना करना पड़े, और न रोग ही उनपर हमला कर सकेगा। अतः सलाह की बात यही है कि हमेशा जब कभी भूख में कमी मालूम दे अपनी ख़ुराक कम कर दी जाय—भोजन बिलकुल बन्द कर दिया जाय तब तो कहना ही क्या!

सप्ताह में एक-दो दिन का उपवास करने की आदत ही डाल ली जाय, तब तो बड़ा अच्छा। इसके लिए सोम-वार का दिन मुझे तो सबसे उपयुक्त जँचता है। क्योंकि इस-से पहला दिन रविवार छुट्टी का दिन होने से पेट के लिए साधारणतया वह भाररूप होता है—काम-काज तो कुछ नहीं, बस दिन-भर यहाँ-वहाँ खाना ही खाना, और वह भी और दिन से भारी। पर हरएक इसका निर्णय अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार भी कर सकते हैं।

रहा यह कि उपवास किया कैसे जाय? सो इसमें ध्यान रखने की बात यही है कि पानी की पर्याप्त पिलाई में कसर न हो। इसके लिए हर एक या दूसरे घण्टे में अपनी प्यास को शान्त करने के लिए धीरे-धीरे पर काफ़ी पानी चूँस कर पियो। दिन भर में चौथाई से एक गैलन तक पानी पिया जा सकता है। ऐसा न करने से बहुधा रक्त गाढ़ा पड़ जाता है और उसका अभिसरण भलीभाँति नहीं होता। और उस दशा में रक्तविकार के चिह्न प्रकट होने लगते हैं।

कुछ उपवास ऐसे भी हैं कि जिनके साथ कुछ खाया भी जा सकता है और इसलिए उनके करने में ज़्यादा दिक्कत नहीं होती। जैसे कुछ लोग बिलकुल भूखे न रहकर दिन भर में दो-तीन नारङ्गियाँ अथवा उनका रस खा लेते हैं। ऐसे उपवास में यदि पेट की सफ़ाई लक्ष्य हो तो नारंगी के रस के साथ उसके छिलके में लगे हुए सफ़ेद गूदे को खाना भी हितकर है। इसी प्रकार कुछ लोग दिन में तीन बार एक-एक गिलास मट्ठा (Butter-milk) पीकर उपवास करते हैं। इससे भी पेट की सफ़ाई अच्छी होती है; साथ ही इससे उपवास का बोझ भी हलका हो जाता है। जिस प्याज़ को हम लोग हिक़ारत की नज़र से देखते हैं, वह भी कुछ कम फ़ायदेमन्द नहीं। शोधन-कार्य के लिए तो कच्चा प्याज़ ख़ास तौर पर उपयोगी है। इसमें बदबू तो ज़रूर है, पर कृमि-नाशक तत्व भी खूब है। ख़ास कर कच्चे प्याज़ में। वैसे रँधी हुई भी अच्छी होती है।

संक्षेप में उपवास के मुख्य सिद्धान्त यही हैं कि जब कभी भूख में कमी मालूम दे तभी उपवास कर लो। अच्छा तो यह है कि इसके लिए सप्ताह में नहीं तो कम से कम महीने में तो ज़रूर ही एक दिन निश्चित कर लो, और उस दिन अपनी आवश्यकता का विचार कर तदनु-सार उपवास कर लिया करो।

मुझे तो अपने लिए सोमवार का दिन उपवास के बहुत अनुकूल जँचता है। तुम भी अगर हार्दिक क्षुधा को क़ायम रखना और स्वस्थ बने रहना चाहता हो तो तुम्हें भी ऐसा ही कोई ढँग अख़्त्यार कर लेना चाहिए। अगर तुम स्वभावतः अल्पाहारी हो तो निश्चय ही बिना किसी कष्ट के तुम इस विधि का पालन कर सकते और बहुत दिनों तक अपने स्वास्थ्य को क़ायम रख सकते हो।

अनिश्चित काल तक स्वस्थ रहना चाहो तो, बीच-बीच में, एक-एक दिन का उपवास करने का निश्चय कर लो। ऐसा नियम न किया तो हर साल कुछ दिनों तक बीमार रहकर इसका दण्ड भुगतना पड़ेगा। और उस असहाया-वस्था में पड़े हुए पछताओगे कि 'हाय! पहले ही उपवास कर लिया होता तो यह दुःख न उठाना पड़ता!' ऐसे कुछ

अनुभव होने पर फिर बेज़रूरत अथवा बेभूख भोजन न करने का महत्व भी आप ही समझ में आ जायगा।

जब कभी सुस्ती और आलस्य मालूम पड़े, रोज़मर्रा का काम बोझ सा मालूम पड़े, और उत्साह व लगन न मालूम दे, तभी समझ लो कि तुम्हें उपवास की ज़रूरत है। ऐसे समय, एक या दो बार भोजन न करने पर तुम अपनी पूर्वावस्था पर आ जाओगे। इसके विरुद्ध यदि तुम क्षुधा-वृद्धि की दवा लेने जा पहुँचे, या अपना शरीर-बल क़ायम रखने के अर्थ ठूँस-ठूँस कर खाने का सिद्धान्त बना लिया तो बस क़यामत ही समझो—या तो सीधे क़ब्र का रास्ता नापोगे अथवा बिस्तरे की शरण।

इन नियमों पर यदि ध्यान दिया और इनका पूरा-पूरा पालन किया जाय तो ऐसी बाधायें बहुत कुछ रुक सकती हैं।

दिल खोलकर हँसो

इसलिए कि हँसने से दिमाग़ को क़ुव्वत (पुष्टि) मिलती है और शरीर बलवान बनता है—फिर अगर तहे-दिल से हँसा जाय, तब तो कहना ही क्या! आत्मा रूपी मकान की खिड़कियाँ खुल कर प्रफुल्लता रूपी धूप का साम्राज्य हो जाता है; जिससे उस सील और गर्द की तो क़यामत ही आ जाती है, जो कि भय और चिन्ता से पैदा होकर जमती है।

भय, क्रोध, और चिन्ता जीवन के प्रभात को सुखा डालते हैं। जहाँ इनका प्रादुर्भाव हुआ नहीं कि जीवन मानों शून्य और रस-हीन ही बन जाता है। फलस्वरूप मुँह में लार का प्रवाह नहीं रहता, सूखी ज़बान तालू से जा चिपटती है; होते-होते पेट, जिगर, यहाँ तक कि प्राणोपयोगी प्रत्येक अवयव का काम बिलकुल ही बन्द अथवा मन्द पड़ जाता है।

ऐसे समय हँसना बड़ा उपयोगी है। हँसने से शरीर के सारे कल-पुर्ज़े अपनी नियमित अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। स्नायुओं में नये वेग से रक्त का दौरा शुरू हो जाता और शरीर एवं मस्तिष्क को नयी उत्तेजना प्राप्त होती है। खुले दिल से, दिल खोल कर, 'हा! हा! हा!' हँसिए नहीं कि कलेजा खुशी के मारे ऊपर-नीचे उछलने लगता है। इससे शरीरावयवों को ऐसा हृदयोल्लास मिलता है कि उसके असर से पाचन-शक्ति सबल होती है; मूत्राशय का पित्त-विकार शमन होता है, और भोज्यनलिका में अनुकूल तरङ्गों की उहापोह मच जाती है।

सच तो यह है कि खुश होने पर तो हम हँसते ही हैं, परन्तु हँसने से भी हमें खुशी होती है, यह भी निसंशय है। हँसना क्या है, मानों गुलाब की कली का खिलना! फिर तहे दिल के हँसने का तो कहना ही क्या? निपट अभागा होगा वह, जिसके रोम हँसने से खिल न उठें।

अतएव हँसो, खूब हँसो, दिल खोलकर हँसो! हृदय की प्रत्येक मलीनता को हास्यरूपी धारा में बहा दो। इतना हँसो कि रंज और ग़म, मलाल और द्वेष, हिंसा और प्रति-हिंसा, ईर्षा और डाह तुम्हारे पास भी न फटकने पावें। कलह राक्षसी की तो फिर मजाल ही क्या, जो तुम्हारे पवित्र और निष्कलङ्क जीवन को स्पर्श भी कर सके। सोते उठो तो हँसते, काम करो तो हँसते हुए, बात करो तो हँसते हुए, मिलो-जुलो तो हँसते हुए, और विश्राम भी करो तो हँसते हुए! हँसने के धनी बन जाओ, सुरुचिपूर्ण हँसी को ही मूल-मंत्र बनालो—जीवन की दीर्घता, प्रसन्नता और आरोग्य-ता का। अन्तरतम से एक बार तो गूंज ही उठे 'अहा! हा! हा!'

हँसोड़

बलवान बनो

"बलवान बनो। 'गीता' का पाठ करने की अपेक्षा यदि तुम 'फुटबाल' खेलो, तो स्वर्ग के बहुत नज़दीक पहुँच सकते हो। तुम्हारा शरीर ज़रा तगड़ा हो जायगा, तो तुम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक 'गीता' को समझ सकोगे। तुम्हारा खून ज़रा ताज़ा रहने लगे, तो तुम श्रीकृष्ण की विशाल प्रतिभा और दृढ़ शक्ति को अच्छी तरह समझोगे।"

—स्वामी विवेकानन्द (बालक से)

नीर-क्षीर-विवेक

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]

मदर इण्डिया (हिन्दी)

मिस मेयो ने अपनी पुस्तक 'मदर इण्डिया' में, जिसका परिचय 'त्यागभूमि' में पहले दिया जा चुका है, हमारे विरुद्ध जो विष उगला है, जो झूठी-सच्ची लनतरानियाँ हाँकी है, उसके प्रतिवाद-स्वरूप छोटे-से-छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े भारतीय तक अपनी आवाज़ उठा चुके हैं। श्रीयुत रंगा ऐयर 'फ़ादर इण्डिया' द्वारा 'जैसे को तैसा' जवाब दे चुके हैं। श्रीयुत नटराजन तर्कपूर्ण पद्धति में पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं। लालाजी की 'दुखी भारत' पुस्तक प्रकाशित होने ही में है—हो भी गई हो तो ताज्जुब नहीं। उधर महामना एण्डरूज़ तथा रावलपिण्डी के एक पादरी साहब भी शायद इसपर लिखने का विचार कर रहे हैं। हिन्दी में भी श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल बी० ए० 'मदर इण्डिया का जवाब' लिख चुकी हैं—और उन्होंने अच्छा लिखा है। परन्तु प्रस्तुत पुस्तक अपने ढंग की अनूठी है। जो बहन-भाई अंग्रेज़ी नहीं जानते—और हमारी अधिकांश संख्या ऐसी ही है—वे इसमें पूरी 'मदर इण्डिया' का हिन्दी-अनुवाद पढ़ सकते हैं। इसमें पूरा अनुवाद तो है ही, साथ ही श्रीमती नेहरू लिखित "भूमिका" तथा "मिस मेयो से दो दो बातें" भी हैं। और 'परिशिष्ट' में महात्मा गांधी, ला० लाजपतराय, कवीन्द्र रवीन्द्र, श्री नटराजन, आदि की आलोचनायें भी जोड़ दी गई हैं। कोई ऐसी मुख्य बात नहीं रह जाती, जो इस संबंध में कोई महत्व रखती हो। दस चित्र भी हैं, जो मिस मेयो की 'मदर इण्डिया' के अमेरिकन संस्करण से लिये गये हैं। इस प्रकार पुस्तक सर्वांगीण है।

'मदर इण्डिया' कैसी है, यह तो पहले बताया ही जा चुका है। हाँ, उसका अनुवाद साधारणतः ठीक है। 'भूमिका' और 'मिस मेयो से दो दो बातें' श्रीमती उमा नेहरू की अपनी सूझ है, और, हमें कहना चाहिए कि, इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। स्वर्गीय महाकवि अकबर के इस पद्य से उन्होंने अपनी भूमिका का आरम्भ किया है, जो सर्वथा सत्य है—

"ज़ख़्मी न हुआ था दिल ऐसा,
सीने में खटक दिन-रात न थी।
आगे भी हुए थे कुछ सदमे,
रोये थे मगर यह बात न थी।"

इसके बाद गुलामी की स्थिति का विवेचन करते हुए भारत की दशा का वर्णन करके रुडयार्ड किपलिंग के इन उद्धृत शब्दों की याद दिलाई है—

'East is East and West is West,
And never the twain shall meet'

उनका कहना है, और बहुत ठीक कहना है, कि "जब पूरब और पश्चिम मिल नहीं सकते, साथ नहीं रह सकते, तो इन दोनों में से एक का मिटना लाज़मी है। इन दोनों में से कौन मिटेगा, यह हमें और भविष्य को निश्चय करना है।"

तब? आत्म-रक्षा के लिए हम क्या करें? मिस मेयो का वास्तविक उद्देश्य, श्रीमती नेहरू के शब्दों में, बिलकुल

संक्षेप में कहें तो,'संसार की सभ्य जातियों में हमें घृणित करना है।' और 'मदर इण्डिया' का प्रचार न करना या उसे न पढ़ना और इस प्रकार इस चित्र पर अपने देश में परदा डाल लेने से हमें कोई लाभ नहीं पहुँच सकता।... इस चित्र का उत्तर हम केवल एक ही प्रकार से दे सकते हैं कि हम इसे अपने एक-एक देशवासी को दिखा कर उसके हृदय पर इस चित्र के वास्तविक उद्देश्य को अङ्कित कर दें। हम इसी चित्र को, जो हमें अपमानित करने के लिए खींचा गया है, इस देश में स्वाभिमान उत्पन्न करने का साधन बनायें। और उस साम्राज्य-वाद को, जिसकी बुनियादों को पुष्ट करने के लिए ऐसी निर्लज्ज बातों के गढ़ने की आवश्यकता होती है, उसकी निर्लज्जता को, उसकी क्रूरता और घमण्ड को, जो 'मदर इण्डिया' की कल्पना और रचना दोनों से टपकता है, लोगों को इसी चित्र में दर्शाकर उस साम्राज्यवाद को, जो हमारी दृष्टि में 'संसार का भय' है, कम से कम भारत से निर्मूल कर देने के लिए उत्सुक बना दें।" यही ठीक भी है।

मिस मेयो द्वारा चित्रित भारतीय स्त्रियों की दुर्दशा, ख़ास कर प्रसूता और दाई का ज़िक्र करते हुए उन्होंने मिस मेयो से पूछा है—'क्यों मिस मेयो, अंतिम दो सौ वर्ष से तुम्हारे ही सजातीय, जिनकी तुम मुखपात्र हो, हमारे राजा हैं, रक्षक हैं, और अभिभावक हैं। इन दो सौ वर्ष के पहले भारतवर्ष की सभ्यता और सम्पन्नता की समस्त संसार में धूम थी। आज यह देश अछूत अभागिनी दाई के समान क्यों हो गया? और इसकी यह दुर्दशा किसने बना दी?" निस्सन्देह यह प्रश्न बड़ा रहस्य पूर्ण है और इसी में मिस मेयो के आक्षेपों का मूल छिपा हुआ है। श्रीमती नेहरू कहती हैं—"वास्तव में इसी प्रश्न के व्यंग को मिटाने और भारत-माता की वर्तमान भयंकर स्थिति का उत्तरदायित्व अपने सिर से हटाने के लिए ही 'मदर इण्डिया' की कल्पना और रचना की गई है।" और इसीलिए "यह एक अनभिज्ञ कुमारी के अनुभव नहीं बल्कि इतिहास के आरम्भ से आज तक जो कुछ भारत के विरुद्ध कहा गया है, या कहा जा सकता है, उस सबकी एक अपूर्व प्रदर्शिनी है। इस सुयोग्य पुस्तक में अँग्रेज़ी राज्य के भारत में क़ायम रहने की जितनी दलीलें इन्सानी मस्तक में आ सकती हैं, सब मौजूद हैं। साथ ही साथ भारतवासियों की दृष्टि को राजनैतिक बातों से हटाकर अन्य क्षेत्रों की ओर मोड़ देने के लिए जो कुछ भी अधिक से अधिक योग्यता के साथ कहा जा सकता है, कहा गया है।'

उक्त प्रश्न के दोनों पक्षों को हम पूर्ण रीति से जाँच सकें, इसके लिए श्रीमती नेहरू ने 'मिस मेयो से दो-दो बातें' शीर्षक कल्पित वाद-विवाद लिखा है। प्रश्नोत्तर के रूप में इसमें उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत की आज जो दशा है—क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या व्यापारिक और क्या नैतिक, सभी प्रकार—वह ब्रिटिश शासन से पहले न थी। हमारी तिजारत ख़ूब बढ़ी-चढ़ी थी, शिक्षा ऐसी सुव्यवस्थित और विस्तृत कि विदेशी चकराते थे, बीमारियों की गुज़र न थी, दुष्काल का तो नाम भी कहाँ! प्राचीन काल में भी हम औरों से बढ़े-चढ़े थे। परन्तु, अंग्रेज़ों के सब्ज़-क़दम हमारी पवित्र भू पर पड़े नहीं कि एक के बाद एक सभी उन बातों का आगमन आरम्भ हुआ, जिनके लिए कि आज हमें कोसा और हमपर ब्रिटिश छत्रछाया का समर्थन किया जा रहा है! ब्रिटिश साम्राज्य और उसकी कुटिलताओं के साथ-साथ हमारी अधोगति भी बढ़ती गई—यहाँ तक कि अन्ततोगत्वा हम आज की हीन स्थिति पर आ पहुँचे। फिर यह सब भी किसी स्वाभाविक नियमानुसार नहीं हुआ; बल्कि कूटनीति, जब्र और ज़बर्दस्ती के साथ किया गया। नये सुधार और नयी खोजों के नाम पर जितनी भी नयी सभ्यता की चीज़ें जारी की गईं सब विरुद्ध उद्देश्य से और उनके द्वारा हमारे स्वाभिमान एवं ऊँची नैतिकता को ही नहीं बल्कि हमारे 'अपनेपन' को भी हमसे भुला दिया गया। ये सब बातें कोरी काल्पनिक नहीं, उद्धरण पर उद्धरण और अंक पर अंक देकर श्रीमती नेहरू ने इस बात को दर्शाया है। और सिद्ध किया है कि स्वराज्य-प्राप्ति ही हमारी मुक्ति का साधन है। यह जो कहा जाता है कि पहले हम अपनी कुरीतियाँ दूर करें, इसपर श्रीमती नेहरू कहती हैं—"सुनो! इस संकट के समय हमें यह उपदेश देना कि हम अपनी तीस करोड़ जनता को शिक्षा दें—सात करोड़ अछूतों को और करोड़ों ब्राह्मणों को उनके प्राचीन

अन्धविश्वासों से मुक्त करें—वैधव्य को रोकें—बालविवाह को निर्मूल कर दें—और तब ही स्वतन्त्रता की ओर बढ़ें—हमें अपने विनाश का मार्ग दिखाना है।......देश की प्रधान आवश्यकता यह है कि हम अपनी समस्त शक्ति इस रथ के काल-रूपी चक्रों को रोकने में (स्वराज्य-प्राप्ति के लिए) लगा दें।......यदि हमने इन्हें शीघ्र ही न रोका और समाज-सुधार के काम में लगे रहे तो वह सब जनता, जिसका हम सुधार करना चाहते हैं, पिस कर चूर-चूर हो चुकी होगी।" इसीलिए तो यह 'मदर इण्डिया' का जाल रचा गया है! परन्तु, श्रीमती नेहरू कहती हैं, "फिर भी हम अभी मरे नहीं, जीवित हैं।" और हमारी मुक्ति के साधनों का इस सुन्दर भावुकता के साथ उन्होंने वर्णन किया है—

"दिन प्रति दिन यह विचार कि हम स्वयं अपने मिटाने में आपको सहायता दे रहे हैं, हमारे हृदय पर अंकित होता जा रहा है। और जिस दिन हमने आपके रथ से अपना हाथ हटा लिया उसी दिन उसका चलना बन्द हो जायगा। हमारा हाथ रोक लेना अविश्वसनीय नहीं, अविश्वसनीय यह है कि इसे हम स्वयं अपने हाथों से चला रहे हैं।

"दूसरे, मिस मेयो, आपके व्यापारिक अजगर से अपने को मुक्त कर लेने का साधन भी हमारे हाथ आ गया है; इस अजगर का विष खद्दर पर असर नहीं करता। इस अजगर के भयंकर शरीर के लिए खद्दर एक आग के लूके के समान है कि जिसकी आँच पहुँचते ही यह अपने शरीर की घातक गुण्डलियों को ढीला करने पर विवश हो जाता है। गो, मिस मेयो, आपकी शिक्षा ने, हमारे समाज के हृदय को पश्चिमी चीज़ों के मोह के जाल में फाँस दिया है, मगर फिर भी यदि हमें जीवित रहना है तो हम इस जाल से निकल जायँगे। देखो, यह जाल टूट रहा है। धीरे-धीरे, परन्तु अटल, असन्दिग्ध रूप में हम अपने उद्देश्य की ओर जा रहे हैं। हमारा आन्दोलन समुद्र की भाँति विकाल और शांत है। निस्सन्देह हम इस समय कृष्णपक्ष में हैं। परन्तु, मिस मेयो, देखिए! देखिए! वह दूर को देखिए! आपको कुछ प्रभा सी दिखाई देती है? यह सौंदर्यपूर्ण आकार हमारे दुःखमय अन्धकार के अन्त हो जाने के चिह्न हैं। यह बताते हैं कि हमारे जातीय जीवन का कला-विहीन—सुशील—प्रकाशमान—आकर्षणपूर्ण चन्द्रमा उदय हो रहा है। अबकी बार उसके उदय होने पर इस शान्त समुद्र में वह तूफ़ान उठेगा, जिसकी प्रबल अदम्य तरंगे आपके विशाल शक्तिशाली टाइटेनिक जहाज़ का ज़ोर आज़मावेंगी।"

निस्सन्देह! क्या ही अच्छा हो, यदि हम भारतीय इनके अनुसार करने भी लगें?

भाषा और भाव दोनों दृष्टि से श्रीमती नेहरू की ये 'दो-दो बातें' बड़ी अच्छी हैं। मेरा तो ख़याल है, 'मदर इण्डिया' पढ़ने के बाद इन्हें ज़रूर पढ़ना चाहिए। जो-जो दुराभाव उससे उत्पन्न होते हैं, सचमुच, इनसे उनका बहुत कुछ समाधान ही नहीं हो जाता; बल्कि भारत की स्वतंत्रता के लिए जी कुछ छटपटाने सा लगता है। सुना है, श्रीमती जी इसी ढंग पर एक दो-ढाई सौ पृष्ठ की पुस्तक और लिखने वाली हैं। यदि ऐसा हो तो हमें आशा है कम से कम हिन्दी-संसार उसका ज़रूर स्वागत करेगा।

भाषा सरल है। दो एक जगह उर्दू या अंग्रेज़ी के कई शब्द आ गये हैं, उनसे बचना और अच्छा होता। क्रम में, हमारी समझ में, 'दो-दो बातें' यदि 'मदर इण्डिया' के अनुवाद के बाद दी जातीं तो अच्छा होता। छपाई-सफ़ाई साधारणतः अच्छी है। जिल्द पक्की है। मूल्य भी १८४+४८४+८७ पृष्ठ की इस पुस्तक का ३॥) रु० अधिक नहीं। मिलने का पता है—हिन्दुस्थान प्रेस, प्रयाग स्ट्रीट, इलाहाबाद।

मुकुट

कुमार-हृदय का उच्छ्वास

लेखक—'शिशु-हृदय'। प्रकाशक—दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार सभा, १९३ हाइरोड, ट्रिप्लिकेन, मद्रास। पृष्ठ-संख्या १२८। मूल्य ॥)

उक्त सभा ने इस पुस्तक को प्रकाशित करके भारतीय नवयुवकों का बड़ा उपकार किया है। इससे बड़े पवित्र विचारों की ओर रुचि होती है। पुस्तक लिखी भी अच्छे ढंग से गई है। भाषा कुछ क्लिष्ट है, मगर एक बार हाथ में ले लेने पर बिना ख़त्म किये उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता। पढ़ते-पढ़ते कहीं-कहीं तो इसमें रवि बाबू की 'गीतांजलि' तथा 'गार्डनर' का सा रस आने लगता है। नवयुवकों को इसे ज़रूर पढ़ना चाहिए।

मा० उ०

होलिकाङ्क

होली के अवसर पर हास्य, विनोद, चुटकियाँ आदि मनोरञ्जक साहित्य से परिपूर्ण अंक निकालने की हिन्दी-पत्रों में कुछ प्रथा सी पड़ गई है। आर्यमित्र, अर्जुन, स्वदेश, प्रताप, अमर, स्वतंत्र, हिन्दू-संसार, आर्य-मार्त्तण्ड, मतवाला आदि कई पत्रों के होलिकांक हमें प्राप्त हुए हैं। सभी में अपनी अपनी थोड़ी-बहुत विशेषता है। कोई शाइस्ता मज़ाक़ में बढ़ा हुआ है, तो कोई अपनी निम्न रुचि का परिचय कराता है। होली की आड़ में अश्लील प्रवृत्ति का परिचय कइयों के लिए 'पेटेन्ट' सा हो गया है। हम नहीं समझते, यह कहाँ तक ठीक है। हास्य-विनोद, चुटकियाँ आदि हों ज़रूर, पर औचित्य की सीमा का उल्लंघन न किया जाय वहीं तक। जो हो, इस बार के पत्रों में 'स्वदेश' और 'आर्यमित्र' के होलिकांक सबसे अच्छे रहे। उनका चुनाव और मज़ाक़ प्रायः सभी अच्छा है। आशा है, अगले वर्ष हमें उनमें और सुरुचि और प्रगति के दर्शन होंगे।

मुकुट

साहित्य-सत्कार

मराठी

१. नाक व आरोग्य
२. हार्ट डिसीज़ व त्यावर उपाय
३. अमृतपान (उपःपान-सचित्र)
४. मज्जातंतूंची दुर्बलता
५. डोके दुखी

पाँचों पुस्तकों के लेखक व प्रकाशक—वैद्य गणेश पाण्डुरंग शास्त्री परांजपे (हरीपुरकर), सांगली, एस० एम० सी०। मूल्य, क्रमशः, ≡), ।≈), ।≈), ।≈), ।≈)

विविध

१. मोठी चुटकी (सामाजिक उपन्यास)—लेखक—"त्रिमूर्ति"। प्रकाशक—साहित्य-मन्दिर, दारागञ्ज, प्रयाग। पृष्ठ-संख्या ८ + १७० । सजिल्द । मूल्य १॥)

२. रंगीला भकराज (सचित्र कहानी)—लेखक—श्री 'दिनेश'। प्रकाशक—सरस साहित्य-माला-कार्यालय, पो० बा० ६८३७, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या ५६। मू० ।≈)

३. साहित्य-मीमांसा—लेखक—पं० किशोरीदास वाजपेयी, शास्त्री। प्रकाशक—साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा। पृष्ठ-संख्या ५०। मू० ।)

४. लाठी-शिक्षक (सचित्र)—लेखक व प्रकाशक—श्री यज्ञदत्त जाखड़, लाठी मास्टर राजपूत बोर्डिंग हाउस तथा दयानंद महाविद्यालय, अजमेर। पृष्ठ-संख्या ८०। मूल्य १) रु०

५. श्रीकृष्ण-सन्देश (गीता का हिन्दी गद्यानुवाद)—मुद्रक और प्रकाशक—'श्रीराम' प्रेस, स्यावरी, झाँसी। पृष्ठ संख्या ९७। मू० ॥)

६. पाशुपत-प्राप्ति—सम्पादक और प्रकाशक—हरिभक्तिपरायण विष्णु नरहर ललित, हरिकीर्तनाचार्य, काशी। पृष्ठसंख्या लगभग ६०। मू० ।≈)

७ कपिला-क्रन्दन—लेखक—श्री शोभाराम धेनुसेवक। प्रकाशक—श्री तुलसी ग्रंथमाला, लखनादौन (सिवनी), मध्यप्रदेश। पृष्ठ-संख्या ३२। मू०≈)

८. मित्रता—लेखक व प्रकाशक—श्री प्रतापमल नाहटा, मोमासर (बीकानेर)। मिलने का पता—ग्रन्थ-प्रकाशक, ७।१ प्यारीमोहनपाल लेन, कलकत्ता। पृष्ठ-संख्या ८९। मू० ।≈)

९. क्षत्रिय-वंश-प्रदीप—लेखक व प्रकाशक—श्रोत्रिय पं० छोटेलाल शर्मा, वर्ण-व्यवस्था-मण्डल, फुलेरा, रियासत जयपुर। पृष्ठ संख्या १०५४। मू० २॥)

१०. कवि-कृति—सम्पादक—श्री बा० अनन्तबिहारी माथुर। प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य हितैषी-भवन, नवमहल, ग्वालियर सिटी। पृष्ठ-संख्या २६।३ चित्र। मू० ।≈)

११. योगी गुरु—ले०—श्री स्वामी निगमानन्द परमहंस। दक्षिण-बंगाल सारस्वतमठ, हाली शहर (चौबीस परगना) से प्रकाशित। पृष्ठ-संख्या ३०३। मू० १॥)

१२. ब्रह्मचर्यसाधन लेखक और प्रकाशक उपर्युक्त। पृष्ठ-संख्या ९६। मू० ॥)

१३. बालबोध व्याकरण—लेखक—पं० मोहनलाल

शर्मा, शिक्षक एम० एम० स्कूल, उदयपुर (मेवाड़)। पृष्ठ संख्या ५६। मूल्य ।)

पत्र-पत्रिका

१. वालंटियर (अँग्रेज़ी मासिक)—सम्पादक व प्रकाशक—डा० एन० एस० हार्डीकर, हुबली। वार्षिक मूल्य ३) रु०

२. करेगट थॉट (अँग्रेज़ी मासिक)- प्रकाशक—एस० गनेशन, ट्रिप्लिकेन, मद्रास। वार्षिक मूल्य ५)

३. कलकत्ता म्युनिसिपल गज़ट—(अँग्रेज़ी साप्ताहिक)—प्रकाशक—कार्पोरेशन, कलकत्ता। वार्षिक मूल्य ४) रु०

४. आर्य दर्पण—(बंगला मासिक) श्री आसाम बंगला सारस्वत आश्रम, पो० कोकिलामुख (जोरहाट, आसाम)। वार्षिक मूल्य २) रु०

५—जैन-साहित्य-संशोधक—जैन इतिहास, साहित्य, तत्त्वज्ञान आदि विविध विषयक गुजराती त्रैमासिक। सम्पादक- मुनि श्री जिनविजयजी प्रकाशन-स्थान—अहमदाबाद। वार्षिक मूल्य ६) रु०

स्व-गत

यदि अपने सुख से सम्बन्ध रखने वाली श्रेष्ठ और कनिष्ट दो वस्तुओं में से किसी एक को पसंद करने का अवसर आवे, तो कनिष्ट वस्तु को स्वीकार करो। यदि लड्डू और रोटी में से, गद्दे और चटाई में से, हाथी की सवारी और बहली में से, दूध और छाछ में से, किसी एक चीज़ को पसन्द करना हो, तो देश-सेवक को रोटी. चटाई, बहली और छाछ पसंद करनी चाहिए।

❀ ❀ ❀

पर यदि कर्तव्य-पालन करने का अवसर हो और कठिन तथा आसान बात में से किसी एक को चुनने का प्रसंग आवे, तो सुधारक को चाहिए कि वह कठिन व कष्टप्रद बात को अङ्गीकार करे।

❀ ❀ ❀

एक साधु की एक गृहस्थ से रेल में लड़ाई हो गई। गृहस्थ साधु को असाधु कह कर गाली देने लगा। साधु उसे, 'साधु' को गाली देने के अपराध में, उससे दूनी गाली देने लगा। मैंने दोनों को दूर से प्रणाम कर लिया। बताइए, इनमें किस के नाम को रोवें ?

❀ ❀ ❀

कई मित्र कहा करते हैं कि कीर्ति के हेतु से भी अच्छा काम करने में क्या बुराई है ? मेरा निवेदन है कि जब कीर्ति के बजाय अपकीर्ति मिलने लगेगी, तब वह मनुष्य उस कार्य से दूर हट जायगा और कभी-कभी कीर्ति-लोभ से अनुचित कामों को भी कर बैठेगा।

❀ ❀ ❀

क्या तुम्हें स्वराज्य की चाह है ? आज़ादी की उमंग है? तो, भाई, फिर मिष्ठान्न की योजना, ब्याह-शादी का रंग-राग, बाल-बच्चों की दुहाई, गद्दे और गलीचों की चिन्ता कैसी ?

❀ ❀ ❀

जब-जब मैं किसी पढ़े-लिखे आदमी को यह कहते सुनता हूँ कि आपकी खादी तो महँगी पड़ती है, इसलिए लेने को जी नहीं चाहता: तो, ईश्वर जाने, मेरे मन में क्या-

क्या होने लगता है! जब किसी प्रौढ़ विद्यार्थी को, महात्मा जी अथवा लोकमान्य या मालवीय जी जैसे के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं और सिद्धान्तों से अपरिचित पाता हूँ, तो मेरा सिर चक्कर खाने लगता है!

❀ ❀ ❀

जिसे समय पर खाना खाने की सुध रहती है, जो कभी बीमार नहीं पड़ता, जिसका वज़न घटता नहीं रहता, जिसे दूध-फल खाने को पैसे मिल जाते हैं, जो साफ़-सुथरे कपड़े तरतीब से पहनता है, जिसे हास्य-विनोद के लिए समय मिल जाता है, वह कैसा देश-भक्त? जिसे रात-दिन देश की सच्ची चिन्ता रहती है, उसे भला इन सब बातों के लिए होश कैसे रह सकता है!!

❀ ❀ ❀

आजकल नेताओं को कोसने की बीमारी चल पड़ी है। कभी-कभी मन में यह शंका उठ खड़ी होती है कि कहीं कोसने वाले तो नेतागिरी के मर्ज़ में मुब्तिला नहीं हैं?

❀ ❀ ❀

नेता बनने की इच्छा बुरी नहीं, पर केवल औरों को कोस कर नेता बनने का उदाहरण इतिहास में शायद ही मिले।

❀ ❀ ❀

अपनेको बड़ा मान लेने से केवल अपनी ही हानि नहीं होती, केवल अपनी ही उन्नति नहीं रुकती, बल्कि औरों के साथ भी अन्याय होता है—उन्हें हम तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं।

❀ ❀ ❀

अहंकार कई बार आत्म-सम्मान के रूप में आकर हमें धोखा दे जाता है! मान तो वह, जिसकी चिन्ता हमें न करनी पड़े।

❀ ❀ ❀

एक मित्र ने कहा—'त्यागभूमि' तुमने निकाली तो खूब है; पर, इस प्रतिस्पर्धा के युग में उसे टिका कैसे सकोगे? मैंने उत्तर दिया—मेरे सामने प्रतिस्पर्धा का सवाल नहीं है। मेरे सामने तो सिर्फ़ एक ही बात है—'त्यागभूमि' के द्वारा देश की अधिक से अधिक सेवा किस तरह हो? जिस दिन उसमें से सेवा का भाव निकल जायगा, उस दिन प्रतिस्पर्धा न होगी तो भी, वह न टिक सकेगी।

❀ ❀ ❀

एक मित्र ने उस दिन कहा—जी, आजकल लोगों को बात-बात में अश्लीलता की बू आ जाया करती है। एक चित्र में कृष्ण पीछे से गोपी का पल्ला पकड़ रहे हैं। बस, होने लगी पुकार अश्लीलता की! मैंने अर्ज़ किया—जनाब! कृष्ण को क्या पड़ी थी, जो किसी राह-चलती गोपी का पल्ला पकड़ते—उससे छेड़खानी करते? और इस छेड़खानी के रस के सिवाय कौनसा आकर्षण उसमें था, जिसके वशवर्ती होकर संपादक जी ने उसे पत्रिका में स्थान दिया?

❀ ❀ ❀

एक सज्जन लिखते हैं—"आप तो त्याग का उपदेश करते हैं, खुद ही त्याग करके 'त्यागभूमि' मुझे बिना मूल्य भिजवा दीजिए।" यदि सभी ग्राहक इतने उस्ताद हो जायँ और हमें त्याग की इस कसौटी पर कसने लगें, तो शायद 'त्यागभूमि' को अपना जीवन ही त्याग देना पड़े।

❀ ❀ ❀

स्वार्थ-भाव, न्याय-भाव और सेवा-भाव ये मनुष्य के विकास की उत्तरोत्तर सीढ़ियाँ हैं। स्वार्थ-भाव में दूसरे का हिताहित गौण होता है, न्याय-भाव में अपना और दूसरों का हिताहित समान होता है, सेवा-भाव में दूसरे के हित की प्रधानता होती है। स्वार्थी मनुष्य निष्ठुर होता है, न्यायी कठोर होता है, और सेवार्थी सदय, सहृदय।

❀ ❀ ❀

अक्सर लोग कहा करते हैं, सत्य तो कड़वा होता है। मेरी तो धारणा ऐसी होती जाती है कि सत्य और कटुता एक साथ नहीं रह सकते।

❀ ❀ ❀

मनुष्य या तो गुस्से में, या निराशा में, या धीरज छोड़ते हुए, कड़वी बात मुँह से निकालता है। सत्य का पुजारी इन तीनों दोषों से बचता रहता है।

❀ ❀ ❀

हरिभाऊ उपाध्याय

सम्पादकीय

प्रताप की पूजा

प्रताप की पूजा का पवित्र दिन समीप आ रहा है। २२ मई, ज्येष्ठ शुक्ल तृतिया, इस स्वतंत्रता के पुजारी और वीरता के देवता का जन्मदिन है। उस दिन न केवल राजस्थान बल्कि समस्त भारतवर्ष में प्रेम और उत्साह के साथ प्रताप की जयन्ती मनाई जानी चाहिए। भारत इन दिनों बुरी तरह परतंत्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, उसका शौर्य और उसका पौरुष इस समय सोया हुआ है, वीरों की तरह जीने की और वीरों ही की तरह हँसते-हँसते मर-मिटने की उसकी वे मानवोचित आकांक्षायें न जाने कहाँ विलीन हो गई हैं। अपनी उन सोयी हुई शक्तियों को जाग्रत करने के लिए और अपनी नसों में संजीवन की विद्युल्लहरी सञ्चारित करने के लिए मुर्दा दिलों में भी रुह फूँक देने वाले इस पवित्र नाम का स्मरण और उसका गौरव-मय गुण-गान करके हमें अपनी आत्माओं को सुषुप्ति की गुहा से निकालने का प्रबल प्रयत्न करना चाहिए। सच्चे वीर की पूजा अवश्य ही वीरता के सरोवर में स्नान करने के समान सुफलदायिनी है।

प्रताप वास्तव में सच्चा वीर है। संसार के इतिहास में उसका स्थान बिलकुल अपना ही स्थान है। वह असंख्य सेना के बल पर दिग्विजय के लोभ में पड़ कर निरीह और निर्दोष लोगों पर अनाचार और अत्याचार करने वाला 'वीर' नहीं; वह तो अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा में मर मिटने वाला, अपने देश, अपने धर्म और अपनी जाति की मर्यादा में सर्वस्व स्वाहा कर देने वाला एक ऐसा वीर है जिसने निर्भय होकर अपने ज़माने के संसार के सबसे बड़े सम्राट को युद्ध के लिए ललकारा और जिसने जीवन-पर्यन्त एक से एक बढ़-चढ़ कर आने वाली अकबर की सेनाओं का मान मर्दन किया, जिसकी पराजय भी बड़ी से बड़ी विजय से अधिक गौरवशालिनी थी और जिसने न केवल शत्रु-सेना के साहस को ही बल्कि अपनी सच्चरित्रता और उदारता से अपने परमशत्रु के हृदय को भी जीत लिया। प्रताप के गुण-गान से हमें उसके पद-चिह्नों का अनुसरण करने की प्राण-मयी प्रेरणा मिले बिना न रहेगी। इसलिए प्रत्येक भारत-वासी और विशेषतः राजस्थान-निवासियों का यह कर्तव्य है कि उस पुण्यतिथि को प्रताप की पवित्र स्मृति के चरणों में सब मिलकर अपनी प्रेममयी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने की तैयारी करें।

कार्यक्रम के तौर पर कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं। आशा है, प्रताप-प्रेमी उनपर ध्यान देंगे और कार्य-रूप में उन्हें परिणित करेंगेः—

(१) जहाँ कुछ भी सजीव और प्रताप-भक्त हृदय हों वहाँ नगर-नगर और गाँव-गाँव में सार्वजनिक सभा हो और सम्भव हो तो जलूस निकले।

(२) रात्रि को घर के बालकों और स्त्रियों आदि को एकत्रित करके प्रताप की कथा कही जाय।

(३) सहृदय भक्त और मातायें उस दिन व्रत रक्खें और प्रताप-कथा सुनने के बाद पारणा के समय मातायें ईश्वर से प्रार्थना करें कि हमारे पुत्र प्रताप जैसे हों और बहनें कहें कि हमारे भाई प्रताप के समान हों।

(४) पाठशालाओं में उस दिन केवल प्रताप-गाथा हो और फिर छुट्टी रहे।

(५) राज्यों की ओर से प्रताप-जयन्ती मनाई जाय। अदालतों आदि की उस दिन छुट्टी रहे। शक्ति का परिचय देने वाले खेलों का निदर्शन हो।

(६) जिनकी श्रद्धा हो वे भाई और बहन प्रताप-स्मारक के लिए कुछ दान का सङ्कल्प करें।

पुण्य-भूमि मेवाड़ के अधिकारी और कार्यकर्ताओं से मेरा सप्रेम और साग्रह अनुरोध है कि

(१) इस बार प्रताप-जयन्ती गत वर्ष से भी अधिक धूम-धाम और प्रेम से मनायें।

(२) पिछले वर्ष प्रार्थना देर से की गई फिर भी राज्य की ओर से आधे दिन की छुट्टी कर दी गई थी। अब प्रताप-जयन्ती के उपलक्ष्य में एक या दो दिन की छुट्टी निश्चित हो जानी चाहिए।

(३) मेवाड़ की राजधानी में शानदार जलूस निकले जिसमें प्रजावर्ग के साथ-साथ अधिकारीवर्ग भी सम्मिलित हों।

(४) नगर भर के विद्यार्थियों को मिठाई बाँटी जाय ताकि उनके मन पर उस दिन के महात्म्य की छाप पड़े।

(५) मेवाड़ के सामन्तों को भी बड़े उत्साह और प्रेम के साथ इसमें भाग लेना चाहिए और अपने-अपने ठिकानों में प्रताप-जयन्ती मनाने का आयोजन करना चाहिए।

(६) प्रताप-स्मारक और हल्दीघाटी पर प्रताप-मेले का अवश्य ही और शीघ्र ही आयोजन करना चाहिए।

गत वर्ष कई स्थलों पर प्रताप-जयन्ती समारोह के साथ मनाई गई थी। मुझे आशा है, इस वर्ष और भी अधिक उत्साह के साथ हम अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने की तैयारी करेंगे। अजमेर में आर्य-समाज और हिन्दू-सभा दोनों प्रतिष्ठित और प्रभाव-शाली संस्थाओं को मिल कर अपने देश के इस अपूर्व गौरवस्तम्भ और स्वतंत्रता के मतवाले वीर की जयन्ती मनाने का आयोजन करना चाहिए। मेवाड़ को तो अपने इस विश्व-वंद्य पूर्वज का समुचित सन्मान करना ही होगा।

आर्यसमाज अजमेर का उत्सव

आर्यसमाज देश की एक जीती-जागति संस्था है। और अजमेर, आर्यसमाज का, एक शक्तिशाली और प्रसिद्ध केन्द्र है। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द अजमेर में बहुत दिनों तक रहे और यहीं उन्होंने अपनी भौतिक लीला संवरण की। बीसवीं शताब्दि के इस मृत्युञ्जय वीर और ब्रह्मचारी ऋषि को अजमेर प्यारा था, इसमें एक रहस्य है। ऋषि की राजपूताने में बड़ी श्रद्धा थी। राजपूतों के वीरता से भरे हुए अद्वितीय इतिहास में—उस इतिहास में, कि जिसका सानी संसार भर में खोजने पर भी नहीं मिलता, दयानन्द को एक नैसर्गिक आकर्षण दिखाई दिया। उन्होंने सोचा कि यदि इस निर्भय, वीर और धर्म-प्राण राजपूत जाति को एक बार जागृत कर दिया, तो देश की इस गिरी हुई दशा को सुधारने में, धर्म के मूल तत्वों की संस्थापना करने और भारतमाता को बन्धन-मुक्त कराने में बड़ी सहायता मिलेगी। इसीलिए वह राजपूताने में घूमे और जब उन्होंने राजपूत राजाओं को अपने धर्म से च्युत और विषय-विलास की कीचड़ में पड़े हुए पाया, तो दुःखित हृदय से उन्हें फटकारा भी। राजपूताना उस समय सो रहा था। उसने इस तपो-मूर्ति सन्यासी को ठीक तरह से पहचाना नहीं, और इसलिए स्वामी के जी की वह बात दिल की दिल ही में रह गई!

किन्तु स्वामी दयानन्द के घनिष्ट संसर्ग से राजपूताने के केन्द्र अजमेर नगर को लाभ पहुँचा। यहाँ के अधिवासियों में जीवन की ज्योति प्रज्वलित हुई और वह अब तक अपना प्रकाश फैला रही है। यही कारण है कि पञ्जाब के शेर-दिल आर्यसमाजी भी अजमेर के उत्साह को मानते हैं और गत मथुरा-शताब्दि के अवसर पर यह बात देखने में भी आई। आर्यसमाज की ओर से अजमेर में इस समय कई संस्थायें अच्छा काम कर रही हैं, जिनमें दयानन्द-अनाथालय, वैदिक यन्त्रालय, डी० ए० वी० स्कूल और कन्या पाठशालायें हैं। अजमेर नगर में आर्यसमाज का ज़बरदस्त प्रभाव है, जैसा कि उसके वार्षिक उत्सवों तथा नगर-कीर्तनों में प्रेम-पूर्वक सम्मिलित होने वाले जन-समूह की संख्या से स्पष्ट प्रतीत होता है। यह ठीक है कि इनमें सम्मिलित होने वाले सभी आर्यसमाजी नहीं हैं; किन्तु आर्यसमाज के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं।

सदा की भांति इस वर्ष भी आर्यसमाज अजमेर ने अपना वार्षिकोत्सव मनाया और भजनों, व्याख्यानों और नगर-कीर्तन के अतिरिक्त शारीरिक बल तथा शस्त्र-विद्या का दिग्दर्शन, अछूत-सम्मेलन तथा कवि-सम्मेलन उसकी विशेषतायें थीं।

पहले दिन राजस्थान के आर्योपदेशक श्री परमानन्दजी का भाषण सुना। रामायण की चर्चा करते हुए, अन्त में, उन्होंने कहा—वैसे तो बहुतसी बातें हैं, पर सारी रामायण में मुझे दो मुख्य सार-भूत बातें मालूम पड़ती हैं। एक यह कि राम संगठन के देवता हैं, और दूसरी यह कि रावण फूट का राक्षस है। राम निर्वासित होने पर भी जङ्गली जातियों को संगठित करके लङ्का को जीत लेते हैं; सुग्रीव, हनुमान और विभीषण को अपना परम-भक्त बना लेते हैं। जो उनसे एक बार मिलता है वह सदा के लिए उनका हो जाता है। उधर रावण अपने भाई विभीषण और रानी मन्दोदरी को भी सन्तुष्ट नहीं कर पाता और लङ्का के नाश का कारण बनता है। संगठन के इस युग में यह सन्देश अवश्य ही उपादेय है। पर संगठन धर्म पर अवलम्बित है। अधर्म भी संगठित हो कर धर्म का मुक़ाबला करता है सही, पर उसका संगठन भी उतना ही सबल और स्थायी होगा, जितना कि प्रेम और संयम आदि धर्म के उच्च और उदात्त तत्वों का उसमें समावेश होगा। अतएव संगठन के लिए भी हमें धर्म के मूल तत्वों की शरण लेनी होगी और उन बातों को खोज कर अपनाना होगा कि जिनके कारण राम, राम बने थे।

दूसरे दिन 'मिलाप' और आर्य गज़ट' के सम्पादक, लाहोर के, श्रीयुत् खुशहालचन्दजी 'खुरसन्द' का विस्तृत और प्रभावशाली भाषण हुआ। उन्होंने बताया कि जातीय जीवन के तीन चिह्न हैं—बुद्धि, बल और धन। फिर उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया कि हिन्दुओं में ये तीनों बातें पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं, किन्तु फिर भी इनका ह्रास होता जा रहा है इसका क्या कारण? ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा कि जहाँ दिल की भट्टी में भ्रातृ-भाव, सदाचार और ईश्वर-प्रेम ये तीन चीज़ें जलती रहती हैं वहाँ जीवन को पोषण करने वाली उष्णता और प्रकाश दोनों मौजूद रहते हैं। खेद है कि हिन्दुओं में आज इन बातों की कमी है। भ्रातृ-भाव तो मानों अपने पूर्ण अभाव में ही उपस्थित है। यदि भ्रातृ-भाव होता, तो संगठन के लिए इस तरह इतना अधिक चिल्लाना न पड़ता। और आज जो संगठन हो रहा है वह भी भ्रातृ-भाव की भित्ति पर इतना नहीं, जितना कि मजबूरी के कारण हो रहा है। आज जो हम अछूतों को अपने में मिला रहे हैं—मिला कहाँ रहे हैं, मिलाने की आवाज़ उठा रहे हैं,—वह इसलिए नहीं कि हम उन्हें भाई बना कर भाई के समान उनके साथ व्यवहार करने के लिए लालायित हैं; बल्कि वे दूसरी जातियों में न मिल जायें, इसके लिए उन्हें हम कुछ मामूली सुविधायें देने की बात कर रहे हैं। सचमुच भ्रातृ-भाव के उदाहरण युधिष्ठिर हैं, जो अपने भाइयों को छोड़ कर स्वर्ग में भी रहने से इन्कार कर देते हैं। संगठन वही सच्चा और स्थायी होगा जो भ्रातृ-भाव पर अवलम्बित होगा, और जहाँ परस्पर ऐसा प्रेम होगा कि पैर की छोटी से छोटी अंगुली में चोट लगने पर सारा शरीर बेचैन हो उठे। हम याद रक्खें कि कोई भी ईश्वर को अपना पिता नहीं कह सकता कि जो मनुष्य को अपना भाई कहने को तैयार नहीं।

ईश्वर विश्वास तो आजकल के हिन्दुओं में जैसे है ही नहीं; हाँ, भाग्य को कोसना उन्हें ज़रूर आता है। जहाँ ईश्वर विश्वास होता है वहाँ हृदय के अन्दर एक अदम्य शक्ति वास करती है, जो संसार की बड़ी से बड़ी मुसीबत को भी ललकारने का अपने में साहस रखती है। हिन्दू लोग यदि ईश्वर में विश्वास करके अपने-अपने कामों में जुट पड़ा करें, तो आज जो साहस-हीनता हम लोगों में घुस गई है वह बहुत कुछ दूर हो जाय। कृष्ण सच कहते हैं—

नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।

सदाचार की 'खुरसन्द' जी ने तीन कसौटियाँ बताई। जो मनुष्य धन के प्रलोभन से ऊपर है और लोगों का भी उसपर ऐसा ही विश्वास है, वह धन-सम्बन्ध में सदाचारी है। जिसके सामने दुनिया की मातायें और बहनें अपनी इज़्ज़त को सुरक्षित समझें और, मित्र तो मित्र, शत्रु भी अपने घर की स्त्रियों को सौंपते हुए न झिझकें, वह स्त्री-सम्बन्ध में सदाचारी है। इसी प्रकार जो मनुष्य ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन करता है, वह कर्तव्य के सम्बन्ध में सदाचारी है। सदाचार की ये कसौटियां यदि हम अपने सामने रखकर इनपर अपने आचरणों को कसें, तो हमारे लिए श्रेयस्कर होगा।

भ्रातृ-भाव, सदाचार और ईश्वर-प्रेम—इनके अन्दर वास्तव में समाज-शास्त्र के गूढ़ातिगूढ़ तत्व अन्तर्निहित हैं।

ऋग्वेद का यह मंत्र संगठन और सजीवता का अविस्मरणीय सूत्र है।

स्वामी सर्वदानन्द आर्यसमाज के प्रतिष्ठित और पुराने सेवक हैं। उनके व्याख्यान को सुनकर मेरे मन ने कहा कि जब तक आर्यसमाजियों को ऐसी निर्भयता और सहृदयता के साथ फटकारने वाले संन्यासी मौजूद हैं तब तक आर्यसमाज के भविष्य में विशेष आशङ्का करने की ज़रूरत नहीं। आपके भाषण की शैली मधुर और घरेलू होती है। आपने कहा—'तुम बातें तो बड़ी-बड़ी करते हो, पर तथ्य की बात को नहीं देखते। तुम्हारी बुद्धि बिगड़ी हुई है। तुम सबसे पहले अपनी बुद्धि की शुद्धि तो करो। अन्यथा, मैं साफ़ कहे देता हूँ कि, तुम्हारा यह सारा आडम्बर व्यर्थ सिद्ध होगा।'

यह उनके व्याख्यान का सार-मात्र है। मैं आशा करता हूँ कि आर्यसमाज उनके वचनों पर ध्यान देगा। मैं महसूस करता हूँ कि आर्यसमाज को अन्तरमुखी प्रवृत्ति की सख़्त ज़रूरत है। आज आर्यसमाज एक बहादुर सिपाही की हैसियत से ही दिखाई पड़ता है, उसकी धार्मिकता और आत्मिक तपश्चर्या लोप होती जा रही है। आर्यसमाज ने आर्यसमाजी तो बनाये, पर अब सबसे बड़ी ज़रूरत इस बात की है कि आर्यसमाजियों को आर्यसमाजी बनाया जाय। प्रारम्भिक काल में आर्यसमाज ने तपश्चर्या से अपनी आत्मा को पुष्ट किया था और उसीके बल पर आज वह इतना फल-फूल रहा है। पर यदि आर्यसमाज अपने उस महान् उद्देश्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' को सफल करना चाहता है, तो उसे तपश्चर्या के तोतों को फिर से भर लेने की ज़रूरत है।

नगर-कीर्तन आर्यसमाज की विशेषता है। इस बार का नगर-कीर्तन बहुत बड़ा और प्रभावोत्पादक था। पर, लोगों की राय है कि, वह श्रवणीय न रहकर अब केवल दर्शनीय रह गया है। बहुत से स्त्री-पुरुष भजनादि सुनने के उत्सुक थे, पर उन्हें चलाचली के कारण निराश होना पड़ा। दूसरी बात यह थी कि जलूस में स्त्रियों का नितान्त अभाव था। यह क्यों? आर्य बहनें डरती हैं, यह तो मैं सुनना नहीं चाहता। उनमें श्रद्धा नहीं, यह तो कहा ही नहीं जा सकता; क्योंकि उत्सव के समय हज़ारों की संख्या में सम्मिलित होकर वे अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करती हैं। मैं संयोजकों का ध्यान शताब्दि के उस बड़े जलूस की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि जिसमें सैकड़ों पंजाबी बहनों ने सम्मिलित होकर उत्साह और प्रेम के साथ गाते हुए भ्रमण किया था और मथुरा की गलियाँ उस दृश्य को कभी न भुला सकेंगी कि जब आवेश के साथ आकाश-निनादित स्वर में यह गाती हुई वे गुज़र रही थीं—

'सिर जाये तो जाये, मेरा वैदिक धर्म न जाये।'

हिन्दुओं ने जगह-जगह पर शरबत और पान-सुपारी तथा पुष्प-वर्षा से जलूस का स्वागत किया, यह प्रशंसनीय है। पर क्या ही अच्छा होता, यदि दरगाह के पास मुसलमान भाइयों की ओर से भी प्रेम-पूर्ण स्वागत का कोई प्रबन्ध होता! पर, मैं समझता हूँ, बड़े भाई की हैसियत से हिन्दुओं को ही आगे बढ़कर यह पथ-प्रदर्शन का कार्य करना होगा।

'राहत'

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सामने कार्य

जल्द ही बिहार में अखिल-भारत हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन होने वाला है। अबतक हि० सा० सम्मेलन ने हिन्दी भाषा के प्रचार और साहित्य की अभिवृद्धि के लिए बहुत-कुछ उद्योग किया है, पर पिछले दो-तीन वर्षों से सम्मेलन के अन्दर से प्राण कम-सा होता जा रहा है। लोगों की आम शिकायत है कि सम्मेलन के वर्तमान पदाधिकारियों में अधिकतर ऐसे व्यक्ति हैं, जो राष्ट्रीय भावों से अपनेको दूर रखते हैं। जो हो; पर इतनी बात निर्विवाद है कि यदि सम्मेलन इसी तरह संकुचित भाव और निर्जीव रूप से काम करता रहा तो थोड़े ही दिनों में उसका अस्तित्व अनावश्यक सिद्ध होजायगा। मेरी राय में सम्मेलन अब नीचे लिखे कार्यों की ओर विशेष ध्यान दे और उनकी सिद्धि में अपनी पूरी शक्ति लगावे—

(१) राष्ट्रभाषा का एक स्वरूप निश्चित करे। उसमें मराठी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, सिंधी, तामिल, तेलगू आदि प्रान्तीय भाषाओं के ऐसे शब्दों, प्रयोगों और मुहावरों का समावेश करे, जिनसे एक ओर जहाँ भाषा का शब्द-भण्डार बढ़ जाय वहाँ दूसरी ओर विभिन्न भाषा-भाषियों को वह अपने अधिक नज़दीक जान पड़े।

(२) देवनागरी लिपि में ऐसा सुधार करने का प्रयत्न करे, जिससे वह और जल्दी लिखी जा सके तथा छपाई और टाइपराइटर की लिखाई में सुविधा हो जाय। अभी इस लिपि में कई अक्षर ऐसे हैं, जो अनावश्यक हैं; कई अक्षर ऐसे हैं, जिनके शामिल करने की आवश्यकता है; और मात्रायें इतनी अधिक हैं और इस तरह लगानी पड़ती हैं कि छापे में जगह बहुत ज़्यादा घिर जाती है। इस असुविधा को मिटाने की ओर सम्मेलन का ध्यान तुरंत जाना चाहिए। महाराष्ट्र में कुछ विचारक इस बात का उद्योग कर रहे हैं, उससे लाभ उठाने की चेष्टा करनी चाहिए।

(३) ऐसे साहित्य के निर्माण की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए जो देश और समाज की आवश्यकता को पूरा करता हो। पुराने ढंग के, पुराने समय के, कोरे काव्य-साहित्य के जीर्णोद्धार से हमारा विशेष लाभ न होगा। आधुनिक विश्व-साहित्य की नवीनता का भी लाभ उसे हिन्दी-संसार को पहुँचाना चाहिए।

(४) राष्ट्रीय महासभा का जो स्थान भारतवर्ष में है, हिन्दू-महासभा का जो स्थान हिन्दुओं में है, वही स्थान हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का हिन्दी-जगत् में हो जाना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि हिन्दी की सारी हलचलों—संस्थाओं, कार्य-प्रणालियों पर सम्मेलन का नियंत्रण हो, सम्मेलन उनका मार्ग-दर्शक और नियामक हो। साहित्यिक कुरुचि, अश्लील और विलासितावर्द्धक पुस्तकों, चित्रों और विज्ञापनों की रोक का वह उचित प्रबन्ध करे।

(५) अंग्रेज़ी से हिन्दी और हिन्दी से अंग्रेज़ी का एक बृहत् कोष तैयार करे।

(६) एक-लिपि-विस्तार के लिए गुजराती, बंगला, गुरुमुखी और उर्दू अक्षरों की जगह देवनागरी अक्षरों के प्रचार का उद्योग ज़ोर-शोर से करे, जिससे राष्ट्रीय एकता और संगठन में सहायता मिले। उर्दू अक्षरों की जगह देवनागरी का प्रचार करने में अभी मुसलमान भाइयों की ग़लतफ़हमी होजाने का अंदेशा है, अतएव जबतक दोनों के दिल साफ़ न हों तबतक यदि उर्दू को छोड़ भी दिया जाय, तो हर्ज नहीं।

आशा है, हि॰ सा॰ सम्मेलन के कर्ता धर्ता इन विषयों पर विचार करेंगे।

मिल-मालिकों के लिए अनुकरणीय

भाफ और बिजली से चलने वाले कल-कारख़ाने जिस तरह इस देश में विलायत से आये उसी तरह मज़दूरों का संगठन भी वहीं से आया है। इन कारख़ानों के बदौलत जब लाभ का धन एक या इने-गिने लोगों के घर में जमा होता रहता है और कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की सुख-सुविधा पर ध्यान नहीं दिया जाता, तब मज़दूरों को अपने हित के लिए अपना संगठन करना अनिवार्य हो जाता है। जहाँ मिल-मालिक अपने ही स्वार्थ का विचार करते हैं और मज़दूरों के सुख की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते, वहाँ मजूरों में और मालिकों में खिंच जाती है, जिसका परिणाम हड़ताल होता है। मेरा तो विश्वास है कि यदि मिल मालिक मजूरों के हित और सुख पर पूरा-पूरा ध्यान दें, तो इसमें अन्त को खुद उन्हींका ज़्यादा लाभ होता है। कल-कारख़ाने न बिना धन के चल सकते हैं, न बिना मज़दूरों के। धन तो ग़रीब लोग भी थोड़ा-थोड़ा करके एकत्र कर सकते हैं; पर मज़दूर यदि असंतुष्ट रहे, तो कारख़ाना घड़ी भर नहीं चल सकता। ख़ुशी की बात है कि हिन्दुस्थान के मिल-मालिक इस सत्य को अनुभव करते जा रहे हैं। कहते हैं कि शोलापुर मिल्स, जिसके कि मालिक बंबई के श्री नरोत्तम मुरारजी हैं, इस विषय में देश की समस्त मिलों से आगे हैं। वहाँ मज़दूरों के लिए अस्पताल, प्रसूति-गृह, उनके बच्चों के लिए पाठशाला, झूलागृह आदि का अच्छा प्रबंध है। इसी तरह हाल ही में ग्वालियर की जयाजीराव काटन मिल्स के मालिक श्री बिड़लाजी ने भी एक लाख रुपये लगा कर अपने मजूरों के लिए अस्पताल, प्रसूति-गृह और झूलागृह बनाने का श्रीगणेश किया है। दो हज़ार रुपये मासिक वह इन कामों के लिए मिल की तरफ़ से ख़र्च करने का इरादा रखते हैं। एक और बात बिड़ला जी ने करने का निश्चय किया है, जिसके लिए वह मेरी राय में विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। ग्वालियर राज्य में कोई फ़ैक्टरी-क़ानून नहीं है। अतएव ग्वालियर और उज्जैन की

मिलें १२–१३ घण्टे चलती थीं, जहाँ कि सारे देश में १० घण्टे चलती हैं। बिड़लाजी को यह बात बहुत दिनों से खटकती थी। अब उन्होंने आज्ञा दे दी है कि आगामी एक ही दो महीने में ग्वालियर की मिल १० घण्टे चलने लगे। जिस बात के लिए इन्दौर में मजूरों को भारी हड़ताल करनी पड़ी और इंदौर-सरकार को १० घण्टे का नियम बनाकर मिल-मालिकों को मजबूर करना पड़ा, उस बात को बिड़ला जी ने खुद-ब-खुद कर दिया। आशा है, उज्जैन के मिल मालिक बिड़लाजी का अनुकरण करके यश के भागी बनेंगे। दानवीरता में तो बिड़लाजी दिन-दिन आगे बढ़ ही रहे हैं। देशभक्ति भी उनकी दिन-दिन चमकती जा रही है। एक मिल-मालिक की हैसियत से यदि वह अपनी मिल को सब अर्थ में एक आदर्श मिल बना दें, ऐसा प्रबंध कर दें कि मज़दूरों के हित और सुख की कोई बात बाक़ी न रह जाय, तो क्या अच्छा हो! श्री घनश्यामदासजी बिड़ला ने मजूरों के अस्पताल के भवन का शिलारोपण करने की प्रार्थना ग्वालियर के बाल-महाराज से करते समय अपनी वक्तृता में जो उद्गार प्रकट किये हैं, वे मेरी इस आशा को दृढ़ करते हैं। आपने कहा कि "हमारी यह कदापि मंशा नहीं है कि मुनाफ़ा बढ़ाते जावें, बल्कि हम चाहते हैं कि मिल की उन्नति के साथ-साथ मजूरोंके भी सुख-साधन बढ़ाये जावें।*** मैं श्रीमान् से यही आशीर्वाद चाहता हूँ कि मिल दिनों दिन फूले-फले और हम मज़दूरों के हित के लिए इसी तरह कोशिश करते रहें।*** श्रीमान् अपने कर कमलों से इस बुनियादी पत्थर को इस दृढ़ता से रक्खें कि यह केवल इस अस्पताल का ही नहीं, बल्कि मज़दूरों के लिए भी सुख की बुनियाद का पत्थर सिद्ध हो।" यदि दो चार ही आदर्श मिल-मालिक भारत में पैदा हो जायँ, तो मजूरों और मालिकों की खींचातानी बहुत कम हो जाय। परमेश्वर मालिकों को सुबुद्धि दें!

सौदे से काम कैसे चलेगा?

साइमन साहब अपने साथियों सहित विलायत लौट रहे हैं। भारत में अब तक कमीशन का पूरा बहिष्कार रहा। ऐरे-ग़ैरे स्वार्थी और खुशामदी एक तरह के सरकारी लोगों के अतिरिक्त किसी प्रभावशाली देश-सेवक ने उनसे अपना कोई ताल्लुक़ न रक्खा। समझौते के लिए साइमन साहब ने कोशिश की; मगर बेकार हुई। वह चाहते थे कि धारा-सभा के सदस्यों की एक ऐसी कमिटी बना दी जाय, जो इस कमीशन के साथ बैठ सके और कमीशन की इजाज़त से गवाहों से जिरह आदि कर सके। इसके बदले, सुनते हैं, बहिष्कार के कुछ नेताओं ने यह तजवीज़ पेश की कि सम्राट् असेम्बली के चुने हुए सात प्रतिनिधियों की एक कमेटी बनावें और उसे गवाही लेने, रिपोर्ट लिखने आदि के उतने ही अधिकार दिये जावें, जितने कि इस कमीशन को हैं। दूसरे शब्दों में इसका यह अर्थ हुआ कि १४ सदस्यों का कमीशन बनाया जाय, जिसमें ७ अंग्रेज़ तो चुन ही लिये गये हैं, ७ भारतवासी और चुन लिये जायें। शायद नियम और विधि-विधान की पेचीदगियों से बचने के लिए इस तजवीज़ को अलहदा कमिटी का रूप दिया गया है। जो कुछ हो। मुझे तो इस बात में सन्देह मालूम होता है कि इस तरह की कमिटी बना कर ब्रिटिश सरकार बहिष्कारवादियों से कोई समझौता करे। बहिष्कार-आन्दोलन ने भारत और इङ्गलैण्ड में असर तो किया है; पर मेरी राय में वह इतना काफ़ी नहीं है कि इङ्गलैण्ड वाले इस क़दर झुक जायँ। हाँ, यदि देश विदेशी वस्त्र के बहिष्कार पर कमर कस ले तो कुछ नतीजा अवश्य निकल सकता है। कोरे ज़बानी सौदे से दुनिया में बड़ी बातें नहीं तय हुआ करतीं। विदेशी वस्त्र के बहिष्कार की सफलता में मुझे तो कोई भारी बाधा नहीं दिखाई देती। देश की खपत का ⅓ वस्त्र यहीं हाथ-करघों पर बन जाता है, ⅓ मिलें बना लेती हैं और सिर्फ़ ⅓ बाहर से आता है। यदि कुछ खादी की उत्पत्ति बढ़ा ली जाय और कुछ मिलें दिन-रात काम करने लगें, तो सारा कपड़ा यहीं का यहीं बन सकता है। सिर्फ़ कठिनाई रहेगी महीन कपड़े की। ४० से अधिक अंक का सूत भारत में नहीं कतता। एक तो लम्बे धागे के कपास की कमी है और दूसरे महीन माल के लिए यन्त्र-सामग्री विलायत वाले यहाँ नहीं भेजते। अतएव यहाँ की मिलों को मोटा ही सूत कातना पड़ता है और उसीका कपड़ा बुनना पड़ता है। अतएव बहिष्कार तब तक पूर्ण सफल नहीं हो सकता, जब तक कि महीन कपड़ा पहनने

वालों की रुचि बदल कर मोटा पहनने पर उन्हें तैयार न किया जाय। उपदेश, प्रचार और आन्दोलन के द्वारा यह रुचि बदली जा सकती है।

कुछ लोगों को यह भय है कि मिल वाले मांग बढ़ने पर बहुतेरा मुनाफ़ा चढ़ाने लगेंगे और लोगों के मनोभावों का दुरुपयोग अपने लाभ के लिए करेंगे। मिल वालों का कहना है कि अब भी मिल वालों में आपस में इतनी स्पर्द्धा बढ़ी हुई है कि बहुत सस्ता माल वे दे रहे हैं। आन्दोलन की अवस्था में भी यह पारस्परिक स्पर्द्धा भावों को बढ़ने न देगी। अतएव मिलों के भावों पर नियंत्रण रखने की शर्त अनावश्यक है। इसके बदले, कुछ लोग कहते हैं, मिल वालों से उत्पत्ति या मुनाफ़े पर कुछ रक़म बहिष्कार-आन्दोलन के सञ्चालन के लिए ले ली जाय। मिल वालों की यह बात समझ में तो आ जाती है। फिर भी महात्माजी और मिल-मालिक इस विषय में आपस में बात-चीत कर रहे हैं और हमें उनके निश्चित निर्णय की राह देखनी चाहिए।

क्रान्ति के लिए तैयारी

देश की वर्तमान राजनैतिक और राष्ट्रीय अवस्था का वर्णन यदि एक शब्द में करना चाहें तो कह सकते हैं—यह बूढ़ों और युवकों की खींचातानी का—दूसरे शब्दों में क्रांति का युग है। महात्माजी कहते हैं, वर्तमान दशा में विदेशी के बहिष्कार में हमारी सारी शक्ति लगनी चाहिए। वे इसके लिए खादी और मिल के कपड़े का मेल मिलाने के लिए तैयार हो गये हैं। बंबई और अहमदाबाद के कई मिल-मालिक उनसे मिले भी थे और कुछ निश्चित बातें उनके दरम्यान चल रही हैं। देश के दूसरे नेता भी इसपर गंभीरता के साथ विचार करते हुए नज़र आ रहे हैं। बम्बई, बंगाल और महाराष्ट्र में तो अंग्रेज़ी माल के बहिष्कार के नाम से अर्थात् कुछ बिगड़े हुए रूप में, यह संदेश काम भी करने लगा है। परन्तु अभी सारा देश विदेशी वस्त्र के बहिष्कार के लिए अपने को एक नहीं कर पाया है। इधर पू० मालवीयजी ने पंजाब में यह घोषणा की है कि यदि लोग मेरी बात सुनेंगे तो मैं दो वर्ष में स्वराज्य लेकर छोड़ूँगा। आपने अभी अपना कोई कार्यक्रम तो उपस्थित नहीं किया है; पर भाषण में खादी, हिन्दू-मुस्लिमएकता, अस्पृश्यता-निवारण पर ज़ोर दिया है। महात्माजी के बाद देश में यदि आज किसी के नाम में कुछ जादू है तो वह है पू० मालवीयजी के नाम में। वह भारत के बूढ़े ब्राह्मण—भूदेव हैं। वह यदि जी-जान से कूद पड़ें और नवयुवकों को ललकारें तो स्वराज्य को बहुत नज़दीक ला सकते हैं। त्यागमूर्ति पं० मोतीलालजी नेहरू की भी ऐसी हस्ती है जिसकी ओर देखकर देश को बहुत ढारस बँध रही है। कहते हैं, वह देश में क्रान्ति कर डालने की धुन में हैं। उन्होंने भी न तो कोई कार्यक्रम ही देश के सामने रक्खा है और न सार्वजनिक रूप से अभी कुछ कहा ही है। वह यदि दिल पर धार लें तो क्या नहीं कर सकते? अब रहे पंजाब-केसरी लालाजी, सो उन्होंने पहले ही कह दिया है—भैया, हम तो अब बूढ़े हो गये, जो कुछ बन सकता है वही हमें करने दो, आगे का काम तुम अपना सम्हालो। इन चार नेताओं में निश्चित बात अभी तक महात्माजी ही ने देश के सामने रक्खी है। देश जब कभी उसे समझे और अपनावे; पर इतनी बात निर्विवाद है कि देश में इस छोर से उस छोर तक एक क्रान्तिकारिणी भावना फैल जाय। इस बात में अब देश में किसी का मतभेद नहीं रहा। अपने-अपने अनुभव और रुचि के अनुसार नेता चाहे साधन जुदे-जुदे अख्त्यार करें; पर सबके मूल में भाव यही है कि किसी तरह देश का बच्चा-बच्चा जाग उठे, एक-एक झोंपड़े में जीवन, जागृति और बलिदान के भाव पहुँच जायँ। देश की भिन्न भिन्न संस्थायें—यथा राष्ट्रीय महासभा, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग और खिलाफ़त परिषद्, आर्यसमाज तथा अग्रवाल माहेश्वरी आदि जातीय सभायें, चर्खा-संघ, आदि—अपने-अपने क्षेत्र में अपना निश्चित कार्य करते हुए यदि राष्ट्रीय जागृति और राष्ट्र के लिए मर मिटने के भाव छोटे-छोटे गाँवों तक में फैलाने की ओर विशेष ध्यान दें, तो यह काम आसानी से हो सकता है। खुशी की बात है कि देश का नवयुवकदल इस कार्य के लिए भीतर ही भीतर अपनेको तैयार कर रहा है। टण्डनजी का स्वाधीन भारत-दल, वास्वानी जी का युवक-संघ, हार्डीकरजी का हिन्दुस्थानी सेवा-दल, इसी शक्ति के नमूने हैं। इधर पं० जवाहरलालजी नेहरू ने एक विज्ञप्ति मुझे भेजने की कृपा की है; जिसमें उन्होंने

एक नवयुवक-दल की स्थापना की ओर संकेत किया है। कई मित्रों ने उन्हें प्रेरणा की है कि इस समय देश में एक ऐसा दल बने जो स्वाधीनता का उपासक हो, समाज में समान अधिकार और समान सुविधा का हामी हो, जो धार्मिक अन्धता का विरोधी हो। बड़े-बूढ़ों को छोड़ दें, तो देश में इस समय पं० जवाहरलालजी ही ऐसे पुरुष हैं जिनके अन्दर देश का नवयुवक-दल अपनी आकांक्षाओं को छिपा हुआ पाता है। जवाहरलालजी जिस बात को उठाते हैं उसमें जी-जान से लग जाते हैं और अपना सब कुछ झोंक देते हैं। मुझे तो ऐसा दीख रहा है कि हम चाहें या न चाहें, अन्दर ही अन्दर देश की नवयुवक आत्मा जागृत और संगठित हो रही है। अभी जो भिन्न-भिन्न नवयुवकदल अलग-अलग काम कर रहे हैं उनके एकसूत्र में बँध जाने की आवश्यकता अवश्य है। मेरी राय में राष्ट्रीय महासभा के अलावा देश में नवयुवकों की एक ऐसी संस्था की परम आवश्यकता है जो युवकों के उत्साह और अकांक्षाओं की चीज़ हो, जिसके कर्ता-धर्ता नवयुवक हों। बड़े-बूढ़ों और नवयुवकों की खींचातानी सनातन है। इस खींचातानी में जीवन और जागृति का, दूसरे शब्दों में क्रान्ति का, बीज है। बड़े-बूढ़े अनुभव की ठोकरों से, कड़वी घूटों से, अधिक समझदार अतएव अधिक धीमे होजाते हैं। उनका ज्ञान और अनुभव बहुमूल्य होता है। उससे लाभ उठाते हुए युवक अपना रास्ता आप तय करें, यह सर्वथा वाञ्छनीय है। अतएव मैं पं० जवाहरलालजी की इस विज्ञप्ति का अपनी तरफ़ से अनुमोदन करता हूँ। यह दूसरी बात है कि ऐसी संस्था किन सिद्धान्तों पर क़ायम की जाय। इसके विचार के लिए किसी मौक़े पर एक छोटी सी परिषद् की जा सकती है।

साइमन-कमीशन के बदौलत देश का बिखरा बल कुछ संगठित ज़रूर हुआ है, परन्तु अब भी न तो सब नेता ही किसी एक बात पर एकमत हो पाये हैं और न नेता और कार्यकर्ता एक दूसरे से सन्तुष्ट नज़र आते हैं। ऐसा मालूम होता है मानों नेता लोग थक से गये हैं और चूँकि साइमन-कमीशन सिर पर आ पड़ा है, इसलिए संजीदगी से कुछ करने-धरने की आवश्यकता महसूस हो रही है। इस दृश्य को देखकर दिल उबलने लगता है और जी जलने लगता है अपनी बेबसी, अकर्मण्यता और उदासीन ा को देखकर। कभी कभी जी कहने लगता है इससे तो इस अभागे देश में कुछ उत्पात ही हो जाय तो क्या बुरा?—पर इ ो समय भगवान् के ये वचन आश्वासन के लिए दौड़ पड़ते हैं—

"नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।"

अर्थात् तू हित-बुद्धि से सत्कर्म किये जा, तेरा कभी बुरा नहीं हो सकता। जो हो। एक मामूली संपादक के हाथ में अपना जी पाठकों के सामने खोल कर रख देने से अधिक क्या हो सकता है? मैं ये बातें निराशा के झोंके में नहीं लिख रहा हूँ। एक सेवक तब तक क्यों निराश होने लगा, जब तक कि उसका लक्ष्य सिद्ध न हो? यह तो एक ऐसी युवकोचित बेकली और आतुरता है, जो स्वराज्य के जल्दी दर्शन करने के लिए और उसकी भारी से भारी क़ीमत तुरंत देदेने के लिए उत्सुक है। यही आतुरता नेताओं के धीमेपन को समझ नहीं रही है। इस समय तक तो मेरी बुद्धि दो बातों से आगे नहीं बढ़ रही है—(१) लोगों के विचारों में उथल-पुथल और खलबली मचा देना, (२) विदेशी वस्त्र का सम्पूर्ण बहिष्कार। मुझे यह भी विश्वास होता है कि यदि देश की युवक आत्मा एक-दिल से इन दोनों बातों को अपना ले और इनके लिए जी-जान झोंक देने को तैयार हो जाय, तो नेता और गुरुजन उन्हें मैदान में अकेला न रहने देंगे—खुद आगे बढ़कर हमारी ढाल और अदम्य प्रेरक शक्ति बन जायँगे। उस समय न किसी को साइमन साहब का रुख देखते रहने की फ़ुरसत रहेगी और न आपस में एक दूसरे को कोसने की ही ज़रूरत रह जायगी।

हु० उ०

विवाह-समारम्भ

इधर कई वर्षों से अजंता की गुफाओं के चित्र बहुत लोकप्रिय हो रहे हैं। जब पहले-पहल ये चित्र पश्चिम के कलाकारों की नज़र में आये, तो वे प्राचीन भारतीयों की कला-निपुणता को देखकर दंग रह गये। तब से वह प्रत्येक चित्रकला प्रदर्शिनी जिसमें अजंता के चित्रों की प्रतिलिपियाँ नहीं पाई जातीं, अधूरी समझी जाने लगी। अजंता के चित्रों ने भारतीय कलाकारों की रुचि और शैली में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

यह चित्र भी उसी गिरि-मंदिर की चित्रावलि में से एक अत्यन्त मनोहर चित्र की प्रतिलिपि है। कितने ही कलाकारों का कथन है कि इन मन्दिरों के आलेखों पर आर्य सभ्यता की अपेक्षा द्राविड़ सभ्यता का असर अधिक दिखाई देता है। हमारी समझ में यह चित्र इस कथन की पुष्टि करता है।

एक ही पट पर भिन्न-भिन्न स्थानों के दृश्य दिखाना हमारे प्राचीन चित्रकारों की विशेषता है। यहाँ भी विवाह-समारम्भ के तीन अंग दिखाये गये हैं। बायें हाथ की ओर बीच में कुछ युवतियाँ मंगल-गान गा रही हैं। कोई मृदङ्ग बजा रही है, तो कोई वेणु (बाँसुरी)। कोई अपना नृत्य-कौशल दिखा रही है, तो कोई मंजीरों पर ताल दे रही है। मालूम होता है, सभी अद्भुत तल्लीनता का अनुभव कर रही हैं। चित्र के मध्य से लेकर दाहिने हाथ की ओर नीचे तक दूल्हे का जलूस है। एक सुंदर द्वार के बीच से छत्र लगाये दूल्हे की सवारी हाथी पर बैठकर निकल रही है और उसके आगे बाराती लोग गाते-बजाते और शंख-ध्वनि करते हुए जा रहे हैं।

ऊपर दाहिने हाथ की तरफ़ वर-वधू एक ओर आसन पर बैठे किसी साधु महात्मा से आशीर्वाद माँग रहे हैं।

एक में राग-माला है, दूसरे में उत्साह उमड़ रहा है, और तीसरे की पवित्र धार्मिक गंभीरता हमारे चित्त पर अपना प्रभाव डाल रही है।

तत्कालीन चित्रकला के विकास के साथ-साथ यह कृति उस समय की रहन-सहन, वेश-भूषा और सजावट का भी परिचय देती है।

अभिवचन

प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप की जयन्ती हम मनाते हैं। हम इस पुण्य उत्सव को कैसे मनावें? उनके जीवन का व्रत था स्वाधीनता की प्राप्ति। स्वाधीनता के लिए वह जीये, और उसी के लिए लड़ते-लड़ते वह मरे। परन्तु मृत्यु के समय वह हमसे एक अभिवचन ले गये हैं। उनकी व्याकुल आत्मा ने उनके पुत्र अमरसिंह के रूप में हमें एक कठिन अभिवचन दिया है—"आपके इस कठोर व्रत को हम लोग पूरा करके आपकी आत्मा को संतुष्ट करेंगे।" आज वह अभिवचन दिये कितने वर्ष बीत गये? और हमने उसकी पूर्ति करने के लिए क्या-क्या किया?—यहीं न कि रहा-सहा देश भी—जिसके एक-एक गढ़ की रक्षा के लिए कई प्राणों की आहुतियाँ दी गई हैं—हमने गँवा दिया?

ओ भारत के अमर सिंह, तू अपने इस अभिवचन की पूर्ति करके प्रताप की उस पुण्यात्मा को कब संतुष्ट करेगा?

कला की दृष्टि से नहीं, एक भाव-विशेष को जागृत करने के लिए एक महाराष्ट्रीय चित्रकार की यह कृति हम पाठकों की सेवा में अर्पण कर रहे हैं। ईश्वर करे कि यह उस महान् ऐतिहासिक अभिवचन की याद दिलाकर हमारे अन्दर छिपी हुई आग को एक बार प्रज्वलित कर दे!

दे० मु०

विषय-सूची

त्यागभूमि

आमन्त्रण

(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान् ॥

खण्ड २
अंश २

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर ।

ज्येष्ठ
संवत् १९८५

अन्तर-निनाद

खिले अब एक नया ही रंग !

इधर सिंह है, उधर खड़ा है भीषण काल भुजंग ।
क्या पर्वा, ऐ विजन बाँकुरे ! छिड़े दुतरफ़ा जंग ॥

ऐ मिट्टी के पुतले ! तुझको क्यों इतना व्यासंग ?
क्या बिगड़े, यदि अमर खिलाड़ी ! अंग-अंग हो भंग ?

जीवन है, न मरण है; यह तो, केवल कृत्या-व्यंग !
मर मिट कर भी हो स्वतन्त्र, ऐ बन्धन-बद्ध विहंग !

क्षेमानन्द 'राहत'

संसार की समस्या

मनुष्य सुख चाहता है। सुख की खोज में उसने कुटुम्ब बनाया, जाति बनाई, बड़े-बड़े राज्य और राष्ट्र निर्माण किये, असीम धन-वैभव जुटाया, आमोद-प्रमोद और सौंदर्य के साधन एकत्र किये, पर सुख का स्वाद उसे न मिला। शरीर को सुख पहुँचाने वाली, इन्द्रियों को तृप्त करने वाली, मन को बहलाने वाली भोग-सामग्री में उसने शुरू-शुरू में सुख माना; परन्तु ज्यों-ज्यों वह इन भोग-सामग्रियों की आराधना में फंसता गया त्यों-त्यों सुख की चाह और मन की अशान्ति बढ़ती गई और उसने भोग को छोड़कर सुख का कोई दूसरा मार्ग खोजना चाहा। सम्राट् और चक्रवर्ती का राज-वैभव, विजय-वैभव और शत्रु-संहारक सैन्य-वैभव जहाँ थक गया, कुबेर और कारूं का धन-वैभव जहाँ हताश हो गया, रति और कामदेव का शृंगार और सौंदर्य-वैभव जहाँ न पहुँच सका, कवि और कलाकार जहाँ बीहड़ में भटकते रहे, अर्थात् जिस समस्या को भोगी भोग-प्रचार करके न हल कर पाये, उसके लिए योगियों ने आगे क़दम बढ़ाया। उन्होंने गहरा विचार करके देखा कि तमाम सांसारिक ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी मनुष्य दुःखी का दुःखी ही बना हुआ है। तब उन्होंने सुख के मूल की खोज शुरू की। उन्होंने सोचा कि मनुष्य आखिर क्यों दुःखी रहता है। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि मनुष्य इच्छायें तो बहुत करता है, अपनी आवश्यकतायें तो बहुत बढ़ा लेता है, इनमें तो बहुत स्वतन्त्र है; परन्तु अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह बहुत परतन्त्र है। इससे उसकी बहुतेरी आवश्यकतायें और इच्छायें अधूरी रह जाती हैं। और इस कारण वह दुःखी बना रहता है। जब हर आदमी अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाने लगता है तब उनमें परस्पर संघर्ष और कलह होने लगता है। क्योंकि एक की इच्छायें और आवश्यकतायें दूसरे की इच्छाओं और आवश्यकताओं में बाधक होने लगती हैं। फिर उन्होंने देखा कि इच्छाओं और आवश्यकताओं का तो कोई अन्त ही नहीं है। मनुष्य जितनी चाहे बढ़ा सकता है; और दूसरे यह है कि उनकी तृप्ति के साधन मिलते रहने पर भी, अनेक भोगों को भोगने पर भी, मनुष्य अतृप्त और दुःखी ही रहता है। तब वे इस परिणाम पर पहुँचे कि इच्छाओं और आवश्यकताओं की सीमा बाँधे बिना मनुष्य को सुख-शान्ति नहीं नसीब हो सकती, और यह अन्तिम निर्णय कर दिया कि वासना का क्षय हुए बिना मनुष्य को पूर्ण और अक्षय सुख नहीं मिल सकता। उन्होंने कह दिया कि सुख भोग से नहीं, योग से ही मिल सकता है। मनुष्य भोग जितना कम और योग जितना अधिक करेगा उतना ही वह अधिक सुखी होगा। भोग के मानी हैं इच्छाओं और आवश्यकताओं की अमर्याद बढ़ती और योग के मानी हैं मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं तक उनका सीमित रहना। मनुष्य की साधारण आवश्यकता क्या है? पेट भर स्वच्छ सादा भोजन, तन भर कपड़ा, रहने के लिए सुडौल हवादार मकान, बाल-बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पालन-पोषण आदि के लिए आवश्यक धन। इससे अधिक की इच्छा रखने या वस्तुओं को संग्रह करने वाले को उन्होंने चोर की उपाधि दी और अपरिग्रह को सुख का मूल सिद्धान्त निश्चित किया एवं अपरिग्रह के सिद्धान्त पर समाज की रचना करना चाहा।

परन्तु इच्छाओं का त्याग और उससे घट कर अपरिग्रह की बात एकाएक मनुष्य को जँची नहीं। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा भोग-सामग्रियों के बंटवारे की चेष्टा की गई। परन्तु भोग-लोलुपों की महत्वाकांक्षाओं ने उसको भी छिन्न-विच्छिन्न कर दिया। तत्व-रूप से यद्यपि सुख की समस्या हल हो गई; परन्तु व्यवहार-रूप में बहु-जन-समाज के सामने वह अभी तक बिना हल हुए ही खड़ी है। भारतवर्ष के जीवन में यद्यपि भोग की जगह संयम का भाव फैला हुआ नज़र आता है तथापि उनका संयम अकर्मण्यता और कायरता के कीटाणुओं से आक्रान्त होकर उनके दुःख का कारण बन रहा है। उनके संयम का फल तो होना चाहिए था अधिक सुख, अधिक स्वतन्त्रता; परन्तु आज दुनिया में वे सबसे अधिक दुःखी और पराधीन बने बैठे हैं। सुख का मूलमन्त्र जानते हुए भी भारतवासी उसका प्रयोग न जानने के कारण सुख से वञ्चित हो रहे हैं।

इधर नयी दुनिया के लोग भी सुख के लिए छटपटा रहे हैं। भारत जिस प्रकार सुख की शोध में पहले भोग की

शरण में पहुँचा, फिर योग के चरणों में उसे सुख-शान्ति मिली। उसी प्रकार पश्चिमी संसार भी अभी भोग ही में भटक रहा है। यद्यपि योग की किरणें वहां तक जा पहुँची हैं तथापि उनका प्रकाश अभी उन्हें आकर्षित नहीं कर सका है। भारतवर्ष के पास औषधि है, पर वह प्रयोग भूल गया है; पश्चिमी दुनिया में जीवन है, किन्तु दिशा-भूल हो रही है। अस्तु।

व्यावहारिक संसार के सामने आज यह भी समस्या खड़ी है कि समाज में सुख और शान्ति की वृद्धि किस तरह हो। जातियों और राष्ट्रों में परस्पर ईर्षा-द्वेष, प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के भाव प्रबल हो रहे हैं और युद्ध की आवाज़ चारों ओर से उठ रही है। शान्ति परिषदें, निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव की चर्चा जगह-जगह हो रही है। साम्राज्यवादी अपनी लूट की धुन में किसी की सुनते नज़र नहीं आ रहे हैं। बोल्शेविक और कम्यूनिस्ट अलग अपनी समाज-रचना की योजना लिये फिरते हैं, तो उधर मुसोलिनी फिर एकतंत्री पद्धति का संस्करण कर रहा है। साम्राज्यवादी कहते हैं सारा शासन-यंत्र जबतक एकसूत्र से सञ्चालित न होगा तबतक समाज में सुख-शान्ति स्थापित न होगी। साम्यवादी कहते हैं, जबतक सम्पत्ति का बटवारा समान रूप से न होगा तब तक समाज से कलह दूर नहीं हो सकता। प्रजावादी कहते हैं, जबतक प्रजा के मत से समाज और राज्य का काम न चलेगा तब तक समाज की उन्नति नहीं हो सकेगी। तात्पर्य यह कि भौतिक पदार्थों में ही अबतक दुनिया सुख की शोध कर रही है। जहां तक मेरी बुद्धि पहुँच पाई है, मुझे साम्यवादियों का दल भौतिक दृष्टि से सुख और सुव्यवस्था के अधिक नज़दीक मालूम होता है। दुनिया में सुख प्राप्त करने के जितने साधन हैं वे सब के लिए समानरूप से सुलभ होने चाहिएँ। चाहे अमीर हो या ग़रीब, स्त्री हो या पुरुष, सभ्य हो या असभ्य, जीवन की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सबको समान रूप से सुविधा होनी चाहिए। केवल धन, सत्ता, या विद्या के बल पर जब किसी को कोई विशेष सुविधा मिलने लगती है और जब उसे वह अपना अधिकार समझने लगता है तभी समाज में कलह उत्पन्न होता है। बलवान् और निर्बल ये दो वर्ग निर्माण होने लगते हैं और बलवान् क्रमशः निर्बल को निगलते जाते हैं। आज दुनिया में यही हो रहा है और इसीलिए विश्व समाज की शान्ति के लिए चिन्ताशील नज़र आता है। मेरा यह विश्वास है कि निकट-भविष्य में संसार को साम्यवादियों का यह हल मानना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि और तर्कशक्ति का उससे समाधान हो जाता है और उसमें अधिकांश लोगों का अधिक हित छिपा हुआ है।

फिर भी यह हल मेरी दृष्टि में एकांगी है। एक हद तक समाज का हित-सधान इससे होगा। जहाँ तक सुख-सामग्री के बटवारे की वर्तमान प्रथा में दोष है वहाँ तक तो यह हल काम दे देगा; पर सम्पत्ति और सुख-सामग्री को बढ़ाने की अभिलाषा उससे शान्त न होगी। आज निर्धनों और धनवानों और वैभवशालियों और दीन-दुखियों में, राजा और रंक में जो विशाल खाई पड़ गई है वह इससे अवश्य बहुत कुछ भर जायगी, यह द्वेष बहुत-कुछ कम हो जायगा; परन्तु साथ ही धनैश्वर्य की प्रतिस्पर्द्धा बहुत-कुछ बढ़ भी जायगी। जब तक सुख-भोग का कोई सीमित आदर्श समाज के सामने नहीं रक्खा जायगा तब तक प्रतिस्पर्द्धा और वर्ग-कलह से समाज को बचाना असम्भव है। यह सीमा दो प्रकार की हो सकती है—(१) मनुष्य अपने शारीरिक श्रम से जितना उपार्जन करे उतना ही सुख-भोग वह कर सकता है; (२) मनुष्य की साधारण आवश्यकतायें निश्चित कर ली जायँ और उससे अधिक परिग्रह करने का किसी को अधिकार न रहे। दोनों में मनुष्य से संयम करने के लिए कहा गया है। पहली बात कृत्रिम बंधन सी पर अधिक व्यावहारिक है। वह मनुष्य की इच्छा की मर्यादा नहीं बाँधती, व्यवहार में ऐसी शर्त लगा देती है कि अधिक इच्छा करते हुए भी मनुष्य अपने आप उसकी पूर्ति नहीं कर सकता। किन्तु मनुष्य बार-बार इच्छा करते हुए भी जब इस शर्त के कारण उसको पूरा न कर पावेगा, तब इस शर्त को तोड़ने की उसकी इच्छा प्रबल हो उठेगी और आगे चल कर यह शर्त ठहर न सकेगी। इसके विपरीत दूसरी बात मनुष्य की इच्छा ही को नियंत्रित कर देती है। वह उसके सामने ऐसा आदर्श उपस्थित करती है कि मनुष्य अधिक इच्छा करना ही बुरा समझने लगता है। इसलिए मेरी राय में यह

उपाय अधिक स्थायी और अधिक फलदायी है। साम्यवादियों की समाज-व्यवस्था में, जहाँ तक मैंने समझा है, अभी इसके लिए स्थान नहीं तजवीज़ हुआ है; शायद उनका समाजशास्त्र अभी इस परिणत अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ है। वे समानता के सिद्धान्त तक तो पहुँच गये हैं; अपरिग्रह या संयम के सिद्धान्त तक पहुँचना अभी बाक़ी है। यदि वे सचमुच वैज्ञानिक समाज-शास्त्री हैं, तो उन्हें भोग को छोड़कर योग पर आना पड़ेगा। इसमें मुझे तिल-मात्र संदेह नहीं है।

कुछ मित्र कहते हैं कि भोग से पुरुषार्थ और कर्मण्यता की वृद्धि होती है और योग से संसार के प्रति उदासीनता और उसके फलस्वरूप अकर्मण्यता बढ़ती है। मेरी समझ में यह भ्रम है। भोग से पुरुषार्थ की नहीं; स्वार्थ की वृद्धि होती है, जिसका अंत होता है या तो विलासिता में या अत्याचार में; और दोनों का अंतिम फल होता है घोर पतन योग से जो उदासीनता आती है वह संसार के प्रति नहीं, बल्कि अपने स्वार्थ के प्रति होती है, जिसका पर्यवसान होता है सेवा-भाव की वृद्धि में। सच्चे योगी की कसौटी ही यह है कि उसका एक-एक क्षण दीन-दुखी, पीड़ित-पतित की सेवा में व्यतीत होता है। भारत ने योग-मार्ग का अनुसरण तो किया; किन्तु कर्मण्यता को भुला दिया, इससे आज निर्जीव और निःसत्व हो रहा है। जीवन का दूसरा नाम है कर्म। अपने लिए जो कर्म किया जाता है उससे आसुरी जीवन बढ़ता है; दूसरों के लिए जो कर्म किया जाता है उससे दैवी जीवन मिलता है। कर्म-हीन जीवन वृथा है। मेरी राय में निकम्मा मनुष्य पशु से भी गया बीता है। अस्तु।

सुख के मूल को फ़िलहाल यदि एक ओर रख दें और फिर विश्व की वर्तमान समस्या का विचार करें, तो वह उतनी राजनैतिक नहीं मालूम होती जितनी कि आर्थिक है। पिछले ज़माने की तरह आज राज्य और साम्राज्य केवल दिग्विजय के लिए अथवा चक्रवर्ती-पद प्राप्त करने के लिए नहीं क़ायम है। राजसत्ता आज ध्येय से हट कर साधन बन गई है। नित-नये भोगों की चाह दुनिया में बढ़ रही है। बिना धन और ऐश्वर्य के उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। धन बिना व्यापार-उद्योग और कल-कारख़ाने के नहीं मिल सकता। बड़े-बड़े व्यापार-धन्धों को सफलतापूर्वक चलाने के लिए राजसत्ता अनिवार्य है। इसलिए राजसत्ता की वृद्धि की आयोजनायें हम देख रहे हैं। संसार में आज वह राज्य प्रबल है, जिसके पास कच्चे माल के साधन विपुल हैं और तैयार माल की बिक्री के लिए विशाल बाज़ार है। जिन देशों में कच्चे माल की बहुतायत है और तैयार माल की बिक्री का बाज़ार बड़ा है, उनपर सब देशों की ज़हरीली नज़र गड़ी हुई है। भारत ऐसे देशों में सबसे बड़ा नहीं तो एक विशाल देश अवश्य है। ब्रिटेन के व्यापारी इसीलिए उसे जी-जान से जकड़े हुए हैं। यह बात भारत के बच्चे-बच्चे को समझ लेनी चाहिए।

यह कहना शायद ग़लत न होगा कि इस अनियंत्रित भोग तृष्णा का ही एक फल है वर्तमान साम्यवाद। साम्यवाद यद्यपि सारे समाज की भोग तृष्णा पर प्रहार नहीं करता है तथापि धनैश्वर्य में बढ़े-चढ़े लोगों को वह संयम का पाठ अवश्य पढ़ाना चाहता है। तात्विक जगत् में जिस प्रकार संयम या अपरिग्रह ही समाज के सुख का मूल सिद्ध है उसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में शारीरिक श्रम का सिद्धांत उच्च कोटि का है। शारीरिक श्रम ही एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा सम्पत्ति एक जगह एकत्र नहीं हो पाती, जगह-जगह यथेष्ट मात्रा में बँट जाती है। आजकल उद्योग-धन्धे और कल-कारख़ाने शारीरिक श्रम के सिद्धान्त पर नहीं, बल्कि धन के प्रभाव पर चल रहे हैं, इसलिए मुनाफ़े का बँटवारा श्रम के लिहाज से नहीं बल्कि शेयरों के लिहाज़ से होता है और यही मूल है असमान बँटवारे का। अतएव यदि बड़े-बड़े कल कारख़ाने और उद्योग-धन्धे समाज के लिए अभीष्ट और अनिवार्य हैं, तो मुनाफ़े के बँटवारे की वर्तमान पद्धति में अवश्य सुधार हो जाना चाहिए। पर यदि हम अपने भोगों की एक सीमा बाँध लें और मनुष्य की शक्ति का पहले उपयोग करके फिर, उसके कम पड़ने पर, भाफ या बिजली की सहायता लें तो समाज की विषमता और बेकारी दोनों का सवाल आसानी से हल हो सकता है। बड़े-बड़े कल-कारख़ानों की कल्पना उन्हीं देशों में उदित और विकसित हुई है जहाँ मानव-शक्ति कम थी। भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ करोड़ों लोगों को साल में छः महीने बेकारी में बिताने पड़ते हैं, बड़े-बड़े कारख़ानों को खड़ा करना मानवी-शक्ति का

तिरस्कार करना है और तिसपर भी मुनाफ़े के बँटवारे में विषमता से काम लेना तो मार्नो करेले को नीम पर चढ़ाना है। कितने आश्चर्य की बात है कि अपनी भोगेच्छा को तनिक संयम में रखना मनुष्य को, शिक्षित मनुष्य को, कठिन बात मालूम होती है; और दुनिया भर की आसुरी महत्वाकांक्षा में और उसकी सिद्धि के लिए उचित और अनुचित सब प्रकार के भगीरथ प्रयत्न उसे आसान मालूम होते हैं। अस्तु।

सारांश यह है कि दुनिया सुख की खोज में है। संयम, अपरिग्रह अथवा इच्छाओं का नाश सुख का मूलमंत्र है। परन्तु इसकी साधना उसे कठिन मालूम होती है। वह सरल उपाय चाहती है। साम्यवादियों ने सम्पत्ति के समान बँटवारे का हल उसके सामने रक्खा है। एक हद तक वह संसार की विषमता कम कर सकेगा। यदि शारीरिक श्रम के मार्ग को समाज स्वीकार कर ले तो समानता के सिद्धान्त की अपूर्णता कम हो सकती है। इस दृष्टि से विश्व की प्रधान समस्या आज साम्पत्तिक है, राजनीति तो उसका अंग-मात्र है। कल-कारखाने इसे हल नहीं कर सकते। श्रम-धर्म या मानवी शक्ति ही इसका एक-मात्र उपाय है। ऐ उलटी दुनिया, जड़ता को छोड़ कर चैतन्य की पूजा कर !

हरिभाऊ उपाध्याय

अभिलाषा

रूखा-सूखा मिले, बहुत है, पर न सहें अपमान;
लोक लाज मर्य्यादा का हो, संतत मन में ध्यान।
नंगे रहें, असभ्य कहावें, मर जावें, स्वीकार;
पर न दासता-मय जीवन से किञ्चित भी हो प्यार।
भगवन् ! रौरव नर्क भले ही मिले, नहीं कुछ खेद;
हों प्रतारणा से प्राणों के तार तार विच्छेद।
किन्तु ! न करना, किसी दशा में, स्वतंत्रता से हानि;
जन्में किसी योनि में पर हम सदा रहें स्वाधीन ॥

देवीदीन दीक्षित 'दिवाकर'

हमारी पराधीनता के कारण

भारत-भूमि से बाहर निकलते ही जो पहली बात खटकती है, वह हमारी पराधीनता। बाहर के छोटे से छोटे देश को भी दुनिया में स्वतंत्र स्थान है। पर इस विस्तीर्ण भारत को ? कहीं नहीं। हम बाहर 'भारतीय' के नाते से नहीं पहचाने जाते हैं। बाहर तो सब दुनिया हमें 'ब्रिटिश प्रजाजन' के नाते से पहचानती है। ब्रिटिश प्रजाजन होने का अभिमान ब्रिटिश आदमी को जैसे हो सकता है, वैसे हमें कैसे हो ? विशेषतः 'ब्रिटिश-इंडियन' कह कर जब बाहर के छोटे-छोटे स्वतंत्र देशों के निवासी हमारी ओर ताकते हैं, उनकी दृष्टि पर से इस शब्द में जो अमृत या जो विष भरा हुआ है, उसकी 'लज़्ज़त' जो ही जानता है ! कई बार तो यह मूक दृष्टिपात तीखी कटार-सा हृदय पर वार कर जाता है। पर घायल हृदय को चुपचाप छिपे आंसुओं के जल से धोने के सिवा दूसरा क्या इलाज है ? 'इतना प्रचंड देश और ऐसा पराधीन,' यह विभारतीय लोगों को बड़ी जटिल समस्या है। समस्या तो मुझे भी है, पर हल कैसे हो ?

हम इतने पराधीन क्यों हैं ? कारण, हमारी पराधीनता का हमें पूर्णतया ज्ञान ही नहीं है। हमारी परवशता का काँटा हमें चुभता ही नहीं है। 'हम पराधीन हैं,' यह मुख से तो हम सब लोग कहते हैं; पर यह बात हमारे हृदय को बेधती नहीं है। हमें पराधीन रखने वालों की खूबी इसीमें है। और हमारे पराधीन रहने का कारण भी यही है। यदि इस परतंत्रता का ज्ञान है, तो इने-गिने लोगों को है; और जिन्हें है, वे बेचारे तड़फते हैं और कराह रहे हैं। पर दूसरे करोड़ों भाई-बहनों की ओर देखिए तो बेचारे अज्ञान नन्हें-नन्हें बच्चों के से सुख की नींद सो रहे हैं! उन्हें बेचारों

को तो पता तक नहीं है कि हम परतंत्र हैं ! यह ज्ञान जब तक देश के कोने-काने और बच्चे-बच्चे तक नहीं पहुँचेगा, और यह बात समाज के हरएक व्यक्ति को जबतक न चुभेगी, तब तक हमारा उत्थान असंभव है ।

थोड़े दिन की बात है । एक मोची की दूकान पर मैं जूता सिलवा रहा था । मेरे एक फ्रेंच मित्र मुझसे बातें कर रहे थे । बातों में एशियाटिक सोसाइटी की बात छिड़ी । मेरे मुख से निकला कि 'क्या लंदन की रायल एशियाटिक सोसाइटी की यह शाखा है ?' मेरे मित्र हँसने लगे । मेरे ध्यान में उनकी हँसी का कारण न आया । मैं उनका मुँह ताकने लगा । तब, बीच में, मोची बोला—'महाशय ! रोयाल (फ्रेंच Royal शब्द का उच्चारण यों करते हैं) बातों की तो गठरी फ्राँस के बाहर कभी की फेंक दी गई है ।' मित्र महाशय बोले—'फ्राँस में कोई बात रोयाल नहीं है । यहां तो सब बातें पबलिक (Public) हैं ।' मैं समझ गया, पर बोला—' ठीक है, पर मैं तो अभी रायल बन्दर (Boulevard de Port Royal) परही रहता हूँ ।' जवाब मिला कि 'रोयाल शब्द केवल शब्दों में ही बाक़ी है ।' मुझे कालिदासके 'श्रुतौ तस्करता स्थिता' की याद आई और मैं चुप हो गया । राष्ट्रीय भावनायें इस प्रकार समाज भर में फैलनी चाहिएँ ।

परंतु हमारी परवशता हमें न चुभने का कारण केवल अज्ञान ही नहीं है । इसका दूसरा एक कारण है, हमारा अन्य सब बातों में पराधीन रहना । केवल राजकीय दृष्टयाही हम परवश नहीं, किंतु सभी बातों में हम बेबस हैं । हमारी राजकीय परतंत्रता तो अन्य परतंत्रताओं का एक स्वाभाविक परिणाम है । इसका श्रेय हमारे राज्यकर्ताओं को तो निमित्तमात्र है । असली कारण तो हमारे हम ही हैं । न मालूम कितने काल से हम परवश ही रहते चले आये हैं और इसी कारण से उसके काँटे चुभते चुभते हमारे समाज-रूपी शरीर के व्रण ऐसे हो गये हैं कि उन काँटों की पीड़ा हमें अब दुःख ही नहीं देती । किस बात में हम स्वतंत्र हैं ? समाज का आधा भाग तो हमने 'न स्वातंत्र्य मर्हति' कर रक्खा है । बाक़ी के आधे विभाग में भी 'इसे स्पर्श करने का अधिकार नहीं', 'इसे—वेद का ही क्यों न हो पर—अध्ययन का अधिकार नहीं', 'इसे याजना-ध्यापन का अधिकार नहीं' इत्यादि हजारों बेड़ियों से समाज के भिन्न-भिन्न अवयवों को जकड़ डाला है । इन बेड़ियों को हम चिरपरिचितता के सबब एक प्रकार के आभूषण समझते हैं । यहाँ तक कि यदि कोई इन बेड़ियों को तोड़ने का यत्न करे, तो तोड़ने वाले को केवल दूसरे लोग ही नहीं कोसते; बल्कि वे लोग भी कोसते हैं, जिनकी बेड़ियाँ तोड़ने का वह बेचारा यत्न करता है ।

मुझे अच्छी तरह याद है कि एक समय गरमी के दिनों में साइकिल से मैं प्रवास कर रहा था । पचास मील के लगभग मैं चल चुका था । धूप खूब कड़ी थी । प्यास के मारे मैं मरा जा रहा था । कुँआ कहीं पास दीखता भी न था । चलते-चलते एक झोंपड़ा दिखाई दिया । मैं नीचे उतर झोंपड़े में गया और मैंने पानी पीने के लिए माँगा । पूछा गया—'कौन ठाकुर ?' 'ब्राह्मण,' मेरे मुख से निकला । उसने जमीन पर सिर रख कर प्रणाम किया और कहा कि 'मैं महार (दक्षिण की एक अछूत जाति), मेरे हाथ का पानी आप कैसे पीयेंगे ?' मैंने कहा—'तुम भी मनुष्य हो । बहुतेरे ब्राह्मणों के घरों में भी जितनी स्वच्छता न होगी, उतनी तुम्हारे घर में मुझे दीखती है । फिर तुम्हारे हाथ का पानी पीने में हर्ज ही क्या है ? मुझे चलता है । मैं चाहे जिस साफ आदमी के हाथ का पानी पीने में कुछ हर्ज नहीं समझता ।' वह बोला—'आप न समझते होंगे । पर आपको मेरे

अछूत हाथों का पानी देने में मुझे जो पाप लगेगा, उसका क्या ? मैं हर्गिज़ न दूँगा। आप मेरे साथ चलें। कुँआ आध ही मील पर है, मैं आपके साथ चलता हूँ।' नंगे पैर वह मेरे साथ धूप में आया, कुँआ दिखाया, पर पानी न पिलाया। मैं उसको दोष नहीं देता। मुझे पानी न देने में उसका कुछ स्वार्थ न था। अपने मतानुसार उसने तो धर्म-कृत्य ही किया। मैं तो केवल यह दिखाना चाहता हूँ कि 'हम अछूत हैं' में अछूत जाति के लोग भी बुरा नहीं मानते। उसे इतना तो बुरा अवश्य लगा कि ब्राह्मण न होने के कारण उसे मुझे इतने कष्ट देने पड़े। पर मेरी अछूतता चली जावे, यह इच्छा उसे ज़रा भी न हुई। चिर-परिचय का प्रभाव है।

आर्थिक दृष्टि से देखें, तो भी यही हाल है। कुल में एक प्रधान आदमी द्रव्यार्जन करे, बाक़ी उसीपर निर्भर रहें। जो रोटी का टुकड़ा सामने दिखाई दे, उसपर जैसे कुत्ते दौड़ते हैं, वैसे ही बाप-दादाओं की कमाई हुई जायदाद के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए भाई-भाई दौड़े जाते हैं। विचारों के बारे में हम लोग पुराने ज़माने से पुरानी लकीर के फ़क़ीर हैं। विचार-स्वातंत्र्य में विहार करके निर्भीकता से जो अनुभव आवे, उसे 'न बिभेति कुतश्चन' समझ कर, बुलंद आवाज़ से दुनिया भर को कहने वाले उपनिषत्कालीन ऋषि कहाँ और 'इति श्रुतिः' 'इति मनुरब्रवीत्' वचन को आगे बढ़ाकर अपना विचार-पारतंत्र्य छिपाने वाले हम कहाँ ? जहाँ विचार तक का स्वातंत्र्य नहीं, वहाँ काहे का उच्चार-स्वातंत्र्य और कैसे हो आचार-स्वातंत्र्य ? सभी प्रकार से पारतंत्र्य-शृंखला जहाँ कनकना रही हैं वहाँ राजकीय स्वातंत्र्य कैसे मिल सकता है ? और अगर मिल भी जाय तो कैसे रह सकता है ?

अन्य राष्ट्रों की ओर देखो। धर्म, अर्थ, काम, विद्या, कला सभी बातों में निर्भीकता से हरएक राष्ट्र अपनी-अपनी प्रगति कर रहा है। केवल हम भारतीय ही, 'यह सब अनाध्यात्मिक हैं' कह कर, यह सिद्ध करने में मगन रहे हैं कि एक समय पुराने खंडहरों में ये नई चीज़ें थीं—'वेद में रेलगाड़ी थी', 'पुराणों में विमान थे,' 'उपनिषदों में बेतार की खबरें थीं।' होंगी; पर आज न तो हम रेलगाड़ी बना सकते हैं, न विमान, न बेतार के तार; तब केवल उच्च स्वर से लगातार 'हम यों थे, हम त्यों थे' की डींग मारने से लाभ ही क्या ? अतः उठो, जागो; दुनिया में क्या हो रहा है, यह देखो; और अपना उद्धार करने के लिए क्या करना चाहिए, इसका निर्भयतापूर्वक विचार करो।

हरि रामचन्द्र दिवेकर

शिक्षा का ढंग

परमात्मा ने सबको भिन्न-भिन्न देह और बुद्धि दी है। यह तो हरएक का कर्तव्य है कि वह यह प्रयत्न करे कि उसकी वर्तमान स्थिति से भविष्य की स्थिति अच्छी हो। पर दूसरे किसीको कुचल कर उससे आगे बढ़ने की इच्छा और प्रयत्न करना अनिष्ट है। शक्तियों को अपने नैसर्गिक विकास का ही मार्ग ग्रहण करना चाहिए। कृत्रिम मार्गों से उनके विकास का प्रयत्न करना कच्चे फलों को कृत्रिम रीति से पकाने का प्रयत्न करने के समान है। फिर मानसिक विकास-मार्ग भी उतने ही निश्चित और व्यवस्थित हैं, जितने कि शारीरिक विकास के मार्ग। इसलिए उसमें कृत्रिम उपाय भी कुछ काम नहीं देते। तथापि हम मानसिक विकास के क्षेत्र में स्पर्द्धा को आवश्यक समझते हैं। इसका कारण यह है कि हम बाहर से यह देख सकते हैं कि शारीरिक स्पर्द्धा हमारे लिए कहाँ अशक्य है और कहाँ शक्य, पर हम मानसिक स्पर्द्धा की शक्याशक्यता का पता इसी तरह बाहर से नहीं लगा सकते।

विकास का अंदाज़ हम बाह्य साधनों से कभी ठीक-ठीक

नहीं लगा सकते। हमें अक्सर इसमें धोखा ही होता है। परीक्षायें हमेशा बाह्य परिणामों को ही नाप सकती हैं, आन्तरिक शक्तियों को नहीं। जिस वस्तु की परीक्षा होती है, वह शक्ति नहीं है बल्कि शक्ति का प्रदर्शन करने की शैली है। स्पर्द्धा में परीक्षा है और परीक्षा में स्पर्द्धा। फ़र्क ख़ाली इतना ही है कि स्पर्द्धा में दूसरे की अपेक्षा अधिक परिणाम दिखाने की वृत्ति होती है और परीक्षा में एक ख़ास सीमा। सच्ची शक्ति की नाप तो इन दोनों में से एक साधन से भी नहीं होती।

मुहल्ले की एक छोटी सी लड़ाई से लेकर बड़े-बड़े महा-युद्ध तक स्पर्द्धा से ही उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक यूरोपीय देश ने और ख़ास कर जर्मनी ने अपनी शिक्षा में स्पर्द्धा के तत्व को स्थान दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आवश्यकता सिद्ध होने पर दूसरे को हानि पहुँचा कर भी आगे बढ़ने की वृत्ति वहाँ पैदा हो गई। स्पर्द्धा में हमेशा यही होता है। दुष्ट लोग तो दूसरे को हानि पहुँचाकर भी आगे बढ़ते हैं। भले लोग भी यह तो इच्छा करते हैं कि हमारे प्रतिस्पर्द्धी को कुछ हानि पहुँच जाय तो हम आगे बढ़ जावें। उनसे अच्छे लोग अपने प्रतिस्पर्द्धी को हानि पहुँचते हुए देखें तो उनको दुःख नहीं होता। अपने प्रतिस्पर्द्धी को दुखी देख कर दुखी होने वाले तो विरले ही होते हैं। इसलिए पाठशालाओं में नंबर आदि स्पर्द्धा के साधनों को निकाल डालना चाहिए। स्पर्द्धा नहीं, बल्कि सहयोग—परस्पर सहयोग, सहायता, और सहानुभूति ही शिक्षा का ध्येय होना चाहिए।

जिस प्रकार आपस में स्पर्द्धा करना एक अनिष्ट वस्तु है उसी प्रकार किसी विशेष शक्ति का प्रदर्शन करने की वृत्ति भी उतनी ही अनिष्ट है। इससे सच्ची ज्ञान-पिपासा मारी जाती है। पाण्डित्य-प्रदर्शन की वृत्ति का जन्म होता है। ज्ञान प्राप्त करते समय प्रदर्शन की दृष्टि हमेशा उपस्थित रहती है और इसी वृत्ति से सारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। शिक्षा के द्वारा हम सारे संसार का ज्ञान नहीं दे सकते। पर उस ज्ञान को प्राप्त करने की उत्कंठा ज़रूर पैदा कर सकते हैं। और अगर इतना भी हम कर सकें तो कहा जा सकता है कि शिक्षा का हेतु सम्पन्न हो गया। अगर यह न हो सके तो अवश्य ही कहना होगा कि हमारी शिक्षा का हेतु सफल न हुआ। ज्ञान के प्रदर्शन से नहीं, बल्कि ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्य को सच्चा आनन्द होना चाहिए। सज़ा का मतलब तो है मनुष्य स्वभाव के अंदर छिपी हुई भय-वृत्ति को उत्तेजित कर उससे काम लेना। यह जितना अनिष्ट है उतना अनिष्ट लोभ से काम लेना भी है। लोभ-वृत्ति को जगा कर उससे काम लेने की प्रथा का ही स्वरूप शिक्षा में इनाम देना है। जितनी दलीलें विद्यार्थियों को सज़ा देने के ख़िलाफ़ पेश की जा सकती हैं वे सब लोभ-मूलक इनाम की प्रथा के ख़िलाफ़ भी पेश की जा सकती हैं। सत्कार्य इनाम के लोभ से नहीं बल्कि उसके सद्गुण के आकर्षण के द्वारा ही किया जाना चाहिए। लोभ अथवा भय से वहीं काम लिया जाता है, जहाँ सारासार विचार-बुद्धि की न्यूनता होती है। पर क्या हम इस तरह काम लेकर विवेक को जाग्रत कर सकते हैं? इससे तो हम उलटा विवेक-बुद्धि के विकास में विघ्न खड़े करते हैं। भय और इनाम के परदे खड़े कर हम सचमुच सत्कार्य के सहज सौन्दर्य और दुष्कार्य की सहज कुरूपता को छिपा देते हैं। शिक्षा का मतलब यह नहीं है कि जब तक विद्यार्थी पाठशाला में पढ़े वह अमुक कार्य करे और अमुक नहीं। शिक्षा का हेतु तो यह है कि जहाँ कहीं भी जाय उसके चित्त में सत्कार्य के लिए सहज प्रेम और दुष्कार्य से सहज घृणा उत्पन्न होनी चाहिए।

शिक्षा मानव-जीवन की इमारत की बुनियाद है। इस-लिए इस बात के विषय में मनुष्य को बड़ी सावधानी रखनी चाहिए कि इसकी बुनियाद में कोई अनिष्ट तत्व न पैठ जाय। क्योंकि यदि कहीं ऐसा होगा तो वह तमाम इमारत को गिरा देगा। जितने भी शिक्षा के प्रयोग किये जायँ उनका आरम्भ मानव-हृदय के उच्च गुणों को जाग्रत करके होना चाहिए, न कि अधम गुणों को। हरएक बात विद्यार्थी को दो तरह से समझाई जा सकती है—एक तो उसकी बुद्धि को क़ायल करके और दूसरे उसके हृदय पर किसी प्रकार का असर डाल कर। तीसरा शुद्ध प्रकार कोई हुई नहीं। अतः अगर इन दो मार्गों में से हमें एक भी पसंद न हो तो हम अभी लाचार हैं। पर मनुष्य-जाति के हृदय और बुद्धि पर हमें विश्वास है। उनको जगाने का प्रयत्न हमेशा करते रहना चाहिए। एक न एक दिन विजय ज़रूर मिलेगी।

हरिहर भट्ट

गुलामों का त्राता गैरिज़न

आज हम जिस महात्मा के जीवन पर प्रकाश डालना चाहते हैं वह अमेरिका के निवासी थे। अमेरिका से गुलामी की प्रथा के निर्मूल कराने का सबसे अधिक श्रेय इन्हींको है। इन्हें ही लोग इस आन्दोलन का अगुआ कहते हैं—क्योंकि, यद्यपि और लोग भी गुलामों के उद्धार के लिए प्रयत्न करते थे, परन्तु यही सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने गुलामों को तुरन्त स्वतंत्र कराने के लिए आवाज़ उठाई और इसे उस समय का सबसे बड़ा प्रश्न बना दिया।

इनका जन्म, उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ में, एक बिलकुल साधारण श्रेणी के कुटुम्ब में हुआ था। इनका बाल्यकाल बड़ी कठिनाई में बीता। इनके पिता ने अपनी स्त्री (इनकी माता) का त्याग दिया था, इसलिए इन्हें अपने तथा अपनी माता के भरण-पोषण के लिए द्रव्योपार्जन की आवश्यकता पड़ी। जब ९ह बच्चे ही थे तभी मेवों की फेरी करके, जूते बना कर, और झोंपड़ियाँ बना कर अपनी गुजर करने लगे। इन्हें पुस्तकों के पढ़ने का समय भी नहीं मिलता था, और स्कूल का तो इन्होंने मुँह ही नहीं देखा। हाँ, जब तेरह वर्ष के हुए तो प्रेस का काम सीखने लगे और इस काम में इन्होंने अपना मन भी खूब लगाया। यही नहीं, वहाँ पर इन्होंने लिखने का भी अभ्यास बढ़ाया और लेख लिख-लिख कर पत्रों में भेजने लगे। पढ़ने का मौक़ा भी यहीं अच्छा मिला। सर वाल्टर स्कॉट के उपन्यास और बाइरन की कविता में इन्हें विशेष आनन्द मिलता था।

यह १८ वर्ष के थे, तभी इनकी माता की मृत्यु हो गई। और यह बिलकुल अकेले रह गये। इनका एकमात्र भाई पहले ही मर चुका था।

२१ वर्ष की अवस्था में इन्होंने प्रेस का काम अच्छी तरह से सीख लिया। इस समय यह बड़े मिलनसार, आमोद-प्रिय और देखने में आकर्षक थे; नियम से गिर्जे जाया करते और लोगों पर अच्छा प्रभाव डालते थे। और भी कई ऐसे गुण थे, जो केवल नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। इनके मित्रों ने इन्हें एक पत्र निकालने के लिए धन दिया। पर इनके लेखों में स्वाधीनता का भाव इतना अधिक रहता था, कि साधारण लोग एकाएक उसे ग्राह्य ही नहीं कर पाये! फलतः कुछ ही दिनों बाद उसे बन्द कर देना पड़ा!

स्वतंत्रता के प्रेमी यह बाल्यावस्था ही से थे। यूनानियों ने तुर्कों को निकाल बाहर करने के लिए जो स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी, उसका इनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। किन्तु अपने पत्र के बन्द होजाने से दूसरे काम की तलाश हुई और बहुत दौड़-धूप करने पर एक पत्र के सम्पादक हुए, जिसका उद्देश्य था मादक द्रव्य-निषेध। इसके बाद 'जर्नल्स ऑफ़ दी टाइम्स' नामक पत्र के स्वामी हुए। इस पत्र के एक अंक में इन्होंने अमेरिका की एक रियासत में काली जातियों में पढ़ने-लिखने के विरुद्ध जो क़ानून बना था उसपर एक बड़ा कड़ा लेख लिखा, जिसमें इन्होंने बताया कि मनुष्य के मस्तिष्क और लेखनी पर मुहर लगाना कितना अन्याय है। साथ ही ज़ोरदार शब्दों में यह भी लिखा कि ऐसे क़ानूनों का अन्त हो जाना चाहिए। इस लेख ने बैंजमिन लैंडी नामक एक वृद्ध पुरुष का ध्यान आकर्षित किया। यह महानुभाव कई वर्ष पहले से गुलामी की प्रथा उठा देने का आन्दोलन कर रहे थे। गैरिज़न पर लैंडी के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा; साथ ही पादरियों के भावों से इन्हें बड़ी घृणा हो गई, जिन्हें लैंडी व्यर्थ ही समझाने का प्रयत्न करता था।

गुलामी के विरुद्ध आन्दोलन करने वाली सभाओं के लिए गिर्जेघर या स्कूल में स्थान मिलना कठिन था। एक बार बहुत मुश्किल से एक स्थान मिल गया, लेकिन एक पादरी ने गुलामी के विरुद्ध आन्दोलन को खतरनाक बताते हुए सभा भंग कर दी! गैरिज़न लिखता है कि "उस समय की नैतिक कायरता, साहस पर पानी फेरने वाली निर्जीवता और क्रूरतापूर्ण पाखण्ड ने मुझे क्रोध से भर दिया।" उस समय से उसने गिर्जे जाना बन्द कर दिया।

लैंडी ने उससे एक पत्र का सम्पादक होने के लिए कहा। उस पत्र का उद्देश्य शराबखोरी को बन्द करना और नीग्रो जाति को आज़ाद करना था। गैरिज़न ने उसका साथ दिया। उसने लिखने का काम शुरू किया, उधर लैंडी ने व्याख्यान देने का। गैरिज़न के लेख बहुत ही ओजस्वी और सरल

होते थे। उसने इन शब्दों में अपनी नीति घोषित की—"हम लोगों ने अन्त तक इसके विरुद्ध आन्दोलन करने का निश्चय कर लिया है और सिवाय मृत्यु के संसार में और कोई शक्ति हम लोगों के इस काम में बाधा नहीं डाल सकती।" यही नहीं, बल्कि दो हज़ार आदमियों के हस्ताक्षरों के साथ गुलामी के विरुद्ध एक प्रार्थनापत्र भी उसने तैयार किया और अपने देश की कांग्रेस में उसे उपस्थित किया। लेकिन उसका उत्तर यह मिला कि इस आन्दोलन से गुलाम जग जायँगे और तब उन्हें क़ाबू में रखना कठिन होगा!

उस समय की स्थिति ही और थी। इस प्रथा ने सिनेटर लोगों की बुद्धि और विचार को कुण्ठित कर दिया था, अतः उनपर कुछ प्रभाव न पड़ा और वे टस से मस न हुए। गैरिज़न के समान नौजवान, तेजस्वी, ताज़ा दिमाग़ वाले की आवश्यकता थी, जो उन्हें मार्ग दिखाये। उस समय गैरिज़न की अवस्था केवल २६ वर्ष की थी। पर उसने स्पष्ट रूप से देख लिया कि उससे अधिक अवस्था वाले कुछ नहीं कर रहे हैं। उसने विचार करके देखा कि सत्य मार्ग पर चलना ही आवश्यक कर्त्तव्य है, और सब बातें व्यर्थ हैं। गुलामी के सम्बन्ध में लोगों की धारणा और विचार सुनकर उसका हृदय काँप उठा। उसने देखा कि हज़ारों उदार और दयालु लोग भी गुलामी की प्रथा का समर्थन कर रहे हैं। यह देश की प्रथा और शासन-प्रबन्ध का एक अंग-सा हो रही है। लोग इस प्रथा पर सोचने-विचारने का कष्ट ही नहीं करते। उनकी ऐसी धारणा हो गई थी कि गुलामी की प्रथा उठाई नहीं कि देश तबाह हो जायगा! न तो रुई पैदा होगी, और न अनाज और तम्बाकू। खेतों में काम करने के लिए मज़दूर ही नहीं मिलेंगे। काले नीग्रो मर्द और औरतें बिना मज़दूरी के काम करती थीं। किन्तु वे व्यवसायी लोग इतने अदूरदर्शी और मूर्ख थे कि इस बात का वे विचार नहीं करते थे कि यह प्रथा केवल नैतिक दृष्टि से ही दूषित नहीं है किन्तु आर्थिक दृष्टि से भी दूषित है। इस प्रकार काम लेने से व्यय अधिक पड़ता था, क्योंकि काम ठीक तरह से नहीं होता था। उधर सारा काम काले लोगों के करने से गोरे लोग काहिल और अकर्मण्य हो रहे थे। वे काम करना नीच कर्म और केवल गुलामों का धन्धा समझते थे। लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन का भाव दूर हो रहा था। लड़कियों को खाना पकाना तथा गृहस्थी के दूसरे कामों के करने की शिक्षा नहीं दी जाती थी। दक्षिण में तो उन्होंने काली जातियों को जानवरों की तरह मर-मर करके काम करते देखा। वे लोग ऐसे मालिक के लिए काम करते, जो उनकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। यहां तक कि ओवरसियर भी उनका नाम तक नहीं जानते थे। इन ओवरसियरों के समान कठोर हृदयवाले अन्यत्र शायद ढूंढने पर भी न मिलेंगे। उनके काम ने उन्हें बिलकुल वहशी और पतित बना दिया था, क्योंकि वे बिलकुल गँवार थे और उन्हें अपरिमित शक्ति दे दी गई थी। बेचारे हबशियों को लिखने-पढ़ने का ज़रा भी मौक़ा नहीं दिया जाता था। वे पूजा आदि धार्मिक कृत्य करने के लिए भी एक स्थान पर एकत्रित नहीं हो सकते थे और न एक दूसरे से मिल-जुल ही सकते थे। उन्हें जानवरों की श्रेणी से ऊपर उठाने की चेष्टा नहीं की जाती थी। क्योंकि, गोरी जातियां डरती थीं कि ऐसा करने पर वे बग़ावत कर बैठेंगे और स्वतंत्र हो जायँगे। हबशी लोग आपस में पति-पत्नी का सम्बन्ध भी नहीं रख सकते थे—क्योंकि, उनके मालिक जब चाहते उन्हें एक-दूसरे से अलग कर सकते थे। उनके बच्चों को गोरे लोग छीन कर बाज़ार में नीलाम कर देते थे। माता-पिता का अपनी सन्तान पर भी कोई अधिकार न रहता था। दक्षिण के रहने वाले अपनेको बहुत बड़ा समझते थे और उत्तर वालों से घृणा कर उनका मज़ाक उड़ाया करते थे, क्योंकि उन लोगों ने धीरे-धीरे गुलामों को रखना छोड़ दिया था।

एक दिन रविवार को गैरिज़न ने एक गुलाम को देखा, जो थोड़ी ही देर पहले कोड़े से मारा गया था। उसकी पीठ से खून बह रहा था और सिर में सख़्त चोट लगी थी। उसका अपराध केवल यह था कि उसने अपने मालिक के मन के मुताबिक़ गाड़ी नहीं लादी थी। गैरिज़न एक सड़क पर से जा रहा था, इतने में उसने कोड़े और चिल्लाने की आवाज़ सुनी। कहीं दया अथवा न्याय का नाम-मात्र न था। अपने देश का ऐसा पशुपन देखकर उसका माथा लज्जा से झुक गया। और इस पशुता का अन्त करने का उसने दृढ़ निश्चय कर लिया।

गैरिज़न केवल थोड़े से सुधार से सन्तुष्ट होजाने वाला आदमी न था। उसका विश्वास था कि यदि कोई चीज़ ख़राब और अनुचित है, तो उसके क़ायम रहने की ज़रूरत नहीं। फिर जब तक उसके देश में ऐसा वहशीपन और अन्याय जारी हो, तब तक उसे कहाँ चैन और आनन्द था! अतः हबशियों की पूरी आज़ादी को उसने अपना ध्येय बनाया। यहीं पर लैंडी में और उसमें मतभेद पैदा हुआ। लैंडी उतने गर्म विचार का न था, जितना कि गैरिज़न था। उसका यह विचार था कि हबशियों को धीरे-धीरे आज़ादी दी जाय और दूसरे मुल्कों में उपनिवेश बसाने के लिए भेजा जाय। गैरिज़न इस प्रथा को अमेरिका में रहने देना घोर पाप समझता था। गुलामों के मालिकों ने हबशियों को भविष्य में आज़ाद करने के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था, किन्तु उनकी तात्कालिक स्वाधीनता की उन लोगों ने कल्पना भी न की थी, इसलिए गैरिज़न के इस भाव से वे बड़े नाराज़ हुए और उनपर आतंक छा गया। तब गैरिज़न ने लैंडी का साथ छोड़ दिया और अकेले ही इस युद्ध को जारी रक्खा। कुछ समय बाद, गुलामों का व्यवसाय करने वाले एक गोरे पर आपत्तिजनक लेख लिखने के कारण इन्हें जेल की हवा खानी पड़ी। जुर्माना न दे सकने के कारण यह ४९ दिन तक जेल में रहे। एक क्वेकर कवि ने जुर्माने का रुपया चुका कर इन्हें छुड़ाया। गोरों के इस व्यवहार से इनका क्रोध और भड़क उठा। और यह पहले से भी अधिक मुस्तैदी से काम करने लगे। सहायता के लिए एक बार इन्होंने फिर गिर्जे का दर्वाज़ा खटखटाया, लेकिन उसका कोई फल न हुआ। बोस्टन में सब लोगों ने दर्वाज़े बन्द कर लिये। अन्त में स्वाधीन विचार रखने वालों की एक समिति ने इन्हें व्याख्यान देने के लिए एक हॉल दिया। उनमें से कुछ लोगों पर इनके भाषण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन लोगों ने इस संग्राम में साथ देने का वादा किया। तब यह बोस्टन के सभी ख़ास-ख़ास व्यक्तियों से मिले और उन लोगों से विचार करने का अनुरोध किया। पादरियों को इन्होंने महात्मा ईसामसीह के उपदेशों का ध्यान दिलाया और उनको व्यवहार में लाने के लिए कहा। हबशियों के प्रति सर्वत्र घृणा का भाव देख कर इनका दिल बैठ गया, किन्तु अपना प्रयत्न पूर्ववत जारी रक्खा।

अपने विचारों को फैलाने के लिए इन्होंने एक पत्र निकालने की ठानी। इनके पास न तो रुपया था और न कोई ग्राहक ही था; किन्तु इनको एक साथी मिल गया। तब इन दोनों ने मिलकर "लिबरेटर" नाम का पत्र निकालना शुरू किया, जिसका आदर्श वाक्य था – "दुनिया मेरा देश है, सम्पूर्ण मनुष्य-जाति मेरे देश-वासी हैं।" प्रथम अंक में इन्होंने एक घोषणापत्र भी निकाला, जिसके प्रत्येक शब्द इनकी सजीवता और साहस के परिचायक हैं। इन्होंने घोषित किया कि "मैं गुलामों की आज़ादी के अतिरिक्त कुछ नहीं सोचूँगा और इसीके लिए जी जान से प्रयत्न करूँगा।" उसकी अन्तिम पंक्तियाँ ये हैं—"मैं अत्यन्त व्यग्र हूँ, मैं अब हिचकिचाहट से काम न लूँगा और न क्षमा करूँगा। मैं एक इञ्च भी पीछे पैर न रक्खूँगा।" इस घोषणापत्र पर १२ आदमियों के हस्ताक्षर थे, जिसमें सबके सब ग़रीब थे। इस घोषणापत्र के कारण बहुत से ग्राहकों ने पत्र ख़रीदना बन्द कर दिया, क्योंकि, लोगों ने उसे बहुत ही गर्म समझा, किन्तु धीरे-धीरे उसका लोगों पर प्रभाव पड़ने लगा। इस पत्र के कारण बहुत सी समितियाँ क़ायम हुईं, जिनका उद्देश्य गुलामी का विरोध करना था।

इंग्लैण्ड में गुलामी की प्रथा की विरोधिनी एक समिति थी, जिसके समर्थक विल्बरफ़ोर्स जैसे साहसी और बड़े भारी राजनीतिज्ञ लोग थे। यह समिति कई वर्ष से गुलामी के विरुद्ध आवाज़ उठाती आ रही थी और इसने ब्रिटिश साम्राज्य से दासता का अन्त कर दिया था। गैरिज़न को इस समिति में भाषण देने के लिए निमन्त्रण मिला। यह वहाँ गये। वहाँ वालों ने बहुत उत्साह से इनका स्वागत किया। गैरिज़न की सचाई और जोश का, जो इनके सरल और शान्त भाव के अन्तर दबे हुए थे, उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। गैरिज़न इससे उत्साहित हुआ, लेकिन अमेरिका आने पर उसे कठिनाइयों से मुक़ाबला करना पड़ा। उसका कारण यह था कि वह इङ्गलैण्ड में यह कह चुका था कि जब तक अमेरिका में यह प्रथा क़ायम है, तब तक वह ढोंगी और धूर्त कहलायगा। न्यूयार्क में गुलामी के विरुद्ध समिति क़ायम करने को एक सभा होने वाली थी, उसे जनता की भीड़ ने

भंग कर दिया। बोस्टन में जनता की दूसरी भीड़ ने 'लिबरेटर'-कार्यालय को घेर लिया और उसे नष्ट कर देने की चेष्टा की। इस प्रकार हर तरफ़ उत्तेजना फैल रही थी। मगर इतने पर भी उसने लोगों पर आक्षेप करना नहीं छोड़ा और गुलामों के मालिकों के प्रति कड़े से कड़े शब्दों का प्रयोग किया। लोगों ने कहना शुरू किया कि देशवासियों के विरुद्ध आवाज़ उठाना, बुराई करना, विश्वासघातक नीचता है और देशभक्ति के प्रतिकूल है। किन्तु गैरिज़न ने कहा, "मैं सत्य भाषण कर रहा हूँ, जो बहुत ही दुःख प्रद और भयानक है। और मैंने ऐसा कहने का साहस किया है इसीलिए क्या मुझे देशद्रोही कह कर दण्ड दिया जाना चाहिए? यदि हम अपने भाई के पापों को सहन कर हृदय से उसे घृणा करें, तो अपने देश के पापों को सहन करना मेरी घृणा का परिचायक है, न कि प्रेम का। मैं उसके पाप कर्मों में शरीक इसलिए नहीं होता, क्योंकि क्षणिक स्वार्थों की अपेक्षा उसपर मेरा प्रेम कहीं अधिक है। मेरा ऐसा विचार है कि जब तक इसकी आबादी का षष्ठांश बेड़ियों से जकड़ा रहेगा तब तक यह वास्तव में न तो खुशहाल होगा और न समृद्धिशाली।" गुलामी की विरोधी (अमेरिकन एण्टी-स्लेवरी) संस्था को चलाने के लिए गैरिज़न को बहुत से सहायक मिल गये। इसके लिए फ़िलाडेल्फ़िया में उसने एक सभा की। इस सभा में उसने अपने विश्वासों को जनता के सम्मुख रक्खा। उसने गुलामों की दशा तथा उनके स्वतन्त्रता के अधिकार को बड़े ही मार्मिक एवं ज़ोरदार शब्दों में रक्खा। उसने बतलाया कि उनका काम प्रत्येक स्थान में गुलामी का विरोध करने वाली समितियों का संगठन करना, लगातार सभायें करना, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य निकालना, और जब तक राष्ट्र अपनी भूल न सुधारे तब तक बराबर प्रयत्न करना होगा।

अब अमेरिका में वह युग आरम्भ हुआ, जिसे 'शहीदों' का युग कहते हैं। वह युग गैरिज़न के जीवन की क्रियाशीलता का युग था। वह और उसके अनुयायी दिन-रात सभायें करते, उनकी सभाओं को भंग करने के लिए उनके शत्रुओं की ओर से बहुत असभ्य और वहशी लोग भेजे जाते। इन लोगों की ज़िन्दगी हमेशा ख़तरे में रहती; ये जहाँ कहीं भी जाते, वहीं लोग इन्हें मारने-पीटने को तैयार हो जाते—इनके घर जला दिये जाते अथवा मिट्टी में मिला दिये जाते। जिन हॉलों में सभायें होतीं, वे भी गिरा दिये जाते। एक विद्यार्थी को खुलेआम इसलिए कोड़े लगाये गये, क्योंकि उसके झोले में दासता-विरोधी साहित्य था। दूसरा विद्यार्थी जो वहशी लोगों के आक्रमण करने पर अपने मित्र की सहायता करने के लिए दौड़ा गया, अपनी जान से हाथ धो बैठा। दक्षिण में ऐसा अन्धेरखाता था कि जिन लोगों पर गुलामों के प्रति सहानुभूति रखने का सन्देह किया जाता उन्हें बिना विचार किये ही दण्ड दे दिया जाता। न्यायाधीश लोग गुलामी की प्रथा के पक्ष में थे, और गुलामी के विरोधी लोगों के साथ वैसा ही व्यवहार करते, जैसा बदमाशों के साथ किया जाता है। एक मौक़े पर गैरिज़न के कपड़े फाड़ डाले गये, और रस्सी बाँध कर उन्हें सड़क पर घसीटा गया। एक बार कुद्ध जनता की एक भीड़ उनपर टूट पड़ी और शहर के मेयर ने उन्हें बचाने का और कोई मार्ग न देख कर उन्हें जेल में डाल दिया। जेल की कोठरी की दीवार पर उसने ये शब्द लिखे थे—"बुधवार ता० २१ सन् १८३५ को तीसरे पहर गैरिज़न को कुद्ध जनता की भीड़ के आक्रमण से रक्षा करने के लिए इस कोठरी में डाल दिया गया। भीड़ उसपर इस कारण टूट पड़ी कि वह इस भयंकर सिद्धान्त का प्रचार करता था, जो कि ईश्वर की दृष्टि में कुत्सित है।" एक सौदागर ने इन विरोधियों के सम्बन्ध में एक बड़ी सभा में ये शब्द कहे थे—"हम लोगों के सामने सिद्धान्त का प्रश्न नहीं है। हम लोग कभी तुम्हें सफल न होने देंगे, हम लोग तुम लोगों का नाश करने के लिए उचित-अनुचित सभी उपायों को काम में लायेंगे।"

गैरिज़न का कहना यह था कि सरकार और व्यवसायी-दल ही गुलामी को क़ायम रक्खे हुए हैं। उसने अपनी सारी शक्ति और वक्तृत्वकला लोगों पर प्रभाव डालने में लगा दी, कि लोग बुद्धि और न्याय से काम लें। वह गुलामी को केवल नैतिक बल से दूर करना चाहता था, उसने राजकीय शक्ति से इसे दूर कराने की कभी चेष्टा नहीं की। उसने उत्तर के लोगों पर यह प्रभाव डालने की कोशिश की कि उत्तर के लोग इस बात को महसूस करें कि जब तक दक्षिण के लोग गुलामी की प्रथा को आमूल

नष्ट न करें तब तक उत्तर और दक्षिण में एकता नहीं रह सकती। वह केवल उत्तर ही में काम करता, क्योंकि दक्षिण के लोग इसे क़ायम रखने के लिए बिलकुल संगठित थे।

गैरिज़न को 'फ़्यूज़िटिव स्लेव लॉ' से बहुत सहायता मिली। उस क़ानून का आशय यह था कि 'जो गुलाम दक्षिण से भाग कर कनाडा और उत्तरी अमेरिका में जाकर रहने लगे हैं, उनमें से जो काम लायक हों, उन्हें पकड़ लाया जाय और वे फिर से गुलाम बना लिये जायँ। जिन लोगों ने उन्हें अपने घर में आश्रय दिया हो, अथवा भागने में किसी तरह की उन्हें सहायता दी हो, उन्हें क़ैद किया जाय अथवा उनपर जुर्माना किया जाय।" इस क्रूर क़ानून का यह प्रभाव पड़ा कि लोग उत्तेजित हो उठे और उनके दिलों को चोट पहुँची। जब उन लोगों ने भागे हुए गुलामों को सड़कों पर बेड़ियों में जकड़े हुए देखा, तो उनके दिल भर आये।

इस अवसर पर उत्तर के लोगों को बहुत नीचा देखना पड़ा, क्योंकि उस समय के क़ानून के अनुसार उन्हें अपनी फ़ौज को गुलामों को पकड़ने के लिए भेजना पड़ा। उस समय जॉन ब्राउन भी गुलामी के विरुद्ध बड़ा प्रबल आन्दोलन कर रहा था। जब 'फ़्यूजिटिव लॉ' पास हुआ, तो गुलामों की सहायता करने के लिए उसने एक नई तरकीब सोची। 'विरजीनिया' के पहाड़ में एक किला बनवाया, और भागे हुए गुलामों को वहाँ आश्रय देने लगा। उस रियासत पर गुलामों को लेकर उसने आक्रमण किया और एक अस्त्रागार अपने अधिकार में कर लिया। उसपर विद्रोह का मुक़दमा चला और उसे फाँसी पर लटका दिया गया।

गैरिज़न जॉन ब्राउन को बहुत साहसी और निःस्वार्थ समझता था, किन्तु उसने आक्रमण को बहुत बेकार और बर्बरतापूर्ण समझा। वह जॉन ब्राउन के रक्तपात और युद्ध के सिद्धान्त से बिलकुल सहमत न था। तीस वर्षों तक गुलामी की प्रथा के विरुद्ध लगातार आन्दोलन करने का उसने एक बहुत ही अच्छा प्रभाव देखा। लोगों की सहानुभूति हठात् इस आन्दोलन के प्रति होने लगी और ब्राउन की फाँसी पर लोगों ने अत्यन्त क्रोध प्रदर्शित किया।

अब तक ऐसा चला आता था कि वही व्यक्ति राष्ट्रपति चुना जाता था, जो गुलामी की प्रथा का समर्थक होता। लेकिन अब समय बदल गया था। कहना न होगा, इसका अधिकांश श्रेय गैरिज़न को ही दिया जा सकता है। अब्राहम लिंकन, जो गुलामों से बहुत सहानुभूति रखता था और जिसने इस आन्दोलन में बहुत कुछ भाग लिया था, राष्ट्रपति के पद के लिए खड़ा हुआ। उत्तर के लोगों ने उसे चुन लिया, क्योंकि उनके हृदय पर गैरिज़न का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। लेकिन दक्षिण के लोग इस चुनाव पर बहुत क्रुद्ध हुए और 'कनफ़िडरेट स्टेट्स आफ़ अमेरिका' नामक स्वतंत्र राष्ट्र क़ायम किया। इसपर गृह-युद्ध शुरू हुआ। वह युद्ध दो राज्यों में न था, और न इसी बात के लिए था कि दक्षिण की रियासतें उत्तर की रियासतों में मिला ली जायँ। किन्तु यह युद्ध सत्य और असत्य में तथा उन लोगों में हुआ, जिनमें से एक दल गुलामी को पसन्द करता था और दूसरा गुलामी के विरुद्ध था। गैरिज़न बहुत शान्तिप्रिय मनुष्य था। वह युद्ध से घृणा करता और इसके विरुद्ध उपदेश किया करता था। फिर भी उसने देखा कि संघर्ष का रोकना बिलकुल असम्भव है। मामला उसके हाथ के बाहर चला गया था। उसने देखा कि बिना रक्तपात के काम नहीं चल सकता। गृह-युद्ध १८६१ ई० में आरम्भ हुआ और ४ वर्ष तक होता रहा। अन्त में उत्तर वालों की विजय हुई। जिस समय युद्ध हो रहा था, उस समय गुलामी के प्रति लोगों की घृणा बढ़ती जाती थी। लोगों ने बहुत से गुलामों को स्वतंत्र कर दिया था, बहुत सी रियासतों से गुलामों को आज़ाद करने के लिए कहा गया था। अन्त में सन् १८६५ ई० में गुलामी बिलकुल बन्द कर दी गई।

अब गैरिज़न का काम समाप्त हो गया और उसने सार्वजनिक काम से अपना हाथ खींच लिया। वह अपनी प्रसिद्धि पर कभी न फूलता था, और न वस्तुतः उत्तेजनापूर्ण जीवन ही पसन्द करता था। उसका गृह-जीवन भी आनन्दमय था और वह अपनी स्त्री और बच्चों पर सदा अनुरक्त रहा। जब वह ७० वर्ष का था तब उसकी स्त्री मरी और उसके तीन वर्ष बाद, ७३ वर्ष की आयु में, उसने भी अपनी इहलीला समाप्त कर दी।

गणेश पाण्डेय

प्रताप-प्रतिज्ञा

(१)

अत्याचार यवनों का देश में असह्य हुआ,
पीड़ित प्रजायें भयभीत हो रहीं हैं भाग।
राजपूती तेज में है ज्वाला उठती ही नहीं,
होके निस्तरङ्ग सोया जन्मभूमि-अनुराग॥
पुण्य-भूमि प्यारे चित्तौड़ के हृदय पर,
टेके घुटने हैं अकबर ने जलाई आग।
लुटता सुहाग राजपुत्रियों का देख के भी,
आत्म-अभिमान क्यों न उठता तुम्हारा जाग?

(२)

आज कुलकान है कराहती, मुग़ल-पति,
मूँछें ऐंठता है राजपूत बेटी ब्याह कर।
निज अभिमान को दबाये राजपूत गण,
पग पग झुक पग चूमते सराह कर।
प्यारी जन्मभूमि, प्यारी आन, प्यारा अभिमान,
प्यारी ये स्वतन्त्रता खड़ी है आज राह पर।
गृह-निर्वासिता निराश्रिता कहां ये जायें,
कैसे ये जियेंगी इस भूमि पै निवाह कर॥

(३)

कोई भयभीत होके शरण गये हैं, और-
होकर सहाय अपनों पै करते हैं वार।
कोई द्वेषवश एक दूसरे के नाश हित,
जाते हैं सहाय हित यवनपती के द्वार।
कोई दर्पवश बैठे अकड़-अकड़, और-
लड़ते अकेले, यवनों से हैं न पाते पार।
कोई हम जैसे एक-आध संघ-शक्ति-हित,
करते प्रयत्न, होते खिन्न ये दशा निहार॥

(४)

यदि कुछ दिन इस भांति चुपचाप रहे,
और आर्य जाति के रहे जो ऐसे ही ढब।
फूट, दम्भ, भीरुता ने पैर न उठाया यदि,
वीरता कुलाभिमान डूबते रहे ज्यों अब।
जन्मभूमि पददलित यवनगणों से रही,
गौरव हमारा क्षीण-क्षीण होता गया सब।
उठने न पावेगी कभी अनन्तकाल तक,
जावेगा अवश्य हिन्दू जाति का भविष्य दब॥

(५)

वही जन्मभूमि यह, जिसमें बसा हुआ है-
पूर्व-पुरुषों का पुण्य-तेज कण कण में।
जिसको किया पवित्र इन वीर पुरुषों ने,
शत्रु-मुण्ड-माल को चढ़ा के रण-रण में।
सदियां रहेंगी अभिमानित सदैव जिन-
की पुण्य-स्मृतियां ले अतीत क्षण-क्षण में।
आज पादाक्रान्त होके नीच यवनों से कैसे,
फूँकती न क्यों है ज्वाल-माल शत्रुगण में॥

(६)

चिन्ता करो न मां! तुम्हारी इस धूल से ही,
विकट कराल ज्वाल ऐसी मैं उठाऊँगा।
इस शान्त हुए वायु मण्डल में एक बार,
फिर से प्रचण्ड मैं तूफ़ान ऐसा लाऊँगा।
सोती हुई भीरु आत्माओं को प्रबल कर,
तेरी पुण्यशक्ति से ही सबल बनाऊँगा।
ऐसी विकराल युद्धाग्नि दवानल तुल्य,
जाके अति शीघ्र हल्दीघाट में जलाऊँगा॥

(७)

जिसकी धधकती शिखाओं बीच पड़ कर,
बचने न अधम यवन-दल पायेंगे।
जिस तूफ़ान में तुम्हारे शत्रुओं के दिल,
विस्तृत दिगन्त काँप जल-थल जायेंगे।
जोकि अति साहस अतीव वीरता के साथ,
शत्रु-दल में उथल-पुथल मचायेंगे।
जिस युद्धाग्नि में ही प्राणाहुति देंगे हम,
अथवा तुम्हारा दूध सफल बनायेंगे॥

भद्रजित "भद्र"

कालेदह महल (उज्जैन)

अवन्तिका या उज्जयिनी, जिसे आजकल उज्जैन कहा जाता है, एक बहुत प्राचीन और प्रसिद्ध स्थान है। वैदिक एवं पौराणिक काल में भी इसका वर्णन पाया जाता है। यहाँ तक कि महाभारत और भागवत जैसे ग्रन्थ भी इसके वर्णन से अछूते नहीं।

कालेदह महल, जिसका कि आज हम 'त्याग-भूमि' के पाठकों को परिचय कराना चाहते हैं, यहाँ का एक सुंदर और ऐतिहासिक स्थान है। प्राचीन काल में यहाँ श्री सूर्यनारायण का मन्दिर तथा अनेक पत्थर के घाट और धर्मशालायें थीं—कुछ घाटों के चिह्न तो आज भी मौजूद हैं, यद्यपि धर्मशालाओं का नाम-निशान भी आज कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। 'अवन्ती-माहात्म्य' नामक ग्रन्थ में विस्तार से इन बातों का वर्णन मिलता है।

चार सौ तीन वर्ष पहले की बात है। माँडो के सुलतान नसीरुद्दीन खिलजी ने मूल स्थान को तोड़ कर यह 'कालेदह' महल बनाया था। पश्चात् सम्राट् अकबर के समय, जब कि जहाँगीर मालवे का सूबेदार था, कुण्ड और उसके आस-पास की इमारतें बनाई गईं। अकबर बादशाह यहाँ होते हुए ही दक्षिण और खानदेश की विजय करने गया और

कालेदह महल

आया था। उसने उज्जैन तथा इस स्थल को बहुत पसन्द किया और कुछ समय तक वह यहाँ रहा भी। उस अवसर पर इसका सौंदर्य बहुत बढ़ गया मालूम होता है, जैसा कि 'तवारीख़ फ़रिश्ता' में इसकी रमणीयता के खूब विस्तृत वर्णन से विदित होता है।

पिंडारियों के ज़माने में, यह नष्ट-भ्रष्ट हो गया। पश्चात् हिजरी सन् १००७ में कुंड और कुण्ड के आस-पास की कुशाकें बनाई गईं। और इसके बाद सन् १८८६ ई० में ग्वालियर राज्य के (मालवा के) सर-सूबा सर माइकेल फ़िलोज़ ने इसका जीर्णोद्धार कर इसे अपने रहने के लिए पसन्द किया। सन् १९२० ई० में ग्वालियर-नरेश स्वर्गीय माधवराव सेंधिया की नजर इसपर पड़ी और फिर तो इसका उन्नतकाल ही आ गया। महाराज ने स्वयं अपने महल के लिए इसे पसंद किया, फिर क्या था—महाराज के रहने के लिए पहले जो विशालकाय कोठी थी उसमें शहर की सारी कचहरियाँ स्थापित करदी गईं और वहाँ का फ़र्नीचर तथा आराइश का सामान इसमें पहुँच गया। यही नहीं, कई लाख रुपये और खर्च करके आस-पास की सुंदरता भी बढ़ा दी गई। धीरे-धीरे यहाँ कई दूकानें बन गईं, बड़े-बड़े बाग़ लग गये और अब तो जनाना महल आदि कई नये दर्शनीय स्थल भी बन चुके हैं, तथा आगे और भी कार्य जारी हैं। १००—१५० मनुष्य यहाँ निवास करते हैं और स्वर्गीय ग्वालियर महाराज भी कईबार आकर इसमें रह चुके हैं।

इस महल की विशेषता यह है कि आजतक कभी इसकी मरम्मत की ज़रूरत नहीं पड़ी। इसके बुर्ज, स्नानागार, भोजनगृह, विश्रामागार, महमानघर आदि आज भी जैसे के तैसे ही हैं; अगर कुछ खर्च की जरूरत पड़ी, तो वह सिर्फ़ बाहरी दृश्य के निर्माण में। अस्तु।

महल काफ़ी ऊँचा है। नीचे एक तलघर (गुप्त-गृह) है, जहाँ भोजन बनाने की जगह है, प्रकाश का यहाँ पर्याप्त प्रवेश है। महल के नीचे, उसी से लगे हुए, विचित्र कारीगरी से बनाये गये ५२ जल-कुण्ड हैं, इनमें सदैव थोड़ा-बहुत जल इधर से उधर घूमा करता है। चतुराई यह है कि बड़ी देर तक देखते रहने पर भी यह पता नहीं चलता कि ५२ कुण्डों में से पानी कहाँ से चला आ रहा है और कहाँ जा रहा है! ऐसे ही एक चक्की का स्वरूप भी बना हुआ है, जिसमें जल एकबार दाहिनी और एकबार बाईं ओर घूमता रहता है। जल-प्रवेश और जल-निवृत्ति का दृश्य ऐसा सुन्दर है कि घण्टों खड़े देखते रहने पर भी जी नहीं भरता।

कुण्डों के चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी कुशाकें हैं, जो ऊपर से ढकी हुई हैं, जिनके ऊपर सड़कें भी हैं। इन कुशाकों के अन्दर दस हज़ार आदमी काम करते रहें तो भी ऊपर वालों को ज़रा पता भी न लगे! नया इसमें कुछ नहीं बना है, न सुधार की ही ज़रूरत है; बहुत पुख्ता बनी हुई हैं।

एक विचित्र बात जनाना महल की भी सुनिए। इस महल से कुछ ही फ़र्लांग दूर एक गुप्तमार्ग है, जिसके अन्दर होकर मोटर-द्वारा भी जनाने महल के ठीक अन्दर जाया जा सकता है। इस समय तो इसमें बिजली की रोशनी का भी प्रबन्ध हो गया है। टेलीफ़ोन भी यहाँ पर है। और जल का तो इतना आराम है कि कहने की ज़रूरत नहीं। पास ही एक बड़ी नदी है, जिसमें सदा अपरिमित जल बना रहता है, फिर भी सुभीते के लिए पानी की नलों का भी प्रबन्ध है।

शहर के लोग अक्सर मित्र-मण्डली के साथ सैर-सपाटे के लिए शाम के वक्त यहाँ जाया करते हैं। किन्तु सवारी के बग़ैर, पैदल, शहर से यहाँ आना कठिन है; क्योंकि, शहर से इसका फ़ासला ६-७ मील है।

यह स्थान इतना सुन्दर और मनोहर है, कि क्या कहा जाय ! स्वर्गीय सौन्दर्य का दृश्य है। कुण्डों के पास जाकर जल-विहार करने को किसका जी न चाहेगा ? सायङ्कालीन शीतल मन्द समीर तो शिमला को भी मात करती है।

उज्जैन आने वाले यात्रियों को यह स्थान अवश्य देखना चाहिए। देखने के लिए इजाजत महल के अध्यक्ष (पैलेस-ऑफिसर) से लेनी होती है। जो

कालेदह महल (पश्चिम ओर से)

लोग इसे देखेंगे, उन्हें हमारी सचाई स्वयं स्पष्ट हो जायगी।※

सूर्यनारायण व्यास

ज़िम्मी

यह तो सभी लोग जानते हैं कि हज़रत मुहम्मद की शिक्षाओं का पालन करने वाले मुसलमान कहलाते हैं, और उनसे इनकार करने वाले काफ़िर कहलाते हैं। जो काफ़िर मुस्लिम सत्ता को न माने, उसके विरुद्ध युद्ध करना और उसे राजद्रोह का दण्ड देना धर्म है। परन्तु जो काफ़िर मुसलमानी सरकार की शरण में आ जावे, लेकिन धर्म-परिवर्तन करना स्वीकार न करे, उसको मुसलमान कष्ट न देंगे। वह पुरुष उनके कुटुम्ब का, उनके भ्रातृत्व का सदस्य नहीं है, इसलिए वे उसकी रक्षा करने को बाध्य नहीं हैं। यदि वह अपनी रक्षा चाहता है, तो उसे उचित है कि विधर्मी सरकार को कुछ कर दे।

इस प्रकार जो जातियाँ मुसलमान न होते हुए भी मुस्लिम राज्य में रहती थीं, वे ज़िम्मी कहलाती थीं। अर्थात् मुस्लिम सरकार पर जिनकी रक्षा का 'ज़िम्मा' हो—जिन के प्रति वह उत्तरदायी हो। हज़रत उमर ने शाम की फ़तह के बाद हज़रत अबू अबीदा को जो फ़रमान लिखा उसके शब्द ये थे—मुसलमान ज़िम्मियों पर ज़ुल्म न करने पायें, न उनको हानि पहुँचायें, न अकारण ही उनकी सम्पत्ति पर अधिकार करने पायें, और जो-जो शर्तें उनसे की गई हैं वे पूरी की जायँ।※ ख़लीफ़ा बिन अलीमान ने माह दुनयार वालों को यह लिखा—"इनका मज़हब न बदला जायगा और न उसमें कुछ हस्तक्षेप ही किया जायगा।"† जरजान की विजय के समय यह लिखा गया—"यहाँ के निवासियों के जीवन, सम्पत्ति, धर्म और शास्त्र की रक्षा की जायगी।"‡ आज़र बाय जान की सन्धि में भी यही लिखा गया था। × हज़रत उमर के समय में जरूसलम के जीतने पर यह सन्धि लिखी गई—यह सन्धि उनके प्राण, सम्पत्ति, गिरजा, सलीब (क्रॉस), स्वस्थ व अस्वस्थ लोगों तथा उनके सारे सहधर्मियों के लिए है। उनके गिरजे न ढाये जायँगे, उनके सलीबों और सम्पत्ति में कुछ कमी न जायगी। धार्मिक विषय में उनपर कुछ अन्याय न किया जायगा। इत्यादि।=

निम्नोक्त कथा से भी यह प्रकट हो जायगा कि मुस्लिम शासक कर-दाताओं के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कितना महत्वपूर्ण समझते थे। ख़लीफ़ा उमर के समय में यरमूक की लड़ाई लड़ी गई, जिसके बाद शाम फ़तह हुआ था। उस समय हम्स के लोग ज़िम्मी थे। जब मुसलमान लड़ाई पर जाने लगे तब उन्होंने हम्स वालों का कर वापिस कर दिया, क्योंकि सम्भव था वे लोग हार जाते और उनकी ज़िम्मी प्रजा शत्रु के हाथों सतायी जाती। इसपर यहूदियों ने अपनी तौरैत (Old Testament) और ईसाईयों ने अपनी इञ्जील (New Testament) लेकर कहा कि हमें

※ (१) इस वर्णन के लिखने में मुझे स्थानीय (उज्जैन के) 'माधव कालेज' के विविध भाषा-विज्ञ और पुरातत्ववेत्ता अध्यापक डा० कन्हैयालालजी से जो सूचनायें मिलीं, उनके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

(२) जो समयादि सूचित किये गये हैं वे उक्त महल के एक (फ़राक के) स्तम्भ पर खुदे हुए उर्दू लेख के आधार पर हैं, जो बादशाही ज़माने का लिखा हुआ है। लेखक

※ किताबुल ख़िराज; पृ० ८२।

† अबू जाफ़र कृत तारीख़ तिबरी; पृ० २६३३।

‡ वहीः पृ० २६५।

× वहीः पृ० २६६२।

= वही; अध्याय फ़तहे बैतुल मुक़द्दस।

मुसलमानों से अधिक न्यायकारी और प्रजावत्सल शासक दूसरा नहीं मिलेगा।* यही कारण था कि मुसलमानों की ज़िम्मी प्रजा अपने ही धर्म वाले रूमियों के विरुद्ध मुसलमानों की सहायता करती थी; उन्हें रसद पहुँचाती तथा रूमियों के गुप्त सन्देश बताती थी।†

इतना ही नहीं, रसूलिल्लाह मुहम्मदसाहब के समय में जैद बिन हारिस ज़िम्मियों को तोरैत सिखाने के लिए नियुक्त किये गये थे।‡ एक दफ़ा हम्स के शासक अमीर बिन साद के मुख से "ख़ज़ा कल्लाह" (ईश्वर तुझे बदनाम करे) ये शब्द एक ज़िम्मी के प्रति निकल गये। इसपर उन्हें इतना खेद हुआ कि वह उसी समय हज़रत उमर के पास पहुँचे और कहा कि आप अपनी नौकरी वापिस लें, इसी नौकरी के कारण मेरे मुँह से ये शब्द निकले हैं।× एक बार किसी मुसलमान ने किसी ईसाई को मार डाला। इसपर घातक मृतक के परिवार वालों के सुपुर्द कर दिया गया, ताकि वे उसे जो चाहें उचित दण्ड दें।=

उक्त बातों से सिद्ध होता है कि मुसलमानों का क्या व्यवहार था। ज़िम्मियों को नागरिक-स्वत्व प्राप्त थे—उनमें और मुस्लिमों में कोई अन्तर नहीं समझा जाता था। और जिन क़ानूनों से ज़िम्मियों का सम्बन्ध था उनको बनाते समय उनसे सलाह ले ली जाती थी। ÷ हाँ, पोशाक उनको अपनी ही पहननी पड़ती थी। + इसका कारण यह नहीं कि उनकी पोशाक घृणित समझी जाती थी; बल्कि इससे शासक और शासित जातियों में अन्तर रखना ही अभीष्ट था। बाद में तो ख़लीफ़ा अब्दुलमलिक के समय में ज़िम्मियों की पोशाक ही दरबारी लिबास कर दी गई।

अब कुप्रसिद्ध 'जज़िया' कर के सम्बन्ध में दो शब्द सुनिए; क्योंकि, जज़िया का ज़िम्मी शब्द से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। क़ुरान शरीफ़ में तो इसका कहीं उल्लेख आया नहीं—हां, हदीसों में यह पाया जाता है। यह शब्द इस्लाम की जन्मभूमि अरब का शब्द नहीं है। यह फ़ारसी शब्द गज़िया से अरबी में लिया गया। अरबी में 'ग' अक्षर न होने से ही गज़िया को जज़िया करना पड़ा। यह सैनिक कर था और उन लोगों से लिया जाता था, जो अनिवार्य सैनिक सेवा से बचना चाहते थे। ईरान के प्रसिद्ध न्यायी बादशाह नौशेरवाँ के समय में उनके यहाँ भी यह कर था।

मुसलमानी राजकर्त्ताओं ने इसकी उपयोगिता देख कर अपनी विधर्मी प्रजा पर यह कर लगाया। केवल विधर्मी प्रजा पर इसलिए कि इस्लामिक भ्रातृत्व के सदस्य अर्थात् मुसलमान लोग आवश्यकता पड़ने पर अपने भाइयों के लिए मर सकते थे। परन्तु ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के लिए न तो सेना में भरती होना बाध्य था और न सैनिक का उत्तरदायित्वपूर्ण पद देने के लिए उनपर विश्वास ही किया जा सकता था। (आधुनिक समय में भी ब्रिटिश सरकार की ऐसी ही नीति है।) अमीर से अमीर आदमी से भी यह कर बीस रुपये वार्षिक से अधिक नहीं लिया जाता था, और ग़रीब आदमियों से तीन रुपये वार्षिक। स्त्री, बच्चे, अपाहिज और २० वर्ष से कम व ५० वर्ष से अधिक आयु वाले पुरुषों से यह कर नहीं लिया जाता था। इस कर के समान ही 'ज़कात' नामक एक दूसरा कर मुसलमानों से लिया जाता था।*

* फ़ीरोज़ुद्दीन कृत दरबार इस्लाम: पृ० २७०–२७१।

† अलफ़ारूक़ – मौलाना शिब्ली कृत।

‡ दरबारे इस्लाम: पृ० २७०–२७१।

× इज़ालतुल ख़फ़ा; पृ० २२३। अलफ़ारूक़; पृ० १२८।

= अलफ़ारूक़; पृ० १२७।

÷ अलफ़ारूक़; पृ० १२७।

+ वहीं; पृ० १३०।

* दरबार इस्लाम।

खलीफ़ा उमर के समय में एक दिन एक मनुष्य भीख माँग रहा था। खलीफ़ा ने भीख माँगने का कारण पूछा। उसने उत्तर दिया कि मैं जज़िया देने में असमर्थ हूँ। इसपर उमर उसे अपने घर ले गये, अपने पास से धन दिया और नियम बना दिया कि भविष्य में ग़रीब ज़िम्मियों को भी बैतुल माल (राज्यकोष) से सहायता दी जाय, जो अब तक केवल मुसलमान ग़रीबों को ही दी जाती थी। *

'धर्म और जाति का कुछ भी भेदभाव न रखने' की डींग हाँकने वाले आधुनिक साम्राज्यवादियों की अपेक्षा तो प्राचीन मुसलमानों का शासन कहीं अच्छा था। मुहम्मदसाहब के ग़रफ़ा नामक एक साथी के शब्दों में ज़िम्मियों के ये अधिकार थे—"उनको यह आज्ञा कदापि नहीं दी गई है कि रसूलिल्लाह को खुल्लमखुल्ला गालियाँ दें। उनसे यही शर्त्त हुई है कि अपने गिरजों में जो चाहें करें और यदि उनपर कोई शत्रु चढ़ आवे तो हम (मुसलमान) उनकी ओर से लड़ें और उनपर कोई ऐसा भार न डालें, जिसे वे सहन कर सकें।" ÷

गोपालस्वरूप भटनागर

स्मारक

झूमते-से सौरभ के साथ,
लिये मिटते स्वप्नों का हार।
मधुर जो सोने का संगीत,
जा रहा है जीवन के पार।
तुम्हीं अपने प्राणों में मौन।
बांध लेते उसकी झंकार॥
कालकी लहरों में अविराम,
बुलबुले होते अंतर्ध्यान।
हाय, उनका छोटा ऐश्वर्य्य,
डूबता लेकर प्यासे प्राण।
समाहित हो जाती वह याद।
हृदय में तेरे हे पाषाण॥
पिघलती आँखों के संदेश,
आँसुओं के वे पारावार।
भग्न आशाओं के अवशेष,
जर्जा अभिलाषाओं के क्षार।
मिला कर उच्छ्वासों की धूलि।
रँगाई है तूने तस्वीर॥

गूँथ करके सूखे अनुराग,
बीन करके प्राणों के दान।
मिले रज में स्वप्नों को ढूँढ,
खोज करके भूले आह्वान।
अनोखे-से माली निर्जीव।
बनाई है आंसू की माल॥
मिटा जिनको जाता है काल,
अमिट करते हो उनकी याद।
डुबा देता जिसको तूफ़ान,
अमर कर देते हो वह साध।
लुप्त जो हो जाती है चाह।
तुम्हीं उसको देते संदेश॥
राख में सोने का सा राज्य,
शून्य में रखते हो संगीत।
धूल से लिखते हो इतिहास,
बिन्दु में भरते हो वारीश।
तुम्हीमें रहता मूक वसन्त।
अरे सूखे फूलों के हास॥

महादेवी वर्मा

---

* अलफ़ारूक़; पृ० १२८। किताबुल ख़िराज; पृ० ७२।

÷ अलफ़ारूक़; पृ० १२५।

विदेशी कपड़े का बहिष्कार

विलायती कपड़े के बहिष्कार का आन्दोलन पुनः इस देश में आरंभ हो गया है। इस बार इस बहिष्कार के आन्दोलन में कांग्रेस और लिबरल फ़ेडरेशन दोनों हैं। दोनों ही चाहते हैं कि विलायती कपड़े का पूर्ण बहिष्कार हो। सरकार ने १८ पेंस की हुंडियामन की दर करके, रिज़र्व बैंक बिल उठा कर, और कमीशन में भारतीयों को न रख कर नरमदल वालों का विश्वास खो दिया है। आज नरमदल वाले सरकार के कट्टर आलोचक हो गये हैं। आज वे भी यह समझ गये हैं कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को परास्त करने के लिए विलायती कपड़े का बहिष्कार अमोघ अस्त्र है। व्यावहारिक दृष्टि से सारे ब्रिटिश माल के बहिष्कार की आवश्यकता नहीं है। कारण, उसमें एक तो शक्ति बँट जाती है, और दूसरे पूर्ण न होने से बहिष्कार-वादियों में ही मतभेद हो जाता है। इसलिए, समस्त विदेशी कपड़ों के बहिष्कार की माँग अत्यंत उपयुक्त है। इस कपड़े के बहिष्कार से अन्य वस्तुओं का बहिष्कार न करने पर भी अपने आप उनका बहिष्कार हो जाता है।

विदेशी कपड़े का यह बहिष्कार खादी और मिलों के कपड़ों से किया जा सकता है। जो लोग कपड़े का व्यापार करते हैं, वे यह भलीभांति जानते हैं कि लंकाशायर के कपड़े का व्यापार दिन पर दिन गिर रहा है। लंकाशायर का यह व्यापार किसी तात्कालिक कारण से नहीं गिरा है। इस विषय में लंदन के 'टाइम्स' में जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे पता चलता है कि भारतवर्ष की माँग दिन पर दिन घट रही है, और चीन भी युद्ध आरंभ हो जाने के समय से मोटा और सस्ता कपड़ा नहीं मंगाता है। 'टाइम्स' के लेखक ने यह बतलाया है कि गत तीन-चार वर्ष से लंकाशायर के कपड़े की दुर्दशा हो रही है। जब 'टाइम्स' के लेखक से पूछा गया कि 'भैया, बतलाओ, तुम्हारे लंकाशायर का व्यापार भारतवर्ष और चीन में क्यों गिरता जा रहा है?' तब उसने सिर्फ़ यह कहा कि 'कुछ ऐसे गहरे कारण हैं, जिन्हें मैं तुम्हें बता नहीं सकता।' फिर थोड़ी देर के उपरांत वह लेखक प्रश्नकर्ता के सामने आकर कहने लगा कि तुम इससे प्रसन्न मत हो जाना कि लंकाशायर का व्यापार अब भारतवर्ष और चीन में नहीं चलेगा। उसने कहा कि अब यद्यपि स्वदेशी आन्दोलन से हमारे व्यापार को धक्का पहुँच रहा है, किन्तु वैदेशिक विनिमय की दर १८ पेंस हो जाने से हमें कुछ लाभ हुआ है। जबसे यह दर पास हुई है तबसे हमारे माल की भारतवर्ष में खपत बढ़ने लगी है। इधर कुछ महीनों में इतना माल भारतवर्ष में गया है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि हुंडियामन की दर से लंकाशायर को १२॥ रुपये सैकड़े का लाभ मिल गया और उसका माल देशी कपड़े से सस्ता पड़ने लगा। इस संबंध में बड़ी धारा-सभा में सरकार से कार्रवाई करने के के लिए बम्बई के प्रतिनिधियों ने निवेदन किया था; किन्तु सरकार ने अपनी असमर्थता प्रकट की। यदि भारतीय प्रतिनिधि कमीशन के बहिष्कार वाले प्रस्ताव की तरह एक-मत हो इस बार बजट के अवसर पर १६ पेंस की दर का प्रस्ताव पास कर दें, तो स्वदेशी कपड़े के प्रचार में विघ्न पैदा करने वाला यह कारण भी दूर हो जायगा। इसके साथ ही उन्हें यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि विलायती कपड़े पर अधिक ज़कात बढ़े। क्योंकि भारत-सरकार की आय में वृद्धि होने के लिए विलायती कपड़े पर ज़कात बढ़ाना अत्यंत आवश्यक है।

खादी तैयार करने वाले और देशी कपड़ों के व्यापारियों का भी कुछ कर्तव्य है। यदि खादी के उत्पादक व्यापारिक दृष्टि से सहकारी मण्डलों द्वारा खादी तैयार करें, तो उन्हें भी अच्छा मुनाफ़ा होगा और सर्व-साधारण को भी सस्ती खादी पहनने को मिलेगी। खादी के प्रचार के लिए भीख माँग कर रुपया एकत्र करने के बजाय व्यापारिक रूप में लोगों को धन लगाने के लिए उत्तेजित करना चाहिए। व्यापारियों को केवल साधारण ब्याज मिलना चाहिए। पर इससे भी अधिक कर्तव्य सूती मिलों के व्यापारियों का है। उन्हें अपना व्यापार स्वदेशी की वृद्धि के लिए करना चाहिए। हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भारतवर्ष भर में एक भी ऐसी कपड़े की मिल नहीं है, जो कपड़े का व्यापार स्वदेशी के अनुराग से करती हो। यद्यपि भारतीय

प्रजा देशी मिलों के कपड़े पर अपनी जान होम देती है, पर हमारे देशी कपड़े के व्यापारी अपनी जेबें भरते हैं। उन्हें स्वदेश की कुछ भी चिंता नहीं। वे यह नहीं जानते हैं कि यह स्वदेशी की ही हलचल है, कि उनके माल की अत्यधिक खपत होती है। यदि उनके अनुकूल परिस्थिति भी हो तो बजाय इसके कि कुछ दाम घटावें वे अपना मुनाफ़ा बढ़ा देंगे। यह बात हम अपने कई वर्षों के अनुभव से लिख रहे हैं। देशी मिलों के मालिक मज़दूरों की मज़दूरी घटाने के लिए तो तुरंत आगे बढ़ आते हैं, किन्तु वे सस्ते इंजीनियर, मैनेजर और व्यवस्थापक नहीं रखते। मैनेजिंग एजन्ट् लाखों रुपयों पर प्रति वर्ष गुलछर्रे उड़ाते हैं बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों पर अपने रिश्तेदारों को नौकर रखते हैं। सात-सात हज़ार रुपये एक-एक मैनेजर को मासिक वेतन मिलता है। व्यवस्था के नाम से वे ख़ूब अपना मेहनताना लेते हैं। इतना ही नहीं, कम्पनी की पूंजी को अपने व्यापार में लगाते हैं। उस पूंजी में से रक़म निकाल कर रुई का फाटका करते हैं। अगर फाटके में नफ़ा हुआ तो वह सौदा नहीं लिखा गया, और नफ़ा मैनेजिंग एजंट की जेब में गया; पर यदि घाटा हुआ, तो वह सौदा मिल के हिसाब में चढ़ा दिया गया! मिल के कच्चे और पक्के माल के ख़रीदने और बेचने में अपना नफ़ा अलग तय कर लेते हैं। बेचारे हिस्सेदार मिल-एजेंटों के इन काले-कारनामों से अनजान होते हैं। डाइरेक्टर ही कर्ता-धर्ता होने से मिलों के हिस्सेदारों को दिवाला निकलने पर रोना पड़ता है। बंगाल लक्ष्मी काटन मिल ही नहीं, भारतवर्ष की अधिकांश मिलों में यह अँधेरखाता जारी है। महायुद्ध के समय इन मिल वालों ने अत्यधिक नफ़ा बाँट दिया, पर रिज़र्व फंड बढ़ा कर मिलों का उद्योग बढ़ाने की किंचित् भी चेष्टा नहीं की। मिलों के डाइरेक्टर मोटरों में बैठकर अवसर-विशेष पर कारख़ानों में अपनी झाँकी दे आते हैं। इस अवस्था में भारतीय मिलों का माल जापान से क्यों न महँगा तैयार हो? जिस जापान की मिलों के लिए सरकारी सहायता के अलावा उसके डाइरेक्टर प्रति वर्ष नाम मात्र का नफ़ा लेते हैं, और पैदावार बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक परिश्रम करते हैं, वहाँ दुगने शटल चलते हैं। मैनेजिंग एजंट सेवा-रूप में काम करते हैं। मिलों के लिए सस्ते भाव में रुई ख़रीदते हैं। वे रुई का सट्टा और बीमे का नफ़ा लेकर अपनी जेबें नहीं भरते हैं। मिलों का नफ़ा पैदावार बढ़ाने के अलावा मज़दूरों की आर्थिक और नैतिक अवस्था सुधारने में लगाते हैं। जापानी मज़दूरों की शारीरिक अवस्था, उनकी आमदनी और काम करने की योग्यता मिल-मालिकों के उद्योग से बढ़ी हुई है। वहाँ के २० मज़दूरों का काम यहाँ के ८ मज़दूर करते हैं। शरीर में वे हृष्ट पुष्ट हैं। पर बम्बई और अहमदाबाद के मज़दूरों का सर्वनाश हो रहा है। इसलिए समय रहते सुधार होना चाहिए। मिलों के मालिक और मज़दूरों के नेता दोनों को इन सुधारों के लिए अग्रसर होना चाहिए।

इसके अलावा इस बहिष्कार की हलचल में मिल-मालिकों को अपने माल का ख़ूब प्रचार करना चाहिए। मिल-मालिक इस समय स्वदेशी कपड़े की खपत आसानी से बढ़ा सकते हैं। प्रचार इसका सबसे सुगम साधन है। इसी प्रचार के द्वारा कपड़े की खपत बढ़ेगी। लंकाशायर और जापान ने इसी प्रचार के द्वारा विदेशों में अपने माल की खपत बढ़ाई है। स्वदेशी-प्रदर्शिनी, स्वदेशी कपड़े का मेला, स्वदेशी कपड़े की ख़ास-ख़ास दूकानें, और समाचार-पत्रों में विज्ञप्तियाँ आदि प्रचार के अनेक साधन हैं। मिल-मालिकों को ये सब साधन भारतवर्ष के गाँव-गाँव में सुलभ कर देने चाहिएँ, जिससे कि लोगों को सस्ते भाव में कपड़ा मिलने लगे। यदि वे सच्चे भाव से काम करने के लिए तत्पर हों, तो देश के राजनैतिक नेता भी उनका पूरा साथ देंगे। इससे उनके माल की खपत बढ़ेगी और खादी का भी व्यवहार बढ़ेगा।

यह अवसर है कि कपड़े के व्यवसाय में भारतवर्ष अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है। १९१३-१४ में भारतवर्ष में ३०४ करोड़ २० लाख गज़ कपड़ा विदेशों से आया था। इसमें ९३ सैकड़ा माल ग्रेट ब्रिटेन से आया था। पर १९२७ के मार्च महीने के अंत में १७६ करोड़ ७० लाख गज़ कपड़ा विदेशों से आया, और इसमें ग्रेट ब्रिटेन के माल का औसत ८२.५ सैकड़ा था। इससे अनुमान लग जायगा कि भारतवर्ष में विदेशी कपड़े का आयात कितना अधिक घट गया है। अब भारतीय मिलों की पैदावार १९१३-१४ से ८०

करोड़ गज़ बढ़ गई है। पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि १९१३-१४ की अपेक्षा इस समय भारतवर्ष में मिलों के बने हुए कपड़ों की खपत ७० करोड़ गज़ रह गई है, जो खपत १९१३-१४ की अपेक्षा कम है। निश्चय ही खादी की पैदावार ने इसका कुछ स्थान ले लिया है। हम यह तो नहीं कह सकते कि भारतीय मिलों में ७० करोड़ गज़ कपड़ा तैयार होता है, पर आज इस महँगी के ज़माने में लोगों ने कपड़ा पहनना कम कर दिया है। बिना किसी नये उद्योग के किये भी केवल चतुर्थांश माँग छोड़कर भारतवर्ष विदेशी कपड़े का बहिष्कार कर सकता है। पर इस चतुर्थांश कपड़े की पैदावार भी मिल वाले और खादी पैदा करने वाले एक-दो वर्ष ही में बढ़ा सकते हैं। आवश्यकता है व्यापारिक ढंग से अच्छे माल की पैदावार बढ़ाने की।

खादी के उत्पादकों को भी अपने माल का प्रचार करना चाहिए। खादी की पैदावार व्यापारिक ढंग से करने पर खादी की अत्यधिक खपत बढ़ेगी। खादी के उत्पादकों को ग्राहकों की अधिक दामों की शिकायतें बंद करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। कपड़े की अपेक्षा सूत की अवस्था नाज़ुक है। १९२४ से भारतीय मिलों में ७२ करोड़ ४० लाख गज़ सूत खपा, और इतना ही सूत इस देश में तैयार हुआ। पर यदि भारतवर्ष को कपड़े के व्यवसाय में विदेशी बंधन से स्वतंत्रता करना है, तो उसे अपनी पैदावार से १५२ करोड़ ९० लाख गज़ कपड़े की आमदनी रोकनी चाहिए, जो प्रति वर्ष इस देश में होती है। दूसरे शब्दों में हमें कपड़े के व्यवसाय में स्वतंत्र होने के लिए ३६ करोड़ गज़ सूत चाहिए अर्थात् आजकल भारतीय मिलों में जितना सूत पैदा हो रहा है, उसका आधा। पर क्या यह संभव है कि भारतीय मिलें पचास सैकड़ा सूत की पैदावार बढ़ा देंगी?

यही प्रश्न सबसे मुख्य है। पर हम यह विश्वास करते हैं कि यदि मिल वाले और खादी वाले दोनों मिल कर प्रयत्न करें, तो वे विदेशी कपड़े की चौथाई आमदनी को बंद कर सकते हैं। इस समय ८० लाख तकुए ७२ करोड़ गज़ सूत तैयार करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि यदि ४० लाख तकुए और बढ़ा दिये जायँ, तो निश्चय ही पचास सैकड़ा सूत की पैदावार बढ़ जाय। हमारा विश्वास है कि तकुओं की यह संख्या अवश्य बढ़ जायगी। इससे हमें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। कारण, भारतवर्ष ने जापान की घोर प्रतिद्वंद्विता के सामने भी सात वर्ष में २० लाख तकुओं की मिलों में वृद्धि की है। इसके अतिरिक्त विशुद्ध खादी के उत्पादकों के तकुओं की संख्या भी उपेक्षणीय नहीं है।

अंत में हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि कपड़े के व्यवसाय में भारतवर्ष थोड़े समय में ही स्वतन्त्र हो सकता है, यदि हम पूर्ण उत्साह और परिश्रम से प्रयत्न करें। मिलें, हैण्डलूम और चर्खा तीनों का सहयोग प्रयोजनीय है। यद्यपि भारतवासियों में मोटा कपड़ा पहनने की आदत पड़ गई है, तथापि इस ओर भी अधिक आंदोलन करने की आवश्यकता है। कारण, व्यापारिक दृष्टि से यह संभव नहीं है कि आरंभ में ही भारतवर्ष लंकाशायर की मिलों की प्रतिद्वंद्विता सुंदर बारीक कपड़ा तैयार करने में करने लगे। इस समय एकमात्र आवश्यकता यह है कि भारतवासी फ़ैंसी कपड़ा पहनना छोड़ दें, जिससे उसकी आमदनी घटे। बहिष्कारवादियों को अपना ध्यान इस फ़ैंसी कपड़े की आमदनी घटाने में लगाना चाहिए।

जी० एम० पथिक

"यह आशा मैं नहीं छोड़ता कि किसी दिन मिलवाले राष्ट्र की दृष्टि को स्वीकार कर लेंगे। ...अगर मिलें जनता को लूटने के लिए नहीं, जैसी कि वे आज चलायी जा रही हैं, बल्कि उनकी सेवा करने के लिए चलायी जायँ, तो वे घर घर के चर्खों और करघों के काम में मदद करेंगी, और उनकी जगह नहीं ले लेंगी, जो आज वे लेती हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि अगर वे मेरी बतलायी शर्तें स्वीकार करने में हिचकें तो इसका कारण यह होगा कि उन शर्तों के युक्तिसंगत फल से मिल-मालिक घबराते हैं, जैसे कि अँग्रेज़ों को इस युक्तिसंगत नतीजे से घबराहट होती है कि वे सचमुच में राष्ट्र के सेवक हैं।" —महात्मा गाँधी

उद्धार कैसे हो ?

भारतवर्ष पराधीन क्यों है ? यहाँ पर कमी किस बात की है ? इस देश पर प्रकृति प्रसन्न है। इस देश में करोड़ों इतरदेशीय लोग अपना पेट भरते हैं। इस देश के मनुष्यों में आजकल भी जगत्प्रसिद्ध कवि, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और आचार्य मौजूद हैं। सम्पत्तिशाली मनुष्यों की भी वैसी कमी नहीं है। फिर भी यह देश पराधीन है, और इस देश के रहने वालों को अपने स्वाधीन होने की आशा दूर भागती हुई दिखाई देती है! यह क्यों ? इसका कारण ? कसर किस बात की है ?

इस प्रश्न का उत्तर देना जितना सहज है उतना ही कठिन है। सब अपने-अपने दृष्टिकोण से इसका उत्तर देने को तैयार हैं। फ़ौरन कहा जा सकता है— यहाँ पर एकता नहीं; यहाँ हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य बढ़ा हुआ है; यहाँ पर हिन्दू-समाज संगठित नहीं है; यहाँ पर जनता का एक बड़ा भाग अछूत समझा जाता है; यहाँ पर असंख्य विधवायें कष्ट भोग रही हैं; यहाँ नाना प्रकार की सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित हैं; यहाँ पर प्राचीन मर्यादा छोड़ दी गई है, वर्णाश्रम-व्यवस्था का भङ्ग होगया है; यहाँ के लोग संसार के साथ चलने को तैयार नहीं हैं—वे कूपमण्डूक हैं और दूसरों से सद्‌गुण लेने को तत्पर नहीं हैं; यहाँ की शिक्षा-पद्धति अच्छी नहीं; व्यवसाय सीखने का सुप्रबन्ध नहीं; ब्रिटिश लोग इस देश को स्वाधीन नहीं होने देते; वे इस देश के निवासियों को सैनिक शिक्षा नहीं देते, वे दमन-नीति का प्रयोग करते हैं, यहाँ के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन नहीं देते। और भी अनेक बातें इस प्रश्न के उत्तर में कही जा सकती हैं। और इन बातों की सचाई को अस्वीकार भी कौन कर सकता है ?

परन्तु मेरे मन में तो यह प्रश्न फिर भी ज्यों का त्यों रहता है; और मैं तो फिर पूछता हूँ—आख़िर भारतवर्ष पराधीन क्यों है ? मेरी समझ में तो सब बातों की एक बात यह है कि भारत पराधीन है, क्योंकि भारतवासियों को स्वाधीन होने की सच्ची लगन नहीं है। संभव है, इस बात को ठीक न समझा जाय; संभव है, इस उत्तर में क्षुद्रता की गन्ध जान पड़े; परन्तु मैं तो फिर भी यही कहूँगा कि भारतवासियों को स्वाधीन होने की सच्ची लगन नहीं है। इसका अर्थ यह है। हम लोगों की नस-नस में कौटुम्बिकता भरी पड़ी है; सामाजिक जीवन का रहस्य क्या है, मालूम होता है, यह हमने समझा ही नहीं है। जितनी चिन्ता हमको अपना विवाह करने की, अपने बालकों को सुशिक्षित बनाने की, कुटुम्ब का भरण-पोषण करने की, समाज में बड़ा कहलाने की, अपने मौज से रहने की है, उसका सौवां हिस्सा भी देश का कार्य करने की चिन्ता हमको नहीं है। जब समाज, देश या धर्म के लिए कुछ करने का प्रश्न उठता है, तो हमारी सबकी 'परिस्थिति' आकर सामने खड़ी हो जाती है। पर पुत्र या पुत्री का विवाह करना होगा, तो चाहे जैसे कहीं से भी रुपया लावेंगे, उधार भी लावेंगे और धूमधाम से विवाह करेंगे। पिता का श्राद्ध करना होगा, तो किसी भाँति से भी उसे सम्पन्न करेंगे। बालकों की शिक्षा का सुप्रबन्ध करने में कुछ उठा न रक्खेंगे —और नहीं तो किसी भले आदमी से छात्रवृत्ति की भिक्षा ही माँगेंगे। हमारा आशय यह नहीं कि कुटुम्ब का पालन करना, सन्तान को शिक्षा देना आदि मनुष्य के लिए कर्त्तव्य नहीं है ? इन शब्दों का यह अर्थ लगाना तो लेखक पर अन्याय करना होगा। मेरा आशय तो यह है कि क्या मनुष्य का कुटुम्ब के प्रति ही कर्तव्य है, समाज के प्रति कुछ भी कर्तव्य नहीं है क्या ? जिस देश में जन्म लिया, जहाँ के जल-वायु से पोषित हुए, जिसमें रहते हैं, शिक्षा पाये हैं, क्या उस देश का हमारे ऊपर किसी प्रकार का हक़ ही नहीं है ?

जिस देश में रहकर हम सैकड़ों, हज़ारों, लाखों अथवा करोड़ों कमाते हैं, उस देश के कार्य के लिए देते समय हमारी 'परिस्थिति' क्यों रुकावट पैदा करती है ? दूसरे कार्यों को इतना आवश्यक समझते हैं, तो समाज के कार्य को भी उतना आवश्यक क्यों नहीं मानते ? जिस देश में रहकर अपने निज के कार्य के लिए २४ घण्टे बिताते हैं, उस देश के कार्य के लिए घण्टा दो घण्टा भी नहीं बचा सकते ? चार भाई खूब कमाने पर उतरे हुए हैं, तो वे पांचवें को देश-सेवा के लिए भी क्यों नहीं समर्पण कर देते ?

महात्मा गांधी ने एक बार लिखा था—दूसरे देशों में देश-भक्ति करना जनता का स्वभाव है, इस देश में देश-भक्ति

भी सिखाना पड़ती है । महात्मा जी की यह उक्ति मुझको अक्षरशः सही मालूम पड़ती है । इसका तात्पर्य यह है कि हम लोग अपने व्यक्तिगत अथवा कौटुम्बिक हित-साधन के लिए चाहे जितना परिश्रम कर सकते हैं, परन्तु सामाजिक हित-साधन के लिए भी उतना ही परिश्रम करने को हम तैयार नहीं हैं । समाज के व्यक्तियों की इस दुरवस्था के बराबरी का और कोई दुर्भाग्य समाज के लिए नहीं है । जब सभी यह कह कर दूर हट जावें कि 'साहब, हमारे तो घर की स्थिति ऐसी नहीं है—क्या करें ?' तो फिर बताइये देश का कार्य करेगा कौन ? पराधीनता ऐसी-वैसी बात तो है नहीं, जिसे मिटाने में आप अपने व्यक्तिगत और कौटुम्बिक सुख को बिना छेड़े हुए ही सहायक हो सकें । जिस प्रकार हम अपने आपको असमर्थ मानकर चुप हो जाते हैं, वैसे ही दूसरे भी अपने आपको असमर्थ मान लेंगे, तो उन्हें कुछ कहने का हमें क्या अधिकार हो सकता है ?

यह तो हुई एक बात । दूसरी बात यह है कि हम शास्त्रार्थ तो बहुत करते हैं, परन्तु जितना शास्त्रार्थ करते हैं, उसके शतांश का भी प्रभाव हमारे खुद के जीवन पर नहीं पड़ता है । जिस मार्ग पर चलने का वास्तव में हमारा निश्चय कभी भी नहीं होता, उसको अन्त तक पहले से ही देख लेने का लोभ हमको रहता है । पाठशाला के विद्यार्थी अपनी वाद सभा में कुछ भी प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लेने पर भी अपनेको उस प्रस्ताव से बँधा हुआ नहीं मानते । यही भाव हमारा है । हम बहस तो बहुत फैला लेंगे, पर निर्णय पर पहुँचने में बड़ा समय लगायेंगे; किंतु निर्णय हो जाने के बाद कुछ करना भी है, इसका विचार ही नहीं आता है । केवल कल्पना के क्षेत्र में विचरण करने से हमारा जी नहीं ऊबता । कुछ सभाओं का मुझे अनुभव है । वहाँ पर उद्देश्य, नियम स्थिर करने में बड़ी बहस चली—घण्टे बीत गये; परंतु जिन्होंने इस बहस को लम्बी की, उनके कुछ भी न करने के इरादे का छिपाने वाला ज्ञान मुझको है । जिसको वादा करके पूरा करने का भी ध्यान रहता है, वह सदा सोच-समझकर वादा करेगा । जिसको वास्तव में चन्दा देना है, वह सोच-समझ कर लिखेगा । जिसको बहस के बाद कुछ करना भी है वह, मेरी सम्मति में, अवश्य कम बहस करेगा । अतएव आजकल की परिस्थिति में जब हमको अवश्य कुछ करना चाहिए, तो केवल कल्पना से सम्बन्ध रखने वाली बहस को बढ़ाने से क्या लाभ है ? क्यों व्यर्थ झूठी आपत्तियाँ उठा-उठाकर वास्तविक कार्य के मार्ग में काँटे फैलायें ? क्यों संगृहीत मतभेद खड़े करें ? महात्माजी की 'सत्य' की नीति के विरुद्ध दलील देते समय मेरे एक मित्र ने कहा—'जब हमारे दूत दूसरे देशों में जायेंगे, तो क्या वे केवल सत्य ही बोल सकेंगे ?' और सत्य ही बोलेंगे, तो क्या देश का हितसाधन कर सकेंगे ? इसका क्या उत्तर दिया जाय ? सत्य के आदर्श की कठिनाइयों की कल्पना करने के बजाय हमको चाहिए कि स्वयं व्यक्तिगत जीवन में तो सत्य का अभ्यास करें । मेरे मित्र की जैसी दलील से सत्य के आदर्श में विश्वास रखने वालों को धक्का पहुँचता है—और वे सत्य की कठिनाइयों की कल्पना से असत्य की ओर प्रवृत्त हो जावें, अथवा असत्य में कम बुराई देखने लग जायँ, तो आश्चर्य नहीं । जिसने सत्य का अभ्यास व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन में कर लिया है, वह सहज समझ सकता है कि सत्य का सिद्धांत व्यवहार में उतना कठिन नहीं है, जितना अभ्यास न करने वाले लोग समझते हैं ।

आजकल 'त्याग' शब्द की ही दुर्दशा हो रही है । त्याग के भाव का प्रचार तो हुआ ही नहीं, उसके विरुद्ध आवाज़ें भी चारों ओर से उठने लगीं । इसमें भी मुझे हमारी विचार प्रणाली का ही दोष मालूम होता है । हम लोग दलील अपने सुभीते के अनुकूल कर लेते हैं । त्याग के विरुद्ध कहने वाले यह दलील देते हैं कि सभी त्यागी हो जायेंगे तो देश का क्या हाल होगा—जिनको पेट भर खाने को नहीं मिलता उन्हें त्याग के लिए कैसे कहा जाय, उन्हें तो यही उपदेश न दिया जाय कि तुम तो लाखों-करोड़ों कमाओ और आराम से रहने की योग्यता प्राप्त करो ? परन्तु इस दलील के मूल में भ्रम है और, सच पूछिए तो, इस प्रकार 'त्याग' शब्द के अर्थ की हत्या करना है ।

त्याग शब्द का अर्थ केवल इतना ही होना चाहिए कि हम लोग हमारे लिए जैसे परिश्रम करते हैं, कमाते हैं, वैसे ही समाज के लिए भी करें । संसार को त्याग देना, देश को त्याग देना, विरक्त हो जाना, कम कमाने से सन्तुष्ट होजाना,

यह त्याग का अर्थ नहीं है। इसके अलावा त्याग करने वालों की श्रेणियां होती हैं। समाज के सामूहिक हित के लिए अपने निज के और अपने कुटुम्ब के स्वार्थ को थोड़ा-बहुत तो सभी को छोड़ना पड़ेगा—परन्तु उन सभी का त्याग बराबर नहीं हो सकता।

एक तो ब्राह्मण-वृत्ति होती है और दूसरी होती है वैश्य-वृत्ति। ब्राह्मण-वृत्ति उसकी कही जाती है कि जो अपने आपको समाज के लिए कतई सौंप चुका—जिसकी कुल शक्तियां समाज के काम में लगेंगी—जिसे अपने अथवा अपने कुटुम्ब के लिए अपना जीवन बिता देना स्वीकार न होने से जो समाज को ही अपना कुटुम्ब समझ लेगा और समाज के लिए ही वे काम करेगा, जो वह अपने कुटुम्ब के लिए करता। ऐसे ब्राह्मण पहले भी कम थे, और अब भी अवश्य कम रहेंगे। इन ब्राह्मणों की आवश्यकतायें कम होना स्वाभाविक है, इनको अपने खुद के लिए कम रुपया चाहिएगा—चाहे वे समाज के लिए करोड़ों उथल-पुथल करते रहें। ऐसे ब्राह्मणों के पालन-पोषण का भार समाज पर होता है। जो लोग २४ घण्टे समाज के सामूहिक हित के लिए अपने आपको झोंकते रहते हैं, ऐसे तपस्वी त्यागियों की सेवा करना समाज का कर्त्तव्य है।

यह स्पष्ट है कि यह आदर्श साधारण आदमियों के लिए बड़ा कठिन है। इसलिए इसके अधिक प्रचार होजाने का डर हमारे भोलेपन को प्रमाणित करता है। अपने आप मौज में रहना, कुटुम्ब को मौज में रखना, यह तो हर कोई आपके उपदेशों के बिना भी करेगा ही। इसके लिए आपको प्रचार करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु अपने आपको भूल कर समाज के दुखों को अपने दुःख समझ लेना सहज का काम नहीं है। लाखों आदमियों को जब आप कहेंगे, तो सैकड़ों भी मुश्किल से तैयार होंगे। इसलिए त्याग के इस महान् आदर्श के अधिक परिचालन से हमारी उत्पादक शक्ति कम होजायगी, हमारा देश दरिद्र रह जायगा, हम कम सम्पन्न होंगे, हमारे नवयुवक विरक्त होकर संन्यासी होजायेंगे,—ये सब डर निर्मूल हैं।

मेरी सम्मति में एक धुन तो प्रत्येक देशवासी में होनी चाहिए—वह यह कि मैं समाज का आदमी हूँ, इसलिए समाज की सेवा के लिए भी यथाशक्ति श्रम करूँगा—ऐसे कार्यों में भी भाग लूँगा, जिनसे मेरे खुद के घर में रुपया नहीं आता; जिनसे चाहे मेरी कीर्ति नहीं होती, जिनसे चाहे मुझे कष्ट भी उठाना न पड़े, परन्तु जिनसे मेरे जन-समाज का कुछ लाभ अवश्य होगा। इस धुन को मैं सामाजिकता की धुन कहता हूँ—जब यह धुन सच्ची होगी, जब यह लगन वास्तव में लग जायगी, तो मनुष्य में एक विशेष प्रकार की आकुलता आजायगी, एक बेचैनी हो जायगी, जो वर्णनातीत है—जो केवल अनुभवगम्य है। इस धुन के आदमी को किसी सामूहिक दुःख का पता लगेगा तो वह फिर उदासीन होकर तमाशे नहीं देख सकता। वह चुपचाप नहीं रहेगा—वह कुछ न कुछ अवश्य करेगा, फिर वह अपनी परिस्थिति के अनुसार ही क्यों न हो। और वैसे साधारण स्थिति में भी वह अवश्य थोड़ा-बहुत समय ऐसे कामों में लगायेगा, जिनका लाभ उसको या उसके कुटुम्ब को ही नहीं बल्कि उसके देश या समाज को मिलेगा।

अब यह धुन या तो इतनी तीव्र हो सकती है कि मनुष्य अपनी ५०००) मासिक कमा सकने की योग्यता को भूल कर केवल ७५) मासिक पर अपना गुज़र करले और समाज से ५०००) लेने के बजाय लाखों की मालियत खुद उसे दे दे—ऐसे आदमी खड़े करदे जो लाखों क्या करोड़ों की सम्पत्ति पैदा कर लें। जो मनुष्य ५०००) कमा सकता हो, वह यह काम न करके यदि और प्रकार से समाज की शक्ति बढ़ायेगा, तो क्या यह समझा जायगा कि उस आदमी के काम से हानि हुई—उसके त्याग से देश की सम्पत्ति घटी? परन्तु जैसे ऊपर कहा, ऐसे ब्राह्मण अवश्य ही कम हो सकते हैं। जिस देश में बत्तीस करोड़ आदमी रहते हैं, उसमें एक लाख तपस्वी होजायँ, तो कौनसी बड़ी संख्या हो गई? रही स्वयं सम्पत्ति कमाने की, सो बाकी के इकत्तीस करोड़ निन्नानवें लाख आदमी बहुतसी सम्पत्ति कमा सकते हैं और इस छोटीसी ब्राह्मण जाति को भोजन वस्त्र तो दे ही सकते हैं।

परन्तु हम तो दलील करते समय ऐसा ख़याल करते मालूम होते हैं, जैसे इस देश में करोड़ों त्यागी तपस्वी होगये हैं। लाखों की संख्या में भिखारी और ठग इधर-उधर

फिर रहे हैं। उनको सम्पत्ति के उत्पादन में लगाने का विचार चाहे हम न करना चाहें, किन्तु विद्यार्थियों और नवयुवकों के सामने त्यागी हो कर देश की सेवा करने के आदर्श की निन्दा करने में हमें तनिक सङ्कोच नहीं होगा! यह कितने बड़े मर्मभेदी दुःख का विषय है।

ऐसी कड़ी ब्राह्मण-वृत्ति को अङ्गीकार करने की दिव्य शक्ति जो अपने आप नहीं पाते, उन्हें सोचना चाहिए कि वे उससे कितना कम और किस समय में क्या कर सकते हैं? उनमें से यदि कोई करोड़पति बनने की शक्ति अपने आप में पाता है, तो अवश्य दो करोड़ से भी अधिक कमावे, परन्तु इतना ध्यान रक्खे कि उसकी करोड़ की सम्पत्ति पर उसका अकेले का कोई हक़ नहीं है—वह रुपया भी समाज का ही है—उसे प्रत्यक्ष में कमाने का रूप संयोगवश मिल-गया है। इसका यह अर्थ हर्गिज़ नहीं कि इसको उस सम्पत्ति का उपयोग करने का अकेले को स्वत्व है। वह सम्पत्ति समाज से प्राप्त हुई है। और उसीके हित में ख़र्च होनी चाहिए। यह वैश्य-वृत्ति हुई और उससे सम्बन्ध रखने वाले त्याग का यह स्वरूप है।

कुछ मनुष्य क्षात्र वृत्ति से देश की सेवा कर सकते हैं। यह ब्राह्मण-वृत्ति और वैश्य-वृत्ति दोनों से भिन्न है। समाज के शत्रुओं से उसकी रक्षा करना क्षात्र-वृत्ति वाले का धर्म है। समाज उसको रक्षा के बदले में अवश्य यथोचित देगा; किन्तु यदि वह रक्षक होने के गर्व में समाज को दबाने लगेगा, तो समाज उसके अत्याचार को नहीं सहेगा—और, ऐसे रक्षक के विरुद्ध समाज अपनी रक्षा करने को कटिबद्ध हो जायगा।

जिन लोगों में तीनों में से कोई सी भी शक्ति न हो, उनके लिए भी समाज में स्थान है। ऐसे साधारण कोटि के मनुष्य भी समाज का हित साधन कर सकते हैं - क्योंकि, तलवार की जगह तलवार और सुई की जगह सुई ही काम देती है।

इसका मतलब यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यह याद रखना चाहिये कि वह अमुक समाज का सभ्य है। और यदि उस समाज में आराम से रहने का उसको अधिकार प्राप्त है, यदि उसे कहीं को नागरिकता प्राप्त है, तो उस अधिकार के साथ-साथ उसका कर्तव्य भी है, ज़िम्मेवारी भी है। अधिकारों की कम चर्चा करके, उससे कम से कम लाभ उठाने का इरादा रखना हुआ, जितना अधिक से अधिक सामाजिक कर्तव्य का पालन मनुष्य करेगा, उतना ही वह अधिक बड़ा होगा—अधिक ऊँचा उठेगा। ऐसी सामाजिक वृत्ति वाले मनुष्य जिस समाज में होंगे, उस समाज पर दूसरे लोग शासन नहीं कर सकेंगे।

परन्तु जिनपर दूसरों का शासन जम चुका है, वे क्या करें? उनको तो लाखों-करोड़ों की संख्या में जलती हुई आग में कूद पड़ना चाहिए, गोले बरसाने वाली तोपों के सामने दौड़ना चाहिए। घमासान युद्ध में कूद कर मर जाना चाहिए। उनको कहाँ कुटुंब याद आवेगा? उनको कहाँ राग-रंग सूझेगा? उनके लिए साहित्य-संगीत-कला अवश्य गौण वस्तुयें होंगी। उनके लिए चटक-मटक की पोशाकों और शौक़ीनी के नाच-खेल का कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। भूखे रहें, प्यासे रहें, नंगे रहें, परन्तु करें वही काम, जिससे उनका समाज स्वाधीन हो। फिर ऐसे महायज्ञ में ऐसों की आहुति हो चुकने के बाद, वह युग आ जायगा, जिसमें साहित्य बढ़ेगा, आमोद-प्रमोद होगा और मौज उड़ेगी। परन्तु ऐसा यज्ञ हुए बिना आमोद-प्रमोद विडम्बना-मात्र है, साहित्य भार-मात्र है, संगीत बकवास-मात्र है।

अब प्रश्न उठ सकता है—इन वाक्यों का अर्थ क्या हुआ? हम करें क्या? इसका उत्तर मैं क्या दूँ! जिनके दिलों में पीड़ा होती हो, वे अपना-अपना अलग इलाज आप ढूँढें—आख़िर में सब सयानों का एक मत हो जायगा—आवश्यकता केवल सचाई की है। चर्खे में विश्वास हो, चर्खे का प्रचार करें; ग्राम्य-संगठन में विश्वास हो, ग्राम्य-संगठन करें; सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करना हो, तो वह करें; अछूतों का उद्धार करना हो, तो उनका उद्धार करें; राज्य करने वालों को दरख़्वास्तें देने में विश्वास हो, उनको ज़ोरदार दरख़्वास्तें दे-देकर ही उनकी नाक में दम करदें; व्यापारिक उन्नति के लिए लड़ना हो, उसके लिए लड़ें; सैनिक शिक्षा का अधिकार लेना हो, तो उसके लिए कमर कस लें; स्कूल में मास्टर रहने-मात्र की ही शक्ति हो, अथवा यही सर्वोत्तम मालूम होता हो तो अपने शिष्यों को इस चालू महासमर

की तैयारी करा दें, परन्तु सच्चे दिल से कुछ करें तो सही—एक बार कुटुम्ब के बाहर कूद कर निकलें तो सही—एक बार सार्वजनिक कार्य का नशा छावे तो सही।

मनुष्यों का साधारण कार्य-क्रम बन्द नहीं हो सकता। खाना, पीना, हँसना, रोना, विवाद करना, संतान पैदा करना, मरना—यह सभी कुछ चलता रहेगा। परन्तु जैसे संसार में रहने वाले जीवन-मुक्त को करते हुए भी कुछ छू नहीं सकता, वैसे ही समाज-सेवा के महत्त्व ही में आहुति देने-वाले को भी उस यज्ञ की लहर में ही रहना होगा। तभी यज्ञ सफल है, नहीं तो राक्षस यज्ञ का विध्वंस करने में कोई कसर न रखेंगे।

छोटी ज़िम्मेवारी को ठीक-ठीक पूरी करने वाला बड़ी को भी पूरी कर सकता है। छोटी ज़िम्मेवारियों को भूल जाने पर ज़ोर नहीं है, ज़ोर है बड़ी ज़िम्मेवारियों को न भूल जाने पर और अपनी अधिक से अधिक शक्ति को छोटी ज़िम्मेवारियों से बचाकर बड़ी ज़िम्मेवारियों में लगा देने पर। भगवान् करें कि हम लोग इस तत्व को पहचानें और भगवान् की कृपा से कौटुंबिक कर्त्तव्य को सर्वथा गौण करके नहीं तो उसके साथ-साथ सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करने की शक्ति हममें अवश्य आवे!

हीरालाल शास्त्री

विजय

धारण किये वर्म खद्दर का, साहस शौर्य दिखाते थे।
भ्रातृ-भाव का शंख बजाते, गीत राष्ट्र का गाते थे॥
अपने प्रबल अहिंसा-बल से, शासक-दिल दहलाते थे।
मातृ-भूमि के वीर लड़ाके, आगे बढ़ते जाते थे॥

वह उत्साह-उमंग देख कर,
हुआ विजय का मन चंचल।
एक बार फहरा दे फिर वह,
राष्ट्र-पताका का अंचल॥

उमेश्वरप्रसाद सिंह

जननी के अञ्चल में

भारत-माता अपने नव-जनित शिशु को पय-पान करा रही थी। उसका रत्नजड़ित हार चमक रहा था और उसकी ज्योति उसके पुत्र के मुख को प्रकाशमान कर रही थी। लोगों की नज़र उसके हृदय-प्रदेश पर पड़ी और उन्होंने माता पर आक्रमण कर दिया। माता ने बच्चे को रोता छोड़कर अपना स्तन ढक लिया। क्या कोई कह सकता है, कितने रत्न और भारत की विस्मृतियाँ उसके अञ्चल में छिपी पड़ी हैं? तक्षशिला (Taxila) और सारनाथ के स्तूपों के खोदने की बात अभी कल की है, पर यह भी स्कूल की पुस्तकों में पर्याप्त स्थान पा चुके हैं। परन्तु अभी तो माता के हृदय-प्रदेश में कितनी ऐसी वस्तुयें वर्त्तमान हैं, जिनसे भारत का प्राचीन गौरव डंके की चोट संसार में फैल रहा है। जिस भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवादी 'असभ्य' और अशिक्षित कहते हैं, उसी भारत की प्राचीन कला को देख कर संसार आज चकित हो रहा है। दिल्ली के लोह-स्तम्भ को काट कर संसार के सबसे बड़े रसायन-शास्त्रियों ने परीक्षा की, परन्तु यह जानने में असफल रहे कि वह किस वस्तु का बना है! सारनाथ के 'धर्म-चक्र' को देखकर यह प्रतीत होता है कि अभी १० मिनट पूर्व सांचे में ढलकर तैयार हुआ है। एक ऐसा ही स्थान मैंने भी देखा है, जो प्राचीन कलाओं का भंडार प्रतीत होता है। क्या पाठक उसे जानना चाहेंगे?

शेखावाटी प्रान्त के पास दक्षिण-पश्चिम के कोने में जोधपुर राज्य के अंतर्गत एक सुँजरासन नाम का छोटा सा ग्राम है। यह ग्राम शेखावाटी में स्थित 'लोसल' से लगभग ५ मील पश्चिम की ओर है। जब मैंने इसके बारे में किम्वदन्तियाँ सुनीं, तो मेरी

भी वहाँ जाने की इच्छा हुई। और गत २६ फरवरी को मैं वहाँ गया भी।

सुँजरासन एक छोटा-सा ग्राम है; लगभग सवा सौ घर होंगे। इस ग्राम के मालिक एक ठाकुर हैं। पुराने जमाने में यह नगर महाभारत के प्रसिद्ध वीर राजा शल्य की राजधानी थी। और उस समय इसका नाम 'सुंदराआसन' बताया जाता है। यही सुंदरासन, बिगड़ते-बिगड़ते 'सुंजरासन' हो गया। इस बात का एक प्रमाण अभी हाल ही में मिला है। एक टीला खोदने से यहाँ पत्थरों का एक सुन्दर आसन निकला है, जिसमें बहुत से अमूल्य-रत्न जड़े हुए थे। इस आसन का कुछ भाग अब भी भग्नावस्था में ठाकुर साहब के यहाँ वर्त्तमान है। यह घटना केवल २५-३० वर्षों की है।

गाँव से उत्तर ओर एक देवी का मन्दिर है। देवी का नाम 'सुरजनदेवी' है। लोगों से पूछने पर पता चला कि एक देवी यहाँ चिता बनाकर भस्म हो गई। बस, उन्हींके स्मारक-स्वरूप, 'राव' के यहाँ से यह मन्दिर बन गया। यह तो लोक-कथा हुई। सच्ची बात मैं क्या जानूं? यह तो ओझाजी सरीखे इतिहासज्ञ जानें। हमें मन्दिर के पूरब और दक्षिण एक टीला है, उसमें कुछ गड़ा हुआ प्रतीत होता है। टीला खुदवाने पर कुछ नई बातों के मिलनेकी आशा है, क्योंकि आसन भी यहीं कहीं गड़ा मिला था।

मन्दिर एक पुरानी रचना है। इसका प्रमाण केवल इतना ही पर्याप्त होगा कि मन्दिर की छत का कालापन देखकर कौवा भी थोड़ी देर के लिए लज्जित हो जायेगा—मन्दिर की कुर्सी लगभग आदमी की ऊँचाई के बराबर होगी। एक कमरा लगभग २० हाथ लम्बा और १० हाथ चौड़ा है, उसमें चित्रकारी खुदे हुए ८ छोटे और ८ बड़े खम्भे हैं। कमरे के अर्द्धभाग से पश्चिम की ओर मन्दिर स्थित है। मन्दिर शिवालय के आकार का है—परन्तु, बीच में एक तह है। मन्दिर की छत बहुत नीची है। मन्दिर का आधार लगभग ५ हाथ लम्बे, २ हाथ चौड़े तथा १ हाथ ऊँचे पत्थरों का बना हुआ है। अन्दर एक शिला, जिसपर सिंहासन है, ३ हाथ लम्बी और २ हाथ ऊँची है और उसपर अनेक प्रकार की शिल्पकारी की हुई है। उस सिंहासन पर अनेक स्थानों से मूर्तियाँ एकत्रित करके रक्खी हुई हैं। मन्दिर के द्वार पर बहुत सी मूर्तियाँ बनाई गई हैं। कुछ टूट-फूट गई हैं। शान्ति यहाँ पर इतनी है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। यहाँ पहुँचते ही एकाएक मुँह से निकल पड़ता है—

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद, प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं, त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥

सचमुच यहाँ पर मैंने साकार शांति देखी। मन्दिर के उत्तरपार्श्व में सिंह की मुखाकृति का एक पत्थर का नाबदान है। मन्दिर का बाहरी पार्श्व (अर्थात् उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की ओर का हिस्सा) एक ही आकार, एक ही तक्षणकला और एक ही प्रकार की मूर्तियों की बनी हुई एक-एक शिला से बना हुआ है। मूर्तियाँ अधिकाँश प्राचीनता के कारण टूट गई हैं। जहाँ तक मैंने ध्यानपूर्वक देखा, उस शिला का आकार लगभग ५ हाथ लंबा और ५ हाथ चौड़ा मिला। यह शिला नीचे से ऊपर तक चार मुख्य खंडों में विभाजित है। ऊपर से सर्वप्रथम खंड में आसन जमाये हुए सर्प और त्रिशूलधारी भगवान् शंकर की मूर्ति वर्त्तमान है। दूसरे खंड में एक महाकाय नाहर पर विराजमान चतुर्भुजी दुर्गा की मूर्ति है। एक हाथ में खड्ग, दूसरे में मुंड, तीसरे में कमल है, चौथे में साफ़ पता नहीं चला कि क्या वस्तु है। दुर्गा की विशाल मूर्ति के नीचे लक्ष्मी की मूर्ति है। लक्ष्मीजी कमल पर आरूढ़ होकर चार-

सागर में भगवान् का ध्यान कर रही हैं और उन्हीं-के नीचे सरस्वतीदेवी सितार लिये भगवान् का गुण-गान कर संसार को भगवद्भक्ति में तल्लीन होने का आदेश कर रही हैं। ठीक इसी प्रकार की तीन और मूर्त्तियाँ उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की ओर के पार्श्व में लगी हुई हैं।

ऊपर का खंड आदमी की ऊँचाई से कुछ ही अधिक है। यह तीन हाथ लम्बे और क़रीब इतने ही चौड़े कारीगरी किये हुए पत्थरों से बना हुआ है। ऊपर का कोना समय ने कहीं उठाकर फेंक दिया है। प्राचीन मन्दिर होने पर भी ऊपर का भाग अभी कल का बना हुआ प्रतीत होता है।

मंदिर के भीतर कुछ खज़ाना गड़ा हुआ है। यहाँ के लोग कहते हैं कि वर्त्तमान ठाकुर के पिता ने उस धन का कुछ अंश किसी और आदमी की सहा-यता से निकाला, परन्तु घर पहुँचते ही पहुँचते दोनों आदमी मर गये। प्रमाण-स्वरूप मंदिर के भीतर आसन मे उत्तर-पूर्व के कोने का पत्थर कुछ उभड़ा हुआ भी है। और देखने से साफ़ पता चलता है कि यहां खोदा गया है। इसके चारों ओर लगभग २०० बीघा शमी-तरु से आच्छादित भूमि गोचारण के लिए छोड़ दी गई है। सुना जाता है कि जो कोई उसमें खेती करता है वह तत्काल मर जाता है। यहाँ तक कि जिस समय जंगलों में शमी-तरु का पत्ता भी चारे के लिए नहीं छोड़ा जाता उस समय भी इन वृक्षों पर परियां हवा और ऊँटों को छोड़ कर कोई आदमी नहीं छूता। एक बात और आश्चर्य की यह है कि इस देवी का दर्शन करने के लिए हर्षनाथ डूंगर से एक नाहर प्रति वर्ष आश्विन मास के नवरात्र में आता है और दर्शन करके लौट जाता है। यह नाहर किसी को कुछ हानि नहीं पहुँचाता है। इसको कितने ही मनुष्यों ने देखा है। स्वयं मुझसे कितने ऐसे मिले, जिन्होंने अपने आप उसे देखा है। इसके आस-पास बहुत से शिलालेख भी हैं। माता के शुभ स्थान से लगभग ३०० गज़ की दूरी पर दक्षिण-पश्चिम के कोने में एक बावड़ी है। यह वापी खेत के अन्दर स्थित है। दूर से इसका कोई भाग नहीं दिखाई देता। इसका किनारा लगभग पृथ्वी के ही बराबर है। बावड़ी के ऊपर की लम्बाई २० गज़ और चौड़ाई १० गज़ है। पश्चिम तरफ़ का किनारा सीधा चला गया है और क़रीब ८० हाथ गहरा है। उत्तर और दक्षिण के पार्श्व में आदमी के बराबर ऊंची सीढ़ियां बनी हैं। कदाचित् यह पानी की गहराई नापने के लिए बनाया गया है। पूछने पर पता चला कि पूर्व का किनारा गिर-गिर कर बावड़ी का कुछ अंश भर गया है। पूर्व की तरफ़ से २० हाथ तक आदमी उतर सकता है। बावड़ी के अन्दर कुछ नीचे की ओर, कुछ पत्थरों पर शिलालेख का पता चलता है। मैंने स्वयं उन शिलाओं को नहीं देखा, क्योंकि वहां तक पहुँचना कुछ कठिन है। हां, इतना अवश्य कहूँगा कि वहाँ तक जाना असम्भव नहीं है। बीच में जाकर बावड़ी चौकोर कुँए के आकार की हो गई है। इसका पानी बहुत ही स्वादिष्ट है। बावड़ी नीचे से ऊपर तक पत्थर की बनी हुई है, बड़ी-बड़ी शिलायें चौकोर काट कर एक दूसरे के ऊपर रख दी गई हैं; जुड़ाई में चूने का कहीं पता भी नहीं चलता। कुँए में थोड़े दिन पहले चूने से प्लास्तर कर दिया गया है। पत्थरों की इतनी अधिकता देखकर पता नहीं चलता कि इसके बनवाने में कितना खर्च पड़ा होगा। एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि यहां से क़रीब २० मील के भीतर कोई डूंगर (पर्वत) नहीं है। शिलायें काफ़ी बड़ी-बड़ी हैं। पश्चिम ओर एक शिला, जो मुँह पर है, क़रीब ८ हाथ लंबी, ४ हाथ चौड़ी और ३ हाथ मोटी है। मैंने बहुत ढूंढा कि इसमें

कहीं जोड़ का पता चले, परन्तु सब व्यर्थ। बावड़ी लाल पत्थरों की बनी हुई है।

'सुरजलदेवी' के मन्दिर से लगभग १५० गज दक्षिण-पूर्व की ओर एक और जीर्ण मंदिर है। इस मंदिर की बनावट ठीक माता के मंदिर की तरह है, पर पत्थर बावड़ी के हैं। कारीगरी की हद करदी गई है। अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ विराजमान हैं। मंदिर का पूर्व, उत्तर और दक्षिण भाग अभी अधिक नष्ट नहीं हुआ है; पर पश्चिम का भाग तो पृथ्वी के जल से हिल-मिल रहा है। मंदिर शिलाओं का ही बना हुआ है। और अब भी थोड़े से परिश्रम और खर्च से इसकी मरम्मत हो सकती है। एक शिला दूसरी के साथ छोटे-छोटे लोहे के टुकड़ों से जुड़ी हुई है। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि इसकी नींव बिलकुल नहीं है। यह तो हो ही नहीं सकता कि ऐसा बड़ा कारीगर इतना मूर्ख रहा होगा कि उसने नींव न डाली हो। दन्त-कथायें इसका कारण यह बताती हैं कि एक देव मंदिर बनाकर आकाश-मार्ग से उसे लिये जा रहा था, माता ने उसको वह मंदिर रख देने की आज्ञा दी। और उसने मन्दिर उसी स्थान पर रख दिया। यहाँ पर किसी शिलालेख का पता नहीं चलता कि जिससे इस मन्दिर की व्यवस्था मालूम हो सके। मुख्य मूर्ति का पता ही नहीं लगता, शायद गाँव के किसी महाशय ने उसपर दया करके कहीं हटा दी हो।

इस प्रकार यह एक अद्भुत स्थान हमारे बीच मौजूद है। यदि कोई शोधक इतिहासज्ञ इस ओर ध्यान दे इसपर विशेष प्रकाश डालें तो क्या अच्छा हो!

शिवप्रसादसिंह 'विश्सेन'

विन्ध्या और किष्किन्धा

सरदारबहादुर कीबे के "मध्यभारत में लङ्का" की स्थिति-निर्धारण-विषयक विचार ने विन्ध्या और किष्किन्धा की स्थिति के प्रश्नों को भी इतिहासप्रिय पाठकों के सन्मुख ला रक्खा है। "इन दोनों पर्वतों की स्थिति मध्यभारत में मानी जाय," इस विचार के पक्षपाती कई प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ भी हैं।

पर एक विन्ध्य पर्वत का होना मैसूर राज्य में बतलाया जाता है। यथा—

At the time of Ramayan, many communities of *Massagatae* had settled in the Deccan as has been allegorically described in the story of *Jatayu* and his brother Sampati. In fact Jatayu lived in जनस्थान and Sampati dwelt in a cave in the विन्ध्य पर्वत in *Mysore*, which should not be confounded with its namesake in Upper India. *

अर्थात् उस विन्ध्य पर्वत की स्थिति मैसूर राज्य में मानी गई है, जिसपर "सम्पत्ति" का निवास था।

यह अंश हमने श्रीयुत नन्दलाल दे एम० ए० बी० एल० महोदय के एक लेख से लिया है। उस लेख का नाम है "रसातल" (Rasatal or the Under-world) जो 'इण्डियन हिस्टॉरिकल कार्टरली' (Indian Historical Quarterly) के सितम्बर १९२५ के अंक में प्रकाशित हुआ है।

उसी पत्रिका के पृष्ठ ५६२ पर लिखा है कि तेलुगू-साहित्य के कई ग्रन्थों में "पूर्वीय घाट" के पर्वतश्रेणी का नाम "विन्ध्य" लिखा हुआ

* Ramayan; अरण्यकाण्ड, अ० ४९; किष्किन्धाकाण्ड, अ० ५६।

मिलता है:—It may be curious to note that the Eastern Ghats which run across the *Telagu* country are referred to as *Vindhyas* in early *Telagu works* and in some Sanskrit books composed in the Telagu country ※

तेलुगू देश मैसूर राज्य तक फैला हुआ था और इसे आन्ध्रमण्डल भी कहा जाता था। सन् ईस्वी की चौथी सदी में आन्ध्रमण्डल का विस्तार मैसूर राज्य के कोलार जिले तक रहा—

In the Bana grant of 339 A. D. is mentioned the *Andhra Mandalam* in which lay Madiyunur and Awani now in Kolar Dist. of Mysore.

इन बातों से यह समर्थित होता है कि "पूर्वीय-घाट" की पर्वतश्रेणियों में "विन्ध्य" पर्वत की स्थिति रही। अब उसे कोई विद्वान् मध्यभारत में अमर-कण्टक के आस-पास मानें तो क्या किया जाय!

किष्किन्धा

आदिकवि वाल्मीकिजी के लेखानुसार "शबरी" के आश्रम के निकट 'मतङ्गबन' था। इस बन में मुनियों के आश्रम थे, जिनके प्रभाव से भगवान् रामचन्द्रजी आश्चर्यित हुए थे। उस प्रदेश को उन्होंने कल्याण-दायक और शुभ माना था। वहाँ सातों समुद्रों के जल मुनियों के प्रभाव से लभ्य थे, जिनमें स्नान करने से 'पितर' भी तृप्त हो जाते थे। मतङ्ग बन से दोनों भाई "पम्पासर" की ओर चले। उसके निकट ही ऋष्यमूक पर्वत था, जिसपर सूर्य का पुत्र सुग्रीव रहता था। यथा—

सप्तानां च समुद्राणां तेषां तीर्थेषु लक्ष्मण !
उपस्पृष्टं च विधिवत् पितरश्चापि तर्पिताः ॥४॥

प्रणष्टमशुभं यत्तः कल्याणं समुपस्थितम्।
तेन त्वेतत्प्रहृष्टं मे मनोलक्ष्मण सम्प्रति ॥५॥
हृदये मे नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति
तदा गच्छावमित्याशु पंपां तां प्रियदर्शनाम् ॥६॥
ऋष्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते
यस्मिन्वसति धर्मात्मा सुग्रीवो शुमतः सुतः ॥७॥

पम्पासर के पास "मतङ्गकुण्ड" था। पम्पा के किनारे अन्यान्य वृक्षों के साथ "चन्दन" के वृक्ष भी थे—

शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरबकास्तथा।
तिनिशानक्तमालाश्च चन्दनाः स्यंदनास्तथा ॥८२॥
(किष्किन्धा काण्ड)

ऋष्यमूक पर्वत के निकट 'मलय' पर्वत भी था। ऋष्यमूक के पास ज्यों ही राम-लक्ष्मण पहुँचे, तब सुग्रीव बहुत भयभीत हुए थे। तब हनुमानजी ने उनसे कहा था—

ततस्तु भय संत्रस्तं वालि-किल्बिष-शंकितम्
उवाच हनुमान्वाक्यं सुग्रीवं वाक्यकोविदः॥
संभ्रमस्त्यज्यतामेष सर्वर्वालिकृते महान्।
मलयोऽयं गिरिवरो भयं नेहास्ति वालिनः॥

हनुमानजी ऋष्यमूक से ही राम-लक्ष्मण को 'मलय' पर ले गये। यथा—

ऋष्यमूकात् हनुमान् गत्वा तं मलयं गिरिम्।
आचचक्षे तदा वीरौ कपि राजा च राघवौ॥

आगे हनुमानजी लक्ष्मणजी के बैठने के लिए चन्दन की शाखा देते हैं:—

लक्ष्मणायाथ संहृष्टो हनुमान्मारुतात्मजः।
शाखां चन्दन वृक्षस्य ददौ परम पुष्पिताम्॥
(किष्किन्धाकाण्ड; सर्ग ५, श्लोक १६-२०)

अब प्रश्न यह है कि क्या मध्यभारत में 'मलय' पर्वत भी था? क्या मध्यभारत में 'चन्दन' के वृक्ष भी हुआ करते थे? यदि हुआ करते थे, तो क्या उन वृक्षों की ऐसी अधिकता थी कि उनकी डालें

※ श्रीनाथ कृत 'भीमखण्ड' पंमभूपाल चरित।

तोड़-तोड़ कर बैठने के काम में लाई जाती थीं ? मध्यभारत के किसी प्राचीन शिला-लेख में ऋष्यमूक, मलय आदि पर्वतों का उल्लेख क्यों नहीं पाया जाता ? रेवा (नर्मदा) या सुवर्ण (सोन) नदियों के नाम इस प्रसंग में क्यों नहीं मिलते, जब कि मध्यभारत में ये विख्यात और पुराण-प्रसिद्ध नदियाँ हैं ? फिर जबर्दस्ती मध्यभारत में 'किष्किन्धा' की स्थिति मान लेना कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय विद्वानवृन्द ही करें ।

पुरातत्वज्ञों का एक प्रशंसक

योगी

आँखें बन्द किये योगी तू,
ढूँढ रहा है किसको आह !
किसे बिठाया है हृदयासन पर,
ताक रहा है किसकी राह ?

सुर धुनि की अव्यक्त रागिनी
से उद्वेलित तेरा प्राण ।
बुला रहा है किस अनादि को
सुना सुना कर मीठी तान ?

अंधकार-रजनी में सुनकर
उस अनंत का अनहद नाद ।
भस्म रमा कर डटा हुआ है,
त्याग सकल चंचल अवसाद ।

जाग, समय आया उठने का,
कितनी बीत गयीं सदियाँ !
पलक मारते पलट गयी हैं,
जग की सारी चौहदियाँ ॥

गोविन्दलाल भगार 'आर्य'

गो-रक्षा

भारत की उन्नति के लिए प्रयत्न करने वालों में गो-सेवकों का बहुत भाग है और इस देश को गोरक्षा-पूर्ण व स्वतंत्र स्थिति में लाने के लिए अच्छे दूध देने वाले और काम करने वाले मवेशियों की बहुत ज़रूरत है । यह एक मानी हुई बात है ।

इस प्रश्न को हल करने के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने-अपने ढंग से उपयुक्त काम कर रहे हैं । बूढ़े तथा अपंग निर्बल जीवों को एकत्रित कर उनका शेष आयुष्य सुख में बिताने के लिए खुले हुए अनेक पिंजरापोल देशभर में दिखाई देते हैं । थोड़ी अच्छी गायें पालकर उनके लिए उत्तम खुराक, घर वग़ैरा का बन्दोबस्त कर उनकी सेवा करने वाली गोशालाओं की भी कुछ कमी नहीं है । कसाईखाने जाने से बचाकर निराधार गायों को आश्रय देने वाली संस्थाओं का कार्य भी कभी-कभी मनमुग्ध करता है । गो सेवा का प्रचार करने वाले लेखकों तथा वक्ताओं की भी आज वृद्धि हो रही है । मगर जो लोग गाय की उत्पादन-शक्ति बढ़ाकर उसे ज्यादा उपयोगी बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं वे ही सबसे ज्यादा फ़ायदेमंद काम को हाथ में लेते हैं । वर्तमान स्थिति में हमें गाय के बारे में ज्यादा सोचना पड़ता है, अथवा गाय को ज्यादा संरक्षण देने की जरूरत होती है; इसका यही कारण है कि गाय की उत्पादन-शक्ति इतनी घट गई है कि वह अपने खुद के बल पर खड़ी नहीं हो सकती । यदि गायों के मालिक उन्हें नहीं पालना चाहते, या उन्हें कसाई को बेच देते हैं, तो वह सिर्फ़ इसी कारण कि साधारण गाय रखना उन्हें भार-रूप होता है । अगर गाय इतना ज्यादा दूध देने लगे कि उसको पालने का ख़र्च अदा

करके नफा रहने लगे, तो हमारी समझ में नहीं आता कि कोई भी समझदार मालिक अपनी गाय को अपने हाथ से क्यों जाने देगा। यदि हमें गो-सेवा के कार्य को अच्छे पाये पर खड़ा रखकर उसे चिरञ्जीवि करना है, तो देश में जगह-जगह ऊँचे दर्जे के दुग्धालय खोलना चाहिए, जिससे अच्छी मवेशियों की उत्पत्ति बढ़े और देश में सस्ते दूध की इफ़रात हो।

देश में दुग्धालयों की स्थिति इतनी गिर जाने के अनेक कारणों में से इस एक ही कार्य का अनेक छोटे-छोटे भागों में बट जाना और अलग-अलग व्यक्तियों के हाथ में रहना बड़ा महत्त्व का कारण मालूम होता है। हमारे यहाँ अक्सर गाय पालने वालों का धंधा गायों के झुण्ड रखकर उनके बच्चों को छोटे-पन में ही बेच देने का होता है। इनके पास न तो चारे का क़ाफी स्टाक होता है, न गायों को चराने के लिए चरागाहें। गायों का दूध निकालकर उसे बेचने के फंदे में ये लोग पड़ते ही नहीं। इससे गायों की दूध देने के शक्ति नहीं बढ़ पाती, और इतनी गायों का दूध मुफ्त जाता है। पूरे साधन न होने से वे अपने मवेशियों को अच्छी हालत में नहीं रख सकते। इस कारण हर साल उनमें क़ाफी कमी होती है। दुर्भिक्ष के दिनों में तो, जिनकी कि हिन्दुस्थान में कमी नहीं है, उनकी हालत असह्य हो जाती है। दूसरे यह काम अक्सर निरक्षर और निर्धन लोगों के हाथ में होने से सुधार करने में भी बड़ी भारी अड़चन पड़ती है।

प्राय: छोटे बच्चे—खासकर नर—जब दूध पीना बंद कर देते हैं, तो किसानों को बेच दिये जाते हैं; और वे उनको अच्छी तरह पालकर बैल बना लेते हैं। कभी-कभी किसानों के हाथ जाने के पहले इन बेचारे बच्चों को बाघरी जैसे लोगों के पास रहना पड़ता है। ये बाघरी सिर्फ़ दलाली का धन्धा करते हैं। बधिया करने का काम अक्सर इन्हींके हाथ में होता है। साधारण मादाओं को तो इन गाय पालने वालों के पास ही रहना पड़ता है। चूँकि इन्हें मोल लेने को कोई तैयार नहीं होता, इसलिए इन्हींको पालकर ये अपनी गायों की तादाद में कमी नहीं होने देते।

हाँ, अच्छी गायों को शहर के निकट रहने वाले ग्वाल वग़ैरा इनके पास से लेकर शहर वालों को दूध पिलाने का धंधा करते हैं। इसका अनिष्ट परिणाम यह होता है कि गाय पालने वालों के पास साधारण और हलके दर्जे की गायें रह जाती हैं और इस वजह से दिन ब दिन उनकी नस्ल गिरती जाती है। अच्छे साँड रखकर नस्ल को सुधारना तो मानों इन लोगों को मालूम ही नहीं होता। और अगर कोई समझता भी हो, तो भी अच्छा साँड मिलना कोई आसानी की बात नहीं।

जो ग्वाल अच्छी-अच्छी गायें देहातों में से ढूँढ लाते हैं, वे उनको बतौर दूध देने वाली मशीन के इस्तैमाल करते हैं। उनकी फ़िक्र तभी तक होती है, जब तक कि वे दूध दे सकती हैं। उनसे पैदा होने वाले सुंदर बच्चों की वे क्यों पर्वाह करने लगे, जब कि वे जानते हैं कि उनको पालकर बड़ा करना उनके क़ाबू के बाहर की बात है। इस तरह देश का सुंदर पशुधन नष्ट हो रहा है।

गाय पालने वालों की तरह इन शहरी ग्वालों के पास भी कोई ज़मीन नहीं होती। घास इत्यादि हरेक चीज़ उनको मोल लेनी पड़ती है, जो कि हमेशा महँगी और हलके दर्जे की होती है। क़ीमती गोबर का ईंधन के सिवा और कुछ भी उपयोग नहीं होता। गोमूत्र तो बिलकुल मुफ्त ही जाता है। किसान बेचारे खाद के वास्ते तरसते हैं। अलावा इसके उनके यहाँ मवेशियों का काफ़ी स्टाक न होने के सबब घर पैदा होने वाली कड़ब वग़ैरा को उन्हें बिना मोल बेच देना पड़ता है।

कभी कभी तो यह हालत होती है कि ग्वाल ग्राहक को सीधे दूध भी नहीं बेच सकते, क्योंकि दूध शहर के हलवाइयों या अहीरों के मार्फत बिकता है।

पाठकगण ! ज़रा विचार तो कीजिएगा कि यह एक ही धंधा कितने हिस्सों में बट जाता है। फिर हरेक जगह कार्य करने वाले अज्ञान और दरिद्री होते हैं। इससे दलालों की बन आती है। ये दलाल अपने असामी को खूब अच्छी तरह से चूसकर अपने कब्ज़े में रखने का कैसा यत्न करते हैं, यह हरेक विचारवान व्यक्ति जानता है। इस वृक्ष की जड़ में यह एक बड़ा कीड़ा लगा है, जो इसे पनपने नहीं देता और दिनों दिन इसका नाश करता जाता है।

इस बड़ी आपत्ति से बचने के लिए आज इस बात की बड़ी ज़रूरत है कि देश में अच्छी गायें पैदा करना, दूध निकालना, और उसे सीधे ग्राहकों के हाथ में पहुँचाना एकही व्यक्ति अथवा संस्था के हाथ में होना चाहिए। चाहे यह काम एकही व्यक्ति करे, या कंपनी के द्वारा कराया जाय, अथवा अनेक किसान या गाँव वाले मिल-जुलकर करें; पर हो ऐसे ही। क्योंकि, बहुत दिनों के अनुभव से अब यह सिद्ध हो चुका है कि, यदि अनेक छोटे-छोटे धंधे वाले स्वतंत्र पद्धति से काम करें और उनका आप से कुछ भी सम्बन्ध न हो, तो यह काम अच्छे ढंग पर नहीं चल सकता और राष्ट्रीय कार्य में तो उससे कुछ भी लाभ होही नहीं सकता। ग्वालों के पास काफ़ी साधन न होने के सबब उनको बहुत नुक़सान उठाना पड़ता है। दलालों को हस्तक्षेप कर इन लोगों को क़ाबू में रखने का मौक़ा मिल जाता है और इस वजह से धीरे-धीरे आपत्ति बढ़ती जाती है।

कुछ वर्षों से व्यापारी दृष्टि से बड़े पैमाने पर इस काम को करने के लिए बड़ी-बड़ी कंपनियां खोली जाने लगी हैं और यह सब काम एकही जगह कराने का भी प्रबंध किया जा रहा है। मगर दुर्भाग्य से अभीतक कोई भी कंपनी अच्छी और फ़ायदेमंद हालत में काम करते देखने का अवसर नहीं मिल सकता।

साधारणतः कम्पनियों के सब कारोबार नौकरों के ही द्वारा कराये जाते हैं। इस वजह से काम की देख-भाल वग़ैरा का ख़र्च बहुत बढ़ जाता है। फिर सच्चे, मेहनती और दिल लगाकर काम करने वाले कार्यकर्ताओं का मिलना अत्यन्त कठिन होता है। पूंजी का एक अच्छा भाग इन लोगों के वेतन में ही ख़र्च हो जाता है। गायों को चारा-पानी देना, उनकी देख-भाल करना, दूध निकालना, बच्चों की परवरिश करना वग़ैरा सब काम अज्ञानी और वेतन पाने वाले मजूरों के द्वाराही कराये जाते हैं। इन लोगों का अपने काम पर बिलकुल प्रेम नहीं होता और इनकी लापर्वाही से दिनों दिन आय घटती जाती है। मवेशियों के साथ प्रेम से बर्ताव न होने के कारण उनकी भी हालत ठीक नहीं रहती और वे धीरे-धीरे निकम्मे होते जाते हैं।

इसका यह भी परिणाम होता है कि जब कोई नई डेअरी का काम शुरू होता है, तो गाँव के अनेक ग्वालों पर इसका असर पड़ता है और कभी-कभी उनकी रोज़ी भी मारी जाती है। बेचारों का धन्धा हाथ में से जाने से कहीं मिलों में नौकरी करना पड़ती है, या बेकारी का बुरा परिणाम भोगना पड़ता है। सच तो यह है कि गायों के रक्षण की जितनी आज ज़रूरत है, उतनाही इन ग़रीब लोगों को हमें हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। इस धन्धे में गायों जैसे सजीव प्राणियों से काम होने से, यदि गायों से सम्बन्ध रखने वाले उन्हें अपनी निजी संपत्ति समझ कर उन्हींकी उन्नति में अपना फ़ायदा समझें, तो बहुत अधिक लाभ होने की संभावना है।

जबतक यह काम वेतन पाने वालों के पास रहेगा, तब तक लाभ हर्गिज़ न होगा ।

इन सब त्रुटियों को दूर करने के वास्ते हमें यह ठीक मालूम होता है कि यदि जगह-जगह इन लोगों का संगठन किया जाय और सहकारी तत्त्व पर देशभर में जगह-जगह गोशालायें खोल दी जावें, तो उन्नति की बड़ी सुविधा हो जायगी ।

जहाँ पर ऐसी गोशाला खोलने का निश्चय हो जाय, वहाँ ग्वालों की एक सहयोग-समिति बनाकर गाँव के सच्चे उत्साही और अनुभवी युवक के द्वारा इसका कारोबार कराया जावे । गोशाला के आरम्भिक व्यय के लिए कुछ पूंजी एकत्र की जाय, जो फंड द्वारा अथवा कर्ज के द्वारा अथवा किसी सहकारी बैंक से मिल सकती है । इस रक़म में से गोशाला के लिए ज़मीन, चरागाहों, इमारतों वग़ैरा जिन बातों की जरूरत हो, वे तैयार की जा सकती हैं । शहर के ग्वालों में से जो इसका लाभ लेना चाहें उनसे निश्चित शुल्क लेकर उन्हें इसका सदस्य बनाया जाय । वे लोग अपनी मवेशियों को लेकर उस जगह आकर रहें और चरागाहों में अपनी मवेशी चरावें । वहीं भण्डार में से अपने खान-पान की व्यवस्था करलें और अपना दूध वहीं बेचदें । उनकी गायों की नस्ल सुधारने के वास्ते वहीं पर अच्छे सांडों की व्यवस्था की जाय । बीमार वग़ैरा जानवरों की चिकित्सा वहीं का डाक्टर करे । अनुभवी युवक उन्हें गो-पालन के बारे में हमेशा परामर्श देता रहे । वहाँ पर पैदा होने वाले बच्चों वग़ैरा को परवरिश करके उनकी निकास का काम भी वहाँ बड़ी सरलता से हो सकता है । वहीं पर खेती की जावे, जिससे गोबर के खाद का अच्छा उपयोग होकर सस्ता और उमदा चारा बारहों महीने मिलने लगे, यही नहीं, बल्कि ग्वालों की स्त्रियों और बच्चों को अच्छा और उचित काम भी मिलता रहे ।

अगर यह काम हमारे पढ़े-लिखे युवकगण हाथ में लेलें, तो बेचारे ग्वालों वग़ैरा को निष्ठुर दलालों के फंदे से छूटकर आज़ादी के साथ अपनी खुद की कमाई खाने को मिलेगी । गायों की दशा दिनों दिन सुधरती जायगी । सस्ता और अमृततुल्य दूध सबको मिल सकेगा । और देश के अनेक धंधों में से एक सुसंघटित और ठीक रास्ते पर चलने लगेगा ।

गो-प्रेमी भारत में इस कार्य के वास्ते पूंजी मिलना कुछ बड़ी बात नहीं है । इस समय हमें ज़रूरत है तो सत्यनिष्ठ और मेहनती युवकों की। क्या हम आशा कर सकते हैं कि स्वदेश-प्रिय युवक इस महत्त्वपूर्ण कार्य को तुरंत ही अपने हाथ में लेलेंगे ?

यशवन्त महादेव पारनेरकर

निम्नलिखित भिन्न-भिन्न देशों में जन-संख्या पीछे पशुओं का परिमाण इस प्रकार है—

देश	पशु-संख्या	जन संख्या	प्रतिशत जन-संख्या पीछे पशुओं की संख्या
यूरुग्वे	६८३००००	१४०००००	५००
अर्जेण्टाइन	२५८४४८००	८०००००	३२३
आस्ट्रेलिया	११५८६०२४	४५०००००	२५५
न्यूज़ीलैण्ड	१८१६६००	१२०००००	१५०
केपकॉलोनी	१२५००००	११०००००	१२०
कनाडा	५८१९६००	७२५००००	८०
सं० राष्ट्र अमेरिका	१२२३४३००	९२००००००	७९
डेनमार्क	१८४०५००	२५०००००	७४
ब्रिटिशभारत	१४७३३६७००	२४४२६७५४२	६१

* * *

भारत में मरने वाले पशुओं के कुछ अंक इस प्रकार हैं—

सन् १९०४-५	२११११९
,, १९०९-१०	३०२७५८
,, १९१४-१५	२३६३६०

(प्र० सा०)

हमारे पाप

जिस कार्य से व्यक्ति और समाज को दुःख पहुँचता है, उनकी हानि होती है, उसे पाप कहते हैं; और जिस काम से उन्हें सुख मिलता है, उनका लाभ होता है, उसे पुण्य। जिस काम से केवल व्यक्ति की हानि होती है वह व्यक्तिगत पाप, जिसमें समाज की हानि हो उसे सामाजिक पाप, और जिससे सारे राष्ट्र को नुकसान पहुँचता है वह राष्ट्रीय पाप है। पाप का फल अधोगति के सिवा दूसरा नहीं हो सकता। इसलिए पाप करने की स्वाधीनता मनुष्य को नहीं दी गई है। फिर भी व्यक्तिगत पाप करने में मनुष्य जितना स्वाधीन हो सकता है उतना सामाजिक पाप करने में नहीं, और जितना सामाजिक पाप करने में वह स्वतंत्र समझा जा सकता है उतना राष्ट्रीय पाप करने में नहीं। क्योंकि व्यक्तिगत पाप के फल से स्वयं उसकी अपनी हानि होती है. लेकिन सामाजिक और राष्ट्रीय पाप से सारे समाज और राष्ट्र को हानि पहुँचती है। जैसे मैले कपड़े पहनना, या कच्ची रोटी खाना, व्यक्तिगत पाप है; क्योंकि इससे जो बीमारी पैदा होगी उसका फल प्रधानतः उस व्यक्ति को ही भोगना पड़ता है। परन्तु व्यभिचार एक सामाजिक पाप है; क्योंकि, इससे सारे समाज की जड़ खोखली होती है। इसी प्रकार विदेशी वस्तु का व्यवहार राष्ट्रीय पाप है क्योंकि, इससे राष्ट्र में निर्बलता आती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य के बुरे कर्मों का फल अधिकाधिक लोगों को भोगना पड़ता हो त्यों-त्यों उनके बुरे कामों की स्वतंत्रता कम कम होती जाती है। मनुष्य ने ही अनेक प्रकार के अनुभवों और व्यवहारों को देखकर अच्छाई और बुराई के अनेक नियम बना दिये हैं, जिन्हें हम पाप या पुण्य अथवा नीति और अनीति के नियम कहते हैं। ये इस उद्देश से बनाये गये हैं कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति हो, उन्हें सुख पहुँचे, वे पूर्णता को प्राप्त करें। इन नियमों की सबसे श्रेष्ठ कसौटी यह है कि मनुष्य खुद स्वतंत्र और सुखी रहे; परन्तु दूसरे की स्वतंत्रता और सुख में उसके कारण कमी न हो। अर्थात् मनुष्य न केवल अपनी स्वतंत्रता और सुख की रक्षा करे, बल्कि दूसरों की सुख स्वतंत्रता की भी उतनी ही रक्षा करे। इसीका नाम है संयम। संयम स्वतंत्रता का मूल है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी होता है वह उतना ही अधिक स्वतंत्र हो सकता है। क्योंकि वह जितना ही अधिक औरों के सुख, सुविधा और स्वतंत्रता का विचार रक्खेगा उतना ही दूसरे उसके सुखादि का खयाल रक्खेंगे और इससे उसकी स्वतंत्रता अपने आप बढ़ जाती है। संयम-हीन स्वतंत्रता उच्छृंखलता और अंत को अत्याचार में परिणत हो जाती है और उसका आगे चलकर परिणाम होता है यह कि मनुष्य को अपनी सारी स्वतन्त्रता खो देनी पड़ती है।

स्वाधीनता में मनुष्य पाप कम करता है; पराधीनता में अधिक। क्योंकि स्वाधीनता में मनुष्य का जीवन उतना नहीं होता, जितना पराधीनता में होता है। स्वाधीनता में भले बुरे की ज़िम्मेवारी खुद उसीपर होती है; पराधीनता में दूसरे पर। मनुष्य पाप तब करता है, जब पुण्य करते हुए उसे हानि होने लगती है। जब सच बोलने से हानि होती है, तो मनुष्य झूठ बोलकर लाभ उठाने की चेष्टा करता है। जब न्यायोचित साधनों द्वारा मनुष्य अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाता, तब वह बुरे मार्ग का अनुसरण करता है। यदि किसी समाज में युवकों को कन्यायें न मिलती हों, विधवाओं को ज़बर्दस्ती विवाह से रोका जाता हो, तो वहाँ व्यभिचार फैलना स्वाभाविक हो जाता है। जिस राज्य में कृत्रिम बंधनों द्वारा मनुष्य इस तरह जकड़ दिया गया है कि उसे सच बोलने तक में भय मालूम होने लगता है तब उसमें उस राज्य को उखाड़ फेंकने के भाव प्रबल होने लगते हैं। मनुष्य पाप दो कारणों से करता है—एक तो संयम का महत्व न समझने से, अर्थात् दूसरों की स्वाधीनता और सुख का खयाल न रखने से, और दूसरे अपनी स्वाधीनता के अपहरण से, अर्थात् अपने न्यायोचित अधिकारों के अनुसार बर्तने की सुविधा न रहने से। दोनों बातों का एक ही निष्कर्ष निकलता है कि स्वतंत्रता के अपहरण से मनुष्य पाप में प्रवृत्त होता है। जिसकी स्वतंत्रता छीन ली गई है, वह भी पाप करने लगता है; और जो स्वतंत्रता का अपहरण करता है, वह भी पापी हो जाता है। पीड़ित और पीड़क दोनों पापी होते हैं। पीड़ित भयभीत

रहता है, इसलिए गुप्त पाप करता है। पीड़क उद्धत होता है, इसलिए अत्याचारी बन कर विधान और क़ानून के नाम पर पाप को पुण्य का रूप देकर पाप करता है। पीड़ित की आत्मा दब-दब कर पाप करती रहती है; पीड़क खुल खुल कर पाप करता है। पीड़ित एक समय के बाद जागरूक होता है और साहस एकत्र करके पीड़क के ख़िलाफ़ बग़ावत पर उतारू हो जाता है; पर पीड़क पीड़ित और पतित होने के पहले सहसा नहीं उठ पाता। पीड़ित पापी सहसा उठ सकता है; पीड़क पापी नहीं। इसलिए कहा गया है कि पीड़क बनने से पीड़ित बनना कहीं अच्छा है। पर सच पूछिए तो पीड़क और पीड़ित दोनों बनना, या बने रहना पाप है। पीड़ित बने रह कर मनुष्य खुद अपने प्रति पाप करता है; बल्कि, पीड़क को पीड़क बना रहने देकर, उसके पापों में सहायक होता है। इस दृष्टि से दुहरा पापी है। गुलामी सबसे बड़ा पाप है।

भारत आज दुनिया में सबसे बड़ा पापी है; क्योंकि वह सबसे बड़ा गुलाम है। दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि इतना बड़ा विशाल देश इतनी सदियों से गुलाम बना आ रहा हो और चारों तरफ़ से इतना जकड़ा हुआ हो कि कहीं से भी विस्तार की गुंजाइश नहीं मालूम होती। बड़ों-बड़ों की अक़्ल गुम हो रही है। यदि काक-दृष्टि से देखें, यदि कृष्ण-पक्ष का अवलोकन करें, तो दुनिया का कोई ऐसा पाप नहीं, जो यहाँ काफ़ी मात्रा में न दिखाई देता हो। मिस मेयो ने हमारे कुछ पापों के नाम गिनाये, तो हम बिगड़ पड़े और उसे कोसने लगे। 'अबलाओं का इन्साफ़' देख कर उसपर घृणा प्रकट करने लगे। पर जब तक उनमें लिखी आधी बातें भी सही हैं, और हम उन बुराइयों को दूर करने के लिए प्राण-पण से उद्योग नहीं करते, तब तक हम अपने पापों से कैसे छूट सकते हैं? अबलाओं के इन्साफ़ की बातों पर मुझे सहसा विश्वास नहीं हुआ, पर एक मित्र ने कहा—'ये सब बुराइयाँ मैं राजपूताने के किसी भी एक ही नगर में दिखा सकता हूँ।' 'राजस्थान की समस्यायें' शीर्षक लेख में मैंने व्यभिचार को भी स्थान दिया है। इसपर एक आदरणीय मित्र ने कहा—'उपाध्यायजी, आपने अभी राजपूताने के देहातों को नहीं देखा है। शहरों की बुराइयों से हम देहात का अन्दाज़ नहीं लगा सकते।' यह लेख मैं एक देहात में बैठ कर लिख रहा हूँ, जो कि रेलवे-स्टेशन से बीस मील दूर है। इस तरफ़ के ब्राह्मण-वैश्यों के घर की कथाओं और लीलाओं को सुनता हूँ, तो सिर चक्कर खाने लगता है। घर और कपड़ों की स्वच्छता तो मानों इनसे डरती है। इधर बारह-चौदह वर्ष के लड़कों की शादी करने का आम रिवाज़ है। लड़कियों की उम्र लड़कों से बहुधा बराबर या बड़ी होती है; इसलिए, कहते हैं, अधिकांश लड़कपन में बिगड़ जाती हैं। विधवायें मानों गुण्डों और व्यभिचारियों की सम्पत्ति समझी जाती हैं। घर ही में अनर्थ होते देखे जाते हैं। पचीस फ़ी सदी विधवायें साफ़ पाक मानी जाती हैं। बाल-विधवाओं की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है। गर्भपात की बातें आये दिन कानों पर आती रहती हैं।

इसी गाँव के सम्बन्ध की कुछ ऐसी बीभत्स घटनायें मैं जानता हूँ, जिन्हें देख कर मनुष्यता का सिर नीचा हो जाता है और हिन्दू-धर्म की छाती पर तो वे मृत्यु-प्रहार ही के समान हैं। पर उन सब बातों का उल्लेख करके मैं दूसरा "अबलाओं का इन्साफ़" लिखना नहीं चाहता। जिनको आँखें, हृदय और बुद्धि है, वे ऐसी घटनायें देखकर चुप नहीं बैठ सकते। जो लोग इनकी ओर आँखें मूँदे हुए हैं उनसे मैं कहूँगा कि इस तरह ठण्डे दिल से अपना और अपनी जाति का सर्वनाश न करो। इन पापों की ज्वाला तुम्हें जड़ मूल से भस्म कर देगी। जिन लोगों ने इन बुराइयों को नीति-अनीति के दायरे से उठाकर कुदरत के क़ानून के दायरे में ला रक्खा है, उनसे मैं कहता हूँ—कामान्धता की वेदी पर मनुष्य-जाति के कई सद्‌गुणों और सद्भावों की आहुति क्यों करते हो? जो धर्म-सुधारक हैं, उनसे कहना चाहता हूँ कि बुराई सचमुच बुराई है तो फिर उसे एकाएक निकाल डालने में हिचकिचाहट क्यों? परदा यदि बुराई है और परदे में यदि कई बुराइयाँ छिपी रहती हैं, तो घर के बड़े-बूढ़ों के लिहाज़ से इसे हम कब तक सहन करते चले जायँ? जाति और राष्ट्र की बर्बादी की ओर हम देखें, या बड़े बूढ़ों की नाराज़गी की ओर? समष्टि के हित के सामने क्या हमें व्यक्ति की कल्पित प्रसन्नता को खो देने के लिए तैयार न

रहना चाहिए ? हमारी सहृदयता क्या तकाजा नहीं करती कि हम समाज की विधवाओं की रक्षा, सधवाओं के सतीत्व की रक्षा और नवयुवकों को ऐसी मानसिक यातनाओं से बचाने के लिए अपनी व्यक्तिगत असुविधाओं को ताक पर रख कर उनके लिए दौड़ पड़ें ?

धनिकों और रईसों में व्यभिचार का कारण है विषय-तृष्णा के कारणों की बहुलता और उसकी तृप्ति के साधनों की कमी; मध्यमवर्ग के लोगों की व्यभिचार-प्रवृत्ति का कारण है दरिद्रता। एक बड़े राज्य के चीफ़ मेडिकल आफ़िसर ने उस दिन कहा कि आम लोगों के व्यभिचार के मूल कारण की खोज में जो मैं निकला तो पता लगा कि आमदनी की कमी और आवश्यकताओं की वृद्धि इसका मुख्य कारण है। 'बुभुक्षितः किम्र करोति पापं', दरिद्रता अनेक अनर्थों की जड़ होती है। भारतवर्ष मुसलमानों के समय में चाहे पराधीन हो गया हो, पर दरिद्र नहीं हुआ था। लेकिन इस अँग्रेज़ी राज्य में तो सोलह आना पराधीन और बीस आने दरिद्र भी हो गया है। जिस देश के ग़रीब लोग गोबर में से अनाज चुनकर पेट पालने पर मजबूर होते हैं, उसकी दरिद्रता की करुण कथा किस लेखनी से लिखें ? वहाँ यदि स्त्रियों को अपना सतीत्व चुराकर बेचना पड़े तो कौन आश्चर्य की बात ? आश्चर्य की बात तो यह है कि इन बुराइयों से हमारे दिल को जैसी चाहिए चोट नहीं पहुँचती। अपने सुख और आराम की चिन्ता या धुन में अपने पड़ोसी का करुण-क्रन्दन हमारे कानों तक नहीं पहुँचता ! हम ब्याह-शादियों में, अपने ऐश-आराम में, तथा मामले-मुकद्दमों में हजारों रुपया पानी की तरह बहा देंगे। पर ग़रीबों की ग़रीबी दूर करने के लिए, विधवाओं के धर्म की रक्षा के लिए खादी न पहनेंगे—खादी के लिए रुपया न देंगे ! एक ओर धन-वैभव को ऐश-आराम में लगा कर हम अपने आस-पास विषय-भोग का और उसके फल-स्वरूप व्यभिचार का वायु-मण्डल निर्माण करते हैं, और दूसरी ओर अपने पड़ोसियों को दरिद्र बनाकर या बना रहने देकर उन्हें व्यभिचार के लिए मजबूर करते हैं। इस तरह हम दुहेरे पापी बनते हैं।

जो अच्छा काम स्वेच्छा-पूर्वक किया जाता है वह भूषण होता है, और जो दूसरे के दबाव से किया जाता है वह दूषण की सीमा को पहुँच जाता है। यदि कोई अपनी खुशी से विवाह नहीं करता, तो इससे उसे सब तरह लाभ पहुँचता है। यदि कोई किसी के दबाव या संकोच से विवाह नहीं करता, तो उसमें छिपे-छिपे पाप करने की कुवृत्ति पैदा होने का भय रहता है। स्वेच्छा पूर्वक किये गये पाप के प्रायश्चित से मनुष्य की आत्मा का विकास होता है। परन्तु बल-पूर्वक दिये गये दण्ड से उसका तेजोनाश होकर आत्मा दब जाती है। इसी प्रकार जो दरिद्रता खुशी-खुशी प्राप्त की जाती है वह मनुष्य के लिए भूषण-रूप होती है; परिस्थिति से दब कर इच्छा के विरुद्ध जो दरिद्रता अख्त्यार करनी पड़ती है, वह मनुष्य के पतन का कारण होती है। महात्माजी, लोकमान्य, मालवीयजी, लालाजी, नेहरूजी, देशबन्धु तथा उनके सैकड़ों अनुयायी जिन्होंने स्वेच्छा-पूर्वक दरिद्रता अंगीकार की, उनमें तथा भारत के करोड़ों लोग जिन्हें ब्रिटेन की व्यापारिक लूट-नीति और आसुरी साम्राज्यवादिता ने राह का भिखारी बना दिया है, उनमें ज़मीन-आसमान का अन्तर है। सच्चा धनी वह है जिसने धन को ठोकर मार दी, या धन को दीन-दुखियों की सेवा में लगाकर खुद निर्धन की तरह रहता है। वह तो धन का गुलाम है, जो धन को बटोर-बटोर कर अपने ही सुख-चैन में लगाता है। धन का दूसरा नाम है भय। जिसको निर्भय होना हो, वह निर्धन बनना सीखे। जिसको तेजस्वी बनना हो, वह दरिद्रता का व्रत धारण करे। भारत का वैश्य-समुदाय आज इसीलिए दब्बू और कायर बना हुआ है कि उसे धन को बटोर कर रखने का असीम लोभ है। यूरोप के वैश्य जो सेना और सत्ता की सहायता से तीस करोड़ भारत-वासियों को पद-दलित करके उनके जड़-मूल को मिटाने का पाप कमा रहे हैं उसका कारण है उनका धन लोभ। इसीलिए श्री शंकराचार्य ने कहा है—

'अर्थमनर्थं भावय नित्यं
नास्ति ततः सुख लेश सत्यम्।'

परन्तु धन का लोभ एक बात है, और मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं के लिए धन की पर्याप्तता दूसरी बात। दरिद्र उस मनुष्य को कहते हैं, जिसके पास अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य धन या धन के

साधन न हों। भारत इस अर्थ में आज कंगालों का घर बना हुआ है। आज वहाँ सोलहों आने दरिद्रनारायण का निवास है। लक्ष्मीनारायण की नहीं, अब वहाँ दरिद्रनारायण की पूजा होनी चाहिए।

इस इतने विवेचन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हमारे सबसे बड़े तीन पाप हैं—(१) दरिद्रता (२) व्यभिचार (३) पराधीनता। दरिद्रता से व्यभिचार फैलता है और पराधीनता दरिद्रता का मूल कारण है। इस पराधीनता से छुटकारा पाये बिना न पूरी तरह दरिद्रता ही दूर हो सकती है, न व्यभिचार ही। व्यभिचार हमारा सामाजिक पाप है, दरिद्रता राष्ट्रीय पाप है, और पराधीनता मानवी पाप है। इस त्रिविध पाप की एकमात्र औषध है स्वाधीनता। आइए, इसीकी प्राप्ति में हम अपनी सारी शक्ति लगावें!

हरिभाऊ उपाध्याय

जीवन!

पड़ आमोद-प्रमोद-गोद में,
सोते में सपना देखा;
सुधा-पूर्ण वसुधा पर,
मंगलमय जीवन अपना देखा।

कठिन त्याग की विषम आग में,
तनिक नहीं तपना देखा;
लगी लालसा की वेदी पर
कभी न, हाँ, खपना देखा।

तन्द्रा टूटी, ध्यान जग उठा,
देख दृश्य पामाली का।
'जीवन है कर्तव्य'- सुन पड़ा,
सन्देशा वन-माली का॥

'कण्टक'

हृदय की फुलझड़ी

दिल

मेरा दिल मेरी घड़ी है। उसकी प्रत्येक धड़कन मुझे मिलन-बेला की याद दिलाती है।

कैसा पागल हूँ मैं! तुम्हारी पूजा की सामग्री से मैंने घर को इतना भर लिया कि जब तुम आये तो तुम्हें बैठने को जगह ही न मिला!

सारी दुनिया तुम्हारी हो, पर यह दिल मेरा है। मुझसे बिना पूछे, मेरी इच्छा के विरुद्ध, तुम इसमें आ नहीं सकते!

वह आये तो थे विजय करने, पर, उलटे विजित होकर, यहीं इसी दिल में क़ैद हो गये!

हाय, कितनी आकांक्षायें, कितनी लालसायें इस घर में बैठी तुम्हारी राह देख रही हैं!

अरे निष्ठुर! तुम इस दिल के मूल्य को क्या समझो? तुम पत्थर हो और इन पत्थरों ही से खेलो।

देखो, कहा मानो; मत ठुकराओ उसे इतनी निर्दयता से! जिससे तुम खेले थे, उसे छोड़ क्यों डालते हो मेरे प्रियतम?

संसार का सताया हुआ मैं, अकेला बैठ कर, अपने दिल के साथ खेलता था; पर, आज, वह मुझे छोड़ कर उस ज़ालिम के साथ मिल गया!

अरे, यह दिल भी कैसी बला है! कभी यह सुखों से भरा हुआ थाल लाकर सामने रख देता है और कभी दुःखों की पिटारी को खोल देता है।

रामानन्द 'राहत'

ज्ञानदीप

Lakshmi Art, Bombay, 8.
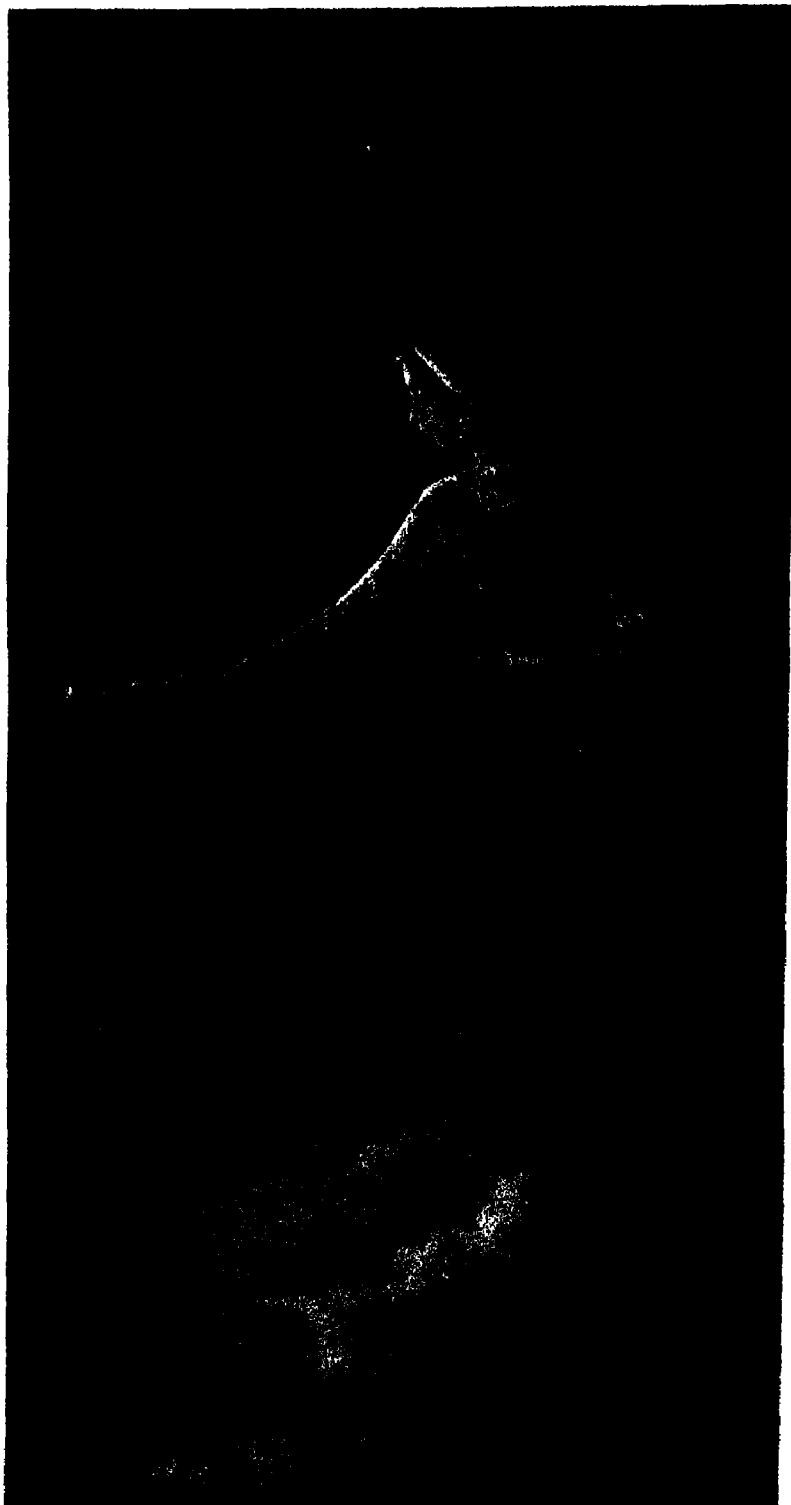
"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी॥"

विधवा

हाय, मैं क्या करूँ! मेरी आँखों के आगे, यह ढेर का ढेर अन्धकार कहाँ से फट पड़ा?

ऐ मेरे देव! तुम चले गये। पूजा करने की, जी भर कर प्यार करने की, मेरी लालसा मन की मन ही में रह गई।

उस दिन मैं रूठकर पड़ रहा; तुम्हारे बुलाने पर, मिन्नत करने पर भी, मैं बोली नहीं; क्या उसी का बदला चुकाने के लिए, हे नाथ, तुम मुझे छोड़कर चल दिये?

मेरी आँखों के आँसू देखकर तुम इन अभागे पैरों को पकड़ लेते थे, मुझे गोद में बिठाकर कितने प्रेम से चूमते थे; पर आज मैं रो-रो कर मर रही हूँ, फिर तुम बोलते क्यों नहीं? ओ निठुर! निठुर! निठुर!

आ, मेरे लाल! तेरा मुँह चूम लूँ। अब तू मेरा बेटा ही नहीं, उस निर्दयी-निष्ठुर की एकमात्र निशानी है।

संसार मुझसे सहानुभूति रक्खे, या मेरा तिरस्कार करे, इससे मुझे क्या? ऐ मेरे बच्चे! इस अन्धकारमय संसार से निकाल ले चल। अब तू ही मेरा जगत है।

हायरी, मायाविनी दुनिया! जब वह थे तब यह कितनी सुन्दर, कितनी लुभाविनी दीखती थी! पर अब तो यह मुझे काट खाने को दौड़ती है।

हे भगवान ! लो, यह भोग-विलास और अपना साज-सिंगार सम्हाल कर रक्खो। बस, एकमात्र पति की याद मेरे हृदय में रहने दो।

देव ! तुम दूर जाकर तो और भी मधुर बन गये ! सवेरे उठकर जब आँसुओं से तुम्हारी स्मृति के चरणों को मैं धोती हूँ, तब मेरा हृदय कितना प्रसन्न, कितना प्रफुल्लित और कितना उल्लसित होता है !

ये सहानुभूति दिखाने वाले मुझे अच्छे नहीं लगते; पर वे जो विधवा समझ कर मेरा तिरस्कार करते हैं, मेरे हितू हैं। वही तो मुझे रह-रह कर तुम्हारे चरणों की, तुम्हारे मधुर प्रेम की, याद दिलाते हैं !

क्षेमानन्द 'राहत'

पाप या पुण्य ?

(१)

सबसे हाल के सरकारी विवरण (Statistical Abstract for British India, 1914–15 to 1923 24) के अनुसार हमारे यहाँ २,६८,३४,८३८ विधवायें हैं।

भारत की कुल आबादी में 'टाइम्स' की ईयरबुक के अनुसार, प्रति सहस्र पुरुषों पीछे १००८ स्त्रियाँ विवाहित हैं। विभिन्न प्रांतों में यह औसत इस प्रकार है—

आसाम	९७६
बंगाल	९६६
बिहार-उड़ीसा	१०३४
बम्बई	९८७
ब्रह्मा	९२४
मध्यप्रांत-बरार	१०२५
मद्रास	१०६१
पंजाब	१०२१
संयुक्तप्रांत	१०१३
बड़ौदा	७८३
हैदराबाद	६७८२

इनमें सिर्फ़ १५ वर्ष तक की वय-वालियों की संख्या निम्न प्रकार है—

वय	विवाहित
१–१२ मास	१३,२१२
१–२ वर्ष	१७,७५३
२–३ ,,	४९,७८७
३–४ ,,	१,३४,१०५
४–५ ,,	३,०२,४२५
५–१० ,,	२२,१९,७७८
१०–१५ ,,	१,००,८७,०२

विधवाओं का विवरण श्री कंचनलाल मगनलाल खाण्डवाला ने दिया है। उसके अनुसार १५ वर्ष तक की विधवायें इस प्रकार हैं—

वय	विधवायें		
	हिन्दू	मुसलमान	कुल
१-१२मास	८६६	१०८	१,०१४
१-२ वर्ष	७९५	६४	८५६
२-३ ,,	१,५६४	१६६	१,८०७
३-४ ,,	३,५९७	५,८०९	९,२७३
४-५ ,,	७,६०३	१,२८१	१७,७०३
५-१० ,,	७७,५८५	१४,२७६	९४,२४०
१०-१५ ,,	१,८१,५०७	३६,२६४	२,२३,०३२

प्रान्तवार लें, तो १० वर्ष तक की वय-वालियों की संख्या है—बंगाल १७,५८३; बिहार ३६,२५७; बम्बई ६,७२९; मद्रास ५,०४६; संयुक्तप्रान्त १७,२०९। और कुल जन-संख्या में विधवाओं का औसत, 'टाइम्स' की ईयर-बुक के अनुसार, है प्रति सहस्र १७५,०, जो विभिन्न वयों में इस प्रकार विभाजित है—

वय	प्रति सहस्र औसत
०-५ वर्ष	.७
५-१० ,,	४.५
१०-१५ ,,	१६.८
१५-२० ,,	४१.४
२०-२५ ,,	७१.५
२५-३५ ,,	१४६.९
३५-४५ ,,	३२५.२
४५-६५ ,,	६१९.४
६५ और इससे अधिक	८३४.०

इंग्लैण्ड और वेल्स में यह औसत है सिर्फ़ ७३.२—और, वह भी किस वय का ?

वय	प्रति सहस्र विधवायें
२०-२५ वर्ष	१.५
२५-३५ ,,	१३.१
३५-४५ ,,	५०.५
४५-६५ ,,	१९३.३
६५ और इससे अधिक	५६५.९

इसका कारण ? हमारे यहाँ विधवाओं का इतना संख्या-बाहुल्य क्यों है ?

उक्त 'ईश्वरबुक' ही के लेखानुसार, इसका कारण है "कुछ तो बाल-विवाह, कुछ पति-पत्नी की उम्रों का बेमेलपन; पर ख़ास वजह है विधवाओं का पुनर्विवाह न होना।"

(२)

विधवा ? आह, कैसा हृदय-स्पर्शी शब्द है यह ! विधवा की पुण्य तपश्चर्या के स्मरण-मात्र से जहाँ एक ओर मस्तक श्रद्धावनत हो जाता है, वहाँ दूसरी ओर, उनकी वर्तमान दुर्दशा देख, करुणा और शोक के आँसू उमड़ आते हैं !!

महात्माजी लिखते हैं—और बिलकुल ठीक लिखते हैं—"वैधव्य को मैं हिन्दू-धर्म का भूषण मानता हूँ। विधवा बहन को देखने पर अनायास ही, उसके प्रति, मेरा मस्तक झुक जाता है।...सुबह के वक़्त तो उसका दर्शन करके मैं कृतार्थ हो जाता हूँ। उसका आशीर्वाद अपने लिए बड़ी भारी बख़्शीश मानता हूँ। अपने सारे दुःख उसे देख कर भूल जाता हूँ। विधवा के सामने पुरुष तो तुच्छ प्राणी है। विधवा के धैर्य का अनुकरण तो मानो असम्भव ही है। विधवा को प्राचीन काल की जो विरासत मिली है, उसके सामने पुरुष के क्षणिक त्याग की पूंजी का क्या मूल्य ?"

कितनी उदात्त और पवित्र कल्पना है ! परन्तु, आह, इन्हीं बहनों की आज क्या दशा है ? ला० लाजपतराय के शब्दों में कहें तो वर्णनातीत है। सचमुच आज उनकी जो दशा है उसे देख आश्चर्य नहीं, यदि निर्जीव पत्थर भी बिलबिलाकर फट पड़े ! उनके दुःखों और उनकी दुर्दशा को समझने के लिए हमें हृदय को ज़रा मज़बूत करना होगा और तब सूक्ष्म विचारोपरान्त उनकी वास्तविक स्थिति को हम कहीं थोड़ी-बहुत समझ सकेंगे।

ज़रा कल्पना तो कीजिए किसी बेचारी विधवा की। वह देखिए वह हड्डियों की ठठरी, विषाद की मूर्त रूप, काम-काम-काम—बस यही रात-दिन की उसकी धुन ! कोई बात पूछने वाला नहीं; कोई ढंग से बोलने वाला नहीं; आराम-सुविधा अलग, दुःख-दर्द की ही पूछने वाला कौन ? बस, काम करो काम: क्या मतलब किसी के राग-रंग और हँसी-ख़ुशी से ! क्या पर्वाह जीवन के कष्टों की ? क्या ज़रूरत अच्छा खाने-पीने की ? क्या ज़रूरत किसी से हिलने-मिलने की ? अपने तो अपने, पर किसी दूसरे के राग-रंग, हँसी-ख़ुशी, त्यौहार-टेहले में शामिल होने की भी क्या ज़रूरत ? ख़बरदार ! उधर मत जाना, वहाँ मंगल-कृत्य हो रहा है ! ख़बरदार, जो सुबह कहीं शक्ल सामने आ गई ! ख़बरदार, जो कहीं सधवा पर परछाईं पड़ गई !

यह क्यों ? क्योंकि, वह विधवा है ! उसपर परमेश्वर का शाप पड़ चुका है !! वह अपने पति-परमेश्वर को हड़प चुकी है !!! हमारी मान्यता है कि पति जो पत्नी के ज़िन्दा रहते मरता है वह पत्नी के पापों ही के कारण—उसका अपना कोई क़सूर नहीं होता—क्योंकि, पुरुष तो सब तरह से दूध का धोया होता है न ?

अपने बिते पर वह रह नहीं सकती। प्रथम तो उसमें इतनी क़ाबलियत और ताक़त ही नहीं होती कि अपने बूते पर कुछ कर सके। फिर मौक़ा भी कौन देता है ? किसीसे बोले तो पापिन; बच्चों से हिले-मिले तो डायन; सखी-सहे-

स्त्रियों से मिले-जुले तो निर्लज्ज। घरकों की ज़्यादती का प्रतिवाद करे तो ज़बांदराज़ और निर्लज्ज; ननद-भौजाई आदि को कुछ सिखावे-समझावे तो ख़ुदग़रज़; बच्चों की किसी बात को टोके तो उन्हें देख-देख कर कुढ़ने वाली। अच्छे साफ़ सुथरे कपड़े पहने तो संदिग्धचरित्र; बिन्दी-चोटी करे तो घर की सधवाओं की अमंगलेच्छु; गाये-बजाये, खाये पिये, हँसे-बोले तब तो महापातकी!

हाँ, वह करे क्या? सेवा, सेवा, सबकी सेवा—बड़ों से लेकर छोटों तक हरएक की निरन्तर सेवा, बस यही उसका काम है। घर के छोटे से लेकर बड़े तक, जब जैसी ज़रूरत पड़े, सब काम बिना किसी न नु-नच के करे; सबकी लानत-मलामत, भर्त्सना, ताने-तिसने बिना माथे पर ज़रा भी सल डाले सुनती-सहती और फिर भी वैसी ही लगन और तत्परता के साथ सबका काम करती रहे; खुद तो किसीसे अनुराग बढ़ाये ही नहीं; पर यदि घर-बाहर का कोई दुष्ट पुरुष बिना उसकी इच्छा या उसके जाने ही उसपर बुरी नज़र डाले, तो भी वही उसका दण्ड भोगे!

कैसी करुण स्थिति है यह!

(२)

इसमें शक नहीं कि इस सबके अन्दर जो कल्पना समाविष्ट है वह ऊँची और बहुत ऊँची है। इसका मूल संयम में है। इसके द्वारा विधवा के रूप में कुटुम्ब और समाज के सम्मुख—विस्तृत रूप में कहें तो विश्व-मञ्च पर—एक ऐसी व्यक्ति उपस्थित होती है, जो निजी स्वार्थ के संकुचित दायरे से निकल कर सेवा के विस्तृत दायरे को ग्रहण करती है। वह प्रेम जो अभी तक पतिपरमेश्वर में वासनामय रूप में केन्द्रित था, पति-प्रेम की ज्वाला-रूप भट्टी में तप कर और खरा बन कर अब बिलकुल शुद्ध और पवित्र रूप में अखिल विश्व के प्रेम और हित के लिए अपनी रश्मियाँ फैलाता है। जो स्त्री कल तक अपने पति की ही सेवा-टहल, आराम-सुविधा आदि में तन्मय थी, आज उसमें अनुभव प्राप्त कर उससे बड़े दायरे को और भी उत्तमता के साथ पूर्ण करने के लिए पदार्पण करती है। अब अपनेपन को मानों वह बिसार देती है, अपनी सुविधा-असुविधा आदि को वह समर्पित कर देती है, और अपनी पूर्णशक्ति के साथ अनन्त और अनवरत सेवा के लिए कमर कस कर मैदान में कूद पड़ती है। जहाँ तक मेरी कल्पना दौड़ती है, यही वैधव्य का मूल भाव है। और, मेरी नम्र-सम्मति में, वह इतना महान् एवं पवित्र है कि, महात्माजी की इस बात को ज़रा भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि, "यह विधवा-धर्म यदि लुप्त हो जाय, अथवा अपने अज्ञान और उद्दण्डता से सेवा की इस साक्षात् मूर्ति का कोई खण्डन करे, तो उससे हिन्दू-धर्म को बड़ी ठेस लगेगी।"

"पर", महात्माजी के ही शब्दों में हम कहेंगे, "ऐसे वैधव्य को सुरक्षित कैसे किया जा सकता है? दस वर्ष की कन्या का ब्याह करने वाले मा-बाप को क्या वैधव्य के पुण्य में कुछ भाग मिल सकता है? आज ब्याह कर आज ही जिस कन्या का पति मर जाय, वह क्या विधवा मानी जा सकती है? वैधव्य की अतिशयता को धर्म का नाम देकर क्या हम घोर पाप नहीं करते? ...भला जिसका मन विधवा न हुआ हो, उसका शरीर विधवा रह सकता है? और, आज ही ब्याही हुई बालिका के मन को समझ ही कौन सकता है? उसके पिता का, उसके प्रति, क्या कर्त्तव्य है? या कन्या के गले पर छुरी फेर कर उसके प्रति अपने कर्त्तव्य को वह निबाह चुका?"

महात्माजी समय समय पर इस सम्बन्ध में विचार करते रहे हैं और उन्होंने अब तक जो बातें सामने रक्खी हैं, उनके अनुसार बाल-विधवा जैसी कोई वस्तु ही न होनी चाहिए। उनका कहना है कि १५ वर्ष से पहले कन्या का विवाह ही न किया जाय, इस उम्र की या इस उम्र में ब्याहने के एक वर्ष बाद होने वाली विधवा को विधवा ही न माना जाय, और विधवाओं को अमंगल-रूप न मान कर, उनके प्रति उपयुक्त आदर-भाव रखते हुए, उनकी ज्ञान-वृद्धि के साधन जुटायें जायँ। बाल-विवाह ही नहीं बल्कि जब तक वर-कन्या को एक साथ रहने का मौक़ा न हो तब तक भी ब्याह न करने के लिए तो वह कहते ही हैं, पर साथ ही बलात् वैधव्य के भी वह विरोधी हैं, और १५ वर्ष तक की उम्र वालियों को तो वह विधवा ही नहीं मानते।

लालाजी का भी कहना है कि "जो लोग उनके पुनर्विवाह का विरोध करते हैं, उन्हें ईश्वर खुश रक्खे; किन्तु उनके इस

अंध-विश्वास के कारण समाज में इतनी बुराइयाँ फैलती हैं और इतना नैतिक तथा शारीरिक कष्ट बढ़ता है, कि वह समस्त समाज को पङ्गु कर रहा है और उसके कारण जीवन संग्राम में हमें सफलता मिलना कठिन हो रहा है।"

(५)

यदि हमारे विवाहों का ढंग ठीक होता—हमारे यहाँ बाल, वृद्ध और बेमेल विवाहों के बजाय प्राचीन ढंग के स्वेच्छया उपयुक्त जोड़ी के विवाहों का क्रम होता—और हम पुरुषों का विधुरपन भी ऐसा ही उच्च और दृढ़ बना रहता, तो बहनों का वैधव्य समझ में आ सकता था—तब वह स्वाभाविक होता और सम्भव भी होता। परन्तु आज तो हमारे यहाँ उपर्युक्त सभी दोष वर्तमान हैं उधर भौतिकवादिनी पश्चिमी सभ्यता भोग की ओर हमें घसीटे लिये जा रही है। ऐसी स्थिति में स्वेच्छया ऐसे कड़े संयम की आशा नहीं की जा सकती, और ज़बर्दस्ती का संयम में कोई काम नहीं। क्योंकि जैसा गाँधीजी ने लिखा, "बलात्कार और संयम परस्पर विरोधी वस्तु हैं। एक मनुष्य को ऊँचा उठाती है और दूसरी उसे नीचा गिराती है।" और इसलिए बलात् वैधव्य धर्म नहीं, बल्कि कुछ और ही होना चाहिए। ऐसी दशा में इसे स्वाभाविक तो कह ही कौन सकता है, और अस्वाभाविक वस्तु सदैव पापों या बुराइयों की जनक हुआ ही करती है।

विधवाओं के सम्बन्ध में तो यह बात सोलहों आने घटती है। उपर्युक्त ज़बर्दस्ती और दुर्व्यवहार के कारण आज उनकी जो हीन दशा है, उसे कौन नहीं जानता? इस सख़्ती और अपनी निराधारता के कारण चाहे वे ज़ाहिरा कुछ न कहें; पर यह सम्भव नहीं कि इसकी प्रतिक्रिया उनपर न हो। अच्छे-भले आदमी रात-दिन के ऐसे दुर्व्यवहार और स्नेह-शून्य वातावरण से पागल हो उठते हैं, बड़े-बड़े सदाचारी घर के कठोर और स्नेह शून्य व्यवहार से नीच से नीच और दुराचारी से दुराचारी बनते देखे गये हैं; तब भला स्त्रियाँ बेचारी ही क्या करें? उधर वातावरण भी तो उनकी वासनायें प्रदीप्त करने से बाज़ नहीं आता। नतीजा यह होता है कि गुप्त व्यभिचार चलता है। बड़े घरों में नौकर-चाकर या विशेष व्यक्तियों से, छोटे घरों में मालदार या चालाकों से। जादू-टोने, जन्तर-मन्तर और पूजा-पाठ के बहाने मुस्टण्डे फ़क़ीर-जोगी और महन्त-पुजारियों के साथ प्रायः उनके सम्बन्ध कुछ ऐसे ही रहते हैं। यही नहीं, घर के निकट से निकट सम्बन्धियों तक से गर्भ रहने आदि की घटनायें भी प्रायः सुनने में आती रहती हैं। और इस प्रकार बच्चों की जो दुर्दशा होती रही है, वह तो रात-दिन की घटनायें हैं। स्थिति इतनी करुण और घृण्य है कि इसपर अधिक लिखना संभव नहीं। परन्तु, वाह रे समाज, 'चुप-चुप' की नीति से इसे दबाया जा रहा है और काशी मथुरा जैसी पुण्यभूमियों को ऐसे पापियों का आश्रय-स्थान बनाया गया है!

यह स्थिति शर्मनाक है। भले आदमी इसे कैसे बर्दाश्त करते हैं, यही समझ में नहीं आता! फिर दिल्लगी यह कि आज भी बाल और वृद्ध तथा अनमेल विवाहों के रूप में ऐसी विधवाओं की संख्या बढ़ती ही जा रही है, जो शायद वैधव्य और संयम तो क्या विवाह का मर्म भी नहीं समझतीं!

यह स्थिति और कुछ चाहे हो या न हो, पर धर्म या पुण्य तो अवश्य ही नहीं है। ऐसी स्थिति में विधवा-विवाह क्या उपयोगी न होगा? जिन्होंने पतीत्व का कोई अनुभव नहीं प्राप्त किया, अथवा जिन्हें अभी लालसा बाक़ी है इसके जारी होने पर गुप्त रूप से उनका उस विषय की पूर्ति करना न बन्द हो जायगा? कम तो जरूर ही होगा। इसलिए कम से कम आज की स्थिति में यह पाप तो कहा ही कैसे जा सकता है? यदि बुराई ही हो, जैसा कि इस समय तो नहीं ही है, तो वह छोटी बुराई (Lesser Evil) होगी और उपर्युक्त बड़ी बुराई (Greater Evil) के नाश के लिए यदि हमें इस छोटी बुराई को ग्रहण करना पड़े, तो वह बुरा नहीं। अतएव सिद्धान्त-रूप में हम विधवा-विवाह को चाहे पुण्य और आदर्श न मानें; पर आज की स्थिति में, व्यवहार-रूप में, वह पाप तो हर्गिज़ हुई नहीं, और न लज्जा की ही बात है। मेरी समझ में तो इस समय यह एक मध्य-मार्ग है और, उपर्युक्त बुराइयों से बचने के लिए, रामबाण उपाय है। यदि ईमानदारी के साथ इसे ग्रहण किया जाय, तो हमारी दशा आज से कहीं अच्छी होगी।

मुकुटबिहारी वर्मा

जात-पाँत का भूत

हमारा देश आज जिस मुमुर्षावस्था को प्राप्त हो रहा है, उसके कई कारण हैं। इनमें से एक मुख्य कारण जात-पाँत और छूआ-छूत का भूत है। यद्यपि सभ्य और शिक्षित लोग "भूत-प्रेत" को नहीं मानते; और यदि कोई भूत-प्रेत का नाम लेता है तो शिक्षित-समुदाय उसकी हँसी उड़ाता है; किन्तु, इस भूत की तो उपासना वे लोग भी करते हैं! यह भूत तो सच्चा और प्रत्यक्ष है और इसने भारत को, उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक, बुरी तरह से ग्रसा हुआ है। यह भूत लाखों होनहार युवक और युवतियों को, जिनपर देश का भविष्य निर्भर है, जीवितावस्था में ही मृतप्राय बनाए हुए है और बना रहा है। इसीके कारण जुए के पाँसों की तरह लड़के-लड़कियों का विवाह कर दिया जाता है। कहीं लड़का ग्रेजुएट है, तो लड़की निरक्षर भट्टाचार्य; और कहीं लड़की योग्य हो गई है, तो उसके लायक लड़का ही बिरादरी में मिलना कठिन हो जाता है। जहाँ सुख और शान्ति का साम्राज्य होना चाहिए था, वहाँ ऐसी-ऐसी घटनाओं से, आज हज़ारों गृहस्थ दुःख और क्लेश की क्रीड़ा-भूमि हो रहे हैं। जिन युवक-युवतियों के गुण-कर्म-स्वभाव मिलते हैं, जिनके विवाह-सम्बन्ध हो जाने से कई गृहस्थ सुख के आगार बन सकते हैं, उनकी केवल जाति न मिलने से वहाँ विवाह नहीं हो पाता। बहुत से माता-पिता इस भय से कि लड़की सयानी हो जाने पर शायद अपनी जात-बिरादरी में लड़का न मिले, छोटी-छोटी दूध-मुँही बच्चियों का विवाह कर देते हैं; और जब वे बचपन में ही विधवा हो जाती हैं, उनपर समाज के निरंकुश-अत्याचारों के कारण, उनका पुनर्विवाह भी न कर सकने से जन्म-भर घर भर को दुःखी बना लेते हैं, और अपने भाग्य को कोसा करते हैं।

जीव-विज्ञान (Biology) की दृष्टि से देखा जाय, तो इससे हमारी जाति को भयङ्कर हानि पहुँच रही है। अपने ही वंश में विवाह होने से नवीन रक्त (Fresh blood), जो कि दूसरी जातियों में से आ सकता है, नहीं मिलता। इससे सन्तान अधम, नीच, निकृष्ट उत्पन्न होती है और वंश बिगड़ जाता है। नसों में नवीन रक्त-संचार न होने से मनुष्य की शक्तियाँ धीरे-धीरे क्षीण होती जाती हैं। अपने कुल के लड़के-लड़की को हमारे यहाँ जो भाई-बहन समझा जाता है, वह इसी कारण; और उसके साथ विवाह करना शास्त्रों में भी धर्म-विरुद्ध माना गया है। किन्तु, जात-पाँत का बन्धन मानने से होता क्या है? अपनी ही उपजाति में विवाह किया जाता है, दूसरी में नहीं। जैसे कायस्थों में सक्सेना, श्रीवास्तव, माथुर, भटनागर, कुलश्रेष्ठ, अष्ठाना इत्यादि १२ उपजातियां हैं; इनमें से कोई भी उपजाति वाले अपनी उसी उपजाति के दायरे में अपना सम्बन्ध करेंगे। सक्सेना कायस्थ सक्सेनों में ही अपना विवाह-सम्बन्ध करेंगे, श्रीवास्तवों में नहीं। इसी प्रकार श्रीवास्तव श्रीवास्तवों में ही विवाह कर सकते हैं, दूसरों में नहीं। केवल गोत्र का ध्यान रक्खा जाता है। मान लीजिए कि सक्सेनों में ६० गोत्र हैं, तो जाति से बाहर न निकल कर इतने छोटे दायरे में ही सम्बन्ध करने से कुछ ही वर्षों में लौट-फेर कर भाई-बहनों में ही विवाह-सम्बन्ध हो जायगा, यद्यपि वे इस बात को न जानते होंगे। उदाहरणार्थ—क, ख, ग तीन गोत्रों के नाम हैं। अब क और ख गोत्र का विवाह हुआ तो इनसे जो सन्तान होगी वह कख होगी, अर्थात उसमें क और ख दोनों गोत्रों का रक्त तथा गुण मिश्रित होंगे। फिर ख और ग गोत्र में आपस में विवाह-सम्बन्ध होगा, तो उनकी

सन्तान खग होगी। और फिर क, ग का परस्पर विवाह होगा, तो उनसे जो सन्तान होगी वह कग होगी। अब इन तीनों वर्गों में से किसी का विवाह करेंगे तो कख, खग और कग में एक चीज सामान्य (Common) होगी। सारांश यह कि यदि किसी उपजाति में केवल तीन गोत्र हों, तो उनकी दूसरी पीढ़ी में ही भाई-बहन में विवाह हो जायगा। इसी प्रकार ६० गोत्रों वाली उपजाति में १०-१५ पीढ़ी बाद भाई-बहन में विवाह हो जायगा। इस प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि इस समय हिन्दुओं में सैकड़ों वर्षों से अपनी ही जाति या उपजाति में जो विवाह होते आ रहे हैं, वे अपने ही भाई-बहनों में हुए। इससे देशमें ह्रास (Degeneration) के बढ़ते जाने से तथा दूसरी जातियों से नवीन रक्त न मिलने से हिन्दू-जाति की शक्तियों का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है; और दिनों-दिन निर्बल, बुद्धि-हीन, निकम्मी तथा रोगी सन्तान उत्पन्न हो रही है। अब प्रश्न यह उठता है कि जाति या उपजाति से बाहर—अर्थात् जाति-बन्धन को तोड़ कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या कायस्थ आदि जातियों का भी ध्यान न रख कर—सब जातियों में विवाह-सम्बन्ध करने से भी तो कभी न कभी वही बात आ जायगी। इसका उत्तर यह है कि विभिन्न जातियों में सम्बन्ध होते रहने से नित्यप्रति नवीन रक्त मिलता रहेगा और क्षेत्र इतना विस्तृत हो जायगा कि कहीं लाखों वर्षों बाद सामान्य गुण-धर्म (Common factor) के मिलने की सम्भावना होगी और तब उनमें वह रक्त न होने के ही बराबर होगा। क्योंकि भिन्न-भिन्न रक्तों के लाखों वर्षों तक सम्मिश्रण होते रहने से वह एक नवीन ही वस्तु हो जायगी।

इनके सिवाय इस भूत के कारण हमारी आज कितनी आर्थिक तथा राजनैतिक हानियाँ हो रही हैं! इसीके झूठे ढकोसले के कारण आज हजारों हिन्दू अपने समाज से ठुकराये जा कर अन्य धर्मावलम्बियों की संख्या बढ़ा रहे हैं। ब्राह्मण वेशधारी हो कर घृणित से घृणित कार्य करते रहो, सब ठीक है; किंतु असहनीय विपद में पड़ भूख-प्यास से मर रहे हो। और प्राण बचाने के लिए विवश हो नीच जाति के हाथ से एक घूँट पानी पी लिया, कि जाति-भ्रष्ट हुए! बिरादरी से निकाल दिये गये! धर्मात्मा तिलकधारी समाज की आँखों में धूल झोंक दुनिया भर के पाप करते रहें, किन्तु ऊपर से कट्टर बने रहें, वे पूज्य हैं; पर एक सत्यनिष्ठ, झूठे आडम्बरों से घृणा करने वाला, पुरुष या स्त्री खुले-आम अपने से किसी छोटी जाति में विवाह कर ले, तो उसकी जाति काफ़ूर हुए बिना न रहेगी!

इन सब बातों से आज देश की अकथनीय हानियाँ हो रही हैं। अस्तु। यदि हम अपनेको इस पतितावस्था से निकालना चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि हमारी सन्तान अधिक बलशाली, विचारवान, तीव्रबुद्धि तथा पराक्रमी उत्पन्न हो, यदि हम चाहते हैं कि हमारे गृहस्थ सद्गृहस्थ बन जायँ—वहाँ दुःख और क्लेश की जगह सुख और शान्ति का साम्राज्य हो, यदि हम चाहते हैं कि इस परिवर्तन-मय समय में हम दूसरे देशों की स्वाधीनता तथा उन्नतिशील जातियों के सन्मुख सिर ऊँचा कर सकें, तो हमें इन जाति-पाँति और छुआ-छूत के तुच्छ बन्धनों को छोड़ विवाह-सम्बन्ध करते समय केवल गुण, कर्म और स्वभाव का ध्यान रखना चाहिए। इसीमें हमारा और हमारी भावी पीढ़ियों का कल्याण है।

विद्याधर्म जौहरी

गार्हस्थ्य जीवन का रहस्य

"स्त्री भोग-विलास की सामग्री नहीं है। वह भी तुम्हारी तरह एक शरीरस्थ आत्मा है। उसके शरीर में भी तुम्हारे जैसा अन्तःकरण, मन-बुद्धि व अहंकार इत्यादि विद्यमान है। उसके हृदय में भी संकल्प-विकल्प, आशा व अभिलाषा की तरङ्गें उठा करती हैं। दैव ने तुम दोनों को समान अधिकार और कर्तव्य दिये हैं। इसे स्मरण रक्खो, और इसका आदर करो।" —आर्य आत्मा

"जिस कुल में स्त्री से पति और पति से स्त्री प्रसन्न रहती है, वहाँ सुख और सम्पत्ति की कमी कभी नहीं रहती। जहाँ स्त्रियों का सत्कार होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं; और जहां उनकी पूजा नहीं होती, वहां शुभ कार्य भी व्यर्थ हो जाते हैं।" यह भगवान मनु की आज्ञा है; धर्मशास्त्र का विधान है। गृहस्थाश्रम का विशाल भवन इसी पवित्र सूक्ति की सुदृढ़ नींव पर बना हुआ है। आर्य जाति के दीर्घ जीवन में तरह-तरह के आंधी और तूफान आये। नाना प्रकार की आपत्तियों और कठिनाइयों से उसे सामना करना पड़ा। परन्तु इसमें जहाँ तक स्त्रियों का सम्बन्ध रहा, वे कभी भी अपने धर्म और कर्त्तव्य-कर्मों को प्राण-पण से पालन करने में उदासीन नहीं रहीं। सतीत्व और पातिव्रत्य के लिए तो वे सदा से ही आदर्श रूप रहती आई हैं।

पति-सेवा स्त्रियों का परम धर्म है। एक पतिव्रता स्त्री के लिए तो उसका पति ही सर्वस्व है। वह अपने पति के सिवाय और किसी को जानती ही नहीं। पति से अलग अपने लिए कोई यज्ञ, तप, व्रत, ध्यान और तीर्थ इत्यादि समझती ही नहीं। वह अपने पतिदेव को ही एकमात्र आराध्यदेव मानती आई है। पति-सेवा में ही वह अपनी मुक्ति और सद्गति मानती रही है। उसका पति चाहे कैसाही अयोग्य, कुमार्गी और बुरे स्वभाव वाला क्यों न हो, और उससे उसे कैसा और कितना ही घोर कष्ट और अपमान ही क्यों न सहना पड़ा हो, पर वह उसके लिए सदा सर्वोपरि और पूज्य रहा है। दूसरे पुरुष की कामना कैसी उसने कभी इस सम्बन्ध में अपने हृदय में विचार भी उठने का अवसर नहीं आने दिया। और पति के मरने पर वह बड़ी श्रद्धा और भक्ति-भाव से या तो उसके साथ ही आप भी सती हो जाती या जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रहने में ही अपनी प्रतिष्ठा समझती।

इतना ही नहीं हम में से अनेक ऐसी साध्वी और धर्मशीला देवियाँ हुई हैं, जिन्होंने अपने पति के दुःख को देख कर खुद भी सहर्ष दुःखी रहने में ही अपना सुख समझा। कुरुराज महाराज धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे। सती गान्धारी का विवाह उनके साथ हुआ। देवी ने विवाह होते समय ही अपनी आँखों पर भी पट्टी बाँधली और परमेश्वर की आराधना करते हुए यह प्रतिज्ञा की कि "अब मैं अपनी इन आँखों से इस संसार को नहीं देखूंगी और अपने पति को अन्धा समझ कर उनके प्रति अपनी भक्ति और सेवा—शुश्रूषा में किसी प्रकार की कमी न होने दूंगी।" आह! कैसी वीर और कठोर प्रतिज्ञा है और किस प्रकार की पति-निष्ठा है। सती गान्धारी ने अपनी इस कठोर प्रतिज्ञा को किस प्रकार पालन किया, यह महाभारत और अन्य इतिहास के विज्ञ पाठकों से छिपा नहीं। क्या भारत-ललनाओं के सिवाय कोई ऐसा साहस कर सकता है?

महारानी गान्धारी को आज पाँच हजार वर्ष का समय हो गया। इस दीर्घ काल में देश और जाति के आदर्श और उद्देश्य में अनेक उथल-पुथल होना स्वाभा-

विक है। परन्तु क्या कोई यह कहने का साहस कर सकता है कि हम आर्य महिलाओं के इस परम-पुनीत धर्म और आदर्श में भी कोई अन्तर हुआ है? सती गान्धारी के समान स्वभाव और चरित्र की देवियाँ अब भी—इस गये-गुज़रे समय में भी—मौजूद हैं। सती होने की रस्म सरकारी आज्ञा से बन्द कर दी गई है; परन्तु अब भी शायद ही कोई ऐसा वर्ष होता होगा, जब देश में सती होने के दो-चार समाचार सुनाई न पड़ते हों।

हमें अपनी इस स्थिति पर हर्ष और अभिमान है और हम अपनी इस कीर्त्ति की रक्षा की हृदय से कामना रखती हैं। लेकिन, इसके साथ ही, हम यह भी चाहती हैं कि पुरुषों को भी अपने धर्म और कर्तव्य की ओर यथेष्ट ध्यान देना चाहिए। एक तरफ़ की बात सदा पूरी नहीं पड़ती। एक किनारे की नदी कहीं नहीं बही। ताली दोनों हाथों से बजती है। हर-एक बात अपनी सीमा के अन्दर ही मर्यादित रहती और शोभा को प्राप्त होती है। मनु भगवान ने जहाँ स्त्रियों के लिए पातिव्रत्य की आज्ञा दी है, वहाँ पुरुषों को भी खुले और ज़ोरदार शब्दों में पत्नीव्रत होने को कहा है। पातिव्रत्य-धर्म का माहात्म्य स्त्रियों के लिए ठीक इसी प्रकार है, जैसे पुरुषों के लिए पत्नीव्रत का महत्व।

निस्सन्देह एक पत्नी के लिए अपने पति की ही पत्नी होना उसी प्रकार अनिवार्य है, जिस प्रकार कि एक पति को एकमात्र अपनी पत्नी का ही पति होना। इसके विरुद्ध व्यवहार करना दोनों के लिए अनुचित अधर्म और पाप है।

यह है हिन्दू-शास्त्र का विधान; मनु-संहिता की आज्ञा। इसके अतिरिक्त विवाह के समय वर-वधू की प्रतिज्ञायें होती हैं। उनमें एक प्रतिज्ञा में वर कहता है—"हे प्रिये, मैं तेरे हाथ को ग्रहण करता हूँ। तू धर्म से मेरी पत्नी है और मैं धर्म से तेरा पति हूँ। तेरा हृदय मेरा हृदय है और मेरा हृदय तेरा हृदय है। ये दोनों हृदय जल के समान शान्त और मिले हुए रहेंगे। हम दोनों मिलकर घर के कामों को सिद्ध करेंगे और जो दोनों का अभिचाराचरण कर्म है, उसको कभी न करेंगे।"

यह प्रतिज्ञा यज्ञशाला में बैठे हुए अनेक विद्वानों और वर-वधू दोनों पक्ष के मान्य सम्बन्धियों के सामने, अग्नि और देवता को साक्षी करते हुए, की जाती है। यह प्रतिज्ञा कैसी पवित्र, कितनी भावपूर्ण और न्याययुक्त है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। पर इसका प्रभाव वर के हृदय में कब तक और कहाँ तक रहता है, यह भी अप्रकट नहीं है। विवाह के बाद कुछ समय तक—चाहे वह किसी भी दृष्टि से हो—नववधू का अच्छा आदर-सत्कार रहता है; परन्तु चार दिन की चाँदनी के पश्चात् फिर वही अन्धेरी रात! वही आपाधापी! न प्रतिज्ञा का खयाल, न मनु-आज्ञा की पर्वाह। क्या कोई कह सकता है कि हम अपने पत्नीव्रत धर्म का ठीक उसी तरह पालन करते हैं, जिस तरह स्त्रियां अपने पातिव्रत्य धर्म का? क्या पुरुषों के हृदय में स्त्रियों के प्रति वैसे ही आदर, प्रेम और सद्भाव हैं, जैसे कि स्त्रियाँ अपने व्यवहार और चरित्र से प्रकट कर रही हैं? मैं इन प्रश्नों का उत्तर अपनी ओर से कुछ नहीं देना चाहती। प्रत्येक पुरुष को स्वयं इसका जवाब देकर अपनी आत्मा को सन्तुष्ट कर लेना चाहिए। मैं यह नहीं कहती कि सभी स्त्री-पुरुष एकसे होते हैं। पूज्य और निकृष्ट उदाहरण उभयपक्ष में मिल सकते हैं। पर मैं यहाँ पर सर्वसाधारण की ही बात करती हूँ, आदर्श पति व पत्नी पर विचार नहीं करती।

स्त्री और पुरुष मानव समाज के दो स्वतन्त्र अंग हैं। इन दोनों की प्रकृति में कुछ विभिन्नता और विषमता होते हुए भी बड़ी अद्भुत समानता है और ये

दोनों मिल कर एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्पन्न किये गये हैं। इनमें से कोई एक दूसरे से बुद्धि, योग्यता और सामर्थ्य में कम नहीं है। सृष्टि-कर्त्ता परमात्मा ने दोनों को समान अधिकार दिये हैं। ये प्रत्येक अपनी-अपनी आत्मा और अन्तःकरण इत्यादि रखते हैं और अपने स्वाभाविक मनुष्य-जीवन के उद्देश्यानुसार हरएक मोक्ष-मार्ग के यात्री हैं और स्वभावतः ही एक उचित सीमा तक स्वाधीनता चाहते हैं। क्या स्त्रियों के लिए केवल पातिव्रत्य धर्म का पालन करना ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए पर्याप्त होगा ? क्या एकमात्र पति की आज्ञा मान कर ही वे मुक्ति की अधिकारी समझी जा सकेंगी और उन्हें ईश्वर तथा अपनी आत्मा की आज्ञाओं का पालन करने की आवश्यकता नहीं ? यह बात धर्मानुकूल और न्याय-संग। नहीं प्रतीत होती।

ईश्वर, आत्मा, देश, धर्म, जाति इत्यादि स्त्रियों के लिए भी ठीक उसी प्रकार हैं, जैसे पुरुषों के लिए। जिस प्रकार पुरुष को ईश्वर-आराधना, देश-सेवा इत्यादि पवित्र और सार्वजनिक हित के कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता है, उसी प्रकार स्त्री भी इन मामलों में पूर्णतया स्वाधीन है। यदि पति की इच्छा ईश्वर अथवा आत्मा की आज्ञाओं के प्रतिकूल हो, तो उसका पालन करना एक पतिव्रता स्त्री के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि पाप और अधर्म है और उसका पालन न करने से उसका पातिव्रत्य-धर्म नहीं बिगड़ता। उसे पूर्ण अधिकार है कि वह वही करे, जो उसकी आत्मा और कर्त्तव्य-बुद्धि आज्ञा दे। इस काम में चाहे उसका पति प्रसन्न हो अथवा अप्रसन्न, उसे तनिक भी पर्वाह न करनी चाहिए। मीराबाई जैसी अनेक धर्मवीर माताओं के विमल चरित्र हमारे लिए पथ-प्रदर्शक हैं।

पति की आज्ञाकारिणी होने का यह अर्थ नहीं है कि उसकी उचित और अनुचित प्रत्येक बात ही मान ली जावे। एक सच्ची पतिव्रता अर्द्धाङ्गिनी या सहधर्मिणी बनने वाली देवी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने सत्परामर्श और मनुष्योचित कर्त्तव्य-बुद्धि से उसे सहायता दे और उसे सन्मार्ग पर लावे। अन्यथा वह अपने पति की क्रीतदासी हो सकती है, पतिव्रता पत्नी और मंगलकारिणी मित्र तथा सखी और स्वार्थ-रहित सहायक नहीं। परन्तु यह तभी सम्भव है, जब उसमें काफी विद्या और शिक्षा हो और उसे पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

देश, धर्म और मनुष्य-जाति के प्रति अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक नर-नारी का समान कर्त्तव्य है। हां, यदि कर्त्तव्य-कर्मों में कभी गृहस्थ के कर्त्तव्यों के साथ टक्कर हो जाय, तो देश और मनुष्य-जाति के हित का विचार रखना ही सच्चा मानुषिक धर्म होगा।

हां, एक बात और कही जाती है; वह यह कि स्त्री का विवाहिता होना आवश्यक है, बिना पति के उसकी गति नहीं होती। मैं इसे नहीं मानती। हमारे धर्मशास्त्र में इस प्रकार की कोई बात नहीं है। वेद भगवान् की आज्ञायें स्त्री-पुरुषों के लिए समान हैं, वैदिक धर्म किसी विशेष जाति या वर्ण का पक्षपाती नहीं है। जिस प्रकार कोई पुरुष अविवाहित या बाल-ब्रह्मचारी रह कर किसी उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए अपना जीवन बिता देता है, और उसकी कुगति नहीं होती, उसे कोई बुरा नहीं कहता, बल्कि उसका जन्म सफल समझा जाता है, देश और जाति उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक स्त्री के लिए भी यह अनिवार्य नहीं है कि वह विवाहिता हुए बिना किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उद्योग न कर सके। प्राचीन भारत में गार्गी जैसी अनेक ब्रह्मवादिनी स्त्रियां हुई हैं, जो आजन्म बाल-

ब्रह्मचारिणी भी रहीं। अब भी कोई हो, तो बड़े अभिमान की बात है।

मनुष्य-जीवन का मूल्य उसकी उच्च सेवाओं और उपयोगी कार्यों पर निर्भर है। घर के भीतर भी न पत्नी का एकमात्र काम पति को आनन्दित रखना ही है, और न पति का काम केवल अपनी पत्नी को सुखी रखना ही है। वस्तुतः पति-पत्नी का पवित्र सम्बन्ध सृष्टि-क्रम के अनुसार एक प्रकार की मैत्री, एकता, समता, प्रेम और पारस्परिक आनन्द है, जिसके द्वारा यह मानवी जीवन-यात्रा निर्विघ्न और सुख-पूर्वक समाप्त हो और अन्त को परमानन्द प्राप्त किया जावे। *

(स्व०) कुन्तीदेवी

शिल्पी

१

भग्न कुटीर

उषा की मंद मुस्कान से जगत में प्रकाश हो चला था। प्रभात-समीरण के झकोरों से निकटवर्ती विटपों के पत्र धीरे-धीरे हिल रहे थे। विहंग-वृन्द मुदित होकर 'उपपुर' भग्न कुटीर के खंडहरों को गुँजा रहे थे। युवक की भग्न कुटीर पर अब भी ओस के मोती बिखरे हुए थे। उसने अपने हाथ का चित्रपट धीरे से पृथ्वी पर रख कर कुटी के बाहर देखा। मार्ग पर कभी-कभी कोई पथिक गुनगुनाता हुआ निकल जाता था। इसके अतिरिक्त चतुर्दिक शांति थी।

कुटी की भीत कई स्थान पर गिर गई थी। छत भी, स्थान-स्थान से टूटी होने के कारण, कुटी में सूर्य का आह्वान करती थी। अंदर इधर-उधर कई बने और अधबने चित्र पड़े थे। युवक के पास ही संगमरमर की दो-एक छोटी मूर्तियां रक्खी थीं।

उसने चित्रपट की ओर स्नेहाभिषिक्त दृष्टि से देखते हुए धीरे से कहा—'माया!' किसी ने उत्तर दिया—'शिल्पी! क्या कर रहे हो?' सामने से एक चपल बालिका उसकी कुटी में चली आई।

"क्यों जालौक, तुमने मेरा नाम लेकर क्यों आवाज दी?"

"चपल बालिका, तुम इसका कारण नहीं समझ सकतीं।"

"यह चित्र किसका है—मेरा?"

"हाँ।"

"तब मुझे दे दो।"

"माया, आज तुम बहुत शीघ्र चली आई हो। तुम्हारे पिता तो रुष्ट न होंगे?"

"नहीं शिल्पी, आज हम राजधानी चलेंगे। उन्होंने आज्ञा दे दी है।" बालिका शिल्पी का हाथ पकड़ कर उठाने लगी।

"चलो जालौक, आज हम माधवी के कुँजों में भ्रमर-गुंजार और पक्षियों का कलरव सुनेंगे। कुछ दिन और चढ़ने पर पाटलिपुत्र चलेंगे।"

युवक उठ कर बालिका के साथ हो लिया। माया इधर-उधर से पुष्प तोड़ कर अपने कान हाथ और सिर पर धरने लगी। फिर उसने युवक का फूलों के अलङ्कार बना कर पहनाना आरंभ किया।

"यदि जालौक तुम चित्र बनाना छोड़ दो और पिताजी की तरह मौन को मथ कर भांति-भांति की मछलियां पकड़ा करो, तो मैं तुम्हारे साथ विवाह कर लूँ।"

युवक ने चौंक कर बालिका का हाथ छोड़ दिया और कहा—"देखो माया, ऐसी बातें न किया करो। पिताजी सुनेंगे तो नाराज होंगे।"

* श्री आनन्दभिक्षुजी द्वारा प्राप्त।

बालिका यह सुनकर खीझ उठी। उसने अपने सब अलङ्कार फेंक दिये और एक लता से लिपट कर सिसकने लगी। शिल्पी कुछ देर तक सोचता रहा, फिर उसने बालिका का हाथ पकड़ कर कहा—"उठो, माया तुम बनदेवी बनो। मैं बंशी बजाऊँगा।"

× × ×

२

राजधानी

"धीवर-कन्या चलो उस ओर चलें।"

"नहीं शिल्पी, उधर देखो। कितनी अच्छी सीपियां हैं! यदि मैं सागर-तट गई तो खूब सीपियां बटोरूंगी।"

"देखो माया, उस मनुष्य के पास कितने सुंदर मोर-पंख हैं!"

नगर के चौड़े राजपथ मनुष्यों की भीड़ से सागर की भांति उमड़ रहे थे। जब भीड़ किसी एक ओर या दूसरी ओर झुकती तो वह सागर हिलोरें लेता हुआ प्रतीत होता।

राजपथ के दोनों ओर बड़े-बड़े धनी वणिक मणि, मुक्ता और बहुमूल्य वस्त्रों की दूकानों पर बैठे थे। नीचे पथ पर अनेक विक्रेता भांति-भांति की वस्तुयें सजाये बैठे थे। श्वेत वस्त्र पहने और गलों में पुष्प-हार डाले हुए नागरिक इधर-उधर चले जा रहे थे।

राजधानी में आकर बनदेवी और बनदेवता नगर का ऐश्वर्य निरखने लगे। शिल्पी ने कई विक्रेताओं के यहाँ जाकर चित्र देखे। धीवर-कन्या ने बड़ी और छोटी मछलियों को देखकर अपनी सम्मति प्रकट करनी आरम्भ की।

अचानक ही जयध्वनि से राजपथ गूँज उठा—'सम्राट् आ रहे हैं!' शिल्पी ने कहा, 'चलो माया, उस दूकान में चित्र देख लें। यहां भीड़ बहुत हो रही है।'

'नहीं जालौक, मैं तो सम्राट् को देखूँगी। तुम जा सकते हो।'

राजसेवक आकर भीड़ को ठेलने लगे। शीघ्र ही उन्होंने पथ को साफ़ कर दोनों ओर रस्से तान दिये, जिससे कि कोई मनुष्य बढ़ न सके।

जालौक ने सिर उठा कर देखा, माया वहाँ पर न थी। घबरा कर उसने पुकारना आरम्भ किया, किंतु कोई फल न हुआ।

फिर जयध्वनि हुई। अपनी शरीर-रक्षक सेना से घिरे हुए सम्राट् एक सुवर्ण-यान पर चढ़े हुए निकल गये।

शिल्पी बहुत घबरा गया था। पाटलिपुत्र जैसे विशाल नगर में माया कहाँ मिलेगी? उसने नागरिकों से पूछना आरम्भ किया, "क्यों भाई, तुमने फूलों से लदी किसी बालिका को देखा है?" चारों ओर घूमते-घूमते शिल्पी बहुत थक गया। वह बिना किसी लक्ष्य के इधर-उधर दौड़ रहा था। अन्त में प्यास से व्याकुल होकर उसने नदी की ओर प्रस्थान किया।

× × ×

पिपासा शान्त होने पर युवक को कुछ चेतना आई। एक नाविक ने उससे पूछा—'उपपुर चलना है?' शिल्पी ने सिर हिला दिया—'वहीं सही।'

राजनगर के विशाल भवन धीरे-धीरे नेत्रों से ओझल होते गये। सोन के वक्ष पर एक-दो मयूर-मुखी नौकायें विचर रही थीं। राजधानी स्वप्न की भांति अदृश्य हो रही थी। सूर्य भगवान अस्ताचलगामी हो चुके थे। उनकी कतिपय नटखट किरणें आ कर सोन के जल से आँख-मिचौनी खेलने लगीं। शीतल वायु के स्पर्श से शिल्पी के वस्त्र हिलने लगे। दिन भर की घटनायें उसे किसी झूठे कवि की कल्पना सी ज्ञात हुईं।

नाविक पूछ रहा था—'किधर उतरियेगा?'

शिल्पी चौंक पड़ा । बोला—"यहीं उतार दो।"

सन्ध्या की शीतल वायु की थपकी खा कर युवक सोन के ठण्डे बालू पर लेट गया ।

× × ×

३

सोन के तट पर

"जालौक, जालौक !"

युवक उठ कर बैठ गया । उसने स्वप्न देखा था कि एक बड़ा भारी राक्षक माया को खाने के लिए आ रहा है, और वह उसे पुकार रही है ।

फिर आवाज़ आई—'जालौक !' शिल्पी ने क्रोध से खड्ग खींच लिया । चारों ओर शान्ति थी । आकाश से हँस-हँस कर चन्द्रदेव पृथ्वी पर अपनी शुभ्र ज्योत्सना बखेर रहे थे । कुछ ही दूर पर छाया-सी हिल रही थी ।

जालौक ने जाकर देखा, सुंदर वस्त्र पहने हुए एक नवयुवक माया के हाथ पकड़ कर यह कहते हुए उसे झकोर रहा है—"बुला न जालौक को ! कुबेर को छोड़ कर किस भिखारी के गले पड़ी है ? वह तो तुझे कौड़ी भर भी नहीं पूछता ।"

आँसू टपकाते हुए माया ने कहा—"झूठ है, बिल्कुल झूठ ।"

"तब बुला न उसे !"

"मैं आ गया !" कह कर किसी ने युवक के कंधे पर हाथ रक्खा—"इधर देखो ।"

"कौन ?"

"मैं हूँ जालौक; मेरा स्मरण कर रहे थे ?"

"क्या मृत्यु बहुत प्यारी है ?"

"यह तो अभी पता लग जायगा । तुम कौन हो ?"

"मैं विख्यात धनी रविगुप्त का पुत्र शशिमित्र हूँ ।"

"अच्छा तो वणिक और शिल्पी का युद्ध सही ।"

जालौक इस समय बड़ा गम्भीर हो गया था । वह सूखी हँसी हँस कर बात करता था । दिन भर की वेदना ने उसे एक विचित्र शक्ति दे दी थी ।

पल मारते उसका खड्ग शशिमित्र का वक्ष पार कर गया ।

"ठीक तो यही होता कि दूकान का हिसाब बनाते !"

शशिमित्र ने गिरते-गिरते धीरे से वंशी निकाल कर बजा दी ।

माया जालौक से लिपट कर रो रही थी । इतने ही में कई अश्वारोहियों ने चारों ओर से दोनों को घेर लिया । जालौक ने युद्ध करने का प्रयत्न किया, परंतु माया उसकी बाहु पर लटकी थी । अश्वारोही जालौक को अच्छी तरह से बाँध कर राजनगर की ओर ले गये ।

माया मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी और वहीं पड़ी रह गई ।

× × ×

४

बन्दी

जालौक रात्रि में ही पाटलिपुत्र के कारागार में डाल दिया गया था । उसे तनिक भी निद्रा न आई। वह सोचता रहा कि माया की क्या दशा हुई होगी ।

प्रातःकाल ही उसे समाचार मिला कि सम्राट् न्याय करेंगे । जालौक अपनी विचार-धारा में लीन था, किंतु पास के रक्षकों की बात सुन कर चौंक पड़ा । और ध्यान लगा कर सुनने लगा—

"सुनो जी, आज सम्राट् कोशाम्बी के अमात्य से मिलेंगे ।"

आलोक ने एक रक्षक को अपने पास बुलाया और उसे कुछ 'पण' देते हुए कहा—"इनमें तुम पुष्प-हार लेकर पहनना, अथवा माधवी वा कादंब पी लेना। यह मुद्रिका कोशाम्बी के अमात्य के पास पहुँचा दो।"

रक्षक ने प्रसन्न होकर 'पण' अपने उत्तरीय में बांध लिया और मुद्रिका लेकर बाहर चला गया।

× × ×

संसार कितना परिवर्तनशील है! रात्रि में बंदी होकर कारागार में रक्खे गये। रक्षकों के दुर्वचन सुने। पर प्रभात ही राजकुमारों की भाँति दास-दासियों-सहित राजनगर के पथ गुंजा दिये!

मुद्रिका देखते ही अमात्य पहचान गया। रक्षक को आसव पीने के लिए और बहुत से 'पण' मिल गये। अमात्य ने जाकर सम्राट् से कहा कि 'कोशांबी के राजकुमार कारागार में हैं।'

कुछ ही पल के उपरांत पाटलिपुत्र राजकुमार की जयध्वनि से गूंज उठा।

आलोक बड़ी उत्सुकता से सोच रहा था कि यहां से छूटें तो उपपुर जावें।

× × ×

४

अनंत के पथ पर

माया का हृदय क्षत-विक्षत हो गया। उसकी आशाओं पर तुषार पड़ गया। उसने रात्रि बड़े कष्ट से व्यतीत की। एक के उपरांत दूसरा नक्षत्र अन्त-रिक्ष में विलीन हुआ। जब मलिन मुख चन्द्रदेव मेघमाला में अपना मुख छिपा कर भागने लगे, तब बालिका को कुछ चेतना आई।

माया बिना किसी भय के फिर पाटलिपुत्र आई, राजधानी में कुहराम मचा था। नागरिक सुन्दर वस्त्र पहन कर राजपथों पर टहल रहे थे। कुछ ही देर में एक रूपवान युवक अश्वारूढ़ हुआ अनेक सेवकों के साथ पथ से निकला। नागरिकों ने जयध्वनि की—

'राजकुमार आलोक की जय!'

माया ने सिर उठाकर देखा। सचमुच उसी का आराध्य-देवता शिल्पी राजकुमार था!

माया मग्न हो गई। उसके मुख से एक भी शब्द न निकला। उसकी रही-सही आशायें भाग्य-चक्र के एक ही प्रहार से चूर-चूर हो गईं। कहाँ वह राजा और कहाँ यह भिखमंगी!

माया एक ओर को चल दी। उसे न दिशा का ज्ञान था, न देश का। उसका लक्ष्य केवल एक था, 'अपनी भग्न आशाओं से दूर भागना।' किंतु कभी कोई अपने हृदय से दूर भी भागा है? उसकी वेदना निरन्तर बढ़ती गई। 'भग्न-कुटीर' 'सोन-तट' 'धीवर-कुटी' आदि होती हुई वह वन में पहुँच गई। वहाँ भी उसका केवल एक लक्ष्य था। 'हृदय की वेदना' से दूर भागना। माया ने समझा, 'वह मृग-तृष्णा की ओर जा रही थी; अब उससे बची है।' परन्तु यह उसकी भूल थी।

वह समझी कि 'वह एक छाया के पीछे दौड़ रही थी। अब उलटी लौट रही है।' किन्तु वह दीन बालिका अनंत के पथ पर अग्रसर हो रही थी। न जाने उसके भ्रमण का कब अन्त होगा! वन के विटप पक्षी, भ्रमर और पुष्प उसके दुखों को सभवतः कम कर सकें!

× × ×

कुछ दिन चढ़ने पर उपपुर के निवासियों ने देखा कि राजकुमार 'आलोक' बड़े व्याकुल होकर इधर-उधर घूम रहे हैं!*

प्रकाशचन्द्र गुप्त

---

* बंगला से?

कुटुम्ब-प्रणाली और मानवी सुख

सुख की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक होती है। आजकल भी सुख-वृद्धि के उपाय सोचने में मनुष्य तन्मय है। भारतीय सुख-चिन्तकों के मार्ग में अब एक नयी समस्या आ उपस्थित हुई है। वे पूछते हैं कि सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली मनुष्य को अधिक सुखदायी है अथवा वैयक्तिक कुटुम्ब-प्रणाली ? जिस भारतवर्ष में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में ही मानव-जीवन का एक-मात्र सिद्धांत रहा हो, उसमें इस प्रश्न का उठना कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं।

परन्तु मानव-समाज एक विचित्र रहस्य है। काल का बृहत् चक्र अपनी लीला का प्रदर्शन सबसे अधिक यहीं करता है। कहां तो भारतवासी समस्त भूमण्डल को भी अपना कुटुम्ब मान कर सन्तुष्ट नहीं होते थे, कहां आज यह प्रश्न उपस्थित है कि भाई को भाई के साथ रहना उचित है या नहीं ? पिता अपने प्राणों से भी प्यारे पुत्र को साथ रक्खें या न रक्खें ?

इस प्रश्न का लक्ष्य है मानव-जीवन का सुख। यदि यह दार्शनिक सुख है, जिसकी ओर भी संकेत हो सकता है, तब वह सुख कौटुम्बिक जीवन में, चाहे वह सम्मिलित हो अथवा वैयक्तिक, प्रायः असंभव ही सा है। इसलिए उसकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। अब संभवतः सांसारिक सुख ही इसका लक्ष्य हो सकता है। परन्तु सांसारिक सुख की कल्पना एक कुटुम्ब-विहीन के लिए ठीक वैसी ही है, जैसे कि एक बांझ के लिए पुत्र-स्नेह। जिसके घर में वयोवृद्ध पुरुषों का अभाव हो, जिनको माता के समान स्नेह करने वाली देवियों के दर्शन दुर्लभ हों, जिसका हृदय कुटुंब के प्रेम से परिपूर्ण न हो, वह चाहे जितना धनवान हो और चाहे जितना बलवान, उसके लिए वह परम सुख, जिसका अनुभव करने के लिए यथार्थ में मनुष्य का जन्म होता है, प्रायः अलभ्य है।

धन और ऐश्वर्य ही केवल जीवन के सुख के निर्माणकर्ता नहीं हैं। न जाने कितने राजा महाराजा अमित धन और ऐश्वर्य से संयुक्त होते हुए भी अत्यन्त दीन देख पड़ते हैं। न जाने कितनी रानियाँ पुत्रहीन होने ही के कारण अपनेको एक महा-दरिद्री से भी अधिक दीन समझती हैं। धन जीवन की सुविधायें तथा आमोद-प्रमोद अवश्य मोल ले सकता है, परन्तु जीवन का सच्चा सुख धन की सीमा के परे है। धन के प्रशंसक विद्वानों ने भी "सर्वेगुणाः काञ्चन माश्रयन्ती" ही कह कर छोड़ दिया है। इससे आगे बढ़कर "सर्वे सुखाः काञ्चन माश्रयन्ती" कहने का साहस वे भी नहीं कर सके हैं। सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा केवल धनोपार्जन की ही दृष्टि से अवाञ्छनीय हो सकती है, परन्तु केवल धनोपार्जन ही तो मानव-जीवन का ध्येय नहीं है। जीवन की सुविधायें कुछ और वस्तु हैं, किन्तु जीवन का सुख कुछ और। अंकित धन और बल सुविधाओं का स्रोत भले ही हों, पर सुख के लिए तो किसी और ही वस्तु की आवश्यकता है। क्योंकि, यदि धन ही मानव-जीवन के सुख का एकमात्र साधन होता, तो एक परम-स्नेही मित्र की अपेक्षा एक स्नेह-शून्य धनिक से मिलकर ही मनुष्य को अत्यन्त प्रसन्नता होती। परन्तु दैनिक जीवन में तो क्रम इसके विपरीत ही पाया जाता है।

वास्तव में वैयक्तिक जीवन का विचार पश्चिम में उदय होता है, जहाँ का निवासी यदि भोजन एक स्थान पर करता है तो सोने प्रायःमीलों दूर जाता है—यदि दिन भर काम एक जगह पर करता है तो आमोद-प्रमोद के लिए कोसों अन्यत्र जाता है! यहां तक कि यदि किसी आत्मीय से भेंट भी करनी होती है, तो समय-निर्धारण किसी क्लब या होटल में ही

करना पड़ता है। क्या ऐसे गृह-हीन जीवन को भी गृहस्थ-जीवन कह सकते हैं? वहां तो न पिता का पुत्र से सम्बन्ध है, न भगिनी का भाई से। यदि कुछ भी चिंता है तो बस अपनी या अधिक से अधिक अपनी प्रेयसी की। वह भी प्रायः नहीं के तुल्य—क्योंकि, वहां प्रायः इस पवित्र बन्धन का भी मूल प्रेम की अपेक्षा धन और वैभव ही हुआ करता है।

भला इस स्वार्थ-पूर्ण पाशविक जीवन में वे निःस्वार्थ ऊँचे आदर्श जो प्रत्येक भारतवासी के सन्मुख उसके जन्मकाल से ही रक्खे जाते हैं, कैसे समाविष्ट किये जा सकते हैं?

एक वैयक्तिक कुटुम्ब की रमणी कई बालकों की जननी भले ही बन जाय, परन्तु क्या वह सचमुच माता कहलाने की अधिकारिणी हो सकती है? सम्भव है, यह प्रश्न विपक्षियों को चकित कर दे। परन्तु वह जननी जो इस सिद्धांत की मानने वाली है कि जहाँ बालक जरा बड़ा हो गया कि उसे पशु-पक्षियों की भांति पृथक् कर देना ही उचित है, अपने हृदय में—अपने स्वार्थपूर्ण हृदय में—माता का वह अमित प्रेम कैसे धारण कर सकती है, जो एक भारत-रमणी के हृदय में रत्न के तुल्य विराजमान होता है—भारत रमणी, जो अपने बालक की रक्षा केवल इसी लोक में करके सन्तुष्ट नहीं होती वरन परलोक में भी जिसकी यही चिराभिलाषा रहती है कि अपनी सन्तति को सुखी देखे। जिसका सरल हृदय अपरिमित स्नेह का आगार नहीं है, जहाँ अगाध ममता नहीं है वह हृदय क्या मातृत्व का अभिमान कर सकता है? जिस जीवन की जड़ ही स्वार्थ पर है, अपना सुख ही जहाँ जीवन का सिद्धांत है, उसे वैयक्तिक कुटुम्ब कहते हैं।

यह माना कि वैयक्तिक जीवन का तात्पर्य कुटुंब के प्राणियों से विरोध कर लेना नहीं है; परन्तु तोभी यह तो मानना ही पड़ेगा कि अलग रह कर हृदय में वह स्नेह कदापि नहीं रह सकता, जो सम्मिलित जीवन में होता है। स्नेह के लिए सहवास उतना ही आवश्यक है, जितना कि एक कोमल पौधे के लिए जल और थल।

सम्मिलित कुटुंब-प्रणाली पर यह आक्षेप कि वह मनुष्यों को पुरुषार्थ-विहीन बना देती है, निरा मिथ्या है। ऐसा कहने वालों से मैं यह पूछता हूँ कि लक्ष्मण और भरत का राम के लिए वह आत्म-त्याग क्या वैयक्तिक जीवन की शिक्षा के द्वारा भी उत्पन्न हो सकता था? भीम और अर्जुन की युधिष्ठिर में वह असीम श्रद्धा क्या वैयक्तिक जीवन की शिक्षा के द्वारा भी उत्पन्न की जा सकती थी?

केवल प्राचीन इतिहासों के पन्नों में ही ऐसे उदाहरण नहीं हैं वरन आजकल भी भारतवर्ष में भगिनी का भाई के प्रति तथा भाई का भाई के प्रति जो पवित्र और निस्पृह प्रेम देख पड़ता है वह अन्यत्र यदि दुर्लभ नहीं तो असुलभ तो अवश्य है।

यह सब कुछ होते हुए भी इतना तो मानना पड़ेगा कि सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा जो एक उच्च आदर्श पर स्थित थी आजकल अपने लक्ष्य से कुछ पतित अवश्य हो गई है। परन्तु इसमें अचरज ही क्या है? वास्तव में यदि देखा जाय तो एक यही क्या सभी व्यवस्थायें अपने अपने उच्चादर्शों से पतित हो रही हैं। यही कारण है कि जीवन की विपत्तियाँ इतनी कठिन होती जाती हैं।

परन्तु जब यह निर्विवाद है कि सम्मिलित जीवन का आदर्श अत्यन्त उच्च और महत्वपूर्ण है, तथा यही मानव-जीवन की पाशविक जीवन से विशेषता है, तब ऐसी प्रथा का सुधार न करके उसका बहिष्कार कर देना कहाँ तक उचित है? इसका निर्णय पाठक स्वयं कर सकते हैं।

चमन्लाल

श्री सीताजी

श्री सीताजी मिथिला देश के महाराज जनक की पुत्री, अयोध्या के महाराज दशरथ की पुत्र-वधू तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी की पत्नी थीं। यह अपने समय की अपूर्व रूप-लावण्यवती, परम सुन्दरी और अद्वितीय बुद्धिमती तथा सुशीला नारी थीं। महाराज जनक की हार्दिक इच्छा थी, कि सीताजी के लिए इनके उपयुक्त ही परम सुंदर महान योद्धा, कुलीन, सुशिक्षित तथा सर्वगुण-संपन्न वर प्राप्त हो। इसीलिए उन्होंने सीताजी का विवाह करके स्वयंवर रचा।

उन्होंने एक बड़ा भारी धनुष-यज्ञ किया। उसमें सभी देशों के नामी-गिरामी प्रसिद्ध तथा प्रतिष्ठित राजे-महाराजे आमन्त्रित किये गये थे। महाराज के यहाँ शिवजी का एक बड़ा भारी धनुष था। उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी, कि जो इस भारी धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर इसे ऊपर ले जाकर तान देगा उसी के साथ मैं सीता का विवाह करूँगा और वह आदमी त्रिभुवन-विजयी समझा जायगा।

सभी राजा उस धनुष को चढ़ाने के लिए उद्यत हुए, किन्तु वह जमीन पर से भी उठता नहीं था। जब सभी राजा थक कर बैठ गये, तब श्रीरामचंद्रजी उठे। उन्होंने बात की बात में धनुष को चढ़ा ही नहीं दिया, बल्कि उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इस बात से महाराज जनक बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के साथ सीताजी का विवाह कर दिया। रामचन्द्रजी, सीताजी के साथ, प्रसन्नता-पूर्वक अयोध्या को लौट आये।

जब रामचन्द्रजी वन को गये, तो सीताजी भी उनके साथ गईं। रामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में पञ्चवटी की कुटी में से रावण सीताजी को हर ले गया। इस पर श्रीरामचन्द्रजी ने दल-बल-सहित उस पर चढ़ाई की और उसे मारकर सीताजी को ले आये। वन की अवधि समाप्त होने पर रामचन्द्रजी, सीताजी सहित, अयोध्यापुरी में लौट आये और सुख-पूर्वक रहने लगे। अवध में आकर सीताजी के लव और कुश नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए।

सौंदर्य

सीताजी अपने समय की अद्वितीय सुंदरी थीं। उस समय में पृथ्वी पर उनके सदृश एक भी सुंदरी युवती न थी। सीताजी के सौंदर्य को लक्ष्य करके ही तो किसी कवि ने कहा है—"अति सर्वत्र वर्जयेत" अर्थात किसी काम की अति अच्छी नहीं होती। सचमुच में सीताजी आवश्यकता से अधिक सुंदर थीं।

मानस में अवगाहन करते समय सबसे पहले हमें सीताजी पुष्पवाटिका में मिलती हैं। प्रारम्भ में ही उनके अद्वितीय रूप-लावण्य का परिचय मिलता है। उस समय वह युवती होनेपर भी कुमारी थी, सखियों को साथ लेकर वह गौरी की पूजा करने के निमित्त आई थीं। पैरों में पायजेब और घुंघरू पड़े हुए थे, घुँघरू कड़े और छड़े मिल कर एक अद्भुत ध्वनि उत्पन्न कर रहे थे। उस समय परदे आदि की प्रथा तो थी ही नहीं, रामचन्द्रजी भी लक्ष्मणजी के साथ गुरुजी की पूजा के निमित्त पुष्प लेने के लिए उसी वाटिका में आये हुए थे।

रामचन्द्रजी भी सुन्दरता में किसी से कम न थे; साथ ही वह सुशील, गम्भीर तथा परम सदाचारी थे। स्त्री-जाति के प्रति उनके हृदय में परम आदर था। वे सभी अविवाहिता कन्याओं को भगिनी-तुल्य समझते थे। विधि का विधान समझिए, या संयोग की बात कहिए, अथवा भावी की प्रेरणा समझ लीजिए, रामचन्द्रजी सीताजी को बस एक बार ही देखते हैं; बस इसी पर अपने छोटे भाई लक्ष्मणजी

के सामने प्रकट न करने योग्य बात को भी कहते हैं।

तात जनक तनया यह सोई, धनुष-यज्ञ जेहि कारण होई।
जासु विलोकि अलौकिक शोभा, सहज पुनीत मोर मन छोभा॥

वह यह सब समझते हैं कि

रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ, मन कुपंथ पग धरैं न काऊ।
मोहि अतिशय प्रतीति जिय केरी, जेहि सपनेहु पर नारि न हेरि॥

परन्तु इनके रूप-लावण्य को देखकर क्यों लट्टू होगये, इसका वह स्वयं भी कुछ कारण न बता सके। वह कहते हैं—

सो सब कारण जान विधाता, फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।

ठीक ही है—

मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति, गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरंगैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधयस्सुधीभिः समान शीलव्यसनेषु सख्यम्॥

जैसा तुम्हारा निष्कपट-निश्छल मन तथा अपूर्व सौन्दर्य्य है, यदि उसने स्वच्छ हृदय, निष्कलंक तथा अनिंद्य और अनवद्य रूपवती सीता को ग्रहण ही कर लिया, तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है? जो जैसा होता है वह वैसे पर ही तो आकर्षित होता है।

मुख की उत्तम से उत्तम उपमा चन्द्रमा से दी जाती है। सुन्दरी स्त्री को "चन्द्रमुखी" "विधुवदनी" "शशिवदनी" आदि नामों से सम्बोधित करते हैं। रात्रि में जब चन्द्रदेव अपनी सोलहों कला से युक्त होकर आकाश में भ्रमण करने लगे, तब श्रीरामचन्द्र जी की दृष्टि उन पर पड़ी। झट उन्हें सीता की याद आगई, अब लगे सीताजी के मुख की और चन्द्रमा की बराबरी करने! सीताजी के मुख के सामने चन्द्रमा श्री रामचन्द्रजी को फीका सा प्रतीत होने लगा। उसमें उन्हें दोष दिखाई देने लगे। एक-दो नहीं, एक सांस में उसके पूरे चार मुख्यवगुण गिना गये! सुनिए—

जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक।
सिय-मुख-समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रंक॥

चन्द्रदेव! बड़े फूले-फूले डोल रहे थे! आपने सामने किसी को सुन्दर ही नहीं समझते थे। अब सुना आपने? सीताजी के मुख के सामने आपकी कुछ भी हस्ती नहीं है! अपने अवगुणों को ध्यान-पूर्वक सुनिए और तब बताइए कि ठीक हैं या नहीं? कोई ईर्ष्या के कारण बनावटी दोष तो आपके मत्थे नहीं मढ़ दिया गया है? चारों दोष ठीक हैं न? परन्तु अभी आपका पिंड नहीं छूटेगा। आप समझते होंगे, बस इतने ही अवगुण होंगे? अभी क्या हैं, आगे सुनिए—

घटै बढ़ै, विरहिन दुखदाई, ग्रसै राहु निज संधि हि पाई।
कोक शोक प्रद, पंकज द्रोही, अवगुण बहुत चन्द्रमा तोही॥

और सुनिएगा? फिर फिहरिस्त बनाने की इच्छा हो तो वैसी कहिए। बस, अब रहने दो। आज से कान पकड़ो। फिर कभी सीताजी के मुख की बराबरी करने का दावा न करना। तुम्हारे साथ वैदेहीजी के मुख की बराबरी करना सीताजी के साथ सरासर अन्याय करना है, अनुचित काम है—

वैदेही मुख पटतर दीन्हे, होत दोष बड़ अनुचित कीन्हे।

* * *

जब सीताजी ने धनुष-यज्ञ में पदार्पण किया है, तो उनके रूप को देख कर नर-नारी सभी मोहित हो गये हैं—

रंग भूमि जब सिय पगु धारी, देखि रूप मोहे नर नारी॥

कहीं तो एक स्थान में कवि कह आये हैं कि "मोहे न नारि-नारि के रूपा", कहीं वही अब नरों के साथ नारियों का भी मोहित होजाना बताते हैं। ठीक ही है। पिछला नियम तो साधारण स्त्रियों के सम्बन्ध में है। सीताजी तो रूप-लावण्य की पराकाष्ठा से भी परे थीं। उनके सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता। कवि ने नारियों का मोहित होना कहकर

बड़ी बुद्धिमानी के साथ सीताजी के अवर्णनीय सौन्दर्य का वर्णन किया है।

* * *

कौशल्याजी भी ऐसी सुन्दर और सुलक्षणा पुत्र-वधू को पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने स्वयं कहा है—

मैं पुनि पुत्र वधू प्रिय पाई, रूपराशि गुण शील सुहाई।
नयन पुतरि इव प्रीति बढ़ाई, राखेउँ प्राण जानकि हि लाई॥

* * *

रावण बड़ा प्रतापी और बलवान राजा था, देवता उसकी क़ैद में पड़े-पड़े दुःख से अपने दिन काटते थे। देवराज इन्द्र हाथ जोड़ कर उसकी आज्ञा की बाट जोहा करते थे। वह जितना ही बलवान और कठोर था, उतना ही सौन्दर्योपासक भी था। सीताजी की सुन्दरता की ख्याति सुन कर वह भी धनुष-यज्ञ में पहुँचा था, किन्तु धनुष को न उठा सकने के कारण वह सीताजी को प्राप्त नहीं कर सका था।

सीताजी को वह वन में से हर ले गया और महलों में जाकर उसने उन्हें रख दिया। अब वह सीताजी को अपनाने के लिए भाँति-भाँति की युक्तियाँ सोचने लगा। वह उनके सौन्दर्य पर इतना अनुरक्त हो गया था, कि अपना सर्वस्व वह इनके ऊपर वार देने को तैयार था! सीताजी उसकी ओर एक बार प्रेम भरी दृष्टि से देख भर दें, बस यही वह चाहता था। मन्दोदरी जैसी सती साध्वी और रूप-गुण-सम्पन्ना स्त्री तक को वह इनकी दासी बनाने को तैयार था। देखिए, कैसी दीनता से विनय कर रहा है—

कह रावण सुनु सुमुखि सयानी, मंदोदरी आदि सब रानी।
सब अनुचरी करौं प्रण मोरा, एक बार विलोकु मम ओरा॥

सीताजी के सौन्दर्य के वर्णन करने की शक्ति भला किसमें हो सकती है। ब्रह्मा ने अपनी सम्पूर्ण कारीगरी मानो सीताजी के सौन्दर्य के ऊपर खर्च कर दी थी। तभी तो इनके सौन्दर्य को देखकर सुन्दरता भी शरमा जाती थी। तभी तो कवि ने इनके सम्बन्ध में कहा है—

जनु विरंचि सब निज निपुणाई, विरचि विश्व कहँ प्रकट दिखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छवि-गृह दीप-शिखा जनु बरई॥

अब बोलिए, सीताजी को किस की उपमा दें?

सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहि पटतरिय विदेह कुमारी।

* * *

सरलता और भोलापन

सीताजी बड़ी सरल और भोली थीं। वह बात बनाना और छल-छिद्र तो जानती ही न थीं। रामचन्द्रजी जिस समय धनुष तोड़ने के लिए उठते हैं, उस समय वह अनेक देवी-देवताओं को मनाती हैं और उनसे प्रार्थना करती हैं कि वे आकर ऐसे वक्त पर मेरे सहायक हों और धनुष्य को हलका कर दें। फिर अपने भोले-भाले स्वभाव में सोचती हैं—इतने बड़े कठोर धनुष को यह कोमल शरीर वाले रामचन्द्रजी कैसे उठा सकेंगे! मेरे पिता को कोई समझाता भी नहीं। मन ही मन में वह कह रही हैं—

अहह तात दारुण हठ ठानी, समुझत नहिं कछु लाभ न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई, बुध समाज बड़ अनुचित होई॥
कहँ धनु कुलिशहु चाहि कठोरा, कहँ श्यामल मृदुगात किशोरा।
विधि केहि भाँति धरौं उर धीरा, सिरस सुमन किमि बेधहि हीरा।

* * *

जब रामचन्द्रजी ने धनुष तोड़ दिया, तो सखी के कहने पर इन्हों ने जयमाला पहनाई। फिर सीताजी से सखियों ने कहा कि इनके पैर छूलो। किन्तु सीताजी पैर नहीं छूतीं—

सखी कहहिं प्रभु पद गहु सीता, करन न चरण परस अति भीता।

क्यों भला?

गोतम-तिय गति सुरति करि, नहीं परसति पद पानि।
मन बिहँसे रघुबंश मणि, प्रीति अलौकिक जानि॥

देखा आपने ? कितनी सिधाई है। वह सोचती हैं—यदि मैं भी इनके पैरों को स्पर्श करके दिव्य लोक की नारी होगई तो इनके सहवास से वंचित रह जाऊँगी !

शील और संकोच

सीताजी के शील-संकोच का क्या कहना है ! इनका सम्पूर्ण जीवन शीलमय है। स्थान स्थान पर इनका शील झलकता है। नारी-सुलभ संकोच तो इनके जीवन का सबसे बड़ा सौन्दर्य्य है।

पुष्प वाटिका में जब सीताजी गौरी की पूजा के निमित्त जाती हैं और एक सखी से रामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी के रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर उसे आगे करके उनके दर्शनों की लालसा से आगे बढ़ती है, तो आगे दोनों कुमारों को देख कर व्याकुल हो जाती हैं। इतने में ही रामजी तथा लक्ष्मणजी लताओं की ओट में हो जाते हैं। सीताजी आँखें मूंदकर रामजी की मोहनी मूर्ति का ध्यान करने लगती हैं। इतने ही में दोनों कुमार लताओं की ओट में से फिर प्रकट होते हैं। तब एक सखी हँसी के साथ कहती है—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू, भूप किशोर देखि किन लेहू।

सखी की यह बात सुन कर सीताजी सकुचा गईं—

सकुचि सीय तब नयन उघारे, संमुख दोउ रघुसिंह निहारे।

बस, फिर क्या है—रामचन्द्रजी की नख-शिख शोभा को देखकर वह मुग्ध हो गईं। फिर, पिताजी के प्रण का स्मरण करके, कुछ दुःखी भी हुईं। रामचन्द्रजी को एक टक निहारती रहीं। पलकों का झँपना भी बन्द हो गया। सखियों ने सीताजी के प्रेम-भाव को ताड़ लिया। एक ने मीठी चुटकी लेते हुए कहा—

पुनि आउब इहि बिरियाँ काली, अस कहि मन बिहसी इक आली।

सखियाँ मेरी प्रीति की बात को जान गई हैं। ऐसा विचार करके और सखी के गहरे व्यंग को समझ कर सीताजी सकुचा गईं—

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी, भयउ बिलंब मातु भय मानी।

माता के भय की बात कह कर उस बात को कैसी सफ़ाई के साथ उड़ा दिया है !

* * *

जब रंगभूमि में जाती हैं, तो श्रीरामचन्द्रजी को मुनि के पास बैठे देख कर उन्हें बार-बार निहारती हैं। आँखें चाहती हैं कि उन्हें एक टक देखती रहें, किन्तु वहाँ गुरुजन, भाई बन्धु सभी बैठे हुए हैं। अतः संकोच के कारण वह आँखों की इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकती हैं—

गुरु जन लाज समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन तन, रघुबीरहि उर आनि॥

अपने संकोच को किस प्रकार छिपाने का प्रयत्न कर रही हैं, मानों उन्होंने रामचन्द्रजी को देखा ही नहीं है। सखियों की ओर ताकने का यही अभिप्राय है।

* * *

रामचन्द्रजी के साथ सीताजी बन को जाती हैं। रामजी, लक्ष्मणजी तथा सीताजी के सुकुमार सुन्दर स्वरूप को देख कर गाँव की स्त्रियाँ उन्हें देखने के लिए आती हैं। स्त्रियाँ प्रायः स्त्रियों की बात सुनने को बड़ी उत्सुक रहती हैं। किसी विचित्र घटना को देख कर स्त्रियों को उसे जानने की प्रबल उत्कंठा होती है। स्त्रियों ने देखा कि ये मुनि बालक तो हैं नहीं, कोई राजकुमार जान पड़ते हैं। परन्तु वेष तो इनका मुनियों जैसा है। परन्तु एक बात और है, मुनियों के साथ स्त्रियाँ तो नहीं होतीं। अच्छा कोई मुनि-कन्या

होगी। यह सुन कर दूसरी स्त्री कहती है—"नहीं यह बात नहीं है। ये कोई राजकुमार हैं, किसी भारी विपत्ति के कारण राज्य छोड़ कर जंगलों में चले आये हैं। यह सुकुमारी इनकी पत्नी है।" इस पर दूसरी पूछती है—"इन दोनों में से यह किस की पत्नी है?" वही सखी जवाब देती है—"ये जो आकाश जैसे वर्ण वाले इधर बैठे हैं, उन्हींकी यह पत्नी मालूम होती है।" दूसरी यह सुन कर कहती है—"नहीं, ये जो गौर वर्ण वाले दाईं ओर बैठे हैं, ये ही इसके पति हैं।" इस प्रकार वे आपस में विवाद कर रही थीं। एक उनमें सयानी सखी थी; वह कुछ प्रगल्भा, वाक्पटु तथा प्रवीणा थी। उसने कहा—"अच्छा, चलो इसी से चल कर न पूछ लें? स्त्रियों को स्त्री से बात चीत करने में हानि ही क्या है?" यह सुन कर सब सखी सीताजी के पास जाती हैं। उनमें भी नारी-सुलभ संकोच था, वे भी एक अपरिचित स्त्री से यकायक उसका परिचय पूछने में झिझकती थीं। किन्तु वे अपनी उत्सुकता को संवरण न कर सकीं। एक उनमें से सीताजी से पूछ ही तो बैठी—

राजकुमारि विनय हम करहीं, तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं।
स्वामिनि अविनय छमब हमारी, बिलगु न मानब जानि गँवारी।
राज कुँवर दोउ सहज सलोने, इनते लहि दुति मरकत सोने।

स्यामल गौर किशोर बर, सुन्दर सुखमा ऐन।
सरद सर्बरी नाथ मुख, सरद सरोरुह नैन॥

कोटि मनोज लजावन हारे, सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे?

अब तो सीताजी कुछ सहमीं। वह भला किस प्रकार साफ़-साफ़ कह सकती थीं कि यह मेरे पति हैं? भारतीय ललनायें अपने पति का नाम लेना तो अलग रहा, उसके सामने किसी अन्य से पति-सम्बन्धी बातें करना भी अनुचित समझती हैं। सीताजी कैसी चतुराई के साथ संकोच-पूर्वक उत्तर देती हैं—

सकुचि सप्रेम बालमृग नयनी, बोलि मधुर बचन पिक बयनी।
सहज सुभाव सुभग तनु गोरे, नाम लखन लघु देवर मोरे।

इतना तो कह दिया। अब आगे वाणी का विषय नहीं रहा। आगे का भाव हृदय की भाषा में व्यक्त किया जा सकता है और हृदय की भाषा मौन है, इसलिए सखियों को इशारे में समझाती हैं—

बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी, पियतन चितै भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरीछे नयननि निजपति कहेउ तिनहिं सिय सैननि

सैनों में उत्तर दे दिया। हमारे यहाँ कहावत है—"गूँगे की सैन में गूँगा जाने या जानैं उसके घर के लोग।" स्त्रियों ने सीताजी के सैनों की बात समझ ली। समझ क्यों न लेतीं? उन्हें भी तो इसी प्रकार दूसरों को समझाना पड़ता है! सीताजी ने बड़ी ही बुद्धिमानी के साथ अपने हृदय के भाव को व्यक्त किया है।

*　　　*　　　*

भरतजी वन में रामचन्द्रजी से मिलने जाते हैं, जनकजी भी वहाँ सपरिवार आ जाते हैं। सीताजी की माता सीताजी को अपने यहाँ बुलाती हैं। बहुत दिनों बाद पुत्री से भेंट हुई है। सभी लोग बड़े प्रेम के साथ सीताजी से मिलते हैं। सभी का सीताजी के प्रति अपार प्रेम था, मिलने जुलने में बहुत रात्रि हो जाती है। सीताजी सोचती हैं, रामचन्द्रजी को छोड़ कर यहाँ रात्रि में एकाकी रहना ठीक नहीं है, परन्तु माता-पिता से वह स्पष्ट कैसे कह सकती थीं कि मैं अपने पति के पास जाऊँगी। वह अपने स्वाभाविक संकोच के द्वारा कुछ ऐसा भाव प्रदर्शित करती हैं, कि उनकी माताजी उनके मनोगत भाव को झट ताड़ जाती हैं और महाराज जनकजी के कान में इस बात को कह देती हैं—

कहति न सीय सकुचि मन माहीं, इहाँ बसब रजनी भल नाहीं।
लखि रुख रानि जनायउ राऊ, हृदय सराहत सील सुभाऊ।

धन्य है ! ऐसे शील स्वभाव के ऊपर सर्वस्व वारा जा सकता है। सीताजी के शील स्वभाव को वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है ?

प्रभुदत्त शर्मा

पतियों का कर्त्तव्य

पहले की तो भगवान जानें; पर आज तो अधिकांश घरों में कुछ न कुछ अशांति अवश्य दृष्टि गोचर होती है। विरले ही दम्पती ऐसे होंगे, जिनका सुख और शांति के साथ जीवनयापन हो रहा हो। भारत में तो बाल और बे-मेल विवाह होते हैं, विवाह करने वालों के बजाय उनके अभिभावकों की ही पसन्द बे-पसन्द पर सब कुछ निर्भर रहता है; पर विदेशों में तो लड़के-लड़की एक-दूसरे को पसन्द करके और हिल-मिल जाने पर ही विवाह करते हैं। परंतु वहां भी दाम्पत्य-जीवन कुछ यहाँ से अच्छा नहीं दृष्टिगोचर होता। यहाँ पति-पत्नी जैसे तैसे आजन्म अपना सम्बन्ध तो निबाहते हैं; पर विदेशों में तो यह भी नहीं—वहाँ तो 'आज विवाह और कल तलाक' का मसला है। और दिन पर दिन बे तरह बढ़ती हुई तलाकों की संख्याओं को देखकर तो यह निश्चय सा प्रतीत होता कि पति-पत्नियों के पारस्परिक मनमुटावों का कारण हमारे यहाँ का बाल और बेमेल विवाह ही नहीं; कोई और ही बात होनी चाहिए।

इस पर विचार करने पर सहसा यह ख़याल होता है कि उनके पारस्परिक व्यवहार के सिवाय इसका और क्या कारण हो सकता है ? और इसमें शक नहीं कि बात भी वस्तुतः यही है ।

इस सम्बन्ध में स्त्रियों के दोषों और कर्त्तव्यों को तो अनेकों ने इङ्गित किया है; पर पुरुषों की त्रुटियों और कर्त्तव्यों पर, आश्चर्य है, अभी तक बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। वैसे देखा जाय तो, पुरुष इस मामले में स्त्रियों से कम दोषी नहीं; बल्कि किसी हद तक वही इसके लिए ज्यादा जिम्मेवार हैं ।

जब कि गार्हस्थ्य-जीवन में पति की प्रधानता है, और सब मामलों में उसीकी बात मुख्य रहती है, ऐसी दशा में स्वाभाविक ही है कि अच्छे बुरे का दारमदार भी मुख्यतया उसीपर हो। और होता भी यही है—अपने प्रति सुव्यवहार के लिए पति नहीं बल्कि पत्नी ही पति के प्रति आकांक्षिणी रहती है। हमारे भारतवर्ष में तो पति की इच्छा-अनिच्छा और प्रसन्नता ही स्त्री का महासौभाग्य और महावाञ्छा मानी जाती है।

खेद की बात है कि पुरुष इस पर कोई ध्यान नहीं देते। जब से व्यक्ति का निर्माण हुआ, विवाह तो वे तभी से करते आ रहे हैं; पर अपनी पत्नियों के साथ व्यवहार करने का ढङ्ग सीखने की तकलीफ़ वे कभी नहीं उठाते। यह कितने दुःख की बात है। कुछ समय-पूर्व शिकागो (अमेरिका) के एक न्यायाधीश जोसफ़ वर्क का ध्यान इस ओर गया था और तलाकों के अनेक मुक़द्दमों के अनुभवों के आधार पर उन्होंने पुरुषों को अपनी पत्नियों के प्रति व्यवहार में निम्न बातों पर ध्यान रखने की सलाह दी थी—

(१) अपनी ग़लती स्वीकार करने में कभी आनाकानी मत करो।

(२) किसी बात पर ज़िद मत करो। निश्चय कर लो कि कोई दिन अप्रसन्नावस्था में ही समाप्त न हो; जो भी बात खटकती हो, सोने से पहले उसे बिलकुल भुला दो।

(३) लम्बे तर्क-वितर्क में कभी मत उलझो।

(४) पत्नी के सद्गुणों की प्रशंसा दिल खोल कर करो।

(५) यह याद रक्खो कि उसके निमित्त खर्च का रुपया यदि तुम किसी दूसरी औरत को दे दोगे तो उसे बहुत बुरा लगेगा।

(६) घर के काम-धन्धों के साथ उसके दिल-बहलाव का भी उसे अवसर दो।

(७) तुम्हारी जो आमदनी हो वह निःसंकोच उसे बताओ और दोनों की सम्मिलित इच्छानुसार उसे खर्च करो।

(८) सोते वक्त रात को काम-धन्धे की छोटी-मोटी बातों या त्रुटियों पर उससे बातचीत मत करो।

ऊपरी व्यवहार के लिए ये नियम उपयोगी हैं, इसमें शक नहीं। पुरुष यदि इन पर अमल करने लगें तो आज की स्थिति में थोड़ी-बहुत प्रगति तो अवश्य होगी। पर सबसे बड़ा सवाल तो है पत्नी के प्रति पति की मनोवृत्ति का। क्योंकि ऊपरी व्यवहार तो गौण है, मुख्य वस्तु तो अन्दर की ही चीज़ है। यदि अन्दर सुगन्ध है, तो लाख रोकने पर भी बाहर सुगन्ध ही निकलेगी; पर यदि अन्दर ही दुर्गन्ध भरी रही तो, ऊपर से छिपाने की बहुतेरी कोशिश करने पर भी, सड़न ही न बाहर निकलेगी ?

लेकिन पुरुषों की—पतियों की—मनोवृत्ति क्या है ? उनके लिए स्त्री या पत्नी या तो संतानोत्पत्ति का साधन है अथवा घर-गृहस्थी के काम-धन्धे करने के लिए निर्माण की गई है। और इसलिए उनके साथ व्यवहार के उन्होंने दो ढङ्ग बना रक्खे हैं। कुछ लोग तो उनसे सिवा इन दोनों कामों के और कोई वास्ता ही नहीं रखते—स्त्री की अच्छाई-बुराई, सुख दुःख से उन्हें कोई सरोकार नहीं होता। दूसरे उसे मानों गुड़िया समझते हैं। उसे तकलीफ़ देने की तो पहली श्रेणी के पुरुषों की भी इच्छा नहीं होती; पर अपनी समझ में, ये उसे खुश करने की कोशिश करते हैं। उसके लिए अच्छे-अच्छे गहने कपड़े बनवाते हैं, तरह-तरह की छोटी-मोटी चीज़ें उसके लिए लाते हैं, उसके खाने-पीने की अच्छी व्यवस्था करते हैं और भी जो कुछ आराम उसे पहुँचा सकें उसके लिए कोशिश करते हैं, काम-काज के लिए दास-दासी नियुक्त कर उसे महा आलसिन बना देते हैं। लेकिन मैं, पूछता हूँ कि क्या इतना ही बस है ? केवल बाहरी आरामों की सुविधा कर देना ही काफी नहीं हो सकता। स्त्रियों में भी पुरुषों ही की तरह आत्मा है, उनके सीने में भी एक हृदय है और वह पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक बहुमूल्य, सुस्निग्ध भावुक और कोमल होता है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ उनकी शारीरिक सुविधाओं का पूरा ख्याल रक्खा जाय वहाँ उनके मन और आत्मा की भी अत्यन्त सावधानी से सत्कार करने की प्रवृत्ति रहनी चाहिए। पुरुष स्त्रियों के लिए जितना जो कुछ करते हैं स्त्रियाँ उसके लिए उनकी कृतज्ञ रहती हैं। परन्तु केवल वे संतुष्ट नहीं हो सकतीं; केवल गुड़िया न बनकर वे पुरुष की सच्ची सहधर्मिणी अथवा साथिन बनना चाहती हैं। गहने-कपड़े आदि की वे उतनी भूखी नहीं होतीं, जितनी की इस बात की आकांक्षिणी कि हम भी मनुष्य समझी जावें—न केवल कहने के लिए बल्कि सर्वसामान्य व्यवहार में भी। पर इससे यह न समझ लिया जाय कि अपने पर से पुरुष के नियंत्रण को वे उठा देना चाहती हैं। नहीं, वस्तुतः जो कुछ वे चाहती हैं वह यही कि पुरुष उन्हें ज़रा मनुष्य समझ कर बर्तें-बर्तावें। 'यह करो, वह मत करो' के हुक्मों के बजाय वे पतियों से वैसे समानता के बर्ताव की अपेक्षा रखती हैं कि जैसा कोई मित्र अपने छोटे मित्र के साथ करता है। क्यों कि स्त्री होने के ही कारण वे उन सब प्रकृत बातों से वंचित नहीं हो

जाना चाहतीं, जो कि मनुष्य-सृष्टि के लिए विधाता ने निर्माण किये हैं। पुरुषका उपेक्षा-भाव भी उनके लिए सह्य नहीं। और सबसे बड़ी बात यह है कि पति के द्वारा अपने प्रति द्वेष और अविश्वास के भाव को वे जरा भी बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। उनकी यह सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा होती है कि घर आने पर पुरुष अपने रोजगार, धन्धे या काम-काज के सम्बन्ध में छोटी-छोटी से लेकर गूढ़ से गूढ़ बात तक हमसे करे, विश्वस्त से विश्वस्त मित्र से जैसे वह उस सम्बन्ध में सलाह लेता है उससे भी ज्यादा विश्वास के साथ वह हमसे सलाह-मशवरा करे; मतलब यह कि पति पत्नी में न तो कोई दुराव या छिपाव की बात रहे, न पति का पत्नी के प्रति यही भाव कि 'ऊँह! यह तो स्त्री है—यह इन मामलों को क्या समझे' यह हीनावस्था और अविश्वास का भाव ही उन्हें सबसे ज्यादा खटकता है, और यही गार्हस्थ्य पति-पत्नी के बीच की-अशान्ति का सर्वप्रधान कारण है। अतः पुरुषों का-जो पति हो चुके हैं या होने वाले हैं उन सबका-यह कर्तव्य है कि वे इस बात पर खब ध्यान दें और फिर वैसा ही अपना व्यवहार बनायें। ऐसा होने पर, हमारा ख़याल है, गार्हस्थ जीवन, कम से कम आज की अपेक्षा, कहीं अधिक शान्तिपूर्ण हो जायगा।

एक भारतीय

सच्चा त्याग

नासिक नाड़ की एक महिला डाक्टर ने अपने ५००) रु० मूल्य के गहने महात्माजी के पास इस आशय के पत्र के साथ भेजे हैं—"खादी-कार्य के लिए आप इनका इस्तैमाल कर सकते हैं। और यों कुछ भूखों मरने वालों को मदद दे सकते हैं। मुझे इसका निश्चय है कि मेरे बक्स के एक कोने में पड़े रहने की अपेक्षा उनका यह उपयोग ज्यादा अच्छा होगा।"

वाणी

जिह्वा सभी को मिली है, किन्तु बोलना बहुत कम लोग जानते हैं। प्रायः लोग कड़वी-तीती बातों में, दूसरों की व्यर्थ निन्दा-स्तुति में, वाणी की सार्थकता समझते हैं। उन दिव्य पुरुषों की संख्या अँगुलियों पर ही गिनी जा सकती है, जिनकी जिह्वा में अमृतोपम मधुरता एवं हिम की सी शीतलता रहती है। ऐसे लोगों की वाणी से निराश जीवन को उत्साह मिलता है; नरक की यंत्रणा में छटपटाने वाले को धैर्य और आश्वासन मिलता है।

यदि हमें बोलना न आवे, तो चुप रहना ही अच्छा है। क्योंकि अनर्गल वचनों से दूसरों को हानि पहुँचा कर हम जिस पाप के भागी बनते हैं, उससे बचे रहेंगे। यदि बोलो, तो कोकिल की तरह बोलो—जिसकी एक हूक से ही हम अपनी सारी विषमताओं को भूल जाते हैं। वह कृष्णा होकर भी बसंत की रानी बनी हुई है. क्या हमारी जिह्वा वैसी नहीं बन सकती?

तुम गोराई में चन्द्रमा को भी मात करने वाले हो तो क्या, यदि वाणी में कटु-कुवाक्य भरे पड़े हैं! एक जापानी नीतिकार का कहना है—'रक्त में पड़ा हुआ दाग़ खराद पर चढ़ा कर निकाला जा सकता है, परन्तु हृदय में लगा हुआ कुवाक्य का दाग़ मिटाया नहीं जा सकता।' यदि हम सदा के लिए दूसरों की आँखों से गिर जाना नहीं चाहते, तो कभी भूल कर भी मुँह से कुवाक्य न निकालें।

ज्ञानी लोग प्रायः मौन-साधन इसीलिए किया करते हैं, कि उनकी जिह्वा उनके वश में रहे। कहीं ऐसा न हो कि कभी आवेश या उत्तेजना में अचानक कोई ऐसा कुवाक्य निकल जाय, जिससे संसार को मुँह दिखाने में शर्म मालूम पड़े। और उस समय

ज्ञान एवं विद्वत्ता के होते हुए भी हम अपने को सुखी न कर सकें। मौन-साधना जिह्वा को संयम सिखा कर तपस्विनी बनाने के लिए है। जितनी ही अधिक मौन-साधना की जायगी, उतनी ही अधिक वाणी को सद्गति प्राप्त होगी, तथा आत्मा को विश्व-तोषिणी शांति मिलेगी। प्राचीन भारत के ऋषि-मुनि विजन-विपिन में, वर्षों तक मौन-साधना करके, आत्मा के लिए दृढ़-चरित्र और जिह्वा के लिए शीतल अमृत-वाणी उपलब्ध करते थे।

जिह्वा को संयत बनाने के लिए, हमारे यहाँ, बहुत-सी दिव्यवाणियों का पाठ्यक्रम भी उन्हीं प्राचीन महर्षियों का चलाया हुआ है। संध्या-वंदन, गायत्री-जप, इत्यादि का अभिप्राय क्या है? यही कि उन सुनीतिमयी मीठी शब्दावलियों का पाठ करते-करते हमारी जिह्वा भी वैसी ही भावमयी एवं मधुर-कोमल हो जाय, और हमारे मुँह से भी वैसे ही शांतिमय दिव्य वचन स्वतः निकलें। किंतु अधिकांश लोग संध्या और गायत्री का पाठ करके भी, अपनी जिह्वा में सर्पिणी की-सी जहरीली फुफकार बनाये रहते हैं। क्यों? इसका उत्तर है—मौन-साधना का अभाव। संध्या और गायत्री के जप से भी अधिक आवश्यकता है—चरित्र की। चरित्र-प्राप्ति का एक विशेष साधन है—मौन-साधना। इस साधना के समय मनुष्य नितांत एकांत में जा पहुँचता है। वहाँ सिर्फ उसकी आत्मा रहती है और उसका जीवन। जो शक्ति, जो समय, वह बातों में लगाता, उसे वह एकांत में आत्म-चिंतन एवं जीवन को महान् बनाने की आंतरिक मंत्रणा में लगाता है। धीरे-धीरे उसे सफलता मिलती है। एक दिन जब उसका अन्तर और बाहर एक हो जाता है उस समय संसार की कोई भी विषमता, कोई भी उत्तेजना उसकी वाणी को चंचल या अनर्गल बनाने में समर्थ नहीं होती। कारण, उसके चरित्र में वह महानता और दृढ़ता आ जाती है, जो किसी तरह भी डिग नहीं सकती।

ऐसे चरित्रवान् महापुरुष जब बोलते हैं, तब उसमें विनम्रता का रस रहता है। सिर्फ उनके मुँह से वाणी निकलने की देर रहती है; वह निकली और लोग उनके दासानुदास हुए। यही नहीं, उनकी वाणी पत्थर को भी बर्फ की तरह पिघला देती है।

वाणी व्यक्तित्व का परिचय देने में प्रथम है। क्योंकि अन्य गुण तो साथ रहने पर धीरे-धीरे प्रकट होते हैं पर वाणी की गरिमा तत्काल प्रकट होती है। इसके द्वारा सर्वथा अपरिचित को भी, थोड़े वार्त्तालाप में ही स्नेह और सहानुभूति के सूत्र में बाँधा जा सकता है। दिव्य वाणी बोलनेवालों के लिए संसार में चारों तरफ-अमीर-गरीब, परिचित-अपरिचित-सबके द्वार स्वागत के लिए खुले रहते हैं। उनके मग में लोग पलक-पाँवड़े बिछा देते हैं—ऐसा सन्मान छत्रधारी सम्राट होने पर भी शायद ही कोई पा सकें।

आज संसार में महात्मा गांधी के प्रति लोगों का जितना सन्मान और अनुराग है, उतना किसी भी धनकुबेर या शाहंशाह के प्रति नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि वर्त्तमान संसार में उनकी वाणी सर्वश्रेष्ठ है। वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि है, अतः महात्मा जी के सन्म्मान का मूल उद्गम उनका पूजनीय चरित्र है। जिसका चरित्र जितना ही ऊँचा है, उसकी वाणी उतनी ही वंदनीय, और मर्मस्पर्शिनी है।

वाणी की यह दिव्यता हमारे देश में अनेक महापुरुषों-द्वारा कृतकार्य हुई है। अपने उज्वल चरित्र से वाणी को जीवन देने वाले-अमरपुरुषों का हमारे देश में न कभी-अभाव रहा है, और न रहेगा। चरित्र वाणी को किस प्रकार, कैसा, हृदयग्राह्य बना देता है, इसका एक वृत्तांत हम यहाँ स्वामी रामतीर्थ जी की जीवनी से देते हैं—

स्वामी रामतीर्थ जब जापान से अमेरिका को जा रहे थे, उस समय उनके पास सिवा अपने शरीर और आत्मा के और कुछ नहीं था। जब जहाज सेन फ्रांसिस्को के नज़दीक पहुँचा, उस समय जहाज पर हलचल मच गई। उतरने वाले सबके-सब मुसाफिर अपना-अपना असबाब लेकर उतावले हो रहे थे। हमें लिवा ले जाने के लिए भाई, बहन, अथवा मित्र कोई आया है या नहीं, यह जानने के लिए बंदरगाह की ओर सब गर्दन उठा-उठा कर और आंखों में दूर्बीन लगा-लगा कर देख रहे थे। परन्तु स्वामीजी इस हलचल में भी चुपचाप शांति-भाव से बैठे थे। जो आपको देखता, वही समझता कि आपको यहाँ उतरना नहीं है। स्वामीजी की इस निश्चल शांतमूर्ति को देखकर, एक अमेरिकन मुसाफिर की निगाह उन-पर पड़ी। फौरन स्वामीजी के पास गया और उनसे पूछा—"आपका असबाब कहाँ है ?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"राम अपने साथ उतना ही असबाब रखता है, जितना वह स्वयं चाहे जहाँ उठा ले जा सकता है।"

"आपके पास कुछ रुपया—पैसा तो अवश्य ही होगा ?"

"नहीं, राम रुपये-पैसे को स्पर्श नहीं करता।"

"क्या आप यहीं उतरेंगे ?"

"हाँ।"

"तो आपकी सहायता करने वाले आपके मित्र यहाँ होंगे ?"

"हाँ, हैं।"

"वे कौन हैं ?"

प्रश्न करने वाले पुरुष के कंधे पर हाथ रख कर स्वामीजी ने उत्तर दिया—"आप।"

'आप'—इस शब्द का उस अमेरिकन सज्जन पर इतना प्रभाव पड़ा कि जब तक स्वामीजी अमेरिका में थे तब तक उनके खाने-पीने-रहने आदि का सब प्रबन्ध वही करता था।

सतत आत्म-चिन्तन और एकांत वास से स्वामीजी अपने चरित्र को उस श्रेणी तक पहुँचा चुके थे, जहाँ पहुँच कर मनुष्य समझने लगता है—सारा संसार मेरा है और मैं उसका हूँ। यही कारण था, जो उन्होंने जहाज पर एक अपरिचित को भी आत्मीय बतला कर अभिन्न बना लिया था। अगर ये ही बातें अक्षरशः किसी ऐसे मनुष्य से होतीं, जिसका अंतर कुछ है और बाहर कुछ तो उसका ज़रा भी असर न पड़ता।

बाइबल की एक प्रसिद्ध कथा यों है—एक बार कुछ लोग एक स्त्री को पकड़ कर महात्मा ईसा के पास ले गये। लोगों ने उनसे कहा—'श्रीमान यह स्त्री परम दुराचारिणी है; इसे दण्ड मिलना चाहिए।' यह सुनकर प्रभु ईसा की आँखें उमड़ आईं। उन्होंने कहा—'अच्छा, तुम लोगों में से जो सबसे अधिक सच्चरित्र हो, वह इस स्त्री को पत्थरों से मारे।' किन्तु, इस दण्ड के लिए, किसी के भी हाथ न उठे और वे सब शर्म से गर्दन नीची किये चले गये। अगर उन लोगों के चरित्र में बल होता, तो जितनी वाक्‌शक्ति उन्होंने 'दुराचारिणी' को दण्ड दिलाने के अनुरोध में लगाई उतनी ही में वे उसे 'सदाचारिणी' बना देते, तथा उसके पापों का प्रायश्चित स्वयं उसकी आँखों से करा देते।

संसार में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जिनकी वाणी का उनके चरित्र से कोई संबंध नहीं है। वे कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। ऐसे बहुत हैं, जो अपना प्रभाव डालने के लिए वाणी द्वारा कृत्रिम नम्रता और दीनता प्रदर्शित करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। ऐसे लोगों के मुँह से बात निकलने पर उसे स्वीकार करने में अन्तरात्मा को स्वतः हिचकिचा-

हट होने लगती है। थोड़ी देर के लिए कोई उनके भूल-भुलैयों में भले ही आ जाय, पर जब किसी-न-किसी दिन उनकी क़लई खुल जायगी, तब सोचिए लोग उस समय उनके साथ कैसा व्यवहार करेंगे। ऐसे ही लोगों को लक्ष्य कर, शायर दबीर ने, कैसी आज़मूदा बात कही है—

"दुश्मन को बरंगे दोस्त पाया हमने,
दिल मस्लहतन उसका जलाया हमने,
तमिया गया आतशे ग़ज़ब से चेहरा,
क़लई वहीं खुल गई जो ताया हमने।"

स्त्रियों के लिए तो इस पर ध्यान रखने की और भी अधिक आवश्यकता है। क्योंकि उन्हींकी तो वे मधुर लोरियां हैं, जोकि सबसे पहले और निरंतर शिशुओं के कानों में पहुँचतीं और भविष्य के लिए उन्हें किसी ढाँचे में ढालती है। उन्हींके तो सरल-निश्छल-मधुर सुबोध शब्दों, बातों और व्यवहारों का उनके कोमल शिशु हृदयों पर असर पड़ता है—जो चिरस्थायी होता और परिणाम-स्वरूप उस कुटुंब, देश और समाज के जीवन को बनाने-बिगाड़ने का काम करता है। वैसे भी गृहस्वामिनी-घर की एकच्छत्र अधिष्ठात्री और प्रबन्धिका ठहरीं। अतः वे इसे जितना ही अपनावें उतना ही अधिक वे कल्याणकारिणी होंगी।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

मैं स्त्रियों की केवल इसलिए प्रशंसा नहीं करता कि वे संसार में सबसे अधिक सुंदरी हैं, और न मैं केवल इसी लिए उनसे प्रेम करता हूँ कि वे मानवीय सुख-साधना की केन्द्र स्थली हैं, बल्कि मैं उन्हें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षण-कर्त्री मानकर ही आदर की दृष्टि से देखता हूँ। उनके मस्तिष्क और हृदय में वह अपूर्व सामग्री विद्यमान है, जिसके द्वारा एक तुच्छ मनुष्य भी देवता बन सकता है।

"ह्यूरस टोस"

स्फुट प्रसंग

स्त्री और पुरुष

गत १३ अप्रैल को बम्बई में ला० लाजपतराय ने स्त्रियों के प्रश्न पर बड़ा महत्वपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने कहा—

'स्त्रियों का प्रश्न पुरुषों का प्रश्न है। क्योंकि, दोनों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। चाहे भूतकाल हो या भविष्य, पुरुषों की उन्नति बहुत-कुछ स्त्रियों की उन्नति पर निर्भर है। प्राचीन हिन्दू-धर्म नारियों से वास्तविक नर पैदा करने की आशा करता है। केवल स्त्रियां ही पुरुष पैदा कर सकती हैं। पर उन स्त्रियों से आप निश्चय ही वास्तविक नर पैदा करने की आशा नहीं कर सकते, जो कि गुलामी की ज़ञ्जीरों से जकड़ी हुई हैं और प्रायः सभी बातों में पराश्रित हैं। आजकल के हम पुरुष लोग वैसे ही हैं, जैसा कि स्त्रियों ने हमें बना रक्खा है। निस्सन्देह स्त्रियां भी इसके जवाब में यह कह सकती हैं कि वे भी वैसी ही हैं, जैसा कि हम पुरुषों ने उन्हें बना रक्खा है। संसार के अनेक देशों का भ्रमण करने के पश्चात् मैं कहता हूँ कि कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है, जिसने कि भारतीय नारियों के समान आदर्श मातायें और आदर्श स्त्रियां पैदा की हों। लेकिन, आज? आज हमने इस सिद्धान्त को मानों भुला दिया है।" 'हम इसी लिए नर नहीं हैं, क्योंकि आप स्त्रियां वास्तविक नारियां नहीं हैं। हम इस समय जैसे हैं, आपही के बनाये हुए हैं। पुरुषों से मैं कहता हूँ कि तुम अपनी स्त्रियों को अपने दासत्व से पूर्णतया स्वतंत्र होने दो। उन्हें अपने बराबर समझो।

'मैं इस सिद्धान्त का क़ायल नहीं हूँ कि स्त्रियां और पुरुष सभी बातों में समान हैं। परन्तु उत्कृष्टता और निकृष्टता का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। स्त्रियों का अपना स्थान है। पुरुषों का काम स्त्रियां नहीं कर सकतीं और स्त्रियों का काम पुरुषों से नहीं हो सकता। पुरुष माता नहीं बन सकते और स्त्रियां पिता नहीं बन सकतीं; लेकिन इसमें ऊँचनीच का कोई सवाल नहीं है। अतएव पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री ही बनना चाहिए।'

तथास्तु ! लेकिन लालाजी के ही शब्दों में हम कहेंगे कि 'स्त्रियां जब तक स्वयं न चेत जायँगी तब तक उन्हें उनके अधिकार नहीं मिलेंगे।'—बल्कि, हम तो कहेंगे मिल भी नहीं सकते। अतः यदि अपनी वास्तविक स्थिति को पहुँचना अभीष्ट है, तो उन्हें इसके लिये स्वयं प्रयत्नशील होना चाहिए। और हमें हर्ष है कि हमारी बहनों ने इस बात को समझ भी लिया है। चारों ओर आज उनकी हलचलें जो दृष्टिगोचर हो रही हैं वे उनकी जागृति की ही तो प्रमाण हैं। परमात्मा आशीर्वाद दें कि शुभ-प्रयत्न में वे विजयी हों !

स्त्री-आन्दोलन

स्त्रियों का अन्दोलन इन दिनों अच्छी प्रगति कर रहा है। कुछ तो रायसाहब हरविलास सारडा के बाल-विवाह-निषेधक बिल के समर्थन के लिए जगह-जगह उनकी सभायें हो रही हैं, कुछ वैसे भी उनमें भी जागृति आई है। उनकी इस हलचल ने देश के मान्य नेताओं का ध्यान भी अपनी ओर आकर्षित किया है। महात्मा गांधी तो पहले से समय-समय पर उनकी समस्याओं पर विचार करते रहे हैं, इन दिनों ला० लाजपतराय भी स्त्रियों के सम्बन्ध में अपने विचार खूब प्रकट कर रहे हैं। अखबारों में भी, प्रायः सभी में, थोड़ी बहुत चर्चा स्त्रियों के सम्बन्ध में अकसर दीखने लगी है। फिर कोरी हलचल ही नहीं, इस दिशा में कुछ क्रियात्मक कार्य भी इन दिनों हुआ है।

मण्डी में बालविवाह-निषेध

इनमें मुख्य है। दिल्ली-परिषद् के बाद ही बाल-विवाह के विरुद्ध हमारी बहनों ने आवाज़ उठाई थी। मण्डी की उत्साही रानी साहबा ने तो इसके लिए एक लीग की स्थापना भी कर डाली थी। ऐसी दशा में इस दिशा में मण्डी का प्रथम पदार्पण सर्वथा उचित ही है। पर हम भूल करेंगे, यदि मण्डी के राजासाहब को भी इस श्रेय का भागीदार और बहुत अधिक भागीदार न मानें। क्योंकि उनका कहना है—"तीन बरस हुए, जब मैं शासनारूढ़ हुआ था। तभीसे बाल-विवाह रोकने के प्रश्न पर मैं विचार करता रहा हूँ। और इस विषय पर बहुत विचार करने के बाद ही मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि एक मात्र क़ानून द्वारा ही इस घातक प्रथा को रोका जा सकता है।" और आज नहीं बल्कि गत वर्ष ही, अपने जन्म दिवस पर हुए दरबार में, उन्होंने यह घोषित किया था कि 'बाल विवाह रोकने के सम्बन्ध में क़ानून बनाने पर विचार हो रहा है।' अस्तु, अब यह क़ानून बन गया है और राजा साहब ने इसपर अपनी स्वीकृति भी दे दी है। यही नहीं, बल्कि चैत्र १९८५ से यह अमल में भी आ गया है। १८ वर्ष से पहले लड़कों और १३ वर्ष से पहले लड़कियों का विवाह इसके अनुसार दण्डनीय क़रार दिया गया है। यह उम्र कुछ कम ज़रूर है, राजा साहब भी कहते हैं—"मैं समझता हूँ कि लड़कियों के विवाह की उम्र १३ वर्ष निर्धारित करना बहुत कम है।" 'लेकिन,' उनका कहना है, "मैं अनुभव करता हूँ कि जिसे लोग धर्म समझ रहे हैं उसके बारे में बहुत समझ बूझ कर धीरे-धीरे पैर बढ़ाना चाहिए।" और इसलिए, उनका कहना है कि, "यह न समझा जाय कि लड़कियों के विवाह की कम से कम उम्र १३ वर्ष सदा के लिए निर्धारित कर दी गई है। सच तो यह है कि बाल-विवाह की प्रथा उठानेका काम अभी केवल शुरू किया गया है। भविष्य में इस विधान के बारे में फिर विचार किया जा सकेगा और लड़कियों के विवाह की उम्र बढ़ाई जा सकेगी।" दण्ड के बारे में भी राजा साहब ने बड़ी कुशलता प्रकट की है, उनका कहना है "इस विधान के विरुद्ध आचरण करने पर लड़की या लड़के वाले ही नहीं बल्कि वे लोग भी दण्डित होंगे, जो बाल-विवाह की आयोजना करेंगे, ऐसे विवाह के सम्बन्ध में स्वीकृति देंगे, पुरोहिती करेंगे, या अन्य किसी प्रकार से उसमें सहायक होंगे।" और लीजिए, "ऐसा न हो कि लोग राज्य के बाहर जा कर विवाह करके इस विधान के उद्देश्य को व्यर्थ कर दें, इसलिए यह विधान इस राज्य के उन लोगों के लिए भी लागू रहेगा, जो राज्य से बाहर जाकर शादी करेंगे। और जिन विवाहों के बारे में इस विधान के विरुद्ध कार्य होने का पता लगेगा उन्हें आज्ञा निकाल कर रोका जा सकेगा।" कहना न होगा कि हम भारतीयों के हास में बाल-विवाह का कितना ज़बर्दस्त भाग है। ऐसी दशा में, मण्डी राजा साहब का यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय ही नहीं, बल्कि अन्य नरेशों के लिए अनुकरणीय भी है और

'सभ्यता' का दावेदार ब्रिटिश भारतीय सरकार को इस ज़रा-सी पहाड़ी रियासत के इस कार्य को देख कर शर्म आनी चाहिए।

स्त्रियों के अधिकार

स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा ११ अप्रेल को बम्बई की सभा में हुई। डा० देशमुख ने कहा कि स्वतन्त्रता केवल पुरुषों के लिए नहीं है। स्त्रियों के साथ न्याय होने से आसमान न फट जायगा। उन्हें और अधिक समय तक गुलामी में रखना राष्ट्र के लिए भार. कष्टजनक होगा। कुमारी मीठा लाला ने कहा कि स्त्रियों के प्रति पुरुषों के भाव स्वार्थी और अत्याचार-पूर्ण हैं। यह कहां का न्याय है कि पुरुष स्वयं तो तीन चार विवाह करें, पर स्त्रियों को ऐसा करने से रोकें? मैं तो सबको एक ही विवाह करने के लिए कहती हूँ। लेकिन अगर पुरुष दूसरा विवाह करते हैं, तो स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार होना चाहिए। अन्त में यह प्रस्ताव पास हुआ—"कौंसिलों के ग़ैरसरकारी सदस्यों से प्रार्थना की जाय कि वे बड़ी धारा सभा और राज्य-परिषद् में प्रस्ताव पेश करके भारत-सरकार से अनुरोध करें कि बिना विलम्ब एक ऐसी कमिटी नियुक्त की जाय, जो विवाह और विरासत (उत्तराधिकार) सम्बन्धी क़ानूनों की जाँच करे और इन क़ानूनों को स्त्रियों के लिए न्यायपूर्ण बनावें— ख़ास कर (१) पुरुष का एक से अधिक स्त्री का विवाह करना रोका जाय, (२) जिस स्त्री को पति छोड़ दे उसके निर्वाह के लिए काफ़ी रुपया दिलाने की व्यवस्था हो, (३) स्त्री को अदालत से पति को तलाक देने का अधिकार प्राप्त हो, (४) लड़की को अपने पिता की पैतृक सम्पत्ति का अपने जीवन भर के लिए उत्तराधिकार दिया जाय और विधवा अपने पति की पैतृक सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बने।"

स्त्रियों की शक्ति और कर्त्तव्य

श्रीमती डा० एनी बेसेण्ट का कहना है कि भारतीय स्त्रियों के आन्दोलन ने पिछले नौ वर्षों में जो प्रगति की है वह बड़ी महत्वपूर्ण है। ९ वर्ष पूर्व जब भारतमन्त्री श्री मांटेगु ने उन्हें मताधिकार देने से इन्कार किया था तब से अब वे कहीं आगे बढ़ गई हैं। उनका कहना है कि स्त्रियाँ शक्ति या बल की प्रतिनिधि हैं और भारतीय स्त्रियों की तेज़ जागृति का आज सबसे अधिक आशाप्रद चिह्न है यह कि व्यावहारिक होने के सबब अपनी जागृति से वे भारत के राजनैतिक पुनरुद्धार को सम्भव बना देंगी। मुझे यक़ीन है कि भारत का स्वातन्त्र्य-दिवस अब निकट है, क्योंकि आने वाले आन्दोलन में स्त्रियां अच्छा भाग लेंगी।

बम्बई की स्त्रियों की सभा में आपने इस बात पर ज़ोर दिया है कि अगले कुछ महीनों में हमें अपनी शक्ति का परिचय देना होगा। और साइमन कमीशन के बहिष्कार का ज़िक्र करते हुए कहा—"इसमें स्त्रियां पुरुषों से भी अधिक काम कर सकती हैं। सब प्रकार के विदेशी कपड़ों का बहिष्कार स्त्रियों को स्वयं तो करना ही चाहिए; साथ ही अपने पति और पुत्रों से भी वे यह कह सकती हैं कि 'हम तुम्हें घर में न आने देंगी, यदि तुम विदेशी कपड़े पहन कर आओगे।' इस तरह स्त्रियों के हाथ में बड़ा अधिकार है। स्त्रियाँ चाहें तो पुरुषों की हालत को अत्यन्त शोचनीय बना दें। अतः सभी स्त्रियों को सामने आ कर अपने पुरुषों को कर्तव्य पालन के लिए ज़ोर देना चाहिए। अगर स्त्रियां साहसी होंगी तो पुरुष भी साहसी होंगे।"

क्या हमारी बहनें इन वयोवृद्धा की बातों पर अमल करेंगी?

महिला-संस्थायें

स्त्रियों की संस्थायें इन दिनों अच्छी प्रगति कर रही हैं, यह हर्ष की बात है। अप्रेल को मद्रास में भारतीय महिला-संघ का वार्षिकोत्सव मनाया गया। यह संस्था स्त्रियों की उन्नति के लिए प्रयत्न करने वाली संस्थाओं में सबसे प्रमुख और शायद सब से पुरानी है। श्रीमती कज़िन्स सात साल से इसकी मंत्री हैं और उनके सहयोग से इसने स्त्रियोद्धार का बहुत कुछ कार्य किया है। देवदासी और बाल-विवाह की कुप्रथाओं के विरुद्ध तो इसका कार्य बड़ा महत्वपूर्ण है। ७ साल के बाद अब श्रीमती कज़िन्स ने मंत्री-पद छोड़ा है और श्रीमती पटवर्धन इस वर्ष के लिए मंत्री चुनी गई हैं। इस अवसर पर श्रीमती कज़िन्स ने इसकी प्रगति का जो वर्णन सुनाया उससे मालूम पड़ता है कि इन सात सालों में बढ़ते हुए अब यह संघ एक अखिल संस्था बन गई है। अब इसकी ७१ तो शाखायें हैं, २५ केन्द्र हैं और ४ इलाक़

के क़रीब सदस्य हैं। देश के अनेक भागों में इसकी शाखायें फैली हुई हैं और इसकी ७ सदस्यायें विभिन्न कौंसिलों की मेम्बर है। ८० से अधिक स्थानिक संस्थाओं की सदस्या, आनरेरी मजिस्ट्रेट और यूनिवर्सिटियों की सीनेट की सदस्या हैं। श्रीमती कज़िन्स विश्व-भ्रमण के लिए जा रही हैं और इस संघ ने उन्हें अपना अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिनिधि बनाया है।

❀ ❀ ❀

पूना में १८ अप्रेल को महिला-विद्यापीठ और सेवा-सदन के प्रसिद्ध संस्थापक, स्त्रियों के हितार्थ अनवरत प्रयत्न करने वाले, त्यागी महानुभाव अध्यापक कर्वे की ७१ वीं वर्ष गांठ मनाई गई। इस अवसर पर कर्वे-जयन्ती समिति के सभापति श्रीयुत वामन मल्हार जोशी ने जो अपील प्रकाशित की, उसमें उन्होंने लिखा है---

"वह (कर्वे) न सिर्फ़ पूना के विधवा-गृह और भारतीय महिला विद्यापीठ के संस्थापक ही हैं; बल्कि वह स्वयं भी एक प्रकार की संस्था हैं।

उनका नाम न केवल महाराष्ट्र में बल्कि सारे भारतवर्ष में, न केवल धनी ही किन्तु धनी-ग़रीब सभी कोई, न केवल कुछ विशेष राजनैतिक दल ही बल्कि सभी दल, न केवल सुधारक ही किन्तु पुराने विचारों के लोग भी बड़े आदर से लेते हैं। यह अपूर्व स्थान उन्हें कोई एक दिन में ही नहीं मिला है। उन्हें भी वे सभी कष्ट उठावे पड़े हैं, जो हर एक आदमी के भाग्य में बदे होते हैं—जो साधारण लोगों के वहमों और पुराने ख़यालों के विरुद्ध कुछ भलाई का काम करना चाहते हैं और ख़ास कर जब कि उनके पीछे धन या पद का सहारा न हो। वह आप ग़रीब आदमी थे। अपने काम के पहले दस वर्ष तक तो धनियों से कुछ भी अधिक मदद या प्रशंसा नहीं मिलती थी। उधर बेपढ़े लोग विधवाओं को शिक्षा देने की उनकी सुधार-प्रवृत्ति के लिए उन्हें गालियाँ दिया करते थे। फिर पढ़े लिखे लोग भी उन्हें बहुत थोड़े उत्साह से सहायता दिया करते थे, क्योंकि उन लोगों की दृष्टि में अध्यापक कर्वे का यथेष्ट आगे न बढ़ना उनकी कायरता थी। इन सब कठिनाइयों को जीत कर वर्षों की मिहनत, धैर्य और आत्म-त्याग से उन्होंने शत्रुओं को श्रद्धालु और थोड़ी सहानुभूति करने वालों को उत्साही अनुयायी बना लिया है। उनके समान आदमी सभी देशों में विरले ही होंगे, और ख़ास कर हिन्दुस्तान जैसे देश में जो कि कई परिस्थितियों के कारण न तो अपने वीरों को पहचान ही सकता है और न उनको उत्साह-दान ही दे सकता है। उनको जानने वाले या जिन्होंने उनका नाम सुना है (यानी प्रायः सारा का सारा शिक्षित हिन्दुस्थान) वे स्वभावतः ही चाहते हैं कि हमारे बीच अध्यापक कर्वे अभी बहुत दिन रहें। और ऐसे लोगों की आयु को बढ़ाने का एक अच्छे से अच्छा तरीक़ा यह है कि हम अपने कामों से उनके मन में यह भावना उत्पन्न करावें कि आख़िर उनकी क़ीमत हम ज़रूर समझते हैं और उस काम का समर्थन करना चाहते है, जिसे उन्होंने इतने आत्मत्याग-पूर्वक अपना लिया है। उनके कुछ मित्रों और भक्तों ने उनके नाम में असहाय विधवाओं को पढ़ाने के लिए छात्र वृत्तियां देने के लिए एक कोष खोल दिया है। आशा की जाती है कि धनी और शिक्षित वर्ग के सभी कोई खुशी से उस आंदोलन की सहायता करेंगे।

कर्वे महाशय की कार्य पद्धति से भले ही किसी का थोड़ा-बहुत मतभेद हो; पर इसमें शक नहीं कि उनका उद्देश्य निस्संदिग्ध है। उनमें त्याग है, निःस्वार्थता है, पटुता है, और इन सब से भी बढ़ कर उनके हृदय में आग है स्त्रियों की दयनीय दुर्दशा की और उसे दूर करने की लगन की। स्त्रियों के हितार्थ कार्य करने वालों और ख़ास कर स्त्री-कार्य कर्ताओं को कर्वे महाशय के उदाहरण से स्फूर्ति प्राप्त करनी चाहिए और उनके उठाये हुए काम को तब तक बराबर जारी रखना चाहिए, जबतक कि उसका उद्देश्य पूर्ण नहीं होजाता। जयन्ती के संगठन-कर्ताओं ने २५ हज़ार रु० जमा करने का भार उठाया है। महात्मा जी का कहना है कि "यह रक़म तो तुरन्त ही उन बहुत से स्त्री-पुरुषों के यहाँ से आजानी चाहिए, जिनपर चुप चाप काम करने वालों के इस सरदार का असर पड़ा है या जिन्होंने इनके आजीवन श्रम से लाभ उठाया है।" स्त्रियोद्धार के कार्य से दिलचस्पी रखने वाले स्त्री-पुरुषों को इस पर ध्यान देना चाहिए।

❀ ❀ ❀

प्रयाग में गत २ फरवरी १९२२ को एक महिला-विद्यापीठ की स्थापना हुई थी। उसकी पहली रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। उससे मालूम होता है कि इस अरसे में उसने अच्छी तरक्की की है। उसमें तीन परिक्षायें होती हैं—विद्याविनोदिनी, विदुषी और सरस्वती। मैट्रिक, बी० ए० और एम० ए० के मुक़ाबले की इन्हें बताया जाता है। इनमें से अब तक कुल ३२१ स्त्रियां विद्याविनोदिनी परीक्षा पास कर चुकी हैं, ६१ विदुषी हो चुकी हैं, और २ सरस्वती हुई हैं। विद्यापीठ इंग्लैण्ड के 'अभिभावक राष्ट्रीय शिक्षा-संघ' के ढंग की संस्था है; इसमें सिर्फ़ परीक्षायें होती हैं, पढ़ाई घर पर ही की जाती है। पंजाब, बिहार-उड़ीसा, दिल्ली, मध्य-प्रान्त, बंगाल, आसाम, राजपूताना और ब्रह्मा के अनेक स्थानों में इसकी परीक्षायें होती हैं। कई स्थानों के बोर्डों ने उत्तीर्ण परीक्षार्थिनियों को पुरस्कार आदि दे कर और जयपुर, बीकानेर, बांसवाड़ा, ग्वालियर आदि कुछ रियासतों ने अपने-अपने यहाँ परीक्षाओं का काम अपने नियंत्रण में करके इससे सहयोग किया है। कई जगह नौकरी के लिए भी ये परीक्षायें स्वीकृत हो गई हैं, इससे परदेदार औरतों और शर्मीली विधवाओं के लिए पढ़ाई की बड़ी सुविधा हो गई है। पर रिपोर्ट से मालूम होता है कि उत्तीर्ण विद्यार्थिनियों का लक्ष्य ज़्यादातर नौकरी ही रहा है। यह बात खटकनी है। अच्छा हो, इसके संगठन-कर्त्ता इस ख़ामी को दूर करने का प्रयत्न करें। क्योंकि, हमारी नम्र-सम्मति में, शिक्षा का परम लक्ष्य नौकरी नहीं, बल्कि मनुष्य-जीवन में सम्पूर्णता को लाना है। नौकरी तो एक गौण बात है, और आज के दिन तो वह और भी निकृष्ट है। हाँ स्वावलम्बन की बात समझ में आ सकती है—पर क्या ही अच्छा हो, यदि वह नौकरी के बजाय किसी घरेलू उद्योग-धन्धे के द्वारा हो!

युवतियों की अकाल मृत्यु

सहयोगी 'आज' इस शीर्षक से लिखता है—"१५ से २० वर्ष तक की युवतियाँ बहुत अधिक संख्या में क्षय रोग से मरती हैं। कलकत्ते के हेल्थ आफ़िसर का कहना है कि उक्त उम्र के जितने पुरुष इस रोग से मरते हैं उससे छः गुनी अधिक स्त्रियाँ मरती हैं। इसके दो प्रधान कारण आपने बताये हैं—परदा और बाल-विवाह। कलकत्ते जैसे घने शहर में जो परदे की रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें अपनी स्त्रियों को ऐसी जगह बंद कर रखना पड़ता है, जहाँ ताज़ी हवा और धूप भी पहुँच नहीं सकती। स्वास्थ्य-रक्षा के ईश्वरदत्त इन दो उपायों से वंचित स्त्रियाँ स्वभावतः अल्प-वयस में ही परलोक सिधार जाती हैं। दूसरा कारण बाल-विवाह है। शरीर पुष्ट होकर माता बनने योग्य बनने के पहले ही लड़कियाँ गर्भवती होती हैं और वर्षों बच्चों को दूध पिलाती हैं। फलतः जो समय स्वभावतः उनके यौवन का होना चाहिए वही बुढ़ौती का होता है और बीस साल की उम्र तक उनकी इहलीला समाप्त हो जाती है। यदि समाज अपनी बहू-बेटियों की रक्षा करना चाहता हो, तो उसे इन दोनों कारणों का प्रतिकार करना चाहिए।"

जर्मनी में महिला-आंदोलन

"पृथ्वी के प्रायः जितने सभ्य देश हैं, बीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ से ही, वे सब इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि उनकी स्त्रियां भी उनकी राष्ट्रीय और सामाजिक उन्नति में उनसे सहयोग करें या करने योग्य हों।" यह लिखते हुए गोरखपुर के डा० विश्वनाथ मुकर्जी ने 'आज' में बताया है कि "इस विषय में यदि किसी देश की स्त्रियों ने सब से अधिक सफलता प्राप्त की है तो वह जर्मनी ही है।" उनके लेखानुसार,

स्त्रियों की स्वाधीनता का आंदोलन जर्मनी देश में बहुत पहले ही से मौजूद था; परन्तु महासमर के बाद थोड़े ही दिनों में इसको आश्चर्यजनक सफलता मिली। इसके पूर्व राष्ट्रीय परिषदों के सदस्य-निर्वाचन का अधिकार उनको केवल नाम-मात्र के लिए था। परन्तु अब वे स्वयं निर्वाचन प्रार्थी होकर यथारीति प्रतियोगिता करने के बाद अपनी योग्यता को भली भांति प्रमाणित करके सदस्य-पद को प्राप्त कर रही हैं। अब तो बड़ी जर्मन व्यवस्थापक सभा, प्रादेशिक सभाओं और मन्त्रिमंडलों में—कहीं भी योग्य महिला सदस्य की कमी नहीं दिखलाई देती। क़रीब सत्तर वर्ष पहले जर्मनी स्त्रियों ने विश्व-विद्यालय में प्रवेश का अधिकार प्राप्त किया था। परन्तु अब तो जर्मनी की लड़कियों को भी लड़कों की ही तरह सब प्रकार की शिक्षा दी जाती है।"

मुकुन्द

शुभ-प्रभात

सत्य सूर्य की अरुण छटा ने,
अनुपम दृश्य दिखाया है;
तिमिर-राशि को भेदन करके,
नवजीवन सरसाया है।

विश्व-विजयिनी प्रबल क्रांति ने,
यह संदेश सुनाया है—
शीघ्र तजो दासत्व-भाव को,
कर्मयोग युग आया है।

मातृ-वंदना करके वीरो, आगे को अब बढ़े चलो।
विजय तुम्हारी निश्चय होगी, दृढ़प्रतिज्ञ हो चले चलो॥

गुरुप्रसाद पाण्डेय 'गुरु'

आह्वान !

मां, आज तुम्हारी यह कैसी दर्दनाक दशा है? तुम तो अत्यन्त वैभव-शालिनी, कीर्तिवती, प्रकाशमयी और अपनी विशुद्ध एवं जाज्वल्यमान ज्योति से सारे जगत को जगमगाने-वाली हो! तुम्हारे अतीत-उत्कृष्ट गौरव, तुम्हारे विमल यश, तुम्हारी विशालहृदयता, तुम्हारे सराहनीय विश्वप्रेम, तुम्हारी अगाध ज्ञानराशि और तुम्हारे पुत्रों की अनुकरणीय कर्त्तव्यपरायणता का लोहा संसार मान चुका है। तुम्हारी वात्सल्यमयी, दयामयी, क्षेममयी, क्षमामयी, ओजमयी, सौन्दर्यमयी और कर्त्तव्यमयी दिव्य-विभूतियों का स्मरण कर दुनिया के निष्पक्ष दिग्गज विद्वान आज भी तुम्हारे सामने नत-मस्तक होते हैं। तुम्हारा गौरव, तुम्हारी कीर्ति और तुम्हारी सभ्यता बहुत महान, अत्यन्त उज्ज्वल और बहुत प्राचीन है।

पर, माँ, आज ये सब बातें एक स्वप्न की वस्तु क्यों हो रही हैं ? आज इनका साक्षात् दर्शन तो दूर रहा, इनकी एक झलक-मात्र का मिलना भी क्यों दुर्लभ हो रहा है ? क्या तुम्हारे वे अनोखे दिन, तुम्हारी वह स्वर्णखचित पुण्यभूमि और तुम्हारे उस यशाभिभूत दमकते हुए तथा सूखे और निर्जीव देह में प्राण-संचार करने वाले मुखारविन्द के दर्शन न होंगे ? क्या स्वर्ग और इन्द्रपुरी में रहने वाले देवता और देवियाँ यहाँ आने को फिर न तरसेंगी ? माँ, हमारी प्रेम की धारा बहाने वाली माँ, कुछ उत्तर क्यों नहीं देतीं ? आज तुम इतनी अस्तव्यस्त, इतनी दीन-हीन, इतनी विमना और खिन्न, ऐसी विरूपा और कान्ति-हीन तथा ऐसी हतोत्साहित एवं निराश क्यों दीखती हो ? तुम किस शोक, ग्लानि, क्रोध, प्रमाद या पश्चात्ताप की भयंकर आग में जल रही हो ? माँ, तुम्हारा यह कैसा विचित्र हाल है ? इतनी बड़ी गृहस्थी रख कर भी तुम्हारे यहाँ आनन्द के सोते बहते थे, दुःख और चिन्ता फटकने भी नहीं पाती थी, चारों ओर प्रेम और शान्ति विराजमान थी; संसार में तुम्हारे उस सुख-सौख्य, प्रसन्नता और प्रेम का सानी रखने वाला कोई नहीं था। पर, उसके ठीक विपरीत, आज तुम्हारी यह कैसी शोचनीय दशा है ? तुम्हारी यह विशाल गृहस्थी आज इतनी छिन्न-भिन्न क्यों हो रही है ? तुम्हारे बच्चे जहाँ दूध से कुल्ले करते थे, जहाँ दही और दूध की नदियाँ बहती थीं, वहीं पर तुम्हारी सन्तान आज एक टुकड़े सूखी रोटी और ज़रा से शाक के लिए तरस-तरस और तड़प-तड़प कर इस संसार से अकाल ही में क्यों कूच कर रही है माँ ? जननि, ३२ करोड़ सन्तान की माँ हो कर भी आज तुम इतनी जर्जर, इतनी बेबस और ऐसी अनाथिनी क्यों हो रही हो ? क्या तुम्हें इसमें भी कोई आनन्द मिल रहा है ? अथवा अपने बहुसंख्यक पुत्रों की आँखों के सामने अपनी भयंकर दुर्दशा—जर्जरावस्था का स्पष्ट चित्र रख कर उन्हें लज्जित कर, कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होने का इशारा कर रही हो ? यह तो हम कैसे मानें कि इस शोचनीय अवस्था में अवस्थित रहने में तुम्हें कोई सुख मिल रहा है ! हाँ, दूसरी बात हो सकती है। पर, माँ, तुम्हारा यह ढंग हमें पसन्द नहीं आता। ऐ हमारी महाशक्तिशालिनी माँ, तुम्हारे पुत्र ऐसे पतित, ऐसे हीन, ऐसे ग़ुलाम, और ऐसे नगण्य हो गये हैं तथा उनमें आत्मगौरव, स्वातंत्र्य-प्रियता और मातृप्रेम के भाव इस प्रकार विलुप्तप्राय हो गये हैं कि उनपर तुम्हारा कितना ऋण है, इसका वे ख़याल भी नहीं कर रहे हैं ! तुम्हारी इस महाभयंकर जर्जरावस्था का उन्हें अनुभव तक नहीं हो रहा है। तुम्हारी दुर्दशा-रूपी शहतीर उनकी आँखों में घुसेड़ी जा रही है, पर यह उन्हें सूझ भी नहीं पड़ रहा है ! वे आज हाथ-पाँव रखते हुए भी लूले और पंगु, आँख रख कर भी अन्धे और शरीर रख कर भी जड़ हो रहे हैं। उनमें कोई शक्ति, कोई हिम्मत, ज़रा भी अवशेष नहीं रही। इसीलिए हम कहते हैं कि तुम्हारा यह ढंग हमें पसन्द नहीं आ रहा माँ, इस प्रकार तो तुम शायद ताकती ही रह जाओ और बहुत सम्भव है कि तुम्हारी इन ३२ करोड़ सन्तानों की कर्त्तव्य-विमुखता के कारण तुम्हें और भी विपद्ग्रस्त हो जाना पड़े। फिर ऐ मेरी विकराल काली-स्वरूपा जननि, तुम क्यों नहीं थोड़ी देर के लिए अपने इस रुख़ को बदलतीं ? माँ, तुम इन सब बातों को अच्छी तरह जानती, समझती और महसूस करती होगी। और हम से कहीं अधिक महसूस करती होगी। पर, फिर भी, तुम कुछ हिल-डुल नहीं रही हो ! माँ, इसका क्या रहस्य है ? क्या तुम यह समझ रही हो कि तुम्हारे उठने का, तुम्हारे कर्त्तव्यादेश करने का और रणभेरि बजाने का समय नहीं आया ? माँ, तुम

महान् हो, तुम्हारी गरिमा, बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता और कार्यदक्षता अनोखी है। यह तो हम कैसे कहें कि तुम यह समझ कर भूल कर रही हो कि अभी तुम्हारे उठने का समय नहीं आया; पर, मेरी तुच्छ बुद्धि में, यही समझ पड़ता है कि समय और माक़ूल समय आ गया है। बहुत हो चुका—इतना हो चुका कि अब आगे असह्य होगा, प्रतीक्षा भी तुमने काफ़ी की और अब एक घड़ी भी और प्रतीक्षा करने की गुँजाइश प्रतीत नहीं होती। अब जरा भी आह-आँच, दया-माया और कृपा कोर दिखलाने का समय नहीं है। तुम्हारी सन्तानें आज चाहे कितनी ही पतित हो गई हों; पर उनमें तुम्हारे रक्त का कुछ प्रभाव अब भी विद्यमान है, उन्हें अपने अतीत उज्ज्वल गौरव का अभिमान है, और तुम्हारी जैसी अतुल विशालहृदया एवं अनेक गुणों से युक्त महिमामयी पूजनीया माता का बहुत भरोसा है। माँ, इन्हें उठाओ, जगाओ और यों न उठें तो कोड़े मार कर उठाओ। उनके उठ जाने भर की देर है, फिर तो वे रण-बाँकुरे तुम्हारे इशारे पर उसी प्रकार नाचेंगे, जिस प्रकार महाभारत में भीष्म और अर्जुन के इशारे पर कौरव और पाण्डवों की सेना नाचती थी। माँ, अब, तुम्हारी दिनों-दिन अबतर होने वाली दशा के अवरोध एवं उसके सुधार का इसके सिवा कोई तरीक़ा नजर नहीं आता!

ऐ हमारी परमगौरवमयी, रत्नगर्भा, संसार में सभ्यता का स्रोत प्रवाहित करने वाली, अनन्त कीर्तिवती माँ! आज तुम्हारी हालत देख हमें रोना आता है—हृदय टूक-टूक हुआ जाता है। पर आज हम इतने कायर, ऐसे पस्तहिम्मत और ऐसे शक्तिहीन हो गये हैं कि तुम्हारी सन्तान कहलाने में भी हमें लज्जा आती है—सिर नीचा हो जाता है। पर, माँ, हमारी इस दयनीय दशा पर दयार्द्र होना भी तुम्हारे सिवा और किसे आता है? हमारा सहारा, हमें सान्त्वना और सन्तोष देनेवाला, हमारी खिन्नता और आलस्य को रौंद कर हमें प्रसन्न और जागरूक बनाने वाला और हमें कर्त्तव्यविमुखता से मोड़ कर कर्त्तव्य-परायणता के मार्ग पर अग्रसर कराने वाला तुम्हारे सिवा और कौन है माँ? हमारे हृदय में अगाध पवित्र प्रेम का सोता बहाने वाली जननि, तुम्हारा धैर्य, तुम्हारी सहिष्णुता, तुम्हारा प्रेम, और तुम्हारी मृदुलता अनुपम—स्वर्गीय है। पर अब धैर्य, सहिष्णुता और मृदुलता का समय नहीं रहा माँ, अब और अधिक इन्तज़ारी की भी आवश्यकता नहीं। तुम्हारे बच्चे सो चुके, बहुत सो चुके और अगर अपने वात्सल्य-मय कोमल करों से झँझोड़ कर उन्हें अब भी तुम नहीं उठाती तो हमें तो इस अनुपम विशाल मातृभूमि का भविष्य सर्वथा अन्धकारमय और निराशाजनक ही प्रतीत होगा।

मातेश्वरि! अब देर न करो; उठो और अपनी इन ३२ करोड़ सन्तानों की देह पर एक बार अपने परम प्रसादमय हाथों को फेर दो, ताकि इनमें त्याग और तपस्या, बल और बलिदान एवं जीवन और जागृति की ज्योति जगमगाने लगे और एक बार फिर वे अपनी अद्भुत अनोखी तथा अतुलनीय शक्ति का प्रदर्शन कर स्वतन्त्रतादेवी के चरणों में अपने 'पत्र-पुष्पों' की श्रद्धांजलि चढ़ा कर अपनेको कृत्य-कृत्य कर सकें और स्वतन्त्रतादेवी के आलोकमय आशीर्वाद को पा कर एक बार फिर वे संसार को चमत्कृत कर दें!

देवव्रत शार्म्मा

नवयुवको !

(१)

भारत के नवयुवको ! उठकर,
खड़े नहीं हो जाते क्यों ?
वृथा विलासी जीवन में फँस,
निज उपहास कराते क्यों ?

(२)

पद-पद पर हो रहे पराजित,
खोते हो अपना सम्मान ।
फिर भी ध्यान न आता तुमको,
जाती है पुरखों की शान ।

(३)

निद्रा-तन्द्रा को तज करके,
स्वत्व-समर में आ जाओ ।
दास्य-पाश को छिन्न भिन्नकर,
फिर स्वतंत्र कहला जाओ ।

(४)

एक बार सब मिल जायें तो,
सारा विश्व हिलादें हम ।
विश्व-सरोवर के तट पर अब,
स्वर्ग-सरोज खिलादें हम ।

प्रभुनारायण शर्मा

"मातृभूमि की महान् आत्मा वही बलि-वेदी है, जहाँ उसके सपूतों की बलियों का ढेर लगा है ।"

श्रीमती डॉ॰ एनी बेसेण्ट

बाग़ी

हाँ, मैं बाग़ी हूँ । बलवे का झण्डा मेरे हाथ में है । मैं दौड़ता हूँ । धीरे-धीरे चलने की फ़ुरसत मुझे कहाँ ? जो चाहें, इस झण्डे के नीचे दौड़ कर आ जायँ और होलें मेरे साथ । मैं किसी के लिए ठहर नहीं सकता । कोई शोर न मचावें । काम करते चले जावें । बस, यही सच्चे बाग़ी के लक्षण हैं ।

यह बग़ावत का झण्डा है—संसार की तमाम अव्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए, विषमताओं को जलाने के लिए, अन्यायों को डुबोने के लिए । सावधान हो जायँ वे ब्राह्मण, जो आज तक अपनी धार्मिक सत्ता और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए नाना प्रकार के छल-कपट करते आये हैं, जो अन्य वर्णों को नीच समझते आये हैं, जो अपनेको विद्या, बुद्धि और पवित्रता का ठेकेदार मानते आये हैं, जो वेदों के खज़ांची होने का दावा करने पर भी वेदों की दुम को भी नहीं जानते, जो नित्य पुराण पढ़ते रहने पर भी उनका रहस्य नहीं समझते, जिन्हें पता नहीं कि दर्शन किस खेत की मूली है, जिनकी पहुँच शब्द ब्रह्म से परे नहीं है, जिनकी रक्षा अपने धार्मिक ज्ञान को गुप्त रखने ही में है, और जो ब्राह्मण-भोजन पर अपनी आजीविका चलाते हैं ! हाँ, वे ब्राह्मण अब सावधान हो जायँ और याद रक्खें कि घोर कलिकाल मेरे झण्डे के नीचे खड़ा है । अब बिना चमत्कार के नमस्कार न होगा । केवल "ब्राह्मण" शब्द के सुन लेने भर से समाज का सिर उनके चरणों में नहीं झुकेगा । भारत—जागृत भारत अब ब्राह्मण-धर्म की निर्जीव प्रतिमा की पूजा नहीं करेगा । ब्राह्मणो, क्रोध से तुम्हारी भौंहें तन रही हैं ! ये बड़ी-बड़ी आँखें अपने समाज पर डालिए । देखिए उसकी दशा, और

लज्जा से सिर नीचा कीजिए। वेदों की रक्षा करने का तुम्हें अभिमान है? भारतीय संस्कृति को हमने जीवित रक्खा, इसका तुम्हें गर्व है? पर यह अहसान तुम किसपर जता रहे हो? केवल धर्मग्रन्थों की रक्षा देश, धर्म और जाति की रक्षा नहीं है। जिस समय हाथों में शमशीर लेकर देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए तुम्हें दौड़ पड़ना चाहिए था, जिस समय अपने अगाध आध्यात्मिक ज्ञान को देश की समस्त शक्तियों को एकत्र करके आक्रामक सत्ताओं का युद्ध द्वारा प्रतिकार करने में लग जाना था, तब तुम परमहंस बनकर अपने योगाभ्यास में लगे हुए थे वह योगाभ्यास था या कायरता? इस भयंकर लापर्वाही के कलंक को ब्राह्मणवर्ण के सिर से कौन धो सकता है?

क्षत्रियो,—भारत के उज्वल युग के निर्जीव स्मारक-जीवो! सदियों तक मेरे झण्डे के नीचे लड़-लड़ कर भी तुमने यह नहीं जाना कि मैं कितना दुष्ट और कैसा निर्दय हूँ! जब मुझे तुम्हारे वर्तमान पतन का खयाल होता है, तो मेरी आँखों में खून उतर आता है।। अरे, एक महान् जाति का इतना पतन भी इस आकाश के नीचे कभी हुआ होगा! तुम्हारा वह अतीत गौरव आज क्या मूल्य रखता है? उस समय तुमने जो कुछ किया वह केवल कर्तव्य था। आज उसके गीत गाकर तुम लोगों से आदर और श्रद्धा की आशा न रक्खो। तुम्हारा वर्तमान जीवन आज जितना घृणित है, शायद ही संसार में कभी किसी जाति का ऐसा रहा होगा।

कल और परसों जो स्वाधीनता के दुर्ग थे, आज वे ही पराधीनता और गुलामी के दुर्ग हो रहे हैं। जो स्थान एक समय सतीत्व-धर्म के पुण्य प्रकाश में जगमगा रहे थे, आज वहाँ से घोर घृणित व्यभिचार की गंदी हवा निकल कर संसार में दुर्गन्धि फैला रही है। जिन शमशीरों को देख कर दुश्मनों के छक्के छूट जाते थे, वहीं तलवारें आज देश को गुलाम बनाये रखने के काम में ली जा रही हैं। आह, यह है भारतीयों की इस मूर्ख धारणा का परिणाम कि देश की रक्षा के लिए केवल क्षत्रिय ही जिम्मेदार हैं! ओफ़, एक टुकड़े और चमकीले पट्टे के लिए वह शूर वनराज पालतू कुत्ता कैसे हो गया?

परन्तु मुझे इसकी पर्वा नहीं है। न इस मीमांसा में पड़ने का समय ही मेरे पास है। आज जो मेरी गति में चल सकता है वही जीता रहेगा। यह आँधी का जमाना है। देश और जाति को गिराने वाली तमाम शक्तियों को मैं नष्ट करने के लिए निकला हुआ हूँ। मैं शंकर—परन्तु प्रलयंकर रुद्र हूँ। अतीत सेवाओं का विचार करने के लिए मेरे पास समय नहीं है। तुम अगर आज कुछ काम कर सकते हो, केवल इच्छा से काम न चलेगा, तो इस झण्डे के नीचे खड़े हो जाओ। वरना, अलग हटो। पृथ्वी पर निकम्मे लोगों की जरूरत नहीं है।

परन्तु, सबसे अधिक अभिमान है इन व्यापारियों को। करोड़ों ग़रीबों की रोजी छीन कर अपने देश का कच्चा माल विदेशों में भेज कर और बना-बनाया विदेशी माल अपने देश में बेंच कर उसकी दलाली पर बड़े-बड़े प्रासादोपम भवन खड़े करने वाले व्यापारियो, ठहरो! देखते नहीं, तुम्हारे धनाभिमान और ग़रीब-द्रोही हलचलों को चूर-चूर करने के लिए एक महान् शक्ति का अवतार हो चुका है? देखते नहीं, उसके खप्पर की ज्वाला कितने देशों की धन-सत्ता को झुलसती हुई तुम्हारी ओर दौड़ी आ रही है? निर्णय करो। समय थोड़ा है। स्वदेशी धर्म का पालन करना चाहते हो, या आसुरी व्यापारी साम्राज्य का? याद रक्खो, ये साम्राज्य नाश के घर हैं। मेरी फूँक लगते ही भुर्र से उड़ जावेंगे। मजदूरों

के जीवन को पीस डालने वाले बड़े-बड़े कल-कारखाने अब नहीं चल सकेंगे—कम से कम तुम उनके मालिक बन कर मजूरों की कमाई पर गुलछर्रे नहीं उड़ा सकोगे। और न मनमाना माल पैदा करके उसे दूसरे देश के लोगों पर बिला जरूरत जबर्दस्ती लाद सकोगे। अरे, अपने माल के लिए बाजार तैयार करने के लिए तुम्हारे अन्यदेशीय भाइयों ने कितने घृणित काम किये हैं, धर्म के पवित्र नाम को कितना कलङ्कित किया है! सत्य, न्याय, समानाधिकार और स्वतंत्र व्यापारिक हक़ों के नाम पर विदेशों को कैसे लूटा है! कैसे-कैसे महायुद्ध छेड़े हैं और उनमें कितनी भीषण प्राण-हानि की है! खून का पानी करके तन-तोड़ मिहनत करके कमावे कौन और उसपर गुलछर्रे उड़ावे कौन! यह अब नहीं होगा। जाओ। यह देखो, बलवे का झगड़ा खड़ा होगया है!

आओ, मेरे प्यारे मजूरो, किसानो, कारीगरो, अछूतो, आओ। तुम्हारे स्वत्वों के लिए लड़ने को मैं आतुर हो रहा हूँ। संसार की बाल्यावस्था से ही तुम न जाने कितनी मुसीबतें झेलते आये हो। न जाने कितने अत्याचार तुमने सहे हैं। जो आया, तुम्हें नोचता ही आया। जिसने चाहा, उसने ठुकराया। पर तुम भी ऐसी मुलायम मिट्टी के बने हुए हो कि यह सब चुपचाप हाथ जोड़-जोड़ कर सहते चले गये। धनिकों की लूट को तुमने विधाता का कोप समझा और राज्याधिकारियों की ठोकरों को अपने पूर्व जन्म के पाप का फल। किसने कहा कि तुम अछूत हो? यह सब ढकोसला है। न कोई छूत है, न अछूत। सब एकसे हैं। यहां तो सिर्फ़ एक कसौटी है—पुरुषार्थ। जो चाहे अपने पुरुषार्थ के बल पर सद्गुण, सम्पत्ति और ऐश्वर्य कमावे और दूसरों के आदर का पात्र बने। पूर्वजों की कमाई पर मूछें मरोड़ना मूर्खों का काम है। संसार का ज्ञान-भण्डार तुम्हारा है। जितना चाहो लूटो। वेद, कुरान, बाइबल किसी जाति या वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं, जो उनके अनुसार आचरण करना चाहे उन्हींकी हैं। वह देखो आचार्य, मुहम्मद और ईसा की आत्मायें पुकार-पुकार कर कह रही हैं कि परमात्मा बचाओ हमें इन अनुयायियों से—हम इनके मारे तंग आगये! इनकी जबान पर तो "एक मेवा द्वितीयो" है और खुद हजारों जातियों में बँटे हुए हैं। ये अमर आत्मा के गुण-गान करते हैं और तुच्छ पशु-जीवन के लिए अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ कर दुम दबा के भागते हैं! इनकी जबान पर "अल्लाहो अकबर" है और बुरे से बुरे और घृणित काम करने से भी नहीं लजाते। ये अपनेको ईसा के अहिंसा धर्म और प्रेम-धर्म के अनुयायी बताते हैं और एक के बाद एक महायुद्ध करते चले जाते हैं; अन्य देशों की गरीब, दरिद्र, अज्ञान और भोली-भाली प्रजाओं में बाइबल लेकर के धर्म का प्रचार करने जाते हैं—बड़ी बगुला-भक्ति बताते हैं, जब कि सारा ईसाई-संसार मुझे भुला कर शैतान का अनुयायी हो बेतहाशा उसके पीछे दौड़ा जा रहा है।

मंदिर, मसजिद और गिरजाघर सब पाखंड के अड्डे हो रहे हैं। आओ, दिल को साफ़ करके यह बलवे का झण्डा उठा लो और इन पवित्र स्थानों से शैतान को मार भगाओ।

पर, जरा सम्हल कर! बलवे के मानी स्वेच्छाचारिता नहीं। बलवा निरंकुशता और अव्यवस्था का दूसरा नाम नहीं है। यह न समझ बैठो कि दुनिया में अकेले तुम्हीं खुदा के बन्दे हो, और सब काफ़िर हैं—नास्तिक हैं। बल्कि याद रक्खो कि तुम इन बुराइयों को दूर करने के लिए निकले हो। अगर तुम्हारे अन्दर सचाई, और समभाव, सेवा और भक्ति के भाव नहीं हैं, तो इस विशुभ्र झंडे के नीचे न आओ; जल कर भस्म हो जाओगे। यह बलवे का झण्डा है। अग्नि की

प्रचण्ड ज्वाला है । प्रबल झंझावात है । समुद्र का तूफ़ान है ।

यह झण्डा लेकर मैं संसार के कोने-कोने में एक नयी आग लगाने के लिए आया हूँ । समाज, शासक-संस्थायें, जातियां, कुटुम्ब, पाठशालायें, क़ानून, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र की नये सिरे से, नये सिद्धान्तों पर, रचना करने के लिए मैं आया हूँ । एक अद्भुत चैतन्य का उद्भव हो रहा है । आकाश नवीन प्रकाश से जगमगा रहा है ।

शान्ति ! सुनो !! देखो !!

एक नवीन शक्ति जन्म ले रही है । नवीन युग का उदय हो रहा है । आओ, उसका स्वागत करो । इस विजय-पताका का—अभिवादन करो ।

ओह ! यह क्या ? परसों जो चोरी थी, जो कल बग़ावत थी, वही आज हमारे देश की परम मंगल-मय आत्मा है !

प्रलयङ्कर शङ्कर

शक्ति का रहस्य

ब्रह्मचर्य ही प्राचीन भारतीय सभ्यता का आधार है । संसार की ऊंची-ऊंची सभ्यतायें भोग-विलास में पड़ कर नष्ट होती रही हैं । परन्तु हिन्दू सभ्यता के आचार्यों ने इस बात को भली प्रकार समझ लिया था कि इन्द्रिय-संयम ही उन्नतिशील सभ्यता का एकमात्र आवश्यक सिद्धान्त है । मेरी सम्मति में प्राचीन ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ही अत्यन्त भावपूर्ण है । संस्कृत के अनेक शब्दों में आश्चर्यजनक सौन्दर्य होता है और उनके अन्दर अत्यन्त गम्भीर रहस्य भरे होते हैं । "ब्रह्मचर्य" शब्द के धात्वर्थ पर ज़रा विचार कीजिए । यह दो शब्दों के मेल से बना है । ब्रह्म और चर्य । इसका अर्थ है, "ब्रह्म के साथ गति ।" ब्रह्म का अर्थ है, वृद्धि या विकास । ब्रह्म शक्ति का स्रोत है । ऐ नवयुवको ! तुममें भी उस प्रजापति की दैवीशक्ति का अंश मौजूद है । क्या तुम उसके साथ सहयोग करते हो, या भोग-विलास तथा क्षणिक सुखों और स्वार्थों के लिए उसका दुरुपयोग करते हो ? ब्रह्मचर्य ही सभ्यता और सदाचार का मूल है । यही राष्ट्रीयता का मूलमंत्र है । यही शक्ति का रहस्य है । संसार के सारे डाक्टरों की सारी दवायें स्वास्थ्य की इतनी रक्षा नहीं कर सकतीं, जितनी एक ब्रह्मचर्य द्वारा की जा सकती है । पुरुषत्व की शक्ति इन्द्रिय-संयम से ही प्राप्त होती है । हिन्दू-समाज और हिन्दू-सभ्यता का प्राण ब्रह्मचर्य ही था । हिन्दू-सभ्यता के प्राण-स्वरूप ब्रह्मचर्य का हमने अपमान किया है, इसी-लिए हमारा हर तरह से अधःपतन हो गया है । मुझे पूरा निश्चय है कि भारत सम्बन्धी सारी समस्यायें नवीन पुरुषत्व और नवीन शक्ति के सञ्चार से हल हो सकती हैं । जो जाति स्वतन्त्र होना चाहती है उसे पहले बलिष्ठ बनाना चाहिए। सच तो यह है कि दुर्भाग्य से आधुनिक प्रचलित शिक्षा-प्रणाली ने ब्रह्मचर्य पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया । पर हमें इस बात पर हैरान नहीं होना चाहिए कि स्कूलों और कालिजों से खूब चालाक व्यक्ति पैदा होते हैं । देश को चालाकों की नहीं, किन्तु सरल लोगों की आवश्यकता है, जो कि बलिष्ठ हों और देश की सेवा में अपने आपको बलिदान कर सकें । एक बात मैं साफ़-साफ़ कह देना चाहता हूँ कि पाश्चात्य सभ्यता की नक़ल करने से हिन्दुस्थान का कुछ नहीं बन सकता । भारतमाता को तो उन ब्रह्मचारियों के समूहों से ही आशा है, जो कि संसार के कोने-कोने में जाकर धर्म-पिपासु लोगों को ऋषियों का पुनीत सन्देश सुना सकें ।

आधुनिक शिक्षा के प्रभाव से हमारे दिमाग़ों में एक नशा पैदा हो गया है । नक़ल करना कमज़ोरी

है। विचार तथा जीवन के हर क्षेत्र में एक वस्तु की आवश्यकता है—शक्ति, बल। परन्तु बल का रहस्य यही है कि नक़ल न करके स्वयं अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाय। वैदिक सभ्यता का युग न मालूम कितना पुराना है। एक आधुनिक ऐतिहासिक का कहना है कि २०००० या २५००० वर्ष पहले वैदिक सभ्यता का युग था। इस युग के विषय में मैं जितना अधिक विचार करता हूँ उतना ही इसकी और सरलता पर मुग्ध होता जाता हूँ। आधुनिक सभ्यता की अपेक्षा प्राचीन सभ्यता में अधिक सरलता थी। सरलता ही सभ्यता की कुञ्जी है। अकसर हम लोग प्रजातन्त्र राज्य पर विचार किया करते हैं। मेरी राय है कि वैदिक प्रजातन्त्र अधिक उच्च था। राजा सदा जनता द्वारा चुना जाता था। मेरी राय में प्राचीन राजव्यवस्था का मुख्य तत्त्व प्रजातन्त्रवाद ही था। जनता की इच्छा को सन्मान दिया जाता था। प्रजातन्त्रवाद प्राचीन आर्यों को अज्ञात न था। धर्म का स्थान सदैव राजा के ऊपर रक्खा जाता था। वैदिक राजव्यवस्था का आधार आत्मनियन्त्रण और आत्मसन्मान था। आजकल दुनियादारी और व्यवहारकुशलता पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। पान के पत्तों की तरह चालाक लोगों की सर्वत्र ही अधिकता है। ऐसे आदमी भारत को स्वतन्त्रता नहीं दिला सकते। आर्यों का ज़ोर सदैव आत्मा की उन्नति पर था। मानसिक चतुरता द्वारा सफलता तथा स्वार्थ-साधन में कुछ सहायता तो मिल सकती है, परन्तु सफलता की प्राप्ति वस्तुतः आत्मा द्वारा ही होती है। जो कुछ स्थायी है, उसका निर्माता आत्मा है। आत्मा को ही अपने स्वाध्याय तथा जीवन का वास्तविक निर्माता समझो। आत्मिक शक्ति ही भारत को स्वराज्य दिलायेगी। अगर भारत में आत्मिक शक्ति की न्यूनता होगी, तो हम ऊँचे-ऊँचे उद्देश्यों तक नहीं पहुँच सकते। हमारे जातीय आन्दोलन यदि आत्मिक शक्ति से शून्य होंगे, तो वे गर्व, विषय-सुख, घृणा और झगड़ों के ही पैदा करने वाले होंगे।

आधुनिक ज़माने का ख़तरा यह है कि आजकल आत्मा को पराधीन कर दिया गया है। दैवी शक्तियों को मशीन का ग़ुलाम बनाया जा रहा है। आत्मा के अधिकारों को शक्ति-मदोद्धत सभ्यता पर क़ुर्बान किया जा रहा है।

ऋषियों की बुद्धिमत्ता का अनुसरण करना आपका प्रयत्न होना चाहिए। आजकल की स्पर्द्धा और पेचीदगियों ने मनुष्यों के जीवनों को बिलकुल पागलों की तरह बाह्य सुखों के पीछे भागना सिखा दिया है। इसीलिए आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने की बहुत अधिक आवश्यकता है। आधुनिक शिक्षा सर्वथा असफल रही है, क्योंकि इसने विद्यार्थियों की आन्तरिक शक्तियों को विकसित नहीं किया। अभी कुछ दिन हुए कि जर्मनी के एक महान् विचारक और राजनीतिज्ञ महापुरुष की मृत्यु हुई है, उनका नाम 'रैथिनो' था। उन्होंने अपनी एक किताब में लिखा है कि "आत्मा को विकसित करो"। यह तो प्राचीन ऋषियों के सिद्धान्तों का एक अनुवाद-मात्र है। मैं आधुनिक स्कूलों, कालिजों, यूनिवर्सिटियों और संसार भर की सरकारों से एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, कि आप अपने नवयुवक विद्यार्थियों की आत्माओं को विकसित करने के लिए क्या यत्न कर रहे हैं? क्योंकि, मुझे दृढ़ निश्चय है, आत्मा को विकसित करने में ही वास्तविक नवजीवन का विकास होता है।*

टी० एल० वास्वानी

---

* गुरुकुल-कांगड़ी के दीक्षान्त भाषण से

त्याग

(१) जब कृषक अपना सर्वस्व त्याग कर भूमि को दे देता है, तब उसको वह रत्न प्राप्त होता है, जो संसार का जीवनाधार है।

(२) मातृभूमि की बलि-वेदी पर जब वीर आत्मायें अपना जीवन त्याग देती हैं, उसी समय देश के उत्थान-काल का उदय होता है।

(३) यदि अपना और देश का भला चाहो, तो त्याग का मंत्र जपो—जीवन त्याग-मय बना लो। जो त्याग की महिमा समझता है, वह दूसरों के बंधन का त्याग करा सकता है। जो त्याग के महत्व को नहीं जानता, वह स्वयं दासता में जकड़ा हुआ है; दूसरों की मुक्ति वह क्या करा सकता है?

(४) हमारे जन्म-मरण का नग्न चित्र त्याग-मय है। जन्म-मरण का मध्यकाल ही सांसारिक जीवन का नाम है। यदि इस जीवन में जन्म-मरण के रहस्य को समझना है, तो उसी नग्न चित्र को सामने रखलो। त्याग का महत्व समझ लो, यही परमगति है—यही 'जीवन-मुक्ति' है।

(५) मनुष्य-मात्र को अपना भाई समझो। द्वेष का त्याग करो। यही सफलता की कुञ्जी है।

(६) विविध साम्प्रदायिक और धार्मिक झगड़ों को कभी महत्व की दृष्टि से मत देखो, न यह समझो कि साम्प्रदायिक तथा धार्मिक मतभेद हमारी अधोगति का मूल कारण है। वास्तव में जो इनका सत्य स्वरूप है, वह देखो। याद रक्खो कि प्रत्येक सम्प्रदाय की नींव उस महान् आत्मा की डाली हुई है, जिसके जीवन का मूल सिद्धांत केवल त्याग था। यदि हम यह समझ लें कि प्रत्येक संप्रदाय एक ही आधार पर अवलंबित है, तो सब संप्रदाय एक ही सूत्र में बंध जाते हैं। अनेकता मिट जाती है। एकयता प्राप्त होजाती है। एकयता ही तो उद्धार का मूल-मंत्र है। एकयता ही परमात्मा का साक्षात् स्वरूप है। वहदानियत इसीका तो नाम है। परन्तु इसकी प्राप्ति का साधन है एकमात्र त्याग।

(७) बहुत से लोग हिंसा अथवा अहिंसा के जाल में ऐसे फँसे हैं कि उन्हें अपने कर्म-पथ का ही ज्ञान नहीं। सामान्य रूप से हम यही समझे हुए हैं कि किसी जीव को दुःख देना ही हिंसा है; परन्तु, नहीं, दुःख का अंत अथवा फल यदि सुखदायक हो, तो हिंसा अपने गुण से पृथक होजाती है—हिंसा अपनी कठोरता का परित्याग कर देती है। हिंसा अहिंसा में परिणत हो जाती है। इसलिए हिंसा केवल दुःखदायक नहीं कही जा सकती। वास्तव में हिंसा वह है, जिसमें हानि हो। हानि का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इतना समझते हुए हमें स्पष्ट विदित होता है कि मनुष्यता का प्रतिपादन केवल अहिंसा से किया जा सकता है। परन्तु अहिंसा का साधन किस युक्ति से प्राप्त हो सकता है? इसका एक सुन्दर उदाहरण महात्मा कबीर देते हैं:—

> "कबि! आप ठगाइए, और न ठगिये कोय:
>
> आप ठगे सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय।"

"और न ठगिये कोय" यही तो अहिंसा का मूल-मन्त्र है। एक शब्द में इसीका नाम त्याग है।

(८) त्याग जीवन का अनमोल रत्न है। त्याग शक्ति का केन्द्र है। स्वर्ग और मर्त्य में त्याग का साम्राज्य है। जो त्याग करने से झिझकता है, उसे न भौतिक सुख मिलता है, न स्वर्गीय आनन्द। इसी लिए त्याग को अपनाना चाहिए। त्याग हमारे जीवन का मन्त्र हो। इसीके द्वारा हम दासता और दरिद्रता से मुक्त हो सकते हैं।

आत्माराम श्रीवास्तव

साहित्य-संगीत-कला

टीबों से

प्रिय मित्र,

तुम्हारे काश्मीर-वर्णन के पत्र पढ़-पढ़ कर मुझे ऐसा अनुभव होता है, मानों मैं भी तुम्हारे साथ प्रकृतिदेवी की इस लीला-भूमि में विचरण कर रहा हूँ। जब तुम वहाँ के लता-वितानों से सुशोभित, कुसुमावलि से सुरभित, नयनाभिराम वृक्ष-समूहों से आच्छादित, हिमगिरि-श्रेणी से वेष्टित, हरित-वसना उपत्यका-भूमि का वर्णन लिखते हो, तो मैं भूल जाता हूँ कि मैं ऐसे प्रदेश में हूँ, जहाँ हरियाली निर्धन की गाँठ के पैसे के समान है! उस शोभामयी प्रकृति-देवी की गोद में तुम्हें देख कर मेरे मन में कोई स्पर्द्धा नहीं होती; पर, हाँ, जैसी सरस नीरस गोद मुझे खेलने-कूदने को मिली है, उसीमें अधिकाधिक आनन्द का उपभोग करने के लिए मैं उत्साहित अवश्य होता हूँ।

तुम तो हो उस माता की गोद में, जो सर्वांग-भूषिता, रुचिर-वसना है; पर मैं हूँ अलंकार-विहीना माता की गोद में! माता की गोद किसे प्यारी नहीं होती? चाहे वह सजी-सजाई हो चाहे सीधी सादी। उस गोद की कोमलता, वात्सल्य की मृदुलता में भी क्या साज-शृंगार की आवश्यकता है? यहाँ और वहाँ देवी वसुन्धरा के वेश विन्यास में ही अन्तर है। वेश-विन्यास के अन्तर से ही रूप-लावण्य में भी तो अन्तर नहीं हो जाता? वह तो समान प्रकार से सौन्दर्य-सम्पन्न और चित्ताल्हादकारी होता है। प्रकृति कहाँ सुन्दर नहीं? उसका अंग प्रत्यंग सुन्दर है। सौन्दर्य आनन्दमय है। सर्वत्र सौन्दर्य है, आनन्द है। उस सौन्दर्य को देखने वाली आँखें चाहिएँ, और चाहिए उस आनन्द का अनुभव करने वाला मन। यह मरुदेश है, लोग इसे नीरस बताते हैं, सौन्दर्य-विहीन बताते हैं; पर मैं तो इसीके सौन्दर्य पर मुग्ध हूँ। तुम इस बात पर ज़रूर हँसोगे, पर मुझे तो इसी उपहास में सुख मालूम होता है।

आज प्रातःकाल की बात है; एक ऊँचे से टीबे के सिर पर बैठ कर मैं सूर्योदय देख रहा था। नील उदधि के उस छोर से निकलते हुए भगवान् अंशुमाली को पर्वत के उच्च शिखर पर से झाँकते हुए सूर्य को भी कई बार देख चुका हूँ, आज मरु प्रदेश के उस सिरे से ऊपर उठते हुए सूरज को देख कर क्या मेरी हृत्तन्त्रियाँ नहीं झंकृत हुईं? उस सौन्दर्य-दर्शन में कितनी आत्म-विस्मृति थी? मेरे मनोगत भावों को वाणी ने इस प्रकार प्रकट किया—

मरुस्थली की शोभा को चमका कर रूप-रतन से।
नभ-दुकूल से आच्छादित, नित-विरहित हरित-वसन से॥
स्वर्ण-कान्ति सम शोभामय इस अतिशय कोमल तन को।
प्रकृतिसुन्दरी दिखा रही है अपने प्रेमीजन को॥
आते-जाते क्षितिजप्रान्त पर देख स्थान निर्जन सा।
कर पसार, आलिंगन-आतुर होकर विह्वल मन सा॥
चूम रहा है प्रकृति-रूप में मुग्ध भानु धरती को।
विस्मृत कर दूँ इस क्रीड़ा में ताप-तप्त जगती को॥

उस सौन्दर्य के अवलोकन से जिस आनन्द की प्राप्ति हुई, उसीको हृदय में समेट कर ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। काश्मीर के कमनीय कलेवर में बैठ कर तुम इन्हें पढ़ोगे। तुम्हारी आँखों के आगे शुभ्र हिमाच्छादित शैल-शृंग होंगे, ये पंक्तियाँ तुम्हारी स्मृति को 'टीबों' की ओर आकर्षित करेंगी। अच्छा संघर्ष रहेगा।

हाँ, एक बात सूझी है। प्रकृतिदेवी काश्मीर में सोलह शृंगार से विराजमान है। यहाँ मरुभूमि में उसे किस वेश में देखूँ? वैधव्य वेश में? हाँ, ठीक तो है. कितना सुन्दर मिलान है! वहाँ यदि उन्मादकारी सौन्दर्य है, तो यहाँ गंभीर शान्तिमय तेजपूरित सौन्दर्य है। उस सौन्दर्य को देख कर मस्तक ऊपर उठता है, रूप-रस पान करने के लिए

आँखें टकटकी लगाये स्थिर हो जाती हैं, परन्तु यहाँ तो मस्तक नत हो जाता है—इस रूप के रजःकण को मस्तक पर धारण करने को जी चाहता है।

❀ ❀ ❀

तुमने गत प्रतिपदा को जो पत्र लिखा था, उसमें वहाँ के शैल-शिखरों पर लोटती हुई चारु चन्द्रिका का वर्णन था। मैं भी उस दृश्य को कल्पना की झाड़ियों में से आते हुए प्रकाश की भाँति देख रहा था कि सहसा मेरे नेत्र-द्वय के सम्मुख चन्द्रिकासिक्त सिकता-समूह का दृश्य आ गया। मेरी कल्पना की आँखें चन्द्रिका-सिक्त हिमगिरि देख रही थीं और मेरी असली आँखें सिकता-समूह! इन दोनों की क्या तुलना करूँ? वहाँ चाँदी पर चाँदी बरस रही है, यहाँ सोने पर चाँदी!

वही पूर्ण चंद्र, वे ही क्षीणप्रभ तारे काश्मीर के कमनीय कलेवर का अवलोकन कर रहे थे; और वे ही मरुस्थली के इस दीन-हीन वेश का भी! पूर्णिमा को बालू के कोमल से टीबे पर बैठकर मैं घण्टों तक उस हँसते हुए चाँद को देखता रहा। चाँद की वह हँसी मुझे भी हँसा रही थी, मेरे रोम-रोम को मुकुलित कर रही थी। चाँदनी से आलोकित क्षितिज प्रान्त पर सिकता-समूह और नीलनभ को गाढ़ालिंगन में निमग्न देख चाँद हँसता हुआ सा मालूम होता था। चाँद की वह हँसी देखकर क्या मेरे मन-मानस में हास्योर्मियाँ उत्थित न होतीं? ओह! कितना आनन्द, कितनी शांति, कितना सौन्दर्य था! कौन उसे नापेगा-तौलेगा? मेरी 'कविता' अभी पूरी नहीं हुई थी, मैंने उसमें ये पंक्तियाँ और जोड़ दीं-

चारु चन्द्र की मुदित चन्द्रिका नभपथ में जब आती।
कञ्चनसम सिकता-समूह पर रजत-राशि बरसाती॥
सुन्दरतर रमणीय वेश में प्रकृतिरमा इठलाती।
मेरे मन को मुग्ध बना कर रूप-सुधा भर जाती॥
रव-विहीन यह परमशांति की सुखकर भूमि दिखाती।
आदि-नाद की तान प्रणव होकर मन में छिड़ जाती॥
कभी-कभी केका मयूर की बैठ वायु के रथ में।
आती है इस परमशांति-मय निर्जन-नीरव पथ में॥
सुन-सुन कर इस मधुर तान को नवजीवन भरता हूँ।
ईश! तुम्हारा रूप मनोहर मैं देखा करता हूँ॥

यह सब क्या था? इस सौन्दर्य में किस का दर्शन होता था? उस सौन्दर्य के रचयिता का। कला में कलाकारका अवलोकन करना चाहिए। प्रकृति किस कलाकार की कमनीय कृति है? प्रकृति के मनोमुग्धकारी सौन्दर्य को देखकर प्रकृति-निर्माता के चरणों में वन्दन क्यों न किया जाय? प्रकृति के रूप-रस-पान का प्यासा बनने का यह कितना सुन्दर उद्देश है! ये भावनायें हृदय में जागृत रहें तो, मित्र, कितना सदुद्देश्य सम्पादन किया जा सकता है?

चाँदनी रात तो प्रकृति की न जाने कितनी क़ीमती थाती है! उसके बारे में तो तुम्हें क्या लिखूँ और कितना लिखूँ? तुमने भी तो लिखा है कि तुम अपने बँगले के प्रांगण में बैठकर थोड़ी देरतक उस नयनाभिराम चाँद को निहार रहे थे। कैसा सुन्दर सुयोग था? तुम चाँद को देख रहे थे, मैं भी! दोनों की आँखें एक ही जगह स्थापित थीं। तो क्या हम दोनों दूर थे?

❀ ❀ ❀

यह सर्वत्रव्यापी सौन्दर्य और आनन्द भी कभी-कभी वेश बदल कर कैसा पाठ पढ़ा जाया करता है! तीन दिन से कितनी गरमी है, कितनी धूल बरस रही है! यह प्रकृति-सुन्दरी का क्रोध है! इस क्रोध में उसे ताण्डव नृत्य करते हुए देखे बिना भी मैं नहीं रह सका। तेज़ धूप में बालू खाँ-खाँ करके उड़ रही थी। ओह, कितना भयानक दृश्य था! काश्मीर में भी सर्वत्र सौन्दर्य और आनन्द का सुख अनुभव करते-करते एक बार पहाड़ की चोटी से फिसलती हुई बर्फ़ को देखकर तुम घबराये थे! प्रकृति, ऐसा मालूम होता है, अपने सौन्दर्य प्रदर्शन के साथ ही साथ कभी-कभी यह रूप-रंग भी दिखा देती है। कोई सीखने वाला हो, तो क्या वह इससे कुछ सीख नहीं सकता? इन दिनों आँधी और गरमी के इस ताण्डव नृत्य ने मेरे हृदय में उथल-पुथल-सी मचा दी है। प्रकृति के उस सौन्दर्य को देख कर मैं ताप-तप्त जगती को विस्मृत कर देने के लिए आतुर हो रहा था। परन्तु, यह क्या? आज वही प्रकृति मुझे उसी ओर धकेल रही है। उसका कैसा अस्पष्ट आदेश मेरे कर्ण-कुहरों में आकर गुनगुना रहा है? प्राकृतिक सौन्दर्य-दर्शन में पागल सा होकर मैंने

उसके संबंध में जो कुछ लिखा था, उसका अंत मैंने इस प्रकार किया है—

प्रखर सूर्य की किरणों से जब मरुस्थली तपती है।
दीन जनों के जले हृदय की वह्नि देख पड़ती है॥
मरु—समुद्र में बालू की नीरस लहरें उठती हैं।
दीन जनों के मन में भी दुःख की आँधी चलती है॥
मरुस्थली से दीन हृदय में करुणानिधि! तुम आओ।
हर्षनाद से पूरित करके सौख्य-सुधा सरसाओ॥

प्रकृति के सुन्दर स्वरूप में मैंने ईश का अवलोकन करने का प्रयत्न किया था, परन्तु ईश के निवास-स्थान का संकेत तो आज मिला! इन टीबों से ही मैंने कितना सीखा, और न जाने अभी और कितना सीख सकता हूँ? बस,आज इतनाही! पत्र देना।

स्नेहाबद्ध—
श्रीगोपाल नेवटिया

गौरव-गीत

४
समुद्रगुप्त का गीत

"आर्यवीरो! तुम्हारे पूर्वज अपूर्व प्रतिभाशाली तथा मेधावी थे। वे ऐसे योग्य हुआ करते थे कि स्वयं ज्येष्ठ पुत्र न होने पर भी, अपनी योग्यता के बल से, युवराज-पद प्राप्त कर लेते थे। वे केवल कवि, विद्वान, विद्वान-प्रिय तथा कला-निपुण ही न होते थे, बल्कि अनुपम वीर भी होते थे। वीरत्व-निदर्शक क्षत सैकड़ों की संख्या में उनके शरीर पर शोभित रहते थे। आर्य समुद्रगुप्त तुम्हारे ऐसे आदरणीय एवं अनुकरणीय पूर्वजों में से एक थे।

"वीरो! उस वीर-शिरोमणि की याद करो, जिसने योद्धाओं को योद्धापन भुला दिया था; जिसने मद्रकों का मद नष्ट कर दिया था; जिसने देव-पुत्रों का देवत्व तथा शाही-शाहानुसाहियों का शकत्व धूल में मिला दिया था। आर्य-वंश-उजागरो! तुम उस आर्य-वंश-प्रदीप को अपना समझ कर गर्व करो, जिसने कौशलपति महेन्द्र का महेन्द्रत्व, महाकान्तारांधिपति व्याघ्रराज का एकाधिपत्य तथा कोट्टूर नरेश स्वामिदत्त का स्वामित्व धूल में मिला दिया था। वीरो! तुम इसे न भूलो कि मालव-सी भीषण जाति को आर्य समुद्रगुप्त ने ही अधीन किया था; देवराष्ट्र महाराष्ट्र के कुबेर का मान-मर्दन करने वाला आर्य समुद्रगुप्त ही था; और सुदूरवर्ती लंकाधिपति से सिर नवाने वाला भी आर्य समुद्रगुप्त ही था।

"वीरो! स्मरण करो इस बात को कि वह और किसी का पूर्वज नहीं था, तुम्हारा ही पूर्वज था, जिसके सम्मुख रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, नागदेव तथा नन्दी के मस्तक झुके थे। न भूलो इस बात को कि पिष्टपुरावलम्ब महेन्द्र, स्थलपुर-नरेश धनञ्जय तथा वेंगी का प्रबल वीर हस्तिवर्म्म झुके थे तो केवल एक वीर के सामने, और वह वीर था आर्य समुद्रगुप्त। साथ ही सोचो किसने अर्जुनायन, आभीरादि जातियों को नतमस्तक किया था—किसने समतट, कामरूप, नेपालादि के नरेशों को गरुड़-ध्वज* का सेवक बनाया था—किसने और भी अनेकों अतुलित बलशालियों का छत्र भङ्ग किया था? तुम्हारे नेत्रों के सामने आर्य समुद्रगुप्त का चित्र नाचने लगेगा।"

५
हर्षवर्धन का गीत

"वीरो! प्राचीन समय में तुम्हारा एक पूर्वज दिग्विजय करने निकला था। उसके दिग्विजय की कथा चारणगण सैकड़ों वर्ष तक बड़े ओज और उत्साह से गाते रहे। उस वीर ने सुदूरवर्ती पूर्व में स्थित आसाम के प्रबल, प्रतापी, दुर्धर्ष नरेश को अपना सामन्त बनाया था। उस वीर ने सुदूरवर्ती पश्चिम में स्थित सौराष्ट्र के दिग्दिगन्त प्रसिद्ध वल्लभी नरेश से अपनी श्रेष्ठता मनवायी थी। उस वीर ने दिग्विजयी समुद्रगुप्त के गुप्त-साम्राज्य का नाश किया था। उस वीर ने गुप्त-वंशी महाराज शशांक से गौड़ छीना था। उस वीर से प्रागज्योतिष के प्रसिद्ध नरेश भास्कर वर्म्मा ने मैत्री कर अपनेको सौभाग्यशाली समझा था। ऐसे वीर का नाम था—महाराजाधिराज हर्षवर्धन।

"वीरो! प्राचीन समय में तुम्हारा एक पूर्वज प्रत्येक पांचवें वर्ष मौक्ष-महापरिषद् किया करता था। उस मौक्ष-महापरिषद् की कथा चीनी परिव्राजक ने बड़े ओज और उत्साह से वर्णन की है। उस मौक्ष-महापरिषद् में आसाम तथा नैपाल के महीपों से लेकर नर्मदा तथा सौराष्ट्र तक के

* गुप्त-सम्राटों का राजकीय चिह्न

नरेश आते थे। उस मौक्षमहापरिषद् में राज्य-प्रबन्ध की अत्यन्त ही आवश्यक वस्तुओं को छोड़ कर वह प्रत्येक वस्तु दान दे देता था। उस मौक्ष-महापरिषद् के अन्त में वह अपनी भगिनी द्वारा दिया हुआ केवल एक वस्त्र पहने रहता था। उस मौक्ष-महापरिषद् का वर्णन वृद्ध लोग सैकड़ों वर्ष पीछे तक बड़े चाव से किया करते थे। ऐसे एक नहीं, कई मौक्षमहापरिषदों के करने वाले धर्मात्मा का नाम था—महाराजाधिराज हर्षवर्धन।

"वीरो! प्राचीन समय में तुम्हारा एक पूर्वज वर्षा को छोड़कर समस्त वर्ष अपने आसाम से सौराष्ट्र तक सुविस्तृत साम्राज्य में प्रजा के सुख-वर्धनार्थ परिभ्रमण किया करता था। उसके परिभ्रमण की कथायें सैकड़ों वर्ष तक प्रजा के हृदय में अभूतपूर्व आनन्द उत्पन्न करती रहीं। उस वीर की मैत्री सुविस्तृत चीन-महासाम्राज्य के अधिपति से थी। उस वीर के समय में भारतीयों और चीनियों में सुहृद-भाव स्थापित हुआ था। वह वीर था—प्रसिद्ध हर्ष-सम्वत् का संस्थापक महाराजाधिराज हर्षवर्धन।"

बालकृष्ण बलदुवा

पंखी-गीत

हे परम-गायक! तेरा गान कब सुनेंगे? तेरे पंख कब देखेंगे? तेरे साथ तालाब में कब स्नान करेंगे? रोज़ हमारे माँगने ही तू अपने प्रकाश का गोला आकाश में फेंक देता है। हे गायक! यदि हम कभी प्रकाश के गोले के लिए प्रार्थना करना भूल जायँ, तो हमारा दया करके बिना माँगे ही हमें प्रकाश भेज देना।

हम नहीं जानते कि तू कहाँ रहता है! तेरे पंख किस रंग के हैं, यह हमें कौन कहेगा? यह ऊपर दिखाई देने वाला मेघाच्छन्न आकाश ज़रूर तेरा अंडा है। अपने छोटे अंडे को तोड़कर हम बाहर निकले तब इस विशाल सृष्टि पर उड़ पाये। पर जब तेरा यह बड़ा अंडा फूटेगा, तब कितना विशाल जगत्—और सच पूछो तो उड़ान हमें उड़ने को मिलेगी। फिर तो हमें गाना भी नहीं पड़ेगा। तब तो हम तेरा गान ही सुनते रहेंगे। फिर तो रात में भी अंधेरा नहीं रहेगा। आँखें मूँद लेने पर भी हमें प्रकाश दिखाई देगा। उस दिव्य प्रकाश से ही हमारी प्यास बुझेगी। उस गायन से ही हमारी भूख शांत होगी। उस दिव्य जगत् में दुष्ट बिल्ली तो होगी ही नहीं। हमारे अंडे खा जाने वाले साँप भी नहीं होंगे। और सभी पक्षी बिना ज़रा भी आवाज़ किये इधर-उधर उड़ते रहेंगे। किसी को भूख भी नहीं होगी, इसलिए कोई पक्षी किसी दूसरे पक्षी को कदापि नहीं खायगा। बड़े-बड़े बाज़ पक्षी भी गरुड़ की भाँति छोटे-छोटे पक्षियों को अपने पंखों पर बैठाकर घुमाते ले जायँगे।

हे परम प्रकाश! समय आ गया हो, तो अपने बड़े अंडे को तोड़ दे। इस तंग दुनिया में अब नहीं रहा जा सकता। भय और भूख से हम व्याकुल हो गये हैं। इसका अंत कर। तेरी विशाल उड़ान हमें देखने दे।

हे परम-सुन्दर! तूने वह सप्तवर्णी पुल आकाश में फैला दिया है। क्या उस रास्ते होकर हम तेरे पास आवें? हम अकेले-अकेले कैसे आवें? जुदे-जुदे रंग वाले हम एकत्र होने के पहले ही तेरा वह पुल अदृश्य हो जाता है। हम एक वर्ण वाले भी इकट्ठे नहीं हो सकते, और न अनेक वर्ण वाले ही इकट्ठे हो सकते हैं। बगुले कौवे को नहीं पहचानते और पन्ना की आभा वाला तोता दोनों को नहीं जानता। तेरा यह सप्तवर्णी पुल तो साफ़-साफ़ यह कह देता है कि ये सब वर्ण एकत्र हों तभी हम रास्ते तेरे पास जा सकते हैं। जब वे एकता-पूर्वक रहने लग जायं। पर, करें क्या? हमारे ये वर्ण ही हमारे बाधक हो रहे हैं। पर बिना वर्णों के रहा भी कैसे जा सकता है? यह भी एक कठिनाई है। वर्णों का अभाव तो अंधेरे में होता है और अंधेरा तो हमें ज़रा भी पसन्द नहीं। अंधेरा यानी अशक्ति। अंधेरा हुआ कि उसके बोझ से हमारे पंख दब जाते हैं। उड़ना तो एक ओर रहा; पंख फड़फड़ाना भी कठिन हो जाता है। इसलिए, हे सूक्ष्म-किरण! या तो हमें अंधेरे में देखने और उड़ने की शक्ति दे, या ऐसी बुद्धि दे जिससे सब वर्ण एक दूसरे को पहचानें और तेरे सप्तवर्णी पुल की तरह अलग होते हुए भी एक दूसरे से हिल-मिल कर रह सकें। बड़े-बूढ़े कहते हैं कि कुछ पक्षी ऐसे होते हैं, जो अंधेरे में भी देख सकते हैं।

लेकिन ये बड़े दुष्ट होते हैं—हमारे बच्चों को ही खा जाते हैं। हे किरण ! अंधेरा है ही ख़राब चीज़। हमारे लिए अंधेरा दूर कर। अंधेरे में घूमने वाले पक्षी हमें न बना। सुबह-शाम, जैसा हमें याद है, हम तेरा नाम गाते रहेंगे। तेरे लिए तो आनन्द है ! आनन्द !! हाँ, आनन्द !!!

३

तेरे नाम असंख्य हैं। हम तो तुझे प्रकाश का गोला जानते हैं। हम तुझे किरण कहते हैं। तू ही गायन है, तू ही वर्ण है, तू ही अन्न है, तू ही प्राणी है, चित्र विचित्र छायाओं का बनाने वाला भी तू ही है, भय के समय छिपे रहने के लिए हमारा आश्रय-स्थान भी तू ही है। तू ही धूप और तू ही वर्षा है। जागृति और निद्रा तेरे ही रूप हैं। हमारे हृदय को सुख देने वाली और हमारे पंखों को ऊपर रखने वाली वायु भी तू ही है। दाना चुगने के लिए हम चाहे कहीं किसी भी दिशा में उड़ गये हों, तो भी हमें अपने बच्चों का स्मरण रहता है। वह भी तू ही है। और दाना खाते-खाते उसमे अरुचि हो जाती है, तब पत्तों के नीचे या कीचड़ में मिलने वाला कीड़ा भी तो तू ही है। गरमी के दिनों में छाती फुला-फुला कर तू ही हमारे साथ नहाता है। सुबह-शाम तू ही हमारे कण्ठ में बैठ कर तरह-तरह के आलाप लेता है। अंधेरा होते ही हमारी आँखों में तू ही सो जाता है। सुबह होने पर तू ही आँखें खोलता है। तुझे आनन्द है ! आनन्द है !! आनन्द !!!

४

अरे, यह क्या हुआ ? ऐ प्रकाश ! यह क्या हुआ ? रोज़ सुबह, अंधेरे पर, तू विजय पाता है। आज तो अंधेरा ही तुझे निगले जा रहा है ; बाज़ जब हमें पकड़ने को दौड़ते हैं, तब हम तेरा स्मरण करते हैं, और तू हमें बचाता है। आज तुझे बचाने के लिए कौन दौड़ सकता है ? अरे ! गया ! गया—प्रकाश का बिम्ब गया ! अब जगत् का और उड़ान का क्या होगा ? तब क्या अंधेरा ही सबसे अधिक बलशाली है ? हे काल-स्वरूप अंधकार ! आज भले ही तेरी बन आय, पर हम तुझे नमन नहीं करेंगे। हम तेरा गान नहीं गावेंगे। यदि तू तेज के गोले को खा जायगा, तो भी हम तो उसी का ध्यान करेंगे। तू बिल्ली है, तू साँप है। तू बाज़ों का बाज़ है। तुझे भय हो ! भय !

हाय-हाय ! अब क्या होगा ? यह तो चारों ओर अंधेरा छा गया ! लेकिन यह अंधेरा तो विचित्र मालूम होता है। यह एकाएक आता है, लेकिन इसका बोझ नहीं लगता। इतना अंधेरा छा गया, लेकिन आँखें बन्द नहीं होतीं और पंख भी भारी नहीं मालूम होते।

भाइयो ! यह समय बैठे रहने का नहीं है। सभी उड़ो। जिधर सूझे उड़े जाओ। गले में जितना ज़ोर हो, उतना लगा कर, कोलाहल करो। इस अंधेरे को निकाल भगाना ही होगा। नहीं तो हमारे घोंसले तक पहुँचने के पहले ही यह हमारे अंडों और बच्चों को खा जायगा। न मालूम इसके कितनी चोंचें हैं ! एक ही क्षण में वह सबों के घोंसलों में पहुँच जाता है। उसे भय हो ! भय हो !! भय !!!

५

हारा ! अंधेरा गया ! तेज का गोला विजयी हुआ। चलो हम सब गावें। गाते-गाते घर जायँ। घर जाकर अंडों-बच्चों के समाचार जानें। काला स्याह अंधेरा न जाने कितना उनके शरीर पर चिपका होगा। एक बार नहा डालें, तो अच्छा हो। न मालूम अंधेरा कहाँ से आया था। रोज़ अँधेरा पूर्व से आता है, और सुबह पश्चिम की ओर दौड़ता चला जाता है। वह भारी होता है। हमें सुलाता है। लेकिन यह बिल्ली के जैसा अंधेरा, बिल्ली के समान ही, अचानक न जाने कहां से आ गया। और पता नहीं न जाने कहां एकाएक चला भी गया ! बच्चे कहते हैं कि तेज के गोले ने अपने किरणों के कोड़ों से उसे भुन डाला। यदि ऐसा है तो उसके टुकड़े कहां हैं ? शायद वह हमारे अंडों के अंदर ही छिप गया है। यदि ऐसा न होता, तो हमें हमारे अंडों को इतने दिन सेना न पड़ता।

अब हम इसके लिए किस देवता की प्रार्थना करें कि यह अंधेरा तेज के गोले को फिर न सतावे और उसे खा न जाय ? इस अंधेरे को अजीर्ण हो, इसके पेट में कुछ भी न रहे, इसका अंडा फूट जाय ! प्रकाश तुझे आनन्द है ! आनन्द है !! आनन्द !!!

६

प्रकाश ! यदि तुझे प्यास लगती हो, तो उन बादलों को पी जाना। हमारे तालाब में अपने किरण मत डालना। देख, वह पानी कितना कम हो गया है !

नहीं, हम कृतघ्न नहीं हैं ! हम यह जानते हैं कि तेरी कठोरता में भी तेरी कृपा ही है। देख, पानी कम करके तूने हमें कितनी मछलियां और जीव-जन्तु दिये। सचमुच तू दयामय है। अन्नपूर्णा भी तेरा ही नाम है। खेतों का अनाज ख़तम हो जायगा, यह जानकर ही तूने इतनी मछलियां और जीव बनाये। और जब हमारी ज़रूरतें अधिक होती हैं तब तू पानी का भंडार खोल कर हमारे आगे बहुत सी अन्न-सम्पत्ति रख देता है। लेकिन, हे प्रकाश ! क्या तू एकाध तालाब में भी पानी भरा हुआ न रहने देगा? हम उसे पक्ष-पात नहीं कहेंगे। हम सब आपस में समझ लेंगे और सब वर्ण के पक्षी एक ही सरोवर के पानी में नहायेंगे और क्रीड़ा करेंगे।

७

बारिश ! तुझे इतनी जल्दी पड़ी है ? हम शरीर में तैल की मालिश करें, तब तक भी तू ठहर नहीं सकती ? साँझ होने आई। हम भीग जायँगे, तो रात में हमारा क्या होगा ? हम हमारे अंडों को किस तरह सेवेंगे ? अपने बच्चों को गरमी कैसे देंगे ? हमारा घोंसला सब भीग जायगा। फिर आकाश के समान वह भी रोने लगेगा। हमारे घोंसलों को छोड़कर खेतों को ही पानी पिलाना तू नहीं जानता ? तेरी किरणें भी तो प्रकाश के गोले की किरणों के समान लम्बी-लम्बी होती हैं। लेकिन वे इतनी ठण्डी क्यों होती हैं ? तुम दोनों एक ही पेड़ पर तो रहते हो न ? सम्भव है कि वह तीखे फल ज़्यादा खाता हो, और तू खट्टे। हम मारे ठंड के धूज रहे हैं। और, ज़रा देख तो, यह पृथ्वी भी धूजती है। इसके शरीर पर हरे हरे रोंगटे खड़े हो गये हैं।

८

शाम को जब हम सो जाते हैं, तब आकाश में कैसे चमकीले फूल खिलते हैं ? ये लाल रंग से बहुत डरते हैं। इतने सारे ये फूल हैं, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि जहाँ लाल रंग हो वहाँ जाने की इनकी हिम्मत नहीं होती। सो कर उठते हैं तब तो आकाश में दूसरे ही तरह के फूल दिखाई देते हैं। लेकिन वे भी तभी तक चमकते हैं, जब तक कि लाल रंग नहीं खिलता। ये लाल रंग से इतने क्यों डरते हैं ? तेज का गोला ऐसा नहीं डरता। वह तो सुबह-शाम एकदम लाल रंग पहन लेता है। वह पक्षी थोड़े ही है, जिससे उसे एक ही रंग में रहना पड़े !

९

हे निर्भय ! तुझे इस तेज के गोले की इतनी क्या ज़रूरत है, जो हमेशा इसे अपने साथ-साथ लिये घूमता है ? तेज के गोले की ज़रूरत तो हमें है। क्या तू इसे इसलिए ले जाता है कि हम सो जाते हैं ? यदि यही हो, तो हम तुझे वचन देते हैं कि सारी रात जागते ही रहेंगे। हम इसे एक बड़ा सा घोंसला भी बना देंगे, जिससे रात में इसे सर्दी न लगने पावे। रात को यदि नींद आही गई, तो हम सब उसपर पंख फैला कर सो जायँगे। इस काम पर हम ख़ास कर शुतुर्मुर्ग़ को नियुक्त करेंगे। फिर तो उसे किसी बात की चिंता नहीं न रहेगी ?

हाँ, शायद पश्चिम के पक्षी तुझसे एक तेज का गोला माँगते होंगे। क्या तेरे पास एक ही तेज का गोला है ? एकाक्ष कौआ कहता था कि द्विजराज ने पहले दो तेज के गोले रक्खे थे। एक पश्चिम की ओर गया। दूसरा पूर्व की ओर से निकलता—लेकिन, वह ऐयाश निकला। वह मौज-शौक़ में पड़ गया और आलस्य के कारण रोज़ देर से पहुँचने लगा। दिन-दिन वह तो सूखता ही जाता है। जब वह सूख कर बिलकुल काँटा हो जाता है, तब द्विजराज उसे अपने घर ले जाते हैं और उसे इतना पौष्टिक पाक दे देते हैं, जो १५ रोज़ तक काम दे सके। यदि वह नियमित हो, और दूसरे तेज के गोले की भाँति नियमित चलने लगे, तो उसके समान ही चमकीला हो जाय। लेकिन यह आवारा सीधी राह चले तब न ? यह तो फिर क्षीण होता जाता है। क़सूर द्विजराज का नहीं, वह तो आलसी चंद्र का ही है।

जो कुछ हो, हे निर्भय ! हम कब निर्भय होंगे ? वह गया—तेज का गोला लाल होकर उस पहाड़ी के पीछे ढल गया। अब फ़ौरन घोंसले पर चलना चाहिए—पंख थक

गये हैं। अंधेरा अभी आता है। उसका बोझ कौन उठावेगा? हे निर्मय! तू कुछ ऐसी बात नहीं कर सकता, जिससे रात में बारिश ही न हो? हमारे अंडे-बच्चों की बिल्ली जैसे अंधेरे से रक्षा करना।

१०

एक रोज़ एक विचित्र हाथ वाले मनुष्य से हमारी बातचीत हुई। वह हमें खेत से अनाज नहीं खाने देता था। मैंने कहा—"हम खायेंगे, खायेंगे और खायेंगे।" उसने मुझसे पूछा—"यह क्या तेरे बाप का खेत है?" इस प्रकार उसने क्यों पूछा होगा? मैंने उससे कहा—"तब दूसरे किसका है? क्या यह हमारे पिता का नहीं है? सारी ज़मीन तो उसीकी है। उसके पंख सब जगह पहुँच सकते हैं। उसीकी चोंच सबको दाना खिलाती है। और उसी की गरमी से तो जीते भी हैं।" वह बेवकूफ़ कहने लगा—"क़ानून के अनुसार यह खेत मेरा है।" न मालूम यह क़ानून क्या चीज़ है! हमें तो इस क़ानून की खबर तक नहीं! पिता का खेत उसका कैसे हो सकता है? मैंने उससे कहा—"देखो भाई, हम क़ानून-वानून कुछ नहीं समझते। हम तो दाना खायेंगे, खायेंगे, और फिर खायेंगे। तुझे भूख लगे तो तू भी खाना। मना कौन करता है?" लेकिन वह नालायक़ तो अनाज को इकट्ठा करके फिर ज़मीन में गाड़ देता है. और ऊपर से घास रख देता है। पिता तो घास के ऊपर अनाज रखते हैं, ये औंधी खोपड़ी के लोग अनाज के ऊपर घास रख देते हैं! ज़मीन ही में से पैदा हुआ अनाज वे फिर ज़मीन ही में क्यों गाड़ देते हैं? वह कहने लगा—"इस अनाज को पैदा करने के लिए हमने मेहनत की है, इसलिए इसे हम लेजाते हैं।" तब मैंने एकदम पूछा—"ठीक! तो बताओ फिर तुम लोग मधुमक्खियों का इकट्ठा किया शहद क्यों लेजाते हो?" बस, यह सुनते ही वह मुँह फेर कर चलता बना। झेंपा हुआ तो मालूम हुआ, लेकिन जाते समय खेत में अनाज नहीं रहने दिया। बड़ी बेहया जात!

११

ये मनुष्य अपना इतना समय व्यर्थ क्यों खोते होंगे? रोज़ उठकर नई तरह के नये घोंसले बनाते हैं! अनाज खेतों में खाने के बजाय घर लेजाते हैं! पैदल चलने का लाभ छोड़कर मुर्दों की तरह अपने आपको दूसरों से खिंचवाते हैं! सिर्जनहार ने भी इन्हें ऐसा दरिद्र बनाया कि इनके शरीर पर पूरे बाल भी नहीं हैं! नंगी चमड़ी वाले ये लोग कैसे कुरूप मालूम होते हैं? यदि ये सिर्जनहार को दिल से प्रार्थना करते, तो क्या इन्हें बाल नहीं मिलते? लेकिन, इन अहंकारी लोगों को प्रार्थना करने की सूझती ही नहीं। इन लोगों को एक प्रकार का रोग हो गया है। वृद्ध लोग कहते हैं कि हम लोगों की भाषा में इस रोग का नाम "बुद्धिभ्रंश" है। मनुष्यों की भाषा में इसका नाम 'प्रगति' है। ब्रह्माणुनायक के पास से बाल माँगने के बदले ये सब कपास का या ऊन का घोंसला अपने शरीर पर धारण करके हमेशा उसे लिये-लिये घूमते रहते हैं। इनकी चमड़ी भद्दी होती है, इसलिए उस घोंसले के ऊपर ये रंग चढ़ाते हैं। लेकिन, ये तो रंग चढ़ाना भी नहीं जानते! हम लोग इन लोगों के बीच में फिरते हैं, फिर भी ये रंग की पसंदगी करना नहीं सीख लेते। एकदम कला-शून्य जाति—इन्हें प्रार्थना करने का समय मिले भी तो कैसे? 'प्रगति' के रोग से जब ये मुक्ति पावेंगे तभी सिर्जनहार को याद कर सकेंगे।

१२

कहा जाता है कि हम लोगों को बुद्धि नहीं है—क्योंकि हमें प्रगति का रोग नहीं हुआ। उस परम-विहंग ने हमें इतने सुंदर और कोमल बालों से सजाया है, इसमें हम और कौन सुधार करेंगे? तेज का गोला हमारे लिए तरह-तरह के फल पकाता है। उनके स्वाद में और कौनसा सुधार हो सकता है? अनाज को कूटकर खाने से क्या लाभ? और क्या किसी मनुष्य ने आजतक हमारे घोंसले जैसा सुंदर घर भी कभी बनाया है? ज्ञान-सिंधु ने उन्हें इतनी कम बुद्धि क्यों दी होगी? उनके बच्चे भी हमारे बच्चों के समान होशियार नहीं होते। महीनों तक तो वे अनाज और फल भी नहीं खा सकते। 'माँ-बाप' जैसा बोलने के पहले कितनी ही ऋतुयें गुज़र जाती हैं। और इन लोगों की भाषा भी तो कितनी ख़राब है। बिलकुल शहरी! तरह-तरह के उच्चारण करने पर भी ये एक दूसरे की बात समझ नहीं सकते। हे भगवान्, इस बीच योनी में से इनका उद्धार कब होगा?

'प्रगति' के रोग से ये कब मुक्त होंगे। लगातार आधे दिन भी ये तेरी प्रार्थना नहीं करते। इनका उद्धार कैसे होगा? हे दयालुदेव! इन्हें बुद्धि दे और तब तक इन्हें मूढ़ जानकर इनपर दया कर!

१३

क्या मनुष्यों ने इस सनातन के साथ दुश्मनी कर रक्खी है? हम लोग इनके बीच बैठकर इस आशय से प्रार्थना करते हैं कि इन्हें भी उस सनातन का स्मरण हो। लेकिन, ये दुष्ट लोग हमें या तो मार डालते हैं या पिंजड़े में बंद कर देते हैं। हम यदि मन में ही प्रथना करते हैं, तो वह इन्हें अच्छा नहीं लगता! हम लोगों से प्रार्थना करवाते हैं और जब हम प्रार्थना करते हैं, तो हमारे पास देखने को बैठ जाते हैं। इतना अविवेक और निर्लज्जता इनमें कहाँ से आई? क्या अनाज को मारकर खाते हैं इससे?

१४

एक मनुष्य कहता था कि एकादशी के रोज़ ये अपना सब काम-धंधा छोड़ कर अपना ज़्यादातर समय प्रार्थना में व्यतीत करते हैं। ये लोग जब हर पंद्रहवें दिन इस प्रकार प्रार्थना करते हैं (जिसे ये उपवास कहते हैं) तब ये भले कहे जाते हैं, और रोज़ प्रार्थना करने वाले हमें मनुष्य कहते हैं कि इन्हें बुद्धि नहीं होती। कुछ लोग हर सातवें रोज़ इकट्ठे होकर प्रार्थना करते हैं। और वह भी कितनी? हम लोग किसी तालाब पर चक्कर लगा आवें बस इतने ही में इनकी प्रार्थना खतम हो जाती है, और फिर सब एक-दूसरे के घरों को देखने चले जाते हैं। हम लोग सुबह-शाम वृक्षों पर बैठकर सामुदायिक प्रार्थना करते हैं। ऐसा करने में इन्हें इतना आलस्य क्यों? मालूम होता है कि इन्हें अभी प्रार्थना का स्वाद ही नहीं लगा। ये लोग प्रार्थना करते समय कैसा मुँह करते हैं? किसीको तकलीफ़ न हो, इसलिए हम सबों की प्रार्थना के मालिक ने इस विशाल विश्व का रूप धारण किया है। वही हमारा तेज का गोला बना गया है। वही हमारी खुराक, वही नदी और समुद्र और वही समुद्र की मछलियाँ बनकर हमारे पेट में भी जाता है। पेड़ और पत्तियाँ, आकाश और तारे सब कुछ वही बना है। तो भी मनुष्य उसके नाम से मकान बाँधकर, उसमें उस परम-सुंदर को अपने जैसा ही कुरूप बना कर उसका मज़ाक करते हैं। उसे खाने के लिए पूछकर खुद खा लेते हैं। वृक्ष के फूल तोड़ उस मूर्ति के ऊपर रखते हैं। क्या वृक्ष पर के फूल उस गंधराज को अच्छे नहीं लगते? जहाँ तक हो सकता है ये लोग उसके विश्व में बिगाड़ ही करते हैं और बनिस्बत इसके लिए उसका आनन्द गावें. बच्चे के समान वे तो जो मुँह में आवे वही माँगते रहते हैं। इन्हें कौन समझावे? हम लोग इतना आनन्द गाते हैं, फिर भी हमें देखकर कोई ज्ञान नहीं होता। सचमुच ये लोग दयापात्र हैं!†

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

टूटी वीणा

संध्या के धुँधले प्रकाश में तेरी रस-मय मीठी तान।
थिरक-थिरक कर विरह-तप्त हृदयों में करती जीवन-दान॥

लुप्त हो गया कैसे सहसा वीणे! तेरा वह मृदु गान?
अब मेरे सूने मानस में कौन करेगा शांति प्रदान॥

मुझ निर्धन की सूनी झोली का थी तू ही संचित धन।
मेरे इस मृतप्राय कलेवर का थी तू ही बस जीवन॥

जगतीतल में जब मुझको यश-वैभव ने ठुकराया था।
तब तू ही ने मुझ दुखिया को आश्रय दे अपनाया था॥

वीणे! तेरे उपकारों से दबा हुआ है मेरा तन।
सब कुछ तेरा ही है वीणे! यह तन, मन, जीवन, यौवन॥

भला तेरे बिना विश्व में मैं कैसे जी पाऊँगा।
बस तेरे चरणों में सादर जीवन कुसुम चढ़ाऊँगा॥

व्रजकिशोर शर्मा 'पंकज'

---

† गुजराती 'मधपूड़ो' से।

इटली

आजकल के सत्ताधिकारियों—डिक्टेटरों—में सबसे अधिक प्रभावशाली इटली का प्रधानमन्त्री बेनितो मुसोलिनी है। उसके शासन-काल में इटली में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए हैं। उसने इटली के व्यापार-व्यवसाय आदि सभी तरफ़ विशेष ध्यान दिया है। आज उसीके सतत परिश्रम के कारण इटली संसार की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में विशेष महत्वशाली हो गया है। आज पाठकों के सामने इटली की आन्तरिक व अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर कुछ विचार रक्खेंगे।

इटली में नवीन शासन-पद्धति

मुसोलिनी ने किस तरह शनैःशनैः करके शासन के सब अधिकार अपने हाथ में कर लिए हैं, यह पाठकों से छिपा नहीं। अब कुछ समय हुआ, उसने इटली का नया शासन-विधान बनाने की घोषणा की है। इसके अनुसार इटली की प्रतिनिधि सभा के उम्मेदवार इटली की उत्पादक गण-संस्थाओं (Guilds) की ओर से चुने जावेंगे। इनमें भी सब गण मत न दे सकेंगे: जो सच्चे देशभक्त होंगे और जिनकी देशभक्ति की परीक्षा मुसोलिनी की सरकार करेगी, वही मत दे सकेंगे। इस प्रतिनिधि सभा को भी पूरे अधिकार प्राप्त न होंगे। सरकार की नीति की कड़ी आलोचना करने का अधिकार इस सभा को नहीं रहेगा। यह केवल सम्मति दिया करेगी।

प्रजातन्त्र की मूल संस्थायें म्यूनिसिपैलिटियाँ भी मुसोलिनी ने रहने नहीं दीं। म्यूनिसिपैलिटियाँ तोड़ दी गई हैं। उनका काम प्रिफ़ैक्ट नामक अधिकारी करेगा। वह अपनी सलाह के लिए स्वयं एक समिति को नियुक्त करेगा। इस समिति के आधे सदस्य मज़दूर और आधे पूँजीपति होंगे। प्रिफ़ैक्ट का कथन सर्वमान्य रहेगा। इस नवीन शासन-विधान के कारण वस्तुतः सम्पूर्ण शक्ति मुसोलिनी के पास आ गई है। उसने प्रजातन्त्र की लहर को नष्ट कर फ़ासिज़्म (दण्डनीति) की स्थापना कर ही तो डाली।

इटली की आर्थिक प्रगति

जब मुसोलिनी ने इटली का शासनसूत्र अपने हाथ में लिया, तब इटली की आर्थिक अवस्था बहुत खराब थी। उस समय के बेसमझ साम्यवादी उच्छृंखल हो कर व्यापार व व्यवसाय को नष्ट कर रहे थे। यदि वे रूसी साम्यवादियों की तरह केवल पूंजीवाद को नष्ट कर देश के व्यापार-व्यवसाय को सुव्यवस्थित रूप से उन्नत करते तो बहुत लाभ की संभावना थी। मुसोलिनी ने इस आर्थिक अराजकता को कठोर उपायों से दूर कर देश के व्यापार व व्यवसाय को बहुत बढ़ाया। इटली के सिक्के लिरा की स्थिति बहुत गिर रही थी, उसे मुसोलिनी ने अब बिलकुल ठीक कर लिया है। अमेरिका से बहुतसा ऋण ले कर उसने इटली की पूँजी में वृद्धि की है। मज़दूरों और पूँजीपतियों को वश में करके उसने अभी कुछ समय हुआ, एक घोषणा द्वारा दोनों के संघों को समान अधिकार दे दिये हैं। न मज़दूर ही अब हड़ताल कर सकते हैं और न पूँजीपति ही उनपर कोई अत्याचार कर सकते हैं। इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि इटली की साख फिर बढ़ गई है। सबसे बड़ी बात जो उसने इटली की साख को उन्नत करने के लिए की है, वह यह है कि उसने

इटली के सिक्के को सोने के आधार (Gold Standard) पर प्रचलित किया है। १९ लिरा एक डालर के बराबर होंगे। इससे इटली की कृषि, व्यापार और व्यवसाय पर आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ेगा।

अब हम उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

इटली की माँगें

मुसोलिनी इस समय इटली की शक्ति और समृद्धि बढ़ाने में लगा हुआ है। वह जानता है कि भविष्य में होने वाले युद्धों की तैयारी इटली को अभी से शुरू कर देनी चाहिए, नहीं तो इटली नष्ट हो जायगा। इसलिए वह युद्ध की सब तैयारियों के अतिरिक्त इटली की जनसंख्या बढ़ाने के लिए भी इटलीवासियों को विशेष रूप से उत्साहित कर रहा है। उसकी एक योजना के अनुसार २० साल में वहाँ दो करोड़ मनुष्य बढ़ जावेंगे। इधर वह जनसंख्या के बढ़ाने के उद्योग में लगा हुआ है, तो उधर वह इटली की आबादी बढ़ने के कारण राष्ट्र-संघ से उपनिवेश माँगने की कोशिश कर रहा है। इटली के पत्र आन्दोलन कर रहे हैं कि यदि इटली की इस समस्या को राष्ट्र-संघ ने जल्दी न सुलझाया, तो युद्ध होने की बहुत सम्भावना है। राष्ट्रसंघ को चाहिए कि वह इटली के रक्षित राज्य (mandates) बढ़ा दे। इसके अतिरिक्त इटली एड्रियाटिक समुद्र पर अपना अधिकार करना चाहता है, क्योंकि उसे फ्रांस और यूगोस्लेविया की सन्धि के कारण भय उत्पन्न हो गया है। इटली के पत्रों का कहना है कि वे देश, जो इटली की इन दोनों माँगों का विरोध करते हैं, युद्ध के लिए प्रयत्न कर रहे हैं।

इटली और टर्की

इटली इतने पर ही सन्तुष्ट नहीं, वह टर्की के स्मर्ना पर भी अधिकार करना चाहता है। स्मर्ना पश्चिमीय टर्की में ईजियन समुद्र के तट पर एक महत्वपूर्ण नगर है। इसपर अधिकार कर वह सरलता से सीरिया की तरफ़ बढ़ सकता है। यह कोशिश आज की नहीं, बहुत पहले से हो रही है। १९१५ ई० की एक सन्धि के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि यदि एशियायी टर्की का विभाजन हो, तो स्मर्ना के आस-पास का प्रदेश इटली को मिलना चाहिए। १९१७ में भी इसी आशय की सन्धि स्वीकार की गई। इस प्रान्त में कोयला, लोहा, जस्ता, शीशा और चाँदी खूब मिलती है; लेकिन इस सन्धि में रूस की स्वीकृति आवश्यक थी। इसलिए इटली को सफलता न हुई। १९१९ में उसने एशिया-माइनर के अडालिया स्थान पर अपनी सेनायें भेज कर फिर प्रयत्न किया। फ्रांस भी अवसर पा कर एशियामाइनर के सिलिशिया प्रान्त को दबा बैठा था। इधर टर्की के नवीन जन्मदाता कमालपाशा ने राष्ट्रीय सेनाओं का संगठन कर इन दोनों को एशियामाइनर से निकाल दिया और सेवरे की सन्धि करने पर बाधित किया, फिर भी कई प्रयत्न हुए, परन्तु कमालपाशा की तलवार ने किसी को टर्की में आने न दिया। अन्त में १९२३ई० में, लुसान की सन्धि में पूरे एशिया-माइनर पर टर्की का अधिकार मान लिया गया। एशिया-माइनर से तो इटली निकल गया, परन्तु उससे लगे हुए ईजियन समुद्र के कई द्वीप इटली के हाथ में हैं, जो स्मर्ना और अडालिया से अधिक दूर नहीं है। इन्हींमें से दो टापुओं पर इटली ने सुदृढ़ सैनिक दुर्ग बना रक्खे हैं जिसका स्पष्ट उद्देश्य यह है कि वह कभी टर्की को असावधान देख कर स्मर्ना पर अधिकार कर ले। इधर बहुत पुराने वैरियों ग्रीस और इटली में मित्रता हो रही है, जिसका कारण भी एशिया माइनर का उपजाऊ भूभाग ही है। परन्तु स्वतन्त्र टर्की भी निश्चिन्त नहीं है। वह यूरोप की चालों को खूब समझता है। इसलिए जल्दी आशा नहीं कि इटली और ग्रीस अपने मनोरथों में सफल हो जावें।

इटली और फ्रांस

इटली का सबसे अधिक विषम सम्बन्ध फ्रांस के साथ है। इस विषम सम्बन्ध के बढ़ाने में फ्रांस के प्रदेशों में इटालियनों की असन्तोषजनक स्थिति, लिबिया की दक्षिणी सीमा सम्बन्धी झगड़ा, टैंजियर का सवाल, मध्य और पूर्वीय नीति सम्बन्धी तथा भूमध्यसागर सम्बन्धी सब प्रश्न आदि मुख्य रूप से कारण बन गये हैं। फ्रांस और इटली दोनों की सीमायें भूमध्यसागर से लगती हैं। दोनों का व्यापार इस समुद्र के द्वारा अधिकतर होता है। व्यापारिक दृष्टि को

छोड़कर भूमध्य सागर दोनों के लिए सैनिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का है। इसलिए दोनों इसपर अपना-अपना अधिकार चाहते हैं। कुछ समय पूर्व इटली ने लिबिया पर अधिकार कर मोगरबा की विद्रोही जातियों को परास्त कर दिया था। फ्रांस के आवाज़ उठाने पर भी राष्ट्र-संघ ने इटली का विरोध नहीं किया। अफ्रिका महाद्वीप में मोरक्को के समीप टैंजियर प्रदेश पर फ्रांस का अधिकार मुसोलिनी को बिलकुल इष्ट नहीं है। परन्तु फ्रांस उसपर अधिकार करने के प्रयत्न में लगा हुआ है। उसे भय है कि यदि मोरक्को से टैंजियर न मिले, तो वहाँ फ्रांस का कोई प्रभाव न रहेगा। स्पेन को भी यही भय है। टैंजियर का प्रश्न इंग्लैण्ड से भी कुछ सम्बन्ध रखता है। वह फ्रांस के पक्ष में है।

फ्रांस में रहने वाले इटालियन प्रवासियों का प्रश्न भी विशेष महत्वशाली होता जा रहा है। इस समय फ्रांस में कुल इटालियन ८,०७,९५० हैं। स्वेच्छाचारी मुसोलिनी इन्हें भी इटली का नागरिक बनाये रखना चाहता है। इसके लिए उसने अभी कुछ समय पूर्व एक घोषणा प्रकाशित की है, जिसका विस्तृत परिचय हम आगे देंगे। फ्रांस में बहुत से ऐसे इटालियन भी गये हुए हैं, जिन्हें इटली की सरकार ने राजनैतिक कारणों से निकाला था। फ्रांस के व्यूनिस नगर में तो फ्रांसीसियों की अपेक्षा इटालियन ३०,००० अधिक हैं। यदि उदासीनता सम्बन्धी नियमों के कारण उदासीन हुए लोगों की संख्या निकाल भी दी जाय, तो भी यह इटालियनों की संख्या १८,००० से कम नहीं होती। फ्रांस चाहता है कि वहाँ रहने वाले लोग फ्रांस के नियमों के अनुसार वहीं के नागरिक बन जावें। प्रत्येक राष्ट्र की यह दृढ़ अभिलाषा होती है कि विदेशों के लोग उसमें आकर बसें और वहीं के नागरिक बन जायँ। इससे उनकी जनसंख्या बढ़ जाती है और उनको युद्ध आदि में उनसे पूरी सहायता लेने का अधिकार होता है। इटली प्रवासी इटालियों को फ्रांस का नागरिक नहीं बनाना चाहता, इसीलिए यह सारा झगड़ा उत्पन्न होगया है। मुसोलिनी की आन्तरिक अभिलाषा यह है कि इटालियन दूसरे देशों में बड़ी संख्या में जाकर भी इटली के ही रहें और उन देशों में इटली का राज्य या प्रभाव बढ़ाने में वे साधन बन सकें। इस उद्देश को देखकर फ्रांस, पोलैंड आदि अन्य देशवासियों को अपने यहां बसने के लिए उत्साहित कर रहा है, ताकि इटालियनों की संख्या अपेक्षाकृत ठीक हो जाय। फ्रांस ने इटालियनों के साथ अच्छा व्यवहार करने का वचन भी दिया है।

इटली और बलकान राष्ट्र

सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न जो इटली और फ्रांस में वैमनस्य का कारण है, वह है बलकान राष्ट्रों के सम्बन्ध की नीति। जुगोस्लेविया, ग्रीस, रूमानिया, बलगेरिया, अलबानिया और टर्की आदि बलकान राष्ट्र कहे जाते हैं। मध्य और पूर्वीय यूरोप की स्थिति वस्तुतः भयावह है। यहां कभी भी कोई छोटी सी चिंगारी उड़कर यूरोप में अशान्ति और युद्ध उत्पन्न कर सकती है। रूमानिया की आन्तरिक क्रांति, पोलैंड और लिथुआनिया का निरन्तर रहने वाला पारस्परिक झगड़ा, मैसिडोनिया के मामले, बलकान राष्ट्रों के पारस्परिक संबन्ध, ग्रीस के सैलोनिका बन्दर पर जुगोस्लेविया आदि कई राष्ट्रों की दृष्टि, आदि बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिनसे यूरोप का यह भाग बहुत अशांतिपूर्ण है। फ्रांस और इटली ही नहीं, रूस और जर्मनी भी सदा इन राष्ट्रों की स्थिति से फ़ायदा उठाने की ताक में हैं। वस्तुतः यह स्थिति सभी के लिए खतरनाक है। कुछ समय पूर्व फ्रांस ने जुगोस्लेविया से सन्धि की थी, जिसका वर्णन पाठक 'त्यागभूमि' के पिछले अंकों में पढ़ चुके हैं। फ्रांस चाहता है कि इटली बलकान राष्ट्रों में अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित न करे। उसका कहना है कि बलकान बलकानवासियों के लिए है। उसपर और किसी का अधिकार नहीं। फ्रांस की यह उदार नीति किसी रहस्य से खाली नहीं। 'बलकान बलकानवासियों के लिए' की नीति का अभिप्राय यह है कि जुगोस्लेविया का, जिसकी बलकान राष्ट्रों में एक विशेष स्थिति है, प्राधान्य बलकान राष्ट्रों में हो जायगा। जुगोस्लेविया फ्रांस का मित्र है, इसलिए फ्रांस को उन राष्ट्रों में विशेषाधिकार मिलने कठिन न होंगे। जुगोस्लेविया के पत्र भी फ्रांस की नीति का समर्थन कर रहे हैं, परन्तु बलगेरिया के पत्र इस नीति का विरोध कर रहे हैं। उनका कहना है कि जुगोस्लेविया बार-बार इस नीति का समर्थन इसीलिए करता है कि जुगो-

स्लेविया चाहता है कि उसका प्राधान्य कालासागर से एड्रियाटिक और ईजियन समुद्र तक हो जाय। इससे छोटे-छोटे बलकान राष्ट्र बहुत कमज़ोर हो जायंगे।

इटली बलकान राष्ट्रों में फ्रांस के इस हस्तक्षेप से बहुत अप्रसन्न है। उसका कहना है कि जब फ्रांस के बलकान राष्ट्रों में कोई विशेष स्वार्थ नहीं, तो क्यों फ्रांस इस तरह का हस्तक्षेप करता है। इटली के तो वहाँ विशेष स्वार्थ हैं। ९ नवम्बर १९२१ की पेरिस की घोषणा में अलबानिया में इटली के विशेष स्वार्थ स्वीकृत किये गये थे। फ्रांस को यह याद रखना चाहिए कि यदि उसका मित्र जुगोस्लेविया है, तो उसके चारों ओर के हंगरी, अलबानिया, बलगेरिया, ग्रीस रुमानिया में से कई प्रदेश इटली के भी मित्र हैं।

इन सब कारणों से फ्रांस और इटली का पारस्परिक सम्बन्ध बिगड़ता जा रहा है। यद्यपि कुछ मास पूर्व दोनों राष्ट्रों में मित्रता की संधि स्थापित हुई थी, परन्तु उसका विशेष फल न निकलेगा, यह भी निश्चित है।

इटली और ग्रीस

बलकान राष्ट्रों में ग्रीस भी एक विशेष महत्व रखता है। उसका सैलोनिकी बन्दरगाह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विशेष महत्व का है। इसपर अनेक राष्ट्र आंख लगाये हुए हैं, इसलिए वह जुगोस्लेविया, ज़ेकोस्लोवेकिया, पोलैण्ड, बलगेरिया, रुमानिया और हंगरी को बुला कर समझौता करने को तैयार है, परन्तु राष्ट्रों के भिन्न-भिन्न स्वार्थ रखने के कारण सन्धि का एक सूत्र बनाना कठिन है।

कुछ समय हुआ कि मुसोलिनी और ग्रीस के परराष्ट्र-सचिव में एक समझौता हुआ था कि इटली जुगोस्लेविया को सैलोनिकी के नीचे आने से रोकने में ग्रीस को सहायता दे और ग्रीस बलकान में जुगोस्लेविया के प्राधान्य को नष्ट करने में इटली को सहायता दे। यह दोनों राष्ट्र टर्की में भी स्वार्थों की एकता के कारण परस्पर मिल रहे हैं, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। इस तरह भूमध्यसागर में इन दोनों राष्ट्रों का एक नवीन संगठन तैयार हो गया है, जिसका उद्देश्य फ्रांस, जुगोस्लेविया तथा अन्य कुछ राष्ट्रों से बने हुए संगठन का बल तोड़ना है।

इटली और इंग्लैण्ड

जो भी देश आज विशेष उन्नति करना चाहता है, उसे इंग्लैण्ड का अवश्य विरोध करना पड़ता है। इटली का विरोध इंग्लैण्ड से बढ़ रहा है। अन्त में इटली और इंग्लैण्ड के वैमनस्य पर हम विस्तार से किसी पिछले अंक में लिख चुके हैं। उसको दुहराने की आवश्यकता नहीं। भूमध्य-सागर के विषय में तो मुसोलिनी कई बार स्पष्ट रूप से कह चुका है कि इटली उसमें हज़ारों किलोमीटरों लम्बे तट द्वारा स्नान करता है, वह उसीका स्नानागार है। इस सागर पर अपना अधिकार करने के लिए उसकी इंग्लैण्ड से ज़रूर भिड़न्त होगी।

इटालियन प्रवासी

अभी कुछ समय पूर्व मुसोलिनी ने प्रवासी इटालियनों के नाम एक घोषणा प्रकाशित की है जिसके द्वारा उसने उन्हें ये आठ शिक्षाएँ दी हैं। १—प्रवासी इटालियनों को उस देश के, जिसमें वे अब रहते हों नियमों का आदर करना चाहिए। २—उन्हें उस देश की आन्तरिक राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए। ३—उन्हें अलग-अलग इटालियन बस्तियां न बसा कर फ़ासिज़्म के सिद्धान्तों के अनुसार इकट्ठा रहने का प्रयत्न करना चाहिए। ४—उन्हें सदाचारी और प्रतिष्ठित बन कर रहना चाहिए। ५—उन्हें इटली के राजदूतों का अवश्य आदर करना चाहिए और उनकी सलाह तथा आज्ञा अवश्य माननी चाहिए। ६—उन्हें इटालियनपन (Italianism) की वर्तमान और भविष्य में रक्षा करनी चाहिए। ७—उन्हें आपत्तिग्रस्त इटालियनों को अवश्य सहायता देनी चाहिए। ८—उन्हें संगठित और नियन्त्रित होकर रहना चाहिए।

उसकी इस घोषणा पर यूरोप और अमेरिका के पत्रों में बहुत चर्चा चली है। इटली के पत्र तो इसकी बहुत प्रशंसा कर रहे हैं। अमेरिका के पत्र इसका विरोध कर रहे हैं। 'न्यूयार्क वर्ल्ड' ने इस घोषणा के विरोध में लिखा कि 'एक अमेरिकावासी इटालियन यदि अमेरिका की राजनीति में कोई भाग न ले और इटली के राजदूतों तथा प्रतिनिधियों की आज्ञायें माने तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वह अमे-

रिका का नागरिक नहीं बन सकता। अमेरिका में रह कर भी इटली के शासन-नियन्त्रण में रहने का अर्थ राज्य में दूसरा राज्य स्थापित करने (Setting up a Kingdom within a Kingdom) के सिवाय और कोई नहीं।' 'लिटरेरी डाइजेस्ट' ने इसे संसार-विजय का फ़ासिस्ट उपक्रम कहा है। इटली के बाहर भी फ़ासिस्ट संगठन का यह क्रम प्रवासी इटालियनों को रोम के शासन के नीचे लायगा। अन्य देश भी मुसोलिनी की इस घोषणा के विरुद्ध हैं, जिनमें इंग्लैण्ड और फ्रांस मुख्य हैं। यदि यह घोषणा क्रिया में आगई, तो इसका बुरा परिणाम हुए बिना न रहेगा।

इटली और अन्य देश

उपर्युक्त देशों को छोड़ कर अन्य देशों से इटली का संबंध विशेष महत्त्व का नहीं। जर्मनी से उसका सम्बन्ध अच्छा नहीं है। किन्हीं छोटी-मोटी बातों पर विवाद चला आता है। रूस के बोलशेविज़्म को नष्ट करने में वह इंग्लैण्ड का साथी है। अफ़गानिस्तान के अमीर से उसने अभी दोस्ती की है। नहीं कहा जा सकता कि इसका क्या परिणाम होगा। अफ्रीका में वह अपने लिए उपनिवेश बढ़ाने की कोशिश में है। भारतवर्ष में वह अपना व्यापार बढ़ाने के प्रयत्न में लगा हुआ है।

लैटिन संघ

मुसोलिनी इटली को अधिक शक्तिसम्पन्न करने के लिए नयी-नयी योजनायें बनाता रहता है। दो-तीन मास पूर्व उसने एक सभा में भाषण देते हुए लैटिन संघ (Latin Bloc) बनाने का विचार लोगों के सामने रक्खा। उसने कहा कि एंग्लोसैक्सन संघ के मुकाबले में लैटिन संघ बनाने की ज़रूरत है। एंग्लो सैक्सन सभ्यता लैटिन सभ्यता की अपेक्षा उन्नततर नहीं है। प्रॉटेस्टेन्ट मनोवृत्ति लैटिन मनोवृत्ति से कमज़ोर है। यूरोप के लैटिन प्रदेश और लैटिन अमेरिका के प्रदेश इस संघ में सम्मिलित हो सकते हैं।

आजकल कोई राष्ट्र बिना किसी दूसरे राष्ट्र की सहायता के अकेले उन्नत नहीं हो सकता। इसलिए उन्नति का अभिलाषी प्रत्येक राष्ट्र अपने साथ एक समूह को आगे बढ़ाना चाहता है।

संयुक्तराष्ट्र इसी लिए वृहत् अमेरिकन संघ बनाने की तैयारी में है। अफ़ग़ानिस्तान भी इसीलिए मुस्लिम राष्ट्रों का संघ बनाने की तैयारी में है। मुसोलिनी भी लैटिन संघ बनाना चाहता है। अभी नहीं कहा जा सकता कि इस संघ का रूप क्या होगा, इसमें कौन राष्ट्र सम्मिलित होंगे और इसका परिणाम क्या होगा।

इटली की सैनिक तय्यारियां

आजकल अन्य सब प्रकार के उपाय करते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेष स्थान पाने के लिए सैनिक शक्ति की वृद्धि सबसे अधिक आवश्यक उपाय है। मुसोलिनी इसके लिए बहुत पहले से कोशिश कर रहा है। आजकल इटली की सेना में २,५०,००० पेशेवर सिपाही और ३,२६,००० नागरिक सिपाही हैं। सामुद्रिक जहाज़ी ताक़त को बढ़ाने का भी वह विशेष प्रयत्न कर रहा है। इस समय उसके पास १५०० हवाई जहाज़ हैं, जो नयी योजना के अनुसार शीघ्र ही ४५०० हो जायेंगे। मुसोलिनी ने कहा है कि इटली इतने हवाई जहाज़ बनाएगा, जिनके पंखों से सूर्य छिप जावेगा। साधारण जनता में भी वह सैनिक भावना लाने का विशेष रूप से प्रयत्न कर रहा है।

मुसोलिनी की महत्वाकांक्षायें तथा कारनामे आजकल संसार के सभी पत्रों की आलोचना के विषय हो रहे हैं। बहुत से पत्र उसे बीसवीं सदी का नैपोलियन कह रहे हैं। प्रसिद्ध पत्र "स्टार" ने उसके विषय में लिखा है—"शक्ति के मद से मतवाले नैपोलियन ने भी सबसे अधिक पागलपन के अपने जीवन में इतनी स्वेच्छाचारिता का स्वप्न नहीं लिया, जिसका मुसोलिनी आज ले रहा है।" बहुत से राजनीतिज्ञ मुसोलिनी के उन्नति-शिखर पर चढ़कर एकदम गिरने की संभावना भी कर रहे हैं। बहुत संभव है, उनका यह विचार ठीक हो; परन्तु हमें तो अभी इसमें कुछ देरी मालूम होती है।

कृष्ण

स्वतंत्रता कैसे ?

पञ्जाब प्रान्तिक राजनैतिक सम्मेलन के सभापति-पद से पं० जवाहरलाल नेहरू ने जो भाषण किया, वह बड़ा सारगर्भित और महत्वपूर्ण है। भारत की वर्तमान स्थिति में उसकी आज़ादी के लिए भारतवासी क्या करें, इसपर बोलते हुए उन्होंने जो कुछ कहा, उसके मुख्य-मुख्य अंश नीचे दिये जाते हैं—

संसार में उथल-पुथल मची हुई है। विचित्र शक्तियाँ काम कर रही हैं। कल के देवता आज विस्मृति के कूप में पड़े हुए हैं। नवीन विचारों ने मनुष्यों के हृदयों में संग्राम मचा रक्खा है। प्राचीन संस्कारों से दबा हुआ और परिवर्तन से भयभीत भारत भी इस नई रोशनी से चकित हो उठा है। वह भी आज़ादी के लिए तड़प रहा है। परन्तु, वह आज़ादी कैसी होगी? स्वराज्य-भोगी भारत का क्या स्वरूप होगा?

इसे समझने के लिए पहले अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विचार कर लेना ज़रूरी है। संसार में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी है। उत्पत्ति और सम्पत्ति बहुत बढ़ गई है, पर वह थोड़े से देशों और मुट्ठी भर लोगों के हाथ में है। इससे कच्चे माल की आवश्यकता और पक्के माल की खपत के लिए स्पर्द्धा हो कर साम्राज्यों की उत्पत्ति हुई और आये दिन के युद्धों से संसार की अतुल धन-जन-हानि होने लगी। अब साम्राज्यवादियों का स्थान पूंजीवाद ले रहा है। ग़रीबों और ग़रीब देशों का रक्तशोषण करने में पूंजीवाद साम्राज्यवाद से कम नहीं है। साथ ही राष्ट्रों की संकुचित सीमायें टूट कर सब व्यापार और व्यवहार अब अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर चुका है। सब देशों को एक दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता है। कोई देश एकान्तवासी नहीं रह सकता। हमारे देश में जो लोग वैदिक सभ्यता अथवा इसलामी तहज़ीब की पुनःस्थापना के स्वप्न देखते हैं, वे इन विश्वव्यापी नवीन शक्तियों से अपरिचित हैं। वे यह भूल जाते हैं कि सारी पुरानी बातें इस नवीन युग में नहीं चल सकतीं। हमारे बहुत से संस्कार, रीति-रिवाज़ और सामाजिक क़ानून, हमारी वर्णव्यवस्था,

स्त्रियों के प्रति हमारा दृष्टिकोण और हमारी बहुत सी धार्मिक धारणायें इस नये ज़माने के लिए सर्वथा निकम्मी हो गई हैं। यदि हम मूर्खों की भाँति इनसे चिपटे रहने की चेष्टा करेंगे, तो हमारी उन्नति में व्यर्थ विलम्ब होगा। यदि हम टर्की और रूस की भाँति विवेक का परिचय देकर विश्वव्यापी शक्तियों का स्वागत करते हुए अपना व्यवहार उनके अनुकूल बना लेंगे, तो हमारी प्रगति शीघ्रगति से होगी।

इस दृष्टि से विचार करने पर हमें न केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ही प्रत्युत पूंजीवाद से भी छुटकारा पाना है, क्योंकि ये दोनों एक दूसरे के सहायक हैं। अतः हमें ऐसे शासन की स्थापना करनी पड़ेगी, जिसमें सम्पत्ति की उत्पत्ति और उसके विभाजन के साधनों पर व्यक्तियों का नहीं प्रत्युत राष्ट्र का स्वामित्व हो, जिसमें जन्म और जाति के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकार रद्द कर दिये जायँ और जिसमें मुफ़्तख़ोरों के लिए कोई स्थान न हो! ऐसा करने ही से असंख्य नर-कङ्कालों को जीवन की उपयोगी सामग्री पर्याप्त परिमाण में मिल सकेगी। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि दरिद्रता का कारण उत्पत्ति की कमी नहीं है, प्रत्युत यह है कि मुट्ठी भर लोग अच्छी-अच्छी चीज़ें आवश्यकता से अधिक रख लेते हैं और बहुसंख्यक लोग नङ्गे, भूखे, रोगी और मूर्ख रह जाते हैं।

यह अवस्था भारत के लिए ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने पर ही आ सकती है। ब्रिटिश साम्राज्य और भारत के हितों में पग-पग पर विरोध है। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय और आर्थिक, किसी भी दृष्टि से यह भक्षक और भक्ष्य का सम्बन्ध टिकने योग्य नहीं। हां, स्वतन्त्र होने पर भारत अन्य देशों की भाँति इङ्गलैण्ड से भी मैत्री और सहयोग स्थापित कर सकता है। और जब हम पूर्ण स्वाधीनता चाहते हैं, तो हम अपने देश की रक्षा के बहाने ब्रिटेन की सेना को कैसे हमारी छाती पर मूङ्ग दलने दे सकते हैं? मैं यह नहीं मानता कि ब्रिटिश सेना के न रहने पर हम बाहर के आक्रमणों से अपनी रक्षा नहीं कर सकेंगे। आज एक देश पर दूसरे देश का आक्रमण होना बड़ी टेढ़ी खीर है। संसार की राजनैतिक स्थिति, पड़ोसी राष्ट्रों से हमारे सम्बन्ध और स्वयं भारत की सैनिक शक्ति हमें ऐसे आक्रमण से निश्चिंत करने के लिए काफ़ी है। वैसे भी, जिस राष्ट्र ने हमपर आज तक इतना जुल्म किया और हमारे उद्धार का मार्ग रोक रक्खा है उसीसे सहायता चाहना कितनी लज्जा और कायरता की बात है! अतः अंग्रेज़ी सेना को भारत से तुरन्त हटवा देना हमारा पहला काम है।

परन्तु सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि हमारा स्वराज्य जनता का—सर्वसाधारण का—ग़रीबों का राज्य हो। अब तक शिक्षितवर्ग ने ही स्वराज्य-संग्राम में प्रमुख भाग लिया है; सर्वसाधारण की आवश्यकताओं का—उनके जीवन मरण का—जब-जब सवाल उठता है, उसे ताक़ में रख दिया गया है। परन्तु यदि कल ही अंग्रेज़ों के स्थान पर सभी ऊँचे पदों पर हिन्दुस्थानी बिठा दिये जायँ, तो उन करोड़ों ग़रीबों को—मज़दूरों और किसानों को, दूकानदारों और कारीगरों को क्या लाभ होगा? उनका वास्तविक हित तो साम्यवादी लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली के स्थापित होने से ही होगा। शिक्षितवर्ग के एकान्त स्वार्थ की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि स्वराज्य की लड़ाई में वे ग़रीबों को साथ रक्खें, क्योंकि इनकी सहायता के बिना अकेला शिक्षितवर्ग सरकार पर कोई दबाव नहीं डाल सकता। ग़रीब इस लड़ाई में तभी शामिल होंगे, जब वे अच्छी तरह समझ लें कि स्वराज्य से उनकी भलाई होगी। यह विश्वास दिलाने के लिए हमें राष्ट्रीय कार्य-क्रम में वे बातें रखनी चाहिएँ, जिनसे ग़रीबों के भावी हितों की रक्षा हो सके और उनके वर्तमान कष्ट कम हो सकें।

यह एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण अवश्य है। परन्तु इसके बिना काम नहीं चल सकता। जो लोग थोड़े से सुधारों से सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे एक प्रकार से वर्तमान अत्याचारी प्रणाली की आयु बढ़ाते हैं। क्रांतिकारी दृष्टिकोण रखने वाला साम्प्रदायिक झगड़ों से नहीं घबराता। वह समझता है कि साम्प्रदायिक कलह *राक्षसी शरीर भले ही धारण कर ले, पर* उसके पैर मिट्टी के होते हैं। लोगों के अन्धविश्वास से लाभ उठा कर शिक्षितवर्ग अपने ऐश आराम के लिए इस कलह को खड़ा करते हैं। अन्यथा एक हाइकोर्ट जज के मुसलमान, हिन्दू या ईसाई होने से उस जाति के सामान्य लोगों को क्या लाभ? और एक मुसलमान जागीरदार और उसकी

मुसलमान प्रजा में सादृश्य ही क्या हो सकता है? इनके तो हित स्वभावतः ही विरोधी हैं। अतः हमें आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रीय प्रश्न को देखना चाहिए। तब यह साम्प्रदायिक भेद-भाव का भूत अपने आप भाग जायगा। उस दशा में संघर्ष यदि होगा, तो ग़रीब और अमीर का होगा। हां, जातियों में यदि कोई वास्तविक विभिन्नता है, और उसकी रक्षा करनी आवश्यक है, तो वह है उन जातियों की भाषा एवं संस्कृति की। इसके लिए प्रत्येक जाति को स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रश्न केवल प्रतिनिधित्व का रह जाता है। मेरी सम्मति में न तो पृथक् निर्वाचन से अल्प-संख्यक जातियों का भला होगा और न सम्मिलित निर्वाचन में उनके प्रतिनिधि सुरक्षित कर देने से। इन दोनों ही व्यवस्थाओं में कुछ बड़े लोग ग़रीबों के मतों से लाभ उठाते रहेंगे। अतः निर्वाचन-संघ आर्थिक आधार पर बनाये जाने चाहिएँ।

इस समय हमारे देश में एक तृतीयांश कपड़ा तो देशी मिलों में बनता है दूसरा तृतीयांश खादी है और तीसरा विलायत से आता है। अँग्रेज़ी कपड़े का बहिष्कार तभी हो सकता है, जब हम सभी विदेशी वस्त्रों को वर्जित क़रार दे दें; अन्यथा अमेरिका और जापान के नाम से अँग्रेज़ी कपड़ा आता रहेगा। इस प्रकार सफल वस्त्र बहिष्कार करके हम इंग्लैण्ड को झुका सकते हैं। इसके लिए खादी और देशी मिलों का सहयोग आवश्यक है। यदि यह सहयोग हो जाय, तो देश के लिए पर्याप्त कपड़ा सरलता से देश में ही उत्पन्न हो सकता है। इसके लिए हमें विदेशी वस्त्र मंगानेवाले व्यापारियों की उपेक्षा करनी पड़ेगी और मिल मालिकों को देश और ग़रीब मज़दूरों के हितों का ध्यान रख कर कपड़ा सस्ता और मज़दूरी काफ़ी देनी होगी। परन्तु यदि मिल वाले इस प्रकार सहयोग न करें, तो देश की शक्ति खादी पर ही केंद्रित होगी।

आगामी युद्ध के लिए भी हमें तैयार हो जाना चाहिए। युद्ध तो होगा ही। उसके लिए पहली बात तो यह है कि मिलों के कपड़े की महँगाई और विदेशी कपड़े के अभाव के कष्टों से बचने के लिए हमें खादी ग्रहण कर लेना चाहिए। दूसरी बात यह है कि हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि अँग्रेज़ लोग हमारे धन-जन का उपयोग न कर सकें। हमें उस युद्ध में माल लेने अथवा सहयोग देने से सर्वथा इन्कार कर देना चाहिए। ऐसा कर देने में आपत्तियाँ आयेंगी, परन्तु यदि हमने साहस-पूर्वक उनका सामना कर लिया और थोड़े से दान से राज़ी न हुए, तो हमारी विजय निश्चित है; और हमारा देश, जो चिरकाल से गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, अवश्य स्वाधीन हो जायगा।

शिक्षा-प्रणाली

गुरुकुल-कांगड़ी के वार्षिकोत्सव पर इस बार साधु टी० एल० वास्वानी ने दीक्षान्त भाषण किया। उसमें उन्होंने कहा—

क्या सचमुच अविद्या ने भी वर्तमान भारत की मानसिक दासता को पैदा नहीं किया? राजनैतिक स्वतंत्रता मन और हृदय की अन्दरूनी आज़ादी का बाह्य प्रकाश-मात्र है और इस सचाई को अब अनुभव किया जा रहा है कि नये राष्ट्र के निर्माण के लिए शिक्षा आवश्यक है। ... किसी भी जाति के निर्माण में शिक्षा का सबसे बड़ा असर होता है। इसके उद्देश्यों तथा आदर्शों से जाति की प्रतिभा को दबाना नहीं चाहिए, बल्कि प्रकट करना चाहिए।

इस देश में प्रचलित वर्तमान शिक्षा-पद्धति अस्वाभाविक है। यह एक नक़ल—बड़ी भद्दी नक़ल है, और नक़ल नपुंसकता है। भारत की कमज़ोरी के ज़माने में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को उसपर ज़बर्दस्ती लाद दिया गया है। नैपोलियन के समय फ्रांस में इस शिक्षा-प्रणाली का जन्म हुआ था। इंगलैण्ड ने इसे भारत में भी प्रचलित करना चाहा। इसका उद्देश्य लोगों की शक्तियों का विकास करना नहीं, बल्कि विदेशी सरकार को मज़बूत करना था। इसलिए मुख्यतया यह नौकरशाही (Bureaucratic) थी। इस शिक्षा का उद्देश्य ब्रिटिश शासन की सहायता के लिए सस्ते क्लर्क और छोटे-छोटे अधिकारियों को तैयार करना था। यही वर्तमान पद्धति की बड़ी त्रुटि है। लोगों की आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह लोगों को मिलाने वाली नहीं, बल्कि अलग कर देती है। श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में ठीक कहा है—"स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।"

वर्तमान शिक्षा में साहित्य, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्रों में पाश्चात्यों के अनुभव को, भारतीय अनुभवों के साथ सम्बद्ध किये बिना, भारतीय विद्यार्थियों पर ज़बर्दस्ती लाद दिया जाता है। यह भुला दिया जाता है कि जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति शिक्षा में भी अनुभव ही का नियम लागू है। मैं भारतीय परम्परागत विश्वासों Traditions के शिक्षा सम्बन्धी महत्व का मानने वाला हूँ। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली विद्यार्थियों को उनसे अलग करती है। इस उन्नत प्राचीन जाति के वीरों और मुनियों की स्मृति जागृत करके विद्यार्थी का अपने उज्ज्वल भूत के साथ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए।

अंग्रेज़ी या हिन्दी

हमारी शिक्षा का माध्यम क्या हो? इस पर बोलते हुए साधु वास्वानी ने कहा—

आज कल सरकारी शिक्षणालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी को बनाया गया है, परन्तु यह बात मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, शिक्षा का मूल सिद्धान्त यह है कि "ज्ञात से अज्ञात की तरफ़ बढ़ना"। मेरा यह हर्गिज़ मतलब नहीं कि अंग्रेज़ी-भाषा सर्वथा निकम्मी और अनुपयोगी है। जिस अंग्रेज़ी-भाषा को मिल्टन, शेक्सपीयर, शैली, बर्नार्ड शा, बेकन और बर्क आदि विद्वानों ने अपनाया है वह अवश्य ही सद्विचारों और अनुभवों का ख़ज़ाना है। अंग्रेज़ी हमें शेष सारे संसार से सम्बद्ध करती है। अंग्रेज़ी-भाषा द्वारा ही हम आधुनिक विज्ञान, राजनीति, समाजशास्त्र तथा पाश्चात्य सभ्यता का परिचय प्राप्त करते हैं। किन्तु अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाये बिना भी हम यह लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अंग्रेज़ी पढ़ो, किन्तु उसे एक गौण भाषा की तरह पढ़ो। हमारी मातृभाषा हिन्दी है, उसका स्थान अंग्रेज़ी नहीं ले सकती।········जर्मनी ने जब पोलैण्ड को जीत लिया तो वहाँ के लोगों में से राष्ट्रीयता के भावों को समूल नष्ट करने के लिए उन्होंने यही सर्वोत्तम उपाय समझा कि पोलैण्ड के स्कूलों में शिक्षा का माध्यम जर्मन-भाषा हो। तदनुसार सब स्कूलों में पोलैण्ड की भाषा को हटाकर जर्मन-भाषा प्रचलित कर दी गई। स्कूलों के उन नन्हें-नन्हें बालकों को जर्मन-मास्टरों ने बहुत ही निर्दयता से पीटा जो कि पोलैण्ड की भाषा में प्रार्थना के भजन गाते थे। भाषा का मनुष्यों के विचारों और जीवनों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अगर एक विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय तो विद्यार्थियों में से स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति अवश्य नष्ट हो जायगी। वे विदेशियों के विचारों और रीति-रिवाज़ों की नक़ल करने लगेंगे और उनमें से मानसिक और आत्मिक विकास का सर्वथा लोप हो जायगा। स्वाधीन आयर्लैण्ड के मन्त्रि-मण्डल ने बिना कुछ विचारे ही यों ही गैलिक भाषा को आयर्लैंड की मातृ-भाषा नहीं बनाया था, न ही "नवीन यहूदी युवक संघ" के नेताओं ने, बिना किसी मसलहत के, हिब्रू-भाषा को *अपने प्राथमिक तथा उच्च श्रेणी के स्कूलों में भी* शिक्षा का माध्यम बनाया था। परन्तु वे लोग वस्तुतः समझते थे कि उनकी सभ्यता और राष्ट्रीयता की उन्नति उनकी ही मातृ-भाषा द्वारा हो सकती है।

राष्ट्रीयता

तंग? हाँ, यह अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक तंग है, परन्तु यह उस राजनीतिज्ञ के स्वार्थ से अधिक विस्तृत है, जो अपने या अपने रिश्तेदारों के लिए नौकरियाँ चाहता है। वह मनुष्य जिसे अपने देश की अपेक्षा अपनी अधिक ममता है, कभी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं हो सकता। जब कोई मनुष्य मुझसे यह कहता है कि मैं "मानव जाति" की सेवा करना चाहता हूँ, तो मैं आम तौर से यह उत्तर दे दिया करती हूँ कि 'यह एक महान् आकांक्षा है, आप अपने घर के लिए क्या कर रहे हैं, अपने शहर के लिए क्या कर रहे हैं और अपने प्रांत के लिए क्या कर रहे हैं?" और यदि उसका उत्तर यह होता है कि 'कुछ नहीं' तो मैं समझ लेती हूँ कि वह देश-सेवा का उम्मेदवार भी नहीं है, चतुर कार्यकर्त्ता या निर्माणकर्त्ता तो दूर रहा। छोटे से बाग़ में हम यह सीखते हैं कि बड़ा खेत कैसे बोया जाता है।*

(डा०) एनी बेसेण्ट

---

*'न्यूइण्डिया' के एक लेख से

विविध

हमारी आवश्यकता—ज़मीन

आज कल भारतवर्ष के मनुष्य यदि मजूरी करके मर भी जायँ, तो भी वे महीने में औसतन तीन रुपये से ज़्यादा शायद ही कमा सकें। परन्तु अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा इंग्लैंड में रहने वाले मजूर रोज़ के दो-तीन रुपये आसानी से कमा लेते हैं!

काठियावाड़ी तथा मारवाड़ी, संयुक्त-प्रान्त के भैया लोग और पंजाब के सिख, महाराष्ट्र के घाटी तथा तामिल-नाड़ के स्वामी लोग पेट भरने के लिए अपना 'देश' छोड़ भारत के दूसरे बड़े शहरों में अथवा समुद्र पार जाकर रहने लगे; किन्तु इतना होने पर भी उनकी भूख शांत नहीं होती—उनका पेट नहीं भरता! इसका कारण यही है कि मनुष्य की सब से बड़ी ज़रूरत—ज़मीन—ही गोरे लोगों ने हज़म कर ली है। इस सम्बन्ध के कुछ अंक देने से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा।

सारी दुनियाँ का—पाँचों खंडों का—विस्तार ५ करोड़ ३० लाख वर्ग मील है। इस सवा पाँच करोड़ वर्ग मील की पृथ्वी पर कुल १९० करोड़ के लगभग मनुष्य रहते हैं। ये १९० करोड़ मनुष्य चार मुख्य वर्णों में विभक्त किये जा सकते हैं।

७० करोड़ पीत वर्ण के लोग
६० ,, गोरे लोग
४० ,, गेहुँए रंग के लोग
२७ ,, काले लोग

ऊपर के आँकड़ों से हम देख सकते हैं कि दुनिया की आबादी का तृतीयांश तो पीत वर्ण प्रजा का ही है, किन्तु उसकी सत्ता दुनिया के दसवें भाग में भी नहीं। दुनिया के ५ करोड़ ३० लाख वर्ग मील के विस्तार में से ४ करोड़ ७० लाख वर्ग मील पर गोरी प्रजा का झंडा फहराता है। यदि इसे दूसरी तरह से कहा जाय तो यह कहेंगे कि दुनिया के ९/१० भाग पर गोरी प्रजा ने ज़बर्दस्ती अधिकार कर लिया है। गोरे देशों के दर्वाज़े पीत तथा गेहुँए वर्ण की प्रजा के लिए बन्द हैं। लेकिन यहाँ हम गोरे देशों की बात छोड़ कर केवल ब्रिटिश राज्य का ही विचार करेंगे।

अँग्रेज़ी राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। पृथ्वी के एक-चौथाई भाग में अँग्रेज़ों की तूती सुनाई देती है। और उसकी आबादी भी दुनिया की आबादी के एक-चौथाई के जितनी अर्थात् ४६ करोड़ है। लेकिन इन ४६ करोड़ में से यदि भारतवर्ष में रहने वाले ३२ करोड़ तथा द० आफ़्रिका और उपनिवेशों में रहने वाले लगभग ६ करोड़ काले लोगों को कम करें, तो अँग्रेज़ मात्र ६॥ करोड़ के लगभग रह जाते हैं। और उसमें से भी यदि ब्रिटिश राज्य में रहने वाले दूसरे ७० लाख अँग्रेज़ कम करें तो ५ करोड़ और ९० लाख के लगभग अँग्रेज़ रहे, जो अँग्रेज़ी राज्य में रहते हैं। अब ग्रेट ब्रिटेन में रहने वाले ४ करोड़ ७० लाख अँग्रेज़ों को और कम कर दें तो मालूम हो जायगा कि कितने अँग्रेज़ दुनिया के और दूसरे भागों पर राज्य करते हैं। केवल सवा करोड़ अँग्रेज़ मिल कर दुनिया का एक चौथाई राज्य हज़म कर बैठे हैं।

फ़िजी, मारिशस तथा न्यूगायना जैसे गरम देशों में अँग्रेज़ लोग रहना पसंद नहीं करते। वे पहले दूसरी जाति के लोगों को वहाँ गिरमिट के तौर पर आबाद करवाते हैं। और देश जब रोग-मुक्त, साफ़ तथा उपजाऊ हो जाता है, तब वहाँ बसाये गये उन लोगों को दूर करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया जाता है।

ब्रिटिश राज्य के सोने के टुकड़े के समान फले-फूले देशों—केनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड तथा न्यूफ़ाउन्डलैंड में दूसरी जाति के लोगों अर्थात् भारतीयों को जाने की सख़्त

मुमानियत कर दी गई है। पूर्वोक्त देशों का कुल विस्तार लगभग ८० लाख वर्ग मील है। और १७० लाख अंग्रेज़ रहते हैं। यानी सारी दुनिया के सातवें भाग में सारी दुनिया की आबादी का हिस्सा रहता है।

अकेला आस्ट्रेलिया खंड ही इतना विशाल और उपजाऊ है कि उसमें २० करोड़ मनुष्य तो आसानी से रह सकते हैं। वहाँ आज केवल ६० लाख मनुष्य—लंदन शहर से भी कम—रहते हैं। और वहां के सिडनी जैसे दो चार शहरों की आबादी न गिनें तो वहां प्रति वर्ग मील एक आदमी या पांच वर्ग मील के घेरे में एक कुटुंब रहता है।

आस्ट्रेलिया से ८०० मील की दूरी पर जावा नाम का एक टापू है। उसका क्षेत्रफल ५० हज़ार वर्ग मील है। उस छोटे से टापू में प्रति वर्ग मील ७०० मनुष्य रहते हैं। जावा जैसे छोटे से टापू की आबादी ३॥ करोड़ है। आस्ट्रेलिया खंड से इसकी आबादी ६ गुनी ज़्यादा है।

पीतवर्ण में प्रजा की आबादी प्रति वर्ग मील में १२० के हिसाब से है।

संक्षेप में गेहुँए वर्ण के तथा पीतवर्ण के लोग ज़मीन के अभाव से भूखों मरते हैं और तिलमिलाते हैं, दूसरी ओर एक मुट्ठी भर गोरे लोग साम्राज्य के मद में मस्त होकर गोरे लोगों के सिवा किसी को उन उपजाऊ प्रदेशों में घुसने तक नहीं देते।

गोरे लोग अपने मुल्क में स्वतंत्र तथा सुखी हैं। इसीलिए वे आस्ट्रेलिया तथा कनाडा जैसे उपजाऊ प्रदेशों में जाने के लिए राज़ी नहीं होते। इसीसे ये उपजाऊ मुल्क अभी तक आबाद नहीं हो पाये हैं। कुत्ता जैसे खुद तो घास खाता ही नहीं है और गाय या बैल को भी नहीं खाने देता है—भौंकता रहता है, उसी प्रकार संस्कृति का उत्तेजक नाम देकर गोरे लोग और खासकर अंग्रेज़ लोग इससे मनुष्य-जाति को वंचित रख रहे हैं।

आज पीली प्रजा ज़रा ज़ोर में आने लगी है। काली प्रजा में भी राष्ट्रीय-जागृति के कोंपल फूटने लगे हैं। और जब गेहुँए-वर्ण की प्रजा अर्थात् हम भारतीयों में वास्तविक जीवन आवेग—जब हम स्वतंत्र हो जायँगे—तब हम सब प्रजा एकत्र होकर, सदियों से हम पर जो जुल्म, अन्याय तथी अत्याचार किया गया है, उसका हिसाब लिए बिना उन्हें नहीं छोड़ेंगे।

छगनलाल जोशी

विज्ञापन-बाज़ी

इस दिनों भारत में विज्ञापन-बाज़ी खूब धड़ाके से हो रही है। कोई विरला ही दैनिक, साप्ताहिक व मासिक पत्र ऐसा न होगा, जिसके दो-चार पृष्ठ विज्ञापनों से न भरे हों। कई-कई पत्रों की तो आधी पृष्ठ-संख्या विज्ञापनों से भरी रहती है।

विज्ञापन का प्रधान उद्देश्य जनता के कानों तक किसी वस्तु-विशेष की सूचना पहुँचाना है। जो कार्य प्रत्येक व्यक्ति के पास पृथक्-पृथक् पत्र भेजने से नहीं निकल सकता वही कार्य किसी समाचार पत्र में छोटासा विज्ञापन देने से, हो जाता है।

पाश्चात्य देशों के समाचारपत्रों में विज्ञापन अधिकतर नये आविष्कारों के होते हैं, या खेल-तमाशे और नीलाम के, तथा, बड़ी-बड़ी संस्थायें जो वर्ष के अन्त में अपना माल बेच देना चाहती हैं उनके मूल्य घटने की सूचना के। विज्ञापन वही मनुष्य या संस्था देती है, जिसको अपने माल की श्रेष्ठता का विश्वास होता है। विज्ञापन द्वारा वे अपने ग्राहकों के मन में यह जमा देते हैं कि हमारे यहाँ से माल सर्वोत्तम भेजा जायगा और उसमें आपको लाभ ही होगा। यदि भूल से कोई माल बुरा पहुँचे, या ग्राहक की रुचि के अनुसार न हो, तो वे उसे सहर्ष लौटा लेते हैं और प्रायः डाक-व्यय इत्यादि का भार स्वयं उठाते हैं। इससे ग्राहक को उनके यहाँ से माल मँगाने में कदापि कोई सङ्कोच नहीं होता और वहाँ बेखटके अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की मांग उनको भेजता रहता है। वहां अश्लील या गन्दे विज्ञापन देखने में नहीं आते।

इसके विपरीत भारत के समाचारपत्रों के विज्ञापनों पर दृष्टि डालिए। सरकारी, अँग्रेज़ी तथा कुछ उच्च कोटि की अन्य संस्थाओं के विज्ञापनों को छोड़कर अधिकतर विज्ञापन धोखे के होते हैं। इन विज्ञापनों की अधिकांश संख्या "धातु स्तम्भन गोलियाँ" 'कोकशास्त्र" तथा ऐसे ही अन्य गन्दे विज्ञापनों की होती है। कई समाचार पत्रों का अधिकांश

भाग इन्हीं से भरा रहता है। इस श्रेणी के इनके अतिरिक्त और जो विज्ञापन होते हैं, उनके यहां से भी आप कोई माल मँगा कर देखें तो अनुभव हो जायगा विज्ञापन-दाता धोखे बाज हैं तथा समाचार-पत्रों की आड़ में जनता से पैसे लूटते हैं। विचारने की बात है कि जिस वस्तु का मूल्य ॥।) या १) हो और उसका विज्ञापन सदैव कई पत्र-पत्रिकाओं में निकलता रहे, तो विज्ञापनदाता को क्या लाभ हो सकता है, जब कि विज्ञापन के दर कम नहीं होते? ऐसी हालत में निश्चय ही या तो वह माल खराब देगा या दूने-चौगुने दाम लगादेगा।

जिस प्रकार समाचारों की सत्यता के लिए पत्र-संपादक कुछ अंश में उत्तरदाता होते हैं, इसी प्रकार यदि वे अपने पत्र के विज्ञापनों के लिए भी उत्तरदाता बनाए जायँ* तो क्या ही अच्छा हो। यह नहीं तो पत्र-संपादकों को चाहिए कि अपने पत्रों के विज्ञापनों की सत्यता की जाँच अवश्य किया करें। ऐसा करने से वे अपने निर्धन देश-वासियों के द्रव्य को व्यर्थ बर्बाद होने से बचा सकेंगे।

यदि भारत के समाचार-पत्रों में अश्लील या गन्दे विज्ञापन न छपते होते तो आज विदेशियों को भारतवासियों की ओर अंगुली उठाकर 'नपुंसक' इत्यादि कहने का साहस न होता। वास्तव में जब हम देखते हैं कि ऐसे विज्ञापन अधिक संख्या में निकलते हैं, इनकी संख्या दिनों-दिन बढ़ती ही जाती है, तथा प्रायः सभी समाचार-पत्रों में ये हमेशा निकलते रहते हैं, तो मानना पड़ता है कि इन विज्ञापनदाताओं की दवाइयों की आवश्यकता जनता को है—अर्थात् जनता इन व्याधियों में ग्रस्त है और विदेशियों का कहना अक्षरशः सत्य है। यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि इन दवाइयों से हानि ही हानि होती है। लाभ सर्वथा असंभव है, यदि रोगग्रस्त जनता जितना रुपया इन विज्ञापनदाता तथा डाक की भेंट करती है उतना किसी वैद्य हकीम या डाक्टर को दे, तो वह उसके रोग को कम समय में समूल नाश कर सकता है। अस्तु।

इस लेख द्वारा मैं उन पत्र तथा पत्रिकाओं के प्रबन्धकों से प्रार्थना करता हूँ, जो अपने पत्रों को उच्च कोटि का मानते हैं कि वे ऐसे विज्ञापनों का छापना एकदम बन्द कर दें। यदि सभी पत्र-पत्रिका "त्याग-भूमि" की नीति का अवलम्बन करते हुए व्यर्थ के विज्ञापनों का छापना बन्द कर दें, तो अति उत्तम हो। परन्तु यदि वे विज्ञापन बन्द करने से होने वाली आर्थिक हानि को सहन न कर सकते हों, तो कम से कम कोकशास्त्र, नपुंसकता आदि के अश्लील तथा गन्दे विज्ञापनों का छापना तो अवश्य बन्द कर दें। ऐसे विज्ञापनों द्वारा आमदनी पर लानत है, जिससे अपना देश दूसरों की दृष्टि में गिरता हो।

क्या मैं आशा करूँ कि सम्पादक लोग इस ओर ध्यान देकर इस सुधार में अग्रसर होने का साहस करेंगे?

रामेश्वरदयाल

दुर्भिक्ष और दरिद्रता की भूमि

अभी कुछ दिन हुए अमेरिका की सीनेट में वर्सेल्स संधि पर विचार हो रहा था, जिसे गत महासमर के बाद यूरोपीय-राष्ट्रों ने स्वीकृत किया था। इस संधि के अनुसार इंग्लैण्ड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों ने सारे संसार का बटवारा आपस में किया था। सब राष्ट्रों ने मिलकर भारत को अंग्रेज़ों के अधीन रखना स्वीकार किया था। उस समय अमेरिका ने इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। अमेरिका की सीनेट में जोसेफ़ इरविन फ्रांस ने इस सन्धि का विरोध करते हुए अंग्रेज़ों के भारत में कुशासन पर भी कुछ प्रकाश डाला था। पाठकों के परिचय के लिए हम उसका सारांश नीचे देते हैं—

"क्या आप ऐसी संधि का समर्थन कर सकते हैं, जिससे अंग्रेज़ों का बुरा शासन भारत में जारी रहे। भारतवर्ष एक उच्च सभ्यता की आदि भूमि है। इसका विज्ञान, व्यवसाय और व्यापार पहले बहुत उन्नत था। इसका बैबिलोन और मिस्र से व्यापार होता था। इसकी ढाका की मलमल प्रसिद्ध थी। अंग्रेज़ों के भारत में आने से पूर्व भारत एक सम्पन्न तथा ऐश्वर्यशाली देश था, परन्तु भारत में अंग्रेज़ों के शासन के प्रारंभ के साथ-साथ भारत की ग़रीबी शुरू

---

* कानूनन् वे जिम्मेदार हैं और कई अपनी उपेक्षा के कारण इसके लिए सज़ा भी भुगत चुके हैं।—सं०

होगई। भारत का रुपया और अन्न बड़े वेग से बाहर जाने लगा। अंग्रेजों के शासन का मुख्य सिद्धान्त यही रहा है कि सम्पूर्ण भारत-राष्ट्र को वे हर तरह से अपने लाभ के लिए अधीन करलें। उन्होंने भारतीयों पर खूब भारी कर लगा दिये। भारत के नाम से व्यर्थ ऋण लेकर बड़े-बड़े युद्धों में, जो इंग्लैण्ड के हित के लिए किये गये थे भारत को कर्ज़दार बना दिया। श्रीयुत ए० जे० विल्सन ने १८८४ में लिखा था कि अंग्रेज़ २,००,००,००० पौंड अर्थात् भारत की सम्पूर्ण पूंजी का दसवां हिस्सा कर प्रति वर्ष वसूल करते हैं। किसानों से फ़ी सदी ५० करके अलावा दूसरे भी कई कर लिये जाते हैं, जो मिला कर ७५ फ़ी सदी तक हो जाते हैं। इससे भारत में दरिद्रता ने बहुत बुरी तरह घर कर लिया है। अन्न पैदा करने वाले किसानों तक को भरपेट भोजन नहीं मिलता। भारत की आधी जन संख्या यही नहीं जानती कि पेट भर खाना किसे कहते हैं। इसी तरह से सरकार के बुरे शासन के कारण भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने लगे हैं। दुर्भिक्ष के कारण १८५४ से १९०१ ई० तक २,८८,२५,००० मनुष्य मरे और पिछले दस वर्षों में प्रति वर्ष दस लाख की औसत से मनुष्य मरे। डिग्बी ने लिखा है कि १ जनवरी १८९९ से ३० सितम्बर १९०१ तक प्रति दिन के प्रत्येक मिनट में भारतीय प्रजा दुर्भिक्ष के कारण मरी। भारत में प्लेग का मुख्य सूत्र दरिद्रता है और इस बीमारी का विष फैलाने वाली सरकार है। बिना भोजन के टूटे हुए रक्त-हीन भारतीयों के शरीर, प्लेग को सहन करने की शक्ति न रखने के कारण उसके शिकार हो जाते हैं।

"भारत में अशिक्षा भी खूब बढ़ी हुई है। बहुत ही कम द्रव्य लोगों की शिक्षा के लिए व्यय किया जाता है। वहां फ़ी सदी ७ मनुष्य शिक्षित हैं और वह अंग्रेज़ों के वहां १५० वर्ष राज्य करने के बाद, जब कि अमेरिका के फ़िलिपाइन्स में २० वर्ष तक शासन करने के बाद वहां फ़ी सदी ५६ मनुष्य शिक्षित होगये हैं। उपनिवेशी-प्रजा के सम्बन्ध में अंग्रेज़ शासकों ने कहा है कि हमें सेनापतियों, राजनीतिज्ञों और व्यवस्थापकों की आवश्यकता नहीं हैं, हम परिश्रमी किसानों को चाहते हैं।

"जर्मन महासमर में लाखों भारतीय हमारे आत्मनिर्णय की प्रतिज्ञा के भरोसे इंग्लैण्ड के लिए लड़े और जब युद्ध समाप्त होगया और भारतीयों ने आत्मनिर्णय का दावा किया तो रोलेट ऐक्ट पास किया गया और जब उसका विरोध किया गया तो अंग्रेज़ों ने मशीनगनों से उन्हें भून डाला। हम ऐसी संधि का समर्थन नहीं कर सकते, जिसके द्वारा भारत में अंग्रेज़ों को इस तरह अत्याचार करने का अधिकार मिले।"

कृष्ण

पुस्तकालय-सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण

पुस्तकालय अर्थात् पुस्तकों का संग्रह स्थान; जो चाहे, वहाँ आकर, उसका उपयोग करें। पुस्तकालय के संबन्ध में यह विचार पहले से चले आते हैं। (यह लिखते हुए 'पुस्तकालय' शीर्षक गुजराती मासिक में श्री शङ्करभाई सोमाभाई पटेल बताते हैं कि) अब यह विचार बदल गया है। अब सिर्फ़ पुस्तकों का संग्रह रखना, अथवा उन्हें पढ़ने के लिए आने वालों की प्रतीक्षा करते बैठे रहना-भर उनका काम नहीं रहा। अब तो, उन्हें ऐसे प्रयत्न करने होते हैं कि जिससे सारी पुस्तकें अधिक से अधिक पढ़ी जायँ। प्रत्येक पुस्तक के लिए पाठक और प्रत्येक पाठक के लिए पुस्तक प्रस्तुत करना ही, संक्षेप में, अब तो उनका काम माना जाता है। पहले के (प्राचीन) और इस (अर्वाचीन) विचार में, इस प्रकार सारे दृष्टिकोण का ही अंतर है। अर्थात् पहले पुस्तकालय एक ही जगह निश्चेष्ट जमे रहते थे, वहाँ अब वे प्रयत्नशील हो गये हैं।

ईस्वी सन् की उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में इन नवीन प्रवृत्तियों का आरंभ हुआ; और इनमें से मुख्य हैं। यह कि (१) पुस्तकालय का महत्व भी स्कूलों जितना ही राष्ट्रोपयोगी माना जाने लगा है। (२) पुस्तकालय की पुस्तकें हर कोई देख सके, इसके लिए उन्हें खुली रखने की प्रणाली--Freedom of Access का प्रारम्भ हुआ है। (३) बालकों के प्रति पुस्तकालयों का ध्यान आकर्षित हुआ है। (४) स्कूलों के साथ पुस्तकालय सहयोग करते हैं। (५) चलते-फिरते पुस्तकालय एवं उनकी शाखाओं की प्रणाली आरम्भ हुई है। और (६) कैसी पुस्तकें पढ़नी व कैसी नहीं पढ़नी इत्यादि की सूचियां बनाकर पुस्तकालय

प्रदर्शनों-पुस्तकालय के उत्सवों आदि-आदि के द्वारा पुस्तकालय की आवश्यकता सर्वसाधारण को समझाने के प्रयत्न हो सकें।

पुस्तकों का चुनाव

पुस्तकें पसन्द करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए? इसके लिए गुजराती 'पुस्तकालय में, श्री नानाभाई चन्द्र दीवानजी लिखते हैं:—

१—कुछ ही लोग नहीं किन्तु ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति उनका उपयोग उठा सकें।

२—सिर्फ़ आलमारी की शोभा बढ़ाने के लिए ही न खरीदी जायँ।

३—जिनसे गाँव वालों का जीवन रस-मय और आनंद मय बने, अपने काम-धन्धों में वे अधिक दिलचस्पी लेने लगें और उनकी मुश्किलों को सरलता से हल करना सीख सकें, ऐसी पुस्तकें खास तौर पर पसन्द की जायँ।

४—प्रत्येक विषय एक समान समृद्ध किया जाय।

५—स्त्रियों व बालकों सम्बन्धी पुस्तकें खास तौर पर काफ़ी तादाद में पसन्द की जायँ।

६—ऐसी आकर्षक पुस्तकें भी पसन्द की जायँ कि जिनसे पढ़ने का शौक न रखने वाले लोग भी ललचा उठें। मुकुट

अग्रवालों में जागृति

जब तक संघर्ष होता हो तभी तक उन्नति और सुधार की आशा समझनी चाहिए। व्यक्ति, कुटुम्ब, जाति और देश सब पर यह नियम चरितार्थ होता है। पिछले दो-तीन सालों से अग्रवालों में संघर्ष बढ़ता हुआ दिखाई देता है। समाज में एक ऐसा दल बन गया है जो, सामाजिक-सुधारों के लिए छटपटा रहा है समाज की भयंकर कुरीतियाँ जिसे विषैले साँप की तरह डँस रही हैं। अभी जिस बात के लिए अग्रवाल महासभा के दो टुकड़े बंबई में हो गये वह तो थी जाति-बहिष्कार। अग्रवालों में हाल ही कुछ विधवा-विवाह हुए हैं, कुछ ऐसे सज्जन भी हैं जो छुआछूत को न मानने के अलावा अछूत-भाइयों के साथ एक सीमा के अन्दर खान-पान में भी परहेज नहीं मानते हैं। ऐसे को जाति के बाहर निकाल देने की चेष्टा अपने को सनातनी कहने वाले भाइयों की तरफ़

श्री बालकृष्णदासजी पोद्दार (अग्रवाल महासभा के स्वागताध्यक्ष)

से हो रही थी। इसी प्रश्न पर बंबई में अग्रवाल महासभा के अधिवेशन के पहले से ही दोनों गुट वालों

में काफ़ी तू-तू मैं-मैं, अख़बार-बाज़ी और पर्चे-बाज़ी हो रही थी। अन्त को मनोनीत सभापति श्री हनूमानप्रसाद जी पोद्दार के स्वागत के समय स्टेशन पर 'सनातनी'

श्री वेणीप्रसादजी डालमिया (अग्रवाल महासभा के महामंत्री)

भाइयों ने जो धाँधली की और जिसके बदौलत सभापति जी को दोनों दलवालों के स्वागत को छोड़ कर अलहदा विक्टोरिया किराये करके अपने स्थान पर आना पड़ा और अन्त को सनातनियों के इस बात की गैरण्टी न देने पर कि सभा में हमारी तरफ़ से किसी बात का हो-हल्ला या बखेड़ा न होने पावेगा, इस्तीफ़ा दे देना पड़ा एवं श्रीरंगलालजी जाजोदिया सभापति चुने गये—इन बातों के फलस्वरूप दोनों दलों ने अपने अलग-अलग अधिवेशन किये। दोनों सभाओं में प्रस्ताव प्रायः एक-से पास हुए। सिर्फ़ दो बातों में ख़ास भेद रहा—एक तो सुधारकों ने विवाह के समय लड़के की उम्र १६ की जगह १८ कर दी और दूसरे सनातनियों ने विधवा-विवाह करने वालों को जाति से बहिष्कृत करने तथा उनके समर्थकों को उचित दण्ड देने का प्रस्ताव स्वीकृत किया। विधवा-विवाह को निन्दास्पद तो दोनों सभाओं ने माना। सुधारक यदि विधवा-विवाह के विषय में तटस्थ रह जाते तो अच्छा था; पर मेरे दुःख की सीमा न रही जब उन्होंने न केवल उसे घृणास्पद बताया बल्कि उसे रोकने की भी आवश्यकता का प्रतिपादन किया। यद्यपि आगे बढ़े हुए सुधारकों में इससे भारी खलबली और असन्तोष फैला—परन्तु कमज़ोरी समझदारी का जामा पहन कर जब सामने आ जाती है तब बड़ों-बड़ों को मोह उत्पन्न हो जाता है। फिर अग्रवालों के भोले-भाले नवयुवक यदि उसके चँगुल में फँस जायँ तो कौन आश्चर्य है? बम्बई की महासभा के सञ्चालकों के प्रति पूर्ण आदर-भाव रखते हुए भी यह कहे बिना नहीं रह सकता कि सुधारकों के प्रस्ताव अग्रवालों को सामाजिक विषय में प्रायः वहीं छोड़ देते हैं जहाँ वे पहले थे। केवल यह कहना कि हम बहिष्कार को नहीं मानते, व्यक्तिगत असहयोग को कोई भले ही अख्यार करे, उनके लिए शोभास्पद नहीं। महासभा के मोह को छोड़कर उन्हें या तो उसे दूसरे दल वालों को सौंप कर पृथक् हो जाना चाहिए था, या विधवा-विवाह के संबंध में चुप रह जाना चाहिए था।

इस बार के अधिवेशन में क्या स्वागत-कारिणी समिति, क्या कार्य-कारिणी सभा, क्या मनोनीत सभापति, क्या दोनों दल वालों के अधिवेशन, सबने बड़ी-बड़ी ग़लतियाँ कीं। स्वागत-कारिणी वालों ने दो ग़लतियाँ कीं—(१) यह ऐलानसा कर दिया था कि जो भी सज्जन प्रतिनिधि बनना चाहेगा बन सकेगा, यह कोई ज़रूरी बात नहीं कि वह शाखासभा से निर्वाचित होकर प्रतिनिधि बने। (२) महासभा के अधिवेशन में जबतक कोई बात तय न हो जाय तबतक विधवा-विवाह करने वाले महासभा में शरीक न हों, इस आशय का प्रस्ताव पास कर देना। कार्य कारिणी ने पीछे से स्वागत समिति की पहली बात के ख़िलाफ़ प्रस्ताव किया कि केवल शाखासभा आदि से निर्वाचित प्रतिनिधि ही प्रतिनिधि समझे जावेंगे और यह प्रस्ताव तब किया जब कि बहुतेरे लोग बंबई में आ चुके थे। इस प्रस्ताव को पास करते समय सुधारकों के मनमें न्याय-वृत्ति उतनी काम नहीं कर रहीथी जितना सनातनियों को हरा देने का भाव ज़ोर मार रहा था। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। मनोनीत सभापति श्री हनूमानप्रसाद जी ने यह ग़लती की कि वे अलहदा विक्टोरिया करके स्टेशन से घर चले गये। वे स्वागताध्यक्ष के चार्ज में थे और हर तरह के ख़तरे का सामना करके उन्हें उनके चार्ज से, मेरी राय में, पृथक् न होना चाहिए था। सुधारकों अथवा महासभावादियों ने यह ग़लती की जो उन्होंने श्री आनंदीलाल जी पोद्दार के इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया कि महासभा का अधिवेशन कल तक स्थगित कर दिया जाय जिससे समझौते की कोई सूरत निकल आवे। श्री आनंदी लाल जी ने यह भूल की कि उन्होंने सुधारकों को यह आश्वासन नहीं दिया कि यदि सनातनी भाई समझौते के अनुकूल न हुए तो वे स्वयं अपने दल-बल सहित सुधारकों के अधिवेशन में आवेंगे। पंचायत या सनातनी दल वालों ने स्टेशन पर सभापति का बुरी तरह अपमान करके, तथा

श्री नारायणलालजी पीती (अग्रवाल महासभा के स्वागत मंत्री)

जाति-बहिष्कार और दण्ड देने का प्रस्ताव पास करके गलती की। उनके पर्चे और अख़बार शिष्टता और विवेक में बहुत गिरे हुए दिखाई दिये।

इन तमाम गलतियों और धाँधल-बाज़ियों के होते हुए महासभा के दोनों अधिवेशन सकुशल समाप्त हुए और सारे सुधारक कम से कम इस एक बात पर सहमत हो गये कि जाति-बहिष्कार इस समय बुरी चीज़ है, यह भी एक तरह से कुछ कम लाभ नहीं है। खुशी की बात है कि हमारे अजमेर के अग्रवाल भाइयों ने इस बार महासभा को अपने यहाँ निमन्त्रित किया है। पिछली गलती से लाभ उठाकर, आशा है कि वे अगले अधिवेशन को इस तरह सफल बनाने का उद्योग करेंगे जिससे समाज-सुधार में उनका क़दम बहुत आगे बढ़ जाय। चींटी की चाल से चलने का यह युग नहीं है। जो बातें सरासर बुरी और हानिकर सिद्ध हो रही हैं, उन्हें एक बारगी मिटा देने में हिच-किचाहट क्यों होनी चाहिए? कम से कम सुधारकों की मनोवृत्ति तो इसके अनुकूल ही होनी चाहिए। सुधारकों को न संघर्ष से भयभीत होना चाहिए न संस्थाओं पर क़ब्ज़ा रखने का मोह रखना चाहिए, न विपक्षी को हटाने की भावना को हृदय में स्थान देना चाहिए। सुधारक तो विपक्षी को अपने पक्ष में मिलाना चाहता है, उसे बरबाद करना नहीं चाहता।

हाँ, एक काम ज़रूर सुधारकों की महासभा ने ऐसा किया है जिससे उनके पूरे राष्ट्रीय-भाव का पता चलता है। उसने दिल से सायमन-कमीशन के बहिष्कार का समर्थन किया है, खादी और स्वदेशी के इस्तैमाल पर भी ज़ोर दिया है। इसके लिए महासभा धन्यवाद और प्रशंसा की पात्र है।

हरिभाऊ उपाध्याय

देहात में सफ़ाई की व्यवस्था

हिन्दुस्तान एक ग्राम-प्रधान देश है। यहाँ के शहरों की संख्या जहाँ २,३१६ ही है, वहाँ गाँव लगभग ७ लाख के हैं। देश के राष्ट्रीय-आन्दोलन में गाँवों की जनता का बहुत थोड़ा भाग है। शिक्षा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों की दृष्टि से गाँवों के लोगों को अभी बहुत कुछ सीखना है। जब तक देश के उच्च शिक्षा प्राप्त नवयुवकों और देश-नेताओं का ध्यान ग्राम-सुधार जैसे महत्व के प्रश्न की ओर अच्छी तरह नहीं जाता है, तब तक स्वराज्य प्राप्ति के लिए आवश्यक ग्राम-संघटन, किसी पुख्ता नींव पर क़ायम न हो सकेगा।

मनुष्य के जीवन में शिक्षा और सफ़ाई अपना ख़ास महत्व रखते हैं। शिक्षा से भी अधिक आवश्यक सफ़ाई है। क्योंकि बिना सफ़ाई के तन्दुरुस्ती क़ायम नहीं रह सकती। बीमार मनुष्य को शिक्षा देश के लिए उचित फलदायी नहीं होती। खेद है कि हमारे देश के अधिकांश गाँवों में लोगों का सफ़ाई की ओर बहुत कम ख़्याल रहता है। एक बार आप किसी गाँव के किनारे से निकल जाइए। चारों ओर आपको कई तरह का कूड़ा-करकट भरा मिलेगा। गाँव में आने वाले रास्तों और पगडंडियों के पास ही—कभी-कभी उनके किनारे और बीच में—लोग मल-मूत्र विसर्जन कर देते हैं। इससे यात्रियों को तो कष्ट होता ही है, परन्तु गाँव के स्वास्थ्य पर भी इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सवेरे और शाम के समय जब कि मनुष्य को शुद्ध वायु की ज़रूरत रहती है, गाँवों का वायु-मंडल मल-मूत्रादि की दुर्गन्ध से भरा रहता है। यदि देहाती भाई तनिक विचार करें तो इस सामाजिक कष्ट को वे सहज ही दूर सकते हैं। नीचे हम कुछ ऐसे उपाय बतलाते हैं जिनसे देहात की सफ़ाई का यह मसला हल करने में उत्साही भाइयों को कुछ मदद मिल सकेगी।

१—जिन गाँवों में भंगी नहीं है वे या तो एकाध भंगी-कुटुम्ब को अपने यहाँ बसालें, या फिर ऐसा प्रबन्ध करें कि गाँव के आस पास लगभग एक मील घेरे में पड़ने वाले आम रास्तों पर कोई टट्टी न फिरने पावे।

२—यदि गाँव के मुखिया चाहें तो वे अपनी बस्ती के आस पास के स्थान को बाग़-बगीचों, विश्राम-स्थानों, आदि सार्वजनिक हित के साधनों से इतना मनोरम बना दें कि किसी को उसे गँदला करने का साहस न हो।

३—जहाँ तक हो सके गाँव के सारे स्त्री, पुरुष आस-पास के खेतों में मल-मूत्र का विसर्जन करें। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये एक गढ़ा खोद ले, और टट्टी फिर लेने के बाद उसे सूखी मिट्टी से ढँकता जाय तो दुहेरा लाभ हो। एक तो दुर्गन्ध के द्वारा वायु दूषित होने से बचेगी, और

दूसरे, भीतर ही भीतर खेत के लिए पोषक—खाद के साथ तैयार होते रहेंगे।

४—गाँवों में ढोरों के गोबर, उनके मूत्र और खाने से बची हुई कड़बी, घास, भूसी, आदि का बड़ा दुरुपयोग होता रहता है। ढोरों का गोबर तो जलाऊ-लकड़ी के अभाव में उपले बनाने के काम में लग जाता है। और मूत्र यों ही सूख जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से गाय, बैल, भैंस आदि प्राणियों का मल-मूत्र उपजाऊ ज़मीन के लिए एक तरह की उत्तम खाद है। इसमें पौधों को पुष्ट करने के लिए आवश्यक, नाइट्रोजन, फॉस्फरस, और पोटाश आदि तत्व बहुतायत से पाये जाते हैं। यदि हमारे देहाती भाई इनका सदुपयोग करना सीख लें तो उनकी पैदावार को बढ़ते देर न लगे।

गोबर का खाद बनाने का सब से सरल तरीका यह है कि गाँव से कुछ दूर कुछ खूब गहरे गड्ढे खोद लिये जाँय। और उन्हें भीतर से चूने या मिट्टी से पोत दिया जाय। फिर प्रति दिन का गोबर, घास, पत्तियाँ घर और बाहर का अन्य कूड़ा-कचरा, नाली का पानी, वगैरह उसमें डालते रहना चाहिए। और प्रति दिन ऊपर से कुछ राख भी। गढ़े के भर जाने पर उसपर ४-५ अँगुल मिट्टी या राख की तह जमा देनी चाहिए। खाद को अच्छी तरह सड़ाने के लिए उसपर थोड़ा थोड़ा पानी भी छिटकते रहना चाहिए। और समय-समय पर उसे ऊँचा नीचा करके, पलट भी देना चाहिए। इस तरह बनी हुई खाद बड़ी कीमती और गुणकारी होगी।

मूत्र का सदुपयोग करने की सबसे सरल विधि यह है कि ढोरों की थान की ज़मीन को मिट्टी और कंकर पीट कर खूब कड़ी कर ली जाय। जिससे पेशाब ज़मीन में जज़्ब न होने पावे। ऊपर से घास, पात, छिलके, राख, भूसे आदि से उसे ढँक दिया जाय। गोबर भी वहीं पड़ा रहे। इस तह को हर रोज बदल दिया जाय। जब थान की ज़मीन करीब दो-ढाई बालिश्त ऊँची हो जाय, तब उसे खोद कर खेतों में डाल देना चाहिए।

५—गाँवों में कुओं, तालाबों और बावड़ियों की सफाई का पूरा-पूरा प्रबन्ध रहना चाहिए। पानी पीने के कुओं में कपड़े धोना, बरतन मलना, गाय ढोरों का नहलाना, आदि काम कतई बन्द होने चाहिएँ। समय-समय पर कीड़ों को नाश करने के लिए निवानों में दवाई भी डलवाते रहना चाहिए।

६—कपड़े-लत्तों की सफ़ाई, घर आँगन की सफ़ाई, और चौके की सफाई थोड़े से परिश्रम से अच्छी तरह की जा सकती है। हम लोग ज़रूरत से ज़्यादा आलसी हो गये हैं। इसी कारण हमारे घरों में मच्छर, डाँस, पिस्सू, खटमल जैसे स्वास्थ्य-घातक जन्तु बहुतायत से पैदा होने लगते हैं। इनसे और मक्खियों से बचने का एक मात्र सरल तरीका सब तरह की सफ़ाई है।

काशीनाथ त्रिवेदी.

स्व० सर रमणभाई

सर रमणभाई महिपतराम नीलकंठ, नाइट, का स्वर्गवास गत ६ मार्च को होगया। महात्मा गांधीजी के शब्दों में आप गुजरात के पिछले पचास वर्षों के सजीव इतिहास थे। आपने स्व० पं० महिपतराम नीलकंठ जैसे अद्वितीय शिक्षा-शास्त्री और साहसी-सुधारक के घर ता० १३ मार्च सन् १८६८ के दिन जन्म धारण किया था। इस तरह ६० वर्ष की अवस्था पाकर आपने जिस साहस, शौर्य और लगन के साथ देश, भाषा और समाज की आदरणीय सेवा की, वह स्वर्णाक्षरों में अंकित किये जाने योग्य है। आप गुजराती साहित्य के अद्वितीय साक्षर-रत्न थे। आधुनिक गुजरात का प्रजा-जीवन निर्माण कर उसे योग्य मार्ग पर लगाने और नया उत्साह उत्पन्न करने वालों में रमणभाई का स्थान सर्वोच्च था।

यद्यपि संपूर्ण गुजरात में आप शिक्षा-शास्त्री के नाते विख्यात थे, किन्तु इसीके साथ-साथ समाज-सुधार में अग्रसर होने; प्रार्थना-समाज तथा गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी की जड़ जमाने में भी आपका पूरा-पूरा हाथ रहा है।

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार आप बचपन से ही तीव्र बुद्धिशाली और अद्भुत साहसी रहे। पंद्रह वर्ष की अवस्था में जब आपने मेट्रिक्यूलेशन परीक्षा पास की तो उसमें आप अहमदाबाद में सर्वश्रेष्ठ रहे। इसी प्रकार आपका कालेज-जीवन भी बड़ा ही यशस्वी था। उस छोटी सी अवस्था में आपने बम्बई में एल्फिंस्टन कालेज में

गुजराती-मंडल के सामने "कविता" जैसे गूढ़ विषय पर जो मार्मिक भाषण किया, उसे सुनकर बड़े-बड़े साहित्य महारथियों को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ी थी।

इसके बाद जब कि पाश्चात्य-शिक्षा और साहित्य के प्रभाव से नवशिक्षित युवक-समाज को नई प्रेरणा मिली, और अदम्य उत्साह के साथ वह पाश्चात्य-संस्कृति का नया दृष्टिकोण प्राप्त कर आगे बढ़ने लगा, तब उसे उचित मार्ग पर लगाने और जनता तक उसका संदेश पहुँचाने का कार्य स्व० सर रमणभाई ने "ज्ञानसुधा" (मासिकपत्र) के द्वारा सम्पादन किया था। पुराने आचार-विचार और रूढ़ि-धर्म को हटाकर उनके स्थान पर, नवीन आदर्श का प्रचार करने के लिए आपको कठिन परिश्रम करना और विरोधियों से जूझना पड़ा। आपके "भद्रंभद्र"* नामक ग्रंथ में इसी पारस्परिक संघर्ष की मार्मिक किन्तु मनोरंजक आलोचना की गई है। इस ग्रंथ के प्रकाशित होने पर जनता में हलचल सी मच गई थी। किंतु उस समय सामाजिक अनिष्ट-अंगों के नाश के लिए ऐसे तीव्र विवेचन की अतीव आवश्यकता थी। इन सब दृष्टियों के अतिरिक्त स्थायी-साहित्य के नाते भी यह पुस्तक अद्वितीय सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त आपकी "वनराज चावड़ो" और "सिद्धराज जयसिंह" ये दो पुस्तकें भी ऐतिहासिक साहित्य में अमर कृतियाँ कहला सकती हैं। किन्तु "राईनो पर्वत" † नामक आपका नाटक तो गुजराती साहित्य में एकदम ही उच्चकोटि का ग्रंथ माना जाता है; और वह उच्च कक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक के रूप में भी स्वीकृत किया गया है।

साहित्य की ही तरह समाज-सुधार में भी आपकी प्रवृत्ति प्रशंसनीय एवं उपकारक रही है। विदेशगमन, बाल-विवाह, कन्या-विक्रय, विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-विवाह, अंतर्जातीय-विवाह आदि सभी सामाजिक-विषयों में आपने सदैव अग्रसर होकर भाग लिया और स्वयं कई बातों के आदर्श बने। इसी प्रकार म्युनिसिपालिटी और कौंसिल के सदस्य बनकर भी आपने सामाजिक-जीवन के नवीन प्रश्नों पर, जैसे कि, मज़दूर और पूंजीवाद, मालिक और नौकर का सम्बन्ध, रहने के मकानों की व्यवस्था और उनका किराया, जनता के लिए हवाख़ोरी के स्थान, प्रीति-विवाह, पति-पत्नी का संबन्ध-विच्छेद, पतितोद्धार, स्त्री-जीवन की मुक्ति और व्यक्ति-स्वातंत्र्यादि पर स्वतंत्र-विचार प्रकट कर, सुधारकों को उचित मार्ग दिखलाया था। अनाथों के लिए आपके पिता के

स्व० सर रमणभाई महिपतराम नीलकंठ

नाम पर महिपतराम-आश्रम आज ३५ वर्षों से अपूर्व सेवा कर रहा है। इसी प्रकार स्त्री-जाति के सर्वांगीण विकास के लिए भी आपका परिवार आदर्श माना जाता है। स्व० रमणभाई ने इस विषय में अनेक प्रकार से उद्योग किया है।

आपका धार्मिक-जीवन एक सच्चे भक्त की तरह निर्मल था। जिसने प्रार्थना समाज की वेदी पर से उपदेश करते हुए आपको देखा है, अथवा "ज्ञानसुधा" में आपके धार्मिक

---

* "मालव-मयूर" के तीसरे वर्ष में इसके कुछ परिच्छेदों का अनुवाद निकल चुका है।

† इसका हिन्दी अनुवाद भी पं० गिरधर शर्मा, नवरत्न द्वारा हो चुका है।

लेखों का पढ़ा है, वही आपके धर्म-भाव को भलीभांति पहचान सकता है।

इस प्रकार साहित्य, समाज और धर्म-विषयक सेवाओं की चर्चा के बाद, जब हम आप की म्युनिसिपल और सार्वजनिक-हित से सम्बन्ध रखने वाली सेवाओं पर दृष्टिपात करते हैं, तब भी हमें अवाक् रह जाना पड़ता है। प्रारम्भ में आप शहर-म्युनिसिपिलिटी के साधारण सदस्य रहे, बाद में उपाध्यक्ष और स्कूल-बोर्ड के चेयरमैन के नाते आपने जो कठिन श्रम और ठोस कार्य किया, उसकी कल्पना तत्कालीन कार्यवाही के विवरणों पर से ही आँकी जा सकती है। इस विषय में भी आप द्वितीय कार्यकर्ता सिद्ध हुए हैं।

सारांश, सेवा-भाव आपके जीवन का मूल-मंत्र था। यद्यपि राजनीतिक-विषयों में आप नरम दल के अनुयायी थे; किन्तु इस दल में भी आप बड़े आदरणीय समझे जाते थे। सरकार ने भी आपको गत दो वर्ष पूर्व ही 'सर' और 'नाइट' की उपाधि से सम्मानित किया था।

इन सबसे बढ़कर आपका प्रधान गुण था 'सौजन्य स्वभाव'। सर रमणभाई के साथियों का कहना है कि, हमें याद नहीं पड़ता कि कभी उनके मुँह से कोई कटु शब्द सुनने का प्रसंग आया हो और शायद ही कभी किसी पर क्रुद्ध होते देखा हो। क्योंकि वे अपने कट्टर विरोधियों के प्रति भी विनय-भाव प्रदर्शित करने में कभी पीछे नहीं रहे। वे स्वभावतः सत्य-प्रिय और उनके कार्यों में प्रामाणिकता की गहरी-छाप रहती थी। वकील के रूप में वे सदैव न्याय दिलाने के ही अभिलाषी रहते थे। जब तक किसी व्यक्ति पर कोई दोष लगा नहीं दिया जाता, तब तक वे उसे निर्दोष समझते और एक बार निष्पक्ष-भाव से किसी निश्चय पर पहुँच जाने के बाद उससे सहज ही में विचलित नहीं हो जाते थे। मनुष्य स्वभाव की निर्बलता को आप भलीभांति समझते थे, और इसीलिए आपका दया-भाव समय-समय पर स्वयमेव प्रकट हो उठता था। आप विरोधी के साथ भी उदार मनोवृत्ति प्रकट करते थे। आपके स्वभाव में न राग के लिए स्थान था और न द्वेष के लिए। निरभिमानी तो इतने थे कि एक छोटा सा बच्चा भी आप से आज़ादी से बातचीत कर सकता था। दूसरों को अकारण कष्ट देने के भी आप आदी नहीं थे, इसीलिए अधिकांश कार्य अपने हाथों से कर लेते थे।

सारांश, आपका जीवन, शान्त, गंभीर, अटक और निर्मल सरिता की भांति सदैव अपने समागम में आने वालों के लिए आनन्ददायी और उत्साहप्रद रहा। ऐसे आदर्श नररत्न के उठ जाने से गुजरात प्रान्त की जो हानि हुई है उसकी पूर्ति हो सकना कठिन है। परमात्मा आपकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

गोपीवल्लभ उपाध्याय

स्वराज्य और खादी

जो आदमी कुछ पैदा नहीं करता, जो दिमाग से या हाथ से काम नहीं करता वह देश के लिए बोझ है। जमींदार, महाजन, पूंजीपति, भिखमंगे ये सब देश के लिए बोझ हैं। किसान भी किसी अंश में देश के लिए बोझ हो रहे हैं। उनका बहुत सा समय बेकारी में बीतता है। इसलिए वे भी कुछ अंश में देश के लिए बोझ हैं। अगर वे बेकारी के समय चर्खा चलावें तो उनका समय व्यर्थ नष्ट न हो और उनकी गरीबी दूर हो जाय। जिस-जिस गाँव में चरखा चलने लगा उस-उस गाँव की हालत बदल गई। अगर भारतीय अपना कपड़ा आप तैयार करने लगें तो अँग्रेज़ों पर ७० करोड़ की ज़बरदस्त चोट पड़े। हमारे देश के सारे रोजगार मारे गये हैं। अगर चरखे का प्रचार होजाय तो देश के बहुत से आदमियों को कुछ रोजगार मिलजाय। क्यों कि स्वराज्य-प्राप्ति का एक मात्र उपाय यही है कि अँगरेज़ों पर दबाव डाल कर उनमें डर पैदा किया जाय। असहयोग का आन्दोलन इसीलिए किया गया था। असहयोग में कर न देना भी शामिल है। हो सकता है कि स्वराज्य के लिए यह भी करना पड़े। इसके लिए बहुत कष्ट सहने की जरूरत होगी। पर खादी का काम ऐसा है कि इसके लिए कुछ त्याग नहीं करना पड़ता, या इसमें कम से कम त्याग है। यदि सब लोग खादी पहनें तो इसके द्वारा वे अपनी ग़रीबी दूर कर सकेंगे और साथ ही अँगरेज़ों पर दबाव भी डाल सकेंगे। इस समय हमारे हाथ में यही हथियार है कि हम विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करें और खद्दर का व्यवहार करें।

जवाहरलाल नेहरू

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा— आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]

राजपूताने का इतिहास (खंड २)

(लेखक और प्रकाशक राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर। पृ० सं० ५४६ से ७३६। मूल्य ६)

उक्त ग्रन्थ ओझाजी महाराज के बृहत् इतिहास का दूसरा खण्ड है। इसमें प्रथम खण्ड से जो उदयपुर का इतिहास आरम्भ हुआ था, वही अन्त तक है और समाप्त नहीं हुआ है।

माननीय ओझाजी एवं उनके ग्रन्थ के विषय में कुछ लिखना अनावश्यक है।

भारत के जिन शोधकों एवं विद्वानों की गवेषणा तथा खोज सर्वमान्य हुई है, ओझाजी उन विद्वानों में प्रमुख हैं। आपकी खोज इतिहास तथा पुरातत्व की प्रौढ़ विद्वत्ता का लोहा भारत और यूरोप के सभी विद्वान् मानते हैं। आपके ग्रन्थों का देश एवं विदेश में बड़ा सम्मान हुआ है और आप प्राचीन भारतीय इतिहास एवं राजस्थान के इतिहास पर सर्वोच्च प्रमाण माने जाते हैं। ऐसे विद्वान् की लिखी हुई पुस्तक में जो विशेषता होनी चाहिए वह सब आपके ग्रन्थ में है। आपके ग्रन्थ-प्रणयन में जिन सैकड़ों संस्कृत, अँगरेज़ी, पाली, प्राकृत, गुजराती, अरबी तथा फ़ारसी पुस्तकों की सहायता ली गई है और जिनकी सूची उक्त ग्रन्थ में दी गई है, उनको देखने से आपके विशाल पाण्डित्य का पता लगता है और यह भी पता लगता है कि आप ग्रन्थ-प्रणयन में कितना कठोर परिश्रम करते हैं। ४० वर्ष से आप इस क्षेत्र में शोध कर रहे हैं और इस ६४ वर्ष की आयु में, आँखों में तकलीफ़ रहने पर भी, गर्मी की कड़ी धूप तक में शिलालेखों के संग्रह के लिए भ्रमण करते हैं।

अस्तु। पुस्तक का प्रथम खण्ड ५३१ पृष्ठ में समाप्त होता है। इसके बाद लगभग ६० पृष्ठ की एक सुन्दर भूमिका है। यह भूमिका नहीं, प्रत्युत इतिहासज्ञों के मनन के लिए एक अत्यन्त मननीय निबंध है।

इसमें स्थान-स्थान पर प्रत्येक बात के लिए प्रमाण दिये हैं और डा० भांडारकर, स्मिथ, टाड आदि देशी एवं विदेशी विद्वानों के मत का खण्डन पढ़ने से बड़ा मनोरंजन होता है। महाराणा जैत्रसिंह का हमीर-मद-मर्दन काव्य तथा अन्य शिलालेखों के आधार पर शमसुद्दीन अल्तमश की सेना के युद्ध तथा शाही सेना के पराजय का नवीन वर्णन है।

महाराणा रत्नसिंह के वर्णन में ओझाजी महाराणी पद्मिनी की ७०० डोलियों के साथ अलाउद्दीन के कैम्प से राणा को छुड़ा कर पुनः जौहर की अग्नि में प्रवेश करने विषयक कथा को कल्पित मानते हैं। उनका मत है कि अलाउद्दीन ने जब चित्तौड़ पर चढ़ाई की तब राणा रत्नसिंह, लक्ष्मणसिंह आदि सामन्तों सहित वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए मारा गया, और उसकी रानी पद्मिनी ने कई स्त्रियों सहित जौहर की अग्नि में प्राणाहुति दी, इस प्रकार थोड़े समय के लिए चित्तौड़ पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

ओझाजी का विचार है कि ७०० डोली आदि की कथा जायसी के पद्मावत से, जो कवि-कल्पित उपन्यास है, सिद्ध हुई तथा फरिश्ता ने भी पद्मावत से ही यह कथा ली है एवं पद्मिनी को रानी की जगह बेटी बना दिया है। आपका कहना

है कि कर्नल टाड ने भी यह कथा भाटों से ली है। इस संबंध में हम ओझाजी महाराज से नम्रता-पूर्वक अपना मतभेद प्रकट करते हैं। जायसी अलाउद्दीन से लगभग २०० ही वर्ष पीछे हुआ था, इतने समय में ही वह एक नवीन कथानक गढ़ डालता, यह ज़रा विचारणीय है। यह तो निश्चय है कि जायसी का पद्मावत ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं है, वह काव्य है और उसमें कई कल्पित पात्र हैं, परन्तु इतना होने पर भी कथा का हृदय ही—अर्थात् पद्मिनी का ७०० डोलों को साथ लेकर शाह के कैम्प में जाना एवं राणा को छुड़ा लाना आदि—नया रख देना यह असंभव नहीं तो भी विचारणीय अवश्य था।

इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी का सुकवि होते हुए भी मुसलमान था। वह राजपूत स्त्रियों को अनावश्यक महत्व देने के लिए शायद ही तैयार होता।

प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास लेखक फरिश्ता ने भी पद्मिनी की ऐसी ही कथा अपनी तवारीख में लिखी है। ओझा जी इसे भी पद्मावत से लिया हुआ विचार करते हैं। परन्तु यह भी अनुमान ही है। फरिश्ता जैसा मुतास्सुब लेखक राजपूत स्त्रियों के गौरव-गीत कैसे गाता? इसी प्रकार टॉड के लिए आपका लिखना है कि टाड ने यह कथा मेवाड़ के भाटों से ली है और भाटों ने पद्मावत से। पहले तो इसका कोई प्रमाण नहीं कि भाटों ने यह कथा पद्मावत से ली है। इसके अतिरिक्त १६वीं शताब्दी में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जटमल (नाहर खां) हुए हैं जिन्होंने गोरा-बादल की विराग-पूर्ण कथा पर एक सुन्दर काव्य लिखा है, जो बीकानेर के पुस्तकालय में है। यह काव्य पद्मिनी के थोड़े ही वर्ष बाद लिखा गया था। अतः इसके कथानक का अधिक सत्य होना सम्भव है। इसने भी पद्मिनी का वर्णन किया है। माननीय ओझाजी ने अपने इतिहास में बादल का ज़िक्र नहीं किया। इन दो वीर आत्माओं के पुण्य-चरित्र बिना देवी पद्मिनी तथा रत्नसिंह का वर्णन अपूर्ण प्रतीत होता है। कविवर जटमल्ल ने इन वीरों का जैसा सुन्दर सजीव वर्णन किया है वह ऐतिहासिक ही प्रतीत होता है।

पद्मिनी के विषय में जो कुछ लिखा है वह भी हमारा अनुमान मात्र है, एवं लिखने के लिए साहस होने का कारण यह है कि ओझा जी महाराज जैसे छोटी से छोटी बात के लिए प्रमाण देते हैं, जिस प्रकार उनका कोई लेख निराधार, बिना प्रमाण नहीं होता वैसा उक्त कथन नहीं है। इसमें अनुमान की प्रधानता है और हमारा मत भी अनुमान की भित्ति पर ही है।

अस्तु; इसके पश्चात् कतिपय राजाओं का वर्णन करने के अनन्तर सुप्रसिद्ध राणा हम्मीर का इतिहास है। हम्मीर बड़ा ही वीर राजा था। महाराणा कुंभा की प्रशस्ति में इसको विषमघाटी पंचानन, कहा है। इसने रावल रत्नसिंह के पश्चात् मेवाड़ के भाग्य को फिर चमका दिया। टाड के कथनानुसार उस समय हिन्दुस्तान में हमीर ही एक प्रबल राजा रह गया था, शेष सब प्राचीन राजवंश नष्ट हो चुके थे।

हमीर के अनन्तर क्रमशः राणा क्षेत्रसिंह और लक्षसिंह का वर्णन है। इन्हीं लक्षसिंह के पुत्र प्रसिद्ध चूंडा हुए हैं जिन्होंने पिता की इच्छामात्र से मेवाड़ का विशाल राज्य परित्याग किया था। डाक्टर एनी बीसेन्ट ने इन्हें आधुनिक भीष्म लिखा है, जो उचित ही है।

इन्हीं राणा लाखा के समय में नकली बूंदी बना कर उसे तोड़ने तथा उसकी रक्षा के लिए हाड़ा कुम्भकरण के प्राण देने की कथा प्रसिद्ध है, जिसका ओझाजी ने खण्डन किया है। अपने प्रमाण में ओझाजी ने मैनाल के वि० सं० १४४६ के शिलालेख का हवाला दिया है, जिससे पाया जाता है कि तत्कालीन बूंदी का राव महादेव हाड़ा महाराणा का सरदार था एवं अमीशाह के साथ उक्त महाराणा की लड़ाई में बड़ी वीरता से लड़ा था। जिसका स्वयं हाड़ा ने अपने शिलालेख में बड़े गौरव के साथ वर्णन किया है। ओझाजी को आश्चर्य है कि कूड़ा-करकट के समान ऐसी कथायें इतिहास में कैसे स्थान पा गईं। परन्तु हमें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जब ओझाजी का एक चेला ही आज इतिहास में कई कथायें घुसेड़ रहा है तब बेचारे भाटों ने ऐसा किया तो क्या आश्चर्य है?

इसके उपरान्त मोकल राव और उसके पुत्र प्रसिद्ध प्रतापी राणा कुंभा का वर्णन पृष्ठ ५९१ से लेकर ६३६ तक है। कुंभा का इतिहास लिखने में ओझाजी ने कमाल किया है।

इतने शिला लेख, ताम्र-पत्र, प्रशस्तियाँ, काव्य एवं फारसी तथा अँगरेज़ी इतिहासज्ञों का हवाला दिया है कि पढ़ कर तबीयत खुश हो जाती है। कुछ वर्ष पूर्व एक सज्जन ने राव जोधा का झूठा गौरव दिखाने की चेष्टा में महाराणा कुंभा जैसे प्रतापी राजा को नीचा दिखाने की चेष्टा की थी। ओझाजी का उक्त वर्णन पढ़ कर उन महाशय का इतिहास ज्ञान नग्न-नृत्य करने लगता है। किस प्रकार राठौड़ राव-रणमल्लजी मेवाड़ में आये, अपनी बहन का राणा से विवाह किया एवं उनकी मृत्यु पर अपने भांजे राणा को मारने के लिए षड्यन्त्र रचा, तथा स्वयं ही मारा गया एवं जोधा को कैसी दशा में भागना पड़ा, इत्यादि प्रत्येक घटनायें सप्रमाण लिखी गई हैं परन्तु यहाँ भी हमें एक बात नहीं मिली।

टाड ने लिखा है—कि "जोधा ने अपने आरम्भिक दोष तथा मेवाड़ की महान् शक्ति पर विचार करके संधि की प्रार्थना की और गोरवाड़ का सारा प्रदेश मूंड-कटी में राणा को दिया; जो कई सदियों तक मेवाड़ के अधीन रहा और कर्नल टाड के एजेन्ट होने के कुछ ही वर्ष पूर्व धोखे से जोधपुर वालों ने पीछा ले लिया।

हमें नहीं मालूम कि या तो ओझाजी गोरवाड़ के देने की बात पर विश्वास नहीं करते अथवा कुछ समय का अन्तर समझते हैं, जो हो; इस बात का उल्लेख उनकी पुस्तक में नहीं है। कर्नल टाड राजपूताना का ए० जी० जी० था और उसने स्वयं गोरवाड़ के संबंध के कागज़ात देखे थे।

महाराणा कुंभा अपने समय के भारत में सब से बड़े शक्तिशाली राजा (Most Powerful Sovereign of his time) थे। उन्होंने दिल्ली, गुजरात, मालवा के बादशाहों को अलग-अलग तथा अंतिम दो को सम्मिलित रूप से भी हराया और कैद किया था। परन्तु कुंभा ने यहाँ भी वही गलती की जो अनेक हिन्दू राजाओं ने की है; अर्थात् उनसे दंड न लेकर छोड़ दिया। प्रसिद्ध मुसलमान इतिहास लेखक फरिश्ता इस निमित्त कुंभा की बड़ी प्रशंसा करता है; परन्तु टाड इसे राजनैतिक अदूरदर्शिता, अहंकार, तथा कुलाभिमान बतलाता है, जो ठीक है। कुंभा ने नागपुर, अजमेर, मंडोर [मारवाड़] जयपुर, बूंदी आदि अनेक राज्यों को जीता था, एवं हिन्दू सुरत्राण की उपाधि धारण की थी। कुंभा जैसा वीर था, वैसा ही विद्वान्, कवि, शिल्पशास्त्रज्ञ, संगीताचार्य, नाट्य-शास्त्रज्ञ, ग्रन्थकर्ता एवं अमर-विजयी था। हिन्दुओं में शायद गुप्तों के पश्चात् कुंभा से अधिक प्रतापी राजा कोई नहीं हुआ। यह वह महावीर था, जिनसे इतिहास बनते हैं और जिन पर जातियाँ अभिमान करती हैं।

इसके पश्चात् रायमल्ल आदि राणाओं का तथा प्रसंग-वश प्रतापगढ़-राज्य के संस्थापक सूरजमल के युद्ध का वर्णन है। चाचा भतीजों का दिन भर लड़ना तथा रात्रि में शामिल भोजन करना एक ऐसी घटना है जो महाभारत-काल की याद दिलाती है।

इसके पश्चात् परम प्रसिद्ध महाराणा सांगा का वर्णन है। सांगा भारत में अपने समय के सबसे बड़े प्रबल, प्रतापी राजा थे। कई लेखकों ने इनको भारत का अंतिम हिंदू-सम्राट् माना है जो उनकी वीरता, विजय तथा तेजस्विता को देखते हुए सर्वथा उचित ही है। सांगा ने अपने जीवन में अनेक भयंकर लड़ाइयां लड़ीं। उसने रणथंभौर खांडापुर, भिलसा और चंदेरी ले लिए थे और सुलतान महमूद आदि कई प्रबल राजाओं को कैद किया था एवं दिल्ली के बादशाह इब्राहिम लोदी को खातोली की लड़ाई में हराया।

परन्तु अन्तिम-युद्ध में भारत की राज्य-श्री ने सांगा को धोखा दिया। बाबर के साथ खानवा के युद्ध में सांगा हार गया और विजय-लक्ष्मी ने विदेशी-विजेताओं को वरण किया। इस युद्ध में साँगा के अधीन राजस्थान के अनेक राजा तथा सरदार थे, एवं यह क्षत्रियों का सबसे बड़ा तथा अंतिम-संगठन था जो विदेशियों को भारत से निकालने के लिए किया गया था। इस युद्ध में बाबर ने तोपों से काम लिया था तथा उसकी व्यूह-रचना उत्कृष्ट थी, इसीसे उसकी विजय हुई; इसके विपरीत राजपूत लोग केवल तलवारों तथा अपने बाहुबल पर विश्वास किए बैठे थे।

स्वयं बाबर ने सांगा की बड़ी तारीफ़ की है, यह देश का दुर्भाग्य ही था कि वह हार गया एवं भारत सदा के लिए दासता की जंजीरों में जकड़ा गया।

यदि इस युद्ध में सांगा की विजय होती तो आज भारत का नकशा ही दूसरा होता। किंतु दैव को यह मंजूर न था। पुस्तक महाराणा उदयसिंह का वृत्तान्त देकर समाप्त की गई है।

ऐसी सुंदर पुस्तक का हिन्दी में निकलना हिन्दी के लिए गौरव की बात है। अनेक देशी तथा विदेशी विद्वानों ने इस ग्रंथ-रत्न की मुक्तकंठ से जो प्रशंसा की है वह ग्रंथ सर्वथा उसके योग्य है। कई यूरोपीय विद्वानों ने तो यहां तक लिखा है कि इस पुस्तक के जोड़ का ग्रन्थ भारत की किसी भाषा में नहीं है। सचमुच इस ग्रंथ-प्रणयन में इसके परम विद्वान् लेखक ने जिस पांडित्य का प्रदर्शन किया है; उस के लिए ग्रंथकर्ता के प्रति हम कृतज्ञता प्रकट करते हैं, और ओझाजी से सादर निवेदन करते हैं कि वे इसके शेष खंडों को शीघ्र निकालकर मातृ-भाषा का महोपकार साधन करें।

एक इतिहास-भक्त

विशाल भारत

इसकी ४ संख्यायें अब तक प्रकाशित हुई हैं। प्रायः निरंतर भ्रमण में रहने के कारण इस चौथी संख्या को ही मैं ग़ौर से देख सका हूँ। मनुष्य जैसा होता है वैसी ही उसकी कृति प्रायः हुआ करती है। बाबू रामानंद चटर्जी जैसे संपादन-कार्य में लब्ध-प्रतिष्ठ सञ्चालक, भाई बनारसीदास जी जैसे उत्साही, सहृदय और धुन के पक्के संपादक और कलकत्ते में प्रवासी तथा मॉडर्नरिव्यू जैसे विख्यात और गण्य-मान्य पत्रों के सिवा प्रेस की सारी साधन-सामग्री इनको देखते हुए इससे कम अच्छे पत्र की आशा नहीं की जा सकती थी। बहिरंग से जहाँ तक संबंध है, 'विशाल भारत' सुरुचि, सुन्दरता, प्रौढ़ता और स्वच्छता में हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ पत्रों से टक्कर ले लेता है। अन्तरंग भी विशेषताओं से ख़ाली नहीं हैं। विषयों की विविधता पर राष्ट्रीयता और युग-धर्म की छाप है। भारत को ऐतिहासिक काल में शायद सबसे पहले अपनी संस्कृति की विशालता का अनुभव कराने वाले बुद्ध का चित्र मुखपृष्ठ के लिए सर्वथा उचित चुनाव है। भीतर विशालता के लिए वटवृक्ष की कल्पना भी हृदयग्राहिणी है। रंगीन चित्रों की उत्तमता, सुरुचि आदि के संबंध में तो कहना ही क्या है? लेखों के चुनाव में यहाँ से वहाँ तक बनारसीदास जी की आत्मा प्रतिबिंबित दिखाई पड़ती है। इस अंक के प्रायः सभी लेख सुपाठ्य, विचारपूर्ण, मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं। साहित्य-सेवियों के संस्मरण और अनुभव इसकी ख़ास विशेषता है। पं० इलाचंद्रजी जोशी के कला-संबंधी विचारों से यद्यपि मैं सहमत नहीं हूँ तथापि उनका लेख-'प्रेमचंद्रजी की कला का मूल रहस्य'-कला की अच्छी विवेचना करता है और पढ़ने के योग्य है। भाषा में पारिभाषिकता अधिक आगई है। श्री रामानंदजी चटर्जी के दोनों लेख, सदा की तरह, विवेचना-युक्त अंकों और हकीकतों से पूर्ण हैं, अतएव प्रभावकारी हैं। ग्राम-सुधार संबंधी दोनों लेख समयोपयोगी और आवश्यक हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वर्तमान अधिकारि-मण्डल पर जो बम-गोला चतुर्वेदीजी ने फेंका है, वह उनकी स्पष्टवादिता और भावुकता के सर्वथा अनुकूल है। वह उनके चरित्र की निर्भिकता और अन्तःकरण की निर्मलता पर भी अच्छा प्रकाश डालता है। कविताओं में 'आँसू, भारतीय-आत्मा के आँसू हैं और उसका आनन्द दक्षिणा,शुल्क सबकुछ आँसू ही आँसू है। 'आशीष-जीवन' मैंने कोई एक साल पहले अपनी एक अछूत पाठशाला में अछूत-बालकों के मुँह से सुनीं थी। संपादकीय-टिप्पणियों के संबंध में पिछले किसी अंक में सम्पादकजी ने पाठकों को निराश करना चाहा था, पर उनके इस विनय ने उनकी आशा को और बढ़ा दिया है। आशा है, हिन्दी-पाठकों की सेवा करने की उनकी सदभिलाषा इस विनय को पराजित करने में सफल होगी।

'विशाल भारत' का विज्ञापन पढ़ते ही उसके कार्यक्षेत्र के संबन्ध में मेरे मन में इतने अनुमान हुए थे—(१) पं० बनारसीदासजी के संपादकत्व में यह प्रवासी भाइयों का पत्र होगा। (२) श्री रामानन्दजी चटर्जी के संचालकत्व में विशाल-भारत-संघ का मुखपत्र अर्थात् अखिल एशियाई या अन्तर्राष्ट्रीय पत्र होगा या (३) 'माडर्नरिव्यू' का हिंदी संस्करण होगा। वर्त्तमान विशेषताओं के अतिरिक्त जब तक इनमें से एकाधिक विशेषता और न हो तब तक मुझ जैसे लालची को सन्तोष होना कठिन है। जब तक किसी पत्र का कोई विशेष कार्यक्षेत्र न हो, वह देश समाज और धर्म की किसी कमी के पूरा करने के लिए न पैदा हुआ हो, तब तक उसके जन्म और जीवन को मैं विशेष आवश्यक या मूल्यवान् नहीं समझता। 'विशाल भारत' के पास जैसी शक्ति और क्षमता है उसको देखते हुए उससे ऐसी आशा रखना अनु-

चित नहीं है। भाई बनारसीदासजी ने तो हिन्दी की सेवा को अपने जीवन का एक ध्येय ही बना लिया है; पर बाबू रामानन्दजी के 'हिन्दी-प्रेम' पर मित्रों में टीका-टिप्पणी हुआ करती है। आशा है 'विशाल-भारत' इन टीका-टिप्पणियों का मार्ग बन्द कर देगा।

वर्तमान—समस्त हिन्दी मासिकों में 'त्यागभूमि' 'विशालभारत' को अपने हृदय के अधिक नज़दीक पाती है। मैं अपनी तथा 'त्यागभूमि' की तरफ से 'विशाल भारत' को प्रेम, सद्भाव और सहानुभूति का संदेश भेजता हूँ।

पत्र 'त्यागभूमि' के आकार का है। पृष्ठ-संख्या लगभग सवा सौ और वार्षिक मूल्य ५) रु० है। मिलने का पता है—

९१, अपर सरकूलर रोड, कलकत्ता।

हृ० उ०

सरस्वती (वार्षिकाङ्क)

संपादक—श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी बी० ए० तथा श्री० पं० देवीदत्त शुक्ल, इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित। पृ० सं० ३०८, वार्षिक मूल्य ६|||) रु० इस अंक का मूल्य १|||)

सरस्वती, ने पिछले २९ वर्षों में हिन्दी-साहित्य की जो कुछ सेवा की है उसे देखते हुए यह वार्षिक अंक प्रकाशित करने का आयोजन सर्वथा उसकी मर्यादा और प्रतिष्ठा के योग्य ही कहा जा सकता है। क्योंकि हिन्दी के मासिक साहित्य में जहाँ 'सरस्वती' ने कई नवीन प्रथाओं का आविर्भाव किया है, वहीं वार्षिकाङ्क प्रकाशित करने के उद्योग में भी वही सब से पहले अग्रसर हुई है। प्रस्तुत विशेषांक में भ्रमण, स्थल वर्णन, कथा-कहानी, उपन्यास आदि मनोरंजक एवं सरस साहित्य का समावेश किया गया है। कई कहानियाँ तो इतनी सुन्दर है कि बार-बार पढ़ने को जी चाहता है; किन्तु इसी के साथ साथ कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें पूरा पढ़ना भी कठिन हो जाता है। श्री अवध उपाध्याय का प्रारंभिक लेख अत्यन्त रूक्ष होने के कारण ऐसे सरस-साहित्य के संग्रह में उसका रहना समुचित नहीं जान पड़ता। श्रीसंतराम बी० ए० का 'काश्मीर वर्णन' संक्षिप्त होने पर भी अच्छा है। कुछ सचित्र कहानियाँ भी इसमें दी गई हैं; किन्तु उन्हें पढ़ कर और चित्रों को देख कर यही जान पड़ता है कि ये कहानियाँ चित्रों के लिए लिखी गई हैं, कहानी के लिए चित्र नहीं बनवाये गये। 'दर्पण' शीर्षक कहानी आज से लगभग चार वर्ष पूर्व कानपुर के "हिन्दी मनोरंजन" में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा (अनुवाद रूप में) छप चुकी है। काव्य-कल्पना, काल-रात्रि और एकान्त-वास शीर्षक कहानियों में मानव-स्वभाव की विविध भावनाओं का बड़ी उत्तमता-पूर्वक चित्रण किया गया है। मृत्यु-शय्या सामाजिक मनोभाव का उत्तम आदर्श सामने रखती है। इतिहास-समीक्षा, अजंता और लुका-छिपी शीर्षक सचित्र लेख अपने ढँग के अच्छे हैं। कवितायें भी दो तीन बड़ी भावपूर्ण हैं। शरद् बाबू के "स्वामी" नामक छोटे से उपन्यास का पूरा अनुवाद भी इसमें दे दिया गया है, जो कि मनोरंजक है। प्रत्येक लेख के शीर्षक-चित्र भी उसके नाम अथवा भाव के अनुरूप बनाये गये हैं। कई रंगीन चित्र बढ़िया हुए हैं। सादे चित्र और छपाई के विषय में तो इंडियन प्रेस का नाम ही काफ़ी है। सारांश, इस आयोजन में संपादक और प्रकाशक ने जितने समय, शक्ति और सम्पत्ति का उपयोग किया है, वह बहुत कुछ सफल हुआ है। और डेढ़ रुपया जैसे सुलभ मूल्य में इतना बड़ा अंक देकर तो आप लोगों ने सर्व-साधारण पर बहुत ही उपकार किया है। अंक संग्राह्य है। इस सफलता पर हम आप लोगों को बधाई देते हैं।

साहित्य-मीमांसा

लेखक—श्री पं० किशोरीदासजी वाजपेयी शास्त्री।
प्रकाशक—साहित्य रत्न-भंडार आगरा। पृष्ठ संख्या ५०, मू० ।)

इस पुस्तक में लेखक ने साहित्य शब्द की उत्पत्ति से लगाकर उसके वर्तमान आलोचना-काल तक की संक्षिप्त मीमांसा की है। पुस्तक चार अध्यायों में विभक्त है। साहित्य-विषयक प्रारम्भिक जानकारी के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी सिद्ध होगी। लेखक का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

गोपीवल्लभ उपाध्याय

———

[स्थानाभाव के कारण 'साहित्य-सत्कार' इस अंक में नहीं जा सका। संपादक]

सम्पादकीय

मगनलाल भाई जीवित हैं

यं० इं० और 'नवजीवन' में महात्माजी के हृदय-विदारक महाशोक और महादेव भाई के विलाप को पढ़कर भी अब तक मुझे विश्वास नहीं होता कि मगनलाल भाई हम लोगों को दग़ा देकर चल बसे। महात्माजी की उस मूर्छा के दिन, जब कि तमाम लोगों के चेहरे मुरझा गये थे, एक मगनलाल भाई ही थे जिनका खिला हुआ चेहरा अपनी तेजस्वी आँखों से एकटक महात्माजी के चेहरे को निरखता हुआ हाथों से पाँवों में सोंठ मलवा रहा था। वह चित्र मेरी आँखों के सामने ज्यों का त्यों खड़ा है। अब मैं कैसे मानूँ कि मगनलाल भाई दुनियाँ में नहीं हैं? मगनलाल भाई तो उस दिन मरेंगे जिस दिन आश्रम सारा उजड़ जायगा, नेस्तनाबूद हो जायगा और खादी नाम की कोई चीज़ भारत में न रह जायगी। जब तक आश्रम की मिट्टी आश्रम की हद में मौजूद है, जब तक खादी का नाम तक सुनाई देता रहेगा तब तक किसका सामर्थ्य है जो मगनलाल भाई को जीवित न रहने दे? उनका पाञ्चभौतिक शरीर न रहने पर भी उनके पवित्र कार्य तो हमें स्फूर्ति देने के लिए, राह दिखाने के लिए और उनकी अमर आत्मा हमें आशीर्वाद देने के लिए, हम पर अपनी छाया करने के लिए सदा हमारे सामने ही हैं। और जब तक हमारा यह विश्वास है तब तक हम क्यों मानें कि मगनलाल भाई हमसे दूर हैं? मनुष्य का सच्चा जीवन तो उसके कार्य हैं। अतएव अगले अंश में हम उनके उन पवित्र कार्यों का स्मरण करेंगे जिन्होंने उन्हें यह अमरता प्रदान की है और उनकी तरह हम अपने जीवन को भी अमर बनाने की कुंजी खोजेंगे। यदि हम सचमुच ऐसा करें तो इससे बढ़कर आश्वासन इस समय हमारी ओर से पू० महात्माजी को और मगनलाल भाई के दुखी परिवार को और क्या दे सकते हैं? और मगनलाल भाई के लिए तो ईश्वर से प्रार्थना करने की हमें आवश्यकता ही क्या है? वे तो हमारी ऐसी प्रार्थनाओं के पहले ही, अपने हक़ के बल पर, परलोक में किसी आश्रम के अधिष्ठाता बन गये होंगे।

नवजीवन आ रहा है

देश के कोने-कोने से यह आवाज़ आ रही है कि निकट भविष्य में यहाँ कुछ उथल-पुथल होने वाला है। हर संवेदनाशील हृदय यह अनुभव कर रहा है कि देश में नवजीवन आ रहा है और फिर १९२१ के सपने देखे जा रहे हैं। नवयुवकों की आत्मायें, थक-थक कर, दब-दब कर, विश्राम ले-ले कर, अब फिर अपना ज़ोर जमाती जा रही हैं; उनकी सोई हुई शक्ति जाग्रत होकर हुँकार करने की चिन्ता में है। पं० जवाहरलालजी ने विलायत से लौटते ही 'स्वाधीनता' का शंख महासभा के मंच से फूँका और तब से निरन्तर देश में घूम-घूम कर सोई हुई जनता और थके हुए लोगों को जगा और उठा रहे हैं। इधर सुभास बाबू जेल से छूट कर बंगाल को जगाने में जुट पड़े। ब्रिटिश माल के बहिष्कार की आवाज़ वे सारे बंगाल में गुँजा रहे हैं। श्री जमनालालजी बजाज़ बंगाल-दौरे से अपने एक पत्र में लिखते हैं कि यहाँ खादी-यात्रा में अच्छी सफलता मिल रही है, मालूम होता है देश में फिर नवजीवन आ रहा है। साधु वास्वानी अलग नवयुवकों को बनाने और संगठित करने की धुन में जगह-जगह आश्रम खोल रहे हैं। किसानों को जगाने और संगठित करने की भी योजनायें बन रही हैं। मजदूर तो जागृत हो ही गये हैं; वे तो अपने अधिकारों और कष्टों के लिए बड़ी-बड़ी हड़तालें करना भी सीख गये हैं।

कानपुर में विद्यार्थीजी ने म्युनिसिपल टैक्स न देने की लड़ाई छेड़ रखी है। बारडोली में किसानों का सत्याग्रह अपना रंग अलग जमा रहा है तथा महात्माजी विदेशी वस्त्र के बहिष्कार की बात एक-एक कदम आगे बढ़ाते ही जा रहे हैं। लाला लाजपतरायजी ने भी घोषणा कर दी है कि महात्माजी के नेतृत्व में बहिष्कार का झण्डा खड़ा कर दिया जाय। पर मिल-मालिक कुछ पीछे हट रहे हैं। उन्हें देश-हित को प्रधानता देने का यह अच्छा अवसर उपस्थित हुआ है। इस समय वे चूक जायँगे तो, मुझे डर है, लोगों की सहानुभूति उनके साथ कम हो जायगी। इससे विदेशी-वस्त्र के बहिष्कार में, संभव है, कुछ समय ज्यादह भी लग जाय। महात्माजी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि यदि देश की राजनीति में पड़े हुए भाई खादी-प्रचार का भार ले लें तो अकेले खादी के बल पर विदेशी-वस्त्रों का बहिष्कार किया जा सकता है। ये सब लक्षण हमें बरबस इस नतीजे पर ले जा रहे हैं कि देश में जल्द ही कोई चमत्कार होने वाला है और हमें उसके स्वागत के लिए अपने को अभी से तैयार रखना चाहिए।

ह० उ०

बम्बई के मिल-मजदूरों की गंभीर हड़ताल

१९२२ ईसवी से हिन्दुस्तानी मिल-मालिकों का यह डर बराबर बढ़ता जा रहा था यदि विदेशी कपड़े का स्पर्द्धात्मक आयात कम न कर दिया गया तो देश का वस्त्र-व्यापार गिर जायगा। इन लोगों ने इस स्थिति के प्रतिकार के लिए सरकार का दरवाज़ा खटखटाया। सिर तोड़ प्रयत्न करने पर सरकार ने एक टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की। इस बोर्ड ने आवश्यक जाँच-पड़ताल के बाद अपनी रिपोर्ट पेश की, जिसमें दो सिफारशें बड़े महत्व की हैं—

१—देशी वस्त्र-व्यापार की उन्नति के लिए यंत्रों की कार्यक्षमता बढ़ाई जाय, और

२—जिन मदों में आवश्यकता से अधिक खर्च किया जाता है उसमें कमी की जाय। इस बीच सरकार ने देशी मिलवालों को सन्तुष्ट करने के लिए विदेशी वस्त्रों पर थोड़ा सा आयात कर भी लगा दिया।

यन्त्रों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए नये सुधरे हुए यंत्रों की संख्या बढ़ाना जरूरी है। नई-नई मशीनों के उपयोग के बिना थोड़े समय में अधिक उत्पादन-कार्य नहीं हो सकता। खर्च में कमी करने के लिए एजेंटों का अँधाधुन्ध कमीशन, मैनेजर आदि उच्च पदस्थ अधिकारियों का विशाल वेतन, डिपाज़िट रूप में जमा होने वाला बहुतसा रुपया, सभा में उपस्थित रहने के लिए डायरेक्टरों को ललचाने वाली भारी फीस, पूँजी का मनमाना ब्याज, आदि मदों के खर्च में कमी करना आवश्यक है। परन्तु बंबई के मिल-मालिकों ने उलटा बेचारे गरीब मज़दूरों का पेट काटना ही, खर्च कम करने के लिए, उचित समझा!

मिलों की नवीन व्यवस्था

उक्त सिफारिशों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए मिल-मालिकों ने नीचे लिखे सुधार प्रारंभ किये—

१ पहले के एक फ्रेम के स्थान पर मजदूर अब दो फ्रेम सँभाले।

२—अभी तक दो साँचों पर काम करने वाले आगे तीन साँचे सँभालें!

इस सुधार से मज़दूरों की विशेष हानि हुई है। अपने पहले वेतन या मजदूरी पर ही उन्हें पहले से दूना काम करना पड़ता है। मिलों में मज़दूरों की संख्या भी अपने आप घट जाती है। यंत्रों में सुधार या परिवर्तन न होने के कारण मजदूर पुराने यंत्रों से इच्छित काम नहीं ले सकते। इससे भी काम के परिमाण पर मज़दूरी पाने वाले मजदूर नुकसान उठाते हैं।

प्रश्न यहीं हल नहीं हो जाता। मिल-मालिकों ने इन सुधारों के साथ क्रमशः कुछ और भी सुधार अपनी मिलों में प्रारंभ कर दिये हैं जिनसे स्वभावतः ही मज़दूरों को हानि पहुँचती है। जैसेः—

१—कुछ मिलों में आठ घंटे काम लिया जाता था। अब वह बढ़ा कर कहीं ९॥ और कहीं १०॥ कर दिये गये।

२—कुछ मिलों में इस बहाने मजदूरी कम कर दी गई कि पहले दी जाने वाली मज़दूरी आवश्यकता से अधिक थी।

३—मोटे कपड़े के बदले मिलों में महीन कपड़ा तैयार किया जाने लगा।

४—कुछ स्थानों में सूत के बदले नकली रेशम के कपड़े बनना शुरू हुए।

इन क्रमशः लादे गये सुधारों के कारण जब मज़दूरों की आमदनी पर लगभग १५) प्रतिमास का धक्का पहुँचने लगा, तब गत जनवरी महीने से मज़दूरों ने संगठित होकर इसके खिलाफ़ अपनी आवाज़ उठाई।

मज़दूरों की शिकायत

१—वर्तमान साँचों की दशा देखते हुए तीन साँचों पर एक मज़दूर अच्छी तरह काम नहीं कर सकता। यदि यह सुधार आवश्यक ही है तो मिलमालिकों को नई आविष्कृत मशीनें मँगानी चाहिएँ। कपास और अन्य सामग्री के गुणों में सुधार किया जाना चाहिए और मज़दूरों को इस बात का विश्वास दिलाना चाहिए कि इस सुधार के कारण उनमें से कोई भी बेकार न होगा।

२—जहाँ मज़दूरी घटा दी गई है वहाँ वह पूर्ववत् जारी कर दी जाय और काम के घण्टे न बढ़ाये जायँ।

३—मज़दूरों को उनके बनाये कपड़े के वजन पर मज़दूरी दी जाती है। अभी तक मज़दूर लोग मोटा कपड़ा बुनते थे। अब महीन बुनना पड़ता है। कपड़े के महीन होने के कारण उनका वजन घटना स्वाभाविक है। इस पर वज़न के भाव की दर बढ़ाना आवश्यक था। परन्तु यह भी नहीं हुआ। अतः दर बढ़ाई जाय।

४—रेशमी कपड़े के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त शिकायतें लागू होती हैं।

५—आजकल की मँहगी में मज़दूर अपनी और अपने परिवार की जीविका का प्रबन्ध अच्छी तरह कर सके, इतनी मजदूरी उसे देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त मिल मालिकों की एक ठगी का उदाहरण यह है कि वे मजदूरों को ८॥ गज़ कपड़ा बुनने पर ७ गज़ की मजदूरी देते हैं और ग्राहकों से इसी कपड़े के ९ गज़ के दाम वसूल करते हैं।

जनवरी से आरम्भ किये गये इस आन्दोलन में प्रारंभिक सफलता बहुत थोड़ी रही। किन्तु इधर ता० २३ अप्रेल से जब कि मजदूरों का एक बड़ा समूह पिकेटिंग के लिए प्रयत्न कर रहा था, गोल्ड मोहर मिल के एक मजदूर श्री परशुराम जाधव के सुपरिंटेन्डेन्ट पॉवर की गोली से मृत्यु पाने पर इस आन्दोलन ने आशातीत ज़ोर पकड़ा और बात की बात में बम्बई की लगभग सारी मिलें, डेढ़ लाख मजदूरों से हीन होकर बन्द हो गईं—उनमें ताले पड़ गये। कहते हैं मज़दूरों का इतना जबरदस्त और ऐसा संगठित प्रयत्न हिन्दुस्तान के इतिहास में यह पहली बार हुआ है! अब समझौते से निराश होकर मज़दूर अपने-अपने घर को लौट गये हैं!

खेद इस बात का है कि इस आन्दोलन के प्रारंभ होते ही मजदूर-संघ के नरम और गरम नेताओं में न-कुछ बात पर मत-भेद हो गया है। नरम-दल वालों में श्री जिनवाला श्री ना० म० जोशी और श्री बखले का, तथा गरम दल वालों में श्री झाबवाला, निमकर, डांगे, आलतेकर और ताम्हनेकर का नाम उल्लेखनीय है। पहले पक्ष की शर्तों का सार यह है कि मजदूरी की दर १९२५ के अनुसार क़ायम की जाय। मजदूरों को दो की जगह तीन सांचों पर काम करने के लिए कुछ मिल-मालिकों ने व्यक्तिशः प्रबन्ध किया है। यह काम मिल ओनर्स असोसिएशन की अनुमति से सब मिल मालिकों को एक साथ आरंभ करना चाहिए। और इस तरह के परिवर्तन की सूचना मजदूरों को पहले से ही दी जाना चाहिए, जिससे गलत-फ़हमी न होने पावे। मालिक और मज़दूरों की एक संयुक्त कमिटी बनाई जाय और दोनों पक्ष की शिकायतों का निपटारा करना ही इस समिति का ध्येय हो। तीन सांचों का नियम लगाना ही है तो नये यंत्र मँगाये जाँय और सूत के प्रकार में तथा अन्य बातों में उचित सुधार किया जाय।

दूसरे पक्ष वालों का कहना है कि इन शर्तों के सिवा काम के घंटे आठ ही रक्खे जाँय और मज़दूरों को इतनी काफ़ी तनख़्वाह दी जाय कि वे सुख से अपना पेट पाल सकें।

मज़दूर नेताओं का यह आपस का मत-भेद और मिल-मालिकों से सहयोग न करने की उनकी अलग प्रवृत्ति ने बम्बई की इस हड़ताल को एक गंभीर-तर समस्या का रूप दे दिया है। यदि मिलें देश के लिए हितकर और आवश्यक

हैं तो मज़दूर नेताओं और मिल-मालिकों को परस्पर सहयोग का भाव रक्खे बिना दूसरी गति नहीं है। इस सहयोग का राज मार्ग है—दोनों एक-दूसरे के लिए थोड़ा-थोड़ा त्याग करें।

"वैदेशिक स्पर्धा के कारण देशी कपड़ा मँहगा हो गया है। मँहगा माल बाजार में जल्द बिकता नहीं। पड़ा रहता है। जब तक पुराना माल नहीं बिकता तब तक नया तैयार करने में हानि है। हमारे मिल-मालिकों की पुराण-प्रियता, उनके पुराने कल-पुर्जे, बीच के दलालों की नफे-बाज़ी, मज़दूरों की अयोग्यता और अज्ञान, सरकारी संरक्षण-नीति का अभाव, इत्यादि कारणों से यह परिस्थिति और भी जटिल हो गई है। ऐसी दशा में मिल-मालिकों को खर्चा घटाने और थोड़े समय में ज्यादह माल तैयार कराने के सिवा कोई रास्ता नहीं है। इससे आरम्भ में कुछ मजदूरों को जरूर ही बेकार होना पड़ेगा। परन्तु बाजार के स्थायी हो जाने पर और देशी कपड़े की माँग के बढ़ते ही बेकार मजदूरों की फिर आवश्यकता पड़ेगी तथा धीरे-धीरे अधिक संख्या में मज़दूरों की नियुक्ति अनिवार्य हो जायगी। मजदूरों की दूर-दर्शिता की परीक्षा का यही मौका है। अन्यथा विवश हो मालिकों को मिलें बन्द करनी पड़ेंगी। मिल-मालिकों को तो ऐसा प्रबन्ध करना है कि जिससे कपड़े की कीमत खासी कम हो जाय" यह मत एक तरह से ठीक है; पर जब तक ऊपर बताये तमाम बड़े बड़े खर्च बंद नहीं किये जाते तब तक मजूरों का असन्तोष कैसे कम हो सकता है? मिल मालिकों को भी चाहिए कि वे मजदूरों के कष्टों पर विचार करें और उनके न्याय्य अधिकारों की हत्या करने से बाज़ आवें। मिलों की हड़ताल का यह मसला किस तरह तय होता है, मिल मालिक और मजदूर किस प्रकार अपने-आप दूरदर्शिता से काम लेकर इस जटिलतर समस्या को हल करते हैं, इस बात की ओर सारे राष्ट्र का ध्यान बड़ी चिन्ता के साथ लगा हुआ है। हम भी इस हड़ताल के परिणाम की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करते हुए आज यहीं विश्राम लेते हैं।

का०

हिंदी सा० सम्मेलन के पदाधिकारी

संस्थायें कार्य के लिए बनाई जाती हैं; पर, आगे चल कर, संस्था मुख्य बन जाती है और कार्य एक कोने में रक्खा रह जाता है। संस्था पर कब्ज़ा रखने और कब्ज़ा करने के लिए झगड़े शुरू हो जाते हैं और दोनों तरफ की प्रायः सारी शक्ति आपस के लड़ाई-झगड़ों में खर्च होती रहती है। ऐसी स्थिति तब पैदा होती है जब या तो संस्था पर जिनका कब्ज़ा है वे कार्यार्थी और पुरुषार्थी न हों, या दूसरे स्वार्थी और महत्वाकांक्षी पुरुष उसे हथियाना चाहते हों। यह दूसरी स्थिति तब और तभी उत्पन्न होती है जब संस्था की प्रतिष्ठा खूब जम जाती है अथवा संस्था के पास धन-संपत्ति विपुल हो जाती है। इसी लिए, कम से कम भारत जैसे देश में तो, यह नियम अनिवार्य रूप से होना उचित है कि उनके पास स्थायी कोष न रहे। दूसरा नियम यह होना चाहिए कि जो लोग संस्था के मूल उद्देश के खिलाफ काम करते हों, आपस में दल-बन्दी करके संस्था का धन झगड़ों में खर्च करते हों, अथवा निरंकुश हो गये हों, उन पर संस्थाओं का भार न रहना चाहिए। आज मन्दिरों, तीर्थ-स्थानों और मठों का जो हाल हो रहा है उसका कारण यही है कि एक तो धन बिना परिश्रम के मिल जाता है और दूसरे समाज का कोई अंकुश उन पर नहीं। इससे नसीहत लेकर हमें अपनी सार्वजनिक संस्थायें इन दोषों से बचानी चाहिए, अन्यथा इनका भी भाग्य मन्दिरों आदि की तरह होकर रहे तो आश्चर्य नहीं।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आज इसी अवस्था में चक्कर खा रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि वर्तमान पदाधिकारियों से बहुतेरे लोग असंतुष्ट हैं। डेढ़-दो साल से यह ध्वनि बराबर कानों पर आ रही है। अब की तो पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने अपने 'विशाल भारत' में अपना इस्तगासा ही पेश कर दिया है। उन्होंने वर्तमान पदाधिकारियों पर इतने अभियोग लगाये हैं—

१—दलबन्दी द्वारा एक साहित्य-संस्था के वायु-मण्डल को दूषित करना।

२—महात्मा गांधी के साथ दक्षिण-भारत के हिन्दी-प्रचार-संबन्धी कार्य में बड़ी अदूरदर्शिता से काम लेना।

३—शासन-व्यवस्था-संबन्धी अनुचित कार्य।

४—परीक्षामन्त्री का यह जानते हुए भी कि उनके पास समय नहीं है, मन्त्रिमण्डल में बना रहना।

'विशाल भारत' की उसी संख्या में पं० ज्योतिप्रसाद 'निर्मल' का भी एक लेख सम्मेलन पर है; जिसमें बताया गया है कि—

१—वर्तमान मन्त्रिमण्डल ने २६०००) रु० सम्मेलन को अपने समय में दिया है।

२—प्रचार का काम भी काफ़ी बढ़ गया है। २५०) देने वाले ८ से बढ़कर ३२ हो गये; हितैषी नहीं से १५२ और साधारण सदस्य १५ से १८२ हो गये।

३—परीक्षार्थियों की संख्या ६६४ से २०५६ हो गई। पत्रों की संख्या ३२०० से .९०.० हज़ार होगई।

४—सम्मेलन की प्रकाशित पुस्तकों की संख्या २८,८७६ (मूल्य १४६५९॥)) से बढ़कर ४०.००० (मूल्य १३ हज़ार) हो गई।

आपने यह भी बताया है कि सम्मेलन संबन्धी वर्त्तमान कटुता का मूल कारण है हिन्दी-विद्यापीठ सम्मेलन के अधीन रहे या अलग, इसके संबन्ध में श्रद्धेय टंडनजी तथा वर्त्तमान मन्त्रियों का मतभेद। टंडनजी दूसरे पक्ष में थे।

दोनों पक्षों की बातें पढ़कर एक तटस्थ आदमी तो इसी नतीजे पर पहुँचता है कि एक निष्पक्ष-कमिटी जाँच के लिए बनाई जाय और उसकी सिफ़ारिशों के अनुसार सम्मेलन की भावी गति-विधि रक्खी जाय। पं० बनारसीदासजी का यह प्रस्ताव बिलकुल निर्दोष, बहुत समयोपयोगी और आवश्यक है। हां, इतनी बात ज़रूर है कि यह आंदोलन केवल वस्तुस्थिति के आधार पर, सम्मेलन के हित के लिए, सिद्धांतों और कार्य प्रणालियों की आलोचना प्रत्यालोचना द्वारा होना चाहिए; व्यक्तिगत निन्दा-स्तुति और ईर्षा द्वेष से प्रभावित होकर नहीं।

अब रही मत-भेद के मूल की बात—हिन्दी-विद्यापीठ सम्बन्धी। मेरी अपनी राय इस संबन्ध में यह है कि टंडन जी जैसे सम्मेलन के अनन्य-सेवक के मतभेद और उसके फल स्वरूप उनकी उदासीनता एवं लोकभ्रम के दुष्परिणाम वर्त्तमान मन्त्रिमण्डल के ध्यान में उसी समय आ जाने चाहिए थे। फिर विद्यापीठ का सम्मेलन के अधीन रहना या जुदा रहना कोई ऐसा धर्माधर्म का प्रश्न नहीं था, जिस पर कोई समझौता नहीं हो सकता था। कार्यार्थी पुरुष ऐसी परिस्थिति में दोनों अवस्थाओं में प्रसन्न रहता है। ऐसे मामलों का मेरा सूक्ष्म अवलोकन तो मुझे इस नतीजे पर पहुँचाता है कि जब तक कोई व्यक्तिगत राग-द्वेष की बात तह में न हो तब तक ऐसे छोटे मामले इतना तूल नहीं पकड़ते। आशा है, दोनों पक्ष के लोग अपना अपना हृदय टटोल कर देखेंगे और इस बात का सच्चे दिल से उद्योग करेंगे कि उनके व्यक्तिगत दोषों से सम्मेलन की हानि किसी प्रकार न होने पावे। संस्था का हित हम सदा संस्था पर कब्ज़ा करके या रखके नहीं, बल्कि कभी कभी उससे दूर रह कर ही भली भांति कर सकते हैं।

अ० भा० मराठी साहित्य-सम्मेलन ग्वालियर

स्वाधीनता का भाव मनुष्य के अंदर सब से प्रबल रहता है। दासता तो क्षण-भर पशु भी स्वीकार नहीं करता। फिर कोई मनुष्य-समाज यदि गुलामी की जंजीर में जकड़ दिया गया हो तो उसके कष्ट, और संताप का पूछना ही क्या! भारत अब अपनी गुलामी के बंधनों को तोड़ देने के लिए तुल गया है और इसकी प्रतिध्वनि इस देश की प्रत्येक संस्था, प्रत्येक सभा, प्रत्येक शिक्षित घर में सुनाई देती है। साहित्य-सम्मेलन यों एक भाषा की उन्नति, विस्तार और अधिक हुआ तो ज्ञान-संवर्द्धन करने वाली संस्थायें हैं। परंतु आज तो देश का मन, राष्ट्रीय-स्वाधीनता की बातों में इतना रम रहा है कि जब तक इस भाव की झलक कहीं नहीं दिखाई देती तब तक लोगों का जी उसमें नहीं भरता। ग्वालियर में हाल ही हुए मराठी साहित्य सम्मेलन के कार्य-क्रम-पत्रक की पीठ पर

मराठी आमुची बोली, शिवाजी आमुचा राणा।
गनोमी आमुचा कावा, मराठी आमुचा बाणा॥

—इन चार सूत्रों में महाराष्ट्र की राष्ट्रीय-ज्योति के दर्शन कर मुझ जैसे सैकड़ों का हृदय फड़क उठा। मैंने देखा कि भाषा और व्याकरण-सुधार-संबन्धी विषयों में बहुत कम लोगों को रुचि होती थी; पर काव्य-सम्मेलन में जब श्री० ठकार्डे ने 'शिलेदार' का आवाहन किया और श्री० बाबे ने

श्री० चिं० वि० वैद्य (स्वागताध्यक्ष), श्रीयुत अणे (अध्यक्ष) श्री परवार आंग्रे (कार्याध्यक्ष)

विषय-सूची

卐 卐 卐 शांति पार्वती 卐 卐 卐

(जीवन जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान् ॥

वर्ष १ | सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर। | अंश ३
खण्ड २ | आषाढ़ संवत् १९८५ | पूर्ण अंश ९

स्वतन्त्रता

"स्वयं मैं तो स्वतन्त्र फेडरल प्रजातन्त्र शासन का समर्थक हूँ। और यही अन्तिम लक्ष्य है जिसे मैं सदा अपने सन्मुख रखता हूँ। मैं चाहता हूँ कि भारत अपने भाग्य का स्वयं निर्णय करने वाला बने, जैसा कि वह अपने गौरवमय अतीत में था। ऐसा होने पर ही वह अपनी विशेषता का विकाश कर सकेगा। मेरी यह उत्कट अभिलाषा है कि भारत अनियन्त्रित स्वातंत्र्य को प्राप्त करे और संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों में अपना मस्तक ऊँचा कर के खड़ा रह सके। मैं चाहता हूँ कि भारत पूर्ण स्वतन्त्रता से मिलने वाले आनन्द का उपभोग करे और उस आनन्द में उन तमाम बातों का आविष्कार करे जो उसके तथा समस्त संसार के लिए लाभप्रद हों। मैं चाहता हूँ कि भारत का अपना जुदा झंडा हो, अपनी पृथक जल-सेना और थल-सेना हो, और उसके राजदूत अन्य स्वतन्त्र देशों की राजधानियों में रहें। स्वतन्त्रता तो मेरा ध्येय है। वह एक ऐसी वस्तु है, जिसका मूल्य आंकना असंभव है। मनुष्य की आत्मा के लिए स्वाधीनता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि उसके फेफड़ों के लिए हवा है। स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही तो कहा है:- "स्वतंत्रता आत्मा का गीत है।" स्वाधीनता सच्चा अमृत है-मृत्युलोक का जीवन-रसायन है।"

सुभाषचंद्र बोस

पहला प्रश्न

देश में फिर से नवजीवन आ रहा है यह बात सच है। परन्तु १९२१ में ख़ास कर अहमदाबाद काँग्रेस के समय देश में जितना एका दिखाई देता था उतना आज नज़र नहीं आता। यह बात सही है कि उस समय उत्साह और जोश का पारा बहुत ऊँचा चढ़ा हुआ था; उसी साल स्वराज्य प्राप्त कर लेने की धुन थी और आज समझदारी का फ़र्म अधिक है, और अपने बल और कुर्बानी के बल पर नहीं, बल्कि तरकीब से स्वराज्य ले लेने की तरफ़ पिछले दिनों ज्यादा ध्यान रहा है। इसी कारण १९२१ में जहाँ एका था, प्रायः एक-सूत्र से स्वराज्य की लड़ाई लड़ी जा रही थी तहाँ आज 'नौ कनौजिया और तेरह चूल्हे' वाली मसल हो रही है। जहाँ तक मेरी विचार शक्ति दौड़ती है और अवलोकन शक्ति काम करती है, तहाँ तक अकेले महात्माजी तो जहाँ के तहाँ हिमालय की तरह अचल खड़े हैं, बाक़ी सब हवा में इधर-उधर चक्कर खा रहे हैं। स्वर्गीय देशबन्धु ने धारा-सभा में बाधा-नीति की तरकीब निकाली और महा-सभा में परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी ये दो दल बन गये। बाद को पटेल साहब धारा-सभा के सभापति बन गये, जयकर और केलकर साहब ने प्रति-सहयोग की अकल भिड़ाई और उनका एक अलग दल बन गया। नेहरूजी भी खासे फिसले लालाजी कभी नेहरूजी की तरफ झुके, कभी मालवीयजी की तरफ और आज शायद अकेले खड़े हैं। मालवीयजी हिन्दू-महासभा के अगुआ हुए, किचलू और जिन्ना साहब मुसलमानों के, और आपस में खूब चली। अली भाई न इधर के रहे न उधर के। चर्खा-पन्थी खादी वाले राज-नीति-शून्य—ग्राम्य भाषा में कहें तो मूर्ख, समझे गये। और देश में नेता-गिरी के लिए काफ़ी छीना-झपटी होती रही। अब कुछ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि नेता-गिरी के फेर में पड़ने वालों का हौसला बहुत-कुछ पूरा हो चुका। कुछ तो ऊपर पहुँच कर बुरी तरह फिसले, और औंधे मुँह गिरे। कुछ जब ऊपर चढ़ने लगे तो पता लगा कि म्याऊ का ठौर मुश्किल है और वैसे ही नीचे खिसक आये। असहयोग-काल के प्रायः तमाम नेता छन छनकर ऊपर आ गये। एक मालवीयजी अलबत्ते अब बुलन्द आवाज में कह रहे हैं—'अँग्रेज़ों पर से मेरा विश्वास उठ गया, "मैं दो साल में स्वराज्य लेकर छोड़ूँगा" हालाँ कि उस समय बहुत समझदारी की सलाह दिया करते थे और लोग उनकी बातों पर हँस दिया करते थे। यह है पिछले छः सात बरसों की हमारी स्वराज्य-साधना का इतिहास। अपने पूज्य और गुरुजनों की यह समालोचना लेखक के लिए अनधिकार चर्चा-सी तो है परन्तु इस अ-धीरज की जिम्मेवार है उसकी युवावस्था। आशा है, युवावस्था में से गुजर जाने वाले हमारे बुजुर्ग नेता इसके लिए उसे क्षमा कर देंगे। किंतु अब ऐसा मालूम होता है कि देश की युवक-प्रजा इन तरकीबों से ऊब गई है। और वह सीधे बेरोक अपनी मंजिल पर पहुँचना चाहती है। उसने एक तरह से बग़ावत का झण्डा खड़ा कर रक्खा है।

इससे देश में यद्यपि फिर नवचेतना और नूतन प्राण का सञ्चार हो रहा है; परन्तु अभी एकसूत्रता आना बाक़ी है। आज देश में न कांग्रेस की ही पुकार एक कान से सुनी जाती है, न महात्माजी का ही संदेश यहाँ से वहाँ तक एक-सा सुना जा रहा है; न मालवीयजी और नेहरूजी के पैग़ामों पर लोग काफ़ी संजीदगी से विचार करते हुए नज़र आते हैं। हाँ, सायमन कमीशन के बहिष्कार की उमंग में एक ओर जहाँ जवाहरलालजी ने स्वाधीनता की आवाज़ बुलन्द की, महात्माजी ने विदेशी-वस्त्र के बहिष्कार की घोषणा की, और मालवीयजी ने दो साल में स्वराज्य लेने की आशा प्रकट की, और उससे उत्साह और जोश की लहर ऊँची उठी, तहाँ नई-नई बातें भी देश के सामने आने लगीं। 'स्वराज्य' और 'स्वतंत्रता' का विवाद ख़तम होने ही नहीं पाया था कि सामाजिक आदर्शों का विकट प्रश्न सामने आ रहा है। पं० जवाहरलालजी का ख़याल है कि कोरी राजनैतिक स्वाधीनता काफ़ी नहीं है। जब तक हमारा सामाजिक आदर्श ही नहीं बदला जायगा तब तक न भारत का भला हो सकता है, न दुनियाँ का। इस अर्थ में आज दुनिया की और भारत की एक ही समस्या है। कुछ काल पहले तक यह माना जाता रहा था कि एक राजा हो और वह प्रजा का हित करता रहे। समय पाकर यह राजा प्रजा

का भला करने के बजाय आप ही उसका प्रभु और कर्ता-धर्ता बन गया और अपने स्वेच्छाचारों की पूर्ति के लिए प्रजा पर मनमाना ज़ोरो-ज़ुल्म करने लगा। तब लोगों ने देखा कि यह तो गलती हुई— कुछ नहीं-राजा को छोड़ो, अब से प्रजा का चुना हुआ प्रतिनिधि-मण्डल और अध्यक्ष प्रजा का हित-साधन करे। अब इसका भी फल कई जगह यह हो रहा है कि धनी और प्रभावशाली लोग साँठ-गाँठ लगा कर प्रतिनिधि-मण्डल में पहुँच जाते हैं और एक राजा के बजाय बीसों राजा, प्रजा के प्रतिनिधि के नाते, प्रजा के हित के नाम पर, अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं और उन पर प्रजा को कुरबान करते हुए भी नहीं हिचकते। योरपीय महाभारत में यही अनुभव हुआ। तब लोगों के विचारों ने फिर पलटा खाया। अब कुछ लोग कहने लगे हैं, नहीं, धनी और प्रभुताशाली लोगों के हाथों में शासन की बागडोर न होनी चाहिए, सर्व-साधारण और जनता के हाथों में होनी चाहिए। इस विचार के लोग, थोड़े थोड़े विचार-भेद के साथ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट और बोल्शेविक कहे जाते हैं। वे कहते हैं कि केवल राज-काज में नहीं बल्कि सारे सामाजिक-जीवन में सब को अपनी उन्नति और सुख के समान साधन और सुविधायें मिलनी चाहिए, फिर वह राजा हो या रंक, धनी हो या किसान, पढ़ा हो या अपढ़, स्त्री हो या पुरुष। यह कोई राजनैतिक ही नहीं एक भारी सामाजिक क्रान्ति का चिन्ह है। ऐसा जान पड़ता है कि पं० जवाहरलाल नेहरू भारत को यही सन्देश देना चाहते हैं कि तुम्हारा काम ख़ाली राजनैतिक सत्ता ले लेने से नहीं चलेगा, बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वह सत्ता मुट्ठीभर प्रभावशाली लोगों के हाथों में न रहे, जनता के हाथों में रहे। फिर केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि जीवन के सभी विभागों में समता और समानता का दौर-दौरा होना चाहिए। इसी दिशा में यदि दूर तक विचार करें तो हमें इस नतीजे पर पहुँचना पड़ता है कि जब तक सरकार अर्थात् सत्ता रखने वाली कोई भी, किसी भी प्रकार की संस्था, समाज में रहेगी तबतक सब को समान साधन और समान सुविधा नहीं मिल सकती—आत्मविकास की पूरी स्वाधीनता किसी को नहीं मिल सकती। यह तो तभी हो सकता है जब समाज में सब लोग ऐसे बन जायँ और इस तरह परस्पर व्यवहार करने लगें जिससे किसी बाहरी सत्ता की आवश्यकता उनकी रक्षा, शिक्षा और न्याय आदि के लिए न रहे। पर सारे समाज की ऐसी दशा भी उसी अवस्था में हो सकती है जब लोग खुद ब खुद उन तमाम नियमों और क़ानूनों को मानने लगें जिन्हें सरकार अपनी हुकूमत के अर्थात् दण्ड-भय के बल पर मनवाती है। यहाँ आकर हम देख सकते हैं कि मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन में भी संयम का कितना महत्व है। इस विषय पर बहुत दूर तक बारीकी के साथ जिन जिन विचारकों ने विचार किया है उनका यही कहना है कि समाज में किसी सरकार का रहना समाज की बे-बसी का सबूत है, समाज के लिए एक तरह से शर्म की बात है। थोरो, टालस्टाय, क्रोपाटकिन, लेनिन और गांधी—ऐसे विचारकों की श्रेणी में आते हैं। सामाजिक आदर्श से जहाँ तक संबंध है, यदि मैं ग़लती नहीं करता हूँ तो, ये सभी प्रायः एक-मत हैं; पर आगे चलकर आदर्श को पहुँचने के साधन या मार्ग में मतभेद हो जाता है। लेनिन का कहना है कि भाई जबतक मौजूदा सत्ता को जबर्दस्ती तोड़-फोड़ कर बागडोर अपने हाथ में नहीं ले ली जाती, अपने आदर्श के अनुसार शासन-व्यवस्था बनाने की पूरी सुविधा सब तरह नहीं प्राप्त कर ली जाती, तबतक अपने मनोवांछित सामाजिक आदर्श को पहुँचना असंभव है। अतएव इस संक्रमण-काल—बीच के समय—में तो हमें हर उपाय से सत्ता अपने पास रखनी ही चाहिए। मसोलिनी भी इसी भाव से प्रेरित होकर इटली में आज सर्व-सत्ताधीश बन गया है। पर टालस्टाय और गांधी कहते हैं कि यह तो तुम उल्टे रास्ते चल पड़े। तुम उस सामाजिक आदर्श को तब तक नहीं पहुँच सकते जबतक ख़ास किस्म के गुणों की वृद्धि और दोषों की कमी समाज में न कर दो। इसके लिए दो शर्तें लाज़िमी हैं—(१) सामाजिक नियमों का उल्लंघन कोई न करे—सब खुद ब खुद राजी-खुशी उनका पालन करें (२) किसी के उल्लंघन करने पर दूसरा उसका बदला लेना न चाहे, उसे क्षमा कर दे। इन्हीं दो शर्तों का नाम है संयम और शान्ति। इसे एक ही शब्द में कहना चाहें तो

'अहिंसा' कह सकते हैं। उनका कहना है कि जबतक तुम अहिंसा को अपना पहला और अन्तिम पाठ नहीं बना लेते तबतक तुम चक्कर में हो— गोते खाते रहोगे। सर्वसाधारण अर्थात् जनता संयम और क्षमा अथवा अहिंसा का अवलंबन तभी कर सकती है जब तुम समाज के बड़े, नेता कहाने वाले अपने जीवन में उसे प्रधान-पद दो। पर तुम तो मार-काट और हत्याकाण्ड मचा कर उसे मार काट और हत्याकाण्ड का ही रास्ता बताते हो और कहते हो कि इसके बिना काम नहीं चलेगा तो फिर लोगों में संयम और क्षमा कैसे आवेगी और जबतक ये गुण न आवेंगे तबतक तुम अपने सामाजिक आदर्श को कैसे पा सकोगे? तुम तो बबूल का बीज बो कर उससे आम के फल की आशा रखते हो। मैं स्वयं इसी दूसरे मत का क़ायल और अनुयायी हूँ; क्योंकि इसमें मुझे विचार की सुलझाहट मालूम होती है। अस्तु।

हां, तो पण्डित जवाहरलालजी स्वराज्य और स्वाधीनता के आगे बढ़कर हमारा ध्यान सामाजिक आदर्शों के परिवर्तन की ओर खींचना चाहते हैं; और बंगाल के युवक नेता सुभाषचन्द्र बोस भी इसी दिशा में विचार करते हुए नज़र आते हैं; यद्यपि वे पं० जवाहरलालजी से पूरे सहमत नहीं दिखाई देते। देश में और भी छोटे-बड़े लोग ऐसे हैं जो इन विचारों से सहानुभूति रखते हैं।

सामाजिक आदर्श के बारे में हमारा दिमाग़ सुलझा हुआ रहे, यह तो आवश्यक और अच्छी बात है; पर शंका यह होती है कि आज हमारे सामने पहला प्रश्न कौनसा है— स्वराज्य का या सामाजिक आदर्शों की क्रान्ति का। यदि स्वराज्य प्राप्त किये बिना—अर्थात् अपने समाज को अपनी इच्छा के अनुसार बनाने की स्वाधीनता हुए बिना हम अपने सामाजिक आदर्शों में सुधार या परिवर्तन कर सकते हैं तो फिर कोई बात नहीं। पर यदि ऐसा संभव नहीं है तो फिर लोगों के सामने एक नया प्रश्न और उपस्थित करके उनके ध्यान को अलहदा अलहदा बाँटना और मतभेद, वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन के लिए अवसर उपस्थित करना क्या आज ही वाञ्छनीय है? अनिच्छा, असुविधा, अज्ञान, पूर्व-संस्कार या दुराग्रह के कारण नये सामाजिक आदर्शों के संबंध में किसी का थोड़ा या बहुत मतभेद हो सकता है; पर 'स्वराज्य' के सम्बन्ध में सब दल और सब मत के लोग एकमत हैं उसी को सामने रख कर हम क्यों न लोगों की शक्ति एक ही बात पर केन्द्रित करें? हाँ, प्रसंगोपात्त समाज का अन्तिम आदर्श भी लोगों के सामने रखते रहें, पर उसे आन्दोलन का विषय बना लेना कहाँ तक दूरदर्शिता-पूर्ण होगा, यह एक प्रश्न है। नवीन शब्द, नवीन बात में एक आकर्षण होता है, लोगों की बुद्धि पर उसकी छाप पड़ जाती है, इससे लोगों के उत्साह को एक ज़ोर का धक्का लग जाता है, इस दलील में कुछ बल अवश्य है, पर बार बार एक ही बात एक ही रूप में रखने से भी बड़ी केन्द्रित शक्ति उत्पन्न होती है—यह उससे कहीं अधिक ज़ोरदार दलील है। मेरी राय में तो स्वराज्य या स्वाधीनता का आदर्श सारे भारत को मस्त बनाकर सर्वस्व बलिदान करने के लिए अभी बहुत काफ़ी है, और इसी पर हमें सब से अधिक ज़ोर देने की और इसी की भनक लोगों के कानों तक रोज़ रोज़ पहुँचाने की आवश्यकता है—यह पैग़ाम हम एक एक बच्चे तक, एक एक झोंपड़े तक इस सरगर्मी के साथ पहुँचा दें कि या तो इस नाम से उनका जी उछल उठे और या फिर इतना बेचैन हो उठे कि यदि वे जियें तो स्वाधीन बन कर जियें; अन्यथा स्वाधीनता के लिए जेल में या नरक में जाकर सड़ते रहें। मुझे विश्वास है कि ज्यों ज्यों लोग अधिक मनन करेंगे, वे इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि इस समय स्वराज्य की माँग को बलवती बनाने के लिए बहिष्कार से बढ़ कर अस्त्र हमारे पास नहीं है। अतएव यद्यपि मैं उस सामाजिक आदर्श का क़ायल हूँ जो पं० जवाहरलालजी देश के सामने रख रहे हैं, तथापि मैं स्वराज्य और बहिष्कार की सीमा से आगे बढ़ना अभी व्यावहारिकता की मर्यादा का उल्लंघन करना समझता हूँ। मैं जितना ही विचार करता हूँ मुझे तो आज देश के सामने पहला प्रश्न 'स्वराज्य' और 'बहिष्कार' ही दिखाई पड़ता है।

परमात्मा हमें इसके लिए काफ़ी बल, और धैर्य दें और दें सब कुछ होम देने की छटपटाहट।

हरिभाऊ उपाध्याय

मद्रास की दुनिया

मैं इससे पहले दो एक दफ़े मद्रास गया हूँ। मद्रास की असली अवस्था की जाँच-पड़ताल करने का मौक़ा नहीं मिला। उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े ने बहुत-कुछ ऊधम मचा रक्खा है, परन्तु मद्रास में हिन्दू हिन्दुओं के झगड़े ने ही तूफ़ान बरपा कर रक्खा है। मद्रास की दुनिया ठीक उस नमूने की दुनिया है, जिसमें प्राचीन हिन्दू सभ्यता का कोई चिन्ह नज़र नहीं आता। मद्रास का हिन्दू-धर्म, हिन्दू-सभ्यता क़रीबन सारी की सारी उस ज़माने की है जो श्री शंकराचार्य के पीछे का ज़माना कहा जाता है। मध्यकालीन या पौराणिक भारत के तीनों बड़े आचार्य श्री शंकराचार्य, मध्वाचार्य, और रामानुजाचार्य, जन्म से मद्रासी थे। मद्रास इस समय उनके द्वारा प्रचलित की हुई हिन्दूसभ्यता का अनुयायी है। हम किसी के धार्मिक विश्वासों पर किसी किस्म का आक्षेप नहीं करना चाहते, परन्तु मद्रास की वर्त्तमान हिन्दू-सभ्यता को देख कर हमें यही निश्चय होता है कि जो वृत्ति इस समय मद्रास प्रान्त में प्रचलित हिन्दू-समाज की जड़ में है वह स्वराज्य की ओर हमें नहीं ले जा सकती। मद्रास में हिन्दू-दर्शन बहुत ऊँचे स्थान पर है, पर हिन्दू-धर्म और हिन्दू-जीवन बहुत नीच अवस्था को पहुँच चुका है। मद्रास के तमाम मन्दिर जो अपने भवन-शिल्पकला में अत्यन्त उन्नत हैं बहुत हद तक मैले कारागार हैं, जिनके इर्दगिर्द बहुत-कुछ मलीन और असभ्य जीवन देख पड़ता है। और यह भी मालूम होता है कि अंग्रेजी शिक्षा ने इन लोगों के आत्मिक एवं सामाजिक जीवन पर बहुत-कुछ असर नहीं किया।

जहां एक तरफ यह देख कर प्रसन्नता होती है कि उत्तर-भारत की तरह बहुत कम मद्रासी अंग्रेजी पोशाक पहनते हैं; वहाँ यह देख कर अत्यन्त दुःख भी होता है कि हिन्दुओं में जाति-भेद, सामाजिक-भेद और पारस्परिक घृणा हद दर्जे की बढ़ी हुई है। हम मद्रास की हिन्दू–जनता को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं? ब्राह्मण-अब्राह्मण, (जो अपने को नान-ब्राह्मण कहते हैं) और अछूत। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ साल पहले इस प्रान्त की तमाम राजनैतिक ताक़त ब्राह्मणों के हाथ में थी। इससे असन्तुष्ट होकर ब्राह्मण सम्प्रदाय में एक ऐसा दल खड़ा हुआ जिसने ब्राह्मणों के विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर दिया। ब्राह्मण और अब्राह्मणों के अन्तर्गत भी बहुत से दल और बहुत सी जातियाँ हैं, परन्तु एक दूसरे के बर्खिलाफ़ युद्ध करने के लिए सबों ने एका कर लिया है। बहुत से ऐसे भी व्यक्ति हैं जो ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों के साथ हमदर्दी रखते हैं, परन्तु दोनों श्रेणियों में एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष चलरहा है।

कांग्रेस में पिछले काल तक ब्राह्मणों का ज़ोर था। १९२६ के कौन्सिल के चुनाव में कांग्रेसपार्टी ने बहुत से ब्राह्मणों को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लिया और इस तरह कौंसिल में कांग्रेसियों का बहुत ज़ोर हो गया। परन्तु पिछले महीने में एक-एक दो-दो कर के करीबन १० आदमी उसपार्टी से निकल गये और प्रायः सरकार के साथ जा मिले, जिससे इस समय कांग्रेस पार्टी को बहुत-कुछ हानि पहुँची है। मद्रास कांग्रेस के राजनैतिक सिद्धान्त क्या हैं इसका निश्चय करना बहुत कठिन है। पिछली मद्रास कांग्रेस में दो प्रस्ताव मद्रास की ओर से पेश हुए जिन में बढ़ २ कर वक्तृतायें की गयीं। परन्तु एक पर भी कांग्रेसपार्टी इस समय स्थिर न रही। मद्रास की कांग्रेसपार्टी की ताक़त इस समय बहुत बिखरी हुई है इसमें किसी को

सन्देह नहीं हो सकता। एकदिन मद्रास कांग्रेस पार्टी के नेता श्रीयुत श्रीनिवास आयंगर से मेरी बातचीत हुई, उस समय ४,५ आदमी और भी बैठेहुए थे। उन्होंने जिस दुःख से कांग्रेसपार्टी का बर्ताव वर्णन किया, वह लिखना मुझे उचित नहीं जान पड़ता। उन्होंने हाल के एक भाषण में स्पष्ट-रूप से कहा है कि कांग्रेसपार्टी में न विचार की एकता है, न कर्म की। इस कारण यही उचित मालूम होता है कि कांग्रेस में जो लोग एकमत के हों, वे अपनी एक जुदी पार्टी बनावें—दूसरे मत के दूसरी। हरएक अपने २ मत के अनुसार काम करे। तभी कुछ काम हो सकता है, परन्तु काम क्या करना चाहिए यह कुछ नहीं बताया। उन्होंने कहा कि उनके सामने तीन प्रश्न हैं (एक तो) भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए यत्न किया जाय, दूसरे साधारण जनता को अपने साथ मिलाया जाय, तीसरे आवश्यक कार्यों के लिए रुपया इकट्ठा किया जाय।

कुछ काल से पूर्ण राजनैतिक स्वतंत्रता का भूत हिन्दुस्तानियों के दिलों पर चढ़ा हुआ मालूम होता है। ऐसा कौन पाजी हिन्दुस्तानी होगा कि जो यह इच्छा न रखता हो कि हमारा मुल्क कभी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करे। परन्तु न तो पूर्ण स्वतंत्रता और न अधूरी स्वतंत्रता केवल बातों से प्राप्त होगी। इस समय तो हमें सारे राजनैतिक कामों का आदि अन्त केवल ज़बानी जमा-खर्च पर टिका हुआ मालूम होता है। नवयुवक सम्मेलन में बढ़ २ कर बातें करते हैं। बूढ़े लीडरों के बख़िलाफ़ असन्तोष प्रकट करते हैं। सरकार के विरुद्ध बढ़-चढ़ कर तक़रीरें करते हैं। वे जो बात करते हैं वह सत्य ही क्यों न हो, परन्तु वह स्वयं विवश मन की दीवानी भर नज़र आती है—क्योंकि उसके पीछे कुछ नहीं—बड़ी २ धुवाँधार वक्तृताओं के आदि या अन्त में आगे या पीछे सन्तोष-प्रद काम नहीं दिखाई देता।

देश में महात्मा गांधी के कथनानुसार इस समय तीन काम करने योग्य हैं—एक खादी प्रचार—विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, दूसरा अन्त्यजों का उद्धार, तीसरा हिन्दू-मुसलमानों की एकता। हम इन तीनों पर एक एक करके विचार करेंगे।

मद्रास में हिन्दू-मुसलमानों का प्रश्न कोई जीता जागता प्रश्न नहीं है। इसलिए मद्रास वालों को इस विषय में जो कार्यवाही करनी पड़ती है, वह दूसरे प्रान्तों के लिए ही होती है। और हमारा अनुभव यह है कि मद्रास के नेताओं ने यह प्रश्न सुलझाना तो चाहा, किन्तु और भी उलझा दिया। बाज़-बाज़ नेता तो यह समझते हैं कि अपनी योग्यता और बुद्धिमत्ता से इसे हल कर डालेंगे, परन्तु हमारे पाठक जानते हैं कि अभी यह प्रश्न हल नहीं हुआ। और न मद्रासी नेता हल करही सकते हैं—साइमन कमिशन के आने से हिन्दू मुसलमानों के परस्पर सम्बन्ध उत्तर भारत में अच्छे हो गये हैं। उत्तर भारत के हिन्दू-मुसलमान इस समय से लाभ उठाकर इस प्रश्न को हल करना चाहें तो कर सकते हैं, परन्तु हमारी राय में न मद्रास के नेता सहायता दे सकते हैं, न महाराष्ट्र के।

इससे उतर कर खादी प्रचार का काम है। वह अब कांग्रेस से सीधा सम्बन्ध नहीं रखता; उसे महात्माजी अखिल भारतीय चर्खा-संघ के द्वारा कर रहे हैं। संघ ने देश भर में २५० खादी-भंडार खोल रक्खे हैं। संघ की रिपोर्ट पढ़ने से मालूम होता है कि वह बहुत अच्छा काम कर रहा है। मैं खादी-प्रचार के संबन्ध में अपने विचार एक और लेख में प्रकट करूँगा इसलिए इसे यहीं छोड़ता हूँ। परन्तु मैं जानता हूँ कि मद्रास के कांग्रेस के नेता बहैसियत कांग्रेसी होने के कोई खास काम इस संबन्ध में नहीं कर रहे हैं।

तीसरा प्रश्न अन्त्यजों का है। इस तरफ़ तो मद्रास कांग्रेस के कार्य कर्ताओं का कुछ भी ध्यान हो

ऐसा नज़र नहीं आता। मद्रास कांग्रेस के नेताओं में कट्टर हिन्दुओं का ज़ोर है। उनके अन्दर वह तमाम भेद-भाव मौजूद है जो पौराणिक हिन्दू-धर्म ने क़ायम कर दिये हैं और इसलिए वह अपने सामाजिक जीवन सुधारने के लिए कोई ऐसा काम नहीं कर रहे जो संतोष देने वाला हो। अछूतों के सम्बन्ध में इस प्रांत में जो हो रहा है वह बाहर से लाये हुए धन से होता है। सब से बुरी हालत मलाबार के अछूतों की है। मैंने मलाबार के अछूतों की अवस्था जानने के लिए कई दिन लगाये। मुझे उनकी अवस्था, इस कार्य की महत्ता और कठिनता देखकर बहुत दुःख हुआ। जो देखा और सुना उसका वृत्तान्त पृथक् लेख में लिखूँगा; परन्तु यह कहे बिना नहीं रह सकता कि जो लोग समाज-सुधार के बिना राजनैतिक स्वतंत्रता का आंदोलन करते हैं, वह देश की अवस्था को नहीं समझते। जब तक वह ईमानदारी के साथ हिन्दू-समाज की सामाजिक मनोवृत्ति को बदलने की चेष्टा नहीं करेंगे, आज़ादी को पाना असंभव है। यों तो मेरा सदा ही विचार रहा, परंतु मद्रास की दशा देखकर यह विचार और भी दृढ़ हो गया। मद्रास में अभी समाज-सुधार के लिए कुछ भी कार्य नहीं किया गया। वहाँ के कुछ सज्जन प्रार्थना-समाज या थियोसोफिकल सोसाइटी के प्रभाव में आकर समाज-सुधार पर ध्यान देते हैं, परन्तु साधारण जनता जो अशिक्षित है समाज-सुधार को हिन्दू-धर्म के विरुद्ध और व्यर्थ समझती है।

मैंने मद्रास में इस बार श्रीरंगम, त्रिचनापली का महान् वैष्णव मंदिर देखा। इस मन्दिर में श्रीरंगनाथ देवता की पूजा होती है। कहा जाता है कि रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत के अनुसार यह पूजा प्रारंभ की गई, परन्तु मुझे क्षमा किया जाय— मुझे तो उस मन्दिर के इर्द-गिर्द सारे सामान को देखकर बहुत घृणा हुई और मैं कई घंटे उदास रहा, मुझे इस मन्दिर में कोई बात ऐसी नहीं मिली कि जो मनुष्य की बुद्धि को जँच जाय। वहाँ के दुराचार की जो कथायें सुनीं वे भी कम दुःख देने वाली नहीं। बड़े बड़े तिलकधारी अंग्रेज़ी पढ़े विद्वानों की बातचीत सुनकर यह भी निश्चय हुआ कि केवल पुस्तकों के पढ़ने से बुद्धि का विकास नहीं होता। मैं किसी मत का प्रचारक नहीं। मैं तो मत-मतांतरों से दुखी होकर मतों से अलग हो गया हूँ, परन्तु इतनी क्षमता मुझ में है कि मैं यह समझ सका कि कौन-सा धर्म मनुष्य को उन्नति की ओर ले जा सकता है और कौन नहीं। मैं समझता हूँ कि मद्रास के मंदिरों की पूजा की वृत्ति हमें सामाजिक नरक की ओर ले जाती है। जिन मन्दिरों में अभी तक देव-पूजा के बहाने दुराचार होता है, जिनमें अभी तक लोग मलिनता को मन्दिर-पूजा का एक आवश्यक अंग समझते हैं, जिस समाज में अभी तक यह आवश्यक समझा जाय कि किसी का मत प्रकट करने के लिए उसके माथे का टीका लंबा चौड़ा या गोल हो, उस समाज में राजनैतिक स्वतंत्रता का भाव प्रचलित करना असंभव मालूम होता है।

धार्मिक, राजनैतिक या सामाजिक किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रचार करना हो तो पहली शर्त यह है कि मनुष्य की बुद्धि में स्वतन्त्रता का कुछ प्रकाश हो। जिस धर्म में सोचने-विचारने का कुछ भी भाव न हो—धर्म के संबन्ध में भी थोड़ा विचारने की स्वतन्त्रता न हो, उसमें राजनैतिक स्वतन्त्रता का भाव फैलाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारे मद्रासी भाई बड़े विद्वान् हैं, और गणित में उन्होंने विशेष नाम पाया है, वे विचार-दर्शन में भी ऊँचा दर्जा रखते हैं—अंग्रेज़ी लिखने-पढ़ने में वे शिरोमणि हैं, परन्तु व्यावहारिक संसार या धार्मिक और

सामाजिक संसार में उनका व्यवहार इन दो बातों से खाली नहीं-या तो उनकी बुद्धि इधर दौड़ती नहीं या वे निहायत दर्जे के ढोंगी (मक्कार) हैं। यों तो मक्कारी उस जाति के चरित्र की स्पष्ट रेखा हो ही जाती है, जो दूसरी के अधीन हो। पराधीनता मक्कारी की माँ है, पर जहाँ पर जाबते के धर्म का-धर्म के बाहरी अंग का-राज्य प्रभावशाली हो, वहाँ पर पहले बुद्धि की पराधीनता और उसके बाद शरीर की पराधीनता भी एक ही जीवन के दो रूप हैं। मद्रास की धार्मिक और सामाजिक अवस्था देख कर मुझे यह ख्याल हुआ कि मद्रास को एक ऋषि दयानन्द की आवश्यकता है। मौजूदा आर्य-समाजियों में यह शक्ति नहीं कि वे मद्रास जैसे कट्टर हिन्दू-प्रांत को सुधार की ओर ले जा सकें। अब तक तो सुधारक संस्थाओं का यही रूप देख पड़ा कि वह मद्रास में किश्ती डुबा बैठे। आर्यसमाज ने भी मद्रास में संतोष-जनक कार्य नहीं किया। मद्रास में ऐसे हिन्दू-सुधारकों की आवश्यकता है जो हिन्दू-शास्त्र में निपुण और निडर हों। इस समय तक मद्रास में आर्य-समाज के फैलाने की जो कोशिश की गई है उसमें बहुत सफलता प्राप्त नहीं हुई। यहां की धार्मिक आबोहवा अत्यन्त जहरीली और सामाजिक आबोहवा अत्यन्त तंग है। इस आबोहवा में सफलता प्राप्त करने के लिए किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है जो शास्त्र-विद्या में निपुण और चरित्र में उत्तम से उत्तम श्रेणी को प्राप्त हुआ हो। खुद मद्रासियों में अभी हमें ऐसे व्यक्तियों के पैदा होने की कोई आशा नहीं। मद्रास प्रान्त पढ़ने लिखने की दृष्टि से सबसे अच्छी हालत में है, यहाँ तक कि वहाँ की स्त्रियाँ भी अन्य प्रान्तों की अपेक्षा विदुषी हैं। केवल यही रेखा आशा की है। स्त्रियों में जागृति है और आशा है कि वे कुछ कर दिखावें; नहीं तो वहां के पुरुषों से तो मुझे कुछ भी आशा नहीं। वे तो बातूनी, झगड़ालू और बाल की खाल निकालने वाले हैं।

लाजपतराय

प्रभु-दर्शन

सन्त जनों को मैंने देखा, माला जपते जाते थे।
किसी अलख अदृष्ट देव से, कुछ धीरे बतराते थे॥
मैंने सोचा मनकाओं में, कोई बैठा है छिपकर।
जिससे ये बातें करते हैं, वह होगा इनके भीतर॥१॥

किसी यत्न से एक सन्त की, सेवा को तैयार हुआ।
जिसकी शिक्षाओं से सारा, उदासीन संसार हुआ॥
राम राम बरसों रटवा कर, उसने मुझे थका डाला।
मैंने कहा बता दो अब तो, वह प्यारा धनुही वाला॥२॥

सुनकर के मुसकाया वह फिर, कहा और कुछ धैर्य धरो।
राम राम श्री राम नाम का, और निरन्तर जाप करो॥
कुछ दिन मैंने और चित्त को, रोका और सम्हाला सा।
अन्त अधीर हुआ मैं मन में, हुआ प्रेम-मतवाला सा॥३॥

आँख बचाकर स्वामीजी की, मालायें मैंने तोड़ीं।
सारी मनिकाओं को उनकी, एक एक करके फोड़ीं॥
किन्तु किसी में मिला नहीं वह, धनुष बाण धरने वाला।
रावण-मद-हारी वह प्यारा, भव-बाधा हरने वाला॥४॥

और निराशा की तब बढ़कर, हृदय-मध्य भड़की ज्वाला।
जिसने कुछ हतबुद्ध और फिर, मुझे विकल सा कर डाला॥
इतने में मेरे स्वामीजी, बाहर से ज्योंही आये।
मेरी करतूतें जब देखीं, उग्र रूप होकर धाये॥५॥

उनकी शान्ति मूर्ति को मैंने, क्रोध-रूप में तब जाना।
परसराम अवतार वही थे, उनको मैंने पहचाना।
बढ़ा, किन्तु वे बोले—'मिलना व्यर्थ समझ बिन ज्ञान हुए'।
इतना कहकर बिना सुने कुछ, प्रभुवर अन्तर्धान हुए॥६॥

देवीप्रसाद (कुसुमाकर)

भारत भक्त
डॉ० जे० टी० सन्डर लैण्ड

डाक्टर सन्डरलैन्ड

१२ मई सन १९२८ ई० के दिन अमेरिका के न्यूयार्क नगर में डाक्टर जे० टी० सन्डरलैन्ड के सम्मान में एक प्रीतिभोज दिया जाने वाला है। उसमें वे भी सम्मिलित होंगे। इस अवसर पर हिन्दुस्थान एसोसिएशन के सदस्यों ने, दि इण्डियन-फ्रीडम फाउन्डेशन नामक संस्था ने, और संयुक्त राज्य के हिन्दुस्थानी भाइयों ने उनकी महान भारत-भक्ति और विशुद्ध प्रेम की सराहना करने तथा भारत की दीर्घ-कालीन सेवाओं के लिए उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने का निश्चय किया है।

इस शुभ अवसर के उपलक्ष्य में कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ टागोर ने अपना सन्देश और अपने हस्ताक्षर वाला एक सुन्दर चित्र डाक्टर महोदय के लिए भेजा है। वह और साथ ही भारत तथा दूसरे देशों के मित्रों द्वारा भेजे हुए सन्देशों और मधुर संस्मरणों की पुष्पांजलि उन्हें उस दिन आदरपूर्वक समर्पित की जायगी।

भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयत्नों में सहायक होकर, सारे देश में भ्रमण करके, पत्रों, लेखों तथा भाषणों द्वारा देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ कर डाक्टर साहब ने देश की जो सेवा की है, उसके कारण भारत के शिक्षित-समाज में आप खूब मशहूर हैं। देश की स्वतंत्रता के लिए किये गये सारे संगठित आन्दोलनों में आप ई० सन १८९५ से बराबर भाग लेते रहे हैं। इसी साल आप पहले-पहल भारत पधारे थे।

आपका जन्म ११ फरवरी सन १८४२ ई० में हुआ था। इस समय आपकी आयु ८६ वर्ष की है। अभी हाल, आपने हिन्दुस्थान पर एक महत्व-पूर्ण पुस्तक लिखी है, और इधर वर्षों से भारत तथा अमेरिका के पत्रों में आपके गंभीर एवं सुपाठ्य लेख बराबर छपते रहे हैं।

यहाँ अमेरिका की हिन्दुस्तानियों की सभाओं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रीति-भोजों के अवसर पर सभापति-पद के लिए बार-बार आप ही निमंत्रित किये जाते हैं। और इतने वृद्ध होते हुए भी बुलावा पाने पर ऐसी सभाओं में आप पूरे उत्साह के साथ सम्मिलित होते रहे हैं।

भारत की स्वतंत्रता आपके जीवन की एक भारी साध है। इसी प्रबल साध के कारण अपने जीवन के इस अन्तिम और आराम के समय में भी आप हिन्दुस्थान की स्वतंत्रता पर कुछ न कुछ सप्रमाण बातें लिखा ही करते हैं।

इधर कुमारी मेयो ने अपने 'चार मास' के भारत भ्रमण के थोथे आधार पर दुष्ट भाव से प्रेरित हो वह कुत्सित पुस्तक—भारत की निन्दा की गरज से—प्रकाशित की और तब से भारतीय बातों में उसकी बड़ी पूछ होने लगी थी। इसलिए ऐसे समय आपकी पुस्तक अमेरिका में बड़े मौके से प्रकाशित हुई है।

वर्षों की गंभीर खोज के फल-स्वरूप भारत के बारे में जो बातें आपको मालूम हुई, उन्हें आपने बड़ी खूबी से जोरदार भाषा में इस पुस्तक में प्रकट किया है। भारतीय सभ्यता और राजनीति से—आपका जो स्थायी सम्बन्ध रहा है, उसके कारण प्रस्तुत पुस्तक का महत्व और भी बढ़ गया है।

अभी तक भारत के विषय में इतने अधिकार पूर्वक आप क्यों कर लिख सके, इसका कुछ विवेचन यहाँ असंगत न होगा।

अपनी युवावस्था के आरम्भ ही से डाक्टर सा० को भारत से बहुत ज्यादा प्रेम होगया था। इस प्रेम का अंकुर तो बचपन में ही फूटा था। इसी कारण उस अवस्था में आपने भारत-सम्बन्धी कई तरह का

साहित्य पढ़ा, बहुत सी बातें सुनीं, और भारत से लौटे हुए ईसाई पादरियों से अपना परिचय भी बढ़ा लिया था। इस तरह जीवन के प्रभात-काल में ही आपके हृदय में मिशनरी बनने की इच्छा जाग्रत हुई। कॉलेज में और धार्मिक पाठशाला में (Theological Seminery) रहते हुए भी यह इच्छा—यह सुख-स्वप्न, आपके भावुक हृदय में सदा जाग्रत रहा। इसी कारण भारतीय वायुमण्डल के अनुकूल बनाने वाली पुस्तकों का ही आप ध्यान से पठन-पाठन और स्वाध्याय करने लगे थे।

आपकी छोटी बहन और कालेज के कुछ अभिन्न-हृदय मित्र तो भारत में कुछ समय बाद, मिशनरी बन कर पधारे भी। किन्तु ये विचार बदल जाने के कारण आपने खुद मिशनरी का काम नहीं किया। फिर भी भारत-विषयक आपका सहज-प्रेम तो वैसा ही बना रहा, न कभी कम हुआ और न आगे ही होने की संभावना है। चालीस से भी अधिक वर्ष हुए, आप भारत के अनेक धर्मों के विशाल साहित्य, दर्शनशास्त्र, उन्नत कला-कौशल, सुदीर्घ इतिहास और सर्वतोपरि उसकी आज तक की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का बड़ी गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन कर रहे हैं।

भारत-सम्बन्धी मामलों में आपके इस विशाल ज्ञान को देख कर ही सन १८९५-९६ में ब्रिटिश नैशनल यूनीटेरियन असोसिएशन ने, आपको एक विशेष कमिश्नर के नाते, भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक, शिक्षा-संबंधी और दूसरी महत्व की रीतियों का अध्ययन करने के लिए हिन्दुस्थान भेजा था। यह काम करके लण्डन लौटने पर आपने अपनी एक लम्बी, खुलासेवार रिपोर्ट प्रकाशित की थी। सन् १९१३-१९१४ में आप पुनः इसी तरह के एक कमीशन पर भारत आये, किन्तु इस समय आपकी नियुक्ति में अमेरिका के यूनिटेरियन असोसिएशन का भी हाथ था।

इन दो कमीशनों के सिलसिले में, आपको भारतवर्ष में १३,००० से भी अधिक मीलों की यात्रा करनी पड़ी थी। इस अवसर पर आपने कई मिशनरियों से भेंट की, कितने ही सरकारी हाकिमों और अंग्रेज व्यापारियों से आप मिले, हिन्दुस्थान के कई प्रसिद्ध लोक-नेताओं, अधिकारियों, व्यापारियों और विद्वानों से, यहाँ के सारे प्रसिद्ध नगरों में मिले, और उनसे खूब वार्तालाप किया। भारत की राजनैतिक और धार्मिक समस्याओं पर बड़ी-बड़ी सभाओं में उपस्थित रहे और नेताओं के साथ आपने घण्टों विचार—परामर्श किया।

आपका यह कार्य केवल शहरों तक ही सीमित नहीं रहा। कई तरह की असुविधाओं और कष्टों को सहर्ष झेलते हुए आप हिन्दुस्तान के अधिकतर कस्बों और गाँवों में गये और कई हफ्तों तक भ्रमण करते रहे। घोड़े की सवारी पर भारत का अन्तरङ्ग-ग्रामीण जीवन देखने वाले आप ही पहले अमेरिकन सज्जन थे। इस तरह लोगों से प्रत्यक्ष बातचीत करने और उनके कष्टों एवं असन्तोष का कारण मालूम करने में आप खूब कामयाब हुए। आपके इस कष्ट सहन का परिणाम यह हुआ कि भारत की देहाती और नागरिक जनता की सच्ची हालत का आप बड़ी सफलता से अध्ययन कर सके। इससे आपके द्वारा गुलाम भारत की कई सच्ची और आँखों देखी जानने योग्य बातें, ब्रिटिश जनता के समीप पहुँच सकीं।

राष्ट्रीय महासभा, समाज-सुधार परिषद् और अखिल भारतीय ऐतिहासिक परिषद् के दो-दो वार्षिक अधिवेशनों में सम्मिलित होने का सौभाग्य आपको प्राप्त हो चुका है। पहली दो सभाओं में आपने महत्त्वपूर्ण भाषण दिये और अन्तिम परिषद्

के तो सभापति बनने तथा उस पद से अपना अभिभाषण देने का भी आपको सौभाग्य मिला था। ऐसे राष्ट्रीय महत्त्व के अवसरों पर बार बार सम्मिलित रहकर आपने भारत के लगभग सारे प्रांतों के राजनैतिक, सामाजिक, ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी और दूसरे आस्तिक नेताओं से गहरा परिचय प्राप्त कर लिया था।

भारत में रहते हुए डाक्टर महोदय को यहाँ के के सामयिक अग्रगण्य समाचार-पत्रों, साप्ताहिकों एवं मासिकों आदि से बड़ा प्रेम हो गया था। इनमें से कुछ की सुन्दरता और श्रेष्ठता पर तो आप बड़े ही मुग्ध थे। इन पत्रों को, अपनी दोनों बार की भारत-यात्रा में आप बड़े ध्यान-पूर्वक पढ़ते रहते थे। औरसन १८९६ में जब पहली यात्रा समाप्त कर आप घर लौटे तब से आप इन पत्रों में से कम से कम सात पत्रों के तो बराबर स्थायी ग्राहक रहे हैं। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पूना, लाहौर और प्रयाग के पत्र इनमें प्रधान हैं। इस तरह तब से लेकर आज तक अपनी जन्मभूमि की भांति ही भारत-सम्बन्धी हरएक छोटे-बड़े मामले में आपकी दिलचस्पी बराबर जाग्रत रही है।

भारतवर्ष-विषयक आपका वाचन केवल इन सामयिक मासिकों तक ही परिमित नहीं रहा, बल्कि गत ३०, ३५ वर्षों में अंग्रेज, अमेरिकन, या भारतीय प्रकाशक की ऐसी एक भी पुस्तक जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भारतीय राजनीति या सामाजिक आदि समस्याओं से रहा है, आपने अछूती नहीं छोड़ी। सारांश, इस प्रकार की प्रत्येक पुस्तक के पढ़ने में आपको कर्त्तव्य-पालन का सा सुख प्राप्त होता था।

जिस समय लाला लाजपतरायजी देश से निर्वासित होकर सन् १९१४ से १९१९ तक अमेरिका में रहे थे, उस समय इन सुप्रसिद्ध भारत-भक्त के साहित्यक कार्यों में आपने हर तरह की सहायता पहुँचाई थी। अमेरिका में लिखी हुई लालाजी की तीनों पुस्तकों के प्रूफ आपने देख लिये थे। इनमें से एक पुस्तक की तो आपने भूमिका भी लिखी है। इस तरह जब तक लालाजी वहाँ रहे, आप उनके हर तरह से सच्चे सुहृद् और सहायक बने रहे और उनके भारत लौट आने पर न्यूयार्क में स्थापित 'यंग इन्डिया' नामक मासिक पत्र के संपादन का भार भी आपने कंधों पर उठाया था।। लालाजी के उत्तराधिकारी के नाते, अमेरिका की इन्डियन होमरूल लीग और इन्डिया-इन्फारमेशन ब्यूरो-न्यूयार्क के आप सभापति भी रहे।

संयुक्तराज्य और कनाड़ा में भारतीय धर्म, कला, साहित्य, समाज और स्वातन्त्र्य-युद्ध पर डाक्टर साहब समय समय पर बड़े गंभीर और विस्तृत व्याख्यान देते रहते हैं। भारतीय मासिक पत्रों में, आज तक, आपने अनेक महत्त्वपूर्ण सुपाठ्यलेख प्रकाशित कराये हैं। और आपकी लिखी कई पुस्तकों में से दो तो भारत में ही प्रकाशित हुई हैं।

'भारतीय दुर्भिक्षों का कारण' 'भारत, अमेरिका और विश्व-बन्धुत्व' तथा 'भारतीय स्वतन्त्रता का दावा' ये तीन पुस्तकें आपकी भारत-सम्बन्धी सेवाओं की अमर थाती हैं। प्रत्येक शिक्षित भारतीय को चाहिए कि वह उन्हें एक बार ध्यान-पूर्वक पढ़ जाय।

सर डिग्बी की 'उन्नत ब्रिटिश भारत' पुस्तक आप ही की प्रेरणा का फल है।

मेरी अल्पमति में डाक्टर महोदय की भारत सेवायें, हमारे स्वर्गीय 'भीष्म पितामह' दादाभाई नौरोजी की सेवाओं से यदि बढ़कर नहीं तो बराबर जरूर हैं। भारतीय न होने के कारण आपकी सेवायें और भी अधिक मूल्यवान हो जाती हैं। केवल न्याय

और सत्य की ज्वलन्त भावना से प्रेरित होकर ही आप वर्षों से हमारे स्वातन्त्र्य-युद्ध में इतनी बहुमूल्य सहायता पहुँचा रहे हैं।

हमें विश्वास है कि डाक्टर संडरलैंड को भारतवर्ष की कृतज्ञता कभी नहीं भूल सकेगी। निस्सन्देह आपकी सेवायें भारत के भावी इतिहास में चिर स्मरणीय रहेंगी। हम अमेरिका-निवासी भारतवासी भी डाक्टर महोदय के प्रति अपनी अनन्य कृतज्ञता प्रकट करते हैं। और परमेश्वर से यही वर चाहते हैं कि हम लोग शीघ्र ही अपने आपको इन वृद्ध पितामह की आशीषों और सेवाओं के योग्य सिद्ध कर सकें। ईश्वर वह दिन शीघ्र लावे, जब डाक्टर साहब अपने जीवन-काल में ही भारत में स्वाधीनता का झंडा फहराता हुआ देख सकें।

रामलाल वाजपेयी (अमेरिका)

भारत में औद्योगिक उन्नति का प्रश्न

आज भारतवर्ष की आर्थिक समस्या कितनी विकट हो गई है, भारत-माता का प्रत्येक पुत्र इसका अनुभव करता है। जिस देश की असंख्य जन-संख्या केवल पेट भरने में ही अपना समस्त परिश्रम लगा कर भी एक मनुष्य की भाँति अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकती, उस देश का भविष्य क्या है यह भगवान् ही जानते हैं। मैं बहुत से अंकों को न देकर केवल साधारण रीति से यह दिखलाऊंगा कि हमारे देश-वासी दरिद्रता-पाश में किस प्रकार फँसे हुए हैं। १८० रानडे के मतानुसार प्रत्येक मनुष्य की वार्षिक आय का औसत २१) था किन्तु अब समय का परिवर्तन हो गया है, भारत की आर्थिक अवस्था भी भिन्न हो गई है और यह औसत अब ७८) तक पहुँच गया है। इस अनुमान में अर्थशास्त्र-वेत्ताओं में बहुत-कुछ मतभेद है और औसत निकालने में बहुत सी त्रुटियों की भी सम्भावना है। फिर भी यदि यह मान लिया जाय कि यह संख्या ठीक है, तब प्रति मास ६) के हिसाब से प्रत्येक व्यक्ति की आय का औसत निकलता है। किन्तु इसके वास्तविक तत्व को समझने के लिए दो बातों का विशेष ध्यान रखना होगा—एक तो राष्ट्र की सम्पत्ति का विभाजन एक-सा नहीं है। सरल भाषा में इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ मनुष्य तो ऐसे हैं कि जिनके पास भारतवर्ष की औसत आय से कई गुनी आय है। इसका फल यह है कि निर्धन जनता के पास औसत आय से भी कम आय रह जाती है। दूसरी बात जो विशेष महत्व की है वह है ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं में परिवर्तन अर्थात् अब ग्रामीण जनता केवल उन थोड़ी सी आवश्यकताओं से सन्तुष्ट नहीं है, बल्कि उनकी भी आवश्यकतायें शनैः शनैः बढ़ रही हैं। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक विचारवान् पुरुष को कहना होगा कि भारतीय जनता किसी प्रकार केवल अपने शरीर को जीवित रख सकती है। संसार के सुख भोगना, पौष्टिक पदार्थ खाना, अपने पुत्रों को शिक्षा दिलवाना, रोगी की औषधि का ठीक ठीक प्रबन्ध करना आदि इतनी आय में होना ही असम्भव है। यह सब तो दूर रहा, भारत की बहुत बड़ी जन-संख्या के रहने के स्थान और भोज्य-पदार्थ इतने निकृष्ट होते हैं कि जिनके द्वारा स्वस्थ शरीर का पालन ही नहीं हो सकता। इसके अलावा अनावश्यक व्यय भी भारतीय कृषक पर बहुत लगा रहता है। विवाह, मरण और जन्म में व्यर्थ के सामाजिक व्यय से भारतीय ग्रामीण दबा रहता है। अर्थशास्त्र के बड़े २ विद्वानों का यह मत है कि भारत और चीन जैसी निर्धन जन-संख्या किसी भी देश की नहीं है। भारतीय निर्धन ग्रामीणों को देख कर उनके कष्ट-मय जीवन का अनुभव जिसने किया है उसने मनुष्यता के नाते दुःख तो अवश्य ही प्रकट किया है। किन्तु आश्चर्य यह है कि जो अर्थशास्त्रज्ञ भारत की इस निर्धनता का दुःख-मय शब्दों में वर्णन करते हैं वे भारतीयों को केवल कृषि करने में ही लगे रहकर धनोपार्जन करने की नीति का समर्थन भी करते हैं। उनका कथन है कि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है जिसकी ७२ प्रतिशत जन-संख्या केवल कृषक है। उनका यह भी मत है कि यदि नवीन रीति से उद्योग-धन्धे भारतवर्ष में चलाये

आवेंगे तो खेती को बहुत बड़ा धक्का लगेगा। कृषक लोग बड़े-बड़े पुतलीघरों में श्रम-जीवी होकर चले जावेंगे और जो कुछ पूंजी अभी खेती में लगाई जा रही है वह उद्योग-धन्धों में लगाई जाने के कारण खेती की अवनति का कारण होगी। उनका यह भी कथन है कि भारतवर्ष को कृषि में प्रकृति स्वयं बहुत सहायता देती है। यहां की उर्वरा भूमि, यहां का जल-वायु और कृषि-कर्म में कृषक की निपुणता यह सब कारण मिल कर कृषि को ही धनोपार्जन का उत्तम साधन बना देते हैं। इसके विपरीत यदि भारतवर्ष में बड़े बड़े उद्योग-धंधों का नवीन रीति से आविर्भाव होगा तो पश्चिमीय देशों की भांति कृषक-जनता शनैः २ ग्रामों को छोड़कर बड़े बड़े नगरों में जा कर बसेगी और जो समस्या इस समय पश्चिमीय देशों के समक्ष उपस्थित है, वही भारतवर्ष में भी भीषण रूप से उपस्थित हो जावगी। दूसरा प्रश्न जो यह लोग करते हैं वह दूसरे देशों की प्रतिद्वन्द्विता के विषय में है। उनका कथन है कि भारतीय श्रमजीवी स्वभाव से ही आलसी तथा धीरे-धीरे काम करने वाला होता है। वह बड़े बड़े पुतलीघरों में कभी सफलता-पूर्वक कार्य नहीं कर सकता। वे यह भी कहते हैं कि भारत केवल कृषक देश रहा है। प्राचीन काल में भी केवल कपड़े के धंधे को छोड़ कर, भारत में उद्योग-धंधे कभी उन्नत नहीं रहे और न अब भारत दूसरे समृद्धिशाली देशों की प्रतिद्वन्द्विता में सफल हो सकता है। किन्तु यह मत उन्हीं लोगों का है जो अर्थ-शास्त्र के तो बहुत बड़े विद्वान् हैं किन्तु भारतवासी नहीं है। इसके विपरीत जो भारतीय अर्थशास्त्र के जानकार हैं, वे एक मत होकर कहते हैं कि भारत का सबसे बड़ा धंधा तो कृषि-कर्म ही रहेगा, किन्तु ३१ करोड़ से अधिक जनसंख्या को केवल कृषि पर निर्वाह करने का परामर्श देना उनको भयंकर विपत्ति में डालना है। भारत की जोतने योग्य भूमि में से बहुत बड़ा भाग तो जोता ही जाता है, इस कारण अब अधिक भूमि कृषि के लिए मिल सकना बहुत कठिन है। देश की जन-संख्या दिन प्रति दिन बढ़ रही है और खाद इत्यादि के न देने से भूमि की उर्वरा शक्ति भी शनैः शनैः घटने लग गई है। जितनी भी भूमि कृषि के योग्य थी सब इस काम में ले ली गई है, यहाँ तक कि गाँवों में चरागाह भी खेतों में परिणत कर दिये गये, फलतः किसान के पशुओं को पेट भर घास नहीं मिलती, जिससे वे निर्बल और शक्ति हीन हो जाते हैं। डाक्टर म्योलकर का (जो कि अर्थशास्त्र के अच्छे पंडित हैं) कथन है कि यदि भारतवर्ष की जोती हुई भूमि के क्षेत्रफल का औसत प्रति मनुष्य के हिसाब से लगाया जाय, तो प्रत्येक मनुष्य के लिए एक एकड़ से कुछ ही अधिक औसत निकलता है। इसी एक एकड़ में से उत्पन्न कच्चे माल को बाहर भेजकर भारतीय जनता वे देशी पुतलीघरों के बने हुए माल को मँगाती है। यदि इसका भी ध्यान रक्खा जावे तो केवल दो-तिहाई एकड़ प्रत्येक व्यक्ति के लिए रह जाता है। इस दो-तिहाई एकड़ से ही भारत के निवासी एक वर्ष तक भोजन-सामग्री उत्पन्न करते हैं। एक लेखक का कथन है—The small patch of land is made to give all the necessary good and to a certain extent clothes, a heavy work which no land can be expected to do. अर्थात् इस छोटी सी भूमि के टुकड़े से भारत के लोग वर्ष भर का भोजन और कपड़ों के लिए कच्चा माल उत्पन्न करते हैं। संसार के अन्य देश की भूमि यह नहीं कर सकती है। तिस पर भी आश्चर्य की बात यह है कि प्रति वर्ष कृषकों की संख्या बढ़ती जा रही है। इसका कारण यह है कि छोटे २ उद्योग-धंधे विदेशी पुतलीघरों के बने हुए सस्ते माल की खपत के कारण नष्ट हो रहे हैं। सूत कातने, कपड़ा बुनने, लोहे, काठ, पत्थर, तेल इत्यादि के गृहोद्योग विदेशी माल की प्रतिद्वन्द्विता के कारण शिथिल होते जा रहे हैं और जुलाहे, बढ़ई, लुहार इत्यादि जब निर्वाह योग्य धन नहीं पाते तो थोड़े दिनों तक तो उसी उद्योग में लगे रहते हैं और अन्त में कृषि की शरण में आते हैं।

भारतवर्ष के कृषि-कार्य में वर्षा का विशेष स्थान है। यदि एक वर्ष वर्षा न हुई या कम हो गई अथवा वर्षा आवश्यकता से अधिक हो गई तो देश को भयंकर दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ता है, और देश की इतनी बड़ी जनसंख्या के केवल कृषि पर निर्भर रहने से महा-भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। करोड़ों रुपया सरकार उस समय जनता के प्राण-रक्षार्थ व्यय करती है। किन्तु इसी

समय सरकार की भी आय घट जाती है, वह लगान इकट्ठा नहीं कर पाती है, रेलों को भी घाटा होने लगता है और व्यापार शिथिल हो जाता है। जब देश की तीन-चौथाई जन-संख्या से अधिक केवल कृषि पर निर्वाह करते हों, तो यह स्थिति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है। फिर यहां की वर्षा भी बहुत अनिश्चित है। आये दिन देश का कोई न कोई भाग दुर्भिक्ष के भयंकर जाल में फँसा ही रहता है। यद्यपि नहरों से लाभ अवश्य हुआ है, किन्तु वे भी इस डर को दूर नहीं कर सकतीं। इसी बात पर विचार करने के उपरान्त दुर्भिक्ष-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में उद्योग-धंधों की उन्नति करने पर बहुत-कुछ ज़ोर दिया था। उनका कथन है कि जब बहुत सी जन-संख्या भिन्न २ प्रकार के उद्योगों में लगी रहेगी तो दुर्भिक्ष का इतना भयंकर प्रभाव देश पर न होगा। इन्हीं सब कारणों से भारतीय जनता भी अब एक स्वर से उद्योग-धंधों की उन्नति के प्रयत्न का समर्थन करने लग गई है।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या भारतवर्ष के उद्योग धंधे विदेशी प्रतिद्वन्द्विता के सामने ठहर सकते हैं? इस पर विचार करने के प्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि औद्योगिक उन्नति के लिए किन २ वस्तुओं की आवश्यकता है? यदि भारतवर्ष में वे सब मिल सकतीं हैं तब तो यह कहना कि भारतवर्ष के उद्योग-धन्धे सफल न होंगे केवल हठ-मात्र है। सबसे प्रथम वस्तु जो कि आवश्यक होगी वह है कच्चा माल सो इसके लिए हमारे देश को दूसरे देशों का मुँह ताकने की आवश्यकता न पड़ेगी। भारतवर्ष संसार के बड़े-बड़े देशों को कच्चा माल भेजता है। कच्चा माल जो कि विदेशों को भेजा जाता है उसमें निम्नलिखित मुख्य हैं:—कपास, जूट, तिलहन, खालें, मूंगफली, अबरख, मैंग्नानीज़ चाय, कहवा, तम्बाकू, अफीम इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि हम को कच्चा माल बाहर से मंगाने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी आवश्यकता है श्रमजीवी-समुदाय की। अब तक अर्थशास्त्रज्ञों का यह विचार था कि भारतीय श्रमजीवी पुतलीघरों के अयोग्य और निकम्मा होता है। किन्तु अब उनके विचार बदलने लगे हैं। बहुत से विद्वानों की राय में भारतीय श्रमजीवी मिहनती और कार्य-दक्ष होते हैं। उनका कथन है कि इन लोगों को बुरे खाद्य-पदार्थ मिलने के कारण और बुरी स्थिति में रहने के कारण वे पश्चिमीय श्रमजीवी के समान हृष्ट-पुष्ट नहीं होते। वे यह भी कहते हैं कि यदि इनको समुचित वेतन देकर इनकी स्थिति में उन्नति की जावे और थोड़ी सी शिक्षा भी देदी जावे तो यहां के मज़दूर किसी भी मज़दूर से कम न रहेंगे। औद्योगिक कमीशन के समक्ष बम्बई के कुछ मिल-मालिकों ने और ताता के लोहे के कारखाने के मैनेजर ने अपने मज़दूरों की जो प्रशंसा की है उससे भी यही ध्वनि निकलती है। तीसरी बात जो कि औद्योगिक उन्नति में आवश्यक है उसका नाम है "शक्ति"। बिना शक्ति के बड़े बड़े पुतलीघरों की मशीनें चल ही नहीं सकतीं। भारतवर्ष की कोयले की खानें बिहार प्रान्त में हैं। यद्यपि उनसे कोयला समुचित राशि में निकाला जा सकता है, किन्तु रेल कम्पनियों की नीति के कारण यह कोयला सुदूर प्रान्तों में बहुत मँहगा पड़ता है। इसका फल यह होता है कि बम्बई में इंगलैण्ड और अफ्रीका से कोयला आता है, क्योंकि वह सस्ता पड़ता है। किन्तु प्रयत्न करने से यह कमी भी पूर्ण की जा सकती है। ताता के पश्चमीय घाट पर जल-द्वारा विद्युत् उत्पन्न करने की योजना में सफलता होने से इस ओर बहुत कुछ आशा होगई है। क्योंकि जल-द्वारा उत्पन्न की हुई विद्युत् बहुत सस्ती पड़ती है। अभी भारत में केवल तीन स्थानों में यह उत्पन्न की जाती है-एक पश्चमीय घाट में, दूसरे मैसूर में कावेरी नदी पर, और तीसरे काश्मीर में झेलम पर। भारतवर्ष में इस प्रकार से विद्युत् उत्पन्न करने की सुविधायें बहुत स्थानों पर हैं। हिमालय और बर्मा में तो इसका प्रयत्न भी हो रहा है। इस प्रकार शक्ति का प्रश्न भी हल हो गया। चौथा प्रश्न माल की खपत के विषय में होता है। उसके लिए कोई विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं है। जो भारत अभी विदेशी माल बाहर से असंख्य-राशि में मंगा रहा है, वह अपने माल को भी अवश्य लेगा इसमें कोई संदेह नहीं। ३२ करोड़ जन-संख्या की मांग उन उद्योग धंधों को चालू रखने के लिए यथेष्ट है। फिर भारत के व्यवसायी अपने माल की खपत बहुत सरलता से एशिया के उन देशों में कर सकते हैं जहां के उद्योग-धंधे अभी उन्नत नहीं हुए हैं। अब प्रश्न यह होता है कि क्या इस औद्योगिक

उन्नति के कारण भारत की कृषि की अवनति होगी। भारतीय विद्वान् एक-मत होकर कह रहे हैं कि यह नहीं होगा। इसके विपरीत उनका तो कहना यह है कि इस देश में औद्योगिक उन्नति के साथ ही साथ कृषि की उन्नति भी हो सकती है। उनका कथन है कि जो संख्या कृषि-कर्म में लगी हुई है वह आवश्यकता से अधिक है। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि यदि प्रति-शत ४० किसान कम हो जायें तो भी कृषि कार्य उसी भांति चलता रहेगा, जैसा कि इस समय चल रहा है। ये ४० प्रतिशत किसान उद्योग-धंधों में लग सकते हैं। रहा पूंजी का प्रश्न। वह भी जटिल नहीं है। उद्योग-धंधों में पूंजी लगाने वाला तो व्यापारी-समुदाय है, न कि नौकरी करने वाला वर्ग; सो इस समय जो विदेशी व्यापार में करोड़ों रुपये लगा रहा है वही देशी कारखानों में भी लगा सकेगा। अन्त में विचार करने की बात यह है कि क्या भारत के लिए अमरीका, जरमनी और इंग्लैंड की नीति की नक़ल करना श्रेयस्कर है? अमरीका में ट्रस्ट और मोनोपली का जो प्रादुर्भाव हुआ है, जो आर्थिक और राजनैतिक शक्ति ट्रस्टों के हाथ में आगई है, उससे वहां की सरकार भी चिन्तित है। जिन लोगों को स्टैन्डर्ड आइल ट्रस्ट के इतिहास का विवरण तनिक भी ज्ञात है वे समझ सकते हैं कि कुछ इने-गिने पूंजी-पतियों के हाथ में कितनी शक्ति आ जाती है। यही नहीं, बल्कि वे व्यवसायी संसार में जैसा चाहें वैसा कर सकते हैं, और राजनैतिक बागडोर भी उनके हाथ में आजाती है क्योंकि वर्तमान समय में धन ही प्रधान शक्ति है। स्टैंडर्ड आइल ट्रस्ट की नीति कितनी विनाशक रही है इसका पता इसी से लगता है कि यत्न करने पर भी कोई तेल का कारख़ाना इसकी प्रतिद्वन्द्विता में न चल सका। जब कोई चलता भी तो यह तेल का मूल्य घटा कर उस स्थान में जहां पर कि प्रतिद्वन्द्वी का तेल बिकता हो, घाटे से बेच कर प्रतिद्वन्द्वी का व्यवसाय नष्ट कर देता। इन ट्रस्टों के हाथ में अमेरिका के बैंक और रेलें भी आगईं जिनसे इनकी शक्ति और भी बढ़ गई। राजनैतिक शक्ति का उदाहरण यदि कोई देखना चाहता है तो उसको आफ्रिका की सोने की खानों के ट्रस्ट, डी, बियर्स के इतिहास को पढ़ना चाहिए। एक प्रकार से आफ्रीका के शासन की बागडोर इसी ट्रस्ट के अधीन है। और पूंजीपतियों का राजनैतिक प्रभाव ही संसार की वर्तमान अशान्ति का मुख्य कारण है। गत महायुद्ध भी उसी बात का प्रतिपादन करता है, और जिस भावी महायुद्ध की आशंका संसार इस समय कर रहा है वह भी उसी पूंजीवाद के कारण होगा। इसपर पश्चिमीय विद्वान भी अब विचार करने लग गये हैं। और बहुतों का तो अब यह विचार भी हो गया है कि इन बड़े-बड़े कारख़ानों के स्थान पर छोटे कारख़ाने स्थापित किये जावें। इससे लाभ यह होगा कि यह छोटे-छोटे कारख़ाने गांवों और क़सबों में भी खोले जा सकेंगे। जिससे श्रमजीवी समुदाय के रहने की जो समस्या बड़े २ नगरों में उपस्थित होती है वह हल हो जायगी। कारख़ानों के छोटे होने से उनके मालिकों के हाथ में उतनी शक्ति भी नहीं रहेगी और बहुत से लाभ हो सकेंगे। कोई भी उत्साही नवयुवक परिश्रम करके स्वयं छोटा कारख़ाना खोल सकता है; किन्तु इस बड़े पुतलीघरों के युग में तो यह विचार स्वप्न-तुल्य ही है। अमरीका के सुप्रसिद्ध मोटर व्यवसायी हेनरी फोर्ड ने इस विचार को बड़े ही अच्छे शब्दों में प्रकट किया है। वे कहते हैं "We need instead of mammoth mills a multitude of smaller mills whereever it is possible, the section that produces raw materials ought to produce the finished goods. Where ever possible a policy of decentralisation in Industries ought to be followed (Henry Ford)" अर्थात् "हमको अब भीमकाय पुतलीघरों के स्थान पर छोटे छोटे कारख़ानों की आवश्यकता है और जहाँ तक सम्भव हो कच्चा माल और पक्का माल साथ साथ एक स्थान पर ही बने। अब समय आ गया है कि इस प्रश्न पर संसार को विचार करना ही होगा और पूंजीवाद का जो संसार पर इतना प्रभाव पड़ा है वह भी शनैः शनैः कम होगा। भारतवर्ष को इस ओर बहुत सावधानी से पग बढ़ाना चाहिए। ऐसा न हो कि जिस वस्तु को वह नष्ट कर चुका हो उसी वस्तु को फिर से जीवनदान देना पड़े। भारतवर्ष बहुत प्राचीन काल से (जिस समय कि इसकी औद्योगिक उन्नति का सिक्का समस्त संसार मानता

था, फोनीसियन, कारथेजियन लोग अरबी सौदागरों से भारत के माल को ख़रीद कर योरोप में मन माने मूल्य पर बेंचते थे) ही छोटे छोटे कारखानों का देश रहा है। यहां के मनुष्यों की प्रकृति भी इन्हीं कारख़ानों के अनुकूल है और यही कारण है कि भारतीय श्रमजीवी स्थायी रूप से मिल मज़दूर में परिणत नहीं हो गया, वह अब भी प्रतिवर्ष कुछ दिनों अपने गांव में जाकर अपने खेत इत्यादि का कार्य करता है। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि बड़े २ पुतलीघर बिलकुल ही न रहें। कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जिनको बनाने में बड़े पुतलीघरों की आवश्यकता अवश्य होगी किन्तु मनुष्य जीवन को सुखी शान्त और श्रेष्ठ बनाने में जितना छोटे कारख़ाने सहायक होंगे उतने बड़े कदापि नहीं हो सकते। जिन लोगों ने कलकत्ते की बस्तियां और बम्बई की चालों का निरीक्षण किया है, क्या क्षण भर के लिए उनके हृदय में यह विचार नहीं उठा कि हम मनुष्यता को नष्ट करके औद्योगिक उन्नति कर रहे हैं ? अब समय आ गया है कि भारतीय जनता को सावधान होना चाहिए। मेरे विचार में तो देश की आर्थिक स्वतंत्रता राजनैतिक स्वतंत्रता की आधार-भूत है। बिना आर्थिक स्वतंत्रता को प्राप्त किये राजनैतिक स्वतंत्रता स्वप्न-तुल्य है। किन्तु आवेश में आकर हमको वह कार्य नहीं करना चाहिए जिससे कि भविष्य में हम स्वयं अपना नाश कर लें। यह बात केवल महात्मा गांधीजी ने ही समझी है और यही कारण है कि वे तन, मन, धन से इस कार्य को कर रहे हैं। यद्यपि हम औद्योगिक उन्नति को इतना संकुचित तो नहीं कर सकते, फिर भी पश्चिमीय आदर्श तो हमारे लिए नितान्त हानिकारक हैं। भगवान् भारत की भूखी जनता को सुखी जीवन निर्वाह करने का सामर्थ्य दे, जिससे कि ये निर्धन भारतवासी पशु जीवन से ऊपर उठकर मनुष्य की भाँति तो रह सकें।

शंकरसहाय सक्सेना
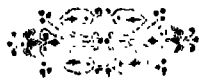
मृत मृग-शावक

(१)

जिसके कोमल अंगों में था,
नवजीवन रस का सञ्चार।
कूद-कूद कर जो था करता,
क्षण-क्षण में स्वातंत्र्य-प्रसार॥
कवि-कल्पना-कुञ्ज-प्रिय जो था,
लीलामय सागर का छोर।
अति सुन्दर आनन्द-धाम था,
मृदु शिशुओं की हृदय-हिलोर॥

(२)

आज वही मृग-शावक करता,
नहीं अहो! वन-बीच प्रमोद।
तान शान्ति की चादर लम्बी,
सोता हा! अनन्त की गोद॥
बड़ी-बड़ी आँखों की चितवन,
उसका कैसा भीरु स्वभाव!
पृथ्वीतल पर शर सा धावन,
उपजाता था सुखद प्रभाव॥

(३)

हाय, उन्हें तू ने क्यों छोड़ा,
बन्धन क्या था तुझ पर मीत?
छुटकारा पाने को बलि दी,
निज तन-धन की हो भय-भीत॥
शोक हुआ खो तुझ-सा प्यारा,
बहती नयनों से जल-धार।
सार मृगी-जीवन का जो था,
प्यासा सुप्त हुआ सुकुमार॥

गुलाबराय

देहात के काम

असहयोग आन्दोलन के ज़माने से देहात की ओर लोगों का ध्यान गया है। वे गाँवों का महत्व समझने लगे हैं। कितने ही सेवक गाँवों में काम करने लगे हैं और कुछ को अपने कार्य में सफलता भी मिली है। परन्तु बहुतों को असफल रहना पड़ा है।

इसके पहले सुशिक्षितों की दृष्टि देहात की ओर गई ही नहीं थी। पहले तो उनकी नज़र विदेशियों पर गड़ी हुई थी। इंग्लैन्ड की जनता को अनुकूल बनाने और सरकार को परिस्थिति समझाने में ही सारी शक्ति खर्च होती थी। बाद में दृष्टिकोण बदला—अपनों की फिकर पड़ी। लेकिन केवल शहरों और सुशिक्षितों तक ही वह चिन्ता सीमित रही। शिक्षित जन-समाज में राष्ट्रीय-आकांक्षा पैदा करनी चाहिए, इसी मतलब से सारा आंदोलन खड़ा किया गया था। असहयोग के ज़माने में लोकनेताओं का ध्यान देहात की ओर आकर्षित हुआ। फिर विधायक कार्यक्रम के अवसर पर गाँवों में जाने और वहाँ की जनता की सेवा करने की प्रत्यक्ष प्रेरणा जागृत हुई। आज जो थोड़ी बहुत सफलता दिखाई देती है, वह इसी प्रेरणा का फल है। इतने वर्षों के लम्बे अनुभव के बाद 'तेरा तेरे ही पास है, पर तू रास्ता भूल गया है' यह बात जँचने लगी। फिर भी काम की आरंभिक अवस्था के कारण कितने ही स्थानों पर ग्राम-सेवा का कार्य असफल ही रहा है।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं। प्रारंभ में तो ऐसा होगा ही। इसमें निराश होने की आवश्यकता नहीं। न निराश होने जैसी स्थिति ही है। क्योंकि कुछ स्थानों में ग्राम-व्यवस्था का नया कार्य-क्रम सफल भी हुआ है। इसके अतिरिक्त जिन प्रयोगों में असफलता का भास हुआ है, वह तो आभास-मात्र है। पत्थर फोड़ते समय प्रारंभ की कुछ चोटें निरुपयोगी मालूम होती हैं। परन्तु उनका कुछ न कुछ परिणाम तो होना ही है। इस जगह फोड़ा जाने वाला पत्थर देहात की जनता नहीं है, वह तो है शिक्षित जनता का परकीय हृदय।

अब कहीं हमें गांवों में जाने की सूझी है। परंतु गावों में आज भी हम अपने नागरिक ठाठ-बाट से जाना चाहते हैं। इसी कारण हमारा काम जमता नहीं। गाँवों में तो देहाती होकर ही जाना चाहिए। हमारी असफलता का प्रधान कारण यही है।

गाँवों में पहुँचा हुआ शिक्षित मनुष्य अभी तक देहाती नहीं बन सका है—वह तो आज 'परोपकार' की धुन लेकर वहाँ जाता है—वह यह बात भूल जाता है कि गाँवों में जाकर उसे भी बहुत-कुछ सीखना है। देहाती भाइयों के अज्ञान पर उसे तरस आता है। परन्तु खुद अपने अज्ञान का पहाड़ उसे नहीं दीख पड़ता। खुद मुझे क्या करना चाहिए इस बात को भूलकर वह दूसरों से काम लेने के फेर में पड़ जाता है। इस कारण वह उनसे दूर रक्खा रह जाता है।

(१) अपनी शिक्षित-अवस्था की आदतों को भुलाकर हमें गाँवों में जाना चाहिए।

(२) देहाती-भाइयों को कुछ सिखाने की इच्छा रखकर गाँवों में न जाना अच्छा है।

(३) खुद काम में जुट पड़ना चाहिए।

ये तीन महत्त्वपूर्ण बातें सदा हमारे ध्यान में रहनी चाहिएँ।

कई बार देखने में आया है कि अकेला आदमी किसी गाँव में जाकर रहने लगता है और जिस काम को वह अकेला—गाँव वालों की सहायता के बिना कर सकता था, उसे सारे गाँव में हलचल मचाकर भी नहीं कर सकता है। उसे तो अपने काम के पल-पल

का हिसाब रखना चाहिए। गाँव वाले उद्योगी मनुष्य की अधिक क़द्र करते हैं। जो शिक्षित मनुष्य देहात में गुरु बनने की इच्छा को छोड़कर रात दिन काम करने को जायगा—अपने काम में मग्न होकर अपने चरित्र की चौकीदारी करेगा वह अपने आप उस गाँव के लिए उपयोगी साबित हो सकेगा। और उसके आसपास मनुष्य इस तरह एकत्र रहेंगे जैसे आकाश में नक्षत्र। हिन्दुस्थान के गाँवों की जनता में कृतज्ञता है, और है गुणों की परीक्षा करने की पूरी-पूरी कुशलता।

ग्राम-संगठन और ग्राम-रचना का काम चारित्र्य बल के बिना असंभव है। गाँवों की जनता मनुष्य के चरित्र की जाँच उसके 'प्राथमिक' सद्गुणों से करती है। यही सच्ची कसौटी है भी। 'प्राथमिक' सद्गुणों से मतलब नीति के मूल-भूत सद्गुणों से है। उदाहरणार्थ आलस्य हीनता, निर्भयता, प्रेम इत्यादि। ऊपर से उपार्जित गुण जैसे वक्तृत्व, विद्वत्ता आदि का उपयोग गाँवों में बहुत कम होता है। देहात में काम करने वाले के हृदय में भक्ति का स्रोत और भाव का भंडार चाहिए। 'प्राथमिक' गुणों में यही श्रेष्ठ है।

परन्तु हम पवित्र-भावनाओं में अभी तल्लीन नहीं हुए हैं। हमारी निष्फलता का सबसे बड़ा कारण यही है। लोगों के अन्ध-विश्वास हममें न हों; परन्तु उनकी बहुमूल्य भावनायें तो हम में होनी ही चाहिएँ। परन्तु वे हम में नहीं रहतीं—हमें तो भजन से दिली नफ़रत होती है। ईश्वर का नाम लेते ही हमारे हृदय में भावना की बाढ़ नहीं आती। देव-धर्म-संत आदि के विषय में अनाड़ी जनता को ठीक ठीक कल्पना नहीं होती है। परन्तु उनके प्रति जो भक्ति-भाव जनता के हृदय में होता है वह सच पूछा जाय तो उन लोगों के हृदय में तो सौगुना अधिक होना चाहिए जिन्हें उनका यथार्थ ज्ञान है। परन्तु हमें तो ईश्वर और साधु-सन्तों का जरा भी ज्ञान नहीं रहता—इस बात की कल्पना से भी हम शून्य हैं, अगर कहीं थोड़ी हुई भी तो वह सारी की सारी विपरीत। ऐसी दशा में हमारा और जनता का हृदयैक्य होना कठिन हो जाता है। छूआछूत के समान जो विपरीत भावनायें जनता में धर्म के नाम पर रूढ़ हो गई हैं उन्हें उखाड़कर फेंकने का प्रयत्न उसी मनुष्य द्वारा सफल होगा, उसी को इसके लिए कोशिश करनी चाहिए, जिसके हृदय में जनता के हृदय की पवित्र-भावनाओं की प्रतिध्वनि हो। जनता की अच्छी भावना जिसमें नहीं है, वह उसकी अनुचित भावनाओं को कैसे दूर कर सकेगा?

लोगों की उचित भावनाओं में एक-रूप न हो सकना जैसे एक दोष है, उसी प्रकार दूसरे लोगों के दैहिक परिचय की विशेष आकांक्षा रखने का दोष हमारे कार्य में घातक होता है। जैसे-तैसे लोगों से खूब अच्छा परिचय हो जाय, इसके भगीरथ प्रयत्न में पड़ने से उद्दिष्ट कार्य बिगड़ जाता है। अति-परिचय की इच्छा के कारण लोगों के प्रति हमारे आदर की भावना शिथिल हो जाती है। लोगों के छोटे-मोटे सब व्यवहारों में बिना कारण दिलचस्पी लेते रहने से हम उनकी सेवा नहीं कर पाते। सेवक के लिए तो परिचय की अपेक्षा प्रेम और आदर अधिक आवश्यक हैं। लोगों से कम परिचय रखकर उनके प्रति आदर अधिक बना रहे तो वह सेवक के लिए सदा इष्ट ही है।

परन्तु लोगों से अधिक परिचय होने की आवश्यकता हमने अच्छे-अच्छे सेवकों के मुँह से सुनी है। इस विचार के मूल में अहंकार की सत्ता है। सेवक को सेवा-वृत्ति की मर्यादा को जान लेनी चाहिए। हम कोई पारस पत्थर तो हैं नहीं कि किसी का हम से कैसा भी संबन्ध हो, हमारी संगति-मात्र से वह सोना बन जाय। सेवा के कारण लोगों से जितना परिचय हो जाय उतना ही इष्ट है। परन्तु परिचय के साधनों को खोज खोजकर प्राप्त करना सेवक के लिए जरूरी

नहीं है। सच्चे सेवक के पास सेवा-काम अपने आप चला आता है, उसे अवसर नहीं खोजना पड़ता। एक ओर शारीरिक परिचय बढ़ावें और दूसरी ओर मन में जनता के प्रति अनादर की मात्रा बढ़ाते जावें, यह कभी इष्ट नहीं।

इसके सिवाय हमारा एक और दोष है वह है अपने त्यागभाव की स्मृति। हम थोड़ा बहुत त्याग करते हैं परन्तु त्याग का ज्ञान उसकी महत्ता को मिटा देता है। अपने त्याग द्वारा हम किसी पर उपकार नहीं करते। फिर हमारा 'त्याग' शहर में भले ही 'त्याग' माना जाता हो, पर देहात में तो उसकी कोई भारी कीमत नहीं है। देहात में तो बड़े भारी त्याग की जरूरत रहती है। स्वयं गाँवों की जनता मजबूरन् ही सही, बड़े त्याग-पूर्वक रहती है। उसकी तुलना में हमारा त्याग बड़ा नहीं ठहरता और फिर उसकी भी स्मृति हमें रहती है इससे लोक-सेवा अच्छी तरह नहीं हो पाती। इन दोषों को दूर कर देने पर हमारा देहात का काम कभी असफल न होगा।

विनोबा

ओ मतवाले !

ओ सत्ता-मद के मतवाले !

कहता है जिन प्रासादों को तू अपना सुख-सार।
रक्खा है दीनों के शोणित में उनका आधार॥
है जिस द्रुत-गामी वाहन पर तुझको इतना मान।
गूँज रहा है सुन उसमें भी सन्तप्तों का गान॥
इठलाता है जिसे बना कर अपना अन्नागार।
उठता है उसके कण कण से कृषकों का उद्गार॥
जिस भू-सम्पति को कहता है अपनी ही हर बार।
है उस पर सच पूछो तो इन दीनों का अधिकार॥

—दिव्य कवि

भारतीय सिक्कों का इतिहास

मानव समाज की सहूलियत और सरलता की दृष्टि से मुद्रा—सिक्का—अपना एक विशेष स्थान रखता है। यह मूल्य का मान, लेनदेन का माध्यम और व्यापारिक उन्नति का आधार है। जिस देश में जितना ही उत्तम सिक्का होगा वह देश उतना ही अधिक समृद्ध उन्नति-शील, व्यवसाय-प्रधान और सभ्य होगा। वर्तमान समय में चीन और भारत के सिवा प्रायः संसार के सभी राष्ट्रों में उत्तम-सोने का—सिक्का प्रचलित है। भारत को अपनी परतंत्रता के कुफल-स्वरूप अन्य बातों के साथ, सिक्के के मामले में भी विवश होकर अपने भाग्य को कोसना पड़ता है। इसे अपने गौरांग प्रभु के कारण ही सोने के सिक्के को त्याग कर मजबूरन् चाँदी के सिक्के को अपनाना पड़ा। दस आने की चीज देकर हम से सोलह आने वसूल किये जाते हैं। और इसके समर्थन में यह कहा जाता है कि यह बचत—मुनाफा—भारतीयों ही के हित के लिए है और वह यहीं रहेगा भी। पर वास्तव में वह इंगलैण्ड के लखपतियों को ही करोड़पति बनाने के काम में लगाया जाता है। स्वार्थियों ने अपने लाभ के सामने भारतवर्ष का कुछ भी ख्याल नहीं किया। अपरिमित राशि में रुपये ढाले गये और फल स्वरूप आज यहाँ वस्तुओं के मूल्य इतने बढ़ गये हैं कि त्राहि-त्राहि मची हुई है। इन्होंने भारतीयों को गुलाम, निर्धन और दरिद्र बनाने के लिए जहाँ और अनेक चालबाज़ियाँ कीं, वहाँ सिक्के-सम्बन्धी गुलामी के तौक़ को भी हमारे गले में डालने से ये बाज़ न आये; हमें पंगु, दुब्बू और चुप्पा बना दिया तथा ढूँढ ढूँढ कर, चूस चूस कर भारत के कोने-कोने से सोने की अनन्त राशि ले जाकर लन्दन को कंचनमय बनाने लगे।

आज भारत पर-मुखापेक्षी होने के कारण चाँदी के नकली सिक्के से मजबूरन् अपना काम चला रहा है। पर दुनिया जानती है कि हजारों वर्षों से यहाँ सोने का सिक्का चलता आ रहा था। संसार के वर्तमान सभ्यताभिमानी राष्ट्र जब जंगलों में सियारों की माँद में वनमानुषों की नाँई

रहते थे, जिस समय उन्हें यह भी पता न था कि सिक्का क्या चीज़ है, भारतवर्ष में उस समय भी सोने का सिक्का प्रचलित था। लोग उसे अच्छी तरह व्यवहार में लाकर, आमन्त्रित होने पूर्व अपने रोज़मर्रा के लेनदेन और व्यापार में उसके उपयोग द्वारा सुखमय जीवन व्यतीत करते थे। *ऋग्वेद में 'निष्क,' 'रजत,' 'हिरण्य' आदि शब्द अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुए हैं और †अथर्ववेद में 'निष्क' बहुवचन में आया है, जो स्पष्टतया सिक्के का परिचायक है। इसी प्रकार तैत्तरेय आरण्यक आदि में भी 'हिरण्य' का वर्णन मिलता है। रामायण और महाभारत-काल में विनिमय का काफ़ी विकास हो चुका था और सोने, चाँदी तथा तांबे (अधिकांश में सोने के) के सिक्के प्रचुर परिमाण में प्रचलित पाये जाते थे—मनु के ज़माने में भी सिक्के बनाये जाते थे। सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ईरान को भारत से ही सोने के सिक्कों में राज्य-कर मिलता था। कौटिल्य‡ ने सिक्कों का वर्णन करते हुए लिखा है कि "टकसाल के अधिकारी को उचित है कि वह ऐसी चाँदी के सिक्के बनावे, जिसमें चार भाग ताँबा और एक माशा, लोहा, टीन अथवा शीशा हो। एक पण, अर्द्ध पण, चतुर्थ पण और अष्ट पण ये सिक्के होंगे। इनके अतिरिक्त चिन्हदारी "सिक्कों" का भी वर्णन है, जिनमें चार भाग चाँदी, ग्यारह भाग ताँबा, एक भाग अन्य कोई धातु रहती थी। ये सिक्के माशक, अर्द्ध माशक, काकनी और अर्द्ध काकनी कहलाते थे। सिक्कों के निरीक्षक को ऐसे नियम बनाने पड़ते थे, जिनकी बदौलत वे विनिमय का माध्यम हो जाते थे और साथ ही कोष में जमा किये जाते थे। कौटिल्य के लेखानुसार उस समय का मुख्य सिक्का 'पण' जान पड़ता है, जो सोने का होता था। सर डब्ल्यू इलियट ने बहुत छानबीन के बाद उक्त 'पण' की कीमत आधुनिक १) (एक रुपया) के बराबर निश्चित की है। नागोद राज्य के भरहुत स्तूप,= बोधगया के महाबोधि *मन्दिर तथा त्रिपिटक† से भारत में सोने के सिक्कों का प्रचुर परिमाण में पाया जाना प्रमाणित होता है। मथुरा की वासवदत्ता‡ नामक वेश्या ५०० 'पुराण' लेकर आत्मविक्रय करती थी। गुप्त-काल में सोने का सिक्का प्रचुरता के साथ प्रचलित था। उस समय के बहुत से सोने के सिक्के मिले हैं और जो देखना चाहें, इस समय भी लखनऊ म्यूज़ियम (अजायबघर) में जाकर देख सकते हैं। भिन्न भिन्न नगरों की खुदाई में जो भी 'निगम' ÷ (व्यापारिक समिति) के सिक्के मिले हैं, वे इस बात के बोधक हैं कि प्राचीन काल में सिक्का बनाने का काम सरकार का नहीं बल्कि देश के साहूकारों एवं व्यापारियों या व्यापार-समितियों का था—दरअस्ल यह बात ठीक भी प्रमाणित हो चुकी है।

यह तो प्राचीनकाल की सुवर्ण-मुद्राओं के सम्बन्ध में हुआ। इसके बाद अंग्रेजों के यहाँ आने के समय तक भी सोने का सिक्का बराबर प्रचलित रहा है, जैसा कि आगे के विवरण से मालूम होगा। प्राचीन समय में यह बात भी नहीं थी, कि केवल सोने ही के सिक्के चलते थे, बल्कि चाँदी, ताँबा आदि अन्य धातुओं के भी सिक्के प्रचलित थे। पर मालूम होता है कि कानूनन ग्राह्य (Legal tender) केवल सुवर्ण-मुद्रा ही थी और चाँदी, ताँबा आदि धातु की मुद्रा में छोटे छोटे कामों के लिए 'लाक्षणिक मुद्रा' (Token money) के तौर पर चलती थीं, जैसा कि चाहिए भी। यह भी संभव है कि चाँदी की मुद्रा भी एक निश्चित संख्या तक कानूनन् ग्राह्य होती रही हो। चाँदी के सिक्कों के चलन के भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनमें दो-एक यहाँ दिये जाते हैं। तक्षशिला के राजा अम्भि ने सिकन्दर को चाँदी के ८० सिक्के दिये थे। ये सिक्के चाँदी के मुहरदार, चपटे और

* ऋग्वेद—२—३३—१०। ८—४—१४।१—१२६—२ आदि

† अथर्ववेद ५—१४—३। १६—४३—४। ७—१०४ ११ आदि

‡ कौटिल्य अर्थशास्त्र आधिक अध्याय ३८। प्रक०५२—५३

= Cunnigham Stupa of Bharhut P, 48, R. I. A, LVII

*Cunnigham mahabodhi P. 13, Pl VIII

† त्रिपिटक

‡ Cunnigham coins of ancient India P. 20.

÷ Rapson's Indian coins P. 3.

वर्गाकार टुकड़े होते थे। श्री रैपसन का मत है कि यह सिक्का सारे हिन्दुस्तान में प्रचलित था। काशगर नगर में जो सिक्के मिले हैं, उन पर एक ओर भारत की प्राकृत भाषा में तथा दूसरी ओर चीनी भाषा में कुछ लिखा है। इसी प्रकार पंजाब में प्राप्त सिक्कों पर भी ब्राह्मी और ग्रीकभाषा में कुछ लिखा पाया जाता है। मौर्य राजाओं के समय का कसकुट का सिक्का भी मिला है; पर उस पर कुछ लिखा नहीं है, (अथवा वह इतना घिस गया है कि कुछ पता ही नहीं चलता) राजा क्रीसस का भी सिक्का बन्नू जिले (सीमा-प्रान्त) में मिला है, जो कि आजकल सद्यः पुष्करिणी गाँव के जमींदार राय श्री मृत्युञ्जय चौधरी के पास है।* इतना विवरण पढ़ने के पश्चात् पाठकों को मालूम हो जायगा कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के सिक्के की क्या स्थिति थी और उस समय देश का व्यापार कितना उन्नत था।

मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में आकर कई प्रकार के सिक्के प्रचलित किये। इन्होंने सोने के सिक्के का नाम 'दीनार', चाँदी के सिक्कों का नाम 'दिरहम' और तांबे के सिक्के का नाम 'फालूस' रखा। मुसलमानों में अपने नाम का सिक्का चलाना पूर्ण स्वाधीनता और अबाध्य राज्य-सत्ता का चिह्न समझा जाता था, और इसीलिए शहाबुद्दीन गोरी आदि विजेताओं ने अपने अपने नाम के अलग अलग सिक्के चलाये। पर विजय-चिह्न स्वरूप माने जाने के कारण प्रायः उनसे सिक्के का वास्तविक काम न निकलता था तथा उन्हें और प्रजा को स्थानीय पुराने सिक्के से ही काम चलाना पड़ता था। इन सिक्कों पर शुरू में नागरी लिपि में ही और फिर अरबी लिपि में कुछ लिखा जाता था और एक ओर लक्ष्मी या भारतीय घुड़सवार का तथा दूसरी ओर देहली या स्थानीय शासकों का चित्र रहता था। इन सिक्कों का वजन (सोने का) ९३ ग्रेन और (चाँदी का) १३३ ग्रेन पाया गया है। ये सिक्के गोलाकार हैं। उपर्युक्त 'दीनार' और 'दिरहम' के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि ये सिक्के यहाँ नहीं बनते थे, बल्कि अरब ही के बने हुए होते थे। ऐसा होना कुछ असम्भव भी नहीं। ऐसी हालत में मुसलमान राजा विजय-चिह्न-स्वरूप जो सिक्के बनवाते रहे होंगे, संभवतः उनके ये नाम नहीं होते होंगे। इसके बाद देहली वाले सिक्कों का पता चलता है, जिन्हें 'तनकह' कहते थे और जिनका वजन १६८ से १८० ग्रेन तक होता था।

हिन्दू राजत्व-काल के बाद अलतमश को ही भारत में चाँदी के सिक्कों का प्रवर्तक कह सकते हैं। उसने सोने और तांबे के भी सिक्के बनवाये थे। उसने चाँदी के सिक्कों के जो परिमाण, तौल और शुद्धता निश्चित की, लगभग १०० वर्ष तक वह वैसी ही बनी रही। उसके बनवाये सोने के सिक्के आकार-प्रकार, वजन आदि में 'तनकह' के ही समान थे। उसने ताँबे के जो सिक्के बनवाये वे थोड़े थोड़े मूल्य (नकली सिक्के के तौर पर) के थे और संख्या में बहुत थे। 'तनकह' सोने और चाँदी दोनों ही धातुओं के और तौल में एक तोला होते थे। चाँदी का एक 'तनकह' ५० 'जितल' के बराबर होता था। ['जितल' एक छोटासा ताँबे का सिक्का था, जिसका वजन कोई कोई एक तोला और कोई कोई आजकल के पैसे के इतने (७ माशा) तौल का बतलाते हैं।] अलतमश का निश्चित किया हुआ मूल्य अलाउद्दीन खिलजी के समय तक जारी रहा। पर अलाउद्दीन ने 'तनकह' को (जो चाँदी का था) १८० से १४० ग्रेन का करके उसका नाम 'आदल' रख दिया। 'तनकह' के मूल्य-परिवर्तन का कोई असर न पड़ने पावे इस लिए उसने वस्तुओं का मूल्य निश्चित कर दिया और इस प्रकार उतने ही सिक्के में सभी चीजें पूर्ववत् परिमाण में मिलती रहीं। इस सिक्के का उसके समय तक काफी प्रचार रहा।

भारतीय सिक्कों के इतिहास में अलतमश के बाद महम्मद तुग़लक का नाम उल्लेखनीय है। इसने तत्कालीन सिक्कों में बहुत-कुछ सुधार किया। इस समय के सिक्कों का हाल इब्न बतूताह और शेख मुबारक बिनमुहम्मद अनवार्ता नामक दो मिश्री यात्रियों के यात्रा-विवरण से मिलता है। इनके वर्णन के अनुसार उस समय (१४ वीं सदी—महम्मद तुग़लक का समय) के सिक्कों का मानक्रम इस प्रकार था:—

उस समय के सिक्के		वर्तमान काल के
१ कानी	= १ जितल	= १ पैसा
२ कानी	= १ सुल्तानी	= आध आना

* Coins of Ancient India P. 3.

२ जुल्तानी = १ शशकानी = डेढ़ आना
४ जुल्तानी = १ अष्टकानी = दो आना
६४ कानी = १ तनकह (१७५ ग्रेन शुद्ध चाँदी = १) (एक रुपया)
¼ कानी = १ दमड़ी अर्थात् १ तनकह = २५६ दमड़ी

महम्मद तुग़लक ने अलाउद्दीन के 'आदर्श' सिक्के को भी प्रचलित किया, साथ ही २०० ग्रेन का सोने का 'दीनार' नाम का सिक्का भी चलाया, पर इसका प्रचार बहुत कम हुआ। उसने सोने और चाँदी के सिक्कों का पारस्परिक अनुपात कुछ निश्चय न करके क्रय-विक्रय के साधारण सिद्धान्त पर ही छोड़ दिया, जिससे परस्पर के लेन-देन और वस्तुओं के मूल्य मापने में बड़ी गड़बड़ी होती थी। उस समय सर्वसाधारण में ताँबे का ही सिक्का अधिक प्रचलित था, क्योंकि चाँदी कम पायी जाती थी और लोग सोने का प्रायः ज़ेवर बनवा लेते थे। इन कारणों से मूल्य सदा अस्थिर रहता था। इससे वाणिज्य-व्यवसाय में भी धक्का पहुँचता था। पर, ऐसी अस्थिरता और अनिश्चितता होते हुए भी पता चलता है कि साधारण तौर से उस समय सोने और चाँदी का अनुपात १: ८ और १: १० ही रहता था।

भारतीय सिक्कों के इतिहास में शेरशाह को तीसरा स्थान प्राप्त है। उस समय सिक्कों में बहुत प्रकार की ख़राबियाँ आ गई थीं और उससे चालाक लोग बेजा फायदा उठाते थे। अस्तु, उसने इन सब बुराइयों को दूर किया, टकसालों में सुधार किये, नये नये सिक्के फिर से बनवाये और ताँबे तथा चाँदी एवं चाँदी और सोने का पारस्परिक अनुपात फिर से निश्चय किया। इन सब सुधारों के कारण आगे के मुग़ल बादशाहों—ख़ासकर, अकबर को जिसने सिक्कों के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सुधार किये, बड़ी मदद मिली। शेरशाह के बाद मुग़लों में अकबर का ही नाम सिक्कों के सम्बन्ध में लिया जा सकता है और इस सम्बन्ध में इन दोनों व्यक्तियों का ज़िक्र 'आइनेअकबरी' में मिलता है। आजकल का रुपया, 'रुपये' के नाम से (चाँदी की धातु का) शेरशाह ही ने पहले-पहल १५४२ ई० में चलाया था। शेरशाह का रुपया ११¼ माशे का था।

अकबर के समय में शाहंशाही मुहर, राह, आत्माह, बिनसात, चहारगोशह, जुगल, इलाही, आफ़ताबी, लाल जलाली, आदि अनेक वज़न और विभिन्न मूल्य के अनेक सोने के सिक्के प्रचलित हुए। इसी प्रकार चाँदी के भी विभिन्न प्रकार के सिक्के ढाले गये। ताँबे के भी सिक्के प्रचलित थे और वे ही विनिमय के मूल साधन माने जाते थे। ये एक रुपये में ४० आते थे। अधेला, पौवा, दमड़ी आदि भी होते थे। उपर्युक्त सोने के 'शाहंशाही' आदि बड़े बड़े सिक्कों के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञात होता है कि वे तमग़े की तरह होते थे और नित्य व्यवहार में न आकर ख़ास ख़ास मौक़ों पर जब बड़ी बड़ी रक़में दरकार होती थीं, तभी व्यवहार में आते थे। उस समय ताँबे के सिक्के की अधिक प्रधानता दीखती है और इस प्रकार सिक्का-चलन की इकाई वही थी ऐसा मालूम होता है। क्योंकि सभी सिक्कों का मूल्य—दाम [ताँबे का सिक्का] के ही रूप में दिया जाता था। तथा मालगुज़ारी और राजकीय व्यय में भी इन्हीं का उपयोग होता था। अकबर के ज़माने की मुद्राप्रणाली से यह भी ज्ञात होता है कि लोगों से टकसालों में मुद्रा ढलाई का ख़र्च लिया जाता था और वह लगभग ६॥ प्रतिशत होता था। मुग़लों के समय में सिक्के ढालने का बहुत अच्छा प्रबन्ध था। सोने के सिक्के आगरे, अहमदाबाद, काबुल और बंगाल में तथा चाँदी के सिक्के इनके सिवा १४ और स्थानों में और ताँबे के सिक्के इन सबों के सिवा अन्य २८ स्थानों में ढाले जाते थे।

अकबर के बाद के मुग़ल बादशाहों ने सिक्का-चलन में कोई परिवर्तन नहीं किया और अकबर के चलाये हुए ढँग को ही सबने क़ायम रहने दिया। अकबर के समय में तथा उसके बाद भी मुग़ल-साम्राज्य का विस्तार सारे भारतवर्ष में रहा और इस कारण सारे भारतवर्ष में सिक्के भी एक ही प्रकार के चलने लगे। परन्तु इस प्रकार उन प्रान्तीय सिक्कों का, जो मुग़ल-साम्राज्य के विस्तार पूर्व विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित थे, अस्तित्व बिलकुल मिट भी नहीं गया। मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद फिर भिन्न भिन्न राजाओं ने अपनी अपनी स्वतंत्र टकसालें खोलीं और अलग अलग अपने सिक्के ढालना आरंभ कर दिया। फल-स्वरूप हमें पता

लगता है कि अँग्रेज़ी राज्य के श्री गणेश के समय [अठारहवीं सदी में] हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों में ९९४ तरह के सिक्के प्रचलित थे। इनमें १२१ तरह की सोने की मुहरें, ६३ तरह के दक्षिण भारत के सोने के सिक्के 'होन' (इसे 'पैगोडा' भी कहते थे), ५८० प्रकार के चाँदी के रुपये और २१४ क़िस्म के विदेशी सिक्के व्यवहार में आते थे। इस विभिन्नता के कारण सिक्कों का एक वजन और कोई अनुपात निश्चित नहीं हो सकता था। और इस प्रकार औरंगजेब की मृत्यु [१७०७ ई०] से लेकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के रुपया बनने के काल [१८३५ ई०] तक भारतीय सिक्कों का इतिहास महा अंधकारमय एवं असम्बद्ध है और उसके विषय में सिलसिलेवार एवं निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं लिखा जा सकता। हाँ, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि १८३५ ई० के पूर्व सारे भारतवर्ष में सोने और चाँदी के सिक्के खूब प्रचलित थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १७१७ ई० में बम्बई में, १७४२ ई० में मद्रास में और १७५७ ई० में कलकत्ते में मुग़लों से सिक्के बनाने का अधिकार ले लिया। इसके पूर्व अँग्रेज़ों ने १६७० एवं १७५१ ई० में स्वयं कुछ सिक्के बनवाये थे, जिनका प्रचार बहुत कम हुआ और मुग़लों से यह अधिकार प्राप्त हो जाने पर अपनी टकसालों में वे मुग़ल-सिक्के ही बनवाने लगे।

उस समय तीन प्रकार के रुपये प्रचलित थे। एक तो 'सिक्का रुपया' जो उत्तर भारत और बंगाल में चलता था, दूसरा 'सूरत का रुपया' जो बम्बई प्रेसीडेन्सी में चलता था और तीसरा 'आरकाटी रुपया' जो मद्रास में प्रचलित था। इनके बाद कलकत्ता सिक्का और फर्रुखाबादी सिक्का नाम के दो और प्रकार के सिक्कों का भी उल्लेख पाया जाता है। पर इनके वजन और मूल्य का ठीक ठीक पता नहीं चलता। १८०६ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स ने भारत आदि पूर्वी देशों में एक ही प्रकार का सिक्का चलाने का विचार किया, और मद्रासी सिक्के को चलन से हटा कर नया सिक्का प्रचलित किया। इस नये सिक्के का वज़न १८० ग्रेन था, जिस में ११/१२ शुद्ध चाँदी थी। इस सिक्के का मूल्य ३॥ अर्थात् ३½ रुपया उस समय दक्षिण भारत में प्रचलित 'पैगोडा' नाम के एक सोने के सिक्के के बराबर होता था। कम्पनी वालों ने १८०६ ई० में भारत तथा अन्य एशियाई उपनिवेशों में एक ही प्रकार का सिक्का चलाने का निश्चय तो किया, पर उस समय यह विचार कारगर न हुआ। अन्त में १८३५ ई० के क़ानून के अनुसार समस्त भारतवर्ष में एक ही प्रकार का चाँदी का ही सिक्का क़ानूनन् ग्राह्य (Legal tender) कर दिया गया और सोने का सिक्का क़ानूनन् ग्राह्य न रहा। सोने के सिक्के का मूल्य क़ानून से निश्चित करने के बजाय, ख़रीदारों की इच्छा पर छोड़ दिया गया। नयी मोहरें ख़ज़ानों में ली जाती थीं; पर बाज़ार दर के अनुसार। इस समय से जो चाँदी का रुपया चला वह वजन में १८० ग्रेन का बनने लगा। इसमें ११/१२ शुद्ध चाँदी होती थी। इस समय १) के सिवा २) और ॥) के सिक्के भी क़ानूनन् ग्राह्य थे। १८३५ ई० में १), ५), १५) और ३५) के अर्थात् चार प्रकार के सिक्के ढाले गये, परन्तु गवर्नमेण्ट की इच्छा यही थी कि १) के सिक्के की ओर ही लोगों का झुकाव बढ़े और अन्त में वही हुआ। ऊपर जिस 'कलकत्ता सिक्का,' का ज़िक्र किया गया है वह १९२ ग्रेन का होता था, बाद को उसका प्रचार बन्द हो गया।

१८३५ ई० से रुपया चलने लग गया तथा सोने के सिक्के का चलना बन्द हो गया: पर १८४१ ई० में गवर्नमेण्ट ने एक क़ानून द्वारा निश्चय किया कि सोने की मुहर क़ानूनन् ग्राह्य न होते हुए भी गवर्नमेण्ट के तथा सार्वजनिक ख़ज़ाने में १५) में ले सकते हैं। पर सोने के सिक्के ढाले नहीं गये, जिसके फल-स्वरूप ४-५ वर्षों में ही सोने की मुहर बिलकुल अदृश्य होगई। इसी बीच आस्ट्रेलिया और कैलिफोर्निया (अमेरिका) में सोने की खानें न निकलीं और सोने की दर कुछ गिरने ही लगी थी कि १८५२ में गवर्नमेण्ट ने अपना १८४१ ई० का क़ानून रद्द कर दिया। इस प्रकार सोने के सिक्के की चलन बिलकुल बन्द होगई।

इसके बाद १८७४ से १८९३ तक भारत में तथा संसार के अन्य राष्ट्रों में भी सोने चाँदी के मूल्य निर्धारण, द्विधात्वीकरण आदि के सम्बन्ध में बड़ा आन्दोलन चलता रहा। भारत के रुपये की विदेशी विनिमय-सम्बन्धी दर निश्चित करने में महा कशमकश चलता रहा। गवर्नमेण्ट बड़ी उलझन में पड़ी रही। पर सफलतापूर्वक कुछ भी निश्चय न हो सका।

यहाँतक कि भारत के १२००० आदमियों (जिनमें ५००० यूरोपियन भी थे) के हस्ताक्षर कराकर इंगलैण्ड को एक आवेदन-पत्र भी भेजा गया कि भारत में सोने का सिक्का प्रचलित किया जाय, पर कुछ न हुआ। अन्त में १८९२ ई० में हर्शेल कमीशन नियुक्त किया गया और उसकी रिपोर्ट के अनुसार भारत में १८९३ में टकसालें बन्द कर दी गईं, जिससे रुपये की कृत्रिम अभिवृद्धि हुई। गवर्नमेण्ट की इच्छा थी कि रुपये की कीमत बढ़े और इसीलिए रुपये का ढालना यहाँ बन्द भी कर दिया गया; तथा ६ वर्ष बाद १८९९ ई० में रुपये का मूल्य १ शि० २ पेन्स से बढ़कर १ शि० ४ पेन्स हो ही गया। सरकार यही मूल्य निश्चित करना चाहती थी। अब इसके अनुसार १ पौण्ड में पन्द्रह रुपये और १५ रुपये में १ पौण्ड लिया-दिया जाने लगा। यहाँ पर पाठकों को यह भी जान लेना चाहिए कि१८९३ई० से रुपया प्रामाणिक सिक्का (अर्थात् जितना उसका मूल्य हो उसमें की धातु की कीमत भी उतनी ही हो) न रहा और वह एक विचित्र प्रकार का सिक्का हो गया, जो न तो प्रामाणिक सिक्का (Standard coin) कहला सकता है न तो नकली सिक्का (Token coin)।

मुद्राप्रणाली की इस व्यवस्था से सरकार की अपनी विदेशी विनिमय-सम्बन्धी उलझन तो सुलझ गई, पर भारतवर्ष को बड़ा घाटा सहना पड़ा। और इससे देश भर की समस्त चाँदी की कीमत में लगभग ३० फ़ी-सदी कमी आगई अर्थात् पहले १०० तोले चाँदी के जहाँ १०६ रुपये बन सकते थे, उतने ही के अब केवल ७० बनने लगे। सरकार के इस निर्णय से देश के उद्योग-धन्धे और वाणिज्य-व्यवसाय को भारी धक्का लगा।

सन् १८९८ ई० में मुद्रा-सम्बन्धी जाँच पड़ताल के लिए हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में एक दूसरी समिति बैठी और इसके प्रस्तावनुसार १८९९ ई० में सावरिन् भारत का प्रचलित सिक्का बना दिया गया। अगले वर्ष अर्थात् १९०० ई० में भारत के अर्थ-सचिव ने यह घोषणा की कि शीघ्र ही बम्बई में सोने की टकसाल भी खोल दी जायगी। परन्तु विलायत के प्रभुओं को यह भला कैसे मंजूर होता? उन्होंने इसका तीव्र विरोध किया और १९०३ ई० में टकसाल भी खोलने का प्रस्ताव एकदम रद्द होगया। इसके बाद से अबतक बराबर इंगलैण्ड में होम-चार्जेज़, वाणिज्य व्यवसाय या अन्य विविध मदों में रकमों को चुकाने के लिए 'कौंसिल बिलों' (सरकारी हुंडियों) का प्रयोग किया जाता है।

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि वर्तमान प्रचलित रुपये में चाँदी केवल लगभग दस आने ही की है। अर्थात् प्रत्येक रुपये में सरकार को लगभग छः आने का मुनाफा है। अस्तु, १९०० ई० में विनिमय दर को स्थिर रखने के अभिप्राय से 'गोल्ड स्टैण्डर्ड रिज़र्व' (Gold standard Reserve) की स्थापना हुई। भारत के रुपये को चाँदी का और साथ ही नकली सिक्का (Weak Money) होने के कारण दूसरे देश वाले उसे नहीं लेते और इसलिए हमें दूसरे देशों से लेन-देन करते समय रुपयों को पौण्ड में बदलकर व्यवहृत करना पड़ता है और चाँदी की दर की कमीबेशी के साथ विनिमय की दर भी सदा घटती-बढ़ती रहती है। इसी कमीबेशी को स्थिर रखने—अर्थात् रुपये और पौण्ड का पारस्परिक मूल्य ठीक रखने—के लिए, इस कोष से काम लिया जाता है। भारत-सचिव के पास इंगलैंड में और भारत-सरकार के पास हिन्दुस्तान में एक स्थाईकोष रहता है। उसके द्वारा हुँडियों का रुपया भुगतान किया जाता है तथा हुंडियों की बिक्री या रुपया जमा होता है।

१९०३ ई० के बाद से समय समय पर भारत में सोने का सिक्का प्रचार करने और टकसाल खोलने के लिए उद्योग होता रहा। दो-एक बार भारत-सरकार ने इसे स्वीकार भी कर लिया, पर इंगलैंड के लखपतियों और करोड़पतियों के दबाव से भारतीयों को सुवर्ण के सिक्कों के दर्शन का सौभाग्य भी प्राप्त नहीं होने दिया गया। पर, गत महासमर के समय सरकार को स्वयं मुँह की खानी पड़ी। आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर १९१८ ई० में उसने बम्बई में सोने की टकसाल खोल दी। वह लंदनी टकसाल के अधीन समझी गई। पर युद्ध समाप्त होते न होते अप्रैल १९१९ ई० में वह फिर बन्द कर दी गई। इस बीच उसमें २१,१०,०४० मोहरें और १२,९५,००० सावरेन ढाले गये।

युद्धकाल में चाँदी की कीमत खूब बढ़ती गई। साथही

भारत का माल इंगलैण्ड तो पर्याप्त परिमाण में गया, पर, वहाँ से यहाँ बहुत कम माल आया। साथ ही आवश्यकतानुसार चाँदी न मिलने के प्रभाव से, उसकी क़ीमत बढ़ गई और इस कारण कौंसिल बिलों की दर बढ़ानी पड़ी। यह दर यहाँ तक बढ़ी कि १ अगस्त १९१७ को जिस एक रुपये के बदले में सिर्फ़ १ शि० ५ पे० मिलते थे, १ फरवरी १९२० ई० को उसी एक रुपये के बदले २शि० ८½ पेन्स तक मिलने लगे थे! विनिमय दर की इस गड़बड़ी को देख कर सिक्के की समस्या को सुव्यवस्थित करने एवं सुलझाने की दृष्टि से सन् १९१९ ई० में फिर एक करेन्सी-कमेटी नियत की गई। इस कमेटी के सदस्यों में श्रीयुत दलाल के सिवा सभी अंग्रेज़ी सदस्य थे। समिति की जाँच के बाद जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई उसमें श्रीयुत दलाल ने अपना मत अलग प्रकट किया, पर सभी अंग्रेज सदस्यों का मत एक रहा। फलतः भारत-सचिव ने श्रीदलाल की बात नहीं मानी और-बहुमत—अंग्रेजों—की सम्मति अंशतः मानी गई। उसके अनुसार सावरेन का कानूनी भाव दस रुपया कर दिया गया और सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन के बदले में रुपया देना बन्द कर दिया गया। इनके सिवा कुछ अन्य परिवर्तन भी हुए।

यह कमिटी नियत हुई थी भारतीयों का हित करने के लिए, परन्तु इसने और भी गज़ब ढा दिया और इस प्रकार हमारे भारत के हित-चिन्तकों—अंग्रेजों—ने, भारतीय हित की डींग मारते हुए जो चाहा किया। कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति यह स्वीकार किये बिना न रहेगा कि इस परिवर्तन से भारतवर्ष को लाभ की अपेक्षा हानि कहीं अधिक उठानी पड़ी। इसमें सन्देह नहीं कि इंगलैण्ड की वस्तुयें मंगाने में यहाँ के व्यापारियों को कुछ लाभ हुआ, परन्तु मेशीन आदि चीज़ों के सिवा वहाँ की अन्य बहुत सी चीज़ों के सस्ता हो जाने से उनकी खपत यहाँ बढ़ गई और फल-स्वरूप देश के उद्योगधन्धों को बहुत धक्का पहुँचा। भारतवर्ष में उद्योग-धन्धों के काफ़ी उन्नत न होने के कारण हम इंगलैण्ड के सस्ते माल की प्रतियोगिता में अपना माल सस्ता नहीं बेच सकते—उनके साथ ठहर नहीं सकते। इस प्रकार यहाँ वालों को सस्ता माल बनाकर देशी कलाकौशल को उन्नत करने का मौक़ा ही नहीं मिलता। सरकारी पक्ष वाले यह भी कहते हैं कि होमचार्जेज़ के रूप में जो रकम इंग्लैण्ड जाती है, इस परिवर्तन से प्रतिवर्ष उस में १२-१३ करोड़ की बचत हुई, पर उसके बदले यहाँ के सरकारी कोषों में हुंडियों के भुगतान आदि के लिए जो रक़में थीं, उनका मूल्य भी तो घटकर दो-तिहाई मात्र ही रह गया; जिससे एक साथ ही लगभग ४०) करोड़ का नुकसान हो गया; इसे वे क्यों भूल जाते हैं? इसके साथ ही देश के अन्य व्यक्तियों का निजी तौर पर जो घाटा हुआ, सो तो अलग।

भारतवर्ष के उद्योग-धन्धे, वाणिज्य-व्यवसाय को मुद्रा सम्बन्धी कुव्यवस्था और अंग्रेज सरकार की स्वार्थमय नीति के कारण सदा से बहुत धक्का पहुँचता रहा है, जिसके कारण यहाँ वाले कुछ कम क्षुब्ध नहीं रहे। इधर १९१९ वाली करेन्सी कमेटी ने और भी जले पर नमक का काम किया और असन्तोष बढ़ा। भारतवासी चिल्लाते रहे, पर उन्हें ख़ूब टाला गया। किंतु अन्त में जब हमारे प्रभुओं ने देखा कि ये इस बार अपना भूँकना यों ही बन्द न करेंगे तो १९२५ ई० में रायल करेन्सी कमीशन रूपी रोटी का एक टुकड़ा सामने फेंक कर, उनका मुँह बन्द कर दिया गया। पाठकों को मालूम होगा कि भारत के ग़रीबों का लाखों रुपया खर्च करके बड़ी लम्बी-चौड़ी जांच-पड़ताल के बाद १९२६ ई० के अगस्त महीने में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। रिपोर्ट में सिफारिश की गई कि भारत में सोने की धातु की चलन हो। दूसरी सिफारिश विनिमय दर के सम्बन्ध में थी कि रुपये की दर १ शि० ४ पे० के बजाय १ शि० ६ पेन्स कर दी जाय और तीसरी सिफारिश करेन्सी और विनिमय का सम्पूर्ण प्रबन्ध सरकार के हाथ से निकाल कर उसका भार (रिज़र्व बैंक) स्टेट बैंक के सुपुर्द करने के सम्बन्ध में थी। इस विषय में रुचि रखने वाले पाठकों को यह भली भांति मालूम हुआ होगा कि उक्त कमेटी के सामने गवाहियां देते हुए अत्यधिक आदमियों ने भारत में सोने के सिक्के के चलन एवं विनिमय दर १ शि० ४ पे० ही रहने देने के लिए कहा था। साथ ही देश के पत्रों और विद्वान लेखकों ने भी इसके लिए काफ़ी आन्दोलन किया। कमीशन के एक मेम्बर श्री पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपना

मत अलग लिख कर उसीका समर्थन किया। पर, एसेम्बली के मार्च १९२८ ई० के अधिवेशन में ये दोनों प्रस्ताव उपस्थित हुए और वहाँ वही तय हुआ जो हमारी 'हितचिन्तक' सरकार चाहती थी। भारतीय हित और लोकमत की पूर्णतया उपेक्षा की गई। विनिमय दर १ शि० ४ पेन्स रखने का ही प्रस्ताव पास हुआ तथा सोने के सिक्के के चलन का प्रस्ताव सर्वथा ना-मन्जूर कर दिया गया। तीसरी सिफ़ारिश—करेन्सी और विनिमय प्रबन्ध—के सम्बन्ध में 'रिजर्वबैंक' सम्बन्धी प्रस्ताव पिछले साल के एसेम्बली-अधिवेशन में भारतीयों के हित के पक्ष में पास हुआ, पर हमारे प्रभुओं को हिन्दुस्तानियों का कुछ लाभ होना कैसे गवारा हो सकता था? एसेम्बली के गत दिल्ली अधिवेशन में इस संबन्ध में भारत सरकार की ओर से जो चाल चली गई और अन्त में उसका किस प्रकार अन्त हुआ यह सभी जानते हैं। तात्पर्य यह है कि इस कमीशन पर भारतीयों के खून की कमाई के तीन-चार लाख रुपये पानी की तरह तो बहा दिये गये, पर नतीजा कुछ न हुआ। यह है हमारी विवशता, बेबसी और गुलामी की एक मामूली मिसाल। विनिमय दर १ शिलिंग ६ पेन्स कर देने से भारत का जो करोड़ों का नुकसान हुआ और हो रहा है, वह तो अलग ही है। इस सम्बन्ध में पत्र-पत्रिकाओं में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है, इसलिए यहाँ अधिक कुछ लिखना व्यर्थ है।

संक्षेप में भारतीय सिक्कों का यही इतिहास है। भारतीय सिक्कों के इतिहास में भारत की कागज़ी मुद्रा [सिक्का] का भी वर्णन होना चाहिए, क्योंकि उसका भी सिक्कों में शुमार है। पर इस विषय के अधिक व्यापक और महत्वपूर्ण होने के कारण स्थानाभाव से उसका वर्णन यहाँ कतई छोड़ ही दे रहा हूं। इसपर स्वतंत्र-रूप से फिर एक लेख पाठकों के सामने उपस्थित किया जायगा।

देवव्रत शास्त्री

---

(१) बिना प्रयत्न के कभी कार्य सिद्धि नहीं होती।
(२) प्रत्येक मनुष्य अपने काम में सावधान रहे।
(३) सावधान चतुर गृहस्थ ही सच्चा परमार्थी हो सकता है।
(४) मूर्ख एकदेशी होता है। चतुर चारों तरफ नजर रखता है।

समर्थ रामदास

ब्रिटिश साम्राज्य की शासन-पद्धति

ब्रिटिश साम्राज्य के राजनैतिक भाग—शासन पद्धतियों की दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्य निम्न-लिखित राजनैतिक भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१—साम्राज्य का मातृ-प्रदेश (Mother country); इसमें इंगलैंड, वेल्ज, स्काटलैंड, तथा उत्तरी आयर्लैन्ड सम्मिलित हैं।

२—स्वाधीन राज्य; इस श्रेणी में केवल आयरिश फ्री स्टेट (Irish Free state) है।

३—स्वाधीन उपनिवेश; इनमें केनेड़ा, दक्षिण आफ्रिका का यूनियन, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैन्ड और और न्यूफाउन्डलैंड है।

४—ब्रिटिश भारत और देशी रियासतें। ब्रिटिश भारत में अंशतः उत्तरदायी शासन-पद्धति प्रचलित है। देशी रियासतें अपने आन्तरिक प्रबन्ध में कुछ कुछ स्वतंत्र है, परन्तु बाहरी मामलों में सर्वथा अँग्रेज सरकार के अधीन हैं।

५—उपनिवेश विभाग के अधीन भू-भाग; इनमें राजकीय उपनिवेश (Crown colonies) भी सम्मिलित हैं।

६—रक्षित राज्य (Protected States); उदाहरण के लिए सूडान आदि।

७—आदेश युक्त राज्य (Mandetory States); इस श्रेणी में ऐसे राज्य हैं जो राष्ट्र-संघ की ओर से निर्धारित समय के वास्ते ब्रिटिश सरकार को शासन करने के लिए दिये गये है; उदाहरणार्थ मेसोपोटेमिया।

८—प्रभाव क्षेत्र (Sphere of Influence) ये ऐसे राज्य हैं जो स्वतंत्र है, परन्तु जिनमें ब्रिटिश सरकार का प्रभाव अन्य राज्यों के प्रभाव से अधिक

है और जिनमें ब्रिटिश सरकार को कुछ शासन सम्बन्धी अधिकार भी हैं।

९—अन्य राज्य, जो निश्चित रूप से उपर्युक्त किसी एक श्रेणी में नहीं रखे जा सकते।

हम ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयर्लैंड को छोड़कर, ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों की शासन-पद्धति का क्रमशः वर्णन करेंगे। पहले साम्राज्य के स्वतंत्र भागों को लेंगे। इन भागों में से और तो साम्राज्य के उपनिवेश ही हैं, केवल 'आयरिश फ्री स्टेट' ही ऐसा भाग है जो ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश नहीं है। इस लेख में हम इसीकी शासन-पद्धति का विवेचन करेंगे।

(१)

आयरिश फ्री स्टेट

प्राक्कथन—पहले ग्रेट ब्रिटेन के साथ ही समस्त आयर्लैण्ड का भी शासन होता था और इन दोनों का इकट्ठा नाम 'ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड का संयुक्त राज्य' या संक्षेप में 'ब्रिटिश संयुक्त राज्य' था। कुछ समय से आयर्लैंड के उत्तरी भाग को छोड़कर, शेष आयर्लैंड स्वतंत्रता का आन्दोलन कर रहा था। अन्ततः सन् १९२१ ई० में ब्रिटिश पार्लिमैंट ने इसकी स्वतंत्रता स्वीकार कर ली। तब से इसका नाम 'आयरिश फ्री स्टेट' पड़ा है और इसका शासन ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयर्लैंड के शासन से पृथक होने लगा है तथा इसका कोई प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लिमैंट में नहीं जाता।

इस राज्य की शासन-पद्धति की विशेषतायें—आयरिश फ्री स्टेट की शासन-पद्धति की दो विशेषतायें हैं—

(१) आयरिश फ्री स्टेट अपने शासन-पद्धति-सम्बन्धी नियमों में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं कर सकती जो सन् १९२१ ई० की संधि की शर्तों के विरुद्ध हो।*

(२) आयरिश फ्री स्टेट की जनता को निम्नलिखित प्रधान अधिकार (Fundamental rights) दिये हुए हैं—

(क) सरकार को सब अधिकार जनता से प्राप्त हैं, उन अधिकारों का उपयोग शासन-पद्धति के नियमों के अनुसार ही किया जायगा।

(ख) पुरुष और स्त्रियों के राजनैतिक अधिकार समान होंगे।

(ग) राष्ट्र-भाषा आयरिश होगी, परन्तु सरकारी काम-काज में अंग्रेज़ी का भी उपयोग हो सकेगा।

(घ) प्रबन्धकारिणी सभा की स्वीकृति के बिना किसी भी आयरिश नागरिक को कोई उपाधि न दी जायगी।

(च) यदि कोई व्यक्ति कभी गिरफ्तार किया जाय तो उसे तथा उसके मित्रों को अधिकार होगा कि उसकी गिरफ्तारी के लिखित कारण पूछें और वे कारण संतोषप्रद हों तो गिरफ्तार करने वाले व्यक्ति को क़ानून के अनुसार दंड दिलावें।

(छ) किसी नागरिक के रहने के स्थान में कोई व्यक्ति सरकारी लिखित आज्ञा के बिना उसकी इच्छा के विरुद्ध न घुस सकेगा।

(ज) प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता होगी

(झ) प्रत्येक व्यक्ति को भाषण, लेखन की स्वतन्त्रता तथा बिना शस्त्रों के एकत्र होने का अधिकार होगा।

(ट) प्रारम्भिक शिक्षा निश्शुल्क होगी।

(ठ) राज्य की प्राकृतिक संपत्ति विदेशियों को नहीं दी जायगी।

---

* इन शर्तों के अनुसार ही आयरिश फ्री स्टेट इंगलैण्ड से पृथक हुआ है तथा उसकी शासन-पद्धति निश्चित हुई है।

पार्लिमैंट—आयरिश फ्री स्टेट की पार्लिमैंट की दो सभायें हैं:—

(१) सिनेट (Senate)

(२) चेम्बर-आफ-डिप्टीज (Chamber of Deputies)

सिनेट को आयरिश फ्री स्टेट की शासन-पद्धति में वही स्थान प्राप्त है जो इंगलैण्ड की सरदार सभा को वहां की शासन-पद्धति में है। परन्तु सिनेट के सदस्य वंशागत नहीं होते। सदस्यों की संख्या ६० है १५ सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष होता है। उम्मेदवार वे ही व्यक्ति हो सकते हैं, जिन्होंने राष्ट्र को अपनी सेवा से सम्मानित किया हो या जो राष्ट्रीय जीवन के भिन्न भिन्न भागों में कार्य करने वालों के प्रतिनिधि हों। उम्मेदवारों की आयु कम से कम ३५ वर्ष की होनी चाहिए। उम्मेदवार होने से पहले वे या तो सिनेट द्वारा या चेम्बर-आफ-डिप्टीज द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। जितनी जगह सिनेट में खाली होती हैं, उम्मेदवारी के लिए उतने ही व्यक्ति चेम्बर द्वारा तथा उनके दुगने व्यक्ति सिनेट द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। सिनेट के पुराने सदस्य भी उम्मेदवार हो सकते हैं। सीनेट के सदस्यों के चुनाव के लिए ३० वर्ष से अधिक आयु का प्रत्येक आयरिश व्यक्ति मत दे सकता है। प्रत्येक निर्वाचक को उतने मत देने का अधिकार होता है, जितने स्थान सिनेट में खाली हों।

चेम्बर-आफ-डिप्टीज में लगभग डेढ़ सौ सदस्य होते हैं। इसका चुनाव प्रति चौथे वर्ष होता है; चुनाव में उन सब आयरिश व्यक्तियों को मत देने का अधिकार होता है जिनकी आयु २१ वर्ष से अधिक हो। प्रत्येक मताधिकारी उम्मेदवार हो सकता है।

धन-संबन्धी कानूनी मसविदे पर, आयरिश फ्री स्टेट में सिनेट को उतना ही अधिकार है, जितना इंगलैण्ड में सरदार सभा को है। इस प्रकार का मसविदा चेम्बर में स्वीकृत हो जाने पर सिनेट में भेजा जाता है और वहाँ से २१ दिन के अन्दर सिनेट के संशोधन-सहित वह चेम्बर में लौटा दिया जाता है। ऐसा हो चुकने पर चेम्बर को अधिकार है कि वह उसे जिस रूप में चाहे, स्वीकृत करे। अन्य सार्वजनिक क़ानूनी मसविदों को सिनेट अधिक से अधिक २७० दिन तक कानून बनने से रोक सकती है। इतने समय के बाद वह उसी रूप में क़ानून बनता है, जिसमें उसे चेम्बर ने स्वीकृत किया हो।

आयरिश फ्री स्टेट की पार्लिमैंट को अधिकार है कि यहां के शासन-पद्धति-सम्बन्धी नियमों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करे, शर्त यह है कि नवीन नियम सन् १९२१ ई० की संधि की शर्तों के विरुद्ध न हों। परिवर्तित नियमों पर आठ वर्ष के बाद निर्वाचकों की राय ली जाने की व्यवस्था है; यदि निर्वाचक उन्हें स्वीकार न करें तो वे नियम रद्द समझे जायँगे।

जनता को कानून बनाने का अधिकार—यदि निर्वाचक कोई ऐसा क़ानून बनवाना चाहें जो यहाँ की पार्लिमैंट ने न बनवाया हो अथवा न बना रही हो तो कम से कम पचास हज़ार निर्वाचक उसके लिए पार्लिमैंट को दर्ख्वास्त दे सकते हैं। यदि पार्लिमैंट उसे स्वीकार न करे तो उसपर समस्त निर्वाचकों के मत लिये जाते हैं; यदि निर्वाचक बहुमत से उसे स्वीकार कर लें तो वह क़ानून का रूप धारण कर लेता है। यदि पचास हज़ार निर्वाचकों की दर्ख्वास्त आने पर, पार्लिमैंट दो वर्ष तक मसविदे पर विचार ही न करे तो कम से कम ७५,००० निर्वाचकों के दर्ख्वास्त देने पर, या तो पार्लिमैंट को उसे स्वीकार करना होता है या उस पर समस्त निर्वाचकों के मत ले लिये जाते हैं।

गवर्नर जनरल और प्रबन्धकारिणी सभा—आयरिश फ्री स्टेट का गवर्नर जनरल इंग्लैंड के बादशाह द्वारा नियुक्त होता है। उसे अपने यहाँ की शासन-पद्धति में वही स्थान प्राप्त है जो इंग्लैंड के बादशाह को वहाँ की शासन-पद्धति में है। प्रबन्ध-कारिणी सभा (मन्त्रिमण्डल) में पाँच से सात तक मन्त्री रहते हैं जो शासन-कार्य के लिए आयरिश फ्री स्टेट की पार्लिमेंट के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उसका सभापति, प्रधान मन्त्री होता है जो चेम्बर द्वारा चुना जाता है, गवर्नर जनरल द्वारा नहीं। प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियों को चुनता है, ये मन्त्री चेम्बर द्वारा स्वीकृत (Approved) होने चाहिएँ। मन्त्री पार्लिमेंट की पूरी आयु तक रहते हैं। मन्त्री सब मिलाकर १२ होते हैं।

दयाशंकर दुबे
भगवानदास केला

विश्व-वैचित्र्य

एक पार खाने तहखाने औ हरमखाने,
पत्तन के झोंपड़े हज़ार एक पार हैं।
एक पार व्यंजन बनति हैं अनेक भाँति,
'प्रेम' बासी तिबासी चौबासी एक पार हैं॥
एक पार मौजें उड़ावैं औ नचावैं नारि,
नाचि नाचि थकि हारे देखो एक पार हैं।
एक पार हाज़िर हुज़ूरी में हज़ार हुकम,
हाज़िर हुज़ूरी में हज़ार एक पार हैं॥

प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'

मनस्वी मगनलाल भाई

हिन्दुस्तान टाइम्स में स्वर्गीय मगनलाल भाई की मृत्यु के समाचार पर जब मेरी नज़र पड़ी तो मैं सन्न रह गया। सहसा उस समाचार पर विश्वास न हुआ। यही हालत उस प्रत्येक आदमी की हुई होगी जो उनको जानता था और जिसने उनके हँसते हुए चेहरे और सुगठित नीरोग-शरीर को देखा था। आश्रम में जब यह दुःखद संवाद पहुँचा तो वहाँ का वायु-मंडल एकदम शोकाकुल और स्तब्ध होगया। गान्धीजी ने अपने मौन-व्रत को तोड़ छोटे-बड़ों को धीरज बँधाया। आश्रम के कामों को पूर्ववत जारी रख कर ही मृतात्मा को संतोष पहुँचाने का आग्रह किया। सायंकाल, नियमानुसार, प्रार्थना के समय सब इकट्ठे हुए। पंडितजी—नारायण मोरेश्वर खरे—ने धीर गंभीर सुर से 'अब हम अमर भये न मरेंगे' गाया। छाती पर पत्थर रखकर गान्धीजी ने अपने हृदय की अन्तर्वेदना को हलका करने के लिए कहा "आश्रम का प्राण मगनलाल थे, मैं नहीं।" "उनके तेज से मैं चमका" तुम्हारा आदर्श मगनलाल थे मेरे आदर्श भी वही थे। उनके जैसा सरदार मुझे मिला होता तो जैसी सेवा उन्होंने मेरी की, मैं उनकी न कर सकता।" "मैं मीराबाई के समान जहर के प्याले पी सकता हूँ; अगर कोई मेरे गले में साँप लपेट दे तो मैं उसे भी सह सकता हूँ; परन्तु यह वियोग तो इन सबसे बढ़कर असह्य है। फिर भी मगनलाल के गुण-कीर्तन द्वारा मैंने उनकी मूर्ति को अपने हृदय में छिपा रक्खा है।"

आपका जन्म राजकोट में ता० ५ अगस्त सन् १८८३ ई० के दिन हुआ था। अपने पिता श्री खुशालचन्दजी गान्धी की देख-रेख में रह कर ही आपने राजकोट हाईस्कूल में विद्याभ्यास किया। किशोरावस्था के समाप्त होने के कुछ वर्षों बाद आपका विवाह कर दिया गया। फिर सन् १९०३ में आप व्यापार करने की इच्छा से गान्धीजी के साथ दक्षिण आफ्रिका पहुँचे। दूकान करते हुए एक साल भी नहीं बीता था कि आपने गांधीजी की स्वेच्छा—गरीबी की पुकार सुनी। धन और यश का मोह छोड़ कर उसी

समय आप आफ्रिका के फ़ीनिक्स आश्रम में भर्ती हो गये। तब से अन्त तक जिस दृढ़ता के साथ मगनलाल भाई गांधी जी के सिद्धान्तों और आदर्शों को कार्य में परिणत करते रहे, संसार के इतिहास में उसकी उपमा शायद ही मिलेगी। गांधी जी का कहना है कि अगर उन्होंने स्वदेश-सेवा में अपना सर्वस्व होम न दिया होता तो अपनी योग्यताओं और अध्यवसाय के बल पर वे आज व्यापारियों

तकली कातते हुए

के सिरताज होते। परन्तु ईश्वर तो उन्हें एक सच्चा सेवक भक्त और देशोद्धारक बनाना चाहते थे, फिर मगनलाल भाई व्यापारी क्यों बनने चले? वास्तव में मगनलाल भाई के जीवन की कई बातें ऐसी हैं कि उनका सच्चा ज्ञान वर्तमान भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बालक-बालिका के लिए अत्यंत शिक्षाप्रद है।

श्री मगनलाल भाई के जीवन के अनेक पहलू हैं। हमें खेद है कि स्थानाभाव के कारण उनमें से हरएक का विस्तृत वर्णन हम 'त्यागभूमि' के पाठकों के लिए नहीं दे सकते।

स्व० मगनलाल भाई एक सफल पिता तो थे ही, परन्तु अपनी अद्वितीय गृह-व्यवस्था के कारण आपको सफल-गृहस्थ कहना अधिक उचित होगा। स्वच्छता और पवित्रता के जो भाव उनकी नस-नस में भर गये थे, उन्हींको अपनी गृहस्थी में उन्होंने भली भांति भर दिया था। आपके घर की सहज सुन्दरता और कला पूर्ण सादगी से मुग्ध होकर गान्धी जी अपने प्रिय मिहमानों को आपके ही घर पर ठहराते थे। खुद तो घर से विरक्त थे ही। जिह्वाजय के व्रत के कारण घर का भोजन भी आप छोड़ चुके थे।

जिस तरह शुद्ध ज्ञान और संयम की प्राप्ति के लिए वे अन्तिम समय तक तड़पते रहे उसी तरह अपने लड़के लड़कियों को भी देश-सेवा की शिक्षा देने में आप सदा जागरूक रहे। देश-सेवा के लिए आप ब्रह्मचर्य को बड़ा ज़रूरी समझते थे और इसी कारण आप के तीनों बालक अभी तक अविवाहित हैं। अपने लड़के—भाई केशव के साथ काम करने में, उनके अनेक प्रयोगों में सम्मिलित होने में और उन प्रयोगों के लिए तरह-तरह की साधन-सामग्री जुटा देने में आपको बड़ा आनन्द होता था और उसमें सफल होने पर अपार हर्ष। स्त्री-शिक्षा के आप कट्टर हामी थे। और स्त्रियों के आजीवन ब्रह्मचर्य में आपका पूरा-पूरा विश्वास था। देश में परदा प्रथा के कारण स्त्री जाति की जो दुर्दशा हो रही है उससे आप बड़े दुःखी थे और इस प्रथा को मिटाने के लिए ही आपने अपनी बड़ी पुत्री कुमारी राधा बहन को बिहार प्रान्त में भेजा था। तन, मन और वचन से एक ही बात सिखाने वाली शिक्षा को आप सच्ची शिक्षा समझते थे। एक बार राधा बहन ने आश्रम की बालिकाओं के साथ विवाह का विरोध करने वाले एक संवाद में भाग लिया था। इस संवाद को सुनकर मगनलाल भाई ने कहा "आज का यह संवाद केवल नाटक या अभिनय तो नहीं है? नाटक के पात्र तो अपना काम करके उसे भूल जाते हैं। आप जो बातें राधा से कहला रहे हैं उन बातों से राधा जन्म भर विवाह न करने के लिए बँध जाती है।

भले ही बँधे। परमात्मा उसे इतनी शक्ति दे।"

जिनसे एक बार भी मगन भाई की मुलाकात हुई, वे उन्हें फिर कभी न भूल सके। उनका व्यक्तित्व ही इतना उज्ज्वल और प्रभावशाली था कि उन्हें भूलना कठिन होता होता था। श्री विजयराघवाचार्य केवल एक बार आश्रम में आये थे, तिस पर भी आप लिखते हैं, "मगन भाई की नम्रता तो आश्चर्यजनक थी। इनके जाने से देश को बहुत बड़ी हानि हुई है।" एक दूसरे पारसी सज्जन लिखते हैं "मगनलाल भाई आश्रम थे और आश्रम मगनलाल भाई।" मौ० मुहम्मदअली लिखते हैं, "उनका प्रेममय वर्ताव तो ऐसा था जिसे देख कर आदमी चकित हो जाय।"

इन बातों से स्व० मगनलाल भाई के व्यापक व्यक्तित्व और प्रेमपूर्ण स्वभाव का ठीक ठीक पता चलता है। श्री महादेव भाई देसाई लिखते हैं "पाँच वर्ष पहले पिताजी को खोकर जो असह्य दुःख मुझे हुआ उससे भी अधिक दुःख मुझे आज हो रहा है। पिता के वियोग का दुःख तो गांधीजी की समीपता के कारण भूला। किंतु पिता की याद दिलाने वाले बड़े भाई के वियोग का दुःख किस तरह भूल सकूंगा? XXXXX सन् १९१६ में मैं गांधीजी की सेवा में उपस्थित हुआ था। उस समय मुझ में उनके प्रति भक्ति के सिवा और कोई गुण नहीं था। अपनी इस कमी के कारण मैं मन ही मन बहुत डरता रहता था। आश्रम में भर्ती होने के नियम कट्टर थे। मगनलाल भाई की नियम-पालन की कट्टरता की बातें सुन कर मेरा भय और भी बढ़ता था। परन्तु जिस रात मैंने अपनी सारी कमजोरियां उन्हें बतलाई उस रात उन्होंने मेरा सारा डर भगा दिया और लगभग आधी रात तक अपने अमूल्य अनुभवों और साधना-मार्ग के अनेक कष्टों की बातें करते रहे। थोड़े ही समय में उन्होंने मुझे जीत लिया और मैं उन्हें पूज्य भाव से देखने लगा। पत्रों में भी उन्हें 'पूज्य' ही लिखने लगा। परन्तु अपनी अद्वितीय नम्रता के कारण वे इस पूज्यभाव के बोझ को न सह सके। तीन साल हुए, आग्रह करके उन्होंने मुझे 'प्रिय' लिखने के लिए विवश किया। मैं 'प्रिय' लिखने तो लगा, परन्तु उनके लिए मेरा पूज्य भाव कई गुना बढ़ गया।"

विनोबा लिखते हैं, "मगनलाल भाई का स्वभाव नारियल के समान था—ऊपर कठोर और भीतर अत्यन्त रस पूर्ण। XXXX उनके मंगलमय जीवन का कारण उनका नारियल जैसा स्वभाव ही था। किन्तु ऐसे मृदु-कठोर स्वभाव के कारण लोग साधकों को समझने में भटक जाते हैं। XXX मगनलाल भाई के साथ यही हुआ। उनके बारे में कई लोगों की गलत धारणा हो गई थी, जिसके कारण उनकी आत्म-परीक्षा और भी बढ़ गई थी।

बारडोली से वल्लभ भाई पटेल ने गान्धीजी को लिखा, "मेरे लिए तो उनका वियोग असह्य हो गया है। इस बार जाते समय जब उन्होंने मेरी आज्ञा माँगी, मैंने इन्कार कर दिया था। क्योंकि मुझे उनकी बड़ी ज़रूरत थी। उनका काम कोई दूसरा कर ही नहीं सकता था। जब उन्होंने शीघ्र लौटने का वचन दिया, तब मैंने लाचार होकर उन्हें जाने दिया। मैं तो अब भी उनके देहान्त की बात पर विश्वास नहीं करता।

मगन भाई का शरीर भीम जैसा था। नियमित व्यायाम और रात-दिन के कठोर परिश्रम ने उसे खूब गठीला और वज्र के समान दृढ़ बना दिया था। परन्तु इधर दो तीन वर्षों से उन पर चारों ओर के काम का इतना अटूट बोझ आ पड़ा था कि वे इसके भार से दबे जाते थे। अपनी जिम्मेदारी के पालन की चिन्ता ने उन्हें व्यग्र कर दिया था। आत्म-परीक्षण और घोर तप द्वारा वे अपने को इस उत्तरदायित्व के योग्य बना रहे थे। इधर इसी फिकर में उनका नियमित व्यायाम भी छूट गया था। उन्हें तो इस बात की चिन्ता हो रही थी कि वे अधिक से अधिक सहनशील कैसे बनें; चाहे जैसे कठोर-हृदय मनुष्य को जीतने वाली अहिंसा उन्हें कैसे प्राप्त हो? ब्रह्मचर्य पर उन्हें अडग विश्वास था। जब म० गान्धीजी ने 'विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए भी ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' इस सिद्धान्त की अपने मित्रों और साथियों में घोषणा की, तब आप उसकी अनुपम सुन्दरता पर मुग्ध हो गये। और अपनी कट्टरता के साथ इस सिद्धान्त को पालने लगे कि सफलता आपके चरणों पर लोटने लगी। अपनी धर्मपत्नी को भी बड़े धैर्य के साथ समझा-बुझाकर इस व्रत-पालन के लिए उन्होंने तैयार कर लिया। आपका ब्रह्मचर्य-पूर्ण गृहस्थ-जीवन आश्रम का

आभूषण था। इस व्रती-जीवन के निर्माण में आपको कितने कष्ट उठाने पड़े इसे तो आप ही बतला सकते थे। आपके जीवन के दो पहलू थे, एक आत्म-परीक्षा और दूसरा पुरुषार्थ-आत्म-परीक्षण की तीव्रता की भांति ही नहीं, वरन् उससे भी अधिक, उग्र उनका पुरुषार्थ था। मानों ये दोनों उनके जीवन-रूपी वस्त्र के ताने-बाने थे। गान्धीजी के सिद्धान्तों को समझने और पालने के प्रयत्न में गान्धीजी के बराबर ही कष्ट उठाने वाला अगर कोई हो सकता है तो वह मगनलाल भाई ही थे।

दक्षिण आफ्रिका के फीनिक्स आश्रम में जिस दक्षता और परिश्रम के साथ आपने काम किया था उससे तो गान्धीजी की आत्म-कथा का कोई पाठक अपरिचित न होगा। वहाँ से भारत लौटने पर आप अपने साथियों के साथ कुछ दिन शान्ति-निकेतन में रहे थे। इस थोड़े से समय में वहाँ के विद्वानों और छात्रों पर मगनलाल भाई की परिश्रमशीलता, व्यवस्था-शक्ति और कार्य-कुशलता की जो छाप पड़ी थी उसका वर्णन गान्धीजी के हाल के ताजे स्मरणों में आ चुका है। इधर गत बारह वर्षों से आपकी सारी शक्ति सत्याग्रह आश्रम साबरमती के निर्माण, उसकी उन्नति और उसके सुंदर संगठन में खर्च हो रही थी। इन बारह वर्षों के प्रत्येक घंटे का हिसाब वे बतला सकते थे। इन दिनों में आप समय के सदुपयोग में इतने तल्लीन हो गये थे कि बड़े सबेरे ४ बजे से ले कर रात के ९-९॥ बजे तक आप बराबर अविराम काम में लगे रहते थे। अपने समान ही, सबेरे से रात तक, प्रत्येक आश्रमवासी को भी आप, अविराम काम करते देखना चाहते थे। रात को, अगर कार्यवश जल्दी न सो सकते, आधी रात बीत जाती तो भी सबेरे बराबर चार बजे वे बिछौना छोड़ देते थे। अपना सारा काम वे खुद ही कर लेते थे। जबतक स्वस्थ रहे, उन्होंने कभी दूसरों से अपनी

मनस्वी मगनलाल भाई

सेवा न कराई। आश्रम में जिन दिनों और जगह भंगी काम करता रहता, अपने घर का मैला आप ही साफ़ करते थे। जहाँ तक हो सकता अपने कपड़े खुद ही धो लेते थे। प्रवास में रहते हुए भी लोगों को आपकी सेवा करने का बहुत कम अवसर मिलता था।

तन्द्रा और प्रमाद को छोड़ कर आपने आश्रम की अखण्ड चौकीदारी क़ुबूल की थी। चौबीसों घण्टे आश्रम में रह कर, कौन क्या करता है, कौनसी चीज़ आश्रम में आ सकती है और कौन नहीं, इस बात की वे ख़बरदारी रखते थे। आश्रम के नियम-पालन में आपकी उग्र कठोरता के कारण बहुत से लोग असन्तुष्ट भी रहते। परन्तु बाद में उनके संतोष की सीमा न रहती। आश्रम में रहने वाले भाई-बहनों के दोषों को और लोगों पर प्रकट कर, उन्हें कष्ट पहुँचाने की अपेक्षा वे खुद प्रायश्चित्त-स्वरूप उपवास करते और कष्ट सहते थे। उनकी इस अनुपम वृत्ति ने कई आश्रमवासी भाई-बहनों को उबारा है। महात्माजी की चरित्र-निर्माण-कला को अपना कर मगनलाल भाई ने उन्हें आश्रम सम्बन्धी बातों में सदा के लिए निश्चिन्त कर दिया था।

मगनलाल भाई की असाधारण जागरूकता और अखण्ड आश्रम-निष्ठा की ज्योति को सदा जागृत रखने का श्रेय उनकी अनन्य धार्मिकता को था। धार्मिक साहित्य और संस्कृत के उद्भट विद्वान् न होते हुए भी आपका अपूर्व सत्य-प्रेम और भक्ति—एक शब्द में आपकी धर्मप्राणता—बड़े बड़े विद्वानों को भी लजाती थी। गो० तुलसीदासजी के रामचरित-मानस के आप परम भक्त थे। हिन्दी के उच्चारण में कई दोष रहते हुए भी, आपका रामायण-गान लोगों को मन्त्र-मुग्ध कर लेता था। आश्रम में प्रार्थना कराते समय जब जब भजन गाने की आपकी बारी आती तब आप केवल दो ही भजन गाया करते थे। श्रीमद् राजचन्द्र का "अपूर्व अवसर ऐवो क्यारे आवशे' इसे या निष्कुलानन्द के 'त्याग न टके रे वैराग्य विना' इस भजन को गाकर मगनलाल भाई कुछ देर के लिए आश्रम के वातावरण को वैराग्य भावना से भर देते थे। इन प्रिय भजनों में ही आप के सारे जीवन का रहस्य छिपा हुआ है। बिना वैराग्य का त्याग आपको पसंद न था। कभी कभी आवेश में आकर आप 'क्यारे थईशुं बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो' को गाने लगते और इस कोटि तक पहुँचने का सदा प्रयत्न करते रहते थे। आश्रम की प्रातःकाल की प्रार्थना में तो आप कभी ग़ैरहाज़िर न रहे। हाथ-पैरों को ठिठुरा देने वाले जाड़े और मूसलधार पानी में भी बराबर ४ बजे आप प्रार्थना स्थान पर पहुँच जाते थे। अगर कोई आश्रमवासी समय पर न आता तो खुद ही बुलन्द आवाज़ में प्रार्थना करने लग जाते थे। "एकबार सात दिन के उपवास के पश्चात् नेत्रों में आँसू भर के मारा नयणानी आळसरे न निरख्या हरिने जरी" गाते हुए आप बिलकुल तल्लीन हो गये थे। अपने अन्त समय में भी मगनलाल भाई राम-नाम का सतत रटन करते रहे थे। और देहान्त के कुछ समय पूर्व से कुमारी राधा बहन ने 'दयामय मंगल मन्दिर खोलो' गा कर आपको शान्ति पूर्वक परमधाम के लिए बिदा किया था।

अपने बाहरी जीवन में मगनभाई सदा कारीगर और मज़दूर रहे। उनकी कारीगरी और मज़दूरी की छाप आश्रम के मकानों की एक-एक ईंट में, उनके वृक्षों की एक-एक पत्ती में, गोशाला और वस्त्र-शाला में, सारांश आश्रम की प्रत्येक हलचल में देखी जा सकती है। महात्मा जी कहते हैं, "मगनलाल नहीं रहे, मगर अपने सभी कामों में वे जीवित हैं, जहाँ चाहें उन्हें हम देख सकते हैं।" अफ्रिका में प्रेस चलाने और कम्पोज़ करने में आपने बड़ी कुशलता दिखलाई। बाग़वानी में नाम कमाया। अहमदाबाद में जब शुरू-शुरू 'यंग इंडिया' निकला तब भी आपके ही परिश्रम से उसका पहला अंक प्रकाशित हो सका। अगर वे इसी काम में लगे रहते तो भारत के लोइड-गैरिसन बन जाते। "हिन्दुस्तान लौटने पर आपही की बदौलत साबरमती का आश्रम संयम-नियम की इतनी पुख्ता नींव पर खुल सका था। आश्रम में आतेही अस्पृश्यता की समस्या उनके सामने उपस्थित हुई, वे कुछ देर हिचके, पर उन्होंने अपना हृदय एकदम इतना उदार बना लिया कि सारा संसार उन्हें आपरूप दीखने लगा। असीम प्रेम की महिमा को उन्होंने तत्काल ही पहचान लिया। फिनिक्स आश्रम की अपेक्षा साबरमती आश्रम का औद्योगिक विभाग कहीं भिन्न प्रकार था। यहाँ तो सारे कामों का केन्द्र चर्खा और खादी

बन गये थे। मगनलाल भाई उनकी उन्नति के लिए प्राणों का मोह छोड़ कर जुट पड़े। देखते देखते-देखते आपने बुनना कातना, चुनना, ओटना कपास की खादी बनने तक की सब क्रियायें सीख लीं।"

आश्रम में गोशाला खुली नहीं कि आपने गोपालन सम्बन्धी सारा साहित्य पढ़ डाला। गौओं का नाम करण संस्कार किया और उनसे मित्रता बढ़ा ली। जब चर्मालय खुला, तब भी आपकी तत्परता वैसी ही बनी रही। फुरसत मिलते ही आप चमड़े की कमाई के सिद्धान्त भी सीखने वाले थे। इन सारे कामों को वे स्वानुभव की पाठशाला में ही सीखते थे। और कभी कभी देहाती बढ़ई, देहाती बुनकर, किसान, और चरवाहों से मिलकर भी बहुतसी जानने योग्य बातें जानते रहते थे।

इधर तो वर्षों से चर्खे के सुधार और प्रचार में ही वे अपनी सारी बुद्धि और शक्ति लगा रहे थे। उनके अकाल स्वर्गवास से श्री राजगोपालाचार्यजी के शब्दों में—चर्खे पर भारी वज्राघात हुआ है।

'बुनाई शास्त्र' पर आपकी एक खोज—पूर्ण पुस्तक भी प्रकाशित हुई है। इससे मगनलाल भाई की विद्वत्ता, प्रयोग पटुता और साहित्यिक योग्यता का खूब पता चलता है। कारीगरी में कला देखना हो तो पाठक इस पुस्तक को एक बार अवश्य पढ़ें। आपकी भाषा बड़ी जोरदार, सरल और भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने वाली होती थी। उनके अक्षर मोती के दानों के समान सुन्दर, और निष्कलंक होते थे। उनके पत्र सदा अत्यन्त छोटे और काम की बातों से भरे रहते थे।

अगर चर्खे के लिए मगनलाल भाई ने अपना जीवन अर्पण कर दिया था, तो गोपालन की शिक्षा उन्होंने अपने शौक के लिए प्राप्त की थी। कलम चलाने की अपेक्षा फावड़ा और कुदाली लेकर खेत में मजदूरी करना उन्हें ज्यादा पसन्द था। इस काम में उन्हें असाधारण सुख मिलता था। पशुओं पर उनकी अत्यधिक प्रीति थी। उनकी पाली हुई गायें और बछड़े आज आश्रम की शोभा बढ़ा रहे हैं। अपनी तुलसी, त्रिवेणी आदि प्रिय गायों की उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। चर्खे के समान ही पशुपालन का प्रचार भी आपका प्यारा विषय था।

मगनलाल भाई की कारीगरी उनकी मजदूरी, उनका परिश्रम उनका ब्रह्मचर्य, उनका गार्हस्थ्य, किंबहुना उनका सर्वस्व, देश के लिए अर्पित था। गांधी जी के नित्यनये प्रयोगों को सिद्ध करने में मगनलाल भाई ने जितने कष्ट उठाये, संताप सहे और त्याग किया उसको शब्दों द्वारा प्रकट करना असम्भव है। अखण्ड साधना के बाद आप गांधीजी के अनन्य सेवक और अप्रतिम भक्त बन सके थे। महात्माजी के आश्रम-निवास के दिनों में भी मगनलाल भाई उनसे कई दिनों तक नहीं मिल सकते थे। उन्हें उनसे मिलने की फुरसत ही नहीं मिलती थी। गांधीजी के भौतिक शरीर की सेवा करने की अपेक्षा उन्हें उनके सिद्धान्तों और कार्यों की उपासना ज्यादा प्रिय थी।

विनोबा मगनलाल भाई की अनन्य गांधी-भक्ति देख कर उन्हें आधुनिक हनूमान कहते हैं। मगन भाई को रामायण के पात्रों में भरत और खास कर हनूमान से प्रेम था। राम-चरित में जो स्थान हनूमान को प्राप्त है, गांधी जी के जीवन में मगन भाई भी उसी के अधिकारी हैं। गांधी जी और मगन भाई एक-हृदय दो-प्राण थे। एक का दूसरे पर अनन्य विश्वास, अखण्ड श्रद्धा, और अटूट प्रेम था। गांधीजी कहते हैं "अगर किसी के और मेरे बीच में अन्तर नहीं था तो वह मेरे और मगन के बीच। अपने लड़के और पत्नी के विषय में कुछ सोचते समय हमें यह भय रहता है कि कहीं इन्हें दुःख न हो। परन्तु मगनलाल के बारे में मुझे ऐसा भय कभी नहीं हुआ। मेरा विश्वास है कि किसी भी सरदार को मगनलाल से अधिक उत्तम और स्वामिभक्त सेवक नहीं मिला, यह अनुभव-सिद्ध बात है। मेरे सद्भाग्य से मुझे हमेशा श्रद्धालु, सदाचारी, बुद्धिमान और कार्य-दक्ष सखा या सेवक प्राप्त होते रहे। परन्तु इन सब में मगनलाल श्रेष्ठ थे। मगनलाल में ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी सदा बहती रहती थी। उन्होंने अपने ज्ञान और अपनी भक्ति का कर्म-यज्ञ में आहुति देकर सबों को ज्ञान और भक्ति का सच्चा स्वरूप बतलाया था। इस तरह उनका प्रत्येक काम चेतन-ज्ञान-मय होने से उनका जीवन सन्यास की पराकाष्ठा

को पहुँच चुका था। मगनलाल ने अपने सर्वस्व का त्याग किया था। उनके एक भी कार्य में मैंने स्वार्थ नहीं देखा। निःस्वार्थ—निष्काम—कर्म ही सच्चा संन्यास है, इस बात को उन्होंने एक बार नहीं, थोड़े समय तक नहीं, किन्तु अनेक बार, अनेक अवसरों पर और लगातार चौबीस वर्षों तक प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा साबित किया था। मेरी बात को शान्ति-पूर्वक सुनकर उन्होंने गरीबी स्वीकार की और अन्त समय तक उनकी कार्य-धारा बराबर उसी ओर बहती रही।

"अगर जाने या बे जाने इस चित्र में कहीं भी अतिशयोक्ति न हो, तो मैं कह सकता हूँ कि जिस देश में धर्म इस भाँति मूर्तिमन्त हो सकता है वह देश सदा विजयी रहेगा। अतः मेरी यह इच्छा है कि मगनलाल के जीवन का अभ्यास प्रत्येक देश-सेवक करे और अगर पसन्द आवे तो उनके गुणों का दृढ़ता-पूर्वक अनुकरण भी करे। जो बात मगनलाल के लिए सम्भव थी, वह हरएक प्रयत्नशील मनुष्य के लिए संभव है। सच्चे सिपाही होने के कारण मगनलाल सच्चे सरदार भी हो सके थे।

"इस देश को और आधुनिक संसार को सच्चे सिपाहियों की ज़रूरत है। देश-सेवा, विश्व-सेवा, आत्मज्ञान और ईश्वर-दर्शन, जुदी जुदी बातें नहीं हैं, ये तो एक ही वस्तु के जुदे जुदे रूप हैं। इस बात को मगनलाल ने अपने जीवन में खूब पहचान लिया था और दूसरों को भी इसकी पहचान करादी थी। जिन्हें जिज्ञासा होवे उनके जीवन का अभ्यास कर अनुभव प्राप्त करें।"

"सिपाही"

अ० भा० चर्खा संघ की काउन्सिल ने अपनी १२ ता० की बैठक में यह प्रस्ताव स्वीकार किया है:—

"यह काउन्सिल निश्चय करती है कि स्व० श्रीयुत मगनलाल गांधी की स्मृति में एक खादी-संग्रहालय बनाया जाय। उसके लिए एक लाख रुपयों की अपील की जाय। काउन्सिल यह निश्चय आगे चल कर करेगी कि यह स्मारक कहां पर बनाया जाय तथा उसकी व्यवस्था किस तरह हो।"

पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों के चित्र

पाश्चात्यों के संसर्ग से हम भारत-वासियों पर जो अनेक परिणाम हुए हैं उनमें एक यह भी है कि छापाखानों के प्रचार के कारण अनेक पत्र-पत्रिकायें और पुस्तकें हमारे देश में भी छपने लगी हैं, और पाश्चात्य साहित्य के सदृश हमारे यहाँ भी वे सचित्र छपती हैं। इतना ही नहीं, किन्तु हमारे यहाँ विज्ञापन भी सचित्र छपते हैं। ये सारी बातें हमने पाश्चात्यों से ली है, इस कारण उनके गुणदोष भी पूरे-पूरे पाश्चात्य हैं। पत्र-पत्रिकाओं अथवा पुस्तकों का सचित्र रहना अवश्यमेव लाभकारी है, पर इस विषय में बहुत कम लोगों ने यह विचार किया है कि उनके चित्र किस प्रकार के रहें, किन लेखों और पुस्तकों में चित्र रहें और किन में न रहें। साधारण पाठक भी बहुत कम सोचते हैं कि किन चित्रों से वास्तव में लाभ होता है और किन से नहीं। वे तो चित्र देखना चाहते हैं, उनसे कुछ लाभ है या नहीं इस ओर उनका ध्यान ही नहीं रहता। फल यह हो रहा है कि 'सचित्र' पत्र-पत्रिकायें और पुस्तकें अधिक बिकती हैं, 'वि-चित्र' यानी बिना चित्र का साहित्य कम बिकता है। इसलिए आजकल चित्रों का जो दुरुपयोग हो रहा है उसके विरुद्ध आवाज़ उठाना प्रत्येक सच्चे समाज-सेवी का कर्तव्य है।

जहाँ तक हमें मालूम है, यूरोप में चित्रों का उपयोग पहले-पहल पाठशालाओं की पुस्तकों में हुआ था। इससे पाठकगण यह समझ सकते हैं कि चित्रों का उपयोग पुस्तकों की बातें समझाने के लिए ही पहले-पहल किया गया था। इनके अलावा जो चित्रादि बनते वे घरों की शोभा बढ़ाने के लिए होते थे। इस दूसरे उपयोग से हमें कुछ वास्ता नहीं है। इसलिए उनके सम्बन्ध में हम कुछ विशेष न कहेंगे। हम केवल सामयिक पत्र-पत्रिका और पुस्तकों के चित्रों के सम्बन्ध में विचार करना चाहते हैं। साहित्य में चित्रों का उपयोग पहले-पहल जिस हेतु से होना शुरू हुआ, वह

ध्यान में रखने के लायक है। कई बातें ऐसी होती हैं कि जिनका शब्दों से कितना भी वर्णन किया जाय तो भी उसकी कल्पना पाठकों को नहीं हो सकती और यह तो स्पष्ट है कि किसी वस्तु या दृश्य का चित्र अपने मस्तिष्क में बने बिना वह आत्मगत नहीं हो सकता। कागज़ आदि पर उस वस्तु का चित्र रहने से उस वस्तु का रूप हम शीघ्र जान सकते हैं। इसलिए जहाँ कहीं शब्दों से काफी या बिलकुल काम नहीं चलता, वहीं चित्रों का देना परमावश्यक है। यही नहीं, किन्तु किसी वस्तु या दृश्य का हम वर्णन देने लगें तो शायद कई पृष्ठ लग जावें और फिर भी उसका पूरा चित्र हमारे मस्तिष्क में नहीं बन सकता, ऐसे स्थानों पर चित्र दे देने से पाठक और लेखक दोनों के समय और श्रम की बचत होती है और लेखक या शिक्षक का हेतु बहुत शीघ्र और उत्तम रीति से सिद्ध हो जाता है। चित्र देने के हेतु से चित्र देना ठीक नहीं है, चित्रों से उनका उपर्निर्दिष्ट हेतु सिद्ध होना चाहिए। उनसे यदि किसी बात को समझाने-समझने में सहायता नहीं मिलती है तो वे नितान्त अनावश्यक हैं।

अब पाठगण यह देखें कि ऊपर बताई कसौटी में आजकल के प्रकाशित होने वाले कितने चित्र ठहर सकते हैं? उनको देखकर आप इस परिणाम पर अवश्य पहुँचेंगे कि आजकल के सैकड़ों चित्र 'अनावश्यक' हैं, क्योंकि उनसे किसी बात को समझने समझाने में कोई सहायता नहीं मिलती। इतना ही नहीं किन्तु कई चित्र इस हेतु के विरुद्ध कार्य करते हैं। शाब्दिक वर्णन में सभी बातें स्पष्ट और परिपूर्ण रीति से नहीं बताई जाती। परन्तु चित्रकार को तो अपना चित्र पूर्ण करना ही पड़ता है, वह उसे अधूरा रख नहीं सकता। कभी-कभी तो लेखक एक-दो शब्दों में ही अपना वर्णन समाप्त कर देता है। उससे इतने अधिक चित्र बन सकते हैं कि कोई भी चित्र वर्णन की दृष्टि से सच्चा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में चित्रों का न बनना ही अच्छा है। हाँ, ऐसे स्थानों में तब ही चित्र देना चाहिए कि जब चित्र में वर्णित बातें तो आजावें पर उसकी अन्य बातें वर्णित विषय से या उसके काल से असंगत न हों। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि आजकल जो सचित्र कहानियां छपती हैं अथवा जो अनेक सचित्र उपन्यास अथवा पौराणिक—कथात्मक ग्रंथादि छपते हैं उनके बहुतेरे चित्र अनावश्यक, भ्रमपूर्ण और अनैतिहासिक रहते हैं। जहाँ चित्रों का उपयोग होना चाहिए वहाँ उनका उपयोग नहीं होता पर जहाँ चित्रों की आवश्यकता नहीं, अथवा सच्चे चित्रों के देने की संभावना नहीं वहाँ प्रत्येक पृष्ठ पर चित्र दिये जाते हैं। इस कालव्यय, श्रमव्यय और द्रव्यव्यय को रोकना आवश्यक है।

यदि यह भी मान लिया जाय कि कई कथा-कहानियों के कई चित्र अनैतिहासिक या वेष-भूषा आदि की दृष्टि से झूठे नहीं रहते। उनमें चित्रकार का मुख्य हेतु कथा-कहानियों में वर्णित मानवी मनोभावनाओं का चित्रांकरण ही है। तो इसपर हमारा कहना है कि जितने चित्र हम कथा-कहानियों में देखते हैं वे वर्णित मनोभावनाओं के दिग्दर्शक नहीं रहते, वे केवल चित्रों की उच्छृंखल आवश्यकता की पूर्ति के लिए दिये जाते हैं। वे इसलिए दिये जाते हैं कि लोग यह कहें कि इस पत्र या पत्रिका की कथा-कहानियाँ सचित्र छपती हैं। साधारण पाठक भी केवल इसी बात की ओर विशेष झुक जाते हैं कि अमुक पत्र-पत्रिका में चित्र छपते हैं, फिर भले ही वे उन चित्रों को बारीकी से न देखें और उनका मतलब भी न समझें! मनोभावनाओं का चित्रीकरण करना अच्छा है, पर वह होना चाहिए सफल और साथ ही इस तरह कि जिससे उसमें वर्णित विषय, काल और देश के विरुद्ध कोई बात न हो।

आजकल यह कहने की एक "फैशन" चल पड़ी है कि हम अमुक चित्र, काव्य, मूर्ति या ऐसी अन्य वस्तु कला की दृष्टि से बनाते हैं, उनके बनाने में हमारा एक ही हेतु है और वह है कला, अन्य कुछ भी नहीं। जैसा सब कोई मानते हैं, वैसा हम भी मानते हैं कि चित्रों का एक और महत्वपूर्ण हेतु कला ज़रूर है। परन्तु कला में भी मानवी भावनाओं या कल्पनाओं का अथवा भौतिक प्रकृति का कोई दृश्य रहता है, इसके बिना कला कैसे हो सकती है यह हम तो नहीं जानते। अन्य कोई जानते हों तो बतावें। मासिक-पत्रों में जो रंगीन चित्र छपा करते हैं उनका मुख्य हेतु कला ही होता है, पर हम नहीं जानते कि सैकड़ों में दो चार भी अपने हेतु में सफल होते हैं या नहीं।

हाँ, एक बुराई आजकल के चित्रों में बहुत-कुछ सर्व सामान्य रीति से देख पड़ती है। वह यह है कि सैकड़ा निन्यानवे चित्र स्त्रियों के रहते हैं और इनमें से निन्यानवे सैकड़ा चित्रों में स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, विशेष कर स्तन दिखाये जाते हैं। हमें आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस जमाने में स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर ही अधिकार नहीं परन्तु उनपर भी अधिकार पाने का प्रयत्न करने लगी हैं उस जमाने में वे अपनी जाति का यह अपमान, यह दुर्दशा होते देख कर कुछ भी नहीं चिढ़तीं! क्या स्त्रियाँ यह पसन्द करती हैं कि उनकी जाति के चित्रों में शरीर के अंग-प्रत्यंग, और विशेष कर स्तन, अवश्य दिखलाये रहें? सम्पादक लोग तो इसपर विचार करते ही नहीं। उन्हें तो टके सीधे करने हैं! लोक-सेवा का आडम्बर रचकर नवयुवकों को वे अनीति के मार्ग में कितनी शीघ्रता से ढकेलते जाते हैं इसका कदाचित् उन्हें पता नहीं है, अथवा है भी तो उन्हें इससे क्या? उनके पत्र या पत्रिकाओं के ग्राहकगण तो बढ़ते हैं। लोगों को जो बात पसंद है वही वे छापेंगे। लोगों को उससे हानि मालूम पड़े तो वे भले ही उसपर दृष्टि न डालें! क्या सम्पादक किसी से कहने को जाते हैं कि आप स्त्रियों के अमुक चित्रों पर अवश्य मनन कीजिए और अपनी कामवासना को बढ़ाइए! वे तो 'कला' के पुजारी हैं, इसी नाते वे स्त्रियों के अंगप्रत्यंग दिखलाया करते हैं। परन्तु सम्पादक महाशयो, आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि केवल कानून की चंगुल से बचने से आपका काम न चलेगा। आप पर बहुत भारी जिम्मेदारी है। लोक-शिक्षा का बड़ा भारी बोझ आपके सिर पर है। जिस प्रकार "लैला मजनूं" के किस्से छाप-छाप कर आप लोगों की साहित्य-रुचि को गलत मार्ग में लेजा रहे हैं उसी प्रकार स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग के चित्रों को बारबार दिखलाकर आप नवयुवकों की कामवासना को उत्तेजित करते हैं। जिनका विवाह हो चुका है, उन्होंने तो अपनी स्त्री का अंग-प्रत्यंग अवश्य देखा ही है। इसलिए उन्हें चित्र में ये चीजें दिखाने से कोई लाभ नहीं। पर जिन्होंने युवतियों के अंग-प्रत्यंग नहीं देखे हैं उन्हें चित्र में भी दिखलाना हानिकारक है। क्योंकि युवक उन्हें देख देख कर न जाने कितनी बातें सोचा-विचारा करते हैं। इस प्रकार उनकी नरक कल्पना को उत्तेजित करना अत्यन्त हानिकारक है। कुछ पत्रिकाओं या पुस्तकों में स्तनों के ऊपर एक पतलासा और छोटा सा आच्छादन दिखला दिया जाता है, अन्यथा कमर के ऊपर का भाग नग्न ही रहता है। ये चित्र वास्तविकता से बहुत दूर रहते हैं। हम जानना चाहते हैं कि ऐसा कौन सा सभ्य समाज है कि जहाँ स्त्रियाँ इस प्रकार रहती हैं? कुछ पुस्तकों में, यहाँ तक कि पौराणिक ग्रन्थों में, स्त्रियों के चारों ओर एक ऐसा बहुत ही महीन वस्त्र दिखला दिया जाता है कि उससे शरीर का सब भाग साफ़-साफ़ देख पड़े। जैसा ऊपर हम कह चुके हैं, यह अनैतिहासिक है। हम जानना चाहते हैं कि उन चित्रों में जिस प्रकार का परिच्छद दिखलाया जाता है वैसा किस ग्रन्थ में वर्णित है? वैसा विचित्र परिच्छद होने की बात भारत में प्राचीन-काल में बिलकुल संभव नहीं है। हाँ, आज कल वेश्यायें और कहीं-कहीं कुछ शौकीन स्त्रियाँ बहुत पतला वस्त्र पहनने लगी हैं। पर उनके सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि छाती पर पतले ही वस्त्र क्यों न हो, पर कोई दूसरा वस्त्र अवश्य रहता है और कमर के भाग में वही पतला वस्त्र दुहरा तिहरा हो जाता है। इस कारण गुप्त भाग स्पष्ट देख नहीं पड़ते। परन्तु कुछ प्रकाशकों की पुस्तकों के चित्रों में स्त्रियों के परिच्छेद ऐसे बेहूदे ढँग से दिखलाये जाते हैं कि मानों वे पतले काँच के ही बने हों। इस प्रकार नवयुवकों की गुप्त वासनाओं को उत्तेजित करके वे अपने ग्रन्थों, पुस्तकों, पत्रों और पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ाते हैं और धनी बनते हैं। भला इनसे क्या लोक-सेवा हो सकती है? इनके विरुद्ध जितना आन्दोलन किया जाय उतना थोड़ा ही होगा। प्राचीन भारत का भ्रान्त चित्र दिखला कर वे इतिहास के गले पर छुरी चलाते हैं और काम-वासना को उत्तेजित करने वाले चित्र छाप कर नवयुवकों को अनीति के पङ्क में फेंकते जाते हैं।

जो बात हमने पत्र-पत्रिका और पुस्तकों के चित्रों के विषय में कही है, वही बात विज्ञापनों को भी लागू होती है। आज-कल विज्ञापन भी सचित्र छपने लगे हैं और उनमें से कई में स्त्रियों के चित्र रहते हैं। सुगन्धित तेलों के चित्रों में सुंदर बाल वाली अर्धनग्न स्त्री दिखलाना आजकल

परमावश्यक समझा जाता है। वे यह बतलाते हैं कि स्त्रियाँ ही बालों में तेल लगाती हैं, पुरुष इस काम के लिए तेलों का उपयोग करते ही नहीं। परन्तु क्या हम विज्ञापनदाताओं से यह पूछ सकते हैं कि आज-कल बाबू लोग बढ़ रहे हैं या नहीं? वे लोग बड़े-बड़े 'बाल रखने' लगे हैं या नहीं, और इसके लिए वे आप लोगों से तेल खरीदते हैं या नहीं? फिर आप उनके चित्र क्यों नहीं देते, स्त्रियों के ही चित्र क्यों देते हैं? स्त्रियों ने आप लोगों का क्या अपराध किया है? यह अन्याय उनके साथ क्यों?

उपरिलिखित विचार पढ़ कर कोई हमसे पूछेंगे कि क्या कला की दृष्टि से भी चित्र नहीं हो सकते। इसपर हमारा उत्तर यह है कि हाँ, कला की दृष्टि से भी चित्र हो सकते हैं। परन्तु उनके सम्बन्ध में दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो उनमें कला होनी चाहिए-केवल कला का व्यर्थ आभास न रहे। दूसरी बात यह है कि उनका प्रदर्शन ऐसे ही स्थानों में हो कि जहाँ नव-युवकों की दृष्टि बार-बार न पड़े। यदि दो शर्तें पाली जायँ तो पहला यह परिणाम होगा कि केवल स्त्रियों के ही चित्र न बनेंगे और छपेंगे, पुरुषों को भी उनमें स्थान मिलेगा। दूसरा परिणाम यह होगा कि वे वास्तविक अधिक रहेंगे, काल्पनिक यानी झूठे कम। तीसरा परिणाम यह होगा कि स्त्रियों के चित्रों का जो बुरा परिणाम हो रहा है, वह बंद हो जावेगा। काल्पनिक और आकर्षक चित्रों का बनाना बुरा नहीं, पर जो बात अपवादरूप से ही क्यों न हो पर वास्तविक नहीं है उसे दिखलाने में विशेष लाभ नहीं है। यदि आकर्षक और काल्पनिक चित्र ही छापने हों तो वे केवल अपवादरूप से ही। सामान्यचित्र सामान्य 'सत्य संसार के ही रहें, काल्पनिक संसार के नहीं।

आशा है, विचारवान् पाठक और संपादक ऊपर लिखे विचार पढ़ कर तदनुसार कार्य करने का प्रयत्न करेंगे और मुझे इस धृष्टता के लिए क्षमा करेंगे।

गोपाल दामोदर तामस्कर

सोवियट रूस

दस साल हुए, संसार में एक नवीन शक्ति ने जन्म लिया था। उसका आरम्भ नदी के उद्गम के समान छोटा था। आज वह एक प्रबल सत्ता के रूप में संसार के महान् से महान् साम्राज्यों को अपने आतंक से कंपा रही है। साम्राज्य वादियों को पद-पद पर यह शंका होती रहती है कि कहीं इसमें सोवियट रूस की कोई चाल तो नहीं?

आखिर यह है क्या? एक निरंकुश शासक के निर्मम अत्याचारों की प्रतिक्रिया। प्रजा के पुण्य प्रकोप का परिणत फल, प्रजा-सत्ता का सबसे अधिक परिष्कृत रूप और भावी युग का अरुणोदय।

राजसत्ता और साम्राज्यवाद की आधी दुनिया को यह चीज़ पहले-पहल तो अटपटी ही मालूम हुई। पर अब वह गलतफहमी के बादलों और कुहरों में से अपना रास्ता साफ़ करती हुई अपना विमल बिम्ब संसार को दिखाने लग गई है।

और इसका कारण है लोक-कल्याण की भावना। रूस की वर्तमान सरकार प्रजा-हित के लिए शासन करना चाहती है। उसे साम्राज्य बढ़ाने की हविस नहीं है। इसके प्रमाण में सोवियट रूस ने सब से पहले अपने अधीन दूसरी जातियों और राष्ट्रों को पूर्ण स्वाधीनता दे दी। पूर्व के राष्ट्रों से उसने ऐसी उदार सुलहें कीं जिनके कारण यूरोप और अमेरिका के दूसरे राष्ट्रों को लज्जा के मारे अपना सर झुकाना पड़ा। चीन में उसे जो खास रियायतें प्राप्त थीं उन्हें उसने खुद छोड़ दिया और ज़ार के ज़माने में ईरान से जो हक़ूक़ात अन्याय-पूर्वक छीने गये थे उनको भी उसने लौटा दिया। सच तो यह है कि स्वार्थियों के झुण्ड में रूस का द्वेष इन्हीं सद्गुणों और सत्कार्यों के कारण हो रहा है।

आज बोल्शेविज़्म की निन्दा का कोई अवसर ही खाली नहीं जाने दिया जाता। जिस शासन की इतनी बुराई की जाती है वह सचमुच पृथ्वी पर का नरक होना चाहिए न? देखिए श्री लुई फिल किन शब्दों में रूस की आंतरिक दशा का चित्र 'नेशन' पत्र में खींचते हैं:—

"इस देश की उन्नति के विषय में कोई इनकार नहीं कर सकता। आज पहले की अपेक्षा लोग कहीं अच्छे कपड़े पहने देखने में आते हैं। गाड़ियों और मोटरों की संख्या और उनमें जाने आने वालों की संख्या बढ़ गई है। नये और अच्छे अच्छे होटलों की और उनमें खाना खाने वालों की संख्या बढ़ गई है। हर साल बनने वाले मकानात की तादाद भी बढ़ गई। सड़कें और दफ्तरों की इमारतें अधिक अच्छी हो गई। बच्चों के चहरों पर तेज, शरीर में माँस और शक्ति का दर्शन होने लगा। सारे रूस में पहले की अपेक्षा बहुत कम, केवल कुछ हजार भिखारी, हैं।"

और वास्तव में रूस के किसान और मजूर अब अधिक सुखी हो गये हैं। अब उनको काम कम करना पड़ता है और तनख्वाह अधिक मिलती है। वे दो पैसे की बचत भी करने लग गये हैं। महायुद्ध के पहले की अपेक्षा उनकी आय सैकड़ा बत्तीस बढ़ गई है। काम का समय घट कर दिन में केवल छः घंटे कर दिया गया है। अगर महायुद्ध के पहले साधारण आय १०० मानी जाय तो सारी जनता की आय

१९२५-२६ में	१२८.१ हो गई थी
१९२६-२७	१३८ ,,

केवल मजूरों की

१९२५-२६ में	१४९.१ हो गई थी
१९२६-२७ ,,	१६७ तक बढ़ गई

इन वर्षों में औद्योगिक प्रगति इस तरह हुई। सन् १९१३ (महायुद्ध के पहले) की उपज अगर १०० मान ली जाय तो १९२६-२७ यों थी—

कोयला १०५, तेल १०९.७, कपड़ा १०९, लोहा ७०, धातुएँ ७६, घोड़े ८२, गायें ११२, बैल ११८

हमें स्मरण रखना चाहिए कि सोवियट रूस का यह कार्य-काल दो विभागों में बाँटा जा सकता है। १९१७ से २२ तक का समय सत्ता प्राप्त करने, गृहयुद्ध, और आर्थिक बरबादी काल था और १९२३-१९२७ तक का समय पुनः संगठन में लगा है। अभी बोलशेविकों को बहुत-कुछ करना बाकी है। उनके मार्गों में कठिनाइयाँ जरूर हैं; परन्तु उन्हें उज्वल भविष्य की आशा भी है।

इस महान् क्रान्ति से पहले रूस में शिक्षा की बड़ी अव्यवस्था थी। स्कूल पादरी की अधीनता में था। धनिक किसान और पुलिस की उसपर कड़ी देख-भाल थी। शिक्षक सदा संदेह की नजर से देखा जाता। पाठशाला में प्रार्थनायें और धार्मिक शिक्षा ही होती रही। पाठ्य पुस्तकों में धर्मान्धता के पाठ होते थे। इतिहास गुलामी के रंग से रंगे और खुशामद से भरे होते थे।

लोकसत्ता ने अपने हाथों में स्कूलों का संचालन लेते ही सबसे पहले पादरी साहब को धता बताई और स्कूल में धार्मिक शिक्षा तो बन्द ही कर दी। नयी पाठ्य पुस्तकों की रचना की और मई १९१८ में लड़कियों और लड़कों की साथ-साथ शिक्षा का कानून बनाया।

ज़ार के जमाने में नीचे लिखे प्रान्तों में इस प्रकार पाठशालायें थीं। शिक्षा रूसी भाषा में होती थी—

	ज़ार के समय	अब
तातारिया	६९	१५०० स्वभाषा के द्वारा
कामिया	११	३५० शिक्षा दी जाती है

एक बार कॅरेलियन लोगों ने एक शिष्ट-मंडल भेज कर अधिकारियों से स्वभाषा द्वारा शिक्षा देने वाले स्कूल खोलने के लिए प्रार्थना की, उनका यह साहस राजद्रोह समझा गया और शिष्ट-मण्डल गिरफ्तार कर लिया गया। अब कॅरेलियनों को प्रजासत्ताक राज्य दे दिया गया है। उनके यहां स्वभाषा द्वारा शिक्षा देने वाली पाठशालाओं की संख्या ४५० है। ७० पठनालय हैं और २२७ पाठकों के संघ हैं।

पाठशाला में शिक्षा आरम्भ होने के पहले बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए बालमन्दिर खोले जाते हैं। वहाँ माताओं को शिशु-पालन की शिक्षा दी जाती है। जार के जमाने में बालमन्दिर शायद ही कहीं देखे जाते थे। १९२३ में केवल ४७५ ऐसे बालमंदिर थे। १९२६ में ४८०० हो गये, आज केवल देहात में १०००० बालमंदिर चल रहे हैं। मिलों वाले शहरों में प्रत्येक कारखाने में एक-एक बालमंदिर है।

छोटे-छोटे बालकों के पालन और शिक्षा के लिए इन बालमंदिरों (Nurseries) के अतिरिक्त रूस में एक और संस्था है। उसे प्लेटफार्म कहते हैं। इसका उपयोग गर्मी के

अब आपकी बारी है

'त्यागभूमि' के विषय में अब अधिक लिखना अनावश्यक है। भारत के प्रायः तमाम प्रतिष्ठित पत्रों, विद्वानों और देशभक्तों ने इसके लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। विज्ञापनों से होनेवाली दूषित आय को ठुकरा कर विषम जीवन-पथ का अनुगमन करके 'त्यागभूमि' ने जो उज्ज्वल आदर्श भारत के पत्र-पत्रिकाओं के सामने रक्खा है वह तो अद्वितीय है। इसके चित्र भी कलामय, सुरुचिपूर्ण और हृदय को ऊँचा उठाने वाले होते हैं। विलासिता, कुरुचि, कायरता और अकर्मण्यता को देश से मार भगाने का प्रन इसने ले रक्खा है।

सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में शान्तिमय उपायों द्वारा आमूल क्रान्ति कर देना इसका ध्येय, साधन और अंगीकृत कार्य है।

पर 'त्यागभूमि' अपने इस महान् उद्देश्य में तभी सफल हो सकती है जब उसका प्रचार देश के कोने-कोने में हो। 'त्यागभूमि' की यह महत्त्वाकांक्षा है कि वह देश के सर्वश्रेष्ठ नेताओं के सन्देश गाँव-गाँव में पहुँचा दे। यह तभी हो सकता है जब इसका मूल्य ऐसा हो जिसे सर्व-साधारण खरीद सकें। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मण्डल ने अपनी ओर से 'त्यागभूमि' का मूल्य लागत से भी कम रक्खा है। वह हजारों की घटी उठा कर चलाई जा रही है। पहले वर्ष में ही पाँच सात हजार की घटी होगी; पर हमें इस पर जरा भी अफसोस नहीं है क्योंकि घटी को तो मान कर ही हमने शुरूआत की है; यदि इतनी घटी उठाकर भी देश में निकट भविष्य में निश्चय ही होनेवाली *शान्तिमय क्रान्ति के लिए* "त्यागभूमि" जनता को तैयार कर सकी तो वह अपने को कृतार्थ समझेगी। पर इसके लिए दोनों तरफ से प्रयत्न होना जरूरी है। 'त्यागभूमि' के ग्राहक जितने अधिक बढ़ेंगे उतना ही वे उसके इस विशाल आयोजन में सहायक होने के पुण्य के भागी होंगे। मण्डल और 'त्यागभूमि' का जन्म धन बटोरने के लिए नहीं हुआ है; बल्कि सद्भावों और सद्विचारों का घर-घर में प्रचार करने के लिए हुआ है। यह घटी में लगने वाला पैसा यदि बच जाय तो उसके विस्तृत प्रचार और मूल्य को और भी कम करने में लगाया जा सकेगा। इस समय तो हम चाहते हैं कि 'त्यागभूमि' सब से पहले स्वावलम्बी हो जाय। इसके लिए

(उधर देखिए)

अब आपकी बारी है

'त्यागभूमि' के विषय में अब अधिक लिखना अनावश्यक है। भारत के प्राय: तमाम प्रतिष्ठित पत्रों, विद्वानों और देशभक्तों ने इसके लेखों और सम्पादकीय टिप्पणियों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। विज्ञापनों से होनेवाली दूषित आय को ठुकरा कर विषम जीवन-पथ का अनुगमन करके 'त्यागभूमि' ने जो उज्ज्वल आदर्श भारत के पत्र-पत्रिकाओं के सामने रक्खा है वह तो अद्वितीय है। इसके चित्र भी कलामय, सुरुचिपूर्ण और हृदय को ऊँचा उठाने वाले होते हैं। विलासिता, कुरुचि, कायरता और अकर्मण्यता को देश से मार भगाने का व्रत इसने ले रक्खा है।

सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्रों में शान्तिमय उपायों द्वारा आमूल क्रान्ति कर देना इसका ध्येय, साधन और अंगीकृत कार्य है।

पर 'त्यागभूमि' अपने इस महान उद्देश्य में तभी सफल हो सकती है जब उसका प्रचार देश के कोने-कोने में हो। 'त्यागभूमि' की यह महत्त्वाकांक्षा है कि यह देश के सर्वश्रेष्ठ नेताओं के सन्देश लोक-लोक में पहुँचा दे। यह तभी हो सकता है जब इसका मूल्य ऐसा हो जिसे सर्वसाधारण खरीद सकें। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए मण्डल ने अपनी ओर से 'त्यागभूमि' का मूल्य लागत से भी कम रक्खा है। वह हजारों की घटी उठा कर चलाई जा रही है। पहले वर्ष में ही पाँच सात हजार की घटी होगी, पर हमें उस पर जरा भी अफसोस नहीं है क्योंकि घटी को तो मान कर ही हमने शुरूआत की है। यदि इतनी घटी उठाकर भी देश में निकट भविष्य में निश्चय ही होनेवाली *शान्तिमय क्रान्ति के लिए* "त्यागभूमि" जनता को तैयार कर सकी तो वह अपने को कृतार्थ समझेगी। पर इसके लिए दोनों तरफ से प्रयत्न होना जरूरी है। 'त्यागभूमि' के ग्राहक जितने अधिक बढ़ेंगे उतना ही वे उसके इस विशाल आयोजन में सहायक होने के पुण्य के भागी होंगे। मण्डल और 'त्यागभूमि' का जन्म धन बटोरने के लिए नहीं हुआ है; बल्कि सद्भावों और सद्विचारों का घर-घर में प्रचार करने के लिए हुआ है। यह घटी में लगने वाला पैसा यदि बच जाय तो उसके विस्तृत प्रचार और मूल्य को और भी कम करने में लगाया जा सकेगा। इस समय तो हम चाहते हैं कि 'त्यागभूमि' सब से पहले स्वावलम्बी हो जाय। इसके लिए

(आगे देखिए)

२० हजार ग्राहकों की जरूरत है

क्या यह असम्भव है ?

बिलकुल नहीं। इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य, जापान, जर्मनी आदि देशों में बीसों ऐसे पत्र हैं जिनकी ग्राहक संख्या लाखों पर चली गई है। इनमें से प्रत्येक देश की जन-संख्या भारत से, चौथाई भी नहीं। फिर भारत में क्यों इतने ग्राहक नहीं हो सकते ?

यदि हमें अपने देश में क्रान्ति करना है तो उसके लिए ऐसी क्रान्तिकारिणी पत्रिका के प्रचार की सबसे भारी जरूरत है। प्रचारकों, सभाओं आदि की अपेक्षा प्रचार का यह कहीं सस्ता, सुन्दर, और शान्त तरीका है। देश के स्त्री पुरुषों को चाहिए कि वे ऐसी स्फूर्तिदायिनी पत्रिकाओं में जीवनबल का आदान प्रदान करें। तभी देश में नवीन युग का प्रवेश होगा और नव जीवन की धारायें बहेंगी।

यदि इस अपील को पढ़ने वाले प्रत्येक पाठक

यह निश्चय कर लें तो उनके लिए एक वर्ष के अन्दर २०००० ग्राहक बना देना असम्भव नहीं। प्रतिमास घटी उठा कर, विज्ञापनों की आय में अपने को अलग रखके और लागत से भी कम मूल्य में अपनी संख्यायें पहुंचा कर 'त्यागभूमि' अपने त्याग का परिचय दे ही रही है।

सहृदय और देशभक्त सज्जनों, अब आपकी बारी है

इतने ग्राहकों के लिए यदि हमें प्रचारक ही रखना पड़े और बहुतेरे विज्ञापन छपाने पड़ें तो मण्डल का बहुतसा रुपया, समय और शक्ति इसमें लग जायगी। यदि पाठक हमारी सहायता को दौड़ पड़ें तो यह सब बच जायगा और वह दूसरे सेवा के कामों में लग सकेगा।

हमें विश्वास है कि 'त्यागभूमि' के प्रेमी अभिभावक इस निःस्वार्थ काम में हमारा जरूर हाथ बटावेंगे। आप जिस चीज़ को घर, समाज, देश और धर्म के लिए अच्छी समझते हैं उसका प्रचार करने में उत्साह और स्फूर्ति होना सजीवता की निशानी है और संकोच निर्जीवता की।

हम आशा करते हैं कि आप कम से कम पांच ग्राहक इसी वर्ष 'त्यागभूमि' के लिए बनाकर भेजेंगे। सेवाभाव से इस काम में हमारा सहयोग देने वाले सज्जनों के नाम सधन्यवाद 'त्यागभूमि' में प्रकाशित किये जावेंगे।

इसी तरह घटी उठाकर मंडल से बहुतेरी सस्ती पुस्तकें निकाली जा रही हैं। मंडल के भी जबतक चार पांच हजार ग्राहक नहीं होजाते तबतक बराबर घटी उठानी पड़ेगी। क्या हम आशा करें कि आप मंडल की पुस्तकों का प्रचार करने में, व उस के ग्राहक बढ़ाने में मदद करेंगे।

चौथाई और आधे मूल्य वाली पुस्तकों की सूची इसी अंक के शुरू में दी गई है सो देख लें। पौने मूल्य वाली पुस्तकों की सूची आठवें अंक में दी गई थी।

विनीत—मन्त्री

"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी॥"

अञ्जलि

मातृभूमि की सेवा में,

माता! मैं इन चरणों में, कुछ सुमन चढ़ाने लाया हूँ।
तेरी सौम्य मूर्ति की सेवा, करने को अकुलाया हूँ॥
पुष्पाञ्जली प्रेम की तेरे, अर्पण करने आया हूँ।
दूर देश से जननी! तेरे, दर्शन करने धाया हूँ॥

माता! कर दो क्षमा धृष्टता,
पूरण कर दो हृदय-चही।
हो प्रसन्न, स्वीकार करो
अंजलि, मेरा अनुरोध यही॥

अवन्तविहारी माथुर

परदे को फाड़ फेंको

यह हमारे और पाठक-पाठिकाओं के लिए दुर्दैव की बात है कि अबतक भी हमें परदे की बुराइयां दिखानी पड़ती हैं। स्त्रियों और पुरुषों में प्रत्येक देश में और प्रत्येक काल में एक हद तक परदा रहना ज़रूरी है और वह रहेगा भी। पर इस परदे के लिए मर्यादा अथवा लाज का नाम ज्यादा अच्छा होगा। उसके लिए घूंघट काढ़ने, बुर्क़ा ओढ़ने या ऊपर से चादर डाल कर इधर-उधर घूमना जरूरी नहीं है। जैसे और तमाम अच्छी-अच्छी बातें बुरा रूप धारण कर लेती हैं उसी प्रकार इस स्त्री-जाति की मर्यादा अथवा लाज ने भी अपना रूप बदल दिया है और इस समय समाज में अनेकों बुराइयां फैलाने का साधन यह हो रही है।

सबसे पहले यह स्त्रियों के स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकर है। घूंघट काढ़ने और बुर्क़ा ओढ़ने से सांस लेने के लिए उन्हें साफ़ हवा मिल नहीं सकती। जिस हवा को सांस द्वारा वे छोड़ती हैं उसीको फिर उन्हें सांस द्वारा भीतर लेना पड़ता है। इसमें काफ़ी प्राणवायु नहीं होता। स्त्रियों का दम घुटता है। वे कमज़ोर हो जाती हैं। अपने आपको दूसरों की नज़रों से बचाने के ख़याल से वे कहीं खुली हवा में बाहर नहीं निकल सकतीं, न ऐसे काम-काज ही कर सकती हैं जो घर-गिरस्ती के लिए ज़रूरी है। इससे एक तो उन्हें काफ़ी व्यायाम नहीं मिलता, वे कमज़ोर और रोगी हो जाती हैं। और दूसरे जो काम वे खुद कर सकती हैं उनके लिए पैसे ख़र्च करने पड़ते हैं। और ऐसे धनवान लोग तो बहुत कम हैं जो यह सारा ख़र्च बर्दाश्त कर सकें। इसलिए या तो पुरुषों के ऊपर वे काम आन पड़ते हैं या पैसे ही ख़र्च करने पड़े तो घर की ग़रीबी बढ़ती है। फिर बाहर से जो पुरुष या स्त्रियां काम करने के लिए रक्खे जाते हैं वे सच्चे और सदाचारी होते ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। काम-काज भी उतना अच्छा नहीं हो सकता जितना घर के आदमी से होता है। अगर नौकर-नौकरानी चोर हुए तो ग़रीबी और भी बढ़ती है और चरित्रहीन हुए तो एक नयी बुराई हमारे घर के अन्दर घुसने का डर बना रहता है। रक्षा करना हमारे लिए बड़ा कठिन होता है।

यह कुप्रथा उन जातियों में और भी ख़तरनाक होती है जिनमें औरतें औरतों से परदा करती हैं। राजपूताने में यह बीमारी बड़े भयंकर रूप में है। यहां पर तो बहू-सास का और देवरानी-जेठानी का भी परदा होता है। सारा काम इशारों से होता है। देवरानी जेठानी का और सास बहू का आपस में बोलना घोर अविनय समझा जाता है। घर मानों भूतों का अड्डा हो जाता है। बहू को नमक की ज़रूरत होने पर रोटी और दाल की जगह पर साग मिलता है। घर में चलते-फिरते भी पुरुषों को सीटी देकर लाइनक्लियर मांगना पड़ता है। जब पुरुष आते हैं तो स्त्रियां उसी तरह अपने-अपने बिलों में भाग जाती हैं जैसे बिल्ली के आने पर चूहे। भला दरिद्रता और बीमारियां ऐसी अच्छी जगह अपना अड्डा न जमावें तो और जावें कहां? राजपूताना आलस्य, दरिद्रता और इनसे पैदा होनेवाली बुराइयों का लीलास्थल हो रहा है।

पर ऐसी क़ैद को बहुत कम आत्मायें ख़ुशी-ख़ुशी सहती हैं। इस हालत में ऊपरी शरीर को क़ायम रखते हुए परदे के प्राण हरण करने के प्रयत्न स्त्रियां क्यों न करें? यह गुनामी और कालकोठरी की सजा वे कबतक सहें? ताज़ी हवा के ख़याल से महीन ओढ़नियों की ज़रूरत मालूम होने लगी। पर इसमें एक बुराई बढ़ गई। ताज़ी हवा के साथ-साथ बाहरी दुनिया की रोशनी परदे में घुसने लग गई। परदा एक क़िला बन गया, जहां, के लोग अपने शत्रु और मित्रों की पहचान करके उन्हें क़िले में स्थान देने लग गये।

अब तक परदानशीन स्त्रियों के लिए पुरुष और पुरुषों के लिए स्त्रियां अदृश्य थीं। परन्तु कपड़ा महीन होते ही स्त्रियों के लिए पुरुष अथवा बाहरी दुनिया खुली हो गई। घूंघट के अन्दर से अपनी इच्छित चीज़ों को बेखटके देखने की सुविधा उनके लिए होगई। और महीन कपड़े के अन्दर से उनके शरीर का आकार भी कुछ-कुछ दीखने के कारण पर पुरुषों का ध्यान उनकी तरफ़ अधिक खिंचने लगा।

क़िले के अन्दर बैठ कर हम अपने शत्रुओं पर बेखटके बाण चलाते हैं और कभी-कभी ऐसा करने में ख़ामख़्वाह आनन्द भी आता है। इसी नियम के

अनुसार परदा-नशीन औरतों में बेखटके और बेरोकटोक बाहरी दुनिया को देखने की निर्लज्जता आ जाती है। यह तो प्रायः सभी लोगों का अनुभव है कि परदा-नशीन औरतों की अपेक्षा उन औरतों की आंखों में अधिक लज्जा और मर्यादा होती है जिनमें परदे का रिवाज नहीं होता।

हम स्वाधीनता चाहते हैं, परन्तु अंग्रेज़ सरकार हमें रोकती है। लो० तिलक और महात्मा गाँधी से पहले लोग खुलेआम यह कहने से हिचकते थे कि हमें स्वराज्य चाहिए। इसलिए एक क्रान्तिकारीदल की उत्पत्ति हुई। वह दबे-छिपे अधिकारियों की आँख बचा कर स्वाधीनता की चेष्टा करने लगा और लोगों को इसके लिए तैयार करने लगा। उसी तरह बाहरी दुनिया की स्वतन्त्र हल-चल को देख कर बहू-बेटियों को भी अगर खुली हवा का लाभ उठाने की इच्छा हो तो इसमें कौन बुरी बात है ? इसलिए जब वे देखती हैं कि हमारे घर के लोग हमें यह स्वतन्त्रता नहीं देना चाहते तो उनके सामने तो वे परदे में रहती हैं और जब ये लोग नहीं होते तब परदा छोड़ कर वे दूसरी औरतों की तरह काम-काज करना चाहती हैं।

दिन में जब घर के सारे मर्द अपने काम-काज से बाहर चले जाते हैं और वहाँ औरतें ही औरतें रहती हैं, तब सन्नाटा देख कर फेरी वाले अपनी खेल-खिलौनों की घूमती दूकानें लेकर निकलते हैं, खोमचे वाले चीनी की चूड़ियां लेकर आते हैं। तरह-तरह के तेल और साबुन वाले अपना माल बेचने और काम करने की फ़िराक़ में निकलते हैं। काच की देशी-विदेशी चूड़ियों और कांच के बर्तन वाले आते हैं। गर्मी के दिनों में मलाई के बरफ़ वाले भी निकल पड़ते हैं।

आस-पास की जवान-बूढ़ी औरतें एक जगह इकट्ठी होकर फेरी वाले को पुकारती हैं। उससे सौदा करती हैं। बच्चों के लिए खेल-खिलौने खरीदती हैं। जवान बहू-बेटियां भी उनकी आड़ में खड़ी होकर देखती रहती हैं। धीरे-धीरे वे ढीठ होकर सामने भी आ जाती हैं, और खुद चीज़ों को पसन्द-नापसंद करती हैं। धीरे-धीरे फेरी वाले से उनकी पहचान हो जाती है, वह उनका मकान देख लेता है। कभी-कभी उधर से गुज़रते हुए वह आवाज़ लगा कर अपनी चीज़ों का विज्ञापन भी कर देता है। घर में हमेशा तो बूढ़ी औरतें होती ही नहीं, इसलिए यही उसे पुकार कर ज़रूरी चीजें खरीद लेती हैं।

पर हमेशा घर में ही बैठे रहने के कारण इन बेचारी स्त्रियों को व्यवहार-ज्ञान नहीं होता। वे भले-बुरे आदमी को और गुण्डों की चालों को नहीं पहचान सकतीं। ऐसे सन्नाटे के समय यदि कोई उनसे अनुचित छेड़-छाड़ करता है तो उसे डांटने की हिम्मत उनमें नहीं होती। लज्जा और बदनामी का खयाल करके वे चुपचाप रहती हैं। बुराई बढ़ती जाती है। और एक आध दिन जब किसी निर्घृण पाप की खबर हमारे कानों पहुँचती है तो हम सिहर उठते हैं।

और पाप का रास्ता भी ऐसा आसान और मोहक होता है कि बेचारी इन निर्दोष स्त्रियों को जब तक वे बहुत दूर तक नहीं निकल जातीं अपनी फिसलाहट का पता तक नहीं लगता। सास-ससुर के पीछे, जेठानी और अन्य बड़ी बूढ़ी औरतों की पीठ पीछे, नई-नई बहुयें निर्दोष भाव से अपने नौकर तथा दूसरे नीची श्रेणी के स्त्री-पुरुषों से बात-चीत करके किसी तरह स्वाधीनता का अनुभव करने की कोशिश करती हैं। ऐसे समय उनपर वह कृत्रिम नियंत्रण नहीं होता, जो सास-ससुर के सामने होता है। वे ज़रा निःसंकोच हो जाती हैं, हंसती हैं, थोड़ा बहुत मज़ाक़ भी हो जाता है। और एक गहरे पतन की बुनियाद पड़

जाती है। अपनी शक्ति पर हद से ज्यादा विश्वास करने वाले वीर पुरुष शत्रु पर हद से ज्यादा दया करने की डींग हांकते हैं, पर अनेकों बार खुद वे ही फंस जाते हैं। इसी भाव से कई बार स्त्रियां अपरिचित आदमियों, नौकरों और फेरी वालों से बातें करने लग जाती हैं। पर उन्हें बहुत सावधान रहना चाहिए; उन्हें कभी अपरिचित स्त्री-पुरुषों से हंसी-मजाक नहीं करनी चाहिए। "औरत की जात हँसी की फँसी" इस कहावत में बहुत सत्यांश है।

जिस समाज में परदे की कुप्रथा है उसमें निश्चित रूप से व्यभिचार की बुराई अधिक होती है। और इसका कारण प्रकट है। जहां स्वाधीनता का रास्ता खुला नहीं है वहां उसे हासिल करने के लिए टेढ़े-मेढ़े रास्तों को आदमी खोजता है। यह करते हुए अज्ञान औरतें फिसल पड़ें, कुमार्ग में लग जायं, तो आश्चर्य नहीं।

परन्तु वैसे भी परदा अन्धकार है। अन्धकार में पाप को खूब अवकाश मिल जाता है। परदे की ओट में कितनी ही जगह घोर से घोर पाप होते देखे गये हैं। इसके उदाहरण सैकड़ों और हजारों मिल सकते हैं। प्रत्येक पाठक अपने आस-पास के समाज की हालत को देख कर सावधान हो जायँ।

"कथाहि खलु पापानामलमश्रेयसे"—पापों की कथा और उदाहरण पेश करना भी पाप को बढ़ाना है। महाकवि माघ का यह वचन इस विषय में सब से अधिक चरितार्थ होता है।

परदे के कारण हम अपने घर के लोगों से ही अपरिचित रहते हैं। आज अगर सीता-हरण हो तो जटायु तो क्या प्रत्यक्ष दशरथ भी अपनी बहू को न पहचान सकें—फिर उसे छुड़ाना तो बहुत दूर की बात है।

पर परदे को छोड़ने के मानी यह नहीं कि मर्यादा और लाज को छोड़ दिया जाय। स्त्री-दाक्षिण्य को तलाक दे दिया जाय। स्त्री-पुरुषों में और बड़े-बूढ़े के साथ दाक्षिण्य और मर्यादा तो अवश्य रहनी चाहिए—सिर्फ उस बुर्क़ा ओढ़ने और घूंघट काढ़ने की घृणित प्रथा को छोड़ देने की जरूरत है। सास-बहू और देवरानी-जेठानी में उतनी ही स्वाधीनतापूर्वक व्यवहार होना चाहिए, जितना मा-बेटी और दो बहनों में होता है। घर के इन रिश्तों में स्वाभाविकता और सादगी आते ही बाहर के लोगों के साथ जैसा व्यवहार करना चाहिए वह अपने आप स्वाभाविक हो जायगा। उचित स्वाधीनता स्त्रियों को मिलते ही उनकी आंखों में तेजस्विता और व्यवहार आदर उत्पन्न करने वाला हो जायगा। तब किसी पर-पुरुष को उनसे अनुचित छेड़छाड़ करने की हिम्मत न होगी और वे अपने सतीत्व और सन्मान को अक्षुण्ण रख सकेंगी।

—वैजनाथ महोदय

"वही उत्तम सहधर्मिणी है, जो अपने धर्म और यश की रक्षा करती है और प्रेम-पूर्वक अपने पति की आराधना करती है।"

"चहारदीवारी के अन्दर परदे के साथ रहने से क्या लाभ? स्त्री के धर्म का सर्वोत्तम रक्षक उसका इन्द्रिय-निग्रह है।"

"स्त्री अपने सतीत्व की शक्ति से सुरक्षित हो, तो दुनिया में उससे बढ़कर शानदार चीज़ और क्या है?"

"देखो, जिन लोगों में लज्जा की सुकोमल भावना है, वे अपने को बेइज्जती से बचाने के लिए अपनी जान तक दे देंगे और प्राणों पर आ बनने पर भी लज्जा को नहीं त्यागेंगे।"

—ऋषि तिरुवल्लुवर

मेरी स्पिरीडोनोवा

स्वतन्त्रता की परीक्षा में उत्तीर्ण देशों में जो वीर आत्मायें प्रातःस्मरणीय समझी जाती हैं, उनमें कितनी ही इस वसुधा पर स्त्री-रूप में अवतीर्ण हुई थीं। विशेष कर रूस के आधुनिक इतिहास के सैकड़ों पृष्ठ ऐसे ही रमणी-रत्नों की गुण-गाथा और स्मारक कहे जा सकते हैं। रूस में देश की वेदी पर अपने आपको बलिदान कर देने वाली कितनी ही वीर महिलायें हुई हैं, और यह निर्णय करना असंभव है कि किसके त्याग का मूल्य या महत्त्व क्या था। इन्हींमें से एक मेरी स्पिरीडोनोवा की पवित्र स्मृति में कुछ पंक्तियां स्वतंत्रता केप्रेमियों की भेंट की जाती हैं, जो आशा है भारत की आज की दशा में हमारे लिए स्फूर्तिदायक होंगी।

आज से लगभग चौबीस वर्ष पहले की बात है। रूस के तंबोफ-प्रांत में उत्पीड़ित प्रजा ने जगह-जगह बगावत कर दी। उस प्रांत के शासक लुजेनोवस्की ने बागियों को सबक़ सिखाने के लिए उनपर धावा बोल दिया और अपने क़ज़ाक़ सिपाहियों को मनमानी करने की आज़ादी दे दी, हज़ारों किसान क़त्ल कर दिये गये और हज़ारों जेल या यन्त्रणागार में पहुँचा दिये गये। ज़ार के सिपाहियों को दिन-दहाड़े लूटमार या अबलाओं पर बलात्कार करते रोकने वाला कोई न था। जब विद्रोहियों की संस्था ने किसी अन्य उपाय से इस अत्याचार और अन्याय का प्रतीकार होते न देखा, तब उसने अपने विशेष अधिवेशन में निश्चय किया कि जिस मनुष्य की आज्ञा से इतनी ज़ोर-ज़बरदस्ती और ख़ून-ख़राबी हो रही है, उसीके रक्त से प्रजा की प्रतिशोध-पिपासा मिटाकर कुछ अंश में यह उत्पात रोका जाय।

मेरी स्पिरीडोनोवा तम्बोफ़ की क्रांतिकारी समिति के सदस्यों में थी और इस समय उसकी अवस्था प्रायः बीस वर्ष की थी। चार पांच साल पहले वह एक बार जेल हो आई थी और पुलिस के रजिस्टर में उसका नाम दर्ज था। ज्यों ही समिति ने प्रस्ताव द्वारा अपना निश्चय प्रकट किया, यह वीर बाला आनन्द से उछल उठी और बोली कि 'प्रस्ताव को कार्य-रूप देने का भार मैं अपने ऊपर लेती हूँ—आप सब इस विषय में निश्चिन्त रहें।'

१९०६ ई० के प्रारम्भ में पुलिस को समिति के प्रस्ताव और स्पिरीडोनोवा के संकल्प की ख़बर हो गई। पर इससे पहले ही वह एकाएक लापता हो गई थी और लाख चेष्टा करने पर भी पुलिस उसका अनुसंधान न पा सकी। वास्तव में स्पिरीडोनोवा तम्बोफ़ में ही थी—उसने सिर्फ़ अपना भेष इस ख़ूबी से बदल दिया था और इतनी सावधानी से रहती थी कि ख़ुफ़िया विभाग वाले भी यह भेद न पा सके कि वह कहाँ थी और क्या कर रही थी ?

पर लुजेनोवस्की के रक्षक भी इस बात से आगाह कर दिये गये थे कि क्रांतिकारी उनके मालिक के ख़ून के प्यासे हो रहे हैं, इसलिए स्पिरीडोनोवा को बहुत चेष्टा करने पर भी वह मौक़ा न मिला, जिसकी वह दिन-रात तलाश में थी। फिर भी वह निराश या हतोत्साह होनेवाली न थी और एक के बाद एक उपायों की आज़माइश करती ही रही। कुछ ही समय बाद लुजेनोवस्की अपने दौरे पर निकला और स्पिरीडोनोवा यह सोचकर उसके पीछे हो ली कि शायद सफ़र में उसे अपना संकल्प पूरा करने का अवसर मिल जाय। कई रोज़ तक वह इधर-उधर घूमती रही, या यों कहना चाहिए कि लुजेनोवस्की का पीछा करती रही; पर उसके पास न फटक सकी। १६ जनवरी १९०६ को वह थर्ड क्लास का टिकट लेकर, ज़रदेव का स्टेशन पर, किसी ट्रेन की

प्रतीक्षा कर रही थी। संयोगवश लुजेनोवस्की उसी ट्रेन से सवलवज़ बौरीसोग्लिब्रक नामक स्थान को जा रहा था और ज्योंही स्पिरीडोनोवा को यह बात मालूम हुई, वह थर्ड की जगह सैकण्ड का टिकट ले कर, लुजेनोवस्की के पासवाले डब्बे में सवार हो गई। बौरीसोग्लिब्रक पहुँचते ही, वह झट बाहर निकलकर ट्रेन की सीढ़ी पर खड़ी हो गई और एक खास स्कूल में शिक्षा पाने वाली बालिका की सी वेष-भूषा बनाये, प्लैटफार्म का दृश्य देखने लगी। क़ज़ाक़ सिपाही और शरीर-रक्षक सबको वहाँ से हटा रहे थे और लुजेनोवस्की की आँखों के सामने डंडेबाजी कर रहे थे। जब सारा प्लैटफार्म मुसाफ़िरों से खाली हो गया तब शासक महोदय ट्रेन में उतरे और सिपाहियों की दो क़तारों के बीच आगे बढ़े। पर मुश्किल से दस क़दम चल पाये थे कि रिवाल्वर की आवाज़ हुई और लुजेनोवस्की की छाती छेदती हुई गोली पार हो गई। उसके गिरते ही स्पिरीडोनोवा ट्रेन से कूदकर उसके पास पहुँच गई और सबके सामने उस पर तीन और गोलियाँ चलाकर उसे पेट और छातीमें बेतरह घायल कर दिया। यह सारा काम उसने इतनी फुर्ती से किया कि लुजेनोवस्की के रक्षक या स्टेशन के मुलाज़िम चौथी फ़ैर होने तक अपना होश भी न सम्हाल सके और एक दूसरे का मुँह देखते रह गये! इसके बाद स्पिरीडोनोवा ने पाँचवीं गोली से अपना अन्त कर देना चाहा, पर उसकी इच्छा पूरी न हो सकी। एक क़ज़ाक़ अफसर ने झट उसके हाथ से रिवाल्वर छीन लिया और उसके बालों को पकड़ कर ऐसा झटका दिया कि वह पथरीले प्लैटफार्म पर गिर पड़ी। फिर चारों ओर से इतनी मार पड़ी कि थोड़ी ही देर में वह बिलकुल बेहोश हो गई। लुजेनोवस्की के सिपाही उसे मारते-मारते थक गये, तब उसके पैर पकड़ कर घसीटते हुए स्टेशन के बाहर ले गये और बेहोशी की हालत में ही उसे शहर की कोतवाली में पहुँचाया। यद्यपि वह उस समय किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सकती थी और अधमरी सी हो रही थी, फिर भी वह अस्पताल न भेजी जाकर कालकोठरी में बन्द कर दी गई और सेवा-शुश्रूषा तो दूर रही, दण्ड के विचार से, उन अफ़सरों की दृष्टि में, जो कुछ बाकी था उसकी पूर्ति की जाने लगी।

मेरी स्पिरीडोनोवा के चरित्र-लेखक ने इस प्रसंग में लिखा है कि कालकोठरी में वह बिलकुल नंगी कर दी गई और पुलिस वाले उसे इसी हालत में फुटबाल की तरह ठुकराने लगे। थोड़ी देर बाद उसपर एक खास तरह की चाबुक की मार पड़ने लगी और जब इससे भी उन्हें संतोष न हुआ तब उसके शरीर को जगह-जगह जला दिया और चमड़ा नोच डाला। इस समय उसकी जो अवस्था थी उसकी कल्पनामात्र से आँखों में आँसू भर आते हैं। पर दृढ़ता की मूर्ति स्पिरीडोनोवा ने फिर भी पुलिस वालों को कोई ऐसी बात न बताई, जिससे उन्हें और क्रांतिकारियों का पता चलता या इस आंदोलन को दबाने में कुछ भी सहायता पहुँचती। स्पिरीडोनोवा की एक आँख फूट सी गई थी और बाक़ी शरीर के घावों का ठिकाना न था। फिर भी पुलिस वाले कृतकार्य न हुए और स्पिरीडो-नोवा से मतलब की एक भी बात न कहला सके। उधर तब तक लुजेनोवस्की की मृत्यु हो चुकी थी।

कुछ समय बाद स्पिरीडोनोवा तम्बोफ़ पहुँचाई गई और फौजी अदालत द्वारा उसके अपराध का विचार हुआ। पन्द्रह-सोलह रोज वह तम्बोफ़ की जेल में रही, और उसकी माँ के बहुत लिखा-पढ़ी करने पर एक दिन उससे जेल में मिलने की इजाजत मिली। अपनी प्राणाधार 'मरूसिया' की करुणावस्था देखकर वह स्तम्भित हो गई। क्या दारुण दृश्य था! उसकी लाड़ली के अंग-अंग में पट्टी या पुल्टिस बँधी

हुई थी और जान पड़ता था कि जीवन-ज्योति उससे विदा हो चुकी है। थोड़ी देर तक उसकी माँ उसके कमरे के दर्वाजे पर चुपचाप खड़ी रही, फिर उसके पास जाकर उसे एकटक देखने लगी। आँखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। जो अफ़सर उसके साथ आया था, वह यह सुनने के लिए झुक गया कि माँ-बेटी में क्या बातचीत होती है। पर, दोनों में, किसी के मुँह से एक शब्द न निकला?

स्पिरीडोनोवा इस समय बेहोश न थी और उसने बड़ी देर बाद टूटे-फूटे शब्दों में अपनी माँ से कहा:-- "मैं बड़े आनन्द से मरूँगी। मुझे दुःख है तो यही कि मैं अपनी जान आप न ले सकी और इन नीच बर्बरों के हाथ में जीते जी पड़ गई।"

फ़ौजी अदालत ने बन्द कमरे में स्पिरीडोनोवा का विचार किया। तब तक वह कुछ स्वस्थ हो चली थी। उसके बैरिस्टर के दरख्वास्त करने पर अदालत ने इस बात की इजाज़त दी कि उसके घावों की डॉक्टरों द्वारा परीक्षा कराई जाय। उन डाक्टरों के इजहार में पुलिस के कर्मचारियों तथा लुजेनोवस्की के सिपाहियों की पाशविकता और नृशंसता पर ऐसा प्रकाश पड़ा कि सरकार से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोगों का सिर लज्जा से झुक गया—यद्यपि यह आशा दुराशामात्र थी कि ऐसे मामले में अभियुक्त के साथ किञ्चिन्मात्र भी न्याय हो सकेगा।

विचारपति ने प्रश्न किया, 'तुम्हें अपने अन्तिम वक्तव्य के तौर पर कुछ कहना है?' इसपर स्पिरीडोनोवा ने बड़ी निर्भीकता से कहा—

'सज्जनो! इस देश में आप चाहें जिधर दृष्टि डालें, आपको सुखी और सन्तुष्ट प्रजा कहीं न मिलेगी। जो इस समय ग़रीबों को सता रहे हैं और जिनकी जीत का डंका बज रहा है, वास्तव में वे भी सुखी नहीं हैं। उनकी सुख-शान्ति में बाधा डालने वाला उनका यह ज्ञान या विश्वास है कि उनकी यह विजय थोड़ी देर के लिए है और जो इस समय बंधे हुए या दबे हुए हैं, उनकी हालत बराबर ऐसी ही न रहेगी। जो आज अन्याय और अत्याचार की चक्की में पिस रहे हैं, उनका भी समय फिरेगा और वे रोना-धोना बन्द कर अपनी एकता के लिए किसी और उपाय का अवलम्बन करेंगे। अपने लिए मुझे कोई डर या चिन्ता नहीं है। बड़ी से बड़ी सज़ा आप मुझे मौत की दे सकते हैं; पर जो तकलीफ़ मैं झेल चुकी हूँ, उसके आगे मौत भी कोई चीज़ नहीं है। आप मेरा यह निश्चय नष्ट नहीं कर सकते कि एक समय वह भी आवेगा, जब सब लोग स्वतन्त्रता का सुख उपभोग करेंगे—जब सत्य और न्याय का राज्य होगा—जब समानता, स्वतंत्रता और विश्वबन्धुत्व के भाव मनुष्य-जाति के प्रकृत जीवन में स्थान पायेंगे। ऐसे सुन्दर भविष्य के निर्माण के लिए वैयक्तिक जीवन का त्याग कर देना—इससे अधिक सुखकर कार्य्य और क्या हो सकता है? मुझे और कुछ कहना नहीं है।"

बड़ी कठिनता से स्पिरीडोनोवा इतना बोल सकी, खाँसी उसे चैन नहीं लेने देती थी—और जब वह खाँसती, तब कुछ खून बाहर निकल पड़ता था। उसकी दशा उस समय कैसी दयनीय हो रही थी, इसका अनुमान पाठक-पाठिकायें इस घटना से कर सकती हैं। स्पिरीडोनोवा की शिनाख्त करने के लिए एक क्लर्क लाया गया, जो किसी समय उसके साथ एक ही दफ़्तर में काम करता था। पर बड़ी देर तक उसको देखते रहने पर भी वह उसे न पहचान सका। अन्त में उसने कहा—"नहीं, यह मेरी स्पिरीडोनोवा हर्गिज़ नहीं हो सकती। यह कोई और ही स्त्री है।"

स्पिरीडोनोवा के बैरिस्टर मि० तेसलेको ने उसकी ओर से बड़ी ज़ोरदार वक्तृता दी थी। जेकोफ़ प्रीलु-

कर की पुस्तक में, जिसके आधार पर यह लेख लिखा गया है, वह अंशतः उद्धृत है। हम उससे कुछ अवतरण नीचे देते हैं—

"अगर आप अपने हृदय से पूछें तो वह यही कहेगा कि स्पिरीडोनोवा कोई व्यक्ति नहीं है; बल्कि रूस की वह समष्टि है, जिसपर अत्याचार का बोझ लदा हुआ है। वर्षों से हमारा देश ज़ोरोजुल्म और खून-खराबी का रंग-मंच हो रहा है। बिजली, तार, टेलीफ़ोन, एक से एक आश्चर्यजनक चीज़ निकली—पर, हमारे तो लिए तो, सब के सब केवल इस देश की दुरवस्था के दारुण समाचार पहुँचाने वाले साधन हैं। हमारे देश के अखबार—सच पूछिए तो—स्याही से नहीं छपते बल्कि उन शहीदों के खून से छपते हैं, जो देश की वेदी पर रोज ही बलिदान हो रहे हैं। स्पिरीडोनोवा ने लुजेनोवस्की के प्राण लेने का संकल्प क्यों किया, यह आप उसीके शब्दों में सुन चुके हैं। उसने कहा है कि 'जब इनकी ज्यादती होने लगी और प्रजा के अधिकार पददलित होने लगे तब मैंने मन ही मन कहा कि मेरे जीवित रहने को धिक्कार है। जब मैंने देखा कि एक किसान अपनी यन्त्रणाओं के कारण विक्षिप्त हो गया और एक बालिका ने क़ज़ाक़ सिपाहियों के बलात्कार करने पर लज्जा से डूब कर अपने प्राण दे दिये, तब मैंने कहा कि मुझे अपने प्राणों से भले ही हाथ धोना पड़े, पर मैं इस दुष्ट लुजेनोवस्की को जिन्दा रहने न दूँगी।'

"पर मैं फिर कहता हूँ कि स्पिरीडोनोवा ने जो कुछ किया, रूस की ओर से किया। आज न्याया-न्याय के निर्णय के लिए आपके सन्मुख केवल स्पिरीडोनोवा ही नहीं बल्कि उसीकी तरह सताई गई सारी निर्दोष प्रजा उपस्थित है। रूस में जो अशान्ति फैली हुई है उसका कारण राजा-प्रजा के बीच प्रेम या सद्भाव का अभाव है। आप इस विपन्न बालिका की रक्षा कर देश में शान्ति-संस्थापना का श्रीगणेश कर सकते हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप इसके दोषादोष का विचार करते समय इन बातों का ध्यान रक्खें। और अपने निर्णय द्वारा जले पर नमक न छिड़कें।"

पर न्यायाधीशों के पास तो पहले ही सरकार का आदेश पहुँच चुका था कि उन्हें क्या फ़ैसला सुनाना होगा और वे इस मामले में अपनी स्वतंत्र बुद्धि या विवेक से कर ही क्या सकते थे! स्पिरीडोनोवा के लिए प्राणदण्ड की आज्ञा हुई और इसके साथ उसके विचार के अभिनय का अन्तिम परदा गिर गया।

रूस में इस निर्णय की सर्वत्र घोर निन्दा की गई और पत्रों में इस बात के लिए ज़ोर-शोर से आन्दोलन किया गया कि स्पिरीडोनोवा को मारने-पीटने वालों को उचित दण्ड मिले। साथ ही अन्य देशों में भी उससे सहानुभूति प्रकट करने के लिए सभायें हुईं और प्राण-दण्ड की आज्ञा का प्रतिवाद किया गया। फ्रान्स के बहुत से प्रतिष्ठित विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों के हस्ताक्षर-सहित एक प्रतिवाद-पत्र ज़ार के पास भेजा गया। हस्ताक्षर करने वालों में प्रसिद्ध औपन्यासिक अनातोले फ्रान्स भी थे। इन प्रतिवादों का फल यह हुआ कि रूस की सरकार ने प्राण-दण्ड के बजाय आजीवन कारावास की सजा कर दी और यद्यपि उस समय आशा न थी कि स्पिरीडोनोवा क्षय-रोग से बच सकेगी; तथापि कुछ समय बाद उसने स्वास्थ्य लाभ कर लिया और रूस के "काले पानी" का अनुभव प्राप्त करने और इसी प्रकार मर मिटने के लिए साइबीरिया नामक प्रदेश में पहुँचा दी गई।

उसके निर्वासन के समय देश भर में खलबली मच गई। स्पेशल ट्रेन से वह और क़ैदियों के साथ निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाई गई। रास्ते में जहां-जहां ट्रेन ठहरी, वहां के निवासियों ने प्लैटफ़ार्म पर एकत्र

होकर उसका स्वागत किया और क्रान्तिकारियों की सफलता की शुभ कामना प्रकट की। जब स्पिरीडो-नोवा और उसके साथी साइबीरिया के उस क़ैदख़ाने में पहुँचे, जहां उन्हें अपना शेष जीवन बिताना था, तब वहां के पुराने क़ैदियों की ओर से स्वागत की तैयारी देख कर वे सब के सब बड़े आश्चर्य में पड़ गये। क़ैदख़ाने की, फूलों और बग़ावती झंडों से, अपूर्व सजावट की गई थी और झुण्ड के झुण्ड क़ैदी इनके स्वागत में हर्षध्वनि कर रहे थे। अगर यह पूछा जाय कि अधिकारियों ने यह सब क्योंकर होने दिया, तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि ये क़ैदी साधारण श्रेणी के न थे और इनके चरित्रबल के आगे जेल के अफ़सरों की कठोरता भी सिर झुका लेती थी। पर कुछ ही दिन बाद मेरी स्पिरीडोनोवा तथा अन्य पाँच स्त्री-क़ैदी वहाँ से हटा कर दूसरे स्थान में पहुँचाये गये। दस रोज़ तक उन्हें लगातार बर्फ़ से ढकी ज़मीन पर सर्दी से ठिठुरते हुए चलना पड़ा और जब ये मंज़िल तय करके निर्दिष्ट कारागार में पहुँचीं तब उसकी भयंकरता देख कर ये समझ गईं कि इन्हें हटाने का उद्देश क्या था!

उधर रूस में जब प्रतिवादों या प्रस्तावों का कोई फल न हुआ और मेरी स्पिरीडोनोवा के साथ दुर्व्यवहार करने वालों से सरकार ने जवाब तक तलब न किया, तब क्रान्तिकारीदल ने उनमें दो-तीन बड़े पदाधिकारियों को भी उसी लोक में पहुँचा दिया, जहाँ लुजेनोवस्की पहले ही प्रस्थान कर चुका था।

पारसनाथसिंह

कामना

(१)

छवि का बस आभास-मात्र यदि
पाऊँ मन-मन्दिर में;
निकल पड़ूँ झट घर से बाहर,
ढूँढूँ वन-वन गिर में;

(२)

तेरी प्रेम-गली का प्यारे!
करूँ सदा मैं फेरा;
निसि भर तन्मयता में तेरी—
जग कर करूँ सबेरा!!

(३)

कोलाहल-पूरित जगती को—
शान्त बना दूँ तप से;
तुझे बुला लूँ शान्ति-सदन में—
प्रणव-मन्त्र के जप से;

(४)

जगज्जाल तज, करूँ एक ही,—
वह भी, तेरी सेवा;
पार करूँ संसार-जलधि को,
लगे एक ही खेवा।

(५)

केवल यह अभिलाषा मन में,
आशा-पूर्ण हृदय में—
किसी भाँति हो दर्शन तेरा—
अभि-अस्त में, उदय में;

(६)

प्राण-वायु जब निकले; सन्मुख—
मूर्त्ति खड़ी हो तेरी;
जिह्वा पर 'विह्वल' तू ही हो—
यही कामना मेरी!!

"विह्वल"

श्री सीताजी

(२)

पति के प्रति प्रेम

सीताजी ने अपने चरित्र द्वारा लोगों को यह बात प्रत्यक्ष करके दिखा दी कि स्त्रियाँ जितनी ही अधिक कोमल होती हैं, समय पड़ने पर वे उससे भी अधिक कठोर बन जाती हैं—वे अपने कर्तव्य के सामने धन, जन, संसारी भोग यहाँ तक कि अपने प्राणों को भी कुछ नहीं समझती हैं। जो पति की जरा सी चुटकी के आघात से ही 'सी!' करने लग जाती हैं, वे आवश्यकता पड़ने पर दहकती हुई चिता पर हँसते-हँसते चढ़ जाती हैं। उनका प्राण पति के साथ है, पति के दर्शन ही उनके लिए परमात्मा के दर्शन हैं; पति के सुख में ही उनका सुख है। सारांश कि पति ही उनका सर्वस्व है।

रामचन्द्रजी अपनी माताजी से कह रहे हैं कि मुझे पिता ने १४ वर्ष के लिए बनवास दिया है। घर के एक कोने में खड़ी हुई सीताजी सभी बातों को सुन रही हैं। अब वह सोचती हैं, मुझे क्या करना चाहिए? मैं भला पति के बिना यहाँ रह भी सकूँगी क्या? यह विचार आते ही वह अधीर सी हो जाती हैं—उनसे अब कोने में खड़ा नहीं रहा जाता। झट ही प्रकट हो जाती हैं और आकर कौशल्याजी के पास बैठ जाती हैं। वहाँ बैठकर वह सोचती हैं—

चलन चहत बन जीवन नाथू, केहि सुकृती सन होइहि साथू।
की तनु प्राण कि केवल प्राना, विधि करतब कछु जाइ न जाना।
चारु चरण नख लेखति धरणी, नूपुर मुखर मधुर कवि बरणी।

सिवाय पैरों के नखों से पृथ्वी कुरेदने के और वह कह ही क्या सकती थीं? माता के सम्मुख पति से कैसे कहें कि मुझे भी साथ ले चलो? हृदय से यह भाव उठता था, किन्तु वाणी उसे व्यक्त करने में असमर्थ थी। जब हृदय के भाव ने देखा कि वाणी तो ऐसे कठिन समय में जवाब दे गई, अब क्या करना चाहिए। यह सोचकर वह कण्ठ को छोड़कर आँखों के पास गया और आँखों को उसकी इस विवशता पर दया आ गई। उन्होंने इसे रास्ता दे दिया। आँखों से रास्ता पाकर हृदय का भाव प्रसन्न हुआ और वह पानी बन कर बहने लगा—

मंजु विलोचन मोचति बारी, बोली देखि राम महतारी।

कौशल्याजी पर ही तो उस भाव को व्यक्त करना था, वह उसे समझ गईं और उन्होंने रामचन्द्रजी और सीताजी के दुभाषिये का काम कर दिया। रामचन्द्रजी ने उन्हें सब कुछ समझाया। आदमी को अपने पक्ष में करने के दो ही सब से उत्तम और करारे शस्त्र हैं, एक तो लोभ और दूसरा भय। पहले तो रामचन्द्रजी ने सासु-सुसर की सेवा का लोभ दिया और कहा—'मैं भी जल्दी ही लौट कर आ जाऊँगा. समय जाते क्या देर लगती है?' जब देखा कि यह शस्त्र तो व्यर्थ हुआ, इसका सीताजी पर कुछ भी असर नहीं हुआ। तब आप उन्हें बन के भयंकर दुःख बताने लगे। बन में बड़े-बड़े कष्ट हैं। धूप, छाँह, गर्मी, शीत, जाड़ा सभी का सहन करना होगा; रस्ता बड़ा बेढब है; कोई बनी हुई सड़क तो है ही नहीं, कँकरीली-पथरीली जमीन है उसमें स्थान-स्थान पर काँटे और गोखरू पड़े हुए हैं। उनमें होकर नंगे पैर चलना होगा, बड़े-बड़े नदी-नाले हैं, जिनमें अथाह जल है। भालु, बाघ, रीछ, सिंह और साँप जहाँ तहाँ घूमते रहते हैं। तुम्हारी तो बात ही क्या है, वहाँ धीरज का भी धीरज भाग जाता है। और फिर देखो

भूमि शयन, वल्कल बसन, असन कंद फल मूल।

तुम यदि कहो, कि मैं तो फल-फूल खाकर वलकल के वस्त्रों को पहन कर पृथ्वी पर ही पड़ रहा करूँगी सो भी बात नहीं है। वे भी रोज थोड़े ही मिलेंगे—

तेकि सदा सब दिन मिलहिं, समय समय अनुकूल।

कभी छटे-छमाहे मिल गये तो मिल गये, नहीं तो भूखा ही सोना पड़ेगा। फिर वहाँ जान की भी खैर नहीं। बड़े-बड़े राक्षस जंगलों में घूमते रहते हैं, वे मनुष्यों ही का आहार करते हैं। वे बड़े दुष्ट होते हैं, उनकी सूरत देख कर ही डर लगता है। तुम ऐसी आफ़त में पड़ कर क्या करोगी? देखो, जो बड़े लोगों की बात को नहीं मानते अन्त में उन्हें पछताना पड़ता है, अतः तुम यहीं रह कर सास-ससुर की सेवा करो।

सीताजी चुपचाप सुनती रहीं। उन्होंने रामचन्द्रजी की बातों का खंडन नहीं किया। उन्होंने यह नहीं कहा कि वन में इतने कष्ट नहीं होंगे, तुमने बढ़ा-चढ़ा कर कहे हैं। सेर का सौ मन कर दिया है। सभी बातों का समर्थन करती हुई अन्त में वह तो अधीर हो कर यही कहती हैं—

प्राणनाथ करुणा यतन, सुंदर सुखद सुजान।
तुम बिनु रघुकुल कुमुद विधु, सुरपुर नरक समान।

मुझे सुख चाहिये। मैं केवल सुख की भूखी हूँ। पर सांसारिक पदार्थों में सुख नहीं, उनका उपयोग मैं इसलिए कर रही हूँ, कि जिससे तुम सुखी हो। मुझे तो तुम्हारे साथ में सुख है। नरक में भी यदि तुम्हारा साथ हो तो मुझे कोई कष्ट नहीं हो सकता। सिंह, व्याघ्र, वल्कल के वस्त्र, ये सब तो गौण वस्तुयें हैं, मुख्य तो तुम्हारा साथ ही है—

खग मृग हरि जन नगर बन, बल्कल विमल दुकूल।
नाथ साथ सुर सदन सम, पर्णशाल सुख मूल।

तुम्हारे बिना मुझे संसार में सुख कहाँ? स्त्री पति के बिना रह ही कैसे सकती है?

प्राणनाथ तुम बिनु जग माहीं, मोकहँ सुखद कतहुँ कोउ नाहीं।
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी, तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी।

यदि तुम अपनी अवधि-पर्यन्त मुझे अवध में ही रखना चाहते हो तो संभवतया मैं तो मान भी जाऊँगी, परन्तु प्राण नहीं मानने के—वे तो तुम्हारे साथ निश्चय ही चले जायँगे—

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानि अहिं प्राण।
दीन-बन्धु सुन्दर सुखद, शील सनेह निधान।

इसका नाम है, अनन्यता। सचमुच इसीलिए शास्त्रकारों ने स्त्री को अर्धाङ्गिनी कहा है। आधा अंग चाहे आधे अंग के बिना रह भी जाय किन्तु सच्ची पतिव्रता अपने पति के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकती। संसार के जितने कष्ट हैं वे सब पति के एक क्षण के वियोग के सन्मुख तुच्छ से प्रतीत होते हैं। सीताजी कहती हैं—

प्रभु वियोग लवलेश समाना, सब मिलि होहिं न कृपा निधाना।

सीताजी इस बात के स्मरण मात्र से ही कि रामचन्द्रजी मुझे साथ न ले जायँगे—मूर्छित हो गईं। जब रामचन्द्रजी ने समझ लिया कि सीताजी अपनी हठ ही रक्खेंगी, अपनी हठ के पीछे वह प्राणों को भी त्याग सकती हैं, तब उन्होंने उन्हें साथ चलने की अनुमति दे दी।

× × ×

रामचन्द्रजी मृगवेषधारी मारीच के पीछे गये और बाद में लक्ष्मणजी भी उनकी सहायता के निमित्त उनके पास चले गये। इतने में रावण आ कर सीताजी से भिक्षा माँगता है। अतिथि-सेवा-परायणा सीताजी साधु वेषधारी रावण के लिए कन्द-मूल-फल लाती हैं। जब उसने बँधी भिक्षा ग्रहण करने में अपनी

असम्मति प्रकट की तो सीताजी मट परिधि को पार करके बाहर निकल आती हैं। सीताजी के बाहर निकलते ही रावण ने अपना असली रूप दिखाया। सीताजी ने राक्षस राज रावण का नाम तो पहले ही से सुन रक्खा था, उसके बल-पराक्रम और पौरुष की भी अनेकों गाथायें सीताजी के सुनने में आई थीं। अतएव वह सहसा रावण का नाम सुनते ही पहले तो कुछ भयभीत हुई। किन्तु थोड़ी ही देर में साहस करके वह उसे डाँटने लगीं। सीताजी का साहस तो देखिए। ऐसे प्रबल पराक्रमी रावण को किस निर्भीकता के साथ वह खरी-खरी सुना रही हैं। पहले तो उसे ही डराना चाहती हैं, कहती हैं—अरे नीच खड़ा तो रह! देख, वह रामचन्द्रजी आ रहे हैं, अरे पगले, क्या तू मुझे पाने की इच्छा रखता है? तेरी ऐसी अनधिकार चेष्टा !!

बायस करि बह खगपति समता। सिंधु समान होइ किमि सरिता।
खरकि होइ सुर धेनु समाना, जाहु भवन निज सुनु अज्ञाना।

रावण जब इनकी धमकी में नहीं आया और इन्हें आकाश-मार्ग से लेकर चलने लगा, तो ये दुःखी हो कर विलाप करने लगीं। दुःखी अपने लिए नहीं हुई, उन्हें कष्टों का तनिक भी भय नहीं था। किन्तु महान् दुःख तो उन्हें इस बात से हुआ कि वह रामचन्द्रजी से पृथक् हो रही हैं। भला एक पति-परायणा पत्नी के लिए इससे प्रबल चीज और क्या हो सकती है? रामचन्द्रजी का स्मरण करके वह विलाप करने लगीं। उन्हें अपने शरीर का कुछ भी होश नहीं रहा। अरे राम, मैं रामचन्द्रजी से प्रथक् की जा रही हूं। यह विचार आते ही वह दहाड़ बाँध कर जोर-जोर से रुदन करने लगीं। इनके विलाप के शब्दों से भी रामचन्द्रजी के प्रति इनकी अगाद श्रद्धाभक्ति प्रकट होती है—

हा! जगदीश देव रघुराया, केहि अपराध बिसारेहु दाया।
आरति हरण शरण सुख दायक, हा! रघुकुल सरोज दिन नायक।

सीताजी के इस करुण विलाप को सुन कर जंगल के सभी जीव रुदन करने लगे।

× × ×

पर-सुख-असहिष्णु रावण ने सीताजी को श्रीराम से अलग कर दिया है, उसने उन्हें पंचवटी में से अपने यहाँ ला कर एक अशोकवाटिका में रख दिया है। पानी में से प्रथक् करने पर मछली की जो दुर्दशा होती है, ठीक वैसी ही बल्कि उससे भी अधिक दुर्दशा सीताजी की हो रही है। जिनका चारु आनन सदा शरद् शर्वरी के चन्द्रमा की भाँति खिला रहता था, जो भ्रमरी बन कर सर्वदा श्रीरामचन्द्रजी की मुख-माधुरी का रसास्वादन करती रहती थीं, जो उदास होने और खिन्न होने का नाम तक न जानती थीं, वही सीताजी आज राम-विरह-रूपी सागर में पूर्ण-रीत्या डूबी हुई हैं। आशा की तनिक सी कोर ने उन्हें डूबने से बचा रक्खा है। यद्यपि उनका शरीर तो यहाँ है, परन्तु मन सदा श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में ही लगा हुआ है। हा! उनकी ऐसी दशा को देख कर हनुमानजी परमदुःखी हुए। हनुमानजी ने सीताजी को रात्रि के समय कैसी दशा में देखा—

कृश तनु शीश जटा इक बेणी, जपति हृदय रघुपति गुण श्रेणी
निजपद नयन दिये मन, राम चरण महँ लीन।
परमदुखी भा पवन सुत, निरखि जानकी दीन॥

दुःखी होने की बात ही थी। भला ऐसी सुकुमार राजकुमारी को इस भयानक बिपत्ति में देख कर किस का पाषाणहृदय होगा, जो फटने को उतावला न होता हो?

× × ×

रामचन्द्रजी के विरह में सीताजी ने आहार, निद्रा आदि सभी शारीरिक सुखों का त्याग कर रक्खा है।

उन्हें न दिन में भूख की चिन्ता और न रात्रि में नींद की इच्छा। अहर्निशि रामचन्द्रजी का ही स्मरण, उनके दर्शनों की इच्छा रह-रह कर हृदय में शूल पैदा करती है, विकलतामें वह राम-दर्शनों की लालसा के कारण अधीर हो उठती हैं। इतने ही में हनुमानजी ने अशोक के वृक्ष के ऊपर से मुद्रिका डाली। राम-नाम जैसे सुन्दर शब्दों से अंकित ऐसी उस मनोहर मुद्रिका को देख कर सीताजी परम-प्रसन्न हुईं। रामचन्द्रजी की अंगूठी को देख कर उस समय उन्हें उतना ही आनन्द हुआ, जितना कि पहले उन्हें रामचन्द्रजी के दर्शनों से होता था। जब उन्होंने वृक्ष पर बैठे हुए हनुमानजी के मुख से श्रीरामचन्द्रजी की कथा सुनी, तब तो उनकी प्रसन्नता की सीमा ही न रही। हनुमानजी को देख कर पहिले तो उन्होंने कुछ शंका की, पर पीछे उनकी बात सुन कर इस बात का पूरा विश्वास हो गया, कि यह श्रीरामचन्द्रजी का दूत है, तब तो वह आँखों में आँसू भर कर बड़े ही प्रेम के साथ कहने लगीं—

बूड़त विरह जलधि हनुमाना, भयहु तात मोकहँ जलजाना।

रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी का कुशल समाचार पूछने के अनन्तर वह हृदय के अन्तस्तल में छुपे हुए श्रीरामचन्द्रजी के प्रगाढ़ प्रेम को यों प्रकट करती हैं—

कोमल चित कृपालु रघुराई, कपि केहि हेतु धरी निठुराई।

रामचन्द्रजी की भी ऐसी ही दशा हो रही होगी। उनकी बात सुनने के ही निमित्त वह अधीर हो कर प्रेम के साथ पवनकुमार से पूछतीं हैं—

सहज बानि सेवक सुख दायक, कबहुँ कि सुरति करत रघुनायक।
कबहुँ नयन मम शीतल ताता, होइहिं निरखि श्याम मृदु गाता।

रामचन्द्रजी के सुन्दर स्वरूप का स्मरण आते ही सीताजी के नेत्रों से अविरल अश्रुपात होने लगा। देखते ही देखते वह रामचन्द्रजी के विरह में बेसुध हो गईं। उनका कंठ भर आया, आँसू रोकने से भी नहीं रुकते थे। हा नाथ! मुझे इस प्रकार भूल गये, ऐसा कह कर वह मूर्छित हो गईं।

× × ×

अशोक वाटिका में सीताजी किस लगन के साथ रामचन्द्रजी का दिन-रात ध्यान करती हैं, इसका वर्णन हनुमानजी ने रघुनाथजी के सामने बहुत ही युक्ति-युक्त किया है—

नाम पाहरू दिवस निशि, ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद यंत्रिका, प्राण जाहिं केहि बाट॥

हनुमानजी ने सीताजी का जो संदेशा श्रीरामचन्द्रजी से कहा है, उससे उनके परमपुनीत प्रेम का पूर्णरीत्या परिचय प्राप्त होता है। सीताजी रामचन्द्रजी के पास संदेश भेजती हैं कि कृपानिधान, मेरा ऐसा कौनसा अपराध था, कि मुझे इतने दिनों के लिए बिसार दिया? मुझे तो कोई अपराध याद नहीं आता; किन्तु हाँ मैंने एक बड़ा भारी अपराध किया है, सचमुच में मैं घोर अपराधिनी हूँ। जिस समय मैं रघुनाथजी से पृथक् की गई

अवगुण एक मोर मैं जाना, बिछुरत प्राण न कीन्ह पयाना।
नाथ! सो नयनन्ह कर अपराधा, निसरत प्राण करहिं हठि बाधा॥
विरह अनल तनु तूल समीरा, श्वास जरै क्षण माँह शरीरा।
नयन स्रवैं जल निज हित लागी, जरै न पाव देह विरहागी॥
निमिष निमिष करुणायतन, जाहिं कल्प सम बीति।
बेगि चलिय प्रभु आनिये, भुज बल खल दल जीति॥

* * *

पतिव्रत

स्त्रियों के लिए योग, तप, जप, पूजा, पाठ सभी कुछ वर्जित है। ये सभी क्रियायें पातिव्रत के सामने तुच्छ हो जाती हैं। एक सच्ची पतिव्रता अपने पातिव्रत के प्रभाव से क्या नहीं कर सकती? पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि पतिव्रताओं ने अपने

पातिव्रत के प्रभाव से वे-वे कार्य किये हैं, कि जो योगी के लिए भी कठिन ही नहीं किन्तु दुस्साध्य हैं। भगवान् को भी पतिव्रता का श्राप अंगीकार करना पड़ा।

अनसूयाजी ने सीताजी को उपदेश देते हुए चार प्रकार की पतिव्रता बताई हैं। उत्तम, मध्यम, नीच और लघु। इस प्रकार पतिव्रताओं के चार भेद हैं। सुनिए—

उत्तम के अस बस मन माहीं, सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखहिं कैसे, भ्राता पिता पुत्र निज जैसे॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहहीं, सो निकृष्ट तिय श्रुति अस कहहीं।
बिनु अवसर भयते रह जोई, जानेहु अधम नारि जग सोई॥

इन चारों प्रकार की पतिव्रताओं में से सीताजी को हम सब से उच्च उत्तम पतिव्रता कह सकते हैं। जंगल के कष्टों की कुछ भी पर्वाह न कर के इन्हों ने मरना तो मंजूर किया किन्तु पति के बिना घर में रहने को यह राजी नहीं हुईं।

* * *

रावण अशोक बाटिका में इन्हें समझाने आता है, नाना प्रकार के प्रलोभन देता है, भाँति-भाँति के भय दिखाता है, परन्तु उससे सम्मत होना तो अलग रहा, वे उसकी बात तक नहीं सुनतीं और उसे उसके मुँह पर ही खूब खरी खोटी सुनाती हैं। पर-पुरुष से सांसारिक बातें करना पतिव्रता के लिए वर्जित हैं, अतः रावण की बातों का वह सीधा उत्तर नहीं देतीं, किन्तु बीच में तृण रखकर उसे ही मध्यस्थ बनाकर—उसके ही द्वारा अपने भावों को व्यक्त कर रहीं हैं—

तृण धरि ओट कहति बैदेही, सुमिरि अवधि पति परम सनेही।

* * *

हनुमानजी सीता के पास जाते हैं। सीता जब उन्हें पहचान लेती हैं, तो उनका पुत्र की भाँति आदर करती हैं। हनुमानजी तो उन्हें जगज्जननी तो मानते ही थे, उनके हृदय में सीता जी के लिए स्त्रियों जैसे भाव स्वप्न में भी नहीं थे, इस बात को सीता जी भी जानती थीं। फिर भी उन्होंने हनुमान जी का स्पर्श तक नहीं किया। दूर से ही उनकी बातें सुनीं।

* * *

जब रामचन्द्रजी ने रावण को पराजित कर दिया और सीताजी उनके पास आईं तो रामचन्द्र जी ने लोक-दिखावे के लिए और लोगों को पतिव्रत का प्रभाव जनाने के लिए उनसे कुछ दुर्वचन कहे। सच्ची पतिव्रता सीताजी इन वचनों से रत्ती भर भी विचलित नहीं हुईं। कारण कि उन्हें अपने ऊपर पूर्ण विश्वास था, वह समझती थीं कि मैं निष्कलंक हूँ। पाप ने मुझे स्पर्श तक नहीं किया। "साँच को आँच कहाँ?" वह हँसते-हँसते धधकती हुई अग्नि में प्रवेश कर गईं और खरे सोने की भाँति ज्यों की त्यों ही शुद्ध होकर निकलीं। उस समय उपस्थित लोगों ने पतिव्रत का प्रभाव समझा। सभी के मुख से 'धन्य है! धन्य है!' शब्द अपने आप ही निकल पड़े। उस समय देवता मारे खुशी के पुष्पों की वर्षा करने लगे। आकाश में भाँति-भाँति के बाजे बजने लगे! अप्सरायें सीताजी के गुणों को गाती हुई नृत्य करने लगीं। अग्नि देव ने साक्षात् प्रकट होकर श्रीराम जी को समर्पित किया—

तब अनल भूसुर रूप कर गहि सत्य श्री श्रुति बिदित जो।
जिमि छीर सागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो॥
सोइ राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति शोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली॥

* * *

'मानस' के स्त्री-पात्रों में से सीताजी का चरित्र परम आदर्श है। यद्यपि कौशल्याजी, सुमित्राजी और मंदोदरी का चरित्र भी बहुत ही अद्भुत, अनूठा,

अनुपम और अनुकरणीय है, किन्तु इन सब में हम सीताजी को ही सर्व श्रेष्ठ समझते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य देवियों का चरित्र तो मानस में प्रसंगानुसार मिलता है और वह भी बहुत थोड़ा। यद्यपि उनका जितना भी मिलता है, वह परम आदर्श कहा जा सकता है; किन्तु इतने ही से उनके सम्पूर्ण जीवन का अनुमान होना ज़रा कठिन है। परन्तु सीताजी को तो हम बाल्य काल से देखते हैं, उनका विवाह हमारे सामने होता है, वह अपने शीलस्वभाव और गुणों के कारण हमारे सामने पुरजन-परिजन तथा पति की अत्यंत प्यारी बनती हैं।

पहले तो हम उन्हें राज प्रासादों में श्री रामचन्द्रजी के साथ राजमहिषी की भांति आनन्द और विलास करते देखते हैं। वहाँ उन्हें सर्वदा प्रसन्न देखते हैं। फिर उन्हीं सीताजी को वल्कल वसन पहने, ऋषि पत्नियों का सा रूप बनाये, अपने पति के साथ जंगल-जंगल और पर्वत-पर्वत की खाक छानते पाते हैं। फिर भी हम उनके चेहरे को मलिन नहीं पाते, इस अवस्था में भी वह हमें परम सन्तुष्ट दीख पड़ती हैं। पति के सहवास के सुख के सामने वह वन के असह्य कष्टों की कुछ भी पर्वाह नहीं करती हैं और बड़ी खुशी के साथ वर्षा, गर्मी और शीत को सहन करती हुई नंगे पैरों कँकरीली और पथरीली ज़मीन पर बिना किसी विपत्ति के घूमती हैं।

जब उन्हें अपने पति से अलग कर दिया जाता है, तो उस अवस्था में भी हम उन्हें निरन्तर राम-चरणों में ही लवलीन पाते हैं। पापी पर-पुरुष की पीड़ा-प्रताड़ना और भर्त्सना उन्हें अपने निश्चित पथ से अणुमात्र भी विचलित नहीं कर सकती हैं। वह उन्हें बड़ी तत्परता और निर्भीकता के साथ सहन करती हैं और अपने धर्म के सामने प्राणों की कुछ भी पर्वाह नहीं करतीं। अन्त में इतने पर भी जब रामचन्द्रजी उनकी पवित्रता में शंका करते हैं, तो दहकती हुई अग्नि में प्रवेश करके वह अपनी पवित्रता का यथार्थ परिचय देती हैं।

सीताजी के चरित्र में एक स्थान को छोड़ कर और कहीं भी कोई दोष अथवा कुछ कहने योग्य बात नहीं मिलती। जब रामचन्द्रजी छद्म-वेश-धारी मारीच के पीछे गये और जब उन्होंने उसके बाण मारा तो वह चिल्लाया। सीताजी ने समझा, रामचन्द्रजी के ऊपर कोई विपत्ति आगई है; अतः उन्होंने लक्ष्मणजी से उनकी सहायता के लिए जाने को कहा। परन्तु लक्ष्मणजी को तो इस बात का पूरा भरोसा था कि रामचन्द्रजी के ऊपर कोई विपत्ति आ ही नहीं सकती, अतः उन्होंने जाने से इन्कार किया और कहा कि रामचन्द्रजी मुझे यहाँ तुम्हारी रक्षा के निमित्त नियुक्त कर गये हैं, और ऐसी स्थिति में मेरा वहाँ जाना ही ठीक नहीं है। इस पर सीताजी ने लक्ष्मणजी के प्रति कुछ मर्म वचन कहे हैं। सीता जैसी सती साध्वी के लिए अपने देवर के प्रति मर्म वचनों का कहना कहाँ तक उचित था? पर, यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि उस समय सीताजी की एकमात्र इच्छा रामचन्द्रजी की रक्षा करवाने ही की थी, उस समय वह रामचन्द्रजी की रक्षा के निमित्त इतनी व्याकुल हो उठी थीं, कि उन्हें विवश होकर अपने पति-प्रेम की प्रगाढ़ता में—ऐसे वाक्य कहने पड़े। फिर भी मर्म वचनों का दोष न लगने पर भी उनपर लक्ष्मणजी के प्रति अविश्वास का दोष तो दूर होता ही नहीं है। क्या लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी का इतना ध्यान नहीं रखते थे? क्या लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी को प्राणों से भी अधिक प्यार नहीं करते थे? क्या सीताजी इस बात से अनभिज्ञ थीं? यदि नहीं, तो फिर उन्होंने मर्म वचन क्यों कहे? इसे दैव ही जाने। दैव की गति प्रबल होती है। हम सांसारिक क्षुद्र प्राणी

इसका समाधान इस प्रकार ही कर सकते हैं कि उस समय असली सीताजी तो अग्नि में प्रवेश कर गई थीं, यह बात तो सीताजी के प्रतिबिंब ने कही। असली सीताजी के माथे यह दोष नहीं मढ़ा जा सकता। खैर, कुछ भी हो। इसमें संदेह नहीं कि सीताजी का चरित्र संसार की सभी स्त्रियों के लिए आदर्श, अनुकरणीय, पूजनीय, वन्दनीय, माननीय, और विचारणीय है। आज हमारे देश की मातायें यदि सीताजी का आदर्श सम्मुख रख कर अपने जीवन को बिताने का विचार करलें, तो चारों ओर फैली हुई यह अशान्ति बहुत अंशों में दूर हो सकती है। सीताजी के सम्बन्ध में हम क्षुद्र, अधम, पामर प्राणी कह ही क्या सकते हैं! हम उन्हें संसार की किस वस्तु के समान बता कर उनके गुणों का बखान कर सकते हैं! कवि ने सीताजी के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है—

सिय शोभा नहिं जाइ बखानी, जगदंबिका रूप गुण खानी।
उपमा सकल मोहिं लघु लागी, प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
जो पटतरिय तीय सम सीया, जग असि युवति कहाँ कमनीया।
सीय बरणि तेहि उपमा देही, को कवि कहइ अयश को लेही?

प्रभुदत्त शर्मा

कुछ ना-समझ लोग सीता के दुःखमय जीवन का ख़याल कर उसे अभागिनी समझते हैं। असाधारण पतिभक्ति, सुशीलता, शान्ति, क्षमा, सहनशीलता, इत्यादि गुणों के कारण जो महिला समस्त भारतवर्ष में आदर्श महिला के तौर पर पूजी जाती है क्या वह अभागिनी हो सकती है? पतित युग के आदर्श भी तो पतित हो जाते हैं? सत्य, चरित्र-रक्षा, और सिद्धान्तनिष्ठा के लिए कष्ट सहने में जो आनन्द और अलौकिकता है उसकी कल्पना भी गुलामी के कीड़ों को कैसे हो सकती है?

कला

कला आनन्द की जननी भी है और पुत्री भी! बात एक आश्चर्य-जनक प्रहेलिका के समान है, पर है सर्वथा सत्य। आनन्दाभिभूत आत्मा से उस कला का जन्म होता है, जिसके सौन्दर्य से दूसरों के हृदय आनन्दातिरेक से उन्मत्त हो जाते हैं। उस कला का वास चाहे कवि की कविता में हो, चित्रकार के चित्र में हो, अथवा गायक के गीत में हो, वह सदा सर्वदा आनन्द-दायिनी है।

राजा सुबोध संगीत के प्रेमी थे। अनेक संगीताचार्य उनके यहाँ आश्रित थे। अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करने वाले गायकों का वहाँ मेला सा लगा रहता। लोग तो यहाँ तक कहते, राजा सुबोध का राज-दरबार इन्द्र का अखाड़ा है, जहाँ अमर युवतियाँ अपने हृदय की वीणा को झंकृत कर निस्सीम के सान्निध्य में आनन्दित होकर नाचती हैं, कूदती हैं, और गाती हैं।

एक दिन राजा आखेट में गये। शिकार की खोज में वह रास्ता भूल गये, साथियों से वह विलग हो गये। साथियों को ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर भटकते-भटकते राजा थक गये। राजा का घोड़ा भी बहुत अधिक थक गया था। विश्राम के अतिरिक्त और कोई उपाय न रह गया। पास ही एक निर्मल स्रोत से जल-पान कर के राजा एक आम्र वृक्ष के तले हरे बिछौने पर लेट गये। घोड़ा भी घास चरने लगा। थके हुए नेत्र मूँदना ही चाहते थे कि कानों के आग्रह से वह उन्मीलित ही रहे। आम्र मंजरी के समीप एक कोयल मधुरालाप कर रही थी। कोयल के हृदय स्पर्शी गान ने राजा को बेसुध सा बना दिया। नव विकसित वसंत के सौन्दर्य-दर्शन से आल्हादित कोयल की कोमल वाणी से राजा सुबोध के मन के

प्याले को छलाछल भरने वाली कला का जन्म हुआ। राजा को इस आनन्दातिरेक ने आत्मविसुध बना दिया।

कोयल की एक-एक कोमल स्वर-लहरी राजा के कर्णकुहरों से आकर आलिंगन करती। उस आनन्द-पुलक अवस्था में राजा को अपने दरबार के गायकों के ताल–स्वर भी याद आ रहे थे। किसी अज्ञात प्रेरणा से राजा सुबोध उन दोनों की तुलना में लीन हो गये। अकस्मात घोड़ों की टाप सुनाई दी। कोयल का संगीत समाप्त हो गया—उस समीपस्थ निर्दय कोलाहल के द्वारा अज्ञात के साथ उसका वह संबंध विच्छिन्न हो गया।

अस्त होते हुए सूर्य की किरणें शैल-शिखरों का आलिंगन करके विदा हो रही थीं। भगवान् भास्कर अपने विश्रामस्थल को लौट गये, राजा अपनी राजधानी को! राजा को आज आखेट में कुछ नहीं मिला, पर उन्हें इसकी चिंता न थी। उन्होंने तो आज एक अमूल्य रत्न प्राप्त किया था और वह था कला के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान।

दूसरे दिन प्रातःकाल, जब बालसूर्य की किरणें राजा के शयनालय में प्रवेश कर रही थीं, कुछ गवैये राजा को प्रसन्न करने के लिए प्रभातियाँ सुनाने आये। पर, वे ज्यों के त्यों लौटा दिये गये! संगीत-प्रेमी राजा के द्वारा ऐसा तिरस्कार उन्हें नया मालूम हुआ, फिर संगीतालय के स्थान में चिड़ियाघर बनाने की राजाज्ञा ने तो उन्हें आश्चर्यचकित बना दिया।

बहुत थोड़े समय में चिड़िया घर बन गया। सब प्रकार के पक्षी उसमें एकत्रित किये गये। उनमें कोयल भी थी।

चिड़ियाघर तैयार होजाने के दूसरे दिन प्रभात की सुखमय बेला में राजा अपने प्रासाद की खिड़की में खड़े चिड़ियाघर की ओर देख रहे थे, उनके कान कोयल की मधुर संगीत-सुधा का रसास्वादन करने के लिए आतुर हो रहे थे। कोयल की ध्वनि सुनाई दी, परन्तु उसका वह आनन्द पारतंत्र्य के दुःख में विलीन होगया था। कर्णमधुर स्वर आज कर्णकटु सिद्ध हुआ। कोयल के इस गान का जन्म आनन्दमय हृदय से नहीं हुआ था, उसमें कला का वास कैसे होता? बंदी कभी आनन्दित नहीं हो सकता।

राजा तो वैसी ही कर्णमधुर ध्वनि सुनने के लिए उत्सुक थे। आखेट के मिस वह फिर एक बार उसी वन-प्रदेश में पहुँचे। कोयल का वही गान सुनाई दिया; वे ही कोमल और मधुर स्वर लहरियाँ वायु के साथ क्रीड़ा कर रही थीं। उस स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करके राजधानी में लौट आने पर राजा ने चिड़ियाघर को तोड़ कर सब पक्षियों को छोड़ देने की आज्ञा दी। दो दिन पहले इतने परिश्रम और प्रेम से निर्मित संग्रहालय के संबंध में ऐसी आज्ञा सुन कर राज-दरबारियों को चिन्ता हुई कि कहीं राजा पागल तो नहीं होगये! परन्तु उस समय तो वे आश्चर्यचकित होगये, जब उन्होंने वनवास के निमित्त जंगल में एक कुटीर के निर्माण की राजाज्ञा सुनी!

कुटिया बन गई। राजकुमार को शासन-भार सौंप दिया गया। राजपरिवार और पारिवारिक सुख-संभोग की सब लालसाओं को त्याग कर राजा सुबोध वन-प्रदेश के उस एकांत शांत स्थान में वास करने के लिए चले गये!

पहले-पहल जब वह वहाँ गये थे, उन्हें मालूम भी न था कि कला क्या है? दूसरी बार आये तो उन्हें कला का आंशिक ज्ञान था। परन्तु इस बार तो वह कला के पूर्ण ज्ञाता बनकर आये। कोयल के उन थोड़े से मधुर स्वरों में कितना जादू भरा था!

सौन्दर्य और आनन्द का घनिष्ठ संबंध है!

जहाँ सौन्दर्य है वहीं आनन्द है। कला में सौन्दर्य है, उस विराट् स्वरूप कलाकार की कृति तो सर्वांग-सुन्दर है ही ! जो वस्तु आनन्दप्रद नहीं वह भार-स्वरूप है। उस अज्ञात की यह रचना तो यत्र-तत्र-सर्वत्र, अपने सौन्दर्य के कारण, आनन्ददायिनी है। कृति के द्वारा कलाकार से सम्बन्ध स्थापित कर लेने वाला धन्य है।

राजा सुबोध ने अपने जीवन का शेष भाग प्रकृति के इसी कलापूरित क्रीड़ाक्षेत्र में व्यतीत किया। पक्षियों के कलरव में उन्हें कला का संदेश सुनाई दिया। किसी अज्ञात चित्रकार की तूलिका से चित्रित प्रकृति-सुन्दरी के सौन्दर्य में उन्होंने साक्षात् कला के दर्शन किये। कला के ज्ञान का विकसित स्वरूप क्या था ? कला में कलाकार के दर्शन करना और उनकी एकता को पहचान लेना।

कुटीर के बाहर प्रांगण में पदार्पण करते ही सुबोध का मन नाच उठता। हिमगिरि के चरणों में खड़े होकर शैल-शिखर और अस्त अथवा उदय होते सूर्य की लालिमा के आलिंगन का सौन्दर्य देखकर वह आनन्दातिरेक से आत्मविसुध होजाते। सरिता के कूल पर बैठकर जब वह उसके अनिंद्य और वन्दनीय सौन्दर्य को देखते, रवि-रश्मियों को उसकी तरंगों के साथ अठखेलियाँ करते हुए देखते, तो वह उस कौतुक-कार को अपने सामने खड़ा पाते !

प्रकृति के साथ उनका सम्बन्ध दिन प्रति दिन घनिष्ठ होता जाता था; वन के पत्ते-पत्ते से, धरती-तल के कण-कण से, सरिता की एक-एक बूँद से और नभ के वक्षस्थल को सुशोभित करने वाले प्रत्येक उडुगन से उनकी मैत्री स्थापित हो रही थी। जगत् उनके लिए बन्धन-स्वरूप होता जा रहा था। अब वह परतंत्र नहीं, स्वतंत्र थे; उनकी स्वतंत्रता बहुमूल्य थी !

सरिता-तट पर चट्टानों के बीच में जन्मे हुए एकाकी सुमन का सौरभ केवल उनकी घ्राणेन्द्रिय को ही जागृत नहीं करता, परन्तु उनकी ज्ञानेन्द्रिय को भी जागृत कर देता। नेत्रद्वय उस सुमन के सौंदर्य में उस रचयिता का स्वरूप देखते। नदी के निर्मल नीर में स्नान करके वह केवल अपने तन को ही शुद्ध नहीं करते, परन्तु अपने मन को भी ! प्रकृति के साथ ऐसा नाता जोड़ कर, उसे 'भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य', वे अलौकिक आनन्द उपलब्ध किया करते !

ब्राह्म मुहूर्त्त का समय था। नभ की पटरी पर दैदीप्यमान अक्षरों में कोई कुछ लिख रहा था। तारों का अस्तोदय उस अज्ञात लिपि के अक्षरों का बनना-बिगड़ना था। सुबोध सरिता-तट पर बैठे इस लिपि को पढ़ रहे थे। उन अस्पष्ट अक्षर-नक्षत्रों में उन्हें उनके लेखक का स्वरूप दिखाई दे रहा था। नभ पर उनके लिए एक कलापूर्ण चित्रपट था, जिसमें कलाकार का अवलोकन किया जा सकता है। वह ध्यानस्थ होकर इस दृश्य को देखने में लीन थे। यही उनका भजन-पूजन था।

शान्त नदी में उत्पन्न लहरों ने उनके ध्यान को भंग कर दिया। एक परम रूपवती युवती नदी में स्नान करके लौट रही थी। उसके भीगे वस्त्रों में से उसका सौन्दर्य स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रहा था। सुबोध एकटक उसकी ओर देखने लगे। उनकी आँखों से निर्झर अश्रुपात होने लगा। अनजान में युवती उनके पास से निकली, पर सहसा एक त्यागी विरक्त व्यक्ति को अपनी ओर इस प्रकार देखते देखकर उसने साहसपूर्वक कहा—'देव ! आप तो संन्यासी हैं ?'

युवती का व्यंग सुबोध के कानों का द्वार खटखटा कर ही रह गया। युवती को समीप आते देखकर सुबोध ने सरलचित्त से कहा—'देवि ! तुम्हारी रचना करने वाला कितना सुन्दर होगा ?'

सुबोध के आकर्षण का कारण उस रमणी का सौन्दर्य नहीं था, उनकी आँखें तो उसके द्वारा उस पटुतर कलाकार के सौन्दर्य को देख रही थीं, जिसने ऐसी नयनाभिराम मूर्ति निर्मित्त की! युवती अपने व्यंग के उत्तर के बदले में उनके विशाल हृदय की ऐसी स्वाभाविक बात सुनकर, आश्चर्यचकित दृष्टि से उनकी ओर देखती हुई, आगे बढ़ गई।

सुबोध ने प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों का अध्ययन कर, उसके सौन्दर्य-दर्शन में आत्म-विस्मृति का सुख अनुभव कर, अपनी शारीरिक चेष्टाओं पर विजय प्राप्त करली थी। आज रमणी-सौन्दर्य को भी इस रूप में देखकर उन्होंने अपने मन पर अपूर्व विजय प्राप्त कर ली! अब वह पूर्ण स्वतंत्र थे—मुक्त थे!

श्री गोपाल नेवटिया

विवाह का उद्देश्य

मनुष्य-जीवन में विवाह का पवित्र संस्कार अपना एक खास स्थान रखता है। जिन लोगों ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास को ध्यान से पढ़ा है, उन्हें मालूम होगा कि प्राचीन भारत में विवाह कितने महत्व और गौरव का संस्कार था। प्रातःस्मरणीय महाराजा श्री रामचन्द्रजी का एक-पत्नीव्रत वाला गार्हस्थ्य-जीवन इस बात का एक जीता-जागता नमूना है। 'अज' का अपनी प्राणप्रिय पत्नी इन्दुमति के वियोग में किया हुआ विलाप कितना हृदय-विदारक और मर्म-भेदी है, इसे सहृदय लोग ही जान सकते हैं। ऐसे एक नहीं, कई ऊँचे उदाहरणों के रहते राजा दशरथ की ३६५ या ३६० रानियों और श्रीकृष्ण की सोलह सहस्र पटरानियों की कथायें हमारे इतिहास में कब और कैसे जुड़ गईं, इसका कोई ठीक-ठीक पता नहीं लगता।

जब हम विवाह को एक अत्यन्त पवित्र संस्कार मान लेते हैं, तब उसमें विषय-वासना की तृप्ति और शारीरिक सौन्दर्य-पान की लालसा के लिए कोई जगह नहीं रह जाती; वह तो एक आत्मा का दूसरी के साथ जन्म-जन्मान्तरों का एक ऐसा पवित्र सम्बन्ध हो जाता है कि जिसकी उपमा नहीं मिलती। इस सम्बन्ध को हम आध्यात्मिक सम्बन्ध कह कर अपना मतलब निकाल सकते हैं। विवाह-सम्बन्ध का सच्चा सुख उसकी आध्यात्मिकता ही में है।

परन्तु समय के परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्यों के विचारों और आदर्शों में भी परिवर्तन हुआ करते हैं। विवाह इस बात का अपवाद नहीं है। जैसे-जैसे समय बदलता गया, लोगों की शिक्षा-दीक्षा में कुप्रबन्ध होता गया, वैसे-वैसे उनकी आध्यात्मिकता भी छिपती तथा नष्ट होती गई—और अब तो ऐसा समय आ गया है कि मनुष्य में आध्यात्मिकता के महत्व को जानना तो कहाँ, उसके मतलब को समझने तक की योग्यता नहीं रही है। अब तो षड्विकारों के पंजे में फँस कर वह इतना लोभी, कामी और मदान्ध हो गया है कि उसे अपने भले-बुरे का भी ज्ञान नहीं रहा! आध्यात्मिकता को कोसों दूर छोड़-कर, अब वह फ़ानी दुनिया के ऐशो-आराम के पीछे पागल बना हुआ है। 'यह खाऊँ, वह खाऊँ' वाली मसल हो रही है। एक चीज को पा लेने पर दूसरी के लिए उसकी जान निकलने लगती है। संतोष, ?—हाँ, संतोष तो वह जानता ही नहीं कि किस बला का नाम है! मदलोलुप भौंरे की तरह इस फूल से उस फूल पर और उसपर से किसी तीसरे फूल पर बैठ-कर उसके क्षणिक सम्मिलन में वह जैसे-जैसे अपनी भटकी हुई प्यास बुझाना चाहता है, वह अधिकाधिक बढ़ती जाती है—जैसे घी की आहुति डालने पर अग्नि बढ़ती है! संसार की पल भर में मिटने वाली

चीजों के पीछे पागल होने वाली इस आजकल की दुनियां का भविष्य में क्या हाल होगा? ईश्वर ही जानें!

जिस तरह आजकल का मनुष्य दुनिया की और-और चीजों में घड़ी भर के सुख की खोज कर रहा है, उसी तरह अपने जीवन के साथी के चुनाव में भी वह इसी सुख को अधिक महत्व देने पर तुला हुआ है। इने-गिने अपवादों को छोड़कर दुनिया के अधिकांश स्थानों में मनुष्य का यही हाल है। अगर यों कहा जाय कि इस लहर को बहाने में यूरोप के दर्शनशास्त्र का, वहाँ के रीति-रिवाजों और विश्वासों का, बाहरी दुनिया पर खासा असर पड़ा है, तो असंगत न होगा। मुसलमानी और अँग्रेजी राज्य के पहले के हिन्दू भारत में विवाह का जो महत्व था, वह धीरे-धीरे दूसरी संस्कृतियों के प्रभाव में पड़ कर किस तरह कमजोर हो गया, इसे बतलाने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इस बीसवीं शताब्दि के भारत में हिन्दू स्त्रियों की मनुष्य के संगी-साथी और अर्धांगिनी की दृष्टि से कितनी क़दर होती है, यह किसी से छिपा नहीं है। कहाँ तो भगवान श्रीराम का सीताजी के लिए 'इयं गेहे लक्ष्मी इयममृतवर्ति नयनयोः' यह कथन और कहाँ आजकल के बाबुओं और अधिकांश पढ़े-लिखों का अपनी पत्नियों के लिए 'पैर की जूती' 'गुलाम' आदि कुत्सित शब्दों का प्रयोग!! और साथ ही साथ पशुओं से भी गया-बीता कठोरतर शासन!!! कहाँ मनु भगवान का "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" यह एक दम ऊपर उठाने वाला पवित्र कथन, और कहाँ प्रसंगोपात्त कहते हुए गो० तुलसीदासजी के 'ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी' इस कथन को लेकर नारी-समाज पर भयंकर अत्याचार करने वाले नर-पिशाचों का नंगा नाच!!

जो स्त्री-रूप में देवियाँ हैं, लक्ष्मी और पार्वती के समान पूज्य और वन्दनीया हैं, उन्हीं माताओं, बहनों, पत्नियों और पुत्रियों के साथ आज, खास कर भारत में, जैसा अत्याचार, जैसी मनमानी की जा रही है, उसे देख-सुन कर भला किस पाषाण हृदय की आँखों से खून के आंसू न बहने लगेंगे?

अपनी दुष्ट वासना की तृप्ति के लिए पुरुष-वर्ग मातृ-जाति पर दिन दहाड़े आज जो अत्याचार कर रहा है, बहु-विवाह, बेजोड़ विवाह, वृद्ध-विवाह, और बलात्कार द्वारा जिस तरह अपनी पशुवृत्तियों को तृप्त कर रहा है, उससे बाज आकर—घबरा कर, चिढ़कर, संतप्त होकर नवयुग के नौजवान विचारकों और दार्शनिकों का खून खौलने लग गया है। वे इस सारे नारकीय अत्याचार के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द करने की कोशिश में लग चुके हैं। महात्माजी का प्रयत्न इसी दिशा में हो रहा है।

काउन्ट हरमन कीसरलिंग आजकल अपने यूरोपीय प्रवास में महत्व-पूर्ण सामाजिक विषयों पर व्याख्यान देकर, लोगों में अपने विचारों का प्रचार कर रहे हैं। हाल ही में आपने अपनी "Book of Marriage" नामक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसने थोड़े ही समय में सारे यूरोप में काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त करली है। उक्त पुस्तक में प्रकाशित विवाह सम्बन्धी कुछ उद्गारों का सार-मात्र हम यहाँ देते हैं।

आपकी पुस्तक का आदर्श वाक्य है—'मनुष्य जन्म से एक-पत्नीव्रत है।' आप विश्वास दिलाते हैं—कि दुनिया की कोई भी ताक़त संसार से एक पत्नी-व्रत को नष्ट नहीं कर सकती। एक पत्नी-व्रत और एक पति-व्रत ही संसार-चक्र के दो ध्रुव हैं। क्षणिक विषय-सुख के लिए किसी साथी को ढूँढ लेने में न तो स्थिरता है, न आदर्शवाद है, और न संसार के प्राचीन इतिहास तथा उसके भावी विकास का भान है। आपके मत में विवाह का पवित्र बंधन एक ऐसे

नियम से बंधा हुआ है कि उसे कोई तोड़ ही नहीं सकता। आदर्श भले ही बदल जाय, पर नियम नहीं टूट सकता। रूस की स्त्रियों ने सरल विवाह और सरल तलाक की जो प्रथा ईजाद की है, उसपर आपका विश्वास नहीं है; वह असफल हो चुकी है और रूसी महिलायें फिर अपने पुराने रास्ते पर आ रही हैं। अमेरिका के नवयुवक और नवयुवतियों को आपने यह कह रक्खा है कि 'क्षणिक सुख के लिए किया गया संबन्ध सच्चा विवाह-संबन्ध नहीं है। कोई भी विवाह-पद्धति, जिसके बल पर आदमी कई विवाह कर सकता है, जाति की आध्यात्मिकता की दृष्टि से उतनी ही घातक है, जितनी कि बोलशेविकों की नीति, सम्मत वह विवाह-प्रीति, जो एक घण्टे से ज्यादा नहीं टिकती।'

वर्तमान संसार की इस कठिन समस्या को सुलझाने के लिए आप किसी विवाह-विधान की सिफ़ारिश नहीं करते। आप तो लोगों में आध्यात्मिक जागृति और व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी को बढ़ाने की बात पर खूब ज़ोर देते हैं। मनुष्य का यह धर्म ही उसे पशुओं की श्रेणी से अलग हटाता है। सब से सरल उपाय यही है कि लोग अपनी ज़िम्मेदारी को खूब ग़ौर से समझने लगें।

व्यावहारिकता के लिहाज़ से आप इन बातों पर अधिक ज़ोर देते हैं—

"विवाह की उम्र बढ़ाई जाय। शीघ्र ही विवाह होना कठिन कर दिया जाय। पशुवृत्ति की तृप्ति के मार्ग में हम चरित्र को उन्नत करने वाली रुकावटें खड़ी करदें। वे ही लोग विवाह कर सकें, जो बालिग़ हों, भले-बुरे का विचार करने योग्य हों, और अपनी जवाबदेही को समझते हों। कोई भी स्त्री या पुरुष तब तक विवाह न करे, जब तक एक-दूसरे के स्वभाव से पूरा और अच्छा परिचय न हो जाय। अगर स्त्री या पुरुष संतोष-पूर्वक अकेला रह सकता है, तो उसे विवाह न करना चाहिए। विवाह करने पर वह अपनी उन्नति ही कर सकेगा—कठिनता से कर सकेगा।

"चरित्र-निर्माण के पहले विवाह हो जाने का जिन-जिन देशों में रिवाज है, उन-उन देशों के स्त्री-पुरुषों की वह बाढ़ रुक जाती है, जो केवल अविवाहित दशा में ही हो सकती है। आजकल की भयंकर सामाजिक अशक्ति और घोर दुःख इसी का परिणाम है।

"सबसे पहले विवाह के तत्त्वों पर विचार करो। मनुष्य के चरित्र-निर्माण में उनका असर होता ही है। जब तक आदमी इस बात को दूरन्देशी से देख न ले और इसके परिणाम को भलीभांति समझ न ले, वह अपने जीवनभर के साथी को सफलता से नहीं चुन सकता। (बड़ी उम्र में विवाह की यह ज़ोरदार दलील है)

"विवाह कोई स्वर्गीय सुख नहीं है। कभी-कभी लोग उससे बड़ी-बड़ी आशायें रखते हैं। सब से अच्छा विवाह वह है, जिसमें पति-पत्नी दोनों की सब तरह की उन्नति बिना बाधा के होती रहे। अगर दोनों समानभाव से उन्नत नहीं होते हैं तो तत्त्व की दृष्टि से वह विवाह भूल है।

"कुछ लोग यह दावा करते हैं कि बाल-विवाह स्वास्थ्य के लिए लाभकारक है। परन्तु स्वास्थ्य ही तो दुनिया में सब कुछ नहीं है। हम पशु तो हैं नहीं। स्वास्थ्य, सफ़ाई, सुख—ये पुरुष या स्त्री के जीवन के ध्येय नहीं हैं। उनके जीवन का सार तो उनकी आन्तरिक उन्नति में है। सच्चा विवाह इस उन्नति में सहायक होता है। झूठा, मार्ग में रोड़े अटकाता है।

"तलाक़ की प्रथा 'फिसल पड़े की हर गंगा' का दूसरा नाम है। ज़िम्मेदारी के ख़याल का अभाव ही इसका मूल कारण है। यह पतन का एक मस्सा,

अचूक और सरल मार्ग है।" 'तलाक के कटु अनुभवों से मनुष्य शिक्षा ग्रहण कर आध्यात्मिक हो जाता है,' इस कथन पर आपका रंच मात्र विश्वास नहीं है। आप कहते हैं—"भयंकर विपत्ति हमें उबार लेती है, उदार दुःख हमें उन्नत बनाते हैं। परन्तु एक घृणित वस्तु हमें गिराती है—बस एक दम गिरा देती है। तलाक-प्रथा घृणित है, भयंकर है, बाजारू है, व्यभिचार को सस्ता करती है। मैं फिर-फिर कहता हूँ कि इसके समान पतित करने वाली चीज दुनिया में मैंने नहीं देखी। अगर स्त्री-पुरुष तलाक के बाद भी बिना चोट खाये सुख से रह सकें, तो मैं कहूँगा कि उनके आत्मा ही नहीं है; एक ही आदमी का कई बार विवाह करना और तलाक देना मेरे लिए, हाय, कितना भयंकर है! ऐसा व्यक्ति पशु है, राक्षस है।

"तलाक-प्रथा को एकदम रोक दो, यही इसका सरल हल है। दो गम्भीर व्यक्ति ही वर्षों के त्याग और तप के बाद विवाह कर सकें, ऐसी प्रथा चला दो। अगर लड़के-लड़कियों को बचपन से विवाह का सच्चा आदर्श बतला दिया जाय और उसकी गम्भीर जिम्मेदारी उन्हें समझा दी जाय, तो वे कभी ऐसी भयंकर गलतियां न करेंगे।"

स्वयं काउन्ट कीसरलिंग एक सुखी पति और दो बालकों के सफल पिता हैं। अपने वैवाहिक जीवन के आरम्भ से वह प्रतिदिन प्रेम की सच्ची झांकी का गम्भीरतापूर्वक दर्शन और मनन करते रहे हैं।

"विवाह प्रेम-पदार्थ रहे या जीवन की सुविधा का साधन?" इस का उत्तर देते हुए अपने एक मित्र से उन्होंने कहा था—

"प्रेम ही विवाह का न्याय्य कारण है। कई लोग ऐसे हैं जो क्षणिक विकारों के वश विवाह कर लेते हैं, अथवा घर जमाने या ऐसी ही किसी घृणित तुच्छ इच्छा के वश। विवाह का आधार तो होना चाहिए, निष्काम शुद्ध प्रेम!"

भारतवर्ष के कितने शिक्षित और अशिक्षित घरों में आज ऐसे पवित्र ध्येय को सामने रख कर विवाह किये जाते हैं? जरा अपने हृदय टटोल कर देखिए तो? क्या महात्मा गांधी के इन ३५ वर्षों के जीते-जागते उदाहरण से हम विवाह के संबंध में कुछ सीख नहीं ले सकते? राम और बुद्ध तो दूर रहे, अगर महात्माजी का ही सबक़ हम पढ़ लें, तो दुनिया का सच्चा सुख और अटूट संपत्ति हमारी होकर रहने लगे।

ईश्वर हमें बल और बुद्धि दे कि हम इस आदर्श तक उठने में सफल-प्रयत्न हों।

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

संतति-निग्रह

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि बाल-ब्रह्मचारी और संतति-निग्रह के आदि-पुरुष भीष्मपितामह की संतान भी ब्रह्मचर्य को हानिकारक मान कर यूरोप की नक़ल करने जा रही है! संतति-निग्रह के उपायों और साधनों के बारे में भी भारतीयों के तीन दल हो गये हैं। प्रथम दल वह है, जो सन्तति-निग्रह के लिए स्वाभाविक संयम या ब्रह्मचर्य ही को सर्वोत्कृष्ट मानता है और सब कुछ सहन करके भी इसके पीछे पड़ा हुआ है। दूसरा दल वह है, जो स्वाभाविक संयम को उत्तम वस्तु मानता तो है परन्तु जब मनुष्य से ब्रह्मचर्य न निभे तो कृत्रिम उपायों द्वारा संतान-वृद्धि रोकने की सलाह देता है। अथवा, दूसरे शब्दों में, जरासी कठिनाई पड़ते ही कृत्रिम साधनों की शरण ले सकता है। तीसरा दल वह है, जो ब्रह्मचर्य को स्वास्थ्य के लिए हानिकारक बताता है और कृत्रिम उपायों को ही सन्तान-वृद्धि रोकने का उत्तम साधन बनाता है।

प्रथम साधन में कठिनाइयाँ बहुत हैं। परन्तु किसी काम के कठिन होने के कारण मनुष्य उसको छोड़ तो नहीं देता। ब्रह्मचर्य की महत्ता पर अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। मुझे यहाँ ब्रह्मचर्य की महत्ता लिखने की आवश्यकता नहीं है—क्योंकि, इसे प्रत्येक भारतवासी जानता है। परन्तु इतना कह सकता हूँ कि ब्रह्मचर्य अपने गहन भाव में भी कठिन ही है, नितान्त असम्भव नहीं है। हमारे यहाँ तो इसके अनेक प्रमाण हैं। कितने ही बाल-ब्रह्मचारी हो गये हैं। उदाहरणार्थ भीष्म, हनूमान, परशुराम इत्यादि। परन्तु नई रोशनी के नवयुवक कह उठेंगे कि हम इन क़िस्सों पर विश्वास नहीं करते। अच्छी बात है, मत करिए। अभी हाल के उदाहरणों को तो मानिएगा न? कहिए स्वामी दयानन्द सरस्वती तो बाल-ब्रह्मचारी थे? परमहंस रामकृष्ण बालब्रह्मचारी थे? पर बाल-ब्रह्मचारी की शारदामणि कैसी? परन्तु उन्हीं शारदामणि के पति का शरीर प्रगाढ़ निद्रा में सोते हुए भी स्त्री के स्पर्श-मात्र से संकुचित हो कर धनुषाकार हो जाता था। अभी अध्यापक राममूर्ति ब्रह्मचर्य के उत्कृष्ट वाटिका के सर्वोत्तम फल वर्तमान हैं।

पाठक यों न घबराइए कि हम बाल-ब्रह्मचारी तो हैं नहीं, अब ब्रह्मचर्य रखने से क्या लाभ? नहीं। यथा—

> मरणं बिन्दु पातेनं, जीवनं बिन्दु धारणात्।
> तस्मादति प्रयत्नेन, कुरुते बिन्दु धारणम्॥
> सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यन्ति भूतले।
>
> (शिव-संहिता)

भाव यह है कि वीर्य धारण करना जीवन और वीर्य-क्षय होना ही मृत्यु है, इसलिए कोशिश करके ब्रह्मचारी बनना चाहिए और वीर्य का संचय करने वाले के लिए संसार में कोई कार्य करना असम्भव नहीं है। अंग्रेजी में कहा है— It is never too late to mend (सुधार करने के लिए कभी देर नहीं है)। ब्रह्मचर्य के लाभ शारीरिक और सामाजिक ही नहीं हैं, परन्तु यह पारलौकिक फल भी देता है। यथा—यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति (गी० ८, ११.) (मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा वाले ब्रह्मचर्य धारण करते हैं।) तो जब यह मार्ग कल्याणकारी है, तो अवश्य इसपर चलना चाहिए। मेरा तो विश्वास है कि कल्याणकारी मार्ग पर आचरण करने से केवल लाभ ही लाभ है। क्या हुआ यदि आप ब्रह्मचर्य के शिखर पर न पहुँचे? आपको कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा। देखिए, भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> "पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
> नहि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।
>
> (गीता, ६. ४०)

अर्थात्, हे पार्थ! क्या इस लोक में क्या परलोक में, ऐसे पुरुषों का कभी विनाश होता ही नहीं; क्योंकि, हे तात, कल्याणकारक कर्म करने वाले पुरुष की कभी दुर्गति नहीं हो सकती।

अब दूसरे दल को लीजिए। इन लोगों का कहना है कि सर्व-साधारण के लिए एक संतान पैदा करके ब्रह्मचारी बन जाना संभव नहीं है। उदाहरण के लिए भारत की विधवाओं का दृष्टांत देते हैं। एक पुस्तक-कार ने Practical & Theoratical (व्यावहारिक और सैद्धान्तिक) की दुहाई देकर बहुत कुछ लिख मारा है। उन्होंने विधवाओं को कृत्रिम निरोध के उपाय व्यवहार में लाने का आदेश किया है। मैं नहीं समझता कि लेखक महोदय का विचार विधवाओं से गुप्त व्यभिचार कराने का है या उनको सन्मार्ग पर आरूढ़ करने का। यदि वे अपने को न रोक सकें, और ब्रह्मचर्य न निभा सकें तो उनके लिए गुप्त व्यभिचार की अपेक्षा तो शादी कर लेना ही अच्छा होगा। कुछ महाशय कहेंगे कि तब संतान-

वृद्धि कैसे रुके ? तो क्या यही आवश्यक है कि शादी होते ही स्त्रियाँ बच्चा पैदा करने की मशीन बना ली जायँ ? यहाँ पर गांधीजी के अमूल्य शब्द उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

A Society that has alredy become enervated through a variety of causes will become still more enervated by the adoption of artificial methods. Those men, therefore, who are light-heartedly advocating artificial methods cannot do better than study the subject afresh, stay their injurious activity and popularise Brahmacharya both for the married and the unmarried. That is the only noble and straight method of Birth-control.*

अर्थात्, एक समाज, जो अनेक कारणों से दुर्दशाग्रस्त है, कृत्रिम साधनों का उपयोग करके और भी दुर्दशाग्रस्त हो जावेगा। इसलिए जो लोग कृत्रिम साधनों का वे समर्थन कर रहे हैं उनको चाहिए कि इस विषय का वे फिर से मनन करें, अपना क्षतिपूर्ण कार्यक्रम रोकें और विवाहित और अविवाहित दोनों के लिए ब्रह्मचर्य का प्रचार करें। सन्तान-निग्रह का यही भव्य और सीधा रास्ता है।

और क्या कहें, हमारे एक लेखक ने कृत्रिम उपायों के उपयोग पर एक पुस्तक ही लिख डाली है और एक सुन्दर पुस्तक को उसमें उस पुस्तक के उपलब्ध होने का पता बतला कर कलंकित कर डाला है।

× × ×

Let those who are eager to see the births regulated explore the lawful means devised by the ancients and try to find out how they can be revived.*

* Young India, 12-3-25.

अर्थात्, संतति-निग्रह के इच्छुकों को ऋषियों के बताये हुए उपयुक्त नियमों को ढूँढ़ निकालना चाहिए और उनके प्रचार के उपाय सोचना चाहिए।

× × ×

गाँधीजी कहते हैं—'मैंने गम्भीरतम विचार करके भी यही तय किया है कि कम से कम भारत के लिए कृत्रिम निरोधों की किसी भी दशा में आवश्यकता नहीं है। जो भारत के लिए उनका उपयोग लाभदायक बताते हैं वे या तो भारत को जानते ही नहीं या वे भारतीय दशा को तुच्छ समझते हैं।'

यह कहना कि सर्व-साधारण के लिए ब्रह्मचर्य संभव नहीं है, युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। इस विषय में तो गांधीजी स्वयं एक आदर्श हैं। उन्होंने अपनी पत्नी से राय लेकर ब्रह्मचर्य धारण कर लिया है। अभी हाल की लंका की एक घटना उद्धृत करने योग्य है। वहाँ पर एक दिन एक यूरोपियन महिला के पूछने पर गांधीजी ने कहा—'हाँ, वह मेरी माता है'। दूसरे दिन सुबह सभा में श्रीमती गांधी को न पाकर लोगों ने पूछना शुरू किया कि 'माता क्यों नहीं आई?' गांधीजी ने कहा—"रात को एक महाशय भूल से श्रीमती गांधी को मेरी माता समझ गये, परन्तु मेरे लिए और उनके लिए भी यह केवल क्षम्य भूल ही नहीं है, परन्तु एक आदरणीय भूल है। क्योंकि हम दोनों की राय से यह पिछले कई सालों से मेरी स्त्री नहीं रहीं। लगभग ४० वर्ष पूर्व मैं अनाथ हो गया और लगभग ३० वर्ष से उन्होंने मेरी माता का भार लिया है। वह मेरी माता, दाई, रसोइया, और बरतन साफ़ करने वाली और ऐसे ही और काम करने वाली थीं। यदि इस समय वह मेरे साथ मेरी प्रतिष्ठा में भाग लेने आतीं तो मैं दिन भर भूखा रहता और मेरे वस्त्र और आराम की ओर कोई ध्यान न देता। इसी लिए हम लोगों ने संधि करली है कि प्रतिष्ठा मेरी

रहेगी और कष्ट उनका रहेगा।" साधारण पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि यह भी आदमी हैं। क्या मैं आशा करूँ कि मेरे पाठकों में अधिकांश इस बात को मानकर इसपर आचरण करेंगे?

अब तीसरे दल को लीजिए। इसके लाभों को यदि विचार पूर्वक लिखने लगें तो एक पोथा बनजाय। एक नहीं अनेक पुस्तकें पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय पर और कृत्रिम निरोध के लाभों पर लिख डाली हैं। लाभों को तो 'त्यागभूमि' के पिछले एक अंश में महोदयजी ने गिनाही दिया है, मुझे लिखने की आवश्यकता नहीं। फिर भी सर्व-साधारण की जानकारी के लिए कुछ तो अवश्य लिखूंगा।

पहले-पहल ये लोग कहते हैं कि इन्द्रिय-निरोध से स्वास्थ्य को हानि होती है। हमारे ऋषियों ने तो अनेक प्रमाण इस दावे के विरुद्ध दिये हैं और सब लोग उनको जानते भी हैं, इसलिए उनको लिखने की आवश्यकता नहीं। इनके विरुद्ध कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मत देने की इच्छा करता है।

उपूवेगन विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री आस्टरलेन लिखते हैं—

The sexual instinct is not so blindly all-powerful that it cannot be controlled and even subjugated entirely, by moral strength and reason. ××× He (young man and woman) must know that robust health and ever renewed vigour will be the reward of this voluntary sacrifice.

अर्थात्, कामाग्नि ऐसी सर्वशक्तिमान नहीं है कि यह नैतिक शक्ति और विचार द्वारा पूर्ण रूप से बस में न आ सके (नवयुवक और युवतियों को जानना चाहिए कि इस आत्मबलिदान का फल हृष्ट-पुष्ट शरीर और उत्साह-पूर्ण शक्ति है)।

दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य परिषद् का सर्व-सम्मति से पास किया हुआ प्रस्ताव (II General Congress of the International Congress of Sanitary at Brussels in 1902, present 102 members.) इस प्रकार है:—

Young men must above all be taught that chastity and cotinence are not only not harmful but also that these virtues are among those to be most earnestly recommended from the purely medical and hygienic standpoint.

अर्थात्, नवयुवकों को सर्वप्रथम यह सिखाना चाहिए कि शुद्धता और इन्द्रिय-निरोध केवल क्षति-रहित है और यह भी कि वैद्यक और आरोग्य-शास्त्र की दृष्टि से यह उन गुणों में से है जो मनुष्य के लिए आवश्यक बताया जाता है।

क्रिश्चेनिया विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक विभाग की सर्वसम्मति द्वारा स्वीकृत घोषणा है—

(Unanimous declaration of the Medical Faculty of Christania University).

The assertion that chaste life will be prejuducial to health rests, according to our unanimous experiance, on no foundation. We have no knowledge of any harm resulting from a pure and moral life.

अर्थात्, हम सब लोगों को अनुभव द्वारा सिद्ध हो चुका है कि "शुद्ध जीवन स्वास्थ्य के लिए हानिकर है" यह कहना बेबुनियाद है। हम लोगों को इस बात का कुछ भी ज्ञान नहीं है कि शुद्ध और नैतिक जीवन व्यतीत करने से कोई क्षति है।

यह प्रमाणित हो गया है कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य

के लिए हानिकर नहीं है। अब एक पश्चिमी विद्वान् की राय कृत्रिम निरोध (Artificial check) के बारे में देखिए।

श्री देयर कहते हैं—"यह (कृत्रिम निरोध) इन्द्रिय-निग्रह के विवेक-पूर्ण आशय को हटा देता है और विवाह के पश्चात इस विलासिता की सीमा इच्छा कम होने पर या अवस्था अधिक होने पर ही निर्धारित होती है × × × इससे अव्यवस्थित गड़बड़ और निष्फल विवाह होते हैं जो नये विज्ञान, समाजनीति और राजनीति की दृष्टि से भी भयानक परिणाम से भरे हुए हैं। × × × इतना कहना पर्याप्त है कि गर्भ-निरोध से वैवाहिक सम्बन्ध और उसके नियमातीत विलासिता का मार्ग सरल हो जाता है और व्यक्तिगत और राष्ट्रगत विपत्ति आये बिना न रहेगी।

तिसपर भी यह पाशविक इच्छा कहीं कम होती है ? यह तो भोग से और बढ़ती ही है। यथा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिवर्धते॥

(मनु० २। ९४। म० भा० अ० ७५। ४९)

अर्थात्, सुखों के उपभोग से विषय-वासना की तृप्ति तो होती ही नहीं किन्तु विषय-वासना दिनों दिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि की ज्वाला हवन-पदार्थ से बढ़ती है।

तीसरे दल के जितने फ़ायदे हैं, उनसे कई गुना ज्यादा ब्रह्मचर्य द्वारा सन्तति-निग्रह करने से होंगे। और ब्रह्मचर्य द्वारा सन्तति-निग्रह करना सम्भव है। और फिर ऐसे सन्तति-निग्रह से लाभ ही क्या ? जब कि संसार के शुद्ध जीवन (Chastity) और सदाचार का लोप ही हो जावेगा। शुद्ध जीवन की प्रशंसा में मिल्टन कहता है—

So dear to heaven is chastity,
That when a Soul is found sincerely so,
Thousand liveried angels hackey her.

अर्थात्, एक पवित्र आत्मा की सेवा सहस्रों देवदूत किया करते हैं।' शुद्ध जीवन व्यतीत करने से मन अपने स्थान पर और अपने ही अंदर स्वर्ग और नरक निर्माण कर सकता है। यथा :—

'ब्रह्मचर्येणतपसा देवा मृत्युमुपा घ्नत्'

(ब्रह्मचर्य से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लिया) इसलिए संतति-निग्रह के लिए ब्रह्मचर्य ही सबसे श्रेयस्कर मार्ग है। नवयुवकों का काम इसी का प्रचार करना है।

If evry one looks for his own reformation How very easy to reform a nation

अर्थात्, अपना-अपना सुधार सब करने लगें तो एक राष्ट्र को सुधारना कितना सरल हो जायगा। अतएव नवयुवकों का कर्तव्य स्वयं ब्रह्मचारी बन कर ब्रह्मचर्य का प्रचार करना है। पाठकवर्ग यदि अपने पड़ोस और कुटुम्ब के प्रत्येक स्त्री-पुरुष का ध्यान इस विषय की ओर दिला सकें और ब्रह्मचर्य की महत्ता बता कर उनको सन्मार्ग पर ला सकें, तो देश का कितना उपकार हो सकता है! सचमुच वे ही माता के ऋण से मुक्त होंगे। क्या हुआ यदि वे विवाहित हैं; विवाहितों के लिए गांधीजी का आदर्श अच्छा है।

जो लोग इस विषय को और पढ़ना चाहते हैं उनके लिए निम्नलिखित पुस्तकें और लेख उपयोगी सिद्ध होंगे—

पुस्तकें

१. आदर्श ब्रह्मचर्य (हिन्दी); गीता-प्रेस (गोरखपुर)।

२. ब्रह्मचर्याश्रम (उर्दू); भारत लिटरेचर कम्पनी, लाहोर।

३. ब्रह्मचर्य ही जीवन है (हिन्दी); पता ठीक मालूम नहीं है, पर प्रयाग के पुस्तक-विक्रताओं से प्राप्त हो सकती है।

लेख

गांधीजी के 'यंग इण्डिया' के लेख (1) Towards moral Bankruptsy (in VIII chapters) (2) In confidence, Oct. 13, 20. (3) Birth control, March 12, 25, (4) Some arguement, 2nd April 25 considered (5) Truth Brahmacharya. Feb. 25. 26. (6) On Brahmacharya April 29. 1926. 'नवजीवन के २५ मई सन् २४ के और २६ फ़रवरी २६ के अंक में भी कुछ लिखा गया है। महोदयजी के कथमानुसार गांधीजी ने भी कोई नई पुस्तक 'संयम और विलास' नाम की लिखी है। *

शिवप्रसादसिंह विश्येन

ख़बर है कि काठियावाड़ की लीम्बड़ी रियासत में नीचे लिए सुधार करने पर विचार हो रहा है—

(१) मृत पुरुष की अर्थी के साथ कोई स्त्री-पुरुष न रोवे।

(२) अन्त्येष्टि क्रिया रियासत की आज्ञा लिये बिना कोई न करे।

(३) लड़के-लड़कियों का विवाह क्रमशः १७ और १२ वर्ष की उम्र में हो।

---

* टॉल्स्टॉय के The Relation of the saxes का अनुवाद (स्त्री और पुरुष) भी इस विषय में बड़ी उपयोगी पुस्तक है।

'संयम और विलास' महात्माजी के उपर्युक्त लेखों का पुस्तक रूप में संग्रह है। अंग्रेजी में इस पुस्तक का नाम Self control Vs. Self Indulgence है। हिन्दी अनुवाद अभी पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुआ है। सं०

रूसी बहनों की प्रगति

साम्राज्यवादियों ने रूस को एक हव्वा-सा बना रक्खा है। उनकी एजेन्सियों से उसकी जो भी ख़बरें आती हैं, वे हरएक कुछ ऐसे रंग में रंगी होती हैं कि हम एकाएक चौंक उठते और भय, कुतूहल एवं आशंका की दृष्टि से ताकने लगते हैं। लेकिन, जो वहाँ होकर आये हैं अथवा जिन्होंने वहाँ की परिस्थिति का विशेष अध्ययन किया है, उनका कहना है कि, वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। अक्तूबर १९१७ की महाक्रांति से पहले, ज़ार के समय, जो रूस था, आज वह उससे कहीं अधिक उन्नत, समृद्ध और सुव्यवस्थित हो गया है। रूसी बहनों ने तो निश्चय ही खूब प्रगति की है।

अलेक्ज़ेंडर राकोवस्की का कहना तो यह है कि "अक्तूबर (१९१७) की रूसी महाक्रांति के बाद के इन दस वर्षों में यहाँ स्त्रियों के दर्जे में बड़ा भारी परिवर्तन हुआ है। ज़ारशाही के समय तो मुल्की या राजनैतिक जीवन में उनका कोई भाग न था; किन्तु आधुनिक रूस में तो वे अपनी यूरोपीय अथवा संसार के किसी भी दूसरे देश की बहनों से आगे बढ़ी हुई हैं।"

इसमें शक भी क्या? आज तो रूस में स्त्रियों की सर्वतोमुखी प्रगति ही चहुँओर दृष्टिगोचर हो रही है। घर या बाहर का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं कि जिसमें उन्होंने पदार्पण न कर रक्खा हो।

पुरुष और स्त्री का दर्जा वहाँ बराबर का है। स्त्रियों को क़ानूनन पुरुषों की पूर्ण समानता प्राप्त है। घर में वे कुटुंबियों की मातहत नहीं हैं। विवाह और कुटुंब सम्बन्धी जनवरी १९१७ के नये क़ानून के मुताबिक 'सरकार और समाज के हित एवं पति-पत्नी तथा

बालक के वैयक्तिक और भौतिक हितों की सुरक्षा के उद्देश से विवाहों की रजिस्टरी कराना आवश्यक है। मुक्त-विवाह (Civil marriage) का आम रिवाज है; धार्मिक विवाह निजू बात मानी जाती है, और उसका निर्णय व्यक्तियों पर ही निर्भर है। विवाह की औसत आयु १८ वर्ष है। विवाह के बाद भी स्त्री अपना व्यक्तित्व रख सकती है। पुरुष-स्त्री दोनों इस बात के लिए स्वतन्त्र हैं कि कौन किसके नाम पर अपने नाम बदल ले अथवा न भी बदले। विवाह से पहले की अपनी-अपनी सम्पत्ति भी दोनों की अलग-अलग ही रहती है और कौटुम्बिक संपत्ति के शासन का दोनों को समानाधिकार है। क़ानूनन् कोई एक दूसरे की संपत्ति को हजम नहीं कर सकता। इसी प्रकार समाज और शासन में भी उन्हें समानाधिकार प्राप्त है। पुरुषों ही के समान वे मत भी दे सकती हैं और पदाधिकारिणी भी हो सकती हैं।

अपने शासन-प्रबन्ध में रूसी बहनें पुरुषों के समान ही भाग ले रही हैं। शहर और क़स्बों की सोवियट संस्थाओं के सदस्यों में १५ सैकड़ा स्त्रियां हैं। यही नहीं, सोवियट कांग्रेसों में प्रतिनिधि-रूप में भी वे शामिल होती हैं और सार्वजनिक हित के कामों--ख़ास कर शिक्षा तथा जन-सेवा के विभागों में--वे कमिश्नरों के रूप में भी कार्य करती हैं। और तो और, सैनिक विभाग में भी उनका प्रवेश है। जनरल स्टाफ़ स्कूल से उच्च सैनिक-शिक्षा प्राप्त करके वे ऊँचे फ़ौजी पदों तथा दूसरे देशों की राजदूती का भी काम करती हैं। अलेक्जेण्डर कोलनटाई नामक महिला नारवे और मेक्सिको में सफलता-पूर्वक दूत का काम कर चुकी हैं।

लेनिन ने कहा था—"श्रमजीवी और कृषिकारों के प्रजातंत्र में प्रत्येक नागरिक को सुशिक्षित होना चाहिए, और सुशिक्षित भी ऐसा कि राज्य के हितों को वह समझ सके और उनकी रक्षा कर सके।" इसके अनुसार स्थानिक सोवियटों में ही स्त्रियों की राजनैतिक शिक्षा का आरम्भ हो जाता है; वहाँ स्त्रियां वाद-विवाद में ही नहीं, बल्कि गाँव या शहर के शासन-प्रबन्ध में भी भाग लेने लगती हैं। और चूँकि वहाँ हरएक स्त्री को समय-समय पर अपने काम का ब्योरा देना होता है, इसलिए वहाँ से वे राजनैतिक जीवन की आदी हो जाती हैं। अलावा इसके सार्वजनिक न्यायालयों में भी न्यायाधीश और श्रमजीवी हलचलों की पंच के रूप में वे काम करती हैं।

उद्योग-धन्धों में भी उनका काफ़ी भाग है। रूस में सन् १८७० से पहले बड़े पैमाने पर माल तैयार होना शुरू हुआ था और तभी से रूसी बहनें पुरुषों के साथ-साथ इसमें भागीदार हो रही हैं। १८९७ की मर्दुमशुमारी के मुताबिक रूस के उद्योग-धन्धों में ५५ लाख तो पुरुष काम करते थे और १५ लाख स्त्रियां काम करती थीं। श्रमी-संघ की १९१३ की रिपोर्ट से पता चलता है कि उस समय जितने व्यक्ति फ़ैक्टरियों में काम करते थे उनमें ३०.७ प्रति सैकड़ा स्त्रियां थीं। यूरोपीय महासमर के समय स्त्री-कार्यकर्ताओं का औसत और बढ़ गया। १९१७ में रूस के श्रमियों में उनका भाग ४०.२ प्रति सैकड़ा होगया और तब से बराबर बढ़ रहा है। प्राचीन रूस के कुल ३८ में से ३१ प्रान्तों में ४२.८ तो यह १९१८ में ही पहुँच चुका था।

अक्तूबर की महाक्रान्ति के बाद तो श्रमी-संघों में भी ख़ूब तरक्की हुई है। जारशाही में तो वे ग़ैर-क़ानूनी थे और इसलिए उनका अस्तित्व गुप्त ही था; पर १९२५ में इन श्रमीसंघों में कुल ६६,०४,६८४ सदस्य थे। इनमें से स्त्रियाँ कितनी थीं? १६,८२,५५१ —कुल का २५.५ प्रति सैकड़ा! बुनाई के धन्धे के मजूरों में ५३.५ प्रति सैकड़ा स्त्रियां थीं; कपड़ा-विभाग

में ५७.५ प्रति सैकड़ा थीं, और क्लर्कों में ३८ प्रति सैकड़ा थीं। इसी वर्ष जर्मनी, फ्रांस और ग्रेटब्रिटेन के श्रमी-संघों के सदस्यों में स्त्रियों की संख्या थी कुल का केवल २१.८.१०.३ और १५.१ प्रति सैकड़ा! कितना अन्तर है !!

ग़रीब और मध्यम श्रेणी के कृषकों के संघटन में भी स्त्रियां अच्छा भाग लेती हैं। और कृषि-कार्य-कर्त्ताओं के संघों के सदस्यों में ⅓ भाग उन्हींका है। सहोद्योग समितियां वहां खूब प्रगति पर हैं और उनमें स्त्रियों का खूब भाग है। उनके चौथाई अधिकारी तो स्त्रियां ही हैं। कोई स्त्री एक छोटे से पद से कार्य आरम्भ करती है और धीरे-धीरे सर्वोच्च पद को प्राप्त कर लेती है।

इन्हीं सब बातों का यह परिणाम है कि शैशव और प्रसव संबंधी क़ानूनों में स्त्रियों के हितों का पूरा ख़याल रहता है और इस दृष्टि से रूस किसी भी दूसरे देश से बढ़ा हुआ है। तलाक देना वहाँ बहुत सरल है। परन्तु बच्चों पर ऐसी बातों का कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ने दिया जाता। वैध और अवैध सब बालकों को वहाँ एकसमान माना जाता और समान-रूप से ही दोनों की रक्षा की जाती है। तलाक के बाद भी पिता बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा के लिए जिम्मेदार होता है, बशर्ते कि उसका पता हो और उसकी शादी की रजिस्टरी हुई हो।

इस प्रकार आज रूसी बहनें भूमण्डल के सब देशों से आगे बढ़ रही हैं। और यह सब हुआ कैसे? राकोवस्की के कथनानुसार अपनी सामाजिक और राजनैतिक समानता के लिए स्त्रियों ने अपनी समितियां संगठित कीं, जिनका उद्देश्य व्याख्यानों और वाचनालयों द्वारा स्त्रियों में से अज्ञान का नाश करना था। गत कुछ वर्षों में पाँच लाख से अधिक स्त्रियों ने लिखना-पढ़ना सीखा है और उसके साथ-साथ राजनैतिक शिक्षा भी प्राप्त की है। फ़ैक्टरी और कारख़ानों के साथ-साथ उनकी शिक्षा के लिए तरह-तरह के स्कूल भी जगह-जगह मौजूद हैं, जिनमें सब राष्ट्रीयता वाली स्त्रियां पढ़-लिख सकती हैं। हाल में तो बहुत सी स्त्रियां वकील, डॉक्टर, एंजिनीयर आदि होकर निकली हैं। उधर साम्यवादी दल की स्थानिक समितियों के स्त्री-विभाग स्त्रियों संबंधी क़ानूनों के पालन और स्त्री-बच्चों की पूरी-पूरी रक्षा के लिए सदैव सतर्क और प्रयत्न-शील रहते हैं। और ये विभाग न केवल अपने दल ही में बल्कि बाहर की स्त्री-मजूरों के संघटन में भी बड़ी मुस्तैदी दिखा रहे हैं। रूस के पूर्वीय भाग में तो इनकी तत्परता खूब बढ़ी हुई है, जहाँ कि महाक्रांति से पहले स्त्रियां अपने पतियों की बिलकुल दासी थीं। इस महाक्रान्ति से रूस के यूरोपीय भाग में तो स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ ही, लेकिन मध्यएशिया की सोवियट प्रजातन्त्र में स्त्री-पुरुष की समानता घोषित हो जाने पर तो सारे में हलचल मच गई है। असम्भव नहीं कि एशिया पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा।

हमारा देश भी एशिया ही में है, और हम भी प्रगति-पथ पर चलने के इच्छुक हैं। अतः रूसी बहनों की इस प्रगति से हमें स्फूर्ति प्राप्त करनी चाहिए। क्या हमारी बहनें ऐसा करेंगी?

एक भारतीय

सोवियट राज्यों (रूस) की जन-संख्या में एक-सौ से अधिक भिन्न-भिन्न जातियों का सम्मिश्रण है। इन जातियों में कितनों की भाषा भी अलग हैं। फिर भी सोवियट शासन में जन-संख्या के अन्दर १.६ फ़ी सदी की वृद्धि हुई है। और शिक्षा का यह हाल है कि सन् १९२० में हज़ार पुरुषों पीछे ६१७ पढ़े लिखे थे और स्त्रियों में हज़ार पीछे ३३६ पढ़ी-लिखी थीं।

स्फुट प्रसंग

समाज और स्त्रियां

एक फ्रेंच आदर्शवादी का कहना है कि किसी देश या समाज की उन्नति-अवनति का पता इसीसे लगता है, जैसी कि वहाँ पर स्त्रियों की सामाजिक और राजनैतिक दशा होती है। यह नियम चाहे अनिवार्य न हो; फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि यह एकदम ग़लत भी नहीं—वस्तुतः इसमें बहुत कुछ सचाई है। और इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि आज हमारी जो हीन दशा है, उसका सब नहीं तो एक कारण स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार भी अवश्य है।

इसमें शक नहीं कि गार्हस्थ्य शान्ति के लिए पुरुष और स्त्री इन दो वर्गों में से किसी एक वर्ग को दूसरे एक वर्ग के थोड़ा-बहुत अधीन ज़रूर रहना पड़ेगा। लेकिन इसका यह मतलब नहीं, जैसा कि आज हो रहा है। जहाँ यह सब परस्पर के प्रेम-सहानुभूति और श्रद्धा-भक्ति का सौदा होना चाहिए, वहाँ आज तो 'पैदायशी हक़' के नाम पर यह मात्र ज़बर्दस्ती और बाध्यता का अवाञ्छनीय रूप धारण किये हुए है! आज तो हम पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी क्रीत-दासी मान रक्खा है—ऐसा मालूम पड़ता है, मानों उनके अपने लिए नहीं बल्कि हम पुरुषों के लिए ही उनका अस्तित्व है!

सुभाष बाबू की घोषणा

नवीन भारत यह सब देखकर क्षुब्ध हो उठा है। वह चाहता है कि अबतक जो हुआ सो हुआ, लेकिन अब तो ऐसी स्थिति कदापि न रहे। इसीलिए महात्माजी, लालाजी जैसे हमारे देश-पूज्य नेता आज स्त्रियों की दशा के सुधार पर ध्यान दे रहे हैं। तरुण बंगाल के होनहार नेता श्री सुभाषचन्द्र बोस ने तो इस बात को और भी स्पष्ट किया है, जब कि महाराष्ट्र-परिषद् के अध्यक्ष पद से उन्होंने कहा—"समाज के अन्दर स्त्रियों का स्थान उच्च होना चाहिए और सार्वजनिक कार्यों में वे भी अधिक से अधिक और पूरी होशियारी के साथ भाग ले सकें, इसके लिए उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए।"

सुभाष बाबू पश्चिम के अन्ध-अनुकरण के पक्षपाती हों, यह बात भी नहीं। वह तो कहते हैं—

'मैं यह नहीं चाहता कि भारतीय महिलायें अक्षरशः यूरोप और अमेरिका की स्त्रियों का अनुकरण करें। ओछी कमीज़ों और छटे हुए बालों से मुझे ज़रा-भी प्रेम नहीं है। विपरीत इसके, मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि, भारतीय स्त्रियों का आन्दोलन हमारे राष्ट्रीय आदर्शों एवं परम्परागत नियमों का पालन करते हुए अपना एक निराला मार्ग स्थिर करेगा। * * * किसी राष्ट्र के आधे भाग के लिए यह असम्भव है कि अपने दूसरे आधे भाग की सहानुभूति और सहायता के बग़ैर वह स्वतंत्रता प्राप्त करले। प्रत्येक देश में, स्वयं इंगलैण्ड के मज़दूर-दल में, स्त्री संस्थाओं ने अमूल्य सेवा की है। हमारे देश के भिन्न-भिन्न भागों में भी स्त्रियों की अनेक राजनैतिक संस्थायें हैं सही—पर, मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि, सार्वदेशिक राजनैतिक आन्दोलन करने के लिए अभी उनमें काफ़ी गुंजाइश है। स्त्रियों द्वारा ही सञ्चालित संस्थाओं का सबसे प्रथम कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि स्त्रियों में वे राजनैतिक आन्दोलन का प्रसार करें और भारतीय राष्ट्रसभा (कांग्रेस) की सहायक हों। ऐसी संस्थायें स्त्रियों में बड़ी फुर्ती से सामाजिक, बौद्धिक तथा नैतिक सुधार कर सकती हैं। बग़ैर ऐसी संगठित संस्थाओं के स्वदेशी और बहिष्कार जैसे महत्वपूर्ण कार्यक्रमों में सफलता पाना भी संभव नहीं। सच तो यह है कि हमारी माताओं और बहनों के अन्दर के राष्ट्रीय भाव न केवल प्रत्यक्ष-रूपेण हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन में ही सहायक होंगे बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से हमारी राष्ट्रीय प्रगति की बाधाओं को भी नष्ट कर देंगे।"

तथास्तु! हमारे भाई-बहन सुभाष बाबू की बातों पर ध्यान दें, तो क्या अच्छा!

विधवा-विवाह

वैधव्य बुरा नहीं, बशर्ते कि बलात् न हो। लेकिन, आज तो बलात् वैधव्य ही दृष्टि गोचर होता है। यही कारण है कि आज विधवा-विवाह और भी आवश्यक हो गया है। क्योंकि बलात्कार आम तौर पर संयम का रूप धारण नहीं करता; और, उस दशा में, अच्छाई के बजाय इससे बुराई की ही संभावना रहती है। यही आज हो भी रहा है। जो

विधवायें संयम-धर्म को कठिन समझती हों, उन्हें ज़बरन पुनर्विवाह से रोकने से समाज में सदाचार की रक्षा होगी ही, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आजकल विधवाओं में जितना दुराचार फैला हुआ है, वह किसी से छिपा नहीं है। अभी हमने उस दिन एक नौजवान विधवा की कहानी सुनी। वह अपने आपको संयम का पालन करने में बहुत असमर्थ पाती है, पर सम्बन्धी पुनर्विवाह नहीं करने देते। फलतः अपने देवर से उसका गुप्त सम्बन्ध हो गया और अब वह गर्भवती है। ज़ाहिरा वह अब भी विधवा है; पर जो जान गये हैं, वे उसकी थू-थू करते हैं। ऐसी ही और भी घटनायें सुनने में आती रहती हैं। बताइए, यह स्थिति अच्छी है या पुनर्विवाह करके शान्तिपूर्ण गृहस्थी बनना अच्छा है?

रही शास्त्रों की बात। सो, हर बात में शास्त्रों की आज्ञा की अपेक्षा करना हमेशा फ़ायदेमन्द नहीं होता। अपनी बुद्धि से भी हर बात को सोचने की आदत हमें ज़रूर डालनी चाहिए। शास्त्र धर्म-पालन के लिए ही तो है। भला वह धर्म कैसा, जिससे पाप बढ़ता हो और समाज पतित होता हो? इस तरह विवेक-बुद्धि को लेकर यदि हम शास्त्रों को देखेंगे तो वे हमें उचित सलाह ही देंगे। किसी विषय में यदि हमें शास्त्राधार न मिले तो यह शास्त्रों में नहीं है, यह कह कर चुप नहीं बैठना चाहिए। अपनी विवेक-बुद्धि पर विश्वास करके हमें कूद पड़ना चाहिए।

कुछ समय पूर्व काशी के 'आज' में श्री हरिप्रसाद पालधि महाशय के इस विषय पर लेख प्रकाशित हुए थे। उन्होंने विभिन्न पुराणों, मनुस्मृति और महाभारत से श्लोक उद्धृत करके यह सिद्ध किया है कि विधवा-विवाह शास्त्र-सम्मत है। जिन्हें इच्छा हो वे गत ७ व ८ दिसम्बर के 'आज' में इन लेखों को पढ़ सकते हैं और शास्त्रों को भी देख सकते हैं। परन्तु कोई शास्त्रों का नाम सामने रख करके किसी महत्वपूर्ण प्रश्न को न टाले। इस प्रकार अब तो यह बाधा भी सहसा सामने नहीं आती। अब भी यदि हम इसमें न-नु-नच करते रहें, तो यह दुर्भाग्य की बात है।

परदा और बहुपत्नीत्व

ये दो कुप्रथायें भी हमारे समाज को बड़ा खोखला कर रही हैं। आम तौर पर कहा यह जाता है कि ये प्रथायें मुसलमानों की सौग़ात हैं। कई मुसलमान भी इस बात को मानते हैं। उनका कहना है, इनका आधार बुराई से बचने के (Preventive) सिद्धान्त पर है। पर उस दिन कलकत्ते में, मुसलमानों की एक सभा के अध्यक्ष-पद से बोलते हुए, श्री एस. एम. ए. समद ने ज़ोरों से इस बात का विरोध किया। उन्होंने कहा—

शुद्धता और सदाचार से परदे का कोई सरोकार नहीं है। सतीत्व तो स्त्रियों में वैसा होना चाहिए, जो कि भारतीय नारीत्व की विशेषता है। सती-प्रथा की निर्दयता की हम कितनी ही बुराई करें, पर एक बात नज़र-अन्दाज़ नहीं की जा सकती; वह है भारतीय स्त्री की वह कवित्वमय भक्ति और वफ़ादारी, जिससे प्रेरित होकर पति की मृत्यु के बाद ही वह इस भावना के साथ अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देती थी कि "जहाँ मेरा साथी है, मैं भी वहीं रहूँगी।" इस्लाम में न तो परदे का आदेश है, और न सिर्फ़ मुसलमानों ही तक यह परिमित है। रहा बहुपत्नीत्व, सो पवित्र कुरान बहुपत्नीत्व की इजाज़त देता है, इसलिए हम एक से ज़्यादा शादी करेंगे; यह कहना पाप है। अगर आप कुरान पढ़ें तो तुरन्त यह पता चल जायगा कि कुरान में बहुपत्नीत्व के बारे में क्या कहा है। उसमें इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसका तो स्पष्ट अर्थ यह है कि हमारा फ़र्ज़ है कि जब तक कोई असाधारण परिस्थिति उत्पन्न न हो हमें एक से अधिक पत्नी न रखनी चाहिए।

जो हो, यह निश्चय है कि ये प्रथायें फ़ायदेमन्द नहीं, उल्टे हानिकर हैं। और इसलिए समाज इनसे जितनी जल्दी मुक्त हो, उतना ही अच्छा।

मुसलमान बहनों की जागृति

हर्ष की बात है कि हमारी मुसलमान बहनें भी दिनों-दिन जागृत हो रही हैं। पिछले दिनों भोपाल में स्त्रियों की कला-प्रदर्शिनी हुई ही थी। हाल में बीजापुर कन्या-शाला की प्रधानाध्यापिका के सभापतित्व में हुबली में कर्नाटक की मुसलमान स्त्रियों की परिषद् हुई है। शिक्षा में कर्नाटक भारत का बहुत पिछड़ा हुआ प्रान्त है और मुसलमान स्त्रियों के सम्मिलन का वहाँ यह सबसे पहला अवसर है। यह

सब बताते हुए अध्यक्षा ने कहा कि भारत में सिर्फ़ १ प्रतिशत स्त्रियां शिक्षित हैं। मुसलमान स्त्रियों में तो यह तादाद और भी कम है। फ़ी ५००० स्त्रियों में सिर्फ़ १ स्त्री शिक्षित है। शिक्षा के लाभ बताते हुए उन्होंने कहा कि माताओं तो शिक्षिता होनी ही चाहिएँ। इससे स्वास्थ्य, आरोग्य और सफ़ाई में ही नहीं, बल्कि शिशु-वर्धन में भी उन्हें मदद मिलेगी, जो कि स्त्रियों का मुख्य कर्तव्य है। उन्होंने परदे की निन्दा की और घर में व्यायाम करने पर ज़ोर दिया।

बहनों का साहस

बारडोली-सत्याग्रह में अब सरकार ने पठानों की सहायता से स्त्रियों पर भी ज़बर्दस्ती करना शुरू किया है। उस दिन सौ० मणिबहन को, उनके पति की अनुपस्थिति में, ख़ूब सताया गया। बाहर का दर्वाज़ा बन्द था, इसलिए पठान घर के पिछले हिस्से से दीवार लांघ कर घुसा। मणिबहन दर्वाज़ा बन्द कर रही थीं, पठान ने धक्का देकर उसे खोल दिया। मणिबहन उस धक्के से गिर पड़ीं, फिर भी वह उन्हें बाहर घसीट ले गया और घर की तलाशी लेकर ज़ब्ती की। इसपर सत्याग्रहियों, ख़ासकर स्त्रियों में बड़ा जोश छाया है। उस दिन श्रीमती भक्तिबा के सभापतित्व में उन्होंने अपनी सभा करके इस कृत्य की घोर निन्दा की और सौ० मणिबहन का ऐसे समय धैर्य और शांति रखने के लिए अभिनन्दन किया। कई स्त्रियों के जोशीले भाषण हुए, जिनमें स्त्रियों से अपील की गई कि वे अपने कृत्यों से यह सिद्ध करें कि वे अबला नहीं किन्तु सबला हैं। कुमारी मणिबहन ने कहा— 'बहनो, तुम राजदूतनी बनो और जेल जा-जाकर बारडोली को चमका दो।' उधर एक वृद्धा ने, जिसे जायदाद-ज़ब्ती का नोटिस मिला था, अपनी यह प्रतिज्ञा ज़ाहिर की है—

"मैं जो तय कर चुकी हूँ, उससे टल नहीं सकती। मेरे लिए ज़मीन के एक टुकड़े से प्रतिज्ञा का मूल्य कहीं अधिक है। अगर मेरी ज़मीन नीलाम हो जायगी तो मैं महात्माजी के चर्खे से गुज़र कर लूंगी। जेल का मुझे बिलकुल भय नहीं है।"

इस प्रकार सरकार के मदान्ध और क्रूर व्यवहार से हमारा भगिनी-समाज क्षुब्ध हो उठा है। क्या ही अच्छा हो कि बहन-भाइयों की यह प्रतिज्ञा दृढ़ साबित हो और वे इस अन्याय का अन्त करके ही दम लें!

संयुक्त प्रान्त में स्त्री-शिक्षा

संयुक्त प्रान्त की शिक्षा-विषयक पञ्चवार्षिक रिपोर्ट हाल ही प्रकाशित हुई है। इससे मालूम पड़ता है कि १९२६-२७ में वहाँ पर स्त्रियों के लिए सब मिला कर कुल १९८४ शिक्षणालय थे और ८१२८५ लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं। पाँच वर्ष के इस अरसे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मुसलमान और अछूत जाति की लड़कियों की संख्या बढ़ी है। मुसलमान लड़कियों की संख्या ५१ सैकड़ा बढ़ी है और अछूत लड़कियों की संख्या १९२१-२२ में जहाँ ४६४ थी वहाँ २२२१ होगई। शिक्षकों की संख्या २७२० से बढ़ कर ३३४० हो गई है। इनमें ट्रेंड १९२२ में जहाँ ५२५ थे वहां १९२७ में ७५० हो गये। कालेज की शिक्षा पानेवालियों की संख्या ३८ रही, मिडल और हाइस्कूल वालियों की १२३९ से बढ़ कर २०४५ हो गई। ९-१० वीं श्रेणीवालियों की संख्या इन पाँच वर्षों में दूनी हो गई, पर उनमें हिन्दू व ईसाई ही ज्यादा हैं—मुसलमान तो १७ से और १२ रह गईं। प्राइमरी स्कूलों की संख्या १३३७ से बढ़ कर १५६८ हो गई और भर्ती होनेवालियों की संख्या ३०२९३ से ३९४१३ हुई। कुल १४४२१८३ रु० लड़कियों की शिक्षा पर इस दर्म्यान खर्च हुआ। इलाहाबाद के सहयोगी 'लीडर' के कथनानुसार राष्ट्रीय प्रगति की महत्ता को देखते हुए यह प्रगति उत्साहप्रद नहीं है। फिर उसके लेखानुसार, "इस दर्म्यान लड़कों की शिक्षा की प्रगति लड़कियों की शिक्षा से कहीं ज़्यादा रही। शिक्षा-संस्थाओं में लगभग ३३०० की वृद्धि हुई, पर इनमें लड़कियों के लिए सिर्फ़ २४३ ही हैं। भर्ती होने वालों की संख्या ३,५०,००० के क़रीब पहुँची, पर लड़कियों की संख्या इसमें सिर्फ़ २०५०० से कुछ अधिक रही!" अतएव, उसका लिखना है कि, "स्त्री-शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई है, इस दृष्टि से, प्रगति की इस ज़रा सी रफ़्तार पर किसी का संतुष्ट होना कठिन है।"

मध्यप्रान्त की रिपोर्ट भी हाल ही प्रकाशित हुई है। वहाँ भी स्त्री-शिक्षा की प्रगति बहुत मन्दी है।

मुकुट

जगो लाल !

(माँ का जगाना)

(१)

जगो लाल ! अबतक हो सोये ।
तुमने बहुत नींद में खोये ॥
उठे तुम्हारे छोटे भाई ।
खेल खेलते हैं सुख-दायी ॥

(२)

दिन चढ़ गया, ज्योति है फैली ।
कहीं न है अँधियारी मैली ॥
देखो, काम-काज हैं होते ।
कृषक बीज खेतों में बोते ॥

(३)

पशु लग गये पेट के धन्धे ।
सभी व्यग्र हैं गूँगे-अन्धे ॥
पक्षी इधर-उधर हैं जाते ।
जो पाते उसको अपनाते ॥

(४)

मेरी बात नेम कर जानो !
जो कहती हूँ उसको मानो ॥
जो जगता है वह है जीना ।
वह सुख-शान्ति-सुधा है पीता ॥

(५)

हाँ आलसी न नाम हँसाओ ! सूना है घर उसे बसाओ ॥
प्रेम-एकता की जय बोलो । बेटा ! तनिक आँख तो खोलो ॥

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

नवभारत

निरे अनुकरण से कभी किसी राष्ट्र का भला नहीं हुआ। भारत को भी कोरे अनुकरण से कोई लाभ न होगा। निरा अनुकरण तो सत्वहीनता का लक्षण है। नये राष्ट्र और नयी सभ्यता के निर्माण के लिए तो आवश्यकता है एक नवीन उत्पादक-शक्ति की। नवीन भारत का अपना आत्मा होना ही चाहिए और अपनी ग्राह्य शक्ति में उसे ऐसी प्रगति करना आवश्क है कि जिससे आधुनिक विज्ञान के सन्देश का वह अधिक तत्परता से स्वागत कर सके। यह उसका विरोधी नहीं है, बल्कि उसके प्राचीन असीमता के सन्देश का आश्चर्यपूर्ण पुनः-प्रतिपादन है—उस सन्देश का जो असीम होते हुए भी जीवन और विश्व की सादगी से परिपूर्ण है। यह सारा विश्व, जो कि हमारे सामने और हमारे चारों ओर हमें दिखाई देता है, सिर्फ दो सूक्ष्म वैद्युतिक इकाइयों (Proton & Electron) के ऊपर स्थित है। कितना सरल ! फिर भी कितना चमत्कारिक !! अनंत और सादा जीवन का साक्षात्कार हमारे उन प्राचीन ऋषियों की द्विविध अंतःप्रेरणा ही तो थी, जो कि भारत और संसार के इतिहास के सर्वोच्च-कालीन महान् भारत के वास्तविक निर्माता थे। और मेरे हृदय के अंतस्तल में यही महत्वाकांक्षा भी छिपी हुई है कि युवकजन आधुनिक विज्ञान और भारतीय आदर्शों के उस संदेश को एक साथ समझकर उससे प्रेम करने लगें—उस आदर्श और सन्देश को कि जिसे ऋषियों की जननी भारतमाता ने पीढ़ियों से कला और पूजा एवं साहित्य और जीवन में प्रतिष्ठित कर रक्खा है !

टी० एल० वास्वानी

आशा-युग

मनुष्य-जीवन के शुरू से दो पहलू रहे हैं—(१) सुधार और (२) बिगाड़—उन्नति और पतन। परिवर्तन का नियम दुनिया की हर चीज़ पर लागू रहता है। मनुष्य इसका अपवाद नहीं है। बालक बढ़कर जवान होता है, और जवान बूढ़ा। मनुष्य-जीवन की गति विधि का निर्माण उसके आस-पास के क्षेत्र और समाज के अनुरूप होता है। अगर समाज उन्नत और सभ्य है, सुशील और सच्चरित्र है, तो उसके व्यक्तियों में भी ये गुण होना आवश्यक हैं—स्वाभाविक हैं। अगर बात ऐसी नहीं है, समाज जंगली और दुश्चरित्र है, तो उसके सदस्य भी वैसे ही होंगे। क्रमिक विकास और वायु-मंडल के प्रभाव का रहस्य इसीमें है।

इधर यंत्र-युग के आरम्भ से लेकर अब तक संसार में भौतिक प्रगति की जो हवा बहती रही है, उसने मनुष्यों के आचार-विचार, रहन-सहन और विद्या-बुद्धि में बहुत भारी परिवर्तन कर डाला है। यह बात पाठकों से छिपी नहीं है। खास कर यूरोपीय देशों के दैनिक जीवन में यंत्र-युग के कारण जो आमूल परि-वर्तन हुआ है, उसने दुनिया के और-और देशों का ध्यान भी अपनी ओर वर्षों पहले खींच लिया था—अभी भी खींचे हुए हैं। यन्त्र-युग की इस नई सभ्यता का मनुष्य के चरित्र पर कई तरह का अच्छा और बुरा असर हुआ है। बुराई में जहां विषय-लोलुपता, विलासिता, भौतिकता, साम्राज्यवाद, डाकेज़नी और व्यापारिक लूट जैसी बातों की भयङ्कर बाढ़ आई है, वहाँ अच्छाई में परिश्रमशीलता, लगन, साहस और अन्वेषक बुद्धि की मात्रा लोगों में बहुत बढ़ गई है। आज-कल के पश्चिमी देशों की विशेषता इन्हींमें है। इन्हीं मनुष्योचित गुणों के कारण ज्यादातर विदेशी राष्ट्र

आज सत्ताशाली और उन्नत हैं। इनकी इस अपूर्व उन्नति को देखकर जहाँ एक ओर हमारा हृदय हर्ष और आशा से भर जाता है, वहाँ ऊपर गिनाई हुई जंगली बुराइयों को इसी समाज में तेजी से बढ़ते देख एकाएक किसी भावी अनिष्ट के डर से हमारा दिल बैठ जाता है !

फिर भी इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि आज से ५० वर्ष पहले की दुनिया से आज की दुनिया अधिक उन्नत और आशापूर्ण है। पाश्चात्य देशों में आत्मोन्नति, स्वतन्त्रता और शान्ति का जो प्रयत्न समय-समय पर होता रहा है—आज भी हो रहा है, वह इतिहास जानने वालों से छिपा नहीं है। और विविध प्रयत्नों के कारण वहाँ के आबाल-वृद्ध स्त्री और पुरुषों में अपने निजी अधिकार और राष्ट्रीय महत्व की जो भावना उत्पन्न हो चुकी है, उसने वहाँ के प्रायः हर वर्ग के जीवन को एक तरह से आनन्द-मय और आशावान बना दिया है। मजदूरों और स्त्रियों का आन्दोलन इस बात का साक्षी है।

पूर्वीय देशों में अभी कुछ ही वर्षों से इस तरह के भाव जागृत हुए हैं, जिसके परिणाम-स्वरूप कुछ तो स्वतंत्र होकर विदेशी राष्ट्रों से व्यापारिक और राष्ट्रीय बराबरी प्राप्त करने के संघर्ष में पड़कर धीरे-धीरे सफल हो रहे हैं, और कुछ गुलामी की जंजीरों में जकड़े रहने पर भी अजहद तकलीफों से ऊब कर उन्हें ज्यों-त्यों करके तोड़-मरोड़ कर फेंकने के प्रयत्न में जी-जान से जूझ गये हैं। जापान, टर्की और अफ़-ग़ानिस्तान पहली श्रेणी में आते हैं, भारत, मिस्र और चीन दूसरी में।

किसी भी देश का प्राण उसके नवयुवकों में केन्द्रित रहता है। वे ही उसकी राष्ट्रीयसम्पत्ति और उसकी बिगड़ी दशा की लाठी हैं। चीन, भारत और मिस्र में स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जो भारी-भारी आन्दोलन खड़े हुए हैं, उनसे देश की नवयुवक जनता में काफ़ी जान आ गई है। पिछले कुछ वर्षों से तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इस भयङ्कर युद्ध की बागडोर भी देश के नवयुवकों के हाथ में चली गई है। चीन में युवा स्त्री-पुरुषों ने जीवन की पर्वा न कर पिछले वर्षों क्रांति की जो आग देश के कोने-कोने में फैला दी है, उससे उस देश की युवक-शक्ति का अंदाज़ किया जा सकता है। मिश्र और स्वतन्त्र हो जाने के बाद टर्की ने अपनी नई पीढ़ी में जो जान फूँकी है, राजनैतिक और सामाजिक क्रांतियों ने जिस दिलेरी के साथ उन्हें आगे ढकेला है, वह एक नमूने की चीज़ है। भारत में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के युद्ध में देश का नवयुवक हृदय ही सदा से अगुआ बना रहा है। आज भी दबी हुई आग की चिनगा-रियों को देश के दो तेजस्वी पुरुष सुभाष और जवा-हर फिर से फूँक-फूँक कर प्रज्वलित कर रहे हैं। ये दोनों युवक नेता देश की सोई हुई शक्ति को फिर से उठाने में अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर रहे हैं। सम्पूर्ण स्वत-न्त्रता का इष्टध्येय एक बार सामने रख लेने पर भारत के युवा भाई-बहनों को मार्ग की असुविधायें उखाड़ फेंकने में अब ज्यादा देर न लगेगी। और ख़ास कर उस हालत में जब कि महात्माजी, मालवीयजी, लालाजी और नेहरूजी तथा साधु वास्वानी जैसे देश के पूजनीय और वयोवृद्ध नेताओं के आशीर्वाद भी उन्हें प्राप्त हैं।

इन सब चिन्हों को देखते हुए हमें मिचीगन के गवर्नर श्रीयुत चेस एस. ओसबर्न का यह अनुभूत कथन ज़रा भी असंगत नहीं मालूम होता कि "गत पचास वर्षों की अपेक्षा आज का नवयुवक दल, आज की दुनिया, आज का समाज और साथ ही आज की बूढ़ी जनता भी हर तरह, हर हालत में, अच्छे और उन्नत हैं।"

आप कहते हैं :—"मेरे ७ बालक व १२ नाती हैं। ये सब मेरे सच्चे मित्र हैं और इतने अच्छे हैं कि मुझे अपने बचपन की याद आने पर शर्माना पड़ता है। इनके भी छोटे-छोटे मित्र हैं, जो मेरे साथ रहने आते हैं। हम साथ ही सफर को निकलते हैं, जंगलों में डेरा डालते हैं, और जिन्दगी का हर पहलू एक साथ बिताते हैं। नतीजा यह हुआ कि मैं उन्हें और उनमें छिपे हुए परमात्मा को खूब जानने लगा हूँ। उनके चेहरे से ही उनके चरित्र का पता पा जाता हूँ। आज का कोई भी मनुष्य बूढ़ा या जवान ऐसे घृणित काम नहीं करता, जो युगों से बदनाम हो रहे हैं। जो थोड़े से ऐसा करते हैं, उनके चेहरे रूखे लंपट और रोगी ही रहते हैं। जहाँ तक मैं देखता हूँ, आज से पहले कभी दुनिया के नौजवान इतने सुंदर, सुघड़ और पवित्र नहीं होते थे।...नवयुवक भी यह जानते हैं। भला वे क्यों न जानें? पहले की अपेक्षा आज उनकी प्रामाणिकता बढ़ी-चढ़ी है। आज समाज हर तरह से उन्नत और सुधरा हुआ है। इसमें शंका करने वाला मानों हमारी सभ्यता की नींव को ही अशुद्ध बतलाने का साहस करता है। मेरी राय में वे लोग, जो बार-बार यह कहा करते हैं कि अब पहले के दिन न रहे, अगर थोड़ा सा आत्म-विश्लेषण करने लगें, खुद ब खुद अपने ऐबों को ढूँढने और आत्म-निरीक्षण करने लगें तो बेहतर हो। ऐसा करने से उन्हें परमात्मा में नई श्रद्धा उत्पन्न होगी। उनके निर्माण-साधनों में—प्रार्थना-भवन, विद्यालय और छापखाने में उनका विश्वास और प्रेम बढ़ेगा।"

हमें आशा है कि हमारा नवीन भारत बूढ़े गवर्नर की इन आशामयी बातों से नया उत्साह और नवीन स्फूर्ति प्राप्त करेगा और देश के स्वातंत्र्य-संग्राम में अधिक तत्परता से जुट जायगा।

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

स्वतंत्र भारत की सृष्टि

"वर्तमान समय के महान् आशापूर्ण चिन्हों में से एक यह भी है कि इस देश के युवकों में नवीन जागृति का संचार हो रहा है। यह आन्दोलन देश के इस सिरे से उस सिरे तक फैल गया है। युवक ही नहीं, युवतियाँ भी इसमें भाग लेने लगी हैं। वर्त्तमान समय के जवान आत्मप्रेरित बन गये हैं; वे एक आदर्श से प्रभावित होकर अपनी आत्मा की आवाज तथा अपने अंतिम ध्येय की पूर्ति के लिए उद्विग्न हो रहे हैं। यह आन्दोलन राष्ट्रीयता की आत्मा का स्व-प्रदर्शक है और राष्ट्र के भावी आनन्द का आधार इसी आन्दोलन की गति पर निर्भर है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस नव-प्रादुर्भूत भाव को दबाने का प्रयत्न न करके उसे अपनी पूर्ण सहानुभूति तथा पथ-प्रदर्शन प्रदान करें। यदि हम चाहते हैं कि मनुष्य के अन्दर दैवत्व का संचार करें और उसके अन्दर वह शक्ति जागृत करें, जो कि अदृश्य रूप में उसमें उपस्थित है, तो हमें चाहिए कि हम उसको स्वातंत्र्य-प्राप्ति की इच्छा से भर दें। स्वतंत्रता की इच्छा ही सारी दैवी शक्तियों का आदिस्रोत है। जिस प्रकार से वसंत के जादू-भरे प्रभाव में आकर प्रकृति अपना रूप सर्वथा बदल लेती है, उसी प्रकार जब एक मनुष्य स्वातंत्र्य-प्राप्ति की इच्छा में मदमस्त हो जाता है तब उसका सारा जीवन परिवर्तित हो जाता है। * * * आत्मप्रेरित युवक केवल कार्य ही न करेगा, किन्तु भावना की सृष्टि भी करेगा—केवल नष्ट ही न करेगा, किन्तु निर्माण भी करेगा। वह भूत की असफलताओं, परीक्षाओं और अनुभवों में से नव्यभारत और स्वतंत्र भारत की सृष्टि करेगा।"

सुभाषचन्द्र बोस

यौवन

यौवन जीवन का कोई खास समय नहीं है; वह तो हमारी एक खास मानसिक अवस्था है। गुलाबी गाल, लाल-लाल होंठ और लचीले घुटने यौवन के चिन्ह नहीं हैं। इच्छाशक्ति की प्रकृत गति में, विशिष्ट गुणमयी कल्पनाओं में, और भावों की जोराभरी बहुलता में सच्चा यौवन निवास करता है। जीवन के गंभीर-तम स्रोतों का नित-नया कल्लोल ही यौवन है।

यौवन में कायरता को स्थान कहाँ! वहाँ तो प्राकृतिक साहस का अटल राज्य रहता है। ऐशो-आराम? नहीं, यौवन ऐशो आराम का भूखा नहीं। उसे तो जान को जोखिम में डालने वाले साहस कर्मों की प्यास बनी रहती है। २० वर्ष के नौजवान की अपेक्षा ५० वर्ष के अधेड़ में यह साहस और यह निर्भीकता ज्यादा पाई जाती है।

कुछ वर्षों तक जीवित रहने ही से मनुष्य बूढ़ा नहीं हो जाता। आदर्शों को भुला देने वाले व्यक्तियों को ही बुढ़ापा जल्दी आ घेरता है। वृद्धावस्था में शरीर का मांस झूल जाता है। चमड़ी पर शिकन पड़ जाती हैं। परन्तु जो साहस और उत्साह को छोड़ बैठते हैं उनकी तो आत्मा भी बूढ़ी हो जाती है। चिन्ता, भय, आशंका, अविश्वास और निराशा आदमी को बूढ़ा बना देते हैं। इनके कारण मनुष्य का वह हरा-भरा लहलहाता हृदयोद्यान पल भर में रूखा-सूखा और उजाड़ हो जाता है—अरे, वह मिट्टी में मिल जाता है!

आदमी चाहे ६० वर्ष का हो चाहे १६ वर्ष का, उसके हृदय में विशेष कौतूहल निवास करता है। नभप्रान्त के नक्षत्रों और उन्हीं जैसे अन्य पदार्थों और विचारों के लिए उसके हृदय में एक मीठी आश्चर्यप्रियता रहती है। आनेवाली अटल घटनायें चुनौती देकर उसे मुग्ध कर देती हैं। आगे क्या होगा? यह प्रश्न बार-बार तत्परता के साथ उसके दिल में दिन-रात पैदा होता रहता है, और पैदा होता रहता है जीवन-नाटक को एक सच्चे खिलाड़ी की तरह खेलने का आनन्द।

तुम उतने ही जवान हो, जितनी तुम में श्रद्धा है; उतने ही बूढ़े हो, जितने तुम शंकाशील हो। उतने ही युवा हो, जितने तुम आत्मविश्वासी हो। और वैसे ही बूढ़े हो, जैसे डरपोक हो। उतने ही जिन्दादिल हो, जितने आशावादी हो; और हो उतने ही बूढ़े, जितने निराशा-भक्त हो।

तुम्हारे हृदय के मध्य में सदा से एक हरा-भरा और प्रफुल्ल वृक्ष लहलहा रहा है। जानते हो, वह क्या चीज़ है? हाँ, देखो, उसे प्रेम कहते हैं। जब तक प्रेम का पौधा हरा-भरा और प्रसन्न रहता है—दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता है, तुम भी युवा बने रहोगे। जब वह मुरझा जायगा, तुम बूढ़े हो जाओगे।

तुम्हारे हृदय के बीचोंबीच एक बेतार के तार का (wire-less) स्टेशन है। जब तक वह पृथ्वी, मनुष्य और उस अनन्त ईश्वर से सौन्दर्य, आशा, प्रसन्नता, भव्यता, साहस और शक्ति के संदेश पाता रहता है, तबतक तुम युवा हो। जब तार टूट जाते हैं और तुम्हारे हृदय का मध्यभाग शंकाशीलों की निराशा और दुर्बलचित्त लोगों की दुर्बलता से भर जाता है, तब तुम बूढ़े हो जाते हो—तब तुम चाहे बीस वर्ष के ही क्यों न हो। ईश्वर ऐसे समय तुम्हारी रक्षा करें।*

फ्रैन्क क्रेन

* 'वालंटियर' से

बुद्धि का अजीर्ण !

अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार खानेवाला आदमी तन्दुरुस्त और दीर्घायु होता है, परन्तु सामान्यत: संसार में अपनी पाचन-शक्ति से ज्यादा खाने वाले मनुष्य ही नजर आते हैं। और यही कारण है कि इस सम्पन्न समाज में रोगी और अल्पायु दिखाई देते हैं। यह कहा जा सकता है कि मध्यम श्रेणी का मनुष्य दिन में तीन बार भोजन करता है। तीनों वक्त मिलाकर उसके भोजन करने में ज्यादा से ज्यादा ढाई घंटे लगते होंगे। इन ढाई घंटों में आदमी जितना खाता है उसे पचाने में २१॥ घंटे लगाने पड़ते हैं। आदमी यह नहीं जानता कि हम जो चीज खाते हैं उसका आगे चलकर क्या होना है? भोजन पेट में जाते ही उसपर भिन्न-भिन्न पाचन-क्रियायें होती हैं, अंत में उस पदार्थ का खून—जो कि शरीर की शक्ति है—बन जाता है। बाहर से हम भले ही दूध की तरह सफेद, पतला और स्वादिष्ट पदार्थ खावें, अथवा जलेबी सदृश पीला, गोल एवं मीठा पदार्थ खावें, किंतु पेट में जाने के बाद उन दोनों पर एक सी ही क्रिया होती है। और उस क्रिया के बाद उन दोनों में से एकही पदार्थ उत्पन्न होता है—और, वह है खून। पाचन-क्रिया को मनुष्य देख नहीं सकता, लेकिन फिर भी वह क्रिया तो होती ही रहती है। आदमी की इच्छा हो या न हो, एक बार पेट में किसी चीज के जाते ही उसपर वह क्रिया अवश्य होगी। कोई मूर्ख मनुष्य यदि अपनी शक्ति के उपरान्त खाता है, तो उसकी पाचन-शक्ति दुर्बल हो जाती है, और वह बीमार पड़ जाता है—रोगी बन जाता है।

इस स्थूल देह को धारण करने के लिए जो क्रिया चलती है, वही (क्रिया) बुद्धि-पोषण के निमित्त भी चलती रहती है। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि हमें उसका जरा भी भान नहीं होता। कल्पना कीजिए कि एक बालक सुबह ७ बजे से तो १०॥बजे तक, और फिर दोपहर के १२बजे से शाम के ५ बजे तक, और फिर रात को ८ से १० तक खाया ही करे—खाद्य पदार्थों को पेट में डालता ही रहे, तो इन १०॥ घंटों के भोजन की साधना का परिणाम क्या होगा? प्रथम तो उसका पेट ही इतना सारा भोजन खाने से इनकार करेगा। इतने पर भी यदि हम जबर्दस्ती उसे उसमें ठूँसने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें एकदम बीमार हो जाना पड़ेगा। यद्यपि शरीर के विषय में हम ऐसा नहीं कर सकते, क्यों कि शरीर स्थूल है, और पेट का आकार ही बहुत ज्यादा वस्तुओं को ग्रहण करने से इनकार करता है। लेकिन बुद्धि तो सूक्ष्मतर है। उसका आकार स्थूल नहीं है। इसीलिए हम यह मान लेते हैं कि हम जितना चाहें उसे लाद सकते हैं।

आज भारतवर्ष बुद्धि के अजीर्ण या बुद्धि के अकाल से पीड़ित है। क्योंकि हिन्दुस्थान के साक्षर वर्ग (Literate class) को बुद्धि का अजीर्ण हो गया है, और निरक्षरवर्ग बुद्धि के अकाल से पीड़ित है।

भारतवर्ष का विद्वान् से विद्वान् मनुष्य आज संसार के प्रभावशाली ज्ञान के आगे फीका नजर आता है; सूर्योदय के बाद सितारों की जो दशा होती है, वही अवस्था उसकी भी हो रही है। इसका कारण यही है कि उसकी विद्वत्ता भार-वहन मात्र है। जिसके पेट में गड़बड़ होती है उसके शरीर से जैसे अनेकों बार खाया हुआ पदार्थ ज्यों का त्यों बाहर निकल आता है उसी प्रकार बुद्धि के अजीर्ण से पीड़ित भारतीय साक्षरों के दिमाग़ में भी जो कुछ वस्तु जाती है वह ज्यों की त्यों वहीं बनी रहती है। अर्थात् वह उसे हजम नहीं कर सकता। और यही कारण है कि आज भारतीय दिमाग़ सामान्यत: ज्ञान

(जानकारी) का भण्डार-मात्र बन रहा है। इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित, संगीत तथा भाषा आदि बुद्धि के समस्त विषयों में ऐसा कोई स्वतंत्र विचारक आज भारतवर्ष में दिखाई नहीं देता, जो दुनिया में चकाचौंध कर दे। यही बुद्धि का अजीर्ण है। यद्यपि इसमें अपवाद-रूप रवीन्द्रनाथ ठाकुर या जगदीशचंद्र बोस जैसे व्यक्ति अवश्य दिखाई देते हैं, लेकिन वे हैं तो अपवाद-रूप ही। किसी भी अपवाद पर से नियम नहीं बनाये जा सकते। साधारणतः भारत में बुद्धि की स्वतंत्र प्रेरणा दिखाई ही नहीं देती। दुनिया में ज्ञान बढ़ता जाता है, साथ ही नित्य नये आविष्कार भी होते जा रहे हैं। किन्तु हमारा विद्वद्वर्ग केवल उन आविष्कारों के ज्ञान का थोड़ा बहुत संग्राहक ही है। क्योंकि भारतवर्ष में कहीं भी स्वतंत्र आविष्कार होते दिखाई नहीं देते। और कहीं ज्ञान में ही किसी प्रकार की वृद्धि होती दिखाई देती। यह रोग महा भयानक है। और इसी रोग के कारण हमारा देश प्रति दिन अधिकाधिक पतित होता जा रहा है। हमारे शिक्षा-शास्त्रियों को इस बात का पता तक नहीं कि सच्ची बुद्धि किसे कहते हैं। इसी प्रकार हमारी शिक्षा संस्थाओं में भी वास्तविक शिक्षा के दर्शन नहीं होते। इसीलिए आज इस राष्ट्र-व्यापी रोग का निदान कर किसी अचूक औषधि की योजना करना आवश्यक हो गया है। आज का यह लेख उसी दिशा में कुछ प्रयत्न-स्वरूप है।

हमारी शालायें युवकों को केवल बौद्धिक खुराक ही देती हैं। मानों मनुष्य केवल बुद्धि से ही निर्माण हुआ हो! अर्थात् विद्यालयों में विद्यार्थियों को इस ढङ्ग से ज्ञान दिया जाता है कि मानों मनुष्य केवल बुद्धि से ही पैदा हुआ, और मानों उसे हृदय है ही नहीं। उन्हें ज्ञान दान किया जाता है। सुबह ७ बजे से लेकर रात के १० बजे तक एक या दूसरे स्वरूप में हमारे युवकवर्ग को लगातार दिमाग़ी काम ही करना पड़ता है। इस बात का कोई विचार तक नहीं करता कि यदि दिमाग़ अपना सारा समय खाने में ही लगा दे, तो उस खाये हुए को हजम करने को समय ही कब मिलेगा?

जिस प्रकार खाया हुआ अन्न खून में परिणत हो जाता है तभी कहा जा सकता है कि पचन-कार्य पूरा हुआ, उसी प्रकार दिमाग़ का खाद्य-पदार्थ जब ज्ञान में—संस्कारिता में—परिणत हो जाय तभी उसका कार्य पूरा हुआ समझना चाहिए। जलेबी और खून इन दोनों के बीच में जितना फ़र्क है उतना ही फ़र्क पुस्तक और ज्ञान के बीच है। लेकिन अफ़सोस की बात है कि आजकल तो पुस्तकें ही ज्ञान मानी जाती हैं। जलेबी को यदि कोई खून समझ ले तो वह मूर्ख समझा जायगा; लेकिन यदि आजकल कोई पुस्तकों को ही ज्ञान समझ ले तो वह मूर्ख नहीं गिना जायगा! कारण इसका यही है कि जहां सभी लोग एक जैसे हों, वहां कौन किस की मूर्खता को परख सकता है?

हमारे दिमाग़ में तो यही कल्पना जड़ जमाये बैठी है कि मैं जितना ज्यादा पढ़ूँगा उतनी ही अधिक मेरे ज्ञान की वृद्धि होगी। जैसे कि बहुत से अज्ञानी कसरतबाज़ यह मानते हैं कि मैं जितना ज्यादा खाऊँगा उतना ही ज्यादा बलवान् बनूँगा। इसी प्रकार क़रीब-क़रीब सब साक्षर लोग यह मानते हैं कि मैं जितना पढ़ूँगा उतना ही ज्यादा ज्ञानी बनूँगा। लेकिन यह धारणा भ्रमात्मक है—क्योंकि, प्रत्येक मनुष्य की पाचन-शक्ति परिमित होती है। इसीलिए मनुष्य चाहे जितना पढ़ले, किन्तु उसमें से वह निश्चित अंश को ही हज़म कर सकता है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि की पाचन-शक्ति को माप कर उचित प्रमाण में पढ़ता—लिखता है उसीकी बुद्धि ठीक तरह खिलती है और

वही ज्ञानी भी बनता है। लेकिन जो मनुष्य लोभी बन कर दिनभर अपने दिमाग़ में अनेक वस्तुयें ठूँसता ही रहता है वह उसमें की एक भी वस्तु को हज़म नहीं कर सकेगा और अंत में उसकी बुद्धि अजीर्ण ग्रस्त हो मर जाती है।

हमारे विद्यार्थी खूब पढ़ते हैं; इतना ही नहीं बल्कि वे अपना सारा समय पढ़ने में ही बिता देते हैं। यह एक दुःखदायक विषय है। इसमें बुद्धि को एक क्षण का भी आराम नहीं मिलता—बुद्धि को यह जानने का मौक़ा ही नहीं मिलता कि मुझपर कौनसा और कितना बोझ लदा है। फलतः जब बोझा असह्य होजाता है, तब वह उसे विस्मृति के खाते में डाल कर एकदम मुक्त होजाती है। यदि कुछ भी हज़म किये बिना सारा का सारा भूल जाने की शक्ति बुद्धि में न होती तो अवश्य ही मनुष्य पागल हो जाता। किंतु ईश्वर ने यह एक रास्ता खुला रख दिया है, और इसीसे मनुष्य बच जाता है। लेकिन इस प्रकार यह मामला कब तक चल सकता है? इतना सारा बोझ ढोते-ढोते बुद्धि प्रति दिन क्षीण होती जाती है और अंत में मनुष्य का नाश हो जाता है।

यह है हमारे युवकों की दशा। अर्थात् केवल बौद्धिक शिक्षा दे-देकर ही हमने अपने राष्ट्र को नष्ट कर दिया है। इतना सारा पढ़ते-लिखते हुए भी हमारे समाज में एक भी तेजस्वी विचारक पैदा नहीं होता; उलटे ऐसे दिन आ रहे हैं कि जो बौद्धिक शक्ति हम में कल थी वह आज नहीं, और जो आज है वह कल नज़र नहीं आयेगी।

इस आत्मघात से यदि राष्ट्र को बचाना हो तो उसके लिए आज एक ही रास्ता है, और वह है बौद्धिक शिक्षा को एकदम कम कर डालना। किसी भी विद्यार्थी के लिए दिन के ३ या ४ घंटे बौद्धिक विकास के लिए काफ़ी हैं। बाकी के समय में उसे शारीरिक शिक्षा लेनी चाहिए। बौद्धिक प्रवृत्ति बंद कर उसके स्थान पर शारीरिक प्रवृत्ति शुरू करने से बौद्धिक प्रवृत्ति को शांति मिलती है और उसकी पाचन-क्रिया को भी खाया हुआ पदार्थ हज़म करने का अवकाश मिलता है। यह बात सच है कि कसरतबाज़ मनुष्य का शरीर कसरत करने से सुदृढ़ होता है, लेकिन कसरत करते समय ही नहीं बल्कि कसरत के बाद जो विश्रांति शरीर को मिलती है उससे उसका शरीर संगठित होता है। उसी प्रकार यह सच है कि पढ़ने से बुद्धि संगठित होती है किन्तु पढ़ते समय ही वह सुसंगठित नहीं हो जाती। पढ़ने के बाद जब बुद्धि को आराम मिलता है तभी वह परिपक्व और सुसंगठित बनती है। हमारी शिक्षा में ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए कि दूसरों के लिए नहीं तो कमसे कम दिमाग़ को तो ज़रूरी ३-४ घंटे विश्रांति देने के खयाल से प्रत्येक विद्यार्थी को या साक्षर को किसी भी प्रकार की शारीरिक मिहनत करनी चाहिए। लेकिन कोई यह न समझे कि शारिरिक प्रवृत्ति का लाभ केवल अभावात्मक ही है, बल्कि यह भी बताया जा सकता है कि शारिरिक प्रवृत्ति प्रत्यक्ष रूप से भी बुद्धि के लिए सहायक होती है। लेकिन यह विषय आज की चर्चा का नहीं है। किसी अन्य लेख में इस पर विचार किया जायगा।

आज तो हमें केवल इतना ही कहना है कि बुद्धि का यदि सच्चा विकास करना है तो बौद्धिक प्रवृत्ति को कम करके उसकी जगह दिन में ३–४ घंटे दूसरे कामों में अवश्य बिताना चाहिए। लेकिन दूसरी प्रवृत्ति शारिरिक ही क्यों? और दूसरी क्यों नहीं? और यदि शारिरिक हो भी तो किस प्रकार की हो! यह सब फिर कभी बताया जायगा।

गोपालराव कुलकर्णी

मर्मांजर
कं।

Lakshmi Art, Bombay, 8.

साहित्य-संगीत-कला

साहित्य-संगीत-कला

"साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥
—भर्तृहरिः

नीति शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य भर्तृहरि की यह एक मनोहर उक्ति है। इसमें एक त्रिकाल सत्य का वर्णन किया गया है। इस तरह की बातें हर समय और हर परिस्थिति में सच्ची साबित होती हैं। यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि भर्तृहरि ने जिस समय और जैसी परिस्थिति में यह श्लोक लिखा था, वैसा समय और वह परिस्थिति आज नहीं है। इसी कारण इस श्लोक के आज के अर्थ में और उस समय के अर्थ में शब्दशः एकता नहीं हो सकेगी। मानवी कल्पनाओं के साथ ही शब्द और उनके अर्थ का भी विकास होता रहता है। भर्तृहरि ने ऊपर के श्लोक में साहित्य, संगीत और कला इन तीन शब्दों का क्रमशः साहित्य (Literature), गान (Music) और ललित कला (Fine Art) के अर्थों में उपयोग किया होगा। भर्तृहरि के समान रसिक-शिरोमणि के जीवन के मध्याह्नकाल में इन शब्दों का यह अर्थ किया जाना उचित ही था। जब देश में स्वराज्य के साथ सुराज्य भी होता है, जब जनता हर तरह से सुखी और सम्पन्न होती है, और जब हक़ या अधिकार (Right) नहीं किन्तु कर्तव्य (Duty) ही राजा और प्रजा का आदर्श वाक्य (Motto) रहता है, तब भर्तृहरि के 'साहित्य, संगीत और कला' शब्दों का उपयोग गान आदि कलाओं के अर्थ में किया जा सकता है। इनसे शून्य मनुष्य, बिना पूंछ और सींग का पशु होता है, और पशुओं के लिए यह बड़े भाग्य की बात है कि वह घास नहीं खाता। क्योंकि बिना सींग-पूंछ के ये मनुष्य प्राणी अगर घास खाने लगें तो सारे पशु-समाज को स्वर्ग का महमान बनने में पल भर का भी कष्ट न उठाना पड़े। परन्तु आज तो हमारी अवनति के दिन हैं। इन दिनों के लिए तो साहित्य संगीत और कला का अर्थ कुछ और ही होना चाहिए। आइए, आज हम उसी नये अर्थ पर कुछ विचार करेंगे।

अलंकार सम्बन्धी कितने ही ग्रन्थों में 'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' से बतलाई है। 'शब्दार्थयोः सहितयो र्भावः साहित्यम्' अर्थात् शब्द और अर्थ की एकता को 'साहित्य' कहा है। अगर ऊपर कहे हुए 'शब्द' का मतलब 'उक्ति' समझा जाय और 'अर्थ' का 'कृति', तो 'साहित्य' शब्द का अर्थ "वचन और कर्म की एकता" होगा। अगर यह अनूठा साहित्य किसी के पास न हो, तो उसे बिना सींग और पूंछ का पशु कहने में हानि ही क्या है ? 'साहित्य' शब्द का दूसरा अर्थ 'सहितस्य सहितयोः सहितानां वा भावः साहित्यम्' 'सहितता', 'सहभाव' या 'साहचर्य' होता है। अर्थात् दूसरों से समभाव-पूर्वक हिल-मिलकर रहना ही 'साहित्य' का दूसरा नाम है। इस दृष्टि से भी जो मनुष्य 'साहित्य हीन' है उसे सिंह, बाघ आदि के समान भटकने वाला जंगली पशु क्यों न कहा जाय ? 'साहित्य' शब्द के मानी आधुनिक भाषा में 'साधन-सामग्री' हैं। जिस मनुष्य के पास आत्मोन्नति के लिए ज़रूरी साधन-सामग्री नहीं क्या उसे पशुओं के समान असहाय नहीं समझना चाहिए ?

'संगीत' शब्द का वाच्यार्थ 'सम्-गीत' अर्थात् 'मिलकर गाया हुआ' होता है किसी भजन या गीत को गाते समय आवाज़, ताल और स्वर वग़ैरा का ठीक और समान होना ज़रूरी है, ऐसा न होने से गायन का मज़ा किरकिरा होजाता है—वह बेसुरा लगता है। वाच्यार्थ को छोड़कर,

यदि 'संगीत' शब्द का हम लाक्षणिक अर्थ करें तो 'सम्-गीत' का अर्थ मिलकर माँगा हुआ, या 'हिल-मिलकर किया किया हुआ' होता है ! जो प्रार्थना और जो कार्य एकमत होकर नहीं किया जाता, जिसमें वचन और कार्य की एकता (Harmony) नहीं; क्या वह कभी सिद्ध हो सकता है ? इन अर्थों में जो मनुष्य 'संगीत' का धनी नहीं है, वह पशु नहीं तो और क्या है ?

'कला' की ओर दृष्टिपात करते ही मालूम होता है कि सारा विश्व कलामय हो रहा है । जितनी सुन्दर वस्तुयें हैं उन सब में 'कला' का विकास दीख पड़ता है । दो अक्षरों के इस 'कला' शब्द में जीवन, कौशल, सौन्दर्य आदि कितनी ही अनूठी कल्पनाओं का समावेश होता है । जिस रचना में कला नहीं, वह रचना भोंड़ी और कुरूप मालूम होती है । कला-हीन मनुष्य भी पशु ही कहलाता है । अपने रूढ़ अर्थ में भी 'कला' शब्द का अर्थ हमारे जीवन के लिए बड़ा उपयोगी है । परन्तु कलाएँ दो प्रकार की होतीं हैं । एक तो जीवन के लिए पोषक और दूसरी जीवन की घातक । उदाहरण के मैन्चेस्टर से आने वाले महीन कपड़ों की कला को ही लीजिए । इस कला के अनेकों आधारों को देखने पर हमें क्या मालूम पड़ता है ? यही न कि मनमाने उपायों से, मन चाहे पैसे ख़र्च करके, जहाँ तक हो सके हिन्दुस्थान का सब का सब कपास ख़रीद लेना ? हिन्दुस्थानी जुलाहों, कातने वालों आदि के धन्धे को नष्ट करना; फिर यन्त्र बनाने वाले उन्हें चलाने वाले और खानों में काम करने वाले मजूरों के ख़ून का पानी करना और उनकी एड़ी-चोटी के पसीने से तैयार हुआ महीन विदेशी कपड़ा इच्छा न रहते भी हिन्दुस्थानी जनता पर लादना; दूसरे विदेशी व्यापारियों से मिल कर हिन्दुस्थान और उसी के समान चीन आदि देशों के देशी धन्धों को नष्ट करना और उनपर पेट भरने वाले लोगों को बेकार करके उन्हें दूसरों की मजूरी करने पर मजबूर करना! ऐसी हत्यारी और सत्यानाशी बातों के आधार पर मैन्चेस्टर के महीन कपड़ों की 'कला-पूर्ण कलों' का विकास हुआ है । इस तरह की कला मनुष्य-जीवन की तारक नहीं होती—हाँ, मारक ज़रूर होती है । ऐसी 'कला' जिस मनुष्य या राष्ट्र के पास होती है वह मनुष्य और वह राष्ट्र आसुरी है, इसमें कोई शंका नहीं । इसके विपरीत आजकल के खादी-आन्दोलन की 'कला' का दर्शन कीजिए । इस 'कला' की इमारत नीचे लिखी ५ बातों पर खड़ी हुई है—

(१) खादी भारत के मृतप्राय कपड़े के व्यापार को फिर से जिलाती है ।

(२) हिन्दुस्तान के बेकार और भूखों मरने वाले भाई-बहनों के लिए दो कौर अन्न जुटाने की आशा बँधाती है ।

(३) फ़ाके कशी के कारण मजबूर होकर कई स्त्री-पुरुषों को दुराचारी जीवन अंगीकार करना पड़ता है—खादी उनको सम्मान-पूर्वक अपना पेट भरने का आश्वासन देती है ।

(४) फ़ुरसत का समय आलस्य में बिताने अथवा कई तरह के व्यसनों का शिकार हो जाने से किसान भूखों मरने लगते हैं । ऐसे लोगों के लिए खादी एक बड़ा अच्छा साधन है, जिससे वह अपना पेट भर सकें ।

(५) अन्न के बाद दूसरी ज़रूरी चीज़ वस्त्र है, खादी राष्ट्र को इस बात में स्वावलम्बी बना सकती है ।

इन कार्यों में खादी की हलचल राष्ट्र के जीवन की पोषक और मनुष्य को भव सागर से तारने वाली है । यह कला जिसे याद न हो क्या वह पशु नहीं है ? ऐसे पशुओं से आबाद राष्ट्र को पशु-राष्ट्र क्यों न कहा जाय ?

क्या ऊपर के अर्थों में हम 'साहित्य संगीत और कला' के धनी हैं ? बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि इन तीनों वस्तुओं का हममें शोचनीय अभाव है । हम में न 'साहित्य साहचर्य' या ऐक्य है, न 'संगीत'—सुरीलापन, एकतानता-Harmony है, और न 'कला'—जीवन-कौशल्य अथवा सुँदर रचना शक्ति ही है ! फिर भर्तृहरि के शब्दों में हम 'पुच्छ-विषाण-हीन' पशु क्यों न कहे जावें ? भर्तृहरि के एक दूसरे कथन—

"काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥"

के अनुसार क्या हमारा समय नींद, आलस्य, कलह और व्यसनों में नहीं बीतता है ? हमारे ज़्यादातर भाई-बहन आज भी गाढ़ी नींद में—गहरे अज्ञान में पड़े हुए हैं । कुछ लोगों को अपनी हालत की थोड़ी-बहुत कल्पना है । पर वे

इसी अधूरी कल्पना के कारण आपस के लड़ाई-झगड़े को ही राष्ट्र के लिए हित कर मानते हैं। उदाहरण के लिए हिंदू-मुस्लिम कलह, और ब्राह्मण-अब्राह्मण वाद काफ़ी हैं। ऐसे भी बहुत से लोग हैं, जो शराबखोरी जैसी गंदी आदतों में ही अपना क़ीमती जीवन बिता रहे हैं। काव्य, शास्त्र वगैरा ऊँचा उठाने वाले व्यसनों में हम अपनी बुद्धि खर्च नहीं करते-निद्रा, व्यसन, कलह आदि बुद्धि के शत्रुओं से ही ऐसे लोग दिन-दिन प्रेम बढ़ा रहे हैं! इनसे पीछा छुड़ा कर 'साहित्य-संगीत-कला' की सहायता से हमें शीघ्र ही अपने जीवन को 'काव्य-शास्त्र विनोद' में बिताना सीखना चाहिए। इस तरह सारे राष्ट्र को 'धी मान्' बना कर हम उसे उन्नति के शिखर पर क्यों न पहुँचावें?

कृष्णाजी रामचन्द्र कुलकर्णी

अब तो दीपक राग गाओ

प्रातःकालीन बाल-सूर्य की रश्मियों में स्निग्धता होती है। परन्तु, वही सूर्य जब मध्यान्ह में गगन के शिखर पर होता है, तब चण्ड-रश्मि कहा जाता है। जो नदी बरसात में किनारों को डुबोकर बहती है, वही ग्रीष्म में तटवर्ती सिकता पर अपने चिन्ह-मात्र छोड़ जाती है। जो समुद्र अभी शांत मालूम पड़ रहा था, देखो, वही उत्ताल तरङ्गों के घात-प्रतिघात से उद्वेलित और क्षुब्ध हो उठा है। काल परिवर्तन शील है। मनुष्य का स्वभाव भी प्रतिक्षण परिवर्तन चाहता है। निरा नमक और केवल मीठा उसे पसंद नहीं है। वह कभी नमकीन तो कभी मीठा, कभी खट्टा तो कभी चरपरा, सभी प्रकार के रसों का आस्वादन करना चाहता है।

ठीक इसी प्रकार जो कविता आज से कुछ वर्ष पूर्व विलासिता के रङ्ग महल में फूलों की सेज में विलास करती थी, आज उसे नंगे पैरों ऊबड़-खाबड़ कंकरीले पथ पर चलना होगा। जलते हुए ग्रीष्म में उन ठंडे शीतल प्रासादों और खस की टट्टियों को छोड़कर किसान की उस टूटी कुटी में रहना होगा, जिसमें भीषण गर्मी और गरम लू का कोई बचाव नहीं। वर्षा की बदली वाली काली अँधेरी रात में, जब कि आकाश में छाये हुए घटाटोप बादल मूसलाधार बरस रहे हों, उसे एक सुरक्षित महल में बैठकर किसी की बाट नहीं जोहनी होगी—उसे वियोगिनी का स्वांग नहीं भरना होगा, किन्तु उस जीर्ण-शीर्ण टपकती हुई झोंपड़ी में घुटनों पर सिर रखकर आँखों पर रात बितानी पड़ेगी। सर्दियों की सनसनाती हुई बयार में, एक पतली चद्दर में लिपट कर काँपते हुए किसानों का साथ देना होगा। उसे षट्रस व्यंजनों को छोड़कर सूखी रोटियों पर संतुष्ट होकर उन अत्याचार-पीड़ित दरिद्र ग्रामीणों की आह बनकर निकलना होगा, जिसमें अत्याचार के पुतले फूस के ढेर की तरह जल उठें।

उसके गान में अब विलासिता के स्वर की आवश्यकता नहीं, अब तो उस संगीत की आवश्यकता है, जो इन वर्षों से पराधीन हृदयों में स्वतन्त्रता की आग प्रज्वलित कर दे, इन पद-दलित और निर्जीव शरीरों में विद्युत के समान जीवन-शक्ति का संचार करदे। अब कविता में रूप-मदिरा के पान की जगह स्वदेश प्रेम का अमृत पीकर अपना नाम अमरों में गिनाना होगा। तीक्ष्ण कटाक्ष, चञ्चल चितवन और पुष्प-शरों से घायल होने के स्थान पर अत्याचारी के सामने छाती खोलकर खड़ा होना होगा। अधर-चुंबन नहीं, अपितु असि-चुंबन और तलवार को गले लगाने के लिए सन्नद्ध रहना पड़ेगा। हंस-गति और अलस-गतियों से काम नहीं चलेगा। अब शेर की तरह दहाड़ कर निकलना होगा। हाव-भाव, लीला-नृत्य, वियोग-व्यथा और मिलन-सुख को अर्द्धचन्द्र देकर विजय-संगीत का गान ३० करोड़ भारतीय कण्ठों से प्रतिध्वनित होना चाहिए। अब शृङ्गार-रस की कीचड़ से निकल कर वीर-रस के मैदान में आना चाहिए। वर्षा में मलार सुहाती है, किन्तु रणक्षेत्र में मलार गाना मूर्खता है।

देश में एक युद्ध छिड़ा हुआ है। बड़ी-बड़ी मोटी और भारी जंजीरों से भारत के हाथ-पैर कसे हुए हैं। वह उठने का प्रयत्न कर रहा है। परन्तु बोझ और अशक्ति से बार-बार गिर पड़ता है। कवि चन्दबरदाई जब शहाबुद्दीन की क़ैद में पृथ्वीराज से मिलने गये उस समय पृथ्वीराज बहुत वज़नी जंजीरों से जकड़े हुए थे। और तिस पर भी अनशन से बहुत क्षीण हो रहे थे। परन्तु चन्दबरदाई की फड़कती हुई कविता ने न जाने कौन सी शक्ति उनके अंदर फूँक दी कि पृथ्वीराज जंजीरों के भारी बोझ को उठाकर उनके स्वागत

को खड़े हो गये। कवियो! तुम आज वह संगीत क्यों नहीं गाते कि जिससे भारत—कमज़ोर भारत—पराधीनता के बोझ को लेकर उठ खड़ा हो और अपने प्रतिद्वंद्वी को ललकार सके? वह राग क्यों नहीं अलापते कि नवयुवकों के मरते हुए हृदय फड़क उठें?

क्या तुम्हें ज्ञात नहीं कि रूस की महान् क्रान्ति में वहाँ के कवियों और लेखकों का कितना हाथ था? उन्होंने अन्दर ही अन्दर रूस के ग्राम्य-जीवन को इस प्रकार तैयार कर दिया था कि वह एक चिनगारी पा कर एक साथ भभक उठा। यहाँ पर उन कविताओं के १—२ उदाहरण आपके सन्मुख उपस्थित करता हूँ। देखिए, स्वतन्त्रता की उमंग में, एक कवि किस प्रकार उड़ान मारता है—

Away, with the sorrowful brow.
From now on I am bright and courageous.
Over all whirlpools, abysses and precipices.
The Angel of Freedom has flown:
Over every peasant hut is hopeful dream.

अर्थात् "दुःखमय भाग्य से मुक्त हो कर अब मेरे हृदय में तेजस्विता और साहस का सञ्चार हो रहा है। भँवर, खाड़ी, कराड़ों, सर्वत्र स्वतन्त्रता का देवदूत अपना स्वर्गीय सन्देश सुना चुका है। प्रत्येक ग्रामीण की कुटीर पर सुख और समवेदना का समीरण प्रवाहित हो रहा है। और नगण्य झोंपड़े भी आशा-प्रद स्वप्न देख रहे हैं।"

Enough of suffering and bending!
Rise, beloved, in all your hight.
Behold the brightest dawn.
Has dissolved the darkness of night.
To be always sorrowful is not for you,
To you a bright road is due.

"देश वासियो! तुम बहुत दुःख और दासता सह चुके हो, अब पराधीनता की जंज़ीर तोड़ कर उठ खड़े हो, और उन्नत बनो। देखो सुन्दरी उषा ने रात्रि के प्रगाढ़ तिमिर को छिन्न-भिन्न कर दिया है। तुम्हारे भाग्य में सदैव दुःख भोगना ही नहीं बदा है, अपितु उज्ज्वल भविष्य का प्रशस्त-मार्ग तुम्हारे सामने है।"

Not with the moans of my fathers
Shall my song resound,
But with the force of thunder
It shall fly over the earth.
Not as an inarticulate slave
Continually cursing his life,
But as a free eagle
Will I sing my song.

"मेरे संगीत में पूर्वजों की दुःखमय करुण प्रतिध्वनि नहीं होगी अपितु वह शक्ति होगी, जो विद्युत के समान पृथ्वी के कण-कण में व्याप्त हो जावेगी। दासता की जंज़ीर में जकड़े हुए मूक दास की तरह अपने दुःखमय जीवन को धिक्कारते हुए नहीं, अपितु स्वतन्त्र गरुड़ के समान मैं अपना जीवन-संगीत गाऊँगा।"

Come out into the open fields,
Russia of mine, my beloved!
The executioners block and noose
Have disappeared from the field for ever.
Glory to those who feel for freedom,
For holy freedom.

"मेरे प्यारे रूसी भाइयों, खुले हुए विस्तृत मैदान में उतर आओ। इन मैदानों से अत्याचारियों के फाँसी के तख़्ते और वे रक्त-रञ्जित डोरियाँ सदा के लिए विलुप्त हो गई हैं। कीर्ति उन्हीं के लिए है, जो स्वतन्त्रता के लिए—उस पवित्र स्वतन्त्रता के लिए बलिदान हुए हैं!"

इस प्रकार की ओजस्विनी कविताओं ने रूसी राज्य-क्रान्ति को प्रभावशाली बना दिया था। आज भारत को भी कुछ ऐसे ही सरस्वती पुत्रों की आवश्यकता है, जो अन्दर ही अन्दर स्वतन्त्रता की जड़ को नवयुवकों के हृदयों में रोप कर सींचते रहें। परन्तु आज कल हिन्दी कविता का प्रवाह एक नयी ओर ही बह चला है। और हमारे नवयुवक कवियों के भावुक हृदय बड़ी शीघ्रता से उस प्रवाह में बहे चले जा रहे हैं। मैं यह तो नहीं कहता कि वह बुरा है लेकिन यह ज़रूर कहूँगा कि, उसे रोकना चाहिए। उसे दूसरी ओर मोड़ देना चाहिए। क्योंकि यह प्रकार असमय की है। इस

समय तो वह रणभेरी बजनी चाहिए, जिसे सुन कर वीरों के हृदय फड़क उठें और शत्रु दहल जावें !

भद्रजित 'भद्र'

नवयुग

'त्यागभूमि' की फाल्गुन १९८४ की संख्या में एक लेख 'कौलमत तथा हिन्दी पत्रिकायें' शीर्षक निकला है, जिसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि हमारी मासिक पत्रिकायें कौलमत का प्रचार करने में अच्छी सहायता कर रही हैं। सन्तोष की बात है कि इस मत की दिन प्रति दिन उन्नति हो रही है। आज कल का विद्यार्थी समाज ही हमारे भविष्य की आशा है। उसमें उपास्य देवता की भक्ति का खूब प्रचार हो गया है। स्त्रियों की ओर टकटकी लगाकर देखते हुए विद्यार्थी आपको इस नवीन युग में ही मिलेंगे। बीस तीस वर्ष पूर्व यदि कोई महिला मार्ग पर जाती होती थी, तो सड़क पर जाने वाले पुरुष आँखें नीची कर लेते थे। कोई विद्यार्थी किसी महिला की ओर आँख उठाकर देखने ही से निन्दा का पात्र समझा जाता था। किन्तु आज वह संकुचित मत नहीं है। आज 'सौन्दर्य देखने के लिए बनाया गया है' इस विश्व व्यापी मत का प्रभुत्व है। किसी सभा-सोसाइटी में यदि महिलायें और कन्यायें भाग न लें, तो वह सभा ही फीकी समझी जाती है! विद्यार्थी पहले से ही मालूम कर लेते हैं कि अमुक स्थान की विद्यार्थिनियाँ आवेंगी या नहीं, वाद-विवाद में भाग लेंगी या नहीं! यदि 'हाँ,' तो देखिए आपका सभा भवन खचाखच भरा है-तिल रखने को भी स्थान नहीं। और यदि नहीं, तो आपकी बेंचें खाली पड़ी हैं—वक्ता अधिक, श्रोता कम। शिक्षकों पर भी उपास्य देवता का प्रभाव अच्छा खासा है।

हमारे हिन्दी के पुराने लेखकों में तो नया जोश आ गया है। मुझे याद है। एक बार एक धुरन्धर हिन्दी-लेखक को हमने एक वाद-विवाद सभा में 'निर्णायक' के पद पर सुशोभित देखा। उनके बगल में ही मैं बैठा था। उस विवाद में एक विद्यार्थिनी ने भी भाग लिया था। एक विद्यार्थी ने विद्यार्थिनी के कहे हुए मत का विरोध करते हुए कहा—'हमारी बहन ने सृष्टि सौन्दर्य का जो चित्र खींचा है, वह मुझे तो कहीं दिखाई नहीं देता। बस फिर क्या था, निर्णायक महोदय (दबी ज़बान से) बड़े स्वाद से बोले—'उसे तो दिखाई देता है: उसकी आँखें कितनी बड़ी हैं! तुम्हारी कुपिया सी आँखों से तुम्हें क्या दिखाई दे?' मैं दङ्ग रह गया। किन्तु नहीं, इष्ट देवता की उपासना ने प्रत्येक हृदय में घर कर लिया है!

उपास्य देवता भी अविकल भक्ति देखकर प्रसन्न हो रहे हैं। महिलाओं को पुरुषों के निकट से निकलते जो स्वाभाविक लज्जा होती थी, वह नष्ट हो रही है। संभवतः आपकी निगाह एक बार नीचे हो जाय, उनकी नहीं। वे खिलखिलाती हुईं, अठखेलियाँ करती हुईं, आपके पास से निकलेंगी। अनिमन्त्रित भी आपकी सभाओं और पार्टियों में पहुँचेंगी। मुशायरों में 'गुल, बुलबुल, नज़र, चितवन, चुटकी,' आदि द्वारा की हुई अपनी तारीफ़ सुनने का उनको शौक़ है। चित्र-विचित्र पोशाक, बढ़िया सुगन्ध, कामदार जूता और बढ़िया-बढ़िया शृङ्गार करके ही वे सभा-सोसाइटी में आवेंगी। यह उचित ही है। जब देवता प्रसन्न होते हैं, तब मनोमोहक रूप धर के आते हैं। कोई-कोई कहते हैं—

'एक तौ नयना मद-भरे दूजे अंजन-सार।
ए बौरी तू देत क्यों मतवारेन हथियार॥'

किन्तु इष्ट देवता कहते हैं कि इसमें विजय करने में आसानी होती है। भक्ति हृदय पर जल्द जमती है। और मैं कहता हूँ कि मुक्ति का मार्ग साफ़ होता है!

महादेवजी ने जहाँ और सब बातें कीं, वहाँ एक बात भूल गये! इस युग का नाम उन्हें 'स्त्री-युग' रखना चाहिए था, 'कलियुग' नहीं।*

एक बार बोलिए—'स्त्री देवता की जय!'

बाबूराम सकसेना

*इस लेख में और पिछले लेख में कौलमत का जो परिचय दिया गया है वह उसकी हीनावस्था का है, उसकी अच्छी अवस्था में 'कुल' का अर्थ था—

'जीवः प्रकृति तत्त्वञ्च दिक्कालाकाश मेव च।
क्षित्यभेजो वायवश्च कुलमित्यभिधीयते॥'

और यह मत सर्व मान्य सिद्धान्तों का पोषक था।

—लेखक

मेरी अभिलाषा

प्रभो, मुझे किसी भी जन्म में स्वामी मत बनाइये, क्योंकि स्वामी बनकर मैं मदमत्त गयंद की तरह अपनी प्रभुता पर झूमने लगूंगा; और पास के छोटे-छोटे नवजात पौधे, पुराने जड़-खल-ठंठलावशेष वृक्ष और सुन्दर किन्तु समय के फेर से सूखी एवं धैर्य और सहिष्णुता की मूर्तिवत् लताओं को पैरों तले रौंदता हुआ मैं उनका जीवन ही नष्ट करता रहूँगा। नाथ! इसीलिए कहता हूँ मुझे सेवक बनाइये, और सेवक भी केवल अपना नहीं, क्योंकि आपका सेवक होने से मैं खुद गर्ज़ कहलाऊँगा। राजा, महाराजा, सेठ और लक्षाधिपतियों का भी नहीं; क्योंकि उससे मैं जारज पुत्र कह लाऊँगा। राज्याधिकारियों का सेवक भी मैं नहीं बनना चाहता; क्योंकि उससे मैं बेगारी समझा जाऊँगा। विजाताओं का भी नहीं, क्योंकि उससे मैं गुलाम कहलाऊँगा। अतएव मुझे सेवक बनाइये उन आश्रय-हीनों का जो समाज देश और राष्ट्र से सताये हुए हैं; जो अविवेकी प्रभुओं की ताड़नरूपी असहनीय दुःखाग्नि से जल-जल कर, काले पड़ गये हैं, भूख और प्यास से जिनके कलेजे बैठ गये हैं। मुझे उन माता और बहिनों का सेवक बनाइये, जो हज़ार हज़ार दुःख सहते हुए भी अपनी बात से नहीं डिगतीं। आग में कूदना और तेल डालकर अपने को जला लेना, जो बांये हाथ का खेल समझती हैं, किन्तु नर-पिशाच दुःशासन और कीचक के प्रलोभनों और उनके बताये हुए सुख साम्राज्य को ठोकर मार देती हैं। नाथ! मुझे उनका सेवक बनाइये, जो घोर विपत्तियों को झेलते हुए भी, आधे-पेट या कभी कभी निराहार रह कर भी अपने नन्हें-नन्हें बच्चों का भरण पोषण करती हैं। जो दीखने में अकाल की मूर्ति दिखाई देती हैं, अथवा जो कंकाल वेषधारी महामारी या, पतझड़ की पत्रपुष्प-रहित लता के सदृश हो रही हैं, किन्तु फिर भी जिनके अन्तःकरण में सतीत्व का अटल साम्राज्य और उच्चाभिलाषा, धैर्य, दया, त्याग, सेवा, आत्माभिमान, और देशाभिमान आदि कूट-कूटकर भरे हुए हैं, बस, मैं उन्हींकी राह का भिखारी और समाज की आदर्श-मणियों का चरण-सेवक बनने का इच्छुक हूँ। आओ, मेरे-दुखी और सताये हुए, भाई बहिनो, इस अपने चरण सेवक के गले लगो।

जगदीश! आप कहते हैं कि वरदान मांग। किंतु सेवक को तो अपने लिए किसी भी चीज़ को लेने का अधिकार नहीं। उसे तो जो कुछ भी उसके स्वामी दे दें, उसीमें संतुष्ट रहना चाहिए। क्योंकि यदि स्वामी (दुखी भाई बहन) सब तरह से सुखी और संतुष्ट होंगे तो सेवक को भी उसमें सुख मिलेगा। इसलिए कहता हूँ कि नाथ! वरदान का फल आप मेरे स्वामी और स्वामिनियों को दीजिए; बस उन्हींके सुख में मुझे भी सुख है। हाँ, यदि एक वस्तु आपके पास हो तो उसे मैं अवश्य माँग सकता हूँ। वह और कुछ नहीं केवल स्वामियों के पाँव पखारने के लिए त्रेतायुग के गुह निषाद की (काष्ठ की) कठौती। सत्य कहता हूँ, नाथ मुझे बड़े बड़े राज-प्रासादों के कनक पात्रों में भरेहुए दूध और दही की अपेक्षा अपने रुग्ण एवं जीर्ण-शीर्ण-वस्त्रधारी अस्थि-पंजर शरीर और ज्येष्ठ की कड़ी धूप में नंगे पैरों चलने वाले भाई-बहनों का चरणोदक—कहीं अधिक सुस्वादु प्रतीत होगा।

क्या फिर भी आप मुझे कुछ देने ही को तुले हुए हैं? अच्छा तो ठहरिये, मैं ज़रा देर सोच लूँ, जिससे कि फिर मुझे पछताना न पड़े। मैं सोचता हूँ कि शरीर में सब से प्रिय और सार वस्तु नेत्र हैं; तब क्या इन्द्र के जितने नेत्र हैं उतने ही नेत्र मैं भी माँग लूँ? किंतु नहीं, क्योंकि जब केवल दो नेत्र के होने से ही मैं विषय-वासनाओं का क्रीत-दास बना जा रहा हूँ, और थोड़ी सी सुंदरता को देखकर भी आपे से बाहर जाता हूँ, तथा इन लाल, पीले, हरे और नीले रंगों के भ्रम में इस तरह फँस रहा हूँ कि असली ईश्वरीय-रंग को मैं अभी तक नहीं अपना सका। इससे तो सूरदास होकर रहना ही अच्छा है. इससे बाह्य नेत्र तो नहीं होंगे। साँसारिक लोग अन्धा कहकर पुकारेंगे, किन्तु हृदय के नेत्र तो खुल जायँगे। वैर, विरोध, अपमान, अभिमान, दम्भ और पाखण्ड-रूपी ललचाने वाले रंग नष्ट हो जायंगे। फिर रहेगा केवल काला रंग, जिस पर कि फिर दूसरा रंग चढ़ ही नहीं सकता। हाँ, तो बस; मैं उसी रंग में रंगा हुआ, डफली बजा-बजा कर तेरे गुणगान करता हुआ अपने उन भाई-बहनों के चित्त को प्रसन्न करने की चेष्टा करूँगा जो दुखी हैं, सन्तप्त हैं। किन्तु प्रभो! अन्धा बनाकर कहीं

मुझे धृतराष्ट्र की मनोवृत्ति मत दे देना। मुझे तो विदुर की चित्त-वृत्ति चाहिए, जिससे कि प्रेम में मस्त होकर मैं केले के गूदे की जगह आपको उसके छिलके खिलाऊँ। मैं ध्रुव की चित्त-वृत्ति का इच्छुक हूँ। मुझे शुकदेव की चित्त-वृत्ति और प्रेम से लबालब भरा हुआ उनका सा हृदय दीजिये। बस, इससे अधिक मुझे कुछ नहीं चाहिए।

स्वामिन्! यदि देना ही है तो मुझे विश्वव्यापी प्रेम दीजिये। जिससे मैं भी आप ही की तरह उस यमुना के तीर पर निकुँज में बैठकर वँशी के राग में मस्त हो जाऊँ, और गुह निषाद की तरह जो कोई भी उधर होकर जाय, उसकी सेवा करके अपना जन्म सफल कर सकूँ।

शबरी की भाँति वन से मैं जो कुछ भी कंद, मूल, फल लाऊँगा उसके दो हिस्से करूँगा, एक आपका दूसरा मेरा। जो खट्टे होंगे वे मैं लूँगा और मीठे आपको। किन्तु फल दूँगा तब, जब कि आप मेरे मालिकों को सुखी कर देंगे। कहिए, है स्वीकार?

रघुनन्दन भट्ट

माया
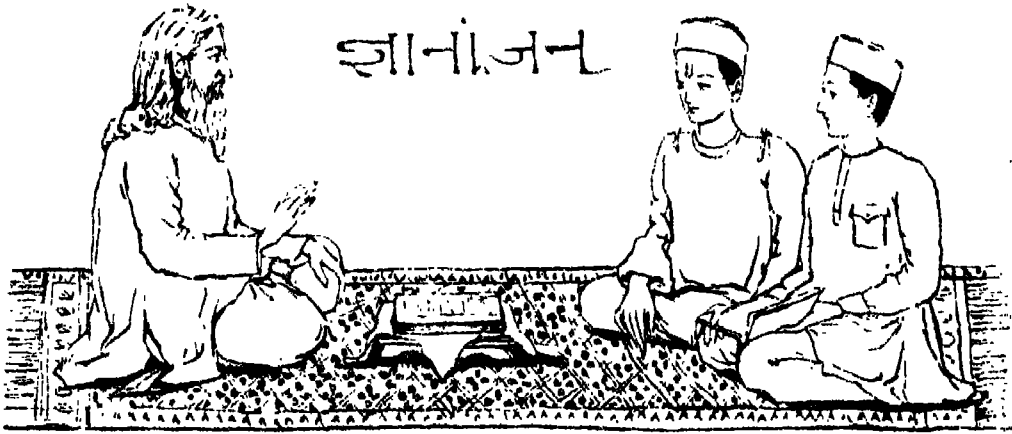
समवयति भूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्।
बालः स्वपिति यश्चैकः तस्मै मायात्मने नमः॥

(महाभारत)

हमारे प्राचीन दार्शनिक गण जिस समय जगत् के मूल तत्वों के अनुसन्धान में प्रवृत्त हुए, उस समय उन्हें इस विश्व महाप्रपञ्च के मूल में एक अविनाशी तथा व्यापक तत्व का अस्तित्व अनुभव हुआ। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता गण चिरकाल के अनुसन्धान द्वारा बाह्य जगत् में भी इस अविनश्वर तत्व के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ कृत निश्चय हुए हैं। भारत के प्राचीन दार्शनिकों ने भी बहुत काल पूर्व ही इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहा था, कि आकाश ही भौतिक प्रपञ्च का मूल है। आकाश से ही अन्यान्य समग्र भौतिक अवस्थायें प्राकृतिक परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हैं। किन्तु वे लोग इसे ही अन्तिम सिद्धान्त समझ कर सन्तुष्ट न हुए। अतएव वे योगबल से सूक्ष्म संसार में प्रवेश करके समझे कि इस स्थूल भौतिक प्रपञ्च के परे भी एक सूक्ष्म प्रपञ्च है और इस प्रपञ्च का मूल भौतिक तत्व सूक्ष्म आकाश है। किन्तु आकाश भी शेष पदार्थ नहीं, क्यों कि इन लोगों के सिद्धान्तानुसार शेष वस्तु ही प्रधान तत्व है।

"भवान् एकः शिष्यते शेष संज्ञः"

(श्रीमद्भागवते)

महामाया प्रकृति की क्रिया शक्ति ही परब्रह्म परमेश की सर्व गामिनी गति से प्रेरित हो यह प्रधान रचना करके परमाणुओं द्वारा सूक्ष्म संसार को उत्पन्न करती है। परन्तु प्रकृति अथवा क्रिया-शक्ति अपनी इच्छा से या अपने लिए कुछ नहीं करती। जिनकी वह शक्ति है, उन्हींकी तुष्टि के

किए इस प्रपञ्च की रचना तथा अनेक लीलायें किया करती है। आत्मा अथवा पुरुष प्रकृति की इस क्रीड़ा में मध्यस्थ का काम देता है। मुख्य-मुख्य उपनिषदों में आर्य्य महर्षियों की गूढ़ गवेषणा से जो सत्य तत्व प्रादुर्भूत हुआ था, उसीके फल-स्वरूप यह ब्रह्मवाद या पुरुष-प्रकृति-वाद आज देखने को मिलता है। हमारे तत्वदर्शी योगियों ने इसी मूल सत्य को लेकर अनेक प्रकार के वाद-विवादों तथा तर्कों की अवतारणा की है। जो ब्रह्मवादी थे वे वेदान्त, दर्शन के प्रवर्तक और जो प्रकृति वाद के पक्ष-पाती थे, वे सांख्य-दर्शन के प्रचारक हुए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य लोगों ने परमाणुओं को भौतिक प्रपञ्च का मूल तत्व मानकर अपना एक स्वतन्त्र पथ निर्माण किया।

इसी प्रकार अनेकानेक पंथों के प्रादुर्भूत होने के पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी गीता में इन सब चिन्तन प्रणालियों का सम्बन्ध तथा सामंजस्य स्थापित करते हुए व्यासजी के मुख से उपनिषद् मार्ग की सत्यता पुनः प्रतिष्ठित कराई। अन्यान्य पुराण-रचयिताओं ने भी महाभारत के इसी आधार पर सत्य की व्याख्या को उपन्यास और रूपकच्छल में साधारण लोगों के सन्मुख रखने का प्रयत्न किया।

परन्तु इससे भी विद्वानों का वाद-विवाद बन्द नहीं हुआ। अन्त में स्वामी शङ्कराचार्य ने देशभर में वेदांत प्रचार की अपूर्व और स्थायी एवं सुन्दर व्यवस्था करके सर्व-साधारण के हृदय में वेदान्त का आधिपत्य बद्धमूल किया। इसके अतिरिक्त अन्य पाँच दर्शन अल्प संख्यक विद्वानों में प्रतिष्ठित होकर रहे अवश्य, किन्तु उनका आधिपत्य और प्रभाव थोड़े ही काल में लुप्त प्राय हो गया। अब इधर सर्व-सम्मत वेदान्त दर्शन में भी मत भेद उत्पन्न होकर उसकी तीन मुख्य शाखायें और कुछ गौण प्रशाखायें स्थापित हुई। ज्ञान-प्रधान अद्वैत वाद और भक्ति-प्रधान विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद का विरोध अब भी हिन्दुओं के धर्म में बना हुआ है। ज्ञानमार्गी, भक्तों के स्वतन्त्र प्रेम और भाव प्रवीणता को उन्माद कह कर उड़ा देते हैं; भक्त भी ज्ञान-मार्गियों की तत्व ज्ञान-स्पृहा को शुष्क तर्क समझ कर उसकी उपेक्षा करते हैं। परन्तु संकीर्णता प्रायः इन दोनों में ही है। क्यों कि भक्ति-शून्य तत्व ज्ञान से भी अहङ्कार की वृद्धि होकर मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध होता है और ज्ञान-शून्य भक्ति भी अंध-विश्वास की वर्द्धक होकर भ्रम-पूर्ण तामसिकता उत्पन्न करती है। प्रकृत उपनिषद्-प्रदर्शित धर्म-पथ में ज्ञान, भक्ति और कर्म का सामंजस्य ही किया है।

दर्शन शास्त्र चिरकाल से एक वर्गी प्रकाशक रहे हैं। इसलिए दर्शनों ने एक ओर सत्य का विशद रूपेण कथन तो अवश्य किया किन्तु दूसरी ओर अपलाप तथा झूठ का भी प्रचार किया। अद्वैत वादियों का मायावाद इसी प्रकार के अपलाप का दृष्टांत है।

"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"

यही मायावाद का मूल मन्त्र है। यह सिद्धांत जिस समाज की चिन्तन-प्रणाली का मूल होता है, उसी जाति में ज्ञान, वैराग्य एवं सन्यासादि की प्रियता तथा वृद्धि होती है। भारत में मायावाद के प्रचार में बड़ी अलौकिक तथा विलक्षण घटनायें घटित होती रहती हैं। क्योंकि यदि जगत मिथ्या है, तो ज्ञान-तृष्णा के अतिरिक्त और समग्र चेष्टाओं तथा क्रियाओं को निष्फल एवं अनिष्ट कर ही कहना उचित होगा। परन्तु मानव-जीवन में ज्ञान-तृष्णा के अतिरिक्त कुछ और भी बहुत सी उपयोगी वृत्तियां हैं, जिनकी उपेक्षा करके कोई भी जाति संसार में पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकती। इसी घोर अनर्थ के भय की आशङ्का से आचार्य शङ्कर स्वामी ने पारमार्थिक तथा व्यावहारिक नामक धर्म के दो अङ्गों को दिखा कर अधिकारी-भेद से ज्ञान और कर्म के समुच्चय की व्यवस्था कर दी। शङ्कर स्वामीके प्रभाव से उस समय का कर्म-मार्ग लुप्तसा होगया। सब वैदिक क्रियाएँ लुप्त सी हो गई। किन्तु यह जगत् माया-रचित है, अतः असत्य है। कर्म, अज्ञान सम्भव है अतः मुक्ति-मार्ग का विरोधी है, आदि आदि अब इतनी दृढ़ता से चिपट गये कि रजः शक्ति का पुनः विकास असम्भव सा होगया। इसी समय इस जाति के सौभाग्य से पुराण और तन्त्र शास्त्र प्रकट हुए। इन दोनों के विकास से मायावाद का प्रतिरोध भी हुआ। पुराणों द्वारा उपनिषद् कथित आर्य्य धर्म की कुछ रक्षा हुई, और तन्त्र शास्त्र के प्रचार से कुछ लोग पुनः कर्म में प्रवृत्त हुए। प्रायः जिन्होंने देश और जाति की गौरव-रक्षार्थ युद्ध किये—जैसे महाराणा

प्रतापसिंह, महाराष्ट्र-सिंह छत्रपति शिवाजी एवं बङ्गीय नरेश प्रतापादित्य प्रभृति प्रायः सभी शक्ति के उपासक और तान्त्रिक योगियों के शिष्य थे। उपरोक्त अनर्थ को रोकने के लिए ही श्रीकृष्ण ने गीता में कर्मयोग का उपदेश दिया है। मायावाद सत्य पर स्थित है। उपनिषदों में भी ईश्वर को परम मायावी कहा है। क्योंकि ईश्वर अपनी माया द्वारा जगत् की सृष्टि करता है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।"

एक अनिर्वचनीय ब्रह्म ही जगत् का मूल सत्य है, बाक़ी यह सब प्रपञ्च उसकी अभिव्यक्ति-मात्र है। यदि ब्रह्म एक है, तो यह बहुत्व उत्पन्न कहाँ से हुआ? यदि ब्रह्म सनातन है, तो वह किसमें प्रतिष्ठित है? आदि प्रश्न उठना अनिवार्य है। ब्रह्म यदि एकमात्र सत्य है, तो उसीसे यह भेद और बहुत्व की उत्पत्ति है; ब्रह्म ही में प्रतिष्ठित ब्रह्म की ही किसी अनिर्वचनीय शक्ति से यह सब उत्पन्न हुआ है। यही उपनिषदों का उत्तर है। इस शक्ति को कहीं तो मायावी की माया, कहीं पुरुष की अधिष्ठात्री प्रकृति तथा कहीं ईश्वर की विद्या-अविद्या-मयी इच्छाशक्ति कहा है। परन्तु तार्किकों का मन इससे शान्त न हुआ। आख़िर यह माया क्या है? और कहाँसे उत्पन्न हुई है? किस में प्रतिष्ठित रहती है? श्रीमच्छंकराचार्य स्वामी ने इसका उत्तर दिया है। उनका कहना है कि माया क्या है, सो नहीं कहा जा सकता, यह एक अनिर्वचनीय पदार्थ अर्थात् वाणी से परे है। माया उत्पन्न नहीं होती, यह चिरकाल से है, और नहीं भी है। परन्तु इससे भी सन्तोषजनक उत्तर न मिलने से भ्रम दूर नहीं होता। इस तर्क से अद्वितीय ब्रह्म में एक सनातन और अनिर्वचनीय वस्तु स्थापित हो गई, परन्तु एकत्व की रक्षा न हुई।

शङ्कर स्वामी की युक्तियों से उपनिषदों की युक्तियाँ बहुत उत्कृष्ट हैं। भगवान् की प्रकृति जगत् का मूल है, इसी प्रकृति का नाम सच्चिदानन्द की सत्-चित्-आनन्दमयी शक्ति है। परमात्मा की इच्छा शक्तिमयी है। इसी इच्छा द्वारा एक से बहुत और अभेद से भेद उत्पन्न होता है। परमार्थ की दृष्टि से ब्रह्म सत्य और मायोद्भूत होने से जगत् मिथ्या है। कारण यह है कि जगत् ब्रह्म ही से उत्पन्न होकर उसीमें लीन हो जाता है। देश-काल ही में प्रपञ्च का अस्तित्व है, उसका अस्तित्व ब्रह्म की देश कालातीत अवस्था में नहीं। ब्रह्म में प्रपञ्च युक्त देश काल हैं, किन्तु ब्रह्म उसमें नहीं। जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न और ब्रह्म में ही वर्त्तमान है। सनातन ब्रह्म में नाशवान् जगत् की कल्पना है, और वहीं ब्रह्म की विद्या-अविद्या मयी शक्ति से परिचालित हो कर जगत् स्थित रहता है। जिस प्रकार मनुष्य की कल्पना देश-काल को पा कर सत्य हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जिसे हम असत्य नहीं, किन्तु सत्य का विलोम मात्र कहते हैं, वस्तुतः यदि देखा जाय तो सब सत्य अर्थात् ब्रह्म का प्रतिरूप है, झूठ कुछ भी नहीं। हम जगत् को असत्य कहने के कदापि अधिकारी नहीं। क्योंकि देश काल में जगत् मिथ्या नहीं वरन् सत्य है। जब देश काल से पृथक हो कर ब्रह्म में विलीन अर्थात् मुक्त होने का समय आवेगा उस समय हम जगत् को मिथ्या कह सकेंगे। और तभी जगत् को मिथ्या कहने का अधिकार ईश्वर-प्रदत्त समझा जायगा। अनधिकारी के यह कहने से कि जगत् मिथ्या है, मिथ्याचार की वृद्धि और धर्म का पतन ही होगा। हमारे लिए तो ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या कहने की अपेक्षा, ब्रह्म को सत्य और जगत् को ब्रह्म कहना अधिक उपयुक्त और अच्छा होगा। यही उपनिषदों का सत्य उपदेश है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" बस इसी सत्य पर आर्य-धर्म स्थित है।

डॉ॰ एस॰ विशारद

तेजस्विनी का वक्तव्य

मातंगेश्वर एक कूटनीतिज्ञ किन्तु महत्त्वाकांक्षी राजा है। वह अपने पड़ौसी राजा कंदर्प को जीतना चाहता है। पहले-पहल राजा को नीतिभ्रष्ट और पतित करने के लिए सौदामिनी नामक एक वेश्या को वह राजा के पास भेजता है। कंदर्प इसके जाल में फंस जाता है। तब सौदामिनी मंत्रि-मंडल से सांठ-गांठ करके मातंगेश्वर को कदम्ब देश के राजा कंदर्प पर चढ़ाई करने के लिए निमन्त्रित करती है। इस सारे षड्-यंत्र का हाल कदम्ब की एक स्वातंत्र्यभक्ता तेजस्विनी नामक कुमारी पर प्रकट हो जाता है। वह इस षड्यंत्र का विरोध

करती है। राष्ट्रध्वजा की रक्षा के लिए अपने प्राणों पर खेलती है, कंदर्प को समझाती है, पर स्त्री-लंपट कंदर्प पर इसका कोई असर नहीं होता। कंदर्प राज्य-त्याग कर देता है, तेजस्विनी बलवा कर देती है। उसपर न्यायालय से राजद्रोह के अभियोग में मामला चलाया जा रहा है। तेजस्विनी ने अपना वक्तव्य यों सुनाया :—

माननीय न्यायाधीश और न्यायसभा के सदस्यों, राजद्रोह का अभियोग लगाकर मैं आप लोगों के सम्मुख खड़ी की गई हूँ। इस अभियोग की पुष्टि में मेरे कई आक्षेपयोग्य कामों का लंबा चिट्ठा भी आप लोगों को पढ़कर सुना दिया गया है। इन सब कामों के लिए मैं अपनेको शुरू से ज़िम्मेदार समझती हूँ। और उन्हें किसी भी हालत में अस्वीकार करने को तैयार नहीं हूँ। इसलिए अब आपके सामने केवल यही सवाल रह जाता है कि मेरे ये काम शुद्ध न्याय की दृष्टि से राजद्रोहात्मक हैं या नहीं ? मेरे प्रतिपक्षी तो उन्हें राजद्रोहात्मक समझते हैं; परन्तु मुझे उनमें राजद्रोह का लवलेश भी नहीं दिखाई देता। यही नहीं बल्कि मेरा तो यह भी कहना है कि मेरे तो सारे काम पूरी-पूरी राजनिष्ठा से भरे हुए हैं। केवल राजा का नाम रख लेने भर से कहीं कोई राजा नहीं हो जाता। कहीं गुलाब के चित्रों से सुगन्धि फूट-फूट कर बाहर नहीं फैलती। सिंह के पुतलों से कहीं जंगल गरजते हैं ? अथवा नौका का नाम ले देने भर से कहीं हम इस पार से उस पार नहीं पहुँच जाते। इसी प्रकार राजा के नाम की केवल पटिया अपने सिर पर लगा लेने से मनुष्य के शरीर में राजतेज का प्रादुर्भाव नहीं होता। न्यायसभा के सम्माननीय सदस्यों, मैं चाहती हूँ कि सबसे पहले मैं इसी बात की ओर आपका ध्यान आकर्षित करूँ। जिसका द्रोह करने के कारण मुझपर राजद्रोह का अपराध लगाया जा रहा है वह मूर्ख-व्यक्ति खुद भले ही अपने आपको राजा समझे, परन्तु वस्तुतः वह राजा नहीं है—यही नहीं बल्कि राजा की पवित्र पदवी को धारण करने के लिए वह तिलमात्र भी योग्य नहीं।

इस मूर्ख, नालायक, भोंदू ने कुछ दिन पहले मातंगेश्वर से एक अत्यन्त दुष्ट और नीचता-पूर्ण संधि की है। इस सन्धि के द्वारा उसने इस देश की राज-सत्ता, राज्य-लक्ष्मी, राज-सिंहासन, राज-मुकुट, राजध्वजा मतलब यह कि हमारा सब कुछ मातंगेश्वर को समर्पण करके सारे राष्ट्र को गुलामी की भट्टी में ढकेल दिया। और खुद अब राज्यहीन और ऐश्वर्य-विमुख होकर बैठा है। यह सन्धि कदम्ब की राज सत्ता और राष्ट्र-स्वातंत्र्य को मिट्टी में मिलाने वाली है और तिसपर भी जब उसने प्रजापक्ष को बिना पूछे ही यह राज-सत्ता और राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए महान विघातक सुलह करने का गुप्त रीति से विचार किया तब मैंने संधि होने के पहले और उसके बाद भी कंदर्प का ज़ोरों से विरोध किया-अब भी करती हूँ, और अगर हो सका तो जब तक इस शरीर में प्राण हैं बराबर करती रहूँगी।

मेरे इस शास्त्र-सम्मत विरोध को प्रतिपक्षी राजद्रोह कहते हैं ! सच पूछा जाय तो राजा केवल प्रजा का पालन करने वाला उसका सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है। वास्तव में उसका तो यही धर्म और अधिकार है कि वह मरते दम तक अपनी प्रजा की रक्षा-पालन करता रहे। उसे यह अधिकार कदापि नहीं कि वह प्रजा को बेच दे या दूसरे के चरणों पर उसकी स्वतंत्रता का बलिदान दे दे। वह फिर धर्म तो हो ही कैसे सकता है ? अगर शत्रुओं के कारण वह अपने देश या राष्ट्र की रक्षा करने में असमर्थ है, तो उसे अपने सारे अधिकारों का मोह छोड़ कर राज सिंहासन और राज-दंड प्रजा को सौंप कर अपनी ज़िम्मेदारी से बरी हो जाना चाहिए। प्रजा की सम्पूर्ण सम्मति प्राप्त किये बिना किसी भी हालत में वह अपनी प्रजा की स्वतंत्रता को दूसरों के हाथ नहीं बेच सकता। सुलह होने के पहले मैंने कंदर्प से यह बात कही थी और बार-बार मैंने उससे विनय-पूर्वक यह समझाया था कि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग न करे। परन्तु वह मेरी बात क्यों सुनने चला ? वह तो देशद्रोही, स्वार्थी और विश्वासघाती मंत्रि-मण्डल के जाल में फँसा हुआ था, जो मातंगों की रिश्वत पर गुलछर्रे उड़ा रहा था। [न्यायालय में मंत्रि-मंडल का यह घोर अपमान है, बदनामी है, अनादर है, इत्यादि का कोलाहल]

हाँ, इसमें मंत्रि-मंडल की बदनामी, अपमान और अनादर भी ज़रूर है। और मैं जान-बूझ कर यह अपमान कर रही हूँ। हमारे राष्ट्र का सत्यानाश करने वाली यह

भयंकर सुलह मंत्रि-मंडल की दुष्ट सलाह का ही परिणाम है। मुझे निश्चय हो गया है कि इस षड्यंत्र को सफल करने के लिए मातंगेश्वर ने अपना पैसा पानी की तरह बहाया है, लाखों घूस दी गई है। और मौक़ा पड़ने पर मैं इस बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए भी तैयार हूँ। अगर मंत्रि-मंडल की हिम्मत हो तो वह सामने आवे और इस राज-द्रोह के अभियोग के साथ-साथ मुझपर अपनी बेइज़्ज़ती का मुक़दमा भी चलावे। मैं इसके लिए ख़ूब तैयार हूं। इस बीच, मैं मंत्रि-मंडल को साफ़-साफ़ कह देना चाहती हूँ कि अपने भाषण में जहाँ कहीं मौक़ा आवेगा मैं मंत्रिमंडल को बराबर "मातंगों के माल पर पली हुई देशद्रोही चंडाल-चौकड़ी" के नाम से ही याद करूँगी। न्यायाधीश महोदय और न्याय-सभा के सदस्यो जब मैंने देखा कि कंदर्प मेरी विनती, मेरी प्रार्थना, तथा मेरे सच्चे प्रेम भरे आग्रह को बराबर ठुकराता जा रहा है, और कदम्बों के परम्परागत कट्टर शत्रु मातंगेश्वर के चरणों पर अपना और अपने राष्ट्र का सर्वस्व अर्पण करने पर तुल गया है, तब मुझे अपना कर्त्तव्य स्पष्ट दीख पड़ा। मैंने अपने परमप्रिय राष्ट्र देवता की सेविका के नाते कंदर्प का विरोध करना अपना कर्त्तव्य समझा। अगर मैंने किसी का विरोध किया है तो वह कंदर्प का, किसी राजा का नहीं। और तिसपर भी राजद्रोह के अभियोग में दोषी ठहरा कर मैं आपके सामने इसलिए खड़ी की गई हूँ कि मुझे आप कड़ी सज़ा से दंडित करें। सज्जनो, यदि मैं सचमुच ही राज-द्रोहिणी होती तो भला मैं लोगों से क्यों यह कहती फिरती कि षड्यंत्र और उसके गुप्त विश्वासघात से सावधान रहो और अपनी राजसत्ता परचक्र से बचाओ? अगर मैं सचमुच राजद्रोह करने पर तुल गई होती तो क्यों मैं अपने देशभाइयों को यह कहती हुई चिल्लाती कि अपने राज सिंहासन को शत्रु के पापी पैरों के स्पर्श से कलंकित होने से बचाओ? उन्हें सावधान और कर्त्तव्यारूढ़ करने के लिए क्यों मैं आकाश-पाताल एक कर डालती और यह उद्योग करती? अगर राजद्रोह ही मुझे प्रिय होता, तो कदम्बों के राष्ट्रीय झंडे को अपमान से बचाने के लिए मैं अपना जीवन भला क्यों ख़तरे में डालती? बेवक़ूफ़ी-भरा साहस ही क्यों करती? मेरी समझ में नहीं आता कि राजसत्ता, राज-सिंहासन और राष्ट्रीय झंडे की रक्षा के लिए-ख़ुद कटिबद्ध होना और दूसरों को तैयार होने के लिए उपदेश देना राजद्रोह है कैसे? राज्यसिंहासन, राजदण्ड, और राष्ट्रीय-ध्वजा राजसत्ता के आभूषण हैं, किन्तु स्वयं राजसत्ता तो राजा की साक्षात् जीवन कला है। जिसमें वही नहीं वहां राजा का अस्तित्व ही नहीं रहता। राजसत्ता के अभाव में किसीको राजा कहना 'राजा' शब्द की हत्या और भाषा का ख़ून है। यही नहीं बल्कि यह तो सत्य की अक्षम्य तोड़-मरोड़ है। प्राणवायु के बिना जीवन और पानी के अभाव में जिस तरह तालाब व्यर्थ होता है उसी तरह सत्ता के अभाव में राजा शब्द का प्रयोग एकदम व्यर्थ है। सत्ता खो चुकने पर या उसे छोड़ देने पर राजा का राजत्व ही नहीं रह जाता। जिस तरह प्राणहीन शरीर मिट्टी बन जाता है, उसी तरह सत्ता हीन राजा निरा मिट्टी का पुतला है। कन्दर्प तो उसी क्षण से मिट्टी का होगया जब से उसने अपना राज्य शत्रु के हाथों बेच दिया। अब तो उसके शरीर में राजापन का लेश भी शेष नहीं। इसलिए ऐसे सत्ताहीन, राज्यहीन, राजैश्वर्यहीन मिट्टी के पुतले के विरोध या उसके प्रति शत्रुता को भी राजद्रोह कहना संसार की ही नहीं किन्तु स्वयं परमात्मा की आंखों में भी धूल झोंकने का मूर्ख प्रयत्न करना है। न्यायाधीश महाराज और न्यायसभा के सदस्यो, फिर भी यदि आप इस राजसत्ताहीन कंदर्प को राजा मान लें और उसके विरोध को राजद्रोह समझें तो भी आप मुझे दोषी सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि मैंने तो सत्ताविहीन कंदर्प का भी कभी विरोध नहीं किया है। मैं तो उसे केवल उसके हित की ही बातें कहती रही हूँ। क्या राजा से यह कहना कि "तुम अपना राजत्व क़ायम रक्खो और अब तक तुम जिस तरह राजा थे वैसे ही आगे भी बने रहो" राजद्रोह है? अथवा क्या प्रजा से यह कहना राजद्रोह है कि "तुम्हारा राजा शत्रुओं की ग़ुलामी करना चाहता है—बल्कि ग़ुलाम होगया है, उसे ग़ुलामी से छुड़ाकर फिर सच्चा राजा बनाओ"? जो लोग अपने राजा को दूसरों का ग़ुलाम बनाते हैं वे राज-द्रोही हैं, अथवा वे जो ऐसे अभागे असहाय आदमी को ग़ुलामी के नरक से उबार कर फिर से राज्यसिंहासन पर बैठाते हैं या बैठाने की कोशिश कर रहे हैं? अगर यह कन्दर्प

अपने राज्य की रक्षा के लिए कुछ हिम्मत करता तो उसके राजत्व की रक्षा के लिए मैं-खुद अपने को रणक्षेत्र में समर्पण कर देती। और अपने देशभाइयों से भी ऐसा करने के लिए उपदेश करती। यही नहीं, अगर आज भी कन्दर्प इन गुलामी की जंजीरों को तोड़ कर अपने राजत्व की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाय, तो उसके लिए मैं अपना सब कुछ होम देने के लिए तैयार हूँ। यह बात नहीं है कि मैं कन्दर्प से घृणा करती हूं—घृणा तो मुझे गुलाम कन्दर्प से है, राजा कन्दर्प को तो अब भी दिल से चाहती हूँ; अगर मैंने किसी का द्रोह किया भी है तो गुलामी का स्वागत करने वाले उस गुलाम कंदर्प का किया है न कि राजा कन्दर्प का। महाराज कन्दर्प की तो मैं अब भी प्रजा हूँ—उसकी सेविका हूँ, और उसके लिए युद्ध-क्षेत्र में अपने प्राणों की आहुति देने को मैं आज भी तैयार हूँ। माननीय न्यायधीश और न्यायसभा के सदस्य सज्जनो, राजा का परमपवित्र नाम धारण करने वाली व्यक्ति और राजा शब्द के असली तात्विक अर्थ के बीच जो महान् अन्तर है, इस मामले का विचार करते समय आप उस पर जरूर ग़ौर कीजिएगा। राज-पदवी को धारण करनेवाली व्यक्ति बारबार बदलती रहती है, परन्तु राजा शब्द से व्यक्त होने वाला भाव कभी नहीं बदलता। वह तो शाश्वत है। इसी भावना के कारण राजा नामधारी व्यक्ति संसार में श्रेष्ठ माना जाता है। परन्तु ऐसे विचित्र राजद्रोह के मामले में जहां व्यक्ति और तत्व में विरोध उत्पन्न हो गया हो आप लोगों को परिवर्तनशील वस्तु की अपेक्षा स्थायी-शाश्वत भाव को ही अधिक महत्व देना चाहिए। आज यह प्रश्न नहीं कि किसी एक आदमी को न्याय देने का नहीं है। आज तो एक सर्वश्रेष्ठ दिव्य सिद्धांत की हमें स्थापना करनी है। इसी सिद्धांत और उसकी स्थापना पर आज आपके राष्ट्र का भविष्य निर्भर है। कंदर्प नामक व्यक्ति विशेष का पक्षपात करके अगर आप राजतत्व को ठुकरा देंगे, उसका अपमान करेंगे, तो स्वदेश के पैरों में दासता की जंजीरें बाँधने का महापाप आपको निश्चित रूप से लगेगा। व्यक्तिनिष्ठा को महत्व देने और तत्वनिष्ठा को छोड़ने के कारण ही आज तक कितने ही राष्ट्रों का सत्यानाश हो चुका है—संसार में आज उनका नाम-निशान भी नहीं रहा। सज्जनो, आप विद्वान हैं, विचारशील हैं, इतिहास, समाजशास्त्र और क़ानून के अच्छे ज्ञाता हैं। साथ ही आपके अन्दर उज्ज्वल न्याय-निष्ठा और असीम स्वातंत्र्य-प्रेम भी सदा जागृत है। नराधम अपने प्राणों को बचाने के लिए शत्रु-सिंहासन के सम्मुख आप लोगों की राजसत्ता की बलि चढ़ाता है; आपकी वैभवपूर्ण स्वातंत्र्य लक्ष्मी को शत्रु के चरणों पर ढकेलता है। ऐसे पापी के द्रोह को भी अगर आप लोग सचमुच राजद्रोह समझते हों, तो मैं स्वीकार करती हूँ कि यह अपराध मैंने किया है और सौ बार किया है। तब आप इस अभियोग में दोषी ठहरा कर शौक़ से मुझे सूली पर चढ़ा सकते हैं। मैं ख़ुशी-ख़ुशी फांसी के तख़्ते पर चढ़ जाऊँगी। जिस सिंहासन के लिए आपके पूर्वजों ने उसके मस्तक पर समर-देवता को संतुष्ट करने के लिए गत दो-तीन पुश्तों से अपने अमृततुल्य ख़ून की धारायें बहाई हैं, उसी परम-पवित्र सिंहासन को आपके परम्परागत कट्टर दुश्मनों के पापी चरणों से भ्रष्ट करवाने का उद्योग करने वाले महापापी की करतूतों को असफल करने के लिए उसका विरोध करना राजद्रोह हो—अपनी अंतरात्मा से पूछकर कहिए—यदि वह राजद्रोह है तो कदम्ब राज-सिंहासन के स्वामी-भक्त सरदारो, मैं ज़रूर-ज़रूर लाख बार राजद्रोह की अपराधिनी हूँ; आप मुझे दोषी ठहराकर शौक़ से हाथी के पैरों-तले कुचल डालने की आज्ञा दीजिए—मैं बड़े आनन्द के साथ उस सज़ा को सह लूँगी। सज्जनो, मैं इसी निश्चय से इस कर्तव्य-क्षेत्र में कूदी हूँ कि अपने कामों के भयंकर से भयंकर परिणामों को आनन्द के साथ सहलूँ। इसलिए अगर आप मुझे प्राणदंड भी देंगे तो मुझे कोई कष्ट न होगा। आप लोगों से मेरी एक ही अन्तिम प्रार्थना है कि जिस पुण्यभूमि में आपने जन्म लिया है उसके विनाश में शत्रुओं का हाथ बटा कर कहीं भावी पुश्तों के शाप अपने सिर पर मत लेना। कदम्बों की न्याय-सभा तो स्वातंत्र्य लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल है। प्रजा की स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना ही इस न्याय-सभा का उज्ज्वल व्रत रहा है। मैं आप लोगों से दया की भीख नहीं मांगती, न अपने प्राणों की रक्षा ही चाहती हूँ। मैं तो आपसे सिर्फ़ न्याय चाहती हूँ, और चाहती हूँ ऐसा न्याय जिसका आधार स्वाधीनता का परमोच्च और उदार तत्व हो।

बस, यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है। परमात्मा आपको मेरे लिए ऐसा बल दें कि जिससे आप मुझे वह न्याय दे सकें।

('रणदुंदुभि से')

———

बुद्धदेव का संदेश

बुद्ध-जयंति (जो गत ४ मई को की गई) नवयुवकों के लिए एक सर्वश्रेष्ठ उत्सव-तिथि है। राष्ट्र के नवयुवकों के लिए यह शुभ दिन अनन्त कल्याणकारी हो!

बहुत वर्ष हुए, श्री कर्न ने बुद्धदेव को 'सूर्य का काल्पनिक (A Sun-Myth) अवतार' सिद्ध करने की चेष्टा की थी। परन्तु डा० थॉमस के हाल के बुद्ध-चरित्र से इस सिद्धांत का करारा खंडन होता है। शाक्य मुनि कहीं प्राचीनों की कल्पना की उपज थोड़े ही हैं, वह तो एक ऐतिहासिक महापुरुष हैं। मानव-जाति के विभूति-मंदिर की वह तो एक भव्य और महान मूर्ति हैं। और हैं प्राचीन विज्ञान के सर्वश्रेष्ठ शिक्षक।

आधे पूर्व को उन्होंने नवजीवन से जगमगा दिया है। पुण्य-पावन मूर्ति और दिव्य संदेश पूर्व और पश्चिम के करोड़ों मनुष्यों के हृदयों में अधिष्ठित है। बुद्धदेव के जीवन और उनके उपदेशों ने एक नवीन वायुमण्डल तैयार कर दिया और हिन्दूधर्म नवीन रूप धारण करके पुनः भारत में अवतीर्ण हुआ। और अहिंसा-धर्म के पुनः प्रतिपादन के रूप में बुद्ध-धर्म ने वैष्णव धर्म के अन्दर पुनः जन्म ग्रहण किया।

अपने गुरुदेव को अन्तिम श्वास लेते देख कर आनंद की आंखों से बरबस आंसू की धारा बहने लगी। उन्होंने अनिरुद्धसिंह से कहा, "अनिरुद्ध! तथागत तो चल बसे।" परन्तु अनिरुद्ध ने उत्तर दिया, "नहीं, आनन्द, तथागत गये नहीं। वह तो केवल परम-चैतन्य में मिल गये हैं।'

परम-चैतन्य-स्वरूप महात्मा बुद्ध! हमारे प्राचीन इतिहास के चौथे दिव्य पुरुष! पहले तीन राम, कृष्ण और महावीर थे। उन्हीं की कोटि में बुद्ध भी जा मिले। तबसे जैसे-जैसे शताब्दियां बीतती गईं बुद्धदेव लोगों के जीवन में ओत-प्रोत हो रहे हैं। आज उनकी ज्योति से बड़े-बड़े राष्ट्र जगमगा रहे हैं।

पूर्व-उपनिषद्-काल में महर्षि याज्ञवल्क्य एक महान् विभूति होगये हैं। वह आत्म-विज्ञान के सच्चे द्रष्टा थे। उत्तर-उपनिषद्-काल की महान् विभूति तथागत-गौतम बुद्ध थे। वह भी एक महर्षि और विश्व-व्यापी परमतत्व के द्रष्टा थे। वह कोरे सुधारक ही नहीं थे। वह महर्षि थे और थे एक महान् योगी, जिन्हें ज्ञान और सिद्धि की दसों शक्तियाँ प्राप्त थीं।

एक राजा अपने राज्य-वैभव को ठुकरा कर भिखारी बन गया और मानव-जाति के लिए आशा का नवीन संदेश सुनाता हुआ वह बन-बन और गाँव-गाँव घूमा। लोग दुःख और अज्ञान में निमग्न थे। जरा और मृत्यु के भय से काँप रहे थे और संसार और पुनर्जन्म के द्वन्द्वों से आन्दोलित हो रहे थे। यह राजकुमार उनके लिए संजीवन संदेश लेकर

आया। इसने अपने आपको आत्मा का वैद्य ज़ाहिर किया।

आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि बुद्ध एक कुशल धनुर्धर और वज्रकाय पुरुष थे। वह कला-प्रवीण थे। यति और भोगी दोनों के जीवन के वह विरोधी थे। उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया। उन्होंने लोगों को बतलाया कि स्वास्थ्य का मार्ग ही पवित्र मार्ग है।

तथागत बुद्ध ने चार सत्यों पर अधिक ज़ोर दिया था। वह उन्हें 'आर्य सत्य' कहते थे। इनका सम्बन्ध अविद्या, संस्कार, नाम-रूप और तृष्णा आदि से है। ये चारों दुःख और विपत्ति के मूल कारण हैं। एक द्रष्टा की नज़र से वह मनुष्य के मनोभावों को पहचान लेते थे और मानव-जाति के सच्चे प्रेमी की उत्कटता उनके अंदर थी। वह नहीं चाहते थे कि मनुष्य-समाज अपना बहुमूल्य समय थोथे धार्मिक तर्क-वितर्कों में बितावे। उन्होंने अपने उपदेशों में धर्म-विश्वास की अपेक्षा चरित्र को कहीं अधिक महत्त्व दिया है। नाम-रूप, मन्त्र-तन्त्र, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और सिद्धान्तों की ज़रूरत नहीं थी, ज़रूरत है सिर्फ़ जीवन के उन उदात्त आठ प्रकारों के ज्ञान की। और भगवान बुद्ध ने यही अपने भिक्षुओं से कहा —' इस" पर विश्वास करने के लिए मैंने तुम्हें इसलिए नहीं कहा कि तुम उसे मुझसे सुन रहे हो बल्कि इसलिए कि वह तुम्हारी अंतरात्मा की आवाज़ भी है। और एक बार इसका विश्वास हो जाने पर तुम्हें उस पर अमल करना चाहिए और खूब ज़ोरों से अमल करना चाहिए। बुद्धदेव ने 'त्रिगुण मार्ग' सिद्धान्त में निष्काम कर्म पर खूब ज़ोर दिया है। बलिदान से चरित्र खिल उठता है। और बुद्ध के लिए बलिदान रूखा स्वार्थत्याग नहीं था। वह तो उनके लिए सच्चिदानन्दमय आत्मसाक्षात्कार था। और दूसरों की रक्षा के लिए भभकती हुई ज्वालाओं में कूद पड़ना उतना ही आनन्ददायक काम था, जितना एक हँस के लिए कमल-दल से लहलहाते सरोवर में कूद पड़ना है। दीन, पतित और पथ-भ्रष्ट लोगों के लिए तथागत ने महान् त्याग और अपूर्व प्रेम का जीवन बिताया था। उन्होंने भाई और कोढ़ियों को कष्ट से उबारा था। वह जाति से च्युत स्त्रियों के साथ बैठकर भोजन करते थे। अपने पिता के राजमहल के सुखों को उन्होंने केवल ग़रीबों से भाई-चारा जोड़ने के लिए ढेले की तरह ठुकरा दिया था। उनके विश्व-बन्धुत्व की विशाल गोद में केवल मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी तक विश्राम पाते थे। क्या पशु भी हमारा भाई नहीं है?

उनका आदर्श जाति और सम्प्रदायों की चहारदिवारी को पार कर गया था। उनका आदर्श तिहेरा था—बुद्ध आदर्श, धर्म आदर्श और संघ आदर्श यही उनके तीन आदर्श थे। वह कहते थे कि हरएक मनुष्य को बुद्धावस्था प्राप्त करनी चाहिए। उन्होंने कभी स्वप्न में भी केवल अपने आपको बुद्धश्रेष्ठ नहीं समझा। मनुष्य मात्र एक बुद्ध होने की क्षमता रखता है। इस शिक्षा में कितना ज़बर्दस्त आश्वासन भरा है? उन्होंने सदाचार को ही सद्धर्म का मार्ग बताया। उन्होंने धार्मिक विधि-विधान और कर्मकाण्ड पर कभी ज़ोर नहीं दिया। वह तो उदात्त पवित्र जीवन को ही सब कुछ समझते थे। उनके संघादर्श के मानी थे विश्वबन्धुत्व। मैं अपने प्रातःकालीन ध्यान और ईशस्तवन में उस सुन्दर बौद्ध प्रार्थना को भी गाता हूँ, जिसमें यह त्रिविध आदर्श ग्रथित है।

(१) बुद्धं शरणं गच्छामि।

(२) संघं शरणं गच्छामि।

(३) धर्मं शरणं गच्छामि।

बुद्ध ने कहा, 'मनुष्य बनो'। ये शब्द उनके संदेश के महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वह संदेश हमें स्वावलम्बन और आत्माभिमान का पाठ पढ़ाता है। लोग इसलिए दुखी हैं कि मृत विश्वासों और मुर्दा प्रथाओं का पालन करने में वे अपनी शक्ति बरबाद करते हैं। तथागत बुद्ध ने कहा, "किसी और का सहारा मत लो—अपने पैरों पर खड़े हो जाओ।" शाक्य मुनि के जन्म से कई सदियों पहले हमारे वैदिक ऋषि-मुनियों ने गाया था, "अपनी दिव्यता का ध्यान करो।" और महा-समाधि लेने के पहले बुद्धदेव ने भी आनन्द से कहा, "आनन्द, दूसरे किसी की शरण न गहो, अपनी आत्मा का ही आश्रय लो। सत्य को इस तरह पकड़े रहो, जैसे कोई दीपक को पकड़ता है और आगे बढ़ते जाओ।" और यही आध्यात्मिक पुरुषार्थ वाला अनूठा संदेश वर्तमान भारत को आशा का संदेश है—उस नवभारत के लिए जो आज चारों ओर भटक रहा है, प्रतिदिन एक दुर्बलता से

निकल कर दूसरी के पंजे में फंस रहा है। क्यों कि बिना स्वाभिमान के आध्यात्मिकता कहाँ? अतः आत्माभिमानी बनो! राष्ट्रों का निर्माण खुद अपने किये होता है।

टी० एल० वास्वानी

चीन और जापान

जापान की प्रसिद्ध रूस-विजय के समय थियोडोर रूज़वल्ट ने अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिकी आलोचना करते हुए कहा था कि अमेरिका की खोज से भूमध्य-सागर का महत्व काल (Mediteranian Era) नष्ट हो चुका है। अटलाण्टिक सागर का समय (Atlantic Era) अपनी चरम उन्नति पर है और शीघ्र ही सारे संसार की राजनीति पर वह प्रभाव डालेगा। प्रशान्त महासागर का काल (Pacific Era) अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है जो जल्दी ही सब से अधिक महत्वपूर्ण हो जायगा। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति का यह कथन आज बहुत अंश में ठीक सिद्ध हो रहा है। सुदूरपूर्वीय प्रदेशों की महत्ता मुख्यतः चार घटनाओं—१९०४–५ का मंचूरिया का युद्ध, १९११ की चीनी क्रांति, १९१४ का यूरोपीय महायुद्ध और १९१७ की रूस की क्रांति-के कारण वस्तुतः बढ़ गई है। इन घटनाओं से चीन, जापान और रूस में एक नवीन सम्बन्ध स्थापित हो गया है और एक नवीन परिस्थिति पैदा हो गई है। परन्तु यहां हम अन्य देशों की कथाओं को छोड़ कर केवल चीन की अवस्था पर ही विचार करेंगे।

बहुत समय से चीन के विषय में कोई विशेष समाचार नहीं मिले थे। जो मिलते भी हैं वे कहाँ तक सत्य होते हैं, नहीं कहा सकता। फिर भी जो समाचार मिले हैं, उन से मालूम होता है कि चीन का वातावरण इस बार बहुत ज़ोर से क्षुब्ध और अशान्त हो उठा है, जिसके शीघ्र ही शान्त होने की कोई संभावना नहीं दीखती। वैसे ही गृह युद्ध के कारण चीन का वातावरण पहले ही अशान्त था, परन्तु अब जापान के बीच में पड़ने से स्थिति बहुत भयंकर होगई है।

हमने त्यागभूमि के किसी पिछले अंक में जापान की नीति पर लिखते हुए बताया था कि अब वह एशियायी राष्ट्रों से सहानुभूति रखने लग गया है। वह यूरोपीय राष्ट्रों, विशेषतः अमेरिका और इङ्गलैण्ड की कूटनीति से सतर्क होगया है और एशियायी राष्ट्रों के संघ बनाने की तैयारी में है। उसने कई बार विदेशों के पंजों से चीन को बचाया है। परन्तु अब नये आये हुए समाचारों से मालूम हुआ कि जापान आज चीन का मित्र नहीं, उसका शत्रु है। जब चीन की राष्ट्रीय सेना उत्तरी चीन पर विजय करते हुए सिनानफू पहुँची, तो वहां की लूटमार में कुछ जापानियों को भी जन-धन की हानि उठानी पड़ी। क्रान्ति और युद्धों के समय यह कुछ स्वाभाविक बात है। बस, जापान की सरकार आपे से बाहर हो उठी और सारा युद्ध-विभाग विदेशी झगड़ों, तथा पारस्परिक कलह से क्षीण चीन को तबाह करने के लिए उद्यत हो गया, जापान के फ़ौजी जहाज़ों ने चीन के बन्दरगाहों को

घेर लिया और जापान की सुसज्जित सेनायें चीन आने लगीं। सिनानफू वगैरा स्थानों पर जापानियों ने राष्ट्रीय दल के साथ बहुत घमासान लड़ाई की। पहले से ही दुर्बल चीनी न ठहर सके और जापानियों ने वहां के सिपाहियों तथा नागरिकों पर निर्दयता-पूर्वक अत्याचार किये। शान्तुंग प्रांत में २१००० सैनिकों ने पहुँच कर चीनी कमिश्नर के नाक-कान काट दिये हैं, परराष्ट्र सचिव के दफ्तर पर गोलाबारी की तथा सैकड़ों चीनियों की हत्या कर उस प्रांत पर अधिकार कर लिया। जापानियों के हवाई जहाज़ों ने भी काफ़ी तादाद में पहुँच कर चीनियों पर बम के गोले फेंक कर सैकड़ों चीनियों को मार दिया। हम यहाँ युद्ध की सब घटनाओं को लिखना व्यर्थ समझते हुए यही लिखकर आगे चलते हैं कि जापानियों ने चीनियों को क्रूरतापूर्वक मारा और उन्होंने तरह-तरह के अत्याचार किये।

जापान की सरकार ने इस युद्ध के संबन्ध में अपना एक वक्तव्य प्रकाशित किया है, जिसमें चीन से युद्ध करने के कारणों को बताते हुए लिखा है—जापान सरकार ने सिनानफू में जापानियों के जान-माल की रक्षा के लिए सेना भेजी। वहाँ जितनी सेना है, उतनी जापानियों की रक्षा के लिए पर्याप्त नहीं है। शांतुंग रेलवे के मार्ग की रक्षा करना और उसे निर्विघ्न करना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब कारण बाहरी लोगों को कहने के लिए हैं, वस्तुतः इनमें कोई सार नहीं। सच्चा कारण कोई दूसरा है।

कुछ समय पूर्व चीन के राष्ट्रीयदल ने बहुत प्रगति की थी। उसका संगठन बहुत दृढ़ हो गया था और उत्तरीय चीन में उसकी विजय पर विजय होती जा रही थी कि इतने में जापान ने चीन पर आक्रमण किया। जापान को राष्ट्रीयदल की यह उन्नति सह्य न थी, क्योंकि राष्ट्रीयदल के चीन पर प्रभाव का स्पष्ट अर्थ यह है कि विदेशियों को चीन में अपने विलास-क्षेत्र बनाने का मौका न मिलेगा। दूसरे साम्राज्यवादी देशों की तरह जापान ने भी चीन में कई प्रभावक्षेत्र स्थापित कर रक्खे हैं। वह चीन के आपसी झगड़े से लाभ उठाकर चीन में अपना पैर और भी मज़बूती से जमा लेना चाहता है। मंचूरिया में जापान की शक्ति प्रधान है और शांटुंग तो उसके कब्ज़े में है ही। उसके हाथ में कोरिया है, पोर्ट आर्थर है, मंचूरिया की रेलें हैं और गत यूरोपीय युद्ध से उसके पास कियाचौ प्रदेश भी आ गया है। अब वह सरलता से पेकिंग के रास्ते पर अधिकार कर सकता है। जापान जानता है कि राष्ट्रीयदल की विजय से ये प्रभावक्षेत्र उसके हाथ में न रहेंगे। अभी राष्ट्रीयदल ने अंग्रेज़ों से हैंको की संधि कर उन्हें वहा से निकाल दिया। यही डर जापान को भी है। वह उन प्रदेशों को छोड़ना नहीं चाहता। युद्ध के समय जापान ने कहा था कि युद्ध समाप्त होने पर कियाचौ आदि प्रदेश चीन को वापस दे देंगे; परन्तु जिस समय संधि-परिषद् में चीन ने उन प्रदेशों के लौटाने का प्रश्न उठाया, जापान ने किसी तरह का वादा करने से इन्कार कर दिया। उस समय इंग्लैंड और फ्रांस ने भी जापान का साथ दिया। चीन के राष्ट्रीयदल को दबाने के लिए ही जापान ने यह आक्रमण किया है। वह इसके लिए बहुत समय से खोज कर रहा था। अब छोटा सा बहाना मिलते ही उसने चढ़ाई शुरू करदी।

हां, इस लड़ाई का एक और भी कारण बताया जाता है। जापान का शासनसूत्र वहां के सेइयुकाई नामक अनुदार दल के हाथ है। इस दल का विरोधी मिनसेइटो या उदार दल है। वर्तमान सरकार के प्रति यहाँ की जनता में काफ़ी विरोधभाव फैला हुआ है। अभी वहां की पार्लमेंट में वर्तमान सरकार के प्रति अविश्वास प्रकट करने का प्रस्ताव पेश होने वाला था। शासक दल ने लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ से हटा कर दूसरी ओर खींचने के लिए ही यह युद्ध छेड़ दिया है। बहुत संभव है, यह कारण ठीक हो। अस्तु।

इधर एक और बात हुई। चीन के उत्तरी दल के सेनापति चांगसोलिन ने, राष्ट्रीयदल को दबाने का अच्छा मौका देख कर जापान को सहायता देने की बात चलाई, परन्तु जापान ने सहायता लेने से इनकार कर दिया। इसपर प्रसन्न होकर उसने राष्ट्रीयदल से मेल कर लिया और उसने पारस्परिक युद्ध को बन्द करने की घोषणा कर दी। यह भी चीन के लिए अच्छा हुआ। राष्ट्रीय चीन ने राष्ट्र-संघ का ध्यान जापान की इस अनुचित कार्रवाई की ओर खींचा। राष्ट्रसंघ ने इसका जो उत्तर दिया, उससे उसकी मनोवृत्ति का पता लगता है। राष्ट्रीय सरकार राष्ट्रसंघ की

सदस्य नहीं है, इसलिए नियमानुसार उसकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। पेकिंग की उत्तरी सरकार तो संघ की सदस्य थी न? फिर क्यों इसपर विचार नहीं किया गया? राष्ट्रसंघ के लुटेरे सदस्य चीन की पर्वाह क्यों करने लगे। इङ्गलैण्ड की तो जापान के कार्य से पूर्ण सहानुभूति है, जैसा कि सर आस्टिन चैम्बरलेन के भाषण से पता लगता है।

भले ही जापान की सरकार इस समय चीन पर चढ़ाई करने में अपना हित देखे, परन्तु यह है उसके लिए घातक। इससे उसके एशियायी राष्ट्रों का संघ बनाने का प्रयत्न मिट्टी में मिल गया। अब एशियायी राष्ट्रों में उसके प्रति क्या भाव पैदा हो गया है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। यूरोप विशेषतः इंग्लैंड तो यही चाहता था कि एशियायी संघ न बने, उसने जापान को चीन में लड़ने दिया। यदि उसे यह युद्ध अभीष्ट न होता, तो जापान को इतना साहस कभी न होता। जापान ने ऐसा करके वस्तुतः सारे एशिया से शत्रुता पैदा करली है।

नये आये हुए समाचारों से ज्ञात होता है कि अब चीन का राष्ट्रीयदल विजय पर विजय करता हुआ उत्तरीय चीन की ओर बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है। राष्ट्रीयदल की यह विजय चीन के सौभाग्य का चिन्ह है।

इस मास चीन के इस संघर्ष के बाद अफ़ग़ानिस्तान की राजनैतिक प्रगति महत्वपूर्ण घटना है।

अफ़ग़ानिस्तान और अंग्रेज़

एशिया के राष्ट्रों में आजकल कुछ ही दिनों में यदि किसी राष्ट्र ने सारे संसार का ध्यान अपनी ओर खींच लिया है तो वह अफ़ग़ानिस्तान है। अफ़ग़ानिस्तान के अमीर अमानुल्लाख़ां महत्वाकांक्षी, कुशल प्रबन्धकर्त्ता, दूरदर्शी और चाणाक्ष राजनीतिज्ञ हैं। आज उसकी प्रत्येक चेष्टा को सम्पूर्ण राष्ट्र बड़े ध्यान से देख रहे हैं। अफ़ग़ानिस्तान की सारी प्रगति का रुख़ आजकल किस तरफ़ है, यदि हम इसे एक वाक्य में कहना चाहें, तो कहेंगे कि इंग्लैंड का विरोध करना ही इसका उद्देश्य है। अमीर ने राजगद्दी पर बैठते ही १३ अप्रैल को घोषणा की की अफ़ग़ानिस्तान को बाहर और भीतर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाहिए। इस बाहरी स्वतन्त्रता का अर्थ इंग्लैंड के पंजे से छूटना ही था। कुछ समय बाद अफ़ग़ानिस्तान इंग्लैंड की परराष्ट्र विषयक पराधीनता से मुक्त भी हो गया। उसके बाद अमीर अफ़ग़ानिस्तान को उन्नत करने के लिए जितना प्रयत्न किया, वह लिखने का यह स्थान नहीं। अमीर की यूरोप-यात्रा राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्व रखती है, यह हम पिछले अंकों में लिखा चुके हैं। हमने किसी अंक में यह भी कहा था अंग्रेज़ अमीर की रूस-यात्रा को बन्द करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने क्या-क्या उपाय किये, यह हम नहीं कह सकते। जब अमीर रूस जाने वाले थे, तभी अफ़ग़ानिस्तान में बलवे के समाचार सुनाई दिये थे और यह भी सुना था कि अमीर यात्रा से वापस लौट आवेंगे। हमारा अनुमान है कि यह भी बहुत संभवतः अंग्रेज़ों का कूट प्रयत्न था। अमीर ने अंग्रेज़ों की अनिच्छा व उनके विरोध का कोई ख़याल न कर रूस की यात्रा की। आजकल वह रूस में है। वहाँ उनका बहुत स्वागत किया जा रहा है। अमीर भी वहाँ बहुत प्रसन्न हुए हैं। इंग्लैंड और अमरीका की बड़ी-बड़ी तेल की कंपनियों में जो परस्पर प्रतिस्पर्धा चल रही है, वह दोनों देशों में वैमनस्य को बढ़ाने में पर्याप्त कारण सिद्ध हुई है। इस झगड़े में भी अमीर ने इंग्लैंड का पक्ष न लेकर अमेरिका को ही अपने तेल के स्थानों का ठेका दिया है। इन बातों से अंग्रेज़ों की चिंता बहुत बढ़ गई है और वे भारत की पश्चिमी सीमा पर युद्ध की तैयारियां कर रहे हैं। कई नये-नये क़िले बन रहे हैं और बने हुए क़िलों का विस्तार किया जा रहा है। वज़ीरिस्तान के रजमक नामक क़िले को इतना बढ़ा दिया गया है कि उसमें १२००० आदमियों का मोर्चा लग सके। शेन नदी पर भी भारी छावनी डाली गई है। यह भी ख़बर है कि लाहौर, दिल्ली आदि स्थानों से साठ हज़ार आदमियों की भर्ती हो रही है। कुछ सेनायें वज़ीरिस्तान की ओर रवाना भी हो चुकी हैं। हवाई ज़हाज़ों का बड़ा भारी संग्रह हो रहा है। मोटरों के लिए बड़ी तेज़ी से सड़कें बन रही हैं। इन सब तैयारियों को अफ़ग़ानिस्तान के राजनीतिज्ञ बहुत आशंका की दृष्टि से देख रहे हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये तैयारियां अफ़ग़ानिस्तान के लिए नहीं, रूस के लिए हैं, तो भी अफ़ग़ानिस्तान का डर दूर नहीं होता। १९१४ में जिस

प्रकार जर्मनी ने इंग्लैण्ड से लड़ने के लिए बेचारे बेलजियम को नष्ट कर दिया था, उसी प्रकार अंग्रेज़ अफ़ग़ानिस्तान को बलि चढ़ा देंगे। परन्तु हम इससे इतना डरने का कोई कारण नहीं देखते। इङ्गलैण्ड की आजकल जो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति है, उसको देखते हुए हमारा यह अनुमान है कि इंग्लैण्ड युद्ध के लिए तैयार नहीं होगा। इङ्गलैण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर हम किसी आगामी अंक में विस्तृत लेख लिख कर बतावेंगे कि उसकी स्थिति आजकल अच्छी नहीं है।

अंग्रेज़ और ईरान की संधि

अंग्रेज़ों ने भारतवर्ष में ही नहीं, दूसरे देशों में भी, जो उनके अधीन नहीं हैं, अपनी ताक़त के बलपर विशेष रियायतें ले रक्खी हैं। ईरान में भी इस प्रकार के अनुचित अधिकार ले लिये थे, परन्तु अब ईरान के शासक रज़ाख़ाँ, जो बड़े महत्वाकांक्षी हैं, इस अन्याय को नष्ट करने पर तुल गये हैं। उन्होंने इङ्गलैण्ड से यह विशेषाधिकार छीनने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने इङ्गलैण्ड से केवल सविनय प्रार्थना नहीं की, बल्कि उसे धमकाया भी। अंग्रेज़ों ने ईरान पर से होकर हवाई जहाज़ों के गुज़रने के लिए रास्ता माँगा, ईरान ने इन्कार कर दिया। इन्कार करके ही न रह गया, बल्कि वही रास्ता उसने अंग्रेज़ों के शत्रु रूस को दे दिया। अब अंग्रेज़ क्या करते ? उन्हें अपने विशेषाधिकार वापस लेने पड़े और ईरान उनके पंजे से बिलकुल छूट गया। अब नई सन्धि के अनुसार ईरान में रहने वाले अंग्रेज़ों का न्याय अंग्रेज़ नहीं करेंगे। ईरान के ही न्यायालय अंग्रेज़ों का भी न्याय करेंगे। हाँ, उन्होंने अपने क़ानून को कुछ उदार अवश्य कर दिया है। अब ईरान ने भी रूस से सलाह ले कर इङ्गलैण्ड को भी कुछ व्यापारिक सुविधायें दे दी हैं और हवाई जहाज़ों के लिए रास्ता देने पर उद्यत हैं। इस रास्ते के मिलने पर इङ्गलैण्ड से भारत आने तक का सब से छोटा रास्ता हो जायगा।

इंग्लैण्ड और मिस्र

ईरान शक्तिशाली था, अङ्गरेज़ों को दबना पड़ा; परन्तु मिस्र ग़रीब था, उसे अंग्रेज़ों ने दबा दिया। वहाँ की पार्लमेंट में इस आशय का बिल पेश हुआ कि जनता को राजनैतिक विषयों की चर्चा करने की पूरी स्वाधीनता दी जाय। बस, अँग्रेज़ों के कान खड़े हो गये, मिस्री सरकार को धमकी मिली कि ऐसा बिल पास करना अच्छा न होगा। और धमकी देने के लिए छः जंगी जहाज़ भी भेज दिये गये। मिस्र दब गया। कारण यह था कि अंग्रेज़ों को डर था कि लोगों को राजनैतिक चर्चा करने का अधिकार मिलने से सभाओं में उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हो जायगा। अंग्रेज़ों की कूटनीतियों का भण्डा न फूटे। अंग्रेज़ों की मनोवृत्ति का यह सबसे उत्तम उदाहरण है।

एशिया की राजनीति को छोड़ कर यूरोप की राजनैतिक घटनाओं पर भी कुछ नज़र डालनी चाहिए। इन घटनाओं में

रूमानिया में क्रांति का प्रयत्न

एक विशेष स्थान रखता है। रूमानिया का शासनसूत्र वस्तुत: वहाँ के राजा के हाथ में नहीं, परन्तु वहां के ज़मींदारों के हाथ में है। ज़मींदारों में भी वहाँ दो दल हैं, जो परस्पर लड़ते रहते हैं। जब जो दल ज़ोर पकड़ जाता है, राजा को अपने हाथ की कठपुतली बना कर देश का सब कार्य अपने हाथ में ले लेता है। अभी कुछ समय हुआ कि रूमानिया के भूतपूर्व राजा के देहान्त के समय वहां के युवराज कैरोल पेरिस में थे। वहां उन्होंने एक विदेशी कन्या से विवाह कर लिया, इसपर रूमानिया के शक्तिशाली ज़मींदारों के उदार दल ने उनसे राज्य का अधिकार लेकर उनके छोटे भाई को, जिसकी आयु उस समय सिर्फ़ ढाई वर्ष की थी, राजा बना दिया! इस अवसर पर रूमानिया की प्रजा ने अपने शिशु राजा को खिलौनों के उपहार दिये थे। युवराज कैरोल को विदेश की कन्या से विवाह करने के कारण राज्याधिकार से वंचित रहना पड़ा और वह दूसरे देशों में ही घूमते रहे। कुछेक राजनीतिज्ञों का अनुमान है कि वह वहीं से फिर राज्यप्राप्ति के लिए गुप्त प्रयत्न कर रहे हैं।

इधर रूमानिया की प्रजा उदारदल की सरकार से बहुत तंग आ गई थी। उसमें शनैः-शनैः असन्तोष बढ़ता जा रहा था, जिसके परिणामस्वरूप अलबेजूलिया नामक स्थान पर ढाई लाख किसानों ने एकत्र होकर मन्त्री-मण्डल को त्यागपत्र देने के बाधित करने का प्रस्ताव पास किया।

वहाँ की किसान जनता प्रस्ताव पास करके ही नहीं रही। तीस हज़ार किसान रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट पर हमला करने के लिए चल भी पड़े, किन्तु अधिकारियों ने उनको समझा-बुझा कर वापस भेज दिया। परन्तु यह असन्तोष यहीं समाप्त नहीं हुआ। किसान सम्मेलन ने अपने को राष्ट्रसभा में परिवर्तित कर लिया और वह वहाँ के शासन-सूत्र को हाथ में लेने की कोशिश कर रहा है।

किसानों की इस क्रांति से कैरोले का कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु उपर्युक्त घटना के बाद ही इंग्लैण्ड के स्वराष्ट्र-विभाग और परराष्ट्र-विभाग के अधिकारियों ने परस्पर सलाह कर युवराज कैरोले को, जो इंग्लैण्ड में ही ठहरे हुए थे, वहाँ से शीघ्र चले जाने को कहा है। बहुत सम्भव है युवराज कैरोल का इस क्रान्ति में कोई हाथ हो।

बलकान राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति विशेष महत्व की है, इसलिए सभी देश उनकी प्रत्येक चेष्टा को बड़े ध्यान से देखते हैं। इङ्गलैण्ड रूमानिया की इस क्रान्ति को नहीं चाहता, यह उसके कैरोल को निकालने से सिद्ध हो चुका है। अन्य देशों की मनोवृत्ति क्या है, यह अभी मालूम नहीं हो सकता।

कृष्ण

देश-दर्शन

भारत का अशान्त वातावरण (१)

महात्मा गाँधी के असहयोग-आन्दोलन से भारतवर्ष को स्वराज्य मिला हो या नहीं, परन्तु उससे भारत की साधारण जनता में जागृति अवश्य आ गई है। वे अब अपने अधिकारों को समझने लगे हैं और उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न भी काफ़ी करने लगे हैं। यह जागृति बहुत स्थायी रूप से हुई है। इसका प्रभाव आज हमें भारत में चारों ओर दीख रहा है। स्थान-स्थान पर सत्याग्रह और हड़तालें हो रही हैं। कानपुर में पुलिस के अतिरिक्त कर के विरोध में सत्याग्रह काफ़ी समय से प्रारंभ हो चुका है। सैकड़ों नागरिकों ने कर देने से इनकार कर दिया है। पुलिस उनके घरों में से कुर्की के लिए सामान उठा रही है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पुलिस आवश्यकता से बहुत अधिक सामान उठा रही है। श्रीयुत गणेशशंकरजी विद्यार्थी के नेतृत्व में यह आन्दोलन भी काफ़ी ज़ोर पकड़ रहा है। आशा है कानपुर के नागरिक सफलता अवश्य प्राप्त करेंगे। अलीबाग़ में ज़मीन का कर कम करने के लिए ग़रीब लोग कोशिश कर रहे हैं। ज़िला टिनेवली में कामान यूनियन बोर्ड से वहाँ के नागरिकों का संघर्ष चल रहा है। पटुआखाली का सत्याग्रह अभी बन्द नहीं हुआ। देहरादून में भी अतिरिक्त पुलिस कर के विरुद्ध सत्याग्रह करने की तय्यारी हो रही है। बम्बई, लिलुआ, शोलापुर, और जमशेदपुर में मज़दूरों की ज़बरदस्त हड़ताल और बारडोली में किसानों का सत्याग्रह, जिसके सम्बन्ध में आगे लिखा जायगा, बहुत महत्व के आन्दोलन हैं। यह सब उन्नति के लक्षण हैं। चाहे इन आन्दोलनों में सफलता मिले या न मिले, जनता को अपनी शक्ति, अपने कर्तव्य और अधिकारों का ज्ञान अच्छी तरह हो जायगा। लाखों लोगों को मालूम हो जायगा कि विदेशी शासन कितना दुःखदायी है। उसे नष्ट करने में ही हमारा कल्याण है। इसके लिए हमें संगठन आदि करना चाहिए। हम भारतवर्ष की वर्तमान अशान्त स्थिति से बहुत सन्तुष्ट हैं; क्योंकि अशान्ति का वातावरण किसी स्थिर शांति को लाने वाला होता है।

मजदूरों की व्यापक हड़ताल

इस मास की भारतवर्ष की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण घटना मज़दूरों की देशव्यापी हड़ताल है। अबसे पहले यदि किसीको मज़दूरों की जागृति व संगठन में कुछ सन्देह भी था, तो इस हड़ताल से वह नहीं रहा। अब मज़दूरों की हड़ताल ने वह विकट और उग्र रूप धारण कर लिया है, जिसको सुलझाना कठिन ही नहीं, असम्भव सा कार्य हो गया है। बम्बई की एकआध को छोड़कर सब मिलें बन्द हो गई हैं; बहुत सी मिलें तो एक मास से भी अधिक काल से बन्द हैं। मिल-मालिक भी इस बार अपना संगठन कर मज़दूरों की बात न मानने पर तुले हुए हैं। अब तक वे ज़रा न झुके। परन्तु मज़दूरों के उत्साह में इससे कोई कमी नहीं हुई। यह हड़ताल का आन्दोलन केवल बम्बई तक ही सीमित नहीं है, लिलुआ के रेलवे के कारखाने, शोलापुर और जमशेदपुर तक के मज़दूरों पर इसका प्रभाव पड़ा है। बम्बई में ही जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों ने भी हड़ताल करने का निश्चय कर लिया है। बम्बई कारपोरेशन के कर्मचारी भी हड़ताल करने पर तुले हुए दीखते हैं। मज़दूर नेता इस हड़ताल को सफल करने के लिए पिकेटिंग और मज़दूरों को गाँवों में भेजने का प्रयत्न कर रहे हैं। पिकेटिंग करते हुए कहीं-कहीं आपस में मारपीट भी हो गई है। ७५ हज़ार के क़रीब मज़दूर अपने गाँवों में भी चले गये हैं। मज़दूर नेता अवशिष्ट मज़दूरों को भी घर भेज रहे हैं। सारांश यह कि पूंजीपतियों और मज़दूरों का पारस्परिक संघर्ष बहुत भयंकरता से बढ़ रहा है। भारत की अँग्रेज़ी सरकार स्वयं पूंजीपतियों की सरकार है। वह तो पूंजीपतियों का समर्थन करेगी ही। मज़दूरों के साथ उसका व्यवहार कितना बुरा है, यह बामनगाछी की घटना से स्पष्ट हो चुका है।

इस हड़ताल के समय मज़दूरों को रुपये की कितनी आवश्यकता है, यह बताने की कोई ज़रूरत नहीं। मज़दूर-संघ को भारतवर्ष से कुछ रुपया सहायता के रूप में मिला है। इंग्लैंड के श्रमिक संघों ने कुछ रुपया सहायतार्थ भेजा है। रूस के श्रमिक संघ ने भी २५००० रुपये के क़रीब सहायता के लिए भेजे हैं। श्रीयुत एण्डरूज़ और श्रीमती बेसेंट ने इस सहायता के लेने का विरोध किया है और कहा है कि रूस से यह रुपया नहीं लेना चाहिए, क्योंकि यह ख़ून से रंगा हुआ है। रूस ने यह रुपया भारत के पूँजीपतियों और मज़दूरों में कलह कराने के लिए ही भेजा है। हम इस विचार से सहमत नहीं हैं। रूस के मज़दूर समस्त संसार के मज़दूरों से बहुत सहानुभूति रखते हैं। उनका रुपया लेने में यदि हर्ज है, तो इंग्लैंड के श्रमिक संघ का रुपया क्यों लिया जाय? अंग्रेज़ों का रुपया कितना पवित्र है, यह उनके भारत तथा चीन आदि पर किये गये रक्त-रंजित अत्याचारों से स्पष्ट है। 'फ़ारवर्ड' के समाचार से मालूम हुआ है कि इंग्लैंड का मज़दूर दल इस समय यह कोशिश कर रहा है कि भारतीय मज़दूरों को सहायता देकर उनको यहां के राष्ट्रीय नेताओं तथा पूँजीपतियों के विरुद्ध करलें। इसके लिए उन्होंने रुपया भी इकट्ठा करना शुरू कर दिया है। हमें इस समाचार पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं दीखता। हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि भारतीयों को अंग्रेज़ों से किसी भी प्रकार का विशेषतः आर्थिक संबन्ध नहीं रखना चाहिए। ब्रिटिश मज़दूर दल भारतीय मज़दूरों को सहायता देकर राष्ट्रीय आंदोलन से विमुख कर दें, यह हमारे लिए बहुत घातक होगा। अंग्रेज़ मज़दूरों से यह आशा करना कि वे भारतीय मज़दूरों को सच्चे हित की दृष्टि से सहायता देंगे, भूल है। अभी कुछ दिन हुए, मज़दूर नेताओं ने एक सभा में राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान अपनी ओर खींचते हुए कहा था कि मज़दूर समस्या के इतने भयंकर होते हुए भी उन्हें शासन-विधान आदि बनाने में अपना समय ख़राब नहीं करना चाहिए। वस्तुतः यह बात है भी ठीक। कोई भी राष्ट्रीय आंदोलन बिना जनता को साथ लिये आगे नहीं चलाया जा सकता, यह भी निश्चित बात है। उनकी सहानुभूति को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय नेताओं को उनके दुःख में पूरा भाग लेना चाहिए, नहीं तो संभव है कि अंग्रेज़ मज़दूर दल अपनी नीति में सफल हो जाय। बंबई की प्रांतीय कांग्रेस कमिटी ने मज़दूरों की सहायतार्थ एक हज़ार रुपया देकर बहुत अच्छा कार्य किया है। राष्ट्रीय नेताओं का आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे इस प्रश्न की ओर विशेष ध्यान दें।

इसका दूसरा भी कारण है। यह समय भारतीय राष्ट्र के निर्माण का काल है। इस समय जो चेष्टायें (Activities) होंगी, उनका प्रभाव हमारे मन पर स्थिर रूप से होगा, जो पीछे से जाकर भारतीय राष्ट्र का चरित्र (Characteristic) बन जायेगा। यदि हमने आज मज़दूर-पूँजीपति संघर्ष को शांत करने की चेष्टा न की, तो स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्र में यह संघर्ष एक बहुत विकट रूप धारण कर लेगा, जो हमारी उन्नति में बहुत बाधक होगा। आशा है कि राष्ट्र के नेता इस प्रश्न की महत्ता समझते हुए इस तरफ़ ध्यान देंगे

कृष्ण

बारडोली का सत्याग्रह

वीर बारडोली ने अन्यायपूर्ण लगान-वृद्धि के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाकर गत ३॥ महीनों से सत्याग्रह-संग्राम शुरू कर रक्खा है। क्रमशः इस आन्दोलन ने कितना ज़ोर पकड़ा है, यह समाचारपत्रों के पाठकों से छिपा नहीं है। स्वाभिमान और न्याय की रक्षा के लिए पशुबल के सन्मुख किस तरह लड़ा जाय, यह पाठ देश को बारडोली के वीरों से ख़ूब सीखने को मिलेगा।

बात यह है कि बम्बई-सरकार ने बारडोली ताल्लुके में कुछ महीने पहले बन्दोबस्त का काम नये सिरे से शुरू किया था, जिसके आधार पर बारडोली की कृषक जनता पर ३० साल के लिए नया लगान लगाया जाने वाला था। ताल्लुके के बन्दोबस्त अफ़सर ने पटेल-पटवारियों की मदद से और पुराने विवरण के आधार पर एक नया विवरण तैयार किया और उसमें यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई कि बारडोली ताल्लुके में आबादी की बढ़ती के साथ-साथ लोगों की साम्पत्तिक अवस्था भी सुधरी है। यह सिद्ध करते हुए उसने यह प्रस्ताव किया कि लगान की दर में ३०.५९ प्रति शतक वृद्धि की जाय। बन्दोबस्त कमिश्नर ने इसे कुछ घटा कर २९.३ सैकड़ा बढ़ाने की सिफ़ारिश कर गवर्नर के पास भेज दिया। प्रान्तीय कौंसिल ने कुछ और भी घटा कर लगान की दर को २१.९७ सैकड़ा तक घटाने का निश्चय किया। करोड़ों के कर्ज़ में डूबी हुई दीन-हीन प्रजा, जिसकी आर्थिक अवस्था में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है, इस अन्यायपूर्ण लगान-वृद्धि का समाचार सुनकर व्याकुल हो उठी। कौंसिल के कुछ राष्ट्रीय प्रतिनिधियों ने इस अनुचित करवृद्धि को दूर करने की भरसक कोशिश की, परन्तु कोई परिणाम न निकला। अन्त में निराश होकर उन्होंने जनता से कहा कि अब हम बिलकुल असमर्थ हैं, हमारे किये कुछ न हो सकेगा। अच्छा हो यदि आप श्री वल्लभभाई पटेल से मिलें और उनसे इस विषय में सलाह करके अपना कार्यक्रम ठहरावें।

तदनुसार ताल्लुके के कई ज़िम्मेदार व्यक्ति उनके पास अपनी पुकार लेकर पहुँचे, और उनसे नेतृत्व की प्रार्थना की। उन्होंने पहले तो इन लोगों के नैतिक साहस और नैतिक दृढ़ता की ख़ूब कड़ी जाँच की। सरकार की पाशविक शक्ति और जनता की असहायता की ओर उनका ध्यान खींचा। सरकार के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने का क्या परिणाम होगा, इस पर बार-बार विचार करने को कहा। और इस तरह जब उन्हें पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि जनता और उसके नेता अन्याय के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाने को हर तरह तैयार हैं तब उन्होंने ता० ४ फ़रवरी के दिन सब गाँवों के प्रतिनिधियों को बुलाया। ७९ गाँवों के प्रतिनिधि आये। जनता भी अच्छी संख्या में उपस्थित हुई। ज़िम्मेदार लोकनेता और धर्नी-मानी ज़मींदार तथा सेठ-साहूकार भी इसमें सम्मिलित हुए। लोगों ने सत्याग्रह के लिए हर तरह अपनी मुस्तैदी प्रकट की। इस महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करने के लिए ७ दिन की अवधि और बढ़ा दी गई। ता० ६ फ़रवरी के दिन श्री वल्लभभाई ने गवर्नर के पास इस आशय का पत्र भेजा कि बारडोली ताल्लुके की जनता पर २२ टके लगान बढ़ाना अन्याय है। इस अन्याय के प्रतिकार के लिए जनता अब तक प्रत्येक वैध साधनों का उपयोग करके निराश हो चुकी है। अब ताल्लुके की जनता इस बात पर तुल गई है कि लगान न दिया जाय। और सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह-संग्राम छेड़ा जाय। इस तरह का कोई संग्राम शुरू करने के पहले एक लोक प्रतिनिधि के नाते मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि सरकार लगान-वृद्धि के इस मामले में जनता से समझौता करने के लिए कोई निष्पक्ष पंच निश्चित करे और पंच जो निर्णय करें उसे दोनों पक्ष स्वीकार करें। सरकार ने इस पत्र के उत्तर में काफ़ी

लापर्वाही से काम किया। ता० १२ फ़रवरी तक कोई निश्चित उत्तर न मिलने पर बारडोली के काश्तकारों की परिषद् ने श्री वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में सत्याग्रह की घोषणा कर दी और इस लिखित आशय का प्रस्ताव पास किया—

"अभी लगान में जो वृद्धि हुई है, वह अनुचित, अन्याय और अत्याचारपूर्ण है। अतएव जब तक यह बढ़ती दूर न हो अथवा निष्पक्ष पंचायत द्वारा जांच न कराई जाय, तब तक सरकारी ख़ज़ाने में हम एक पाई भी नहीं देंगे। अगर सरकार हमारे इस कार्य से असन्तुष्ट होकर ज़ब्ती, ख़ालसा वग़ैरा उपायों द्वारा हमें कष्ट पहुँचाने और दबाने का प्रयत्न करेगी तो हम उसे शान्तिपूर्वक सहन करेंगे।

"अगर सरकार मामूली लगान वसूल करना स्वीकार करेगी तो हम उतना लगान तत्काल चुका देंगे।"

इस प्रस्ताव के बाद तो बारडोली की जनता ने श्री वल्लभ भाई पटेल के आदर्श नेतृत्व में जो कुछ कर दिखाया है तथा जितनी कुछ सफलता प्राप्त की है उसका ख़्याल आते ही हृदय हर्ष और अभिमान से फूल उठता है। यों तो यह संग्राम ता० १२ फ़रवरी के दिन से ही छिड़ गया था, परन्तु यह लेख लिखते समय तक बारडोली की वीर जनता की कौतुकभरी वीरतापूर्ण, साहसिक कृतियों के जो समाचार प्रतिदिन प्रकाशित हो रहे हैं उनसे इस सत्याग्रह-संग्राम की महत्ता और वर्तमान भारतीय राजनीति में उसका स्थान भलीभांति निश्चित किया जा सकता है।

सरकार ने अपनी ओर से इस सात्विक संग्राम को असफल करने की कई चेष्टायें की हैं। साम, दाम, दण्ड, भेद, हर तरह की नीति का अवलम्बन किया है। पहले-पहल कुर्की के ऑर्डर निकाले गये। फिर ज़ब्तियाँ शुरू हुईं। गाँव के गाँव ज़ब्त होने लगे। बिना कारण लोगों को सताना शुरू किया गया। अन्याय और मनमानी से काम लेने में कलेक्टर जैसे ज़िम्मेदार हाकिम तक नहीं चूके। इन सब उपायों से भी जब सफल नहीं हुए तो सरकारी हाकिमों ने अपने कुख्यात दमन अस्त्र का प्रयोग आरम्भ किया। गिरफ़्तारियों के वारण्ट जारी किये गये। सबसे पहला वार भाई श्री रविशंकर व्यास पर किया गया। आप पर बिना इजाज़त घर में प्रवेश करने और सरकारी अफ़सरों के काम में हस्तक्षेप करने का अभियोग लगाया गया। और न्याय के थोथे ढोंग के बाद आपको दोनों अभियोगों में मिल कर ५ महीने १० दिन की सख्त सज़ा ठोक दी गई। इसपर महात्माजी ने श्री रविशंकर भाई को बधाई देते हुए लिखा, "आप भाग्यवान् हैं। ※※※ आपको अपने साथियों से पहले जेल जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अगर ईश्वर स्थान-परिवर्तन की मंजूरी दे और आप उदारता-पूर्वक इसे मन्जूर करें तो मैं सधन्यवाद आपका स्थान ग्रहण करना चाहूँगा। आपकी तथा देश की जय हो।" इसके बाद तो आज तक कई सुप्रसिद्ध स्वयंसेवक नेतागण 'श्रीकृष्ण-जन्मभूमि'—कारागार—के महमान बन चुके हैं। बारडोली के इस सत्याग्रह की विशेषता है स्त्रियों, बूढ़ों और बच्चों का भी उसमें उत्साह पूर्वक सम्मिलित होना। सरकार की कार्रवाई से असन्तुष्ट होकर बारडोली की जनता ने जंगल का बसेरा लिया है। सारा ताल्लुका प्रतिदिन, दिनभर के लिए उजाड़ रहता है। सरकारी ज़ब्ती हाकिमों को ज़ब्ती के काम में भयंकर कष्ट उठाना पड़ता है। जनता सरकारी आदमियों की छांह तक नहीं दाबती!

बारडोली ने आज राष्ट्र की सन्मान रक्षा के लिए जो प्रयत्न शुरू किये हैं उन्हें सुन सुन कर हृदय प्रफुल्लित होता है। जनता का अनुपम संगठन, जातियों का अद्भुत पारस्परिक प्रेम, लोगों की सिद्धान्तप्रियता, और धर्म तथा न्याय की रक्षा के लिए स्त्री-पुरुषों का अनुपम तप, त्याग, बलिदान और उत्साह सब कुछ भव्य है, दिव्य है, उत्तेजक और उन्मादक है! जो बारडोली-सत्याग्रह अभी तक प्रान्तीय चर्चा का विषय था अब उसे सार्वदेशिक महत्त्व मिला है। देश की टकटकी उधर लगी हुई है। श्री पटेल की आर्थिक सहायता वाली अपील पर देश के धनी लोग जो कुछ दे सकें अवश्य दें। और इस राष्ट्र-यज्ञ में हाथ बँटा कर पुण्य लूटें।

महात्माजी की आशीष और श्री वल्लभ भाई के नेतृत्व में न केवल बारडोली किन्तु सारे राष्ट्र के भाग्य का निर्णायक यह अनूठा संग्राम खूब सफल हो! महात्माजी के शब्दों में, "बारडोली अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर अपने आपको, वल्लभभाई को, गुजरात को और हिन्दुस्थान को गौरवमय

बनावे," यही हमारी उस परमेश से बार-बार और हार्दिक प्रार्थना है।

"सिपाही"

सर्वदल सम्मेलन

बम्बई में जिस सम्मेलन की बहुत प्रतीक्षा थी, वह सर्वदल सम्मेलन समाप्त हो गया। इस अवसर पर सबसे अधिक हर्ष की बात यह हुई कि देश के सभी दलों—कांग्रेस, प्रतिसहयोगी दल, नरमदल, होमरूल दल, हिन्दू सभा, मुस्लिमलीग और अब्राह्मणदल के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। सम्मेलन के पहले श्रीयुत वेलवी के कथन से यह भय ज़रूर उत्पन्न हो गया था कि शायद नरमदल के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित न हों, परन्तु श्रीयुत चिन्तामणि और डा० सप्रू की दूरदर्शिता ने वह स्थिति न होने दी।

इस सम्मेलन के सामने दो कार्य थे—भावी भारत का शासन-विधान बनाना और हिंदू-मुस्लिम समस्या का हल करना। प्रारम्भ में श्रीमती बेसेंट ने भावी भारतीय शासन-व्यवस्था बनाने के लिए पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमिटी बनाने का प्रस्ताव पेश किया। श्रीयुत विजय राघवाचार्य ने यह संशोधन पेश किया कि कमिटी केवल सिद्धांतों का ही निर्णय करे। प्रस्तावक ने इसे स्वीकार कर लिया। कुछ और भी संशोधन पेश हुए, परन्तु अन्त में बहु-सम्मति से उपरिलिखित आशय का प्रस्ताव पास हो गया। कुछ सदस्यों ने हिन्दू-मुसलमान हितों की रक्षा के प्रश्न की तरफ़ ध्यान दिलाया। इतनी कार्यवाही के बाद सम्मेलन अगस्त तक के लिए स्थगित हो गया। सम्मेलन ने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को हल करने की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया। सिंध-विच्छेद कमिटी के प्रधान सर पुरुषोत्तमदास ने पत्र भेजा था कि कमिटी की कोई रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हो सकी, क्योंकि इसके सदस्यों में भारी मतभेद है। इसी तरह साम्प्रदायिक चुनाव पर भी कोई विचार नहीं किया गया।

वस्तुतः ये दोनों प्रश्न हैं भी बहुत विकट तथा कठिन। हमारी यह दृढ़ सम्मति है कि अभी इन दोनों प्रश्नों का निपटारा करने का समय नहीं आया। शासन-विधान बनाने की तो अभी कोई आवश्यकता ही नहीं। आज के बनाये शासन-विधान ही स्वतन्त्र भारत स्वीकृत करेगा, यह कहना कठिन है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारतवर्ष जिस राजनैतिक अवस्था में से गुज़र रहा होगा, उसीका भावी विधान पर अधिकतर प्रभाव पड़ेगा, यह निश्चित है। इसके बनाने में फिर गहरे मतभेद पैदा होने के कारण एकता न रहेगी। फिर साइमन कमीशन की रिपोर्ट के उत्तरस्वरूप अपनी भी एक मांग बना कर पेश करना व्यर्थ है। यह निश्चित है कि इंग्लैंड की सरकार वह स्वीकार करने पर कभी राज़ी न होगी। फिर क्यों इस समय अपनी शक्ति और समय को व्यर्थ खोया जाय, जब कि विदेशी वस्तु-बहिष्कार, बारडोली-सत्याग्रह, मज़दूरों की हड़ताल आदि महत्त्वपूर्ण आंदोलन हो रहे हैं? ये तीनों ही आन्दोलन पर्याप्त शक्ति और पर्याप्त उत्साह की अपेक्षा करते हैं। साइमन-कमीशन का वास्तविक उत्तर बारडोली-सत्याग्रह और विदेशी वस्तु-बहिष्कार में रक्खा है। एक अंग्रेज़ अर्थशास्त्री के कथनानुसार भारतीयों के विदेशी वस्तु बहिष्कार के कारण इंग्लैंड में धोतियों की तीस मिलें बंद हो गई हैं। यदि पूरे ज़ोर से इसी काम को ले लें तो साइमन-कमीशन का सच्चा उत्तर देने में हम समर्थ हो जावें। महात्मा गांधी, श्री सुभाषचन्द्र वसु और जवाहरलाल नेहरू इस तरफ़ बहुत ध्यान दे रहे हैं, जिससे आशा होती है कि यह आंदोलन सफल होगा। मुसलमानों के दुराग्रह के कारण हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल करना आज कांग्रेस की शक्ति के बाहर हो गया है। इसलिए हमारा विचार है कि इस प्रश्न को स्वयं समय के लिए छोड़कर उपर्युक्त आंदोलन पर ही ज़ोर दिया जाय।

कृष्ण

खादी क्या है और क्या नहीं है ?

१. चर्खा कातना बरबादी को काम और लक्ष्मी में बदल देना है।

२. अकाल या दुर्भिक्ष के दिनों में चर्खे को दिनभर का धन्धा बना कर खासा फ़ायदा उठाया जा सकता है।

३. रात-दिन विदेशों की ओर बहने वाले धन-प्रवाह को चर्खा रोक सकता है।

४. चर्खा मनुष्य के जीवन की एक सबसे ज़रूरी वस्तु वस्त्र पैदा करता है, इसलिए उसके लिए सबसे विशाल से विशाल बाज़ार तैयार रहता है।

५. चर्खा चलाना सीखना बहुत आसान है। सब स्त्री, पुरुष, बालक, बूढ़े और अपाहिज तक उसे सीख सकते हैं, और उससे लाभ उठा सकते हैं।

६. खादी देश के किसी सचमुच अधिक लाभदायक धन्धे की जगह नहीं लेना चाहती, उसका काम तो फ़ुरसत के घण्टों और बेकार महीनों का सदुपयोग करना है।

७. चर्खा देहाती भाइयों के इस ख़याल को मिटा देगा कि हम लाचार हैं, क्या करें ? वह उनके आलस्य को भी दूर कर देगा और देहात में उत्साह और उद्योगशीलता को जिला देगा।

क्या खादी लाभदायक है ?

१०-१० मील की दूरी से कातने वाले हमारी डिपो तक दौड़े आते हैं। क्यों ?

इसीलिए कि चर्खे से उन्हें जो विशेष आमदनी होती है वह उनके लिए बहुमूल्य है।

एक किसान-कुटुम्ब, जिसके घर में एक चर्खा है, अपनी आमदनी में १२ से लगा कर २८ सैकड़े तक की वृद्धि कर लेता है। आपको चर्खे से होने वाली आमदनी के दो-चार पैसे भले ही न कुछ मालूम होते हों, परन्तु उन ग़रीब किसानों की थोड़ी सी आय में कताई के दाम बड़ा सहारा पहुँचाते हैं।

कुछ अनुभूत अंक देखिए—

गाँव का नाम	चर्खों की संख्या	चर्खे से वार्षिक आमदनी	कातने वालों की खादी और अन्य मदों से वार्षिक आय	औसत अधिक आय
		रु०	रु०	
उत्पलायम	२५	४६०	३३६०	१२प्र०श०
सेम्बमपलायम	२९	४५०	३०६५	१५ ,,
चित्तलन्दूर	२५	३०५	२१५०	१७½ ,,
कोमारपलायम	६०	१३९८	९८०९	१५ ,,
पपमपलायम	६८	१२०५	५२२०	२३ ,,
वेलमपलायम	२५	४०१	१४९०	२८¾ ,,

चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

चर्खा राजा और तकली रानी

हमारे दिन अभी फिरे नहीं थे, आलस्य ने देश में अपना घर नहीं बना पाया था, ऐसे समय चर्खा हमारे घरों की रंगभूमि पर सर्वशक्तिमान् सूत्रधार था और तकली लोगों का मनोरंजन करने के लिए थई-थई नाचने वाली नटी। इस भव्य युग का दर्शन करानेवाले कई चित्र प्राचीन साहित्य में अंकित हैं। आइए ऐसे ही तीन चित्रों का आज अवलोकन करें।

'पिंड निर्युक्ति' नामक एक जैनशास्त्र है, उसमें साधुओं को गृहस्थों के यहां से किन किन दशाओं में पिंड (आहार) ग्रहण करना उचित है और किन-किन दशाओं में अनुचित, इस विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्म नियम मिलते हैं। इसी सिल-सिले में एक ऐसे प्रसंग की कल्पना की गई है कि कोई

सी सूत कात रही है और उसका लड़का कुछ खाने को मांग रहा है।

काचित्कर्त्तनं कुर्वती भोजनं याचमानं बालंप्रति वदति
स्त्री ने बालक से कहा,
कंतामि ताव पेलुं तो ते देहामि पुत्त मा रोव ॥३५॥
कृणम्मि तावदिदं पेलुं सूत्र-पूणिकां ततः
पश्चात्ते तुभ्यं दास्यामीति मा रोदीः।

'देख इस हाथ की पूनी को कात लूँ तब तुझे खाने को दूँगी, रोवे मत।'

जो पाठक कातना नहीं जानते, वे कदाचित् यह प्रश्न करें कि अरे यह माता कैसी। क्या बच्चे को खाना दे कर फिर पूनी पूरी नहीं हो सकती? परन्तु जिस तरह कोई मनोरंजक कहानी पढ़ते समय उसे समाप्त किये बिना बीच में छोड़ने को जी नहीं चाहता, वही हाल पूनी का भी होता है। जो कातना जानता है उसे अधिक समझाने की जरूरत नहीं।

अथवा संभवतः यह कोई विधवा स्त्री हो जो चर्खा कात कर अपने बालक का पालन-पोषण करती हो।

❀ ❀ ❀

दूसरे दो चित्र बौद्धशास्त्र के हैं। धम्मपदट्ठ कथामें (१६-१) एक स्थान पर कहा गया है कि श्रावस्ती के एक कुटुम्ब में माता-पिता का एक एकलौता लड़का था। इसलिए स्वभावतः इस लड़के पर माता-पिता का असीम प्रेम था। एक दिन माता पिता ने (कुछ) भिक्षुओं को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। उनसे धार्मिक कथायें सुन कर नवयुवक को प्रव्रज्या (सन्यास) लेने की इच्छा हुई। उसने माता-पिता से आज्ञा मांगी परन्तु उनका कोमल हृदय इस बात को कैसे स्वीकार करता? नवयुवक ने माँ-बाप की आँखें बचा कर भाग जाने की ठानी। अतः जब पिता कहीं बाहर जाते तो 'माँ' को लड़के का ध्यान रखने को कह जाते और जब माता बाहर जाती तो पिता से पुत्र की देख-भाल रखने को कह जाती। कुछ दिन बीते, एक दिन पिता बाहर जाने लगे तब पुत्र-रक्षा के लिए उत्सुक माता घर के दरवाज़े की चौखट की एक ओर पीठ लगा कर और दूसरी ओर तक पैर फैला कर बैठ गई। और बैठे-बैठे चर्खा कातने लगी।

अथस्स एक दिवसं पितरि बहिगते माता पुत्तं रक्खिस्सामीति एकं द्वारबाहं निस्साय एकं पादेहि उप्पीलेत्वा छमाय निसिण्णा सुत्तं कन्तति।

फिर भी भोली माता को भुलावे में डाल कर निष्ठुर पुत्र तो आखिर चुपके से भाग ही गया। अस्तु। कथा को अधिक लम्बाना उचित नहीं। सूत कातते-कातते अपने प्राणोपम पुत्र की रक्षा करती हुई जननी के चरणों में बार-बार प्रणाम करके हमें आगे बढ़ जाना चाहिए।

❀ ❀ ❀

धम्मपदट्ठकथा (१८-३) में एक और कहानी है। एक भिक्षुक था। उसे किसी श्रावक ने आठ हाथ लम्बी खूब मोटी खादी का थान भिक्षा में दिया। जब भिक्षु अपने गांव में आया तो उसने अपनी बड़ी बहन को संभाल कर रखने के लिए यह थान दे दिया। खादी के उस थान को देखकर बहन ने सोचा कि इतना मोटा कपड़ा तो मेरे भाई के शरीर में चुभेगा। भला इतना मोटा कपड़ा उसे कैसे अच्छा लगेगा?" और तत्काल ही एक तेज़ छुरी से बहिन ने उस थान के टुकड़े टुकड़े कर डाले। ऊखल में कूटा। पींजन से पींजा, साफ किया, और फिर उसका महीन सूत कातकर उसे बुना।

सा न मे एस साटको भातु अनुच्छविको ति तिखिणाय वासिया छिन्दित्वा हीरहीरं कत्वा उदुक्खले कोट्टेत्वा, पिंजेत्वा, पोथेत्वा, वट्टेत्वा सुखुम सुत्तं कन्तित्वा साटकं वायापेसि।

कुछ दिन बाद भिक्षु ने वस्त्र को सिलाने का प्रबंध किया और बहन से वह थान वापिस मांगा, तिस पर बहन ने ९ हाथ लम्बा महीन कपड़े का थान निकाल कर अपने छोटे भाई के हाथ पर रख दिया। भिक्षु ने उसे हाथ में लिया, फैलाया और कहा—

"मम साटको थूलो अट्ठहत्थो। अयं सुखुमो नवहत्थो। नायं मम साटको। तुम्हाकं एस। न मे इमिना अत्थो। तमेव मे देथाति।"

अर्थात् मेरा कपड़ा मोटा और आठ हाथ लंबा था। यह तो महीन और नौ हाथ है। यह मेरा नहीं, तुम्हारा होगा। मुझे यह नहीं चाहिए। मुझे तो मेरा कपड़ा ही लौटा दो।"

बहन ने बहुत कुछ कहा कि यह कपड़ा तुम्हारा ही है परन्तु भाई ने उसकी एक भी नहीं सुनी। फिर तो बहन को सारा हाल उसे सुनाना पड़ा। जब भिक्षु ने सारा हाल सुना तब जा कर कहीं यह कपड़ा लिया।

इस तरह मोटे कपड़े का महीन कपड़ा बन सकता है या नहीं यह तो इस शास्त्र के विशेषज्ञ ही जानें। आज तो हमें विशेषज्ञ से इस बात की जाँच पड़ताल करने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि बहन के प्रेम-भण्डार से भी यदि 'अशक्य' या 'असम्भव' शब्द निकलने लगें तो सारी पृथ्वी उसी क्षण रसातल को चली जाय।

वालजीभाई देसाई

खादी माहात्म्य

(छप्पय)

शुद्ध स्वदेशी धर्म नीति की सुन्दर सीढ़ी।
सत्य-एकता-प्रेम कोटि की है पटु पीढ़ी॥
जातीयता-स्वराज्य-मार्ग दिखलाने वाली।
भारतीय सौभाग्य भाल की सुंदर लाली॥
चक्र सुदर्शन वंश की,
उज्ज्वलता विस्तारिणी।
'खादी' है संसार में,
दीन-दरिद्रता हारिणी॥

'कवि पुष्कर'

नीर-क्षीर-विवेक

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]

पुराणमत पर्यालोचन

लेखक—श्रीयुत रामदेवजी, आचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी और पं० जयदेवजी विद्यालंकार। प्रकाशक—मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी, जि०बिजनौर। आकार रायल अठपेजी, पृष्ठ संख्या ४३६; मूल्य ३) रु०।

पुराणों के विवेचन पर हिन्दी-साहित्य में इससे उत्कृष्ट और बृहत् ग्रन्थ हमारे देखने में नहीं आया। इसके लेखकों का सम्मति है कि पुराण ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं, धार्मिक दृष्टि से वे हिन्दू-समाज के आदर्श ग्रन्थ नहीं हैं। महाभारत-काल में भारतवर्ष कितना पतित हो गया था, यह महाभारत के वर्णन से पता लगता है। इसके प्रथम अध्याय में प्राचीन काल और महाभारत-काल की सामाजिक तुलना करते हुए पिछले काल के सामाजिक पतन को अच्छी तरह दिखाया गया है। परस्पर द्वेष, राज्यलिप्सा, दुराचार आदि बातें फैल रही थीं। स्त्री-समाज की स्थिति बहुत बुरी हो चुकी थी, द्रौपदी जुए में हार दी गई, सुभद्रा और द्रौपदी जैसी कुलीन स्त्रियां भी शराब पीती थीं, उनके साथ व्यवहार बहुत बुरा होता था, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण से महापुरुष ने कर्ण को पाण्डवों की ओर मिलने के लिए प्रलोभन देते हुए कहा कि द्रौपदी भी तेरे हिस्से में आजायगी। कैसा नीच और घृणित है यह भाव! इसी तरह की अन्य बुरी बातों का दिग्दर्शन करा कर लेखकों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ऐसे बुरे महाभारत काल के बाद ही पुराण बने हैं।

इसलिए यह स्वाभाविक था कि महाभारत-काल की अनाचार-मय बातों का प्रवेश पुराणों में पूर्णतया हो। इसी तरह बहुत से धार्मिक सिद्धांत भी, जो वस्तुतः बहुत विकृत रूप में हो चुके थे, महाभारत से ही पुराणों में लिये गये हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थपूजा, यज्ञों में पशुबलि, जन्मानुसार वर्णव्यवस्था, मांस-भक्षण आदि सिद्धांत लेखकों की सम्मति में महाभारत से ही लिये गये हैं। वेदों या प्राचीन धर्मग्रन्थों में इनका उल्लेख नहीं मिलता।

इसके अनन्तर पाँचवें और छठे अध्याय में वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों से बहुत से प्रमाण देकर यह दिखाने का यत्न किया गया है कि प्राचीन शास्त्र एकदेवतावाद (Monotheism) को ही मानते थे। उनके अनुसार एक ईश्वर ही के, भिन्न-भिन्न शक्तियों के कारण, बहुत से नाम हैं। सातवें अध्याय में यूरोप के वेद-विशारद विद्वानों की एतद्विषयक सम्मतियों की आलोचना की है और आठवें अध्याय में पुराणों के बहुदेवतावाद (Polytheism) पर लिखते हुए उन देवताओं का उत्पत्ति-क्रम लिखा है। विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति की पौराणिक कथायें, उनके मूल रहस्य और उनके प्राचीन स्वरूप पर वेद, ब्राह्मण और उपनिषदादि के प्रमाण देते हुए बहुत उत्तम रीति से विचार किया गया है। इसमें उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वस्तुतः ये तीनों देव पृथक्-पृथक् न होकर एक परमात्मा की ही तीन शक्तियाँ हैं।

करीब सवा दो सौ पृष्ठ की इस लम्बी भूमिका के बाद पुराण शब्द का अर्थ क्या है, पुराण क्या है, इत्यादि विषयों पर विवेचना करते हुए वर्तमान पुराणों की उत्पत्ति पर गंभीर विचार किया है। तदनन्तर क्रमशः एक-एक पुराण को लेकर योग्यता-पूर्वक उसका विषय-परिचय कराते हुए स्थल-स्थल पर पौराणिक दन्त-कथाओं की खण्डनात्मक संक्षिप्त आलोचना की गई है। स्थल-स्थल पर प्रमाण भी दिये गये हैं। इस विषय में विदेशीय साहित्य से भी पूरी सहायता ली गई है। सब पुराणों की इस प्रकार की समालोचना क़रीब डेढ़ सौ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इस भाग से पाठक को पुराणों के सम्पूर्ण विषय का साधारण ज्ञान हो जाता है। इसलिए खण्डनात्मक दृष्टि से न सही, पुराणों का विषय जानने के लिए भी यह उपयोगी भाग है।

चौदह से उन्नीस तक के अध्यायों में मूर्तिपूजा, अवतार-वाद, मृतक-श्राद्ध, जन्मानुसार वर्णव्यवस्था, तीर्थपूजा आदि पौराणिक सिद्धांतों की खण्डनात्मक आलोचना की गई है। अवतारवाद की डार्विन के विकासवाद के दृष्टिकोण से भी व्याख्या की गई है, जो मनोरंजक तथा मननीय है, परन्तु लेखकों ने इसे स्वीकार नहीं किया। बीसवें अध्याय में यह बतलाया गया है कि यद्यपि पुराणों में वैदिक सिद्धांतों की बहुत अवहेलना की गई है, तथापि पुराणों के कर्त्ता उनकी बिलकुल उपेक्षा न कर सके। स्थान-स्थान पर पुराणों में एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा की निन्दा, स्त्री-शिक्षा, नियोग-समर्थन, पशु-हिंसा-विरोध आदि बातों के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। इक्कीसवें अध्याय में पुराणों में वर्णित देवताओं की उत्पत्ति की अश्लील घृणित तथा भ्रष्ट कथायें देकर पुराणों की अप्रामाणिकता तथा भ्रष्टता का परिचय दिया गया है। देवमंडल में उपस्थित स्त्रियों को देखकर कृष्ण का वीर्यपात और उससे विष्णु की उत्पत्ति, कृष्ण की रासलीला, मुनियों का गोपी बन कर कृष्ण से भोग, ब्रह्मा का कन्यागमन, शंकर-पार्वती की अश्लील भोग-कथा, चन्द्र का बृहस्पति की स्त्री से व्यभिचार, अहल्या से देवराज इन्द्र का व्यभिचार, पाराशर आदि ऋषियों का पापमय जीवन इत्यादि कथाओं को पढ़ते ही पुराणों से घृणा होने लगती है। बाईसवें अध्याय में पुराणों की कुछ असम्भव गप्पों का निर्देश कर उनकी अप्रामाणिकता का परिचय दिया गया है। इतने विवेचन के बाद प्रमाणों का लेखक कौन था? इस विषय पर विचार किया गया है। ग्रन्थकारों की सम्मति है कि ऐसे परस्पर-विरुद्ध, वेदविरोधी, असम्बद्ध और अश्लील पुराणों के कर्त्ता महर्षि वेदव्यास नहीं हो सकते। उन्होंने वेदों का व्यास किया, इतिहास का व्यास किया, साथ ही संभवतः उन्होंने पुराणों का भी व्यास किया हो, परन्तु ये अठारह पुराण उनके बनाये हुए नहीं। लेखकों की सम्मति में प्राचीन पुराण वे ही भाग हैं, जिनमें सृष्टि की प्रलय, उत्पत्ति आदि का विषद वर्णन है। सायणाचार्य का भी यही मत है। ये अठारह पुराण तो पीछे भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने लिखे। ऐतिहासिक युक्तियों से भी यह सिद्ध किया गया है कि

पुराणों के कर्त्ता वेदव्यास नहीं । उनमें बहुत सी ऐसी बातें हैं, जो महाभारत-काल से पीछे हुई हैं । यह विषय बहुत ही मनोरंजक है । वोपदेव आदि पिछले विद्वानों ने ही पुराण को बनाया है । अन्तिम चौबीसवें अध्याय में पुराणों में सच्चे वैज्ञानिक सिद्धांतों की विद्यमानता दिखाते हुए लिखा है कि पुराणों में अश्लील और असंभव बातें होते हुए भी सब कुछ त्याज्य नहीं है। उनमें स्थान स्थान पर नाना विद्याओं का विकास है । इतिहास कहते-कहते उपदेश, परम्परा, ज्योतिष, वैद्यक, वृक्षायुर्वेद, सर्पायुर्वेद, अश्वविद्या, साहित्य, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कर्मकाण्ड, देवता स्तुति मन्त्रशास्त्र आदि सभी का ऐसा पचमेल बनाया है कि पुराणों में यह नहीं है, ऐसा कहना कठिन है। वस्तुतः है भी यही, पुराणों को विश्वकोश (Encyclopaedia) कहना असंगत नहीं है।

इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक खोजों तथा मतों का कोई आश्रय नहीं लिया गया। वस्तुतः यह लेखकों का उद्देश्य भी नहीं। उन्होंने केवल धार्मिक दृष्टि से ही इस ग्रन्थ को लिखा है और इसी दृष्टि से इस ग्रन्थ को पढ़ना चाहिए । पौराणिक मतों की आलोचना करते-करते कहीं-कहीं इसकी भाषा तीव्र भी हो गई है, जिससे ऋषियों तथा महापुरुषों को बदनाम करने की चेष्टा देख कर उनके मानसिक उद्वेग का पता लगता है । ग्रन्थ उपयोगी तथा धर्मप्रेमी शिक्षितों के लिए पठनीय है । यदि काग़ज़ और छपाई की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाता तो अधिक अच्छा होता ।

कृष्ण

हिन्दी रेलवे टाइम टेबुल

अँग्रेज़ी में भारत की विभिन्न रेलों का टाइम टेबुल निकलता है । उसी ढँग पर हिन्दी में भी यह साहस किया गया है। प्रयत्न प्रशंसनीय है और हम देखते हैं, इसमें बहुत कुछ सफलता भी मिली है । अँग्रेज़ी न जानने वालों के लिए यह बड़ी उपयोगी है । रेलों के समय के अलावा रेलवे सम्बन्धी कई ज्ञातव्य बातें भी इसमें दी गई हैं, जिनसे यात्री अच्छा लाभ उठा सकते हैं। प्रस्तुत टाइम टेबुल अप्रैल १९२८ का है । रेलों के नक्शे और विज्ञापनों के ३२ पृष्ठों के अलावा इसमें २०८ पृष्ठ रेलों के समय के हैं। ।॥) इसका मूल्य है और प्रकाशक है—पुस्तक-भवन, काशी । प्रकाशक को इस प्रयत्न के लिए बधाई । आशा है, हिन्दी-भाषी इसको अपना कर इसके प्रकाशक का उत्साह बढ़ावेंगे ।

शिशु

यह छोटे साइज़ का मासिकपत्र, पिछले १३ वर्ष से, प्रयाग से निकल रहा है । पं० सुदर्शनाचार्य बी० ए० इसके सम्पादक हैं और २) रु० इसका वार्षिक मूल्य है । हर महीने तरह-तरह के मनोरंजक चित्रों और गद्य-पद्य, चुटकलों, कहानियों, पहेलियों आदि से सजकर यह आता है और थोड़ा पढ़े-लिखे बालक इसे देख-पढ़ कर बड़े खुश होते हैं । मनोरंजन के साथ ही शिक्षाप्रद बातें भी इससे बालकों तक पहुँचती हैं । जनवरी में, इस बार, इसने अपना विशेषांक भी निकाला था । और वह बालकों के लिए अवश्य ही एक अच्छी चीज़ थी । बालकों को इसे अपनाना चाहिए ।

बाल-सखा

यह भी बालकों का ही पत्र है । श्रीयुत श्रीनाथसिंह इसके सम्पादक हैं और प्रयाग के इण्डियन प्रेस से यह निकलता है । क्वार्टर-फुलस्केप साइज़ है और वार्षिक मूल्य २॥) रु० है । यह भी बालकों के लिए एक अच्छा सचित्र मासिक पत्र है । पिछले दिनों इसका भी एक विशेषांक निकला था, वह काफ़ी मोटा और उपयोगी एवं मनोरंजक सामग्री से भरपूर था । यह 'शिशु' से कुछ गम्भीर है।

खिलौना

यह पत्र बिलकुल छोटे बालकों के काम का है। सरकारी शिक्षा-विभागों से स्वीकृत हो जाने के कारण थोड़े से दिनों में इसने अपनी नींव अच्छी जमाली है । छपाई, काग़ज़, कार्टून आदि सब अच्छे हैं । चुटकले, गोरख-धन्धे आदि बच्चों के काम के होते हैं। पं० रामजीलाल शर्मा इसके सम्पादक हैं और २) रु० इसका वार्षिक मूल्य है । मिलने का पता है— हिन्दी-प्रेस, प्रयाग ।

मुकुन्द

साहित्य-सत्कार

१. वीर मराठे—लेखक-पं० भीमसेन विद्यालंकार। प्राप्ति-स्थान,गुरुकुल-पुस्तक-भण्डार, गुरुकुल कांगड़ी, ज़िला बिजनौर। पृष्ठ-संख्या २१२, मूल्य १) रु०

२. खादी का आर्थिक महत्व—लेखक—श्रीयुत राजेन्द्रप्रसाद। प्रकाशक—श्री आसूदामल टेकचन्द गिद्वाणी, विद्यालय-प्रेस, वृन्दावन। पृष्ठ-संख्या ३०, मूल्य =)

३. उत्सर्ग—रचयिता—व्यथित-हृदय 'सुमन'। प्रकाशक—श्री राजनारायणसिंह बघेल, छावनी गोपीगंज (बनारस स्टेट)। पृष्ठ-संख्या ३०, मूल्य।)

४. दान व्यवस्था—लेखक—पं० वृद्धिचन्द्र गुप्त। प्रकाशक—श्री चन्दूलाल वर्मा 'चन्द्र' भिवानी। पृष्ठ-संख्या ३२, मूल्य लिखा नहीं।

५. धात्री-कर्म-प्रकाश—लेखक—पंडित शिवचन्द्र वैद्यराज कविरत्न। प्रकाशक—पं० इन्द्रदत्त शर्मा, आयुर्वेद प्रचारक कम्पनी, हरिद्वार। पृष्ठ-संख्या १६०, मू० ॥)

जैनमित्र-मण्डल, दिल्ली का इतिहास और कार्य विवरण (१९१५ से १९२७ तक)—प्रेषक मंत्री।

७. मेरी आशा (उपन्यास)—लेखक—श्री शिवरामदास गुप्त। प्रकाशक—उपन्यास-बहार आफ़िस, काशी। पृष्ठ-संख्या १४०, मूल्य १) रु०

७. The Bagh Caves—लेखक—सर जॉन मारशल, श्री एम० बी० गर्दे, डॉ० जे० पी० एच० वोगल, श्री ई० बी० हावेल, डॉ० जेम्स एच० कज़िन्स। प्रकाशक—इण्डिया सोसायटी, ३ विक्टोरिया स्ट्रीट, लण्डन, एस० डब्लू० १। प्राप्ति-स्थान—आर्कियोलॉजिकल डिपार्टमेण्ट, ग्वालियर। मू० ४०) रु०

विविध

"मृगपक्षिशास्त्रम्"

भारतवर्ष की अत्यन्त पुरातन सभ्यता को क्या प्राच्य क्या पश्चात्य सभी देशनिवासी एक मत से स्वीकार करते हैं। प्राचीन भारत का वाङ्मय कितना व्यापक था, यह हमें प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की खोज करने से जान पड़ता है। भारतवासियों के प्राचीन वाङ्मय में काव्य, नाटक, व्याकरण, कोष, दर्शन, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, स्थापत्य, संगीत, प्रतिमाशास्त्र, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि मुख्य विषयों पर ही नहीं, किन्तु धनुर्वेद, कामशास्त्र, हस्तिशास्त्र आदि कई अन्य छोटे बड़े विषयों पर अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ हमें आज भी उपलब्ध होते हैं। पशु-विज्ञान पर प्राचीन भारतीयों ने बहुत कुछ लिखा था। आयुर्वेद में पशुचिकित्सा पर बहुत से ग्रन्थ लिखे गये थे, जिनका पता हमें आज भी चलता है। 'गोवैद्यशास्त्र', पालकाप्य-कृत 'गजचिकित्सा', जयदत्त-कृत 'अश्व-चिकित्सा', नकुल-रचित 'शालिहोत्रशास्त्र' तथा गण-प्रणीत 'अश्वायुर्वेद' के नाम उदाहरण रूप से पेश किये जाते हैं। इसी तरह १९१० ई० में कलकत्ते की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी ने रुद्रदेव-प्रणित "श्यैनिकशास्त्र" नामक श्येन द्वारा होने वाले आखेट संबंधी ग्रन्थ को प्रकाशित किया था।

कुछ दिन हुए हमें मद्रास प्रान्त के पुरातत्वज्ञ पण्डित वी. विजयराघवाचार्यजी की तरफ़ से एक सूचना मिली, जिसमें उन्होंने लिखा है कि उन्हें तेरहवीं शताब्दि के जैन विद्वान् हंसदेव-रचित "मृगपक्षिशास्त्रम्" नामक एक अलभ्य संस्कृत ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, जिसमें पशुपक्षियों आदि का

बहुत ही विशद तथा वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। यह ग्रन्थ प्राणिशास्त्रज्ञों के लिए एक बिल्कुल नई एवं विशेष उपयोगी चीज़ है। 'त्यागभूमि' के पाठकों को निम्न पंक्तियों में हम इस ग्रन्थ की कुछ बातों का अत्यन्त संक्षिप्त परिचय कराते हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्यायों में सिंहों का विस्तृत वर्णन है, फिर व्याघ्र, गैंडे, हाथी, घोड़े आदि अन्य जन्तुओं का। ग्रंथकार की वर्णन-शैली बतलाने के लिये हम यहाँ सिंह सम्बन्धी वर्णन को संक्षिप्त रूप से लिखते हैं।

सिंह का सामान्य रूप से वर्णन करते हुए लिखा है कि सिंह छः प्रकार के होते हैं—सिंह, मृगेन्द्र, पंचास्य, हर्यक्ष, केसरी और हरि। इनमें से कुछ घने जंगलों में और कुछ पहाड़ों में रहते हैं।* उनमें रंग, गुण और क्रिया का भेद होता है। उनमें प्रकृतिदत्त अपार बल होता है। छठे अथवा सातवें वर्ष में वर्षाकाल में उनका कामोद्दीपन होता है। वे प्रायः झाड़ियों अथवा गुफाओं में संभोग करते हैं। गर्भ-धारण के अनन्तर सिंहनी का आहार कम हो जाता है और प्रति दिन उसकी थकान एवं तन्द्रा में वृद्धि होने लगती है। धूप और प्रचंड पवन में वह बाहर नहीं निकल सकती। नौ से बारह मास तक उसे गर्भ धारण करना होता है। प्रायः ग्रीष्मारंभ अथवा वसन्त के अन्त में उसका प्रसव-काल होता है। एक बार प्रसूति होने में तीन से पाँच तक बच्चे उत्पन्न होते हैं। यदि शीतकाल में यह प्रसूता हो तो बच्चे कमज़ोर होते हैं। तीन अथवा चार महीने के हो जाने पर वे गर्जने लग जाते, हरिनों को पकड़ लेते, हाथियों पर चढ़ जाते और अन्य पशुओं को डराते रहते हैं। हरिन आदि पशुओं का कोमल मांस खाने की उन्हें बड़ी रुचि रहती है। दूसरे अथवा तीसरे वर्ष में उनका यौवन प्रस्फुटित होता है। भूख के समय उनका क्रोध बढ़ जाता है और निर्भयता को तो वे माता के दूध के साथ पीते हैं। अब ६ प्रकार के सिंहों का भी थोड़ा-सा हाल सुन लीजिये—

सिंह—सिंह के लंबी पूँछ, कुछ छोटा क़द और सुनहरी रंग होता है! उसका सारा बदन कोमल बालों से ढका रहता है। वे पीछे की तरफ़ कुछ सफेद और गर्दन पर घने रहते हैं। सिंह बदन के बड़े मज़बूत और भागने में तीर से तेज़ होते हैं। भूख लगने पर वे अत्यन्त भयंकर और यौवन-काल में विशेष कामुक होते हैं। वे प्रायः गुफ़ाओं में रहते और प्रसन्न होने पर पूँछ हिलाया करते हैं।

मृगेन्द्र—ये विशाल काय होते और इनके गर्दन पर लंबे बाल रहते हैं। हरिन आदि पशुओं को पकड़ते, परन्तु हाथियों के लिए विशेष लालायित रहते हैं। रेतीले और झाड़ी वाले स्थानों में घूमने का इन्हें शौक होता है। वर्षा-काल में कामोत्पादन होता है। शरीर से वे सदा स्वस्थ रहते हैं किन्तु इन्हें निद्रा कम आती है। इनमें क्रोध की मात्रा कम रहती है, परन्तु शान्त प्रकृति होते हुए भी इन्हें पकड़ना बहुत कठिन है। इनके शरीर पर भिन्न-भिन्न रंग के धब्बे देख पड़ते हैं।

पंचास्य—इनका वर्ण सफेद-सा और पूँछ छोटी होती है। लंबाई में दो से तीन हाथ और बदन पर घने बाल होते, परन्तु लंबे जबड़ों के कारण ये बड़े भयानक जान पड़ते हैं। उनकी चाल में हमेशा थोड़ी बहुत उछल-कूद होती रहती है। देखते समय ये अपने पलक घुमाते रहते हैं। उनके छोटे मुँह पर लंबी-लंबी मूँछे होती हैं।

हर्यक्ष—ये बड़े मज़बूत, अत्यन्त भयंकर एवं अतीव निर्दय होते हैं। इनके शरीर पर छोटी-छोटी धारियाँ रहती हैं। रंग सफेद और भूरे का मिश्रण रहता और पूँछ भूरे रंग की होती है। प्रचंड एवं भयोत्पादक गर्जन करते हुए ये वन में विचरण करते हैं। नींद इन्हें थोड़ी आती और हर समय बदन पसीजता रहता है। बचपन में ये लार बहुत

*पाठकों की जानकारी के लिए हम यहां कुछ श्लोक मूल ग्रंथ से उद्धृत कर देते हैं—

सिंहास्तु षड्विधा लोके गिरि काननवासिनः।
गुणवर्ण क्रिया भेदाज्जायन्ते दर्पविक्रमाः ॥ २५ ॥
महारण्य गुहा कुंजस्थली वासमुपेयुषाम्।
गर्जत्पर्जन्यकाले तु तेषां कामो मदोत्कटः ॥ २६ ॥
सिंही विलोक्य स्पृन्दा वा तेषां कामगतेः कला।
षड्वर्षे सप्तमे वर्षे सा पूर्णेति निगद्यते ॥ २७ ॥
शान्ताश्चलित बालास्ते सुमुखाः सञ्चारिणः।
सिंहीसमीपमाजस्तां लालयेयुर्मनोहरम् ॥ २८ ॥

प्रथम सर्गः, सिंहगुणादिवर्णनम्

टपकाते' और हमेशा पूँछ उठाये रखते हैं। छाया में पड़े रहना इन्हें बहुत पसन्द है।

केसरी—ये सदैव गुहावासी और रक्तवर्ण होते हैं। इनकी जीभ साधारणतया, और यौवन में विशेष, लाल होती है और इन्हें भोजन की इच्छा कम रहती है। हाथियों के मारने का इनको शौक़ होता है, और हाथी की चिंघाड़ सुनकर तो ये विकराल रूप धारण कर लेते हैं। इनकी चाल बहुत तेज़ होती और जीभ पर सदा झाग आते रहते हैं।

हरि—ये क़द के बहुत छोटे और रक्तश्वेत वर्ण के होते हैं। इनके थोड़ा क्रोध और छोटे बाल होते हैं। ये दिन में घूमने से डरते और चंद्रिका को पसंद करते हैं। यौवनकाल में ये सिंहनी से कदापि अलग नहीं रहते। इनको भूख कम, किन्तु प्यास अधिक लगती है। अधिकांश समय ये वृक्षों की छाया में सोते रहते हैं। इनका गर्जन गंभीर और ज़ोरदार होता है। ये सदा दिशाओं तथा इंद्रधनुष की ओर देखते रहते हैं। शरीर से अति बलिष्ठ होने पर भी इनकी प्रकृति शान्त एवं गंभीर होती है।

संभव है, इनके सिवा संसार में नाना प्रकार के और भी कई सिंह हों जिनके वर्ण, गुण और क्रियाओं में भिन्नता पाई जाय।

सिंहनियाँ प्रायः सिंहों से क़द में छोटी होती हैं, और उनके चेहरे पर सिंह की भांति मूँछे नहीं देख पड़तीं। इसी प्रकार उनकी गर्दन पर बाल नहीं होते, परन्तु सिंहों की अपेक्षा वे कुछ अधिक सुन्दर होती हैं। उनके पंजे भी छोटे होते और आवाज़ अधिक कर्णप्रिय प्रतीत होती है। अपने जीवन में वे एक अथवा दो बार बच्चे देती हैं।

दस वर्ष की अवस्था के अनन्तर सिंह-सिंहनी पशुओं को विशेष हानि नहीं पहुँचाते। फिर वे वृद्ध होने लगते हैं, जिनके साथ-साथ उनकी तेज़ी, भूख और कामोत्पत्ति में भी क्षीणता आ जाती है। फिर वे गुफाओं अथवा वृक्षों की सघन छाया में विश्राम करते रहते हैं। उनकी आयु २० वर्ष तक होती है।

फन्दे द्वारा वे आसानी से पकड़े जा सकते हैं। उनके बच्चों को भी बाल्यकाल (एक से तीन वर्ष) में पकड़ना आसान होता है। राजा लोग उन्हें पालकर बाग़-बगीचों में रखते हैं, और मांस खिलाकर उनका पोषण किया जाता है। कृत्रिम हाथी और हरिण उनके सामने खड़े कर देने से वे सहज ही पकड़ में आ जाते हैं। अपनी नस्ल और क्रियाओं के कारण वे 'राजद्य उत्तम' कहलाते हैं।

इसके अनन्तर ग्रन्थकर्त्ता हंसदेव ने व्याघ्र, वृक, भालू, गैंडा, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गधा, गाय, बैल, भैंस, बकरी, हरिण, गीदड़, बंदर, बिल्ली, चूहा, कुत्ता, ख़रगोश आदि पशुओं और हंस, बाज़, गिद्ध, सारस, कौआ, उल्लू, तोता, कोयल, कबूतर, मुर्ग़ा, चिड़िया, बगुला आदि नाना प्रकार के पक्षियों का विस्तृत विवरण दिया है। उसमें उनकी क़िस्में, वर्ण, युवाकाल, योग्य अवस्था, उनकी प्रकृति, नस्ल, आयु तथा उनके भोजन सम्बन्धी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। हाथी का मुख्य भोजन गन्ना बतलाया गया है। हाथी की उम्र सब से बड़ी—१०० वर्ष—बतलाई गई है। और चूहे तथा ख़रगोश की सबसे छोटी—डेढ़ वर्ष। इस तरह उक्त पुस्तक में भारतीय प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातों का समावेश हुआ है।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में विशेष जानने की इच्छा वाले पाठक पंडित श्री विजयराघवाचार्यजी पुरातत्त्वज्ञ, तिरुपति (मद्रास प्रांत) से पत्र-व्यवहार करें। यह पुस्तक उन्हींसे प्राप्त हो सकती है।

रामेश्वर गौरीशंकर ओझा

अछूतों में कुछ ठोस काम

भारतवर्षीय अछूतोद्धार कमिटी देहली की जो रिपोर्ट हमारे पास आई है उसके आधार पर हम उसके कार्य्य का ब्योरा प्रकाशित कर रहे हैं। इस कमिटी के आधीन मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, अलीगढ़, आगरा, झांसी, लखनऊ, झांसी, बनारस, बरहज, और अमरोहा आदि स्थानों में सब मिला कर दस केन्द्र हैं। कमिटी दलित व नामधारी अछूत भाइयों की सामाजिक, आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी उन्नति के लिए विविध उपायों द्वारा सतत प्रयत्न कर रही है। बड़ी प्रसन्नता की बात तो यह है कि देश की अन्य देशोपकारी संस्थाओं की भांति इसका कार्य शहरों तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् इसके उद्योगी कार्यकर्त्ताओं ने उक्त प्रांत के तीनसौ चौबीस गाँवों में जाकर अपनी लगन का परिचय दिया है। कमिटी के प्रचार विभाग की ओर से ११, १२ जनवरी को बनारस

केन्द्र की घोसी और चंदौसी तहसीलों में, गाज़ीपुर ज़िले के देवतीपुर नामक स्थान में, सहारनपुर ज़िले के सरसावा नामक स्थान में अछूतोद्धार सम्मेलन तथा सभायें हुईं। मेरठ में, पूज्य लाला लाजपतरायजी के सभापतित्व में प्रांतीय अछूतोद्धार सम्मेलन भी बड़े समारोह से मनाया गया। बड़े संतोष और आशा की बात यह हुई कि उस सम्मेलन में सब वर्णों के लोगों ने पूरी-पूरी सहायता दी और सम्मेलन का लगभग एक सहस्र का व्यय भी स्थानीय सज्जनों द्वारा ही दिया गया। जबलपुर में डा० मुंजे के सभापतित्व में अखिल भारतीय अछूतोद्धार सम्मेलन मनाया गया। झांसी में मध्य-भारतीय अछूतोद्धार सम्मेलन भी बड़ी सफलता पूर्वक मनाया गया था। २२ मार्च से २८ मार्च तक युक्त-प्रान्त भर में कमेटी के केन्द्रों की ओर से अछूतोद्धार सप्ताह मनाने में बड़ा प्रयत्न किया गया। बनारस तथा आगरे के केन्द्रों को इस कार्य में बड़ी सफलता मिली।

प्रचार-कार्य्य के अतिरिक्त कमिटी ने कुछ ठोस काम भी किये हैं। कमिटी के दस केन्द्रों द्वारा संचालित ४७ अछूत पाठशालायें भी चल रही हैं। इनमें से १६ रात्रि पाठशाला भी हैं। इन पाठशालाओं में १३०० बालक शिक्षा पा रहे हैं। शिक्षा तो निःशुल्क दी ही जाती है; पर साथ ही बहुत से निर्धन विद्यार्थियों को किताबें, कलम, स्याही व काग़ज़ आदि पढ़ने की सामग्री भी मुफ़्त दी जाती है। पाठशालाओं में प्रत्येक वर्ग के बालक पढ़ते हैं। मेरठ में अछूत छात्रों के लिए एक कुमार आश्रम भी है; इसमें २० विद्यार्थी वास करते हैं। इनमें से आधे से अधिक बालकों को तो भोजन भी दिया जाता है। शिक्षा के सम्बन्ध में कमिटी की प्रायः यह नीति रही है कि कमिटी द्वारा संचालित स्कूलों की पढ़ाई समाप्त करने के बाद विद्यार्थियों को म्युनिसिपैलिटी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों में भर्ती कराया जाय, जिससे कि शिक्षा प्रचार के साथ-साथ अछूतपन की कुप्रथा भी नष्ट होती जाय। इस नीति के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में कमिटी अबतक ५०० विद्यार्थियों को डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपैलिटी के स्कूलों में भर्ती करा चुकी है। बनारस तथा गोरखपुर के केन्द्र के ७ विद्यार्थियों को कमिटी २) से ५) रुपये मासिक तक की छात्रवृत्ति भी देती है।

शाब्दिक शिक्षा के अतिरिक्त कमिटी का ध्यान दस्तकारी की ओर भी है। अभी हाल ही में बरहज में एक वस्त्रालय भी खोला गया, जहाँ पर कपड़ा बुनना सिखाया जाता है। इस वस्त्रालय में अब तक ३०० गज़ शुद्ध खादी तैयार हुई है। इस केन्द्र की ओर से तीन चर्मकार नवयुवकों को रंगाई तथा तीन को मोची का काम भी सिखाया जाता है। आगरा, झांसी तथा अलीगढ़ केन्द्रों की ओर से बैंडबाजा चर्मकारों तथा भंगियों आदि को सिखाया गया है, जिससे उन्हें काफ़ी आमदनी हो रही है। बरहज में एक औषधालय भी है, जहाँ से इसी जनवरी मास से लेकर मार्च तक कुल २००० ग़रीब रोगी मुफ़्त लाभ उठा चुके हैं। अछूतों की शारीरिक उन्नति की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। इस समय झांसी केन्द्र की ओर से दो व्यायामशालायें चल रही हैं, जिनमें चर्मकार नवयुवक कसरत किया करते हैं।

अछूतों को समय-समय पर आर्थिक सहायता भी दी गई है। लखनऊ के ग़रीब चर्मकारों को भोज बारात तथा उत्सवों के अवसर पर काम आने वाले बरतन भांडे के लिए कोई चारसं रुपया दिया गया तथा मेरठ में जाटव मन्दिर के लिए दो सौ रुपये दिये गये।

अछूतों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए सहकारी बैंकों की स्थापना भी की जा रही है। अलीगढ़ और बनारस में चार-चार सहकारी बैंक चल रहे हैं। कमिटी ने गत तीन मास में धर्म-प्रचार का भी कार्य किया है। १९ नामकरण, ५ मुण्डन, २ विवाह और कई मृतक संस्कार कराये। आगरे में १७५ जाटवों को ईसाइयों के फन्दे से बचाया गया। गोरखपुर ज़िले में चर्मकारों के लिए ३ कुएं खुलवाये गये।

यह कार्य तो देहली की अछूतोद्धार सभा द्वारा हुआ: परन्तु जीवन और जागृति के इस युग में अछूतोद्धार सम्बन्धी कार्य्य प्रायः हर जगह हो रहे हैं। इस बीच में अजमेर में भी देहरादून के चौधरी बिहारीलालजी के सभापतित्व में एक अछूतोद्धार सम्मेलन हुआ था। इसी प्रकार यह आन्दोलन यदि कुछ समय तक जारी रहा और कार्यकर्ता विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी डटे रहे, तो वह समय निकट ही है, जब कि देश के पवित्र सिर से अछूतपन की यह कलंक-कालिमा बिलकुल धुल जायगी।

शर्मा

सम्पादकीय

जयन्तियों की धूम

मनुष्य की बुद्धि का चाहे कितना ही विकास हो जाय, तर्क शक्ति कितनी ही पराकाष्ठा को पहुँच जाय, कृतज्ञता के भाव का लोप होना मुझे तो असम्भव मालूम होता है। कृतज्ञता ही वीर-पूजा की जड़ है। जब मनुष्य यह देखता है कि यह शख्स हमारे लिए कष्ट सह कर भी निःस्वार्थ-भाव से हित के काम करता रहता है तब उसके प्रति आदर का भाव मन में पैदा होना स्वाभाविक है। वीर-पूजा के द्वारा हम केवल अपने उपकार-कर्ताओं के प्रति अपनी कृतज्ञता ही नहीं प्रकट करते, बल्कि उनके अनेक सद्गुणों और सत्-शक्तियों को स्मरण कर उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा भी पाते हैं। रामनवमी, कृष्ण जन्माष्टमी, शिवजयन्ती, प्रतापजयन्ती का उत्सव मनाना वीर-पूजा ही का एक स्वरूप है। यों तो मनुष्य पग-पग पर दूसरे का हित करता है और दूसरे का एहसानमन्द होता है, परन्तु सारे समाज और राष्ट्र की पूजा के अधिकारी केवल वे ही महानुभाव हो सकते हैं, जिन्होंने सारे समाज और राष्ट्र की अलौकिक सेवा की हो और उनके सामने ऊँचा आदर्श उपस्थित कर दिया हो। भारत में राष्ट्रीयता के भावों के फैलने के पहले राम, कृष्णादि वीरों की पूजा धार्मिक रूप में हुआ करती थी। राष्ट्रीयता की लहर के प्रारम्भ में लोकनायक के रूप में गणपति के और स्वराज्य-संस्थापक के रूप में शिवाजी महाराज के उत्सव शुरू हुए। उसके बाद तो जयन्तियों का तांता बंध गया। गुरु गोविंद, प्रताप, दुर्गादास, बाजीराव, अहल्याबाई, लक्ष्मीबाई की जयन्तियों का आविष्कार हुआ। गीता-जयन्ती भी चली। मध्यभारत में मल्हारराव होलकर, महादजी सिन्धिया, माधवराव सिन्धिया इनकी जयन्तियां भी चल निकलीं। अभी ग्वालियर में महाराष्ट्र-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर एक उत्साही और ज़िम्मेवार मित्र ने, मित्रों के सामने, यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि कम से कम हर मराठी राज्य में उसके संस्थापक की जयन्ती मनाई जाय और एक राज्य में जब जयन्ती हो तो दूसरे सब मराठी राज्य के लोग उसमें सहयोग दें। प्रस्ताव का मूल उद्देश्य तो यह कि शुरू में कम से कम मराठी रियासत के लोग तो इस निमित्त एकत्र और संगठित हो सकें। उद्देश्य की अच्छाई पर तो कोई क्या कह सकता है, पर जयन्तियों की यह संख्या-वृद्धि मुझे तो कुछ जंच नहीं रही है। फिर जिन लोगों ने केवल राज्यवृद्धि के लिए लड़ाइयां लड़ी हों और राज्य स्थापन किये हों उनकी जयन्तियां मुझे अनावश्यक मालूम होती हैं। मेरी राय में सारे भारत में अब स्वर्गीय विभूतियों में केवल तीन जयन्तियाँ काफ़ी हैं—शिव-जयन्ती, प्रताप जयन्ती, और लोकमान्य-जयन्ती। और स्त्रियों में अहिल्यादेवी, महारानी लक्ष्मीबाई! बस, ये पांच राष्ट्रीय उत्सव और त्यौहार हों। और इनके मनाने की विधि केवल व्याख्यानबाज़ी नहीं, बल्कि देश-सेवा का कोई अमली काम हो। केवल परिपाटी को क़ायम रखने के लिए नहीं बल्कि लोगों को जीवन देने के लिए वह मनाई जाय। वह एक-दो दिन का खिलवाड़ न हो बल्कि वर्ष भर का व्रत हो। यदि इस संजीदगी और विवेक के साथ हम जयन्तियां मनायेंगे तो थोड़ी शक्ति, थोड़ा समय, थोड़ा द्रव्य, व्यय करके भी हम अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करेंगे। प्रान्तीयता तथा संकुचितता को छोड़ कर हमें दिन-दिन राष्ट्रीयता के भावों में अपनेको सराबोर करना चाहिए और उस दिन की राह उत्सुकता से देखनी चाहिए कि हमारी राष्ट्रीयता, महाराष्ट्रीयता—विश्वकुटुंबता—के रूप में परिणत हो। ज्यों-ज्यों दिन जायँगे प्रांतीयता और संकुचितता हमें अपनी क्षुद्रता नज़र आने लगेगी। और हम हिन्दू और मुसलमान की भाषा में नहीं, बल्कि हिन्दुस्थानी की भाषा में बोलेंगे और बर्तेंगे।

ह० उ०

प्रताप-जयन्ती

अभी तक जो समाचार मिले हैं, उनसे मालूम होता है कि २२ मई ज्येष्ठ शुक्ल ३ को देश के प्रायः सभी मुख्य नगरों में प्रताप-जयन्ती किसी न किसी रूप में मनाई गई। राजस्थान के भाइयों ने भी जगह-जगह एकत्रित होकर उस दिन महाराणा प्रताप की पावन स्मृति के चरणों में प्रेम-पूर्वक अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। ग्वालियर, इन्दौर, करौली, अजमेर,ब्यावर आदि नगरों में जहाँ जयन्ती मनाई गई,वहाँ गोविंदगढ़,जयपुर और पुष्कर जैसे छोटे-छोटे कस्बों में भी उत्साही भक्तों ने प्रताप की यथा-शक्ति पूजा करके अपने को सम्मानित और पवित्र बनाया। बड़ौदा पहली जून को समारोह के साथ प्रताप-जयन्ती मनाने का आयोजन कर रहा है।

उदयपुर महाराणा प्रताप के गौरवशाली समुज्वल वंश का केन्द्र है। वह इस समय वीर-भूमि मेवाड़ की राजधानी है। वहाँ महाराणा प्रताप की स्मृति और भक्ति-प्रदर्शन के रूप में प्रताप-सभा नाम की एक संस्था है, जो कई वर्ष पूर्व राज्य के कुछ उत्साही और प्रतिष्ठित सज्जनों द्वारा स्थापित की गई थी। उक्त सभा के द्वारा गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी दो दिन तक उत्साह और आनन्द के साथ प्रताप-जयन्ती मनाई गई। मेवाड़ के अधिकारियों से पिछले साल जब प्रार्थना की गई थी तो उन्होंने आधे दिन की छुट्टी दी थी, पर अब सदा के लिए प्रताप का जन्म-दिन मेवाड़ राज्य भर के लिए छुट्टी और उत्सव का दिन गिना जायगा। इस सहृदयता और दूरदर्शिता के लिए मेवाड़ के राज्याधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं। इस वर्ष मुझे आशा थी कि उदयपुर बहुत ही अधिक समारोह के साथ जयन्ती मनायेगा, किंतु समय थोड़ा हो जाने के कारण पूर्ण सफलता न मिल सकी। फिर भी जयन्ती खूब रही।

पहले दिन प्रातःकाल हवन,चित्र-पूजन और ब्रह्मचारियों को भोजन कराया गया। शाम को एक विस्तृत मैदान में सुसज्जित शामियाने के पास उदयपुर-निवासियों की कुँ० महेन्द्रसिंहजी राणावत के सभापतित्व में वृहत् सभा हुई। पं० ईश्वरदत्तजी का भाषण खूब जोशीला था। पं० प्रकाशचन्द्रजी के भजन तो वीर-रस से जनता के हृदयों को प्लावित कर रहे थे। दूसरे दिन कुँ० मोहनसिंहजी मेहता का प्रभावशाली भाषण हुआ, जो स्पष्टवादिता से पूर्ण था। आपने बताया कि अब केवल पूर्वजों का गुण-गान करते रहने से काम न चलेगा। हमें सोचना चाहिए कि प्रताप आज यदि यहाँ होते तो वर्तमान परिस्थिति को देखकर वह क्या करते? बस यही हमें भी करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए, ताकि आज यदि वह चेटक पर चढ़े हुए हमारे सामने खड़े हों तो हम उनका साथ देने में समर्थ हों। बा० हुक्मचंदजी ने भी खूब जली-कटी सुनाई, जिसे लोगों ने पसंद किया। उन्होंने अधिकारियों तथा प्रतिष्ठित लोगों को चेतावनी दी कि तुम अपने जीवन को सादा बनाओ, ताकि तुम्हारी तड़क-भड़क को देखकर दूसरे लोग प्रलोभन में पड़कर अत्याचार न करें। ग़र्ज़ेकि उदयपुर की जयन्ती सफल रही। पर लोगों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि एक बात में चित्तौड़ उदयपुर से भी आगे बढ़ गया। वहाँ जलूस भी निकाला गया। चित्तौड़ के सहृदय हाकिम कुँ० जसवन्तसिंहजी को इसके लिए बधाई।

इस वर्ष तो जो कुछ हुआ अच्छा हुआ, पर अगले वर्ष के लिए खासी तैयारी करनी चाहिए। अब प्रताप-जयन्ती मनाई तो सारे देश में जाती है, इसलिए अब समय आ गया है कि एक केन्द्र-स्थल निश्चित किया जाय, जिधर समस्त देश के उत्साही भक्तों की दृष्टि को केन्द्रित किया जा सके। इसके लिए उदयपुर अथवा चित्तौड़ से बढ़कर और कौन स्थान होगा? चित्तौड़ में पर्याप्त साधन न मिल सकेंगे, इसलिए उदयपुर ही ठीक रहेगा। इस कार्य से उदयपुर के कार्यकर्ता लोगों पर भारी जिम्मेवारी आती है, इसमें सन्देह नहीं। पर वीर-भूमि में पैदा होने का सौभाग्य प्राप्त करने के कारण उनपर जो एक पवित्र उत्तर दायित्व आता है, उसको वे अपनी वीर-प्रसिद्ध धीरता और उदारता के साथ निबाहेंगे, इसकी मुझे आशा है। मेरा यह नम्र-निवेदन है कि राज्य और प्रजा-वर्ग मिलकर अगले साल निम्नलिखित बातों का आयोजन करें, जिससे सारे देश पर एक सुन्दर, स्वादिष्ट और स्थायी प्रभाव पड़े बिना न रहेगा—

(१) राज्यवंश तथा प्रजावर्ग के सहृदय भक्त उस दिन व्रत रक्खें और दान दें।

(२) एक शानदार जलूस निकाला जाय, जिसमें राज्य की ओर से सारा लवाज़मा दिया जाय। प्रजा के साथ अधिकारीवर्ग भी शामिल रहें।

(३) श्रीमान महाराणा साहब उस दिन आम दर्बार करें और अपने विश्ववंद्य, अनन्य गौरव-शाली पूर्वज के प्रति प्रेम-पूर्वक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करें।

(४) शक्ति-सूचक खेलों का प्रदर्शन हो।

(५) बाहर से आये हुए प्रताप-भक्तों और नगर के स्त्री-पुरुषों की सम्मिलित सभा हो, जिसमें श्रीमान् मेवाड़ाधिपति अपना शुभ-सन्देश भेजने की कृपा करें और श्री महाराजकुमार साहब अपनी उपस्थिति से लोगों को उत्साहित करें।

पिछले वर्ष हल्दीघाटी पर प्रताप-मेले की आयोजना करने का तथा चेटकारूढ़ प्रताप-मूर्ति की स्थापना का प्रस्ताव पास हुआ था, पर वह अभी तक कार्य-रूप में परिणत न हो सका। अब अगली जयन्ती तक तो यह काम हो ही जाना चाहिए। समस्त देश के सहृदय भक्तों के सहयोग की इसमें ज़रूरत है। मेवाड़ में जन्म धारण करने का गौरव रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति का इस सम्बन्ध में ज़बर्दस्त उत्तरदायित्व है --फिर चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष और चाहे छोटे से छोटा हो या बड़े से बड़ा। गोवर्धन-पर्वत का सारा भार भले ही भगवान् कृष्ण अकेले ही अपनी अंगुली पर उठा लें, पर प्रेम के मतवाले ग्वाल-बालों को सहारा दिये बिना भला चैन क्यों पड़ने लगा ? देश में प्रताप के आदर्श के पुजारी अब कम नहीं हैं। वे मूर्ति बनाने में तो सहायता देंगे ही और साथ ही देश के कोने-कोने से बड़ी संख्या में प्रताप के नाम पर लगाये हुए मेले में सम्मिलित होने के लिए प्रेम में पगे हुए सिर के बल दौड़ते हुए चले आयेंगे।

क्षेमानन्द 'राहत'

स्वराज्य--विधान का प्रश्न

यों तो साइमन-कमीशन की नियुक्ति के पहले से ही देश के कई राजनैतिक नेता इस बात को चाहने लगे थे कि स्वराज्य का एक विधान बना लिया जाय, जिससे लोगों की यह ठीक-ठीक धारणा हो जाय कि स्वराज्य क्या चीज़ है और स्वराज्य में शासन--प्रबंध कैसा होगा। भारत की राजनैतिक अवस्था को और सर्व-साधारण के स्वतंत्रता-प्रेम को यदि एक कड़े समालोचक की दृष्टि से देखा जाय तो यह नहीं कह सकते कि पूरा स्वराज्य तो दूर अभी औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करने योग्य बल, त्याग और संगठन-शक्ति का भी परिचय वह दे पाया है, और इसलिए प्रत्यक्ष स्वराज्य अभी दूर है। ऐसी अवस्था में मेरी राय में अभी से स्वराज्य-विधान के प्रश्न को खड़ा करना और उसमें देश के बड़े-बड़े लोगों का दिमाग़ और शक्ति लगाना मुझे तो अप्रासंगिक मालूम पड़ता है। और जब भारतीय स्वराज्य-विधान संबंधी कठिनाइयां, ख़ास कर हिन्दू और मुसलमानों के निर्वाचन-संबंधी उलझनों और झगड़ों पर ध्यान जाता है, तब मुंह से हठात् यह निकल पड़ता है कि रोटी तो ठीक अभी आटा भी घर नहीं आया है और हम इस बात के लिए आपस में झगड़ रहे हैं कि रोटी का कितना हिस्सा किस तरह बाँटा जायगा, जिसका परिणाम यह होता है कि आटा लाने में जो ध्यान और शक्ति लगनी चाहिए वह रोटी के टुकड़ों की लड़ाई में बरबाद हो रही है। स्वराज्य--विधान बनाने के प्रयत्न अब तक हुए हैं, उनमें जैसी-जैसी उलझनें और कठिनाइयां पैदा हुई हैं उन्हें देखते हुए तो ऐसा मालूम होता है कि अभी देश के मन की स्थिति इस योग्य नहीं है कि वह संतोषजनक और एक-मत से सर्वोत्तम शासन-विधान बना सके। फिर भी जब कि राष्ट्रीय महासभा के अधिकांश नेताओं ने, ख़ासकर साइमन-कमीशन को लक्ष्य करके, इस बात की आवश्यकता समझी है कि स्वराज्य--विधान का मसविदा तैयार कर लिया जाय तो कम से कम इससे इतना लाभ अवश्य होगा कि एक तो अंग्रेज़ों को यह कहने का अवसर न मिलेगा कि स्वराज्य की मांग के संबंध में तुम्हीं लोग ख़ुद एक-मत नहीं हो, अब हम किस तरह कोई निर्णय कर दें; दूसरा लाभ यह होगा कि शासन-विधान संबंधी छोटी--बड़ी बातों की चर्चा होते रहने से जन-साधारण को उसका ज्ञान होता रहेगा। दो-तीन महीने पहले देहली में सर्व-दल परिषद् के अधिवेशन में स्वराज्य-विधान का मसविदा तैयार किया गया था, पर उसमें ख़ास

कर ही बातों का निपटारा न हो पाया था। मुसलमानों की दो मांगें कितने ही हिन्दू नेताओं को अनुचित मालूम होती हैं। एक तो सिंध का बम्बई प्रांत से पृथक् कर दिया जाना और दूसरे जिन प्रांतों में मुसलमानों का बहुमत है उनमें भी मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक रहे। अतएव इस बात का निर्णय करने के लिए कि सिंध यदि पृथक् कर दिया जाय तो एक अलग प्रांत का खर्चा वह बर्दाश्त कर सकता है या नहीं तथा जहां-जहां बहुमत है वहां विशेषाधिकार दिया जाय या नहीं, दो अलग-अलग कमिटियां बनाई गई थीं और उनका निर्णय अभी बम्बई वाले अधिवेशन में पेश होने वाला था; परन्तु किसी न किसी कारण से ऐसा न हो पाया और बम्बई-बैठक में फिर एक नई कमिटी, जिसमें कि प्रायः सब विचार के प्रतिनिधि हैं, बनाई गई। उसके ज़िम्मे यह काम हुआ कि वह स्वराज्य-विधान के मूलभूत सिद्धान्तों का निर्णय करे। आगामी अगस्त में फिर सर्वदल परिषद् की बैठक होगी और उसमें इस कमिटी की रिपोर्ट पर विचार किया जायगा।

यहां ये प्रश्न सहज ही उठते हैं कि हमारे स्वराज्य का स्वरूप क्या होगा, उसमें लोगों के क्या-क्या अधिकार होंगे, न्याय, रक्षा और शिक्षा की कैसी व्यवस्था होगी, प्रतिनिधि कौन और कैसे होंगे व कौन और कैसे लोग उन्हें चुनेंगे? प्रांतों का बटवारा किस तरह होगा, राज्य-भाषा कौनसी होगी? देशी राज्यों के राजा और प्रजा को उसमें क्या और कैसा स्थान होगा, दूसरे देशों से उनका क्या और कैसा संबंध रहेगा? अबतक इनमें से कई विषयों पर कई लोगों का काफी मतभेद है। मेरी नम्र सम्मति में स्वराज्य-विधान नीचे लिखे सिद्धांतों के अनुसार बनाया जाना चाहिए—

१. यह मानकर चलें कि असली सत्ता लोगों की है और लोगों ने उसका एक अंश अपने प्रतिनिधि-मंडल को दिया है, जो कि सरकार कहलाता है।

२. विधान का स्वरूप ऐसा होना चाहिए, जिससे लोग आंतरिक बातों में अधिकाधिक स्वतन्त्रता का अनुभव करें, जिसके फल-स्वरूप वे अधिकाधिक सुखी और उन्नत हों। सब जाति, धर्म, श्रेणी और प्रांत के लोगों को अपनी उन्नति और सुख की सुविधा समान-रूप से रहे, इस बात की पूरी-पूरी चिंता रक्खी जाय।

३. यदि शासक-मंडल प्रजा के सुख और स्वाधीनता संबन्धी आकांक्षाओं की अवहेलना करता हुआ पाया जाय, तो लोगों का स्पष्ट अधिकार होना चाहिए कि उस मंडल को बदलकर दूसरे प्रतिनिधियों का मंडल बना दें।

स्वराज्य-संबन्धी अन्य बातों के विषय में मेरा मत इस प्रकार है—

१. स्वराज्य के मानी हैं पूर्ण स्वतन्त्रता। यदि ब्रिटिश गवर्नमेंट चाहे तो हमारी रज़ामंदी से हम ब्रिटिश साम्राज्य में बराबरी के अंग बनकर रहेंगे, अन्यथा अपनेको पूर्ण स्वाधीन मानेंगे। भारत अब ब्रिटिश साम्राज्य का प्रजाजन बनकर नहीं रहेगा, एक कुटुम्बी बनके रह सकता है।

२. प्रतिनिधि-मंडल में चुनाव की कसौटी सम्पत्ति या प्रभुत्व नहीं बल्कि सार्वजनिक सेवा, त्याग और संयम होगा।

३. शासन-पद्धति ऐसी हो, जिसमें हर प्रांत भीतरी बातों में स्वतन्त्र हो और सार्वदेशिक सरकार का शासन उसपर कम से कम हो।

४. सार्वदेशिक सरकार का चुनाव सीधा लोगों के द्वारा न हो, यह वर्तमान अवस्था में अधिक वांछनीय है। गांव स्वराज्य-शासन का घटक माना जाय। ग्राम-सभा के चुनाव का अधिकार प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को रहे।

५. कुछ कठिनाइयों के होते हुए भी प्रांतों की रचना भाषा के अनुसार हो।

६. राष्ट्र और राज्य की भाषा हिन्दुस्थानी हो, प्रांतों में प्रांतिक भाषायें हों। अंतर्राष्ट्रीय भाषा स्वभावतः अंग्रेज़ी हो।

७. न्याय और शिक्षा-विभाग सरकार की अधीनता में न रहें।

८. देशी राज्य क़ायम तो रहें; पर दूसरे प्रांतों की तरह वे भीतरी बातों में स्वाधीन रहें। राजा, राजा के रूप में नहीं, बल्कि प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में शासन-व्यवस्था करें।

हमें उत्सुकता-पूर्वक राह देखनी चाहिए कि हमारे नेता लोग इस विषय में क्या निर्णय करते हैं।

मजूर और मालिक

व्यापार और उद्योग-धन्धों का मूल यदि देखा जाय तो इनके वर्तमान स्वरूप से बहुत भिन्न मालूम होता है। एक

चीज़ यदि कहीं पैदा नहीं होती है और उसकी वहाँ निहायत ज़रूरत है तो उसे वहाँ पहुँचाना और उसके लिए आवश्यक पारिश्रमिक लेना व्यापार का असली स्वरूप है। इसी प्रकार कच्चे माल से पक्का माल बना कर आवश्यक स्थानों को भेजना उद्योग-धन्धों का मूल है। दोनों में जो मुनाफ़ा लिया जाता है वह वास्तव में मिहनताना है और उसका आधार है उसकी तैयारी या लाने-लेजाने में लगने वाला ख़र्च तथा बेंचने वाले के निर्वाह के लिए आवश्यक द्रव्य की मात्रा। पर अब उसका आधार हो गया है ख़रीदने वाले की ग़रज़। यदि उसे ग़रज़ है तो झक मारकर महँगे भाव से चीज़ ख़रीदेगा। आवश्यकता पूरी करने का पवित्र भाव निकल गया और उसकी ग़रज़ से ज़्यादा से ज़्यादा फ़ायदा उठाने का मलिन भाव आ गया। आज इस दुनिया में इस मलिन भाव ने आसुरी रूप धारण कर लिया है और दुनिया मालिक और मजूर दो वर्गों में बँट गई है। जबतक एक व्यापारी थोड़ी मात्रा में व्यापार करता था, छोटे-छोटे घरेलू उद्योग-धन्धे चलते थे, तब तक जो नफ़ा मिलता था वह बहुत जगह बँट जाता था—इससे आपस में ईर्ष्या और अनुचित प्रति-स्पर्धा नहीं होती थी। बड़े पैमाने पर केन्द्रित रूप में जब व्यापार और उद्योग होने लगा तो मुनाफ़ा थोड़े लोगों के घर में अधिक जाने लगा और मालिक एवं मजूर एक दूसरे के विरोधीदल से बनने लगे। मालिक चाहने लगे, मजूर से अधिक से अधिक काम लिया जाय और थोड़े से थोड़ी मजूरी दी जाय। इधर मजूर मजूरी ज़्यादा, काम के घण्टे कम और मुनाफ़े में भी हिस्सा माँगने लगे। पारस्परिक कर्तव्य और सेवा का भाव निकलने लगा और अपने-अपने फ़ायदे पर दृष्टि जमने लगी। इसीका फल है ये बड़ी-बड़ी मजूरों की हड़तालें, दोनों की परेशानी और आर्थिक हानि। परस्पर सहयोग और सहायता के भाव के बदले 'ताक़त की आज़माइश' का सवाल पैदा हो जाता है। यदि मजूरों के पास काफ़ी बचत हो, अच्छा संगठन हो, मालिकों को काफ़ी नुक़सान पहुँचा देने की शक्ति हो, तो उनकी जीत हो जाती है, उनका फ़ायदा हो जाता है; और यदि मालिकों के पास नुक़सान उठाने के लिए काफ़ी रुपया और कारख़ाने को टूट जाने देने की हिम्मत हुई, तो उनकी पौबारह हो जाती है। हिन्दुस्थान में आये दिन हड़तालों के समाचार आते रहते हैं। यह निर्विवाद है कि कारख़ाने यदि चल सकते हैं तो पूंजी और श्रम अर्थात् मालिक और मज़दूर के सहयोग से ही चल सकते हैं। अतएव क्या कोई ऐसा स्थायी उपाय नहीं ढूँढा जा सकता, जिससे इन आये दिन के झगड़ों का अन्त हो जाय? मेरी राय में मजूरों की अपेक्षा मालिकों के हाथ में यह उपाय अधिक है। वे ख़ुद-ब-ख़ुद यदि मुनाफ़े का लोभ छोड़कर, व्याज-मात्र पर सन्तोष मानकर, शेष नफ़ा मजूरों के और देश के हित में लगाते रहें, तो यह कटुता बहुत-कुछ कम हो सकती है। ऐसा करने से न केवल कारख़ानों की उन्नति होगी और मजूर और मालिक दोनों को सुख होगा बल्कि हर्टशार्न जैसों की ज़हरीली चोटों से भी मालिक लोग बच जायँगे। हर्टशार्न साहब के इस वार का ज़ोरों से प्रतीकार किया जा रहा है। मालिकों की प्रातिनिधिक संस्थाओं ने तो उन्हें लथेड़ा ही है; पर यहाँ की ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मंत्री श्री जोशी और लाला लाजपतरायजी तक ने उन्हें बुरी तरह फटकारा है। श्री सकलातवाला को कोसते हुए हर्टशार्न साहब ने हिन्दुस्थानी मालिकों को दुनिया में सबसे बुरे मालिक-मजूरों को सताने वाले-कह दिया है और ताता का नाम ख़ास तौर पर लिया है। हर्टशार्न साहब पार्लमेंट में मज़दूर-दल के प्रतिनिधि हैं और साइमन-कमीशन के मेम्बर हैं। अपने देश के मालिकों को वह हिन्दुस्थान के मालिकों से अच्छा समझते हैं। समझते रहें। हम यह तो कैसे कह सकते हैं कि हिन्दुस्थान के सभी मालिक दूध के धुले हुए हैं; पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि हिन्दुस्थान के मज़दूरों के प्रति हमसे अधिक सहानुभूति उन्हें नहीं हो सकती। एक ओर सर लेस्ली स्काट साहब ने भारतीय नरेशों को हिन्दुस्थान के नेताओं से लड़ा मारने की तरकीब निकाली है, दूसरी ओर हर्टशार्न साहब यहाँ के मालिकों और मज़दूरों में और भिड़न्त करा देने की तैयारी शायद कर रहे हैं। साइमन-कमीशन के फिर से यहाँ आने के पहले ऐसे शुभ कार्यों की बुनियाद यहाँ पड़ जाना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए अच्छा ही है। देशी नरेश और पूँजीपतियों को भगवान् ने सद्बुद्धि दी हो, तो वे इन समस्याओं पर विचार करें!

बहिष्कार और मिल-मालिक

गया हुआ और गँवाया हुआ राज्य बिना युद्ध के नहीं मिलता, यह बात एक बच्चा भी समझ सकता है। भारत की राजनीति का एक मामूली विद्यार्थी भी यह भली भाँति जानता है कि भारत निकट-भविष्य में तोप-बन्दूक से लड़ाई लड़ कर अंग्रेज़ों से स्वराज्य नहीं छीन सकता। सब लोग इस बात को एकस्वर से कहते हैं कि आज तो बिना हथियार की लड़ाई ही लड़ी जा सकती है और अधिकांश लोग इस बात को मानते हैं कि वह लड़ाई असहयोग के सिवा दूसरी नहीं हो सकती, जिसमें कि कर न देना भी शामिल है। कर बन्द कर देना असहयोग का सबसे तीव्र और रामबाण अस्त्र है। और जिन्हें सुसंगठित और सफल संग्राम की कुछ भी कल्पना है और देश की वर्त्तमान असंगठित अवस्था का थोड़ा भी यदि ज्ञान है वे जानते हैं कि कर न देने के अस्त्र का प्रयोग सामूहिक रूप से करने की अवस्था अभी देश की नहीं हुई है। इससे घट कर सिर्फ़ एक ही उपाय देश के हाथ में है, जो एक ओर हमारे स्वराज्य-प्राप्ति के निश्चय को प्रकट करता है, दूसरी ओर अंग्रेज़ों के दिल पर हमारे निश्चय का सिक्का जमाता है, और तीसरी ओर देश में नवीन चेतना और राष्ट्रीय संगठन को सुदृढ़ बनाता है। वह है विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार। धारा-सभाओं में वाग्युद्ध करना भी कुछ नेताओं की राय में एक शस्त्र है और वे स्वयं इस बात को मानते हैं कि थोड़ी सी हद के आगे वह बेकार है।

इस बहिष्कार के पक्ष और विपक्ष में दो तीन प्रकार के लोग हैं। पक्ष में दो दल हैं। एक कहता है कि सारे विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया जाय, दूसरा कहता है सिर्फ़ अंग्रेज़ी माल का ही बहिष्कार किया जाय। विपक्ष में नरम-दल के लोग अधिक हैं, जो यह कहते हैं कि कपड़े का बहिष्कार असम्भव है, इतना ही नहीं, इससे उल्टी देश की आर्थिक हानि है। परन्तु देश का बहु-जन-समाज बहिष्कार की उपयोगिता को मानता है, सिर्फ़ प्रश्न यही है कि विदेशी कपड़ा रोका किस तरह जाय और उसकी जगह स्वदेशी कपड़ा बनाया और फैलाया किस तरह जाय? महात्माजी के कथनानुसार यदि लोगों को खादी पहनाने का ज़िम्मा देश के दूसरे नेता लोग ले लें, तो अकेली खादी के द्वारा वे विदेशी कपड़े को रोक देने की आशा रखते हैं। पर शायद बहिष्कार को जल्दी सफल बनाने और मिल-मालिकों को उनकी देश भक्ति का सच्चा प्रमाण देने का अवसर देने के लिए उन्होंने कहा है कि अच्छा, यदि मिल-मालिक मिल की खादी बनाना छोड़ दें और भाव की हद बांधने का ठहराव कर दें तो खादी और मिल के बने कपड़े के सहयोग से बहिष्कार सफल कर लिया जाय। अहमदाबाद के मिल वाले तो इस पर बहुत कुछ राज़ी हो गये। बम्बई वाले उन्हें समझौते की आशा नहीं दिलाते। लालाजी तो इस बात पर इतने बिगड़ गये हैं कि उन्होंने 'पीपुल' (People) में बम्बई की मिल के कपड़े को विलायती कपड़ा समझ कर इसका बहिष्कार करने की सलाह दी है। बम्बई के मिल-मालिकों की इस क्षोभजनक उदासीनता पर उनको बड़ा दुःख है। बंबई वालों की यह देश-भक्ति-हीन मनोवृत्ति इस इल्ज़ाम को पुष्ट करती है कि मिल-मालिक देश-भक्तों की उत्पन्न की हुई स्वदेशी-भावना से लाभ उठाने को तो आगे बढ़ जाते हैं; पर जब देश की पुकार उनतक जाती है तब वे उसे ठण्डे दिल से ठुकरा देते हैं। हाँ, सभी मिल-मालिक इस श्रेणी के नहीं हैं। एकाध ने तो महात्माजी को यहाँ तक लिख दिया है कि आवश्यकता होगी और मुझे जँच जायगा तो मिलों को स्वराज्य-यज्ञ में होम दूंगा। लालाजी ने मिल-मालिकों के विलायती कपड़ा पहनने पर भी तीव्र आक्षेप किया है और वह बहुत ठीक है। जो खुद अपनी मिलों के कपड़े का प्रचार करना चाहते हैं उन्हें किसी तरह उचित नहीं है कि वे दूसरी जगह का और सो भी विलायती कपड़ा इस्तेमाल करें। मिल-मालिकों को छोड़ दें और यदि देश के दूसरे नेता और नवयुवक भी बहिष्कार के झण्डे को हाथ में ले लें, तो भी आन्दोलन तो चमक ही उठेगा—सिर्फ़ इतनी बात रह जायगी कि कुछ मिल-मालिकों ने अपने स्वार्थ के आगे देश की माँग को कुछ नहीं समझा।

अजमेर की समस्या

सरसरी तौर पर भी यदि कोई राजपूताना और मध्य-भारत में इधर-उधर दौड़ जाय तो उसे दिन-दिन बढ़ती हुई जागृति के लक्षण दिखाई दिये बिना न रहेंगे। अजमेर में इधर

दो-तीन महीने के अन्दर ही अन्दर कई बातें ऐसी हो चुकी हैं, जिससे जान पड़ता है कि सोया हुआ अजमेर फिर जाग रहा है। हिंदू-सभा के निमंत्रण पर डॉ॰ मुंजे, लाला लाजपतराय यहां पधारे और अपने भाषणों से अजमेर की हिन्दू जनता को लाभ पहुँचाया। आर्य-समाज के उत्सव पर का हाल पाठक पढ़ ही चुके हैं। अछूत-सम्मेलन भी पिछले दिनों यहां हुआ और उस दिन प्रताप-जयन्ती भी मनाई गई। स्थानीय म्युनिसिपैलिटी के कार्य के सुधार की ओर भी कुछ सज्जनों का ध्यान गया है और वे संगठितरूप से कुछ काम करना चाहते हैं। पिछले दिनों स्थानीय गर्ल्स स्कूल की हड़ताल के कारण काफ़ी हलचल रही। इधर राजपूताना-मध्यभारत-सभा का फिर जीर्णोद्धार हुआ है। और हाल ही न कुछ बात पर रेलवे के हिन्दू-मुसलमान कर्मचारी और मज़दूरों में दंगा होगया। इन सब बातों को दूर से देखते हुए भी कोई सहज ही कह सकता है कि अजमेर में जीवन है। यदि कमी है तो संगठन की है। अजमेर में, दुःख की बात है कि, छोटे-बड़े कई दल हैं और वे प्रायः एक-दूसरे से मिल कर काम नहीं करते। कई बार तो परस्पर-विरोध में इनकी शक्ति नष्ट होती रहती है। इसलिए किसी भी कार्य-कर्ता के लिए अजमेर में सेवा करना बड़ा कठिन हो रहा है। उस दिन एक भाई से अजमेर के सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत बातें हुईं। और भी मित्रों से समय-समय पर बातें हुआ करती हैं। कई मित्र मुझसे इस बात से असंतुष्ट हैं कि मैं अजमेर के सार्वजनिक जीवन में दिलचस्पी नहीं लेता। उनकी शिकायत एक तरह से सच है, परन्तु यह मेरा विश्वास दिन-दिन दृढ़ होता जा रहा है कि अजमेर का सार्वजनिक जीवन तब तक संगठित नहीं हो सकता, जब तक अजमेर कोई पुण्य-श्लोक पुरुष पैदा नहीं करता। जो व्यक्ति आस-पास की क्षुद्रताओं से और मलीनताओं से ऊपर उठ जायगा वही अजमेर की सच्ची सेवा कर सकता है, और यहाँ के बिखरे हुए जल को एकत्र करके उसमें नव-संगठन का जीवन डाल सकता है। यदि अपना-अपना काम करने और दूसरे के काम में बिना भारी कारण उपस्थित हुए, केवल व्यक्तिगत कारणों से, बाधा डालने की प्रवृत्ति भी हम बंद कर दें, तो भी बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। उस दिन एक मित्र ने मध्यभारत-राजपूताना-सभा के बारे में मुझसे बात-चीत की। इसका उद्देश्य है राजस्थान के देशी राज्यों में काम करना। मैंने पूछा, जब कि राजस्थान-सेवा-संघ एक संस्था ऐसे कामों के लिए हुई है तो फिर उसी उद्देश्य से दूसरी संस्था खड़ी करने की क्या आवश्यकता है? उन्होंने कहा—उनकी नीति और कार्य-प्रणाली हमें देशी राज्यों के लिए हितकर नहीं मालूम होती, इसलिए हम अपनी नीति के अनुसार काम करने के लिए एक संस्था चाहते हैं। मैंने कहा—नीति और कार्य-प्रणाली में तो हमारा भी मतभेद है; परन्तु यदि यह संस्था केवल उनका विरोध करने के लिए खड़ी की जाती हो, तो इससे कोई फल न निकलेगा—यदि कोई ठोस काम करने की और उसके लिए जीने और मरने की तैयारी संस्था वालों ने करली हो, तो यह संस्था कुछ काम कर जायगी। यदि आप अपने कार्य के द्वारा यह दिखा देंगे कि आपकी प्रणाली से अधिक काम हो सकता है तो सेवा-संघ वाले, यदि वे कार्यार्थी पुरुष हैं, अवश्य अपनी नीति और कार्य-प्रणाली पर विचार करेंगे। आगे बातचीत में मित्र ने कहा कि अजमेर के तो जल-वायु में ही ईर्षा-द्वेष बढ़ाने का धर्म है। मैं इतना श्रद्धाहीन तो नहीं हो सकता; पर इतना अवश्य मानता हूँ कि अजमेर की समस्या है विकट। उस दिन एक दूसरे मित्र ने कहा 'भाई, अजमेर में कुछ ज़्यादा काम करना चाहिए, बाहर वाले जब अजमेर के बारे में उलहना देते हैं तो शर्मिन्दा होना पड़ता है।' मैंने कहा—मैं तो सीधी बात कह दिया करता हूँ, मुझमें इतनी योग्यता नहीं कि अजमेर की अभीष्ट सेवा कर सकूँ। उन्होंने कहा—लेकिन मैं क्या कहूँ? मैंने कहा—'हां, सुयोग्य पुरुष ऐसा कैसे कह सकते हैं।' वह हंस पड़े। फिर मैंने कहा—मैंने तो शुरू से यह निश्चय करके अजमेर में पांव रक्खा था कि यहां के स्थानीय मामलों में न पड़ूँगा। अनुभव साबित करता जाता है कि मेरा निर्णय ठीक था। मुझे इस बात का दुःख तो अवश्य है कि जिस नगर में रहता हूँ और जहां प्रायः सब दलों के मित्रों की थोड़ी-बहुत कृपा बनी रहती है, वहां की कुछ भी सेवा मुझसे नहीं हो रही है। परन्तु केवल इच्छा से सेवा नहीं हो सकती। उसके लिए भारी पुण्य भी चाहिए। जिस दिन

विषय-सूची

पृष्ठ

लेखक लोग ध्यान से पढ़ें।

पांच-पांच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

१—महाराणा प्रताप का जीवनचरित्र *२—ग्राम-संगठन*

पहला पुरस्कार उन सज्जन को दिया जायगा जो हमारे पास महाराणा प्रताप का ओजपूर्ण, स्फूर्तिजनक, और प्रामाण्य जीवनचरित्र लिखकर भेजेंगे। पुरस्कार उसी निबन्ध पर दिया जायगा जो हमारे पास आने वाले निबन्धों में ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ होगा।

दूसरा पुरस्कार उन सज्जन को दिया जायगा जो "भारत में ग्राम-संगठन" पर सर्वोत्कृष्ट निबन्ध लिख कर भेजेंगे। भारत की प्राचीन ग्राम संगठन की प्रथा एवं संसार के भिन्न भिन्न देशों में प्रचलित ग्राम संगठन की रीतियों का अध्ययन करके ऐसी विधि को जनता के सामने रखना जो भारत की वर्तमान अवस्था को देखते हुए, सब से अधिक लाभदायक हो। वह भारत का ही हो या किसी अन्य देश का हो या अनेकों विधियों का समन्वय हो। ग्राम संस्था के भिन्न-भिन्न अंगों एवं ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी विचार होना ज़रूरी है। प्रत्येक निबन्ध की पृष्ठ-संख्या ४०० हो।

निबन्धों के परीक्षकों के नाम बाद में सूचित किये जावेंगे। निबन्ध इस वर्ष के अन्त तक मण्डल में इस पते पर पहुँच जाने चाहिए।

सम्पादक—सस्ता साहित्य-मंडल, अजमेर

आतिथि-सत्कार

Lakshmi Art, Bombay, 8.
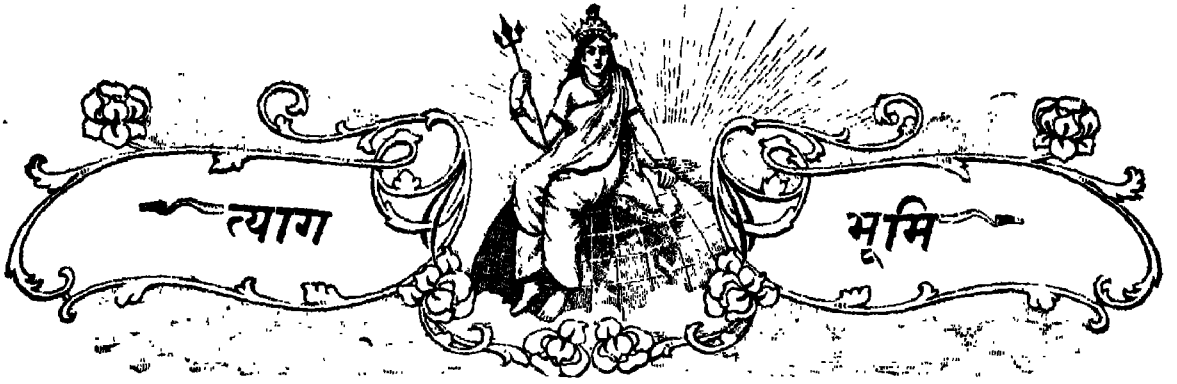
(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुभ्र बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान् ॥

वर्ष १	सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर ।	अंश ४
खण्ड २	श्रावण संवत् १९८५	पूर्ण अंश १०

अधर में

अरे यह राग भरा वैराग !

त्याग त्याग क्या करता है तू, गर्व त्याग का त्याग ।

वैरी से क्या डरता, वह तो, है हित-साधन मीत ।

बचता है तो अपने ही से, जान छुड़ा कर भाग ।

त्यागी वीर समझ कर निज को, हाय, रहा है फूल ।

किन्तु उधर लिप्सायें मन में खेल रही हैं फाग ।

डूबे, ऐ नौसिखिए नाविक, कहीं न तू मझधार ।

निद्रा का भय नहीं, मगर इस अध-जागृति से जाग ।

सम्भव है हाँ, बनते-बनते, बन जाये यह पाक ।

मनःपात्र में किन्तु अभी तो उफन रहे हैं झाग ।

क्षेमानन्द 'राहत'

रामबाण दवा

उस दिन हिन्दू महासभा के एक प्रसिद्ध नेता ने एक मित्र से कहा—"आप क्या 'हिन्दू-मुस्लिम-एकता'-'हिन्दू-मुस्लिम-एकता' रटते हैं ? ज़रा आसाम में जाकर देखो, किस तरह बंगाल से मुसलमान आ-जाकर हिन्दुओं की ज़मीनें अपने कब्ज़े में कर रहे हैं; और बंगाल ही में देखो, कितनी स्त्रियाँ हर माह गुण्डे मुसलमानों द्वारा उड़ाई जाती हैं। आप खुद चल कर देखें, तो आपकी आँखें खुल जायँ—आप तो घर में बैठे-बैठे विचार करते और आसमान में उड़ते रहते हैं। मैं स्वराज्य और राष्ट्रीयता का विरोधी नहीं; पर जहाँ हिन्दुओं पर ऐसा ज़ोरोज़ुल्म किया जाता हो, और मुसलमान अपनी अनुचित माँगों पर भी इतना ज़ोर देते हों, तहाँ मैं इतना ही चाहता हूँ कि हम उनसे दब कर उनकी बातों को न मानें। ...." ये बातें उन मृदुल-हृदय मित्र के शुद्ध अंतःकरण में तीर सी जाकर चुभ गईं। नेता महाशय के चले जाने के बाद उन्होंने विकल होकर कहा---"मैं मुसलमानों की और सब बातों को दरगुज़र कर सकता हूँ; पर स्त्रियों को उड़ाने की इस बात पर तो मेरा खून उबल उठता है ! कहिए, आप इसका इलाज क्या बताते हैं ? देश में इस समय तीन दल हैं—असहयोगी, स्वराजी और हिन्दू-सभावादी। असहयोगी तो इसमें हिन्दुओं का ही दोष बता कर चुप रह जाते हैं; स्वराजी भी इसपर ध्यान नहीं देते; सिर्फ़ हिन्दू-सभा वालों ने इसका उपाय निकाला है। वह चाहे कुछ अंश में सदोष हो; पर पहले दोनों दल के लोग हिन्दू-सभा वालों को कोसने के अलावा इस बुराई का कोई निर्दोष उपाय भी तो नहीं बताते! आप ही कहिए, ऐसी दशा में हम हिन्दू-सभा वालों का साथ न दें तो क्या करें ?"

मैंने कहा—"हाँ, इस स्त्रियों को उड़ाने की बात से तो मेरा भी दिल दहल उठता है। पर मैं भी इसमें दोष तो हमारा—हिन्दुओं का ही मानता हूँ। बंगाल में मैं देख रहा हूँ कि स्त्रियों और लड़कियों की पर्वाह बहुत कम की जाती है। उनके साथ इस तरह का बर्ताव होते देख कर बंगालियों के हृदय को चोट नहीं पहुँचती। इसलिए सबसे पहली बात तो इसके लिए यह होनी चाहिए कि बंगालियों में अपनी बहू-बेटियों की रक्षा का भाव प्रबल हो—वे अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर भी उनकी रक्षा को सर्वोपरि कर्त्तव्य मानने लगें। यदि केवल मर मिटने का रास्ता उनके लिए बहुत मुश्किल हो, तो गुंडों को ठोंक-पीट कर भी अपनी स्त्रियों की रक्षा उन्हें करनी चाहिए। कायर की तरह घर में बैठ कर चुपचाप आये दिन ऐसी दुर्घटनाओं का शिकार होते रहना सर्वथा लज्जास्पद है।

"दूसरा उपाय यह है कि ऐसा स्वयंसेवक-दल बनाया जाय, जो स्त्रियों को गुण्डों के हाथों से बचावे और ऐसी संस्थायें खड़ी की जायँ, जहाँ उन स्त्रियों के खान-पान का, रक्षा-शिक्षा का, उद्योग-धंधे सिखाने का समुचित प्रबंध हो। अक्सर विधवायें ही ऐसे अत्याचारों का शिकार होते देखी जाती हैं। इसलिए

"तीसरा उपाय यह होना चाहिए कि विधवाओं के विवाह को प्रोत्साहन दिया जाय। घर में हम विधवाओं के साथ अच्छा सलूक करें, उन्हें तप और त्याग की देवी समझें, उनकी ज़रूरतों का पूरा ध्यान रक्खें।

"और सबसे रामबाण दवा तो मेरी राय में इसकी यह है कि हिन्दू-मुसलमानों के साथ ब्याह-शादी करना शुरू कर दें। आज यह बात बेतुकी और 'अ-धार्मिक' भले ही मानी जाय; पर यही इसका कारगर इलाज है। मुश्किल तो यह है कि हम अभी 'हिन्दू' और 'मुसलमान' की भाषा में सोचते हैं—हिंदुस्थानी की भाषा में नहीं—इसीसे जब हिंदू गुंडा हिंदू-स्त्रियों पर बलात्कार करता है तब हमारे दिल को उतनी चोट नहीं पहुँचती, जितनी मुसलमानों के अत्याचार से पहुँचती है। वास्तव में देखा जाय तो पड़ौसी दुष्ट से घर का दुष्ट व्यक्ति अधिक ख़तरनाक होता है; पर अपने धर्म, जाति और संस्कृति की संकुचित व्याख्या करके हम अपने आप कई आपत्तियाँ मोल ले लेते हैं। मुझे तो यह स्पष्ट दीख रहा है कि अब दुनिया में धर्म, जाति और संस्कृति की ये संकुचित दीवारें क़ायम नहीं रह सकतीं; ये टूटेंगी, और दुनिया की भिन्न-भिन्न जातियों के सम्पर्क और मिश्रण से नई मानव-जाति और विश्व-संस्कृति बनेगी। अतएव यदि हिन्दुओं, मुसलमानों, पारसियों, ईसाइयों आदि में परस्पर ब्याह-

शादी होने लगें, तो यह संख्या-वृद्धि का जोश अपने आप ठण्डा पड़ जायगा और उसके निमित्त होने वाले ये अत्याचार और आन्दोलन भी ढीले पड़ जावेंगे।"

इसपर मित्र महोदय ने कहा—"हाँ, यह बात तो ठीक मालूम होती है; पर अभी मेरा दिल यहाँ तक तैयार नहीं होता। बात यह है कि मुसलमानों की संस्कृति में जब तक काफ़ी सुधार न हो तब तक उनके दूषित रक्त का प्रवेश हिन्दुओं में न होना वाञ्छनीय है।"

मैंने कहा—"अव्वल तो मनुष्य-जाति के इतिहास में अब तक ऐसे मिश्रणों से ही जातियाँ बनती चली आई हैं और आज का हिन्दू-समाज न जाने कितनी विदेशी जातियों के मिश्रण का परिणाम है, और दूसरे मुसलमानों में कौनसी ऐसी बात है, जो हिन्दुओं के किसी न किसी समूह में नहीं पाई जाती? मांसाहारी तो प्रायः हिन्दू-जातियाँ हैं, शराब हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान कम ही पीते हैं। विलासिता राजपूतों में क्या कम है? हाँ, एक बात है, मुसलमानों का गो-मांस खाना मुझे भी बड़ा असह्य मालूम होता है और दूसरे उनकी आदतें गन्दी होती हैं। पर गो-मांस तो अंग्रेज़ उनसे ज़्यादा खाते हैं, और गंदगी हिन्दुओं की कई जातियों में कम नहीं रहती है। फिर भी इसे मिटाने के लिए हम उद्योग कर सकते हैं। जैसे अछूतों के सुधार को हम अपना कर्तव्य समझते हैं, इसी तरह पड़ोसी के नाते, अथवा अपने हित और लाभ के ही ख़याल से, हम मुस्लिम संस्कृति के परिष्कार के काम को अपने हाथ में लें। इससे हिन्दू जाति और सारे देश, दोनों को लाभ होगा।"

विश्व की गति और धर्म का रहस्य न समझने के कारण आज तक हमने अपनेको हिन्दू मुसलमान आदि वर्गों में बांट रक्खा है और रोटी के टुकड़ों के लिए हम कुत्ते-बिल्ली की तरह आपस में लड़ कर, एक दूसरे की बुराई करके, दोनों की हानि कर रहे हैं और अपनी गुलामी की ज़ंजीर को दिन-दिन मज़बूत करते जा रहे हैं। हिन्दू महासभा के काम को यदि इस दृष्टि से देखें तो हठात् कहना पड़ता है कि उसकी और मुस्लिम लीग की कार्रवाइयों से देश की गुलामी की डोर अधिक ही बढ़ी है, कम ज़रा भी नहीं हुई। पर जब हम अपने को हिन्दू और मुस्लिम जाति में बाँट कर विचार करते हैं, तो कहना पड़ता है कि हिन्दू-सभा के आन्दोलन से हिन्दुओं की आन्तरिक संकीर्णता को गहरी ठेस पहुँचती है। अब भी यदि हिन्दू महासभा विधवा-विवाह, अनाथरक्षा, अस्पृश्यता-निवारण, मन्दिरों, मठों और महन्तों के सुधार पर कमर कस ले, तो हिन्दू-जाति की बड़ी सेवा उसके हाथ से हो।

मैं जानता हूँ, कई हिन्दू-भाई इन विचारों को अभी पसंद न करेंगे। पर मैं कहता हूँ कि आगे चल कर उन्हें ये बातें माननी और करनी पड़ेंगी। आशा है, विचारशील पाठक इन पर तटस्थ भाव से विचार करेंगे। जिन्हें इन विचारों पर आपत्ति हो वे, यदि आवश्यक समझें तो, मुझे लिख सकते हैं, मैं यथामति उनका समाधान करने की चेष्टा करूँगा।

हरिभाऊ उपाध्याय

अद्‍भुत झन्कार

(१)

भर दो ऐसी शक्ति प्रभो! तुम,
माँ का कर पावें कल्यान!
दर्प भंग कर रिपु-दल का हम,
रख पावें सञ्चित अभिमान!!

(२)

द्वेष-भाव ईर्ष्या को तज कर,
मिल जावें कर शुभ सन्मान।
फहरा कर यह विजय-पताका,
हिल-मिल गावें सुखमय गान!!

(३)

झनक उठे हों उस क्षण प्रभुवर,
माता के हृत-तन्त्री तार!
स्वतन्त्रता के मद में माती,
आती हो अद्‍भुत झन्कार!!

बांकेबिहारीलाल भटनागर "कृष्ण"

देश-भक्ति पाप !

(१)

१९०७ के नवम्बर में मैं अफ्रीका से वापस आया। १९०८ के शुरू में मैंने कहत में इमदाद देने का काम शुरू किया और क़रीबन एक लाख रुपया जमा करके युक्तप्रान्त और राजपूताने में बाँटा। सितम्बर १९०८ में मैं इंग्लिस्तान रवाना हुआ। जब मैं वहां पहुँचा, उस समय (प्रसिद्ध भारतीय क्रांतिकारी) श्यामजी कृष्ण वर्मा का इंडिया हाउस खूब रौनक पर था। और हिन्दुस्थान के बहुत से इनक़लाबपसन्द (क्रान्तिकारी) वहां रहते थे। बैरिस्टर सावरकर भी वहीं रहते थे। यह वहाँ रहने वाले हिन्दुस्थानी विद्यार्थियों के नेता थे। जब मैं स्टेशन पर पहुँचा, तो सावरकरजी बहुत से हिन्दुस्थानियों को लेकर मेरे स्वागत को आये और स्टेशन पर बड़ी धूम-धाम से मेरा स्वागत किया। मेरा लड़का प्यारेकृष्ण उस वक्त विलायत में था, वह मुझसे एक महीने पहले वहाँ पहुँच गया था। उसने मेरे ठहरने के लिए कमरे का इन्तज़ाम किया हुआ था; मगर सावरकरजी मुझे सीधा 'इंडिया हाउस' ले गये। वहाँ बहुत से हिन्दुस्थानियों ने मिल कर खाना खाया और कुछ तक़रीरें आदि भी कीं। रात को मैं वहाँ से अपने ठहरने के स्थान पर चला आया। कुछ दिनों मैं उस मकान में रहा, जो मेरे लड़के ने मेरे लिए तजवीज किया था। उसके बाद हम पिता-पुत्र हैमस्टड में एक मकान लेकर रहने लगे। जिन दिनों मैं वहाँ रहता था, मैंने ग़ौर किया कि, एक यूरोपियन हर वक्त मेरे पीछे रहता था। मैंने उसे कई बार पीछा करते हुए देखा। एक रोज़ मैं हजामत कराने के लिए एक 'सैलून' में दाख़िल हुआ, वह यूरोपियन मेरे पीछे था। वह दूकान के बाहर बैठ गया। जब मैं हजामत करा कर निकला, तो वह फिर मेरे पीछे हो लिया। इसी तरह मैं कई रोज़ उसे अपना पीछा करते देखता रहा। एक रोज़ मुझे अपने एक हिन्दुस्थानी मित्र से, जो लण्डन के ग्वायज़ अस्पताल में रहते थे, मिलने के लिए जाना था। जब मैं वहाँ जा रहा था, मैंने देखा कि, मेरे पीछे वही यूरोपियन जासूस था। मैंने अस्पताल में पहुँच कर अपने मित्र को यह कहानी सुनाई और, इस मामले की जाँच-पड़ताल करने के लिए, उन्हें अपने साथ लिया। थोड़ी दूर पैदल आकर हम एक 'बस' में सवार हो गये। वह यूरोपियन जासूस भी हमारे साथ बस में सवार हुआ। हम बस से उतर कर चेयरिंग क्रास के रेलवे स्टेशन में दाखिल हुए, वह जासूस भी हमारे पीछे था। जब हम गाड़ी में सवार हुए तो वह भी सवार हो गया। वेस्टमिनिस्टर स्टेशन पर जाकर हम उतर गये; वह भी उतर गया। जब गाड़ी चलने लगी, हम फिर सवार होगये; वह भी झट से गाड़ी पर सवार हो गया। मुझे उस रोज़ पार्लमेंट के मेम्बर श्री मैकार्नेस के यहाँ चाय पीने जाना था। हम दोनों कैंसिंटन स्टेशन पर उतर पड़े; वह भी हमारे साथ उतर पड़ा। थोड़ी दूर चल कर हमने वापस होकर उस यूरोपियन से पूछा कि तुम हमारा पीछा क्यों करते हो और कौन हो ? उस शख़्स ने ऐसी भाषा में बात की, जिसे हम दोनों न जानते थे और पागल सा बन गया ! आख़िर मैंने अपने दोस्त से कहा कि तुम जाओ, मैं मैकार्नेस के घर जाता हूँ, उनसे ज़िक्र करूँगा। श्री मैकार्नेस उस वक्त नम्बर १९ मांट पेरिवर स्क्वेयर में रहते थे। जब मैं उस स्क्वेयर में दाख़िल हुआ, तो वह यूरोपियन मेरे पीछे था। मैंने मकान में घुस कर मैकार्नेस साहब से कहा कि मेरे पीछे एक जासूस है, आइए आपको दिखाऊँ। वह मेरे साथ बाहर निकले और चौक के कोने तक आये।

मगर इस अर्से में वह यूरोपियन जासूस ग़ायब होगया। अगले रोज़ मैकार्नेस ने पार्लमेन्ट में भारतमंत्री मोर्ले साहब से पूछा कि 'यह क्या बात है ?' मोर्ले ने जवाब दिया कि 'मुझे इसका कोई इल्म नहीं और मैंने कोई जासूस लाजपतराय के पीछे नहीं छोड़ा; फिर भी अपने आफ़िस से दर्याफ्त करूंगा।' आफ़िस से दर्याफ़्त करके उन्होंने मैकार्नेस को जवाब दिया कि इण्डिया आफ़िस ने कोई जासूस नहीं छोड़ा, यह कार्यवाही होम आफ़िस की होगी। उस समय होम आफ़िस के मुखिया वज़ीर अन्दरूनी श्री ग्लैडस्टन थे, जो बड़े ग्लैडस्टन के लड़के थे। और बाद में यह दक्षिण आफ्रिका के गवर्नर भी रहे। मैकार्नेस साहब इनके पास गये तो इन्होंने कहा कि मैं इसे रोक दूँगा। चुनांचे अगले दिन से वह जासूस ज़ाहिराना तौर पर मेरे पीछे से हटा दिया गया। लेकिन इंग्लिस्तान से वापसी के वक्त वह मुझे बन्दरगाह कैले पर मिला और हँस कर मुझे कहने लगा कि 'अब तो आपके पीछे कोई नहीं है ?' यही नहीं बल्कि इस घटना के बाद भी मुझे कई बार इंग्लिस्तान में इस बात का सन्देह हुआ कि हिन्दुस्थानी और यूरोपियन जासूस मेरे पीछे रहते हैं। १९१४ में हमने यानी मैंने और मेरे साथ रहने वाले साथियों ने एक हिन्दुस्थानी नौजवान की दावत की। यह नौजवान बड़ी शान-शौकत से रहता था और बहुत बढ़-चढ़ कर बातें करता था और अपने आपको बड़ा पक्का क़ौमपरस्त दिखाता था। बाद में पक्के तौर पर मालूम हुआ कि वह भी जासूस था, जिसे इन्डिया आफ़िस ने हिन्दुस्थानी विद्यार्थियों की जासूसी करने को छोड़ा हुआ था। ग़र्ज़े कि मुझे अपनी ज़िन्दगी में बहुतबार जासूसों से वास्ता पड़ा है। बहुत दफ़ा तो मुझे इस बात का ज्ञान भी नहीं हुआ कि मेरे पीछे कौन जासूसी करता है!

(२)

श्रीमती बेसेएट ने हाल में ही यह शिकायत की है कि उनकी चिट्ठियां डाकख़ाने में खोली जाती हैं। मगर श्रीमती बेसेएट को यह मालूम होना चाहिए कि यह कार्यवाही बहुत मुद्दत से हिन्दुस्थान में होती है। बहुत से हिन्दुस्थानियों की चिट्ठियां खोली जाती हैं। लेजिस्लेटिव असेम्बली में दीवान चमनलाल ने कई बार इस विषय के प्रश्न किये हैं। एकबार उन्होंने मेरा नाम लेकर भी यह बात कही थी कि मेरी चिट्ठियां खोली जाती हैं। सरकार की तरफ़ से कभी साफ़ जवाब नहीं दिया गया। और सिर्फ़ यह कह कर टालने का प्रयत्न किया गया कि मेम्बर साहब को जो इत्तला मिली है वह दुरुस्त नहीं। मैंने एक बार सर अलेक्ज़एडर मुडीमैन से पूछा कि मेरी चिट्ठियाँ क्यों खोली जाती हैं ? उन्होंने हँस कर टाल दिया। लेकिन कई राजनैतिक मुक़द्दमों में यह बात ज़ाहिर हो गई कि बहुत से आदमियों की चिट्ठियां खोली जाती हैं। बाज़ तो उन्हें कभी दी ही नहीं जातीं। बाज़ का फ़ोटो लेकर चिट्ठियां फिर दुबारा बन्द करके जिसके नाम की हों उसे पहुँचा दी जाती हैं। बाज़ बिना फ़ोटो लिए ही बाँट दी जाती हैं। चन्द महीने हुए मैंने एक रोज़ अपनी विलायती डाक में देखा कि मेरी चिट्ठियाँ खोली गईं; कुछ चिट्ठियां मुझे सुबह मिलीं, कुछ शाम को, कुछ अगले रोज़, और कुछ कई रोज़ बाद मिलीं! यह ज़िक्र पिछले छः महीने के अन्दर-अन्दर का है। मैंने डाक-विभाग को शिकायत की। वहां से साफ़ जवाब मिल गया कि चिट्ठियां खोली नहीं जातीं, और देर में मिलने का जो जवाब मिला वह संतोषजनक नहीं था। मैंने मामले को वहीं ख़तम कर दिया। इस साल जनवरी के महीने में मैं अपने अस्पताल के लिए चन्दा जमा करने एक रोज़ हिसार गया और अपने पुराने अज़ीज़ ला० जयदेव के मकान पर ठहरा। पुलिस वाले मेरी

तलाश में पहले पं० ठाकुरदास भार्गव के मकान पर गये और फिर ला० जयदेव के मकान पर आये और दोनों जगह उन्होंने मेरे मुतल्लिक़ बहुत सवाल पूछे। मैंने दिल्ली आकर होममेम्बर को एक चिट्ठी लिखी। उसमें इस बात की शिकायत की कि पुलिस मेरी निगरानी करती है। मेरी चिट्ठियां खोली जाती हैं; रेल के सफ़र में मेरे टिकट का नम्बर बज़रिया तार अगले स्टेशनों पर भेजा जाता है। मुझे साफ़-साफ़ बतलाया जाय कि ऐसा होता है या नहीं और अगर होता है तो क्यों? होम मेम्बर ने तहक़ीकात करके जवाब दिया कि आपकी शिकायत दुरुस्त है और आगे के लिए मैंने हुक्म जारी कर दिया है कि पुलिस आपकी निगरानी न करे। मैंने अपनी चिट्ठी का यह जवाब होम मेम्बर से तहरीरी माँगा, ताकि मैं इसे अख़बारों में छपा दूँ। मगर जवाब पाने के बाद मैंने उसका कोई ज़िक्र नहीं किया। अब श्रीमती बेसेण्ट की शिकायत पढ़कर ख़याल आया कि अपनी यह रामकहानी भी प्रकाशित करदूँ।

असल बात यह है कि कोई विदेशी सरकार खुले तौर पर ईमानदारी से उन लोगों के साथ सलूक नहीं कर सकती, जिन्हें वह अपना दुशमन समझती है। चाहे लोग पूर्ण स्वतन्त्रता मांगें, चाहे औपनिवेशिक स्वराज्य, इस बात की कुछ पर्वाह नहीं, वह तो हरएक ऐसे आदमी की निगरानी रखती है, जो जनता पर किसी क़िस्म का प्रभाव रखता हो। उसकी चिट्ठियाँ भी खोलती है और और तरह से भी उसका पीछा करती है। चिट्ठियाँ निहायत होशियारी से खोली जाती हैं और निहायत होशियारी से बन्द कर दी जाती हैं, फिर भी कई बार साफ़ तौर पर इस बात का पता लग जाता है कि चिट्ठियाँ खोली गई हैं। मेरे साथ चालीस बरस से यही बात होती आई है। इसी लिए मुझे अब इन बातों पर गुस्सा नहीं आता। मैंने कभी ऐसी कार्यवाही नहीं की, जिसे खुले तौर पर बयान करने में मुझे ज़रा भी शर्म या डर हो। परन्तु मुझ पर हिन्दुस्थानी भाइयों का ऐसा विश्वास रहा है कि वे मुझे अपने भेद बतला देते रहे हैं। मैंने उन्हें कई बार इत्तला दी है कि वे मेरे साथ पत्र-व्यवहार करने में सावधान रहें। श्रीमती बेसेण्ट का तो इंग्लिस्तान में ज़ोर है, लेकिन हमारा वहां कौन है? हमें तो इन्ही लोगों से सरोकार है; और जब तक इनकी हकूमत है, जो कुछ ये करते हैं, हमें सहना पड़ता। मगर इसके ये मानी नहीं कि इससे हमारे दिल पर चोट नहीं लगती। ऐसे मुल्कों में जिनमें पराया राज्य है, देशभक्ति और जाति-भक्ति जुर्म है। एक अंग्रेज़ ने एक किताब में एक कहानी लिखी है। उसने एक फ़ौजी अफ़सर से पूछा कि 'तुमने फलाँने आदमी को क्यों क़ैद किया? वह तो बड़ा नेक और धर्मात्मा आदमी है, और लोगों की ख़िदमत करता है।' उसने साफ़ तौर पर जवाब दिया कि 'इसी वास्ते तो वह हमारे लिए सबसे ज्यादा ख़तरनाक है। जो सरकार महात्मा गांधी जैसे अहिंसक आदमी को ६ साल के लिए जेल भेज सकती है, उससे हम और किस तरह के नरम सलूक की उम्मीद कर सकते हैं? यह सलूक तो तब तक रहेगा, जब तक देश में स्वराज्य स्थापित नहीं होता। इसके यह मानी नहीं कि हमें वावेला नहीं करना चाहिए, पर इसके यह मानी हैं कि हमें इस प्रकार की कार्यवाही से डरकर अपना काम न छोड़ देना चाहिए। अगर हमारा हिसाब साफ़ है और हम कोई कार्यवाही खुफ़िया नहीं करते, तो सरकार हमारा क्या बिगाड़ सकती है? और बिगाड़ना भी हो तो, बेशक बिगाड़ ले। जो शख़्स इस कांटेदार रास्ते पर पड़ता है, वह अपने जान-माल को हथेली पर रख कर ऐसा करता है और हमेशा दुःखों के लिए तैयार रहता है। इसपर भी अह-

ियात करना जरूरी है। खामखां गैरजरूरी तौर पर अपने आपको मुसीबत में डालना और इस तरह देश-सेवा के काम से महरूम हो जाना कोई दानाई का काम नहीं।

लाजपतराय

आधुनिक प्रजातन्त्र का असली रूप

उस दिन इंग्लैण्ड के वर्तमान प्रधानसचिव बाल्डविन साहब ने निर्वाचन संबन्धी अपने एक भाषण में अपने पक्ष द्वारा किये गये काम का वर्णन करते हुए कहा था, "We have made the world safe for democracy"। विभिन्न पाश्चात्य राजनितिज्ञ और मुसाहिब भी अपने आपको प्रजातन्त्र के मंत्र-द्रष्टा ऋषि कहलवाते हैं। यही नहीं, वे तो यह भी दावा करते हैं कि पश्चिमी वायुमंडल में लहलहाने वाला यह प्रजातन्त्र का पौदा पूर्व की गरम हवा में निश्चित रूप से कुम्हला जायगा। उनका तो खयाल है कि पूर्वी देशों में अगर कोई शासन-पद्धति फ़ायदेमन्द हो सकती है तो वह है Benevolent Despotism (हितकर अनियंत्रितता)। अतः आइए, हम देखें कि जिस प्रजातन्त्र के पक्ष में पश्चिम में ज़ोरों से आवाज़ उठाई जा रही है, उसका असली स्वरूप क्या है ?

पश्चिम के ख़ास-ख़ास राष्ट्रों पर नज़र डालने पर हम देखते हैं कि वहाँ या तो प्रतिनिधि लोकसत्तात्मक शासन-पद्धति प्रचलित है या मर्यादित राजसत्ता। फ्रांस और इंग्लैण्ड को इनके उदाहरण के बतौर पेश किया जा सकता है। शासन-शास्त्रज्ञों का कहना है कि इन देशों की शासन-पद्धति का विश्लेषण करने से पश्चिमी प्रजातन्त्रवाद के सारे अंगोपांगों का ठीक-ठीक रूप प्रकट हो सकता है। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रजातन्त्रवाद की उत्पत्ति, स्थिति और दिन-दिन बढ़ती हुई प्रगति इंग्लैंड में ही हुई है, होती है और भविष्य में भी होगी। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ इस बात को बड़े अभिमान और प्रसन्नतापूर्वक प्रकट करते रहते हैं कि ब्रिटिश पार्लमेन्ट ही तमाम लोकसभाओं की जननी है। इंग्लैंड की इस गर्वोक्ति की अगर हम परीक्षा करेंगे तो आधुनिक प्रजातन्त्रवाद का सच्चा स्वरूप अपने आप बड़े अच्छे ढंग से प्रकट हो जायगा।

प्रजातन्त्र की सर्वसंग्राहक परिभाषा बनाना भले ही कुछ कठिन मालूम हो, तोभी हम यह कह सकते हैं कि प्रजातन्त्र लोगों का वह शासन है जो लोगों के द्वारा, लोककल्याण के लिए किया जाता है (Government of the people, by the people, and in the interest of the people)। यह एक साध्य है और सब लोगों द्वारा सब प्रश्नों पर निर्णायक मत प्राप्त करके तदनुसार राज्य-प्रबन्ध करना व्यवहार में क़रीब-क़रीब अशक्य होने के कारण लोकप्रतिनिधित्व की प्रथा सब राष्ट्रों में आजकल इस साध्य के साधन के बतौर प्रचलित है। लोगों से सीधे राज्य-प्रबन्ध न करवा कर उनमें से जो विद्या में, व्यापार में, या दूसरे गुणों में श्रेष्ठ होते हैं उनके हाथ में राज्य-व्यवस्था के सूत्रों को सौंपना ही लोकप्रतिनिधि राज्य-प्रबंध कहलाता है। सब के सब लोगों को इस तरह अपने-अपने प्रतिनिधि चुनने देने का परिणाम भी अच्छा नहीं होता, इसलिए तथा इसी प्रकार के और किसी खयाल से मताधिकार (Franchise) भी प्रायः प्रत्येक राष्ट्र में मर्यादित ही रक्खा जाता है। मजदूरों को मताधिकार मिले अभी ज्यादा समय नहीं हुआ। स्त्रियों को तो अभी-अभी मताधिकार और निर्वाचन संबन्धी

सहूलियतें मिलने लगी हैं। आज भी कितने ही भले आदमियों को इस अधिकार की पात्रता के विषय में शंका बनी हुई है। इस प्रकार मर्यादित लोगों द्वारा चुने हुए ५००-६०० लोगों द्वारा राज्य-प्रबन्ध होना भी अशक्य प्रतीत होने के कारण इन ५००-६०० लोगों में से भी खास-खास लोग अर्थात् बहुमत वाले पक्ष के नेता तथा प्रभावशाली लोगों का एक छोटा सा मन्त्रि-मण्डल (Cabinet) बना दिया जाता है और राज्य की बागडोर उसके हाथों में सौंप दी जाती है। पर इस मन्त्रि-मंडल की कल्पना के साथ ही विभिन्न पक्ष और उपपक्ष, उनकी पारस्परिक स्पर्धा, जुदे-जुदे कार्यक्रम, अपनी भावी नीति को क़ायम करने वाली घोषणाओं आदि की कल्पना भी सभी देशों में पाई जाती है। इस तरह चुने हुए लोगों द्वारा कहीं अक्षम्य जल्दबाजी अथवा अविचार के कारण कोई क़ानून कहीं पास न हो जाय इसलिए इन लोक-प्रतिनिधियों की सभा (House of commons अथवा Representatives) पर एक तरह का हितकर दबाव (a wholesome check) बनाये रखने के लिए बड़े लोगों की एक सभा (House of Lords, Senate आदि) क़ायम की जाती है। इस सभा में जमींदार, सरदार, मुख्य-मुख्य व्यापारी आदि बड़े-बड़े प्रतिनिधि रहते हैं। इंग्लैंड में कल-परसों तक इस सभा के हाथ में एक बहुत बड़ी प्रतिबन्धक सत्ता थी, परन्तु उनकी इस रुकावट को मिटाने के लिए और इस बड़ी सभा की रचना में सुधार करने की मन्शा से एक नया नियम बनाया गया। उसके द्वारा इस सभा की सत्ता को छीन लिया गया और खासकर आर्थिक मामलों में उसके सारे अधिकार दबा दिये गये। अतः अब प्रधान तथा सारी सत्ता लोकप्रतिनिधि-सभा के ही हाथों में है। स्विटजरलैण्ड के समान कितने ही देशों में महत्व के प्रश्नों पर सारी जनता का मत लिया जाता है। इस मत-प्रदर्शन को Representation कहते हैं। इसके अतिरिक्त समान प्रतिनिधित्व Proportional R ferendum अल्पमत वालों के अधिकारों की रक्षा आदि कई जुदे-जुदे उपायों की योजना भी की गई है। स्थूलतः प्रजातंत्र के ढांचे का यही स्वरूप है। अब हमें यह देखना है कि प्रजातंत्र की इस ठठरी में प्रजातंत्रवाद का प्राण या उसकी आत्मा कहाँ है? खास इंग्लैण्ड में प्रजातंत्र के बाहरी भभके से लोग कितने सन्तुष्ट हैं? अगर वे संतुष्ट होते तो एक के बाद एक मजदूरों की हड़तालें क्यों होतीं? मजदूरी बढ़ाने और काम के घंटों को कम करने के लिए मजदूर वर्ग को हमेशा क्यों झगड़ना पड़ता है? नित्य नये क़ानून बना कर मजदूरों पर क्यों गजब ढाहा जाता? रूसी साम्यवादियों (Communists) के मत को इंग्लैण्ड में रह कर प्रकट करने वाला मनुष्य शत्रु क्यों समझा जाता और उस पर कड़ी निगाह क्यों रक्खी जाती? भाई सकलतवाला जैसे स्वातंत्र्य-प्रेमी और सब की समता में विश्वास रख कर उसे बढ़ावा देने वाले लोक-सभा के सामान्य सभासद को भारत लौटने के लिए पासपोर्ट क्यों नहीं दिया गया? (अपूर्ण)

कृष्णाजी रामचन्द्र कुलकर्णी

मन्त्र

वह मानव देह निरर्थक जो,
परतन्त्र रही निज जीवन में।
पशु-तुल्य उसे समझो जिसका,
नित ध्यान रहे मन-रंजन में॥
जिस पामर को न व्यथा दिखती,
निज बन्धु जनों कुल क्रन्दन में।
वह दानव है जिसके न उठे,
करुणामय भाव कभी मन में॥

पूर्णचन्द्र टुंकलिया 'विशारद'

महात्माजी का स्वराज्य

बम्बई के दंगे तो समाप्त हो ही चुके थे, परन्तु उन्होंने महात्माजी के इस निश्चय को और भी अधिक दृढ़ कर दिया कि भारत के राजनैतिक जीवन को प्रगतिशील बनाने के लिए देश में सबसे पहले अहिंसा का व्यापक प्रचार होना बहुत जरूरी है। जहाँ तक जनता में अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रचार से सम्बन्ध है, हमारे कार्यकर्त्ताओं को अपने प्रयत्नों में आवश्यकता से कहीं कम सफलता प्राप्त हुई है। स्वयं कार्यकर्त्ता ही अहिंसा की आत्मा को भलीभाँति नहीं समझ पाये थे। महात्माजी ने तो अपने सामने अहिंसात्मक आन्दोलन की पुकार को देश-व्यापी बनाने का आदर्श रक्खा था और उनका विश्वास था कि अगर यह पुकार देश भर के कार्यकर्त्ताओं तक पहुँच जाय, तो निस्सन्देह जनता की ओर से इसका योग्य उत्तर मिलेगा। यहाँ यह तो स्पष्ट ही था कि देश के हिंसा-प्रिय लोगों में अहिंसा-प्रेम जागृत करने के लिए कार्यकर्त्ता-गण उसी हद तक सफल हो सकते थे, जिस हद तक कि वे स्वयं अहिंसा-प्रेम की आत्मा में घुस कर अपना व्यवहार अहिंसात्मक बना चुके थे। दूसरे उनका कहना यह भी था कि अहिंसा-प्रेम का उपदेश केवल मौखिक ही न रहे। केवल जबानी उपदेशों के बल पर अहिंसात्मक आन्दोलन अपने आस-पास शान्ति-पूर्ण वातावरण स्थिर नहीं रख सकता। अगर सारे कार्यकर्त्ता अपने दैनिक जीवन में अहिंसा की मूल आत्मा का चारों ओर प्रचार करें, और अपने प्रत्यक्ष व्यवहार द्वारा प्राणिमात्र के लिए अपनी सदिच्छा प्रकट कर सकें, तो देश के कोने-कोने में अनेकता के बदले एकता और कलह के बदले शान्ति सहज ही स्थापित हो सकती है।

हिन्दू-मुसलिम ऐक्य पर विचार करते हुए महात्माजी ने यह महसूस किया कि इस मसले को हल करने में भी अहिंसा का प्रयोग ही हितकर होगा। पारस्परिक घृणा और द्वेष-भाव को, जो हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य के मूल कारण हैं और जो देश में समय-समय पर भयंकर और व्यापक होते रहे हैं, मिटाने के लिए आत्म-संयम और अहिंसात्मक व्यवहार की बड़ी जरूरत है। क्योंकि वे तो इसे एक स्वयं-सिद्ध सिद्धान्त मानते हैं कि जब तक हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को अपना शत्रु समझते रहेंगे तब तक अपनी कमजोरी और बेबसी के कारण वे बराबर राज्य-कर्त्ताओं की शरण लेते और उनके हस्तक्षेप को स्वीकार करते रहेंगे। इस तरह सरकार इन लोगों को बारी-बारी से दबाती रहेगी और कभी एक की तो कभी दूसरे की मदद से अपना उल्लू भी सीधा करती रहेगी।

देश के जातीय वैमनस्य को मिटाने के लिए विदेशी नौकरशाही की इस दस्तन्दाज़ी के सवाल को कुछ देर के लिए एक ओर रख कर महात्माजी आगे बढ़ना चाहेंगे। मान लीजिए, महात्माजी कहेंगे कि हमारे पारस्परिक कलह और द्वेष-भाव से बेजा फ़ायदा उठाने वाली कोई परायी सरकार देश में नहीं है। तिस पर भी हमारे आपस के झगड़े-टंटे वैसे ही बने ही रहे, तो अधिक समय तक इस भयंकर भेद-भाव को रखते हुए हम अपनी स्वतंत्रता को अछूत रख सकेंगे या नहीं, यह एक सवाल बना रहता है। यह बहुत कुछ संभव है कि हमारी कमजोरी और जातीय कलह-प्रियता के कारण, स्वेच्छा से न भी हो, हम किसी न किसी विदेशी सत्ता के शिकार जरूर बन जायँगे।

महात्माजी थोड़ा और भी आगे बढ़ेंगे और कहेंगे, मान लिया कि हम किसी परकीय-सरकार के शिकार

न बने तो भी आम-जनता के लिए तब तक स्वराज्य क़ायम नहीं हो सकता, जब तक कि हमारे आपस के लड़ाई-झगड़े और द्वेष-भाव मिट न जाँय और हम सब एक होकर अहिंसा के सर्व शक्तिमान झंडे के नीचे खड़े न हो जायँ। क्योंकि हिन्दुस्थान की सीमा के भीतर ही ऐसे कई शक्तिशाली बनने की इच्छा करने लगे वाले लोग हैं, जो अपनी ताकत बढ़ाना और राज्य क़ायम करना चाहेंगे और हमारे आपस के लड़ाई-झगड़ों और द्वेष-भाव से फ़ायदा उठा कर देश में वैमनस्य का वातावरण उत्पन्न करके अपना मतलब भी साधेंगे। अगर ये लोग अपना राज्य क़ायम करने में कामयाब हुए, तो क्या यह माना जा सकेगा कि वे इतिहास का एक नया पृष्ठ पलटेंगे और अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए देश के फूले-फले करोड़ों लोगों पर दमन और अत्याचार का कुचक्र चलाने से बाज़ आवेंगे?

अतः यह स्पष्ट है कि प्रश्न केवल वर्तमान विदेशी सरकार के पंजे से छूटने और भविष्य में परायी जातियों के आक्रमण से बचने का ही नहीं है। सवाल तो यह है कि देश के जन-साधारण के लिए यह कैसे संभव होगा कि वे अवसर आने पर अपने को देश के अधिक ताक़त वाले वर्गों के शासन और दमन से सुरक्षित रख सकें? क्योंकि, एक ओर तो अहिंसात्मक बातों से नाम-मात्र का भी सम्बन्ध न रहने और जनता पर निर्भयता-पूर्वक स्व-शासन के क़ायम हो जाने से ये वर्ग आम जनता को लूटने, दबाने और उसपर अत्याचार करने के लिए अपनी शक्ति का दुरुपयोग करेंगे और दूसरी ओर पीड़ित प्रजा भी स्वभावतः पशुबल द्वारा देशी शासक वर्ग की सत्ता को जड़-मूल से उतार फेंकने का प्रयत्न करेगी।

किन्तु महात्माजी कहते हैं कि हम अहिंसात्मक-आन्दोलन की लहर को देश के कोने-कोने में पहुँचा सकेंगे. अगर अहिंसा के प्रचार के लिए देश के लोग एक बड़ी संख्या में शुद्ध भाव से सराबोर होकर काम करने को तैयार हो जायँ। अतः उनके अनुसार आज देश की सबसे बड़ी ज़रूरत यह है कि हम इस आन्दोलन के लिए कार्यकर्त्ताओं की एक ऐसी सेना खड़ी करें, जो देश में अहिंसा के प्रचार के लिए लगन से काम करे। और महात्माजी इस बात की घोषणा करते हैं कि जिस परिणाम में अहिंसा हमारे जीवन का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त बनती जायगी उसी परिणाम में लोगों की वह भावना बढ़ेगी, जिसके द्वारा वे जनता पर शासन करने की अपेक्षा उसकी सेवा करना अधिक पसन्द करेंगे।

इस प्रकार अहिंसात्मक उपदेश को हृदय से स्वीकार कर लेने से शासन-तृष्णा और स्वार्थ-साधन की कुभावना के मूल पर अपने आप ही कुठाराघात होता है और उसके बदले देश के असंख्य ग़रीब भाई-बहनों की सेवा करने की इच्छा उत्पन्न होती है। अतः जो लोग जन-साधारण की सेवा के इच्छुक हैं और लोकमत को शिक्षित करने तथा उसे एक नये ध्येय पर ले जाने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, उन्हें हिंसा के मार्ग को छोड़ कर अहिंसा की शरण लेनी चाहिए। यह शिक्षित लोक-मत ही सारी जनता का सच्चा मत है। इसे शासकवर्गों की इच्छा और उनके मत से भिन्न समझना चाहिए। यह तो एक मानी हुई बात है कि जो लोग लोकमत या प्रजामत को प्रधानता देना नहीं चाहते किन्तु उलटे अपनी इच्छा को प्रजा पर लादना चाहते हैं, प्रजामत को अपनी इच्छा के आगे ग़ुलाम और निर्बल बनाने की फ़िक्र में रहते हैं, उन्हें बरबस हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा। अतः महात्माजी के कथनानुसार सच्चा स्वराज्य उसी समय स्थापित हो सकेगा, जब सत्ता शुद्ध लोकमत के द्वारा संचालित होगी।

इसी लिए महात्माजी की दृष्टि में प्रधानतः स्वराज्य का विदेशी शासन के नाश से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि विदेशी शासन के बदले देश की ही कोई ज़बर्दस्त शक्ति अपना अधिकार स्थापित कर सकती है—विदेशी सत्ता के बदले देशी नौकरशाही का अधिकार क़ायम हो सकता है। अतः अहिंसात्मक असहयोग को प्रारंभ करने में महात्माजी का मूल उद्देश स्वेच्छाचारी देशी या विदेशी वर्ग या वर्ग-समूहों के स्थान पर लोकमत सिंहासनारूढ़ कराना था, जिसमें स्वेच्छाचारी शासन लोकमत का अनुयायी और मातहत बन जाय। अर्थात् अत्याचारी विदेशी शक्ति का अन्त करना, उसका नाश करना, अथवा अंग्रेजों को देश से बाहर निकाल देना ही महात्माजी का मुख्य उद्देश नहीं है। सबसे बड़ी जरूरत तो इस बात की है कि वर्तमान नौकरशाही देश के लोकमत के अधीन हो जाय। क्योंकि हमें तो सदा के लिए देश की राजनैतिक सत्ता के उन हथकंडों और जनता की आर्थिक लूट के उन साधनों को नष्ट-भ्रष्ट कर देने की जरूरत है, जिनके कारण आज लोकमत निर्दयता-पूर्वक कुचला जाता है और जगह-जगह अपमानित किया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर इस मामले में जातीय वैमनस्य का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता।

देश में अहिंसा का जितना सुदृढ़ वायुमंडल तैयार होगा, उतनी ही दृढ़ता के साथ देश के विभिन्न वर्गों में एकता तथा शान्ति का स्वराज्य उत्पन्न, विस्तारित और स्थापित किया जा सकेगा। जितनी ही अधिक एकता और शान्ति होगी, हिन्दुस्थान के संयुक्त लोकमत की प्रतिष्ठा और शक्ति उतनी ही बढ़ेगी। अर्थात् ऐसी दशा में लोकमत अपनी शक्ति का सिक्का जमा सकेगा और भारतीय जनता यह जान जायगी कि अत्याचारी सत्ता से आत्मसंरक्षण किस तरह किया जाय। फलतः वर्तमान नौकरशाही के चारों ओर फैला हुआ हिंसा-पूर्ण वातावरण धीरे-धीरे अपने आप ही नष्ट होता जायगा और भारत के संयुक्त लोकमत की शक्ति के द्वारा, इस बदली हुई परिस्थिति में, सरकार को अपनी निरंकुश सत्ता के सिंहासन से उतर कर जनता के मत के अनुकूल बनना पड़ेगा। इस तरह विदेशी नौकरशाही की निरंकुश इच्छा के स्थान पर राष्ट्रीय रूप में अहिंसात्मक नीति का आरम्भ और अवलम्बन लोकमत को उत्पन्न करेगा और उसे सिंहासनारूढ़ भी करा देगा। नौकरशाही की यह निरंकुश इच्छा जबर्दस्ती और हिंसा पर आधार रखती है। सुदूर भविष्य में अहिंसा की राष्ट्रीय नीति के द्वारा नौकरशाही को लोकमत के अधीन किया जा सकेगा और शान्ति तथा अहिंसा के सुदृढ़ स्तम्भों पर जनता के सुरक्षित स्वराज्य की इमारत खड़ी की जा सकेगी।

अब इस चित्र का दूसरा पहलू देखिए। अगर अहिंसात्मक नीति हिन्दुस्थान की राष्ट्र-नीति नहीं बनी तो उसका परिणाम यह होगा कि परकीय लूटखोर शासकों के विरुद्ध देश में दुश्मनी और द्वेष की मात्रा दिन पर दिन दृढ़ता और भयंकरता के साथ बढ़ती जायगी। कल्पना कीजिए कि इस भयंकर रोष का अन्तिम परिणाम नौकरशाही के विरुद्ध एक संगठित बलवा हो, और वह सफल भी हो। इस सफलता का नतीजा क्या होगा? उत्तर पहले ही दिया जा चुका है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि वर्तमान नौकरशाही के नाश के मानी देश में सच्चे स्वराज्य की स्थापना नहीं है। अर्थात् वह स्वराज्य क़ायम नहीं हो सकेगा, जिसमें वर्तमान पीड़ित प्रजा की आवाज़ हमारे देश का लोकमत ही सर्वेसर्वा होगा और जिसमें स्वदेशी वर्ग या वर्गों का कोई अत्याचार शेष नहीं रह सकेगा। जो देश देशी अधिकारियों के द्वारा शासित हैं, जिनमें विदेशी सत्ता का प्रवेश नहीं है,

वहाँ हम क्या देखते हैं ? क्या वहाँ की जनता को शासक-वर्ग के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाने में आकाश-पाताल एक नहीं करना पड़ता ? स्वतन्त्र कहे जाने वाले सारे देशों में शासन की बागडोर आज भी केवल उन मुट्ठीभर शासक लोगों के हाथ में है, जो अधिकांश में पूँजीपतियों से खूब हिले-मिले रहते हैं। भूतकालीन इतिहास और वर्तमान काल की घटनाओं के आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित किया जा सकता है कि स्वतन्त्र कहे जाने वाले राष्ट्रों में देशी शासकवर्गों ने प्रजातन्त्र के नाम पर साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के स्वार्थ के लिए जनता को दबा रक्खा है। स्वतन्त्र राष्ट्रों के देशी शासन में लोकमत की इस दुर्दशा को देख कर हमें अपने सच्चे भारतीय स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्नों में विशेष जागरूक होना चाहिए। क्योंकि अकेले विदेशी शासन के नाश के दो ही परिणाम तो हो सकते हैं—(१) जनता जहाँ की तहाँ बनी रहे, या (२) उसकी दशा और भी बदतर हो जाय। अतः अगर सुसंगठित हिंसात्मक साधनों द्वारा देश की परकीय सत्ता को खदेड़ कर हमने सीमा-बाहर कर भी दिया, तो यह कोई निश्चित नहीं है कि देश का समस्त लोकमत अपना स्वाभाविक स्थान प्राप्त कर ही लेगा। वर्ग-विशेष की सेनाओं द्वारा या अन्यथा हिंसा का अवलम्बन करने पर यदि देश को स्वाधीनता मिल भी गई, तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि अवमें आगे देश में लोकमत का ही सर्व-सर्वा प्राधान्य रहेगा। अर्थात् हिंसा को राष्ट्र-नीति बना लेने से भारतीय जनता देश के लूटखोर शासक-वर्गों के पंजों से मुक्त न हो सकेगी। अतः महात्माजी इस निश्चित परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतीय जनता के मत को तभी प्रधानता मिलेगी, और देश में लोकमत का स्वराज्य तभी क़ायम हो सकेगा, जब कि सारा राष्ट्र अहिंसात्मक असहयोग को अपनी राष्ट्र-नीति मानने लगेगा और उसी तरह अहिंसात्मक साधनों तथा कार्यों द्वारा देश में संगठित और ठोस काम करना आरम्भ कर देगा।

कृष्णदास

जीवन और शिक्षण

आज-कल की शिक्षा-प्रणाली विचित्र है। इसके कारण हमारा जीवन दो हिस्सों में बँट जाता है। जीवन के पहले पंद्रह-बीस बरस तो मनुष्य जीने के झगड़े में ही न पड़े, केवल शिक्षा ग्रहण करता रहे और फिर शिक्षा को ताक में रख कर मरते-दम तक उदर-पूर्त्ति में लगा रहे।

यह ढंग तो क़ुदरत की मर्जी के खिलाफ़ है। हाथ-भर का बालक साढ़े-तीन हाथ का कैसे बन जाता है, यह न तो उसके ख़याल में आता है और न दूसरों के ही। शरीर प्रति-दिन बढ़ता जाता है। यह बढ़ती धीरे-धीरे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में होती रहती है। इसलिए किसीको उसका ख़याल तक नहीं होता। यह कभी नहीं होता कि आज रात को सोने के पहले तो बालक दो फ़ुट का हो और सबेरे उठने पर वह ढाई फ़ुट का हो जाय। आज-कल की शिक्षा में यह विशेषता है कि फ़लां वर्ष के आख़िरी दिन तक भी यदि मनुष्य जीवन और जीविका के विषय में पूरी तरह ग़ैर-ज़िम्मेदार बना रहे तो काम चल सकता है—नहीं, बल्कि तब तक ग़ैर-ज़िम्मेदार रहना भी चाहिए; पर अगले साल का पहला दिन उगते ही उसे सारी ज़िम्मेदारी अपने सिर उठाने को तैयार हो जाना चाहिए। सम्पूर्ण ग़ैर-ज़िम्मेदारी के अन्दर से एकदम सम्पूर्ण ज़िम्मेदारी में कूदना मानों हनुमान-उड़ान लगाना है। ऐसी उड़ान उड़ने के प्रयत्न में अगर हाथ-पाँव टूटें भी, तो उसमें आश्चर्य क्या ?

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कुरुक्षेत्र में भगवद्गीता सुनाई। भगवद्गीता पहले पढ़ा कर फिर उन्हें लड़ाई के मैदान में नहीं भेजा था! इसी कारण गीता को वह हज़म भी कर सके। पढ़ाई, जीवन-कलह की तैयारी कही जाती है पर उसे वास्तविक जीवन से हम एकदम अछूत रखना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि ऐसे ज्ञान से जीवन के बजाय मरण की तैयारी ज्यादा जल्दी होती है!

बीस बरस का एक उत्साही नवयुवक पढ़ाई में मग्न है। वह कई तरह के हवाई किले बाँधता है— "छत्रपति शिवाजी की तरह मैं भी अपनी मातृभूमि की सेवा करूँगा, वाल्मीकि के समान कवि बनूँगा, न्यूटन के समान नई-नई बातों की खोज करूँगा।" इस तरह एक दो नहीं, कई कल्पनायें, उसके दिमाग़ में चक्कर काटती रहती हैं। ऐसी कल्पना करने वाले भी इने-गिने ही भाग्यशाली होते हैं पर हम उन्हींकी बात लें। इन कल्पनाओं का परिणाम क्या होता है? ज़रासा पेट, पर उसके लिए कितनी खट पट! पेट का सवाल सामने आते ही आदमी गाय बन जाता है। उसे सपने में भी खयाल नहीं था कि गृहस्थी की ज़िम्मेदारी किस चिड़िया का नाम है, पर एकाएक ज़िम्मेदारी का पहाड़ उसके सामने खड़ा हो जाता है। ऐसे समय वह क्या करे? करे क्या? पेट के लिए दर-दर भटकने वाला शिवाजी, हृदय को पानी-पानी कर देने वाले दुःखों की कथा गाने वाला वाल्मीकि और कभी नौकरी तो कभी औरत, कभी लड़कियों के लिए वर तो कभी घर और अन्त में स्मशान की खोज करने वाला न्यूटन, वह बनता है और अपनी उच्चतम कल्पना का समाधान कर लेता है। यह है उस हनुमान-उड़ान का परिणाम।

'क्यों भाई! आप आगे क्या करेंगे?' एक मैट्रिक के विद्यार्थी से पूछा गया।

'आगे क्या? आगे कालेज में जावेंगे, और क्या?'

'हाँ, कॉलेज में तो जाना ठीक है, पर सवाल यही है कि उसके बाद आप क्या करेंगे?'

'हाँ, सवाल तो है, पर अभी से उसकी चिंता क्यों? आगे देखा जायगा।'

तीन साल बाद उस विद्यार्थी से फिर वही सवाल पूछा गया।

'अभी तक कुछ ठीक निश्चय नहीं हुआ।'

'ठीक निश्चय नहीं हुआ। इसके मानी? बैठ कर कभी सोचा भी था?'

'नहीं साहब, सोचा ही नहीं, सोचूं क्या? कुछ समझ नहीं पड़ता। फिर अभी तो डेढ़ साल की देर है, 'आगे देखा जायगा।'

तीन साल पहले भी यही "आगे देखा जायगा।" शब्द कहे गये थे, आज भी वही। परन्तु पहले की आवाज़ में आजादी की झलक थी, आज के उत्तर में चिन्ता की छाया साफ़ दीख रही थी।

डेढ़ वर्ष बाद फिर उसी मनुष्य ने उस विद्यार्थी से, जो आज गृहस्थ हैं, वही सवाल पूछा! अब तो चेहरे पर चिंता के कारण हवाइयाँ उड़ रहीं थीं। आवाज में आजादी का कोसों पता नहीं था। 'ततः किं, ततः किं ततः किं, ततः किं?' का सनातन सवाल शंकराचार्य की भाँति, आज उसके दिमाग़ में भी जोरों से चक्कर काट रहा था। पर उत्तर सूझता नहीं।

आज की मौत को कल पर टालते-टालते एक दिन ऐसा भी आता है, जब मरना पड़ता है इस दुर्दैव का सामना उन्हें नहीं करना पड़ता, जो मरने के पहले ही तैयार रहते हैं—जो अपनी मौत को अपनी आँखों देखते रहते हैं, जो पहले ही मौत को अनुभव कर लेते हैं, उनके पास मौत फटकती तक नहीं।

परन्तु जो पहले से मौत का अनुभव लेने से डरते हैं, हिम्मत हार जाते हैं, उनकी छाती पर मौत मूंग दलने लगती है। अंधे को अपने सामने वाले खम्भ का पता तभी लगता है, जब उसका सिर उससे टकरा जाता है। आँख वाले को वह खंभा पहले से दिखता है, इसी कारण उसे टक्कर नहीं खानी पड़ती।

जीवन की जिम्मेदारी का मतलब एकदम मौत नहीं है। और मौत है भी कहां ऐसी भयंकर चीज ? अनुभव की कमी ही इस डर का मूल है। वास्तव में जीवन और मरण तो दोनों बड़े आनन्द-दायक होने चाहिएँ। क्योंकि वे तो हमें अपने परम प्रिय पिता परमेश्वर से प्राप्त हुए हैं। भगवान् ने जिन्दगी को दुःख पूर्ण नहीं बनाया है। पर सवाल यह है कि हम उसे कैसे बिता रहे हैं ? दुनिया में ऐसा कौनसा पिता है, जो अपने लड़कों की जिन्दगी को आफतों से भरी हुई देखना चाहे ? फिर ईश्वर के प्रेम और उसकी करुणा की कहीं सीमा भी है ? वह अपने लाड़ले बालकों के लिए सुखमय जीवन चाहेगा या कष्टमय ? कल्पना की क्या जरूरत प्रत्यक्ष ही देखिए न ? हमें जिस बात की जितनी ज्यादा जरूरत रहती है, परमात्मा ने उसे उतनी ही सुलभ कर रक्खा है। पानी की अपेक्षा हवा ज्यादा जरूरी है इसीलिए परमेश्वर ने उसे पानी से अधिक सुलभ बनाया है। जहाँ नाक है वहाँ हवा भी मौजूद है ! पानी से अन्न की जरूरत कम रहती है, अतएव पानी की अपेक्षा अन्न ज्यादा कष्ट से मिलता है। 'आत्मा' का महत्व सब से अधिक जानकर परमात्मा ने हरएक को एक एक आत्मा हमेशा के लिए दे डाली है। परमात्मा ने हमारे लिए कैसा प्रेम-पूर्ण प्रबन्ध कर रक्खा है इसका विचार न करके अगर हम आभूषण जैसी निकम्मी चीजें इकट्ठी करके अपनी जड़ता का परिचय दें तो इसमें दोष हमारी जड़ता का है, परमेश्वर का नहीं।

जीवन की जिम्मेदारी कोई भयंकर चीज नहीं है। वह तो बड़े मजे की बात है। लेकिन यह तब हो, जब हम ईश्वर की जीवन-सम्बन्धी इस सरल योजना को ध्यान में रखकर ऐरी-गैरी इच्छाओं का दमन करने लगें। जीवन जिस तरह आनन्द पूर्ण है उसी तरह शिक्षा-पूर्ण भी है। जिसने जीवन की जिम्मेदारियों को भुला दिया, वह अपनी सारी शिक्षा पर पानी फेर चुका, यही समझना चाहिए। कई एक भाई ऐसा सोचते हैं कि अगर बचपन ही से बालक को जिन्दगी की जिम्मेदारियों का भान रहा तो उसका जीवन कुम्हला जायगा। परन्तु अगर जीवन की जिम्मेदारी के खयाल से जीवन मुरझाने लगे, तो यही कहना पड़ेगा कि जीवन नाम की यह वस्तु किसी भी प्रकार संरक्षणीय नहीं है। आज तो इस तरह की बातें बड़े-बड़े शिक्षण-शास्त्रियों तक के मुँह से सुनी जाती हैं। हमारी समझ में इसका कारण जीवन के बारे में उनकी दुष्ट भावना ही है। जीवन को वे 'कलह' समझे बैठे हैं। 'इसोप नीति' के माने हुए 'अ-रसिक' परन्तु मर्मज्ञ मुर्गे से शिक्षा ग्रहण कर जौ के दाने की अपेक्षा मोती का अपनाना छोड़ दिया जाय तो 'जीवन-कलह' नष्ट हो कर जीवन में एक साथ काम करने की भावना पैदा हो जाय। 'बन्दर के हाथ में मोतियों की माला' की कहावत जिसने बनाई उसने आदमियों की आदमीयत साबित न करके सचमुच ही उनके पुरखाओं के बारे में डार्विन के मत को ही साबित किया है। परन्तु 'मारुति के हाथ में मोतियों की माला' वाली कहावत के बनाने वालों ने अपने मनुष्यत्व की रक्षा जरूर की है।

जीवन अगर सचमुच ही खौफनाक चीज है, 'कलह' है, तो बालकों को उसमें मत घुसने दो और न खुद ही उसकी फिक्र करो। परन्तु यदि वह उपभोग्य वस्तु है, तो बच्चों को भी उसमें जरूर भाग लेने दो।

उनकी शिक्षा का इससे अच्छा तरीका ही नहीं है। भगवद्‌गीता जिस तरह कुरुक्षेत्र में सुनाई गई, शिक्षा भी उसी तरह जीवन-क्षेत्र में ही दिया जाना चाहिए—दे सकते हैं। 'दे सकते हैं' कहना ठीक नहीं वह 'वहीं मिल सकेगी' कहना चाहिए।

काम करते हुए अर्जुन के सामने एक सवाल खड़ा हुआ, उसका जवाब देने के लिए भगवद्‌गीता बनी। इसीका नाम शिक्षा है। लड़के को खेत में काम करने दो। काम करने में अगर कोई कठिनाई खड़ी हो, तो उसे हल करने के लिए सृष्टि-शास्त्र, पदार्थ विज्ञान या दूसरी जरूरी बातों का प्रमाण दे कर साबित करो। सच्ची शिक्षा यही है। बालक को रोटी बनाने दो। बनाते समय, अगर जरूरत हो तो उसे रसायन-शास्त्र की बातें बतलाओ। परन्तु ख्याल रहे कि शिक्षा उसे अनायास मिले। रात-दिन के काम करने वाले आदमी को भी शिक्षा तो मिलती ही है। विद्यार्थी को भी ऐसी ही शिक्षा दी जानी चाहिए। अन्तर केवल इतना ही रहे कि उसके आस-पास जरूरत के मुताबिक रास्ता बतलाने वाले लोग हमेशा बने रहें। ये लोग भी 'शिक्षक' के नाते नियुक्त न किये जाँय। वे भी जीवन यापन करते रहें जैसे दुनियाँ के मामूली लोग करते हैं। फर्क इतना होना चाहिए कि 'शिक्षक' कहलाने वालों का जीवन विचार-मय हो, और समय पड़ने पर वे अपने विचारों को बालकों तक पहुँचाने की योग्यता रखते हों। 'शिक्षक' नाम का कोई जुदा धन्धा अनावश्यक है। 'विद्यार्थी' नाम-धारी मनुष्य-श्रेणी से परे का कोई जीव हमें नहीं चाहिए। क्या करते हो ? पूछने पर 'सीखता हूँ' 'पढ़ता हूँ' या 'पढ़ाता हूँ' के ढंग का उत्तर भी हमें नहीं चाहिए। 'खेती करता हूँ' 'कपड़े बुनता हूँ' इस प्रकार के 'औद्योगिक' कहिए या 'व्यापारिक' परन्तु जीवन को लागू होने वाले जवाब मिलने चाहिए। उदाहरण के तौर पर श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र, को ही क्यों न लें ? विश्वामित्र यज्ञ कर रहे थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से उनके लड़के माँगे। उसी काम के लिए दशरथ ने अपने लड़कों को उन्हें सौंपा। जाते समय हम यज्ञ-रक्षा के 'काम' के लिए जाते हैं, ऐसी उत्तरदायित्व पूर्ण भावना उनके हृदय में विद्यमान थी। इससे उन्हें अपूर्व शिक्षा प्राप्त हुई। अगर कोई पूछे कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहा जायगा कि उन्होंने 'यज्ञ की रक्षा की।' उसकी 'शिक्षा प्राप्त की' यह बात नहीं, परन्तु 'शिक्षा प्राप्त' हुई, यह बात भूली नहीं जा सकती, माननी पड़ती है।

शिक्षा कर्त्तव्य-कर्म का एक सहज फल है। जो अपना कर्त्तव्य करता रहता है, उसे जाने-अजाने शिक्षा मिलती ही रहती है। छोटे बालकों को भी शिक्षा इसी तरह मिलनी चाहिए। औरों को वह ठोकर खाते-खाते मिलती है। छोटे बालकों में ठोकरें खाने की उतनी शक्ति न रहने के कारण उन्हें अधिक कष्ट न हो ऐसा वायु-मण्डल उनके चारों तरफ पैदा करना चाहिए। वे धीरे-धीरे अपने पैरों पर खड़े होने लगें, ऐसी इच्छा और ऐसा ही प्रबन्ध होना चाहिए। 'शिक्षा' एक तरह का फल है, और 'मा फलेषु कदाचन' की मर्यादा इस फल को भी बाँध लेती है। 'शिक्षा के लिए कोई काम करना,' एक सकाम कर्म हुआ। उसमें 'इदमद्य मया लब्धं' आज मुझे यह मिला, 'इदं प्राप्स्ये'—कल मैं उसे भी ले लूँगा, इत्यादि वासनायें आ ही जाती हैं। इसलिए इस 'शिक्षा के मोह से' छूटना चाहिए। जो इस मोह को छोड़ देता है, वही अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त करता है। माँ, बीमार हैं। उनकी सेवा करने से मुझे बहुत कुछ शिक्षा मिल सकेगी। परन्तु इस शिक्षा के लोभ से माताजी

की सेवा न करके 'उनकी सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है' इस दृष्टि से उसे करना चाहिए। अथवा माताजी रुग्ण हैं और उनकी सेवा करने से मेरा दूसरी ओर जिसे मैं शिक्षा कहता हूँ—नाश हो रहा है, इस डर से उनकी सेवा न करने से काम न चलेगा।

ज़िन्दगी के लिए सब से पहले, उस मिहनत को की जो हमारे जीवन के लिए अत्यावश्यक है, शिक्षा-प्रणाली में जगह मिलनी चाहिए, ऐसा स्वीकार करने वाले कुछ शिक्षण-शास्त्री यह कहते हैं कि इस परिश्रम को भी 'शिक्षा' की दृष्टि से ही स्थान दिया जाय, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। 'पेट पालने' का जो दुहेरा मतलब आज प्रचलित है, उससे घबड़ा कर ऐसी बात कही जाती है। और यहाँ तक यह ठीक भी है। पर मनुष्य को पेट देने में ईश्वर का कोई खास हेतु है। अगर आदमी ईमानदारी से 'पेट भरना' सीखले तो समाज के कई दुःख और पाप अपने आप मिट जायँ। इसी भाव से मनुजी ने 'योऽर्थ-शुचिः—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र माना जाय-जैसी यथार्थ बात कही है। 'सर्वेषामविरोधेन' किस तरह जिन्दा रहें, इस शिक्षा में सब तरह की शिक्षा का समावेश हो जाता है। बिना लड़ाई-झगड़े के जीवन-यात्रा पार करना मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य-पालन से उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसी लिए शास्त्रकारों ने शरीर-यात्रा को सफल बनाने के लिए फिर किये जाने वाले कठिन परिश्रम को ही 'यज्ञ' कहा है। 'उदर-भरण नोहे जाणिजे यज्ञ कर्म' वामन पण्डित की यह उक्ति प्रसिद्ध है। 'मैं जीवन-निर्वाह के लिए परिश्रम करता हूँ'—यह भावना अच्छी है। शरीर-यात्रा से अपने साढ़े तीन हाथ शरीर की यात्रा नहीं समझना चाहिए। 'समाज-शरीर की यात्रा' अर्थात् मेरी शरीर-यात्रा, ऐसा उदार अर्थ हर एक मनुष्य के दिल में समा जाना चाहिए। मेरी जीवन-यात्रा, अर्थात् समाज और परमेश्वर की सेवा यह सभी करण दिल में ठस जाना चाहिए। इस तरह की परमेश्वरी सेवा में अपने शरीर को खपा डालना मेरा कर्तव्य कर्म है, यह बात हर एक को समझ लेना चाहिए।

ऐसी शिक्षा एक छोटे से बालक के लिए भी जरूरी है। उसे उसकी योग्यता के अनुसार जीवन-कलह में भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए—दिया जाना चाहिए। और जीवन को केन्द्र बना कर उसके चारों ओर सब तरह की शिक्षा की चहार दिवारी बना लेनी चाहिए।

इस तरह हमारे जीवन के दो भाग न होने से बचेंगे। एक दम संसार का बोझा सिर पर पड़ जाने से जो अशान्ति फैल जाती है, वह न फैल सकेगी। अनजाने चुपचाप शिक्षा मिलती रहेगी। परन्तु 'शिक्षा का मोह' नहीं चिपट पायगा और निष्काम कर्म करने की आदत पड़ेगी सो लाभ में।

विनोबा भावे

तेरा शृंगार

आशा की बिखरी लड़ियों में, मिल धीरे धीरे अज्ञात !
तेरे आँगन में सकुचाता, आया है यह प्यारा प्रात !
नई-नई है सूर्य-लालिमा, नये-नये ऊषा-शृंगार !
नया-नया कलरव अलियों का, नये-नये उर के उद्गार!
नई-नई है विटप-वल्लियाँ, नई-नई कुसुमावलियाँ !
नये-नये सुरभित उपवन हैं, नई-नई कोमल कलियाँ !
आज वसन्ती वेश प्रकृति का, छिटकाता फिरता है प्यार !
पर, क्यों सूना-सा लगता है, माँ, तेरा सुन्दर शृंगार ?

सीताराम वर्मा "साधक"

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी

यह संस्था समस्त संसार में अपने जोड़ की एक है। इसके उद्देश्य, स्थिति, रीति, नीति, संचालन, पाठ-विधि, विद्यार्थियों के रहन सहन, आचार विचार, दिनचर्या आदि सभी बातें अपना एक अनोखापन लिये हुए हैं। अभी तक जितनी अन्य संस्थायें—क्या राष्ट्रीय और क्या राजकीय—भारतवर्ष में हैं, उन सबके उद्देश्यों से गुरुकुल-विश्वविद्यालय का उद्देश्य इतना भिन्न है कि साधारणतया उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। यदि राजकीय संस्थाओं, स्कूल-कॉलेजों को बनाने में सरकार का उद्देश्य भारतीय सभ्यता का यूरोपियन सभ्यता के घातक प्रभाव से नाश करके यहाँ के निर्लेप मस्तिष्कों को भाषा, भाव और दिनचर्या तक में दास बना लेने का है, तो इसके विपरीत गुरुकुल-विश्वविद्यालय का उद्देश्य प्राचीन आर्य सभ्यता को जागृत करके, देश की कुरीतियों और कुप्रथाओं से दूर करके, उनमें ब्रह्मचर्य, चरित्र और शील के बल को क्रियात्मक रूप से उत्पन्न करके, उसको अपनी निजी दुरवस्थाओं और वैदेशिक दुष्प्रभावों के बंधनों से मुक्त करके, उसमें धर्म, राज्य, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में स्वच्छन्द, स्वतन्त्र और तपस्यामय जीवन को उत्पन्न करना है।

गुरुकुल की यज्ञशाला
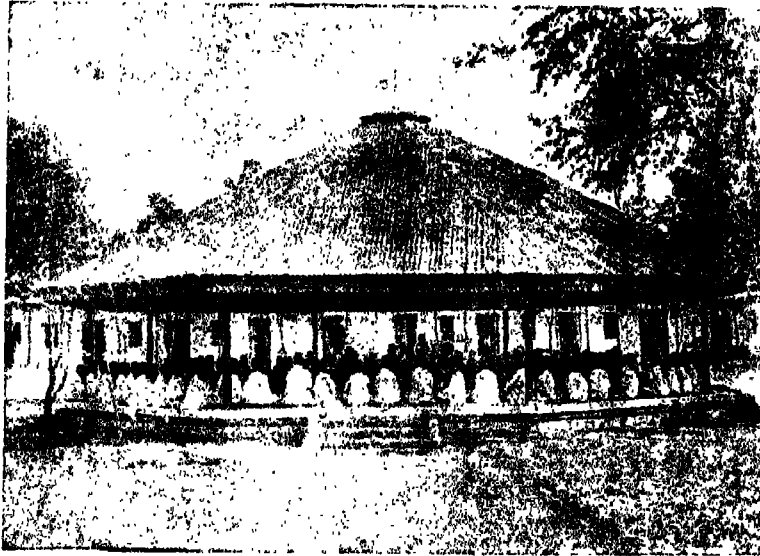
मुसलमानों की आततायी नीति और छूआछूत, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों ने हिन्दुओं को मरणोन्मुख कर ही दिया था। इसपर मद्य-मांस-सेवन और फ़ैशन से पूर्ण ईसाइयत के आघात ने आर्य संसार का सर्वथा लोप कर देने के आसार दिखाये। महर्षि दयानन्द के करुणा-पूर्ण हृदय ने आर्य जाति को घोर संकट से मुक्त करने के लिए जहाँ विशुद्ध प्राचीन वैदिक धर्म की घोषणा की, वहाँ स्वराज्य की घोषणा और प्राचीन ब्रह्मचर्य-साधना-पूर्वक गुरुकुल-शिक्षा का सिंहनाद भी किया। आर्य संस्कृति के उस महान नेता ने दास बनाने वाले सरकारी शिक्षणालयों के दुष्प्रभावों को रोकने और स्वयं शक्तिशाली बनने के लिए तपस्या से बल-साधन करने के अर्थ 'गुरुकुल-शिक्षा' को ही मुख्य साधन रूप से जनता के सामने रक्खा।

उस योगी के दिये प्रकाश की एक प्रखर किरण देश के स्वर्गीय नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी के हृदय में अपना गहरा असर कर गई। बस उसको गुरुकुल बनाने की अहर्निश धुन लगगई। इस लगन ने उस महात्मा को एक दृढ़ व्रत धारण कराया। 'गुरुकुल' की साधारण योजना तैयार करके उन्होंने पंजाब की आर्य-प्रतिनिधि सभा के सामने पेश की, और प्रतिनिधि सभा ने भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक, सच्चरित्र, प्राचीन साहित्य विशेषतः वेद के धुरन्धर विद्वान् और देश के निःस्वार्थ तपस्वी और त्यागी सेवक उत्पन्न करने के लिए उस योजना को स्वीकार कर लिया। महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) ने अपनी वकालत से किनाराकशी

गुरुकुल के संस्थापक
(स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी)

करके उसी समय अपना घर छोड़ दिया और प्रतिज्ञा की कि बिना ३० सहस्र रुपया एकत्र किए घर न लौटूंगा। उस दृढ़-प्रतिज्ञ आत्मा ने अनवरत परिश्रम करते हुए पंजाब, संयुक्त-प्रांत में भ्रमण करके इतना द्रव्य एकत्र कर लिया और ५-६ सहायकों को साथ लेकर हरद्वार के पर्वतों में गुरुकुल के लिए स्थान की खोज में निकल पड़े। उनके हृदय में प्राचीन वैदिक सभ्यता के प्रवर्त्तक ऋषियों-महर्षियों के दृश्य घर किये हुए थे। वह भी अपने गुरुकुलाश्रम को हिमाचल की पवित्र घाटियों में बसाकर उसमें से गौतम, कणाद के समान युग-परिवर्त्ती स्वच्छन्द महर्षि तथा देश और जाति के निर्भीक सेवक उत्पन्न करने की धुन में थे। इन महान् उद्देशों से प्रेरित होकर गुरुकुल के लिए हरद्वार के उत्तर के पर्वतों में उन्होंने कितने ही स्थान खोजे। अन्त में कांगड़ी ग्राम के अधिपति दानवीर महामना मुन्शी अमर सिंह जी ने सात्विक भावों से प्रेरित होकर २४ हज़ार रुपये और कांगड़ी ग्राम तथा उसके साथ की कुल १२०० बीघे भूमि दान देकर इस पुण्य कार्य में हाथ बंटाया। यहीं हिमाचल के आंचल और पवित्र भागीरथी की गोद में आज से २६ वर्ष पूर्व उस तपस्वी महात्मा ने फूस की झोंपड़ी डालकर गुरुकुलाश्रम की नींव डाली। जालन्धर में स्थापित वैदिकाश्रम और गुजरांवाला गुरुकुल के केवल २७ छात्र सबसे प्रथम उस घने जंगल की झोंपड़ियों में लाये गये। उस समय गुरुकुल-भूमि का दृश्य बड़ा भयानक था। जंगली झाड़ियों, पेड़ों और सरपत के जंगलों से समस्त जंगल व्याप्त था। वन के भयंकर जानवर शेर, चीता, हाथी और रीछ, सूअर आदि पहाड़ों से बराबर उतर आते थे। साँपों और बिच्छुओं की कमी न थी। इन सब भय-बाधाओं के होते हुए भी गुरुकुलाश्रम स्थापित हो गया और पंजाब तथा संयुक्तप्रान्त में विशेष रूप से और अन्य प्रान्तों में सामान्य रूप से गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का आन्दोलन होने लगा। प्रायः सभी प्रान्तों से प्राच्य संस्कृति के प्रेमी माता-पिता अपने बालकों को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने के लिए लाने लगे। प्रथम स्थापना के अवसर पर ही यज्ञवेदी में ५२ ब्रह्मचारियों का उपनयन वेदारम्भ संस्कार हुआ। प्रति वर्ष बराबर ब्रह्मचारियों की संख्या बढ़ती गई। ६, ७ वर्षों के बाद ही अनुभव होने लगा कि गुरुकुल-शिक्षा का जनता ने स्वागत किया है। क्योंकि प्रवेश के अवसर पर गुरुकुल में अधिक छात्र प्रविष्ट होने के लिए आने लगे। यहाँ तक कि सैकड़ों माँ-बाप अपने बालकों को निराश होकर लौटा ले जाते थे; क्योंकि गुरुकुल के अधिकारी लोग सबको प्रविष्ट करने में असमर्थ थे। इसके बाद भिन्न-भिन्न स्थानों में शाखायें खोलने का विचार हुआ—मुलतान, कुरुक्षेत्र में शाखायें खोली गईं और

गुरुकुल के निर्भीक ब्रह्मचारी
(हाकी खेलने के डंडों से चीते को मार डाला)

कुछ वर्षों बाद मुलतान और इन्द्रप्रस्थ आदि में भी शाखायें खोली गईं। आज गुरुकुल की सात शाखायें भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों पर खुल चुकी हैं, जिनमें करीब एक हज़ार विद्यार्थी पढ़ते हैं। अब पूर्वीय आफ्रिका में भी एक शाखा खोलने का विचार हो रहा है।

गुरुकुल का जीवन

नगरों के दूषित वातावरण से बहुत दूर पर प्रकृति की स्वच्छ, निर्विकार, प्रभावोत्पादक, स्वच्छन्दतामय गोद में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य धारण करके विद्योपार्जन करने के व्रत में दीक्षित होना कुछ अभिप्राय रखता है। ६ वर्ष से ८ वर्ष तक के बालकों को ही गुरुकुल में प्रविष्ट किया जाय; उसे नंगे पैर, नंगे सिर, रख कर कठोर तख़्तों पर सुलाने और सादे वस्त्र पहन कर सादा अन्न खा-कर ब्रह्मचारी रहकर कम से कम १६ वर्ष तक घर के समस्त प्रेम-पाश के बन्धनों की उपेक्षा करके तपोमय जीवन व्यतीत करने में कोई रहस्य है। गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के दैनिक जीवन की कल्पना करना बहुत ही कठिन है। नित्य प्रातःकाल, खूब तड़के, सूर्योदय से बहुत पूर्व, ४ बजे उठना, उठते ही वेदमन्त्रों से ईश्वर-स्तुति करके तुरन्त शौचादि से निवृत्त हो कर प्रतिदिन प्रातःकाल की स्वच्छ वायु में व्यायाम करना, और फिर प्रातः शीतल जल से बारहों मास स्नान करना, श्रद्धा-पूर्वक नित्य प्रातः सायं सन्ध्या-वन्दन और अग्निहोत्र करना, और नियम से ९ बजे रात्रि को प्रार्थना-मन्त्रों का पाठ करके सो जाना, बारहों मास गर्मी, सर्दी, वर्षा आदि किसी भी ऋतु की अपने नित्य-कर्मों के पालन में पर्वा न करना, नंगे सिर और नंगे पैर बारहों मास समानभाव से रहना, कठोर-शय्या, तख़्त, या भूमि पर सोना आदि तपोमय जीवन के साथ-साथ प्रतिसप्ताह भयंकर जंगलों से भरे पर्वतों की घाटियों में विचरना और प्रबल वेग से बहती हुई जल-धाराओं में तैरना, और प्राकृतिक जीवन के सभी संकटों में अपनेको सुअभ्यस्त करना, यह गुरुकुल के जीवन का क्रियात्मक रूप है। इसको चाहे जब वहाँ जा कर देखा जा सकता है। ऐसा तपस्या-मय जीवन अभी तक गुरुकुलों के अतिरिक्त अन्य किसी भी सरकारी या ग़ैर सरकारी छात्रालय में पूर्ण-रूप से देखने को भी नहीं मिल सकता।

गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा बनाया गया गंगा का बांध

गुरुकुल शहरों से बहुत दूर घने जंगल में स्थित है, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वहाँ के विद्यार्थी समाज और देश से पृथक् रहते हैं। देश और जाति की सेवा तो इस संस्था का प्रधान लक्ष्य है। ये भाव यहाँ के विद्यार्थियों के दिलों में कूट-कूट कर भरे हुए हैं। दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह में पहले-पहल गुरुकुल के ही विद्यार्थियों ने मज़दूरी करके महात्मा गाँधीजी के पास सहायता भेजी थी। इसके बाद भी समय-समय पर ब्रह्मचारियों ने दूध-घी छोड़ कर या उपवास करके तिलक-स्वराज्य फण्ड, मलाबार पीड़ित-फण्ड, गुजरात अकाल-फण्ड आदि में सैकड़ों रुपया भेजा है। गढ़वाल के भयंकर अकाल के समय तो उन्होंने अकथनीय कार्य किया। गुरुकुल के आस-पास के गाँवों में फूस के झोंपड़ों में बहुत बार आग लग जाती है। उस समय ब्रह्मचारी बड़े उत्साह और साहस के साथ ग्राम की सम्पत्ति तथा बच्चे, बूढ़े और उनके गाय, बैल आदि पशुओं की रक्षा करते हैं। ऐसे अवसर गुरुकुल के जीवन में बहुत आये हैं।
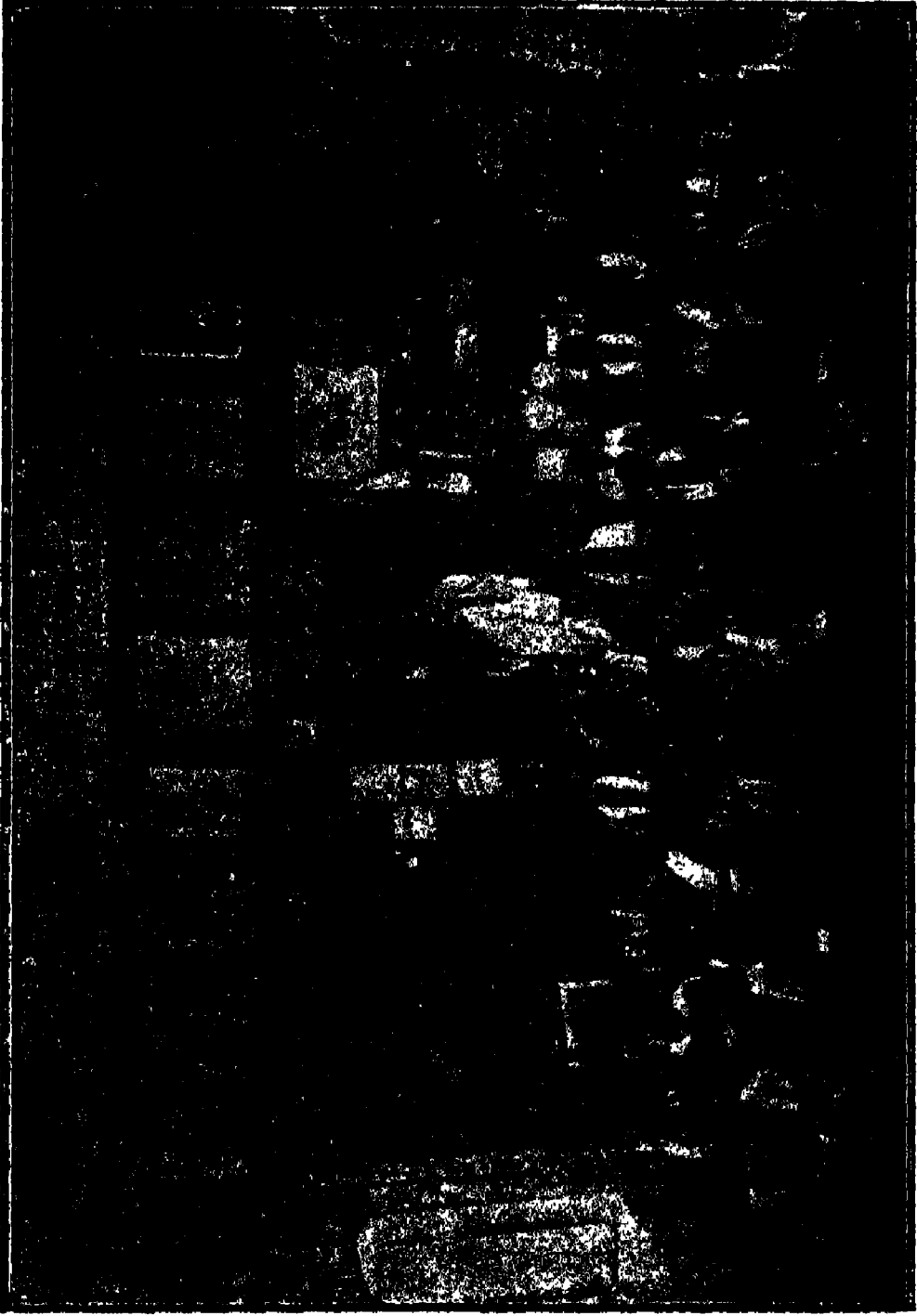
गुरुकुल की चित्रशाला

गुरुकुल-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता वहाँ का सदाचार-मय जीवन है। योग्य अधिष्ठाता चौबीस घंटे ब्रह्मचारियों के साथ रह कर उनकी प्रत्येक चेष्टा और क्रिया का निरीक्षण करते हैं। ऐसा निरन्तर सत्संग, और सुव्यवस्थित निरीक्षण भी सिवाय गुरुकुलाश्रमों के अन्य छात्रालयों में देखने को नहीं मिल सकेगा। एक साथ एक पोशाक में रहते हुए ग़रीब और लक्षपति का बालक दोनों समान भाव से एक आसन पर बैठते-उठते खाते और पीते हैं। उनमें कभी आर्थिक विषमता के विचार ही उत्पन्न नहीं होते और न इस कारण कभी कलह ही उत्पन्न होती है। भोजनशाला में ३०० विद्यार्थियों का प्रतिदिन एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करना, ऊँच-नीच का विचार न रखना और "समानी प्रपा सहवो अन्न भागः!" इस वैदिक आदर्श का व्यावहारिक सत्य परिपालन केवल गुरुकुल में ही आप नित्य देख सकते हैं। यही सच्चा साम्यवाद है। देश के नेताओं का अब बड़ा ज़ोर अस्पृश्यता को दूर करके अछूतोद्धार करने पर लगा हुआ है परन्तु गुरुकुल में अस्पृश्यता का नितान्त अभाव है। कई जन्म के अस्पृश्य विद्यार्थी वहाँ पढ़ते हैं। इस प्रकार से गुरुकुल के ब्रह्मचारी परस्पर प्रेम से रहते हुए अपने आदर्शों का अभ्यास करते हैं। इस प्रेममय जीवन से गुरुकुल के ब्रह्मचारियों में पारस्परिक सेवा का एक अद्भुत भाव पाया जाता है। रोगियों की सेवा के लिए गुरुकुल के ब्रह्मचारी ही रात-दिन जाग-जाग कर अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। गुरुकुल के इस पारिवारिक प्रेममय जीवन ने गुरुकुल को सचमुच आचार्य प्रजापति का ऐसा विशाल परिवार बना दिया है, अन्य छात्रालयों या शिक्षालयों में तो जिसकी कल्पना करना भी कठिन है। यह आश्रम-जीवन गुरुकुल की बहुत बड़ी विशेषता है। विद्यार्थियों के रहन-सहन, भोजन, कपड़े, पुस्तकें तथा अन्य सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गुरुकुल के अधिकारी ही उत्तरदायी हैं। इन सब खर्चों के लिए माता-पिता से शुल्क लिया जाता है। पहली पांच श्रेणियों तक १५) रु० मासिक, पांचवीं से दसवीं तक २०) रु० और महाविद्यालय में २५) रु० मासिक लिया जाता है, जो आजकल की महंगाई को देखते हुए बहुत अधिक नहीं है। माता-पिता शुल्क देकर हर तरह से निश्चिन्त हो जाते हैं। शिक्षा निःशुल्क ही दी जाती है।

पदाधिकार का प्रलोभन देने वाले और ग़ुलाम पैदा करने वाले स्कूल-कॉलेजों में तथा उनके अनुकरण में बने नागरिक स्कूलों में राष्ट्रीय शिक्षा का सर्वथा अभाव है। सरकारी स्कूलों का उद्देश्य ही नौकरी और वकालत आदि था। परन्तु अब उस सरकारी शिक्षा का परिणाम ऐसा घातक सिद्ध हुआ है कि देश के नवयुवकों को सिवाय नौकरी के दूसरा कोई रास्ता ही नज़र नहीं आता। वे तुच्छ से तुच्छ नौकरी पर ही अपना जीवन-सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। परन्तु राष्ट्र के स्वराज्याकांक्षी नेताओं ने इस दुष्प्रभाव को बहुत काल पश्चात सरकार की घातक आसुरी नीति से टक्कर खा खा कर और स्वराज्य-आन्दोलन में ब्रिटिश शासकों की ठोकरें खा-खा कर अनुभव किया; और उन्होंने इस प्रवाह में सरकार के साथ असहयोग का आन्दोलन उठाकर शिक्षा-क्षेत्र में भी असहयोग करने के लिए राष्ट्रीय शिक्षणालयों और राष्ट्रीय विद्या-पीठों की स्थापना की। परन्तु महात्मा मुन्शीराम ने आज से २६ साल पूर्व ही राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व को भली भाँति समझ लिया था। गुरुकुल को देश, समाज और धर्म के सेवक तैयार करने थे, उसे राज्य के सेवक और राजा के वेतन भोगी ग़ुलाम एवं जी हज़ूर रायसाहब पैदा नहीं करने थे; अतः गुरुकुल के प्रवर्त्तक ने सरकारी सहायता को ठुकरा दिया और जनता से दान-स्वरूप में प्राप्त पवित्र सहायता को भारी महत्व दिया। वास्तविक राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य होना भी यही चाहिए। इसीलिए कई-बार सरकारी सहायता को स्वीकार नहीं किया गया, और न उसे पाठ विधि-आदि में हस्तक्षेप करने दिया गया। इस स्वतन्त्र राष्ट्रीय शिक्षा के वितरण में गुरुकुल ने अपने २६ वर्ष बड़ी सफलता से व्यतीत किये हैं। और इतने ही जीवन में गुरुकुल ने उन बड़ी-बड़ी समस्याओं को सरल कर दिया है, जिनको अभी तक हिन्दू-विश्वविद्यालय और अन्यान्य विद्यापीठ भी सरल नहीं कर सके हैं।

गुरुकुल में शिक्षा का माध्यम हिन्दी है। स्कूलों में अंग्रेज़ी भाषा ने छात्रों के दिमाग़ ग़ुलाम बना दिये हैं। अंग्रेज़ी का माध्यम होना मनो-विज्ञान के सिद्धान्तों के भी प्रतिकूल है। आज भारतीय नेता यह समझ रहे हैं कि

आचार्य रामदेवजी

शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना चाहिए। स्कूलों में भी शनैः-शनैः हिन्दी को अधिक स्थान दिया जा रहा है। परन्तु गुरुकुल के संचालकों ने इस आवश्यकता को आज से बहुत पहले से ही समझ लिया था। श्रीयुत टी० एल० वास्वानी ने कहा था—गुरुकुल द्वारा हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना देना मेरी समझ में भारत के शिक्षा सम्बन्धी और सामाजिक जीवन में बहुत शीघ्र एक मौलिक क्रान्ति पैदा कर देगा। गुरुकुल में गणित, विज्ञान, इतिहास, पाश्चात्यदर्शन, रसायन आदि सब विषय उच्च कक्षाओं में हिन्दी में ही पढ़ाये जाते हैं। पढ़ने-पढ़ाने वालों को किसी प्रकार की असुविधा प्रतीत नहीं होती। गुरुकुल के इस आन्दोलन ने हिन्दी के उच्चकोटि के साहित्य को उत्पन्न करने में बड़ा भारी कार्य किया है। विज्ञान के 'भौतिकी' 'रसायन' एवं 'गुणात्मक विश्लेषण आदि कई वैज्ञानिक ग्रन्थ भाषा में प्रकाशित किये गये हैं। अध्यापक महेशचरणसिंह जी रचित 'वनस्पति शास्त्र' के तीनों भाग गुरुकुल के हिन्दी-प्रेम का फल हैं। पारिभाषिक (Technique) शब्दों को भी हिन्दी में करने की तरफ़ गुरुकुल ने काफ़ी ध्यान दिया है। माध्यम हिन्दी होने से उनके मस्तिष्कों की अधिक शक्ति ज्ञान की अधिक मात्रा ग्रहण करने में लगती है और अस्वाभाविक विदेशी भाषा के रटने और उसमें दिमाग़ खपाने में नहीं लगती। साथ ही इसके उनको अपने पढ़े विषय पर स्वतन्त्रता-पूर्वक तर्क करने का भी पर्याप्त अवसर मिलता है। इसका फल यह हुआ है कि जितने समय में सरकारी स्कूल का छात्र मैट्रिक पास करता है उतने समय में गुरुकुल का ब्रह्मचारी मैट्रिक तक के आवश्यक और वैकल्पिक समस्त विषयों को समाप्त कर लेता है।
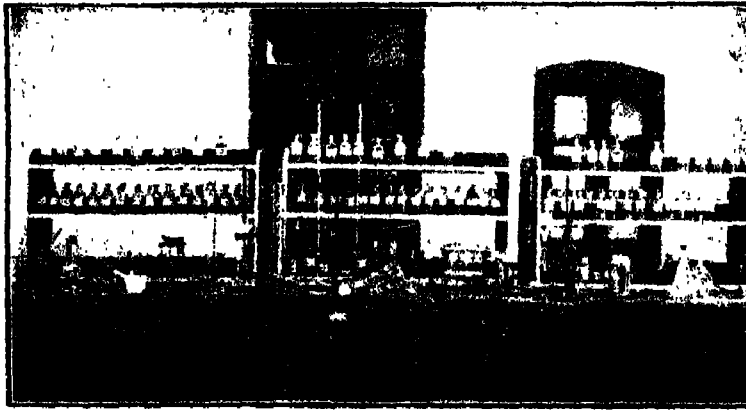
गुरुकुल की विज्ञान-प्रयोगशाला

रसायन, भौतिक विज्ञान में उसकी योग्यता एफ़० एस०सी० तक होती है और इतिहास में विचार स्वतन्त्र और राष्ट्रीय होते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत की योग्यता पञ्जाब के शास्त्री एवं बनारस की मध्यमा तक की हो जाती है। यही दशा महाविद्यालय के छात्रों की भी है। महाविद्यालय के ४ वर्षों में ही वैदिक और लौकिक साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ दार्शनिक साहित्य का भी विद्यार्थी पर्याप्त अध्ययन कर लेते हैं। इसी प्रकार अंग्रेज़ी और अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति, विज्ञान आदि मनोनीत विषयों में भी वे किसी भी सरकारी कॉलेज से न्यून नहीं रहते। अंग्रेज़ी का वातावरण न होने से वे चाहे अंग्रेज़ी भाषा के बोलने में इतने अभ्यस्त न हों, तो भी मानसिक विकास में वे किसी से कम नहीं। गुरुकुल का विद्यालंकार अंग्रेज़ी और अपने कॉलेज में लिए विशेष विषय का बी० ए० होकर भी साथ ही वैदिक और लौकिक साहित्य का पूर्णज्ञाता होता है। संक्षेप में हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि वर्तमान पूर्वी—पश्चिमी सभ्यता की टक्कर में अपने को स्वतन्त्र भाव से रखकर जीवन-निर्वाह करने—योग्य सुशिक्षित आर्य नागरिक उत्पन्न करने में गुरुकुल विश्वविद्यालय सबसे अधिक सफल हुआ है। वैदेशिक शासन में जब तक कि राष्ट्रीय शिक्षणालयों के छात्रों को यह सरकार रोज़गार नहीं देती, अपने व्यवसायों के अतिरिक्त देशी व्यवसायों को चलने नहीं देती, तब तक गुरुकुल-विश्वविद्यालय के स्नातकों का 'आर्थिक' मूल्य चाहे जनता न समझे, परन्तु जो वस्तु गुरुकुल उत्पन्न कर रहा है उसकी देश को आवश्यकता अवश्य है।

वर्तमान प्रगति

गुरुकुल-विश्वविद्यालय की वर्तमान प्रगति बड़ी व्यापक है। आजकल इस विश्व विद्यालय में तीन महाविद्यालय सम्मिलित हैं—साधारण महाविद्यालय (Arts College), वेद महाविद्यालय, और आयुर्वेद महाविद्यालय। और अब शिल्प महाविद्यालय की भी योजना हो रही है।

तीनों कालेजों की पढ़ाई चार साल की है, इन चार सालों के बाद भी कोई विद्यार्थी गुरुकुल में दो वर्ष अधिक रह कर विद्यावाचस्पति की परीक्षा दे सकता है। वेद कॉलेज में वैदिक साहित्य, प्राच्य दर्शन, और संस्कृत साहित्य पर अधिक ज़ोर दिया जाता है, परन्तु इसके साथ-साथ पाश्चात्य दर्शन, रसायन (कैमिस्ट्री), इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, गणित आदि विषयों में से भी विद्यार्थी को एक विषय चुनना पड़ता है। इस कॉलेज में सब धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन भी कराया जाता है। दूसरे आर्ट कॉलेज में वेद, प्राच्यदर्शन, संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ अँग्रेज़ी साहित्य भी पढ़ाया जाता है। उपर्युक्त विषयों में से भी कोई एक विषय लेना पड़ता है। अर्थशास्त्र का पाठ्यक्रम विशेष ध्यान देने योग्य है। दूसरे कॉलेजों में पाश्चात्य अर्थशास्त्र को ही मुख्यता दी जाती है, परन्तु उसके नियम भारत में बिलकुल लागू नहीं होते। भारतीय अर्थशास्त्र की भित्ति का आधार दूसरा ही है। यहाँ आर्थिक इकाई शहर नहीं, गाँव है। गुरुकुल में अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम का उद्देश्य सिद्धान्तों के ज्ञान से पूर्व विषय का क्रियात्मक ज्ञान कराना है। इसलिए वहाँ उसमें ग्रामों की आर्थिक व्यवस्था, पंचायत, ग्राम का लेन-देन, व्यापारिक जीवन, भारतीय कृषकों और मज़दूरों की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इसके क्रियात्मक ज्ञान के लिए विद्यार्थियों को ग्रामों में ले जाया जाता है। श्रम सम्बन्धी समस्या के ज्ञान के लिए उन्हें किन्हीं मिलों में ले जाने का प्रबन्ध करने का भी विचार हो रहा है।

आयुर्वेद महाविद्यालय में प्राच्य चिकित्साशास्त्र के साथ-साथ पाश्चात्य चिकित्सा का भी आवश्यक परिज्ञान कराया जाता है। शवच्छेद (disaction) आदि का भी यहाँ पूर्ण प्रबन्ध है। विद्यार्थी आस-पास के ग्रामों में जाकर क्रियात्मक अनुभव भी पाते हैं। विद्यार्थियों की अनुभव-वृद्धि के लिए यहाँ एक फ़ार्मेसी भी स्थापित कर रक्खी है, जिसमें विद्यार्थी दवाइयाँ तय्यार करते हैं। फ़ार्मेसी की सारी आय आयुर्वेद महाविद्यालय को ही दी जाती है। रसायन के विद्यार्थी व्यावसायिक रसायन भी पढ़ते हैं, इनको समय-समय पर ज्ञान वृद्धि के लिए देश के कारख़ानों का भी निरीक्षण कराने को बाहर ले जाया जाता है। इस समय इन तीनों महाविद्यालयों में २० अध्यापक हैं।

श्रीयुत आचार्य रामदेवजी गुरुकुल विश्वविद्यालय को बहुत अधिक उपयोगी तथा विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील हैं। उनका प्रयत्न इस बात की ओर है कि गुरुकुल भारतवर्ष की तमाम राष्ट्रीय और सामाजिक चेष्टाओं का केन्द्र बन जाय। वह गुरुकुल को स्वतंत्र भारतीय राष्ट्र के चरित्र-निर्माण का विद्यालय बनाना चाहते हैं। अभी वह शिल्पविद्यालय, कृषिविद्यालय आदि कई कालेज खोलने का विचार कर रहे हैं। इसी तरह आर्ट कालेज में विदेशों की भिन्न-भिन्न भाषायें पढ़ाने का प्रबन्ध भी शीघ्र किया जायगा।

इस प्रकार महाविद्यालय विभाग में उच्चकोटि के ग्रन्थों के पठन-पाठन के अतिरिक्त क्रियात्मक रूप में बुद्धिशक्ति के स्वच्छन्द विकास के लिए और भी कई उपयोगी साधन प्रस्तुत किये जाते हैं; जैसे प्रतिवर्ष ब्रह्मचारियों की सरस्वती-यात्रा होती है; इसमें वे ऐतिहासिक प्राचीन स्थानों, पर्वतीय प्रान्तों और अन्यान्य आवश्यक विद्योपयोगी स्थलों पर भ्रमण करते और ज्ञान प्राप्त करते हैं। गुरुकुल पार्लमेंट में, जो प्रतिवर्ष होती है, देश की सुव्यवस्था के लिए उत्तम विधान (बिल) प्रस्तुत करके, उनपर विवाद करने का अभिनय करके ब्रह्मचारी स्वच्छन्दरीति से अपनी बुद्धि का विकास करते हैं। इसमें उन्हें बाहर की राज्य-पद्धतियों का भी अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारियों की अपनी कई सभायें और परिषदें हैं। जैसे साहित्य-परिषद्, वाग्वर्धिनी सभा, संस्कृतोत्साहिनी, और कॉलेज यूनियन आदि। इन सभाओं के मासिक और साप्ताहिक अधिवेशनों में ब्रह्मचारी अपनी लेखनकला और वक्तृत्वशक्ति की वृद्धि करते हैं। इनका संचालन स्वयं ब्रह्मचारी ही करते हैं। इन सभाओं के अपने मासिक

मुखपत्र हैं, जिनको प्रतिमास ब्रह्मचारी ही चित्रों, लेखों, कविताओं से सुसज्जित करके प्रकाशित करते हैं। इससे विद्यार्थियों को पत्र-सम्पादन कला की भी अच्छी शिक्षा प्राप्त होती है। वार्षिक लम्बे अवकाशों में तो दैनिक पत्र भी निकलने लगते हैं। गुरुकुल के छोटे से राज्य की यह पत्र भी एक अपूर्व शोभा हैं। इनसे ब्रह्मचारियों के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की क्रियाशील प्रगति का परिचय मिलता है।

यदि किसी विश्वविद्यालय की सफलता की कसौटी उसके स्नातकों पर निर्भर है, तब गुरुकुल सबसे अधिक सफल विश्वविद्यालय कहा जा सकता है। इस समय तक इसके दो सौ के क़रीब स्नातक निकल चुके हैं, जो भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा भारत की सेवा कर रहे हैं। प्रति पांच स्नातकों में से एक स्नातक लेखक है, जो अपने लेखों तथा पुस्तकों द्वारा हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहा है। बहुत से स्नातक विदेशों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर आये हैं। गुरुकुल ने वेद के अनेक विद्वान् पैदा किये हैं। राष्ट्रीय कार्य में भी बहुत से स्नातक प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। आर्यसमाज के क्षेत्र में भी कम स्नातक काम नहीं कर रहे। ८९ प्रति शतक स्नातक सार्वजनिक कार्य कर रहे हैं। फिर भी आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए अधिकारी शिल्प-विद्यालय की तैयारी कर रहे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व गंगा की भयंकर बाढ़ से गुरुकुल को बहुत हानि पहुँची थी। इसलिए पंजाब प्रतिनिधि सभा ने विचार किया कि गुरुकुल का स्थान-परिवर्तन करके कनखल और ज्वालापुर के बीच में गंगा की नहर के किनारे स्थापित किया जाय यह स्थान भी बहुत रमणीक हैं। इसके लिए गुरुकुल को लाखों रुपये की आवश्यकता है। इसकी अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ति करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है। गुरुकुल अपने धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, और आध्यात्मिक सर्वोमय शिक्षा की एकमात्र अनोखी संस्था है। भारतवर्ष की प्रायः सब प्रकार की आवश्यकतायें गुरुकुल से पूर्ण हो सकती हैं। इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम वहां अपने लड़कों को भेजें; और जो धनी हैं, वे धन से भी सहायता दें।

जयदेव विद्यालङ्कार

यूरोप में साम्यवाद

(१)

सृष्टि के क्रम-विकास का इतिहास बतलाता है कि मानव-स्वभाव बहुत प्रगतिशील है। वह अधिक समय तक एक ही दशा में नहीं रह सकता। मानव-मस्तिष्क अपने सुख और अपनी सुविधा के लिए कोई न कोई नई बात ढूँढ ही निकालता है। प्राचीन काल के काव्य, कला, संगीत, वाद्य आदि का आधुनिक रूप कुछ और ही है। दोनों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। नित्य नई चीज़ों का आविष्कार होता रहा है। शासन-प्रणालियाँ तो दुनिया में न जाने कितनी चलीं और कितनी मिट गईं। एकतंत्रवाद, श्रेरतीतंत्रवाद और प्रजातन्त्रवाद आदि कितने ही 'वाद' विश्व के रंग-मञ्च पर आये और लुप्त हो गये, अथवा एक नये रूप में फिर से प्रचलित हो गये। परन्तु अब भी मानव-मस्तिष्क स्थिर नहीं, वह तो अभी बहुत कुछ ढूँढ निकालने में व्यग्र है।

इसमें कोई शक नहीं कि दुनिया में नई-नई मशीनों, कई घातक यन्त्रों, गैसों और सुख-समृद्धि बढ़ाने वाले नये-नये आविष्कारों या साधनों का जन्म हो रहा है। परन्तु, इसमें भी कोई शक नहीं कि, इस उन्नति की घुड़-दौड़ के साथ ही संसार में कलह-अशान्ति की भी वृद्धि हो रही है, जिसके फल-स्वरूप बहुत से नये आन्दोलन भी चल पड़े हैं। इंग्लैण्ड, फ्रान्स, अमेरिका, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों में ऐसे आन्दोलनों में से आज-कल साम्यवाद के आन्दोलन का बड़ा ज़ोर है। यह साम्यवाद क्या है? इसके सम्बन्ध में कुछ चर्चा हम 'त्यागभूमि' के पाठकों के सन्मुख करना चाहते हैं।

साम्यवाद का अर्थ

इंग्लैण्ड के मज़दूरदल के नेता और भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्री रेम्ज़े मैकडोनल्ड के शब्दों में "साम्यवाद एक ऐसे सामाजिक संघटन के लिए प्रयत्न करने की बात कहता है, जो भूमि, औद्योगिक पूंजी आदि उन आर्थिक साधनों का

प्रबन्ध रखता हो, जो सुरक्षित रूप से व्यक्तियों के हाथ में नहीं छोड़े जा सकते।" साम्यवाद राजनैतिक और आर्थिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए पारस्परिक सहायता का एक साधन है। इसका उद्देश है मौजूदा सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन करना। मानव स्वतन्त्रता का विस्तार करने के लिए एक साधन के रूप में साम्यवाद इस परिवर्तन को उचित ठहराता है। साम्यवाद की सोशलिज़्म, कम्यूनिज़्म, निहलिज़्म, बोलशेविज़्म आदि अनेक शाखा-प्रशाखायें हैं। किन्तु, हमने इस लेख में साम्यवाद को मज़दूर संघवाद और सोशलिज़्म के अर्थ ही में प्रयुक्त किया है।

वर्तमान अवस्था बड़ी भयावह है। पाश्चात्य सभ्यता, पश्चिमी की सुख-समृद्धि और बिजली की रोशनी को देखकर, बाहर के लोग यह समझते हैं कि यूरोप में भूतल पर स्वर्ग है। वहाँ लोग ग़रीबी से भूखों नहीं मरते। साधारण आदमी अन्याय और जुल्म की चक्की में नहीं पिसते। किसी अंश में तो बाहर वालों का यह विचार ठीक भी है, किन्तु पूर्णतया नहीं। श्री मेलकाक, बथ और राउनट्री आदि पाश्चात्य अर्थ-शास्त्रियों ने यूरोपीय देशों की दुर्दशा पर बड़ा अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि इन देशों में उद्योग-धन्धों के विस्तार के साथ साथ साधारण जनता में असन्तोष की आग भी फैल रही है। लोग इतना कमा नहीं सकते कि वे अपने परिवार का निर्वाह कर सकें। बीमारी और अभाव में लोग आर्थिक कष्ट से बड़ी मुसीबतें झेलते हैं। बेकारी की समस्या दिन पर दिन जटिल होती जाती है। परिश्रम से काम करने पर भी लोगों को पर्याप्त आमदनी नहीं होती, इससे उनमें ग़रीबी बढ़ रही है। उद्योग-धन्धों के साथ पूँजीवाद और व्यापारवाद का सङ्घर्ष हो रहा है। पूँजीपति कम से कम मज़दूरी देकर मज़दूरों से अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं। और मज़दूर, पूरी मज़दूरी और अधिकाधिक सुविधाओं के लिए, रात-दिन पूँजीपतियों से झगड़ते हैं। वर्तमान प्रणाली ने पूँजीपतियों और साधारण आदमियों में बड़ा भेद-भाव पैदा कर दिया है। इसी कारण साम्यवाद के आन्दोलन का जन्म हुआ है। इस आन्दोलन से ग़रीब, मज़दूर और किसानों को आश्रय मिल रहा है। किन्तु, साम्राज्यवादी इस आन्दोलन को 'हौआ' कह रहे हैं।

आन्दोलन की उत्पत्ति

साम्यवाद एक प्रवृत्ति है, अपौरुषेय सिद्धान्त नहीं। इसी कारण समय-समय पर इसकी व्याख्या अधिकाधिक व्यापक और सुधरे हुए ढँग से की जाती रही है। आदर्श एक ही है, किन्तु उसकी ओर जाने की दिशायें बदलती रही हैं।

साम्यवाद (Socialism) शब्द सबसे पहले इंग्लैण्ड में सन् १८३५ ई० में व्यवहार में लाया गया था। उस समय वहाँ प्रसिद्ध साम्यवादी ओवेन और उसके कामों की चर्चा हो रही थी। रेबॉद नाम के एक फ़रासीसी ने सेंटसाइमन और फ़ाउरियर के सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय यह शब्द इस्तेमाल किया था। उस समय केवल समाज के पुनः संघटन के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए यह शब्द व्यवहार में लाया गया था। इसमें तब राजनीति की गन्ध भी नहीं थी। यह केवल सामाजिक संघटन का नैतिक आन्दोलन था; उसमें भाग लेने वाले 'साम्यवादी आदर्शवादी' (Utopists) कहे जाते थे। इसके बाद मार्क्स एंजिल्स ने लोगों के अधिकारों की चर्चा करके इस आन्दोलन में राजनीति का समावेश किया। तब उन्होंने 'कम्युनिस्ट' (Communist) शब्द की रचना की।

अब हम क्रमशः भिन्न-भिन्न देशों की साम्यवाद-आन्दोलन की प्रगति और उसकी दिशा पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

फ़ान्स

फ़्रांस की राजक्रांति ने संसार को आशावाद का एक अपूर्व संदेश दिया। इससे पहले वहाँ लोग लिखना, बोलना और आंदोलन करना नहीं जानते थे। इस राज्य-क्रांति ने लोगों को सब काम सिखा दिये। यह समय भूतल पर वसन्तागमन का समय था। उस ज़माने में लोगों को समाज-संघटन करने या कोई आंदोलन खड़ा करने का अनुभव न था। उन दिनों सेंट साइमन नाम के एक व्यक्ति की चर्चा सब जगह सुनी जाती थी। वह सचमुच अपने समय का अद्भुत व्यक्ति था। ४२ वर्ष की उम्र में उसने साम्यवाद पर लिखना शुरू किया, और ८ वर्ष बाद यानी अपनी मृत्यु के समय तक वह मानव-जाति की स्वतन्त्रता की प्राप्ति के साधनों का ढाँचा तैयार करता रहा। उसमें संगठन करने की शक्ति थी।

उसने अनुभव किया कि समाज की वर्तमान विश्रृंखलता, जो कि ज़मींदारी पद्धति की ओर अग्रसर हो रही है और जिसके कारण व्यापारवाद के आसार अभी से पैदा हो गये हैं, बड़ी घातक है। उसका कहना था कि विज्ञान वेत्ताओं को उद्योग-धंधों की व्यवस्था इस प्रकार सुचारु रूप से करनी चाहिए, जिससे समस्त मानव-समाज का हित हो। सेंटसाइमन ने अपनी अन्तिम कृति The new christianity (नई ईसाइयत) नाम के ग्रन्थ में सामाजिक धर्म के मौलिक सिद्धांत बतलाते हुए कहा है कि मानवीयता बन्धुत्व की तरह है, इसलिए इन्सान को भाई-चारे से काम करना चाहिए। तत्कालीन आर्थिक समस्याओं के संबन्ध में श्री साइमन का स्पष्ट विचार यह था कि जो संपत्ति बड़ी तादाद में जमा की जा रही है, उसके जमा करने वाले उससे स्वार्थ-सिद्धि कर रहे हैं। यही ग़रीबी का मुख्यकारण है, और समाज का यह नैतिक दायित्व है कि अपनी सारी शक्ति लगाकर ग़रीबी का अन्त करे। इस प्रकार नैतिक और आर्थिक सिद्धांतों का सम्मिश्रण ही सेंटसाइमन का साम्यवाद था। उसके जीवन-काल में इन विचारों के अनुयायी बहुत थोड़े थे, परन्तु अपने पीछे वह एक सुदृढ़ सिद्धांत छोड़ गया।

कुछ समय के बाद सेंट साइमन के साम्यवाद (Saint-simonian socialism) की एक शाखा 'कोमटिज़्म' (Comtism) के नाम से खुली; और बाद में इसकी एक शाखा और निकली, जिसकी प्रगति आधुनिक साम्यवाद की ओर होने लगी। इस अन्तिम शाखा के फलस्वरूप कुछ उत्साही, योग्य और शिक्षित लोगों के एक ऐसे समुदाय का जन्म हुआ, जो एक सामूहिक कोष से अपना काम चलाता था। इस समुदाय से भी कुछ नये विचार प्रकाश में आये। इसके हाथों में समाज-संघटन का विचार और भी परिष्कृत हुआ तथा उसे ऐतिहासिक स्थायित्व मिला। इस समुदाय के जन्म से पूर्व फ़रासीसी समाज में अराजकता की धूम थी। लड़ाई-दंगे और स्वार्थ-संघर्षण से समाज अस्त-व्यस्त दशा में था। उस समय इसने (नये समुदाय ने) छोटी-छोटी जातियों में परस्पर सहानुभूति और सहयोग के भावों का सञ्चार किया, एवं उसमें धार्मिकता की पुट देकर लोगों के हृदयों में नवीन स्फूर्ति पैदा की। सेंट साइमन के विचारों का संपूर्ण यूरोप पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उससे उस युग के सामाजिक आन्दोलन में बिलकुल नई जान पड़गई। सेंट साइमन के पहले फ़ाउरियर ने तत्कालीन समाज को उन्नत बनाने के लिए अपने विचार लिपिबद्ध किये थे। किन्तु यह सेंट साइमन के आकर्षक विचारों का ही प्रभाव था कि जिसमे किसी न किसी रूपमें फ़ाउरियर का मत जीवित रहा।

फ़ाउरियर ने एक छोटे संघ की शासन-व्यवस्था को जन्म दिया था। उस व्यवस्था को उसने संघ-शासन-प्रणाली (Phalanstery) के नाम से पुकारा है। फाउरियर प्रजातन्त्रवादी था। उसकी चलाई हुई 'फालेन्स्टरी' (Phalanstery) की शासन-प्रणाली में संघवाद के रूप में प्रजातन्त्र के सिद्धांतों का समावेश था। किंतु, उस समय, वह प्रणाली समाज में प्रचलित न हो सकी। जीवन के अन्तिम समय में फाउरियर ने १० वर्ष तक बड़े धैर्य के साथ इस बात का इन्तज़ार किया कि कुछ ईमानदार धनिक लोग रुपया जुटा दें, तो इसकी योजना कार्य-रूप में परिणत हो जाय। उसकी योजना पर वाद-विवाद हुए, और बहुत से लोगों ने उसे अमल में लाने के लिए आवश्यक सहायता भी दी। फ़ाउरियर के विचारों के आधार पर एक पत्र प्रकाशित किया गया, और उसकी शासन-व्यवस्था की योजना के सहारे प्रयोग किये जाने लगे। सन् १८३७ में ६५ वर्ष की उम्र में फ़ाउरियर का देहान्त हो गया। इस प्रकार फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति के सामाजिक सिद्धान्तों का ख़ाका फ़ाउरियर के, तथा कुछ अंश तक सेंट साइमन के, दिमाग़ से बाहर निकल कर प्रकाश में आया।

अब फ़्रान्स में दो प्रकार की शासन-प्रणालियाँ प्रकाश में आचुकी थीं। एक तो सेंट साइमन की कुछ योग्य और बुद्धिमान लोगों की केन्द्रस्थ शासन-प्रणाली, तथा दूसरी फाउरियर की उत्तरदायी सङ्घवाद शासन-प्रणाली। दोनों में साम्यता थी, आगे बढ़ने के लिए स्पष्ट मार्ग दिखाया गया था और दोनों ही में ग़रीबी की समस्या को हल करने के लिए उपाय बतलाये गये थे। इस समय जन-साधारण बड़ी अस्त-व्यस्त दशा में था। एक ओर प्रजा-सत्ता की लहर लोगों के दिमाग़ों से टकरा रही थी, तो दूसरी ओर व्यापार-वाद की हवा के झोंके लोगों को परेशान कर रहे थे।

सन् १८३१ में एक उबाल आया, उसमें ल्योन्स के मज़दूरों ने आवाज़ बुलन्द की—"Live working or die fighting"—अर्थात् काम करते हुए जियो, या लड़ते हुए मर मिटो। जिस प्रकार एक गड़रिया अपनी भेड़ों को किसी पहाड़ी से नीचे उतार कर एक बाड़े में बन्द करता है, ठीक उसी प्रकार समय की प्रगति लोगों को एक आन्दोलन में शामिल करने के लिए इकट्ठा करने लगी।

सेंट साइमन के साम्यवाद के सिद्धान्तों का धीरे-धीरे विकास हुआ, और आगे चल कर क्रान्तिकारी आदर्शों के मानने वाले साम्यवादियों का एक ज़बर्दस्त दल बन गया। पहले सन् १८४८ ई० में और बाद में सन् १८७१ ई० में आन्दोलन की आग भड़की; किन्तु वह सेना के ज़ोर से दबा दी गई। सन् १८४८ के आन्दोलन का जन्म-दाता लुइसब्लैंक नाम का व्यक्ति था, और सन् ७१ के आन्दोलन की जन्म-दात्री जनता थी। पेरिस पर साम्यवादियों का अधिकार था। 'कम्यून' नाम की संस्था उनकी प्रातिनिधिक संस्था थी। साम्यवादियों ने पेरिस पर जिस भलमनसी और शान्ति से शासन किया, वैसा कोई सैनिक शासन भी नहीं हो सकता था। पर 'कम्यून' की सामयिक लहर के बाद फ्रान्स में साम्यवादी-आन्दोलन को बड़ी कठिनाइयों में होकर गुज़रना पड़ा। अधिकारियों ने साम्यवादियों को कुचलने और उन्हें तितर-बितर कर देने के लिए कोई बात उठा न रक्खी। उसमें उन्हें सफलता मिली और कुछ समय के लिए साम्यवाद का आन्दोलन दब गया।

जब जूल्स ग्वैस्डी (Jules Guesde) नाम का साम्यवादी निर्वासन से लौट कर जिनेवा आया, तब उसने साम्यवाद का काम करने के लिए सन् १८७७ में एल. इगेलिट (L. Egalite) नाम की संस्था क़ायम की, और वह स्वयं अराजकों में शामिल होकर मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार करने लगा। सन् १८७८ में लियोन्स की मज़दूर-सङ्घ-कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास कर निश्चय किया गया कि अगले वर्ष पेरिस में अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूरों का एक सम्मेलन किया जाय। यथा-समय सम्मेलन किया गया, परन्तु, अधिकारियों ने उसे बन्द कर दिया। इससे फ्रान्स में साम्यवाद को और भी बल मिला। बड़ी तेज़ी से उक्त मज़दूर सङ्घ के सदस्य बढ़ने लगे। १८७९ ई० में मज़दूर प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन मार्सेलीज़ में हुआ, उसमें मज़दूर-सङ्घ का नाम सोशलिस्ट लेबर-कांग्रेस रख दिया गया। वैसे तो यह कांग्रेस क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का समर्थन करती थी; किन्तु इसने अपना जो कार्यक्रम पास किया, वह ग्वैस्डी (Guesde) और लफ़र्ग (Lefargue) द्वारा तैयार किया गया था। यह लफ़र्ग प्रसिद्ध साम्यवादी कार्ल मार्क्स के दामाद थे। अगले वर्ष सोशलिस्टों और पुराने ख़याल के ट्रेड यूनियनिस्टों में झगड़ा हो गया। इससे दोनों दल कमज़ोर हो गये। १८८१ ई० के चुनाव में आन्दोलन की कमज़ोरी स्पष्ट मालूम हो गई। एक दल एक बात कहता था, तो दूसरा दल उसकी मुख़ालिफ़त करता था। नेताओं में ख़ूब चल रही थी। एक दल साम्यवादी सुधारों के द्वारा साम्यवाद के आदर्श तक पहुँचने का पक्षपाती था। इस दल का नेता पाल ब्रौसी था, जो पेरिस का मेयर भी था। दूसरा दल उन लोगों का था, जिन्होंने आकस्मिक क्रान्ति कर डाली थी। इसका नेता जूल्स ग्वैस्डी था। वास्तव में बात यह है कि दल-बन्दी के होते हुए भी मार्क्स का मत एक चट्टान की तरह था, जिसपर गिर कर दल-बन्दी टुकड़े-टुकड़े हो गई। दल-बन्दी का ज़ोर कुछ कम हुआ, तो पार्लमेंट के विरोध में एक दल खड़ा हो गया। इसके बाद आम मज़ूर-संघ (General Federation of Labour) नाम की संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था ने फ्रान्स के मज़दूरों की दशा सुधारने में बड़ा काम किया। दिन पर दिन साम्यवाद के आन्दोलन की व्यापकता बढ़ती गई। १८८७ ई० के चेम्बर के चुनाव में जनता को पहली बार विजय मिली। १८९३ ई० में राज-सभा (Chamber of Deputies) के चुनाव में ४० साम्यवादी मेम्बर चुने गये। सन् १९०९ तक तो फ्रान्स की पार्लमेंट में साम्यवादियों का बहुत प्रभाव हो गया था, उसीकी बदौलत एक साम्यवादी ब्रिआन्द ही प्रधान मन्त्री बन गये। राज-सभा के चुनाव में साम्यवादियों को सन् १८९३ में ६००००० १९०६ में ११२०००० और १९१० में १४००००० मत मिले। इन संख्याओं से फ्रान्स की भूमि में साम्यवाद की आग लता के अधिकाधिक व्यापक रूप से फैलने का पता चलता है।

—सुरेन्द्र शर्मा

आचार्य ध्रुव

भारतवर्ष के गुजरात प्रान्त में समय-समय पर अनेक नर-रत्न उत्पन्न हुए हैं। महात्मा गाँधी तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसे संसार प्रसिद्ध महापुरुषों ने अपने जन्म से इसी भूमि को अलंकृत किया। काका कालेलकर जैसे विचारक और न्हानालाल दलपतराम के समान भावुक कवि आज भी इस देश के गौरव को बढ़ा रहे हैं। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के आचार्य आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव भी इसी गुजरात के वर्तमान रत्नों में से एक हैं।

श्रीयुत आनंदशंकरजी का जन्म विक्रम-संवत १९२५ के माघ मास में अहमदाबाद के एक नागर-कुल में हुआ था। आपके पिता का नाम बापूभाई था। धनाढ्य पिता के एकमात्र पुत्र होने से इनका बाल्यकाल सम्पन्नता की सुखद छाया में व्यतीत हुआ। बहुत अर्से तक बापूभाई काठियावाड़-एजेंसी के दफ्तरदार रहे; तत्पश्चात् बड़ौदा राज्य की रेज़िडेन्सी में राज्य की तरफ से प्रतिनिधि नियुक्त हुए। वह स्वयं चरित्रवान् एवं धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे, इसीसे उनके सुपुत्र के जीवन पर आरम्भ से ही उत्तमोत्तम संस्कारों की छाप पड़ने लगी। बाल्यावस्था समाप्त होने पर धनिकों के पुत्र प्रायः विद्याभ्यास में अधिक उन्नति नहीं करते, क्योंकि अपने पूर्वजों की अतुल संपत्ति पर उनकी दृष्टि रहने से, उन्हें धन-संचय की चिन्ता नहीं सताती; परन्तु ध्रुवजी के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार इनमें धीरे-धीरे अन्तर्हित प्रतिभा का प्रादुर्भाव होने लगा और यह बुद्धिमान विद्यार्थियों में गिने जाने लगे।

ध्रुवजी का विद्यारम्भ गाँव की एक पाठशाला में हुआ। फिर गुजराती-पाठशाला में भर्ती होकर इन्होंने अँग्रेज़ी स्कूल में प्रवेश किया। वहाँ आपने अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं उत्तम ज्ञान से अपने शिक्षकों को पूर्णतया संतुष्ट कर दिया था, और उत्तम विद्यार्थी होने के कारण नियमित आयु से पूर्व ही आपने मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा पास कर ली। आपका संस्कृत का ज्ञान भी बहुत ही उत्कृष्ट माना जाता था। जब आप विद्याभ्यास करते थे, उन दिनों, मिथिलापुरी के एक विद्वान् शास्त्रीजी अहमदाबाद पधारे। उक्त शास्त्रीजी के सहवास से आपकी संस्कृत की योग्यता में विशेष वृद्धि हुई। अहमदाबाद के गुजरात-कॉलेज में प्रविष्ट होने के अनंतर आपने वहाँ के तत्कालीन संस्कृताध्यापक श्री काथवटे से भली-भाँति प्रीति-संपादन कर ली। अध्यापक काथवटे आपके संस्कृत संबंधी ज्ञान की बहुत प्रशंसा किया करते थे। इसी तरह कॉलेज के आचार्य (प्रिंसिपल) श्री जमशेदजी अरदेशर दलाल भी आपकी अँग्रेज़ी की योग्यता से खब सन्तुष्ट थे। कुछ दिनों में ध्रुवजी उक्त दोनों अध्यापकों के प्रिय शिष्य बन गये। बी० ए० की प्रथमवर्षीय परीक्षा में किसी कारण असफल हो जाने पर आचार्य दलाल ने इन्हें खास विद्यार्थी जान कर बी० ए० की दोनों वर्ष की परीक्षा में एक साथ बैठने की आज्ञा दे दी और दूसरे वर्ष आप दोनों परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो गये। बी० ए० पास कर आपने एम० ए० और एल-एल० बी० दोनों परीक्षाओं में भी सफलता प्राप्त की। एम० ए० की उपाधि तो अहमदाबाद-निवासी नागरों में आपने ही पहले-पहल ई० स० १८९१ में प्राप्त की थी।

जब ध्रुवजी गुजरात-कॉलेज में विद्याभ्यास कर रहे थे, उस समय, अध्यापक काथवटे छुट्टी पर जाने वाले थे; इसलिए, उनके स्थान पर, किसी को नियुक्त करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस सम्बन्ध में उक्त अध्यापक महोदय से सम्मति ली गई, तो उन्होंने तत्क्षण हमारे चरितनायक का नाम लिया। किन्तु, आपकी पढ़ाई अभी समाप्त नहीं हुई थी। इसलिए उस समय, कई लोगों का ख़याल था कि धनाढ्य होने के कारण सेवा स्वीकार करने को आप तैयार न होंगे। किन्तु भावी के मार्ग अगम्य होते हैं। मनुष्य नहीं जानता कि होनहार उसे किन-किन उलटे-सीधे मार्गों-द्वारा दुःखद अथवा सुखद परिणाम पर पहुँचायगा। कविवर भवभूति ने बिलकुल सच कहा है—'प्रायः शुभं च विदधात्यशुभं च जन्तोः सर्वंकषा भगवती भवितव्यतैव'। उन दिनों गुजरात-कॉलेज का प्रबन्ध एक बोर्ड (समिति) के अधीन था। बोर्ड के कुछ सदस्य आपके पिताजी से भली भाँति परिचित थे। इन लोगों ने बापूभाई से इस सम्बन्ध में बातचीत की और, कुछ दिनों के लिए आवश्यकता होने के

कारण, यही निश्चय हुआ कि आपको ही अध्यापन-कार्य सौंपा जाय। अस्तु

अध्यापक काथवटे स्थायी पद पर कार्य नहीं कर रहे थे। जब संस्कृताध्यापक का स्थान ख़ाली हुआ, तो जगह-जगह से अर्ज़ियाँ मँगवाई गईं। अच्छे-अच्छे संस्कृतज्ञ विद्वानों ने आवेदन-पत्र भेजे थे, परन्तु कुछ ही दिनों में ध्रुवजी के ज्ञान तथा शिक्षण-शैली से विद्यार्थी इतने सन्तुष्ट हो गये थे कि बोर्ड के सदस्यों ने आपको ही उक्त पद पर नियुक्त करना उचित समझा। आरंभ में ध्रुवजी ने वह पद स्वीकार न किया, किन्तु बहुत-कुछ कहने-सुनने पर अन्त में आप उस कार्य के लिए राज़ी हो गये और दीर्घकाल तक गुजरात-कॉलेज के संस्कृताध्यापक रहे। इस कॉलेज में आप केवल संस्कृत ही नहीं पढ़ाते थे, किन्तु समय-समय पर अंग्रेज़ी, न्याय, दर्शन आदि के भी अध्यापक रह चुके हैं। फिर आप वहाँ के आचार्य नियुक्त हुए। पाश्चात्य एवं प्राच्य तत्त्वज्ञान विषयक आपकी योग्यता के संबंध में तो कुछ कहना ही सूर्य को दीपक दिखाना है। उक्त कॉलेज का प्रबंध सरकार के हाथ में चले जाने के कुछ समय बाद आप बंबई के सुप्रसिद्ध एल्फ़िन्स्टन कॉलेज में संस्कृताध्यापक नियुक्त हुए। इस अर्से में आप आई०ई० एस० भी हो गये थे। इसके बाद, आज से अनुमान ५-६ वर्ष पूर्व, काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए एक प्रखर विद्वान् एवं कार्यदक्ष आचार्य की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। विश्वविद्यालय के प्राण पूज्यपाद मालवीय जी ने इस संबंध में महात्माजी तथा सर लल्लूभाई को पत्र लिख कर पूछा। इन दोनों महानुभावों ने स्वतंत्र रूप से आपका ही नाम मालवीयजी को सूचित किया। मालवीयजी ने दोनों सज्जनों की सम्मति को स्वीकार कर आपको नियुक्त कर दिया, जहाँ आप अबतक कार्य कर रहे हैं और विश्वविद्यालय में आचार्य नाम से प्रसिद्ध हैं।
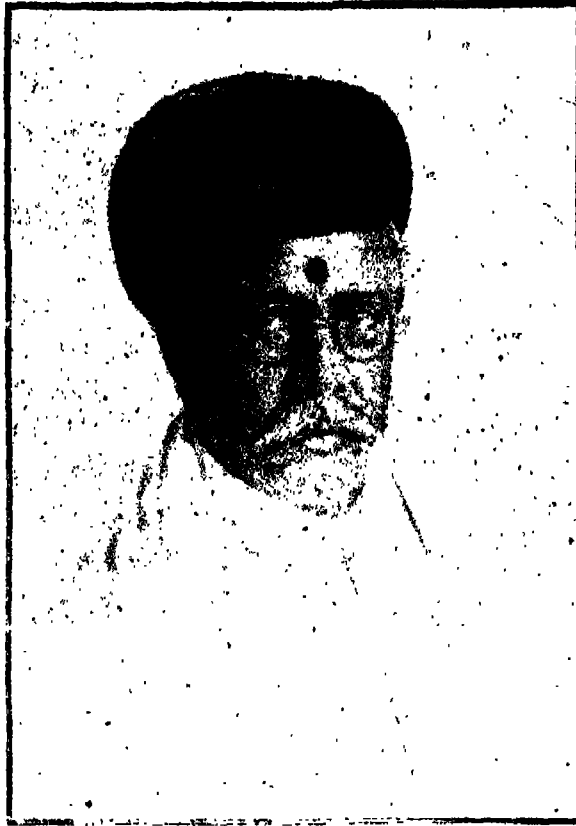
आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव

केवल अध्यापक अथवा आचार्य के रूप में ही ध्रुवजी का जीवन उज्ज्वल एवं यशस्वी नहीं है; किन्तु आपके लिखे हुए अनेक ग्रंथ भी अत्यन्त उपयोगी, ज्ञानपूर्ण एवं उत्तम हैं, और आपकी उच्च कोटि की साहित्य-सेवा का परिचय देते हैं। ईस्वी, सन् १८९७ में 'सुदर्शन' मासिकपत्र के आदि संपादक श्री मणिलाल नभुभाई द्विवेदी का देहावसान होने पर ध्रुवजी ने उसका संपादन-भार अपने ऊपर लेकर मित्र-धर्म का पालन किया। यह पत्र आपके संपादकत्व में ४-५ वर्ष चलकर बंद हो गया। इसके अनंतर १९०२ ई० में आपने 'वसन्त' नामक गुजराती मासिकपत्र निकालना आरंभ किया और उसका संपादन भी कई वर्ष तक आपही करते रहे। 'वसंत' का जन्म हुए आज २५ वर्ष हो गये हैं। इसने गुजरात के मासिक-साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। बीसवीं शताब्दि के आरंभ में गुजराती का मासिक-साहित्य कुछ शुष्क हो गया था, परन्तु 'वसन्त' ने जन्म लेकर उसमें नवजीवन का संचार किया और ज्ञान एवं रस की

सहायता से उसे नवीन शोभा द्वारा पल्लवित किया। गंभीर एवं विद्वत्तापूर्ण विषयों का किस प्रकार प्रतिपादन करना चाहिए, इस संबंध में गुजराती-पाठकों को 'वसन्त' की ओर से बहुत कुछ शिक्षा मिली है। ऐसा कोई महत्वपूर्ण विषय नहीं है, जिसपर 'वसन्त' के पृष्ठों में विचार न किया हो। 'वसन्त' ने अपनी उन्नति गुजराती के लेखकों की पूर्ण सहानुभूति से की है, और उसके साथ भाषा का गौरव, पाठ्य-विषय की शिष्टता, विचारों की उच्चता और विद्वत्ता की सम्पत्ति उसने गुजराती-पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत की है।

जिन दिनों 'वसन्त' का जन्म हुआ, उस समय, अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त गुजराती जनता अपनी मातृभाषा में लिखने और गुर्जर-साहित्य के अध्ययन करने को उपेक्षा की दृष्टि से देखती थी; यहाँ तक कि सामान्य बातचीत तथा पत्र-व्यवहार में भी अंग्रेज़ी का ही उपयोग होता था। परन्तु वास्तव में, यह प्रवृत्ति देश के लिए अनिष्टकर थी। सर चार्ल्स वुड ने भारतीय शिक्षा के संबंध में जो खरीता भेजा था, उसमें ऐसी आशा प्रकट की थी कि आधुनिक शिक्षा-प्राप्त भारतीय अपने पाश्चात्य ज्ञान और विद्या के लाभ को मातृभाषा के द्वारा अपने अन्य भाइयों तक पहुँचावेंगे; किन्तु उनकी यह आशा निष्फल सिद्ध हुई। इसीलिए इस विषय में लिखते समय मातृभाषा की इस अवज्ञा को सर जेम्स पील ने 'स्वदेशाभिमान की कमी' कहा था। सन् १९०२ में 'वसंत' का संपादन ग्रहण करते समय प्रथमांक में ध्रुवजी ने लिखा था कि सर जेम्स पील के इन 'हृदयवेधक' शब्दों में बहुत कुछ सत्य है। आपकी ही उत्तेजना से अनेक ग्रेज्युएट विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त अपने अनुभव तथा ज्ञान का प्रचार 'वसन्त' के द्वारा गुजराती जनता में करने लगे। गुजराती-साहित्य में आज लेखकों की जैसी संख्या है और जितनी विविधता तथा नवीनता देख पड़ती है, उसमें 'वसन्त' तथा उसके प्रतिभाशाली सम्पादक ध्रुवजी का बहुत-कुछ हाथ रहा है।

जब 'वसन्त' की स्थापना हुई थी, उस समय, गुजराती के सामयिक पत्रों में विज्ञान-विषयक चर्चा नहीं के बराबर थी। 'वसन्त' ने इस विषय की ओर पूर्ण ध्यान दिया और ध्रुवजी की देख-रेख में उसके प्रत्येक अंक में विज्ञान-सम्बन्धी सामग्री रहने लगी। पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि यह आज से पच्चीस वर्ष पूर्व की बात है। फिर तो विज्ञान के संबंध में 'वसन्त' को अपना मार्गदर्शक बनाकर अन्य पत्र भी इस प्रवृत्ति का अनुकरण करने लगे।

'वसन्त' ऐसा पत्र नहीं, जो किसी खास तरह के विचारों का जनता में प्रचार करने के लिए निकाला गया हो, अथवा जिसका जन्म किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए हुआ हो। उस समय गुजरात में इतने अधिक सामयिक पत्र नहीं थे। 'बुद्धिप्रकाश' एक हद तक उन्नति कर चुका था। 'ज्ञानसुधा' भी एक खास विचार के लोगों की पत्रिका मानी जाती थी। तात्पर्य यह कि उस समय एक सार्वजनिक पत्र की बड़ी आवश्यकता थी, जिसे अनेक मित्रों के अनुरोध से ध्रुवजी ने 'वसंत' के प्रकाशन-द्वारा पूर्ण की।

इतना सब होते हुए भी 'वसन्त' की वास्तविक विशिष्टता गुर्जर-साहित्य में सुरुचिपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने में है। इसका मुख्य आधार ध्रुवजी का समर्थ एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ही है। 'रिव्यू ऑफ़ रिव्यूज़' तथा 'नेशन' की महत्ता अधिकांश में स्टेड और मेसिंगहाम के ही कारण है। 'मैंचेस्टर गार्जियन' तथा 'हिब्बर्ट जर्नल' का आकर्षण उनके संपादक स्कॉट और जैक्स के नाम पर बहुत-कुछ निर्भर है। हमारे भारत में भी 'माडर्न रिव्यू' पर उसके संपादक रामानंद चट्टोपाध्याय के व्यक्तित्व की प्रबल छाप देख पड़ती है। इसी तरह 'वसन्त' में प्रकाशित आचार्य ध्रुव के विद्वत्तापूर्ण, गंभीर एवं मौलिक लेखों में उनका व्यक्तित्व स्पष्टतया प्रतिबिंबित होता है। आपकी विवेचनापूर्ण टिप्पणियाँ 'ईवनिंग स्टैंडर्ड' में नियमित रूप से प्रकाशित होने वाले सेंट पॉल के डीन डाक्टर इंज के लेखों अथवा 'हिब्बर्ट जर्नल' के सुयोग्य संपादक एल. पी. जैक्स की विचार-धारा का स्मरण कराती हैं। आपका 'आपणो धर्म' शीर्षक लेख तो इतना विचारपूर्ण और माननीय है कि यदि वह अंग्रेज़ी में प्रकाशित होता तो पश्चात्य जगत् में ध्रुवजी की प्रकाण्ड दार्शनिक विद्वत्ता का सिक्का जम जाता।

गुजरात कॉलेज का प्रबन्ध सरकार के हाथ में चले जाने पर आपके सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'वसंत' को

बन्द कर दिया जाय, अथवा उसकी स्थापना के समय निश्चित किये हुए उसके विशाल कार्यक्षेत्र को परिमित बनाकर—उसमें राजनैतिक चर्चा बंद कर—उसे साहित्य धर्म, अथवा तत्वज्ञान-विषयक एक पत्र के रूप में चलाते रहना चाहिए। इस वैकल्पिक प्रश्न से यही अभिप्रेत था कि या तो 'वसंत' का अन्त ही हो जाय अथवा वह अपंग बनकर जीवन बितावे। ध्रुवजी को जान पड़ा कि वर्तमान सार्वजनिक जीवन के अनेक अंगों में राजनीति का एक विशेष स्थान है; अतः उसे हटा देने पर 'वसंत' का जीवन ही एक तरह से लुप्त हो जायगा। आप बड़े असमंजस में पड़ गये। आचार्यजी ने एक स्थान पर लिखा है, "ईश्वर ने मुझे जो बड़े-से-बड़ा सुख दिया है, वह मेरे मित्रों का है।" इस दुविधा में आपके मित्र सर रमणभाई ने तुरंत 'वसन्त' का सम्पादन-भार अपने ऊपर लेकर आपको निश्चिंत कर दिया। ध्रुवजी ने "पुनश्च हरिः ओम्" शीर्षक से 'वसंत' में इस बात का उल्लेख बड़े मार्मिक शब्दों में किया है। सर रमणभाई के सम्पादक रहते समय भी आप यथावकाश लेख लिखकर 'वसन्त' की सेवा करते रहे।

आपकी अनेक नवयुवकोपयोगी एवं दार्शनिक कृतियाँ गुर्जर-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रही हैं। आपकी 'हिन्दू-धर्म की बालपोथी' तथा 'नीति-शिक्षा' आदि कुछ पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। 'बाम्बे संस्कृत सीरीज़' तथा 'गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़' में भी आपने कुछ ग्रन्थों का सम्पादन किया है। 'वसन्त' ने अपने जीवन के २५ वर्ष समाप्त होने पर गत २६ दिसंबर को अपनी रजतजयंती का उत्सव मनाया था। इस अवसर पर गुजरात-पत्रकार-मण्डल तथा गुर्जर-साहित्य-सभा ने ध्रुवजी की दीर्घकालीन गुर्जर-साहित्य-सेवा के प्रति अपनी गुण-ग्राहकता प्रकट करने के लिए एक स्मारक ग्रंथ (Commemoration volume) प्रकाशित करने का आयोजन किया। अनेक विद्या-प्रेमी गुजरातियों ने इस शुभ-कार्य में आर्थिक सहायता दी, और उक्त रजत-जयन्ती के अवसर पर क़रीब ५०० पृष्ठ का एक सर्वाङ्ग-सुन्दर, सचित्र एवं सजिल्द 'वसन्त-रजत-महोत्सव-स्मारक ग्रन्थ' प्रकाशित किया गया। इसमें आचार्यजी के भिन्न-भिन्न अवस्था के बहुत से चित्र तथा उनकी संक्षिप्त जीवनी के अतिरिक्त अनेक भारतीय और यूरोपियन विद्वानों द्वारा विविध विषयों पर ६७ शोधपूर्ण एवं महत्वशाली लेख लिखे गये हैं। इस ग्रन्थ को हम एक प्रकार से 'वसन्त' का विशेषांक कह सकते हैं। हिन्दी में आज तक किसी सामयिक पत्र की जयन्ती पर इतना बृहद्, सुन्दर एवं उपयोगी स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। 'वसन्त' के आदि संस्थापक तथा संपादक ध्रुवजी को ही समर्पित किया जाने के कारण वह ग्रन्थ उनकी साहित्य-सेवाओं तथा विमल कीर्ति का एक अमर स्मारक बन गया है। हमें यह लिखते दुःख होता है कि हिन्दी-प्रेमियों ने अपने वयोवृद्ध साहित्यिकों की बहुमूल्य सेवाओं के प्रति अपनी यथेष्ट गुणज्ञता प्रकट कर अब तक किसी को ऐसा सम्मान प्रदान नहीं किया, जैसा सम्मान गुजरातवासियों ने 'वसन्त' के लब्धप्रतिष्ठ संपादक का किया है। खेद है, अपनी वैसी कृतज्ञता हिन्दी-भाषी जनता बीस वर्ष तक 'सरस्वती' का सफलता-पूर्वक सम्पादन करने वाले साहित्य-महारथी श्रद्धेय द्विवेदीजी के प्रति भी न कर सकी।

आपका गृह-जीवन आरम्भ से ही सादा एवं विद्या-व्यसनी रहा है; कुटुम्ब-जीवन भी ममतापूर्ण और स्नेहार्द्र है। अवकाश का सारा समय आप पुस्तकावलोकन में बिताते हैं, फिर भी आपकी कुटुंब-वत्सलता में किसी प्रकार कमी नहीं देख पड़ती। ३४ वर्ष की अवस्था में आपकी सहधर्मिणी का अवसान हुआ, तब से आज तक—दुःखी माता की आपका विवाह कराने की उत्कट इच्छा होते हुए भी—आप ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। आपकी मातृभक्ति भी आदर्श है। एक बार आपकी माताजी दो वर्ष तक बीमार रहीं, उन दिनों अपने आवश्यक कार्यों से समय निकालकर आप मातृ-सेवा में अहर्निश संलग्न रहते थे। इस तरह पाठक जान जायँगे कि आपका गृह-जीवन भी, साहित्य-सेवा की भाँति, नाना सद्गुणों से पूर्ण है। आपके दो पुत्र हैं, उनमें से एक कालेज में अध्यापक हैं।

जिन दिनों आप हिन्दू-विश्वविद्यालय के सेंट्रल हिंदू कालेज के आचार्य होकर बनारस गये, उस समय किसी कारण विश्वविद्यालय का वातावरण कुछ अशांतिपूर्ण था; किंतु आपके आगमन के साथ ही साथ विश्वविद्यालय में सर्वत्र शांति एवं सद्भाव का एक युग उत्पन्न हो गया।

बंबई-विश्वविद्यालय के अनुभव तथा अपने उदार हृदय और सरल प्रकृति के कारण कुछ ही दिनों में आप सब अधिकारियों के विश्वासपात्र बन गये और शीघ्र ही आपकी पदवृद्धि भी हो गई। उपाध्यक्ष (वाइस-चांसलर) तथा विश्वविद्यालय की सर्वप्रधान कार्यकारिणी समिति (कोर्ट) ने आपके कार्य-संचालन की इतनी प्रशंसा की कि दूसरे ही वर्ष आपको प्रो-वाइस-चांसलर का माननीय पद प्रदान किया गया, और अब तक आप उसी पद पर कार्य कर रहे हैं। विश्वविद्यालय की जितनी समितियाँ-उपसमितियाँ हैं उनमें सभापति की हैसियत से आप जो विचार प्रकट करते हैं, वे बड़े ही योग्य, चातुर्यमय एवं बुद्धिमत्तापूर्ण होते हैं। कई भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के आप परीक्षक होते हैं। युक्त-प्रान्त के इंटरमीडियट बोर्ड तथा इंटर-यूनिवर्सिटी बोर्ड में आप हिन्दू-विश्वविद्यालय की ओर से प्रतिनिधि हैं। प्रयाग-विश्वविद्यालय में भी आप पाठ्य-समिति के सदस्य हैं। हिन्दू-विश्वविद्यालय की फ़ैकल्टी आफ़ आर्ट्स के आप 'डीन' हैं।

आपकी साहित्य-सेवा वास्तव में अप्रतिम, आदरणीय तथा अनुकरणीय है। आपके विस्तृत अध्ययन तथा अगाध पांडित्य के विषय में जो कहा जाय थोड़ा है। आप न केवल संस्कृत, अंग्रेज़ी और गुजराती साहित्य के ही प्रकांड पंडित हैं; किन्तु इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शन तथा भारतीय संस्कृति आदि विषयों में भी आपका अध्ययन बड़ा ही गम्भीर एवं प्रशंसनीय है। दर्शन-शास्त्र तो आपका सबसे अधिक प्रिय विषय है। विविध विषयों का अध्ययन करते रहने पर भी आप हिन्दी से प्रेम रखते हैं, यह उल्लेखनीय बात है। आपकी मुखाकृति देखते ही ऐसा भास होता है, मानों सरस्वती आपके मुखमण्डल पर विराजमान हो। सन् १९२६ में काशी में अखिल भारतवर्षीय दर्शन-कांग्रेस हुई थी, उसके भारतीय दर्शन-विभाग के सभापति का पद आपने ही सुशोभित किया था। अध्यक्ष-पद से दिया हुआ आपका भाषण आदि से अंत तक आपके अगाध ज्ञान, पारगामी विद्वत्ता और चिरकालीन मनन का उत्कृष्ट नमूना था और सुनते समय श्रोतागण मंत्रमुग्ध-से रह गये थे।

जिन विद्यार्थियों ने आचार्यजी के पास बैठ कर गीता का अध्ययन किया है, वही जानते हैं कि आपके मुख से गीतामृत सुनने में कैसा अभूतपूर्व आनन्द मिलता है। इन पंक्तियों के लेखक को भी यह सुअवसर प्राप्त हुआ है। आपके गुजराती-प्रेम के बारे में हम पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं। उच्च अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त हिन्दी-भाषियों को आपके मातृ-भाषा-प्रेम से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। हर्ष की बात है कि गुजरातवासियों ने नड़ियाद में आगामी अक्तूबर मास में होने वाली नवम गुर्जर-साहित्य-परिषद् का सभापति आचार्यजी को ही चुन कर अपने आपको सम्मानित किया है। अध्ययन से आपको इतना प्रेम है कि इस सम्बन्ध में कुछ कहना ही वृथा है। यदि कोई नई पुस्तक मिल गई तो आपको सब कुछ मिल गया। फिर कुछ समय के लिए आप सब बातों से निश्चिन्त हो जाते हैं। खेलों में आपको क्रिकेट बहुत पसन्द है। इसीसे विश्वविद्यालय में प्रतिवर्ष ध्रुव-क्रिकेट-टूर्नामेंट हुआ करता है।

स्वभाव के धर्मनिष्ठ सनातनी होते हुए भी आपके विचारों में संकीर्णता का लेशमात्र नहीं है। उदार विचारों के कारण आपको गत वर्ष गुरुकुल कांगड़ी की रजत-जयन्ती के अवसर पर सर्व-धर्म-सम्मेलन का सभापति चुना गया था। प्राचीन भारतीय सभ्यता के आप बड़े हामी हैं, परन्तु पाश्चात्य विज्ञान के भी किसी प्रकार विरोधी नहीं हैं। विज्ञान के प्रशंसक होते हुए भी प्राच्य तत्त्वज्ञान में आपकी विशेष श्रद्धा है। उस दिन हिंदू विश्वविद्यालय में विज्ञान की आधुनिक उन्नति पर भाषण देते हुए एक वक्ता ने विज्ञान को सातवें आसमान पर चढ़ा दिया था, उस समय कुछ ही शब्दों में आपने कहा—"But my friends, you must remember that men does not live by bread alone" अर्थात् मेरे मित्रो, आपको स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता—उसकी उन्नति के लिए आध्यात्मिक भोजन की भी परमावश्यकता है।

प्राचीन भारत के गुरुकुलों में भी गुरू अथवा अध्यापक के अतिरिक्त चरित्र-निर्माण की शिक्षा देने के लिए एक अध्यापक विशेष रहता था, जिसे आचार्य कहते थे। आचार्य की परिभाषा देते हुए प्राचीन ग्रंथों में लिखा है—

आचिनोति हि शास्त्रार्थान् धर्मानाचरयत्यपि ।
शिष्यैः स्वयं चाचरति यः स आचार्य उच्यते ॥

आचार्य के ये सभी लक्षण ध्रुवजी में यथावत् देख पड़ते हैं। विद्यार्थियों के सामने आप सदैव सरल जीवन और उच्च विचार (Plain living and high thinking) का आदर्श रखते हैं। आपकी वेशभूषा बड़ी सादी एवं प्रभावोत्पादक है। आप सदा गुजराती पगड़ी, कोट और धोती धारण करते हैं। आपकी प्रकृति बड़ी सरल और मिलनसार है। अभिमान तो आपको छू तक नहीं गया है। विद्यार्थियों को किसी भी प्रकार की सहायता देने में आप कोई बात उठा नहीं रखते।

महात्माजी में आपकी बड़ी श्रद्धा है। आपमें हम पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति का एक सुन्दर सम्मिश्रण देखते हैं, इसीसे कट्टर सनातनी तथा सुधारक वर्ग दोनों ही आपसे समान रूप से प्रसन्न रहते हैं। प्रत्येक धर्म अथवा संप्रदाय के अच्छे अंश को आप सहर्ष स्वीकार करते हैं। वसंत-रजत महोत्सव-स्मारक ग्रन्थ के लिए देशपूज्य महात्माजी ने जो संदेश भेजा, उसमें उन्होंने बड़े सुंदर शब्दों में लिखा है, "आनन्दशंकर भाई समाज-सुधारक और सनातनी के बीच एक सुंदर पुल हैं। उसपर चलकर हम एक-दूसरे से मिल सकते हैं। भारत-भूषण मालवीयजी को हमने आनन्दशङ्कर भाई प्रदान किये हैं, इससे अच्छी और कोई भेंट न हो सकती थी। वह प्राचीन और अर्वाचीन का ठीक मेल साध रहे हैं।"

संसार में कोई विशेष तेजस्वी होता है, तो किसी को हम अनुभव-समृद्ध पाते हैं, परन्तु आपके व्यक्तित्व में अद्वितीय वाक्‌समृद्धि, उत्कृष्ट संस्कृति तथा उच्चकोटि की विचार-धारा दृष्टिगोचर होती है। बिलकुल विरोधी तत्त्वों का आपके जीवन में समन्वय हुआ है, और विरोधी तत्त्वों का यह समन्वय ही आपके विशाल हृदय तथा उच्च संस्कारमय जीवन का एक प्रबल प्रमाण है। गुजरात के साहित्याकाश में आज अनेक नक्षत्र चमक रहे हैं, परन्तु उनमें आप ध्रुवतारे के समान हैं, जिसकी ज्योति सदा स्थिर, पवित्र एवं स्फूर्तिदायक होती है। 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्' का प्रतिबिंब आपके व्यक्तित्व से स्पष्टतया देख पड़ता है।

आचार्यजी एक प्रखर विद्वान्, उत्तम अध्यापक, समर्थ लेखक, गंभीर वक्ता, लब्धप्रतिष्ठ सम्पादक, धर्मनिष्ठ सज्जन, आदर्श पिता, विनोदी मित्र, और कुटुंबवत्सल गृहस्थ हैं। अन्त में जगदीश्वर से यही प्रार्थना है कि हिन्दू जाति, हिन्दू-विश्व-विद्यालय तथा भारतीय साहित्य का आपके द्वारा चिरकाल तक हितसाधन होता रहे।

रामेश्वर गौरीशंकर ओझा

ब्रिटिश साम्राज्य की शासन-पद्धति

स्वतन्त्र उपनिवेशों का शासन

प्राक्कथन—इस लेख में हम ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतन्त्र उपनिवेशों की शासन-पद्धति बतलायेंगे। पहले यह जान लेना आवश्यक है कि उपनिवेश किसे कहते हैं। जब किसी राज्य के आदमी किसी दूसरे देश में युद्ध, कृषि, व्यापार आदि के निमित्त जा कर वहाँ स्थायी रूप से रहने लग जाते हैं, और अपनी मातृ-भूमि को छोड़ कर किसी अन्य राज्य की अधीनता स्वीकार नहीं करते, तो वह देश उस राज्य का उपनिवेश कहलाता है। अन्यान्य राज्यों में इंग्लैण्ड के उपनिवेशों की संख्या सबसे बढ़ कर है। इन उपनिवेशों में से निम्नलिखित अपने शासन-प्रबन्ध के लिए इङ्गलैण्ड के अधीन नहीं हैं, अर्थात् स्वाधीन हैं—

(क) कनाडा
(ख) दक्षिण आफ्रिका
(ग) आस्ट्रेलिया
(घ) न्यूजीलैंड
(ङ) न्यूफ़ाउन्डलैंड

अब हम इनकी शासन-पद्धति का क्रमशः वर्णन करते हैं। पहले कनाडा ही को लीजिए।

कनाडा का शासन

पार्लमेन्ट—कनाडा की पार्लमेन्ट की दो सभायें हैं:—(१) सिनेट[1] और (२) प्रतिनिधि[2] सभा। सिनेट के सदस्यों की संख्या ९६ है। ये सदस्य, कनाडा की सरकार की सिफारिश पर बादशाह द्वारा नामजद किये जाते हैं—बशर्ते कि उनकी आयु तीस वर्ष से अधिक हो, वे विदेशी न हों, और उनके पास कम से कम ४,००० डालर (१२,००० रुपये) की जायदाद हो।

प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों की संख्या २३५ है। इस सभा की आयु ४ वर्ष की होती है; और यहाँ प्रत्येक बालिग़ स्त्री-पुरुष को चुनाव में मत देने का अधिकार है।

धन-सम्बन्धी क़ानूनी मसविदों पर विचार प्रतिनिधि-सभा में ही आरम्भ हो सकता है।

गवर्नर-जनरल और प्रबन्धकारिणी सभा—कनाडा का गवर्नर-जनरल इङ्गलैण्ड के बादशाह द्वारा नियत किया जाता है। वह सब कार्य प्रबन्धकारिणी सभा के परामर्श के अनुसार इस सभा में १८ मन्त्री होते हैं, जो अपने शासन-कार्य के लिए प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी रहते हैं।

प्रान्तीय शासन—कनाडा में ९ प्रान्त हैं। प्रत्येक प्रान्त में एक-एक लेफ्टेनेन्ट गवर्नर रहता है। वह कनाडा के गवर्नर-जनरल द्वारा, प्रबन्धकारिणी सभा के परामर्शानुसार, नियुक्त किया जाता है। सात प्रांतों में एक-एक, और दो प्रान्तों में दो-दो, व्यवस्थापक सभायें हैं। प्रान्तीय मन्त्री-दल, अपने शासन-कार्य के लिए, प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्रान्तीय सरकारें उन्हीं अधिकारों का उपयोग कर सकती हैं, जो उन्हें कनाडा की केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त हैं।

शासन-पद्धति की विशेषतायें—कनाडा की शासन-पद्धति की मुख्य विशेषतायें निम्न लिखित हैं:—

(१) केन्द्रीय सरकार प्रान्तों की व्यवस्थापक परिषदों द्वारा स्वीकृत क़ानूनी मसविदों को रद्द कर सकती है।

(२) कनाडा की पार्लमेन्ट शासन-पद्धति सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकती। ऐसा परिवर्तन इङ्गलैण्ड की पार्लमेन्ट ही कर सकती है।

(३) बड़ी-बड़ी अदालतों के न्यायाधीश नियत करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है।

(४) प्रान्तों के लेफ्टेनेन्ट-गवर्नर, गवर्नर-जनरल द्वारा, प्रबन्धकारिणी सभा के परामर्शानुसार नियुक्त किये जाते हैं।

दक्षिण आफ्रिका के यूनियन का शासन

पार्लमेन्ट—दक्षिण आफ्रिका के यूनियन की पार्लमेन्ट में दो सभायें हैं—(१) सिनेट और (२) प्रतिनिधि सभा। सिनेट में ४० सदस्य हैं—८ गवर्नर-जनरल द्वारा नामजद होते हैं और ३२ प्रतिनिधि-सभा द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। सिनेट की आयु १० वर्ष की होती है। यूरोपियन ब्रिटिश प्रजा के व्यक्ति ही इसके सदस्य हो सकते हैं। सिनेट की सदस्यता के उम्मीदवार की आयु कम से कम तीस वर्ष होनी चाहिए और उसके पास कम से कम ५०० पौंड की जायदाद भी होनी चाहिए।

प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों की संख्या १३४ होती है। इस सभा की आयु पाँच वर्ष निर्धारित की गई है। सभा के प्रत्येक सदस्य को राजभक्ति की शपथ लेनी

(1) Senate.

(2) House of Representatives.

होती है। यहाँ प्रत्येक बालिग़ स्त्री-पुरुष को चुनाव में मत देने का अधिकार है।

धन-सम्बन्धी क़ानूनी मसविदों पर विचार प्रतिनिधि सभा में ही आरम्भ हो सकता है। यदि कोई क़ानूनी मसविदा प्रतिनिधि सभा में दो बार स्वीकृत हो जाय और सिनेट उसे अस्वीकार कर दे तो गवर्नर-जनरल उसे दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक में उपस्थित करता है और उसमें जैसा निश्चय हो, उसके अनुसार क़ानून बनता है।

गवर्नर-जनरल और प्रबन्धकारिणी सभा—यहाँ का गवर्नर-जनरल बादशाह द्वारा नियत होता है और सब शासन-कार्य प्रबन्धकारिणी सभा की सलाह से करता है। इस सभा में दस मंत्री होते हैं। मंत्री-दल शासन कार्य के लिए प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है।

प्रान्तीय शासन—इस यूनियन में चार प्रान्त हैं। प्रत्येक प्रान्त में एक शासक, एक व्यवस्थापक परिषद् और एक प्रबन्धकारिणी सभा होती है। शासक को 'एडमिनिस्ट्रेटर' (Administator) कहते हैं, वह गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त होता है। व्यवस्थापक परिषद् की आयु तीन वर्ष की होती है। प्रान्तीय प्रबन्धकारिणी सभा में चार मंत्री होते हैं, जो अपने शासन-कार्य के लिए व्यवस्थापक परिषद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

आस्ट्रेलिया का शासन

पार्लमेण्ट—आस्ट्रेलिया की पार्लमेण्ट की दो सभायें हैं—(१) सिनेट और (२) प्रतिनिधि सभा। सीनेट में आस्ट्रेलिया की छः रियासतों में से प्रत्येक के छः-छः इस प्रकार कुल ३६ सदस्य होते हैं। ये छः वर्ष के लिए चुने जाते हैं; परन्तु, प्रत्येक प्रान्त के आधे सदस्यों का, प्रति तीसरे वर्ष नया चुनाव होता है। उम्मीदवार वे सब व्यक्ति हो सकते हैं, जो इंगलैंड के बादशाह की प्रजा हों और बालिग़ हों।

प्रतिनिधि सभा में लगभग ७५ सदस्य होते हैं। इस उपनिवेश में मूल निवासियों (Natives) को छोड़ कर, शेष सब बालिग़ स्त्री-पुरुषों को चुनाव में मत देने का अधिकार है।

यदि प्रतिनिधि-सभा दो बार किसी क़ानूनी मसविदे को स्वीकार कर ले और सिनेट उसे अस्वीकार कर दे, तो गवर्नर-जनरल दोनों सभाओं को भंग कर सकता है। इस दशा में नया निर्वाचन होगा। यदि इसके बाद नयी प्रतिनिधि-सभा पुनः उसी क़ानूनी मसविदे को स्वीकार करे, और सिनेट उसे अस्वीकार करे तो दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक होती है और उसके निर्णय के अनुसार क़ानून बनता है।

यहाँ की पार्लमेण्ट शासन-पद्धति सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन कर सकती है, परन्तु यदि शासन-पद्धति सम्बन्धी किसी क़ानूनी मसविदे को कोई सभा दो बार स्वीकार कर दे और दूसरी सभा उसे अस्वीकार कर दे तो गवर्नर-जनरल उस क़ानूनी मसविदे के सम्बन्ध में निर्वाचकों की राय ले सकता है। यदि उनका बहुमत उसके पक्ष में हो, तो वह क़ानून बन जायगा।

धन-सम्बन्धी क़ानूनी मसविदों का विचार प्रतिनिधि सभा में ही आरम्भ हो सकता है।

गवर्नर-जनरल और प्रबन्धकारिणी सभा—गवर्नर-जनरल इंगलैण्ड के बादशाह द्वारा नियत होता है। वह प्रबन्धकारिणी सभा की सलाह से काम करता है। प्रबन्धकारिणी सभा में नौ मंत्री होते हैं, जो अपने शासन-कार्य के लिए प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

प्रान्तीय शासन—इस उपनिवेश में छः प्रान्त हैं। प्रत्येक प्रान्त में, इंगलैंड के बादशाह द्वारा

नियुक्त, एक-एक गवर्नर होता है। गवर्नर, गवर्नर-जनरल के अधीन नहीं होते। प्रत्येक प्रान्त में दो-दो व्यवस्थापक-सभायें होती हैं, जिन्हें अपने-अपने प्रान्त के लिए क़ानून बनाने तथा टैक्स लगाने का अधिकार है। चुनाव में, प्रत्येक बालिग़ स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है।

शासन-पद्धति की विशेषतायें—

(१) पार्लमेण्ट की दोनों सभाओं के लिए प्रत्येक बालिग़ स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्राप्त है।

(२) प्रान्तों के गवर्नर इंगलैण्ड के बादशाह द्वारा नियुक्त किये जाते हैं परन्तु वे आस्ट्रेलिया की केन्द्रीय सरकार के अधीन नहीं हैं।

(३) केन्द्रीय सरकार को वे ही अधिकार प्राप्त हैं, जो उसे क़ानून द्वारा दिये गये हैं, शेष सब अधिकार प्रान्तीय सरकारों को दिये गये हैं।

(४) प्रबन्धकारिणी सभा पूर्णतः प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी है।

(५) शासन-पद्धति आस्ट्रेलिया की पार्लमेंट के बहुमत से अथवा उसकी एक ही सभा के बहुमत से सुगमता-पूर्वक बदली जा सकती है।

न्यूज़ीलैंड का शासन

पार्लमेंट—यहां की पार्लमेंट में दो सभायें हैं—(१) व्यवस्थापक-परिषद् (Legislative Council) और (२) व्यवस्थापक सभा (Legislative Assembly) व्यवस्थापक परिषद में ४३ सदस्य हैं। तीन माओरी *सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त होते हैं; शेष सदस्यों का चुनाव प्रति सातवें वर्ष होता है। उम्मीदवार होने के लिए जायदाद का होना आवश्यक नहीं है।

व्यवस्थापक सभा में ८० सदस्य होते हैं, जो सर्व-साधारण द्वारा तीन-तीन वर्ष के लिए चुने जाते हैं। इनमें चार माओरी सदस्य होते हैं। स्त्रियाँ भी सदस्य हो सकती हैं।

जब पर्लमेण्ट की दोनों सभाओं में किसी क़ानूनी मसविदे के सम्बन्ध में मत-भेद हो, तो दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक की जाती है।

गवर्नर-जनरल और प्रबन्धकारिणी सभा—यहाँ का गवर्नर-जनरल इंगलैंड के बादशाह द्वारा नियुक्त किया जाता है। वह सब शासन-कार्य प्रबन्ध-कारिणी सभा की सलाह से करता है। इस सभा में १२ मंत्री होते हैं, जो अपने शासन-कार्य के लिए प्रतिनिधी सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

न्यूफ़ाउन्डलैन्ड का शासन

पार्लमेन्ट—यहाँ की पार्लमेंट में दो सभायें हैं—(१) व्यवस्थापक परिषद् और (२) व्यवस्थापक सभा। व्यवस्थापक परिषद् में २४ से अधिक सदस्य नहीं होते। सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर द्वारा की जाती है।

व्यवस्थापक सभा में ३६ प्रतिनिधि होते हैं, जो सर्व-साधारण द्वारा चार वर्ष के लिए चुने जाते हैं। मताधिकार प्रत्येक बालिग़ पुरुष को प्राप्त है, स्त्रियों को नहीं है।

गवर्नर और प्रबन्ध-कारिणी सभा—यहाँ का गवर्नर इंगलैंड के बादशाह द्वारा नियुक्त किया जाता है। वह प्रबंध-कारिणी सभा की सलाह से शासन-कार्य करता है। प्रबंध-कारिणी सभा में ९ मन्त्री होते हैं, जो अपने शासन-कार्य के लिए प्रतिनिधी सभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

उत्तरदायी शासन-पद्धति

ब्रिटिश-साम्राज्य के स्वतन्त्र भागों की शासन-पद्धति का वर्णन किया जा चुका है। भिन्न-भिन्न भागों

---

*न्यूज़ीलैंड के मूल निवासी माओरी (Maori) कहलाते हैं।

की शासन-पद्धति में कुछ-कुछ बातों में भेद होते हुए भी बहुत कुछ समानतायें हैं, जिनमें से मुख्य निम्न-लिखित हैं—

प्रत्येक भाग में दो-दो व्यवस्थापक संस्थायें हैं। धन सम्बन्धी क़ानूनी मसविदों के सम्बन्ध में प्रायः पूर्णाधिकार प्रतिनिधि-सभा को होता है। मन्त्री-मण्डल इसी सभा के प्रति उत्तरदायी होता है।

(१) इन भागों में एक विशेष प्रकार की शासन-पद्धति प्रचलित है, उसे उत्तरदायी शासन-पद्धति कहते हैं। इसकी मुख्य बातें ये हैं—

(क) शासन सम्बन्धी सब कार्य इंगलैण्ड के बादशाह द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल (या गवर्नर) द्वारा किये जाते हैं। यह व्यवस्थापक-मण्डल के प्रति उत्तरदाता नहीं होता, इसलिए यह उसके द्वारा हटाया भी नहीं जा सकता।

(२) उसके कार्य मन्त्रियों के परामर्श से और उनके ही उत्तरदायित्व पर किये जाते हैं। मन्त्री नाम-मात्र से उसके द्वारा, परन्तु वास्तव में प्रजा-प्रतिनिधियों द्वारा, और साधारणतः व्यवस्थापक मण्डल के सदस्यों में से चुने जाते हैं।

(३) इस प्रकार प्रजा-प्रतिनिधि अपने निर्वाचित मन्त्रियों द्वारा देश का वास्तविक शासन करने वाले होते हैं।

(४) जब प्रतिनिधि-सभा का इन मन्त्रियों पर विश्वास नहीं रहता, ये (यदि व्यवस्थापक मंडल को बर्खास्त नहीं करते) त्यागपत्र दे देते हैं, और उनके स्थान पर नये मन्त्री चुने जाते हैं।

(५) इस प्रकार प्रबन्धक और व्यवस्थापक शक्ति उस दल के हाथ में रहती है, जिसका प्रतिनिधि-सभा में बहुमत हो।

(६) व्यवस्थापक-मंडल और मन्त्री-मंडल अपनी विवादग्रस्त बातों को, न्याय-विभाग के संमुख रक्खे बिना ही, परस्पर में तय कर लेते हैं।

साम्राज्य के स्वतंत्र भाग और इंगलैंड—अपने अपने आन्तरिक प्रबन्ध संबंधी बातों में ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतंत्र भाग बहुत समय से स्वतंत्रता-पूर्वक कार्य करते आये हैं। हाँ, जिन बातों का संबंध साम्राज्य के दूसरे स्वतंत्र या परतंत्र भाग से अथवा साम्राज्य के बाहर किसी अन्य देश से होता था, उसका निश्चय, अब से कुछ वर्ष पूर्व तक, ब्रिटिश सरकार किया करती थी। परन्तु अब कुछ समय से उनमें भी ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतंत्र भाग बहुत कुछ स्वतंत्रता-पूर्वक कार्य करने लगे हैं। इस विषय में समय-समय पर साम्राज्य-परिषद् में विचार होता है।

साम्राज्य-परिषद्—इस परिषद् के सदस्य इंगलैंड का प्रधान मंत्री, मंत्री-मण्डल के कुछ सदस्य, साम्राज्य के स्वतंत्र भागों के मंत्री, अन्य भागों की ओर से ब्रिटिश सरकार का उपनिवेश-मंत्री, तथा भारतवर्ष की ओर से भारत-मंत्री होते हैं। इसका सभापति इंगलैण्ड का प्रधान मंत्री होता है। इसका अधिवेशन प्रति तीसरे वर्ष होता है। इसके स्वीकृत प्रस्ताव केवल परामर्श के रूप में होते हैं, वे विरुद्ध मत रखने वालों पर बाध्य नहीं होते।

साम्राज्य में स्वतंत्र भागों का स्थान—साम्राज्य-परिषद् का पिछला अधिवेशन सन १९२६ ई० में हुआ था। उसमें यह बहुत स्पष्ट कर दिया गया है कि साम्राज्य के स्वतंत्र भागों का परस्पर में तथा अन्य भागों से क्या सम्बन्ध रहना चाहिए। उस अधिवेशन में सर्व-सम्मति से उनके विषय में यह निश्चय हुआ है—

ये ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्यभोगी भाग हैं। इन सब का स्थान समान है। आन्तरिक

अथवा बाहरी विषयों में कोई एक दूसरे के अधीन नहीं है। बादशाह के प्रति राज-भक्ति रख कर सब एकसम्मेलन-सूत्र में बँधे हैं और ब्रिटिश कामनवेल्थ (British Commonwealth) के सदस्यों की हैसियत से स्वतन्त्रता-पूर्वक सम्बन्धित हैं। प्रत्येक भाग अब स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है। किसी भाग पर दूसरे भाग का दबाव नहीं है। प्रत्येक भाग यह स्वतः निश्चय करता है कि वह कहाँ तक दूसरे भागों से सहयोग करेगा।

गवर्नर-जनरल का स्थान—इन भागों में इनके गवर्नर-जनरलों का वही स्थान है, जो बादशाह का इङ्गलैण्ड की शासन-पद्धति में है। वे बादशाह के प्रतिनिधि हैं, न कि इङ्गलैण्ड की सरकार या उसके किसी भाग के। अब स्वतन्त्र भागों की सरकारों का जो पत्र-व्यवहार ब्रिटिश सरकार से होता है वह उनके प्रधान मन्त्रियों द्वारा होता है, न कि गवर्नर-जनरल द्वारा। हां, गवर्नर-जनरल को मुख्य-मुख्य सरकारी कागज़ों की प्रतिलिपि (नक़ल) भेज दी जाती है। उसे प्रबन्धकारिणी सभा के निश्चयों की सूचना उसी प्रकार दी जाती है, जैसे इङ्गलैण्ड के बादशाह को वहाँ के मन्त्री-मंडल के निश्चय की सूचना दी जाती है।

क़ानूनी मसविदों सम्बन्धी बादशाह के अधिकार—साम्राज्य के किसी स्वतन्त्र भाग की पार्लमेण्ट से स्वीकृत किसी क़ानूनी मसविदे को बादशाह केवल वहां के प्रधान मन्त्री की सलाह से ही रद्द कर सकता है, न कि इङ्गलैण्ड के प्रधान मन्त्री की सलाह से। किसी स्वतन्त्र भाग की पार्लमेण्ट यदि कोई ऐसा क़ानूनी मसविदा स्वीकार करना चाहे, जिससे दूसरे स्वतन्त्र भाग की हानि हो, तो उक्त दोनों भागों के मन्त्री परस्पर में परामर्श कर लेंगे। इङ्गलैण्ड की सरकार को, बीच में, हस्तक्षेप करने की आवश्यकता न होगी।

विदेशों से सम्बन्ध—प्रत्येक स्वतन्त्र भाग को यह अधिकार है कि वह किसी अन्य देश से किसी विषय की संधि का पत्र-व्यवहार कर सके, और ऐसा करते समय जिस-जिस स्वतन्त्र भाग से उसका संबंध हो, उसे भी सूचित कर दे। यदि कोई मत-भेद न हो तो बादशाह के नाम से उक्त भागों की ओर से संधि हो जायगी। उस संधि का सम्बन्ध उन ही भागों से होगा, जिनकी ओर से वह संधि हुई है। इसी प्रकार यदि ब्रिटिश सरकार कोई सन्धि करे तो वह सब स्वतन्त्र भागों पर लागू न होगी, जब तक कि वहाँ की सरकारें भी उस संधि पर अपनी स्वीकृति न दे दें।

विदेश-नीति के सम्बन्ध में साम्राज्य परिषद् में यह निश्चय हुआ है कि इसका अधिकांश उत्तरदायित्व अभी कुछ समय तक इङ्गलैण्ड की सरकार पर रहना चाहिए, परन्तु इसमें यह ध्यान रक्खा जायगा कि कोई स्वतन्त्र भाग अपनी सरकार की स्वीकृति के बिना किसी नीति को मानने के लिए बाध्य न होगा।

दयाशंकर दुबे
भगवानदास केला

व्यथित प्रार्थी

दीनता हमारी दीन-बन्धु देखते क्या नहीं?
दुःख में पड़े हो दास आपके बचाइए!
कहे 'कवि पुष्कर' कलंक लगता है तुम्हें,
नीच नाच नाच चुके और न नचाइए॥
द्रौपदी की लाज क्या रखी थी तुमने ही कभी?
याचना बड़ी है हुई व्यर्थ न यचाइए!
क्रूर कलिकाल से डरे हो क्या हमारे प्रभो,
आत्म-वञ्चना का मान अब तो लचाइए॥

जगन्नारायणदेव शर्मा 'कवि पुष्कर'

The Real "Mother India."

"सच्ची भारत माता"

Lakshmi Art Bombay

"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी॥"

आशे !

जग की ज्वाला में जब जल कर,
लेता हूँ मैं लम्बी साँस।
करुण कहानी से भर जाता,
मेरे जीवन का इतिहास॥
उमड़-घुमड़ नैराश्य निशा में,
घोर घटा है छा जाती।
आँसू की अविरल धारायें,
वर्षा सी हैं बरसाती॥
अन्धकारमय मन मन्दिर में,
मच जाता है हाहाकार।
मर्मस्थल के अन्तस्तल में,
उठता है दुख का हुङ्कार॥
विद्युत सी तब चमक-चमक कर,
फैलाती हो तुम आलोक।
मन्द-मन्द मुसका-मुसका कर,
हरती हो तुम मेरा शोक॥
होता अन्तर्ध्यान तुरत ही,
मन-मन्दिर का तम विस्तार।
मधुर स्वरों में बज उठते हैं,
मेरी हृत्तन्त्री के तार॥

नन्दकिशोरलाल मुख्तार "किशोर"

धर्म के नाम पर अधर्म

(१)

"दुर्भाग्य वश एक 'देवदासी'--माता के उदर से मेरा जन्म हुआ। मैं १० वर्ष की हुई, तभी मेरी माँ मर गई। उसके बाद मेरी दादी ने मेरा लालन-पालन किया।

"रामायण की कथा मैं बड़े चाव से सुनती थी। उसे सुन कर, हर रोज़, मैं परमेश्वर से यही मनाया करती कि मुझे राम जैसा पति मिले और सीता के समान मुझे सुख प्राप्त हो।

"अकस्मात्, एक दिन, मेरी दादी ने मुझसे भी 'देवदासी' बनने के लिए कहा, जिससे कि मैं वेश्यावृत्ति में पड़ जाऊं। मैंने उसकी बुरी सलाह मानने से इन्कार किया।

"इसके बाद १३ वर्ष की हो जाने पर मैं युवावस्था को प्राप्त हुई। चूँकि अब मैं स्त्रीत्व को प्राप्त हो चुकी थी, और शीघ्र ही मेरा विवाह हो जाना आवश्यक था; इसलिए अब फिर उसने मुझे देवार्पण करने अर्थात् देवता के साथ मेरा विवाह कर देने के लिए कहा। इस बार भी मैंने इन्कार किया। मैंने उसे बहुतेरा समझाया। मैंने उससे कहा कि विवाह के पवित्र उद्देश्य से तो मैं एक कुत्ते के साथ भी विवाह कर सकती हूँ: पर देवदासी के तौर पर वेश्या तो नहीं ही बनूँगी।

"तब मेरे नाते-रिश्तेदारों ने इसके लिए मुझपर ज़बर्दस्ती की। ७ दिन तक मुझे भूखों मरना पड़ा, और इसी प्रकार एक महीना बीत गया! लेकिन फिर भी मैं अपनी बात पर दृढ़ रही; यहाँ तक कि आत्महत्या कर डालने तक की धमकी दे दी। लेकिन, आह, नतीजा कुछ न निकला!

"एक दिन एक श्रीमान् मेरी दादी के पास आया। खूब देर तक मेरी दादी के साथ उसकी बातें होती रहीं। मुझे जिज्ञासा हुई: पर, दादी के मुँह से निकलते हुए सिर्फ़ ये शब्द मैं सुन पाई--'उसे (यानी मुझे) नींद आ जाय, बस, फिर जैसे तुम चाहो उसके साथ भोग करना!'"

"मैं सहम उठी। फ़िक्र के मारे नींद ग़ायब हो गई, चुपचाप जागती हुई ही मैं पड़ी रही। आधी रात होने पर दादी मुझे देखने आई। मैं चुपचाप पड़ी रही। मुझे सोती समझ कर वह वापिस चली गई।

"मैं सब समझ गई। बस, मैं तुरन्त उठ बैठी और अपनी जगह बिछौने पर तकिए को लम्बा रख कर ऊपर से उसपर अपनी साड़ी उढ़ा दी। यह करके मैं झटपट कोठरी के बाहर निकल आई और अन्दर का दृश्य देखने के लिए खिड़की के बाहर छिप खड़ी हुई। वह श्रीमान अन्दर घुसा और कामोन्माद में, जोश के साथ, तकिए से चिपट गया!

"मैं थर्रा उठी। २००) रु० का ज़ेवर अपने साथ ले, मर्दानी पोशाक पहन कर, चुपचाप मैं घर से निकल भागी।"

चंपकावली नामक एक १३ वर्षीय मद्रासी कुमारी की यह आत्म-कथा है, जिसने अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए अभी गत वर्ष ही अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया! आह! कैसी दशा होगी उसकी, जब कि आत्महत्या को जाते हुए अपने अन्तिम पत्र में उसने लिखा--

"हे प्रभु! देवदासियों को बचा!

"परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि भगवन्, इस समय मुझे जो सहना पड़ा है, उस दुःख में से मेरे जैसी मेरी दूसरी बहनों को तो उबार! उन्हें विवाहित जीवन बिताने दे। अपनी पवित्रता को क़ायम रखने के लिए मैंने अपना घर तक छोड़ दिया है; फिर भी कहीं दुनिया मुझे दोष न दे, इसलिए मैंने निश्चय किया है कि इस ज़िंदगी से ही मुक्त हो जाऊँ।........

"मेरा यह पत्र लोगों की नज़रों से गुज़रेगा, उससे पहले ही मैं इस दुनिया को छोड़ कर दूसरे लोक में जा पहुँचूँगी। इस अन्त-समय अपने जन्मदाता प्रभु से मैं यही नम्र-याचना करती हूँ कि वह मेरी बहनों को इस कलंकपूर्ण 'देवदासी' की प्रथा से बचावें।"

कितनी करुण! कितनी रोमांचकारी!! और कितनी शर्मनाक!!! फिर भी, अफ़सोस, भोग और विलास के ग़र्ज़ी हम स्वार्थी जीवों को इसका पूरा पता तक नहीं--इस पर दर्द और इसे दूर करने की चिन्ता तो फिर दूर की बात!!!

(२)

देवदासी! देव+दासी=देवता की दासी। और, देवता कौन? मनुष्येतर--वे दिव्य महापुरुष, जो सदाचार और संयम आदि मानव गुणों को पहुँच ही न चुके हों बल्कि आध्यात्मिक रूप में उनसे भी आगे बढ़ कर दैवत्व को प्राप्त

कर चुके हों, जो इन सब सद्गुणों को अपने व्यवहार में सर्वसामान्य कर चुके हों और जिनके लिए अ-संयम एवं अ-सदाचार की तो कल्पना भी कल्पनातीत हो।

क्षुद्र-मानव की अपेक्षा ऐसे देवों की दासी होना फिर प्रत्यक्ष संसार में जिन देवों का अस्तित्व भी नहीं कि जिससे अ-सदाचार या अ-संयम की ज़रा लेश-मात्र सम्भावना भी हो सके, कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं। वह तो, सच पूछो तो, प्रमाणमत्र हुआ मानवी दुराचार और अ-संयम — व्यसन और व्यभिचार—विषय-भोग और आसक्ति से ऊपर उठ जाने का; पवित्रता और संयम के परिपालन का; और, अन्ततः विश्व के परम आध्यात्मिक लक्ष्य ईश्वर की समानता को—उसके साक्षात्कार को—अपने मोक्ष को प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न और पदार्पण करने का। यह तो ज़ाहिर करता है संसार और सांसारिक विषय-भोगों से विरक्ति और ईश्वर से भक्ति को।

यही वस्तुतः इसका रहस्य है। डॉ० बेसेण्ट के शब्दों में,

"प्राचीन हिन्दू मन्दिरों में शुद्ध श्रद्धालु भक्तिनों की जमात रहा करती थी। रोज़ पूजा के लिए जो लोग मन्दिर में आते, दूसरे धर्माचार्यों की भांति, वे भी उनमें धर्म-प्रचार किया करती थीं। उन दिनों इनकी बड़ी इज़्ज़त-आबरू थी, और इनकी ज़रूरतों व सहूलियतों पर बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। देवों और मन्दिर के भक्तों की धार्मिक सेवा में वे अपना समय बितातीं, जैसा कि 'दासी' शब्द से अपने-आप ज़ाहिर होता है, और देवताओं के जलूसों में सादा-से-सादा संन्यासी-वेश धारण करके अवसरानुकूल पुण्यस्तुति गाती हुई वे शरीक होती थीं। यही देवदासियों की मूलोत्पत्ति और यही उनका इतिहास है।"

× × ×

परन्तु, आज ?—

कलियुग ने हमारा अधःपात किया; और, उस अधःपात के साथ, हमारी अच्छी से अच्छी और धार्मिक प्रथाओं ने भी अपना स्वरूप बदल लिया! यहाँ तक कि एक ओर तो हम अपने-आप उसका कड़वा नतीजा भुगत रहे हैं, दूसरी ओर विदेशी अनुभवहीन छोकरे-छोकरियाँ तक उसपर हमारी खिल्लियाँ उड़ाते हैं—और, इससे भी बढ़ कर, उसके कारण, हमें अपने देश के स्व-शासन के ही अयोग्य ठह

कुप्रसिद्ध अमेरिकन कुमारी मेयो, शैतान को नाम अपनी 'मदर इण्डिया' पुस्तक में, लिखती हैं:-

"देश के कुछ भागों में, ख़ास कर उड़ीसा और मद्रास प्रान्त में, हिन्दुओं में यह एक रिवाज़ है कि माता-पिता देवताओं से कुछ वर मांगने के लिए यह मन्नत मान लेते हैं कि यदि हमारी अगली सन्तान कन्या हुई तो हम उसे देवता के चरणों में भेंट कर देंगे। कभी-कभी कोई विशेष सुन्दर बच्ची, जिसे किसी कारण से घर में रखना उचित नहीं समझा जाता है, मन्दिर में चढ़ा दी जाती है! यह छोटी-सी बच्ची मन्दिर की स्त्रियों के सुपुर्द कर दी जाती है। ये स्त्रियाँ भी वही हैं, जो स्वयं चढ़ाई जाती हैं—अर्थात् देवदासी। ये उस बच्ची को नाचना-गाना सिखाती हैं। प्रायः पाँच वर्ष की उम्र में वह पुरोहित की वेश्या बन जाती है।

"यदि वह अधिक उम्र तक जीवित रह गई, तो फिर प्रतिदिन की पूजा के समय देवता के सन्मुख नाचने-गाने का काम करती है। मन्दिर के आस-पास के मकानों में उन पुरुष-यात्रियों के लिए, जो मन्दिर के दर्शन के लिए आकर वहाँ ठहरते हैं, वे सदैव कुछ दामों पर व्यवहार के लिए मिल सकती हैं। वे सुन्दर वस्त्र पहनती हैं और कभी-कभी देवताओं के आभूषण भी उन्हें पहना दिये जाते हैं। जब तक कि उनका सौन्दर्य ढल नहीं जाता, वे यही काम करती रहती हैं। उसके बाद जिस देवता के मन्दिर में वे रह चुकी हैं उसका चिह्न-विशेष उनपर गोद दिया जाता है और उन्हें थोड़ा-सा ख़र्च देकर खुले फिरने के लिए छोड़ दिया जाता है। भीख माँग कर अपना जीविकोपार्जन करना इसके बाद उनका विशेष अधिकार समझा जाता है। इन लड़कियों के माता-पिता कितने ही धनाढ्य, उच्च पद के और उच्च जाति के क्यों न हों, इस तरह अपनी लड़की को निकाल देने के कारण समाज में बिलकुल अनादर के पात्र नहीं समझे जाते! माना जाता है कि माँ-बाप का ऐसा करना सर्वथा आदरणीय है। इस तरह की लड़कियों की एक अलग जाति बन गई है, इन्हें 'देवदासी' अर्थात् 'देवताओं की वेश्यायें' कहा जाता है! हर मन्दिर के साथ इनका होना आवश्यक है।"

निस्संदेह, यह वर्णन अतिरंजित है। बड़ी धारा-सभा

के सदस्य श्रीयुत सी० एस० रंगा अय्यर अपनी पुस्तक 'फ़ादर इण्डिया' इसपर लिखते हैं :—

"हम यह मानते हैं कि भारत में देवदासियाँ हैं। पर भारत में वेश्याओं की एक पृथक जाति है। उनमें कुलीन और धनी घर की लड़कियाँ नहीं होतीं। उनकी मातायें भी वेश्या ही होती हैं। उनका यह पैतृक पेशा है। वेश्यायें ख़ान्दानों से आकर वेश्यावृत्ति अख़्तियार नहीं करतीं।

"छोटी-छोटी लड़कियाँ मंदिरों में वेश्याओं की तरह शिक्षा पाकर भी, धर्म के भाव से, बड़ी होने पर वेश्यावृत्ति नहीं करतीं। वे किसी एक आदमी से शादी कर लेती हैं। भारतवर्ष की वेश्यायें भी पवित्र होती हैं। वे ईश्वर से डरती हैं। अमेरिकनों के तलाक की बाबत पढ़ कर यह समझा जा सकता है कि स्त्री-पुरुषों के प्रेम के अस्तित्व का रूप कितना भयानक है। किन्तु देवदासियाँ, जो केवल एक ही व्यक्ति से संबन्ध रखती हैं, दूसरे के पास नहीं जातीं, जब तक कि वह पहला व्यक्ति जीवित रहता है।"

लाला लाजपतराय भी मिस मेयो की बातों को अतिरंजित बताते हैं, जब कि अपनी नव-प्रकाशित 'अनहेपी इण्डिया' पुस्तक में वह लिखते हैं:—

"... यह स्मरण होना चाहिए कि दक्षिण प्रांत के सिवा और कहीं इसका अस्तित्व नहीं है; और मिस मेयो का 'देश के कुछ भाग' लिखना नितान्त भ्रामक है। दक्षिणी प्रांत में भी मलाबार जैसे बड़े-बड़े ऐसे भाग हैं कि जहां कोई इसे जानता तक नहीं। और यह कथन तो प्रत्यक्ष ही एक बड़ी भारी अतिशयोक्ति है कि '५वर्ष की उम्र से ही यह पुरोहित की वेश्या बन जाती है'।"

लालाजी ने इस संबन्ध में सर जेम्स फ्रेज़र की 'गोल्डन बो' किताब से भी एक लम्बा उद्धरण दिया है, जिससे इस प्रथा पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार, "तामिल मंदिरों में मंदिर की सेवा के लिए चढ़ाई हुई नाचने-गाने वाली लड़कियाँ देवदासियाँ अर्थात् देवताओं की सेविकायें कहलाती हैं; परन्तु साधारण बोल-चाल में उन्हें वेश्या कहा जाता है। दक्षिण भारत के किसी भी अच्छे मन्दिर में इन पवित्र नारियों का जत्था रहता है। इनका ख़ास काम है सुबह-शाम मन्दिर में नाचना, देवता पर चँवर करना, जलूसों में देवता के सामने नाचना-गाना और कुम्भार्ती लेकर चलना। गर्भवती मातायें आसानी से बच्चा पैदा होने के लिए अक्सर यह मन्नत मनाती हैं कि अगर लड़की हुई तो उसे देवता की सेवा के लिए अर्पण कर देंगे। मद्रास प्रांत के तिरुकुल्लिकुंद्रम नामक एक छोटे से क़स्बे में तो हरेक परिवार की बड़ी लड़की मन्दिर की सेविका बनती है। इस प्रकार देवार्पण की जाने वाली बालिकाओं का देवदासी का काम शुरू करने से पहले, रस्म के तौर पर, देव प्रतिमा या तलवार के साथ विवाह होता है, जिससे प्रकट होता है कि अक्सर वे देव-पत्नियां मानी जाती हैं।"

इस लेखक ने उनके उज्ज्वलपक्ष पर भी दृष्टिपात किया है। उनके मूल को तो अच्छा बताया ही है, साथ ही आजकल की 'नर्स' या 'सिस्टर' सेविकाओं के समकक्ष भी उन्हें माना है। देवता से विवाह की भावना को ऊँचा बताया है; उसके कथनानुसार इसका मूल है साधारण कौटुम्बिक जीवन का परित्याग कर देव-सेवा में लीन होना। इसमें शक नहीं कि यह भी एक पहलू अवश्य है, और हमारी समझ में ठीक भी है। परंतु सवाल मूल का नहीं, सवाल तो उनकी आज की स्थिति का है। और इस विषयमें हमें अवश्यही श्रीमती डा०म्युथु-लक्ष्मी रेड्डी के कथन को प्रामाण्य मानना होगा। वह उस प्रांत की रहने वाली ही नहीं बल्कि मद्रास-कौंसिल की कर्मण्य सदस्य भी हैं और उद्धार – ख़ास कर इस देवदासी-प्रथा के विरुद्ध पिछले कई सालों से अनवरत् प्रयत्न कर रही हैं। 'बॉम्बे क्रॉनिकल' के गत कांग्रेसाङ्क में उन्होंने लिखा था:—

"दासी शब्द का मूल अर्थ चाहे जो हो, आज तो व्यवहार में उसके मानी व्यभिचारिणी के होते हैं। दक्षिण भारत के जो भाई-बहन इन देवदासियों के रीति-रिवाज़ से भली भाँति परिचित हैं, उन्हें मेरे इस कथन से सहमत होना ही पड़ेगा। इस प्रथा का सबसे अधिक दयनीय, घृणित और क्रान्तिकारी पहलू बालिकाओं को उनकी बिलकुल अबोध अवस्था से ही व्यभिचार की शिक्षा देना है। एक महिला ने क्या ही ठीक कहा है, 'मोम का वह टुकड़ा, वह नन्हीं-सी, कोमल, निर्दोष बालिका अपने जीवन के आरम्भ ही में एक ऐसी शक्ति के हाथों सौंप दी जाती है, जो स्वभाव से दुष्ट होती है।' इन निर्दोष बालिकाओं को, जिनमें दत्तक और औरस दोनों सम्मि-

लित हैं, बचपन ही से गाना-बजाना और नाचना आदि सब ललितकलायें सिखलाई जाती हैं, जिन्हें सीख कर वे निष्णात दुराचारिणियाँ बन जाती हैं। लोगों को अपने हाव-भाव से आकर्षित करने लगती हैं। समावर्तन संस्कार (?) के पश्चात् वे देवालयों में प्रविष्ट होती हैं और नाम-मात्र के लिए तलवार (Dagger) या देव-प्रतिमा के साथ उनकी विवाह-विधि का प्रहसन कर दिया जाता है। इसके कारण वे धार्मिक रीति से अपना विवाह कर गार्हस्थ्य जीवन बिताने से आजन्म वंचित रहती हैं। इस तरह जन्म भर के लिए उन्हें स्वच्छंद विहार करने का—व्यभिचारपूर्ण जीवन बिताने का पट्टा प्राप्त हो जाता है। आजकल १८ वर्ष से कम उम्र की सुकुमार बालिकाओं का जीवित बलिदान (Dedication) क़ानूनन मना है, अतः कन्याओं के माता-पिता या अभिभावक कन्या का उक्त संस्कार १८ वर्षों के बाद करके बड़ी दक्षता और सफलता के साथ इस क़ानून से अपना बचाव कर लेते हैं। यहाँ आप अधिकार-पूर्वक यह प्रश्न कर सकते हैं कि १८ वर्ष के बाद तो कन्यायें बालिग़ हो जाती हैं, अतः उन्हें अपने भावी जीवन और भाग्य का निर्णय करने में बिलकुल स्वतंत्र होना चाहिए। परन्तु मैं हिन्दू-जनता को विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि ये कुमरिकायें बड़ी असहाय अवस्था में होती हैं, उन्हें बचपन से व्यभिचार को ही अपना जातीय धर्म समझने की शिक्षा दी जाती है। अपने अज्ञान और अन्धविश्वास के कारण ये भोली बहनें गार्हस्थ जीवन का पवित्र पथ ग्रहण करने से सदा हिचकती रहती हैं; उन्हें डर इस बातका बना रहता है कि कहीं गृहिणी बनजाने पर परमात्मा का कोप उन्हें भस्म न कर डाले। बचपन की अबोध और कोमल अवस्था ही से इस तरह के भद्दे और शर्मनाक वायुमंडल में रहने के कारण इन बहनों की मनोवृत्ति ठीक वैसी ही बन जाती है। अतः जब वे अपनी अवस्था को प्राप्त होती हैं तब भी उन्हें इसी पाप-पूर्ण जीवन में सुख का अनुभव होता है। ऐसी दशा में इन बहनों से किसी दूसरी बातकी आशा ही कैसे की जाय?"

इस प्रकार "कहे जाने वाले धार्मिक रिवाज़ों के झूठे बहानों पर लाखों निर्दोष बालिकाओं को अनीति के इस भयंकर गढ़े में होम दिया जाता है और हमारे धर्माचार्य बने हुए लोग ख़ामोशी के साथ इन्हें देखा करते हैं।"

कहाँ तक कहें, ला० लाजपतराय के लेखानुसार— और शायद कुछ समय पूर्व महात्माजी ने भी ऐसा ही कहा था— "दक्षिण भारत के कुछ मन्दिरों को तो उनके पुजारियों ने बिलकुल व्यभिचार के अड्डे—वेश्यालय—ही बना रक्खा है।" और इसीलिए, मिस मेयो के आक्षेपों का जवाब देते हुए भी, उनके अन्तःकरण से सहसा यह निकल पड़ा है, "देव-दासियों की यह प्रथा राक्षसी है; और हरेक दक्षिण भारत-वासी को इसके लिए शर्म से गड़ जाना चाहिए।"

सचमुच यह न केवल धर्म ही नहीं; बल्कि स्पष्टतया धर्म के नाम पर अधर्म है। पुण्य के नाम पर पाप का बवंडर है। मनुष्य की मनुष्यता को नष्ट कर उसे साक्षात् राक्षस की कोटि में ले जाने का घृण्य प्रयत्न है। सवाल यह नहीं है कि दुनिया के किसी कोने में इससे भी बढ़कर पतित कोई दृश्य या क्रिया मौजूद है या नहीं? हाँ, इससे हमें मतलब नहीं। सवाल सीधा-सादा यह है कि इससे हमें नुक़सान हो रहा है या नहीं? हमारी मानवता और हमारे सद्गुणों को यह नष्ट कर रही है? या नहीं? और हमारी नैतिक, मानसिक एवं शारीरिक शक्ति को इससे क्षति पहुँच रही है या नहीं? और, अफ़सोस, इन सभी दृष्टियों से हम इसे एक महा नीच, घृण्य, पतित और इसलिए तत्काल त्याज्य प्रथा मानने को बाध्य होते हैं। ओ मनुष्य! बता तो सही, भला तू कब तक इस 'राक्षसी' प्रथा से अपना मान-मर्दन करवाता रहेगा? उठ! उठ खड़ा हो! और, इसके अस्तित्व-नाश के लिए प्रयत्नशील हो जा!

मुकुटविहारी वर्मा

"सर्व-साधारण में यह भ्रमपूर्ण धारणा घर कर गई है कि यह भयंकर अनीति धर्म-सम्मत है। मंदिर के ट्रस्टी लोग अपने हठ और दुराग्रह से इसे और पुष्ट कर रहे हैं। कोयम्बटूर के 'सेनगुनतर महाजन-संघ' ने इस प्रथा को नष्ट करने का प्रयत्न किया था, पर इसी कारण वह सफल न हुआ। फिर भी, मैं कहती हूँ, हिन्दू-जाति को जागृत होकर अपने अन्दर जड़ जमाये हुई इस भयंकर बुराई को नष्ट करना ही चाहिए।" —डॉ० रेड्डी

स्त्रियां कैसी बनें ?

वही शिक्षा सफल समझी जाती है, जो विद्यार्थी की प्रकृति के अनुकूल हो—स्वभाव जिसका अनुमोदन करता हो। कम बोलने वाले विद्यार्थी को वकालत पढ़ाना अथवा कमज़ोर और डरपोक लड़के को सेना-विभाग के लिए शिक्षा देना उतना ही मूर्खतापूर्ण और हानिप्रद है, जितना किसी मिर्गी के रोगी से जहाज़ पर नौकरी कराना। परन्तु माँ-बाप अपने बच्चों को सांसारिक सफलता के लालच से प्राय: ऐसी शिक्षा देते हैं, जो उनके स्वभाव के बिलकुल ही विपरीत है।

यही बात आजकल लड़कियों की शिक्षा को है। कितने ही लोग गृहस्थी के रथ को चला लेने के ज्ञान-मात्र को पर्य्याप्त समझते हैं, उनकी कन्या की शिक्षा रोटी पका लेने और कपड़े सी लेने पर ही समाप्त होजाती है। दूसरी ओर वे लोग हैं, जो लड़कियों के लिए भी वही शिक्षा उचित समझते हैं, जो लड़कों के लिए। उनके लिए लड़कियों और लड़कों की शिक्षा में कोई अन्तर नहीं। उनके लिए बैरिस्टरी या अध्यापकी ही स्त्री-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। परन्तु दोनों ही पक्ष के लोग अपने बच्चों की शिक्षा प्रारम्भ करते समय उसका भलीभाँति विश्लेषण नहीं करते।

स्त्रियाँ न तो पशुओं की भाँति दासता करने ही के लिए बनाई गई हैं, और न धनोपार्जन में पुरुषों से प्रतिद्वंद्विता करने के लिए ही। स्त्री और पुरुष भिन्न-भिन्न प्रकृति के प्राणी हैं। दोनों के सहयोग से ही संसार रूपी शकट चल रहा है। जीवन छुई-मुई का पौदा हो जाता, यदि पुरुष की भुजाओं में रक्षा करने की शक्ति न होती। इसी प्रकार संसार एक हत्या-स्थल होगया होता, यदि नारी के हृदय में करुणा का अक्षय स्रोत न बहता होता। मेरे भाई मुझे क्षमा करें, परन्तु इस अखंड सत्य में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए कि यह नारी-जाति को निःस्वार्थ सेवा ही है, जिससे अब तक संसार का अस्तित्व बना हुआ है। जिस दिन स्त्रियाँ अपने दया और परमार्थ, सेवा और त्याग के भावों को छोड़ कर पुरुषों की स्नेहहीन प्रकृति को अपना लेंगी, उस दिन यह संसार भेड़ियों का संसार हो जायगा। सेवा-धर्म कठिन है, और इसके लिए स्त्रियों ने ही जन्म लिया है। स्त्रियों की प्राकृतिक भावनायें ही त्याग-मयी होती हैं।

यों तो स्त्रियाँ स्वभावत:, जो कुछ बन पड़ता है, सेवा करती ही हैं, और उनसे बलात् सेवा ली ही जाती है; परन्तु शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो ईश्वर-दत्त गुणों को चमका दे—जो सोने के लिए सुहागा हो। सच्ची शिक्षा वह है, जो शिक्षार्थी को उसकी रुचि के अनुसार अग्रसर करे। सच्ची स्त्री-शिक्षा वह है, जो स्त्रियों को सेवक और त्यागी के सर्वोच्च पद पर पहुँचा दे; जो शिक्षा उन्हें सेवा और त्याग की देवी बना सके, उसीको मैं स्त्री-शिक्षा कहती हूँ।

कन्याओं को सेवा-धर्म का महत्व सिखाना चाहिए। उन्हें भूगोल में दृष्टान्त लेकर समझाना चाहिए कि बड़प्पन की निशानी नम्रता और सेवा है। बड़े वृक्ष वही होते हैं, जो नम्र रहते हैं और फल तथा छाया देते हैं। उन्हीं बादलों का स्वागत किया जाता है, जो झुके हुए तथा जल-प्रद होते हैं। प्राणि-मात्र को अपनी गोद में स्थान देने के कारण ही पृथ्वी को माता कहा है। प्रकृति के प्रत्येक विभाग से उदाहरण लेकर उन्हें वे सेवायें समझानी चाहिएँ, जो प्रकृति जगत् की कर रही है। इतिहास से उन्हें यह सिखलाना चाहिए कि किस प्रकार समाज के तुच्छ सेवक संसार के मुकुट-मणि बन गये हैं। बड़े-बड़े शक्तिशाली राजा

जब तक अपनेको जनता का सेवक समझते रहे, तभी तक उनका आदर रहा; जहाँ उन्होंने प्रजा को अपना दास समझा, प्रजा ने उन्हें तख्त से खींच कर धूल में मिला दिया। विज्ञान से छोटे-छोटे अणु की क्या महत्ता है और बड़े से बड़े नक्षत्र की क्या सेवा है, यह समझाना चाहिए। ये सब बातें उनके मस्तिष्क पर प्रारम्भ से ही कहानियों और किंडागार्डन के तरीक़े से जमा देनी चाहिएँ।

इसके बाद प्रयोग का स्थान आता है। हम किस प्रकार समाज की सेवा कर सकती हैं, यह उनको समझाना चाहिए। उन्हें बतलाना चाहिए कि कौनसी सेवायें पुरुषों के करने की हैं और कौनसी स्त्रियों को करनी चाहिएँ। जो काम पुरुष कर सकते हैं, उनको उन्हीं पर छोड़ देना उचित होगा। पुरुष सैनिक, मजूर, लेखक, व्याख्याता और नेता बन सकते हैं; परन्तु प्रेम-मयी पत्नी और वात्सल्यवती माता नहीं बन सकते। परमेश्वर ने उन्हें वैसा बनाया ही नहीं। हो सकता है कि पुरुषों के कुछ काम स्त्रियाँ कर लें। परन्तु यह अनधिकार चेष्टा होगी। एक के काम छीन कर दूसरे को नहीं दिये जा सकते। मनुष्य-समाज मधुमक्खियों का छत्ता नहीं है, जिसमें से पुरुष या स्त्री-जाति निकाल कर बाहर की जा सके। यदि स्त्रियाँ धनोपार्जन के क्षेत्र में उतर पड़े, तो पुरुषों की बेकारी बढ़ जायगी; और यह समाज के लिए हानिकारक है। मैं कहती हूँ, स्त्री-जाति ने अपनी सेवायें कभी बेची नहीं हैं, दान की हैं। निःस्वार्थ सेवा या दान स्त्री-जाति का गुण है। और (charity begins at home) दान अपने ही घर से आरम्भ होता है।

अपने कुटुम्ब के सदस्यों की सेवा करना हमारा पहला कर्त्तव्य होना चाहिए। खाना बनाने के लिए रसोइया, यदि हमारी परिस्थिति आज्ञा दे तो, रक्खा जा सकता है; परन्तु उसके बनाये हुए भोजन में वह अपनापन, प्रेम और सद्भाव कहाँ? सेवा औषध है, परन्तु सदिच्छा उसको अमृत बना देती है। औषध मोल मिल सकती है; परन्तु अमृत अमूल्य है, जो केवल प्रेम से प्राप्त होता है। औषध का सेवन रोगी करते हैं, अमृत का देवता। प्यारी पाठिकाओ! क्या अपने कुटम्बियों को औषध देना चाहोगी, जब कि उन्हें अमृत दे सकती हो? यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं कि भोजन, वस्त्र तथा गृहस्थी की दूसरी बातों में देश-ऋतु की अनुकूलता और सफ़ाई का ध्यान रखना कितना ज़रूरी है। क्या वेतन के लालची नौकर से इन बातों का ध्यान रखने की आशा की जा सकती है? एक बाहरी आदमी, एक नौकर, क्या समझ सकता है कि परिवार के अमुक व्यक्ति को अमुक ऋतु में अमुक वस्तु लाभदायक है अथवा हानिकारक? ये बातें घर की औरतें ही जानती हैं। कन्याओं की शिक्षा का एक अंग यह भी है कि उन्हें नित्य काम में आने वाली वस्तुओं का उपयोग, हानि, लाभ बताया जाय। स्वादिष्ट व्यंजनों का बनाना, सुन्दर वस्त्रों का सीना, तथा क़सीदा इत्यादि का जानना लड़कियों के लिए सर्वप्रथम बात है। बहू-बेटियों की प्रशंसा तभी है, जब वे चने की रोटियों में वह स्वाद उत्पन्न कर दें, जो पकवान में भी न हो—गज़ी-गाढ़े के ऐसे वस्त्र सियें, जिनके आगे रेशम और मख़मल भी मात हों।

इसके बाद, रोगी की शुश्रूषा पर ध्यान दीजिए। कुछ नुसख़ों और प्रारम्भिक उपचार (First aid) का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। नसें मलने की चिकित्सा भारतवर्ष की विशेषता है, यह विद्या अब लुप्त होती जा रही है, महिलाओं को इसकी रक्षा करनी चाहिए। और शीघ्र ही इसे सीखना चाहिए। साथ ही इसके प्रसूता की सेवा, शिशु-रक्षा और धात्री के कर्त्तव्य की शिक्षा भी स्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण है।

शिशु-पालन और बालकों की शिक्षा ऐसे विषय हैं, जिनसे आज अधिकांश माताएँ अनभिज्ञ हैं; और भारतवर्ष के ह्रास के कारणों में से यह भी एक है। घर का प्रबन्ध तो सर्व-प्रधान है। अमेरिका की एक कन्या-पाठशाला केवल इसी विषय के शिक्षण के लिए है, जहाँ झाड़ू देना और बिस्तर बिछाना तक सिखाया जाता है। पर इसके लिए शिक्षा से अधिक अनुभव की आवश्यकता है।

बस, कौटुम्बिक सेवा के लिए इतना ही थोड़े में बहुत समझना चाहिए। परन्तु मनुष्य के कर्तव्य का अन्त घर की परिधि में ही नहीं हो जाता, उसका कुछ भाग समाज के लिए भी है। समाज हमारी सेवाओं का भूखा है। हजारों दीन दुखियों को विपत्ति की लहरों में थपेड़े खाते देख कर क्या हमारा हृदय द्रवित न होगा? क्या लाखों भाग्यहीनों को रोते देख कर हमारी आँखों से एक भी पवित्र बूँद न टपकेगी? क्या हम असंख्य प्राणियों को कुत्ते की मौत मरते हुए देख कर मुँह फेर कर चली जायँगी? समाज कराह रहा है; हमारा सहानुभूतिपूर्ण आशीर्वाद उसे शान्ति देगा, हमारा स्नेहमय हाथ उसके घावों को चंगा करेगा, और हमारे लक्ष्मी-भंडार की एक चुटकी उसकी दरिद्रता को भगा देगी। क्या हम रोगियों और अनाथों को वस्त्र नहीं दे सकतीं? क्षुधार्त्त को एक रोटी नहीं दे सकतीं? पीड़ितों के लिए परमात्मा से प्रार्थना नहीं कर सकतीं? हम सेवा के जीव हैं, और सेवा से ही हमारा उद्धार होगा।

परन्तु, सेवा का अर्थ दासता नहीं है। सेवा मुक्ति है, और दासता बन्धन। दुःखियों की हम परिचारिका बनें, परन्तु अत्याचारियों के लिए सिंहनी। भगवन्, हमें शक्ति दो! अन्याय के दमन में हम सदा तत्पर रहें। सेवा करें, परन्तु स्वतंत्रता और स्वावलम्बन को हाथ से न जाने दें।

बस, एक बात और कह कर इस लेख को समाप्त करूँगी। वह है स्त्रियों के कला और साहित्य के अध्ययन के विषय में। महिलायें ईश्वर की कृति का सर्वोत्तम उदाहरण हैं—कला का सर्वोच्च आदर्श हैं। प्रकृति ने उनके अंग-अंग कलामय बनाये हैं। कला की सेवा उनसे अधिक और कौन कर सकेगा? पुरुषों का स्वभाव शुष्क और गद्य-पूर्ण होता है। उनको कवि, गायक और चित्रकार बनने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। किन्तु रमणियों की प्रकृति स्निग्ध एवं पद्यमय है। वे जन्मतः ही कलाविद् होती हैं। अपनी अन्तर्हित शक्तियों को प्रकाशित करने के लिए उनको पवन-तनय की नाईं केवल स्मरण दिलाने की आवश्यकता है। चित्रकला और संगीत थकान में विश्राम, निराशा में आशा और कष्ट में शान्ति देने वाले हैं। कला का कन्याओं की शिक्षा में मुख्य स्थान होना चाहिए, अलबत्ता साहित्य-सेवा में भी वे पुरुषों से पीछे न रहें। अवश्य ही उन्हें समय कम मिलता है, परन्तु उनकी मस्तिष्कशक्ति पुरुषों से दुगुनी तीव्र होती है। हमारे सन्मुख प्राचीन और अर्वाचीन विदुषियों के आदर्श उपस्थित हैं। उनसे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ अध्ययन के क्षेत्र में भी पुरुषों से कभी पीछे नहीं रहीं। और, उनके साहित्य-प्रेमी होने से गृह-जीवन के आदर्शों में कोई क्षति नहीं होती।

प्रभावती देवी भटनागर

"गृहस्थ अनाथों का नाथ, ग़रीबों का सहायक और निराश्रित मृतकों का मित्र है।"

"जिस घर में स्नेह और प्रेम का निवास है, जिसमें धर्म का साम्राज्य है, वह सम्पूर्णतः सन्तुष्ट रहता है—उसके सब उद्देश्य सफल होते हैं।"

—ऋषि तिरुवल्लुवर

जीवन में सौंदर्य का मूल्य

एक स्त्री के लिए सुंदरता क्या है ? विलासिता की सामग्री या आवश्यकता ? क्या एक सुंदर लड़की सीधी-सादी लड़की की अपेक्षा सुगमता के साथ अपनी संसार-यात्रा तय कर सकती है ? क्या उसकी सुंदरता उसका मार्ग साफ़ करेगी, लोग उसकी सुंदरता के कारण उसका आदर करेंगे, उससे मित्रता करेंगे, उससे प्रेम करेंगे, और व्यापारिक‡ सफलता उसके चरणों पर लोटेगी ? ये प्रश्न हैं, जो आजकल यूरोप और अमेरिका के समाजों में वाद-विवाद का विषय बन रहे हैं । समाज के नेता और सौंदर्य-शास्त्र के विशेषज्ञों में इस विषय पर एक गहरा मत-भेद चल रहा है कि समाज में व्यक्तिगत सफलता के लिए सुंदरता जादू का सा काम करती है या नहीं ? कुछ हृष्ट-पुष्ट और सुंदर युवतियों में ऐसी प्रवृत्ति भी पाई जाती है कि वे पुरुष-समाज में ऐसे हाव-भाव तथा ठाट-बाट के साथ आती हैं और ऐसी कोशिश करती हैं कि प्रत्येक आदमी का ध्यान उनकी ओर खिंचे और वह उनमें दिलचस्पी ले । उनकी यह इच्छा व कोशिश रहती है कि प्रत्येक पुरुष उनसे आकर मिले ।

अभी हाल ही में जस्टिस हम्फ्रेज़ का इस विषय पर जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, उससे तो वहाँ के समाज में एक प्रकार की खलबली मच गई है । उनका अनुभव है कि जो रूपवती नहीं थीं ऐसी ऐसी अनेक स्त्रियों ने समाज में सफलता व आदर दोनों प्राप्त किये हैं । उनका कहना है कि मैं इस बात से पूर्णतया सहमत हूँ कि सुंदरता चाहे और सब कुछ हो, परन्तु वह व्यक्तिगत सफलता के लिए एक आवश्यकता तो हर्गिज़ नहीं है । सुंदरता का प्रत्येक व्यक्ति पर असर तो अवश्य पड़ता है, परन्तु बुद्धि और मिलने-जुलने के ढंग के बिना वह किसी भी काम की चीज़ नहीं है । संसार के इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं आया, जब कि स्त्रियों ने अपने कपड़ों की सजावट तथा अपनेको अधिक सुंदर और आकर्षक बनाने में इतना समय लगाया हो, जितना कि वे आजकल लगाती हैं । इसमें तो कोई शक नहीं कि पहले की अपेक्षा आजकल सुंदर स्त्रियाँ अधिक हैं; क्योंकि वर्त्तमान समय में पुरुष अपने लिबास और अपने ठाट-बाट में बहुत ही कम धन और समय व्यय करते हैं, जबकि स्त्रियों के तो घंटों के घंटों सुंदरता की खोज में—अपनेको सुन्दर और आकर्षक बनाने में—नित्य प्रति लग जाते हैं । सुंदरता के लिए इस दौड़-धूप का फल क्या निकला है ? सुंदर बनने के उन्माद ने उनके स्वभाव में एक मस्ती पैदा कर दी है । अपने ऊपर वे अत्यधिक समय नष्ट करती हैं और सदा अपने रूप-रंग की चिंता में डूबी रहती हैं । उनके सिर का एक बाल भी इधर से उधर न होने पावे; उनके चेहरे पर हर घड़ी पाउडर लगा ही रहे । इसी की चिंता में उनके सारे विचार का विषय वे स्वयं ही बन जाती हैं, यहाँ तक कि इस प्रकार वे समाज में अरुचिकर तक बन जाती हैं । अपनेको खूबसूरत और नाज़ुक बनाने में जो इतना परिश्रम करती हैं, उसके कारण मिज़ाज में चिड़चिड़ापन आ जाता है । इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि उनके सम्पर्क में जो कोई भी आता है, उसीको वे भार-रूप प्रतीत होने लगती हैं । इसी कारण जहाँ तक मैंने देखा है समाज उन स्त्रियों को अधिक चाहता है, जो इस बात की पर्वा नहीं करतीं कि वे कैसी दिखाई देती हैं । सैकड़ों स्त्रियाँ इस समय ऐसी मौजूद हैं, जो कि निरी कुरूपा हैं परन्तु उन्होंने समाज में आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त की है । लोगों ने उनकी तारीफ़

‡यूरोप और अमेरिका में स्त्रियाँ व्यापार भी करती हैं ।

की है, समाज ने उनका आदर किया है, और अच्छे-भले लोगों ने उनसे विवाह कर अपनेको धन्य समझा है। मेरी एक मित्र हैं, जो काफी सुंदर हैं; पर वह कभी इस बात की चिंता नहीं करतीं कि वह सुंदर और आकर्षक दिखाई दें। कपड़ों की सजावट में वह कभी अधिक समय बरबाद नहीं करतीं, उनके चेहरे पर कभी पाउडर दिखाई न देगा। संक्षेप में वह अपनी सुन्दरता और रूप-रङ्ग की कभी चिंता नहीं करतीं। फलतः उनके पास इतना समय है कि वह दूसरों के लिए सोचें-विचारें और यही कारण है कि उनके सारे मित्र उनका बड़ा आदर करते हैं।

मेरा तो अपना ख़याल यह है कि पुरुष अब कोरी सुन्दरता से ऊबने लग गये हैं; कारण कि उन्होंने अब कोरी सुन्दरता का खोखलापन अच्छी तरह देख लिया है। आदमी के लिए वह स्त्री संसार में सबसे कष्ट देने वाली चीज़ों में से है, जो रास्ता चलते सदा इस बात की चिन्ता ही में निमग्न रहती है कि कहीं शीशा मिल जाय तो उसमें अपनी सुन्दरता की एक झलक देख ले! सुन्दर बनने की सामग्री इकट्ठा करने और उसीकी चिन्ता में लगे रहने से स्त्रियों में से बुद्धिमत्तापूर्ण बात-चीत करने की योग्यता का लोप होता जा रहा है। सचमुच मेरा तो यह विश्वास है कि चकाचौंध करने वाले रूप वाली लड़की के बजाय एक बुद्धिमान सीधी-सादी लड़की आसानी से वर प्राप्त कर सकती है। चौंधिया देने वाले रूप वाली लड़की को आदमी प्रीति प्राप्त करने (कोर्टशिप) के लिए तो खुशी से ले जायँगे; परन्तु उससे शादी करना बहुत कम चाहेंगे। वास्तव में बात तो यह है कि सीधी-सादी लड़की को अपना स्वभाव और चरित्र ऐसा बनाना पड़ता है कि जिससे वह समाज में उच्चतम स्थान प्राप्त कर सके। उसके चरित्र और स्वभाव के गुणों को देख कर लोग उसकी कुरूपता की ओर ध्यान नहीं देते। यही कारण है कि सीधी-सादी लड़कियाँ समाज में रूपवतियों से बाजी मार ले जाती हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो हर समय चकाचौंध में डालने वाली सुन्दरता को देखते-देखते आदमी के लिए सुन्दरता के प्रति कोई विशेष आकर्षण नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में वह रंग-रूप के लिए अंधा हो जाता है। अमेरिका की प्रत्येक सुन्दर लड़की "होलीवुड" नाम के स्थान को भेज दी जाती है। वहाँ पर आप एक क़दम भी चकाचौंध में डालने वाली सुंदरता को देखे बिना नहीं चल सकते। जब मैं वहाँ पर था, तो नित्य प्रति रूप की उन खानों को देखते-देखते थोड़े ही दिनों में मैं ऐसा हो गया कि मेरे लिए यह समझ सकना कठिन था कि मेरे सामने से जाने वाली लड़की सुन्दर है अथवा नहीं। थोड़े ही दिनों में मैं तो सुन्दरता से इतना ऊब गया कि मेरे हृदय में यह प्रबल इच्छा पैदा हो गई कि मुझे कोई कुरूपा लड़की देखने को मिल जाय। सुन्दरता कोई बुरी चीज़ नहीं है। वह तो ईश्वर की देन है। परन्तु मुश्किल यह है कि रूपवती लड़की को तो यह घमंड सा रहता है कि उसकी सुन्दर दृष्टि ही उसे संसार के संघर्ष से पार कर देगी, उसे किसी और दूसरी चीज़ की आवश्यकता नहीं है। हर एक काम के लिए वह अपनी सुन्दरता पर ही भरोसा करेगी। परन्तु थोड़े ही समय में उसका यह भ्रम बुरी तरह से दूर हो जाता है और उसे बड़ी निराशा होती है।

संसार में प्रवेश करने के लिए रूप एक बड़ी अच्छी चीज़ है। अच्छी शकल-सूरत सदा आदरणीय होती है। परन्तु उससे संसार में तब तक सफलता नहीं मिल सकती, जब तक कि उसके साथ-साथ पवित्र चरित्र न हो। कारण कि सुंदरता से तो आदमी का पेट थोड़े ही दिनों में भर जाता है। कुछ ही समय बाद उसके प्रति उसके हृदय में कोई विशेष

आकर्षण नहीं रह जाता। परन्तु उच्चतम चरित्र तो सदा आदर का पात्र रहता है। हम सुन्दरता के विरोधी नहीं हैं। हम यह नहीं चाहते कि स्त्रियाँ जान-बूझ कर कुरूपा रहें, गन्दी रहें। हमारा कहना तो यह है कि सुन्दरता की दौड़-धूप में जो वे अपने चरित्र की पर्वा नहीं करतीं, यह उनकी भूल है। और इसी कारण उनका जीवन हमेशा सुख-मय नहीं बीतता। लेकिन दूसरी ओर सीधी-सादी लड़कियाँ गुणों का संग्रह करती हैं और वे जीवन-यात्रा में उनकी अपेक्षा कहीं सफल रहती हैं। *

शिवचरणलाल शर्मा

विभिन्न विचार

ऐ स्त्री-जाति! सृष्टि के आरम्भ से ही तुझ पर अन्याय पर अन्याय होते आ रहे हैं। कवियों, चित्रकारों, गायकों तथा लेखकों ने न जाने तुझे क्या का क्या बना दिया है। तुझे मातृत्व के उच्च सिंहासन से च्युत करके उन्होंने पुरुष के लिए कुतूहल की वस्तु व खिलौना बना दिया है!

स्त्री का सबसे बड़ा अपमान जो पुरुषों की ओर से किया जा सकता था, वह उनको स्वर्ण-रत्नों से आभूषित करके व सुंदर कपड़े पहना कर तितली बना रखना है, जिससे कि वे जीवन-संग्राम में कोई भाग न ले सकें। सचमुच मूर्ख स्त्रियों ने अपनी महानता, समानता तथा स्वतन्त्रता को कितने क्षुद्र दामों पर पुरुषों के हाथ बेच डाला है!

नये कपड़े, नये बूट, नये फ़ैशन ग्रहण करने में मनुष्य नहीं झिझकते; परन्तु नये विचारों का ग्रहण करना बड़ा बोझल काम है। बूढ़े माता-पिता अपने नवयुवक पुत्र के आधुनिक फ़ैशनों को सहन कर सकते हैं, परन्तु उनके नये विचारों पर आगबबूला हो उठते हैं!

प्रकृति ने प्रत्येक नर-नारी, छोटे-बड़े, धनी-कंगाल की खोपड़ी में तथा मस्तिष्क में सोचने की शक्ति दी है। प्रकृति-माता का उद्देश्य तो प्रत्येक व्यक्ति से सोच-विचार करवा कर अपना जीवन-मार्ग निश्चित करना है। यदि यह न होता, तो सोचने का काम करने के लिए केवल घर के बड़े-बूढ़े, प्रपितामह या नानी को ही बुद्धि दी जाती, शेष सब खोपड़ियाँ खाली तथा खोखली रख दी जातीं। इसी में तो विचार-स्वातंत्र्य तथा क्रांति के बीज पाये जाते हैं।

भविष्य का भव्य भवन बनाने के लिए पुराने खण्डहरों में से जो अच्छी, ठोस तथा मज़बूत ईंटें मिल सकती हैं, वे बेशक ले लो; परन्तु खण्डहर के पास बैठ कर उसके विशाल भूत पूर्व गौरव पर अश्रु-पात करना व खंडहरों की लीपापोती में धन तथा शक्ति का खर्च करना बुद्धिमत्ता से दूर है।

'क्रान्ति' शब्द से भयभीत होने वाले शायद गणित से कोरे ही प्रतीत होते हैं। करोड़ों मनुष्यों का ऐतिहासिक काल से हज़ारों वर्षों में जितना रक्त-शोषण हुआ है, व हो रहा है, क्रान्ति से तो उसका शतांश व सहस्रांश भी रक्त प्रवाह नहीं होता।

क्रान्ति तो सर्जन के ऑपरेशन (चीराफाड़ी) की तरह अंतिम साधन है। यदि खून साफ़ करने वाले काढ़े से या पुलटिस से फोड़ा फट जावे, तो अच्छा है। यदि नहीं, तो डॉक्टर का चाकू ही गन्दे मवाद को निकाल देगा। यदि चाकू न लगने दिया गया, तो फोड़ा सारे शरीर पर फैल जायगा।

छबीलदास

---

* 'लीडर' के एक लेख का भावानुवाद

वैरागी

(१)

हृदय मे वेदना के एक भयंकर उफान के साथ, धीरे-धीरे, वह घर लौट आया। उसकी गति में चंचलता नहीं थी; उसकी आँखों में प्रसन्नता का प्रकाश नहीं था; और, उसके चेहरे पर सन्तोष की मधुर ज्योति भी नहीं थी। कितने ही दिनों बाद घर लौटे हुए अपने प्यारे बेटे को उसके बाप ने देखा, घर वालों ने देखा; मगर, उसकी उस गंभीर विषण्णता का, जीवन-व्यापी विषाद का, कारण पूछने की आवश्यकता किसीने न समझी। सभी ने उससे बात-चीत की, सभी ने उससे कुशल-क्षेम पूछा, सभी ने उसकी उदासीनता की एक हास्यास्पद कल्पना की, और इतने ही से उन लोगों ने अपने कर्त्तव्य की इति समझी। परन्तु माता का हृदय सारे संसार के हृदय से बिलकुल ही भिन्न होता है। सारे विश्व की दया, भावुकता की खान, संसार भर का प्रेम, दुनिया की माया, यदि किसी एक स्थान पर और एक ही चीज में देखना हो, तो किसी माँ का हृदय देखो। अस्तु, अनिल की माँ ने जब अपने बेटे को इस प्रकार दुःखित-चित्त देखा, तो उसका हृदय अपने बेटे की व्यथा से ऐसा द्रवित हुआ कि वह अपनेको न सम्हाल सकी। अविश्वास के एक मौन आघात से उसके प्राण काँप उठे उसने पहले ही वाक्य में पूछा—"अबकी बार खाने में तूने खूब कन्जूसी की है, क्यों अनिल?"

माता के इस भोले प्रश्न से अनिल के विषाद-मय अधरों पर क्षण भर के लिए हास्य की एक सूखी सी रेखा दीख पड़ी। हाय! उसे क्या मालूम कि उसका प्यारा बेटा आज नारकीय अग्नि की लपटों में इस प्रकार जल रहा है! सरलतापूर्ण अपनी बड़ी-बड़ी आँखें माता के चरणों पर झुकाता हुआ अनिल बोला—"तुमसे अलग रह कर तुम्हारा अनिल भोजन भी कर सकता है, इसका विश्वास इस जीवन में तुम्हें दिला सकूँगा, यह संभव नहीं है माँ! फिर, उन बातों को लेकर तुमसे झगड़ना मैं फिजूल समझता हूँ।"

अनिल की बुढ़िया माता गद्गद हो गई। आह, मेरा प्यारा बेटा! इतना बड़ा हो गया, मगर, मालूम होता है, जैसे अभी गोद का बच्चा ही है! कैसे प्यार की बोली बोलता है, कैसे भोलेपन से बात-चीत करता है! बुढ़िया माँ के हृदय में यह आनन्द छिपाने का स्थान कहाँ था। ईश्वर क्या सभी को ऐसा बेटा देते हैं?

"मैं कहती हूँ बेटा,"—कुछ देर चुप रह कर बुढ़िया ने कहा—"तू इतना दुबला हो गया है! अभी तेरी उम्र ही क्या है? बुड्ढों की सी हालत बना रक्खी है। छाती का एक-एक हाड़ दिखाई दे रहा है। यह सब क्या यों ही होता है, बेटा?"

अपने प्रश्न का उत्तर माँगती हुई दृष्टि से बुढ़िया ने अनिल की ओर देखा, किन्तु, बिना कुछ उत्तर दिये ही, अनिल अपनी कोठरी की ओर चला गया। माता के इस प्रश्न का भला वह क्या उत्तर देता?

(२)

अनिल ने जिस साल काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में प्रवेश किया, उसी साल, उसकी शादी हुई थी। युवावस्था में आदमी अनेक स्वप्न देखता है, और हृदय में अनेक महत्वाकांक्षायें पैदा होती हैं। रूपवती स्त्री का मिलना प्रायः सभी युवकों की इच्छा होती है। परन्तु सबकी यह इच्छा पूरी नहीं होती। अनिल भाग्यवान था, उसकी इच्छा पूरी हुई। विवाह के बाद बहू घर में आई। विवाहोत्सव की धूम-धाम के बीच, एक दिन, अनिल के साथ उसकी स्त्री का परिचय हुआ।

कॉलेज खुलने पर जब उसे घर से काशी जाना

पड़ा, तो, उसके हृदय में एक कसक हुई ! किसी आकर्षण से खिंच कर उसका हृदय वहीं रहने के लिए उसको बाध्य करने लगा। थोड़े ही समय के भीतर कला से उसका बहुत अधिक प्रेम हो गया था। उसके हृदय में प्रेम का एक ज्वार उठा था, एक प्रबल लहर आई थी; उसका रोकना उसकी शक्ति से बाहर था। वह उसमें बह गया।

हृदय की कसक को हृदय में ही छिपा कर खिन्न-चित्त हो उसे एक दिन सन्ध्या-समय काशी के लिए प्रस्थान करना पड़ा। चलते समय उसके हृदय में जो दर्द हुआ था, उसने समझा—कला से बहुत दूर जाने पर—वह अनेक अंशों में कम हो जायगा। किन्तु समझने के अनुसार ही प्रत्येक कार्य होता नहीं। अनिल के हृदय का दर्द कम तो न हो सका, उलटे, अनेक अंशों में बढ़ता ही गया। अनिल ने देखा कि वियोग के दिन सुख की वे घड़ियाँ नहीं हैं, जो देखते-ही-देखते बीत जाती हैं।

मानव-जीवन में अनेक ऐसी घटनायें होती हैं, जिनका अर्थ हम नहीं समझ सकते। एक रोग होता है, जो दवा करने से और भी बढ़ता है। यह रोग प्रेम का है। जब हम हृदय की बागडोर को कस कर उसे शान्त करना चाहते हैं, उस समय, वह चंचल घोड़े की तरह जो छोड़ कर भागना चाहता है। हृदय की इस प्रवृत्ति का कारण तो हम नहीं समझ सकते। पर अनिल के हृदय की दशा भी कुछ ऐसी ही हुई। वह कला को भूल कर पढ़ने-लिखने की जितनी ही कोशिश करने लगा, उतना ही उसका हृदय कला के लिए बेचैन होने लगा। बढ़ते-बढ़ते उसकी बेचैनी पागलपन की हद तक पहुँच गई थी। अनेक बार, उसका यह पागलपन मित्रों के लिए हंसने-हंसाने का खासा मसाला हो जाता था।

अभी बहुत दिन नहीं बीते थे, उसने दूसरी बार कला को देखा भी नहीं था, कि सहसा एक दिन उसके घर से तार आया। यह तार नहीं था, विपत्ति का पहाड़ था, जो यकायक उसके सिर पर गिर पड़ा और जिसके बोझ से वह दब गया। यह तार कला की बीमारी का था। अनिल उसे पढ़ते ही जमीन पर गिर पड़ा, मानों उसे कोई काठ मार गया हो।

बवंडर-सा दौड़ा-दौड़ा वह घर आया। कला के गोरे-गोरे हाथों को अपने हाथों में लेकर, उसकी बिखरी अलकों से भरे मस्तक को अपनी गोदी में रख कर, अपने आँसुओं के जल से कला के मुँह की समस्त विषाद-कालिमा को धो डाला।

दोपहर की नीरसता-पूर्ण निस्तब्धता में कला ने अनिल को अपने पास बुलाया। उसने कहा—"प्राण, एक बात कहती हूँ। रोना मत, दुःख भी मत करना। मैं आज बच न सकूँगी ! मेरे पुण्य का शेष हो चुका है, अधिक समय तक तुम्हारे साथ रहने का भाग्य लेकर नहीं आई थी। पर, एक बात है। वचन दो, मेरी बात स्वीकार करोगे ?"

"नहीं कला !" अनिल की आँखों से आँसुओं की धारा आप ही आप बह चली। रुँधे हुए कण्ठ से उसने कहा—"नहीं कला ! ऐसी बात मत कहो ! तुम्हारे बिना मैं कैसे जी सकूँगा ?"

कला के सूखे अधरों पर विषाद की मुस्कुराहट दिखाई दी। उस मुस्कुराहट में मृत्यु की वेदना भी थी और संसार का अविश्वास भी। वह बोली—"मेरे जीवन ! तुमने अभी दुनिया नहीं देखी है। इसी-से बालकों की सी बातें करते हो। बोलो, मेरी बात मानोगे ?"

"क्यों न मानूँगा, कला !" अनिल ने कहा—"भला वह कौनसी बात है, जिसे मैं न मानूँ ? तुम्हारे लिए अपना रक्त और मांस तक मैं खुशी-खुशी दे दूँगा, कला ! अविश्वास न करो, मैं झूठ नहीं कहता।"

"नहीं मेरे देवता !" कला फिर हँसी । उसने कहा—"उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस समय तुम्हारे रक्त-मांस की आवश्यकता नहीं है । आज तुमसे अपने प्राणों की बात कहूँगी । अभी तुम्हारी कुछ भी उम्र नहीं हुई। मेरे मरते ही, भुण्ड के भुण्ड बेटियों के बाप तुम्हारा विवाह करने के लिए तीर्थ-स्थान के पण्डों की तरह तुम्हें घेर लेंगे । उन्हें बेटी ब्याहनी है, हिन्दू-समाज में आजकल योग्य वर मुश्किल से मिलते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें धर्म-अधर्म का ज्ञान न रहना स्वाभाविक होता है। किन्तु, मेरे प्राण ! तुम वैसी परिस्थिति में न रहोगे । तुम पर किसी प्रकार का दायित्व न रहेगा, अपने समाज की लज्जाजनक स्थिति से भी तुम अपरिचित नहीं हो । तुम्हारे देश में विधवाओं की एक बड़ी संख्या पतन की जिस नरकीय ज्वाला में भस्म हो रही है, उससे भी तुम अनभिज्ञ नहीं हो । ऐसी अवस्था में मेरे जीवन ! क्या तुम एक विधुर विधवाओं की तपस्या के साथ, उनकी गरम आहों के साथ, अपने को मिला कर, अपना आदर्श जीवन न बिता सकोगे ? यह कार्य उतना सुकर नहीं है—मैं जानती हूँ—पर कोशिश करना । कौन कह सकता है, तुम अपनी तपस्या का वरदान न पाओगे ? अपनी कोशिश में सफलता न प्राप्त कर सकोगे ? किन्तु, संयोग से यदि ऐसा न भी हो सके, विवाह करने के लिए तुम्हें बाध्य ही होना पड़े, तो किसी विधवा से शादी करके, नाथ, उसके जीवन की ज्वाला के साथ तुम भी जल जाना ! बोलो, मेरी बात स्वीकार करते हो ?"

स्वीकार करता हूँ कला !" अनिल ने भर्राती हुई आवाज से कहा—"जीवन में कभी यह बात न भूलूँगा । तुम निश्चिन्त रहो ।"

"अब, मेरे सर्वस्व !" कला ने कहा—"मैं सुख से मर सकूँगी । जीवन में मुझे किसी बात का दुःख नहीं रहा। आज मृत्यु के समय भी मैं सुख की अथाह लहरों में तैर रही हूँ ।"

कला चुप हो गई। अनिल ने देखा, धीरे-धीरे उसका शरीर शिथिल होता जा रहा है । देखते ही देखते, कला के प्राण-पखेरू उड़ गये ! अनेक चेष्टा करने पर भी, अनिल उसे न बचा सका । मृत्यु से बढ़ कर जबरदस्त कौन है ?

छाती पर पत्थर धर कर—हृदय कड़ा करके—अनिल ने चिता में आग लगाई । वह धाँय-धाँय करके जल उठी । कौन कह सकता है कि अनिल के हृदय में उससे भी अधिक भयंकर, उससे भी अधिक प्रचण्ड, और साँय-साँय करती हुई चिता नहीं जल रही थी ?

(३)

मानवी प्रकृतियों की गति भी बड़ी विचित्र होती है । कला की मृत्यु के पहले अनिल इस बात की कल्पना भी न कर सका था कि उसके बिना वह क्षण भर भी जीवित रह सकेगा । पर जब वह शव-दाह कर के लौटा, तो उसकी धीरता और विकार-हीन मुख-मण्डल देख कर लोग अवाक् रह गये ! उसकी आँखों से आँसू का एक बूँद भी नहीं गिरा । शायद वे सब समाप्त हो चुके थे, उसके आँसुओं का भण्डार खाली हो चुका था। मगर उसके हृदय में जो ज्वाला धधक रही थी, उसे क्या आँसुओं की सहस्र धारायें भी बुझा सकती थीं ?

अनिल एक दिन बिना कुछ कहे-सुने ही घर से चल पड़ा । स्टेशन पर पहुँचने पर उसे मालूम हुआ कि वह काशी जाना चाहता है। अपने इस आकस्मिक आगमन से उसे भी अत्यन्त विस्मय हुआ । वह यह न समझ सका कि घर से चलते समय उसने अपने जाने की बात किसी से कही क्यों नहीं !

काशी पहुँच कर अनिल ने पढ़ने में चित्त लगाया।

धर्म की ओर उसकी कभी प्रवृत्ति नहीं थी; किन्तु, इस समय आश्चर्य-जनक परिवर्तन दीख पड़ा। वह फलाहार करने लगा, उपवास रहने लगा, और गीता का पाठ भी उसका नित्य-कर्म हो गया। भगवान तिलक के 'गीता-रहस्य' से उसे बड़ी शान्ति मिलती थी। इस प्रकार स्वाध्याय, व्रत, उपवास तथा तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करते-करते अनिल कॉलेज में 'बैरागी' के नाम से मशहूर हो गया।

परन्तु, धर्म और तपश्चर्य्या का जीवन-व्यतीत करते रहने पर भी, शान्ति प्राप्त न हो सकी। साधना की राख से उसने स्मृति की चिनगारी को छिपा अवश्य लिया था; पर, बीच-बीच में, अशान्ति की वायु उसे फूँक कर सुलगाने की चेष्टा किया ही करती थी। कभी-कभी तो वह इतनी सुलग उठती थी कि शान्ति पाने के लिए वह पागल हो उठता था।

इसी समय संयोग से उसके एक ग्रामवासी मित्र ने उसे अपने यहाँ निमन्त्रित किया। अनिल एक से अधिक बार उस गांव में जा चुका था। वह प्रकृति का एक प्यारा प्रदेश था। अनिल उस स्थान को बहुत पसन्द करता था। गाँव के नीचे बहने वाली पतली नदी के तट पर बैठ कर कितनी ही बार अनिल और उसके मित्र जीवन ने उस पार के स्वप्निल दृश्यों को निर्निमेष नयनों से देखा है; कितनी ही बार उन दोनों ने तैर कर, उस पार जा कर, बनैले बैरों को छीन-झपट कर खाया है। कितनी ही बार तट की हरी-हरी घास चरने वाली गायों को ले कर दोनों ने कितने खिलवाड़ किये हैं, इसकी याद करके अनिल के हृदय में एक गुद-गुदी पैदा हुई। कला की मृत्यु के बाद शायद पहली बार वह आज हँस पड़ा।

निमन्त्रण स्वीकार करके एक दिन वह अपने मित्र के यहाँ उपस्थित हो गया।

(४)

सन्ध्या होने में उस समय अधिक देर न थी। नदी के दोनों किनारे हरे-हरे वृक्षों की डालियों पर जंगली चिड़ियाँ फुदकने लगी थीं। नदी के कल-कल छल-छल के बीच में अनिल की नाव हरपुर के घाट आ लगी। माँझी ने डाँड छोड़ दिया। अनिल नाव पर से कूद पड़ा।

पर, यह क्या! वह तट पर न आकर तट के गदले जल में गिर पड़ा। कपड़े रंग गये। शर्म से उसने कपड़े झाड़ लिये। इसी समय किसी अल्हड़ कंठ की मुक्त हँसी सुनकर उसने चारों ओर देखा। जो कुछ देखा, उससे वह अपनेको भूल गया। तट पर एक चौदह वर्ष की भोली-भाली बालिका जल भरने आई थी। भरा हुआ घड़ा कमर पर लेकर ज्यों ही वह चलने को तैयार हुई, अनिल का गिरना देख कर सहसा हँस पड़ी। अनिल ने देखा, बालिका शैशव पार करके यौवन के संधिस्थल में पहुँच गई है। वह साधारण सुन्दरी नहीं थी। न जाने किस अदृश्य आकर्षण से वह बालिका की ओर खिंच गया। अनिल को अपनी ओर आता देख कर बालिका भी ठिठक गई। उसने घूंघट कुछ खींच लिया।

बालिका के समीप जाकर रुकती आवाज में में अनिल ने पुकारा—"किशोरी!"

अनिल यह नहीं जानता था कि जिस संबोधन से वह बालिका को संबोधित कर रहा है वह उसका नाम है, किन्तु, एक अपरिचित परदेशी के मुँह से अपना नाम सुन कर किशोरी को आश्चर्य हुआ। हरिणी की सी चंचल अपनी विस्मय-विस्मित आँखों से उसने अनिल की ओर देखा! बोली—"कहिए!"

"जीवनचन्द्र का मकान"—अनिल ने प्रश्न किया—"तुम्हें मालूम है कहाँ है?"

जीवन का मकान अनिल ने नहीं देखा था, यह

बात न थी; किन्तु, जब बालिका से बातचीत आरंभ कर दी है, तो कुछ न कुछ बोलना ही होगा। अनिल को घबराहट में दूसरा कोई प्रश्न सूझा ही नहीं।

"हाँ!" बालिका ने संकोच-हीन स्वर में उत्तर दिया—"हाँ, उन्हें कौन नहीं जानता! वह देखिए, वह जो पक्का मकान दीख पड़ता है, वह उन्हीं का है।"

बालिका उत्तर देकर जाने लगी। दो-चार पग आगे बढ़कर वह सहसा रुक गई। बोली—"बाबू, आप को मेरा नाम कैसे मालूम हो गया?"

"नाम!" आश्चर्य से अनिल ने कहा—"कहाँ? मुझे कहां मालूम हुआ है?"

"तब"—बालिका बोली—"आपने मेरा नाम लेकर मुझे पुकारा कैसे?

"आह!" अनिल कहने लगा—क्या तुम्हारा नाम किशोरी है? तब यह बात अब मुझे मालूम हुई। तुम्हारा नाम जान कर मैंने नहीं पुकारा था।"

अनिल के उत्तर से बालिका कुछ लज्जित हुई। क्यों उसने यह बात अनिल से पूछी? तब तो, उसने स्वयं ही अपना नाम एक अपरिचित युवक को बता दिया। न जाने वह मन-ही-मन क्या सोचता होगा। बालिका चली गई। अनिल एकटक उसकी ओर देखता रहा!

जीवन के यहाँ पहुँच कर भी वह बालिका को भूल न सका। एक ही दृष्टि में वह अनिल के हृदय पर एक अमिट रेखा छोड़ गई थी। हाय! शान्ति की खोज में यहाँ आ कर वह अशान्ति के किस दलदल में फँस गया!

अनिल को कला की याद आई। कला की याद के साथ उसे अपनी प्रतिज्ञा भी अचानक ही स्मरण हुई। वह एक ही शर्त पर जी सकता था, और वह शर्त थी विधवा-विवाह। इधर अचानक ही उसका हृदय किशोरी की ओर आकर्षित हो गया था। परन्तु यदि किशोरी विधवा न हुई, तो उसके बिना कैसे वह जी सकेगा?

जीने की बात याद आते ही उसे कला की वह सूखी हँसी याद आई, जो अपनेसे प्रतिज्ञा कराते समय मृत्यु-शय्या पर उसने उसके अधरों पर देखी थी।

कई दिन बीत चुके थे। अनिल का चित्त उचाट सा रहा था। वह रात-दिन उदास रहता; भोजन में रुचि पहले ही से नहीं थी, अब और अरुचि हो गई। विक्षिप्त-की-सी अवस्था में पड़ा रहता था। सन्ध्या के समय—उस दिन से—वह रोज़ नदी के किनारे जाया करता था; मगर, किशोरी के दर्शन कभी नहीं हुए।

अन्त में यह बात जीवन से छिप न सकी। एक दिन एकान्त में जीवन ने अनिल से पूछा—"अनिल भाई! तुम्हारी यह क्या दशा है? सच-सच मुझसे कहो, तुम ऐसे क्यों हुए जाते हो?"

उस दिन अनिल छिपा न सका; छिपाने की शायद उसकी इच्छा ही न हुई। कला की मृत्यु और अपनी प्रतिज्ञा की बात एक-एक करके वह सब सुना गया।

अनिल की सारी दास्तान सुन कर जीवन ने कहा—"तब फिर? फिर तुमने किसीको प्यार कर डालने की बेवकूफी की है क्या?"

अनिल यह बात अस्वीकार न कर सका।

"वह कहाँ की लक्ष्मी है भाई," जीवन ने पूछा—"जिसने तुम्हारे हृदय पर अधिकार कर लिया है?"

"यहीं की।" गंभीरता-पूर्वक अनिल ने उत्तर दिया।

"यहीं की?" जीवन आश्चर्य से उछल पड़ा—"कहते क्या हो अनिल? वह कौन है?"

"एक अपरूपरूपसी,"—अनिल ने कहा—"नाम है किशोरी। जैसा नाम, वैसा ही रूप!"

"किशोरी?" जीवन ने पूछा।"

"किन्तु अनिल,—" जीवन का मुख विपराण हो

गया। उसने कहा—"वह तो विधवा है भाई !"

"विधवा ? सच ? ?" अपनी आँखों में अविश्वास भर कर अनिल ने जीवन की ओर देखा। बोला—"भाई, कला के सन्मुख मैं इसी प्रतिज्ञा में तो बँधा हुआ था। तुमने मुझे उबार लिया, मेरे जीवन !"

"किन्तु अनिल !" जीवन ने कहा—"केवल इतनी ही बात पर मत नाचने लगो। वह खत्री की बेटी है। तुम ब्राह्मण हो कर कैसे उससे शादी करोगे ?"

कुछ देर के लिए अनिल गंभीर चिन्ता-सागर में डूब गया। सोच कर बोला—"भाई, प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही ईश्वर है, और सौन्दर्य की सच्ची अनुभूति ही प्रेम है। मैं उससे शादी करूँगा।"

"खूब सोच-विचार लो," जीवन ने कहा—"जिसमें पीछे पछताना न पड़े। यह लड़कों का खेल नहीं, जीवन की विकट समस्या है।"

"मुझे कुछ सोचना नहीं है !" अनिल ने कहा—"मैं अपना मत स्थिर कर चुका हूँ।"

"किन्तु तुम्हारे घर वाले तुम्हें यह शादी करने की आज्ञा देंगे ?"

"शादी घर वालों को नहीं मुझे करनी है।"

"किन्तु ललड़ी के पिता तो ऐसी शादी के लिए किसी प्रकार राजी न किये जा सकोगे। जब तक तुम घर वालों की अनुमति न प्राप्त कर सकोगे, लड़की के पिता भी शादी करने के लिए तैयार न होंगे। तुम पहले यही उपाय करो कि घरवाले तो राजी हो जायँ।"

"कोशिश करूंगा। यदि संयोग से उन्हें राजी न कर सका तो ....।"

(५)

अनिल की बुढ़िया माता अपने बेटे को संन्यासी की सूरत में देख कर शान्त न रह सकी। एक दिन सध्या के समय वह अनिल के कमरे में जा कर बैठ गई। बोली—"अनिल, तुझे मेरी शपथ है। भैया, सच बता, दिन-दिन तू गला क्यों जाता है ?

थोड़ी देर तक आगा-पीछा करके अनिल ने अपने जी की बात कह ही दी—"माँ ! मैं शादी करना चाहता हूँ।"

"सच ?" बुढ़िया आसमान से गिरी—"सच बेटा ? बूढ़ी माँ से हँसी तो नहीं करता ?"

"नहीं माँ,—अनिल ने कहा—सचमुच ही मैं विवाह करना चाहता हूँ।"

"तो इसके लिए अनिल,"—बुढ़िया का गला आनन्द से भर आया—"इतनी चिन्ता करने, इस तरह शरीर सुखाने की क्या जरूरत है ? तुम्हारे विवाह के लिए तो कितने ही आदमी जोर लगाये हुए हैं।"

"लेकिन माँ,"—अनिल ने कहा—"मैंने एक लड़की पसन्द की है। यदि शादी करनी होगी, तो उसीसे करूँगा !"

"पसन्द की है !" बुढ़िया को बहुत अधिक आश्चर्य न हुआ, क्योंकि, उसने सुन रक्खा था कि आजकल पढ़-लिख कर विवाह-शादी जैसे आवश्यक विषयों में लड़के किसी दूसरे को हस्तक्षेप करने देना नहीं चाहते। फिर भी, कुछ आश्चर्य से उसने कहा—"पसन्द की है तो वह कौन है, कहां की रहने वाली है, उसकी उम्र क्या है ?"

माता की घबराहट देख कर अनिल हँसा। बोला—"तुम्हारे इतने प्रश्नों का एकसाथ उत्तर कैसे दूँ माँ ? मगर वह विधवा है।"

"विधवा !" बुढ़िया दो कदम पीछे हट गई, जैसे उसके पैरों के नीचे फुंकारता हुआ काला साँप पड़ गया हो ! बोली—"विधवा ! कहते क्या हो बेटा ? राम, राम ! !"

"इतना ही नहीं है माँ !" अनिल ने कहा—"वह जाति की भी नहीं है, खत्री की लड़की है। बड़ी सुशीला, बड़ी सुन्दर, जैसे साक्षात् देवी हो।"

"तुम पागल हो बेटा !" बुढ़िया ने कहा—"अजात से विवाह करोगे ? धरम छोड़ोगे ? पढ़-लिख कर ऐसी बातें करते हो ? छि: छि: !"

"मैं पूछता हूँ माँ !" अनिल ने कहा—"ईश्वर की सृष्टि में भी कोई जात-अजात होता है, ऊँच-नीच होता है ? यह तो अपने अहंकार का परिणाम है माँ! उस ईश्वर के लिए सभी एक हैं; सभी समान हैं; न कोई छोटा, न कोई बड़ा। और, मनुष्य का हृदय भी तो कुछ चीज़ है माँ ? क्या उसका कोई मूल्य नहीं है ?"

"एक बात पूछूँ माँ ?"

"कहो ?"

"तुम मुझे चाहती हो या जाति को ?"

माता का हृदय विचलित हो गया। वह स्थिर न रह सकी। बोली—"बेटा, तुम्हें !"

"सच कहती हो माँ ! मेरे लिए जाति छोड़ोगी ?"

"......................."

"बोलो !"

"ऐसा भी कहते हैं, बेटा ! ये क्या अच्छी बातें हैं ?"

"तब कहो, तुम समाज के भय से मुझे छोड़ सकती हो ! किन्तु, ये क्या बुरी बातें हैं माँ ? मैं क्या पाप करने जा रहा हूँ ? तुम्हारे समाज में क्या नहीं होता ? बाल-विवाह होता है, छोटे-छोटे बच्चों के गले जवान बहुयें पड़ती हैं, और उन दोनों ही का सर्वनाश होता है। यहीं तक इसकी हद नहीं है। क़ब्र में पैर लटकाये हुए बूढ़े तक दस-बारह वर्ष की अबोध बालिकाओं से अपना जीवन सार्थक करना चाहते हैं ! तुमसे कुछ छिपा नहीं है। तुम ही सच-सच कहो, क्या यह अधर्म का काम है ?"

अनिल की बातें माता के जी में बैठ गईं। उसने कहा—"अच्छा बेटा ! तू खुश रह। तेरे लिए मैं सब करूँगी।"

"जाति छोड़ोगी ?"

"हाँ।"

"समाज ?"

"हाँ।"

"धरम का ढोंग ?"

"हाँ।"

"अच्छा तो माँ ! अब मैं प्रसन्न हूँ ! तुम मनुष्य ही नहीं देवता हो। तुम्हारे समान यदि सभी मातायें हो जायँ माँ ! तो न जाने कितने ही अभागे युवक-युवतियों का जीवन मृत्यु के अन्धकारमय अतीत में न छिप जाय।"

(६)

अनिल के पिता ने लाल-लाल आँखें करके पूछा—"अनिल यह सब क्या सुनता हूँ ?"

"क्या ?" अनिल ने शान्त स्वर में कहा।

"क्या ?" कड़ककर पिता ने कहा—"क्या! यही कि तुम विधवा से, अजात से, विवाह करना चाहते हो !"

".....................!"

"बोलो ! चुप क्यों हो ? यह सच है ?"

"हाँ।"

"तुम विधवा से शादी करोगे ?"

"हाँ।"

"अजात से ?"

"हाँ।"

"क्या तुम्हारी जाति में कोई योग्य लड़की नहीं है ? तुम्हारे लिए क्वाँरी लड़कियाँ नहीं मिलतीं ?"

"किन्तु हिन्दू-समाज में विधवाओं का विवाह नहीं होता ?"

"तो ?"

"तो मैं शादी कैसे कर सकूँगा ?"

"मतलब ?"

" यही कि पति के मरने पर यदि उसकी विधवा पत्नी शादी नहीं कर सकती, तो पत्नी के मरने पर उसका विधुर पति दूसरी शादी कैसे करेगा ?

" ऐसा होता है । "

" यह तो अन्याय है । "

मैं तुम्हारा धर्म-शास्त्र नहीं सुनना चाहता । पूछता हूँ, क्या तुम्हें ब्राह्मण के वंश में सुन्दर लड़कियाँ न मिलेंगी ? आखिर तुम उस विधवा के किस रूप-गुण पर अपनी जाति छोड़ने को तैयार हो ?"

अनिल के हृदय में आघात लगा ! हाय, पिता, तुम्हें क्या मालूम है कि किस रूप-गुण पर वह उन्मत्त हो उठा है ! सुन्दरता ही प्रेम की ठेकेदार है ? हृदय का कुछ भी मूल्य नहीं है ।

" बोलो, चुप क्यों हो ?"

" मैं क्या उत्तर दूँ ! "

" तो बाबू, हमारे यहां यह अनीति न निभ सकेगी । तुम्हारे लिए मैं जाति और समाज के सामने सिर न झुकाऊँगा । तुमने अपनी माँ को भी पट्टी पढ़ा दी है; मगर, याद रक्खो, हमारे घर में यह सब न हो सकेगा । तुम्हें मैं अपना बेटा नहीं समझता । तुम जो चाहो कर सकते हो; पर, याद रहे, तुमसे मेरा कोई संबन्ध न रह सकेगा ।"

पिता की बातें सुनकर, हृदय की वेदना से, अनिल मूर्च्छित हो गया । वह सिर झुका कर धीरे-धीरे घर लौट आया । हाय, पाषाण-हृदय अंधपरंपरा ! पुत्र के हृदय की सुकुमार वृत्तियों को मसलते हृदय में कुछ भी दर्द न हुआ ?

× × ×

दूसरे दिन अनिल की कोठरी सूनी पड़ी थी । उस सरस-हृदय बैरागी को, इस जीवन में, फिर कोई न देख सका ।

'मुक्त'

धन्य मृत्यु !

दिन भर के कठिन परिश्रम में अपने दुःख को दबा कर आखिर नदी-तट वाले वृक्ष के नीचे मैं अपने बिछौने पर पड़ी थी । रात दिव्य और सुन्दर थी । चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था । पास ही नदी अपनी मन्द गति से बह रही थी । वृक्ष भी शान्ति का अनुभव कर रहे थे । ऊपर आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे । और पश्चिमी क्षितिज पर द्वितीया का चाँद जल्दी ही डूबने की तैयारी कर रहा था ।

मैं सोचने लगी, "क्या यह भी सच हो सकता है ? क्या सचमुच ही मगनलाल भाई चल दिये ? इस बात पर विश्वास कैसे किया जाय ? क्या चारों ओर घूमती हुई उनकी सुपरिचित मूर्ति फिर देखने को न मिलेगी ? उनकी मीठी-मीठी बातें अब हमें सुनने को न मिलेंगी ? मैं तो किसी भी हालत में इस बात पर विश्वास नहीं कर सकती । मेरा दिल इस संवाद को स्वीकार ही नहीं सकता ।"

मेरी विचार-धारा यों बहने लगी । दिन भर दबा हुआ शोक का आवेग फिर से प्रबल हो उठा ।

दूसरे ही क्षण मेरा आवेग शान्त हो गया । रात्रि की दिव्य शांति भङ्ग हुई । उसमें से आवाज आने लगी । मैं स्तब्ध होकर सुनने लगी । सिर पर फैले हुए नीम के स्थिर पत्ते कहते थे —

"यह क्या ? ये आँसू क्यों ? अबोध-बालिके ! जो बात अनहोनी है, असत्य है, उसे कदापि तू नहीं मान सकती । तेरे हृदय में उसके लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता । तू इसे क्यों भूल जाती है ? मगन-लाल गये नहीं हैं । यह हो ही कैसे सकता है ? उलटे वह तो आश्रम के और भी निकट आकर रहने लगे

हैं। पहले वह शरीरी होकर आते-जाते थे। पर अब तो उनकी स्वतंत्र आत्मा आश्रम के कोने-कोने में व्याप्त हो गई है।

"आश्रम के निर्माण में उन्होंने अपना सर्वस्व होम दिया था। तू जिधर देखेगी उधर उनकी बुद्धि, उनका प्रेम, उनकी आत्मा, तुझे शान्तिपूर्वक फिरती नज़र आवेगी। अरे! हमें ही तू कहाँ से देख पाती? मगनलाल ही तो हमें यहाँ लाये थे।"

मन्द-मन्द चाँदनी में चमकते हुए पास वाले घर ने समर्थन किया—

"ठीक तो है, मुझे और मेरे सारे भाई-बन्धुओं को मगनलालजी ने ही बनाया था। हमारी दीवारों, फ़र्शों, और छतों में सर्वदा तुम उन्हें देख सकोगी।"

पास ही खड़े हुए फूलों के वृक्ष बोल उठे—

"और हम? हम तो उनके बड़े प्यारे थे।"

आश्रम की सड़कों से चुप न रहा गया—

"हमें क्यों भूले जाती हो? उन्होंने तो पहले-पहल अपने मस्तिष्क में हमें रेखान्वित किया था। उनके बनाये मार्ग को छोड़ कर आज आश्रम में चल ही कौन सकता है?"

मैंने सब कुछ सुना, बार-बार सुना, और धीरे-धीरे मेरे हृदय में इस महान सत्य की ज्योति जगने लगी। तथापि, मर्मभेदी विचार तो रोके नहीं रुक सके—

"काम कैसे होगा? बापू (गांधीजी) क्या करेंगे? उनके काम की क्या हालत होगी? हे भगवन्! हमारे ऊपर ऐसा कठोर वज्रपात क्यों?"

पश्चिम में अस्त होते हुए मलीन चन्द्र की ओर निराशा-भरी नजर से देखा। वह हँसा, मानों मेरी ही हंसी करता हो! अस्त होते हुए उस सुनहरी चंद्र ने मुझसे पूछा—

"दुनिया के एक छोर से इस दूसरे छोर तक तू किस शक्ति के कारण खिंची चली आई?"

"यह तू क्या पूछता है? ईश्वरी काम में श्रद्धा ही तो मुझे यहाँ लाई है।" मैंने कहा।

"तू कहती है कि तुझे उसमें श्रद्धा है, क्यों?"

"हां, ठीक तो है।"

"तू उसे ईश्वरीय काम कहती है, अर्थात उसमें ईश्वर का अस्तित्व मानती है, न?"

"हां, मैं मानती हूँ।"

"तो सोचकर देख ले कि तेरा दुःख कितना अविचार-पूर्ण और अनहोना है। क्या ईश्वर अपने काम में बाधा पड़ते देख सकेगा? वह जानता है कि जिस काम को वह प्रिय समझता है, उसे पूरा करने का सर्वोत्तम मार्ग क्या है। वह तो यह जानता है कि मगनलाल भले थे, पवित्र थे, सत्यपरायण थे, अतः अपने महान काम के लिए उचित बलिदान थे। उनकी मृत्यु धन्य थी और उसमें से अनन्त स्फूर्ति और पवित्रता का स्रोत फूट निकलेगा। इसे भी वह जानता है। अतः यदि तुझे ईश्वर में सच्ची आस्था है, तो वह तुझे इस अवसर पर उबारेगा ही।"

सर्वत्र शांति छा गई। चारों ओर शांति का साम्राज्य फैल गया। निद्रादेवी अपने विशाल पंखों को फड़फड़ाती हुई मेरे चारों ओर मंडराने लगी। वह कहने लगी—

"बस करो। अब तो तू मेरी शरण आ। कल सवेरे जब तू जागेगी तब तुझपर आज की सारी बातों का रहस्य प्रकट हो जायगा।"

निद्रादेवी का यह भविष्य कथन बिलकुल ठीक साबित हुआ। *

मीराबहन (मिस स्लेड)

---

* श्री मगनलालजी गांधी की मृत्यु पर।

प्राणोत्क्रमण

स्वर्गीय मगनलाल गांधी और उनकी पुत्री कुमारी राधा बहन

स्वर्गीय मगनलाल भाई गांधी के अन्तिम दर्शन

मगनलाल भाई के जीवन की कुंजी उनके अनवरत परिश्रम और सूर्यनारायण के समान उनकी नियमितता में है। इसी कारण उनका जीवन सूर्य के समान तेजस्वी था। इस तेज की आभा से उनकी आँखें सदा चमका करती थीं। मलिनता और अंधकार में सूर्यनारायण के समान प्रवेश कर उसे नष्ट भ्रष्ट तथा छिन्न-भिन्न करने की शक्ति भी उन्हें इसी कारण प्राप्त हुई थी। उनका जीवन-सूर्य हमारे लिए सदा प्राणदाता बना रहे !

महादेव देसाई

स्त्री क्या है?

ग्रीष्मऋतु की सुन्दर खिली हुई चाँदनी में, एक सरोवर के किनारे बैठ कर, मेरे एक मित्र ने अपने जीवन की ये बातें मुझसे कही थीं—"एक साधारण गृहस्थ के घर में मैंने जन्म लिया है। सत्रह-अठारह वर्ष की अवस्था में मेरा विवाह एक ऐसी कन्या से हुआ, जिसे मैंने विवाह के पहले कभी न देखा था। न उसके विषय में कभी सुना ही था कि उसका रूप-रंग कैसा है, समझ-बूझ कैसी है, वह कुछ पढ़ी-लिखी भी है या नहीं? जैसे लोग गाय बैल को बेच देते हैं, वैसे ही हम दोनों के पिताओं ने, बिना हम में से किसी की सम्मति लिये ही, हमें एक दूसरे के सुपुर्द कर दिया था।

वह कैसी भीषण पराधीनता थी! अब सोचता हूँ, तो रोयें खड़े हो जाते हैं। जिसके साथ मुझे एक देव-दुर्लभ मनुष्य-जीवन बिताना है, वह कैसी है,—यह पूछना मानों मेरे लिए एक भयानक अपराध था!

विवाह के बाद स्त्री मेरे घर आई। मैं जानता ही न था कि पति किसे कहते हैं। मैं तो उस बेचारी के लिए एक पशु था। शायद वह भी यही समझती रही होगी कि पशु-प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए ही मेरे साथ उसका विवाह किया गया है। हाय! कैसी भयानक प्रवञ्चना थी!

मैंने तो कुछ लिख-पढ़ लिया था। पर वह निरी गँवारिन थी। रूप-रंग भी कुछ ऐसा-वैसा ही था। शोभा-शृंगार की तो उसे शिक्षा ही नहीं मिली थी। मैं भी नहीं जानता था कि उससे विषय-भोग के सिवा और भी कोई सुख प्राप्त किया जा सकता है या नहीं?

पूर्व जन्म के संस्कार से मेरे हृदय में देश-भ्रमण करने की इच्छा हुई। मैंने खूब भ्रमण किया। तरह-तरह के स्त्री-पुरुष देखे। स्त्री पुरुषों के प्रेम और कलह की कितनी ही झूठी और सच्ची कहानियाँ सुनीं। मन में ऐसी लालसायें प्रतिदिन उठा करती थीं कि ऐसी कहानियाँ मुझपर भी घटतीं! स्त्रियों को अपने पतियों से कलोल करते देख कर मैं कलेजा मसोस कर रह जाता और सोचता कि ऐसी आनंदमयी स्त्री कहीं मेरी भी होती! इस प्रकार अपने भाग्य और विधाता को कोसते हुए मेरे कई वर्ष बीत गये। एकबार मैंने सोचा कि मेरी स्त्री पढ़-लिख ले तो शायद मेरे लिए कुछ अधिक मनोरञ्जक हो जाय। मैंने स्त्री से कहा—तुम कुछ पढ़ लो। स्त्री ने कहा—मुझे पढ़ना-लिखना न आवेगा। फिर मैंने आग्रह नहीं किया।

देश-भ्रमण करते-करते जितना ही मेरा अनुभव बढ़ने लगा, उतना ही मैं अपनी स्त्री से दूर होता गया, विवाह के बाद बीस वर्ष तक मैं उसे पुरुष की जागी हुई पशु-प्रवृत्ति को सुला देने वाली दवा ही समझता रहा। मन बहलाने के लिए मैंने साहित्य का अध्ययन प्रारंभ किया। पर उसने तो अग्नि में और भी आहुति डाल दी। काव्य-ग्रन्थों में मुझे तरह-तरह की नायिकायें मिलीं। उनके नख-शिख और हाव-भाव का मनोहर वर्णन पढ़ कर अपनी स्त्री के लिए जो रहा-सहा प्रेम था वह भी कोसों दूर भाग गया। कविता से मेरी अशान्ति और भी बढ़ गई। बिहारी का कोई रसीला दोहा या देव का कोई चुभता हुआ कबित्त पढ़ता तो तबीअत फड़कने के बदले और कुढ़ उठती कि हाय! इन दोहों या कबित्तों में मेरे और मेरी स्त्री के जीवन की झलक क्यों नहीं मिलती?

मैं घूम-घाम कर दूसरे-चौथे महीने घर आता, पर स्त्री में कुछ परिवर्तन न पाता। न वह पूछती कि 'तुम अब तक कहाँ थे? कैसे थे?', और न वह यही प्रकट कर सकती थी कि मेरे आने से उसे कुछ प्रसन्नता हुई है या नहीं। धीरे-धीरे मेरी विरक्ति बढ़ने लगी। पर-स्त्री से हँसने-बोलने की प्रवृत्ति तो

मेरी लड़कपन से ही न थी। बड़े होने पर तो मुझे ऐसे कामों से ही नहीं, ऐसे काम करने वालों से भी आन्तरिक घृणा हो गई।

अब मन को किधर लगाता ? सोचा कि आओ कुछ देश-सेवा करें। देश-सेवा में मन कम लगा, तो सोचा कि आओ बाक़ी उम्र ईश्वर-चिन्तन में बिता दें। यह भावना मन में उठी ही थी कि संस्कृत के किसी प्राचीन कवि का एक श्लोक आँखों के आगे आ गया, जिसका भावार्थ यह था कि या तो संसार में सुन्दरी स्त्री का सहवास मिले या ईश्वर की भक्ति और सत्संग। जिन्हें दो में से एक भी नहीं मिला, संसार में उनका जन्म व्यर्थ है। मैंने सोचा कि स्त्री-सुख से तो मैं वंचित ही हूँ, अब उम्र क्यों व्यर्थ जाने दूँ, आओ, घर-बार छोड़ कर शेष आयु ईश्वर की शरण में बिता दूँ!

यह धारणा कई वर्षों से बलवती होती जा रही थी; पर स्त्री को कुछ पता नहीं था। वह घर-गृहस्थी के कामों में रात-दिन लगी रहती थी। मानों इसी काम के लिए वह आई थी। विवाह के ८-१० वर्ष बाद एक दिन उसने मुझसे कहा था कि "अब तुम घर रहा करो। बहुत दौड़-धूप चुके, अब घर छोड़ कर न जाओ।" बस, इसके सिवा न उसने कभी कपड़ा माँगा, न गहना। मैं भी उसकी अबोधता पर दया करने लगा। न मैंने कभी उसे एक भी कटु शब्द कहा, न मारा, न पीटा, और न कभी अधिक देर तक उसके पास ही बैठा।

विवाह के पन्द्रह-बीस वर्ष बाद पति कहलाने योग्य हुआ, संसार को देख-सुन कर, पुस्तकें पढ़कर मैं उस सीमा पर पहुँचा, जहाँ से मैं यह निर्णय कर सकने योग्य हुआ कि पति किसे कहते हैं ? और स्त्री से विषय-भोग के सिवा संसार में और क्या-क्या सुख प्राप्त किये जा सकते हैं ? अब मैं सोचता हूँ कि क्या ही अच्छा होता कि मेरा विवाह इस उम्र में होता। जब मैं पति कहलाने योग्य हुआ! कभी-कभी मैं यह सोचता हूँ कि ज्ञान ही मेरे लिए दुःख का मूल है। मैं मूर्ख ही रहता तो उसी स्त्री के साथ मेरा जीवन सुख से कट जाता। सुख के अनेक प्रकारों को जान कर, पर उसे न पाकर, अब मैं दुःख ही भोग रहा हूँ। इसी तरह के विचारों में आयु मेरा साथ छोड़ती चली जा रही थी। एकाएक होनहार का एक ऐसा चक्कर लगा कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के पास जा पड़ा, जो मुझसे कहीं अधिक संसार के अनुभवी और पति-पत्नी के रहस्य से परिचित हैं। उनसे मेरी मित्रता हुई। हम लोगों ने निष्कपट भाव से अपना-अपना हृदय खोलकर एक दूसरे के सामने रक्खा। अपनी भलाई-बुराई सब एक दूसरे को विदित करा दी गई, जिससे कभी मन में अंतर पड़ने की संभावना न रहे।

किसी समय वह बहुत ही सुखी थे, जब उनकी सुन्दरी, सुशीला और मृदु-भाषिणी स्त्री जीवित थी। राजवंश में जन्म लेने के कारण पती-पत्नी के कर्तव्य की शिक्षा उनको सहज में ही प्राप्त हुई थी। इससे स्त्री का सुख उन्होंने भरपूर उठाया। एकाएक स्त्री बीमार हुई और कई बच्चों को छोड़ कर परलोक सिधारी। युवावस्था में पतिप्राणा पत्नी का वियोग उनके लिए असह्य हो उठा। पर गंभीर, विचारवान, और अपनी सच्चरित्रता के लिए यशस्वी होने के कारण कई वर्षों तक उन्होंने अपनेको खूब सम्हाला। उनके कुटुम्बी और मित्र उन्हें फिर विवाह करने के लिए बार-बार कहा करते थे; पर वह इस सिद्धांत पर अटल थे कि पहली स्त्री से बच्चे मौजूद हैं, दूसरा विवाह नहीं करूँगा। मैं भी उनको विवाह न करने की ही सम्मति दिया करता था।

इस प्रकार कई वर्ष बीत गये। इस वर्ष ग्रीष्म

ऋतु में मुझे १०-१५ दिन उनके पास रहने का अवसर मिला। उनके मकान की छत पर हम दोनों रात-दिन सोया करते थे। रात में मैं प्रायः उनको कुछ अव्यवस्थित सा पाता था। वह छत पर इधर-उधर टहला करते और मन को थामने के लिए कुछ गुनगुनाया भी करते थे। मैंने सोचा—इनके मानस में कोई पीड़ा है, जो इन्हें चैन नहीं लेने देती। मैं पूछ बैठा। वह कहने लगे—मुझे एक स्त्री की आवश्यकता है। विषय-भोग के लिए नहीं, बल्कि एक मित्र की तरह मेरे प्रत्येक काम में सहयोग देने के लिए। संसार के दुःख-दावानल से जब मैं व्याकुल हो उठता हूँ, तब मुझे एक शीतल छाया चाहिए।

मैंने कहा—कामुक पुरुषों की सी आपकी दशा देख कर मुझे आश्चर्य होता है।

उन्होंने कहा—मैं काम-वासना से व्यथित होकर यह नहीं कह रहा हूँ। काम-वासना की तृप्ति तो अनेक उपायों से हो सकती है। पर स्त्री काम-वासना की तृप्ति के लिए ही नहीं बनी है। वह पुरुष की एक ऐसी संगिनी है, जिसके बिना जीवन में पूर्णता ही नहीं आती।

मैंने कहा—मेरी तरह जीवन बिताइए।

उन्होंने कहा—तुम्हारा जीवन आदर्श नहीं कहा जा सकता। स्त्री से तुम्हारी विरक्ति स्वाभाविक नहीं है। तुम ऊँचे चढ़ आये, पर अपनी स्त्री को साथ नहीं लाये, उसे बहुत दूर छोड़ दिया। अब उसे अपने निकट तक लाने का साहस तुममें नहीं है। इससे तुमने उसकी आशा ही छोड़ दी है। तुम्हारा कोई आदर्श नहीं, कोई लक्ष्य नहीं; और यदि आदर्श हो भी, तो वहाँ तक पहुँचने के लिए कोई सीढ़ी नहीं।

मैं चुपचाप सुनने लगा। थोड़ा ठहर कर फिर कहने लगे—तुम बड़े स्वार्थी हो। स्वयं शिक्षा प्राप्त करके घूम-फिर कर दुनिया देखते हो। विषय-भोग न सही, पर और सब तरह सुख उठाते हो। क्या तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं था कि अपनी जीवन-सहचरी के लिए भी उसमें से कुछ देते?

मैंने कहा—आपकी बातें मैं बड़े ध्यान से पी रहा हूँ। पर अब मैं एक मार्ग पर बहुत दूर निकल आया, लौट नहीं सकता। और मैं आपसे भी यही कहूँगा कि राम का सा जीवन बिताइए।

उन्होंने कहा—मैं नहीं बिता सकता। मेरे लिए दो ही मार्ग हैं, या तो मैं व्यभिचार करूँ या पुनर्विवाह। व्यभिचार अपराध है, इससे पुनर्विवाह करने का ही निश्चय कर रहा हूँ।

मैंने हँस कर मजाक़ के ढंग पर कहा—आप मेरे मित्र हैं, मेरे दुःख-सुख के साथी हैं। कहिए तो मैं भी एक विवाह और कर लूँ!

उन्होंने कहा—तुम्हारी वर्तमान स्त्री कभी इसे पसंद न करेगी। तुम उसपर अत्याचार क्यों करोगे?

दूसरे दिन मैं घर गया। मैं समझता था कि मेरी निपट गंवार स्त्री सामाजिक प्रश्नों से बिलकुल अनभिज्ञ होगी। रुचि न रहते हुए भी मैंने उसके साथ शयनागार में बैठ कर बातों की छेड़-छाड़ शुरू कर दी।

मैंने कहा—मैं तो एक विवाह और करने जा रहा हूँ।

स्त्री ने बिना कुछ आश्चर्य या विक्षोभ प्रकट किये शांति से कहा—अवश्य कर लो। तुम बाहर रहते हो, मैं तो तुम्हारी कुछ सेवा कर नहीं सकती। वह तुम्हारे साथ रहेगी। इससे तुम सुखी होगे।

मैंने कहा—पर तुम्हें तो दुःख होगा।

स्त्री ने तत्काल कहा—मुझे क्या दुःख होगा। मैं तुम्हारे और उसके बीच में पड़ूँगी ही नहीं, तो मुझे क्या दुःख होगा?

मैं सोचने लगा—इसने तो मुझे परास्त कर दिया। यदि यह ग्रेजुएट होती, तो कहती—'जी हां,

मजाल है कि आप दूसरी शादी कर लें। घर में, मुहल्ले में, अखबारों में ऐसा हल्ला मचाऊँगी कि आप रो दीजिएगा।' खैर, थोड़ा ठहर कर, मैं फिर पूछ बैठा—मैं चाहता हूँ कि अब शेष जीवन संयम से रह कर बिताऊँ, अर्थात् ब्रह्मचर्य से रहूँ। तुम्हारी क्या राय है?

स्त्री ने कहा—तुम्हीं हारोगे। मुझसे क्या पूछते हो? तुम छेड़छाड़ न करो, तो मैं कभी तुम्हारी इच्छा ही न करूँ।

मैं सोचने लगा, यदि यह स्त्री कहीं आजकल की शिक्षा पाई हुई होती तो कहती 'तुम मूर्ख हो। जब तक जवानी है, शरीर में बल है, खूब भोग-विलास करो। यह शरीर फिर मिले या न मिले, क्या ठिकाना? खाओ, पिओ, और मौज उड़ाओ। यही संसार में आने का फल है। तुम यदि संयम से रहने लगो तो मेरा तो निबाह नहीं होगा। मैं तो संयम से नहीं रह सकती।'

कुछ ठहर कर मैंने फिर पूछा—मेरा इरादा है कि घर-गृहस्थी छोड़ दूँ और कुछ देश का काम करूँ।

स्त्री चुप रही।

मैंने फिर जरा जोर से दुहराया। वह फिर भी चुप रही। मैंने पूछा—तुमने कुछ कहा नहीं?

स्त्री ने कहा—मैं क्या कहूँ। तुम जिस तरह सुखी रहो, उसीमें मुझे सुख है।

उसका यह उत्तर मेरे हृदय के अंतस्तल में जा धँसा। मैं सोचने लगा, ऐसा सुन्दर उत्तर देना इसे किसने सिखाया? मैंने पूछा—तब तुम क्या करोगी?

स्त्री ने कहा—घर छोड़ कर जाते समय तुम मेरे लिए कुछ कह भी तो जाओगे? मैं वही करूँगी।

स्त्री ने मुझे बिलकुल परास्त कर दिया। मैंने अंत में यह बात और पूछी—तुमने मुझसे कभी कुछ माँगा नहीं। क्या तुम्हें किसी गहने या कपड़े का शौक नहीं?

स्त्री ने कहा—एक बार मागा था, नहीं मिला तो फिर क्या माँगती?

मुझे याद ही नहीं पड़ता था कि मेरी स्त्री ने कभी मुझसे कुछ माँगा हो। मैंने कहा—तुमने मुझसे कभी कुछ नहीं माँगा।

स्त्री ने कहा—माँगा क्यों नहीं? मैंने तुमसे कहा था कि अब बहुत दौड़-धूप चुके; अब बाहर न जाओ, घर ही रहो। क्या मैंने नहीं कहा था?

अरे! इतनी पुरानी बात! आज तक यह उसे इस प्रकार पकड़े हुए है, जैसे कल की है! अब मैंने समझा कि स्त्रियों को अपनी बात का कैसा हठ होता है। जिस स्त्री को मैं असभ्य और अशिक्षित समझता था, उसमें ऐसी नपी-तुली बातें होंगी, इसका मुझे स्वप्न में भी विश्वास न था। मानों स्त्री-पुरुष के प्रत्येक प्रश्न पर वह पहले से ही विचार कर चुकी है, और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर उसके पास तैयार है। मैं इस बात पर पछताने लगा कि मैंने इससे इतने वर्षों तक इस प्रकार की बातें क्यों न कीं, जिससे मैं इसकी ओर आकर्षित होता, इसे भी प्यार करता और कुछ सुख पहुँचा सकता! अपने पश्चात्ताप के साथ ही मैं इस निर्णय पर भी पहुँचा कि स्त्रियाँ पुरुषों के लिए एक गूढ़ समस्या हैं!

इस घटना के बाद अब भी मैं नहीं जानता कि स्त्री क्या है?"

इतना कह कर मेरे मित्र चुप हो गये। मैं भी इस विचार में पड़ गया कि स्त्री क्या है?

रामनरेश त्रिपाठी

आज की रूसी बहनें

ज़ारशाही के ज़माने में रूसी स्त्रियों की जो बदतर हालत थी, वह वर्णनातीत है। शासन की बुराइयाँ तो थीं ही, पर साथ ही सामाजिक कुरीतियाँ और शिक्षा का एकान्त अभाव भी उनकी दुर्दशा के कारण थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय भी कुछ स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी और शिक्षिता होती थीं; पर उनकी संख्या अँगुलियों पर गिनी जा सकती थी, और बहुधा वे केवल अमीर-उमरावों के घरानों की ही होती थीं। साधारण स्त्रियों का शिक्षित होना और ज़रा अच्छी तरह से रहना तो उस ज़माने में एक भयंकर जुर्म करना था ! उस समय की स्त्रियों की दशा का अनुमान अकेले इस बात से किया जा सकता है कि रूस के याकुटस्क नामक प्रान्त में—जिसका क्षेत्रफल वर्तमान जर्मनी का सात गुणा है—स्त्रियाँ आम तौर से बेची जाती थीं। उनकी क़ीमत मामूली तौर पर ५० पौण्ड मक्खन, ३५ पौण्ड आटा आदि अन्न और ३ रूबल* (सिक्का) होती थी। वहाँ की ५६ प्रति शत स्त्रियाँ खानाबदोश होतीं और उन्हें स्वयं अपने परिवार में कोई अधिकार (वारिसाना हक़) प्राप्त न होता था। वे अपने ही घर में ग़ुलाम थीं। लड़कियों के माता-पिता और दूसरे रिश्तेदार इस बात के लिए अधीर हो उठते थे कि कब लड़की बड़ी होगी और कब उसे बेच कर द्रव्य प्राप्त करेंगे, हालाँ कि उनकी बिक्री के द्रव्य की तादाद बहुत ही कम होती थी। लड़कियाँ जब तक माता-पिता के घर रहतीं, उनसे खूब कस के काम लिया जाता। उन्हें शोचनीय और अस्वास्थ्यकर हालत में रक्खा जाता, उन्हें खिलाने-पिलाने में अत्यन्त कंजूसी की जाती, और जानवरों के साथ ही उन्हें भी रहना पड़ता था। फिर, ससुराल जाने पर, वे पति की क्रीतदासी बन कर रहतीं। इस प्रकार उनका जीवन पशुओं से भी बदतर हालत में बीतता था। फलस्वरूप उन्हें तपेदिक आदि अनेक प्रकार की बीमारियाँ होतीं और वे पुरुषों की अपेक्षा दूनी से भी अधिक तादाद में मरती थीं। इनके सिवा अज्ञान और अशिक्षा का तो उन दिनों वहाँ अखण्ड साम्राज्य ही था। इन सब कारणों से स्त्रियों की हालत अत्यन्त दयनीय हो गई थी।

पर, यह अन्धेर कितने दिनों तक चल सकता था ? जनता को इस बुरी अवस्था में रहना अब और अधिक दिन तक सह्य नहीं हो सका। फलस्वरूप राज्य-क्रान्ति हुई और पुरुषों के साथ स्त्रियों के भी भाग्य खुल गये। क्रान्ति के बाद साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई और उसने स्त्रियों तथा पुरुषों के समान अधिकारों की घोषणा कर दी। उनके दर्मियान शिक्षा-प्रचार, राजनैतिक जागृति आदि का कार्य आरंभ हो गया। स्त्रियाँ भी स्वतंत्रता के शीतल, सुगन्धिमय एवं सुहावने समीर-स्पर्श से विमुग्ध हो जाग उठीं; और, अपनी कमज़ोरियों को दूर करने में, जी-जान से जुट गईं। इनकी प्रतिनिधि-संस्थायें स्थापित हुईं और वे शिक्षा-प्रचार तथा आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के संबंध में कार्य करने लगीं। ये संस्थायें शहरों और मज़दूरों की स्त्रियों में ही नहीं बल्कि देहातों में तथा किसानों की स्त्रियों के बीच भी स्थापित हुईं। इन संस्थाओं द्वारा दैनिक जीवन में काम आने वाले विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती है। इस जागृति और शिक्षा-प्रचार आदि का फल यह हो रहा है कि स्त्रियाँ अब न केवल राजनैतिक कार्यों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगी हैं, बल्कि अपने सब प्रकार के हक़ों की रक्षा और कर्त्तव्यों के पालन का भी ध्यान रखती हैं। १९२६ ई०

* १ रूबल लगभग सवा दो रुपये या ३ शिलिंग के बराबर होता है।

में देहात की ३० प्रतिशत और शहरों की '५१ प्रतिशत स्त्रियों ने शासन संबंधी चुनाव में भाग लिया था।

स्त्रियों की साधारण हालत

यहां की स्त्रियाँ अधिकतर दफ़्तरों और दूकानों में काम करती हैं। उनमें स्वतन्त्रता, स्वावलंबन, आत्म-विश्वास और दृढ़ता की मात्रा बहुत अधिक होती है। उनको देखने से दर्शकों के दिल पर यही असर पड़ता है कि वे सब तरह से निश्चिन्त और सुखी हैं, उनको किसी बात की परेशानी नहीं है। शिक्षा का प्रचार इनके बीच बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। इनकी कई सस्ती, अच्छी और आकर्षक पत्र-पत्रिकायें निकलती हैं और निर्धन स्त्रियों को सम्पन्न स्त्रियाँ बड़ी उदारता के साथ अपने पैसे से खरीद कर वे पत्र-पत्रिकायें देतीं और उन्हें लाभ पहुँचाती हैं। यूरोप के अन्य देश वाले उसे भले ही न मानें, परन्तु रूसी स्त्रियाँ अन्य यूरोपीय देशों (खास कर इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी) की अपेक्षा अधिक शीलवती, अधिक गंभीर और अधिक सभ्य होती हैं। फ्रांस या इंगलैण्ड के समान यहाँ की स्त्रियों में विषय-भोग की वासना अधिक नहीं पाई जाती। यहाँ पर सिनेमा में स्त्रियों की नंगी या अर्धनग्न तस्वीरों या थियेटरों में नंगी या अर्धनग्न स्त्रियाँ शायद ही कहीं दिखाई पड़ेंगी। तात्पर्य यह है कि यह देश पश्चिमी सभ्यता की पाशविकता की छाप से बहुत हद तक अभी बचा हुआ है। पर यह बात ठीक है कि यहाँ की स्त्रियों को इतनी स्वतन्त्रता दे दी गई है, जिससे बहुत लोगों को यह भय बना रहता है कि कहीं वे इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न करने लगें।

विवाह और तलाक़

नई शासन-पद्धति में विवाह संबन्धी क़ानून में परिवर्तन हुआ है, जिससे स्त्रियों का दर्जा और भी बढ़ गया है। अब वहाँ पर विवाह करना और तलाक देना—दोनों ही बातें बहुत आसान हो गई हैं। जिन्हें शादी करनी होती है, वे (स्त्री और पुरुष) 'जस्टिस आफ़ दी पीस' (रजिस्ट्रार) के पास जाकर अपनी शादी की इच्छा प्रकट करके हस्ताक्षर करते हैं; और हस्ताक्षर के बाद ही शादी क़ानूनन सही मान ली जाती है। पुरानी प्रथा के अनुसार कोई गिर्जाघर में जाकर शादी करना चाहे तो कर सकता है; पर वह शादी क़ानूनन जायज नहीं समझी जाती। किन्हीं ऐसे स्त्री और पुरुष का, जिन्होंने सरकारी रजिस्ट्रार के पास जाकर शादी के सम्बन्ध में हस्ताक्षर न किये हों और न गिर्जाघर ही में शादी की हो, परस्पर पति और पत्नी का सा संबन्ध रह सकता है, पर उनकी संतानों के भरण-पोषण के लिए सरकार की ओर से सहायता नहीं दी जाती। तलाक देने के लिए भी रजिस्ट्रार के पास जाकर अपनी इच्छा प्रकट करनी पड़ती है और केवल स्त्री या केवल पुरुष की इच्छा से उसकी स्वीकृति हो जाती है। अगर उक्त दम्पती की कोई संतान नहीं होती, तब तो तलाक़ में कोई झंझट नहीं रहता; पर अगर कोई संतान हुई, तो तलाक के पूर्व उस दंपती में से किसी भी एक को अपनी संतति (चाहे वह लड़का हो या लड़की) को अपने साथ रखने का भार स्वीकार करना पड़ता है। माता ही साधारणतया अपने बच्चों को अपने साथ रख लेती है। ऐसी हालत में अगर एक ही बच्चा है तो पिता को अपनी आय का एक तृतीयांश उसके पालन-पोषण के लिए देना पड़ता है और अगर एक से अधिक संतान हुई तो उसे अपनी आय का आधा भाग दे देना पड़ता है। बच्चे की १८ वर्ष की उम्र तक ही यह रक़म देनी पड़ती है। अगर कोई पुरुष अपनी स्त्री और बच्चे को छोड़ कर भाग जाय, तो सरकार उसका पता लगवाती है और उससे उसके बच्चे का हिसाब दिलवाती है। अगर कोई व्यक्ति (पुरुष) अपनी आय की तादाद

छिपावे तो तलाकशुदा स्त्री को उस पुरुष पर मुक़द्दमा चलाने का अधिकार होता है और स्त्री की जीत होने पर पुरुष को छः मास की क़ैद तथा ५००) रुपये जुर्माने की सज़ा दी जाती है।

श्रमिक स्त्रियाँ

सोवियट रूस की तो सारी जनता ही श्रमिक जनता है। वहां छोटे-बड़े, पूँजीपति-दरिद्र आदि का कोई भेदभाव नहीं है। साधारण सी बात से लेकर बड़ी-बड़ी बातों तक में सबको समान अधिकार प्राप्त हैं। सभी मेहनत करते और अपने मेहनताने से जीवन-निर्वाह करते हैं। वहाँ इन दिनों एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो दिन भर मूछों पर ताव देता बैठा रहे और मुफ्त में मक्खन-रबड़ी खावे। तात्पर्य यह है कि वहाँ के सभी आदमी—पुरुष भी और स्त्रियां भी—श्रमिक हैं, इसीलिए वहां का राज्य श्रमिकों (मजदूरों) का राज्य कहलाता है। इस मजदूर सरकार ने यों तो सभी पुरुष और स्त्रियों के लिए अनेक सहूलियतें कर रक्खी हैं, पर कारखाने आदि में काम करके अपना जीवन-निर्वाह करने वाली श्रमिक स्त्रियों की सुविधाओं का उसने और भी अधिक ध्यान रक्खा है। कारखानों में पुरुष और स्त्रियां एक साथ काम करती हैं; इसलिए ज़िला और प्रान्तीय सोवियट (पंचायत-सभा) के लिए वे दोनों ही मिल कर प्रतिनिधि चुनते हैं और फिर वहां से जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं वे 'यूनियन कॉंग्रेस ऑफ़ सोवियट' (सोवियट की सर्वोपरि केन्द्रस्थ सभा) में जाते हैं। इस प्रकार उन्हें (स्त्रियों को) पूरी-पूरी सहूलियत और अधिकार दिया गया है कि वे शासन के उच्च से उच्च पद को प्राप्त कर सकें।

कारखाने में काम करने वाली स्त्रियों के लिए यह क़ानून बना हुआ है कि जो स्त्री गर्भवती हो, उससे रात में अथवा निश्चित समय* से अधिक (ओवर-टाइम) काम हर्गिज़ न लिया जाय। साथ ही सिवा किसी ख़ास परिस्थिति के उनसे ज़मीन के अन्दर का काम कदापि नहीं लिया जाता† और न कभी उन्हें किसी स्वास्थ्यकर काम में लगाया जाता है। दिमाग़ी काम करने वाली स्त्रियाँ जब गर्भवती होती हैं, तो उन्हें प्रसव के डेढ़ मास पूर्व से डेढ़ मास बाद तक तथा शारीरिक काम करने वाली स्त्रियों को दो मास पहले से दो मास बाद तक की पूरी सवेतन छुट्टी दी जाती है। इतना ही ही नहीं, बल्कि बच्चे के जन्म के ९ महीने बाद तक उनकी माताओं को उनकी साधारण तनख्वाह के अलावा प्रतिमास ९ रूबल कारखाने की ओर से और दिये जाते हैं, जिससे कि वे दूध आदि का समुचित प्रबन्ध कर सकें। साथ ही इस बीच में उन्हें प्रत्येक तीन घंटे पर कुछ देर के लिए अपने बच्चे को देखने-भालने, दूध पिलाने आदि के निमित्त जाने की भी आज़ादी रहती है।

बच्चों का पालन-पोषण

अन्य देशों की साधारण स्त्रियों के समान ही रूस में भी घर के काम-काज और बच्चों के लालन-पालन के साथ अपनी उदर-पूर्ति के लिए भी अधिकांश स्त्रियों को उद्योग करना पड़ता था, जिससे स्वभावतः उनके तथा उनकी सन्तानों के स्वास्थ्य पर बड़ा घातक असर होता था। इस बुराई को दूर करने के लिए भी रूस की वर्तमान सरकार ने यत्न किया है। जिन कारखानों में स्त्रियाँ भी काम करती हैं, उनमें शिशु-गृह और किन्डरगार्टन नामक दो प्रकार

* १—रूस में (क़ानून के अनुसार) प्रति दिन ७ घंटे काम करवाने का नियम है।

† २—हिन्दुस्थान में केवल कोयले की खानों में ६०,००० स्त्रियाँ ज़मीन के अन्दर काम करती हैं।

की संस्थायें होती हैं। कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों के बच्चे उनके काम के समय इन्हींमें रख दिये जाते हैं। शिशुगृह में दो मास से लेकर साढ़े तीन वर्ष तक के बच्चे और किन्डरगार्टन में साढ़े तीन साल से आठ साल तक के बच्चे रहते हैं। मातायें कारखाने में काम करने के लिए जाते वक्त अपने बच्चों को इन गृहों में रख जाती हैं और कारखानों से लौटते वक्त उन्हें ले लेती हैं। प्रतिदिन सवेरे इन गृहों में बच्चों के आते ही उनके घर के कपड़े उतार लेते हैं और उन्हें नहला-धुला कर वहाँ के कपड़े पहना दिये जाते हैं। और इस बीच उन्हें नियत समय पर खिलाया-पिलाया जाता है, खेलाया जाता अथवा खेलना सिखलाया जाता है, हवा खिलाई जाती है, और नियमित समय पर उन्हें सुला भी दिया जाता है। अगर उनमें कोई बीमार हुआ तो योग्य डॉक्टर के द्वारा बड़ी सावधानी के साथ उसकी चिकित्सा भी कराई जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक मातायें अपने काम पर रहती हैं, तब तक उन्हें अपने बच्चों की चिन्ता करने की जरा भी आवश्यकता नहीं रहती। और तारीफ तो यह है कि इन सब सेवा-शुश्रुषाओं के लिए उन माताओं को एक पैसा भी नहीं देना पड़ता। क्योंकि कारखाने की तरफ से बच्चों के लिए ऐसा प्रबन्ध किया जाना अनिवार्य है। इन शिशु-गृहों की संख्या भी अच्छी बढ़ रही है। जनवरी १९२६ ई० में ऐसे स्थायी शिशु-गृहों की संख्या ७३९ और अस्थायी शिशु-गृहों की संख्या ४१०१ थी। गर्मी के दिनों में किन्डरगार्टन शालायें बन्द रहती हैं और उन दिनों के लिए अगर मातायें चाहें तो अपने बच्चों को बिना कुछ खर्चा दिये—चूँकि खर्चा कारखाने की ओर से दिया जाता है—देहात की ठण्डी जगहों में भेज सकती हैं।

कारखानों की स्त्रियों के सिवा अन्य स्त्रियों को भी अधिक से अधिक ऐसी ही सुविधायें देने की कोशिश बराबर जारी है। ऐसे सैकड़ों क्लब हैं, जिनके साथ 'शिशु-गृह' बने हुए हैं। वहाँ स्त्रियाँ जाती हैं और अपने बच्चों को शिशु-शाला की दक्ष धायों के हाथ में छोड़ कर क्लब में निर्द्वन्दता और निश्चिन्तता-पूर्वक पढ़ती-लिखती एवं आमोद-प्रमोद करती हैं। स्त्रियों और बच्चों के लिए बहुत से अस्पताल और प्रयोगशालायें भी सरकार की ओर से खोली गई हैं। इनके सिवा माताओं को उनकी बीमारी आदि के संबन्ध में सलाह देने वाले ५८५ और बच्चों के लिए ३८१ दफ्तर खुले हुए हैं। शहर की ९५ प्रतिशत से भी अधिक स्त्रियाँ प्रयोगशाला में ही जाकर बच्चे जनती हैं। वहां पर इसका बड़ा सुंदर और आराम-देह प्रबन्ध रहता है। फलस्वरूप प्रसूतिकाल में मरने वाली माताओं तथा बच्चों की मृत्यु-संख्या बहुत कम हो गई है। स्त्रियों को बच्चों के संबन्ध में इससे भी बढ़ कर एक और 'स्वतन्त्रता' प्राप्त है। अगर कोई गर्भवती स्त्री किन्हीं घरेलू बातों के कारण, अथवा अपनी आर्थिक परिस्थिति और स्वास्थ्य आदि के कारण यह समझे कि उसके मौजूदा बच्चों से अधिक का भरण-पोषण वह समुचित रीति से नहीं कर सकेगी, तो उसे यह अधिकार होता है कि सरकार द्वारा नियुक्त बोर्ड के सामने जाकर वह अपनी हालत बतला दे, और गर्भ से मुक्त होने की इच्छा प्रकट करे। अगर बोर्ड उसके द्वारा दिये गये कारणों को माकूल समझे तो वह अपनी आज्ञा के साथ उसे किसी प्रयोगशाला के दक्ष सर्जन के पास भेज देगा। वहाँ आपरेशन (चीरफाड़) द्वारा उसका गर्भ निकाल लिया जायगा और वह स्त्री अपने भावी बच्चे के बोझ से मुक्त हो जायगी। दुनिया के अन्य सभी देशों में यह कार्रवाई जुर्म मानी जाती है; पर रूस की बात ही निराली है!

जो हो, यह हो सकता है कि इन सभी बातों से हम सहमत न हों—हो भी नहीं सकते; फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन थोड़े से दिनों में रूसी स्त्रियों ने अपनी स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन किया है, और आज की रूसी बहनें, अपनी अन्य यूरोपीय बहनों से किसी भी बात में पीछे नहीं हैं। भारतीय बहनें भी, अपनी संस्कृति का विचार रखते हुए, उनसे बहुत कुछ स्फूर्ति प्राप्त कर सकती हैं।

देवव्रत शास्त्री

माँ के उद्गार

(१)

चुहल रहे हैं, चहक रहे हैं, प्यारे-प्यारे,
छोटे-छोटे बच्चे बैठे, चिड़िया का सा जोड़ा।
ऐसे लाल किसके हैं, मेरे हीरे, मेरे पन्ने,
मुझको क्या है दौलत! चाँदी-सोने का तोड़ा?
ये तो नर-नारायण हैं, हमें जाँचने आये,
जो भी वारें इनपर, सब कुछ है थोड़ा।
ये दुनिया की आशा, ये होनहार के मालिक,
ये बस बने रहें, इनपै जग को छोड़ा।

(२)

उपवन जीवन का मेरा महक रहा है,
बुरी निगाह से न देखो, फल हैं ये कच्चे।
बिन बोले ये चहकें, अनमोल ये दमकें,
जग-सागर की मैं सीपी हूँ, ये मोती सच्चे।
चन्दा-सूरज ये, साहस किसका इन्हें ग्रसे,
प्रेम के पारस ये, कर दें खोटों को अच्छे।
बना कर शिशुवेश, प्रभु का लेके संदेश,
हमें सुनाने आये, देवलोक से ये बच्चे।

गोपालस्वरूप भटनागर

स्फुट प्रसंग

स्त्री-धर्म

पूना की बसन्त व्याख्यानमाला के सिलसिले में स्त्री-धर्म पर भाषण देते हुए श्रीमती सौ॰ लक्ष्मीबाई अभ्यंकर ने कहा—"स्त्री-धर्म के मानी स्त्रियों के कर्त्तव्य-कर्म हैं। लोकमान्य ने कर्त्तव्य को ही धर्म माना है। अपने कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करने के लिए स्त्रियों को उचित शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। आजकल हमारे लिए मराठी हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है। डाकघर आदि कई ज़रूरी और व्यवहार के लिए उपयोगी संस्थाओं का सारा काम अंग्रेजी भाषा में होता है। अतः जिन बहनों को अंग्रेज़ी भाषा का ज्ञान नहीं होता, उन्हें कई कठिनाइयों में से गुज़रना पड़ता है। साधारणतया मैट्रिक अथवा आचार्य कर्वे के महिला-विश्वविद्यालय की 'गृहीतागमा' तक की पढ़ाई स्त्रियों के लिए आवश्यक है। शिक्षित स्त्रियों के पथभ्रष्ट होने की बात पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। जब पौराणिक और ऐतिहासिक काल की अनेक स्त्रियाँ शिक्षित होते हुए भी सुशीला और साध्वी रह सकी थीं तो वर्तमान काल की शिक्षिताओं के लिए वही बात असंभव क्यों मानी जाय? पुस्तकीय ज्ञान के साथ ही साथ स्त्रियों को स्वास्थ्य-रक्षा, आयुर्वेद, कानून आदि शास्त्रों का भी ज्ञान होना चाहिए। अगर लड़कियों को घर पर उत्तम सदाचारपूर्ण शिक्षण मिलता रहे तो पुस्तकीय ज्ञान से उनपर किसी प्रकार बुरा प्रभाव पड़ने की बहुत कम संभावना रहती है। पहले ज़माने में तो हमारी पूर्वजों ने पुरुषों के साथ रहकर सब तरह के काम किये थे। समर्थ रामदास स्वामी ने अपने शिष्य-समुदाय में वेणूबाई के समान स्त्रियों को शिष्यत्व का सम्मान प्रदान कर समाज में स्त्रियों की योग्यता को भलीभांति सिद्ध किया है। द्रौपदी, जीजाबाई, सईबाई के समान राज-काज निपुण स्त्रियाँ, झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई सी वीरांगनायें संसार में स्त्री-धर्म की जीती-जागती प्रतिमायें हैं। चांगुणा और पन्नाबाई के समान स्त्रियों ने गृहस्थधर्म और प्रजा-धर्म को मातृधर्म से भी अधिक महत्त्व दिया और संसार में अपनी

कर्तृत्वशक्ति को सदा के लिए अमर बना दिया। प्राचीन काल में जब हमारी मातृजाति ऐसे ऐसे रत्न पैदा कर सकी थी तो क्या आज भी योग्य शिक्षा द्वारा हम ऐसे स्त्री-रत्न पैदा नहीं कर सकती हैं?"

सभा समाप्ति के पहले सौ० द्रविड़ ने कहा—"ईश्वर ने स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग काम दे रक्खे हैं। पुरुषों को घर से बाहर काम करने की जो स्वतंत्रता प्राप्त है उसका कारण स्त्रियों की वह उदारता है, जिसके वश वे घर में रह कर बाल-बच्चों का लालन-पालन करतीं और गृह-व्यवस्था में दिन-रात लगी रहती हैं। पुरुषों को चाहिए कि वे अपनी गृहस्थी में स्त्रियों के महत्त्व को समझें और उदारतापूर्वक उनसे बराबरी का व्यवहार करें।"

का०

सुधार की कसौटी

हमारे एक उत्साही युवक मित्र ने, जिनके यहाँ परदे का रिवाज़ है, अपनी धर्मपत्नी का परदा अपने कुछ मित्रों में उठा दिया और अपने साथ खुले-मुँह हवाख़ोरी को ले जाने लगे। उनके बूढ़े पिताजी को यह बात नागवार हुई। हमारे मित्र दुविधा में पड़ गये। परदा उठा देने के लिए जितना आगे क़दम बढ़ा चुके थे, उससे पीछे हटना अपनी कमज़ोरी समझते थे और इधर बूढ़े पिताजी को नाराज़ करने में भी उनके पुत्र-भाव की स्निग्धता सकुचाती थी।

इस विषय पर जब बहस छिड़ी तो व्यावहारिक समझदारी ने यह प्रश्न उपस्थित किया कि सुधार की कसौटी क्या है और सुधार किस हद तक करना चाहिए? और इस मामले में पिताजी को प्रसन्न रखने के लिए यदि आवश्यक हो तो किस हद तक पीछे हटना चाहिए? यह एक ऐसी उलझन है, जो विविध रूप में प्रत्येक सुधारेच्छु के सामने आया करती है। मेरा मत इस सम्बन्ध में यह है कि सुधार उसीको कहना चाहिए, जो समाज के हित को प्रधान मान कर किया गया हो—जो अपने सुख, सुविधा और ऐश-आराम के लिए न हो। यदि कोई परदे को इस विचार से तोड़ता है कि यह एक भयंकर प्रथा है, इसके अन्दर अनेक कुकर्म छिपे रहते हैं, वह स्त्री-जाति की उन्नति का प्रथम शत्रु है, और लोग यदि इसके तोड़ने की हिम्मत न दिखाते हों तो मैं ही आगे बढ़ कर अपने घर से इस प्रथा को तोड़ दूँ और इसके लिए घर के बड़े-बूढ़ों, कुटुम्बियों और समाज के लोगों का रोष प्रसन्नता-पूर्वक सहन कर लूँ, तो यह अवश्य सुधार है, सर्वथा प्रशंसा करने और उत्साह देने योग्य है। और इसमें सहसा पीछे हटने की गुंजायश नहीं रह जाती। पर यदि परदा इस ख़याल से तोड़ा गया हो कि साहब और मेम की तरह हम भी सैर करने जाया करेंगे, यह भी एक आनन्द है—हम इससे क्यों वंचित रहें? तो मेरी राय में एक तो यह सुधार का सच्चा भाव नहीं है, और दूसरे एक पुत्र के लिए अपने ऐसे आनन्द से बढ़ कर आनन्द की बात होनी चाहिए अपने बूढ़े माता-पिता की प्रसन्नता, हालांकि इस दृष्टान्त में जहाँ तक मैंने समझा है सुधार का ही भाव शुरू से आख़िर तक रहा है। आशा है हमारे सुधारेच्छु भाई इस मर्यादा को ध्यान में रक्खेंगे तो उन्हें सहसा पीछे हटने की बारी न आयेगी और उन्हें सच्चे सुधार का श्रेय मिलेगा।

ह० उ०

परदे के विरुद्ध आन्दोलन

बिहार में परदे के विरुद्ध एक आंदोलन पिछले दिनों शुरू हुआ है। गया ज़िले के बा० रामनन्दनसिंह उसके कारण बने हैं। वह महात्माजी के सत्याग्रह-आश्रम में रहते हैं। उन्होंने अपनी पत्नी श्रीमती राजकिशोरी देवी को भी अपने पास बुलवाना चाहा; पर उनके श्वसुर ने, जो एक बड़े ज़मींदार और परदा-प्रथा के पक्षपाती हैं, इसलिए इसमें बाधा डाली कि आश्रम में परदा नहीं होता और स्त्रियों को आज़ादी मिलती है। इसपर बा० रामनन्दनसिंह ने महात्मा जी से सहायता माँगी। उन्होंने श्री मगनलाल भाई की पुत्री कुमारी राधाबहन और स्व० दलगिरीबहादुर की लड़की को वहाँ भेजा और कहा कि वहाँ वे परदे के विरुद्ध ज़ोरदार आंदोलन करें तथा राजकिशोरी को लिवा लावें। कुमारी राधाबहन इसीलिए बिहार गईं और वहाँ इस आंदोलन में व्यस्त थीं, कि इसी बीच श्री मगनलाल भाई भी वहाँ पहुँचे और वहीं वे शांत भी हो गये! इसके बाद राधाबहन तो आश्रम लौट आई हैं; पर बिहार

के नेताओं ने इस आंदोलन को उठा लिया मालूम होता है। बा० ब्रजकिशोरप्रसाद और भूतपूर्व मिनिस्टर सर गणेशदत्तसिंह उसके मुखिया हैं। ज़ोरों से काम हो रहा है। बा० ब्रजकिशोर ने तो ८ जुलाई को इस प्रथा को तोड़ने के प्रथम प्रदर्शन-स्वरूप प्रांत भर में जगह-जगह स्त्री-पुरुषों की सम्मिलित सभायें करने की भी अपील निकाली है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बिहार का समस्त युवक-समाज इसके लिए तैयार हो रहा है। समस्त महिला-वर्ग उत्सुकतापूर्वक इसके परिणाम की प्रतीक्षा करेगा, यह स्वाभाविक ही है।

शाबाश बहनों!

बारडोली के सत्याग्रह के साथ-साथ अधिकारियों की ज़्यादतियाँ भी बढ़ रही हैं। पठानों के द्वारा बहनों पर अत्याचार होने की ख़बरें अब और ज़्यादा आने लगी हैं। ज़ब्ती के पठान उन्हें तङ्ग करते हैं। उनसे कोई सरोकार न होने पर भी किवाड़ तोड़-तोड़ कर अन्दर घुसने और उन्हें बाहर घसीट ले जाने तक के समाचार आ रहे हैं, जिसमें कभी-कभी तो स्त्रियों के कपड़े भी अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। यही नहीं, कुओं व रास्तों पर अकेले-दुकेले जाने वाली स्त्रियों को उनके रास्ते में नंगे बैठे या खड़े होकर तङ्ग किया जाता है। और एक बहन को तो एक पठान उस दिन झाड़ी में ही घसीटे लिये जाता था। हम मानते हैं कि हमारे भाई-बहन इन बातों पर भी खूब शान्ति और धीरज दिखा रहे हैं। परन्तु सरकारी पक्ष की तो यह नीचता ही नहीं बल्कि महानीचता है। किसी भी देश या समाज में स्त्रियों पर अत्याचार शर्मनाक ही नहीं जघन्य पाप माना जाता है। फिर ब्रिटिश सरकार तो सभ्य-शिरोमणि होने का दावा करती है। पर हम देखते हैं कि वह इन पठानों के अत्याचारों की तरफ़ अपनी आँखें बन्द किये हुए है। बल्कि बम्बई के गवर्नर तो कहते हैं कि पठानों का बर्ताव बहुत बढ़िया (Excellent) रहा है! क्या खूब!!

बाल-विवाह और सनातनधर्म महासभा

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' लिखते हैं:—

"सनातन-धर्म महासभा (प्रयाग) के अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्तावों की मुद्रित सूची देखने को मिली। उसके प्रस्ताव संख्या ७ में लिखा है—'कन्याओं का विवाह उनका बारहवाँ वर्ष प्रारम्भ होने से पहले कदापि न किया जाय।' इसके आगे प्रस्ताव संख्या १० में लिखा है—'यह सभा बाल-विवाह की प्रथा को अत्यन्त हानिकारक समझती है, और इसके दूर करने का उपाय कर रही है, तथापि हिन्दुओं में विवाह एक अटूट धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण, भारतीय व्यवस्थापक सभा में उपस्थित 'शारदा बिल' के अन्तर्गत १२ वर्ष की अवस्था के पहले के विवाह को क़ानूनी तौर पर अवैध ठहराये जाने के कारण, उस बिल का प्रबल विरोध करती है।' ये दोनों प्रस्ताव परस्पर-विरुद्ध हैं। मैं नहीं समझता कि जब महासभा १२ वें वर्ष में कन्या के विवाह का 'उपदेश' दे रही है, तो ठीक उसी आशय के प्रस्ताव का "प्रबल विरोध" क्या अर्थ रखता है! मैं यह मानता हूँ कि धार्मिक क़ानूनी हस्तक्षेप अनुचित ही नहीं अपमानजनक भी है, पर लाचारी का इलाज? रहा यह कि महासभा इसे दूर करने का प्रयत्न कर रही है, सो यह कोई आसान काम नहीं है कि 'दूर' कहते ही दूर हो जाय। तन-मन से लग जाने पर भी इसे दूर करने में बरसों लगेंगे और इस प्रथा के विषय में एक दिन की भी उपेक्षा करना अनेक होनहार जीवन विनष्ट करना है। इसके अतिरिक्त महासभा कोई शासक-संस्था नहीं है कि धर्म समझ कर या लोभवश अपनी ५ वर्ष की कन्या के विवाह के लिए प्रस्तुत जन को हठात् रोक सके। ऐसी अवस्था में क़ानूनी सहायता लेना किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं है। उदाहरणार्थ, द्विज के लिए शिखा-सूत्र धारण करना धार्मिक कर्त्तव्य है, पर आज स्थान-स्थान पर इसकी उपेक्षा हो रही है। ऐसी दशा में यदि महामना मालवीयजी बड़ी धारा-सभा में इसकी अनिवार्यता का—शिखा-सूत्र न धारने पर दण्ड-दान का—प्रस्ताव करें, तो उक्त प्रस्ताव के पक्षपाती क्या उसका विरोध करेंगे? यदि नहीं, तो उक्त प्रस्ताव का क्या मूल्य है? बिना कारण विरोध करने से विरोध निष्प्रभाव हो जाता है। आक्षेपादि भावों से नहीं, एक कट्टर सनातनी की हैसियत से ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं। क्या प्रस्तावक या अनुमोदकों में से कोई महोदय ध्यान देंगे?"

आशा है सनातनी भाई समझदारी के साथ इन पंक्तियों पर विचार करेंगे।

शिक्षा और स्त्रियाँ

शिक्षा-क्षेत्र में हमारी भारतीय बहनें इन दिनों अच्छी तरक्क़ी कर रही हैं। हाल में परीक्षाओं के जो नतीजे ज़ाहिर हुए हैं, इस दृष्टि से, वे बड़े उत्साहप्रद हैं। कुमारी शीला राय प्रयाग-विश्वविद्यालय की एम० एस-सी० परीक्षा में, रसायन विषय में, सर्व प्रथम उत्तीर्ण हुई हैं। उधर बहन श्यामकुमारी नेहरू ने इसी विश्वविद्यालय से एल-एल० बी० की फ़ाइनल परीक्षा में सर्वप्रथम नम्बर प्राप्त किया है। कुमारी नेहरू सर तेजबहादुर सप्रू की देखरेख में इसी वर्ष इलाहाबाद-हाइकोर्ट में वकालत का अभ्यास भी शुरू करने वाली हैं। और भी कई बहनें अच्छे नम्बरों में पास हुई हैं और उनकी संख्या भी इस बार अपेक्षाकृत अधिक प्रतीत होती है। बधाई! पर, एक बात। आज भी अनेक बहनें, जिनकी संख्या इन कुछ से कई गुणी ज़्यादा है, वही अशिक्षादि के अन्धकार में ग्रस्त हैं! उनके उत्थानार्थ काम करने की आज भी पहले ही के समान ज़रूरत है। अतः क्या वे अपनी इन बहनों से यह आशा करें कि ये उनके उद्धारार्थ भी कुछ कार्य करेंगी? हमें आशा है, हमारी ये बहनें इसपर सहानुभूति और प्रेम के साथ विचार करेंगी।

एक मुसलिम स्त्री की सफलता

पटने का सहयोगी 'देश' लिखता है—"श्रीमती फ़ख़्रुल सुलतान सकिना बेगम कलकत्ते के मोहम्मुल इसलाम साहब की दूसरी लड़की हैं और अभी हाल में कलकत्ता-विश्वविद्यालय की 'इण्टरमीडियट इन ला' परीक्षा में नामवरी के साथ उत्तीर्ण हुई हैं। बंगाल प्रांत में उनका नम्बर दूसरा आया है। उन्होंने घर ही में अंग्रेज़ तथा फ्रेंच गवर्नेसों के द्वारा शिक्षा पाई है। मैट्रिक के बाद वह डायोसेसन कालेज से बी. ए. की परीक्षा में अंग्रेज़ी में फ़र्स्टक्लास आनर्स के साथ उत्तीर्ण हुई। एम. ए. का इम्तिहान उन्होंने प्राइवेट विद्यार्थिनी की हैसियत से फ़ारसी और अरबी लेकर दिया। उनका नम्बर पहला आया और उन्हें स्वर्ण-पदक मिला।" इतना ही नहीं, उसीके लेखानुसार, "वह परिश्रमी अवैतनिक काम करने वाली हैं और शम्सिया ज़नाना मदरसे की अवैतनिक प्रिंसिपल हैं तथा अन्य शिक्षा संबन्धी संस्थाओं की सहायता भी किया करती हैं।" परन्तु "लोगों को जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि वह अब भी परदे में रहती हैं और क़ानून का अभ्यास भी उन्होंने परदे में रहकर ही किया है।" यह बात बड़ी विचित्र है। इतनी शिक्षा प्राप्त करके भी हमारी बहन ने परदे को नहीं छोड़ा, इसके दो ही कारण हो सकते हैं—या तो वह इसकी बुराइयों से वाक़िफ़ नहीं अथवा पीढ़ियों से चली आई परम्परा को तोड़ने का साहस अभी उनमें नहीं आया है। पहला कारण तो शायद उनपर लागू न हो, दूसरा ही सम्भव है। अगर हमारा यह अनुमान ठीक है, तो हमें कहना चाहिए, यह उनकी कमज़ोरी है; और कमज़ोरी का समर्थन किया जा नहीं सकता। अच्छा हो, यदि इस सम्बन्ध में बजाय कमज़ोरी के वह अपनी दृढ़ता का परिचय दें। क्या वह ऐसा करेंगी?

लाहोर में महिला-विश्वविद्यालय

लाहोर में कुछ हिन्दू-दानियों की सहायता से बहुत दिनों से महिला-शाला जारी थी और अच्छी तरह चल रही थी। अब, गत १ जून को वह महिला विश्वविद्यालय बना दिया गया है। ला० हरकिशनलाल ने उसका उद्घाटन-संस्कार किया और महात्मा हंसराज उसके मूल प्रवर्तक हैं। आशा है, पंजाबी बहनें इसका ख़ूब उपयोग करेंगी और उनकी शिक्षा-वृद्धि में यह बड़ा सहायक होगा। दानी और प्रबंधक इस सत्कार्य के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। परमात्मा उनकी वृत्ति को सदा ऐसी ही बनाये रहें।

विचित्र प्रथा

श्री माइस नामक एक यूरोपियन ने हाल में उत्तर से दक्षिण तक आफ़्रिका का भ्रमण करके बताया है कि वहाँ मनुष्यों की कुछ विचित्र जातियाँ हैं। एक जाति में तो विधवायें अपने पति की लाश को खा डालती हैं! इस मामले में युगेण्डा प्रान्त की दो स्त्रियाँ एक जेल में सज़ा भी भुगत रही हैं। ख़ूब!

मुकुट

(पीछे देखिए)

'त्यागभूमि' के उद्देश्य

१—त्यागभूमि केवल बुद्धि की भूख बुझाने नहीं आई है। देश के कोने-कोने में और समाज के अंग-अंग में गहरी और स्पृहणीय उथल-पुथल मचाने की धुन इसे सवार है।

२—त्यागभूमि मनुष्यता और स्वाधीनता को एक ही वस्तु मानती है। वह उस राज्यप्रणाली को सर्वश्रेष्ठ मानती है जिसमें प्रजा के अपने प्रतिनिधि प्रजा के हित के लिए प्रजा की सुव्यवस्था करें।

३—त्यागभूमि मानती है कि सत्य मनुष्य का परम साध्य और अहिंसा उसका परम नीति है। फलतः त्यागभूमि की नीति खुली, सीधी और मधुर होगी।

४—त्यागभूमि असत्य, अन्याय, अत्याचार और असमानता की प्रबल विरोधिनी है।

५—सामाजिक कुरीतियों और दुर्बलताओं की वह दुश्मन है। समाज-सुधार में वह सदा आगे रहेगी।

६—किसानों, मजूरों को तो वह अपने स्वजन समझती है और स्त्रियों एवं अछूतों के उद्धार को अपना परम कर्तव्य। इनकी सेवा करने में वह अपने बस कोई बात उठा न रक्खेगी।

७—शहरों की अपेक्षा गाँव उसके हृदय के अधिक नजदीक हैं। गाँवों को ऊपर उठाने और शहरों को बुराइयों से छुड़ाने का वह यत्न करेगी।

८—दुर्व्यसनों, अश्लीलता तथा कामुकता के बढ़ाने वाले चित्रों, विज्ञापनों एवं पुस्तकों का वह विरोध करेगी। त्यागभूमि स्वयं कोई गन्दा विज्ञापन नहीं छापेगी।

९—त्यागभूमि खादी और चर्खे को भारत का युगधर्म मानती है और इन्हें जीवन का पवित्र व्रत।

संक्षेप में—लोकरुचि की अंधी आराधना नहीं उसका अहैतुक उन्नयन त्यागभूमि का आदर्श है।

'त्यागभूमि' के ग्राहक आपको क्यों होना चाहिए?

ज़रा ख़याल कीजिए

१—सब से पहले और केवल मूल्य ही को देखा जाय तो और पत्रिकाओं के हिसाब से 'त्यागभूमि' का मूल्य कम से कम ६) या ६॥) रक्खा जाना चाहिए था जैसा कि इतने ही पृष्ठों की अन्य पत्रिकाओं का है। पर त्यागभूमि का मूल्य तो डाक व्यय सहित केवल वार्षिक ४) ही है।

२—'त्यागभूमि' गंदे और लुभावने विज्ञापनों से आपको नहीं लुभाती। एक मासिक पत्रिका के लिए विज्ञापनों की आमदनी कम नहीं होती। फिर भी पाठकों के हित के ख्याल से त्यागभूमि अपने आपको इस दूषित आय से अछूती रखना चाहती है। इससे पाठक और उनका धन भी धूर्त विज्ञापन वालों के चंगुल से बचता है, और वे अपनी शक्ति, समय और द्रव्य कहीं अच्छे कामों में लगा सकते हैं। पाठक देखेंगे कि त्यागभूमि के इस त्याग को देखते हुए अपनी घटी को पूरी करने के लिए उसे अपना वार्षिक चन्दा अन्य पत्रिकाओं से भी अधिक रखना चाहिए था।

३—परन्तु त्यागभूमि का उद्देश साहित्य का व्यवसाय करना नहीं है। वह कष्ट सहकर भी पाठकों की सेवा करने के लिए आई है।

अतएव पाठक त्यागभूमि से तभी अधिक से अधिक सेवा ले सकेंगे जब वे अधिक से अधिक संख्या में उसके ग्राहक बनकर व बनाकर उसके जीवन-संघर्ष को सौम्य करने में सहायक होंगे।

सुख-स्वप्न

किरण-माज़ा की लेकर डोर,
फँसाकर शशि का वर्तुल पात्र,
गगन-सागर से रस की धार
खींचता मैं छोटा सा बाल।
कहाँ हूँ खड़ा, किधर है विश्व ?
नहीं कुछ ज्ञात, न है कुछ चाह।
उठा हौले से अम्बर बीच,
पवन-लहरी पर मैं असवार।
चला हूँ उधर जहाँ द्युतिमान
चतुर्दिक् छाया उज्वल हास।
निकल तारों से निश्चल नेत्र—
किरीटा और कुण्डली मौन—
लिए तुम कर में कंचन-पात्र—
चले आते हो कौन अजान ?
पकड़ अब कर में कैरव कौन—
खड़े छाया से मेरे तीर ?
अरे फिर और सजाकर रूप,
मधुर बंशी ओठों पर साध।
दिखाई देते हो तुम कौन ?
नहीं, कुछ नहीं, इन्द्र का जाल।
अनोखे जादूगर का खेल,
अरे माया का मोहक रूप,
दिखाता कौन स्वप्न में आन !!

'प्रियहंस'

राष्ट्र-यज्ञ

[साधु टी० एल० वास्वानी के एक लेख का अनुवाद]

पश्चिम के ईसाई गिरजों में मैंने कृष्ण और उनकी गीता पर भाषण दिये और वे लोग इस प्रेमावतार के सौंदर्य और ज्ञान पर आश्चर्यचकित हो गये। आज भारत के नवयुवक वर्तमान समय के लड़ाई-झगड़ों में फँस कर उन्हें और उनकी महान् आज्ञा को भूल रहे हैं। एक कहते हैं, "हमें फ़ुरसत नहीं," और दूसरे कहते हैं, "तुम उनकी प्रशंसा के पुल बहुत ज्यादा बाँधते हो।" बहुत ज्यादा? आश्चर्य! काश!! मुझ में उनके सन्देश और उनकी लीला के गायन करने की और अधिक शक्ति होती!

वर्तमान काल के युद्ध और प्रयत्नों में गीता कहाँ तक उपयोगी हो सकती है, यह मैं बताना चाहता हूँ। यद्यपि गीता बहुत प्राचीन ग्रन्थ है, किन्तु हमारे इतिहास के इस कठिन समय में भी हमारे लिए उसका अतुल महत्व है। इस बात का मैंने बारंबार अनुभव किया है कि वर्तमान युग के लिए गीता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लोग समझेंगे कि मैं अपने कथन में बहुत अत्युक्ति करता हूँ। कुछ लोग कहेंगे कि कृष्ण ने उसका उपदेश ५००० वर्ष पहले किया था; किन्तु मैं कहता हूँ कि आज भी वह उसका उपदेश कर रहे हैं। उनके अन्दर जो एक आदर्श जीवन था, वह आज भी जीवित है। कृष्ण की गणना मृत पुरुषों में नहीं हो सकती, और न उन्होंने भारत ही को छोड़ा है, ऐसा मेरा विश्वास है। ऋषियों और देवताओं ने हमारे देश को नहीं छोड़ा है, वे भी इसी तरह नहीं छोड़ सकते। मैं स्वातंत्र्य-संग्राम की सफलता में विश्वास करता हूँ, और उसका यही कारण है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि कृष्ण, ऋषि तथा देवता हमारे संग्राम में पीछे से सहायता दे रहे हैं। यदि केवल यही विश्वास हम लोगों में जागृत रहे, तो हम राष्ट्रीय आन्दोलन में शुद्ध हृदय, गहन नम्रता और अटल श्रद्धा से—जिसे कि सरकार की कोई भी शक्ति कुचल नहीं सकती—डटे रहेंगे।

तुम कहते हो कि हमें स्वराज्य चाहिए। मनुष्य जो चाहे उसे प्राप्त कर सकता है—यह शास्त्रों की शिक्षा है; किन्तु एक शर्त है, और उसका नाम है बलिदान या त्याग। शास्त्रों में अनेक प्रकार के बलिदानों का उल्लेख है। किन्तु उन सबका वर्णन मैं यहाँ नहीं करना चाहता। मैं केवल इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि यज्ञ या बलिदान ही किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की शक्ति है। हिन्दू जीवनशास्त्र में त्याग को हर जगह बहुत महत्व दिया गया है। मैं जानता हूँ कि उस शास्त्र को आज लोग अधिक आदर नहीं देते; किन्तु उसका दोष प्रभु के सन्देश को नहीं, बल्कि हमीं पर है।

प्रत्येक विद्यार्थी, प्रत्येक गृहस्थ और प्रत्येक ब्राह्मण को नित्य यज्ञ करना आवश्यक है; किन्तु हम कौनसा यज्ञ करें और कौनसा बलिदान चढ़ावें, यह प्रश्न बहुत से नवयुवक पूछते हैं। वे पूछते हैं कि स्वराज्य-संग्राम को शक्तिशाली बनाने के लिए हम कौनसा बलिदान करें? हमारे पास न तो धन है, न संपत्ति है, और न शक्ति है; फिर हम देश के इतिहास के इस कठिन समय में कौनसा बलिदान कर सकते हैं? ऐसे युवकों को गीता यह उत्तर देती है—

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं योमे भक्त्या प्रयच्छति।
> तद् भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

हमारे देश में पत्र-पुष्प-फलं इन चीजों के लिए प्राचीन समय में कोई क़ीमत नहीं देनी पड़ती थी। सड़कों के दोनों तट फलदार वृक्षों से भरे रहते थे। दूध, दही, अन्न और फल बहुत थोड़े दामों में मिल जाते थे। किन्तु आज हरएक चीज की बहुत कुछ

क़ीमत देनी पड़ती है। किसी-किसी को तो दो आने दे कर शीशी में थोड़ा सा पानी मिलता है, और फल तो साधारण आदमियों को दुर्लभ ही है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि कितनी भी तुच्छ वस्तु क्यों न हो, भक्ति से अर्पण की जानी चाहिए। इसमें तुच्छ वस्तुओं या छोटी-छोटी चीजों का उल्लेख है, बड़ी-बड़ी वस्तुओं की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे लाखों-करोड़ों रुपये, तुम्हारे लंबे-चौड़े संगठन, तुम्हारे अनेकों सभा-समाज, तुम्हारे लंबे-चौड़े जलूस, इन सब बातों की कृष्ण को जरूरत नहीं है। तुम्हारा गला फाड़ कर जय-जयकार करना व शोर-गुल मचाना, यह सब उन्हें नहीं चाहिए। उन्हें तुम्हारे धन और ज्ञान की भी जरूरत नहीं है। आख़िर तुम्हारे इकट्ठे किये हुए इस किताबी ज्ञान का क्या मूल्य है? ज्ञान-सागर के तट पर वह एक छोटा सा ढेला-मात्र है। अलेक्जेण्डर वान हंबोल्ड (Alexander Van Humbold) ७६ वर्ष की अवस्था तक केवल ज्ञानार्जन ही करता रहा, ७६ वर्ष की अवस्था में लेखन-कार्य शुरू किया, और ९० वर्ष की अवस्था में परलोकगामी हुआ। उसने एक विशाल ग्रन्थ लिखा। किन्तु उस उन्नतिशील ज्ञान-भंडार की तुलना में इस पुस्तक में भरा हुआ ज्ञान क्या चीज है? प्रचुर संपत्ति या प्रकांड पांडित्य की भी प्रभु को आवश्यकता नहीं, उसे तो छोटी-छोटी तुच्छ से तुच्छ, साधारण से साधारण वस्तुओं के यज्ञ की आवश्यकता है। पौराणिक कथा के अनुसार पृथ्वी पर अवतरित होने के पहले भगवान् गोकुल में रहते थे। और वह वहाँ कैसे रहते थे? एक मामूली ग्वाले के समान। और जब व्रज-वनिता गोकुल में उनसे मिलीं, तब क्या वह ज़रीदार कपड़े पहने थे? पुराणों में हम पढ़ते हैं कि वह प्रभु के चरण-कमल छूने के लिए एक नदी में से निकलीं और पत्तों से सुसज्जित की गईं। और जब राधा उनसे रुष्ट होकर गाली दे रही थीं, तब कृष्ण ने कितनी नम्रता बतलाई? राधा ने कहा, 'निकल जाओ मेरे घर से!' पर वह एक शब्द भी न बोले। देवताओं के नायक होकर भी कृष्ण चुप रहे। और जब भारत अत्याचार से पीड़ित था, तब वह किस नम्र वेष में पृथ्वी पर अवतरित हुए? वह एक विनम्र वेष में यहां आये; वह कारावास में उत्पन्न हुए, वह सीधे किसानों के बीच मिलकर रहे, सीधे-सादे गीत गाते रहे, और अर्जुन तब तक उनमें अवतरित हुए अनन्त आदर्श को अनुभव नहीं कर सका, जब तक उन्होंने अर्जुन को उस विश्व-रूप के दर्शन नहीं कराये, जिसका वर्णन गीता में बड़े घन-विचारों और बड़े सुन्दर शब्दों में किया गया है। मेरी समझ में गीता की ये पंक्तियाँ विश्व-साहित्य की सर्वश्रेष्ठ पंक्तियों में स्थान पा सकती हैं। कृष्ण ने छोटी-छोटी वस्तुओं के यज्ञ का आदेश दिया। वह हमसे *भक्ति की भेंट* चाहते हैं, *शक्ति की नहीं*; और जो कुछ भी भक्ति विनम्र हृदय और पावन प्रेम के द्वारा अर्पित की जाती है, वही यज्ञ हो जाता है।

स्वराज्य प्राप्त करने के लिए यज्ञ ही की आवश्यकता है, हाथ-पैर जोड़ने और प्रार्थना करने की राजनीति से हमें कुछ भी नहीं मिला। मैं ऐसी राजनीति को रोज़गारी राजनीति कहता हूँ। आँख बंद कर कभी एक नीति ग्रहण करने और कभी दूसरी ग्रहण करने से हमें कुछ लाभ न होगा। मैं ऐसी राजनीति को कर्मकांड की राजनीति कहता हूँ। हमें स्वतन्त्र चित्रों की पूजा द्वारा यज्ञ करने की आवश्यकता है। जिससे विचार और भाषण की स्वाधीनता को बाधा पहुँचती है, उससे स्वराज्य को भी बाधा पहुँचेगी। यदि स्वराज्य-संग्राम का अर्थ स्वातंत्र्य-संग्राम नहीं है—व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, साम्पत्तिक, आर्थिक, धार्मिक स्वाधीनता नहीं है—तो वह कुछ भी नहीं है। यदि हम वर्त्तमान आंदो-

लन से राग-द्वेष, अहङ्कार, असहनशीलता, अपमान और पर-निंदा को निकाल दें, तो यह आन्दोलन यज्ञ-स्वरूप हो जाय। यज्ञ करने, बलिदान कर सकने की शक्ति ही किसी वस्तु को प्राप्त करने की शक्ति है। संसार के राष्ट्रों ने हिंसा और युद्ध को ही स्वाधीनता प्राप्त करने का साधन समझ रक्खा है; उन्होंने अपनी जल और थल सेनाओं को शक्तिशाली बनाया है। किंतु सैनिकवाद या युद्धवाद से संसार की समस्या हल नहीं हुई। संसार के राष्ट्रों ने विश्वास किया है कि खड्ग-प्रहार ही स्वाधीनता का साधन है; किंतु मैंने बारंबार कहा है कि रक्तप्लावन का पथ स्वाधीनता का प्रशस्त पथ नहीं है, *बलिदान का मार्ग ही स्वाधीनता का एकमात्र मार्ग है*, बलिदान-मार्ग ही के द्वारा भारतवर्ष संसार की समस्या को हल करेगा। तलवार उठाने वाले तलवार ही के साथ नष्ट होते हैं।

(अपूर्ण)

ब्योहार राजेन्द्रसिंह

भारत के हर एक प्रान्त में शारीरिक सुधार के लिए एक नई क्रान्ति की आवश्यकता है। शरीर-निर्माण ही राष्ट्र-निर्माण है।...आधुनिक भारत की उन्नति के लिए लोगों में भौतिक पदार्थों और शारीरिक तत्वों के लिए एक नया आदर और नया दृष्टि कोण उत्पन्न किया जाना चाहिए। ऐ नौ जवानो! याद रक्खो कि तुम्हारे शरीर आत्मा के पवित्र मन्दिर हैं। उन्हें शुद्ध और सुदृढ़ रक्खो। 'तोता रटन्त' पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देने वाली वर्तमान शिक्षा-पद्धति के कारण देश के छात्रों की शारीरिक शक्तियाँ तेज़ी से क्षीण हो रही हैं। खेल-कूद, साफ़ हवा, और ब्रह्मचर्य पर अधिक ज़ोर देना सूर्य को दीपक दिखाना है। परीक्षाओं की अपेक्षा खेल-कूद ज्यादा महत्व के हैं। अतः देश के नवयुवकों को मेरा यही संदेश है—अपनी इस जर्जर और गंभीर घावों के खून से लुहलुहाती मातृभूमि की सहायता के लिए ऐ नौ जवानों! तुम सादगी से रहना सीखो। पहलवान बनो, वीर बनो, और धैर्यशाली बनो!" —साधु वास्वानी

मिश्र का महात्मा

[श्री हालकेन के 'दी व्हाइट प्रॉफेट' उपन्यास से संकलित]

(१)

"अल-अज़हर विद्यालय के उल्माओं ने सरकारी आज्ञा की अवहेलना की है। उनका नेता इस्माइल अमीर मुझसे मिला था। उसने कुछ बातों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया था। परन्तु, उसकी बातों से तो, यही मालूम पड़ता है कि वह मिश्र देश का एक बड़ा भारी शत्रु है!"

मिश्र के ब्रिटिश शासक की इस बात के उत्तर में उसके एक सहयोगी सेनापति गोरडन ने आश्चर्य-चकित हो कर कहा—"शत्रु!"

"हाँ, शत्रु! क्योंकि वह अधिकारियों और जनता को सैनिक विभाग से अलग रहने के लिए इस कारण कहता है कि युद्ध अधार्मिक है, देश और समाज के लिए, वर्त्तमान परिस्थिति में सर्वथा अहितकर है।"

"ठीक तो है!"

"सुनो भी! वह मिश्र-वासियों को कहता है कि जहाँ ईश्वर की और शासक-वर्ग की आज्ञाओं में विरोध दिखाई दे, वहाँ ईश्वर की आज्ञा मानो! यह तो प्रत्येक व्यक्ति को स्वच्छन्द बना देना है, मानों सरकार कुछ है ही नहीं!

"यही नहीं, वह तो स्पष्ट कहता है कि मिश्र अब एक बिलकुल स्वतंत्र देश होगा। वह तो खुल्लमखुल्ला राष्ट्रीयता की पुकार मचाये हुए है, जिसका स्पष्ट अर्थ है नील नदी के तट पर इंग्लैण्ड के प्रभुत्व का अंत!"

गोरडन ने कुछ उत्तर देने का प्रयास किया, परन्तु क्रोधित जनरल ने अधीरता से कहा—"मैं तुमसे तर्क नहीं करना चाहता। इस्माइल बड़ा चालबाज़ है। धार्मिकता और राष्ट्रीयता के नाम पर वह उथल-पुथल मचा देना चाहता है—बर्बरता का साम्राज्य स्थापित करना चाहता है।"

"इस्माइल अमीर ने आपसे किस बात की चर्चा की?" गोरडन ने दबी ज़बान से पूछा।

"उसने कहा कि हम अल-अज़हर को तोड़ देने की अपनी आज्ञायें वापिस ले लें, अर्थात् सरकार के विरुद्ध षड्-

बन्ध करने के साधन को जीवित रहने दें। यह कभी नहीं हो सकता, गोरडन! किसी भी हालत में नहीं हो सकता!"

क्रोध से आपे के बाहर होने के कारण ब्रिटिश शासक ने थोड़ी देर ठहर कर फिर कहा—

"गोरडन! सब तैयारी हो चुकी है। शहर कोतवाल तुम्हें तुम्हारे क्वार्टर से समय पर बुला लेगा—और उसके बुलाने पर तुमको सैनिकों का एक रेजिमेंट—सुना, सशस्त्र रेजिमेंट—पैदल सिपाहियों की एक इन्फेंटरी लेकर अल-अज़हर विद्यालय चले जाना होगा—विद्यालय को घेर लेना होगा—और? और तुम्हें आज्ञा है कि विद्यालयों के छात्रों और अध्यापकों को निकाल बाहर करने के लिए अस्त्र-शस्त्र का भी उपयोग कर सकोगे। चाहे जिस बात का सहारा लेना पड़े—सुना? चाहे जिस तरह हो, तुम्हें सरकारी हुक्म का पालन करना होगा!"

जनरल की ऐसी उत्तेजनापूर्ण आज्ञा सुन कर गोरडन ने बड़े भारी संयम के साथ कहा—"दुःख है कि मैं नृशंसतापूर्ण यह काम न कर सकूँगा। यदि यह काम आवश्यक ही है, तो इसके लिए किसी दूसरे व्यक्ति को नियुक्त कीजिए।"

"यह हो नहीं सकता। तुम्हें ही यह काम करना होगा, तुम्ही इसके लिए उपयुक्त हो।"

"आप जो चाहें सो करें, कोर्टमार्शल करें अथवा बर्खास्त। मैं यह राक्षसी कृत्य नहीं करूँगा। ईश्वर साक्षी है, मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं सैनिक हूँ, इसका मुझे गर्व है, परन्तु मुझे इस गौरव से वंचित······"

"सरकार का नमक खाकर तुम आड़े वक्त पर इस प्रकार धोखा दोगे? ऐसा मुझे ख़याल न था! यदि तुम सरकार के साथ विश्वासघात ही करना चाहते हो, तो अपना त्याग-पत्र दे सकते हो। परन्तु अभी तो तुम मेरे सैनिक हो, मैं तुम्हें आज्ञा दे चुका हूँ, तुम्हें उसका पालन करना होगा! यह मेरी सबसे अधिक रिआयत तुम्हारे साथ है।"

गोरडन के मन में भारी संग्राम हो रहा था, उसने दृढ़ता-पूर्वक कहा—"मुझे कहते दुःख होता है कि मैं आपकी इस आज्ञा का पालन करने से मजबूर हूँ। आप मुझे अल-अज़हर के विद्यार्थी और अध्यापकों को निकाल देने की ही आज्ञा नहीं दे रहे हैं, बल्कि सैकड़ों, नहीं-नहीं हज़ारों के ख़ून से मेरे और मेरे सैनिकों के हाथ रँगने को भी कहते हैं।"

"दुष्ट! कैसी बेहूदा बात है!" जनरल ने घृणा से कहा—"ये कायर मिस्रवासी सैनिकों के आगे ठहरेंगे? बंदूक देखते ही चिड़ियों की तरह उड़ जावेंगे! अगर ठहरे भी, तो यह दोष उनका ह. होगा! सोचो, समझो, मेरी आज्ञा का पालन करो!"

"मैंने सोच लिया, और समझ लिया! मुझे दुःख है कि मैं आपकी आज्ञा का अब भी विरोध करता हूँ। यदि आपको इस काम में सहायता दूँगा, तो वह मेरे लिए और भी अधिक दुःख की बात होगी। इस काम से निरीह प्रजा के ख़ून की नदियाँ बह जायँगी, सारा देश रो उठेगा—अशांत हो जायगा, भारत में—यूरोप में—अमेरिका में सर्वत्र इंगलैंड का मान मर्दित हो जायगा। घायलों और मृतकों के बिलखते स्त्री-बच्चों की आहें इंगलैंड के सिंहासन को ही नहीं, आकाश को भी हिला देंगी! इस प्रकार हम अपनी जड़ अपने आप ही काटेंगे और फिर इस कलंक का टीका किसके सिर लगेगा? आप ज़रा सोचें तो!"

युवक गोरडन की इतनी दृढ़ता-पूर्ण बातें सुनकर जनरल थोड़ा विचलित हुआ, उसने कुछ शांत होकर कहा—"यदि तुम्हारा ऐसा ही कहना है, तो मैं इस आज्ञा को एक शर्त पर वापिस ले सकता हूँ। तुम्हें इस्माइल को—सारे षड्यंत्र की जड़ को—बिना विलम्ब देश से बाहर कर देना होगा।"

"यह भी सम्भव नहीं। मिस्रवासी इस्माइल को महात्मा मानते हैं। उसके साथ अत्याचार करना सारे देश के साथ, उनके धर्म के साथ, अत्याचार करना होगा। उनकी दृष्टि में ऐसा काम मानवता के प्रति, ईश्वर के प्रति, अपराध करना होगा।"

"यह सब ठीक हो सकता है; पर हम सैनिक हैं, हमें इन बातों पर सैनिक की दृष्टि से ही विचार करना होगा। बिना किसी वाद-विवाद के मैं पूछना चाहता हूँ कि तुम मेरी आज्ञा पालन करने के लिए तैयार हो या नहीं?"

"यह तो जघन्य पाप होगा।"

"पाप अथवा पुण्य, इससे तुम्हें क्या मतलब? क्या तुम मेरी आज्ञा का पालन नहीं करोगे?"

"यह मेरी आत्मा के विरुद्ध होगा।"

"प्रश्न तुम्हारी आत्मा का नहीं है। प्रश्न है सम्राट् के खाये नमक को हलाल करने का और मेरी आज्ञा-पालन का।"

"जब मैंने सैनिक की दीक्षा ग्रहण की थी, तब क्या मैंने अपने मनुष्य के अधिकारों को भी बेच दिया था ?"

"अपने अधिकारों की चर्चा मत करो। याद रक्खो, सबसे पहले तुम सैनिक हो।"

"हाँ, मैं सैनिक हूँ; पर उससे भी पहले मैं मनुष्य हूँ।"

जनरल का क्रोध निस्सीम हो गया। गोरडन को इस प्रकार प्रतिवाद करते देख कर जनरल ने आवेश में उसके सैनिक के चिन्ह छीन लिये, उसे सब प्रकार से अपमानित किया। परन्तु, धीर-वीर गोरडन ने दृढ़तापूर्वक कहा—

"एक अनुचित आज्ञा का पालन नहीं हो सकता। यह आज्ञा सर्वथा अनुचित है, अन्यायपूर्ण है। आप मुझे हत्या करने को कह रहे हैं—हत्या करने को! जनरल! गोरडन एक सच्चा सैनिक है, वह ऐसा नहीं कर सकता!"

एक सच्चे सैनिक की भांति इतने ऊँचे पद को भी तृणवत् समझ, जाते-जाते गोरडन ने फिर कहा—"जनरल! याद रखिएगा, एक दिन ऐसा भी आवेगा, जिस दिन ये सब घटनायें मेरे से भी अधिक आपके लिए आत्म-संताप-प्रद होंगी।"

(२)

"मारो! उस पाजी छोकरे को!" अल-अज़हर के आगे एकत्रित सेना के स्थानापन्न सेनापति ने क्रोध से कांपते हुए कहा। दूसरे ही क्षण कई बन्दूकें एक साथ ऊँची हुई, गोलियां दगीं, और विद्यालय की ऊँची दीवार से एक कोमल बालक का मृतशरीर रास्ते में आ कर धड़ाम से गिर पड़ा! सेनापति लाश को फेंक देने का हुकम दे ही रहा था कि एक चीत्कार सुनाई दी और दूसरे ही क्षण सैनिकों को संसार की सबसे अधिक शक्तिशालिनि मातृदेवी को रास्ता देना पड़ा। क्रोध और दुःख से व्यथित माता अपने मृत-पुत्र के पास खड़ी दिखाई दी।

उस देवी ने अपना काला घूँघट हटा दिया था। पुत्र के शव को गोद में ले छाती से लगा वह फूट-फूट कर रोने लगी। इधर अत्याचार-पीड़ित निर्दोष माता का करुण-क्रंदन हो रहा था, उधर सैनिकगण अल-अज़हर विद्यालय के विशाल प्रांगण में घुस रहे थे। पांच हज़ार विद्यार्थी और अध्यापक शांति-पूर्वक विद्यालय में डटे हुए थे। वे अपना कर्त्तव्य-पथ निश्चित कर चुके थे। घोड़ों की टापों और सैनिकों के अस्त्र-शस्त्रों की आवाज़ों के बीच फिर वह करुण-क्रंदन सुनाई दिया—"ओह! मेरा बेटा! हाय अली! तू मर गया? नहीं, मरा नहीं, अली! तुझे इन दुष्टों ने मार डाला? ओ! मेरे इकलौते बेटे! अब मेरा कौन है? बेटा! आ, फिर आजा! अली! अली!!"

विद्यार्थियों और अध्यापकों को तलवार के ज़ोर पर विद्यालय से निकाल बाहर कर देने की आज्ञा हो चुकी थी। भीषण नर-हत्या-काण्ड हो रहा था। रोती हुई माता के लिए भी सेनापति आज्ञा दे ही रहा था—"उठाओ! इसे चिल्लाने···········"। अकस्मात् वीर गोरडन वहाँ आ पहुँचा।

न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से वह वहाँ आ पहुँचा था। यह बीभत्स काण्ड उससे न देखा गया। स्थानापन्न सेनापति पर वह शेर की भांति झपटा। घोड़े से नीचे घसीट कर उसने उसे ज़मीन पर पटक दिया। अपने पहले सेनापति को वहाँ इस प्रकार देख कर सारे सैनिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये—ज्यों के त्यों खड़े रह गये! दूसरे ही क्षण मिश्रवासियों की एक भीड़ न जाने किधर से आई। गोरडन को सन्मानपूर्वक हाथों-हाथ न जाने वे लोग किधर ले गये। गोरडन भी आश्चर्यचकित हो गया था।

❀ ❀ ❀

जो होना था सो हो गया। एक सुकुमार बालक की बलि से एक भीषण हत्या-काण्ड प्रारम्भ हुआ। सैकड़ों विद्यार्थी और अध्यापक मारे गये! सर्वत्र सन्नाटा छा गया। मिश्र पर अंग्रेज़ों के शासन-काल में एक ऐसी नृशंस और बीभत्स दुर्घटना घटी।

हज़ारों मिश्री सुलतान हसन की मसजिद में एकत्र हो रहे थे। मृत व्यक्तियों के शव मसजिद के प्रांगण में रक्खे थे। इमामों ने मृत व्यक्तियों की शांति के लिए प्रार्थना पढ़ कर उच्च स्वर से कहा—"अपनी साक्षी दो, इन वीरों की मृत्यु

ईमान के लिए हुई है!" हज़ारों वाणियों से एक साथ आवाज़ आई—"ईमान के लिए ! ईमान के लिए !!"

क़ुरान की आयतें बोलते हुए सूरदासों के समुदाय के पीछे शवों को उठाते हुरे और लाल कपड़े पहने चिंताग्रस्त आदमियों की एक लम्बी श्रेणी थी । उनके पीछे क़यामत के वर्णन का गीत गाते हुए विद्यार्थी चल रहे थे । सैकड़ों फ़क़ीर भी धार्मिक गीत गाते हुए मृत वीरों की श्मशान-यात्रा में सम्मिलित थे । मृतकों के सम्बन्धियों के रोते-बिलखते समुदाय के पीछे अपने हज़ारों अनुयायियों के साथ धीर और शांत इस्माइल अमीर धीरे-धीरे चल रहा था ।

एक विशाल जन-समुदाय उन मृत वीरों के सम्मान में एकत्र हो रहा था ! स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े, एक बड़े भारी श्रोत की भांति चले जा रहे थे; उनकी चाल गंभीर और धीमी थी । चेहरों पर हृदय-भेदी शोक स्पष्ट दिखाई दे रहा था । किसीकी आँखों से एक-दो आँसू कभी-कभी टपक पड़ते थे, उस समय प्रतीत होता था कि उसकी आन्तरिक वेदना बही जा रही है । परन्तु जिनकी आँखें सूखी थीं, उनका दुःख भयंकर था; कारण कि उनके दुःख को बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं था । इस प्रकार यह जलूस शहर की सड़कों और गलियों में घूमता हुआ श्मशान जा पहुँचा ।

रात्रि शान्त थी । विशाल रेगिस्तान बादलों से अनाच्छादित चाँद के नीचे पड़ा सो रहा था, उसके इस ओर आ कर वह जन-श्रोत रुक गया । मृत व्यक्तियों के शव दफ़नाने की क्रिया जब समाप्त की गई, तब क़ुरान की यह आयत सुनाई दे रही थी—"ओ अल्लाह ! ख़ुदा के सिवाय किसमें बल है, किसमें शक्ति है ? ख़ुदा ! हम तेरे बन्दे हैं और तेरे पास एक न एक दिन लौटेंगे ही ।"

दुःखी जनों को, अल-अज़हर के शिक्षक और अन्य मुल्ला सांत्वना दे रहे थे । चाँद के प्रकाश के नीचे दुःख और शोक से पीड़ित इस भीड़ का वह दृश्य कितना हृदय-विदारक था ! मुर्झाये हुए चेहरे को नीचे किये इस्माइल अमीर बड़ी गम्भीरता से कह रहा था——

"हमारे जीवन में यह एक रात आई है, भाइयो ! हमारा मा.. त न सा हो रहा है । हममें शोक छाया हुआ है । [कब्]रों में अब शान्ति से सोये हुए इन वीरों से ईर्ष्या होती है ! ये सब हम लोगों के आगे चल बसे ! उन्हें शांति मिले ! हम सबको शान्ति मिले ! वह देखो, यहाँ एक देवी है; इसने अपने पति को खो दिया है ! वह वहाँ एक माता है, जिसका पुत्र चल बसा ! ओह ! इसके हृदय में कितना घोर संताप भरा हुआ है ।"

"हाय मैं ग़रीबिन ! ओह ! मेरे ग़रीब बच्चे ! ओह ! सारे दुःखी ग़रीबो !" चिल्लाती हुई वह दीन दुःखिया माता आकर इस्माइल के चरणों पर गिर गई ! शोक और विषाद का समुद्र सा उमड़ आया ! उसे शांत करते हुए इस्माइल अमीर ने उच्च स्वर से कहा—"ओ ! ख़ुदा के बन्दो ! धर्म हमारा प्राण है । पश्चिम से आकर ये विदेशी हमारा धर्म और देश छीनना चाहते हैं । हमें इनसे अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए प्राणप्रण से कटिबद्ध हो जाना चाहिए । हमें अपनी आत्मा की तलवार इस राक्षसी भक्षक के सामने उठानी चाहिए । मनुष्य बनो, गुलाम नहीं ! ज़िन्दा बनो, मुर्दे नहीं ! यूरोप के लिए पैसा पैदा करने की मशीन ही न बने रहो ! ख़ुदा के बन्दे बन कर झोंपड़ी में रहना भी अच्छा है, किसी के गुलाम—सो भी अत्याचारपूर्ण शक्ति के गुलाम—बन कर महल में रहना भी किस काम का ? चलो ! मनुष्य के शासन को लात मार कर उस सर्वशक्तिमान के शासन की इस पृथ्वी पर स्थापना करें !

लोगों का जोश बढ़ रहा था, इस्माइल ने थोड़ी देर ठहर कर फिर कहा—"मुझे आपमें से ऐसे सौ भाइयों की ज़रूरत है, जो घर-घर परमात्मा का संदेश पहुँचा दें, अत्याचारियों की अत्याचार-गाथायें सुना कर उनकी आँखें खोल दें । हमारे मुहम्मदसाहब एक गुलाम की भांति मक्का से निकाले गये थे, परन्तु वह वहाँ लौटे एक विजेता की भाँति । आज हम काहरा नगर से अपमानित करके निकाले गये हैं, परन्तु यदि कभी ज़िन्दा लौटेंगे तो पूर्ण गौरव के साथ ही ।"

अपने नेता की इतनी उत्साहभरी बातें सुन कर सब ने उच्च स्वर से पुकारा—"अवश्य, अवश्य ! ख़ुदा के नाम पर अवश्य !"

"मुझे दूसरे के प्राण लेने वाले सैनिकों की ज़रूरत नहीं है; मुझे ज़रूरत है उन तपस्वी वीरों की, जो अत्याचारी

निरंकुशता के सामने न झुकें और अपने प्राणों की आहुति दे दें। देशबान्धवों के हित के लिए अपनी बलि देने वालों का पुरस्कार क्या उस सैनिक से कम होगा, जो रण-क्षेत्र में मृत्यु पाता है? मुझे युवकों की, वीरों की, ज़रूरत है। विपत्तियों का पहाड़ हमारे सामने है। विपत्ति और भय ही नहीं, मृत्यु का भी हमें सामना करना होगा। आप सब समुद्रतट की बालू के समान पवित्र हैं, पर उसकी भाँति कहीं आप निरुद्देश न पड़े रह जायँ। मुझे साधु-संतों की आवश्यकता नहीं है। मुझे तो पाप और अत्याचार-ग्रसित व्यक्तियों की आवश्यकता है। क्या आप पाप-पीड़ा से ग्रसित हैं? जीवन की गति क्या आपके लिए रुक गई है? क्या आप इसी अवस्था में मृत्यु के अन्धकार में लीन होने की तैयारी चुपचाप नहीं कर रहे? क्या आपका पश्चात्ताप गंभीर है? आत्मा की कटुता में क्या आप किसी सत्पथ की प्राप्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं? यदि हाँ, तो भाइयो! आओ! पवित्रता आकर आपका पद-चुम्बन करेगी। एक महान् यात्रा आपके सम्मुख है, जिसमें आपके सारे पाप छूट जावेंगे।"

"अल्लाह! अल्लाह!!" करते हुए सैकड़ों युवक आगे बढ़ आये! इतने अधिक युवकों में से सौ को छाँटने का काम अल-अजहर के अध्यापकों ने किया। सभी युवक देश और धर्म की सेवा में आत्मोत्सर्ग करने के लिए उत्सुक हो रहे थे।

चाँद का प्रकाश मंद पड़ने लगा था। प्रभात की सुखमय बेला क्षितिज पर धीरे-धीरे पदार्पण करती हुई आ रही थी। ऐसे समय में इस्माइल ने उन त्यागी वीरों को सम्बोधित करते हुए कहा—"तुम लोगों ने आज परमात्मा के दूत का महत्वपूर्ण कार्य अपने ऊपर लिया है। जहाँ तक पहुँच सको, उसका संदेश सुना दो! तुम सरकार के शत्रु नहीं; परन्तु जहाँ सरकार और परमात्मा के फ़रमान में फ़र्क़ दिखाई दे; वहाँ सरकार के बजाय परमात्मा की आज्ञा पालन करने की बात घर-घर पहुँचा दो!

"तुम उस परमात्मा के सैनिक हो। तुम्हें तुम्हारे प्रयत्न की सफलता के लिए अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता नहीं। क्या तुम तलवार के बल पर विजय की आशा करते हो? तो, पीछे हट आओ! यह काम तुम्हारा नहीं। क्या तुम अंग्रेज़ों को मिश्र से निकाल बाहर करना चाहते हो? सुलतान को स्थापित करना चाहते हो? कोई राज्य अथवा साम्राज्य स्थापित करना चाहते हो? तो, जाओ घर लौट जाओ! यह काम तुम्हारा नहीं। तुम्हें केवल एक शत्रु को बाहर करना है, और वह है अत्याचार-कुतंत्र! केवल एक सुलतान को तुम स्थापित करोगे, और वह होगा परम पिता परमात्मा!"

उस रात का कार्य समाप्त होने को आया! विदेशी शासकों के अत्याचार ने सोये हुए मिश्र वासियों को जगा दिया।

श्रीगोपाल नेवटिया

युवकों के प्रति

"प्यारे नौजवानो, अपनी ज़रूरतों को कम करो। अनेक छोटी-मोटी विदेशी वस्तुओं के उपयोग से देश में विदेशी व्यापार की जड़ खूब ज़ोर पकड़ चुकी है। इसी कारण आज हमारा देश इतना दीन और निर्धन है—दिन ब दिन हमारी निर्धनता बढ़ रही है।

शक्ति और स्वास्थ्य को बढ़ाना अपना शारीरिक कर्त्तव्य समझो। आर्थिक कर्त्तव्य-पालन के लिए स्वदेशी वस्त्रों को पहनने का संकल्प करो। और हिन्दुस्थान के स्वातंत्र्य-युद्ध में हाथ बँटा कर अपना आध्यात्मिक कर्त्तव्य पूरा करो।

अगर पराक्रमी, यशस्वी और वीरता-पूर्ण जीवन बिताना ही तुम्हारी महत्वाकांक्षा हो, तो हिन्दुस्थान को स्वाधीन करने के लिए अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करना सीखो।

अपने हृदयों में निरन्तर स्वतंत्र-भारत का ध्यान करते रहो और अपनी सबसे क़ीमती वस्तु भी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए अर्पण कर दो। ए भारतमाता के सपूत नौजवानो! पुरुषार्थ के सम्पूर्ण विकास के लिए, अपनी बेदाग़ बहादुरी के जौहर को बढ़ाने के लिए, इससे अधिक साफ़ रास्ता और कोई नहीं है!"

—श्रीप्रकाशम्

साहित्य-संगीत-कला

गौरव-गीत

हम्मीरदेव का गीत

"त्यागभूमि का मुकुट, राजस्थान की उज्ज्वल मणि, मेवाड़ का गौरव—चित्तौड़ म्लेच्छों के अधिकार में चला गया। अधर्मियों ने उसके विशाल भवनों को नष्ट कर दिया, देव-मन्दिरों को अपवित्र कर दिया, और हमारे प्यारे भाइयों को पीस डाला। आर्य-कुल-कलङ्क-क्षत्रिय-यश-नाशक मालदेव ने विश्वासघात किया। वह विधर्मियों से मिल गया। सुलतान ने, उसके विश्वासघात के पुरस्कार में, उसे चित्तौड़ का शासक बना दिया। हाय! चित्तौड़ का पूर्व-गौरव नष्ट हो गया! कौन उसकी रक्षा करेगा? कौन नीच मालदेव और उसके अत्याचारी राजकुमार जेसा से राजस्थानियों का परित्राण करेगा? कौन आर्यों की पवित्र भूमि से गौ-देव-नाशक म्लेच्छों को निकाल बाहर करेगा? वीरो! चिन्ता क्यों करते हो? सिसोदिया वंश-संस्थापक, "विषम-घाटी पंचानन"* राणा हम्मीरदेव के रहते किसका साहस है कि वह राजस्थान को पद-दलित करे? कौन ऐसा माई का लाल है कि पवित्र आर्य-धर्म पर आघात करे? किसमें इतनी शक्ति है कि चित्तौड़ के दीप्त गौरव को धुँधला करे? वह देखो, कायर मालदेव मुँह छिपाये भागा जा रहा है! वह देखो, पापी जेसा प्राण बचाने के लिए सिर पर पैर रख कर अन्धाधुन्ध दौड़ रहा है! चित्तौड़ पर नर-सिंह हम्मीर का अधिकार हो गया। दुर्ग पर उनका झण्डा फहराने लगा।

"वीरो! रण-केसरी हम्मीर चित्तौड़ का मान-सम्भ्रम पुनः लौटा लाये। अब उसे कौन छीन सकता है? किसका यह साहस कि उसकी ओर बङ्किम भ्रू से देख तो ले? दिल्लीश्वर तक तो मुँह की खा गया। दुष्ट जेसा के बहकाने से वह चित्तौड़ पर चढ़ आया, परन्तु हम्मीर की तलवार के सामने कौन ठहरा है? उस दिन सिंगोली के रणस्थल में हम्मीरदेव ने रण-चण्डी को यवनों के रक्त से तृप्त कर दिया। असंख्य यवनों को मार कर उन्होंने अपरिमित कीर्ति सम्पादित की। स्वयं दिल्लीश्वर बन्दी हुआ। अतुल धन और विपुल पृथ्वी देने पर उसने अपना छुटकारा पाया। वीरो! सिसोदिया वंश-संस्थापक, "विषम-घाटी-पंचानन" राणा हम्मीर ने उसे ऐसी शिक्षा दी कि फिर उसने चित्तौड़ की ओर आँख उठाने का साहस ही न किया।

"वीरो! हम्मीरदेव के यश से समस्त मेवाड़, समस्त राजस्थान, समस्त आर्यावर्त जगमगा रहा है। उनके वीरत्व की धाक समस्त भारत में व्याप्त है। लड़ाकू भीलों के राजा राघव ने उनका लोहा मान लिया। चेलावतपुर* की रण-स्थली और पाह्लनपुर† के जले खण्डहर हम्मीरदेव का विजय-गीत उच्चस्वर से गा रहे हैं। इला‡ दुर्ग-वासियों से पूछो, तो वे हम्मीर के शौर्य्य की कथा सुनावेंगे कि किस साहस से राणा हम्मीर ने राजा जैत्रकर्ण को पछाड़ा था। बूँदी के मीनों से पूछो कि हम्मीर देव की तलवार कैसी है? वे तुम्हें उसकी काट बतावेंगे। मारवाड़, जयपुर, ग्वालियर और चन्देरी के नरेशों से पूछो। वे तुम्हें कहेंगे कि आर्य्यों का एकमात्र रक्षक है राणा हम्मीर। आबू, सीकरी, कालपी और रायसेनाधिपतियों से पूछो—'हिन्दुओं का सम्राट कौन?' और वे तुम्हें एक स्वर में कहेंगे—सिसोदिया-वंश-संस्थापक, 'विषम-घाटी-पंचानन', राणा हम्मीर देव!"

बालकृष्ण बलदुवा

* विकट आक्रमणों में सिंह के समान।

* जीलवाड़ा। † पालनपुर। ‡ ईडर।

हिन्दी कविता का भावी आदर्श

मानव-प्रकृति के अन्तर्गत स्वभाव से दो प्रकार की भावनायें रहती हैं। एक जिगीषा की और दूसरी तन्मयताकी।

जिगीषा की भावना के वशवर्ती होकर मनुष्य विश्व-प्रकृति के मुग्ध और विस्मयकारी नाना प्रकार के दृश्यों के अन्तर्रहस्य को जानने के लिए व्याकुल हो उठता है। वह प्रकृति के विस्मयागार के कपाटों को खोल देने के लिए शक्ति भर प्रयत्न करता है। लीलामयी प्रकृति के अद्भुत कारनामों को देखकर वह आश्चर्यान्वित और पुलकित तो अवश्य होता है, पर उनमें तल्लीन नहीं होता। वह उनके अस्तित्व के सन्मुख अपने अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहता, बल्कि इन सब चमत्कारपूर्ण दृश्यों पर भी वह अपनी बुद्धि की सत्ता क़ायम रखता है।

दूसरी भावना तन्मयता की है। इसमें रहने वाला मनुष्य प्रकृति के रहस्यों की खोज नहीं करना चाहता। प्रत्युत उसी आनन्द और विस्मय में अपने आपको सराबोर कर देता है। वह स्वयं आनन्द और विस्मय के इस सागर में तल्लीन हो जाता है। और उसीके अन्तर्गत अपने और विश्व के वास्तविक रूप का नित्य नवीन दर्शन करता है।

पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, दूसरी से कविता की। पहली भावना मस्तिष्क से उत्पन्न होती है, दूसरी का जन्मस्थान हृदय है। विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् से अधिक रहता है, कविता अन्तर्जगत् में विशेष रमण करती है। वैज्ञानिक सिद्धांत के जगत् में भ्रमण करता है, कवि का क्रीड़ा-क्षेत्र कल्पना का जगत् है। विज्ञान वस्तु के मूल स्वरूप को संसार के सन्मुख लाता है, कवि उसके परिष्कृत और सुंदर स्वरूप को विश्व के आगे रखता है।

पहली भावना कारणवाद के मार्ग से होती हुई सत्य के समीप पहुँचती है। दूसरी भावना आनन्दवाद के मार्ग से हो कर सत्य में जा मिलती है। मार्ग भिन्न-भिन्न होने पर भी दोनों का लक्ष्य एक ही है। संसार को दोनों ही की आवश्यकता है। और दोनों ही मनुष्य-प्रकृति के अन्तर्गत अमर रूप से मौजूद रहती हैं। जब जिगीषा की भावना का प्राधान्य मनुष्य-समाज में समष्टि रूप से रहता है तब संसार का पलड़ा विज्ञान की ओर झुका हुआ रहता है। इसी प्रकार तन्मयता की भावना का प्राधान्य होने पर जगत् कविता-कामिनी की ओर आकर्षित होता है।

मनुष्य प्रकृति के अंदर रहने वाली स्वाभाविक विकृति के अनुसार इन भावनाओं में भी विकृति उत्पन्न होती रहती है। इस विकृति से संसार का बड़ा अनिष्ट होता है। विज्ञानवाद के विकृति मय प्राबल्य से समाज में अशुद्ध नास्तिकवाद का और कवित्ववाद के उन्मत्त अनुकरण से अंध-श्रद्धा की उत्पत्ति हो जाती है।

कविता का स्वरूप

कविता के स्वरूप का निर्णय करते हुए सुप्रसिद्ध समालोचक मैथ्यू आर्नाल्ड कहते हैं :—

Poetry is at bottom a criticism of Life. The greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life × × × × × Poetry is nothing less than the most perfect speach of man in which he comes nearest to being able to utter the truth.

अर्थात्-कविता यथार्थ में मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। कवि की महत्ता इसीमें है कि वह विचारों को बड़ी कुशलता से जीवन के उपयुक्त बना दे......जब मनुष्य सत्य को सबसे श्रेष्ठ भाषा में प्रकट करता है तब वही भाषा कविता हो जाती है।

जगत् स्वभाव से अपूर्ण पदार्थ है। और मनुष्य अपने जीवन में पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। यह पूर्णता उसे प्रत्यक्ष जगत् में उपलब्ध नहीं होती। क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् का सौन्दर्य, उसका सङ्गीत और उसका व्यवहार सभी अपूर्ण और नश्वर हैं। इस अपूर्ण और नश्वर जगत् से घबरा कर मनुष्य पूर्ण की प्राप्ति के लिए छटपटाता है। जब वह पूर्णत्व उसे प्रत्यक्ष में प्राप्त नहीं होता तब वह कल्पना का आश्रय लेता है। वह कल्पना के अन्तर्गत अपनी इच्छा के अनुरूप एक स्वतन्त्र जगत् की रचना करता है। उसकी कल्पना की छत्र-छाया में एक देश या एक जाति ही नहीं प्रत्युत् सारा विश्व गर्भित रहता है। विश्व में नित्य-प्रति होने वाले सुख और दुःख के

कोलाहल, जन्म और मृत्यु के दारुण दृश्य, अमीरी और ग़रीबी के भीषण चक्र तथा हँसी और हाहाकार की मर्मभेदी घटनाओं के प्रति उसकी कविता की प्रत्येक में पंक्ति गहरी मर्म-वेदना के उच्छ्वास छूटते रहते हैं। वह जगत् को इस अ-सुन्दर स्थान से हटाकर कल्पना के सुन्दर राज्य में रख देना चाहता है। यही कविता का वास्तविक उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त जिस स्वरूप की अवतारणा होती है वही कविता का वास्तविक स्वरूप है।

कविता देश और काल के प्रभाव से अबाधित रहती है। उसके बाहरी स्वरूप पर देश और काल का अव प्रभावश्य पड़ता है, पर उसका अन्तर्जगत् इन बन्धनों से बिलकुल मुक्त रहता है। भिन्न-भिन्न देशों के महा-कवियों ने जिन भिन्न-भिन्न पात्रों की अवतारणा की है उनका बाहरी रूप कदापि एक नहीं हो सकता। शेक्सपियर की मिराण्डा कालिदास की शकुन्तला नहीं हो सकती और न भवभूति की सीता होमर की हेलेन हो सकती है। इसी प्रकार काल-भेद के अनुसार वाल्मीकि की सीता और तुलसीदास की सीता में भी गहरा भेद हो गया है। फिर भी यह निश्चय है कि मानवीय प्रकृति और विश्व-समस्या का जो निश्चय वाल्मीकि ने अपनी सीता के द्वारा और कालिदास ने अपनी शकुन्तला के द्वारा किया है वही होमर ने हेलेन के द्वारा और शेक्सपियर ने मिराण्डा के द्वारा किया है। सभी ने अपनी-अपनी कृतियों को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है और उस स्थान पर जाकर, जहां पर देश और काल के बन्धन नहीं हैं, सभी एकाकार हो गये हैं। अस्तु।

कविता के रूप दो प्रकार के होते हैं। कुछ कवितायें ऐसी होती हैं जिनका सम्बन्ध कवि के व्यक्तित्व से अधिक रहता है। प्रत्येक काल और प्रत्येक परिस्थिति में ये कवि की ही सम्पत्ति रहती हैं। ऐसी कविताओं में कवि अपनी प्रतिभा और निजी अनुभवों के द्वारा मानव-जाति के गूढ़ भावों को अभिव्यक्त कर देता है। पर कुछ कवितायें ऐसी भी होती हैं, जिनमें विश्वात्मा संचरण करती हैं। इस प्रकार की कवितायें बहुत ही ऊँची श्रेणी की होती हैं। इस प्रकार की कविता करने वाले कवि विश्व-कवि कहलाते हैं। वाल्मीकि, व्यास, होमर और वर्जिल इसी श्रेणी के कवि हैं।

हिन्दी कविता

ऊपर हम कविता की उत्पत्ति, स्वरूप और विकास का संक्षिप्त में निरूपण कर आये हैं। अब हमें इसी कसौटी पर हिन्दी कविता के इतिहास को परख कर देखना है। हमें देखना है कि हिन्दी कविता का भूत-कालीन आदर्श क्या रहा है एवं वर्तमान में उसका क्या स्वरूप है, तथा इन दोनों आदर्शों में गुण-दोष क्या हैं? इन बातों का निश्चय करने के पश्चात् ही हम उसके भावी आदर्श को निश्चित करने में सफल हो सकेंगे।

यदि हम साधारणतया हिन्दी कविता के प्राचीन और नवीन आदर्शों के विभाग करना चाहें तो हम उसको छः विभागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) वीर-भावना प्रधान, (२) अध्यात्म-भावना प्रधान, (३) भक्ति-रस प्रधान, (४) शृंगार-रस प्रधान, (५) दैशिक-भावना प्रधान और (६) जातीय भावना प्रधान। इनमें से प्रथम चार प्राचीन और अन्तिम दो अर्वाचीन हैं।

वीर-रस-प्रधान कविताओं में चन्द का (कई लोगों के मतानुसार आगे जाकर भूषण का भी) आसन ऊँचा है। अध्यात्म-प्रधान कविताओं में कबीर साहब की तूती बोलती है। भक्ति-रस प्रधान कविताओं में सूर और तुलसी का बोल-बाला है। इसी प्रकार शृंगार-प्रधान काल पर देव और विहारी का साम्राज्य है।

मतलब यह कि हिन्दी भाषा का काल शुरू से अन्त तक एक निश्चित मर्यादा के बन्धन में बँधा हुआ रहा है। उसका क्षेत्र एक निश्चित आदर्श की परिधि में परिमित रहा है। इसका फल यह हुआ कि इसमें प्रतिभा और महा-प्रतिभा-सम्पन्न कवि तो अनेक हुए, पर विश्व-कवि शायद एक भी न हो सका। इसमें सन्देह नहीं कि यदि काव्य का एक निश्चित आदर्श इन लोगों के सन्मुख न होता तो इनमें से बहुतों का नाम विश्व-कवियों की श्रेणी में लिखा जाता। संस्कृत में भी समय समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्यादर्श निश्चित रहे हैं, पर उसमें कई कवि ऐसे हुए हैं, जिन्होंने उस आदर्श की तनिक भी चिन्ता नहीं की। उन्होंने स्वयं काव्य के नवीन आदर्श की सृष्टि कर डाली। काव्य का निश्चित आदर्श उनकी

स्वाभाविकता में रत्तीमात्र विघ्न न डाल सका। वे अपनी उज्वल प्रतिभा के बल से आदर्श धोरण की मर्यादा को लांघ कर विश्व-कवियों में सम्मिलित हो ही गये। वाल्मीकि और व्यास तथा कालिदास इसी श्रेणी के कवि हैं।

अब हम बहुत संक्षेप में यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी काव्यों के अन्तर्गत यह रुचि-परिवर्तन क्रमशः कैसे और क्यों हुआ ?

ऐसा मालूम होता है कि तेरहवीं शताब्दि में भारत के क्षत्रिय समुदाय में वीरता के साथ-साथ विलासिता की विषमय भावनाओं का प्राबल्य होने लग गया था। पृथ्वीराज के व्यक्तिगत चरित्र के विषय में जो किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे हमारे इस अनुमान की सहज ही पुष्टि होती है। विलासिता के प्राबल्य से वीरत्व में शैथिल्य आने लग गया था और वह दुर्दान्त घड़ी शीघ्र ही आने वाली थी, जिसमें हिन्दू-समाज का क़िला तीन-तेरह होने वाला था। कवि तो हमेशा भविष्य-दर्शी होता है। चन्द को भी यह भविष्य हाहाकार करता हुआ दिखलाई दे रहा था। वह इस अनिवार्य्य पतन को अनुभव कर रहा था, फिर भी उसने स्वाभाविक रूप से उस अनिवार्य्य घड़ी को पीछे हटाने का शक्ति भर प्रयत्न किया। उसने काव्य के द्वारा समाज में वीर-रस का प्रचार करने की खूब चेष्टा की। उसकी भाषा से और उसके भावों से सहज ही वीर रस का संचार हो आता है। फिर भी उसके काव्य में आनन्द मय भूत, क्रान्तिमय वर्त्तमान और निराशामय भविष्य के प्रति डाले हुए शीत उच्छ्वास स्थान स्थान पर देखने को मिलते हैं। निराशामय भविष्य को देख कर कवि रोया है—जी भर कर रोया है, और अन्त में थक कर वैरागी बन गया है। उसके इस संयम और वैराग्य में, करुणा और शांत-रस के सोते बह गये हैं। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि चन्द कवि इतने बढ़कर भी आदर्श की मर्यादा से बाहर नहीं आ सके हैं। यदि वे वास्तविक विश्व-कवि होते, तो जिस प्रकार बाल्मीकि रामचन्द्र को राह पर ले आये थे उसी प्रकार वे भी गुमराह पृथ्वीराज को अपनी राह पर ले आते। और समाज के आदर्श को ही बदल देते। और यह काम स्वाभाविक रूप से होता रहता। पर चन्द कोशीश करके भी पृथ्वीराज को नहीं पलट सके और उनके द्वारा समाज का आदर्श एक रंच भी इधर से उधर नहीं हुआ। प्रत्युत वे स्वयं ही शुरू से अन्त तक पृथ्वीराज और समाज के आदर्श से दबे हुए मालूम होते हैं। उन्होंने अपनी कविता में कमाल ज़रूर दिखलाया है, फिर भी शायद कोई यह नहीं कह सकता कि वह विश्व-कवि थे।

मतलब यह कि चन्द बरदाई आदि के काव्यों ने समाज के वीर-रस को कुछ उत्तेजना चाहे दी हो, पर पतन के रास्ते पर जाती हुई समाज की गति को वे न रोक सके। उनकी कविताओं के रहते हुए भी क्षत्रिय-समाज की गति पतन के मार्ग पर बढ़ती ही गई।

इधर तो यह हो रहा था, उधर भारत के धर्माचार्य जनता को बलात् ऐहिक जगत् से खींचकर पारलौकिक जगत् की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। अप्रत्यक्ष को प्राधान्य देकर वे प्रत्यक्ष का स्पष्ट अपमान करते थे। फल यह हुआ कि अप्रत्यक्ष के फेर में पड़ कर मनुष्य-समाज अपने ऐहिक कर्त्तव्यों से उदासीन होकर अकर्मण्य और आलसी हो गया था।

इस दुर्बल स्थिति के विरुद्ध वल्लभाचार्य्य ने एक बहुत बड़ा आन्दोलन मचाया। इस आन्दोलन की विशेषता का उल्लेख करते हुए एक लेखक लिखते हैं कि इस धार्मिक आन्दोलन की विशेषता यह थी कि प्रकृति का ध्वंस न करके उसकी अभिव्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर ले जाना चाहिए। स्वभाव की उपेक्षा करके किसी अचिन्तनीय मानवी आदर्श के अनुसन्धान में व्यग्र रहने से उसका विपरीत ही प्रतिफल होता है। विषय को छोड़कर विषयी को पकड़ने की चेष्टा करना, मनुष्य को छोड़ कर मनुष्यत्व का पीछा करना, और इन्द्रियों को छोड़कर रस ग्रहण करना विडम्बना-मात्र है। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारत के धर्माचार्यों ने जिन पारलौकिक बन्धनों से लोगों को बाँध रक्खा था वे शिथिल हो गये।

इस शिथिलता को दूर कर आध्यात्मिक भावनाओं को केन्द्रीभूत करने के लिए आध्यात्म काल का जन्म हुआ। इस काल में बहुत से अच्छे अच्छे कवि हुए, पर इन सबमें प्राधान्य कबीर साहब का ही है। उनके शब्दों में जादू और भावों में बिजली दौड़ती है। उनकी कवितायें, सुनने वाले की हृदय-

तंत्री को झनझना देती है। सबसे बड़ी विशेषता उनमें यह है कि कल्पना के जगत् में रमण करते हुए भी वह सत्य और प्रामाणिकता से कहीं भी अधिक दूर नहीं हुए हैं। हमारे खयाल से वह विश्वास-युग के नहीं प्रत्युत् बुद्धि-युग के कवि थे। संसार के इतिहास में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। उन्होंने विज्ञान के साथ कवित्व को मिला देने का बड़ा ही स्तुत्य प्रयत्न किया था। पर खण्डन-मंडन के झगड़ों में पड़कर वह दार्शनिक विभाग में अधिक बढ़ गये थे। सच पूछा जाय तो वह कबीर साहब कवि की अपेक्षा दार्शनिक ही अधिक थे। वह जन्म से विचारक होकर ही पैदा हुए थे; कवि होकर नहीं। हाँ, उन्होंने अपने दर्शन-सिद्धांतों को अधिक मधुर करने के लिए अपनी प्रतिभा के बल से कवित्व-शक्ति भी प्राप्त कर ली थी, वह चाहते तो इसमें बिलकुल स्वाभाविक रूप से मिल भी जाते पर उन्हें ऐसा करना शायद इष्ट न था; क्योंकि ऐसा करने में अपने सामयिक दर्शन—सिद्धान्तों से दूर चले जाने की उन्हें आशंका रही होगी। यही कारण है कि विश्व-दार्शनिकों में तो उन्होंने अपना आसन बना लिया पर विश्वकवियों में शायद वह न बना सके।

चन्द्रराज भंडारी,

बनावटी नाम

एक मित्र लिखते हैं कि "इधर कई दिनों से हिंदी-समाचारपत्रों में लेखक का बनावटी नाम देने की प्रथा ज़ोरों से चल पड़ी है। पत्र-सम्पादक के सिवा और कोई उनके नाम से परिचित नहीं रहता। चाहे पत्र राजनैतिक हों, धार्मिक हों, या सामाजिक हों। इनमें से एक भी इन गुमनाम लेखकों की कृतियों से अछूता नहीं रहता। इस घातक नीति के विरुद्ध अभी तक लेखकों ने कोई लेख नहीं लिखे। आशा है, आप इस विषय पर एक उत्तम युक्ति—युक्त लेख लिख कर उसपर पर्याप्त प्रकाश डालेंगे।"

इस प्रश्न पर हमें मराठी-साहित्य-संसार के प्रसिद्ध विद्वान् और विचारक श्री श्रीपादकृष्ण कोल्हटकर-लिखित एक साहित्यिक उपन्यास के संवाद की याद हो आई। उपर्युक्त प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर उस संवाद में पाठकों को मिल सकेगा। हाँ उसकी प्रस्तावना स्वरूप, चार शब्द लिख देना ज़रूरी है।

श्रीयुत हरिहरराव नासिक से प्रकाशित होने वाले "प्रकाश" नामक साप्ताहिक सामाजिक पत्र के एक युवक, सिद्धहस्त, सफल और तेजस्वी सम्पादक थे। "प्रकाश" द्वारा उनकी कीर्ति-कौमुदी सारे महाराष्ट्र में व्याप्त हो रही थी। लोगों को हरिहरराव के लेखों और टिप्पणियों से एक अभूतपूर्व आनंद मिलता था। प्रति सप्ताह आबाल—वृद्ध, शिक्षित-समुदाय उनके 'प्रकाश' की राह बड़ी उत्सुकता से देखा करता था।

उनके पास सम्पादनकला का अध्ययन करने के लिए एक ऊँची शिक्षा पाई हुई कुमारिका आई। कुछ दिन के अध्ययन के बाद इस कुमारिका ने 'हमारा प्यारा जयंत" नामक एक कविता की रचना करके संपादक महाशय को दिखाई। उस कविता का परीक्षण करते हुए सम्पादक महाशय ने काव्य और कविता का बड़ा सुन्दर विवेचन किया। उसे भी हम कभी पाठकों की सेवा में उपस्थित करेंगे। परन्तु यहाँ प्रश्न तो यह था कि कविता किसके नाम से प्रकाशित की जाय। लेखिका का यह पहला ही प्रयत्न था। संपादक महाशय ने सुझाया कि वह किसी उपनाम से कविता छपा सकती है। इस स्थान पर उपनाम के प्रयोग की आलोचना करते हुए उन दोनों का जो संवाद हुआ वह इस प्रकार है। इस संवाद में "कौंतेय' उपनाम धारी एक विख्यात लेखक का भी ज़िक्र आया है। संपादक महाशय इनसे कुछ चिढ़े हुए थे। उसका कारण हम नहीं बतावेंगे। संवाद यों है:—

श्री हरिहर राव ने कहा—"मनुष्य स्वभाव में यह कैसी विचित्र बात है कि बिना नाम वाला खानगी पत्र पाकर तो लोग उसके अज्ञात लेखक से घृणा करने लगते हैं, परंतु वे ही दूसरी ओर के किसी कल्पित झूठे-नाम से अपने लेख प्रकाशित कराने वाले लेखक (संपादकजी का लक्ष कौंतेय की ओर था) को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

शिष्या ने कहा—"जो बात 'कौंतेय' के लेखों के लिए मानी जाती है क्या वही मेरी कविता के संबंध में घटित नहीं होती? तब तो मुझे भी बनावटी नाम से कोई लेख नहीं लिखना चाहिए।"

"तुम्हारी गणना अभी नवीन लेखकों में है। तुम्हारे कल्पित नाम की जड़ में आत्म-विश्वास का अभाव और यह

डर है कि रसज्ञ जनता मेरी कृति का किस तरह स्वागत करेगी। पर लगातार दस वर्षों तक लोक-प्रियता का मन-माना रस पान करने वाले वृद्धकवि को भी कहीं मुग्धा बाला की सी भीरुता और सङ्कोच शोभा देता है?"

"परंतु इस गोपनवृत्ति की जड़ में तो दोनों कारण हो सकते हैं न—लज्जाशीलता भी और लोकप्रियता अथवा आत्म प्रसिद्धि से विरक्ति भी?"

"हां तो, क्या कहना है उनकी विरक्ति का? बड़े साधु पुरुष ही तो ठहरे! इतने लंबे समय तक अपने रहस्य का दक्षतापूर्वक रक्षण करने में मुझे तो सिवा स्वार्थीपन के और कोई उनका तो हेतु दिखाई नहीं देता।

"नहीं यह तो बिलकुल ग़लत है। इसमें उन बिचारे का भला क्या स्वार्थ साधन होगा?"

"तुम्हें अभी लेखन-व्यवसाय का अनुभव नहीं है. इसी कारण तुम ऐसी बातें कर रहे हो। इन पर्दानशीन लेखकों को उनकी इस गुप्तता से कई लाभ होते हैं। प्रत्येक लेखक को उसके लेख के कारण एक प्रकार के बंधन में बँधना पड़ता है। एक लेख में लिखे आशय के विरुद्ध वह दूसरे लेख अपने नाम से नहीं लिख सकता। न अपने मुँह से उसके विरुद्ध कुछ कह ही सकता है। लेखक अपने लेख में प्रतिपादित तत्वों के प्रतिकूल आचरण भी नहीं कर सकता। लेकिन कल्पित नाम से लिखने वाला लेखक अपने असली और बनावटी नाम के कारण संसार की दृष्टि में दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के रूप में घूमा करता है। अतः एक नाम से लिखे गये उद्गारों और लेखों द्वारा किये गये आचरण पर दूसरे नाम से प्रकाशित होने वाले उद्गार, लेख और आचरण, द्वारा किसी तरह का नियंत्रण नहीं बैठता। सच्चे नाम से जिस बात का वह लेख या व्याख्यान आदि के द्वारा मंडन करता है, कल्पित नाम से वह उसी का खंडन खुशी-खुशी कर सकता है। कल्पित नाम की ओट में जिन उदात्त तत्वों का वह प्रतिपादन करे प्रकट नाम से उन्हीं के विरुद्ध व्यवहार करने में उसे कोई हिचकिचाहट नहीं होती। एक लेख में वह बनावटी नाम से दहेज की कुप्रथा का तीव्र विरोध कर सकता है? तो दूसरे या असली नाम से उसी कुप्रथा का समर्थन करने वाला लेख भी लिख सकता है! यही नहीं, बल्कि खुलेआम दहेज़ पाने के लिए हाथ पसारते हुए भी वह नहीं लजाता। इसी प्रकार एक ओर बनावटी नाम की ओट में सरकार के कार्यों की तीव्र आलोचना करना और दूसरी ओर सच्चे नाम से उसी सरकार का गुण गान करके एकाध पदवी प्राप्त कर लेना उसके लिए कोई कठिन या अशक्य बात नहीं है। मामूली लेखक पर अपने लेखन, भाषण और आचरण में एकता बनाये रखने को जो ज़िम्मेदारी रहती है वह कल्पित नाम के लेखक पर नहीं होती; यही ऐसे लेखक को होने वाला पहला लाभ है। पहले प्रकार के लेखक को समालोचकों से सदा भयभीत रहना पड़ता है, किन्तु दूसरे प्रकार के लेखक को इस तरह का कोई डर नहीं रहता। यह दूसरा लाभ है। वह कल्पित नाम की ओट से अपने शत्रु पर चाहे जैसे तीव्र आक्षेप कर सकता है, परन्तु उनके बदले में उसे अपने सच्चे नाम पर कलंक लगने के खतरे में पड़ने का कोई डर नहीं रहता। वह दूसरों के नाम पर जितनी चाहे कालिमा लगा सकता है, पर अपने व्यक्तित्व को ऐसे खतरे में डालने से कायर की तरह डरता रहता है। अतः ऐसा लेखक अपनी ज़िम्मेदारी के बारे में ज़रूरत से ज़्यादा लापरवाह रहने लगता है और दूसरों की इज़्ज़त को फुटबॉल के समान जब चाहे तब मनमाने तौर पर ठुकराता रहता है—उसकी मनमानी खबर लेता रहता है। कई देशों में तो इसी कारण ऐसा कानून भी बना दिया गया है कि कोई कल्पित या बनावटी नामों से लेख वगैरा न लिखे।

"इन चोर लेखकों को अपनी इस चोरी से एक और लाभ होता है। अरेबियन नाइट्स (आरब्योपन्यास) के हारूँनलरशीद खलीफ़ा को खुफ़िया तौर पर घूमते हुए अपने विषय में रिआया का सच्चा मत सुनने को मिल जाता था। इसी प्रकार इन लेखकों को भी निःसंकोच हो दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने का सुख-सौभाग्य भी प्राप्त होता है। इस तरह की प्रशंसा उनके सामने होती है तो भी वह अप्रत्यक्ष प्रशंसा ही समझी जाती है। चोरी से सुनने वाला मनुष्य साधारणतया अपनी निंदा ही सुनता है। ये गुप्त लेखक इस नियम के अपवाद होते हैं। अगर वे अपने असली नाम से लेख वगैरा लिखते तो उनके आसपास खुशामदी टट्टुओं का जमघट

जमने लगता और आत्म-स्तुति को सुनते-सुनते उनके कान ऊब जाते। परन्तु इस स्तुति के असली महत्त्व को वे जानते हैं। इसलिए इससे उन्हें रंचमात्र भी सुख नहीं मिलता। इसके विपरीत बनावटी नाम की ओट में बैठे-बैठे जब वे अपने किसी विनोदी लेख पर पाठक को ज़रासा मुसकराते हुए पाते हैं अथवा किसी करुण-रसात्मक लेख को पढ़ते समय पाठकों की आँखों से एकाध आँसू टपकता हुआ देख लेते हैं तो उसमे उन्हें ठकुर-सुहाती बातें करने वालों के हर्ष और शोक के प्रचंड आवेगों को देखने की अपेक्षा सौगुना अधिक आनन्द होता है। इस तरह अपने असली नाम से लेख लिखने वाले को तो कीर्ति-जनित कष्ट और असुविधायें उठानी पड़ती हैं, परन्तु इन बनावटी नाम वालों को तो केवल आनन्द ही आनन्द मिलता है। कल्पित नाम की ओट में छिपने वाले लेखकों के लेखों को उनकी गुप्तता के कारण आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाने लगता है—यह चौथा लाभ है। जो बात प्रकट में उपेक्षणीय प्रतीत होती है वही किसी रहस्य से सम्बन्धित होने पर लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित करती है। एक उदाहरण लीजिए। एक युवती लज्जावश अपना मुँह फेर कर एक तरफ़ खड़ी हो जाती है। वह कैसी मनोहर मालूम होती है? परन्तु जब वह बुर्क़ा ओढ़ लेती है, तब तो उसकी आकर्षकता बेहद बढ़ जाती है। मुँह खोलकर राह से जाने वाली सुन्दरी की अपेक्षा पर्दानशीन रमणी की ओर लोगों की आँखें शतधा अधिक कुतूहल के साथ आकर्षित होती हैं। यही नहीं, बुर्क़े वाली का बदसूरत चेहरा भी उन्हें खुले सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक सुन्दर मालूम देता है। वास्तविक सौन्दर्य कितना ही मनोरम और उज्ज्वल क्यों न हो, वह काल्पनिक सौन्दर्य की बराबरी कभी नहीं कर सकता। बुर्क़ा अवगुंठित आनन को छिपाते हुए भी उसके तेज से प्रेक्षकों की आँखों मे चकाचौंध पैदा कर देता है। इसका कारण प्रेक्षकों की कल्पकता है। वे अपने कल्पना-निर्मित चित्र का आरोप बुर्क़े के अंधेरे में छिपे हुए मुख पर करते हैं। यही हालत उन लेखकों की होती है, जो बनावटी नामों की ओट में छिपे बैठे रहते हैं। जो लेख रद्दी की टोकरी में फेंकने के लायक़ होते हैं वे बनावटी नाम के कारण पाठकों की नज़र में महत्त्व के जँचने लगते हैं। केवल पाठकों की जिज्ञासा द्वारा योग्यता का मुलम्मा चढ़ाये गये इन महत्त्वशून्य लेखों का कर्त्ता कौन है, इस बात की खोज करने में कई पाठक प्रवृत्त हो जाते हैं। इस प्रयत्न में यह लोग जितने असफल होते हैं इनकी दृष्टि में ऐसे नकली लेखक का महत्त्व उतना ही अधिक बढ़ जाता है।

लोग नहीं सोचते कि बुर्क़ा ओढ़ने वाली व्यक्ति ने अपने मुँह को क्यों छिपा रक्खा है,—लोगों की नज़र न लग जाय, इसलिए या उनकी बदसूरती को देखकर उन्हें घृणा न हो इसलिए? बनावटी नाम धारण करने वालों का भी यही हाल है। पाठक यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि लेखक ने अपने महत्त्व को बढ़ाने के लिए ऐसा नाम धारण कर रक्खा है या उसे छिपाने के लिए।"

"कलाकान्त"

रे पुजारी!

तू इसी लिए अपने शरीर की शुद्धि करता है न, कि तू उस पवित्रतम की पूजा करना चाहता है! और इसी लिए ऊनी और रेशमी वस्त्र धारण करता है न, कि तेरे पास अपवित्रता फटकने न पावे! परन्तु मन की शुद्धि के लिए तूने क्या उपाय किया है? कुछ याद है?

तू ये ताम्रपात्र और चाँदी के पात्र उसकी पूजा के लिए ही सँजो रहा है न! परन्तु, रे ढोंगी! जितना तू बाह्य-शुद्धि का ध्यान रखता है, उसका शतांश भी आन्तरिक शुद्धि के लिए नहीं रखता। क्या तू हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि पूजा-पात्र माँजने के पहले तूने अपने मन को भी माँज लिया है?

ख़बरदार! उस जल को स्पर्श मत करना। वह जल पवित्र है, निर्मल है, शुद्ध है और सुगन्धित है। उसकी पूजा के सर्वथा योग्य है। परन्तु तूने उसे छुआ नहीं कि वह अपवित्र हुआ। जा, पहले अपनी शुद्धि कर, फिर इसे छूना।

पाखंडी! चंदन घिसकर क्या करेगा? तेरा यह गंध उसे स्वीकार नहीं है। तूने उसे गंदा कर दिया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, कपट, छल, दम्भ आदि गंदे

पदार्थों की दूषित वायु से छू जाने के कारण यह अब उसके काम का नहीं रहा ।

क्या तू उसका आह्वान करेगा ? पागल है, मूर्ख है, पहले किसी एक साधारण महाराजा ही को अपने घर बुलाकर देख ! कितनी तैयारी करनी पड़ेगी । उसके योग्य स्थान बनाना पड़ेगा । उसको बुलाने के लिए कई दिन पहले रात दिन तैयारियों में लगना होगा । तो क्या तू उस अखिल ब्रह्मांड के निर्माता जगदीश्वर का आह्वान करने में भूल नहीं कर रहा है ? क्या उसके लिए स्थान साफ़-सुथरा है ?

क्या तू उसे अपने हृदय-सिंहासन पर बिठाना चाहता है ? तो क्या वहाँ की तू शुद्धि कर चुका ? देख, कहीं कोई तेरा दुश्मन वहाँ न बैठा हो, नहीं तो वह उस जगह को गंदी बना देगा । तू अपने काम, क्रोधादि छः शत्रुओं को तो जानता है न ? एक भी अन्दर रह गया कि बस, तू पछताता ही रह जावेगा ।

वह देख, उसके अनंत सिर, अनंत हाथ अनन्त उरस्थल, और अनन्त चरण हैं । जा, छू ले ! यदि पवित्र है तो स्पर्श कर ! दौड़, नहीं तो पछतावेगा ! वे जाते हैं ! उस विराट् के चरण तेरे आगे हैं, फिर—"किं कर्त्तव्य विमूढ़" की भाँति खड़ा किसका मुँह ताकता है ?

क्या "पद्भ्याम् शूद्रोऽभजायत" को भूलता है ? क्या यह श्रुति केवल बोलने के लिए ही है ? मूर्ख ! ढोंगी ! पाखण्डी ! तदनुकूल आचरण क्यों नहीं करता ? अब चरण छूने में क्यों झिझकता है ? पकड़ ले, मत छोड़ ! अगर यह समय गँवा दिया तो तुमसा मूर्ख और पाखण्डी पुजारी दूसरा कोई न होगा ।

गणेशदत्त शर्मा

"यदि तुम सर्वज्ञ परमेश्वर के श्रीचरणों की पूजा नहीं करते हो, तो तुम्हारी यह सारी विद्वत्ता किस काम की ?

जो मनुष्य, हृदय-कमल के अधिवासी श्रीभगवान् के पवित्र चरणों की शरण लेता है, वह संसार में बहुत समय तक जीवित रहेगा ।

धन्य है वह मनुष्य, जो आदि पुरुष के पादारविन्द में रत रहता है—जो न किसी से प्रेम करता है, और न घृणा । उसे कभी कोई दुःख नहीं होता ।

देखो, जो मनुष्य प्रभु के गुणों का उत्साह-पूर्वक गान करते हैं, उन्हें अपने भले-बुरे कर्मों का दुःखप्रद फल नहीं भोगना पड़ता ।

जो लोग उस परमजितेन्द्रिय पुरुष के दिखाये धर्म-मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे दीर्घजीवी होंगे ।

केवल वही लोग दुःखों से बच सकते हैं, जो उस अद्वितीय पुरुष की शरण में आते हैं ।

धन-वैभव और इन्द्रिय सुख के तूफ़ानी समुद्र को वही पार कर सकते हैं कि जो उस धर्म-सिन्धु मुनीश्वर के चरणों में लीन रहते हैं ।

जो मनुष्य अष्ट गुणों से अभिभूत परब्रह्म के चरण कमलों में सिर नहीं झुकाता, वह उस इन्द्रिय के समान है, जिस में अपने गुण को ग्रहण करने की शक्ति नहीं है ।

जन्म-मरण के समुद्र को वही पार कर सकते हैं कि जो प्रभु के श्रीचरणों की शरण में आ जाते हैं, दूसरे लोग उससे तर ही नहीं सकते ।"

—ऋषि तिरुवल्लुवर
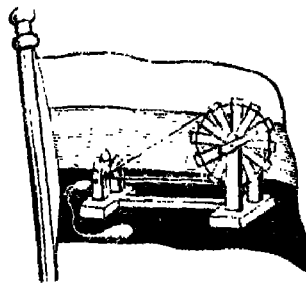
पहला सुख

तम्बाकू

सन् १४९२ के नवम्बर महीने में कोलम्बस ने क्यूबा द्वीप की तलाश में अपने दो मल्लाह भेजे। उन लोगों ने वापस आकर उसे कई आश्चर्यजनक बातें सुनाईं उन आश्चर्यजनक बातों में से तम्बाकू का व्यवहार भी एक था। उन लोगों ने कोलम्बस से कहा—'क्यूबा के जंगली मनुष्य कुछ पत्ते इकट्ठे करके मरोड़ते हैं और मरोड़े हुए पत्तों का एक सिरा मुँह में रखते हैं तथा दूसरे सिरे पर आग लगा कर नाक और मुँह से धुँआ छोड़ते हैं!' तम्बाकू के इस्तैमाल का यह पहला दृश्य था, जिसे सभ्य जाति ने देखा।

तम्बाकू का व्यवहार असभ्य जातियों से पहलेपहल अमेरिका के यूरोपियन यात्रियों ने सीखा फिर इसका प्रचार यूरोप में हुआ। जहांगीर के समय में यूरोपवासियों से इसका व्यवहार भारतीयों ने सीखा।

ऐसा जान पड़ता है कि सन् १४९४ में कोलम्बस ने अमेरिका के जंगलियों को तम्बाकू सूंघते भी देखा था। रूस के पेन नामक एक फ़क़ीर ने, जो कोलम्बस के साथ था, लिखा है—'ये पत्तियों का चूर्ण करते और सूराख़दार लकड़ी के द्वारा उसे सांस के साथ खींचते हैं। लकड़ी का सिरा नाक के भीतर और दूसरा चूर्ण पर रखते हैं।"

सन् १५०३ में जब स्पेन वाले पारागाय के तट पर उतरे तब वहा के निवासी उनका सामना करने के लिए ढोल बजाने, पानी फेंकने, पत्तियाँ चबाने, पत्तियों का पीक स्पेन वालों पर फेंकने लगे। ये पत्तियां तम्बाकू की थी। तम्बाकू चबाने से उनका यह उद्देश्य था कि उसका ज़हरीला रस आगन्तुकों को अन्धा कर दे। आरंभ में लोग विपक्षियों का नाश करने के लिए तम्बाकू खाते और बारूद की तरह उसका उपयोग करते थे।

पाठक! यदि आप तम्बाकू खाते-पीते या सूंघते हैं तो खाने, पीने या सूंघने के पहले थोड़े ठहर जाइये और विचारिये कि जिसे जंगली असभ्य लोग तक घातक पदार्थ समझते थे उससे हमारा क्या भला हो सकता है?

तम्बाकू में नाकटाइन नामक ज़हर होता है जो सूखी पत्तियों को भट्टी पर चढ़ा कर निकाला जा सकता है। आधा सेर तम्बाकू का ज़हर ३०० आदमियों को मार डालने के लिए काफ़ी होता है। एक सिगार का विष यदि एक बार ही पिया जाय तो दो मनुष्यों के प्राण लेने के लिए काफ़ी है। एक बूँद नाकटाइन सारे कमरे की वायु को दूषित कर देगा। तम्बाकू से जीवहत्या के लिए एक प्रकार का विष तैयार किया जा सकता है। साठ वर्ष से ऊपर हुए काउन्ट वोकर ने अपने साले की हत्या करने के लिए तम्बाकू का तेल इस्तेमाल किया था।

तम्बाकू का विष इतना तेज़ होता है कि त्वचा के ऊपर गीली पत्तियों का लेप लगाने से ही भयानक लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। यदि सिगार खोल डाला जाय और उसकी पत्तियों का पेट पर लेप किया जाय तो जी मचलाने लगेगा। कै करने के लिए यह तरकीब निकाली गई थी। डरपोक सिपाही बीमार बनने की गरज़ से अपनी बाँह के नीचे तम्बाकू की पत्तियां दबाए हुए पाये गए हैं। जिस चीज़ का ऊपरी लेप इतना भयानक है उस चीज का धुँआ या रस कैसा विषैला होगा यह आप खुद समझ सकते हैं। तम्बाकू के धुँए में नाकटाइन के अतिरिक्त प्रूसिक ऐसिड् कारबोनिक ऐसिड आदि अन्य विष भी पाये जाते हैं।

उड़ने वाला विष सांस के द्वारा शरीर में जितनी जल्दी प्रवेश कर सकता है उतनी जल्दी और किसी रास्ते से नहीं। कारण यह है कि फेफड़ों के आस-पास एक ऐसी कोमल त्वचा (mucous membrane) होती है जो गैसों

(gases) को जल्दी जल्दी ग्रहण करती रहती है। प्रत्येक तीसरे मिनट शरीर का रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में आता है। इससे फेफड़ों की उस कोमल त्वचा में तम्बाकू का विष पहुँचते ही वह रक्त में मिल कर तीन मिनट के भीतर ही सारे शरीर को विषैला कर देता है। खाने और सूंघने के समय जब तम्बाकू का सम्पर्क उस कोमल त्वचा (mucous membrane) के साथ होता है तब उसके विषमय द्रव्य का शोषण मामूली त्वचा पर किये गये लेप से भी अधिक जल्दी होने लगता है।

कमरे के फ़र्श पर एक बूंद नाकटाइन गिरा देना कमरे की समस्त वायु को विषमय कर देने के लिए काफ़ी है। तम्बाकू पीने से, केवल पीने वाले का ही स्वास्थ्य नहीं बिगड़ता वरन् पास बैठे हुए लोगों के स्वास्थ्य को भी उससे धक्का पहुँचता है। क्योंकि तम्बाकू का ज़हरीला धुँआ हवा में मिलकर उनके शरीर में भी पहुँचता रहता है।

पहले-पहल तम्बाकू खाने से जी मचलाने लगता और सिर में चक्कर आने लगते हैं। तम्बाकू के ज़हरीलेपन का यह एक अच्छा सबूत है। शरीर में तम्बाकू का विष अधिक मात्रा में पहुँच जाने से जी मचलाने लगता है, दस्त आते हैं, शरीर में पीलापन दौड़ जाता है, आँखें निकल आती है, शरीर शिथिल हो जाता है, हृदय उचित रीति से काम नहीं करता और सांस लेने में बाधा होती हैं। जो लोग तम्बाकू के आदी नहीं हैं उनपर कम मात्रा में ही ये प्रभाव दिखाई पड़ेंगे।

अभी तक किसी ने तम्बाकू पीना सीखते हुए लड़के के हृदय को चीर कर परीक्षा नहीं की है, परन्तु छोटे जीवों के शरीरों में यन्त्रों द्वारा तम्बाकू पहुंचा कर उनकी परीक्षा की गई है। परीक्षा में मस्तिष्क पीला और रक्त-शून्य पाया गया, आमाशय में उभरे हुए लाल धब्बे हो रहे थे, रक्त बहुत पतला था, और फेफड़े पीले पड़ गये थे। दिल में रक्त जमा हो गया था और वह बहुत ही धीरे-धीरे काम कर रहा था, और कमज़ोरी से कांप रहा था। जिन बालकों की शरीर-वृद्धि हो रही हो। तम्बाकू सिगरेट या सिगार पीना उनके लिए बहुत ही हानिप्रद है। तम्बाकू पीने वाले लड़के ठिंगने रह जाते हैं तथा उनका शरीर विकास को प्राप्त नहीं होता।

बहुधा यह आपत्ति की जाती है कि यदि तम्बाकू ऐसा ही प्रबल विष है तो उसका व्यवहार करने वाले सभी मनुष्य मर क्यों नहीं जाते? इसका उत्तर यह है कि एक तो शरीर में ऐसा गुण है कि वह परिस्थिति के अनुकूल बन जाता है। इस कारण वह बड़े भयानक विष भी बरदाश्त कर सकता है। दूसरे, तम्बाकू का व्यवहार थोड़ी मात्रा में किया जाता है। वस्तुतः तम्बाकू खाने वाले तम्बाकू के ही विष से मरते हैं; हाँ, विष को अपना पूरा प्रभाव दिखाने में थोड़ा समय ज़रूर लगता है। (अपूर्ण)

श्रीनिवास शर्मा

पौष्टिक भोजन के ज़रूरी तत्त्व

पौष्टिक भोजन के बारे में अभी तक बड़े-बड़े डाक्टरों और वैज्ञानिकों में मत-भेद बना हुआ है। आजकल विटामिन का खुराक में रहना ज़रूरी बतलाने वाले विद्वानों का दल ज़ोरदार हो रहा है। 'विटामिन' हमारे खाने की चीज़ों में रहने वाला एक ऐसा तत्व है, जिसे बिजली की धारा के समान हम अपनी आँखों से देख नहीं सकते। मशीनों द्वारा एकदम साफ़ किये हुए चावल को पकाकर खाने से एक तरह का 'बेरी-बेरी' नामक रोग होता है, यह बात तो हर तरह से सत्य सिद्ध हो चुकी है। अगर आदमी के शरीर में 'विटामिन' नामक यह तत्व न रहे तो वह शीघ्र ही कमज़ोर हो जायगा; दिन ब दिन नये-नये रोगों का शिकार बन थोड़े ही समय में वह नर से नर-कंकाल बन जायगा।

सूर्य की गरमी में प्राणिमात्र के जीवन का आधार रहता है। सूर्य के प्रखर तेज़ का केवल २०,००,००० वां अंश पृथ्वी सहन कर सकती है। इसी तेज़ के सहारे ख़ास कर फूलों, फलों, पत्तियों और वनस्पतियों के जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है—वे बढ़ते, फूलते, फलते और कुम्हलाते रहते हैं। और प्राणी-मात्र इन्हीं वनस्पतियों से जीवन पाकर अपना गुज़र बसर करते हैं।

'विटामिन' चार तरह का होता है। 'अ' नामक 'विटामीन' मछली के तेल, मक्खन, ताज़ा दूध, मलाई और घी† आदि

---

† वेजीटेबल या वनस्पति-घी में यह विटामिन नहीं रहता, अतः शरीर को ताक़त पहुंचाने में वह बेकाम है।

पदार्थों से मिलता है। इनके खाने से मनुष्य का शरीर चिकना-स्निग्ध रहता है, बढ़ता है, शरीर क्षीण कम होता है और रोग छूने नहीं पाता।

'ब' नामक विटामिन अनाज, सूखे मेवों, बीजों—मग्ज़, आदि में होता है। मोटरगाड़ी के पेट्रोल गैस को सुलगाने के लिए जिस तरह बिजली के तार की ज़रूरत रहती है, उसी तरह शरीर से काम लेते समय यह विटामिन उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह विटामिन गेहूँ के आटे में (मैदा में नहीं), दलिये में, चावल की ललाई में बहुतायत से पाया जाता है।

विटामिन 'क' नीबू, टमाटर हरा चना, अरहर आदि और सोडा डाले बिना पकाई हुई गोभी तथा ताज़ा फलों में होता है। किसी ख़तरे से बचने के लिए जिस तरह लोग मोटर का बीमा करा लेते हैं, उसी तरह आने वाली बीमारी से बचने के लिए इस तरह का विटामिन रामबाण है।

ऊपर कहे हुए तीनों तरह के 'विटामिन' बिना औटाये ताज़ा दूध में, आलू, दाल, टमाटर, आदि में होते हैं। मैदा, वनस्पति-घी, तेल, मुरब्बा, गुड़, बिलकुल साफ़ चावल और बहुत दिन के बासी फलों आदि में किसी क़िस्म का कोई विटामिन नहीं रहता। अतः ख़ुराक की दृष्टि से इनकी कोई क़ीमत नहीं है।

शरीर की क्षति को पूरा करने के लिए थोड़े प्रोटीन—बीज का सफ़ेद भाग या अण्डे की सफ़ेदी का तत्त्व—और थोड़ी चरबी ज़रूरी है। छोटे बच्चों की बढ़ती के लिए यह आवश्यक है। दूध और मलाई में ये तत्त्व मिलते हैं। वनस्पति-प्रोटीन सारे गेहूँ के आटे में, और मटर आदि में होता है। चिकनाई, ताज़ा दूध और ताज़ा मक्खन में भी यह तत्त्व पाया जाता है।

खाने की चीज़ों के ऊपर बताये गुणों को एक बार जान लेने पर अगर हमारे भाई-बहन अपने आहार को इस तरह नियमित बनाने का प्रयत्न करें तो उन्हें शरीर-संबन्धी शिकायत करने का शायद मौक़ा ही न मिले।

'अ' 'ब' और 'क' विटामिन के बाद 'ड'* विटामिन भी हमारे शरीर के लिए ज़रूरी है। 'ड' विटामिन केवल सूर्य की गर्मी से मिलता है। सूर्य की गर्मी के हमारे शरीर पर पड़ने से एक ख़ास रासायनिक क्रिया होने लगती है, जिससे यह विटामिन पैदा होता है। दुधारू गाय और अन्य पशु सूर्य की गर्मी में फिरते रहते हैं; फलस्वरूप उनमें 'ड'‡ विटामिन पैदा होता है, और उनके दूध के उपयोग से इसका फ़ायदा हम भी उठा लेते हैं। मक्खन में भी यह विटामिन पाया जाता है। सूर्य-ताप के जिस तत्त्व से 'ड' विटामिन तैयार होता है, उसे हेम्पस्टेड की 'नैशनल इंस्टिट्यूट आफ़ मेडिकल रिसर्च' ने "अर्गोस्टेरोल" (Ergosterol) नाम दिया है। यह तत्त्व प्रयोगशाला में बना लिया जाता है और सूर्य की अल्ट्रा वायोलेट किरणों में से निकाल कर यह दवा के रूप में बेचा जाता है। गर्भवती स्त्रियों को इस विटामिन की ख़ास ज़रूरत रहती है।

'भ्रान्तीवाला'

हमारी बाढ़

साधारणतः जन्म के समय बच्चा १९॥ इंच लम्बा होता है, और अपने जीवन के पहले वर्ष में ९ इंच बढ़ता है। यदि बालक की बाढ़ का यही प्रमाण ७० वर्ष तक क़ायम रहे, तो वह एक ६४ फ़ीट ऊंचा राक्षस ही हो जाय। पर वस्तुतः यह प्रमाण पहले वर्ष के बाद बड़ी आश्चर्यकारक रीति से कम होने लगता है। जीवन के १-२ वर्ष के अनुमान बच्चे की बाढ़ ३-३॥ इंच होती है, और तीसरे वर्ष २॥ इंच होती है। इसके बाद १३ वर्ष तक साधारणतः १॥ इंच के हिसाब से प्रति वर्ष बढ़ता है। १६ वर्ष के बाद

---

*'ड' नामक पांचवें विटामिन का पता अभी थोड़े दिन पहले ही लगा है।

‡अगर 'ड' विटामिन मनुष्य के शरीर में कम मात्रा में रहे तो वह दुबला होने लगता है। अनाथालयों के ज़्यादातर बालक इसी किस्म के होते हैं; क्योंकि उनके जन्म के पहले उनकी माताओं को सूर्य-प्रकाश में ख़ूब रहने को नहीं मिलता।

*सूर्य की अल्ट्रा वायोलेट किरणों के प्रभाव से ही यह विटामिन तैयार होता है। जीवन-शक्ति को बढ़ाने वाली ये किरणें सादे कांच में से नहीं गुज़र सकतीं; अतः जीवन की दृष्टि से कांच की क़ीमत उसके जैसी ही न कुछ है। अल्ट्रा वायोलेट सूर्य की बैंगनी किरणें पारदर्शक हो सकें, ऐसे कांच भी बन चुके हैं।

बाढ़ का प्रमाण घटना शुरू होता है; १७ वें वर्ष में बालक ११ इंच और १८ वें में १ इंच बढ़ता है, और १६ में पौन इंच तथा २० में आधा इंच ही बढ़ता है।

प्राय: २५ वर्ष के पहले मनुष्य अपनी पूर्ण ऊंचाई नहीं प्राप्त करता। लेकिन उसकी बाढ़ इसके पहले ५ वर्षों में एक पंचमांश इंच प्रतिवर्ष के हिसाब से ही होती है। पूरे बढ़े और अच्छे गठीले आदमी की ऊंचाई उसके पैर की लंबाई से पौने सात गुणा अधिक होती है। स्त्रियों की उनके पैर से छः गुनी होती है। लड़के और लड़कियों के शरीर की बाढ़ अलग-अलग प्रमाण से होती है। लड़के की टंगड़ी तीन वर्ष में दूनी और बारह वर्ष में तिगुनी हो जाती है। १० वर्ष की उम्र से पहले पैर की लंबाई सिर की लंबाई से कम होती है, १० वर्ष की उम्र में समान, और उसके बाद पैरकी लंबाई सिर से बढ़ जाती है। लड़कों की अधिक बाढ़ का समय प्राय: १६ १७ वर्ष होता है। इसका मतलब यह कि इनका वज़न इस वर्ष में खूब बढ़ता है। लड़की में यह वृद्धि ख़ास कर १४ वें वर्ष में होती है।

लड़कियां पूरी ऊंचाई प्राय: १६ वें वर्ष में और पूरा वज़न २० वें वर्ष में पा लेती हैं। लड़कों की वृद्धि धीरे-धीरे होती है।

जन्म से ११ वर्ष तक लड़के लड़कियों से सशक्त होते हैं। बाद में १७ वर्ष तक लड़कियाँ ज़्यादा सशक्त होती हैं। लेकिन फिर उसके बाद लड़के ही सशक्त होते हैं।

नवम्बर से अप्रैल तक बालक ऊंचाई में बहुत कम वृद्धि करते हैं, अप्रैल से जुलाई तक ऊंचाई में वृद्धि करते हैं, जुलाई से नवम्बर तक वज़न में वृद्धि करते हैं। और बाल (केश) का जीवन साधारणतः ६ वर्ष का होता है—बाद में गिरजाता है; यदि बाल न गिरें और सदा बढ़ते ही जायँ, तो सत्तरवें वर्ष में स्त्री के बाल की लंबाई २८ फ़ीट हो जायगी। भौंहें भी बढ़ती हैं, किंतु ज़्यादा रोज़ नहीं टिकतीं। वे प्राय: ४-५ महीने टिक कर ही गिर जाती हैं। उनकी बाढ़ प्राय: १/७ इंच प्रति सप्ताह के हिसाब से होती है। नख की वृद्धि कपास से बहुत जल्दी होती है। अंगुली के नाखून ४ महीने में ही पूर्ण रूप से नहीं आ सकते। मनुष्य का दिमाग़ जन्म के समय ९ से १० औंस तक होता है, लेकिन पूर्ण रूप से वृद्धि पाये हुए आदमी का दिमाग़ क़रीब-क़रीब तीन पौंड १ औंस और औरत का २ पौंड १० औंस होता है।

भानुदास शाह

स्वास्थ्य के दस आदेश

[खंडवा के 'कर्मवीर' ने 'हेल्थ एण्ड एफ़ीशिएन्सी से' स्वस्थ रहने के दस आदेश-मंत्र दिये हैं :—]

(१) मन को स्वच्छ रक्खो। स्वस्थ मन से ही स्वस्थ शरीर बनता है।

(२) रोज़ नहाया करो। शरीर के छिद्रों को साफ़ और स्वच्छ रक्खो।

(३) प्रत्येक रात को कम से कम आठ घंटे अवश्य सोओ।

(४) रोज़ कम से कम १५ मिनट तक व्यायाम अवश्य कर लिया करो।

(५) रोज़ एक घंटे तक खुली हवा में अवश्य रहो; और तेज़ क़दमों से घूमो, सुस्त चाल से नहीं।

(६) भोजन को खूब चबा कर खाओ। ज़्यादा मत खाओ। (अगर क़ब्ज़ रहता हो, तो) सोकर उठने पर दो प्याला गरम पानी पियो। यही क्रम सोने के पूर्व भी रहे।

(७) भोजन के पूर्व बिना प्रमाद के तीन बार दीर्घ श्वासोच्छ्वास अवश्य कर लेना चाहिए।

(८) कार्य करते समय रक्त-संचालन में बाधा देने वाले वस्त्रों को कभी न पहनो।

(९) अपनी इच्छा-शक्ति को वश में रखने की युक्ति सीखो। अपने मन से अपने शरीर को वश में रक्खो।

(१०) स्मरण रहे कि अच्छा रहना, स्वास्थ्य-वर्धक व्यायाम, और इच्छा-शक्ति, तुम्हारे स्वास्थ्य को स्फूर्ति-मय बनाये रख सकते हैं। स्वास्थ्य ही सुख है, और सुख ही जीवन है।

मैं शराब का सेवन कभी नहीं करता।

तमाखू तथा मांस का स्पर्श नहीं करता।

तेज़ मसाले तथा खट्टे अचार आदि कभी नहीं खाता।

तमोगुणी आचार-विचारों को मैंने बालपन से ही तिलांजलि दे रक्खी है।

मैं प्रति दिन खुली हवा में घूमता हूँ।

—स्व० दादाभाई नौरोजी

नीर-क्षीर-विवेक

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]

हिन्दू

लेखक—श्री मैथिलीशरण गुप्त। प्रकाशक—साहित्य-सदन चिरगांव, (झांसी)। पृष्ठ संख्या ३३३। आकार सुपररायल ३२ पेजी। मूल्य १)

'हिन्दू' नामक छोटे से गुटके के ग्रन्थकार श्री मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी कवियों में से वर्त्तमान लब्धप्रतिष्ठ, जीवित-जागृत कवि हैं। जो लोग साहित्य-ग्रन्थों को केवल अपनी वासना-लोलुप रसना से शृङ्गार, वीर और करुण रस के चसके लेने के लिए पढ़ते और उसी में अपने रस को परिपूर्ण कृतकृत्य हुआ मानते हैं, उनके लिए तो श्री मैथिलीशरणजी की यह कवितामय 'हिन्दू' कृति प्रायः नीरस और व्यर्थ प्रतीत होगी। क्योंकि 'हिन्दू' कोई रसीली कथा-कौतुक की कविता नहीं है। हमने इस पुस्तक के 'श्री' से 'ओ३म्' तक का पाठ किया। हमने उसमें भी वही वस्तु प्राप्त की, जो लेखक ने स्वयं भूमिका में लिख दी है—"न तो इनमें आख्यानमूलक रामायण आदि महा-काव्यों का अनुकरण है, और न बिहारी-सतसई आदि कोष-काव्यों का। हम्मीरहठ ऐसे खण्ड-काव्य और कविप्रिया एवं काव्य-निर्णय आदि रीति-ग्रन्थों की श्रेणी में भी यह नहीं रक्खी जा सकती। (भू० पृ० ३२) सारांश, काव्यों की पंक्ति में बैठने का इन्हें कोई अधिकार नहीं।" तो फिर यह 'हिन्दू' कविता क्या है? गुप्तजी के शब्दों में यह पुस्तक 'भगवद्गीता के समान एक आदर्श पर अवलम्बित', बढ़ी हुई कवि-कल्पना है। परन्तु हमें इससे भी कुछ अधिक कहना है। इसमें सन्देह नहीं कि श्री मैथिलीशरणजी सिद्धहस्त और सुअभ्यस्त कवि हैं। उन की लेखनी से छन्दोबद्ध विचारों का गुँथ-गुँथ कर निकलना कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं। और केवल कवि की लेखनी मात्र से वाक्यों और पदों का गुँथ-गुँथ कर निकल आना रचना को कविता नाम दे देने में कारण नहीं हो सकता। तो भी सहृदय लेखनी से और भी विशेष ओज-पूर्वक लिखी गई यह पुस्तक कवि की प्रतिभा के विकास का एक अनोखा नमूना है। लगन से पढ़ने वाले के लिए यह दो घण्टे का पारायण-मात्र है, परन्तु इतने समय में ही 'गुप्तजी' पाठक को भारतीय-उन्नति पर्वतों के कितने ही शिखरों पर चढ़ा-चढ़ा कर बार-बार खोहों-कन्दराओं में उतार देते और नाना प्रकार के भावों से पूर्ण सरस मन्द-मन्द पवनों का आस्वादन भी करा देते हैं।

इसके अतिरिक्त सबसे अधिक विशेष बात हमने यह पाई है कि हिन्दू जाति के उन्नति और गौरवपूर्ण दृश्यों के साथ-साथ हिन्दू जाति के अछूतपन के अधःपतन के दृश्यों को भी दर्शाया है और रूढ़ियों पर मरनेवाले कूढ़मगजों को बड़ी युक्तिपूर्ण रीति से सुधार के मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया है। सम्भव है कि गुप्तजी के धार्मिक सिद्धान्त-विषयक निजू विचारों से बहुतों की सहमति न भी हो, तो भी जो व्यापक-भाव समस्त पुस्तक में है उसकी हम प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। एक और विशेष बात जो हमने गुप्तजी की लेखनी में पाई, वह 'आर्यत्व' का प्रेम है। इस पुस्तक पर हम महर्षि दयानन्द के विचारों की गहरी छाप पाते हैं। 'आर्य' शब्द, आर्य सभ्यता और 'आर्य' होने के गौरव को अनुभव करके कवि वर्त्तमान की साम्प्रदायिक रूढ़ियों से सर्वथा ऊपर हो गया

है। प्रायः कवि ने हिन्दुओं को बीसियों जगह 'आर्य' शब्द से ही सम्बोधित किया है। जैसे—

'याद करो अपने को आर्य ! सत्य करो सपने को आर्य !'
(पृ० ६)

महाराष्ट्र संस्थापन कार्य, किया तुम्हीं ने था कल आर्य !
(पृ० १७)

हम सब हिन्दू हम सब आर्य
और विश्व को आर्य बना लें यही हमारा कार्य !
(पृ० ३३३) इत्यादि।

गुप्तजी ने पुस्तक 'श्री' 'श्रीगणेशाय नमः' से प्रारम्भ करके 'हरिः ओ३म्' पर समाप्त की है. परिशिष्ट गीतों में 'राम कृष्ण', 'हर-हर महादेव', 'भगवती भवानी', 'महावीर की जय' आदि हिन्दू देवों की प्रशस्तियाँ भी रक्खी हैं और साथ ही बड़ी मर्मज्ञता से लिख दिया है—

'उड़े ओ३म् का झण्डा एक, जुड़ें जहां हम सब सविवेक।'
(पृ० ३३१)

इसके अतिरिक्त हम गुप्तजी के कई भ्रामक-स्थलों का भी उल्लेख करते हैं। आप लिखते हैं—'न तो श्रेष्ठ है सब प्राचीन, और निकृष्ट न सभी नवीन। (पृ० २५८) यहाँ गुप्तजी ने 'पुराणमित्येव नसाधु सर्वं न चापि सर्वं नव मित्यवद्यम्' इस कालिदास की उक्ति का अनुवाद किया है। परन्तु क्या कदाचित चौका को गुप्तजी ने प्राचीन और हेय समझा है और मेज़ कुर्सी के डिनर को नवीन कह कर उसे चलाने की सम्मति दी है ? आपने वर्णों के उपभेद मेट कर कच्ची-पक्की के भेद को भी मेटने का उत्तम विचार रक्खा है; परन्तु तो भी आप व्याकरण के आचार्य पाणिनी के पारिभाषिक शब्दों का श्लेष लगा कर 'सवर्ण सन्धि' तक ही आ अटक गये।

गुप्तजी ने शास्त्रों की इस पुस्तक में बड़ी गत बनाई है। आप लिखते हैं—

'शास्त्र अखिल अर्थों के मूल, व्याख्या है निजबुद्ध्यनुकूल।
जो करना हो कर लो सिद्ध, वह हो चाहे स्वयं निषिद्ध।
शास्त्र तुम्हारे लिए अशेष, बनो न तुम उनके बलिमेष।
जितने भी हैं शास्त्र ग्रन्थ, दिखलाते हैं केवल पन्थ।'
(पृ० २४६)

यदि शास्त्रों को इसी प्रकार पन्थग्रन्थ या मदारी का थैला या मोम की नाक मानना था, तो सचमुच हिन्दू शास्त्रों की बड़ी दुर्दशा है। आपकी सम्मति में शास्त्र युक्ति-विरुद्ध हैं, क्योंकि, कविजी के शब्दों में,—

'किस मुँह से शास्त्रों की ओट, लेकर सहें युक्ति की चोट ?'

अच्छा होता कि गुप्तजी यहाँ 'शास्त्र' शब्द न कह कर 'ढोंग-शास्त्र' कहते।

कई स्थानों पर गुप्तजी हिन्दू जाति को रूढ़ि से निकालना चाहते और उसके लिए बड़े बड़े तर्क लगाते हैं; परन्तु कई स्थानों पर गुप्तजी का तर्क शिलाओं में टकरा कर कुण्ठित हो जाता है। आप लिखते हैं—

'रामकृष्ण के पावन नाम, गंगा तुलसी सालगराम।
किन पतितों को सोचो मित्र, कर सकते हैं नहीं पवित्र।'

एक यह आक्षेप पाठकों का सदा बना रहेगा कि सामान्यतः भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक अतिसरल, सुबोध होनी चाहिए थी, परन्तु गुप्तजी ने अपनी कविता में संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से भाषा को कुछ कृत्रिम बना दिया है। अच्छा होता कि उसको सरल रूप में रक्खा जाता। गुप्तजी ने अपनी कविता में कहीं कहीं हास्यरस का भी उत्तम नमूना दिखाया है। पुस्तक अधिकांश में उपादेय है, परन्तु गीता के समान पथ-प्रदर्शक तत्वज्ञान-पूर्ण दीपक-ग्रन्थ बनने के लिए अभी इस 'हिन्दू' को बहुतसे जन्म लेने की आवश्यकता है।

जयदेव विद्यालंकार

त्रिपथगा

(लेखक-श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त। प्रकाशक-साहित्य-सदन, चिरगांव (झांसी) पृष्ठ-संख्या १७५। कागज़-छपाई उ०मू०१॥)

गुप्तजी उन प्राचीन कविरत्नों में से हैं जिनकी कृतियों द्वारा हिंदी के काव्य-जगत् में नवीन भाव, भाषा और शैली का आविर्भाव हुआ है। जिन दिनों सर्व प्रथम आपकी "भारत-भारती" प्रकाशित हुई, तब हिन्दी-संसार में उसकी धूम मचगई थी। उसी समय से हम बराबर देख रहे हैं कि आप अतीत-भारत के गौरव की याद दिलाते हुए उस अपूर्व आदर्श तक पहुँचने के लिए भारतीय जनता को उद्बोधन का संदेश सुनाते आये हैं। "दंडिनः पदलालित्यं" के

अनुसार आपकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उक्ति का अद्भुत-चमत्कार एवं माधुर्य परिलक्षित होता है। 'त्रिपथगा' में भी आपने अपने उसी ढंग पर बक-संहार तथा पाण्डवों के अज्ञातवास के समय वन में कौरवों के जाने और गंधर्वों द्वारा बांध लिये जाने पर पाण्डवों के प्रयत्न से छुटकारा पाने (वन-वैभव) एवं विराट् पुरी में पाण्डव-पत्नी द्रौपदी के सैरन्ध्री (दासी) रूप में जयद्रथ द्वारा अपमानित होने तथा अंत में महाबली भीम द्वारा उस पापात्मा का वध किया जाने विषयक तीन-पद्य-कथानकों का संग्रह किया है। संभवतः ये तीनों "सरस्वती" में निकल भी चुके हैं। कथायें पुरातन होने पर भी वर्णनशैली इतनी मनोरम और आकर्षक है कि बिना दो-तीन बार पढ़े जी नहीं भरता। इसी प्रकार इनमें नीति के उपदेशों की झलक भी स्थान-स्थान पर देखने को मिलती हैं। यथा, बक-संहार में—

"पर मरण क्या उसका भला,—
तुष-तुल्य जो धीरे जला?
उसकी अपेक्षा भभक जाना ठीक है।
है तेज तो उसमें तनिक,
चकचौंध होती है क्षणिक!"

इसी प्रकार "वन-वैभव" में युधिष्ठिर के मुख से कहलवाया है—

क्रूर कौरव अन्यायी हैं,
हमारे फिर भी भाई हैं,—
जहां तक है आपस की आँच, वहाँ तक वे सौ हैं हम पाँच।
किंतु यदि करे दूसरा जाँच, गिने तो हमें एक-सौ-पाँच॥

ऐसेही विराट नरेश मत्स्यराज को सम्बोधन करके 'सैरन्ध्री' कहती है—

"तुम में यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का,
तो क्यों करते नहीं त्याग तुम राजासन का?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हो,
तो छूकर क्यों राजदंड दूषित करते हो?
तुमसे निजपद का स्वांग भी, भलीभांति चलता नहीं;
अधिकार-रहित इस छत्र का, भार तुम्हें खलता नहीं?"

सारांश, यह कृति गुप्तजी की अन्य कृतियों की ही तरह संग्राह्य एवं समादरणीय हुई है। तीनों कथायें अलग अलग भी छह-छह आने में मिलती हैं। मूल्य कुछ अधिक रखा गया है।

ब्रह्मचर्य-साधन

लेखक—श्रीस्वामी निगमानन्दजी सरस्वती, श्री दक्षिण बंगाल सारस्वत मठ, हाली शहर (चौबीस पर्गना) बंगाल से प्रकाशित। पृष्ठ संख्या ९४। मूल्य ॥) आने।

यद्यपि ब्रह्मचर्य-पालन की आवश्यकता और उसका महत्व भारतवासियों के लिए कोई नया विषय नहीं है; किंतु इस समय देश और समाज की परिस्थिति में ऐसी कुछ विकृति उत्पन्न हो गई है कि किसी भी सामाजिक या धार्मिक नियम का समुचित रूप से पालन नहीं होता। इसी कारण मानव-समाज की शारीरिक और मानसिक स्थिति प्रति दिन शोचनीय होती जा रही है। ऐसी दशा में ब्रह्मचर्य-पालन के लिए *कोरी व्याख्यानबाज़ी से उतना लाभ नहीं पहुँच* सकता, जितना कि इस विषय के व्यावहारिक उपायों का जन-साधारण में प्रचार करने से। इसीलिए इन दिनों हिन्दी-संसार में कुछ मनस्वी लेखकों ने ब्रह्मचर्य पर नये ढंग से प्रकाश डालने वाला साहित्य निर्माण करना आरंभ किया है। किंतु प्रस्तुत पुस्तक इस विषय के साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती है; क्योंकि यह एक योगी महात्मा द्वारा लिखी गई है। योग-विद्या सीखने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य होता है; अतएव इसमें जो कुछ लिखा गया है, वह सब व्यावहारिक एवं अनुभव-सिद्ध विषय है। इसी कारण एतद्विषयक अन्य पुस्तकों से इस पुस्तक का महत्व अधिक प्रतीत होता है। पुस्तक तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय नियम-पालन का है। इसमें ब्रह्मचर्य की आवश्यकता और उपयोगिता प्रतिपादन करते हुए वे सब अनुभव-सिद्ध नियम बतलाये गये हैं जिनके अनुसार दिनचर्या रखने और आहार-विहार का सेवन करने से मनुष्य ब्रह्मचारी रह सकता है। इसके बाद दूसरा अध्याय साधन-प्रणाली शीर्षक है। इसमें उन शास्त्रीय-सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जो समय-समय पर मनुष्य के व्यवहार में आते रहते हैं, और उन अवसरों पर ब्रह्मचर्य-व्रत की रक्षा के लिए किन किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। तीसरा अध्याय 'स्वास्थ्य-रक्षा-विधि शीर्षक' है। क्योंकि पहले दो अध्यायों में प्रधानतः

ब्रह्मचारियों (विद्यार्थियों) को लक्ष्य करके सब बातें लिखी गई हैं; अतएव इस अंतिम अध्याय में गृहस्थियों के लिए आवश्यक ब्रह्मचर्य-पालन के नियम बतलाये गये हैं। किंतु अंतिम अध्याय को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे ब्रह्मचर्य का पालन होने की अपेक्षा कामुकता की ही ओर मनुष्य की चित्तवृत्ति अधिक झुकेगी। अच्छा होता यदि यह दूसरे ढंग पर लिखा जाता? इस प्रकार यद्यपि यह पुस्तक मनुष्यमात्र के लिए उपयोगी सिद्ध होगी; किंतु साथ ही इसमें जहाँ कई स्थानों पर मांस-भक्षण को ब्रह्मचर्य के लिए बाधक बतलाया गया है, वहाँ अन्तिम अध्याय में ऋतुचर्या की व्याख्या करते हुए कहीं मांस का रस, तो कहीं कबूतर का या बकरे का मांस वीर्यवर्धक औषधि के रूप में सेवन करने की सलाह भी दी गई है, यह बात हमारी समझ में नहीं आई।

गो० उ०

चांद का (पत्राङ्क)

सम्पादक श्री पं० नन्दकिशोरजी तिवारी बी०ए०, दि फाइन आर्ट प्रिंटिंग काटेज इलाहाबाद, से प्रकाशित पृष्ठ संख्या १६० मूल्य १) रुपया

हिन्दी के उच्चकोटि के मासिक-पत्रों में सबसे अधिक और नये-नये ढंग पर विशेषाङ्क निकालना 'चाँद' की एक प्रधान विशेषता है। प्रस्तुत विशेषाङ्क में अपने नामानुसार पत्रों द्वारा ही प्रत्येक विषय का विवेचन किया गया है। पहले लेख 'पत्र-साहित्य का प्रारंभिक विकास' में हिन्दी या संस्कृत साहित्य को अछूता छोड़ देना एक प्रकार से संपादक के पर-भाषा-प्रेम का ही परिचय देता है। 'नवीन' जी के काव्यमय पत्र और उत्तर अपने ढंग के अनूठे हुए हैं। सौत, कुल-मर्यादा और पत्र-पुष्प, यही कहानियाँ हमें विशेष सुन्दर प्रतीत हुईं। अन्य कहानियाँ ज़बर्दस्ती की ठूंस-ठांस जान पड़ती हैं। दर्शननगर का दृश्य, हिन्दू लॉ में स्त्रियों का साम्पत्तिक अधिकार, बालक बालिकाओं की शिक्षा और तुलसीदास विषयक लेख इतने अधिक विवेचनात्मक हो गये हैं कि पढ़ते-पढ़ते जी ऊबने लगता है। हिय-हार, उलहना, व्यथित प्रेयसी को, और विधवा का अपनी सखी को पत्र—ये पद्यात्मक रचनायें भावपूर्ण हैं। एक-एक पंक्ति छोड़कर पढ़ने पर द्विअर्थी भाव प्रकट करने वाले पत्र भी लेखकों के परिश्रम के परिचायक हैं। इस अंक में मुख-पृष्ठ के चित्र-सहित पाँच रंगीन चित्र हैं। किन्तु उनमें नल-दमयंती के चित्र अत्यंत साधारण हैं। शकुंतला-पत्र-लेखन नामक चित्र अवश्य कुछ भावपूर्ण है। मुख-पृष्ठ पर का चित्र भी सामान्यतः अच्छा है। सारांश, इस अंक में बहुत कुछ सामग्री ऐसी है जो उपयोगी कही सकती है; और इस दृष्टि से यह अंक उच्च-शिक्षा प्राप्त महिलाओं के काम का होगा। काग़ज़, छपाई आदि सब बढ़िया है। इसके लिए संपादक और संचालक बधाई के पात्र हैं।

स्पष्टवादी

साहित्य-सत्कार

श्री राधेश्याम पुस्तकालय, बरेली, के कुछ नाटक

१ वीर अभिमन्यु—ले० श्री राधेश्याम कथावाचक			मू० १)
२ परमभक्त प्रह्लाद	,,	,,	,, १)
३ परिवर्त्तन	,,	,,	,, १)
४ मशरकी हूर	,,	,,	,, १)
५ श्रवण कुमार	,,	,,	,, ॥।)
६ उषा-अनिरुद्ध	,,	,,	,, ॥।)

१ विश्वपंचाहर्मामांसा—लेखक और प्रकाशक-पं० बदरीदत्त जोशी, प्रेमाश्रम, ताड़ीखेत (रानीखेत) पृष्ठ-संख्या २८८। मू० १।)

२ माधवविलास—(ग्वालियर के राजकवि महाराज महादजी सिन्धे उर्फ़ पाटिलबाबा आलीजा बहादुर कृत मराठी कविता)—संशोधक व, संपादक व प्रकाशक-श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव 'कविदास' उबारीदार सोवत, (मालवा) पृष्ठ-संख्या १६ + १२९ सजिल्द। मूल्य लिखा नहीं।

४. बेञ्जमिन फ्रेंकलिन—अनु०—श्री लक्ष्मीसहाय माथुर। प्रकाशक—मध्यभारत हिन्दी-साहित्य समिति, इन्दौर (मध्यभारत) मिलने का पता—साहित्यनिकेतन, झालरापाटन सिटी। मूल्य २॥) रु० सजिल्द ३)

अमेरिका का विश्व-शांति का प्रस्ताव

पाठकों को याद होगा कि हमने 'त्यागभूमि' के किसी अंक में अमेरिका के संधि के प्रस्तावों का उल्लेख करते हुए वहां के राष्ट्र-सचिव श्रीयुत किलौग के संधि के प्रस्ताव का जिक्र किया था और लिखा था कि अमेरिका सब देशों से युद्ध को घृणित और अनियमित स्वीकार करने की संधि करना चाहता है। वहीं हमने यह भी बताया था कि फ्रांस उसकी इस योजना को मानने को तैयार नहीं है। आज हम पाठकों को यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि उसके लिए क्या-क्या प्रयत्न किये गये और उसका संसार की अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर क्या प्रभाव पड़ा।

अमेरिका के प्रस्ताव की मुख्य धारायें ये हैं—

१. सन्धि करने वाले देश अपनी सन्माननीय जनता के नाम पर गंभीरतापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि वे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय करने के लिए युद्ध के उपाय को घृणित दृष्टि से देखते हैं और पारस्परिक सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति के रूप में (as an instrument of national policy) युद्ध की नीति परित्याग करते हैं।

२. सन्धि करने वाले देश इस बात पर सहमत हैं कि किसी भी प्रकार के विवादों या झगड़ों का, जो आपस में पैदा हों, निर्णय करने में शान्त उपायों के अतिरिक्त दूसरे उपाय नहीं बर्ते जावेंगे।

अमेरिका के राष्ट्र—सचिव श्रीयुत किलौग ने सन्धि का यह प्रस्ताव इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी और जापान की सरकारों के पास भेजा। भिन्न-भिन्न देशों की सरकारों ने इसका भिन्न-भिन्न प्रकार से स्वागत किया। जर्मनी ने इस प्रस्ताव पर सबसे पहले हस्ताक्षर कर दिये। जर्मनी की इस स्वीकृति से यह प्रस्ताव अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में महत्व की चीज़ होगया। जर्मनी ने इस प्रस्ताव पर सबसे पहले हस्ताक्षर किये हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। इस सम्बन्ध में विचार करता हुआ न्यूयार्क का 'वर्ल्ड' लिखता है कि "यह स्वाभाविक है कि जर्मनी इस प्रस्ताव को सबसे पूर्व स्वीकार करे। फ्रांस की तरह उसके पास न तो सुविशाल सैनिक शक्ति है, न इंग्लैण्ड की तरह उसके पास उपनिवेश हैं, और न इटली की तरह वह साम्राज्य-स्थापना का स्वप्न देखता है। किलौग का प्रस्ताव स्वीकार करने से वह किसी ऐसी चीज़ को नहीं छोड़ता, जिसे वह पहले छोड़ न चुका हो।......शस्त्र हीन और सैनिक शक्तियों के बीच घिरा हुआ जर्मनी अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए युद्ध के विचार को पहले ही छोड़ चुका है। उसका विचार है कि उसका उक्त प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करना यूरोप में उसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को अधिक दृढ़ कर देगा।" वस्तुतः है भी यही बात, वह गत युद्ध के कारण इतना निर्बल होगया है कि अब युद्ध करना उसे अभीष्ट नहीं है।

इटली और जापान भी अमेरिका के प्रस्ताव से सहमत ही होंगे, ऐसा दीखता है। इटली तो अमेरिका की आर्थिक सदिच्छा (Financial goodwill) पर ही निर्भर है, वह कैसे अमेरिका के प्रस्ताव को ठुकरा सकता है? परन्तु हस्ताक्षर करने से मुसोलिनी की महत्त्वाकांक्षा में कोई बाधा नहीं आयगी, यह वह जानता है, क्योंकि इस प्रस्ताव का क्रियात्मक मूल्य कुछ नहीं है। बहुत समय तक विचार करने के बाद इंग्लैण्ड ने भी अमेरिका को स्वीकृति का वचन

दे दिया है। हाँ स्वीकृत करने से पूर्व उसने किलौग से यह व्याख्या जान ली है कि आत्म-रक्षा के लिए युद्ध की रुकावट इसमें नहीं है। जब तक इंग्लैंड ने इसे स्वीकृत नहीं किया था, तब तक अमेरिका के प्रस्ताव ने बहुत अधिक महत्व प्राप्त नहीं किया था। इंग्लैंड ने यह प्रस्ताव क्यों स्वीकार किया, इसमें कई रहस्य हैं—इंग्लैंड और अमेरिका में मनोमालिन्य पैदा हो चुका है और इसमें इंग्लैंड को ही अधिक भय है। 'रिव्यू आफ रिव्यूज़' के संपादक श्रीयुत विकहम स्टीड लिखते हैं कि "आगामी कुछ वर्षों में इंग्लैंड को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, जिनका सुलझना हमारे और अमेरिका के पारस्परिक संबन्ध पर निर्भर है। १९३१ में जेनेवा की सामुद्रिक परिषद् के कारण उत्पन्न हुई असंतोषजनक स्थिति का सामना करना पड़ेगा। यदि उस समय तक अमेरिका से हमारा अच्छा सम्बन्ध न हुआ तो वहाँ की 'बिग नेवी पार्टी' (जो सामुद्रिक शक्ति के बढ़ाने के पक्ष में है) के कारण सामुद्रिक प्रतिस्पर्धा अवश्यम्भावी है और इस प्रतिस्पर्धा की आड़ में सामुद्रिक नियम (Maritime law) या समुद्रों की स्वतन्त्रता (The Freedom of the seas) के प्रश्न के रूप में एक नया आंदोलन खड़ा हो जायगा। इसी तरह युद्ध की क्षतिपूर्ति तथा ऋण संबन्धी प्रश्न भी उपस्थित हो जायगे, जिससे अमेरिका और इंग्लैंड में परस्पर वैमनस्य उत्पन्न होगा। आज इंग्लैंड चाहता है कि अमेरिका किसी तरह राष्ट्रसंघ में विशेष रुचि लेने लगे। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने के बाद ये सब कठिनतायें किसी अंश तक दूर हो जायँगी।"

वस्तुतः है भी यह ठीक। अमेरिका का उठाया हुआ समुद्रों की स्वतन्त्रता का प्रश्न इंगलैंड को भयभीत कर रहा है। इंग्लैंड के लेफ्टिनंट कमांडर कैनवर्दी और जार्ज यंग ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है कि समुद्रों पर अधिकार रखने के लिए या तो इंग्लैंड को अमेरिका से युद्ध ठानना पड़ेगा या दोनों राष्ट्रों को समुद्रों की स्वतंत्रता की गारण्टी देनी होगी। पहली अवस्था में या तो हमें शांतिपूर्वक युद्ध से हट जाना पड़ेगा, जैसा कि हमने डचों को हराया था, या हमें युद्ध करना पड़ेगा। इसी की संभावना अधिक है। इसलिए सबसे अच्छा यह है कि इस समय हमें अमेरिका का उक्त प्रस्ताव स्वीकार कर लेना चाहिए। एक अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ ने कहा था कि संसार में केवल दो ही जातियों—अमेरिका और अंग्रेज़ों के लिए ही जगह है। इन सब बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अंग्रेज़ों ने अमेरिका से भयभीत होकर ही यह प्रस्ताव स्वीकृत किया है।

परन्तु अभी तक फ्रांस उसी बात पर तुला हुआ है। हम 'त्यागभूमि' के पूर्वोक्त अंक में लिख चुके हैं कि फ्रांस के वैदेशिक मन्त्री श्रीयुत ब्रियान्द ने उक्त प्रस्ताव का विरोध किया था। इसके विरोध में कहते हैं कि केवल पांच-छः बड़े-बड़े राष्ट्रों के सन्धि कर देने से पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। छोटे-छोटे राष्ट्रों को भी बुलाना आवश्यक है। यदि युद्ध को बन्द ही करना हो तो यह सभी राष्ट्रों पर लागू होनी चाहिए। आधे यूरोप और आधे एशिया में व्याप्त रूस से तो इस विषय में पूछा ही नहीं गया। इस प्रस्ताव से आत्मरक्षार्थ भी युद्ध करने का अधिकार नहीं रह जाता। सबसे बड़ी बात यह कि आज तक जो सन्धियां भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में राष्ट्रसंघ की रू से या स्वतन्त्र तौर पर हो चुकी हैं उनका इस प्रस्ताव से भंग होता है। वे सन्धियां भी स्वीकृत की जानी चाहिएँ। वस्तुतः बात यह है कि फ्रांस ने जैकोस्लोवेकिया, जुगोस्लेविया और रूमानिया आदि से इस आशय की सन्धि की हुई है कि यदि उनमें से किसी पर कोई अन्य राष्ट्र आक्रमण करे तो फ्रांस उनकी सहायता करेगा और यदि फ्रांस पर कोई देश आक्रमण करे, तो वे देश फ्रांस की मदद करेंगे। उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकृत करने से उनकी उपर्युक्त सन्धियां टूट जावेंगी। श्री ब्रियान्द ने यह भी कहा है कि यदि उक्त प्रस्ताव को स्वीकृत करने वाला कोई भी राष्ट्र इसके विपरीत आचरण करे तो अन्य सब राष्ट्रों को भी प्रस्ताव के बन्धन से मुक्त कर देना चाहिए।

इस तरह फ्रांस ने अमेरिका का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं किया। श्रीयुत किलौग ने आक्षेपों का उत्तर देते हुए कहा कि आत्मरक्षार्थ युद्ध करने के अधिकार से यह प्रस्ताव किसी को वञ्चित नहीं करता और न किसी राष्ट्र के प्रस्ताव को भंग कर देने पर युद्ध करने के अधिकार से ही वंचित करता है। राष्ट्रसंघ का सदस्य होता हुआ भी यदि फ्रांस अमेरिका से सब प्रकार के युद्धों को छोड़ने की संधि करने में कोई हानि नहीं समझता

तो संघके कई सदस्यों के परस्पर उक्त आशय की संधि करने में कोई हानि नहीं है । फ्रांस की तरफ़ से इसका संतोषप्रद उत्तर न मिलने पर अधिक प्रतीक्षा न कर किलौग ने उक्त प्रस्ताव इंग्लैण्ड जर्मनी, इटली और जापान के पास भेज दिया । फ्रांस ने इसे अपना अपमान समझा और वहां के पत्रों का वातावरण क्षुब्ध होगया। इस रोष के कारण फ्रांस के प्रधान मन्त्री श्री पोआंकारे जल्दबाज़ी में एक अदूरदर्शितापूर्ण कार्य कर बैठे । उन्होंने भी अमेरिका के मुकाबले एक शान्तियोजना बना कर इटली, इंग्लैण्ड, जर्मनी, जापान और अमेरिका के पास भेज दी। इस योजना में अमेरिका की योजना से यही भेद था कि इसमें वर्तमान सन्धियों की उपेक्षा नहीं की गई थी और आत्मरक्षार्थ युद्ध करने का अधिकार खुले शब्दों में दिया गया था। इसी तरह एक राष्ट्र के संधि तोड़ने पर और राष्ट्रों को भी स्वतन्त्र होने का अधिकार दिया गया है !

उक्त योजना में युद्ध की सम्भावना रक्खी गई है। इसका स्वागत किसी देश ने नहीं किया । यहाँ तक कि फ्रांस के कई अखबारों ने भी इस जल्दबाज़ी को अनुचित समझा । लण्डन के 'टाइम्स' ने लिखा कि फ्रांस यूरोप में सबसे अधिक दूरदर्शी है । दूरदर्शिता उसका बड़ा भारी गुण है। परन्तु यही उसका दोष भी है ।

वस्तुतः श्रीयुत किलौग भी फ्रांस की योजना से सहमत हैं, जैसा कि उनके प्रस्ताव की व्याख्या से पता लगता है, परन्तु उस आशय के शब्द उसमें रखने को तैयार नहीं। दोनों में अधिक भेद भी नहीं है । बहुत सम्भव है कि फ्रांस अपने को अकेला पाकर इस योजना पर हस्ताक्षर कर दे। गत वर्ष के राष्ट्रसंघ के इस आशय के प्रस्ताव से कि आक्रमणात्मक सब युद्ध बन्द कर दिये जायें और विवाद के निर्णय के लिए शान्तियुक्त उपायों को काम में लाया जाय, अमेरिकन प्रस्ताव में अधिक भेद नहीं है ।

'रिव्यू आफ़ रिव्यूज़' के सम्पादक किलौग के प्रस्ताव में निम्नलिखित लाभ देखते हैं—(१) यह प्रस्ताव राष्ट्रों के दिलों से युद्ध का विचार दूर करता है ।(२) इसकी स्वीकृति यूरोप और अमेरिका में अच्छा सम्बन्ध स्थापित कर देगी। (३) अमेरिका का यह भाव दूर हो जायगा कि यूरोप रक्तप्रिय है । (४) युद्ध की क्षतिपूर्ति के तरीकों में अमेरिका कुछ रियायत करेगा । (५) सामुद्रिक प्रतिस्पर्धा बन्द हो जायगी । इत्यादि

परन्तु क्या उपर्युक्त प्रयत्नों से संसार में शान्ति स्थापित हो सकती है ? दूरदर्शी राजनीतिज्ञ इन प्रयत्नों को कोई महत्व नहीं देते । उनकी दृष्टि में ये प्रयत्न निष्फल हैं; क्योंकि शान्ति की बातें करते हुए भी उन देशों के दिल साफ़ नहीं। श्रीयुत एच. एन. ब्रेल्सफ़ोर्ड ने लिखा है कि इस प्रस्ताव के प्रस्तावक श्रीयुत किलौग इसकी योजना बनाते समय अमेरिका के जंगी जहाज़ों के निकारागुआ पर चढ़ाई करने का समर्थन कर रहे थे । किलौग की अपनी सरकार अपने क्रूज़रों की संख्या तेज़ी से बढ़ा रही है । इधर आत्मरक्षा के बहाने जो युद्ध का अधिकार दिया गया है,उसकी पोल खोलते हुए वही आगे लिखते हैं कि आत्मरक्षा क्या है—अपने न्याय्य स्वार्थ (जिसे वह न्याय्य समझता हो) की रक्षा करना ही आत्मरक्षा है । अमेरिका एक दूसरी अन्तःसामुद्रिक नहर के रास्ते की रक्षा, जो कि उसका स्वार्थ है, के लिए निकारागुआ में सेना भेज रहा है । अमेरिका का रुपया भिन्न-भिन्न देशों में लगा हुआ है, अपने रुपये की रक्षा के बहाने वह युद्ध कर सकता है । इसी बहाने अंग्रेज़ मिश्र पर, संयुक्तराष्ट्र मध्य अमेरिका पर, जापान चीन और मंचूरिया पर अधिकार कर सकता है । दूसरी धारा पर विचार करते हुए वही आगे लिखते हैं कि इसमें विवाद-निर्णय का कोई निश्चित उपाय नहीं बताया गया है ।

वस्तुतः यदि शान्ति स्थापित करनी है, तो युद्ध की नीति को छोड़ने न छोड़ने का विचार छोड़ कर युद्ध के वास्तविक कारणों पर विचार करना चाहिए । महत्वाकांक्षा, सारे संसार का रुपया लूट कर अपने को समृद्ध करने की इच्छा ही इन युद्धों का वास्तविक कारण है । संसार के अच्छे उपजाऊ और खनिबहुल देशों के लिए ही युद्ध होते हैं । इसीलिए आज निर्बल राष्ट्रों को सताया जा रहा है । उनको पूर्ण स्वतन्त्र कर देना और निर्बलों के अधिकारों की रक्षा करना ही संधि का सच्चा प्रयत्न है ।

इस शान्ति के प्रहसन में एक बात बहुत विचित्र हुई कि भारतीय सरकार ने भी भारत की ओर से इस प्रस्ताव

से सहानुभूति दिखाई है। क्या इससे भारत को अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए, यदि युद्ध आवश्यक हुआ, तो युद्ध करने का अधिकार नहीं है?

रूस की हवाई शक्ति

वर्तमान अशान्त स्थिति में जब इङ्गलैण्ड रूस को नष्ट करने के लिए तरह-तरह के मंसूबे बांध रहा है, रूस के लिए भी अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाना अनिवार्य हो गया है। कुछ वर्षों से उसने हवाई जहाज़ों की ताक़त को बढ़ाने के लिए बहुत वेग से प्रयत्न किया है। उसने हवाई मशीनों के कल-पुर्ज़े बहुत तादाद में जर्मनी, हालैण्ड और इटली से ख़रीदे हैं। उसने अपने हवाई रास्तों को बहुत बढ़ा लिया है।

नई हवाई शक्ति बढ़ाने के लिए एक निश्चित राशि सोवियट सरकार देती है और शेष धन वहां की जनता देती है। वहां श्रीयुत एम० रिकौफ़ की अध्यक्षता में हवाई जहाज़ी बेड़े के मित्रों की सभा (The Society of Freinds of the Air Fleet) स्थापित हुई है। इसके सदस्य काफ़ी मात्रा में चन्दा देते हैं। गत वर्ष के अन्त में इसके सदस्य २०,००,००० थे। इसकी शाखायें सम्पूर्ण रूस में फैली हुई हैं। जनता को वहां यह अनुभव कराया जाता है कि हवाई बेड़ा उनकी अपनी मिलकियत है, इसलिए वह इसके लिए धन भी देती है। उसने १,२०,००,००० से अधिक रुपये दे भी दिये हैं। इस सभा की ओर से भी बहुत से जहाज़ बनते हैं।

वस्तुतः लन्दन से एमस्टर्डम, बर्लिन, मास्को, किव, उडेसा और काकेशस तक का सम्पूर्ण हवाई रास्ता (Aerial system) रूस और जर्मनी की कम्पनियों के अधीन हैं। काकेशस से बाकू और वहां से तेहरान तक का रास्ता भी रूस की हवाई कम्पनी के हाथ में है। १९२२ के फ़रवरी में फ़ारस की सरकार ने रूस की जंकर कम्पनी को पांच साल तक अपनी हवाई डाक के लेजाने का ठेका दिया है। इसी कम्पनी ने तुर्किस्तान में ताशकन्द से ख्येरनी तक का मार्ग ले लिया है और बुखारा खीवा के बीच में जहाज़ चलाती है। रूस ने अभी १२ हवाई जहाज़ अफ़ग़ानिस्तान को दिये हैं, जिनके कर्मचारी अधिकतर रूसी और जर्मन है। शेरपुर, जलालाबाद, कन्दहार, हैबक और चरिकार में हवाई अड्डे स्थापित किये गये हैं। इन पर रूस और जर्मनी का प्रभाव देख कर अंग्रेज़ सरकार बहुत चिन्तित हो रही है।

गतवर्ष उपर्युक्त मित्रसभा ने मास्को से पेकिंग तक का हवाई रास्ता तैयार कर लिया है। बहुत संभव है कि वह साइबीरिया पार कर मंगोलिया, मंचूरिया और चीन तक हवाई रास्ते बनवावे।

यह प्रक्रम केवल व्यापारिक उन्नति के लिए हो, यह असंभव है। इन रास्तों और हवाई जहाज़ों से युद्ध के अवसर पर बड़ी भारी सहायता मिलेगी, यह निश्चित है।

अफ़ग़ानिस्तान पर अंग्रेज़

अमीर अफ़ग़ानिस्तान की महत्त्वपूर्ण यात्रा समाप्त होने को है। इस यात्रा के महत्त्व तथा विशेष राजनैतिक घटनाओं पर हम इस स्तंभ में कई बार लिख चुके हैं। रूस से वह टर्की होते हुए फ़ारस पहुँचे। टर्की और फ़ारस की सरकारों से भी उन्होंने व्यापारिक और राजनैतिक सन्धि स्थापित की हैं। यदि अमीर की इस संपूर्ण यात्रा से किसी को भय उत्पन्न हुआ है, तो इंग्लैंड को। इस यात्रा के द्वारा अफ़ग़ानिस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत अधिक बढ़ गई है, इसमें सन्देह नहीं। अमीर ने सब देशों में जाकर अपनी स्थिति और महत्व को भी पहचान लिया है। इटली, जर्मनी, रूस, टर्की और फ़ारस से विशेष मित्रता के संबन्ध स्थापित किये हैं। अफ़ग़ानिस्तान को किस तरह उन्नत किया जाय और उसमें किस देश से क्या सहायता मिल सकती है, इसका अमीर ने पूरा ख़याल रक्खा है। कहने का अभिप्राय यह कि अमीर की यह यात्रा राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। उसकी इतनी उन्नति देख कर ही अंग्रेज़ उसे दबाने की कोशिश में हैं और इसीलिए वे सीमांत प्रांत में सैनिक तैयारियां कर रहे हैं, जिनका निर्देश हम गतांक में कर चुके हैं। नवीन आये हुए समाचारों से पता लगा है कि ये तैयारियाँ उससे बहुत अधिक हैं, जिनका हमने निर्देश किया था। अफ़ग़ान सीमा पर तीन क़िलेबन्दियों की तैयारियाँ हो रही हैं। पहला अड्डा पेशावर में है, जहाँ २५००० सैनिक, तीन हवाई दस्ते और बहुतसी

युद्ध की सामग्री विद्यमान है। एक सहायक अड्डा कोहाट में भी है, जहाँ दस हज़ार सैनिक तथा एक हवाई दस्ता मौजूद है। दूसरा अड्डा रज़मक में है, जहाँ २५००० सुव्यवस्थित सेना विद्यमान है। वहाँ से ग़ज़नी के अफ़ग़ान सैनिक अड्डे में जाया जा सकता है और अन्तिम अड्डा क्वेटा में है। यहाँ संसार का एक बड़ा हवाई जहाज़ों का अड्डा है। इसके अतिरिक्त रावलपिंडी में और २५१०० सैनिक रक्खे गये हैं। एक लाख सैनिक और भी रक्खे जावेंगे।

हमने गतांक में यह भी लिखा था कि इससे अफ़ग़ानिस्तान के डरने का कोई कारण नहीं है। अफ़ग़ानिस्तान की सहायता के लिए टर्की और फ़ारस के अतिरिक्त शक्तिशाली रूस है, जो अपनी सैनिक शक्ति—विशेषतः हवाई सेना को बढ़ाने की वेग से तैयारी कर रहा है। इन सब शक्तियों की सहायता पाकर अफ़ग़ानिस्तान के पास काफ़ी ताक़त हो जायगी। फिर भारतवर्ष—राष्ट्रीय भारत तथा मुस्लिम भारत की तरफ़ से अंग्रेज़ों के सामने काफ़ी बाधायें आवेंगी। इसलिए अंग्रेज़ अफ़ग़ानिस्तान को दबाना जितना सरल समझते हैं, उतना सरल नहीं है। तथापि युद्ध होना अवश्यंभावी है और शीघ्र ही हमें भारत के सीमान्त पर लड़ाई के बादल मंडराते हुए दीखेंगे।

क्या इस सुअवसर से भारत के राष्ट्रीय नेता कुछ लाभ उठाने की कोशिश करेंगे?

चीन की स्वतन्त्रता

इस मास का सबसे अधिक हर्षप्रद समाचार है चीन के राष्ट्रीय दल का पेकिंग पर अधिकार। चांगसोलिन और उसका दल पहले ही उसे छोड़ कर मञ्चूरिया चला गया था। इससे राष्ट्रीय दल का वहां बिना रक्त-पात के अधिकार हो गया। राष्ट्रीय दल ने सबसे पहले विज्ञप्ति निकाल कर विदेशी राष्ट्रों से यह प्रार्थना की है कि चीन विदेशी राष्ट्रों से सहयोग करने के लिए सदा तैयार है। वह उनकी मित्रवत् सहायता से लाभ भी उठायगा। किन्तु आपस में किसी प्रकार की ग़लतफ़हमी न हो, इसलिए यह आवश्यक है कि विदेशी सेनायें चीन से बुला ली जावें। इस विज्ञप्ति में यह भी कहा गया है कि विदेशी सेनाओं के विदेशियों की रक्षा के बहाने चीन में रहने का परिणाम यह होगा कि चीन यह घोषित कर दे कि विदेशियों का चीन में आना मना है। अब सब सन्धियां नयेरूप से समानता और परस्पर सन्मान की दृष्टि से की जावेंगी।

इस विज्ञप्ति का अबतक किसी राष्ट्र ने कोई उत्तर नहीं दिया। बहुत संभव है कि इंग्लैण्ड और जापान दोनों इस विज्ञप्ति को स्वीकार करने से इन्कार कर दें और फिर युद्ध प्रारम्भ हो जाय। यह तो निश्चित सा है कि ये दोनों देश कभी स्वेच्छा से विदेशी सेनायें हटाने पर तैयार न होंगे। चीन ने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य पाने के लिए बहुत बाधाओं को दूर किया है, अब उसे केवल बाहरी आक्रमण को नष्ट करना है। हमारा विश्वास है कि चीन इस बाधा पर भी विजय प्राप्त करेगा।

राष्ट्रीयदल ने पेकिंग से नानकिंग में चीन की राजधानी स्थापित की है, क्योंकि वहां राष्ट्रीय दल का प्रभाव अधिक है। इससे चीन की सारी क्रियाओं का केन्द्र नानकिंग हो जायगा। अस्तु।

यह तो निश्चित है कि केवल इस विजय से चीन स्वतन्त्र नहीं होगया और न वहां का शासन शान्तिमय तथा सुव्यवस्थित हो जायगा। बहुत संभव है विदेशी शक्तियां वहां की जनता को राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध द्रोह करने के लिए उभाड़े, ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय सरकार को दमन की नीति अख़्तियार करनी पड़े। यह भी सम्भव है कि विदेशी शक्तियां चांगसोलिन को ही फिर से उत्साहित करें अथवा वर्तमान राष्ट्रीय दल के नेताओं में से किसी को प्रलोभन देकर अलग करलें। ऐसी अवस्था में चीन के सामने फिर वही बाधायें उपस्थित हो जायंगी। इस समय सबसे अधिक आवश्यक कार्य यह है कि चीन के नेता देश के वैध शासन की स्थापना करें और देश में शान्ति स्थापित करने का यत्न करें। यह मुमकिन है कि आज की अवस्था में लोकतन्त्र के आदर्श सिद्धान्तों का पालन न कर कुछ काल के लिए किसी योग्य व्यक्ति को शासक बना दिया जाय, क्योंकि ऐसे अवसरों पर प्रजातंत्र के लिए काम करना कुछ कठिन ही होता है।

कृष्ण

देश दर्शन

सामान्य वातावरण

देश का वातावरण इस मास पहले से भी अधिक क्षुब्ध और अशान्त है। अभी तक कोई सत्याग्रह बन्द नहीं हुआ। सभी जारी हैं। कानपुर में अतिरिक्त कर न देने का सत्याग्रह ज़ोरों पर है। पटुआखाली का सत्याग्रह जारी है। बारडोली-सत्याग्रह की गम्भीरता बढ़ गई है। मज़दूरों की हड़ताल भी शान्त नहीं हुई। मालवीयजी बम्बई में पूंजीपतियों और मज़दूरों में समझौता कराने के लिए गये थे। उन्होंने कुछ प्रयत्न किया भी। उससे आशा हो चली थी कि अब यह पारस्परिक संग्राम शान्त हो जायगा। कुछ ऐसे समाचार भी मिले थे कि मिल-मालिक समझौता करने के लिए तैयार हैं, परन्तु अब तक कुछ हुआ नहीं। सारी परिस्थिति वैसी ही अशान्त है। कानपुर की एल्गिन मिल के मज़दूरों ने भी हड़ताल की थी, पर अब सन्मानयुक्त समझौता हो गया है। इसी तरह जमशेदपुर में भी कोई शान्ति नहीं। अब तो ऐसा मालूम पड़ता है कि मज़दूरों ने यह निश्चय कर लिया है कि अब एक बार तो पूंजीपतियों को परास्त कर छोड़ेंगे। कारखाने के मालिक भी अपनी हठ पर दृढ़ हैं। परस्पर कोई समझौता न होने से देश को करोड़ों रुपयों का नुकसान हो रहा है। कारखानों के इस तरह बंद हो जाने के कारण विदेशी कारखानों को अपना माल यहाँ भेजने का सुअवसर मिल गया है। पता नहीं, यह कशमकश कब समाप्त होगी और इसका क्या परिणाम निकलेगा।

इस वर्ष की ईद भी रक्त-पात से खाली नहीं गई। खोप्ता, मलिकपुर आदि कई स्थानों पर दंगे हो गये। कई स्थानों पर तो पुलिस और जनता का झगड़ा हुआ और दो एक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम। परन्तु यह संतोष की बात है कि वे ज़्यादा ख़तरनाक नहीं हुए और न उनमें इतनी मारकाट हुई जितनी पुलिस ने जनता पर गोलियाँ चलाई।

इसके अलावा देश में साइमन-कमीशन के बहिष्कार व सहयोग की फिर चर्चा चली है। सरकार की ओर से निरन्तर प्रयत्न होरहा है कि कमीशन के लिए सहयोग प्राप्त किया जाय। संयुक्तप्रान्त के मन्त्री श्री राजराजेश्वरबली और डा० राजेन्द्रसिंह ने जनता की इच्छानुसार साइमन-कमीशन से सहयोग करने से इन्कार कर दिया था। इसलिए उन्हें गवर्नर की आज्ञा से मन्त्रिपद से इस्तीफ़ा देना पड़ा है। उन्होंने आत्मसन्मानपूर्वक अपने इस्तीफ़े दे दिये, जो स्वीकृत हो चुके हैं। इधर पञ्जाब कौंसिल ने साइमन-कमीशन की सहायता देने के लिए एक कमिटी बनाई है। पञ्जाब के गवर्नर उसके सदस्यों को सरकारी रिपोर्ट बनाने के लिए बाधित कर रहे हैं, जिसकी पोल 'पायोनियर' ने खोल दी। इसी तरह और भी कई प्रयत्न हो रहे हैं, परन्तु सबमें मुख्य कण्ट्री लीग (Country league) का बनाना है। देश के शत्रुओं, राजभक्तों, जी हुज़ूरों, धनी-मानी पुरुषों ने मिलकर उक्त नाम की सभा स्थापित की है। इसकी नीति दिखाने के लिए दो तीन अंग्रेज़ भी इसके सदस्य हैं। इसका मुख्य उद्देश्य साइमन-कमीशन से सहयोग करना है। श्रीयुत मोतीलाल नेहरू ने इसके विषय में कहा है कि इससे एक बड़ा फ़ायदा हो जायगा कि हमें देश के शत्रुओं की पूरी सूची मिल जायगी। कांग्रेस को साइमन-कमीशन के बहिष्कार के आन्दोलन पर विशेष ज़ोर देना चाहिए।

महामना मालवीय जी की एक विज्ञप्ति पर भी देश का ध्यान खिंचा है। वह १९३० के भीतर भारत में स्वराज्य या पूर्ण उत्तरदायी शासन का अधिकार पाने के सम्बन्ध में भारत में एक व्यापक आन्दोलन करने की नयी योजना तैयार कर रहे हैं। इसका उद्देश्य भारत का आर्थिक उद्धार करना है। मालवीय जी का कहना है, कि उनकी योजना से १९३० तक स्वराज्य लिया जा सकता है। हम उक्त योजना की बहुत उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं। कृष्ण

वीर बारडोली

गताङ्क में पाठक बारडोली-सत्याग्रह के सम्बन्ध में यह बात जान चुके हैं कि सत्याग्रह किन-किन परस्थितियों और मजबूरी में पड़ कर शुरू किया गया था। 'त्यागभूमि' के गताङ्क के प्रकाशन के बाद से बारडोली-सत्याग्रह का रूप पहले से अधिक भीषण और विषम बन गया है। मदान्ध नौकरशाही पहले से अधिक निरङ्कुश अत्याचारी और क्रूर बन गई है। उसकी पाशविकता, बर्बरता और पतन का इससे नंगा चित्र बारडोली में इससे पूर्व नहीं देखा गया था। बम्बई प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा के अनेक सदस्यों ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया और इस बात की कोशिश की कि मामला सुलझ जाय, सरकार एक निष्पक्ष जांच कमिटी नियुक्त करदे और वास्तविक स्थिति को जान ले,परन्तु हठी सरकार ने उनकी इस सादी और निर्दोष मांग को भी उनकी अनधिकार चेष्टा समझी। इसके विरोध-स्वरूप बम्बई व्यवस्थापिका सभा के अनेक स्वाभिमानी और न्याय-प्रिय सदस्यों ने इस्तीफ़ा दे दिया। सिंध के मीर मुहम्मद बलूच ने भी अपनी कौंसिल की मेम्बरी से इस्तीफ़ा दे दिया है। वह प्रयत्न कर रहे हैं कि अन्य मुसलमान सदस्य भी त्यागपत्र दे दें। बारडोली के ६९ पटेल तथा १३ पटवारियों ने त्यागपत्र दे दिया है। बारडोली के किसानों पर इस समय जो अत्याचार हो रहा है उन्हें पढ़ कर रोमांच हो आता है। पांच-पांच रुपये के लिए उनका पचासों रुपयों का माल जप्त कर लिया जाता है। घर के कपड़े-लत्ते,बरतन तथा मवेशी आदि सब कुछ, जो हाथ पड़ता है, छीन लिया जाता है, उनकी ज़मीनें, जायदाद तथा सम्पत्ति सब छीन ली जा रही है। लोग इन सब अत्याचारों को बड़ी धीरता और वीरता के साथ सह रहे हैं। कुर्की और दमन के निकृष्ट कार्य में सरकार को भले आदमियों की सहायता नहीं मिली। अतः उसने पठान गुण्डों को तैनात कर रक्खा है। ये पठान गुण्डे वे हैं जिनको बम्बई से निकालने तथा वहां पर उनके गुण्डेपन को कम करने के लिए बम्बई-सरकार को एक "गुण्डा क़ानून" बनाना पड़ा था! ये लोग वहां पर जैसी बेहयाई तथा नीचता से पेश आ रहे हैं उसे सुन कर खून खौलने लगता है? ये लोग स्त्रियों को घरों में से घसीटते हैं, रास्ते में, सड़क पर, स्त्रियों की ओर मुंह करके पेशाब करने बैठ जाते हैं, कुँए पर पानी भरती हुई स्त्रियों के बीच में नंगे खड़े हो जाते हैं, राह चलती लड़कियों को छेड़ते हैं! यह सब कुछ हो रहा है, हिंसात्मक बनाने के लिए हर प्रकार की उत्तेजना मिल रही है, परन्तु फिर भी लोग शान्त है! वे सच्चे लड़ाके धीर-वीर

श्रीयुत चिम्मनलालजी चिनाय

ये वीर वैश्य सूरत के रहने वाले हैं, आप बारडोली कस्बे में सत्याग्रह के प्रमुख प्रबन्धक थे, इसी अपराध में आपको ८ मास तथा २० दिन की सख्त सज़ा हुई है। सन् १९२३ में भी आपको दो साल की सख्त सज़ा का दण्ड हुआ था।

सैनिक हैं। वे इस बात को जानते हैं कि यदि हम उत्तेजित हो गये और कहीं कुछ कर बैठे तो सरकार को शान्ति और व्यवस्था के नाम पर अपनी हिंसात्मक पशुवृत्ति का प्रदर्शन करने का मौक़ा मिल जायगा। रक्त की नदियां बह जायँगी। और इस प्रकार भय और आतंक का साम्राज्य स्थापित करके सरकार इस शान्तिपूर्ण धर्मयुद्ध का अन्त कर देगी। बारडोली के विवेकशील और दूरदर्शी किसान सरकार की मन्शा को समझते हैं, इसीलिए, अपनी इज़्ज़त पर हमला होते हुए देख कर भी वे बदले या हिंसा की भावना से प्रेरित नहीं होते। वे जानते हैं कि बारडोली का सत्याग्रह-संग्राम सारे देश का संग्राम है, उसकी जीत और हार सारे देश की हार-जीत है। यही कारण है, देश की भलाई की यही भावना है, जो उत्तेजना मिलने पर भी शान्त बनाये हुए है। धन्य है संयम, धन्य है साहस, और धन्य है वह देश-प्रेम जिसके लिए आदमी अपनी इज़्ज़त पर होते हुए निकृष्टतम प्रहारों को इस धैर्य के साथ सह लेता है!

आजकल हिन्दू-मुस्लिम कलह का युग है। सरकार ने उससे लाभ उठाने में भी कोई कसर नहीं रक्खी। हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उभाड़ने के लिए ही ये पठान गुण्डे यहां पर तैयार किये हैं। अन्यथा सरकार की इतनी फ़ौज और पुलिस कहां गई! यदि देशी फ़ौज और पुलिस से यह काम लेना उचित नहीं था तो सरकार ने फ़ौजी गोरों को क्यों नहीं भेजा? परन्तु गोरों के भेजने से तो उसके उद्देश्य की पूर्ति कैसे होती! लेकिन जिस प्रकार लोगों को हिंसा के लिए उत्तेजित करने में सरकार की हार हुई उसी प्रकार हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उभाड़ने में भी हुई। बारडोली के हिन्दू-मुसलमान सगे भाई और सच्चे सैनिकों की भांति कंधे से कंधा मिला कर इस लड़ाई को लड़ रहे हैं।

सांधी और तपस्वी रविशंकरजी हैं, इन्हें पांच मास और दस दिन की सज़ा हुई है।

युद्ध की बढ़ती हुई भीषणता और सरकार की बढ़ती हुई बर्बरता ने देश के अन्दर एक देशव्यापी हलचल पैदा कर दी है। गत १२ जून को देशभर में बारडोली-दिवस मनाया गया, बम्बई में तो हड़ताल भी हुई। राष्ट्रपति अनसारी और महात्मा गांधी ने जनता से धन के लिए अपील की है। देश के हर कोने से हज़ारों स्वयं सेवकों ने सत्याग्रह के नेता श्री वल्लभभाई पटेल से बारडोली पहुंच कर सत्याग्रह करने की अनुमति मांगी है। चारों ओर से ग़रीब-अमीर सभी सत्याग्रह के लिए आर्थिक सहायता भेज रहे हैं। बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सभापति श्री विट्ठलभाई पटेल ने एक हज़ार रुपया मासिक सत्याग्रह की सहायता के लिए तब तक देने का निश्चय किया है जब तक कि सत्याग्रह

अमीर सभी सत्याग्रह के लिए आर्थिक सहायता भेज रहे हैं। बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सभापति श्री विट्ठलभाई पटेल ने एक हज़ार मासिक रुपया सत्याग्रह की सहायता के लिए तब तक देने का निश्चय किया है जब तक कि सत्याग्रह जारी रहे। पूज्य ला० लाजपतराय ने पांच सौ रुपये की रक़म सत्याग्रह के लिए भेजी है। इस प्रकार अब तक एक लाख से अधिक की रक़म सत्याग्रह की सहायतार्थ पहुँच चुकी है। अभी हाल ही में बम्बई-कौंसिल के सदस्य श्री० मुंशी ने बम्बई के गवर्नर साहब से समझौते के लिए पत्र-व्यवहार किया। गवर्नर महोदय उत्तर में अपनी बड़ी चिन्ता और परेशानी ज़ाहिर करते हैं। लेकिन वह चाहते यह हैं कि लोग सत्याग्रह बन्द कर दें और लगान देने लगें तब उनकी सरकार उनकी अवस्था पर विचार करेगी। इसके मानी हैं कि लोगों की उचित और न्याय पूर्ण मांग के सामने झुकना सरकार अपना अपमान समझती है। परन्तु वह है घबराई हुई। इधर डा० अन्सारी ने "सेनापति गांधी" को तार दिया है कि देहली बारडोली के साथ है। सुना है कि आवश्यकता पड़ने पर महात्माजी सत्याग्रह का नेतृत्व ग्रहण करने के लिए तैयार हैं। इस सत्याग्रह का असर अन्य प्रान्तीय सरकारों पर भी पड़ा है। पंजाब के कुछ भाग के किसानों ने फ़सल मारी जाने के कारण सरकार से प्रार्थना की कि इस वर्ष का लगान माफ़ कर दिया जाय। पहले तो सरकार ने कुछ आना-कानी करनी चाही, परन्तु लोगों ने सत्याग्रह की धमकी दी। इसलिए सरकार ने वहाँ का लगान माफ़ कर दिया। ठीक ऐसी ही घटना अभी हाल ही में बंगाल में भी घटी है। सरकार यह नहीं चाहती कि ऐसे विकट समय में देश भर में सत्याग्रह शुरू हो जाय। परन्तु वह चाहे या न चाहे, आग तो सुलग ही गई है और सारे देश के किसान बारडोली के सत्याग्रह की ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं। वे उसकी हर प्रकार से सहायता करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अनेक लोगों को आशंका है कि कहीं यही आग अवध के किसानों में भी न प्रज्वलित हो उठे।

(बाईं ओर से दाहिनी ओर) श्रीयुत शिवानन्द जी और श्री अमृतलाल जी जिन्हें नौ-नौ मास की सख्त कैद हुई है। श्री सन्मुखलाल जी जिन्हें ६ माह की सख्त कैद हुई है। ये तीनों सज्जन वालोद के वैश्य जातिके कार्य्यकर्ता हैं। सबसे अन्त वाले सुप्रसिद्ध साहूकार हैं। अन्य दोनों सज्जन काठियावाड़ के कार्य्यकर्त्ता हैं।

इधर आगरा प्रान्त के अनेक ज़िलों में फ़सल मारी जाने के कारण किसानों की स्थिति बड़ी दयनीय हो गई है। खास प्रार्थना करने पर भी उनसे सरकार ने लगान वसूल कर ही लिया! आजकल युक्तप्रान्त के अनेक ज़िलों में बन्दोबस्त हो रहा है। सदा की भांति बन्दोबस्त में लगान बढ़ाया जा रहा है। इसके लिए वे आन्दोलन कर रहे हैं। मध्यप्रांत में कई ज़िलों में फ़सल बिलकुल मारी गई थी। किसानों ने सरकार से अनेक बार प्रार्थना की, परन्तु पहले सरकार बिलकुल न झुकी। अन्त में वहाँ के किसान बारडोली का अनुकरण करने का निश्चय करने लगे। बारडोली के सत्याग्रह के देशव्यापी सत्याग्रह न बन जाने के भय से मध्यप्रान्तीय सरकार ने चुपचाप चार लाख से अधिक रुपये का लगान छोड़ दिया।

बारडोली-सत्याग्रह की विकरालता और दृढ़ता को देख कर सरकार चाहती है कि किसी प्रकार समझौता हो जाय, परन्तु समझौते की बात वह अपने मुँह से कहना नहीं चाहती। बम्बई के व्यापारी मण्डल का डेपुटेशन बम्बई सरकार पर समझौते के लिए दबाव डाल रहा है। इधर श्री मुन्शी की अध्यक्षता में धारासभा के नरमदल के कुछ नेताओं ने बारडोली की स्थिति की जाँच शुरू कर दी है और सरकारी नौकरों तथा अधिकारियों को भी अपना पक्ष रखने के लिए निमंत्रित किया है। भारत-सेवक-समिति की ओर से पं० हृदयनाथजी कुंजरू तथा श्री वझे बारडोली की स्थिति की जांच करने के लिए नियुक्त किये गये हैं। यह देख कर सरकार हक्की-बक्की सी रह गई है। अब तक तो उसे यह भ्रम था कि सिर्फ़ असहयोगी लोग ही इसमें योग-दान कर रहे हैं। परन्तु सदा सरकार का साथ देने वाले लोगों को भी बारडोली के किसानों की मुसीबतों की ओर झुकता हुआ देख कर सरकार अपनी वास्तविक स्थिति को समझ रही है। बारडोली-सत्याग्रह के नेता श्री० पटेल ने भी किसानों की ओरसे सम्मानयुक्त समझौते के लिए अपनी सम्मति प्रकट कर दी है। अच्छा हो यदि सरकार अपने मानापमान का मिथ्या ख्याल छोड़ कर समझौता कर ले अन्यथा इस बार तो सहयोगी भी सरकार से असहयोग करेंगे। कौंसिल के जिन मेम्बरों ने बारडोली का पक्ष लेते हुए अपनी मेम्बरी से इस्तीफ़ा दिया था, कहा जाता है कि, वे बिना विरोध ही चुने जा रहे हैं। आज (२७ जून) समाचार आया है कि ६ पटेलों ने और इस्तीफ़े दे दिये। अब तक जिन पटेलों ने इस्तीफ़े दिये थे उनको कमिश्नर ने मिलने के लिए बुलाया था, परन्तु उन्होंने सरकार की इच्छा पूरी करने से इन्कार कर दिया। आगे चलकर क्या होगा इसकी राह बड़ी उत्सुकता से देखी जा रही है।
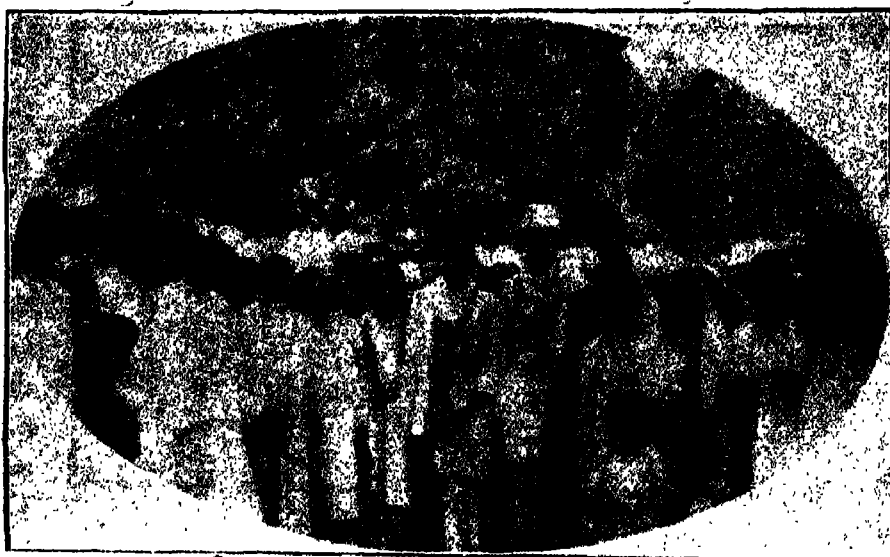
उपर्युक्त तीनों सत्याग्रहियों का जेल जाते समय सन्मान

शर्म्मा

भग्नावशेष

खण्डहरों की रक्षा और आदर

बटलर-कमिटी के विषय में पहले-पहल वाइसराय के काठियावाड़ के दौरे के समय भनक सुनाई दी थी। अगर हमें ठीक तरह से याद है, तो नवानगर के जामसाहब ने देशी नरेशों के पक्ष को लेकर कहा था—चूँकि ब्रिटिश भारत में साइमन-कमीशन सुधारों की जाँच करने के लिए आ रहा है इसलिए हमारे सन्धि, सुलह, अधिकार, सम्मान आदि के विषय में भी फिर से विचार हो जाना ज़रूरी है। वाइसराय ने फ़ौरन जवाब दिया—अवश्य, आपके सम्मान इत्यादि के विषय में विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। और उसी समय उन्होंने बटलर-कमिटी की नियुक्ति की घोषणा कर दी। नरेन्द्र-समुदाय को यह आश्वासन पा कर संतोष हुआ।

उसके बाद कमिटी आई और उसने कन्याकुमारी से लेकर काश्मीर तक सारे देश में घूम-घाम कर अपनी रिपोर्ट के लिए आवश्यक सामग्री एकत्र कर ली। अब वह अपनी रिपोर्ट तैयार करने में लगी हुई है। किन्तु नरेशों ने सोचा, क्या पता, यह कमिटी अपनी रिपोर्ट में क्या-क्या सिफ़ारिश करे! अतः उन्होंने बेहद फ़ीस देकर अपनी तरफ़ से एक वकील नियत किया और साम्राज्य-सरकार के सामने अपनी तरफ़ से पेश करने के लिए एक योजना बनवाई। वकील का नाम है सर लेसली स्कॉट। उन्होंने जो योजना बनाई है, वह पिछले महीने अनेक हिन्दी-अंग्रेज़ी अख़बारों में प्रकाशित हुई है। और आजकल सारे देश में वह चर्चा का विषय हो रही है।

योजना का प्रधान उद्देश है देश में "जिन राजनैतिक और आर्थिक अधिकारों का उपभोग करने के नरेश वास्तविक हक़दार हैं उनकी रक्षा की जाय और साधन-सम्पत्ति के विकास और सुशासन की प्रगति करने के प्रयत्नों में उन्हें सुविधायें कर दी जायँ।" इत्यादि।

सर लेसली स्कॉट इस उद्देश की पूर्ति के लिए नीचे लिखी तीन बिलकुल नवीन संस्थायें बनाने की सिफ़ारिश करते हैं—

(१) वाइसराय-युक्त भारतीय राज्य-परिषद् (Viceroy in Indian states' Council)।

(२) संयुक्त-परिषद् (The Union Council) अर्थात् पारस्परिक मामलों के निर्णयार्थ भारतीय राज्य-परिषद् और गवर्नर-जनरल की परिषद् (Council) की सम्मिलित बैठक।

(३) संयुक्त-प्रधान न्यायालय (Union Supreme Court)।

भारतीय राज्य-परिषद् में नीचे लिखे अनुसार सात सभ्य होंगे—

१. वाइसराय (अध्यक्ष)।

२. दो ऐसे अंग्रेज़, जिनका भारत से कभी कोई सम्बन्ध न रहा हो।

३. नरेशों के तीन प्रतिनिधि।

४. एक राजनैतिक विभाग का अधिकारी।

वाइसराय और भारतीय राज्य-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को नरेशों और सामन्तों के क़ानूनी अधिकार, सत्ता और प्रतिष्ठा सहित राज्यों की रक्षा करने की पवित्र प्रतिज्ञा लेनी पड़ेगी। नरेन्द्र-मण्डल की स्थायी समिति को भी यह अपनी बैठकों में सम्मिलित करेगी।

संयुक्त-परिषद् का काम है फ़ौज और विदेशों सम्बन्धी ऐसे मामलों में देशी नरेश तथा ब्रिटिश भारत दोनों के हितों पर विचार करके और जहां वे एक दूसरे के विरोधी दिखाई दें वहां उनका समन्वय करके उनकी रक्षा-वृद्धि करना।

संयुक्त-प्रधान न्यायालय देशी नरेशों के आपसी तथा ब्रिटिश भारत, देशी नरेशों और साम्राज्य सरकार के

बीच के मामलों का निर्णय करेगा। इसमें एक प्रधान न्यायाधीश (Chief justice) और ग्रेट ब्रिटेन के सर्व-श्रेष्ठ आदमियों में से दो जज नियुक्त किये जावेंगे।

देशी नरेश अपनी सत्ता और सुख के लोभ से इस समय बड़े ही घातक चक्र में पड़े हुए हैं। वे चाहते हैं कि उनकी सत्ता और शान अक्षुण्ण हीं न रहे बल्कि कुछ और बढ़े। किन्तु ब्रिटिश भारत में दिन ब दिन अंग्रेज़ी सरकार के प्रति असंतोष की जो आग भभकती जा रही है और संसार में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति जितनी तेज़ी से बदली जा रही है उसे देखते हुए उनके चित्त में यह सन्देह नहीं रहा है कि अब भारत शीघ्र ही स्वराज्य प्राप्त कर लेगा। और उनके मन में यह प्रश्न उठता है कि जब शासन परिवर्तन होगा तब हमारी अवस्था क्या होगी? वे जानते हैं कि स्वराज्य-शासन में तो प्रजासत्ताक शासनप्रणाली होगी। तब इनको उसकी अधीनता में एक महान राष्ट्र के अंग बन कर रहना होगा। इधर इस सुधार की हवा से अपने प्रजाजनों को भी सुरक्षित रख सकने में उन्हें संदेह है। देशी राज्यों की प्रजा में शिक्षा और प्रजासत्ता के भावों का संचार होते ही वह रोके नहीं रुकेगी। उस समय देशी नरेशों की यह शान, यह विषय-विलास, यह धन की बरबादी कैसे चल सकती है? इन सब बातों को सोच कर देशी नरेशों ने अपनी स्थिति सम्हाले रखने की ग़रज़ से यह उचित समझा कि अपना सम्बन्ध सीधे साम्राज्य सरकार से जोड़ लें। और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में कम से कम ब्रिटिश भारत से भिन्न अपना अस्तित्व क़ायम कर लें।

इधर साम्राज्य-सरकार भी इस बात को साफ़ तौर से जानती है कि कभी न कभी भारतीय शासन उसके हाथ से अवश्य जायगा और भारत स्वराज्य का उपभोग करेगा। सत्ता उसके हाथों से धीरे-धीरे जाने ही को है। इस अवस्था में उसे किसी सहारे की बड़ी भारी ज़रूरत है। देशी नरेश इस समय सरकार को कुछ सहारा दे सकते हैं। वह देशी राज्यों की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी (प्रतिज्ञा द्वारा) अपने सिर पर लेने के बहाने भारत में अपनी सत्ता के क़िलों को मज़बूत कर रही है। क्योंकि इनकी रक्षा के बहाने वह भारत की फ़ौज तथा वैदेशिक व्यापार आदि कई बातों पर अपना अंकुश रख सकेगी। और यदि सेना जैसे महत्वपूर्ण विभागों पर अंग्रेज़ों का ही अधिकार बना रहा तो भारत की कोई महत्वपूर्ण राजनैतिक उन्नति नहीं हो सकती। इस तरह ब्रिटिश भारत और अपने प्रजाजनों को छोड़ कर साम्राज्य-सरकार की शरण लेने वाली नरेशों की नीति पहले देश के लिए और अंत में खुद उनके लिए भी अत्यन्त घातक है। क्योंकि यह निश्चित है कि अंग्रेज़ी सत्ता के पैर ब्रिटिश भारत से उखड़ते ही वह देशी राज्यों के शरीर में अपने पंजे और भी गहरे घुसाने की कोशिश करेगी। और निश्चित रूप से वहाँ का सारा शासन-प्रबन्ध अपने हाथों में ले लेगी। तब देशी नरेशों की दशा बड़ी दयनीय होगी। अपने प्रजाजनों को साथ में न ले कर तथा साम्राज्य-सत्ता से सीधे सम्बन्ध जोड़ कर वे लोकसत्ता को अपनी तरफ़ से उदासीन तो बना ही रहे हैं, उधर साम्राज्य सरकार भी जब उन्हें निगलने लगेगी तब न तो उससे लड़ने की शक्ति उनमें बची रहेगी और न उनकी पुकार पर दौड़ आने की किसी की इच्छा होगी। देशी नरेशों की भावी स्थिति का यह चित्र और भी दयनीय है!

पर नरेशों की सारी ही कार्यवाही आश्चर्यजनक है। अपने लिए हितकर योजना बनाने के लिए भी उन्हें सर लेस्ली स्कॉट जैसा अंग्रेज़ ही मिला! और उसने योजना भी कैसी बनाई है? शब्दाडम्बर को छोड़ कर उसके असली स्वरूप को देखते हुए हमें पता नहीं चलता कि वह उनके हितों की क्या रक्षा करेगी? सेना वग़ैरा रखने के अधिकार का कहीं पता तक नहीं! नाम मात्र के लिए जो तीन संस्थायें बनी हैं उनमें देशी नरेशों के पक्ष के लोगों की संख्या भी कम है—

	नरेशों के आदमी	सरकार के
भारतीय राज्य-परिषद्	३	४
प्रधान न्यायालय	...	३
संयुक्त राज्य-परिषद्	इसमें भी बहुमत सरकारी पक्ष का है।	

जहाँ नरेशों के और सरकार के हितों में विरोध होगा वहाँ ये विदेशी अधिकारी अपने स्वदेश के लाभ का ख़्याल करेंगे या इन नरेशों के हित का? इसके तो मानी हैं इंग्लैंड का प्रभुत्व!

पर हमें मालूम हुआ है कि स्वयं राजाओं में भी इस योजना पर मतभेद है। सर रामस्वामी अय्यर कहते हैं—

"मैं यह स्पष्टरूप से कह सकता हूँ कि जिन रियासतों से मेरा सम्बन्ध रहा है और बम्बई आदि में जिन नरेशों से मैंने सलाह की है वे—अर्थात् बड़ौदा, मैसूर और कोचीन वाले तथा कुछ राजपूताने के और मध्यभारत तथा उड़ीसा के कितने ही रजवाड़े—योजना के मुख्य अंश के स्पष्टतः विरोधी हैं। यह सही है, जैसा कि पटियाला नरेश ने कहा है, कि एक प्रकार से सभी रजवाड़े मुख्य विषय में एकमत हैं, अर्थात् वे चाहते हैं कि अपने राज्य का भीतरी प्रबन्ध बहुत अच्छा रक्खें, ब्रिटिश भारत से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में सम्मिलित भाव से सहयोग करें और आधुनिक शासन-प्रणाली पर पूरी दृष्टि रखते हुए संयुक्त संघटन करें। मगर ऊपर लिखे सभी नहीं तो अधिकांश रजवाड़ों की राय है कि योजना में जो उपाय बताया गया है वह इन उद्देशों की पूर्ति के लिए काफ़ी नहीं है। इसके सिवा वह न तो व्यावहारिक होगा और न शासन-प्रणाली की साधारण उन्नति में ही सहायक होगा।"

पण्डित मोतीलाल नेहरू ने भी कहा है—

बटलर-कमिटी का उद्देश है ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के बीच एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर देना है—

"ब्रिटिश मन्त्रि-मण्डल के स्थान पर अगर मैं होऊँ, तो मैं सोचूँगा—'आओ ब्रिटिश भारत को हम साइमन-कमीशन के विवाद के चक्कर में लगाये रक्खें और इधर ब्रिटिश भारत और देशी नरेशों के बीच एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी करके दोनों को अपना मुहताज बनावें। नरेश राजनैतिक अदूरदर्शिता के कारण ब्रिटिश भारत की राजनैतिक प्रगति को देख कर अवश्य ही चौंकेंगे और ऐसे हर प्रस्ताव को खुशी-खुशी स्वीकार कर लेंगे, जिसमें उन्हें अपनी सत्ता, प्रतिष्ठा और भीतरी स्वाधीनता की रक्षा का आश्वासन दिखाई देगा। और बटलर-कमिटी की सिफ़ारिशों और प्रस्तावों को स्वीकार करते ही यह विवादग्रस्त सवाल भी अपने आप हल हो जावेगा कि देशी नरेश भारत-सरकार से सम्बद्ध हैं या साम्राज्य सरकार से। यह सम्भव नहीं कि साइमन-कमीशन ऐसी सिफ़ारिश करे जिससे ब्रिटिश भारत औपनिवेशिक स्वराज्य के कुछ भी निकट पहुँचे। परन्तु निस्सन्देह उसके लिए माँग तो ऐसी ज़ोरों की है कि उसे मारने के लिए कोई तेज़ हथियार हमारे हाथों में होना ज़रूरी है। और इसके लिए यह अच्छा उपाय है कि नरेशों को तो नाममात्र के लिए स्वतन्त्र राजत्व का अधिकार दे दिया जाय और इस जाँच कमिटी की सिफ़ारिशों के अनुसार ग्रेट-ब्रिटेन इन नरेशों से ऐसी सन्धि आदि कर ले, जिससे इन नरेशों की रक्षा के लिए ब्रिटेन को फ़ौज तथा अन्य महत्वपूर्ण विभागों को अपने हाथों में बनाये रखना अनिवार्य हो। अगर यह हो सका तब तो भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य मिलना असंभव हो जायगा।'

"इस दलील में एक दोष है। भारत के भावी शासन का विचार करते समय चार पक्षों का ख़याल रखना ज़रूरी है। अंग्रेज़ी सरकार, ब्रिटिश भारत की जनता, देशी नरेश और उनकी प्रजा। परन्तु इस सारी योजना में देशी राज्यों के करोड़ों प्रजाजनों को बिलकुल भुलाया जा रहा है। अपने प्रजाजनों को नरेश तो केवल "क़ानून के राज्य" का रूखा आश्वासन दे रहे हैं। पर आजकल तो जहाँ लोकसत्ता नहीं वहाँ क़ानून का राज्य ही नहीं। आजकल रियासतों की जो दशा है वहाँ तो राजा की ही मनमानी-घरजानी होती है। क्या देशी नरेश यह आशा करते हैं कि उनके प्रजाजन, जिनके दिल में वही महत्वाकांक्षायें हैं जो कि ब्रिटिश भारत की जनता में हैं, इस परिस्थिति से संतुष्ट रह कर चुप-चाप बैठे रहेंगे? और क्या ब्रिटिश भारत की जनता भी रियासतों में रहने वाले अपने भाइयों की दुर्दशा को चुपचाप देखती रहेगी और यह बर्दाश्त करेगी कि वे इन नामधारी नरेशों द्वारा बुरी तरह से शासित होते रहें? यह नीति कुछ समय के लिए ही काम दे सकती है; परन्तु आगे चल कर इससे सभी पक्षों को बड़ी बुरी हालत में यह डाल देगी। यह तो एक भीषणतम संघर्ष का श्रीगणेश करेगी।"

पण्डितजी का यह कहना बिलकुल यथार्थ है कि "देशी नरेशों की प्रजा और ब्रिटिश भारत की जनता के हित एक हैं। दोनों एक नाव के मुसाफ़िर हैं। वे डूबेंगे तो एक साथ और तिरेंगे तो एक साथ। एक को पीछे छोड़ कर दूसरा किसी हालत में आगे नहीं बढ़ सकता।"

इस प्रकार यह निश्चित है कि दोनों को साथ-साथ चलना होगा। देशी नरेश अब यह आशा छोड़ दें कि इस मनमाने शासन से उनकी प्रजा सन्तुष्ट हो जायगी।

देशी नरेश यह भी स्मरण रक्खें कि उन्हें भारत में ही रहना है। ब्रिटिश भारत को तथा अपने प्रजाजनों के सद्भाव और सहानुभूति को अपने साथ में बनाये रखने में ही उनका कल्याण है। अपनी ही शान-शौक़त का ख़याल रख कर, केवल ऊपरी दिल से कोरी सहानुभूति दिखा कर, देश से अलग हो जाने का असर कभी अच्छा नहीं हो सकता। ग़ैर तो ग़ैर हैं ही, पर वे अपनोंको भी ग़ैर बनाने की ग़लती कर रहे हैं। अतः यदि वे अपनोंको अपना बनाये रक्खेंगे तो अपने आपको इतना मज़बूत और सुरक्षित कर लेंगे कि साम्राज्य सरकार को भी उनसे सोच-समझ कर पेश आना होगा।

बटलर-समिति का खुलासा

अख़बारों में कई ऐसी बातें प्रकट हो रही हैं, जिनसे बहुत सी ग़लतफ़हमी फैलने का अंदेशा है। इस ख़याल से बटलर-समिति ने नीचे लिखा खुलासा प्रकट किया है—

"मार्च के आरम्भ में जाँच समिति ने २३५ देशी राज्यों को पत्र भेजे थे। उसके उत्तर में नरेन्द्र-मण्डल के १०८ सदस्य राज्यों में से ३२ राज्यों ने यह उत्तर दिया है कि वे अलहदा-अलहदा जवाब नहीं भेजेंगे, बल्कि नरेन्द्र-मण्डल की स्थायी समिति की तरफ़ से सर लेसली स्कॉट उनके पक्ष को समिति के सामने पेश करेंगे। इन ३२ राज्यों में से काश्मीर, भोपाल पटियाला, टोंक, बून्दी और भरतपुर मुख्य हैं। बीस राज्यों ने अलहदा जवाब भेजे हैं। इनमें हैदराबाद, मैसूर, त्रावणकोर, जोधपुर और कोल्हापुर हैं। अन्य १२७ राज्यों को अपनी तरफ़ से १२ प्रतिनिधि नरेश भेजने का अधिकार है। इनमें से २१ राज्यों ने यह इच्छा ज़ाहिर की है कि उनका मामला नरेन्द्र-मण्डल की स्थायी समिति को सौंप दिया जाय। १२ राज्यों ने व्यक्तिगत प्रतिनिधि भेजने की बात कही हैं। १५० राज्यों ने जवाब नहीं दिये हैं।"

बटलर-समिति क्या करेगी?

एक अंग्रेज़ी समाचारपत्र का संवाददाता लिखता है—

"देशी राज्यों के साथ किये गये इक़रारनामों और संधिपत्रों की जाँच के लिए नियुक्त बटलर-समिती को ब्रिटिश भारत में देशी राज्यों का क्या स्थान रहेगा इस संबन्ध में अपना अभिप्राय प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं है। दूसरे बटलर-समिति ने अपनी जाँच गुप्त रूप से की है। उसमें देशी राज्यों की प्रजा को ज़रा भी भाग नहीं लेने दिया गया है। कारण स्पष्ट ही है; जिन शर्तों पर इस समिति का संगठन हुआ है, वे स्वभावतः प्रजा को समिति की कार्यवाही से दूर रखती हैं। सर हारकोर्ट बटलर भारत के देशी राजाओं के साथ मित्रता का संबन्ध रखते हैं। यह मित्रता देशी राज्यों की समस्याओं को सुलझाने में उनकी बड़ी सहायता करेगी। यह समीप हर पहलू से जाँच करने के बाद अपना विवरण भारत-सरकार के सामने उपस्थित करेगी। परन्तु इससे पहले नरेन्द्र-मण्डल की कार्य-समितिके सदस्य, जिनमें काश्मीर, अलवर, पटियाला, बीकानेर, नवानगर और भोपाल के राजा हैं, लंदन में समिति के साथ उन प्रश्नों पर विचार करेंगे, जिनपर अब तक विचार नहीं हो पाया है। अतः इतना हो जाने के बाद भी साइमन-कमीशन देशी राज्यों के प्रश्न को अछूता छोड़ देगा, यह मानना भूल है। बटलर-समिति के विवरण को पढ़ लेने के बाद सर जॉन साइमन भी समिति के सदस्यों के साथ उसके सम्बन्ध में परामर्श करेंगे। इसपर से यह अनुमान किया जा सकता है कि ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का सच्चा निपटारा तो बटलर-समिति नहीं, साइमन-कमीशन ही करेगा।"

हमें पता नहीं कि इस समाचारपत्र पर कहाँ तक विश्वास किया जाय। तथापि सबसे सुरक्षित मार्ग तो यही है कि साइमन-कमीशन आगे जो कुछ भी करे, बटलर-समिति की कार्यवाही द्वारा भारत के राजनैतिक वायु-मण्डल पर जो बुरा असर पड़ रहा है, उसे दूर करना सर्वथा इष्ट है।

वै० म०

सम्पादकीय

'कंट्री लीग' की तह में

जिसने दो बातें अच्छी तरह समझ ली हैं, वह अंग्रेज़ों से सफलता-पूर्वक युद्ध कर सकता है-(१) ये भेद-नीति के आचार्य और फूट डालने में सिद्धहस्त हैं, (२) बिना बल देखे ये झुकते नहीं। साइमन-कमीशन का फल क्या निकलेगा, यह उन्होंने पहले से ही तय सा कर रक्खा है। अन्दर की बातों से पता चलता है कि वे प्रत्येक प्रांत में दो चेम्बर अर्थात् कौंसिलें बना देना चाहते हैं और उनकी रचना इस तरह करना चाहते हैं कि जिससे धनियों, ज़मींदारों, रईसों आदि अंग्रेज़ों के ख़ुशामदियों या उनसे दबकर रहने वालों के मत की प्रधानता रहे—पुलिस को छोड़कर प्रायः सभी महकमे हिन्दुस्थानी मंत्रियों के सुपुर्द कर दिये जाँय। इस उद्देश की पूर्ति के लिए प्रांतों में संगठन भी किया जा रहा है और ऐसी तजवीज की जा रही है कि इसी आशय की गवाहियाँ कमीशन में गुज़रें, ताकि उनके आधार पर वही बात कर दी जाय, जो कि कमीशन वालों ने पहले ही से तय कर रक्खी है। 'कंट्रीलीग' इसी संगठन का परिणाम है। इसमें अंग्रेज़, हिंदू और मुसलमान धनियों, ज़मींदारों, राजा-रईसों का बोल-बाला है और इसका उद्देश और नीति इन शब्दों में प्रकट की गई है—

"(१) भारत में क्रमशः उत्तरदायी शासन प्राप्त करना; (२) प्रांतों में व्यवस्थापकों की द्वितीय सभा स्थापित करना; (३) प्रांतों में सहज शासन-प्रणाली चलाना; (४) संप्रदायों को अलग-अलग निर्वाचनाधिकार दिलाना; (५) व्यापारी, ज़मींदार, किसान, अवसर-प्राप्त सैनिक और श्रमजीवियों को अपने अधिक प्रतिनिधि कौंसिलों में भेजने की सुविधा करा देना; (६) भिन्न-भिन्न कौंसिलों के लिए उपयुक्त उम्मीदवारों को सहायता करना; (७) ऐसे शासन की सहायता करना जो औद्योगिक उन्नति और कृषकों की आर्थिक उन्नति के समर्थक हों; (८) अल्पसंख्यकों के स्वार्थों का उपयुक्त संरक्षण करना; (९) एक ऐसी अखिल-भारतीय संस्था बनाना जो उन लोगों की ओर से राजनैतिक कार्य करे जिनका देश में स्थिर स्वार्थ है; (१०) उन प्रचलित संस्थाओं को उत्तेजन देना और मिलाना जो इन उद्देशों के पक्ष में हों; (११) समय-समय पर उपस्थित होने-वाले महत्व के सार्वजनिक प्रश्नों पर लोगों की ओर से मत प्रकाश करना; (१२) विशेष कर लीग के सदस्यों का मत स्थिर कर के शाही कमीशन के सम्मुख उपस्थित करना।"

यह न सिर्फ़ राजनैतिक आंदोलन करने वालों और धनी-ज़मींदारों में फूट डालने का प्रयत्न है, बल्कि हिंदुओं और मुसलमानों को भी अलहदा रखने का उद्योग है, एवं अछूतों, मज़दूरों, किसानों आदि को बरगलाने और झुल देने की घृणित चेष्टा भी है। यह कह कर कि स्वराज्य में हानि-लाभ तो सिर्फ़ 'कंट्री लीग' बनाने वालों का ही है, यह जताया गया है कि दूसरे लोगों का अस्तित्व ही मानों व्यर्थ है। जातिगत प्रतिनिधित्व को अंगीकार करके राष्ट्रीय महासभा के हिन्दू-मुस्लिम-एकता संबन्धी प्रयत्नों को असफल बनाने का उद्योग किया गया है। अछूतों, मजूरों और किसानों के हित की दुहाइयाँ देकर अपनेको ही देश का सच्चा और बड़ा हितैषी साबित करने की चेष्टा की है। दरभंगा महाराज और राय बद्रीदासजी गोयनका से कोई पूछे तो कि कभी वे मजूरों की किसी हड़ताल के नेता आज तक बने हैं? या अछूतों को अपने ग़ालीचे और दीवानख़ाने की रेशमी कुर्सियों पर बिठलाया है, या किसानों के किसी आंदोलन में आज तक कभी कुछ योग दिया है? अंग्रेज़ों की इस चालबाज़ी और भारतवासियों की इस मूर्खता और स्वार्थ-वृत्ति को देख कर किसे दुःख और क्षोभ न होगा? बंगाल के नेता श्री सेन गुप्त ने कहा है कि मीरजाफ़रों ने मिल कर यह 'कंट्रीलीग' बनाई है। पं० मोतीलालजी नेहरू कहते हैं, देश-द्रोहियों की

सूची यह एक ही जगह बिना महनत किये मिल गई है। लालाजी कहते हैं, सावधान! यह विदेशियों की भेद-नीति और प्रेरणा का फल है—यह कांग्रेस के पूर्ण स्वतन्त्रता के प्रस्ताव का जवाब है। मुझे तो इस बात में कोई संदेह नहीं है, साइमन-कमीशन का फल प्रकट होने के पहले तक हमें चकमा देने और हममें फूट डालने की जो-जो तदबीरें न की जायँ, कम हैं। हमारी बुद्धिमानी इसी बात में है कि हम उनके किसी जाल में अपनेको न फँसने दें।

इन्दौर दरबार और 'कर्मवीर'

१९ जून को इन्दौर दरबार ने 'कर्मवीर' के संपादक महोदय को पत्र लिखा है—"आपका पत्र पिछले कुछ समय से स्टेट के विरुद्ध आग भड़का रहा है। उसने स्वच्छन्दता से कैबिनेट और स्टेट के कतिपय उच्च ऑफ़िसरों के विरुद्ध असत्य और शरारत से ओत-प्रोत ख़बरें प्रकाशित की हैं। ऐसी ख़बरें प्रकाशित करने वाले व्यक्ति की प्रति सप्ताह की टीका-टिप्पणियाँ इस दर्जे की तो हो ही रही हैं, जिनपर फ़ौजदारी की नालिश भी अदालत में दायर की जा सकती है; परन्तु हमारी यह (अदालती) दिशा संभवतः अप्रत्यक्ष रूप से आपके पत्र का प्रचार बढ़ा दे, और चूंकि हमारे पास (आपपर) प्रभाव डालने वाला अन्य साधन भी मौजूद है, इसलिए हिज़ हाइनेस की सरकार ने आपके पत्र को रियासत में बन्द कर देना ही निश्चित समझा है। फिर भी आपको अपनी ग़लती सुधारने का अवसर दिया जाता है। आप स्टेट में लगातार भ्रान्ति-पूर्ण सनसनी फैलाने वाली ख़बरें प्रकाशित किया करते हैं। इससे स्टेट की प्रजा में अनुचित उत्तेजना फैलती है, और वह हिज़ हाइनेस की सरकार के प्रति अप्रीति की भावना जमाती है। अतः, मुझे यह कहने की इजाज़त दी गई है कि, यदि इस पत्र के प्राप्त होने के एक सप्ताह के अन्दर आप अपनी स्टेट-सम्बन्धी आलोचना के प्रकाशन के लिए बिला शर्त क्षमा-याचना कर लें और उसे अपने पत्र में प्रकाशित भी कर दें, तथा भविष्य में ऐसी ग़ैरज़िम्मेवारी और शरारत से भरे लेख प्रकाशित न करने का विश्वास दे दें तो हम पत्र की बन्दी का आर्डर जारी न करेंगे।"

इस चिट्ठी की भाषा मुझे अच्छी नहीं लगी। इसमें सत्ता की, दूसरों को क्षुद्र समझने की बू आती है। यह अधिक गौरव-पूर्ण और शालीनता से युक्त भाषा में लिखी जा सकती थी। 'कर्मवीर' का जवाब भी काफ़ी लम्बा और जोशीला है, जो दरबार की चिट्ठी की प्रतिक्रिया मालूम होती है। मुझे खेद है कि प्रायः निरन्तर यात्रा में रहने के कारण मैं 'कर्मवीर' के उन समाचारों और टीका-टिप्पणियों को सिलसिले से और ध्यान पूर्वक नहीं पढ़ पाया हूँ, इसलिए उनके सम्बन्ध में कोई राय देना कठिन है; पर इतना तो मैं उन्हें बिना देखे ही कह देना चाहता हूँ कि मुझे इन्दौर दरबार की इस कार्रवाई से बड़ा दुःख हुआ। लेखन-स्वातंत्र्य के इस युग में जो राज्य अख़बारों को इस तरह अपने यहाँ आने से रोकते हैं वे अपनी न्यायशीलता और प्रतिष्ठा की वृद्धि नहीं कर सकते। इन्दौर दरबार ने यदि 'कर्मवीर' की बातों पर शान्ति के साथ विचार करके उनकी सचाई की छान-बीन कर ली हो और वे बातें असत्य पाई गई हों, तो एक तो इसकी सूचना उसी समय संपादकजी को देनी चाहिए थी, दूसरे इस चिट्ठी में इस बात का ज़िक्र होना चाहिए था। यदि ऐसा न किया गया हो और बहुतेरे अधिकारियों की इसी मनोवृत्ति का यह परिणाम हो कि फ़लां बात सच हो या झूठ, हमारे ख़िलाफ़ लिखी ही क्यों गई, तो मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि यह अच्छा नहीं हुआ। और इंदौर दरबार की यह दलील कि अदालती कार्रवाई करने से आपके पत्र का प्रचार बढ़ेगा—इसलिए उसे रियासत में बंद कर देना ही निश्चित समझा है, मेरी समझ में नहीं आई। इंदौर दरबार की अपनी तथा रियासत की रक्षा की चिंता का यथोचित ध्यान रखते हुए भी मैं यह कह देना चाहता हूँ कि ऐसी दशा में अदालत में नालिश करना ही सबसे अधिक न्यायोचित होता।

'कर्मवीर'-संपादक ने अपने उत्तर में यह कहा है कि 'इंदौर दरबार की ये सारी बातें एकतर्फ़ा हैं और उन्हींकी तरह हम भी यह कह सकते हैं लिखी गई समस्त बातें अक्षरशः सत्य हैं। एकाध बार को छोड़कर इंदौर-दरबार ने आज तक इनका कोई प्रतिवाद नहीं भेजा।' किसी निष्पक्ष न्यायालय में जब तक इस बात का फ़ैसला नहीं हो जाता तब तक 'कर्म-

वीर-संपादक के इस कथन के बल की कैसे उपेक्षा की जा सकती है कि "संभव है न्यायालय के सन्मुख कुछ ऐसी बातें प्रकट होतीं जो इंदौर मंत्रि-मंडल के लिए असुविधा-जनक होतीं। शायद इसीलिए मंत्रि-मंडल के विद्वानों ने यह मार्ग ग्रहण किया हो।" 'कर्मवीर' दो ही दशाओं में दोषी माना जा सकता है—(१) या तो इंदौर-दरबार ने प्रति-वाद भेजे हों और उसने न प्रकाशित किये हों या (२) न्यायालय में उसकी प्रकाशित बातें झूठी साबित हों। इनके अभाव में इंदौर-दरबार की इस कार्रवाई को न्याय-संगत कहना कठिन है। प्रवेश-निषेध राज्य के हाथ में आखिरी शस्त्र है। मेरा खयाल है कि 'कर्मवीर' के मामले में अदालती कार्रवाई करने के पहले उसका उपयोग करना अनुचित हुआ और दरबार का यह ख़याल कि 'कर्मवीर' के रियासत में बंद कर देने से वैसी खबरें छपना या फैलना बंद होजायगा, ग़लत है। यदि वे बातें सचमुच असत्य हैं और दरबार ने खूब छानबीन कर ली है, तो न्यायालय के सामने अपना मामला रख देना उसका एकमात्र राजमार्ग है। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि यह दवा मर्ज़ को अधिक बढ़ाकर छोड़ेगी। दमन सत्य की रक्षा या प्रजा के हित का साधन कभी नहीं हो सकता। 'कर्मवीर' का निषेध दमन का ही एक रूप है। इंदौर के मंत्रि-मण्डल के प्रधान अधिकारियों से, जिनकी सज्जनता पर मेरा विश्वास है, ऐसी कार्रवाई की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अब तक यदि बंदी का हुक्म निकल भी चुका हो तो भी न्याय की रक्षा के लिए यह उचित होगा कि खुली अदालत में 'कर्मवीर' पर मामला चला कर उसे अपनी सफ़ाई का पूरा-पूरा मौक़ा दिया जाय। अन्यथा तटस्थ लोगों की भी सहानुभूति इस मामले में 'कर्मवीर' की ओर ही रहना विशेष संभवनीय है।

मुज़फ़्फ़रपुर के सम्मेलन

मुज़फ़्फ़रपुर में शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और सम्पादक-सम्मेलन आदि के अधिवेशन होने की तैयारियाँ हो रही हैं। हि० सा० सम्मेलन के वर्तमान कार्य प्रबंध के संबंध में काफ़ी चर्चा हो रही है, जिसके कारण साहित्य-सम्मेलन के मनोनीत सभापति पं० पद्मसिंहजी शर्मा ने एक पत्र साहित्य-प्रेमियों को भेजा है कि वे अपनी उपस्थिति से

सम्मेलन के कार्य को यशस्वी बनाने में सहायक हों। आशा है, प्रत्येक सहृदय और सेवोत्सुक हिन्दी-प्रेमी शर्माजी की पुकार पर मुज़फ़्फ़रपुर दौड़ पड़ेगा।

संपादक बने रहने के कारण इस समय मुज़फ़्फ़रपुर पहुँच जाना मेरा भी कर्तव्य था। विशेष कर इस अवस्था में, जबकि स्वागत-समिति ने मुझे सम्पादक-सम्मेलन का सभापति चुनने की कृपा करके अधिक सेवा करने का सुअव-सर दिया था; पर मुझे अत्यन्त खेद है कि न तो मैं सम्मेलन में ही सम्मिलित हो सका और न स्वागत-समिति की आज्ञा को ही शिरोधार्य करने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। बात यह है कि यद्यपि हिन्दी-सेवा से मैं अबतक विमुख नहीं रहा हूँ, तथापि जबसे मैं राष्ट्रीय सेवा में थोड़ा-बहुत लग गया हूँ साहित्य-सेवा से मेरा संबंध बहुत कुछ टूट रहा है। इसी कारण शर्मिंदा हूँ कि हि० सा० सम्मेलन की स्थायी समिति का सदस्य चुने जाते हुए भी मैं सम्मेलन की कुछ भी सेवा न कर सका। मेरी यह धारणा हो रही है कि जिस काम से स्वराज्य जल्दी नज़दीक आ जाय वही पहले करना चाहिए। इस कारण, अपनी समझ के अनुसार, खादी, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि बातें मुझे साहित्य-सेवा की तरफ़ से हटा कर अपनी ओर खींच रही हैं। ऐसी दशा में यदि सम्मेलन की सेवा के लिए मेरा उत्साह न बढ़ता हो तो, मैं समझता हूँ, वह क्षम्य है। दूसरे इधर मेरा स्वा-स्थ्य काफ़ी गिर चुका है, ऐसी दशा में नये कामों का भार लेना अपने तथा काम दोनों के साथ अन्याय करना है। तीसरे प्रौढ़, वृद्ध, अनुभवी, लब्धप्रतिष्ठ संपादक—सम्मेलन से प्रायः विरक्त हैं और दूसरे संपादक बन्धु डँट कर निश्चित रूप से काम करने की उत्सुकता रखते हुए नहीं दिखाई देते। मुझ जैसे लालची मज़दूर का उत्साह अधिवेशन से बढ़ना मुझे कठिन मालूम होता है। फिर सम्पादक-सम्मेलन के कार्य की दिशा अभी तक मेरी समझ में पूरे तौर पर नहीं आई है। साहित्य-सम्मेलन के जीवन में पुनरुत्थान की बड़ी आवश्यकता है, यह तो दिन-दिन स्पष्ट हो रहा है। पिछली किसी संख्या में मैंने इस बात की ओर निर्देश भी किया था; परन्तु श्री राम-नाथलाल 'सुमन' के इन शब्दों में यह बहुत अच्छी तरह प्रदर्शित हो जाता है—

१—भारतीय साहित्य के व्यक्तित्व (इनडिविजुएलटी) की रक्षा और विकास का ध्यान रखते हुए "साहित्य" शब्द के विश्वव्यापी अर्थ के अनुकूल हिंदी-साहित्य की गति-विधि एवं रूप के संबंध में क्रियात्मक आंदोलन करना।

२—हिन्दी में हमारा जो प्राचीन साहित्य है, उसके प्रति उचित आदर, सम्मान और गौरव रखते हुए भी अपनी भाषा और अपने साहित्य को वर्तमान काल के भावों को पूर्ण रूप से ग्रहण एवं व्यक्त करने योग्य बनाना।

३—संसार के विभिन्न साहित्यों के अध्ययन को साधारणतः और भारतीय साहित्य और संस्कृति-संबंधी अध्ययन को विशेष रूप से उत्तेजन देना। समन्वय बुद्धि को विकसित करने एवं सच्ची और गम्भीर तुलनात्मक आलोचनाओं के प्रचार का प्रयत्न करना।

४—"हिंदी" शब्द की तात्त्विक ध्वनि ('स्पिरिट') के अनुकूल उसके साहित्य को भारतीय आकांक्षाओं और भारतीय आत्मा की अभिव्यक्ति के योग्य बनाना और विश्वात्मवाद के अनुकूल उसे विश्वसाहित्य के व्यापक भावों को व्यक्त करने के योग्य बनाना।

संपादक-सम्मेलन का कार्य तब तक सुचारु और सुसंगठित रूप से न चल सकेगा, जब तक कोई एक संपादक-बंधु उसे अपना काम न बना लेगा। संपादन-व्यवसाय में अभी इतनी बातों की बड़ी त्रुटि और विश्रृंखलता पाई जाती है—

(१) पत्र-व्यवसाय की उच्चता और गौरव की तरफ़ से कुछ संपादकों का ध्यान हट रहा है—कुरुचि और अश्लीलता में शिष्ट-सम्मत जो दोष है, वह उन्हें दोष नहीं दिखाई पड़ता।

(२) निकृष्ट साधनों से पत्र का प्रचार बढ़ाना, पोल खोलने की बदनामी करने की धमकी देकर रुपया प्राप्त करना, अथवा रुपया मिल जाने पर रुख़ बदल देना, रुपया लेकर पक्ष समर्थन करना, ये बुराइयाँ हिन्दी-सम्पादन व्यवसाय को गिरा रही हैं।

(३) संपादन-कार्य बहुत सस्ता हो गया है। जो भी चटपटा-चरपरा लिखने लगा, धूल उड़ाने की विद्या जहाँ सीख ली, कि संपादक के आसन पर जा डटे। इससे संपादकों की लेखनी और मत का प्रभाव कम होता जा रहा है।

(४) विचार के स्थान पर विकार का प्राबल्य हो रहा है। गंभीरता की जगह छिछोरपन ले रहा है। सैकड़ों हिन्दी पत्रों में सिर्फ़ दो ही चार ऐसे संपादक हैं, जिनके विचारों का मान होता है। यह कितने बड़े दुःख की बात है।

इन बुराइयों की ओर ध्यान जाना परम आवश्यक है। चाहे साहित्य-सम्मेलन स्वयं इस प्रश्न को हाथ में ले, चाहे संपादक-सम्मेलन पर छोड़े, पर इसकी उपेक्षा किसी तरह क्षम्य नहीं। ज्ञान और बल देने के बजाय कितने ही पत्र तो आज गंदगी और कलह पर जी रहे हैं, यह कितने दुर्दैव की बात है! 'सम्मेलन-पत्रिका' को इसमें पूरी-पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सम्मेलन ने जैसे साहित्य की कितनी परीक्षायें रक्खी हैं, उसी तरह संपादन-व्यवसाय के लिए भी कुछ परीक्षायें नियत होनी चाहिएँ और पाठ्य-क्रम बनना चाहिए, जिससे सम्मेलन का उपाधि-प्राप्त व्यक्तियाँ ही संपादक बन सकें। सम्मेलन से दूर रहकर ये पंक्तियाँ लिखना शोभा तो नहीं देता; परन्तु संपादकीय कर्त्तव्य कैसे पिण्ड छोड़ने लगा? अस्तु। आशा है, विचारशील हिन्दी-भक्त इन पंक्तियों पर विचार करेंगे।

पत्र-व्यवसाय का पतन

पत्र—व्यवसाय (Journalism) का एकही उद्देश हो सकता है— समाचारों और सद्विचारों का प्रचार, दूसरी भाषा में कहें तो ज्ञान-प्रचार। इस काम में पड़ने वाला व्यक्ति सर्व-साधारण से तो उच्च कोटि का अवश्य ही होना चाहिए। वह ऐसा होना चाहिए, जो स्वयं विद्वान्, बहुदर्शी, सदाचारशील, सत्याग्रही, सहृदय, निर्भय और विवेकशील हो। जहां तक हिन्दी पत्र-व्यवसाय से संबंध है, इस पवित्र व्यवसाय में ऐसे ऐसे लोग भी घुस पड़े हैं, जो महज़ व्यापारी हैं, भारी विज्ञापनबाज़ हैं, जो झूठे-सच्चे और भली-बुरी चीज़ों के विज्ञापन के बल पर अपना व्यापार चलाना चाहते हैं। इनसे भी निकृष्ट श्रेणी के कुछ लोग हैं, जो लोगों की पोल खोलकर, गंदी बातें छाप कर, उनकी निन्दा और बदनामी करने की धमकी देकर, पैसा ऐंठने की कोशिश में रहते हैं। ऐसे लोगों की करतूतों से पत्र-व्यवसाय लोगों की नज़र से दिन-दिन गिरता जा रहा है। इसे एक तरह का गुण्डादल ही कहना चाहिए।

इन दिनों तो पत्र-संसार में ऐसी गुण्डाशाही चल रही है कि देख कर बड़ा दुःख होता है और कई जगह नीचा सिर करना पड़ता है। कुछ इने-गिने सुयोग्य संपादकों को छोड़कर यह व्यवसाय, खेद के साथ कहना पड़ता है कि, अनधिकारी लोगों के हाथ में चला जा रहा है। महज़ सनसनी फैलाना, गंदी, घृणित और कुरुचिपूर्ण चटपटी कहानियाँ, चित्र छापना ही उन्होंने पत्र-व्यवसाय मान लिया है। भिन्न-भिन्न श्रेणी के कई लोगों ने इन पत्र-व्यवसायियों की ऐसी शिकायतें मुझसे की हैं और हममें से भी कई लोग इस बात को अनुभव कर रहे हैं। इस कारण इन कठोर शब्दों के लिए पत्र-व्यवसायी बन्धु मुझे क्षमा करें। ये पंक्तियाँ केवल इस व्यवसाय की पवित्रता की रक्षा के निमित्त अपने दिल को कड़ा करके बड़ी अनिच्छा के साथ लिख रहा हूँ। जो संपादक स्वयं शराब की बोतलें चढ़ाते हों, भंग पीते हों, व्यभिचार को बुरा न समझते हों, डरा-धमका कर पैसा ऐंठते हों, जिनका न कोई निश्चित सिद्धान्त और नीति हो—जैसा हवा का रुख देखा, रंग बदल दिया—गालियाँ देना और ज़हर उगलना ही जिनका दूसरा स्वभाव बन गया हो, भला बताइए, वे किस मुँह से लोगों को हित और ज्ञान की बातें कह सकते हैं, और उनसे लोगों का क्या कल्याण-साधन हो सकता है? अब समय आ गया है कि सर्व-साधारण लोग भी इस अख़बारी गुण्डाशाही के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठावें।

कलकत्ते का जीवन

इधर कोई १५ दिन मुझे कलकत्ते में रहने का अवसर मिला। यहाँ का राजनैतिक जीवन शिथिल है और दलबंदियों से ख़ाली नहीं है। सुभाष बाबू का नवयुवकों पर अच्छा प्रभाव है; उनके व्यक्तित्व के प्रति, उनके शील-चारित्र्य के संबन्ध में, यों प्रायः सबके मन में मान और आदर के भाव पाये जाते हैं; परन्तु वह अभी सब श्रेणी के लोगों पर अपनी दूरदर्शिता, ठोस काम की क्षमता और प्रौढ़ता का सिक्का नहीं जमा पाये हैं। जेल से छूटकर आने वाले नज़रबंदों ने 'रिपब्लिकन' के नाम से एक अलग दल बनाया है, वह सुभाष बाबू से असंतुष्ट है। फिर भी बंगाल के राजनैतिक वातावरण में सुभाषबाबू ही एक उदीयमान और उज्ज्वल तारे से चमक रहे हैं। उनके आते ही शसमल-सेन गुप्त-विवाद तो समाप्त हो गया है।

कांग्रेस की तैयारियाँ हो रही हैं। प्रदर्शिनी में केवल खादी ही रक्खी जाय या विदेशी और मिल का कपड़ा भी? इसपर यहाँ ख़ब चक-चक हो रही है। स्वराजी केवल खद्दर नहीं चाहते। ऐसा मालूम होता है कि अबकी कांग्रेस में खद्दर की शर्त उठ जाय तो आश्चर्य नहीं। यदि ऐसा हुआ तो मानना होगा कि कांग्रेस जनता का तिरस्कार और उसके हित की उपेक्षा कर रही है। देखना चाहिए, क्या होता है!

बंगालियों और मारवाड़ियों का जीवन मिलता नहीं है। बंगालियों का मांस-मछली भोजन मारवाड़ियों का सामाजिक मेल नहीं होने देता। मारवाड़ियों की प्रवृत्ति व्यापार-प्रधान और बंगालियों की साहित्य-प्रधान होने के कारण भी दोनों एक दूसरे के नज़दीक नहीं आ पाते हैं।

मारवाड़ियों के सामाजिक जगत् में पिछले दिनों 'गोविंद भवन' के काण्ड को लेकर बहुत हलचल रही। मारवाड़ी पुरुषों की मूर्खता और स्त्रियों के भोलेपन का यह बड़ा दुःखद चित्र है। ब्राह्मणों के गुरुडम को मिटाने के भ्रम से यह उससे निकृष्ट गुरुडम फैला, जिसका परिणाम हुआ महा दुराचार में। आशा है, इस दुर्घटना से मारवाड़ियों की धार्मिक भावना शुद्ध होगी और वे यह अच्छी तरह समझ लेंगे कि दुराचार कभी धर्म और भक्ति नहीं हो सकती।

सुधारक और सनातनी दो दल यहाँ मारवाड़ियों में हैं। मुझे दोनों दल के कुछ नेताओं से मिलने का अवसर मिला। दोनों में कटुता पाई गई। यह दोष है। अगले अंक में इसपर रुचिकर प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

मैं जब यहाँ आया तो 'समाचारपत्रों की गंदगी' की बातों से वातावरण क्षुब्ध हो रहा था। यहाँ के दो तीन पत्रों के नाम गंदगी फैलाने वाले पत्रों में लिये जा रहे हैं। एक संपादक महाशय ने अपने पक्ष का समर्थन इस तरह किया—'हम गंदी बातें न छापें तो लोग अख़बार पढ़ते नहीं। कम से कम हम अपना पेट आप भर लेते हैं—किसी के सामने हाथ नहीं फैलाते'। एक मित्र ने इसका उत्तर

दिया—'वेश्या भी यह दावा कर सकती है; पर इससे वह समाज से सहायता पाने की अधिकारिणी तो अपनेको नहीं समझ सकती।' एक दूसरे संपादक भाई ने कहा—'हम गंदगी फैलाते नहीं, सिर्फ़ दिखाते हैं।' इसका उत्तर एक मित्र ने दिया—'तो पहले वे अपने ही घर से क्यों न शुरुआत करें?' ये उदाहरण यहाँ की मनोवृत्ति दिखलाने के लिए दिये हैं—अपने विचार अगले अंक में प्रकाशित करने की आशा रखता हूँ।

इस यात्रा में मैंने यहाँ की कई संस्थाओं और कारखानों को भी देखा है, जिनपर अपना वक्तव्य, समय और स्थान के अभाव में, अगले अंश पर ही छोड़ना उचित है।

देहात के दुःख

क़स्बे और शहर के लोगों को देहात के लोगों के दुःखों का बहुत कम पता होता है। अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास, दरिद्रता की तो नुमाइश देहात को समझना चाहिए। सफ़ाई के उसूल और फ़ायदे उनको मालूम नहीं, हिसाब-किताब वे जानते नहीं, क़ानून-क़ायदे की वाक़फ़ियत नहीं, घर के पीछे ही खाद के लिए गोबर इकट्ठा करना, घर के आसपास ही टट्टी बैठ जाना, दर्वाज़े पर और रास्ते में ही पेशाब करना, मैले-कुचैले कपड़े पहनना, इसमें उनको कोई बुराई नहीं देख पड़ती। बनिये-महाजन, पुलिस और चुंगी के सिपाही या गाँव का पटवारी उनको उलटा-सीधा समझा कर या डरा-धमका कर चाहे जिस हिसाब और दस्तावेज़ पर दस्तख़त करा लें, वे गऊ बनकर कर देते हैं। जंत्र मंत्र, टोना टोटका, ग्रह-नक्षत्र, भूत-प्रेत, स्वर्ग-नरक आदि कितनी ही थोथी और मिथ्या बातों का डर बता कर पाखंडी उन्हें ठग ले जाते हैं। बेगार में वे औरतों और बच्चों सहित बँधे-बँधे फिरते हैं। काठ और हवालात में तो उनका पाँव मानों दिया ही रहता है। ब्याह-शादी और मृत्यु के अवसर पर अनापशनाप ख़र्च करके जाति जिमाना और मन माने ब्याज पर क़र्ज़ से लदे रहना उनका स्वाभाविक जीवन हो गया है। छाछ, प्याज़, लहसन की चटनी से रूखी-सूखी जौ, बाजरा की राब और ज्वार-मकई की मोटी रोटी उनके छप्पन भोग हैं। दूध उनकी गाय-भैंसें हम शहर वालों के लिए देती हैं। घी उनके यहाँ ठाकुरजी को नैवेद्य बताने की वस्तु है। एक देहाती से मैंने पूछा—तुमने मिठाई कभी खाई है? उसने कहा—महाराज, जब किसी बड़े क़स्बे में चला जाता हूँ तो एक-आध पैसे की जलेबी बच्चों के लिए ले आता हूँ। मेहमान जब आते हैं तब यदि उन्हें गुड़ का मीठा दलिया खिला दिया तो उसकी बड़ी ख़ातर-तवाज़े हो गई। बच्चे भी गुड़ तभी खाते हैं। शकर की मिठाई तो बड़े क़स्बे में ही हम आँखों से देखते हैं। कपड़ा उनके बदन पर लाज ढँकने भर को होना है। बिहार में तो स्त्रियों के पास एक से दूसरी धोती नहीं होती कि जिसे पहन के वे नहा लें और दूसरी को धो कर सुखा सकें।

अज्ञान और भोलेपन का यह हाल कि एक किसान दूसरे से पूछता है—'क्यों जी, गेहूँ तो हम लोग भी खा सकते हैं, ये राजा लोग क्या खाते होंगे?' दूसरे ने जवाब दिया—'वाह इतनी बात भी नहीं जानता. वे मख़मल खाते हैं मख़मल!' उसने फिर पूछा—'हाँ... तो भला बताओ, घी तो हम लोग भी खा लेते हैं, बड़े लोग क्या खाते होंगे?' उसने कहा—'अरे भाई, वे इत्र खाते हैं इत्र!' पुलिस का, राज में ले जाने का भय दिखा कर आप उन्हें ख़ूब लूट सकते हैं। धर्म कर्म की बड़ी-बड़ी डींगें हाँक कर तिलक-छापा लगा कर उन्हें मूंड सकते हैं। कोई गहरी बीमारी हो जाय तो अंट-शंट जड़ी-बूटी और दागने के अलावा मृत्यु ही उनका अंतिम कारगर इलाज होता है।

सहृदय पाठको, ज़रा इस चित्र की करुण छटा को देखो तो! क्षण भर के लिए अपनेको उनकी हालत में रखकर उनके दुःखों का अनुभव तो करो! आपके अंदर से एक चीख़ निकल पड़ेगी। और ये वे देहाती हैं जिनकी कड़ी मेहनत से उपजाये अनाज को खाकर हम जीते और मौज करते हैं, जिनके प्रेम से कष्ट-पूर्वक पाले पशुओं के दूध-घी को खा पीकर हम मुटाते हैं, और जिनके दिये लगान में से मिले द्रव्य से बने बड़े-बड़े शिक्षालयों में शिक्षा पास कर हम बड़े धुरंधर आचार्य, प्रकाण्ड पण्डित और विश्व-विख्यात विज्ञानवेत्ता बनते हैं। उन्हींकी दी हुई सत्ता को पाकर उनके प्रभु भी बन बैठते हैं। और उनके दुःखों की ओर हमारा

कितना ध्यान जाता है ? इसे हम कृतघ्नता नहीं तो और क्या कहें ? फिर याद रखना चाहिए कि हमारे देश में ८० फी सदी इन्हींकी संख्या है । इनकी उपेक्षा करके, भारत के मुट्ठी भर शिक्षित लोगों, आप कैसे स्वराज्य पा सकते हो और कैसे टिका सकते हो ? अपने अन्नदाता और जीवन-दाता को अपने ऐश-आराम का शिकार कब तक बनाते रहोगे ? उनके दुःखों पर अपनेको न्यौछावर कर देने के लिए कब तुम्हारा हृदय तड़पने लगेगा ?

ग्राम-संगठन की कुञ्जी

स्वराज्य की लड़ाई अब तक प्रधानतः शहरों से मिले सैनिकों--कार्य-कर्त्ताओं के बल पर चलती रही है । इनमें मध्य वर्ग के लोगों की अधिकता रही है । ऊँची श्रेणी के धनी और रईस, इसी प्रकार साधारण श्रेणी के--जनता-वर्ग के लोग इसमें बहुत कम रहे हैं। अब आगे उच्चवर्ग के धनी और रईस लोगों में से अधिक स्वयं-सेवक मिलने की आशा कम है और उनके संगठित बल का लाभ भी स्वराज्य-आंदोलन को कम ही मिलेगा; क्योंकि एक तो स्वराज्य का पथ दिन-दिन अधिकाधिक कष्टकर होता जा रहा है और दूसरे ऐसे-ऐसे आदर्श लोगों के सामने उपस्थित हो रहे हैं जिनसे धनी और सरदार लोगों की असीम धन-प्रभुता को रुकावट होगी। इन आदर्शों को प्रकट करने से उनका हृदय परिवर्तन हो जाय तो बात दूसरी है । ऐसी अवस्था में अब एक ही क्षेत्र बाकी रहा है, जहां से स्वराज्य-संग्राम के लिए काफी सामग्री मिल सकती है; और सच पूछा जाय तो स्वराज्य का सच्चा काम उन्हीं-को मिलने वाला है। वह है हमारा ग्राम । इसलिए अब चारों तरफ से ग्राम-संगठन की आवाज़ बुलन्द हो रही है । यह तो हुई ग्राम-संगठन की स्वराज्य दृष्टि। ग्राम-संगठन की ग्राम निर्माण दृष्टि भी है और वह है ग्राम-जीवन सुखी और समृद्ध किस प्रकार हो ? यह निर्विवाद सिद्ध है कि बिना स्वाधीन हुए ग्राम-जीवन सुखी और समृद्ध नहीं हो सकता, पर साथ ही यह भी सच है कि हमारे ग्राम जब तक कुछ सुसंगठित न हों तब तक स्वाधीनता की आशा दुराशा-मात्र है । इसलिए अभी ग्राम-संगठन की ग्राम-निर्माण दृष्टि पीछे रह जाती है और स्वराज्य दृष्टि वेग के साथ आगे आजाती है।

अब सवाल उठता है कि स्वराज्य-दृष्टि से ग्राम-संगठन हो किस तरह । इसमें सबसे बड़ी कमी तो कार्यकर्त्ताओं की है। शहर में बसे और पले हुए शहर के संस्कारों से लदे हुए लोगों के लिए गाँववासियों के बीच बसना एक बड़ा बोझ हो जाता है । यदि कार्यकर्त्ता तैयार हुए तो किस तरह काम शुरू करें, यह प्रश्न आ खड़ा होता है। गाँवों में जाते ही गाँवों की कई और अपरिचित समस्यायें सामने आती हैं और कार्यकर्त्ता दुविधा में पड़ जाता है कि पहले क्या करूं और किस को हाथ में लूं ! इधर राजस्थान के कुछ देशी राज्यों के ग्रामों में खादी-कार्य करते हुए ग्राम-कार्य का जो अनुभव हम लोगों को हुआ है उससे हम लोग इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि एक कार्यकर्त्ता को कई कामों में न पड़ना चाहिए और अपना काम और काम का क्षेत्र जल्दी-जल्दी नहीं बदलना चाहिए । हमारा यह अनुभव दृढ़ होता जाता है कि खादी-कार्य ग्राम-प्रवेश का और गाँवों के लोगों में हिल-मिल जाने का सबसे सरल, सस्ता और पवित्र साधन है, और ग्राम-संगठन का सबसे मज़बूत सहारा है । इसलिए कार्य-कर्त्ता और समस्याओं में उलझने के पहले सिर्फ खादी-कार्य में पड़े । कमसे कम पांच वर्ष तक एक केन्द्र में खादी-कार्य जम जाने पर कार्य-कर्त्ता या तो दूसरे केन्द्र को हाथ में ले या दूसरे किसी काम में दिलचस्पी ले खादी के साथ-साथ यदि कार्यकर्त्ता को समय, शक्ति और सुविधा हो तो ग्रामवासियों की सामाजिक सेवा में दिलचस्पी ले रोगियों की सेवा-सुश्रूषा और दवा-दरपन की सुविधा करता रहे तथा कथा-पुराण के द्वारा नीति, सदाचार, धर्म और ज्ञान के सिद्धान्त की बातें एवं स्वच्छता, परस्पर सद्भाव और एकता, निर्भयता और कुरीति निवारण आदि बातें उन्हें समझावे । सामाजिक झगड़ों, दल-बन्दियों और राजनैतिक आन्दोलनों में कार्यकर्त्ता को एकदम न उलझ जाना चाहिए । एक केन्द्र में चार-पांच वर्ष सफलता और एकनिष्ठा-पूर्वक काम करने के बाद तथा ग्रामवासियों का विश्वास-पात्र बन जाने के बाद ही कार्यकर्त्ता को सेवा-क्षेत्र से आगे बढ़कर सामाजिक या राजनैतिक आंदोलन में पड़ने का साहस करना चाहिए। फिर भी उसे उन आंदोलनों का अगुआ तो हर्गिज़ न होना चाहिए । गांव के लोग अगुआ बनने के लिए तैयार हो गये हों तो फिर उनके

पीछे रहकर उनकी मदद भले ही करे। उनको इस बात की पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि वह गांव के बनिये-महाजन, राज्य के हाकिम, पंचायत के मुखिया, मन्दिरों के महन्त, इनके हाथ का खिलौना न बन जाय। अछूतों का सवाल गांव में शहरों से ज्यादा टेढ़ा होता है। जब तक ग्रामवासियों की मनोभूमिका काफ़ी तैयार न कर ली जाय तब तक अछूतोद्धार के उग्र आंदोलन का परिणाम शायद अच्छा न हो। गांव की सफ़ाई, पशु-पालन, खाद और गांव की बीमारियों की मोटी-मोटी बातों का ज्ञान कार्य-कर्त्ता को अवश्य होना चाहिए। शहर के दुर्व्यसन और शौक़ की चीज़ जहां तक हो देहात में कम ले जायँ। कार्य कर्त्ता का जीवन गांव वालों के जीवन से मिलता-जुलता रहे। खादी का काम जम जाने पर कार्य-कर्त्ता पाठशाला और वाचनालय की ओर ध्यान दे सकता है। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार और इतनी तैयारी से यदि हम ग्राम-प्रवेश करेंगे तो ग्राम-संगठन की कुँजी हमारे हाथ लग जायगी।

सच्ची शुद्धि

शुद्धि-आन्दोलन ज़ोरों के साथ चल रहा है। कितने मुसलमान, आधे-मुसलमान और ईसाई शुद्ध होकर हिन्दू हुए, यह उतनी महत्व की बात नहीं है जितनी यह कि हिन्दू-समाज ने दूसरे धर्म और समाज के लोगों के लिए सदियों से बन्द अपना दर्वाज़ा खोल दिया है। आज एक पुराने विचार का बूढ़ा ब्राह्मण भी शुद्धि को अच्छा समझने लगा है। उनकी मनोवृत्ति के इस परिवर्तन का जितना श्रेय शुद्धि वालों को दिया जाय, कम है। पर अभी तक शुद्धि जिस तरह की जा रही है उससे हिन्दू-जाति की रक्षा का प्रश्न हल नहीं हो सकता। शुद्धि आन्दोलन ने आने का दर्वाज़ा तो खोल दिया है, पर जाने का रास्ता बन्द नहीं किया है। मुसलमानों और ईसाइयों की जो इतनी भारी तादाद यहाँ देखी जाती है और कहते हैं कि दिन-दिन हिन्दू समाज से लोग दूसरे धर्मों में जा रहे हैं उसका असली कारण यह नहीं कि हमारे यहाँ वे वापस नहीं आ पाते थे; बल्कि यह है कि हम अपनी सामाजिक बुराइयों के कारण उन्हें अपना समाज छोड़ने पर मजबूर कर देते हैं। अन्न-वस्त्र से दुखी, दुर्व्यवहार से ऊबी, पति की उत्सुक, विधवायें, पेट के लिए दर-दर मारे फिरने वाले अनाथ बच्चे, कुत्ते की तरह दुरदुराये जाने वाले अछूत और नीची जाति के लोग-ये हैं हमारे हिन्दुस्थानी ईसाई और नौमुसलिम देशभाई। जिन लोगों में न धर्म के ऊँचे आदर्शों का प्रेम है, न जिन्हें समाज में औरों के बराबरी की सुख-सुविधा मिलती है—वे बाहर न जायँगे तो होगा क्या? जो लोग अब भी इतनी ज़िल्लतें सहते हुए हिन्दू-समाज में बने हुए हैं उनकी बड़ी मिहरबानी ही समझना चाहिए। और उन लोगों की भी बड़ी मिहरबानी समझना चाहिए, जिन्होंने अबतक उन्हें मुसलमान या ईसाई बना नहीं डाला है। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि जब तक नीची जातियों को ऊँची जाति वाले बराबरी की इज़्ज़त न देंगे, उनकी आमदनी का अच्छा ज़र्या न कर देंगे, उनके साथ खान-पान और ब्याह-शादी का संबंध न बढ़ावेंगे, तब तक चाहे हजार शुद्धि के आन्दोलन किये जायँ हिन्दू-जाति की संख्या घटे बिना रह नहीं सकती। यदि एक अछूत कल मुसलमान बनकर एक नवाब के दस्तरख़्वान पर खाना खा सकता है, यदि एक रात का भिखारी कल ईसाई होकर पढ़-लिख जाता है और अच्छी बीबी से शादी कर के समाज में प्रतिष्ठित हो जाता है, यदि एक विधवा मुसलमान या ईसाई होकर अन्न वस्त्र के साथ पति के सुख को पा सकती है, तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो महज़ इसलिए कि हिन्दू जाति में उसकी पैदायश है, हिन्दू जाति में बना रहने में अपना फ़ायदा सोचेगा? अतएव मेरी राय में वे भाई जो हिन्दू-जाति की संख्या की रक्षा के बहुत उत्सुक हैं, औरों को हिन्दू जाति में मिलाने की अपेक्षा हिन्दू-जाति के बांध में जो अनेक छेद हो गये हैं उन्हें बन्द करने की तरफ़ ज़्यादा ध्यान दें तो सच्चा लाभ होगा, और यही मेरी राय में अब सच्ची शुद्धि है।

जरूरी काम

मुझसे जब कोई भाई सावल करते हैं कि मैं क्या काम करूँ, तो मैं उत्तर दिया करता हूँ—वह जिससे स्वराज्य नज़दीक आवे। एक मित्र ने पूछा—विधवा-विवाह, गो-रक्षा और अस्पृश्यता-निवारण इनमें से मुझे किस काम में पड़ना

चाहिए ? मैंने उत्तर दिया—जिससे स्वराज्य नज़दीक आता हो। उन्होंने कहा कि मुझे तो तीनों स्वराज्य के लिए आवश्यक मालूम होते हैं। मैंने कहा—इनमें ऐसा कौन सा विषय है जिसके बिना स्वराज्य रुक सकता है? वह सोच में पड़ गये। मैंने कहा—विधवा-विवाह यदि दस बरस न भी हो तो उसका स्वराज्य के आने-जाने पर ख़ास असर नहीं हो सकता। उससे अधिक हुआ तो जिन जातियों में बाल-विवाह होता है, पर विधवा-विवाह बंद है, उनमें भीतरी बुराइयाँ और दस साल तक बंद न होंगी और इससे शारीरिक और नैतिक दृष्टि से उन जातियों का कुछ और पतन हो जायगा। परन्तु आते हुए स्वराज्य को रोक रखने का सीधा सामर्थ्य इस बुराई में नहीं। यदि स्वराज्य आ रहा हो तो ब्राह्मण वैश्यों के यहाँ की बाल-विधवायें डेपूटेशन लेकर नहीं जायगीं कि चूँकि हमें विवाह की सुविधा नहीं दी गई, इसलिए इनको स्वराज्य मत दो। इसी तरह यदि गो-रक्षा और दस-पाँच बरस और आगे धकेल दी गई तो गायें या उनके अभिभावक किसान इस बात की शिकायत लेकर नहीं पहुँचेंगे कि स्वराज्य आने पर ये लोग हमको कुचल डालेंगे। अंग्रेज़ बहादुर ! हमको तो आपके राज्य में सब तरह अमनचैन है। उलटा गायें तो अंग्रेज़ों के राज्य में बहुत कट रही हैं और किसान भी काफ़ी तबाह हो रहे हैं। पर यदि अछूतों को हमने अपने में नहीं मिलाया तो वे ज़रूर इस बात का आंदोलन करेंगे और कर रहे हैं कि इन कम्बख़्तों ने हमें सदियों से कुत्ते-बिल्ली से भी बदतर बना रक्खा है। आज आपके राज्य में तो हमें पढ़ने-लिखने वग़ैरा की सुविधा हुई है; मगर इनका स्वराज्य होने पर तो ये हमें कहीं का न रहने देंगे। और ७ करोड़ अछूत भाइयों की यह आवाज़ कौन कह सकता है कि पुर-असर नहीं है? इसलिए विधवा-विवाह व गो-रक्षा से ज़रूरी काम है अछूतोद्धार।

मैंने कहा—सबसे पहले काम का चुनाव करने में स्वराज्य की दृष्टि प्रधान रखनी चाहिए, फिर अपनी रुचि को देखना चाहिए। यदि वह काम चार-छः आना भी हमारी रुचि के अनुकूल हो तो अपनी रुचि को स्वराज्य की आवश्यकता के अनुकूल बना लेना चाहिए। इसके बाद सवाल आता है योग्यता का। यदि आठ आना भी योग्यता अपने अन्दर पाते हों, तो उस काम में पड़ जाना चाहिए। और साथ ही पूरी योग्यता प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिए। जब तक पूरी योग्यता नहीं आ जाती तब तक उस विषय और काम के जानकार लोगों की राय को प्रधानता देनी चाहिए। और सबसे बढ़कर बात यह है कि एक बार काम में पड़ जाने पर, जब तक यह न मालूम हो कि वह तो अच्छे काम के भ्रम से बुरे काम में पड़ गये, या अपनी अयोग्यता के कारण संस्था या काम को गहरा धक्का लग रहा है, तबतक उसे छोड़ न बैठना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक काम को स्वीकार करके तबतक अधूरा न छोड़ना चाहिए, जबतक दूसरे योग्य व्यक्ति उस काम के लिए खोज न लावें या तैयार न कर दें। आशा है, यह बातचीत अन्य कार्यकर्ता भाइयों के लिए भी लाभप्रद साबित होगी।

ह० उ०

स्वर्गीय गोपबन्धु दास

१७ जून को उड़ीसा के एकमात्र नेता श्री गोपबंधुदास का स्वर्गवास हो गया! गोपबंधुदास भारत-माता के एक सर्वश्रेष्ठ रत्न थे। उड़ीसा के तो मानों वह प्राण थे। 'जननी-जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की भावना को उन्होंने अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर दिया था। जिस भूमि में वह जन्मे और पले, वह (उड़ीसा) दुर्भिक्ष का जीता-जागता चित्र है। इसी कारण ग़रीबी और रोग सदा ही वहाँ अपनी छावनी डाले रहते हैं। अज्ञान-अविद्या का तो वह घर ही है। इस भूमि में रहने वाले भाई-बहनों की इन सब बातों से कैसी भीषण दशा है, इतनी दूर बैठे हम तो उसकी कल्पना भी शायद ही कर सकें। मातृभूमि भक्त गोपबंधुदास का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और इस दुःस्थिति को दूर करना ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। इसके लिए उन्होंने क्या नहीं किया? दैवी या मानुषी कोई भी दुर्घटना हो—चाहे अकाल की मार हो, या बाढ़ का प्रकोप, अथवा सरकारी अन्याय, गोप-बन्धु अपनी आश्वासन-पूर्ण अमृतमयी वाणी और प्रेम-पूर्ण उपकार के साथ पीड़ितों की सहायता

के लिए सबसे पहले उपस्थित होते और उनके संकट-निवारण का अपने भरसक कोई भी प्रयत्न बाक़ी न छोड़ते थे। यही नहीं, उनका चरित्र निष्कलङ्क और दृढ़ था, और स्वावलम्बन की भावना से प्रेरित होकर ही सरकार से स्वतंत्र एक विद्यालय उन्होंने सत्यवादी स्थान में खोला था, जो उड़ीसा में राष्ट्रीय-कार्यकर्त्ताओं का केन्द्र रहा है। असहयोग के ज़माने में कौंसिल की सदस्यता और वकालत छोड़ कर तन-मन से वह राष्ट्रीय कार्य में लग गये थे और गत वर्ष तो उन्होंने और भी ज़बर्दस्त त्याग किया। ला० लाजपतराय के लोक-सेवक-संघ के आजीवन सदस्य हो कर अपने प्रसिद्ध उड़िया पत्र 'समाज' तथा उसके प्रेस को भी उसे दे डाला; यही नहीं बल्कि अपनी ५० हज़ार की जायदाद भी धार्मिक कामों में खर्च करने के लिए ट्रस्ट के सुपुर्द कर दी! इस समय वह इसी लोक-सेवक-संघ के उपप्रधान थे और ग़रीबी तथा बाढ़ से पीड़ित उड़ीसा को आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिए खादी को उपयोगी साधन बनाने की योजना तैयार कर रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके अवसान से भारत ग़रीब हो गया है और उड़ीसा तो कुछ समय के लिए मानों प्राण-शून्य ही हो गया! उनकी दो पुत्रियां ही नहीं बल्कि सारा उड़ीसा आज उनके लिए रो रहा है। परमात्मा उनकी आत्मा को सद्गति दें और उड़ीसा की क्षति पूर्ति करें, यही कामना है। मुकुट

चित्र-दर्शन

१
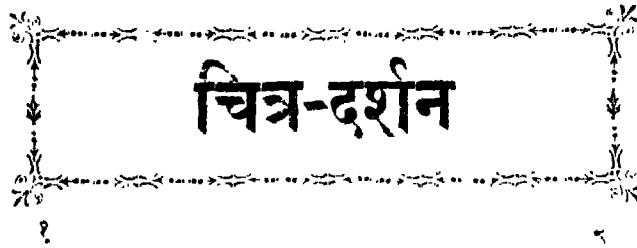
वह था एक करुण-कोमल हृदय राजपुत्र का महातप! उसकी आत्मा में एक ध्वनि गूंज रही थी—"इस संसार का दुःख कैसे दूर हो?"

वह अप्रतिम योग था। एक-एक करके दिन बीतने लगे। तपस्या का तेज चारों ओर फैल गया। अंधकारमयी शक्तियाँ घबराईं। एक-एक शक्ति अपनी पूरी ताक़त लगाकर तपस्वी पर आक्रमण करने लगी। तपस्वी का बाल न बांका हुआ। स्वयं मार अपनी सेना को लेकर आया! तपस्वी अपने ध्यान में अटल रहा।

विश्व में एक नवीन शक्ति का उदय हुआ। उस उत्सव का दृश्य अपूर्व था।

परन्तु उस भावुक बाला सुजाता को तब तक कैसे संतोष हो सकता था। जब तक कि वह अप्रतिम योगी अपने इस दीर्घ अनशन व्रत के बाद कुछ भोजन न कर ले?

बुद्धत्व की प्राप्ति के समाचार पाते ही वह दौड़ी गई और कुछ थोड़े से फल-फूल जल वग़ैरा ले कर आई।

२

इस चित्र को देखकर के हम पुरुषों का सिर लज्जा से झुक जाना चाहिए। इस वृद्ध अवस्था में यह परिश्रम आज-कल के अकर्मण्य पुरुषों को इस उद्यम की प्रति मूर्ति वृद्धा माता के चित्र से एक सबक मिल सकता है।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों में बड़ी तेज़ी से रुचि-परिवर्तन हो रहा है। आजकल स्त्रियों के चित्रों के खिलाफ जो आंदोलन चल पड़ा है वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक सुविचारी मित्र ने हमें अपने "ज्ञानदीप" और सती पार्वती नामक चित्रों पर भी उलहना दिया है। हम उन्हें सिर्फ यही कह देना चाहते हैं कि चित्र के फलां अंग का खुला रहना और फलां अंग का ढका रहना उतना हानिकर नहीं। असल बात तो यह है कि चित्र विकारोत्तेजक न होना चाहिए। वह हृदय को ऊँचा उठाने वाला हो। ज्ञानदीप और सती पार्वती की अपेक्षा यह चित्र शायद और भी अधिक अश्लील समझा जाना चाहिए। परन्तु कलाकार ने इस नग्नता में भी वह गौरव भर दिया है कि हमारा सिर आदर-पूर्वक इस उद्यम-जननी के चरणों में झुक जाता है।

वै० म०

"नेता"

Lakshmi Art, Bombay, 8

(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुद्ध बलिदान ।
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्रीभगवान् ॥

वर्ष १ | सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर । | अंक ५
खण्ड २ | अधिक श्रावण संवत् १९८५ | पूर्ण अंक ११

मेरा दीपक

कैसे बुझे यह दीपक मेरा !

सारी रात जागते बीती होने लगा सवेरा ।
बड़े प्रेम से इसे संजोया कर उद्योग घनेरा ।
प्रभु-दर्शन तो हुए नहीं, हाँ हृदय-पीर ने घेरा ॥
बाहर रिम-झिम ज्योति बरसती भीतर अगम अँधेरा ।
अलभ अमूल्य स्नेह जला कर व्यर्थ प्रकाश बखेरा ॥

क्षेमानन्द 'राहत'

बारडोली-संग्राम

बम्बई-गवर्नर के भाषण ने बारडोली-संग्राम को उस अवस्था में ला रक्खा है, जिसमें बारडोली के सत्याग्रही समझौते की बात को हृदय में स्थान न देकर अपने संगठन को दिन-दिन सुदृढ़ बनाने, अपनी प्रतिज्ञाओं पर दिन-दिन अटल रहने, अपनी कमज़ोरियों को दूर करने का ही एकमात्र भाव अपने हृदय में रक्खें। यद्यपि उस ज़ोरदार भाषण में भी दुनिया को परख चुकने वाले और राजनैतिक लड़ाइयों के अनुभवी लोग सरकार की कमज़ोरियों को और समझौते के लिए खुली रक्खी गई गलियों को साफ़ साफ़ देख सकते हैं, तथापि सदा सजग व सावधान सत्याग्रही तो विपक्षी की कमज़ोरियों को नहीं, बल्कि अपने व अपने दिल की ताक़त व मज़बूती का ध्यान रखता है और उसीके बल पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। यदि प्रतिपक्षी के हृदय का पलटा होकर, शुद्ध भाव से, वह समझौते के लिए हाथ आगे बढ़ाता है, तो वह भी अग्र होकर उसके सामने जाता है; परन्तु यदि प्रतिपक्षी अन्याय ही पर अड़ा रहता है, तो वह सर्वस्व निछावर करके भी न्याय व सत्य की रक्षा करता है। हृदय के पलटे व शुद्ध भाव की परीक्षा यह है कि विपक्षी दिल खोल कर अपने अन्याय व भूल को स्वीकार करे, और उसके परिमार्जन का उद्योग इस तरह करे, कि जिससे अन्याय का शिकार होने वाले लोगों को सन्तोष हो। दूसरे शब्दों में, वह उनकी माँगों को स्वीकार कर ले। बारडोली के सत्याग्रही इसी दुधारी तलवार पर चल रहे हैं। उनके सुयोग्य नेता श्री वल्लभभाई पटेल ने शुरू से ही समझौते के हरएक अवसर का स्वागत किया है। सूरत में समझौते की जो शर्तें दोनों ओर से पेश की गई थीं, वे पाठकों को अन्यत्र मिलेंगी। उनसे पाठक भलीभाँति जान लेंगे कि सरकार किस तरह बढ़े हुए लगान की शर्त पर अड़कर कोरी टर्र का परिचय दे रही है और लोगों के लिए वह रक़म दे देना किस तरह प्रतिज्ञा-भंग का और अपनी बात को आप ही काट डालने का सवाल है। पर समझौते का प्रयत्न करते हुए भी श्री वल्लभभाई ने अपनी सजगता और सावधानता में तिल-मात्र कसर न होने दी है। किसानों के पक्ष की न्याय्यता को तो अकेले सत्याग्रही ही नहीं, असहयोगी ही नहीं, कांग्रेस वाले ही नहीं, नरमदल वाले, धारासभा के सदस्य, और 'पायनीयर' तथा 'स्टेट्समैन' जैसे अंग्रेज़ी पत्रकार भी स्वीकार कर चुके हैं; और कुर्की व ज़ब्ती के सिलसिले में किये गये अत्याचारों की निंदा तो तटस्थ कहलाने वाले लोगों ने भी की है। 'टाइम्स आफ़ इण्डिया' के विशेष संवाददाता ने भी दूसरे ढंग से इन बातों को स्वीकार किया है। इसलिए इस बात में तो अब किसी को कोई संदेह नहीं रह गया है कि बारडोली के किसान सर्वथा न्याय-पथ पर हैं और सरकार या तो अन्याय को देख नहीं रही है, या देखकर भी अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा के ख़याल से और बारडोली की विजय से अपनी सत्ता को गहरा धक्का पहुँचने की आशंका से वह न्याय करने में हिचकिचाती है। परन्तु वह इस त्रिकालाबाधित सिद्धांत को भूल जाती है कि जय तो सदा सत्य की ही होती है। सत्य में तो ऐसा स्वयंसिद्ध स्वाभाविक आकर्षण व बल होता है कि सत्य-शोधक व सत्य-पालक खुशी-खुशी अपनेको उसपर न्यौछावर कर देता है। वह सत्याग्रही नहीं जो सत्य की रक्षा के लिए अपने को असमर्थ पाता हो। मिट्टी में मिल जाने पर भी सत्याग्रही का सत्य-प्रेम और सत्य-भक्ति बढ़ती जाती है। सत्य स्वयं ही सुरक्षित होता है। इसका अर्थ यह है कि जिसने सत्य को परख लिया है, जो सत्य से परिपूर्ण है, वह सदा अपनेको सुरक्षित समझता है और उसके निमित्त आये हुए संकटों को आनंद से सहन करना और मृत्यु तक को सस्नेह गले लगाना उसका स्वाभाविक कर्त्तव्य हो जाता है। इसका यह भी अर्थ है कि सत्य और रक्षा ये समानार्थवाची हैं, दो चीज़ें नहीं। जो सत्याग्रही है, उसमें अपनी रक्षा की शक्ति अवश्य ही है। यही कारण है कि बारडोली के निहत्थे किसान अपने अन्दर इतने बल का अनुभव कर रहे हैं और बम्बई की शस्त्रसज्जित-सरकार लोगों को निर्बल जँच रही है।

परन्तु अभी तो बारडोली के किसानों के गले में विजय ने माला नहीं डाली है। हाँ, उन्हें तथा लोगों को भावी

विजय पर विश्वास अवश्य है; क्योंकि वे सत्य और न्याय के अनुयायी हैं। अब तक उन्होंने जिस आत्म त्याग, संयम, संगठन और बल का परिचय दिया है, जिसने खुद सरकार को भी चका-चौंध में डाल दिया है, वह इस बात को प्रमाणित करता है, इस बात की झलक दिखाता है, कि विजय अमृत-कलश हाथ में लेकर उनकी ओर दौड़ी आ रही है। परन्तु अभी तक वे एक-दूसरे से दूर हैं—दोनों एक जांव नहीं हो पाये हैं। इसका कारण है, अभी बारडोली वालों ने अपने सत्य और न्याय की पूरी क़ीमत भी तो कहाँ चुका दी है? अभी तो कुछ लोगों की ही ज़मीनें ज़ब्त हुई हैं, कुछ ही लोगों के मवेशी नीलाम हुए हैं, चार-छः लोग ही जेल गये हैं—अभी सारा बारडोली ताल्लुक़ा जेलख़ाना कहाँ बन गया है? अभी तो वहाँ स्त्री-पुरुष आज़ादी से घूमते फिरते हैं, अभी तो उनके खेतों में फ़सलें लहरा रही हैं, पशु चरते और रमते हैं, पेड़ हरे-भरे खड़े हैं और उनपर चिड़ियाँ चहकती हैं। अभी तो बारडोली गुजरात का गुलज़ार चमन बना हुआ है। श्मशान कहाँ बन गया है,—वहाँ कि उल्लू बोलते हों, मुर्दों की राख के ढेर लगे हों, सत्याग्रही वीरों के, शहीदों के निर्दोष खून से ज़मीन लाल व तर हो गई हो और गिद्ध उनकी लाशों की ओर ललचाई हुई टकटकी बाँधे बैठे हों? यद्यपि बम्बई के लाट साहब ने भारत के बड़े लाट और भारत मन्त्री की अर्थात् सारे ब्रिटिश साम्राज्य की पूरी शक्ति के साथ, बारडोली पर प्रलय के काले बादल उमड़ाने की धमकी दी है, और उसके द्वारा बारडोली के सत्याग्रहियों को अपने—सत्य, अपनी प्रतिज्ञा, अपने आत्म-सन्मान की रक्षा की पूरी क़ीमत देने के लिए चेतावनी व अवसर देना चाहा है तथापि जब तक वह अवसर प्रत्यक्ष न आ जाय और वे पूरी क़ीमत न चुकायें तब तक विजय, निश्चित होते हुए भी, दूर है। पर पूरी क़ीमत उन्हें उसी अवस्था में चुकानी होगी, जब सरकार बिलकुल पशुता और राक्षसता का क्रूर व नग्न रूप वहाँ दिखावे। कई लोगों का ख़याल है कि इस सरकार के पाप का घड़ा भर चुका है, भारत में स्वराज्य का सुदिन शीघ्र उगने वाला है, भारतवर्ष में स्वाधीनता के अमृत की धारा बहने वाली है और ब्रिटिश साम्राज्य से कूट-नीति का हलाहल निकलना मानव-जाति के हित के लिए आवश्यक है, इसलिए यह सरकार तो गलती पर गलती करेगी ही, और उसके फलस्वरूप बारडोली का बलिदान सारे देश में जीवन की आग फैला देगा।

यह सच भी हो सकता है; पर यह तो हुआ इस संग्राम का उज्वल पक्ष; यह तो हुई एक आशावादी और श्रद्धावान की सृष्टि। अब शंकाशील और भुक्तभोगियों की बात का भी विचार करलें। क्या बारडोली के किसान अन्त तक अहिंसात्मक बने रहेंगे? क्या वे छाती तानकर गोलियाँ खा लेंगे? अपनी ज़मीन जायदाद सब को बरबाद कर देना सबके लिए सम्भव न होगा। क्या वे सरकार के दमन से दब और डर नहीं जायँगे? क्या उनका संगठन अन्त तक दृढ़ बना रहेगा? श्री वल्लभभाई के गिरफ़्तार हो जाने पर तो महात्माजी सम्हाल लेंगे; पर महात्माजी पकड़े गये तो कौन सम्हालेगा? किसी सुयोग्य नेता के अभाव में संगठन का बल बिखर न जायगा? जब तक सरकारी दमन ज़ोर-शोर के साथ शुरू नहीं हुआ है तब तक भले ही ये बड़ी-बड़ी बातें सुन लीजिए आदि, आशंकायें अपनेको अधिक व्यावहारिक कहने वाले बुद्धिमान उठाया करते हैं। इन सब बातों के सविस्तार विचार के लिए इस लेख में स्थान नहीं। इस संग्राम का बुरे से बुरा अन्त यह हो सकता है कि बारडोली के किसान अपनी प्रतिज्ञाओं को तोड़ दें, अपने आत्म-सन्मान को खो कर भय अथवा लालच के शिकार होकर सरकार के सामने घुटने टेक दें!! तो भी क्या हुआ, क्या इससे दुनिया इस नतीजे पर पहुँचेगी कि बारडोली वाले अन्याय पर थे, और सरकार न्याय पर? नहीं—बारडोली का यह विफल संग्राम भी लोगों के दिलों पर यह असर छोड़ जायगा कि सरकार अन्यायी और राक्षसी है और बारडोली के लोग कमज़ोर साबित हुए। इससे सरकार के प्रति लोगों के मन में घृणा और अप्रीति के भाव और दृढ़ होंगे, तथा लोगों के प्रति सहानुभूति के भाव बढ़ेंगे। आगे चल कर इससे लोगों का ही हित होगा और सरकार का अहित। क्योंकि कोई सरकार इसलिए किसी पर राज्य नहीं कर रही है कि उसके पास लोगों को कुचल डालने के आसुरी शस्त्रास्त्र हैं, बल्कि इसलिए कि लोगों का नैतिक बल उसके साथ है। सरकार ज्यों-ज्यों अन्याय व अत्याचार करती जाती है त्यों-त्यों लोगों का नैतिक आश्रय उससे हटता

जाता है और एक दिन आता है जब वह देखते-देखते धड़ाम से गिर पड़ती है।

पर यदि लोग अन्त तक शांतिमय और अटल बने रहेंगे, जैसे कि लक्षण दिखाई पड़ते हैं कि बने रहेंगे, तो इससे भारत को अद्भुत लाभ होगा। लोगों का ध्यान इस ओर अधिकाधिक खिंचेगा कि जहाँ कहीं भी बन्दोबस्त होता है लगान घटता नहीं बढ़ता ही है और किसान पिसते ही जाते हैं। इससे सरकार की लगान नीति के दोष स्पष्ट नज़र आ जायेंगे और किसानों के संगठन की नींव पड़ जायगी। देश-सेवकों का ध्यान उच्च और मध्यम श्रेणी की अपेक्षा ग़रीबों और जनता की समस्याओं की ओर जायगा, जो कि भारत का सब से उलझन प्रश्न है। भारत को इस बात का पदार्थ-पाठ मिल जायगा कि एक व्यक्ति ही नहीं बल्कि एक समूह और समाज भी अहिंसात्मक युद्ध—सविनय अवज्ञा—सफलता के साथ कर सकता है। यह प्रयोग भारतवर्ष के इतिहास में तो अपना एक ही स्थान रक्खेगा; परन्तु संसार के इतिहास में भी एक उच्च पद प्राप्त करेगा। यह इस बात को दिखलावेगा कि वही सेनानायक सफल होता है जो अपनी माँग को इतनी छोटी बना कर रखता है कि तटस्थ लोग भी, और विपक्षी लोगों के साथ सहानुभूति रखने वाले न्याय-निष्ठ भी उसे न्याययुक्त समझें, जो अपनी बात को साफ़-सीधी कहे, खुली लड़ाई लड़े, बड़े गौरवयुक्त समझौते के लिए सदा तैयार रहे, प्रतिपक्षी को ख्वामख्वाह परेशान न करे, लोभ में पड़ कर अपनी माँग और युद्ध की मर्यादा को न बढ़ावे, टेढ़े और कुत्सित उपायों से काम न ले, नियमबद्धता और सौजन्य जिसका पहला और आख़िरी वाक्य हो। बारडोली ने अब तक इतना भी चमत्कार दिखाया है उसका रहस्य यही है। इस विजय से देश को जो-जो लाभ होने वाले हैं वे अभूतपूर्व-से होंगे। इसलिए प्रत्येक देशहितैषी, व दीनहितैषी का यह कर्तव्य है कि वह इस संग्राम की बातों से पूरी दिलचस्पी ले, और इसकी सफलता के लिए तन, मन, धन से उद्योग करे।

हरिभाऊ उपाध्याय

सैनिक गीत

(१)

सैनिक, बढ़े चले जाओ!
देश-प्रेम में मत्त गान तुम जन्म-भूमि का गाओ।
भारत का कण-कण जग जावे।
हो सचेत ब्रह्मास्त्र उठावे।
अत्याचार पूर्ण-नभ-मण्डल सुन कर तव हुङ्कार।
लगे काँपने, कड़-कड़ करके टूट जायँ सब द्वार।
उस अन्याय-दुर्ग का कोट।
सह पावे न तुम्हारी चोट।
अपनी खोदी खाँई में ढह जावे! अन्दर घुस जाओ।
सैनिक, बढ़े चले जाओ!

(२)

सैनिक, बढ़े चले जाओ!
दृढ़ता, साहस और धैर्य्य से आगे पैर बढ़ाओ।
बोलो एक साथ इक लय हो,
जननी जन्म-भूमि की जय हो!
गौरव, ज्योति जग रही जिनमें तुम हो वही शक्ति-संतान।
इस स्वतंत्रता की वेदी पर जाओ हो जाओ, बलिदान।
तुम विजयी भारत-संतान।
दिया तुम्हें माँ ने वरदान।
आन रखो तुम, मान रखो तुम, और सपूत कहाओ।
सैनिक, बढ़े चले जाओ॥

(३)

सैनिक, बढ़े चले जाओ!
होना विमुख कभी न ध्येय से यदि ठोकर भी खाओ।
हाँ! निरुत्साह तुम होगे क्यों?
फिर पन्थ हार बैठोगे क्यों?
पर्वतीय-नद जिस प्रकार ढोकों से खा-खा कर ठोकर।
बहता है द्विगुणित प्रवाह से उद्धत उच्छृङ्खल होकर।

निकले मुख से कभी न आह !
दुःख उदधि हो क्यों न अथाह।
अस्थिर बहते हुए काल में अमर कीर्ति तुम कर जाओ !
सैनिक, बढ़े चले जाओ !

(४)

सैनिक, बढ़े चले जाओ !
आशामय प्रशस्त इस पथ से उन्नति को अपनाओ।
अन्धकार भगता जाता है।
विश्व सकल जगता जाता है।
पूर्व दिशा के उषा लोक में उच्च हिमालय के ऊपर।
उतरा है सुवर्ण-पङ्खों से आने को भारत-भूपर।
वह स्वतंत्रता का शुभ-दूत !
लावेगा सुख-पूर्ण मुहूर्त्त ।
फिर स्वाधीन वायु-मण्डल में अपनी ध्वजा उड़ाओ।
सैनिक, बढ़े चले जाओ !

भद्रजित् "भद्र"

देशभक्ति का कठिन मार्ग

जो देश अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता की अवस्था में होते हैं उनमें सब से बड़े लाभ की बात यह होती है कि देश की भलाई का रास्ता और लोगों की अपनी वैयक्तिक भलाई का रास्ता दोनों एक ही ओर को जाते हैं। दूसरे शब्दों में जो कोई मनुष्य रण-क्षेत्र में या विद्या-बुद्धि के मैदान में, अथवा धन का उपार्जन करने में बड़ाई हासिल करता है, वह उसके साथ-साथ अपने देश और जाति को भी एक क़दम आगे ले जाता है। क्लाइव आदि जिन बड़े-बड़े अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्थान को विजित करने का काम किया, जहाँ वे स्वयं छोटी-छोटी अवस्था से उठ कर बड़े धनवान और प्रतिष्ठित बन गये, वहां उन्होंने अपने देश तथा जाति की भी बड़ी भारी सेवा की। इसके विपरीत जो देश अपनी स्वतंत्रता खो कर भारत के समान पराधीन हो जाता है उसमें बड़ा दुःख और कठिनाई इस कारण से पैदा होती है कि उसके अंदर मनुष्य का अपने स्वार्थ का रास्ता और देश की भलाई का रास्ता परस्पर विरोधी हो जाते हैं। उसमें जो कोई मनुष्य देश तथा जाति की भलाई का काम करना चाहता है उसे न केवल अपना सांसारिक लाभ छोड़ना पड़ता है प्रत्युत उसे भारी कष्टों का सामना करना पड़ता है। इस उलटी राजनैतिक अवस्था में जो मनुष्य सरकार के घर में किसी कारण से मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, यह कहना बड़ा कठिन है कि वह अपने देश और जाति की वास्तविक भलाई में तनिक भी सहायता कर रहा है। इस कसौटी को सामने रखने से हमारे बड़े-बड़े माननीय नेता और राज-मंत्री, जिनका काम राजा और प्रजा दोनों को खुश करना रहा है, देशभक्तों की सूची से निकल जाते हैं। सच्चा देशभक्त तो वही हो सकता है जिसने अपना जीवन ग़रीबी और कष्ट में गुज़ारा हो, न कि वह जो सरकारी प्रबन्ध-द्वारा हज़ारों-लाखों रुपया कमाता रहे और अपनी आयु के अंत के दो-चार वर्ष इन से पृथक् हो कर देशभक्तों की पंक्ति में बैठ अपना मान और प्रतिष्ठा बढ़ा ले।

एक और नियम यह है कि मनुष्य स्वभावतः एक स्वार्थ-परायण प्राणी है। अपना स्वार्थ ही मनुष्य से जी-जान के साथ काम कराता है। हम सब, कोई दुकानदार बन कर, कोई वकील बन कर, कोई सिपाही बन कर अपने पेट के लिए उस बाज़ीगर की तरह सब प्रकार के करतब करते हैं, जो रस्सी पर चढ़ कर अपने अँगूठे के बल नाचा करता है सूली पर चढ़ कर उलटा लटक जाता है और इस पेट की ओर हाथ से इशारा करके जताता है कि 'सब

इसकी खातिर कर रहा हूँ।' मनुष्य केवल एक स्वार्थी पशु ही रहता, यदि प्रकृति इसे विवेक-शक्ति न देती। इस विवेक से मनुष्य को पता लगता है कि यदि उसे अन्य मनुष्यों के साथ मिल कर सामाजिक अवस्था में जीवित रहना है, तो उसे अपना स्वार्थ छोड़ कर समस्त समाज के हित का ध्यान रखना होगा। विवेक ही यह बताता है कि यदि वह समाज, जिसमें मनुष्य रहता है, किसी रोग, दुःख अथवा पराधीनता के गड्ढे में गिर जायगा तो वह स्वयं भी अमन-चैन से जीता न रह सकेगा। इसलिए उसका अपना स्वार्थ भी इसीमें है कि वह जाति की भलाई को अपना मुख्य आदर्श मान ले।

यद्यपि यह विवेक बड़ा सीधा-सादा है, तो भी हजारों मनुष्यों में कोई एक-आध ही निकलता है, जिसके मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न होता है। कथाओं में, मंदिरों में, स्कूलों तथा कालेजों में लोगों और लड़कों को निरस्वार्थ सेवा की शिक्षा दी जाती है; लेकिन इनमें से विरला ही कोई होता है, जो इस शिक्षा को ग्रहण करके इसपर आचरण करता है। अब हम यह मान लेते हैं कि सारे देश में ऐसे लोगों की एक श्रेणी है, जो यौवन-काल में विचार करने के पश्चात् यह निश्चय करते हैं, कि वे अपने जीवन में देश तथा जाति की निस्स्वार्थ सेवा करेंगे। आगे हमें यह देखना है कि इन अल्प-संख्यक लोगों के सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ आती हैं, जिनके कारण वे अपनी प्रतिज्ञा भंग कर देते हैं या उनमें बहुत शिथिलता आ जाती है।

यौवन-काल में मनुष्य को संसार के बल का पूरा ज्ञान नहीं होता। न उसे गृहस्थ की जरूरतों का पता होता है, न सामाजिक मान-अपमान की अधिक पर्वाह होती है। इस अवस्था में नवयुवक बड़े घमण्ड से कहता है कि 'संसार को अपने पाँव-तले रौंद दूंगा, मुझे कोई सांसारिक शक्ति दबा नहीं सकती।' परन्तु संसार की माया चुप-चाप खड़ी उसकी ओर देखती है और मन-ही-मन कहती है—'देखो भाई, इतना घमण्ड मत करो! तुम्हारे जैसे सैकड़ों-हज़ारों मनुष्य मैंने देखे; जब वे मेरे रगड़े में आये तो बच कर न निकले।' दो-चार साल बाद उस युवक का व्याह हो जाता है, और गृहस्थ की आवश्यकतायें एक-एक करके उसे दबाने लग जाती हैं। भाई-बन्धु सब तभी मित्र दिखाई देते हैं, जब कुछ पास में होता है। अन्दर से आवाज़ आती है—'अरे मूर्ख, यह क्या कर रहा है, जब कि तेरे पास कुछ नहीं, तू खाने-पीने के लिए दूसरों के अधीन है? ऐसा रहेगा तो न कुछ अपना बनायेगा, न कुछ देश का कर सकेगा।' कुछ दिन बेचारा इस आवाज़ को दबाने का यत्न करता है। परन्तु कब तक ऐसा करेगा? अन्त में भेड़ की तरह सिर नीचे डाल देता है और दुनिया के पीछे चल पड़ता है। इस श्रेणी के सहस्रों मनुष्यों में से कोई विरला ही ऐसे सच्चरित्र वाला होता है, जो माया की इस शक्ति का मुक़ाबला करते हुए अपनी जगह पर खड़ा रहता है। साधारण लोगों में से कोई-कोई विचारशील होते हैं, ऐसे ही विचारशील मनुष्यों में से कोई कोई ही ऐसा चरित्रवान् होता है।

एक क़दम आगे चलिए। देशभक्ति के मार्ग में बड़े कांटे हैं। अभी तक तो हमारे युवक ने उस मार्ग की न किसी कठिनाई को देखा, न किसी मुसीबत का सामना किया। जब सचमुच उसने इस रास्ते पर पाँव रक्खा तो तत्काल ही विरोधियों की ओर से विरोध होने लगा। उसके विरोधी कई प्रकार के साधनों से उसे दबाने लगते हैं; विरोधी तो परे रहे, उसके साथियों में से ही कई ईर्ष्या-द्वेष से भरे हुए उसके शत्रु बन जाते हैं। विरोधी दल के कई मनुष्य ऊपर से मैत्री-वेष में रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं। थोड़ी देर में कोई

न कोई बखेड़ा खड़ा हो ही जाता है, चारों ओर से शत्रु उसे घेर लेते हैं। तब उसके हृदय में अपने प्राणों के लिए भय उत्पन्न होता है और भीरुता, जिसका पहले उसे कभी ध्यान भी न हुआ था, आ कर उसे दबा लेती है। बहुतेरे लोग धन का त्याग कर सकते हैं, मान का भी त्याग कर सकते हैं; लेकिन वे स्वभाव से ऐसे कायर होते हैं कि संग्राम, संकट या युद्ध के समय में हिम्मत हार बैठते हैं और उन्हें ठीक रास्ते की सुध-बुध नहीं रहती। अमन और शान्ति के समय अपने त्याग-द्वारा वे लोगों के नेता बन सकते हैं; लेकिन शत्रु-दल के सामने खड़े होकर जिस साहस और वीरता की ज़रूरत होती है, वह उनमें न होने से अपने साथियों के विनाश का कारण बन जाते हैं। मैं अपना अनुभव बताता हूँ; अपने मुक़दमे में मैंने कई ऐसे मनुष्यों को देखा, जिनके हृदय में देश-भक्ति की आग जलती थी—जिन्होंने अपना सब कुछ देश के लिए क़ुर्बान कर दिया था परन्तु ज्योंही वे पुलिस के पंजे में पड़े और उन्हें अपनी जान बचाने का प्रलोभन दिया गया, त्योंही उन्होंने अपने सब साथियों को पकड़वा कर न सिर्फ़ अपने आन्दोलन को मिटा दिया, बल्कि स्वतन्त्रता की लहर को कहीं दूर पीछे डाल दिया। इसी प्रकार आर्यसमाज में कई ऐसे लोग थे, जो शुद्ध देशभक्ति की बातें करते थे; परन्तु जब सरकार ने थोड़ा-सा दबाव डाला, तो उन्हें अपनी सब पुरानी बातें भूल गईं। हाल की बात है कि जब मुसलमानों ने हिन्दू कार्यकर्त्ताओं पर आक्रमण किये और उनको मार डालने की धमकियाँ दीं, तो कई आदमियों ने चुप-चाप हिन्दू-संगठन के आन्दोलन को छोड़ दिया। जान का भय एक बड़ी कमज़ोरी है, जो हमको संघर्षण के समय काम करने के अयोग्य बना देती है। और, जब यह किसी नेता में पाई जाय, तो उसका नेतृत्व अपने समाज या संस्था के लिए बहुत हानिकारक होता है। हमारे अपने अंदर ऐसे नेता मौजूद हैं, जिन्होंने शांति-काल में अपने त्याग और निस्वार्थ कार्य के द्वारा लोगों के हृदय पर अपना प्रभाव जमा लिया; लेकिन ज्यों ही संघर्षण का समय आया, वे डर गये और सबको ग़लत रास्ते पर चला कर जाति को इतनी भारी हानि पहुँचाई, जितना भारी उनका प्रभाव था। जान का डर विचार-शक्ति को ऐसा बना देता है कि गिराने वाली नीति बड़ी बुद्धिमत्ता की बात दिखाई देती है।

ऊपर वर्णन की गई कमज़ोरियों के अतिरिक्त जिस बात से हमारे कार्य में सबसे बड़ा संकट उत्पन्न होता है, वह हमारी समझ और विचार की भूल है। मनुष्य हृदय से देश का हित चाहने वाला हो, देश के लिए वह अपने स्वार्थ का त्याग करने को तैयार हो, उसमें इतना चारित्र हो कि वह संसार की सब विरोधी शक्तियों का मुक़ाबला कर सके, उसके अन्दर इतनी निर्भयता हो कि संकट आने पर भी उसका साहस बना रहे—ये सब उत्तम गुण, जो मनुष्यों में बहुत ही कम मिलते हैं, मौजूद होने पर भी मनुष्य अपनी उलटी समझ के कारण अपने तथा दूसरों के लिए विनाशकारी परिणाम पैदा कर लेता है। अपनी या अपने शत्रु की शक्ति का ग़लत अंदाज़ा लगाना भी इसी उलटी समझ में सम्मिलित है। दूसरे का मुक़ाबला करने के लिए हम किसी बड़े कार्य को आरंभ करते हैं, अपने साथियों को जोश दिला कर उनको सब तरह का त्याग करने पर तैयार करते हैं, अपनी सारी सेना को इकट्ठा करके रणभूमि की ओर चल पड़ते हैं। हमसे सिर्फ़ इतनी चूक हो जाती है कि हम मार्ग के लिए ख़ूराक का कोई प्रबंध नहीं करते। परिणाम यह होता है कि एक-दो दिन भूखी रह कर हमारी सारी सेना भूख से नष्ट हो

जाती है और हमारा सारा किया-कराया उद्योग मिट्टी में मिल जाता है। ऐसे ही मान लो, हम अपनी सेना को लेकर चल पड़े, बाक़ी सामान भी साथ ले लिया, परंतु हमने यह ख़याल न किया कि रास्ते में एक नाला भी आता है और न उसे पार करने का कोई इन्तज़ाम किया। परिणाम-स्वरूप नाले पर पहुँच कर हमारे अंदर खलबली मच जाती है। शत्रु हमपर आ पड़ता है, और हमें नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। इस प्रकार एक छोटी-सी भूल से हमारा सारा बना-बनाया काम निष्फल हो जाता है। प्रकृति का हृदय बड़ा सख़्त है; उसके नियम बड़े कठोर हैं। एक भूल, चाहे वह कितनी ही छोटी हो, आदमी की जान ले लेती है, सारी-की-सारी फ़ौज को नष्ट कर देती है—सारे देश और जाति की सत्ता को संकट में डाल देती है। प्रकृति यह नहीं देखती कि यह बच्चा है, नासमझी के कारण नदी में गिर पड़ा है, इसलिए इसे बचा लेना चाहिए; न वह यही देखती है कि अमुक जाति बड़ी सीधी-सादी और किसी को दुःख न देने वाली है, इसने शत्रु की चाल या धोखेबाज़ी का ख़याल नहीं किया, इसलिए इस भूल को क्षमा करके इसे विनाश से बचा लेना चाहिए और यदि इसे भूल का दंड भी देना ही हो तो क्यों न इस छोटी-सी भूल के लिए थोड़ासा दण्ड दे दिया जाय!

जिन लोगों ने भारत में "ग़दर" मचाया, उनसे बढ़कर विदेशी राज्य का विरोधी कौन हो सकता है? उन्होंने एक बड़े भारी राज्य को पलटने का यत्न किया। थोड़ी देर के लिए हिंदू-मुसलमानों को मिलने के साधन भी निकल आये और ग़दर चलाने वालों ने सारे देश के अंदर एक बड़े भारी षड्यंत्र का जाल बिछा दिया। ग़दर का जो भयानक परिणाम निकला, आज हम उसे जानते हैं कि इतने बड़े त्याग के होते हुए इस ग़दर के कारण उसी विदेशी राज्य की जड़ें, जिसे वे उखेड़ना चाहते थे, ऐसी गहरी और सुदृढ़ होगईं कि अब उनके हिलाने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता। वह आन्दोलन तो असफल हुआ, लेकिन उसके बाद विदेशी शासक ऐसे होशियार और चौकन्ने हो गये कि पत्ता हिलने ही लगता है कि वे रोकने का इंतज़ाम कर लेते हैं।

हमें इन अनुभवों से लाभ उठा कर अब यह निश्चय कर लेना चाहिए कि हम जो काम उठावें उसे ख़ूब सोच-समझ कर और पूरी तैयारी के साथ हाथ में लें, जिससे फिसलने की—पीछे हटने की कम से कम सम्भावना रहे। इस समय देश के अन्दर एक नई लहर चल रही है, देश के युवकों में पूर्ण स्वतंत्रता की भावना का प्राबल्य होता जा रहा है, कुछ नेता ऐसे भी हैं जो उन्नति के नाम पर रूस के बोलशेविज़्म को ही यहाँ ले आना चाहते हैं। मैं उनसे केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूँ कि एक गिरे हुए देश को उठाना महाकठिन काम है; गिरते हुए को सम्हालना भी बहुत कठिन है; परंतु सदियों से नीचे पड़े हुए देश को फिर ऊपर लाने के लिए ये सब गुण अति आवश्यक हैं, जिनका मैंने वर्णन किया है।

भाई परमानन्द

" अत्याचारी लोग सत्य के इन सैनिकों को तंग कर सकते हैं, देश-निकाला दे सकते हैं, फाँसी पर लटका सकते हैं, पर स्वतन्त्रता का नाश नहीं कर सकते। आवश्यकता नहीं है कि पलटनें स्वाधीनता की रक्षा करें, और महात्मा इसकी घोषणा करें।···केवल एक व्यक्ति स्वतन्त्रता की रक्षा करके सिद्ध कर सकता है कि मनुष्य से कोई इसे जुदा नहीं कर सकता।"

—टेरेन्स मैकस्विनी

आदर्श वीरता
(Chivalry)

Who is the happy warrior ! who is he
That every man in arms should wish to be.

मध्यकालीन यूरोप में आदर्श वीरता (Chivalry) एक अद्भुत संस्था थी। प्रस्तुत लेख में उसी संस्था के स्वरूप तथा सिद्धांतों का संक्षेप में पर्य्यालोचन किया जायगा। 'शिवेलरी' शब्द में इतने भावों का सम्मिश्रण है कि इसका हिंदी के किसी एक शब्द में अनुवाद करना कठिन है। 'आदर्श वीरता' भी ठीक अनुवाद नहीं कहा जा सकता, तथापि हम इसी शब्द से 'शिवेलरी' का संकेत करेंगे और क्रमशः उसके अर्थ, सिद्धांत, मध्य-कालीन स्वरूप, वर्तमान शिक्षा से सम्बन्ध और युद्ध पर प्रभाव—इन उपविभागों में प्रस्तुत विषय का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

आदर्श वीरता (Chivalry) का अर्थ

मध्यकाल में आदर्श वीरता समाज की वह संस्था थी, जो मनुष्य को उस जीवन के बिताने की शिक्षा देती थी कि जो न तो असभ्य या जंगली हो, और न तटस्थ या निर्वेदमय हो। अर्थात् इस सामाजिक जीवन-प्रकार में, व्यक्ति संसार में रहकर वीरता के उन आदर्शों से दीक्षित किया जाता था, जिनसे उसका आहार-विहार सर्वथा नियमित और सेवा ही मुख्य लक्ष्य होता था। कमज़ोर की सहायता करना, स्त्रियों की रक्षा, अपने से बड़ों का सन्मान करना इत्यादि इस संस्था के प्रधान तत्त्व थे। एक वीर सामन्त (Knight) के लड़के के जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य यही होता था कि वह भी किसी दिन अपने पिता की तरह 'वीर' हो। बारह या तेरह साल की उम्र से एक लड़का अपने घर से माता-पिता की आज्ञा लेकर विदा होता और किसी ड्यूक, नाइट या राजा की नौकरी में भर्त्ती हो जाता। इस अवस्था में उसका मुख्य कर्त्तव्य यही होता था कि वह अपने स्वामी के भोजन के समय मेज़ के पास खड़ा रहता। उसके सोने के समय शिविर की पहरेदारी करता। एक बालक इन कामों के करने में बड़ा गौरव समझता। वह उसके सबसे अधिक अभिमान का अवसर होता, जब उसका स्वामी उसे बुला कर उससे दो-चार बातें कर लेता। बालक के हृदय में सबसे बड़ी सान्त्वना यही होती कि वह भी एक दिन, अपने स्वामी की तरह, अच्छे क़ीमती घोड़ों पर सवार होगा, उसकी कमर में भी एक चमकती तलवार लटकती होगी, उसके साथ भी बहुत से सेवक (Pages) होंगे। उसे यह स्मरण कर सब तकलीफ़ें भूल जातीं कि उसका स्वामी भी एक दिन उसकी तरह मामूली नौकर था, उसने भी ऐसे छोटे कर्त्तव्यों का पालन किया था, जिनका पालन वह स्वयं कर रहा है। संक्षेप में, एक आदर्श वीर बनने के लिए, उन सब मंज़िलों को तय करना होता था, जिनके तय करने के बाद ही प्रतीक्षित ध्येय की प्राप्ति हो सकती थी।

आदर्श वीरता के सिद्धान्त

अतएव सेवा ही आदर्श वीरता का सबसे प्रथम सिद्धान्त था। फिर चाहे वह सेवा किसी भी प्रकार की क्यों न हो, कभी नीच नहीं समझी जाती थी। एक बालक को वीर की उच्च पदवी प्राप्त करने के लिए रोटी परोसना, घुड़साल का प्रबन्ध करना, कैम्प की पहरेदारी करना, इत्यादि सब कर्त्तव्य पूरे करने होते थे। मध्यकाल में स्वामी के साथ नाचना, घुड़दौड़ करना, शिकार करना, आदि ऊँचे काम समझे जाते थे, परन्तु इनका अधिकार भी तभी प्राप्त होता था, जब

अन्य निम्न कामों में बालक उत्तीर्ण हो चुका हो। इंग्लैण्ड के युवराज 'ब्लैक प्रिन्स' (Black Prince) को फ्रान्स के राजा जॉन के सन्मुख घुटने टेक कर हाथ धुलाना और पूरा आतिथ्य-सत्कार करना पड़ा था। जब १३५६ ई० में अंग्रेज़ों और फ्रेंच लोगों में पोर्टियर की प्रसिद्ध लड़ाई हुई, तब विजय प्राप्त करने के बाद भी ब्लैक प्रिन्स ने जिस आदर्श वीरता का परिचय दिया वह इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। ब्लैक प्रिन्स वीरता का—सच्ची वीरता का—पुतला था। युद्ध समाप्त होने पर फ्रेंच लोगों से उसने वह व्यवहार किया, जिससे फ्रेंच स्वयं लज्जित हुए। केवल इतना ही नहीं कि उनके किसी व्यक्ति को उसने क़ैद नहीं किया, बल्कि उनके माल पर भी कोई क़ब्ज़ा नहीं किया—यद्यपि युद्ध के नियमों के अनुसार उसपर उसका पूरा अधिकार था। इसके अतिरिक्त सब फ्रेंच लोगों को बुला कर खान-पान का निमन्त्रण दिया, और स्वयं यथाविधि फ्रांस के राजा की सेवा की। यह सेवा का आदर्श था।

कमज़ोर की सहायता करना आदर्श वीरता का दूसरा सिद्धान्त था। एक नाइट—सच्चा वीर—असहाय को देखते ही यथाशक्ति सहायता करने को प्रस्तुत हो जाता था। उस समय जाति, वर्ण या देश का कोई विचार नहीं किया जाता था। विशेषतः महिलाओं के प्रति आदर्श वीर के हृदय में सच्चे, पवित्र श्रद्धा के भाव होते थे। अपनी आँखों से एक अबला पर अत्याचार होते देखना उसके लिए पाप था। वह स्वयं भी कभी किसी महिला पर कोई प्रहार न करता, और उन लोगों के समुदाय पर भी कोई प्रहार न करता, जिनमें एक भी महिला विद्यमान हो।

रोबिनहुड का जीवन, इस प्रसंग में उद्धरणीय है। वह मध्यकाल में जंगलों में रहा करता और उस रास्ते से गुजरते हुए धनी पथिकों को लूटा करता था। और उस लूट के माल से उन लोगों की सहायता करता था, जो निर्धन और असहाय होते थे। उसने अपनी मृत्यु तक इस नियम का पालन किया कि वह कभी स्त्री पर प्रहार न करता और उस समुदाय पर भी प्रहार न करता जिसमें कोई स्त्री विद्यमान हो। उसका मृत्यु भी एक विश्वासघाती स्त्री के द्वारा हुई थी, परन्तु उसने मरते दम तक अपने साथियों से यही प्रार्थना की, कि वे उसकी मृत्यु का बदला उस अबला से न लें। निम्नलिखित शब्द रोबिनहुड के ही हैं—

> I never hurt a woman in all my life
> Nor men in their company.
> I never hurt maid in all my time
> Nor at mine end shall it be.

आदर्श वीरता का तीसरा तत्व अपने संघ के भ्रातृत्व (Brotherhood) में अभिमान या गौरव अनुभव करना था। एक नाइट दूसरे नाइट को अपना भाई समझता था, आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे की सहायता करना उनका परमधर्म था। सब नाइट अपनी स्थिति का अभिमान करते थे। नाइट होना, उनके जीवन की सबसे बड़े महत्व की बात होती थी। राजा लोग भी—जिनके हाथ में नाइट बनाना होता था—स्वयं नाइट बनना चाहते और किसी वीर-शिरोमणि से इस पद को प्राप्त करने में अपना गौरव मानते थे। फ्रांस के राजा ने लार्ड आफ़ बेयर्ड (Lord of Bayard) के हाथों से नाइट होने का सन्मान ग्रहण किया। बेयर्ड ने भी अपने राजा को, तलवार और ढाल की साक्षी रख करके, नाइटहुड (वीरत्व) की दीक्षा से दीक्षित किया। आदर्श वीर बनने का यह सच्चा अभिमान मध्यकालीन यूरोप के इतिहास में जगह-जगह प्रकाशित होता है। यहां अधिक उदाहरण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।

मध्यकालीन स्वरूप

"What a virtue is chivalry, even in a foe!" इन शब्दों से हेनरी न्यूबोल्ट ने इंग्लैण्ड के राजा शेर रिचर्ड (Richard the Lion) की वीरता का विवेचन किया है। जेरुसलम में ईसाईयों पर सलादीन की ज्यादतियों का हाल सुन कर रिचर्ड ने ११८९ ई० में धर्मयुद्ध (Crusade) करने का विचार किया, और फ्रांस के राजा फिलिप की सहायता से एकी (Acre) पर तुर्क लोगों को पराजित किया और जेरुसलम पर चढ़ाई की। जेरुसलम में रिचर्ड को बहुत सफलता प्राप्त नहीं हुई, लड़ाई में जब रिचर्ड का घोड़ा और सारथी मारे गये, तब सफ़ादीन ने—जो सलादीन का भाई था—अपनी तरफ़ से एक घोड़ा और सारथी, रिचर्ड के पास यह कहलवा कर भिजवाये कि रिचर्ड को इनकी जरूरत है, वह इनको स्वीकार करे, परमात्मा की कृपा से विजयी हो तो वह इन्हें पीछे व पिस कर दे। रिचर्ड ने अपने शत्रु की इस उदारता, इस वीरता (Chivalry) का सहर्ष अभिवादन किया, और राजा की भेंट को स्वीकार किया। वास्तव में वीरता जीवन का वह उदात्त तत्त्व है, जिससे मनुष्य देवता हो जाता है। अतएव हमारे भारतीय इतिहास में संग्राम में मरे हुए क्षत्रिय के लिए (हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्) निश्चित स्वर्गलाभ लिखा है।

भारतीय नीतिशास्त्रों में भी धर्मयुद्ध और व्यूह-युद्ध नामों से युद्ध के दो प्रकार बतलाये गये हैं। हम इनकी लम्बी विवेचना में नहीं जाना चाहते। इतना अवकाश भी नहीं है। परन्तु इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि धर्मयुद्धों में कुछ निश्चित नियम होते थे, जिनके अनुसार ही युद्ध किया जाता था। इनमें भी असहायों, निर्बलों, स्त्रियों, आदि पर प्रहार नहीं किया जाता था। युद्ध की समाप्ति सब बैरियों को मुक्त कर दिया जाता था, और पूर्णशान्ति से रात्रि का समय व्यतीत किया जाता। कभी-कभी तो पक्ष-विपक्ष के दलों में परस्पर प्रीतिभोज भी होते, तथा अन्य सामाजिक त्योहार भी मनाये जाते। इस सम्बन्ध में शान्तिपर्व का निम्न उद्धरण, प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने में, पर्याप्त सहायक होगा—

महाभारत में कौरव-पांडवों की निम्नलिखित अभिसन्धि है—

> ततस्ते समयं चक्रुः कुरु पांडव सोमकाः।
> धर्मान् संस्थापयामासुः, युद्धानि भरतर्षभ॥
> निवृत्ते विहिते युद्धे, स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम्।
> यथापरं यथायोग्यं, न च स्याच्छलनं पुनः॥
> वाचा युद्धे प्रवृत्तानां, वाचैव प्रतिबोधनम्।
> निष्क्रांता पृतना मध्यात्र हन्तव्या कदाचन॥
> रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतिः।
> अश्वेनाश्वः पदातिभ्यः, पादातेनैव भारत॥
> न सूतेषु न धुर्येषु, न च शस्त्रोपजीविषु।
> न भेरी शंख वादेषु प्रहर्तव्यं कथञ्चन॥

गौतम ने भी युद्ध के ऐसे ही नियमों की स्थापना की है। उनका कथन है—

"युद्ध में उनको मत मारो, जिनके घोड़े मारे गये हों या खो गये हों, जो शस्त्र विहीन हो गये हों, जो तुम्हारे सन्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो जायँ, जो अपने शिर के बाल खोले हुए भागते जावें, जो मुख मोड़कर अर्थात् पीठ दिखाकर बैठ जावें, जो भागकर पर्वतों-वृक्षों पर चढ़ जावें, जो दूत हों और यह कह दें कि हम ब्राह्मण या गौ हैं।"

मनुस्मृति में भी इसी आशय के नियमों का उल्लेख है।

हम फिर मध्यकालीन यूरोप की तरफ़ आते हैं। फ्रांस के राजा सेंट लुई ने जब टर्की के सुलतान पर चढ़ाई की, और उससे हार गया। तब उसने सुलतान

को अपनी मुक्ति प्रतिज्ञा (Ransom) स्वयं दी, जो ५,००,००० लिवर थी। इस राशि में सुलतान की गलती से १,००,००० लिवर कम गिने गये, तो लुई ने स्वयं उस गलती को सुझाया और पूरी-पूरी रक़म को अदा किया—जो कि सुलतान को दी जानी थी। सुलतान ने भी विजयी होकर न केवल फ्रेंच लोगों के साथ उदार व्यवहार किया, वरन् उनके राजा की भी मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

इन लड़ाइयों के सिवाय मध्यकालीन यूरोप की वीरता का एक और पक्ष भी है जिसका वर्णन करना आवश्यक है। वह पक्ष टूर्नामेंट का है। मध्यकाल में इसकी बड़ी प्रधानता थी। सब महत्वाकांक्षी नवयुवक इनकी प्रतीक्षा करते और इनमें हिस्सा लेकर यशोलाभ करना चाहते थे। १३८९ ई० के टूर्नामेंटों का पूरा ऐतिहासिक विवरण 'दी क्रानिकल आफ फ्रिजर्ट' (The Chronicle of Froissart) में उपलब्ध होता है। फ्रांस के तीन नवयुवक डिरोये, बुसीकों और सेम्पी संसार के समस्त वीरों (Knights) को टूर्नामेंट के लिए सेंट इंगलबर्ट स्थान में ललकारते हैं और उन्हें भालों द्वारा लड़ाई करने का चैलेंज देते हैं। इस टूर्नामेण्ट में इंग्लैंड के बहुत से वीर उपस्थित होते हैं, और एक-एक करके फ्रांस के उन वीरों का मुक़ाबला करते हैं। खेल के निर्णायक नियत होते हैं, और वे किसी योद्धा को तीन से अधिक प्रहार करने की आज्ञा नहीं देते। जो योद्धा बड़े वेग, फुर्ती और चतुरता से चोट करता है, उसकी सब प्रशंसा करते हैं; जो प्रतिपक्षी चोटों से कभी अपने घोड़े से न गिरे, उसे विजयी या सफल वीर उद्घोषित किया जाता है। इन्हीं टूर्नामेंटों में महत्वाकांक्षी नवयुवकों को यश प्राप्त करने का अवसर मिलता, और यहीं पर उनको, अपनी वीरता के बल से, कई सुंदर स्त्रियों के प्रेम-भाजन होने का और विवाह का—मौक़ा मिलता।

वर्तमान शिक्षा से सम्बन्ध

मध्यकालीन आदर्श वीरता की संस्था के नष्ट होने के बाद, उसके पुनर्निर्माण के लिए, विलियम वीकहम ने सबसे प्रथम प्रयत्न किया। उसने अपने सम्प्रदाय का आदर्श वाक्य 'सदाचार मनुष्य को बनाता है।' (Manners makyeth man) रखा। इसी संप्रदाय के अनुकरण में आजकल के ईटन और हेरो के सार्वजनिक विद्यालय (Public school) बने। इन वर्तमान विद्यालयों में आदर्श वीरता की संस्था से तो शारीरिक विज्ञान का तत्त्व ग्रहण किया गया, और अन्य धार्मिक विद्यालयों से पुस्तक-शिक्षण का भाग ग्रहण किया गया। अभिप्राय यह कि इन नवीन शिक्षणालयों में केवल किताबों के पढ़ाने, लेटिन भाषा का अभ्यास कराने, या केवल व्याकरण के पण्डित पैदा करने पर ही ज़ोर नहीं दिया गया, प्रत्युत पुस्तक शिक्षण के साथ-साथ विद्यार्थियों की शारीरिक उन्नति की तरफ़ भी पर्याप्त ध्यान दिया गया। इंग्लैंड का एक नवशिक्षित युवक अब केवल सूखे भाषा-विज्ञान या दर्शनशास्त्र का ही पण्डित नहीं, परन्तु साथ ही वह युद्ध-विद्या से भी परिचित है।

इस समय प्रायः सभी देशों में बालचर-शिक्षण (Scouting) का प्रबन्ध किया जाता है। विद्यालयों में विद्यार्थियों को प्रतिदिन सेवा, सहिष्णुता आदि के पाठ पढ़ाये जाते हैं। यह सब मध्यकालीन संस्था आदर्श वीरता के अवशेष मात्र हैं। वाटर्लू की लड़ाई से पूर्व तक यह समझा जाता था कि विद्यार्थियों की खेलों में रुचि पैदा करना उनके आचार-निर्माण में पूर्णतया सहायक होगा। परन्तु पीछे जाकर—विशेषतः बोयर युद्ध (Boar war) के दिनों—यह अनुभव किया गया कि खेल के मैदान में भाग-दौड़ कर लेने से अथवा हाकी-फुटबाल खेल लेने से वह शिक्षा उपलब्ध नहीं

होती जो एक भावी नागरिक को प्राप्त होनी चाहिए। अतएव विश्व-विद्यालयों में सैनिक-शिक्षण का प्रबन्ध किया गया। इस समय प्राय: सभी देशों में, मिलिशिया (Militia) नाम से ऐसी सुरक्षित शक्ति हर-वक्त विद्यमान रहती है, जो किसी अवसर पर सहायक हो सकती है। निस्सन्देह यदि खेलों को कुछ उपयोगी बनाना है तो न केवल क्रिकेट की गेंद का फेंकना सिखाना चाहिए, अपितु बम्ब के गोले चलाने का भी अभ्यास कराना चाहिए। इसी प्रकार केवल बजड़ों की दौड़ से सन्तोष न करना चाहिए, परन्तु साथ ही सशस्त्र मोटरकारों के चलाने का ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। तभी विद्यार्थी-जीवन में सच्चे नागरिक बनने की शिक्षा को ग्रहण किया जा सकता है।

इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं कि सैनिक शिक्षा न केवल जातीय जीवन को पूर्ण बनाती है, परन्तु प्रचलित भिन्न-भिन्न शिक्षा पद्धतियों की त्रुटियों को भी दूर कर देती है। इससे विद्यार्थी की समस्त अन्तर्हित शक्तियों का विकास होता है और उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों का प्रकाश होता है। मध्य-कालीन आदर्श-वीरता का पूर्ण स्वरूप शायद आज-कल जगत के लिए उपयोगी न हो—परन्तु उस संस्था के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का नवीन रूप में शिक्षण सर्वथा लाभकर ही होगा। अतएव वर्तमान शिक्षा में मध्यकालीन आदर्शों का परिष्कृत रूप हमें दृष्टिगोचर होता है।

युद्ध पर प्रभाव

आदर्श-वीरता के परिष्कृत स्वरूप को पुनर्जीवित करने का यह अभिप्राय कदापि नहीं कि संसार में युद्धों की संख्या की वृद्धि की जाय। परन्तु इनको कम करने के लिए ही उक्त संस्था के नियमों का पुन-र्निर्माण करना चाहिए। सम्भवत: एक शान्तिप्रिय (Pacifict) व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता कि आदर्श-वीरता लड़ाइयों को बढ़ाने के पक्ष में नहीं है। वह साम्राज्य वृद्धि के पक्ष में भी नहीं। परन्तु जब तक मानव प्रकृति कमज़ोर है, जब तक संसार पूर्णता की पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक यही सम्भव है कि लड़ाई के कारणों को यथासम्भव कम किया जाय, और लड़ाइयों को अधिक से अधिक मानुषिक बनाया जाय। यह सर्वथा असम्भव नहीं कि लड़ाई करते हुए भी शत्रु प्रेमभाव से एक दूसरे को देखें, स्नेह की दृष्टि से एक दूसरे से व्यवहार करें। घृणा के वे जघन्य गीत, जो प्रतिपक्षियों के दलों में सुनाई देते हैं, तभी कम हो सकते हैं जब कि उपर्युक्त आदर्शों को फिर से जीवन का अङ्ग बना लिया जाय।

गत महासमर के दिनों में जर्मनी के कोने-कोने में इंग्लैण्ड के विरुद्ध घृणागीत गाया जाता था, जिसका किसी कवि ने अंग्रेज़ी में इस तरह उल्था किया है:—

We will never forego our hate
We have all but a single hate
We love as one, we hate as one
We have one foe and one alone—
England.

इन्हीं कुत्सित भावों को निरुत्साहित करने से और मानवीय उदात्त भावों को जागृत करने से ही युद्धों की कमी हो सकती है। गत दक्षिण आफ्रिका के युद्ध में इन्हीं भावों को पुनर्जागृत करने के लिए एक ऐसी संस्था का संगठन किया गया था, जिसके मुख्य नियम ये थे—(१) इसके सदस्य परस्पर भ्रातृत्व के सम्बन्ध में आबद्ध रहेंगे। (२) वे सदा शिष्टाचार की मर्यादा के अनुकूल क्षमाशील होंगे और

केवल उन्हीं लड़ाइयों में भाग लेंगे, जो न्यायानुमोदित हों। (३) प्रत्येक सदस्य युद्ध में घृणा-विहीनता के, मृत्यु में निर्भयता के, पराजय में सन्तोष के और विजय में नम्रता के भावों को प्रकाशित करेगा। (५) प्रत्येक सदस्य का यह विशेष कर्त्तव्य होगा कि वह निर्बल, निस्सहाय और पीड़ित व्यक्तियों की सहायता और सेवा करे। विशेषतः स्त्रियों तथा पराजित शत्रुओं के हितों की रक्षा करना उसका परमधर्म होगा।

इन उच्च आदर्शों को हम मध्यकालीन निर्दिष्ट संस्था का परिष्कृत स्वरूप कह सकते हैं। आदर्श वीरता का मुख्य उद्देश्य यही था कि वीरता के— न कि कायरता के—सच्चे सिद्धान्तों को जीवन में क्रियात्मक रूप दिया जाय। यदि उस संस्था के सिद्धान्तों को वर्त्तमान नवीन अवस्थाओं के अनुकूल परिवर्त्तित किया जाय और उनकी सहायता से जातियों की प्रवृत्तियों में उदात्तता के तत्त्वों का प्रवेश किया जाय तो संसार के अशान्त तथा विक्षोभमय वातावरण में फिर से शान्ति, सरलता तथा स्वर्गीयता की सुनहली झलक दिखाई दे सकती है। ये आदर्श असम्भव नहीं। इनका क्रियात्मक स्वरूप मध्यकालीन इतिहास में विद्यमान है—और अवश्य भविष्य के किसी निकट या दूरवर्त्ती समय में फिर से इनका प्रकाश हो सकता है।

इन्द्र विद्यालङ्कार

"अगर कोई आदमी ऐसी मौत मर सके कि जिसे देख कर उसके सरदार की आँख से आँसू निकल पड़ें तो भीख माँग कर और खुशामद करके भी ऐसी मौत को हासिल करना चाहिए।"

—ऋषि तिरुवल्लुवर

मनोव्यथा*

हरित तलहटी में गिरिवर की
समतल निर्झर-ध्वनित धरा पर।
छाया में अति सघन द्रुमों की
बैठ विशद हरिताभ शिला पर॥
जाता हूँ मैं भूल जगत को
बार-बार अनिमेष देख कर।
रूपगर्विता प्राण-प्रिया के
यौवन-मद-विह्वल दृग सुन्दर॥

किन्तु उसी क्षण क्षुदा-निपीड़ित
शिशुओं के क्रन्दन से कातर।
कहीं जीविका की तलाश में
गये हुए प्रियतम के पथ पर॥
लगे हुये, निज दीन देश के
अगणित नेत्र आँसुओं से तर।
आ जाते हैं दौड़ सामने
ले जाते हैं सब उमंग हर॥

जाता हूँ मैं जल-विहार को
तरणी में तरुणी को ले कर।
मैं खेता हूँ वह गाती है
बैठ सामने मनोमुग्धकर॥
लहरा उठता है भूतल पर
विस्तृत यह सुखमा का सागर।
लय हो जाता हूँ मैं उसकी
लय में विश्व-विलास भूल कर॥

किन्तु उसी क्षण वे दुखिया गण
जिनके कुम्हलाये अधरों पर।

* 'स्वप्न' नामक अप्रकाशित काव्य से।

हास्य किसी दिन खेल न पाया
अथवा जिनके गिरे पड़े घर ॥
तैल बिना दीपक-दर्शन से
वंचित रहे एक जीवन भर ।
अपना दृश्य दिखा कर मेरा
ले जाते हैं हर्ष छीन कर ॥

मेरे कंधे को कपोल से
दाब, विमल दर्पण के सम्मुख ।
घण्टों प्रेम भरी आँखों से
देखा करती है मेरा मुख ।
चश्मे के सन्निकट अकेले
मैं आँखों में उसकी वह छवि ।
देखा करता हूँ; इस सुख का
वर्णन क्या कर सकता है कवि ॥

किंतु उसी क्षण वह गरीबिनी
अति विषादमय जिसके मुँह पर ।
घुने हुए छप्पर की भीषण
चिन्ता के हैं घिरे वारिधर ॥
जिसका नहीं सहारा कोई
आ जाती है दृग के भीतर ।
मेरा हर्ष चला जाता है
एक आह के साथ निकल कर ॥

लंबे सीधे सघन इकट्ठे
विविध विटप-अवली से शोभित ॥
चिड़ियों की चहचह से जाग्रत
झरनों से दिन रात निनादित ॥
पर्वत की उपत्यका में है
कितना सुख कितना आकर्षण ।
शांति स्वस्थता बाँट रहा है
सतत जहाँ का एक-एक क्षण ॥

वहीं कहीं दूर्वा-दल-शोभित
कोमल समतल विशद धरा पर ।
कस्तूरी मृग ने चर चर कर
जिसको है कर दिया बराबर ।
बैठ प्रिया की मधुर गिरा में
उसके अन्तस्तल का सुंदर ।
चित्र देखकर मैं करता हूँ
उस पर निज सर्वस्व निछावर ॥

किन्तु उसी क्षण वह जनता जो
स्वाभिमान-गत पशुवत संतत ।
अत्याचार सहन करती है
बिना किये प्रतिवाद मूकवत ॥
आ जाती है दृग के आगे
रह जाता हूँ मन मसोसकर ।
कैसे उसका मुँह बनकर मैं
लूँ उसकी सब मनोव्यथा हर ॥

मैं हूँ, यह एकांत अगह है,
जाग्रत नहीं एक भी है रव ।
दृग मूँदे बैठा हूँ मानो
मेरे लिए सो रहा है भव ॥
सुनी हुई पहले की उसके
नूपुर की ध्वनि श्रवण-सुखद अति ।
गूँज रही है मन में अब भी
छूट नहीं सकती है संगति ॥

निर्मल नीरव निशीथिनी हो,
निद्रावश हो जब समस्त जग ।
चन्द्रकला में नहा रहे हों
चारों ओर तुषार-धवल नग ॥
जब केवल रह जाय श्रवण में
अपने एक हृदय की धड़कन ।

तब उर-अन्तर-वासी हरि की
पद-गति क्यों न श्रवण करता मन ?॥

दुख से दग्ध, ताप से पीड़ित
चिंता से मूर्च्छित, मन से कृश।
श्रम से शिथिल, मृत्यु से शंकित
विभ्रम वश कर पान विषय-विष॥
जग-प्रपंच की घोर दुपहरी
में रे पथिक प्यास से विह्वल !
भक्ति-नदी में क्यों न नहा कर
कर लेता है जीवन-शीतल॥

पर्वत शिखरों का हिम गल कर
जल बन कर नालों में आकर।
छोटे बड़े चीकने अगणित
शिला-समूहों से टकराकर॥
गिरता, उठता, फेन बहाता
करता अति कोलाहल 'हरहर'।
वीर वाहिनी की गति से वह
बहता रहता है निशि-वासर॥

मानों जलदों के शिशुगण, दल
बाँध खेलते हुए परस्पर।
अति उतावलेपन से चल कर
गोल पत्थरों पर गिर-गिर कर॥
उठते फूल फेंकते हँसते
तथा मनाते हुए महोत्सव।
सागर से मिलने जाते हैं
पथ में करते हुए महारव॥

इनका बाल-विनोद देखते
हुए किसी तीरस्थ शिला पर।
सतत सुगंधित देवदारु की
छाया में सानन्द बैठ कर॥
सिर धर हरि के पद-पद्मों पर
करके जीवन-सुमन समर्पण।
बना नहीं सकता क्या कोई
अपने को आनन्द-निकेतन॥

पर हरि के पद-पद्म कहाँ हैं ?
क्या सरिता के सुन्दर तट पर ?।
नहीं, निराशा नाच रही है
जहाँ भयानक भूरि भेस धर॥
निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं
बैठे चिन्ता-मग्न दीन जन।
उनके मध्य खड़े हरि के
पद-पंकज के मिलते हैं दर्शन॥

इसी तरह की अमित कल्पना
के प्रवाह में मैं निसिवासर।
बहता रहता हूँ विमोह-वश
नहीं पहुँचता कहीं तीर पर॥
रात दिवस की बूंदों द्वारा
तन-घट से परिमित यौवन-जल।
है निकला जा रहा निरन्तर
यह रुक सकता नहीं एक पल॥

भोग नहीं सकता हूँ गृह-सुख
भूल नहीं सकता हूँ पर-दुख।
अकर्मण्यता से डरता हूँ
जाता हूँ जब हरि के सम्मुख॥
जीवन का उपयोग न निश्चित
कर पाया दुविधा-वश अब तक।
यौवन विफल जा रहा है यह
जैसे शून्य-सदन में दीपक॥

भोग रहा हूँ ज्ञान-दण्ड मैं
चित्त हो रहा है अति चंचल ।
है यह मेरे पूर्व जन्म के
किसी विचित्र पाप का प्रतिफल ॥
मुझको शिक्षा मिली न होती
क्यों होता प्रतिभा का अभिनय ।
बढ़ी न होती परिधि ज्ञान की
जग से हुआ न होता परिचय ॥

देश, समाज, मनुष्य जाति के
कष्टों का करता क्यों संचय ।
मैं निश्चिन्त प्रकृत सुख का तब
भली भांति लेता रस निश्चय ॥
सदा दूसरों के सुख-दुख की
निष्फल चर्चा में रत रह कर ।
कवि का सा कुत्सित जीवन मैं
क्यों व्यतीत करता हे ईश्वर ?

रामनरेश त्रिपाठी

धर्म

धर्म न मन्दिर में है, न मस्जिद में और न वह है गिरजाघर में । वह तो है मनुष्य के अपने पास और वास करता है उसके हृदय में । किस मनुष्य के मन में कितना धर्म-भाव है, इसका माप तो उसका सिरजनहार आदिम पुरुष ही कर सकता है । क्योंकि उसका भी तो वहीं वास है जहाँ धर्म का । मैं चोटी से एँड़ी तक खादी पहनूँ, मित्रों से मिलूँ, लम्बी-लम्बी नमस्ते, प्रणाम करूँ, दो क़दम आगे बढ़ूँ, सुन्दर स्त्री को देख कर मेरा मन ऐसा फड़फड़ाने लगे जैसे उड़ते परिन्द के पर। भला मेरी इस मनोइच्छा को कौन जान सकता है ? केवल वह मालिक ही न । इसलिए मैं कहता हूँ धर्म हृदय का और केवल हृदय का विषय है ।

श्री विष्णुचरण राज

महात्मा गांधी

[उनका धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन]

(१)

जो लोग आश्रम (सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती) की सबेरे और शाम की प्रार्थनाओं में अब तक प्रेम और भक्ति पूर्वक भाग लेते रहे हैं, वे महात्माजी के धार्मिक जीवन की भित्ति को सम्पूर्णतया न सही, कुछ अंशों में तो अवश्य ही समझने लगे होंगे । आश्रम की प्रार्थनाओं से दुहरी ध्वनि निकलती है । पहली ध्वनि आश्रम-वासियों को सच्चा, सात्विक काम करने के लिए, जोर देकर, प्रेरित करती है । किन्तु निरे काम का—फिर वह कितना ही निस्स्वार्थ क्यों न हो, परिणाम क्या ? वस्तुतः इन पवित्र कार्यों का अन्तिम ध्येय, उनका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या होना चाहिए ? यही प्रश्न है जो एक समस्या के रूप में सब मुमुक्षुओं के सन्मुख खड़ा रहता है । अतः आश्रम की प्रार्थनाओं में एक और ध्वनि होती है, वह बतलाती है कि सच्चा सात्विक काम मनुष्य के कर्म बन्धन को शिथिल करता है और अन्ततोगत्वा आत्मा को प्रकृति के बन्धन से छुड़ा कर उसे मुक्त बना देता है; तात्पर्य वह आत्मा को भव-बन्धन से छुड़ा देता है । वहाँ पवित्र कार्यों की सच्ची आध्यात्मिक महत्ता पर इसी तरह ज़ोर दिया जाता है और सच्चे धार्मिक जीवन के निर्माण में ये कार्य ही उसके आधार स्वरूप होते हैं ।

परन्तु जो मनुष्य धार्मिक जीवन बिताने की चिन्ता में व्यस्त है उसके सामने यह समस्या खड़ी रहती है कि वह अपने कार्यों को बुराइयों और गन्दगी से किस तरह अछूता रक्खे । क्योंकि मनुष्य, सच्चा धार्मिक जीवन बिताने के बदले एक ऐसा मार्ग भी ग्रहण कर सकता है जिसमें अपने दैनिक विचारों और कार्यों में अपवित्र और सकाम रहते हुए भी वह अपनी बुद्धि के द्वारा धार्मिक सिद्धान्तों और नियमों पर दिन रात केवल वाद-विवाद और विचार-विमर्श ही करता रहे । ऐसे मनुष्य के जीवन में सच्ची धार्मिकता का उदय कभी हो

नहीं सकता—सच्ची धार्मिकता तो उससे कोसों दूर ही रहेगी। अतः सबसे अधिक महत्व की बात तो यह है कि मनुष्य उन कामों से सदा दूर ही रहे जो अनिश्चित और साथ ही केवल कठोर परिश्रम वाले हों। काम को इस ढंग से करना चाहिए कि वह (काम) भावी बन्धन का कारण न बन जाय। अच्छे और बुरे कामों की पहचान करने की शिक्षा तो हरएक कार्यकर्ता को आरम्भ ही से दी जानी चाहिए—उसे यह जान लेना चाहिए कि कौनसे काम उसके जीवन को बन्धनों की ओर ले जाते हैं और कौनसे कार्य उसे ऐसे जीवन से उबारने या ऊपर उठाने में सहायक होंगे।

महात्मा गाँधी इस आत्मिक स्वतन्त्रता की ओर ले जाने वाले कर्म-क्षेत्र के एक वीर योद्धा हैं। दुनियाँ के हज़ारों दूसरे झंझटों में वे चाहे जितना ही क्यों न फँस जायँ, उनका आध्यात्मिक आदर्शवाद सदा उनके साथ ही बना रहता है। यह केवल उनकी असाधारण आत्म-शक्ति का ही परिणाम है कि वे अपने आपको इन झंझटों के दूषित परिणामों और प्रलोभनों से सुरक्षित रख सकते हैं। यह अकेले उन्हीं का काम है कि वे अपने निश्चित मार्ग पर इतनी असाधारण दृढ़ता, अलौकिक समता और आन्तरिक आत्म-जागृति की अद्वितीय शक्ति के साथ सदा बढ़ते जाते हैं, चाहे उन्हें दुनिया का कोई साथी न मिले। इसी शक्ति के बल पर किसी समय वे देश के राजनैतिक कार्य को धार्मिक वातावरण तक उठाने में सफल हो सके थे। उनकी राजनीति में छल, कपट, दुष्टता अथवा कूटनीतिज्ञता का लेश भी नहीं रहता। उसमें किसी व्यक्ति, जाति या सम्प्रदाय के स्वार्थों की सिद्धि के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने अथवा उनकी स्वार्थपूर्ण सत्ता, प्रतिष्ठा और सम्पत्ति को बढ़ाने में मदद देने की दृष्टि का पूरा पूरा अभाव होता है। उनके राजनैतिक प्रयत्नों का अन्तिम ध्येय तो केवल यही है कि देश की जनता में एक दूसरे की निस्स्वार्थ सेवा और कर्तव्य के पवित्र भाव जाग्रत और उन्नत हों तथा जाति और संप्रदाय का भेद-भाव दूर हो जाय। राजकीय सत्ता को अंग्रेज़ों के हाथों से छीन कर अपने हाथों में ले लेना ही महात्माजी की दृष्टि में सच्चे स्वराज्य की प्राप्ति नहीं है। वे इतने ही से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि जब एक जाति या दल विशेष के लोग अपने पुरुषार्थ द्वारा परायी सत्ता को अपने हाथों में ले लेंगे, तब संभवतः वे भी अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझने और जनसाधारण पर अपने अत्याचारपूर्ण निरंकुश शासन का प्रयोग करने लगेंगे। ऐसे समय में अकेले महात्माजी ही सबसे पहले इस अत्याचारी सत्ता का विरोध करेंगे और उसको अधिकारच्युत करने के लिए प्रयत्नशील बने रहेंगे। स्वयं अपने लिए महात्माजी न तो धन के भूखे हैं और न कीर्ति तथा सत्ता या अधिकार ही के। दरिद्रता से पीड़ित भारत को देख-देख कर महात्माजी का हृदय निरन्तर घायल होता रहता है। भारत को ऐसी दयनीय स्थिति में दबोच रखने वाली वर्तमान सरकार को सुधारने या उसका अन्त करने के लिए महात्माजी अपनी सारी शक्तियों से जी तोड़ मिहनत कर रहे हैं। यही कारण है कि उनके सारे काम इतने पवित्र, आध्यात्मिक और सात्विक होते हैं और इसी कारण राजनीति भी उनके धार्मिक जीवन की अनुचरी बन चुकी है।

महात्माजी अपने प्रत्येक कार्य को आध्यात्मिक महत्ता की कसौटी पर चढ़ाकर परखने के आदी हो चुके हैं। अतः अध्यात्म-शक्ति के बल पर वे अपने प्रत्येक काम को उन्नतम जीवन का एक प्रगतिशील (Dynamic) साधन बना लेते हैं। यह उनका एक विशिष्ट गुण है कि सौ में से निन्यानवे मामलों में वे अपने ध्येय के असली रूप को अच्छी तरह पहचान लेते हैं। विशेष-विशेष कामों को उनकी आध्यात्मिकता की दृष्टि से तौलते समय उन्हें सच और झूँठ, शुद्ध और अशुद्ध की सूक्ष्म जाँच करनी पड़ती है। दुनिया में रह कर उसके साधारण कामों को करते हुए भी कर्तव्य और नीति के सँकड़े मार्ग पर दृढ़ता के साथ आरूढ़ रहना निस्सन्देह बड़ा कठिन काम है। अपने निजी रुचि-वैचित्र्य, विषय वासनाओं की दुर्दमनीयता और व्यक्तिगत लालसाओं को तृप्त करने की चिंता के कारण सत्य को परखने की हमारी दृष्टि धुँधली हो जाती है, अतः जब हम अपने कामों की ठीक-ठीक आध्यात्मिक-महत्ता को निश्चित करने का प्रयत्न करते हैं तो उसमें गड़बड़ा जाते हैं। यही कारण है कि आध्यात्मिक-पूर्णता के कितने ही इच्छुक आरम्भ के कुछ दिनों तक एकांत जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु महात्माजी को यह मार्ग बिलकुल पसंद नहीं है। कुछ समय पहले महात्माजी के एक अनुयायी

ने आध्यात्मिक-समाधि या एकता के लिए थोड़े दिनों तक एकांत वास किया था, उन दिनों महात्माजी ने मुझसे कहा था कि यह एकांतवास अच्छा नहीं है। उन्होंने कहा कि इस तरह दुनिया से दूर रहकर हम थोड़े ही समय के लिए सांसारिक प्रलोभनों से सुरक्षित रह सकते हैं। अतः उनके मत से ज़रूरत तो इस बात की है कि हम उन प्रलोभनों तथा प्रभावों से हमेशा लड़ते रहें और धीरे-धीरे उन्हें जीतने के लिए पर्याप्त शक्ति का संग्रह करते रहें। जब तक यह नहीं हो जाता हमारी अवस्था सुरक्षित नहीं रह सकती अन्त में इस सिद्धान्त का संक्षेप करते हुए उन्होंने कहा कि भयंकर से भयंकर तूफानी समुद्र में भी हमें अपने दिल और दिमाग़ को शांत तथा स्थिर रखने की शक्ति धीरे-धीरे प्राप्त करनी चाहिए।

एक दिन फिर से महात्माजी ने मुझे गीता के नीचे लिखे श्लोक सुनाये और कहा "मेरी समझ में नहीं आता कि इस कथन के अनुसार बाहर के कामों में फँसे रहने पर भी मनुष्य भीतर ही भीतर परमात्म-स्मरण क्यों नहीं कर सकता।"

"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ् शृण्वन् स्पृशञ् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥"

गीता अ० ५ श्लोक ८—९

भावार्थ—"योगयुक्त तत्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिए कि "मैं कुछ भी नहीं करता, और देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, खाने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, साँस लेने-छोड़ने में, बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आँखों के पलक खोलने और बंद करने में भी, ऐसी बुद्धि रख कर व्यवहार करे कि (केवल) इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में वर्तती हैं।"

इस तरह महात्माजी के सामने धार्मिक जीवन का एक निश्चित स्वरूप खड़ा रहता है, जिसमें कर्म ही पूजन का रूप धारण कर लेता है। वही, पूजक को धीरे-धीरे अधिक से अधिक आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर करता है और अन्ततोगत्वा आत्मा को देह के बंधनों से एकदम मुक्त कर देता है; दूसरे शब्दों में उसे असीम-शांति प्राप्त करा देता है। वे कहा करते थे कि हमें अपना काम पंजाब एक्सप्रेस जैसी शक्ति और उत्साह के साथ करना चाहिए, परन्तु उसे करते समय हमें अपने दिल और दिमाग़ को स्थिर (Balanced) रखना चाहिए, और ज़रूरत पड़ते ही सांसारिक झँझटों से अपने आपको मुक्त कर लेने की योग्यता भी हममें होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अपनी आत्मा को शांत और निर्दोष रखते हुए हमें दृढ़ता और अविचलता पूर्वक आत्म-स्वामित्व की भावना को सुरक्षित रखना चाहिए। जिस काम को करते समय मनुष्य अपनी मानसिक शांति और स्थिरता खो बैठे, उत्तेजित, क्रुद्ध या चंचल हो जाय, वह काम महात्माजी के मतानुसार सच्चा अथवा सात्विक काम नहीं है। क्योंकि उसे करते समय मनुष्य आत्म-स्वामित्व की भावना को भूल जाता है, उस काम की आध्यात्मिकता नष्ट हो जाती है और वह कर्त्ता के लिए बंधन तथा आपत्ति का कारण हो जाता है। जिन्होंने महात्माजी के जीवनचरित्र और उनके अनेक कार्यों के समाचार पढ़े हैं तथा उनके लेखों का शांतिपूर्वक मनन किया है उनसे वे अनेक घटनायें छिपी नहीं हैं जिन में महात्मा जी ने अपने असाधारण धैर्य से काम लिया है। चारों ओर की घोर अव्यवस्था और उलझनों के बीच रहकर भी विचित्र-मनोधैर्य-पूर्वक अपने आपको शांत, प्रसन्न और गंभीर बनाये रहना अकेले महात्माजी का ही काम है। इसके बाद तो मुझे महात्माजी के अधिक निकट रहकर उनकी दैनिक चर्या का विशेष अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इस अध्ययन के काल में मुझे उनकी उक्त असाधारण शक्ति के कई स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण मिले थे। असहयोग आंदोलन के तूफानी दिनों में भी, जब देश का राजनैतिक वायु-मंडल अत्यंत क्षुब्ध, उत्तेजित और धुँधला हो रहा था, महात्माजी अपने नित्य नियमानुसार पूर्ण शांतभाव से यंग इंडिया और नवजीवन का संपादन करते थे और दोनों साप्ताहिक पत्रों को अपने ही लेखों द्वारा भर कर उन्हें प्रकाशित करवाते थे। फिर उन दिनों उनके पास प्रतिदिन देश के कोने-कोने से इतनी बड़ी संख्या में पत्र और तार आते थे कि उनका अंदाज़ लगाना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। वे सब पत्र ज़रूरी

होते थे, अतः महात्माजी को उनका प्रत्युत्तर शीघ्र ही भेजना या भिजवाना पड़ता था। यह सब होते हुए भी मैंने उन्हें हमेशा शांत, प्रसन्न और गंभीर ही देखा। जिन्होंने इस तरह चारों ओर के कोलाहल, और शोरगुल हर्षध्वनि और जय-जय कार के बीच महात्माजी को शांतभाव से एक बार भी काम करते—अपने साप्ताहिक पत्रों के लिए लेख आदि लिखते हुए नहीं देखा है वे ऊपर की बातों पर एकाएक विश्वास नहीं कर सकेंगे।

महात्माजी एक महापुरुष हैं, यह बात उनके चरित्र की असाधारण विशेषताओं के कारण सूर्य-प्रकाश के समान स्पष्ट है। तिस पर भी, अब तक वे अपनी आत्मा को संसार के बन्धनों से और उसकी क्षणिक अथवा ससीम-स्थिति (Finite-existence) से मुक्त करने में सफल नहीं हुए हैं। दूसरे शब्दों में वे अभी तक पूर्णतया 'मुक्त' नहीं हो पाये हैं। उन्होंने इस बात को स्वयं कई बार स्वीकार किया है और अपने लेखों में दुहराया भी है। एकबार आश्रम में, बात-चीत करते हुए उन्होंने मुझसे कहा था—"जब मैं किसी दिन बैठ कर, मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा से, सम्पूर्ण समाधि लगाऊँगा, तब, जब तक मुझे मोक्ष-प्राप्ति न होगी मैं अपने आसन से नहीं उठूँगा।" महात्माजी की आत्मिक-एकाग्रता, उनके आत्म-संयम और मन तथा शरीर पर उनके अद्वितीय स्वामित्व को देखते हुए आध्यात्मिक योग्यता सम्बन्धी उनके उक्त कथन को मैं बिना किसी हिच-किचाहट के मान सकता हूँ। कई तरह की सुख और सुविधा पर लात मारने वाले और इन्द्रियों की उद्दाम वासनाओं की तृप्ति तथा उपभोग से, कठोर संयम द्वारा, विरत रहने वाले लोग तो इस दुनिया में ढूँढने से मिल ही जाते हैं, परन्तु बहुधा यह देखने में आता है कि इस त्याग का उनके चारित्र्य पर कुछ-नहीं के बराबर प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में वे चरित्र की दृष्टि से उतने उन्नत नहीं होते। इस त्याग के कारण, विनम्र, सुशील, और आत्म-विस्मृति-शील (self effacing) होने के बदले वे उलटे अक्सर से ज्यादा मग़रूर, हठी और अपने आपको प्रधानता देने वाले (self assertive) हो जाते हैं। दुनिया के कुछ सुखों का त्याग करने पर भी अत्यधिक आत्माभिमानी बन कर वे उस त्याग की पूर्ति कर लिया करते हैं। महात्माजी का त्याग इन सब से परे, ऊँचा और भिन्न है। मेरा तो यह विश्वास है कि मनुष्य को सांसारिक बन्धनों में फँसाने वाली कई बाह्य और आन्तरिक वस्तुओं का महात्माजी के जीवन पर थोड़ा भी प्रभाव नहीं है। उनके सामाजिक जीवन (Public-life) की एक उज्ज्वल विशेषता पर इस कथन से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। देश और विदेश के असंख्य हृदयों पर महात्माजी के व्यक्तित्व की जो अमिट छाप पड़ चुकी है; दुनिया की दृष्टि में उनकी शक्ति, प्रतिष्ठा, नाम और यश की जो महिमा बनी हुई है, देश और विदेश की सात्विक-सम्पत्ति पर उनका जो प्रभुत्व क़ायम हो चुका है, उन सबके होते हुए भी उनके स्वभाव में अथवा व्यवहार में मिथ्या आत्माभिमान या गर्व तो छू तक नहीं गया है। आत्मा को शुद्ध और निर्लेप बनाने की इस प्रक्रिया में साधक को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, कैसा घोर युद्ध करना पड़ता है, इस बात का अनुभव केवल वे ही कर सकते हैं जिन्होंने स्वयं इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। नाम, यश, सम्पत्ति और सत्ता आदि के मद से अपने आपको मुक्त और विरक्त करना कोई साधारण बात नहीं है। (अपूर्ण)

कृष्णदास

अत्याचारी के प्रति

कर प्रदीप्त मुख, अमित करों से, झाड़ेगा सूरज अंगार।
गरज-गरज कर चढ़ आएँगे, सिर पर बादल विकट अपार॥
अब न सहूँगी निठुर! मूक बन, तेरे सारे अत्याचार।
गिरा गिरा गिरि-शिखर भयंकर, पवन करेगा कठिन प्रहार॥

हिल जायेगा परम-पिता का,
आसन सुन मम करुण पुकार।
खोज-खोज कर थक जाएगा,
पाएगा न मुझे संसार॥

सुमंगलप्रकाश गुप्त

वर्ण-व्यवस्था

वर्त्तमान जगत् की एक भारी समस्या

आज संसार भर में हलचल है—अशान्ति है, भारत भी इसके प्रभाव से खाली नहीं। जगत् में नई-नई शक्तियाँ जन्म ले रही हैं, कभी एक सत्तात्मक शासन की सब देशों में धूम थी, आज प्रायः सर्वत्र प्रजातंत्रवाद का ज़ोर है; लोग तो प्रजातन्त्र से भी सन्तुष्ट नहीं, आज साम्यवाद का युग है, धनिकता और निर्धनता, राज्य-शक्ति और अधीनता यह द्वन्द्व लोगों को अखरते हैं। आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि धार्मिक और घरेलू क्षेत्रों में भी लोग समानता चाहने लगे हैं। पिछले दिनों की एक घटना है, विलायत में बालकों का एक सम्मेलन हुआ, उसमें जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए उनमें एक यह था कि हमारे पिताओं को कोई अधिकार नहीं कि वह हमें किसी प्रकार का हुक्म दिया करें। और न हमारे अध्यापकों को यह अधिकार है कि वह पाठादि याद न होने पर हमें बैंचों पर खड़े होने आदि के दण्ड दिया करें, इस घटना से हवा का रुख मालूम हो सकता है। साम्यवाद के अतिरिक्त एक और शक्ति संसार में प्रकट हो चुकी है जिसका नाम है बोल्शेविज़म।

इस शक्ति के विरुद्ध अंग्रेज़ और अमेरिकन पूँजीपति और साम्राज्यवादी कितनी ही बातें गढ़ कर उसे बदनाम करें परन्तु इससे उसकी प्रगति रुकेगी नहीं। आज संसार की अशान्ति भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हो रही है और यह बोल्शेविज़म भी उसका एक अन्यतम रूप है। अतः इससे इस प्रकार बिगड़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यह अशान्ति अस्वाभाविक या सर्वथा आकस्मिक भी नहीं। विचारशील इस आँधी के लक्षण बहुत पहले से देख रहे थे।

इसी प्रकार राज्य सत्ताओं की ओर से जो-जो अमानुषिक अत्याचार प्रजाजनों पर हुए उसीकी प्रतिक्रिया आज प्रजातन्त्रवाद, साम्यवाद और बोल्शेविज़म के रूप में दिखाई देती है, और यह संघर्ष अब सर्वथा बन्द हो गए हों सो बात नहीं है। हमारा देश अभी तक इस छूत से बहुत कुछ बचा हुआ था; परन्तु पूँजीपतियों-श्रमिकों का विवाद अब यहाँ भी ज़ोर पकड़ रहा है। आये दिन की हड़तालें इसी का परिणाम हैं। इस प्रकार संसार एक महाक्रांति के मुख में है और बड़े से बड़ा बुद्धिमान् पुरुष भी कह नहीं सकता कि कल क्या होने वाला है?

परन्तु एक बात बिलकुल स्पष्ट है, दुनिया भोगवाद की ओर जा रही है, पश्चिमीय देशों का श्रमी-आन्दोलन जीवन के आवश्यक पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त से उतना नहीं जितना अमीरों से उनके भोग छीनने के उद्देश्य से है। हमारे जो नेता यूरोप हो आए हैं वे बताते हैं कि वहाँ के ग़रीब लोग यहाँ के धनवानों से कहीं अच्छी अवस्था में हैं। तब यह सारा झगड़ा अधिकाधिक धन और सांसारिक सुख प्राप्ति के लिये है। दूसरी ओर जहाँ राजशक्तियों और प्रजाशक्तियों में संघर्ष है वहाँ उसका प्रधान उद्देश्य शक्ति की प्राप्ति है। एक तीसरी समस्या भारत में विद्यमान है, यहाँ ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद-भाव, ८४४४ जातियाँ-उपजातियाँ बड़ी भारी अशान्ति का मूल है, प्रत्येक जाति ब्राह्मण या क्षत्रिय बनने के प्रयत्न में लगी है। यहाँ प्रश्न क्या है? यहाँ प्रश्न मान-सम्मान का है।

धन, शक्ति और मान ये तीन बातें हैं जिनके लिए आधुनिक जगत लड़ रहा है। साम्राज्यवादी देशों और जातियों में भी इन्हीं तीन बातों के लिए ठनी रहती है। यह चीज़ें स्वतः बुरी हैं या झगड़े का कारण हैं, ऐसा कोई नहीं कह सकता। प्राचीन काल में कहा जाता है जितने युद्ध होते थे वह ज़र (धन), ज़मीन (भूमि) और ज़न (स्त्री) के लिए होते थे, परन्तु आज इनका स्थान उपर्युक्त तीन वस्तुओं ने ले लिया है। प्रत्येक व्यक्ति और समष्टि आज अधिक दौलत, अधिक इज़्ज़त और अधिक ताक़त प्राप्त करने का उद्योग कर रही है, इसी उद्योग में संघर्ष है—अशान्ति है।

तब फिर होना क्या चाहिये? हम ऊपर कह चुके हैं कि इनमें से कोई भी साधन स्वतः बुरा नहीं, बुरा है इनका इकट्ठा होना। इनके विभाजन में ही संसार का कल्याण है। आज कलह क्यों है? इसीलिए कि धनवान् की ही प्रतिष्ठा है और धनवानों ही के पास सारी शक्ति है। आज संसार से

सरस्वती और सदाचार की देवी की पूजा उठ गई है और लक्ष्मी का सर्वत्र पूजन हो रहा है, इसी अवस्था को लक्ष्य में रख कर किसी दिलजले संस्कृत कवि ने कहा था—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः। स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते॥

धन के कारण तो ऐतिहासिक काल में सदा ही लड़ाइयां लड़ी जाती रही हैं, आज भी वही सनातन लड़ाई चल रही है। हमारे विचार से तो यदि इन तीनों साधनों को अलग-अलग कर दिया जाय तभी विश्व में शान्ति स्थापित हो सकती है। आज-कल के राष्ट्र-संघों से यह कार्य कदापि नहीं हो सकता, इस समय सब सत्ता वैश्यों में केन्द्रित है, पश्चिमीय राष्ट्र एक प्रकार से सभी वैश्य राष्ट्र बने हुए हैं, वैश्यों के पास दौलत, ताकत और इज्जत तीनों इकट्ठी हो रही हैं, यही सारी खराबी की जड़ है।

अब इनका विभाजन कैसे किया जाय, इसके लिए इतिहास में केवल एक पद्धति का उल्लेख है। उसका तत्त्व यह था कि जिन लोगों के हाथ में शक्ति हो उनके पास न धन हो और न प्रतिष्ठा, जो दौलत को भोगने वाले हैं वह न शक्ति का उपयोग कर सकें और न सारी प्रतिष्ठा उनके हाथ में आ जाय। तीसरी ओर जिनके पास मान-धन हो उनके पास न हो सांसारिक विभूति न शस्त्र-शक्ति। इस पद्धति का दूसरा नाम है वैदिक वर्णव्यवस्था।

कई लोग इस नाम से ही चौंक उठेंगे, उनका तो कोई इलाज नहीं, परन्तु जो लोग गम्भीरतापूर्वक किसी विषय पर निष्पक्ष हो कर विचार कर सकते हैं उनसे हमारा कहना है कि जगत् की वर्तमान अशान्ति का कोई दूसरा उपाय समझ में नहीं आता। आज-कल जितने और उपाय किये जा रहे हैं वह अंधेरे में हाथ-पैर मारने के सिवाय और कुछ नहीं हैं, वह परीक्षण-मात्र हैं, निरुद्देश्य प्रयत्न हैं—निर्लक्ष्य बाण हैं। कोई लक्ष्य पर जा बैठा तो ठीक, नहीं तो हरिहर। वर्ण-व्यवस्था शब्द बहुत बदनाम हो चुका है, इसे हम खूब जानते हैं। विशेष करके दक्षिण में दलित जातियों के भाई इससे बहुत तंग हैं। आज-कल के नवशिक्षित, जिनकी प्रकृति में कुछ क्रान्ति का भाव है वह वर्णव्यवस्था से बहुत चिढ़े हुए हैं, परन्तु हमारा निवेदन है कि वर्णव्यवस्था स्वयं बुरी नहीं, वर्णव्यवस्था तो श्रम विभाग के नियमों पर आश्रित है और श्रम-विभाग कहीं भी बुरा नहीं माना जाता। वर्ण शब्द में अद्भुत लचक है। वर्ण अक्षर को कहते हैं, वह भी एक से दूसरा बदल जाता है, व्याकरण का सन्धि-विषय सारा इसी नियम का विस्तार है। वर्ण रंग को भी कहते हैं और यह जगत्प्रसिद्ध सचाई है कि रंग भी एक दूसरे के संसर्ग से बदल जाते हैं, नीले और पीले रंग को मिला दो, हरा रंग बन जाता है। जाति-परक वर्ण तो आर्य्य जाति के इतिहास में बदलते ही रहते हैं। जहाँ वसिष्ठ, विश्वामित्रादि के ऊँचे उठने के उदाहरण हैं वहाँ असमंजा, रावण आदि के नीचे गिरने के उदाहरण भी हैं और वेद तो इस विषय में बहुत ही उदार है। एक स्थान पर वेद उपदेश करता है कि तुम कवि हो सकते हो, तुम्हारा भाई तन्तुवाय (जुलाहा) हो सकता है, तुम्हारे परिवार में कोई दूसरा वैद्य कहला सकता है—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव॥ ऋ० ९। ११२। ३॥

वेद में पितृयज्ञ तो है ही, महापितृयज्ञ का भी विधान पाया जाता है। उन महापितरों में पाठक आश्चर्य करेंगे कि शिल्पी लोगों की महापितृ संज्ञा होकर उनके सत्कार का आदेश है। अतः वैदिक वर्णव्यवस्था से एकदम चौंकने की आवश्यकता नहीं।

कम्यूनिज्म और बोल्शेविज्म का मूल सिद्धान्त है कि जो श्रमी लोग हैं उनको कष्ट में रखकर केवल अपने धन-जन-बल के आधार पर किसी को मौज उड़ाने का अधिकार नहीं। किसी हद तक यह बात ठीक है, विलासी जीवन का सदा सर्वदा निषेध ही होना चाहिये। संसार भोग-स्थली के स्थान पर कर्त्तव्य भूमि है, परन्तु जब वह समानता के सिद्धांत को बहुत दूर ले जाते हैं तो बुरे परिणाम स्पष्ट रूप से सामने आजाते हैं। सब से बड़ा दोष इस पद्धति में यह है कि मनुष्य की योग्यता और प्रतिभा के लिये बहुत कम क्षेत्र रह जाता है। कदाचित् यही कारण है कि रूस के एक-सत्तात्मक राज्य के पीछे प्रतिभाशाली विद्वानों की कमी हो गई है, लेनिन और ट्रोट्स्की के नाम अभी तक जीवित हैं। परन्तु वह केवल साम्यवाद के प्रचारकों के रूप में, न कि

सार्वजनीन सुधारकों के रूप में। इनके मुकाबले में टॉल्स्टाय कहीं अधिक ऊँचे दर्जे के व्यक्ति हुए हैं, मैचनीकाफ सरीखे वैज्ञानिकों का तो वहाँ प्राय: इस समय अभाव ही हो चला है। फिर दूसरा आक्षेप इस साम्यवाद पर यह आता है कि उस पद्धति में प्रेरिकाशक्ति (Initiative) का नाश हो जाता है। जब सब कुछ राष्ट्र का ही हो जाता है तो मुझे क्या आवश्यकता पड़ी है कि मैं अधिक परिश्रम उठाऊँ या नये-नये आविष्कार करूँ इस समय तो, यदि एक शब्द के प्रयोग के लिए लेखक को क्षमा किया जाय, रूस के वर्त्तमान शासन को शूद्र-राज्य का नाम दिया जा सकता है। तीसरे ऐसे राष्ट्र में विशेष व्यापारिक उन्नति नहीं हो सकती, क्योंकि व्यापार का पूँजी के साथ सीधा संबन्ध है. और साम्यवाद से लेकर बोल्शेविज़म तक पूँजी के विरुद्ध एक पक्षपात सा पाया जाता है। मुस्लिम इतिहास यह बतलाता है कि जहाँ पूँजी के विरुद्ध घृणा का प्रचार किया गया वहाँ उसके फल स्वरूप या तो निर्धनता का राज्य हो गया, या ईसाई जगत् की नाईं एक प्रतिक्रिया सी उठ खड़ी हुई। दूसरी ओर हमारा साधारण लौकिक अनुभव हमें यह शिक्षा देता है कि जो काम व्यक्तिगत साहस (private enterprise) से होते हैं वह समाजों और राष्ट्रों द्वारा उतनी उत्तमता से नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि उस व्यक्ति को अपने कार्य में रुचि होती है और उसका (stake) होता है। एक चौथी बात और है, वह यह है कि साम्यवाद क्या और कम्यूनिज़म या बोल्शेविज़म क्या? यह सब पद्धतियाँ धर्म की जड़ों को काटती हैं और मनुष्यों को धर्म से विमुख कर देती हैं; यही आज रूस में हो भी रहा है। हमारे देश में भी जो नवयुवक धर्म के पवित्र बंधनों में बँधना नहीं चाहते उन्हें यह वाद बहुत प्रिय लगते हैं।

केवल साम्यवाद ही नहीं, परन्तु संसार की वर्त्तमान अन्य पद्धतियाँ भी दोष रहित नहीं हैं। उनसे भी सामाजिक शांति स्थापित नहीं हो सकती। साम्यवाद की उत्पत्ति हुई, केवल इसी लिए कि वे बहुत दोष पूर्ण थीं। सापेक्ष दृष्टि से इन पद्धतियों की भी संक्षिप्त आलोचना इस समय करनी चाहिए।

अनियमित राजसत्ता (Absolute monarchy) को लीजिये। आज तो इस विषय में प्रायः सभी विद्वान् सहमत हैं कि ऐसी राजसत्ता मनुष्य समाज के लिये भारी शाप है! आज तो इसका युग चला सा गया है। जहां-जहां ऐसी राजसत्ता थी वहां-वहां से हमारे देखते-देखते यह नष्ट होती जाती रही है। अतः इस संबन्ध में विशेष चर्चा करने की आवश्यकता नहीं।

इस समय संसार के प्रायः सभी सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र प्रजातन्त्र राष्ट्र हैं। अमेरिका, स्पेन और फ्रांस यह तीन सबसे पुराने प्रजातन्त्र हैं, परन्तु विगत यूरोपीय महासमर के बाद इनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। सबसे पहला देश जिसने इस पद्धति का अनुभव लिया, वह रूस था। फिर पोलैण्ड की बारी आई। धीरे-धीरे आयरलैंड, टर्की, यूनान आदि देश यूरोप में और चीन तथा फ़ारिस एशिया में हमारी आँखों के सामने प्रजातन्त्र हो गये हैं। इन विविध प्रजातन्त्र राष्ट्रों में भी परस्पर कुछ-कुछ भेद हैं, परन्तु सबके विषय में इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह प्रणाली भी आदर्श प्रणाली सिद्ध नहीं हुई। और बातों को जाने दीजिए, इन देशों की नैतिक अवस्था भी उन्नत नहीं हुई। कई प्रतिष्ठित लेखकों ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि जिन देशों में समस्त प्रजा को मताधिकार प्राप्त है वहाँ भी शक्ति धनवानों के हाथ में ही रहती है। राष्ट्र के चुनाव के समय जो-जो उपद्रव और ओछी कार्यवाहियाँ होती हैं, उनके विवरण पढ़कर चित्त दहल जाता है। धन के ज़ोर पर जनता के मत ख़रीद लिए जाते हैं। अनन्त धन-राशि व्यय कर अख़बारों द्वारा जनता के दिमाग़ को पराधीन कर दिया जाता है। जो लोग गत महासमर की कूटनीतियों तथा पूर्व की संधियों से परिचित हैं, वे यह भलीभांति जानते हैं कि प्रजातन्त्र में प्रजा वस्तुतः कितना कम भाग 'क्रियात्मक रूप से' लेती है। गत महासमर जैसा संहारक कार्य केवल कुछ पूँजीपतियों के कारण किया गया था। आज भी युद्धों की जो संभावना है, उसका कारण कुछ पूँजीपतियों का स्वार्थ ही है। क्या यही प्रजातन्त्र है?

एक बात और भी है, एक मनुष्य का अत्याचार सहन हो जाता है, परन्तु जहाँ जाति की जाति अत्याचार पर तुल जाय वहाँ परमेश्वर ही रक्षक होता है। और यह कोई अनहोनी

भ त नहीं, प्रायः प्रत्येक प्रजातन्त्र के हाथ ऐसे रक्त से रंजित हैं। यह भी इतिहास में देखा गया है कि प्रजातन्त्र में यह भी आवश्यक नहीं कि किसी एक व्यक्ति का अधिकार बढ़कर चरम सीमा तक न पहुँच जाय। इंग्लैंड में क्रॉमवेल का प्रजातन्त्र, फ्रांस में नैपोलियन का प्रजातन्त्र, वर्तमान समय में अध्यक्ष विल्सन का अमेरिकन प्रजातन्त्र, यह सब इस रोग के उदाहरण हैं। इस समय हमारे कान प्रजातन्त्र के विरुद्ध कुछ सुनने को उद्यत नहीं, परन्तु जो लोग दूर तक विचारते हैं उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि संसार इस पद्धति से भी ऊब जायगा। साम्यवाद की समालोचना हम ऊपर लिख चुके हैं।

इन विविध प्रणालियों की इस संक्षिप्त आलोचना के पश्चात् हम नियमित राज्य-सत्ता (Limited monarchy) का विचार करते हैं, इसका एक दृश्य इंग्लैंड में दिखाई दे रहा है: वहाँ राजा तो है परन्तु उसके अधिकार इतने सीमित कर दिये गए हैं कि प्रजा को हानि पहुँचा नहीं सकता, इंग्लैण्ड की शासन प्रणाली में बहुत दोष हैं परन्तु वहां एक बात बड़े महत्व की है, वह यह है कि अंग्रेज़ों की इस भूमि में क्रान्तियों के बीज अधिक फलते फूलते नहीं, वर्त्तमान विधान को चलते हुए वहाँ काफ़ी समय बीत चुका है परन्तु समय के साथ उसमें स्थिरता आती जाती है। जो लोग साम्यवाद की बाढ़ वहाँ बढ़ते हुए देख रहे थे उनके लिये पार्लियामेंट का पिछला चुनाव वज्रपात सा सिद्ध हुआ। श्रमी वर्ग ने बड़ी-बड़ी व्यापक हड़तालें कीं परन्तु देश की साधारण जनता ने सरकार का साथ दिया, और हड़तालें स्वयमेव टूट गईं। इस नियमित शासन-सत्ता में भी उपर्युक्त दोष-धनिकों के हाथ में शासन सूत्र का होना—पूरे रूप से विद्यमान है। नैपोलियन अंग्रेज़ों को बनियों की जाति कहा करता था। इंग्लैण्ड के राज्य-प्रबन्ध को हम वैश्य-राज्य कह सकते हैं। जिस अनुपात से वहाँ वैश्यों का प्राधान्य है, उसी अनुपात से वहाँ अशान्ति है और नैतिक पतन भी है, यह बात वहाँ के विचारक और लेखक स्वीकार भी करते हैं।

नियमित शासन-सत्ता के दृष्टान्त प्राचीन भारत के इतिहास में बहुत पाए जाते हैं, ऐसे कई उदाहरण मिल चुके हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में राजा चुने जाने की प्रथा विद्यमान थी और समय पड़ने पर उसे गद्दी से उतार भी दिया जाता था।

भारत की इस नियमित शासन-सत्ता में दोष बहुत कम थे, क्योंकि इसका आधार वर्ण-व्यवस्था की भित्ति पर था। इस शासन-व्यवस्था में राजा को अधिकार, वैश्य को धन और ब्राह्मणों को मान दिया जाता था।

राजा के साथ प्रजा की वास्तविक बागडोर ब्राह्मण मंत्रियों के हाथ में रहती थी। ब्राह्मणों का आदर्श यह था कि एक समय से अधिक का भोजन तक अपने पास नहीं रख सकते थे। वेद में ब्राह्मण को मनुष्य समाज के मुख भाग से उपमा दी गई है, और यह प्रत्यक्ष है कि मुख भाग सदा नंगा रहता है। ब्राह्मण निर्धनता को निमन्त्रण देता है, भारतीय इतिहास में वसिष्ठ, चाणक्य आदि के उदाहरण भी हैं, जो निरीह रहकर बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजाओं के मंत्री रहते थे। थोड़े से फेर-फार के साथ यही के यही शब्द रामायण में दशरथ के राज्य के सम्बन्ध में आते हैं। इसका कारण भी आगे बतलाया है कि जिस राज्य के सिर पर वसिष्ठ सरीखे ब्राह्मणों की छत्र-छाया हो वहाँ कोई उपद्रव क्योंकर हो सकता है? यह बात ठीक ही है। जिन्हें संसार में कोई स्वार्थ नहीं वह अन्याय कैसे कर सकते हैं? विल्सन जैसे ऊँचे सिद्धांतों वाले लोग भी अपने आदर्शों में सफल नहीं होते।

राज्याभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण पुरोहित राजा की पीठ पर दण्ड से चोट करता था, जिससे उसे यह स्मरण कराया जाता था कि ब्राह्मण उसे किसी भी अनुचित कार्य के करने पर दण्ड दे सकते हैं। परन्तु ब्राह्मण भी राजा का मान करता था। इसी तरह उक्त अवसर पर चारों वर्णों के प्रतिनिधि अभिषेच्य व्यक्ति को राजा स्वीकृत करते थे। तभी वह राजा हो सकता था। इस तरह प्राचीन सामाजिक संघटन में चारों वर्णों का बहुत उत्तम समन्वय किया गया था। ब्राह्मणों को सांसारिक प्रतिस्पर्धा में फँसने की आवश्यकता ही नहीं थी। क्षत्रिय भी रुपया कमाने के लिए सांसारिक संघर्ष में नहीं पड़ते थे। उन्हें राज्य की सर्वविध रक्षा करनी थी। वैश्य कृषि, व्यापार और व्यवसाय द्वारा रुपया कमाते थे। उन्हीं पर राज्य के पालन का भार था। ब्राह्मणों की आजीविका का प्रश्न वही हल करते थे, ऐसा करना उनका

धार्मिक कर्तव्य था। राज्य के कोष भी उन्हींपर लगे हुए करों से भरा जाता था। शूद्रों का भी समाज में नीच स्थान नहीं था। राज्याभिषेक के अवसर पर शूद्रों के प्रतिनिधि भी आते थे। महाभाष्य से पता लगता है कि मृतप और चाण्डाल के सिवा अन्य शूद्रों को पञ्चयज्ञ करने का अधिकार था। यजुर्वेद में चारों वर्णों की शरीर के चार अंगों से उपमा देकर उनकी समान आवश्यकता बताई है।

भारत की प्राचीन सफल शासन-व्यवस्था का एक सीधा प्रमाण यह है कि लगभग दो अरब (?) वर्ष के जीवन में यहाँ केवल एक क्रांति हुई और वह महाभारत का युद्ध था। यह निर्विवाद है कि उस समय वर्ण-व्यवस्था बिगड़ चुकी थी; सिद्धान्त-रूप से तो वह उस समय भी गुणकर्मपरक मानी जाती थी, परन्तु व्यवहार में कर्णादि से जन्म के आधार पर घृणा का व्यवहार किया जाता था। केवल कृष्ण, भीष्मादि उस प्राचीन झलक को अपने अन्दर लिये चले आते थे। जब वर्णों की वैज्ञानिक और बुद्धि-परक व्यवस्था नष्ट हो गई, तभी भारी क्रान्ति हुई, जिसकी लपेट में सारा देश आ गया।

इस प्रकार यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो वैदिक-वर्णव्यवस्था सर्वथा निर्दोष सिद्ध होती है। नियमित राजसत्ता के साथ यदि वैदिक वर्ण-व्यवस्था का मेल हो जाय तो इस मेल से वह आदर्श व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसका वर्णन छान्दोग्योपनिषद् और रामायण में पाया जाता है और जिसकी कुछ थोड़ी सी छाया मेगेस्थनीज़ तक के लेखों में मिलती है। इससे न नैतिक पतन होता है और न राष्ट्र में अशान्ति होती है, विषमता का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता।

यह है वर्तमान संसार की एक भारी समस्या का हल। आज भी भारत में इसी वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता है। यूरोप के साम्यवाद, समाजवाद और बोलशेविज़्म का अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं। वे यहां की मिट्टी में नहीं बढ़ सकते। यहां तो यहीं की प्राचीन प्रथा को फिर प्रचलित करने की ज़रूरत है।

परमानन्द

यूरोप में साम्यवाद

(२)

इटली

फ्रांस की अपेक्षा इटली अधिक अराजक और क्रांतिकारी रहा है। और जब तक मध्य-स्थिति के तथा दूसरे पेशेवर लोगों ने साम्यवाद के आंदोलन में खुलकर भाग नहीं लिया, तब तक, इटली के मज़दूरों में अराजकता की बदौलत बड़ी ख़ून-ख़राबी होती रही। सन् १८९१ में मिलन के एक प्रसिद्ध वकील ने वकालत को लात मारकर खेती का काम शुरू किया, और क़ानून की किताबों को बालाय-ताक़ रखकर हल हाथ में लिया। उस समय तक इटली के साम्यवाद को अन्य यूरोपीय देशों के साम्यवाद की स्थिति में लाने के लिए अधिक प्रयत्न नहीं किया गया था। वहाँ के प्रसिद्ध अधिकारी क्रिस्पी ने जनता पर दमन-चक्र चलाने के लिए बिस्मार्क की पद्धति का अनुकरण किया, इससे आंदोलन की प्रगति को और भी बल मिला। इटली की राजनैतिक दशा बहुत गिरी हुई थी। आंदोलनकारियों में दो दल थे। एक राजनैतिक और दूसरा अराजकतावादी। पहले दल में प्रसिद्ध विद्वान, विज्ञान-वेत्ता, डाक्टर और अध्यापक थे। सरकार और साम्यवादियों के संघर्षण के फल-स्वरूप एक विराट हड़ताल हुई। सन् १९०३ में हड़ताल का रूप बड़ा भयंकर हो गया, और वह उपद्रव मार-काट और ख़ून-ख़राबी में परिणत हो गया। इस उपद्रव के तूफ़ान ने साम्यवाद-आंदोलन की आग में ईंधन का काम किया। इस समय नेताओं में परस्पर मन-मुटाव हो गया और वे एक-दूसरे का छिद्रान्वेषण करने लगे। इस कारण वहाँ का साम्यवादी दल अपनी दशा सुधारने में प्रायः असमर्थ हो गया। उसमें तीन बड़े दल बन गये। पहला दल सुधारवादियों का, जो ठीक दिशा में काम करते हुए किसी भी दल का साथ देने को तैयार था। दूसरा दल 'सिंडीकलिस्ट' लोगों का था। उस दल के लोग मज़दूरों के संघटन की आवश्यकता पर अधिक ज़ोर देते थे, और पार्लमेंट के कार्यों का विरोध करने के लिए अराजकों से भी आगे बढ़ जाते थे।

तीसरा दल उन लोगों का था, जो उक्त दोनों के बीच बैठकर कभी एक तरफ़ और कभी दूसरी तरफ़ मिल जाता था, और सदा दोनों दलों की एकता का राग अलापा करता था। इटली का साम्यवाद-आंदोलन आज से क़रीब १५ वर्ष पहले इस प्रकार की दल-बंदी के दल-दल से होकर गुज़र रहा था।

बेल्जियम

साम्यवाद-आंदोलन बेल्जियम में इटली की तरह छिन्न-भिन्न अवस्था में नहीं रहा। बल्कि, वहाँ, शुरू से ही आंदोलन की दशा अधिक व्यवस्थित थी। सहयोग-समितियों से उसे सहायता मिलती थी। सहयोग-समितियों की प्रणाली वहाँ दुनिया भर में सबसे अच्छी थी। अधिक से अधिक मज़दूर आंदोलन में भाग लेते थे, यही उसकी सफलता का मुख्य कारण था। मज़दूरों के नेतृत्व की बागडोर महामना वाण्डरवेल्डी (Vandervelde) के हाथ में थी। वह चतुर और दूरदर्शी नेता थे। आरम्भ में यहाँ अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ का बड़ा व्यापक और ज़बरदस्त संघटन था। परन्तु आगे चलकर वह टूट गया, और इससे बेल्जियम के साम्यवाद-आंदोलन को बड़ा धक्का लगा। फिर भी आंदोलन की प्रगति नई दिशा पकड़ती गई, और सन् १८८५ में बेल्जियम लेबर पार्टी के नाम से साम्यवादियों की एक बड़ी पार्टी बन गई। वह दल इंग्लैंड की ब्रिटिश लेबर पार्टी से कुछ साम्य रखता था। इसने अपने आपको 'सोशलिस्ट' के नाम से पुकारे जाने से इंकार कर दिया, हालांकि इसके सिद्धांत बिलकुल 'सोशलिस्ट' लोगों के से थे। यह नई लेबर पार्टी विशुद्ध मज़दूर संस्था थी। इसमें वे आदमी शामिल थे, जो मज़दूरों की आर्थिक उन्नति तथा उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रयत्न करते थे। बेल्जियम के साम्यवाद-आंदोलन के संबन्ध में वाण्डरवेल्डी ने लिखा है—"From the English, it adopted self-help and free association principally political tactics and fundamental doctrines which were for the first-time expounded in the Communist Menifesto; and from the French, it took its idealist tendencies, its integral conception of Socialism considered as the continuation of revolutionary philosophy and as a new religion continuing and fulfilling Christianity." अर्थात्, "अंग्रेज़ों से इसने (आंदोलन ने) स्वावलंबन और मुख्यतः सहयोग-संघ के रूप में स्वतंत्र संस्था बनाना सीखा, जर्मन लोगों से इसने राजनैतिक हथकंडे और वे मौलिक-सिद्धांत, जो पहलेपहल 'कम्युनिस्ट विज्ञप्ति' में प्रकट किये गये हैं, ग्रहण किये; और फ़रासीसियों से इसने आदर्श प्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं; और प्राप्त किया साम्यवाद का वह पूरा विचार, जो क्रांतिकारी सिद्धांतों के तारतम्य और ईसाइयत के आदर्श को पूरा करते तथा उसे जीवित रखते हुए एक नवीन मत की तरह प्रकाश में आया हो।" बेल्जियम का साम्यवाद-आंदोलन अधिकांश में व्यावहारिक था। उसने सर्व-साधारण के लिए मताधिकार प्राप्त करने के लिए सरकार का विरोध करने में बहुधा लिबरलों का साथ दिया। यह साम्यवाद-आंदोलन ही का प्रभाव था कि बेल्जियम में प्रजा-सत्ता के अनुसार चुनाव-प्रणाली न होने पर भी अनुदार सरकार को मुँह की खानी पड़ी थी। पहलेपहल साम्यवादी दल ने सन् १८९४ में बेल्जियम के शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया और अनुदार सरकार को घुटने टेक देने पड़े।

अमेरिका और अन्य देश

संसार में साम्यवाद-आन्दोलन के फैलने का एक मुख्य कारण यूरोप में राजनैतिक उथल-पुथल का होना है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली आदि देशों के साथ ही इस भयंकर आन्दोलन ने रूस, स्पेन, पुर्तगाल तथा अन्य छोटे-छोटे यूरोपीय देशों में भी धीरे-धीरे अपने पैर फैलाये।

फ़िनलैंड की पार्लमेंट के सन् १९१० के चुनाव में ८७ साम्यवादी चुने गये थे। यूरोप के उत्तरी प्रदेशों में साम्यवादी बहुत शक्तिशाली और सङ्गठित हैं, और पार्लमेन्टों में उनका काफ़ी प्रतिनिधित्व रहता है। आस्ट्रिया में पहले जाति-गत झगड़े बहुत रहते थे। परन्तु, सन् १९०६ से, जब से जनता को मताधिकार मिला है, लड़ाई-झगड़े बहुत कुछ कम हो गये हैं। सन् १९०६ में जनता के ८७ मेम्बर वहाँ की पार्लमेंट में पहुँचे और एक लाख मत मिले। सन् १८८८ से स्विट्ज़लैण्ड में सामाजिक प्रजासत्तावादी दल

(Social Democratic Party) क़ायम है। परन्तु, यह सब कुछ होते हुए भी, यह देश दमनकारी क़ानूनों और अन्यायपूर्ण राजनैतिक कृतियों के लिए बदनाम रहा है।

जापान किसी भी पश्चिमी आन्दोलन के प्रभाव से वञ्चित नहीं है। सन् १९०१ से यहाँ पर साम्यवादी दल मौजूद है। यह दल मार्क्स के सिद्धान्तों का कट्टर अनुयायी है। आन्दोलन के आरंभ में अधिकारियों ने अनेक साम्यवादी नेताओं पर बड़े-बड़े संगीन जुर्मों के लिए मुक़द्दमे चलाये, और उन्हें सख़्त सजायें दीं, तथा कई एक को फांसी पर भी लटका दिया। राजनैतिक हथकंडों से काम लेने में जापान ने अपने शत्रु रूस का प्रत्यक्ष रूप से अनुकरण किया।

अर्जेण्टाइन, और चिली में भी साम्यवादी संस्थायें हैं, और वे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी कांग्रेसों में बराबर अपने प्रतिनिधि भेजती रहती हैं।

आस्ट्रेलिया में लेबर और सोशलिस्ट नाम के दल बन गये हैं। पहला दल कट्टर साम्यवाद का पोषक है और दूसरा मार्क्स के सिद्धांतों का प्रचार करता है। न्यूज़ीलैंड में वास्तव में साम्यवादी दल नहीं है, किंतु वहाँ के मुख्य नेता सेडोन ने साम्यवाद के नाम पर नरम नीति चला रक्खी है। दक्षिण अफ्रिका में भी किसानों और मज़दूरों के हितों के लिए साम्यवाद-आंदोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा है। पश्चिमी कनाडा में भी एक साम्यवादी दल है, जो मार्क्स के सिद्धान्तों का कट्टर प्रतिपादक है। इसका प्रतिनिधित्व वहाँ की कौंसिल में भी रहता है। मध्य और पूर्वी कनाडा की भूमि में भी साम्यवाद का बीज पहुँच गया है। वहाँ का साम्यवादी दल इंग्लैण्ड की लेबर और इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी की तरह पर है। आन्दोलन की हवा से अलबर्टा भी अछूता नहीं बचा। वहाँ की नई पार्लमेंट के चुनाव में केवल एक साम्यवादी मेम्बर चुना गया।

अमेरिका की नई भूमि से आकर्षित हो कर पहले-पहल आदर्शवादी (Utopists) लोग वहाँ पहुँचे। वे लोग वहाँ अपनी शासन-व्यवस्था (Phalanstery) की नींव डालना चाहते थे। किन्तु थोड़े ही समय में वे एक-एक करके इस संसार से चल बसे, और इस देश के सार्वजनिक तथा राजनैतिक कार्यों के रूप में उन्होंने कोई उल्लेखनीय चिह्न नहीं छोड़ा। उसके बाद यूरोप से निर्वासित हो कर बहुत से साम्यवादी अमेरिका में जा बसे। सन् १८७० ई० से अमेरिका के विभिन्न स्थानों में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सङ्घ की अनेक शाखायें खुल गईं। यह ऐतिहासिक संस्था जब यूरोप में नष्ट हो गई, तब इसके सदर मुक़ाम सन् १८७२ ई० में अटलांटिक महासागर के इस पार अमेरिका में आ गये। इसके ४ वर्ष बाद एक राष्ट्रीय आन्दोलन सङ्गठित करने का आयोजन किया गया। उसके फलस्वरूप सन् १८७७ में सोशलिस्ट लेबर पार्टी नाम की संस्था बनाई गई। कई वर्ष तक इसका आन्दोलन जारी रहा। परन्तु आगे चल कर, इसके कार्य-कर्त्ताओं में मत-भेद हो गया। इस संस्था के विरोध में दो-एक और दल भी बन गये। सन् १८८५ में शिकागो में अनेक अराजकों पर मुक़द्दमा चलाया गया, और उन्हें फाँसी दे दी गई। सन् १८७७ में "सोशल डेमोक्रेसी ऑफ़ अमेरिका" नाम की संस्था के जन्म से अमेरिका के साम्यवाद-आन्दोलन में नई जान पड़ गई। सन् १९०१ में यह संस्था साम्यवादी मज़दूर पार्टी में मिल गई। इन संस्थाओं का संचालन बड़े दूरदर्शी और विचारशील पुरुष करते हैं। श्रमी-संघों (Trade unions) तथा अन्य संस्थाओं को "अमेरिकन फ़ेडरेशन ऑफ लेबर" नाम के विराट मज़दूर-संघ के द्वारा एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस प्रकार यहाँ साम्यवाद-आन्दोलन की प्रगति दिनों-दिन तेज़ होती जा रही है। इसमें विदेशी आन्दोलन कर्त्ताओं से काफ़ी सहायता मिली है। सन् १९१० तक तो साम्यवाद ने अमेरिका की प्रत्येक रियासत में अड्डा जमा लिया था। उस समय चुनाव में साम्यवादियों को ७ लाख वोट मिले और उन्होंने वाशिङ्गटन में प्रातिनिधिक व्यवस्थापिका सभा में प्रथम स्थान प्राप्त किया।

इंग्लैंड

इंग्लैंड के राष्ट्रीय और साम्यवादी आन्दोलन के क्रम-विकास का पता लगाने के लिए १८ वीं शताब्दी के इतिहास पर सरसरी नज़र डालनी पड़ेगी। आरंभ में अनेक स्थानों में कुछ राजनैतिक संस्थाओं का जन्म हुआ। उन संस्थाओं द्वारा चलाये गये राजनैतिक आन्दोलन में, स्पष्टतः एक सामा-

लिक दिया भी रही है। भूमि को राष्ट्रीय रूप देने तथा आधुनिक मशीनों के प्रभाव से जो दुष्परिणाम होते हैं, उनके सम्बन्ध में अनेक आवश्यक बातें पहले थॉमस स्पेंस (Thomas Spence) ने प्रकाशित कीं, और उसके अनुयायियों ने उन बातों का जोरों से समर्थन किया। राबर्ट ओवेन (Robert Owen) ने भी इन विचारों का पक्ष लिया। ओवेन के जीवन में भी वही विशेषतायें थीं, जो सेंट साइमन, और फाउरियर के जीवन में थीं। उसका जन्म १७७१ में हुआ। प्रारंभ से ही वह बड़ा समझदार था। सन् १८०० से उसने न्यूलेनार्क मिल्स का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। उसने इस बात को लेकर ज़ोरदार आन्दोलन किया कि जिन लोगों की आर्थिक दशा गिरी हुई है, उनकी सरकार को सहायता करनी चाहिए। सन् १८१७ में उसने पार्लमेंट की कमिटी के सामने एक दरख़्वास्त पेश की। इसमें 'ग़रीब क़ानून' (Poor Law) पर विचार करते हुए कहा था कि समाज पर आर्थिक सङ्कट का कारण मनुष्य और मशीन की प्रतिद्वन्द्विता है, और इसको दूर करने का एकमात्र इलाज यही है कि माल पैदा करने के साधनों को पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त से काम में लाया जाय, और उनको जनता के हित की दृष्टि से अधिकार में रक्खा जाय। सन् १८२५ के बाद उसने सामाजिक हित के लिए सहयोग-समिति, मज़दूर-भण्डार आदि की अनेक योजनायें बनाईं। यह ठीक है कि ओवेन के साम्यवादी प्रयोगों को अधिक सफलता नहीं मिली, किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसके विचारों से अँग्रेज़ समाज की गति-विधि एकदम बदल गई। उसके विचारों का स्पष्ट आदर्श यह था कि शासन-व्यवस्था निर्बलों की रक्षा के लिए होती है। इंग्लैंड का फ़ैक्टरी क़ानून, सहयोग-आन्दोलन, सार्वजनिक शिक्षा-विस्तार, मज़दूर-संघ आदि सुधारों की बातें ओवेन के साम्यवादी विचारों के फल हैं। उसके विचारों का पहला परिणाम था 'चार्टिज़्म' (Chartism) आन्दोलन। इस आन्दोलन का मन्तव्य था कि आर्थिक समस्या एक राष्ट्रीय समस्या है और यह राष्ट्रीय साधनों से ही हल की जा सकती है। भूमि-सुधार, शिक्षा-सुधार, फ़ैक्टरी में मज़दूरों के काम का समय घटाना, कारख़ानों और सम्मिलित उद्योग-धन्धों का नियंत्रण आदि उद्देश्यों को लेकर ही चार्टिज़्म का आन्दोलन चला था। ओवेन के बाद इंग्लैंड में गाडविन, थॉमसन, हाल, ओलिवी, हौजस्किन आदि अनेक साम्यवादी लेखक हो गये हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में समाज की आर्थिक ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए अनेक आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला है। उनका दावा है कि माल की सारी पैदाइश पर मज़दूरों का अधिकार है। सन् १८७९ ई० में हेनरी जार्ज की "उन्नति और निर्धनता" (Progress and Poverty) नाम की पुस्तक प्रकाशित हुई। इसने सामाजिक प्रश्नों के सम्बन्ध में मज़दूरों और साधारण जनता के मन पर बहुत प्रभाव डाला। फल-स्वरूप ग़रीबी के सवाल ने एक सार्वजनिक समस्या का रूप धारण कर लिया। वह अब व्यक्तिगत सवाल न रह गया।

साम्यवाद-आन्दोलन दिन-दिन ज़ोर पकड़ने लगा। राजनैतिक मैदान में काम करने वाली 'रेडिकल पार्टी' नष्ट कर दी गई। सन् १८८२ में, लिबरल सरकार की आज्ञा से अलेक्ज़ेंड्रिया (Alexandria) के सामने, गरजती हुई अंग्रेज़ तोपों ने इंग्लैंड की 'रेडिकल क्लब' तथा अन्य संस्थाओं पर गोले बरसा कर उसी प्रकार संहार किया, जिस प्रकार उन्होंने मिस्र में किया था। इस प्रयत्न से आन्दोलन की आग और भी भड़की। शीघ्र ही 'डेमोक्रेटिक फ़ेडरेशन' नाम की एक नई संस्था का जन्म हुआ। यह वह भूमि थी, जहाँ कार्ल मार्क्स के विचार फले-फूले थे। कार्ल मार्क्स के एक पटु शिष्य श्री हिण्डमान इस नये दल के नेता बने। थोड़े ही दिन बाद इस पार्टी का नाम बदल कर 'सोशल डेमोक्रेटिक फ़ेडरेशन' रक्खा गया। इसके द्वारा साम्यवाद का प्रचार शुरू हुआ। किन्तु कुछ ही महीनों में पारस्परिक कलह से इस दल में फूट पड़ गई, और 'सोशलिस्ट लीग' नाम की एक पार्टी और बन गई। फ़ेडरेशन 'मार्क्स' के विचारों का अनुयायी था, और 'लीग' अराजक विचारों का प्रतिपादन करती थी। आगे चलकर लीग टूट गई, किन्तु, 'फ़ेडरेशन' का काम जारी रहा। सन् १८८५ ई० में फ़ेडरेशन की ओर से पार्लमेंट की सदस्यता के लिए तीन उम्मीदवार खड़े किये गये। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। आगे चलकर 'फ़ेडरेशन' को सार्वजनिक जीवन में

काम करने के लिए एक क्षेत्र मिल गया। मज़दूर संघों के लोग दिन पर दिन साम्यवादी बनने लगे। ट्रेड यूनियन कांग्रेसों में नये और पुराने विचारों के लोगों का खूब संघर्षण होता था। नये विचार वाले दक़ियानूसी पुराने विचार के संरक्षण का जुआ अधिक दिनों तक अपनी गर्दन पर नहीं रखना चाहते थे। सन् १८८९ की जहाज़ी हड़ताल में मज़दूरों को पूरी सफलता मिली। ट्रफलगार की मुठभेड़ों से लोगों में ख़ूब उभाड़ पैदा हुआ। इसी जोश में नये संघवाद (New Unionism) की घोषणा की गई। देश भर में बहुत से मज़दूर-दल बन गये।

सन् १८९२ में ग्लासगो ट्रेड यूनियन कांग्रेस की बैठक हुई। इसके निश्चय के अनुसार सन् १८९३ के शुरू में मज़दूर दलों और साम्यवादी पार्टियों के प्रतिनिधि ब्रेडफोर्ड में इकट्ठे किये गये। उसके बाद श्री केयर हार्डी के नेतृत्व में 'इंडिपेंडेंट लेबर-पार्टी' का काम प्रारंभ किया गया। इसका उद्देश्य साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करना था। इसने ओवेन के आदर्शों पर समस्त साम्यवादी शक्तियों का संघटन करने का प्रयत्न किया, और मत-भेद तथा पुराने अन्ध-विश्वासों के दुर्ग को गिरा दिया। इसने लोगों से राजनैतिक कामों में दिलचस्पी लेने की अपील की। इस दल के सतत प्रयत्न से साम्यवाद का बहुत प्रचार हुआ। इसने उदार और अनुदार दलों को संघर्षण के लिए चुनौती देकर अनेक चुनावों में विजय प्राप्त की। सन् १८९३ के चुनाव में श्री हार्डी साउथ वेस्टहाम की ओर से सदस्य चुन लिये गये। इसके बाद नये दल ने कई बार चुनाव में विजय प्राप्त की। श्रमिक दल की इस प्रकार की सफलता से ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों में एक ख़ासा परिवर्तन हो गया।

साम्यवाद जब तक केवल सिद्धान्तों के रूप में रहेगा, तब तक अधिक व्यापक नहीं हो सकता। इसको सर्वव्यापी बनाने के लिए इसे क्रियात्मक आन्दोलन का रूप देना आवश्यक है। इसे आन्दोलन का रूप देने के लिए दो बातें बहुत ज़रूरी हैं। एक तो संघटित शक्तियों को केन्द्रीभूत किया जाय, दूसरे मज़दूर जनता का विश्वास प्राप्त किया जाय। 'सोशल डेमोक्रेटिक फ़ेडरेशन' ने इन दोनों बातों में उपेक्षा की, और 'इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी ने इन बातों की तनिक भी उपेक्षा नहीं की। इससे इन दोनों संस्थाओं के भाग्य का जो परिणाम हुआ, वह राजनीति के विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण चीज़ है।

सन् १८९९ के बाद इंग्लैंड के मेमोरियल हाल में विभिन्न साम्यवादी और मज़दूर संस्थाओं के क़रीब १२९ प्रतिनिधि इस बात पर विचार करने लिए इकट्ठे हुए कि राजनैतिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए सब दलों को कैसे मिलाया जाय। इसका फल यह हुआ कि मज़दूर दल अधिक व्यवस्थित और संघटित रूप से काम करने लगे। इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी को अन्य सब मज़दूर दल हर प्रकार से सहायता देते थे। धीरे-धीरे जनता पर इसकी धाक जमती जाती थी। सन् १९०६ में इस पार्टी के संरक्षण में ३० मज़दूर सदस्य पार्लमेंट में चुने गये। सन् १९१० में तो मज़दूर सदस्यों की संख्या ४० तक पहुँच गई। इससे आगे तो वह समय भी आ गया जब कि शासन की बागडोर बिलकुल मज़दूरों के हाथ में आ गई। इसके बाद के चुनाव में अनुदार-दल ने जिनोवीफ़ के जाली पत्र आदि बना कर जिस कुटिल नीति से मज़दूर-दल को परास्त किया, वह बताने की आवश्यकता नहीं।

सुरेंद्र शर्मा

आशंका

कोकिल की भांति आज गाती है अनूठे गीत,
यौवन-वसन्त गये भी वह क्या गावेगी ?
पुष्प की भांति मुसकाती है जो प्रमुदित हो,
दुःख के तुषार में क्या वह मुसकावेगी ?
थिरक रही है तितली-सी जो 'कुसुमाकर'
कुदिनों के आये वह क्या पग उठावेगी ?
आज जो स्वर्ग-सुख मुझको दिखला है रही,
क्या वह सदा ही मुझे दिन ये दिखावेगी ?

देवीप्रसाद गुप्त (कुसुमाकर)

आधुनिक प्रजातंत्र का असली रूप

(गतांक का शेष)

पिछले अंक में हम दिखला चुके हैं कि इंग्लैण्ड में भी आधुनिक प्रजातन्त्र का रूप संतोष-जनक नहीं है। फिर भारतवर्ष, मिस्र आदि पराधीन देशों का तो कहना ही क्या? इंग्लैण्ड प्रजातन्त्र की जन्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध है। पर क्या ब्रिटिश लोक-सभा में भारत के तीस करोड़ लोगों का एक भी प्रतिनिधि है? और वहाँ मिस्र के प्रतिनिधि भी कितने हैं? प्रतिनिधियों की बात को थोड़ी देर के लिए भूल भी जायँ, तो भी जब इंग्लैण्ड की सुप्रसिद्ध लोकसभा में भारत सम्बन्धी कोई चर्चा छिड़ती है तब उसमें कितने सभासद हाजिर रहते हैं? जो उपस्थित रहते भी हैं, उनमें से कितने लोग जागते रहते हैं? और जागते भी हैं तो उनमें से कितनों को भारतीय मामलों में बिलकुल मामूली जानकारी भी रहती है? इंग्लैण्ड के जगतविख्यात क्रान्तिकारी विचारक श्री जॉर्ज बर्नार्ड-शा ने अपने (John Bull's other Island आदि) नाटकों की प्रस्तावना में इंग्लैण्ड और भारतवर्ष के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जो वाक्य लिखे हैं, वे वस्तुस्थिति को बड़े बढ़िया ढंग से प्रकट करते हैं, उदाहरणार्थ, "जब दो भारतीयों के बीच कुछ निपटारा करना होता है तब भारत में एक अंग्रेज प्रत्यक्ष न्यायदेवता की मूर्ति बन जाता है। वह कहता है कि तुम्हारे धार्मिक झगड़ों में मैं निष्पक्ष हूँ, क्योंकि मैं दोनों में से एक धर्म को भी नहीं मानता। तुम्हारे सामाजिक रिवाज तथा मान्यताओं के विषय में भी उदासीन हूँ। क्योंकि वे हमारे रिवाजों और मान्यताओं से भिन्न और अत्यंत हीन हैं। अन्त में मैं तुम्हारे स्वार्थों के विषय में भी निष्पक्ष हूँ। इसका कारण यह है कि वे दोनों मेरे स्वार्थ से एकसा विरोध रखते हैं। मेरा स्वार्थ तो इसमें है कि मैं तुम दोनों को ऐसा कमजोर बनाये रक्खूँ, जिससे तुम मेरे खिलाफ अपनी अँगुली तक न उठा सको। और फिर तुम्हारा धन चूस-चूस कर अपने तथा अपने देशभाइयों को, जो तुम्हारे ऊपर शासन करते हैं, बड़ी-बड़ी तनख्वाहें और पेन्शनें दे सकूँ। इसके बदले में तुम्हें एक ऐसी सरकार के सुशासन का लाभ मिलता है, जो दो हिन्दुस्थानियों के बीच तो संपूर्ण न्याय से काम लेती है पर जो दिन-रात इस प्रयास में लगी रहती है कि जहाँ इंग्लैण्ड और भारत के स्वार्थ का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ भारत के साथ सम्पूर्ण अन्याय होता रहे।"

इन उद्‌गारों की सचाई और मार्मिकता उस समय और भी साफ हो जाती है, जब हम जालियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के मुख्य अपराधी को (an error of judgement के थोथे बहाने पर) निर्दोष क़रार देकर मुक्त किया हुआ पाते हैं। पूर्वोक्त प्रस्तावना में ही ई० सन् १९०६ में मिस्र के डेनशाई (Denshawai) गाँव में किये गये अत्याचार के विषय में शॉ महोदय के नीचे लिखे व्यङ्ग पढ़ने योग्य हैं—

"कबूतरों को पालने वाला एक मिस्र निवासी किसान, जो अंग्रेजों को शिकार खेलने से मना करता है, जो अंग्रेज अधिकारियों और सभ्य अंग्रेज गृहस्थों को कबूतरों का शिकार करते देख उन्हें धमकाता है और मौके बेमौक़े इन अधिकारियों को अपनी जोरदार लाठी से ठोक-पीट भी देता है, निस्संदेह बड़ा दुष्ट है। उस दीखने में सत्तर किंतु वस्तुतः ६० वर्ष के बूढ़े

अपराधी को फ़ौजदारी दण्डधारा के अनुसार केवल क़ैद की सजा देना ही पर्याप्त नहीं था—क्योंकि कारावास के कष्टों को मुश्किल से पाँच वर्षों तक सहने के पहले ही वह दूसरे लोक का अधिवासी बन चुका होता ! इसी कारण हसन फ़ाँसी पर लटका दिया गया। किंतु उसके कुटुम्ब को शिक्षा देने के लिए वह उसके घर के ठीक सामने फाँसी के तख्ते पर चढ़ाया गया, जिसमें उसकी पत्नी, बच्चे और नाती-पोते भी उसके घर की छत पर बैठे-बैठे मौत को अपनी आँखों देख सकें-उसका मज़ा लूट सकें।"

शॉ महोदय ने ऐसी ही और भी कई चुभती हुई बातें लिखी हैं। इस घटना पर विचार करते हुए लार्ड क्रोमर ने मिस्री-न्यायविधान के अनुसार इसे न्याय्य (Just) और आवश्यक (Necessary) कहा है ! इसपर जार्ज बर्नार्ड शॉ फिर लिखते है—" सन् १९०६ में लार्ड क्रोमर कोड़ों की कठोर सजा को न्याय्य और आवश्यक क़रार देते हैं। और इस सज़ा को अमल में लाने के तरीक़ों से सशंक होने की बिलकुल जरूरत नहीं समझते। उनका—लार्ड क्रोमर का—कहना है कि मैंने अपने जीवन के लगभग तीस वर्षों तक मिस्र की जनता को सदाचारी और सम्पन्न बनाने में जीतोड़ मिहनत की है। अपने इस सत्कार्य में मुझे कई योग्य अधिकारियों से बराबर सहायता मिलती रही है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि इनमें से हर एक मेरे ही समान भूतदया के भावों से प्रेरित होकर मेरी सहायता के लिए तैयार रहता था।" श्री शॉ कहते हैं—"संभव है कि मिस्र-वासी लार्ड महोदय के इन विचारों को पढ़कर एकबारगी काँप उठें। अगर लार्ड महोदय के शासन-काल के पहले तीस वर्षों की कार्यवाही का परिणाम उपरोक्त दीनशावाई की बर्बरतापूर्ण घटना है तो दूसरे तीस वर्षों के बाद इसी भूतदया के भावों से प्रेरित शासन की छत्र-छाया में मिस्री लोग कितने सदाचारी और उन्नत हो सकेंगे ?" मिस्र के संबन्ध में श्री शा ने जो प्रश्न पूछा है, भारत के जालियाँवाला बाग़ के सम्बन्ध में भी (भारत-सरकार से) यही प्रश्न पूछा जा सकता है।

ऊपर जो थोड़े से लंबे-लंबे उद्धरण दिये गये हैं उनका उद्देश्य तो यही है कि प्रजातन्त्र के सुप्रसिद्ध पुरस्कर्त्ता के नाते इंग्लैंड जैसे राष्ट्र का भीतरी स्वरूप क्या है, इसे पाठक भलीभांति जान जायँ। जनता के जीवन के लिए, उसकी सुख-सुविधा के लिए, और उसके साथ न्याय करने में यदि प्रजातन्त्र का दम भरने वाले राष्ट्र की यह नीति है, तो भी बाल्डविन यह किस बिरते पर कहते हैं कि 'प्रजातन्त्र के लिए ही हमने सारी दुनिया को सुरक्षित कर रक्खा है।' ऐसे राष्ट्र को 'प्रजातन्त्र राष्ट्र' कैसे कहा जाय ? फ्रांस, अमेरिका आदि राष्ट्रों की भी वही हालत है, जो ऊपर हम इंग्लैंड की बतला आये हैं। समोआ (Samaon) लोगों के संबन्ध में अमेरिका ने जिस नीति से काम लिया है, वह प्रजातन्त्र के तत्त्वों का कौनसा रूप है, यह विचारणीय है।

अतः यह सिद्ध होता है कि ऊपर से प्रजातन्त्र-वादी होते हुए भी पाश्चात्य राष्ट्र अपनी असलियत में एक अपूर्व 'साम्राज्यवाद' के अनुयायी हैं—स्वयं बड़े विचित्र 'साम्राज्यवादी' हैं। आइए, हम इसी पर थोड़ा विचार करें।

आज-कल के प्रत्येक प्रबल एवं स्वतंत्र राष्ट्र की यह महत्वाकांक्षा रहती है कि दुनिया का सबसे अधिक भाग उसके अधिकार में हो, सारी दुनिया में उसकी हुकूमत फैली रहे, दुनिया भर के लोग सम्राट् के नाते उसके पैरों की धूल अपने सिर चढ़ावें, समान-बल राष्ट्रों में उसे सर्वाधिक सन्मान मिले, संसार की राजनीति के तार उसकी इच्छा-अनिच्छा की एक-एक

तरंग पर हिलते रहें। निस्सन्देह केवल महत्वाकांक्षा की दृष्टि से इसमें कोई दोष नहीं है। अपनी योग्यता के बल पर यदि कोई राष्ट्र इतना प्रभावशाली और उन्नत हो जाय तो इसमें बुराई भी क्या है? उलटे इस तरह की सफलता तो उसका भूषण बन जाती है। परन्तु इन पश्चिमी राष्ट्रों की साम्राज्य-लिप्सा साम्राज्य-स्थापना के पूर्व प्रयत्नों से कहीं भिन्न स्वरूप की होती है। पहले के पौर्वात्य राजा राज्याभिषेक के बाद ही दिग्विजय के लिए निकल पड़ते थे। वे दूसरे राजाओं पर अपना राजकीय प्रभुत्व स्थापित करते और खुद सम्राट् बनते थे। परन्तु यह करते हुए भी विजित राज्यों की स्वतन्त्रता को छीन लेना, उन्हें एकदम परतन्त्र बना डालना, सब तरह से उनके जीवन-रक्त को चूस डालना, संक्षेप में, नाममात्र के लिए उन्हें जीवित रख कर उनका सब कुछ छीन लेने की आधुनिक, सुशिक्षित, पश्चिमी राष्ट्रों की नीति उन्हें बिलकुल मालूम नहीं थी। वे तो विजित राज्यों से अपनी हुकूमत क़बूल करवाते थे, अपनी राजसभा में उन्हें उपस्थित देखना चाहते थे, उनसे उचित वार्षिक कर प्राप्त करते थे, और लड़ाई के अवसर पर उनकी सहायता पा कर सन्तुष्ट हो जाया करते थे। दूसरे मामलों में विजित राजाओं को, उनकी ओर से, सम्पूर्ण स्वतंत्रता और बराबरी का सम्मान प्राप्त था। "तुम्हारी रक्षा के लिए तुम्हारे ही खर्चे से हम अपनी फौज तुम्हारे यहाँ रखते हैं" यह विचित्र युक्ति—आधुनिक सम्राट्शाही के इस एकदम नये आविष्कार की पूर्वीय सम्राटों के अशिक्षित दिमाग़ में कभी कल्पना भी नहीं उठी थी! साथ ही पहले के भारतीय क्षत्रिय सम्राटों का साम्राज्य-विस्तार केवल उच्च क्षत्रियत्व की प्रतिष्ठा के लिए—उसके उज्ज्वल यश की लालसा-पूर्ति के लिए ही होता था। इसी साम्राज्य लालसा से प्रेरित होकर ग्रीक, सिकन्दर और दूसरे जगज्जेताओं ने दूसरे देशों पर चढ़ाई की होगी। उन चढ़ाइयों और उनके परिणाम को देख कर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं। भिन्न-भिन्न मुसलमान विजेताओं ने समय-समय पर जो चढ़ाइयाँ कीं वे कुछ तो धर्मोन्माद के कारण थीं और कुछ द्रव्यप्राप्ति की आशा से। मनमानी लूट करने और थोड़े से लोगों को भ्रष्ट करने के बाद वे स्वदेश को लौट जाते थे। जो थोड़े से विजित देश में रहते भी, वे वहीं के निवासी बन कर अकसर वहाँ के मूल निवासियों में हिल-मिल जाते थे। हूणों के समान कितनी ही विदेशी जातियों ने तो जैन, बौद्ध आदि धर्मों को स्वीकार करके हिन्दू-धर्म में अपने आपको एकदम मिला दिया, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु आजकल की साम्राज्यशाही का कुछ ढंग ही निराला है। नीचे उसके अन्तरङ्ग के असली रूप की जो विवेचना की जायगी, उससे यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

पन्द्रहवीं शताब्दि में पाश्चात्य देशों की कृपा-दृष्टि (?) भारतवर्ष की ओर पुनः आकर्षित हुई। पोर्तुगीज, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज लोग धीरे-धीरे व्यापार के बहाने देश में इकट्ठा होने लगे। इनमें से डच लोगों का विचार केवल व्यापार-मूलक ही था। साम्राज्य-स्थापना की उथल-पुथल के लिए न तो उनके पास जरूरी साधन ही थे और न उनकी पीठ पर कोई मददगार ही था। अतः पाश्चात्य देशों की चढ़ाई की इस घुड़दौड़ में, डच लोगों को पहले ही प्रयत्न में पिछड़ना पड़ा। भारतवर्ष में तो आज उनके अस्तित्व का निशान तक नहीं मिलता। पोर्तुगीजों ने अपनी सत्ता क़ायम करने का प्रयत्न तो किया, परन्तु इस प्रयत्न में अत्याचार के बल पर धर्म-प्रसार करने का जीतोड़ प्रयत्न जुड़ जाने से—दूसरे शब्दों में धर्म-प्रसार के लिए ही राज्य स्थापन करने की उनकी नीति के कारण पोर्तुगीज भला भारत

में चिरस्थाई कैसे हो सकते ? आज भी भारतवर्ष में जहां कहीं उनका अस्तित्व है वहां पर राजकीय होने की अपेक्षा वे धार्मिक ही अधिक हैं। भारत में पोर्तुगीज लोगों ने ईसाई गिरजाघर, ईसाई धर्मोपदेशक और भारतीय ईसाई-समाज जितनी बड़ी संख्या में तैयार किए हैं, उतने किसी भी दूसरे ईसाई राष्ट्र ने नहीं किये। भारत में पोर्तुगीजों के राजकीय प्रभुत्व की क्षणिकता का एक यह भी कारण हो सकता है। तीसरे, देश में अच्छी तरह जमने के पहले ही उन्हें मराठों की बलशाली सत्ता से जूझना पड़ा। इसने उनके अस्तित्व को और भी नहीं-सा कर दिया। उधर, पोर्तुगीज और डच लोगों की गलतियों से फ्रांसीसी और अंग्रेज लोगों ने खूब लाभ उठाया। किसी समय भारत में फ्रांसीसियों के ही सर्वेसर्वा होने के रंग-ढंग दीखते थे। परन्तु अंग्रेज़ों के सौभाग्य से और फ्रांसीसियों के दुर्भाग्य से फ्रांस वालों का सेनापति अयोग्य निकला; डुपले (Dupleix) जैसे चतुर फ्रांसीसी सेनानी को फ्रांस वापिस बुला लिया गया। भारत में फ्रांसीसियों की पराजय और अंग्रेज़ों की विजय का यही कारण हुआ। इस बीच मुग़ल और मराठे कमज़ोर हो चुके थे। अंग्रेज़ों ने आकर उन्हें लगभग नाम-शेष कर दिया और भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। आगे चलकर, अंग्रेज़ों को सिक्ख, गुरखा आदि लड़ाकू जातियों से बराबरी की लड़ाइयाँ लड़नी तो पड़ीं, परन्तु आखिर जीत अंग्रेज़ों की ही हुई—जिससे इस जाति के पैर भारत में और मजबूती से जम गये।

अब हमें यह देखना है कि सभी पाश्चात्य राष्ट्रों ने—खासकर अंग्रेज़ों ने— भारतवर्ष में अपना राज्य किस तरह क़ायम किया। अंग्रेज़ लोग पहले तो एक हाथ में चमकीली-मोहक-चीजें और दूसरे में तराज़ू लेकर इस देश में आये। इन चीजों की ओट में उनकी तलवार छिपी हुई थी। अपने माल के मोह में फँसाकर यदि तराज़ू से लाभ न उठा सके तो कभी-कभी तलवार से भी काम लेने के लिये तराज़ू वाले तैयार रहते थे। कभी नम्रता से तो कभी मीठी-मीठी बातें करके, कभी मोहक चीजें भेंट देकर, तो कभी राजनीतिक-दाँव खेलकर, कभी परस्पर भेद डालकर, तो कभी धमकी देकर, ये अंग्रेज़ व्यापारी, व्यापार के लिए सुविधायें प्राप्त करते थे। फिर धीरे-धीरे व्यापार की दृढ़ता के लिए कोठियाँ, कोठियों की रक्षा के लिए किले और सेना तथा व्यापार का हिसाब-किताब रखने के लिए नौकर-चाकर आदि का जमाव होने लगा। व्यापार की बढ़ती के साथ ही साथ ये लोग अपने व्यापार के क्षेत्र को भी बढ़ाने लगे। देश को जीतने और उसे अपने अधिकार में लाने के लिए इन्हें अपनी सेना और गोला बारूद का सैनिक सामान भी बढ़ाना पड़ा। नौकरों की संख्या भी बढ़ी। इस तरह देश का बहुत-सा भाग अधीन हो जाने और फौजी तैयारी के काफी संगीन हो जाने पर इन लोगों के शरीर में एक तरह की चुल-बुलाहट का छूटना बिलकुल स्वाभाविक ही था। ऐसी दशा में, इस 'व्यापारशाही' के भीतरी रहस्य को न जानने वाले मुग़ल और मराठे आपस में लड़ रहे थे। इन दोनों की राजनीति में पड़कर अंग्रेज़ व्यापारी, एक मध्यस्थ के नाते, इनका सारा राज्य, सारी स्वतन्त्रता और सब कुछ चुपचाप गप कर गये! दो बिल्लियों के बीच में पड़कर बन्दर ने जिस तरह अपना स्वार्थ साधा—इन नामधारी अंग्रेज़ व्यापारियों ने भी वही किया। व्यापारशाही, साम्राज्यशाही में बदल गई। परन्तु श्री तुकाराम महाराज के 'देह स्वभाव जाई ना' कथनानुसार इस साम्राज्यशाही का सच्चा स्वरूप कई बार अनजाने भी प्रकट हो जाता है। नीचे लिखे उदाहरणों से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जायगी।

ऊपर के विवेचन से साम्राज्यशाही का सच्चा

स्वरूप पाठकों के ध्यान में आया ही होगा, परन्तु विषय को अधिक स्पष्ट कर देने के लिए रूपक की भाषा में उसका वर्णन इस तरह किया जा सकता है— मान लीजिए कि साम्राज्यशाही के बाहरी रूप या आकार का नाम प्रजातंत्र है—प्रजातन्त्र का चोगा पहन कर ही साम्राज्यशाही दुनिया में अपना काम करती रहती है। जिस तत्व पर साम्राज्यशाही का निर्माण हुआ है वह पशुबल है। इस साम्राज्यशाही का हृदय, या प्राण अथवा आत्मा वैश्यशाही या व्यापार है। राजनीतिज्ञ सरदारों और सभासदों का वर्ग ही इसका मस्तिष्क है-जिसमें भारत के 'टाइम्स' 'इंग्लिशमैन' 'स्टेट्समैन' आदि पत्र संपादकों की गिनती भी की जा सकती है। साम्राज्यशाही की भुजायें उसका सैन्य बल है। और इसके पैर हैं, देश की नौकरशाही। कभी-कभी—जैसे चीन में—धर्म-प्रसार का बुर्का पहनकर भी यह साम्राज्यशाही अपने इन विविध अंग-प्रत्यंगों का आविष्कार किया करती है।

साम्राज्यशाही के लिए व्यापार एक अत्यन्त अनिवार्य विषय है। नीचे के अनेक उदाहरण इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। (१) मैञ्चेस्टर और लंकाशायर के व्यापारी, पूँजीपति, और मजदूर आपस में हिल मिल कर—अमेरिकन व्यापारियों को भी अपने गुट में मिलाकर भारत के बाजार को—जो उनका प्रधान ग्राहक है—अपने बनाये हुए माल से, मन माने ढँग से, पाट देने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रयत्न के सिलसिले में भारत के किसानों को समृद्ध बनाने के ढोंग से, उनमें अपना माल अधिक तादाद में खपाने के लोभ से, उन्होंने भारत-सरकार को कृषि-कमीशन की नियुक्ति के लिए बाध्य किया। (२) भारतीय वस्त्र-व्यवसाय की रक्षा के लिए सहायता चाहने वाले मिल-मालिकों की मदद पर दौड़ पड़ने का ढोंग रच कर भारत-सरकार ने बाहर से आने वाले कपड़े पर कर बढ़ाने के बदले विदेशों से आने वाले महीन सूत पर और यंत्रों पर कर बढ़ाया। (३) बर्मा-आइल-कम्पनी पर ब्रिटिश-टेरिफ-बोर्ड का कोई न्याय्य अधिकार नहीं है, फिर भी इस ब्रिटिश व्यापारी मंडल की रक्षा के लिए 'दूसरे महत्व के प्रश्नों को एक ओर छोड़ कर' भारत-सरकार ने ताबड़तोब टेरिफ-बोर्ड को ब्रह्मदेश पहुँचा दिया—पीछे से दूसरे प्रश्नों की उपेक्षा का आक्षेप लगाकर भारतीय-व्यापारी-संघ चिल्लाता भी रहा तो क्या ? (४) यही सरकार खड्गपुर और लिलुआ के मजदूरों की हड़ताल को बन्द करने के लिए पुलीस और फौज इकट्ठा करवी है, तथा उनसे लोगों पर गोली चलवाती है। (५) खादी जैसे शिशु किन्तु होनहार वस्त्र-व्यवसाय को देश में थोड़ी उन्नति करते देख कर मैञ्चेस्टर और लंकाशायर के लोग सशंक हो जाते हैं और उसे दबाने के हेतु छोटे बड़े व्यापारियों का एक बृहत् संघ बनाने के प्रयत्न में जुट जाते हैं। अपने अमेरिकन भाइयों को भी ऐसे समय साथ में लेना वे नहीं भूलते! इन लोगों की करतूतों के एक दो नहीं ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं!

अपने देश के व्यापार के लिए लॉर्ड सभा के सदस्य, पुलिस अधिकारी, नौकरशाही के पुर्जे आदि सब के सब किस तरह घुल-मिल जाते हैं इसे अच्छी तरह समझने के लिए भारत में साइमन-बहिष्कार का उदाहरण ही काफी है। देश ने जब साइमन-कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय किया तब उस बहिष्कार-आन्दोलन को दबाने के लिए नौकरशाही ने क्या-क्या नहीं किया ? बाल्डविन, बर्कन हेड, विंटरटन आदि लार्डों ने उपहास तिरस्कार और धमकियों का सहारा लिया; पुलिस अधिकारियों ने मद्रास, कलकत्ता, लाहौर और बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में जनता पर आक्रमण किये; नौकरशाही ने १४४वीं धारा का प्रयोग करके जुलूस आदि को कानूनन नाजायज

करार दिया; गवर्नर आदि बड़े अधिकारियों ने अपने-अपने राजकीय विभागों के अधिकारियों को, लोक-मत का निरादर करके, साइमन कमीशन के सामने गवाही देने के लिए सप्रमाण तैयार रहने का हुक्म दिया; ब्रिटिश व्यापारियोंने स्वयं गवाही देने के उद्देश से अपने मंडल कायम किये और उनकी साहायता के लिये द्रव्य इकट्ठा किया; 'टाइम्स' जैसे समाचार पत्रों ने कई तरह से साइमन कमीशन के गुण गाना और बहिष्कार-वादियों का उपहास, तिरस्कार तथा खुशामद करना शुरू कर दिया। इधर सर साइमन ने भी अपने मधुर भाषणों और लेखों द्वारा केवल एक ही उद्देश्य की पूर्ति की; दूसरे शब्दों में उन्होंने भी साइमन कमीशन की प्रशंसा का राग आलापना शुरू किया और बहिष्कारवादियों का निषेध करने में निर्लज्जता की पराकाष्ठा कर दी !

श्री बर्नार्ड शॉ ने पूर्वोक्त प्रस्तावना में इस साम्राज्य-शाही को परस्पर प्रशंसक अंग्रेजी दल (English Mutual Admiration Society) कहा है जिसे अंग्रेज, संघ या साम्राज्य कहते हैं। और नीचे लिखी सूचना देकर उन्हें खतरे से आगाह किया है—"उसे (इंग्लैंड को) अपने साम्राज्य की देख भाल करने दो; क्योंकि जबतक वह उसे संयुक्त संघ (Federation) का रूप देकर उसकी प्रजाकीय सत्ता को सुदृढ़ और सुरक्षित नहीं बनाता तब तक संसार की स्वतन्त्र जातियों में से कोई स्वेच्छा-पूर्वक उससे मिलने को नहीं ललचेगा। उलटे जो लोग उसके आधिपत्य से मुक्त होना चाहेंगे उनके लिए उसका शासन, खास करके, फ़ौजी-अत्याचार का रूप धारण कर लेगा। इस निरंकुश अत्याचार का परिणाम अँग्रेज कर-दाताओं पर बहुत बुरा पड़ेगा—उनको इतनी बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी कि उसके मुकाबले में भीषण अत्याचारों से पीड़ित विजितों की स्वातंत्र्य-हानि कुछ नहीं के बराबर होगी ! जो राजनीति, सिपाहियों की सहायता के बिना सफलता-पूर्वक अमल में नहीं लाई जा सकती वह चिरस्थायी कैसे होगी?" * इंग्लैण्ड को उन्होंने इन शब्दों में सावधान किया है। क्या हमारे भारतीय भाई इन शब्दों से कुछ शिक्षा ग्रहण न करेंगे ? इस बलाढ्य साम्राज्यशाही से जूझने के लिए—झूठे प्रजातंत्र के बदले सच्चा-प्रजातंत्र कायम करने के लिए—भारत के लिए सच्चा 'स्वराज्य' प्राप्त करने के लिए—ब्रिटिश सिंह की बराबरी पर खड़े रहने के लिए—पशु बल के बदले आध्यात्मिक बल की रक्षा एवं वृद्धि के लिए, नौकरशाही के 'फौलादी ढाँचे से' मॉटेग्यू के शब्दों में 'काष्ठवत् कठोर राज्य-व्यवस्था के फंदे से' बाहर निकलने के लिए—संक्षेप में भारत के सब दलों के लोगों को स्वराज्य-आन्दोलन में सम्मिलित करके देश को एकदम स्वतंत्र और स्वावलम्बी बनाने के लिए, क्या महात्माजी का बताया हुआ विधायक कार्यक्रम और विशेषतया खादी आन्दोलन एवं खादी प्रचार का काम ही सब से अच्छा और अचूक उपाय नहीं है ? इस उपाय से पूरा-पूरा लाभ उठा कर भारत देश में सम्पूर्ण-स्वतंत्र-प्रजातंत्र की स्थापना में सफल होओ !

कृष्णाजी रामचंद्र कुलकर्णी

"उन लोगों की प्रार्थना, जिनकी जिह्वा तो अमृतमय हैं किन्तु हृदय में विष भरा हुआ है, कभी नहीं सुनी जाती अतएव जो ईश्वर से प्रार्थना करते हों या करना चाहें, पहले अपना हृदय स्वच्छ करें।"

—महात्मा गांधी

"किसी समय में, और कहीं भी घृणा, घृणा से नष्ट नहीं होती। वह केवल प्रेम है जिससे घृणा का नाश होता है।"

—धम्मपद

---

* Preface for Politicians Page XXXVIII-XXXIX, 'John Bull's other Island, etc.

स्वर्गीय पं० गोपबन्धुदास

मनुष्य-जीवन के लिए संसार बाहरी प्रलोभनों और प्रभावों की एक रंगभूमि है। स्वभावतः अपूर्ण मनुष्य को और भी अधिक असहाय तथा दूषित बनाने के लिए ये दो उपकरण काफ़ी हैं। जन-साधारण इन उपकरणों—प्रलोभन और प्रभाव—से बचकर अपने आपको इनसे ऊपर उठाने में असफल होते हैं। उनके लिए एक सफल और सुंदर मनुष्य बनना कठिन ही नहीं वरन् असंभव हो जाता है। फिर मनुष्यों में 'बेताज के बादशाह' बनने और देश के करोड़ों हृदयों पर अपने लिए प्रेम-पूर्ण एकाधिकार प्राप्त करने की तो बात ही क्या ? परन्तु स्वर्गीय गोपबंधुदास ऐसे साधारण पुरुषों में नहीं थे। वे एक असाधारण शक्तिशाली महापुरुष थे और यही कारण था कि उनका सारा का सारा जीवन महापुरुषोचित कार्यों के करने और वैसे ही ध्येयों की ओर बढ़ने में बीता। श्री० पी० सी० राय के शब्दों में 'वे उत्कल प्रांत के अलौकिक रत्न-कोष थे—उसके वे मणि थे।' जिन्होंने गोपबन्धु की जीवनी को ध्यान से पढ़ा है वे आचार्य राय के इस कथन से सहमत हुए बिना न रहेंगे।

पण्डितजी का जन्म स्वांद नामक ग्राम के एक साधारणतः संपन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। यह गांव साखीगोपाल से पूर्व ५ मील की दूरी पर वार्गवी नदी के किनारे बसा हुआ है।

गोपबन्धु के पितामह, श्री० भगवानदास जी, सरलादेवी के अनन्य भक्त थे। इस देवी की आराधना में उन्होंने अपने आपको बलिदान कर दिया था।

श्री भगवानदासजी के दो लड़के थे। पहले दीनबन्धु और दूसरे दैतरी। दीनबन्धु तो अपने युवा पुत्र के अकाल मरण से दुःखी होकर आजन्म के लिए सन्यासी हो गये। श्री० दैतरी ने एक के बाद एक चार विवाह किये। दूसरी पत्नी से उन्हें श्री० नारायणदासजी हुए थे। तीसरी पत्नी श्रीमती स्वर्णमयीदेवी से १२ 'कन्या' १२८४ तदनुसार आक्टोबर १८७७ के दिन गोपबन्धु का जन्म हुआ। बालक गोपबन्धु को असहाय छोड़कर श्री० स्वर्णमयीदेवी परलोक सिधार गईं।

श्री० दैतरी उन दिनों मुख्तार थे। पुरी के भीतरी हिस्सों में उस समय तक नये ढंग की पढ़ाई का कोई प्रबंध नहीं था। श्री० दैतरी ने अपने बालक पुत्रों की शिक्षा के लिए गांव में ही एक प्रारंभिक पाठशाला खोली। ७-८ वर्ष तक बालक गोपबंधु इस पाठशाला में प ते रहे। बचपन से ही गोपबन्धु में श्रीकृष्ण-भक्ति की भावना प्रबल थी। वे बहुधा बड़ी तल्लीनता के साथ श्रीमद्भागवत् के श्लोकों का उड़िया पद्यानुवाद गाया करते थे। गोप बाबू स्वयं भी बालकवि थे। बचपन ही से वे कविता करने लगे थे। पाठशाला में पढ़ते समय कभी-कभी वे पद्य-रचना भी किया करते और उसे ताड़-पत्र पर लिख लेते थे। मिडिल वर्नाक्यूलर परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद गोपबन्धु पुरी के गवर्नमेंट हाईस्कूल में भरती हुए। वे अपने समय के एक आदर्श और अत्यधिक गुणी तथा सफल विद्यार्थी थे। मदरसे के सब सार्वजनिक कामों में वे बड़े उत्साह से भाग लिया करते थे।

हाईस्कूल के दिनों में ही गोपबन्धु का परिचय पुरी के मुख्तार श्री० रामचंद्रदास गुप्त के साथ हो गया था। वे एक पक्के देशभक्त थे और प्रान्त में उनके सौजन्य पूर्ण व्यक्तित्व की उस समय खासी धूम थी। गोपबन्धु के लिए उनका परिचय मित्र-गुरु और पथ-प्रदर्शक का काम देने लगा। इन्हीं से गोपबन्धु ने सफलता एवं दृढ़तापूर्वक सामाजिक कार्यों में भाग लेना सीखा और यह इन्हीं की प्रेरणा का फल था कि पंडित गोप-

लोकमान्य तिलक
(अंतिम दर्शन)
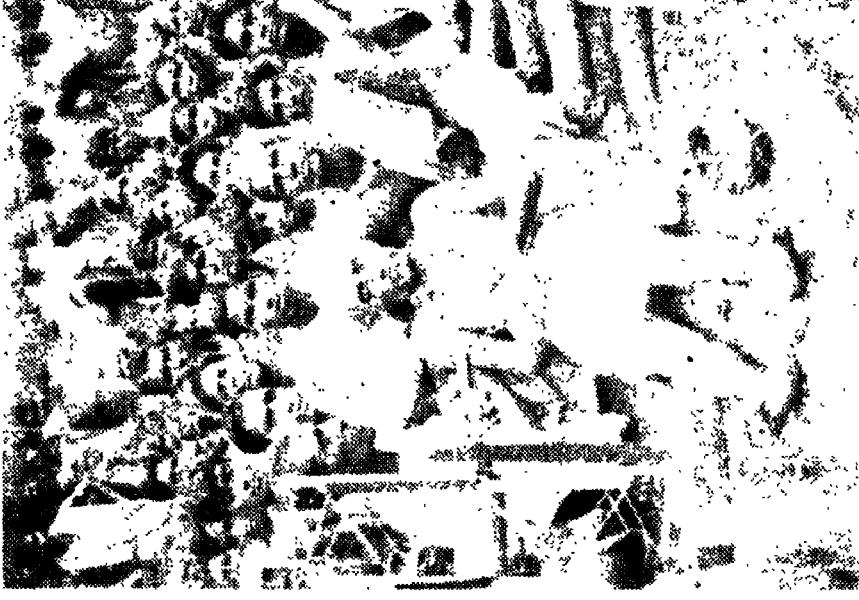
श्री गोपबन्धु दास
(अंतिम दर्शन)

बन्धु ने अपने समस्त जीवन को देश-हित के कार्यों में बड़ी तत्परता के साथ खपा दिया।

रेवेन्शॉ-कॉलेज-कटक से पंडित गोपबन्धु ने बी० ए० परीक्षा पास की। और सन् १९०६ में कलकत्ता से वे बी० एल० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इसी साल उनके श्रद्धाभाजन गुरु श्री रामचंद्र मुख्तार का देहान्त होगया।

सन् १९०२ में गोपबन्धु ने आजन्म समाज सेवा के व्रती कुछ नवयुवकों का एक संघ स्थापित किया था। जिनमें विशेष उल्लेखनीय श्री हरिहरदास, पंडित नीलकण्ठ, श्री गोदावरीश, स्व० कृपासिन्धु और श्री० लिंगराज हैं।

बी० एल० होते ही गोपबंधु ने उड़ीसा के एक छोटे राज्य-नीलगिरि-में अँग्रेजी हाई-स्कूल का संगठन किया। इस हाई-स्कूल की स्थापना के बाद वे वकालत करने लगे। १९०७ के बंगाल-स्वदेशी आन्दोलन में गोपबंधु ने खूब काम किया था। सन्यासी के वेश में, अपने कुछ युवक मित्रों के साथ उन्होंने पुरी जिले के भीतरी भागों में भ्रमण किया और वहाँ की जनता में स्वदेशी-व्रत तथा बन्दे मातरम्-आन्दोलन के विषय में उपदेशों द्वारा, अच्छी जागृति उत्पन्न की।

सन् १९०८ की भयंकर बाढ़ के दिनों में कटक जिले के जयपुर और केन्द्रपाड़ा तालुकों की जनता की सहायता के लिए गोपबन्धु ने युवक-उत्कल-संघ (Young Utkal Association) का संगठन किया और स्वयं सेवकों की सहायता से बाढ़ पीड़ित विभागों में जनता की खूब सेवा की। उनके इस अनवरत कठोर परिश्रम के फल-स्वरूप जनता की दृष्टि में वे पूज्य गिने जाने लगे। लोगों में उनके प्रति आदर और श्रद्धा के भाव बढ़ गये।

दो वर्ष तक अँग्रेजी अदालत में काम करने के बाद सन् १९०९ में गोपबन्धु मयूरभंज के तत्कालीन महाराजा श्री रामचन्द्र भंजदेव की अदालत में सरकारी वकील का काम करने लगे। ३ वर्ष तक आप मयूरभंज रियासत के सरकारी वकील और उसकी राज्य-सभा (State Council) के सदस्य रहे।

सन १९१२ में उन्होंने अपने सत्यवादी 'मुक्त-वायु' (Open air) स्कूल की पहले पहल स्थापना की। बाद में मयूरभंज के महाराजा की अकाल मृत्यु के कारण वे कटक लौट आये तथा ब्रिटिश-भारत की अदालतों में वकालत करने लगे। सत्य-वादी-संस्था को अपनी उपस्थिति से अधिक सहायता पहुँचाने की इच्छा से वे पुरी में आकर रहने लगे। उन दिनों वे वहाँ के एक सफल वकील थे। सन् १९१७ में वे बिहार उड़ीसा की व्यवस्थापक सभा के सदस्य चुने गये। इस सामाजिक उत्तरदायित्व को अच्छी तरह सम्हालने की कर्त्तव्य-बुद्धि ने उनसे अदालत छुड़वाई। अब से आगे सत्यवादी ही उनका घर और आश्रम बना।

२८ वर्ष की उम्र में उन्हें पत्नी वियोग सहना पड़ा। तब से अन्त समय तक वे बराबर विधुर-ब्रह्मचारी बने रहे।

१९१७ की उत्कल-संघ परिषद् के सभापति पद से गोपबन्धु ने एक महत्वपूर्ण भाषण दिया और सरकार तथा जनता के सामने एक ठोस कार्यक्रम रक्खा जिसमें छिन्न-विच्छिन्न उड़ीसा प्रान्त को एक करने की बात मुख्य थी।

उन दिनों की व्यवस्थापिका सभा के आप एक सफल सदस्य थे। खुली हवा में पाठशालाओं को स्थापित करने की पद्धति का आपने प्रान्त में पहली बार प्रचार किया। उड़ीसा तट के नमक-उद्योग को फिर से जिलाने के लिए वे बड़ी बहादुरी तथा योग्यता-पूर्वक सरकार से लड़े।

गोपबाबू अपनी मातृभाषा उड़िया के अच्छे

व्याख्याता थे। उनके भाषण में जनता को मंत्रमुग्ध कर लेने की असाधारण शक्ति थी। उनके प्रेम और स्वातंत्र्य के संदेश वाले भाषण निस्सन्देह बड़े अनूठे और असर करने वाले होते थे।

सत्यवादी उनके जीवन की एक चिरस्मरणीय किंबहुना अमर कृति है। इस संस्था ने गोपबाबू के जीवनकाल में कई सुप्रसिद्ध व्यक्तियों तथा अधिकारियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। बिहार-उड़ीसा के उस समय के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सेर एडवर्ड गेट, सर आशुतोष मुकर्जी, सर देवप्रसाद सर्वाधिकारी, इंग्लैंड के डाक्टर लॅन्कास्टर आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने सत्यवादी का निरीक्षण कर पंडितजी के प्रयत्नों की सराहना की थी।

१९१८ के भीषण पुरी-अकाल में गोपबाबू का गांधीजी से प्रथम परिचिय हुआ था। अकाल पीड़ितों की सहायता के लिए गोपबन्धु ने कौंसिल में भी बड़ी वीरता एवं दृढ़ता के साथ एक आन्दोलन खड़ा किया था। उससे प्रभावित हो कर उस समय के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर एडवर्ड गेट स्वयं इन स्थानों में घूमे और गोपबन्धु से कहा "गोपबन्धु, मुझे खेद है कि वस्तुतः जो काम होना चाहिए वह नहीं हो रहा है।" इतनी सहानुभूति मिलने पर भी गोपबाबू गवर्नमेन्ट से कोई ठोस एवं सक्रिय सहायता न पा सके। उनकी निराशा का ठिकाना नहीं रहा। तब गवर्नमेन्ट की ओर से सत्यवादी को मिलने वाली लगभग २० हजार की सहायता को गोपबाबू ने योंही ठुकरा दिया। वे कहा करते "उन अस्थिपंजर अकालपीड़ित भाइयों की याद आते ही सरकार से सहयोग करने की बात पर मेरा सिर मारे लज्जा से नीचे झुक जाता है।"

सन् १९२० में गांधीजी ने देश में असहयोग आन्दोलन का शंख फूंका। गोपबाबू वर्षों से कांग्रेस-भक्त तो थे ही। महात्माजी का कार्यक्रम उन्हें सोलहों आने जँच गया। अपने सब साथियों और सत्यवादी संस्था के साथ वे इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। कांग्रेस के आदेशानुसार सरकारी विश्व-विद्यालय से सत्यवादी का नाता तोड़ दिया गया। गोपबन्धु ने अपने सहयोगियों की सहायता से सारे उड़ीसा में जगह-जगह स्वराज्याश्रम और महासभा-समितियाँ स्थापित कीं।

उड़ीसा प्रान्त की शिकायतों को जनता तक पहुँचाने और जनता को शिक्षित बनाने की इच्छा से गोपबाबू ने सन् १९१८ में 'समाज' पत्र की स्थापना की। 'समाज' उड़ीसा का एकमात्र प्रभावशाली राष्ट्रीय पत्र रहा है। प्रान्त में इसका प्रचार भी कम नहीं है। गोपबन्धु अन्तिम समय तक इस पत्र का सम्पादन बड़ी योग्यता तथा निर्भीकता-पूर्वक करते रहे। सन् १९२२ की 'कनिका' दुर्घटना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। कनिका के निर्दोष और असहाय किसानों पर विना कारण गोली चलाई गई थी। गोपबाबू ने अपने पत्र में इस दुर्घटना के विस्तृत समाचार छापने शुरू किये। वे पुलिस के इस भीषण हत्याकाण्ड की जाँच पड़ताल करने के लिए कटिबद्ध हो चुके थे। अधिकारियों ने गोपबाबू को बाहर रहने देना ठीक नहीं समझा। वे कई मामलों में क्रिमिनल-लॉ-अमेन्डमेन्ट-एक्ट के अनुसार कानूनन (?) दोषी ठहराये गये। मामला चलने पर जब अधिकारियों को यह पता चला कि इस केस के आगे बढ़ने पर कटक की पुलिस के काले कारनामों का भण्डाफोड़ हो जायगा तो उन्होंने चट इस मामले को जहाँ का तहाँ दबा देना चाहा। किसानों की ओर से बहुत प्रयत्न किया गया कि सरकार उनकी गवाही ले और मामले की जाँच करे पर सब व्यर्थ हुआ। इधर गोपबाबू ने भी अदालत में अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया। नजरबन्दी की हालत

में जब उन्होंने सुना कि सरकार इस हत्याकांड के मामले को दबा देना चाहती है तब वे फूट-फूट कर रोने लगे थे उन्होंने उस समय कहा था—"इन निर्दोष और असहाय लोगों पर जो अत्याचार हो रहे हैं, उसे परमात्मा क्यों इस तरह चुपचाप सहन कर रहा है?" इस मामले में पंडित गोपबन्धु को दो साल की सादी कैद हुई थी। मई १९२४ में मुक्त होने पर जनता ने उनका अपूर्व स्वागत किया।

सन् १९२५ में पण्डितजी को देश-भक्त लाला लाजपतरायजी के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी सहयोगिता में पण्डितजी ने विधवाश्रम और अछूतोद्धार के कार्य को हाथ में लिया। फरवरी १९२६ में वे लालाजी की जन-सेवक समिति के सदस्य बने। सन् १९२५ में पुरी और कटक के जिलों की एक और बाढ़ में उन्होंने लोगों की बड़ी सहायता की। गोप बाबू का चर्खा और खादी आंदोलन में अटूट विश्वास था। उड़ीसा की निर्धन और अकाल पीड़ित जनता के आर्थिक संकट को दूर करने के लिए तो वे चर्खे को रामबाण समझते थे।

सन् १९२७ की वैतरणी बाढ़ बड़ी ही भयंकर थी। उसने सारी जनता को हर तरह निर्धन और असहाय कर दिया था। गोप बाबू उसी समय पीड़ित भाइयों की मदद के लिए पहुँचे। उनकी सहायता के काम को भलीभाँति संगठित किया—जो आज भी बराबर चल रहा है।

पंडित गोपबन्धुदास अपने ढँग के एक अद्वितीय, शान्त और अनभिमानी कार्यकर्त्ता थे। नाम और यश की चाह से वे कोसों दूर भागते थे। देहान्त के पहले का उनका कोई 'फोटो' ही नहीं मिलता। पवित्र निष्काम सेवा ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। वेश, भूषा, और रहन-सहन में वे एकदम राष्ट्रीय थे। अछूतों के लिए उनके कोमल करुण अन्तस्तल में अगाध प्रेम था। अपने गरीब भाइयों और अछूतों के विषय में बात-चीत करते करते वे रो पड़ते थे। वे एक ऊँचे दर्जे के विचारक, कवि और सुशिक्षित साहित्य-रसिक भी थे। 'समाज' के सम्पादन के साथ-साथ वे 'सत्यवादी' मासिक का भी सम्पादन करते रहते थे। 'उड़िया' भाषा के तो वे एक निर्माणकर्त्ता ही थे। उनकी लेखन-शैली सादी, सरस, विचार पूर्ण, ओजस्वी और उदात्त होती थी। उनके उड़िया-काव्य ग्रन्थ उड़िया-साहित्य के भूषण हैं।

गत मार्च १९२८ ई० में वे जनसेवक समिति के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने लाहोर गये। इस बार वे समिति के उपसभापति चुने गये। वहाँ से लौटने पर पंडितजी को विषमज्वर ने आ घेरा। आश्रम में कई दिनों तक रुग्ण रहने के पश्चात् वे स्वस्थ हुए थे। डाक्टरों ने उन्हें पूर्ण विश्राम लेने की सलाह दी थी। परन्तु उनको उनके असंख्य कर्त्तव्यों के उत्तरदायित्व से हलका कौन करता? बाढ़-पीड़ितों की सहायता, चरखे का संगठन, 'समाज' का संपादन, और बड़े भाई श्री० नारायणदासजी की अकाल मृत्यु के कारण उनके कुटुम्ब का भरण पोषण, आदि कार्यों के अकेले आधार तो हमारे चरित-नायक गोप बाबू ही थे।

इधर ये चिंतायें उन पर सवार थीं हीं इतने में कलकत्ते के उड़िया मजदूरों की करुण पुकार आ पहुँची। उन्होंने लिखा—"आपके अभाव में हमारा श्रमिक-संघटन कमजोर हो रहा है। आज तक आप हमारे रक्षक और पथ-प्रदर्शक थे। क्या अब इस कष्ट और संताप के समय यहाँ आकर हमारी सहायता न करेंगे?" दीनबन्धु गोप बाबू इस करुण प्रार्थना को कैसे टाल सकते थे? वे ठीक समय पर, भागे हुए, कलकत्ता पहुँचे। मजदूर भाइयों के घर 'उनकी गंदगी में' रहे। उन्हें धीरज और उपदेश दिया।

उनके काम को संगठित करा के वापस लौटे। विषम-ज्वर ने फिर पलटा खाया। कुल तीन-चार दिन ही गोपबन्धु पीड़ित रहे। परन्तु इन अन्तिम दिनों में भी उन्होंने 'समाज' का संपादन नहीं छोड़ा। इन दिनों वे बहुत अशक्त हो रहे थे। दिन-दिन सारी शक्तियाँ साथ छोड़ने लगीं। डाक्टरों ने कहा—"गोप बाबू हाथ से जा रहे हैं।" १३ जून को उन्होंने अपने डाक्टर से कहा "डाक्टर बाबू मुझे अपनी बीमारी के दिनों में कभी रुलाई नहीं आती। पर आज मुझे एक पद याद आ रहा है—"हा, विशाल संसार सागर में, इस टूटी नैया को मैं कब तक खेता रहूँगा भगवन्?' इस पद के याद आते ही मेरी आंखों में आँसू आगये। डाक्टर बाबू आप ठीक कहते हैं—मैं अशक्त हो रहा हूँ।" १६ जून की रात को १ बजे जोरों से साँस चलने लगा। सिविल सर्जन ने परीक्षा करके कहा—"रोगी बराबर कमजोर हो रहा है। फिर भी वह इतना प्रसन्न और शांत है, यही आश्चर्य है। निस्सन्देह इनका मस्तिष्क असाधारण शक्तिशाली है।" ११ बजे दिन को उनकी नाड़ी छूटने लगी। ऐसे समय उन्होंने अपने सब सहयोगियों को बुलाया। और बोल-बोलकर अंग्रेजी में पूरी वसीयत लिखाई। धार्मिक कामों के लिए उन्होंने अपनी कौटुम्बिक संपत्ति की व्यवस्था करदी। कुटुम्ब के आश्रितों के लिए सुन्दर प्रबन्ध किया। पत्र और छापाखाना की संपत्ति को जन-सेवक-समिति के हाथ सौंपा, जिससे वह उड़ीसा के सामाजिक, राजनैतिक और शैक्षणिक उत्थान में अच्छी तरह काम कर सके। अपनी परमप्रिय संस्था सत्यवादी का प्रबन्ध भी उन्होंने इसी समिति के हाथों सौंपा और अपनी निजी संपत्ति का दो-तिहाई हिस्सा सत्यवादी की भावी व्यवस्था के लिए सुरक्षित रखवा गये। कार्यकर्ताओं की नियुक्ति की। और अन्त में अपने मित्रों और सहयोगियों से उत्साह पूर्वक काम करते रहने की प्रार्थना करते हुए वे स्वयं ईश्वर स्मरण में तल्लीन हो गये। प्रार्थना करते-करते ही १७ जून की सायंकाल के ७ बज कर २५ मिनिट पर दीनबन्धु पंडित गोपबन्धुदास अपनी दो पुत्रियों, सारे उड़ीसा प्रान्त और दुःखिनी भारत माता को रोती छोड़कर सदा के लिए इस लोक से विदा होगये।

महात्माजी ने इस दुःख-संवाद को सुन कर कहा "उड़ीसा का एक श्रेष्ठतम उदार सुपुत्र चल बसा।" लालाजी ने दीर्घनिश्वास छोड़ कर कहा "ऐसे नररत्न सुपुत्र को खो कर भारत-माता अधिक निर्धन हो गई है। जन-सेवक-समिति एक ऐसे श्रेष्ठ नेता को खो चुकी है जिसके सद्गुणों की क़दर करना उसने अभी प्रारम्भ ही किया था।" महात्माजी के शब्दों को दोहरा कर हम कह सकते हैं "यद्यपि गोपबाबू सशरीर हम लोगों में आज विद्यमान नहीं हैं; तथापि उनकी आत्मा हम में सर्वत्र व्याप्त है। गोपबाबू की धन्य-मृत्यु, उड़ीसा और देश के कार्यकर्ताओं की मार्गदर्शिका हो।"

हम भी परमेश्वर से पण्डित गोपबन्धुदास की स्वर्गीय आत्मा के लिए चिरन्तन शान्ति की एकस्वर से प्रार्थना करते हुए यही उत्कट इच्छा रखते हैं कि देश के कल्याण के लिए महात्माजी के ये उद्गार शीघ्र ही सफल हों।

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

तभी

देश-जाति पर, निज पूर्वज पर जब कि गर्व करना सीखें।
अपने स्वत्व-निमित्त अभय हो जब सहर्ष मरना सीखें॥
लगें समझने जभी मृत्यु-सम, पारतन्त्र्य को दुखदायी।
दीन-हीन हालत पर जब हो उठें क्षुब्ध अतिशय भाई॥
भारत-माँ के अतुल कष्ट का अनुभव जभी करेंगे हम।
करने के उद्धार तभी निज हो कटिबद्ध डटेंगे हम॥

राजाराम 'पुनीत'

आधी दुनिया

"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी॥"

कर्मवीर कर्वे का संदेश

राजस्थानी बहनों के प्रति

राष्ट्रोन्नति के कामों में स्त्रियों की मदद की बहुत जरूरत है, इसलिए सुशिक्षित स्त्रियों को चाहिए कि स्त्रियों में विद्याप्रचार करने के काम में अपनी शक्ति अधिक से अधिक खर्च करें। राजस्थान तथा इतर हिन्दी-भाषी बहनों को, विनती के रूप में, यही मेरा सन्देश है।

धोंडो केशव कर्वे

अधर्म कैसे मिटे?

(१)

देवदासी की प्रथा के द्वारा किस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म हो रहा है, यह अब ऐसी बात नहीं कि जिसे कोई जानता न हो। श्रीमती मुथुलक्ष्मी रेड्डी के लेखानुसार, "स्त्री शिक्षा के अभाव के कारण हिन्दू समाज ऐसे अनर्थों को जड़-मूल से दूर करने के लिए तैयार नहीं होता, यह शोचनीय है। स्त्रियों के एक बड़े भाग की ऐसी पतितावस्था से हिन्दुओं की नैतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति अधम होती जाती है। अनेक सुखी घर, इसके कारण, दुःखी बन रहे हैं। लोगों का मन लुभाने के लिए ही इन जवान औरतों का निर्माण हुआ हो, ऐसा जान पड़ता है; और, इससे, समाज की गन्दगी बढ़ती जाती है।"

देवदासियों के रूप में स्त्रियों को तो इसके कारण तरह-तरह के कष्ट और सन्ताप एवं असुविधाओं का सामना करना

ही पड़ता है, पर पुरुषों का भी इससे बड़ा नुक़सान हो रहा है। स्त्रियों के लिए जहाँ यह कलङ्क है, वहाँ पुरुष भी इस कलङ्क के दोष से बरी नहीं। इसका फल भी स्त्री-पुरुष दोनों ही को समान रूप से भोगना पड़ता है। नैतिक पतन ही नहीं, इसके कारण होने वाला स्त्री-पुरुषों का शारीरिक ह्रास भी कुछ कम नहीं है।

व्यभिचार और व्यसन का कोई धर्म समर्थन नहीं करता। धर्म ही क्यों, आधुनिक विज्ञान भी इसे हानिकारक ही सिद्ध करता है। विषय-भोग की ज़्यादती, लगातार अ-संयम का परिणाम तो किसी भी व्यक्ति, कुटुम्ब या भावी पीढ़ी के लिए स्वास्थ्य और बल रूपी आनन्द का नाश ही हो सकता है। स्त्रियों में जहाँ इससे ५० से ७५ सैकड़ा तक गर्भस्राव, गर्भ का इधर-उधर हो जाना, बाँझपन आदि अनेक 'स्त्री-रोग' हो जाते हैं, वहाँ पुरुषों में लकवा, तिल्ली, जिगर, गुर्दे आदि के भयङ्कर रोग होते हैं, और समाज में लूले, लंगड़े, काने, बहरे, अन्धे, अपाहज बालकों की उत्पत्ति में भी ५० सैकड़ा कारण यही होता है। फिर देवदासियाँ किसी एकही जाति की नहीं होतीं, हिन्दुओं की भिन्न-भिन्न जातियों से वे भर्ती की जाती हैं। यही नहीं, उनका संख्या-बल क़ायम रखने के लिए यह भी प्रथा पड़ी हुई है कि जब कोई दासी निकम्मी-बाँझ हो जाय, जैसा कि उसके पेशे को देखते हुए बिलकुल स्वाभाविक और अनिवार्य है, तब वह किसी दूसरी कन्या को मोल लेकर अपनी स्थानापन्न और वारिस बना दे। इसीलिए श्रीमती रेड्डी का कहना है—

" हिन्दू जनता का ध्यान मैं इस बात पर आकर्षित करना चाहती हूँ कि यद्यपि यह प्रथा दक्षिणभारतीय हिन्दुओं के कुछ फ़िरक़ों ही में प्रचलित है, तथापि समस्त हिन्दू-समाज के सदाचार, स्वास्थ्य और सुख पर इसका असर हो रहा है; और इसलिए जातिगत रूप को छोड़ कर यह एक राष्ट्रीय महत्व और विचार का विषय बन जाती है।"

इसीलिए जो सच्चे सुधारक हैं, वे इसे दूर करने में प्रयत्नशील हैं। आज कोई भी समझदार व्यक्ति ऐसा नहीं, जो इस प्रथा का समर्थन करता हो। इसके मूल को चाहे कुछ लोग बुरा न समझते हों, पर वर्तमान स्वरूप का तो— सनातनी या आधुनिक—कोई पक्ष ले ही नहीं सकता। यहाँ तक कि महाकट्टर पूज्य मालवीयजी महाराज भी आज से १६ वर्ष पूर्व ही, सन् १९१२ में, यह कह चुके हैं—

" अल्पवयस्क बालिकाओं को ऐसी जगह अर्पण करना कि जहाँ मजबूरन उन्हें पाप और लज्जापूर्ण जीवन बिताना ही पड़े, ऐसा अधर्म और पाप है कि, मुझे आशा है, देश का कोई भी व्यक्ति उसके समर्थन में एक भी प्रमाण नहीं दे सकता।"

परन्तु, इसे दूर करने के लिए हमने किया क्या?

(२)

लाला लाजपतराय अपनी पुस्तक में लिखते हैं— "इस दूषित प्रथा को उठाने के लिए सुधारकों का काम जारी है। और, विश्वास-पूर्वक यह आशा की जा सकती है कि, यदि सरकार पक्षपात से काम न ले तो मद्रास-कौंसिल के सदस्य इसे अधिक दिनों तक न रहने देंगे।" और मद्रास-कौंसिल की उत्साही उद्योगी महिला-सदस्य एवं उपप्रधाना श्रीमती म्युथ्युलक्ष्मी रेड्डी ने बताया है कि आज ही नहीं बल्कि बहुत पहले से, सन् १८६८ से, इसके लिए क़ानून बनवाने का आन्दोलन किया जा रहा है। १९०६-०७ में भारत-सरकार को व्यभिचार के लिए उड़ाई या भगाई जाने वाली लड़कियों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करना पड़ा था। नागपुर के डा० हरिसिंह गौड़ ने, जो स्त्रियों के हितों-स्वार्थों के लिए अदम्य उत्साह के साथ अनवरत प्रयत्न करते रहते हैं, इस अवसर पर देवदासियों की ओर सरकार का ध्यान आकर्षित किया था; और उसने इस सम्बन्ध में मद्रास-सरकार को लिखा भी था। इसके बाद, १९१२ में, सर मानकजी दादाभाई, मुधोलकर और मडगे ने क्रमशः तीन बिल इस सम्बन्ध में पेश किये। इसे उठाने के पक्ष में मत भी बहुत से मिल गये थे; परन्तु यह कह कर कि बचाई जाने वाली लड़कियों को आश्रय देने वाले हिन्दू-गृह कहाँ हैं, सरकार ने चुपचाप इसे छोड़ दिया! मद्रास-सरकार ने भी, कहा जाता है, भारत-सरकार को कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। जो हो, बिल खटाई में पड़ ही गया। हाँ, १९२२ में असेम्बली में डा० गौड़ ने इसके लिए फिर से प्रयत्न किया। बड़े प्रमाणों और अँकों से युक्त भाषण उन्होंने अपने बिल के

समर्थन में दिया; परन्तु परिणाम तब भी न निकला ! सरकार की ओर से, तत्कालीन क़ानून-सदस्य डा० सप्रू के द्वारा, कहा गया कि ऐसे प्रस्ताव को अमली रूप देने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बचाई जाने वाली स्त्रियों के लिए आश्रय को घर कहाँ मिलेंगे ? परन्तु श्रीमती रेड्डी का कुछ-न-कुछ प्रयत्न इसके बाद भी जारी रहा है और मद्रास-कौंसिल में देवोत्तर सम्पत्ति-विधान (Religious Endowment Act) पेश होने के समय भी उन्होंने उसमें देवदासियों के हित की कुछ बातें समाविष्ट कराने का—लेखों और वक्तृताओं द्वारा—बड़ा प्रयत्न किया था। यही नहीं, दूसरे सुधारेच्छु भी इसके लिए, अपने-अपने ढँग पर, कुछ-न-कुछ प्रयत्न कर ही रहे हैं, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें किसका प्रयत्न ठीक दिशा में है और किसका ठीक दिशा में नहीं है । अस्तु ।

(३)

इसमें शक नहीं कि क़ानून बन जाय तो, वर्त्तमान स्थिति में, इसे उठाने का वह सबसे अधिक बाअसर प्रयत्न होगा । परन्तु सामाजिक मामलों में बात-बात पर क़ानूनी बन्धनों की ही नीति के हम क़ायल नहीं हैं । फिर बालिकाओं के सहवास, समर्पण आदि की आयु निश्चित कर देने मात्र से कोई विशेष लाभ भी हमें होता दिखाई नहीं देता । सच्चा लाभ तो तभी हो सकता है, इस प्रथा का उन्मूलन तो तभी सम्भव है, जबकि उन मन्दिरों का ही सुधार किया जाय —उन मन्दिरों का कि जो कहने के लिए धर्म-स्थान होते हुए भी ऐसे कर्मों को सह ही नहीं रहे बल्कि इन्हें उत्तेजन देकर, सच पूछो तो, इसीका उन्होंने अपनेको अड्डा ही बना रक्खा है ! इन्हीं सब बातों की दृष्टि से तो अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के समय महात्माजी ने लिखा था कि वहाँ के कुछ मन्दिरों में तो देवता के बदले वास्तव में शैतान का निवास है ! हमें मालूम है कि महात्माजी के इस कथन पर कई बड़े-बड़े सुशिक्षित भी दहल उठे थे; परन्तु इसके साथ ही हम यह भी जानते हैं कि एक विद्वान् महोदय ने असेम्बली में, सहवास-बिल का विरोध करते हुए, यह दलील भी पेश की थी कि इससे (सहवास-बिल से) मन्दिर की वेश्याओं (देवदासियों) को नुक़सान पहुँचेगा (क्योंकि जाति के हिन्दू उनसे विवाह नहीं करते) ! अतएव, जहाँ तक हम समझते हैं, महात्माजी का कथन ज़रा भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं हो सकता—क्योंकि चाहे हो । इसलिए देवदासी-प्रथा के क़ानूनी निषेध के साथ-साथ मन्दिरों के सुधार के लिए भी हमें कटिबद्ध होना चाहिए ।

शिक्षा का अभाव भी इस कुप्रथा को बरक़रार रखने का एक ज़बर्दस्त कारण है, और उसकी उपेक्षा अवाञ्छनीय है । सुशिक्षा-प्राप्त स्त्री-पुरुष ऐसा हेय कर्म करेंगे, इसमें सन्देह है । फिर सुशिक्षा पाकर देवदासियाँ अपने आप भी अपने इस कृत्य से न लज्जित होंगी ? हमें स्मरण रखना चाहिए, देवदासियाँ वेश्या नहीं हैं—परिस्थितियों ने उन्हें वेश्या का कर्म करने पर मजबूर कर रक्खा है, नहीं तो वेश्याओं की अपनी जाति या श्रेणी तो उनसे बिलकुल भिन्न और पृथक् है । विवाहित जीवन व्यतीत करने का उन्हें मौक़ा और सुविधा मिले तो कौन कह सकता है कि उनमें से अधिकांश बड़ी ख़ुशी और सन्तोष के साथ उसी तरह उसे न बितायेंगी, जैसे कि भले घरों की गृहस्थनें बिताती हैं ? सुना तो यहाँ तक जाता है कि आज की अवनत दशा में भी इनमें से किसी को यदि कोई विश्वस्त, भला और सच्चा प्रेमी मिल जाता है तो वह अपना सतीत्व सिवा उसके और सब से अक्षुण्ण रखती है—अपनेको एकमात्र उसीकी दासी, सहचरी या पत्नी मान कर सन्तुष्ट रहती है । अतएव शिक्षा—सुज्ञान—का इनमें प्रवेश और प्रचार इस प्रथा को उठाने के लिए आवश्यक है ।

सरकार की ओर से समय-समय यह जो कहा जाता है कि बचाई हुई देवदासियों को आश्रय कौन देगा, इसमें कोई तथ्य नहीं—यह कोरी बहानेबाज़ी और टालमटूल का ढंग है। मद्रास में ऐसे बहुतेरे 'घर' हैं, जो अनाथ, अपाहज, भूले-भटके, यहाँ तक कि वेश्याओं से बचाई हुई बालिकाओं तक को आश्रय देते हैं; क्या वे इन्हें भी आश्रय न देंगे ?

एक बात और—और, यही सबसे महत्वपूर्ण है। श्रीमती रेड्डी का कहना है कि जो ज़मीन उन्हें मन्दिर की तरफ़ से मिली हुई है वह उनके लिए स्थायी करके उन्हें मन्दिर की सेवा से मुक्त कर दिया जाय । आज की स्थिति तो यह है कि प्रत्येक देवदासी को, मन्दिर की सेवा के लिए,

कुछ ज़मीन मिली हुई है। यह ज़मीन उसकी वंशपरम्परा गत है। जब तक वह बाँझ-निकम्मी नहीं होती तब तक तो वह, उसके बदले, मन्दिर की सेवा करती ही रहती है; परंतु इसके बाद इस ज़मीन को अपने ही निमित्त रखने के लिए किसी ग़रीब-सुन्दर बालिका को मोल लेकर, अपने बदले, अपने उत्ताधिकारी के रूप में, उसे देवार्पण करके देवदासी बनाना पड़ता है। यह ठीक है कि इसमें अज्ञानजन्य यह भ्रान्त धारणा भी होती है कि जिसने इस प्रथा को जारी न रक्खा उसपर परमात्मा का कहर पड़ेगा; परन्तु मुख्य कारण तो ग़रीबी—गुज़ारे का साधन ज़मीन छिनने का भय ही प्रतीत होता है। और इसका सर्वोत्तम उपाय वही है, जो कि ऊपर बताया गया, कि मन्दिर के दासीपन से मुक्त करके उसके लिए उन्हें जो ज़मीन मिली हुई है उसे उन्हींकी सम्पत्ति बना दिया जाय—बिना किसी मुआवज़े के भाव के। ऐसा करने से उनमें से अधिकांश इस स्थिति को ज़रूर ही बदल डालेंगी, यह निश्चयसा है। मैसोर आदि कुछ रियासतों में ऐसा हुआ भी है। भारत-सरकार इस विषय में उनसे सबक़ ले सकती है, यदि वह वस्तुतः इसे दूर करने के लिए तैयार हो।

सारांश यह है कि इस अधर्म या कुप्रथा को यदि हम सचमुच उठाना चाहते हैं, तो हमें सर्व-साधारण ख़ास कर इसमें ग्रस्त देवदासी बहनों में इसके विरुद्ध ऐसी तीव्र भावना और प्रवृत्ति बद्धमूल करनी पड़ेगी कि जिससे अपनी वर्तमान शर्मनाक और दयनीय स्थिति में फिर वे क्षण भर के लिए भी न रह सकें। इसके लिए दो बातें होनी चाहिएँ- इसके विरुद्ध वातावरण पैदा करने के लिए प्रचार और शिक्षा-प्रसार किया जाय, और ऊपर लिखे अनुसार आर्थिक दृष्टि से उन्हें निश्चिन्त कर दिया जाय। मन्दिरों का सुधार अत्याव-श्यक है। ऐसे मन्दिरों के प्रति तो सर्व-साधारण में ऐसे भाव बद्धमूल होने चाहिएँ कि जिससे उनमें जाते हुए वे वैसे ही शर्मायें, जैसे कि वेश्यालयों में जाते हुए शर्माते हैं। जब तक ऐसा न होगा, कम या अधिक मात्रा में, यह भयङ्करता और अधमता जारी ही रहेगी। क्योंकि प्रत्यक्ष अधर्म या बुरे काम को करते हुए, तो उसे पाप समझ कर, आदमी कुछ सङ्कोच अवश्य करता है; परन्तु धर्म के आव-रण में छिपे अधर्म को तो वह सर्व-साधारण की आँखों में धूल झोंकते हुए स्वच्छन्दता-पूर्वक ही भोगता रहता है? अतएव, हमारी नम्र-सम्मति में, इसके लिए तीन उपाय अत्यावश्यक हैं—

१. सबसे पहले स्त्रियों ख़ास कर देवदासियों में सुशिक्षा और प्रचार के द्वारा इस तथा ऐसी ही अन्य बातों के विरुद्ध तीव्र भावना और प्रवृत्ति बद्धमूल की जाय।

२. देवदासियों की वर्तमान मिलकियत—ज़मीन—को, मठाधिकारियों के स्वेच्छया अथवा क़ानूनन, अभी जिस-जिस के पास हो उसीकी स्थायी बना दिया जाय। मन्दिर-सेवा का बन्धन उठाकर देवदासियों को मुक्त कर दिया जाय।

३. मन्दिरों को सुधारा जाय। पाप प्रसारक ऐसी सब बातें नष्ट करके संयम और पवित्रता-पूर्ण आध्यात्मिकता का वातावरण मन्दिरों में उत्पन्न किया जाय।

ऐसा होने पर, हमें आशा है, यह कुप्रथा क्रमशः घटती हुई कालान्तर में बिल्कुल नेस्तनाबूद हो जायगी और सब संसार भी हमारा मखौल न कर सकेगा। रहा यह कि ऐसा करे कौन? सरकार बीच में पड़ कर क़ानून द्वारा ऐसा करे, यही अधिकांश का मत है। वर्तमान स्थिति में सबसे आसान और बाअसर अतएव सर्वोत्तम उपाय है भी यही। यदि सरकार ईमानदारी से काम ले, धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने के थोथे बहाने का अवलम्ब न ले, और सती-प्रथा की भांति इसके लिए भी प्रतिबन्धक क़ानून बना दे, तो मैसोर की भांति वह भी इस दिशा में अच्छा काम कर सकती है। पर यदि ऐसा करने में वह हीला-हवाला, ढील-ढाल करे, जैसा कि वह अभी तक करती आ रही है, तो इसकी ज़िम्मेवारी लोक प्रतिनिधियों एवं सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं पर और भी अधिक आ पड़ती है। उनका फ़र्ज़ है कि अपने ही बूते पर वे इसके लिए उठ खड़े हों और इतनी लगन, तत्परता एवं सतर्कता से इसके लिए काम करें कि विजय-श्री उनके सामने आ खड़ी होने के लिए बाध्य हो। यह उपाय सर्वोत्तम ही नहीं, रामबाण और चिरस्थायी भी होगा।

मुकुटबिहारी वर्मा

स्त्री-हितैषी कर्वे

महाराष्ट्र का पूना शहर स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के कारण काफ़ी मशहूर हो चुका है। इसी पूना शहर में ५ मील के फ़ासले पर 'हिंगणें बुद्रुक' नाम का एक छोटा गाँव है। इस गाँव की हद पर पहले एक छोटीसी झोंपड़ी थी। इसी झोंपड़ी में पहले-पहल, सन १९०० ई० में, कर्वे साहब ने २-३ विधवाओं को शिक्षा देना शुरू किया। रहने को झोंपड़ी, रुपया पैसा बिलकुल नहीं, मददगार भी कोई नहीं और लोकमत विरुद्ध। ऐसी विचित्र परिस्थिति में कर्वे साहब ने जिस (स्त्री-शिक्षा के) कार्य को शुरू किया, वह आज इतना बढ़ गया है कि पहले की झोंपड़ी के पास अनेक बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो गई हैं (यद्यपि कुतूहल के लिए उस झोंपड़ी को भी अभी तक सुरक्षित रक्खा है), १५० लड़कियाँ यहाँ रहकर शिक्षा प्राप्त करती हैं, कोष एक लाख तक पहुँच गया है, १५ आजन्म सेवक-सेविकायें इस काम के लिए हो गये हैं, २५-३० वेतनभोगी नौकर और शिक्षक हैं, लगभग १२-१३ एकड़ जमीन में शाक-भाजी के बाग़ हैं, बालिकाओं के खेलने को क्रीड़ांगन हैं और शिक्षक-शिक्षिकाओं के लिए सिलसिलेवार मकान बने हुए हैं। हिंगणें से ३ मील एरंडवन गाँव में २५-३० एकड़ जमीन पर डेढ़ लाख रुपये की लागत से कालेज की एक भव्य इमारत बनी है और कालेज की छात्राओं के रहने के लिए ४० हज़ार रुपये की लागत का विशाल छात्रावास है। यहीं भारतवर्षीय महिलाविद्यापीठ का दफ़्तर है। इस विद्यापीठ का स्थायी कोष १४-१५ लाख का है और चंदे आदि से लगभग पच्चीस हज़ार रुपये की वार्षिक

अध्यापक धोंडो केशव कर्वे

हिंगणे की झोंपड़ी

आय होती है। विद्यापीठ की ओर से पूना शहर में ६० हजार की भव्य इमारत के अन्दर लड़कियों के लिए अंग्रेजी हाइस्कूल जारी है और दूसरे कई शहरों में भी ऐसी ही कन्याशालायें खोलकर उन्हें हर तरह की सहायता दी जाती है। और यह सब हुआ है अकेले अध्यापक कर्वे के तपोबल से। सन १९०० की झोंपड़ी के दृश्य के बाद वहीं १९२४ का कॉलेज दृष्टिगोचर होता है। इससे यह पता चल जाता है कि अध्यापक कर्वे के कार्य में कहाँ से कहाँ तक प्रगति हुई है। पर यह सब तो स्थूल दृष्टि से हुआ, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो स्त्रियों की मानसिक प्रवृत्ति एवं उनकी समस्त मनोरचना में अध्यापक कर्वे ने एक तरह से क्रांति ही कर दी है। जिन्होंने ऐसी क्रांति कर दी वह अध्यापक कर्वे कौन और कहाँ के हैं ?

१८ अप्रैल १८५८ ई० को मुरुड़ के निकटवर्त्ती शेरवली नामक गाँव में अध्यापक धोंडो केशव कर्वे का जन्म हुआ था। इनकी शिक्षा मुरुड़ में हुई। इनका कुटुम्ब बड़ा खानदानी था। जिस समय इनका जन्म हुआ, उस समय उसपर दारिद्र्य का प्रकोप था। मगर इनके मा-बाप स्वाभिमानी और उद्योगी थे; इस लिए बाल्यावस्था से ही स्वातन्त्र्य, स्वाभिमान और उद्योगशीलता इनमें घर कर गई। परीक्षा पास करने के लिए जिस बुद्धि की जरूरत होती है वह इनमें मौजूद थी, पर ग़रीबी के कारण इन्हें अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। उन सब बातों का जिक्र करने की जरूरत नहीं, सिर्फ यही ध्यान रखना चाहिए कि और कोई मामूली आदमी ऐसी परिस्थिति में होता तो वह मैट्रिक की परीक्षा भी पास न कर सकता—क़लमघिसाई करके कहीं बैठ रहा होता। परन्तु कर्वे साधारण पुरुष न थे, उन्होंने इसके लिए हर तरह का उद्योग किया और स्वयं पढ़ते हुए भी दूसरों को पढ़ाकर (ट्यूशन करके) अपनी कालेज की पढ़ाई पूरी की। यह एक इसी बात से मालूम हो सकता है कि इनकी लगन कितनी जबर्दस्त है। किसी-किसी महीने तो उन्हें अपनी कालेज की पढ़ाई के साथ-साथ सात-सात आठ-आठ ट्यूशन भी करने पड़ते थे !

कालेज की पढ़ाई पूरी हो जाने पर, अर्थात बी० ए० पास करके, बम्बई के एक हाईस्कूल में वह शिक्षक नियुक्त हुए। कुछ समय बाद स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले से उनका परिचय हुआ। वह इनके गुणों पर मुग्ध हो गये और फ़र्ग्यूसन कालेज में गणित का अध्यापक मुक़र्रिर कर इन्हें पूना बुला लिया। वहाँ, एक-दो वर्ष में ही, वह उनकी 'डेकन एजू-

सर विट्ठलदास ठाकरसी

आकर्षित हुआ और इसके लिए उन्होंने 'मुरुड़-फंड' की स्थापना की। इसके द्वारा धन-संग्रह करके वह उसका उचित उपयोग करना चाहते थे। अब तो इससे भी बड़े-बड़े फराडों से उनका काम पड़ता है और उससे कहीं महत्व के कामों की ओर अब उनका लक्ष्य रहता है; पर सार्वजनिक कामों का उनका पहला अनुभव यही था। इसके बाद सार्वजनिक दृष्टि से उन्होंने जो महत्व का काम किया वह है उनका विधवा-विवाह। सन् १८९१ में उनकी पहली पत्नी का देहांत हुआ। तब उनके सगे-संबन्धी दूसरा विवाह करने के लिए उनसे आग्रह करने लगे। इस पर उन्होंने कहा—"मैं विवाह करूँगा तो विधवा से करूँगा। अब मैं ३३-३४ वर्ष का हो गया हूँ, ऐसी हालत में किसी कुमारी से अपना विवाह करना मुझे पाप मालूम होता है। अलावा इसके मैं विधवा-विवाह की प्रथा भी क़ायम करना चाहता हूँ। इसलिए हो सके तो विधवा से विवाह करूँ, नहीं तो विधुर ही बना रहूँ, यह मेरा संकल्प है।" १८९३ में इनके पुनर्विवाह का निश्चय हुआ और वह हो भी गया; परंतु उसके कारण बहुत से सगे-संबन्धियों के दिल को चोट पहुँची। हिचकिचाहट तो कर्वे के माँ-बाप को भी हुई; परन्तु कर्वे अपने सिद्धांत का पक्का है, यह

केशन सोसायटी' के आजन्म सदस्य भी हो गये।

कालेज का काम सम्हालते हुए यह थोड़ा बहुत सार्वजनिक काम भी करते रहते थे। इस समय अपने गाँव (अर्थात् मुरुड़) के सर्वाङ्गीण सुधार की ओर उनका ध्यान
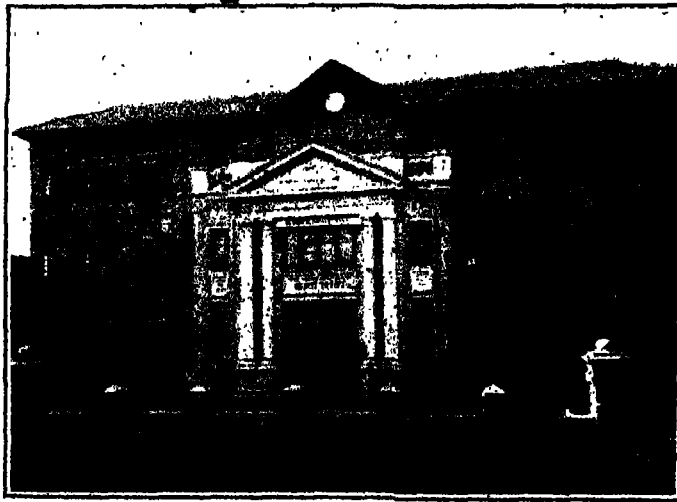
पूना की श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी कन्या-शाला
(विट्ठल राघोबा लाण्डे की इमारत)
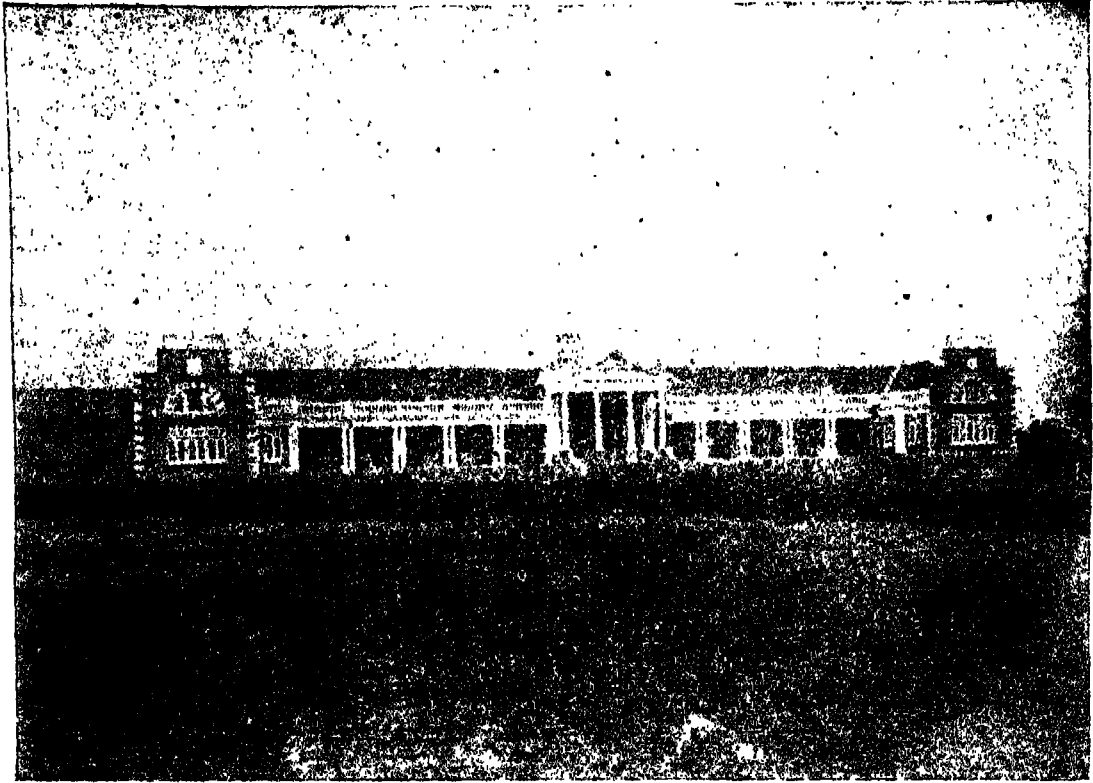
श्री० ना० दा० ठा० महिला-महाविद्यालय पूना

वह जानते थे, और इसलिए उन्होंने उसका विरोध नहीं किया। समाज के बन्धन आज की अपेक्षा उस समय कठोर थे; इसलिए अपने पुत्र के पास आने-जाने और खाने-पीने में उन्हें समाज से चोरी करनी पड़ती थी; लेकिन इसका कोई उपाय न था। कर्वे से पहले पूना में एक भी विधवा-विवाह नहीं हुआ था। १८७४ में एक विधवा-विवाह हुआ बताते हैं सही, पर वह बात ग़लत है। पूना का पहला विधवा-विवाह तो वही है, जो १८९३ ई० में आनन्दीबाई कर्वे के साथ अध्यापक कर्वे का हुआ। अस्तु।

विवाह के बाद शीघ्र ही उन्होंने 'विधवा पुनर्विवाहोत्तेजक मण्डली' नाम की एक संस्था कायम की और उत्साह के साथ उसका काम करने लगे। पर इसके काम से उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि विधवा-विवाह को उत्तेजन देने के बजाय संस्था का ध्येय यह रक्खा जाय कि जिस किसी विधवा के मनमें पुनर्विवाह करने की इच्छा हो उसके मार्ग की रुकावट हटायी जाय, तो अच्छा होगा। ऐसा मर्यादित ध्येय रखने से जन-समाज में फैली हुई ग़लतफ़हमी कम होगी। यह सोच कर उन्होंने उसका नाम 'विधवा-विवाहोत्तेजक मण्डल' के बजाय 'विधवा-विवाह-प्रतिबन्ध-निवारक मण्डल' कर दिया। यह लम्बा ज़रूर था पर ग़लतफ़हमी की गुंजाइश इसमें न थी। धीरे-धीरे उन्हें

ऐसा अनुभव हुआ कि जब तक विधवाओं को शिक्षा न दी जायगी तब तक यह आपत्ति मिटना संभव नहीं है। अतः उन्होंने इस तरफ़ अपना ध्यान लगाया और १८९६ में विधवाओं के लिए एक छोटा सा छात्रावास और एक स्कूल उन्होंने खोला। १९०० में पूना में प्लेग के कारण इस छात्रावास और शाला का स्थान परिवर्तन करना पड़ा। पूना से ४–५ ही मील पर हिंगणे गाँव है, गोखले नामक उनके एक मित्र वहाँ पर रहते थे। उन्होंने अपनी जगह में से एक छोटीसी झोंपड़ी कर्वे की शाला को दी और आस-पास की ७–८ एकड़ जमीन भी उन्हें देदी। जैसा कि पहले लिखा जा चुका, यह झोंपड़ी आज भी हिंगणे में मौजूद है। आजकल वहाँ बहुत से आदमी रहते हैं और उसके आस-पास छात्रावास, स्कूल, पुस्तकालय आदि की बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हुई हैं। हिंगणे से शाला का काम चलाना सुविधाजनक न था। कालेज के काम की वजह से कर्वे साहब को रोज़ वहाँ जाना-आना पड़ता था। लोगों की सहानुभूति न थी, उलटे ग़लतफ़हमी फैली हुई थी। धन भी बिलकुल अपूर्ण था। ऐसी विचित्र स्थिति थी। कर्वे साहब ने लोकापवाद की ज़रा भी पर्वाह न करते हुए बड़ी हिम्मत और लगन के साथ अपना

महिला-महाविद्यालय का खटाऊ मकनजी छात्रावास

काम जारी रक्खा। फलतः धीरे-धीरे वह लोकप्रिय भी होने लगा।

इस 'अनाथ बालिकाश्रम' में विधवाओं को तो मुफ़्त शिक्षा दी जाती थी, पर कुमारियों की शिक्षा की व्यवस्था न थी। कर्वे ने सोचा कि विधवाओं के समान कुमारियों की शिक्षा की भी आवश्यकता है। अतः उनके लिए हिंगणे में ही 'महिला विद्यालय' की स्थापना की गई। इसके कुछ ही पहले वह 'निष्काम कर्म-मठ' नाम की एक संस्था खोल चुके थे, जिसका कि ध्येय था निष्काम कर्म—वेतन आदि कुछ नहीं, बस गुजर-बसर के लिए जितनी ज़रूरत हो वही दिया जाय, भेदभाव का नाम नहीं, सबके अधिकार एकसे, इस तरह के नियमों का पालन करते हुए देश-सेवा का हर तरह का काम करने का कुछ स्त्री-पुरुषों ने निश्चय किया था। 'महिला विद्यालय' भी अध्यापक कर्वे के प्रोत्साहन पर इन्हीं लोगों ने स्थापित किया था। परन्तु शीघ्र ही अध्यापक कर्वे को यह मालूम पड़ गया कि 'निष्काम कर्म-मठ' का ध्येय कितना ही श्रेष्ठ हो मगर व्यवहार में ऐसे ध्येय की संस्था का चलाना कठिन है। इसी बीच महिला-विद्यालय और अनाथ बालिकाश्रम में भी कुछ खींचातानी शुरू हो गई। तब कर्वे साहब ने दूरन्देशी से विचार

करके दोनों संस्थाओं को एक कर दिया। अब तो दोनों बिलकुल एकजीव हो गई हैं और बड़ी अच्छी तरह उनका काम चल रहा है। १० लाख का इस संस्था का एण्डाउमेण्ट फण्ड है और हर साल ६०-६५ विधवाओं को इसमें मुफ्त शिक्षा दी जाती है। न केवल कोई फीस ही नहीं है, बल्कि भोजन-व्यय भी नहीं लिया जाता। इसके अलावा लगभग सौ ऐसी विद्यार्थिनियां पढ़ती हैं, जो अपना खर्च अपने आप बर्दाश्त करती हैं। लगभग २५००००) रु० इस संस्था का वार्षिक व्यय है। इसपर से मोटे तौर पर इस संस्था के कार्य का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन सच्चे अनुमान के लिए तो इसका प्रत्यक्ष अवलोकन ही करना चाहिए।

इस विश्वविद्यालय से अभी तक लगभग ५० छात्रायें ग्रेजुएट हो चुकी हैं और लोकमत उनके बहुत अनुकूल रहा है। उनमें से कुछ के विवाह हो चुके हैं और कुछ अध्यापन-कार्य कर रही हैं। कुछ ने अलग शाला खोलकर अपनी बहनों को शिक्षा देने का पवित्र कार्य शुरू कर रक्खा है। इन ग्रेजुएटों को बी० ए० के बजाय जी० ए० (Graduate in Arts) कहा जाता है। संस्कृत में इन्हें 'गृहीतागमा' कहते हैं। विश्वविद्यालय ने अपना कालेज खोल रक्खा है और दूसरे कालेजों को संलग्न (Affiliate) कर रक्खा है। पूना में इस विद्यापीठ की तरफ से एक कन्या-शाला (Girls' High School) है। और हिंगणे, मालवण, सितारा, सांगली, बम्बई, सूरत, बड़ौदा, अहमदाबाद, भावनगर इत्यादि स्थानों पर इससे सम्बद्ध कन्याशालायें हैं, जिन्हें विद्यापीठ की ओर से सहायता (Grant) दी जाती है। सन् १९२० में स्वर्गीय सर विट्ठलदास ठाकरसी ने इस विद्यापीठ

महिला-महाविद्यालय के अध्यापक और छात्रायें

हिंगणे के हिन्दू विधवा-गृह के आजीवन सदस्य

को १५ लाख रुपये का दान दिया था। इस रकम से ५२००० रु० ब्याज आता है और लगभग २० हजार रुपया हर साल कर्वे सा० को मिल जाते हैं। इस प्रकार यह सब मिलकर कुल ७०-७५ हजार रुपया इस विद्यापीठ की वार्षिक आय है।

विद्यापीठ का कार्य एक 'सिनेट' के द्वारा होता है। हर साल चन्दा देने वाली स्त्रियों के चुने हुए कुछ प्रतिनिधि, कुछ ग्रेजुएट सदस्याओं के प्रतिनिधि, कुछ सामान्य शुल्कदाताओं के प्रतिनिधि, विद्यापीठ से सम्बद्ध कालेज के प्रिंसिपल, स्वर्गीय सर विट्ठलदास ठाकरसी के कुटुम्ब के कुछ प्रतिनिधि, संबद्ध संस्थाओं के कुछ निर्वाचित प्रतिनिधि, और इन सब प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर चुने हुए कुछ प्रतिनिधि—इन सबकी मिलकर सिनेट-सभा होती है। राष्ट्रीय दृष्टि से लोक-सत्तात्मक कारोबार का यह प्रकार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक तरह से यह स्वराज्य ही है, ऐसा कई लोग कहते हैं; इसका तात्पर्य बड़ा मननीय है, पर यहाँ उसका विस्तार करने की जरूरत नहीं। अस्तु।

अध्यापक कर्वे कर्मवीर के नाम से मशहूर हैं; परंतु उन्होंने अपना जो 'आत्मवृत्त' लिखा है, उससे सिद्ध होता है कि वाङ्मय की दृष्टि से भी वह योग्य और कुशल हैं। सच तो यह है कि अगर हम यह कहें तो भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि ऐसा 'आत्मवृत्त' मराठी भाषा में दूसरा कोई नहीं है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद जब होगा तो उससे हिन्दी के एक अभाव की पूर्ति होगी, इसमें जरा भी शक नहीं।

कर्वे साहब की जो कीर्ति है वह उनकी हिंगणे अनाथ बालिकाश्रम संस्था और महिला विद्यापीठ के संस्थापक के रूप में है। पर प्रस्तुत लेखक जो उन्हें महात्मा समझता है, वह उनकी इस क्रिया-

शीलता के कारण नहीं। इसमें शक नहीं कि उनकी यह कारगुजारी बहुत बड़ी है, किम्बहुना अलौकिक हैं; परन्तु अलौकिक कार्य करने वाले सभी लोगों में अलौकिक पवित्रता भी होवेही, यह बात नहीं है। अध्यापक कर्वे की यह विशेषता है कि अलौकिक सामर्थ्य के साथ-साथ उनमें अलौकिक पवित्रता भी है। उनका चरित्र इतना शुद्ध और स्फूर्ति-दायक है कि महाराष्ट्र के श्रद्धाहीन और कठोर हृदय वाले बड़े-बड़े चिकित्सक तक उनकी गणना अत्यन्त आदरणीय और पूज्य व्यक्तियों में करने लगे हैं। महाराष्ट्रियों ने शुरुआत में कर्वे को छलने में कमी नहीं की, पर उनकी तपस्या के कारण निन्दकों का मुँह बन्द हो गया है। यहाँ तक कि जिन्हें विधवा-विवाह पसन्द नहीं, जो विधवा-विवाह के पक्षपाती नहीं हैं, वे भी उन्हें वन्दनीय मानते हैं। इसका कारण यही है कि उनका चरित्र अत्यन्त शुद्ध और उज्ज्वल है। महाराष्ट्र ही क्यों भारत भर में जो ५-१० भूषणास्पद व्यक्ति आज मौजूद हैं उनमें ही कर्वे साहब की गणना होनी चाहिए। गत १८ अप्रैल को उन्हें ७१ वाँ वर्ष लगा है। इसके उपलक्ष्य में हिंगणें में महोत्सव किया गया था और १५ हजार रुपये एकत्र करके उनके नाम पर विधवाओं को छात्रवृत्तियाँ निश्चित की गई हैं। उनकी रहन-सहन ऐसी नियंत्रित और संयमपूर्ण है कि जिसके कारण अभी भी उनकी तन्दुरुस्ती अच्छी है। वह रोज बिला नागा ७-८ मील की पैदल हवाखोरी करते हैं। उनकी तन्दुरुस्ती बिलकुल पहले जैसी ही तो अच्छी नहीं है, लेकिन उनके अनन्य उत्साह आदि को देखकर ऐसा मालूम पड़ता है कि हमें अभी अनेकानेक वर्षों तक उनकी वर्षगांठ मनाने का सुअवसर प्राप्त होगा! तथास्तु!

वामन मल्हार जोशी

मौनालाप

इसी कक्ष में, यही लेखनी लेकर इसी प्रकार
बैठा मैं कविता लिखने को जाने कितनी बार।

यहीं इसी पाषाण-पट्ट पर खोल हृदय का द्वार
खेली मेरी काव्य-कल्पना निर्भय, निरलंकार।

मेरी काव्य-कल्पना ही-सी, धीरे-से चुपचाप
जब-तब तू अज्ञातभाव से आकर अपने आप।

पीछे खड़ी हुई कुछ क्षण तक, रह नीरव निरानन्द
हँस पड़ती थी पकड़ चोर-सा खिल-खिल कर सानन्द।

पीछे मुड़कर, तुझे देखकर, देखूँ फिर इस ओर
छिप जाता था हृदय-गुहा में कहीं मानसी चोर।

उसी तरह इस उसी ठौर फिर बैठा हूँ मैं आज,
कौन देखता है यह, क्या-क्या बदल गये हैं साज।

आ न सकेगी किन्तु आज तू उसी भांति साह्लाद
लिखने तुझे नहीं देती बस, आकर तेरी याद।

तो फिर उस तेरी स्मृति से ही करके मौनालाप
आज और कुछ नहीं लिखूँगा रुककर अपने आप।

सियारामशरण गुप्त

परदा-विरोधी आन्दोलन

प्रतिक्रिया एक स्वाभाविक नियम है। अन्धेरे के बाद उजाला और उजाले के बाद अन्धेरा हुआ ही करता है। कोई बात जब अति पर पहुँच जाती है और कृत्रिमता के साथ मिल जाती है तब मानों उसी प्रकार वह अपने अन्तसामीप्य की सूचना देती है, जैसे कि तैल-समाप्ति पर दीये की लौ का टिमटिमाना दीये के बुझने का द्योतक होता है। हमारे यहाँ शील और चारित्र्य के नाम पर परदे ने जो कृत्रिम रूप धारण कर रक्खा है, वह भी अपनी अति पर पहुँच चुकने के कारण, मालूम होता है अब यहाँ से कूच करने ही को है।

बिहार चाहे बहुत समृद्ध और प्रतिभाशाली प्रान्त न हो; परन्तु राजेन्द्र और ब्रजकिशोर जैसे सच्चे कार्य-कर्ता और गणेशदत्तसिंह जैसे पुरुष-रत्न पैदा करने का गौरव उसे प्राप्त है। यही कारण है कि अपनी लगन और देश-भक्ति में आज वह किसी भी दूसरे प्रान्त से पीछे नहीं और महात्मा गाँधी की सेवा का सौभाग्य भी वह प्राप्त कर चुका है। और हर बार, हर आन्दोलन में, विजय-श्री उसके साथ ही रही है। इसी बिहार ने, इस बार, परदे के विरुद्ध आन्दोलन उठाया है।

इस आन्दोलन की शुरुआत, महात्माजी के लेखानुसार, जरा विचित्र है। दरभंगा जिले के रघुनाथपुर गाँव में रहने वाले श्री रामनन्दन मिश्र इसके कारण बने हैं। रामनन्दन मिश्र एक उत्साही नवयुवक हैं। अभी गत वर्ष (१९२७) तक काशी-विद्यापीठ में वह अध्ययन करते थे और पारसाल से ही महात्माजी के सत्याग्रह-आश्रम में रहने लगे थे। कुछ दिनों तक आश्रम में रहने के बाद उन्होंने चाहा कि उनकी पत्नी श्रीमती राजकिशोरीदेवी भी आश्रम के वातावरण का लाभ उठायें। उधर इस बीच एक बार जब वह बिहार गये तो परदे की कृत्रिम कड़ाई देख कर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ और उनके युवक हृदय में यह प्रबल प्रेरणा उत्पन्न हुई कि कम से कम अपनी पत्नी को तो इस बुराई से हटा ही लिया जाय। फलतः महात्माजी की स्वीकृति लेकर उन्होंने अपनी पत्नी को आश्रम में लाना चाहा। लेकिन ?—उनके माता-पिता तो ठहरे वही पुराने विचारों वाले! वे इसके लिए तैयार न हुए और रामनन्दनजी को अपनी पत्नी की शिक्षा के लिए स्वर्गीय मगनलाल भाई गाँधी की पुत्री कुमारी राधाबहन और स्व० दलबहादुरगिरि की कन्या दुर्गादेवी को वहाँ ले जाना पड़ा। इस बीच राजकिशोरीदेवी ससुराल से अपने मायके चली गईं और उनके माता-पिता ने उन्हें आश्रम भेजने से एकदम इन्कार कर दिया। युवक रामनन्दन और आश्रम की उक्त दोनों बहनों को यह दशा देख बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने न केवल राजकिशोरी को आश्रम ले जाने का दृढ़-निश्चय कर लिया; बल्कि बिहार से इस प्रथा को उठाने के लिए आन्दोलन करने का भी उन्होंने निश्चय किया। बस, फिर क्या था, महात्माजी का आशीर्वाद और जरूरत के वक्त सहायता का आश्वासन पाकर, उन्होंने अपने कार्य का आरम्भ कर दिया।

इन बहनों ने बड़ी बहादुरी के साथ अनेक कठिनाइयों का सामना किया। उधर कलकत्ते से लौटते हुए मगनलाल भाई, महात्माजी के आदेश पर, इनसे मिलने और इन्हें सभी कठिनाइयों से लड़ने के लिए साहस तथा उत्साह देने को बिहार ठहर गये। संयोग-वश जिस गाँव में राधाबहन काम करती थीं वहीं वह बीमार पड़े और फिर पटना में आकर, बिहार में ही, उनका देहांत हो गया!

मगनलाल भाई के देहांत का इस आंदोलन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। रामनन्दन मिश्र ही नहीं बल्कि

बिहार के प्रायः सभी प्रगतिशील कार्यकर्ताओं के हृदयों में यह बात चुभ गई । हवन में घृताहुति का काम हुआ । रामनन्दन मिश्र तो एकदम अपनी पत्नी को ले ही आये और राधाबहन के साथ उन्हें आश्रम

बाईं ओर से—(१) कुमारी राधाबहन, (२) कुमारी दुर्गादेवी, (३) श्रीमती राजकिशोरीदेवी ।

भेज दिया; पर और लोग भी अब तो इस आंदोलन में शामिल हो गये हैं । बिहार के कार्यकर्ताओं ने इसे मान का सवाल बना लिया और ब्रजकिशोर बाबू अपनी इस अवस्था में भी इसका नेतृत्व करने के लिए ऐसे उत्साह के साथ अग्रसर हो गये, जैसे कोई नवयुवक । बिहार के हृदय, वहाँ के स्वशासन-विभाग के मन्त्री, बा० गणेशदत्तसिंह ने भी इसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की । फलतः गत २० मई को बिहार के नेताओं ने मिलकर इस सम्बन्ध में परामर्श किया । उसमें निश्चय हुआ कि परदे को उठाने के लिए एक अपील निकाली जाय और ८ जुलाई को प्रांत भर में इसके लिए स्त्री-पुरुषों की सम्मिलित सभायें हों । इसी मन्त्रणा में स्त्री-शिक्षा के लिए एक ऐसा महिला-आश्रम खोलने का भी निश्चय हुआ कि जिसमें स्त्रियों को भारतीय सभ्यता के अनुसार रहन-सहन और साधारण हिन्दी, संस्कृत, सिलाई, कशीदा, संगीत, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा दी जाय तथा सादगी एवं परिश्रमशीलता के द्वारा गृह, समाज और देश की योग्य सेविका बनने के उपयुक्त उन्हें बनाया जाय ।

इस निश्चय के अनुसार बिहार के लगभग दोसौ प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों की ओर से एक लम्बी अपील प्रकाशित हुई, जिसमें कहा गया—

"(परदा-प्रथा के कारण) हमारा आधा अंग पक्षाघात से पीड़ित अंग के समान क्रियाशून्य हो गया है । हमारी स्त्रियां परदे में बंद रहने के कारण प्रकाश

और स्वच्छ वायु से वंचित होकर नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो रही हैं। डाक्टरों का अनुमान है कि स्त्रियों में जो यक्ष्मा की वृद्धि जोरों से हो रही है उसका प्रधान कारण परदा ही है। क्योंकि, परदे के अन्दर अस्वास्थ्यकर परिस्थिति में न तो उन्हें पूरा प्रकाश और खुली हवा ही मिलती है और न वहाँ व्यायाम का ही प्रबन्ध रहता है। अपनी अर्धाङ्गिनियों के साथ इस प्रकार का मनुष्यताहीन व्यवहार बड़ा ही लज्जाजनक है। बिना इस प्रथा को दूर किये हमारा पूर्ण उद्धार असंभव है। अतः आवश्यक है कि परदे की प्रथा शीघ्र हटाई जाय और महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, मद्रास आदि स्थानों की स्त्रियों के समान हमारी स्त्रियां भी स्वतंत्र और विशुद्ध वायु में विचरण करके निर्भीक और स्वावलंबिनी बनें। मगर, साथ ही, उनका रहन-सहन पश्चिमी ढंग का न होकर भारतीय ढंग का और सादा हो।"

इस अपील पर हस्ताक्षर करने वालों में और लोगों के साथ बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद, बाबू अनुग्रहनारायणसिंह, बाबू जगतनारायणलाल, बाबू फूलदेवसहाय वर्मा आदि बिहार के अनेक प्रतिष्ठित पुरुष और उनकी स्त्रियाँ शामिल हुईं। और इसी अपील में उक्त महिला-आश्रम खोलने और ८ जुलाई को परदा तोड़ने के प्रथम प्रदर्शन-स्वरूप जगह-जगह स्त्री-पुरुषों की सम्मिलित सभायें करने की भी प्रार्थना की गई।

अपील बहरे कानों पहुँची हो, सो बात नहीं। ८ जुलाई ने बता दिया है कि बिहार के स्त्री-पुरुष अपने नेताओं के प्रति अकृतज्ञ नहीं हैं। इस दिन पानी बरस रहा था; फिर भी पटना, मुजफ्फरपुर, छपरा, आरा दरभंगा आदि में स्त्री-पुरुषों ने जिस जोश के साथ सम्मिलित सभायें कीं, वह प्रशंसनीय है। इन सभाओं में परदे को छोड़ने की घोषणा करते हुए अन्य बहनों से भी ऐसा ही करने की प्रार्थना की गई। साथ ही प्रांतभर में महिला-समितियाँ खोलने और पटना में स्त्रियों के लिए उपर्युक्त प्रकार का एक आदर्श आश्रम स्थापित करने का भी इनमें निश्चय हुआ और इस आंदोलन को बढ़ाने तथा आश्रम के लिए वहीं चार हजार रुपये के वचन भी मिल गये।

इस प्रकार कम से कम बिहार में इस आन्दोलन ने अपनी नींव कर ली है और ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि यही गति रही तो हमारी बिहारी बहनें शीघ्र ही इस दिशा में गुजराती, मराठी आदि बहनों का मुकाबला करने लगेंगी। ऐसा हो भी क्यों न, जब कि विश्ववंद्य महात्मा गाँधी का आशीर्वाद तथा बा० पुरुषोत्तमदास टण्डन तथा तपस्विनी पार्वतीदेवी जैसी आत्माओं का प्रोत्साहन उनके साथ है? फिर उनके नेता हैं ब्रजकिशोर बाबू, जिनके बारे में महात्माजी का यह कहना है—"वह बिहार के पुराने मँजे हुए सैनिक हैं, जिनकी वीरता की परीक्षा अनेक बार हो चुकी है। मैं नहीं जानता कि उन्होंने कभी किसी आन्दोलन का नेतृत्व किया हो और फिर वह यों ही मर जाने दिया गया हो।" अलावा इसके इस आन्दोलन में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि इसमें आधुनिक उच्छृंखलता या यूरोपीयकरण की प्रवृत्ति नहीं बल्कि भारतीय आदर्शों पर इसे उठाया गया है और उच्छृंखलता की बुराई से बचने के लिए जगह-जगह सावधानी की सूचना है। निस्सन्देह यह प्रवृत्ति वाञ्छनीय है। हमें आशा है कि न केवल बिहारी बहनों को ही यह आन्दोलन इस कुप्रथा से मुक्त करेगा, बल्कि बिहार के बाद युक्तप्रान्त और राजस्थान की बहनों में भी इसके बदौलत प्रकाश की रश्मियाँ प्रस्फुटित होंगी।

युवक-हृदय

मुग़लकाल में विधवा-विवाह

विधवाओं के पुनर्विवाह के विरोधी, पुनर्विवाह के विरुद्ध, एक दलील यह भी दिया करते हैं कि पहले ज़माने में हमारे यहाँ ऐसा नहीं होता था। और यह उनकी बड़ी ज़बरदस्त दलील मानी जाती है। शास्त्रों की दुहाइयाँ भी इस सम्बन्ध में दी जाती हैं। परन्तु, वस्तुतः, क्या यह ठीक है?

शास्त्रों की बात का विरोध तो 'आज' (काशी) के एक अंक में * श्री पालिधी महोदय कर ही चुके हैं। उन्होंने बताया है कि विधवा-विवाह शास्त्र-विरुद्ध नहीं बल्कि शास्त्र-सम्मत है। इधर मराठी-भाषा के एक पत्र में श्री म० माटे ने खोज करके यह बताया है कि मुग़लकाल में हमारे यहाँ पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित थी। कुल १०७ जातियों में से, उनकी तालिकानुसार, इतनी जातियां में पुनर्विवाह होता था—(१) अहीर, (२) आँध, (३) आरेकाट, (४) बंजारे, (५) बलाई, (६) बेडर, (७) भड़भूंजे, (८) भामी, (९) भण्डारी, (१०) भाट, (११) भावसार, (१२) भील, (१३) भोई, (१४) बुरुण्ड, (१५) धोबी, (१६) चांचू, (१७) दर्जी, (१८) दस्ती, (१९) देवांग, (२०) धनगर, (२१) ढोर, (२२) कोल्हाटी, (२३) दूरकाल, (२४) गुवाली, (२५) गोलल, (२६) गोंड, (२७) गोंधली, (२८) गोपाल, (२९) गौंडाल, (३०) हाटकर, (३१) जिनगर, (३२) जोगी, (३३) जोशी (मराठे), (३४) कची, (३५) कहार, (३६) कलाल, (३७) कप्पू, (३८) कौंसार, (३९) खत्री (ब्राह्मण), (४०) कोली, (४१) कुम्हार, (४२) कुसम, (४३) लालबेगी, (४४) लिंगायत, (४५) लोधी, (४६) लोणारी, (४७) मडिग, (४८) महार, (४९) मल्ल, (५०) माली, (५१) माँग, (५२) मंगल (नाई), (५३) माँग (गरी), (५४) कुनबी (मराठे), (५५) मारवाड़ी दर्ज़ी, (५६) मारवाड़ी सुनार, (५७) लखेरा, (५८) तेलगू भिक्षू, (५९) मोची, (६०) मोड़ी वाड़, (६१) मुनूर, (६२) मुन्नसी, (६३) ओतरी, (६४) पद्मसाली, (६५) पांगूल (६६) पारधी, (६७) पेट, (६८) पिसकुंतल, (६९) सालवी, (७०) संन्यासी, (७१) फुलारी सुनार, (७२) तेलंग, (७३) तेली-सान, (७४) उघरगवंडी, (७५) बजारी, (७६) धीवर, (७७) जंगम, (७८) जोधपुरे (ब्राह्मण), (७९) नाई, (८०) कतिये, (८१) खटीक। यह ठीक है कि ब्राह्मण, कायस्थ, जैन आदि कुछ ऊँची कही जाने वाली जातियों में इसका आम रिवाज न था; पर ये थोड़े से लोग ही सारा राष्ट्र (भारतवर्ष) नहीं है, दूसरी जातियाँ भी राष्ट्र में शामिल हैं और उन्हीं का विशेष भाग है। और, वे इस विषय में पहले ही से अग्रसर हैं। ऐसी दशा में आगे से सुधारकों के सामने यह दलील न आया करे, यही ठीक है।

सूर्यनारायण व्यास

"प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे बहुत से प्रमाण हैं, जिनसे पौराणिक काल में विधवा-विवाह का प्रचलित होना सिद्ध होता है। स्मृतिकार 'विष्णु' कहते हैं कि जिस स्त्री का दूसरी बार विवाह होता है, वह 'पुनर्भू' कहलाती है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'क्षता और अक्षता दोनों का पुनः संस्कार होना चाहिए।' और आधुनिक समय के स्मृतिकार पराशर भी ऐसी स्त्री के पुनर्विवाह की आज्ञा देते हैं। "जिसका पति मर गया हो, जाति से बहिष्कृत हो गया हो, या योगी बन गया हो।"

— स्व सर० रमेशचन्द्र दत्त

* 'आज'; ता० ९, १० फ़रवरी, १९२८ ई०।

सन्देह

(१)

वसंत और मनोहर में बचपन से घनिष्ठता है। प्रारंभिक पाठशाला के दिनों से लेकर अबतक ये दोनों सच्चे मित्र बने रहे। सगे भाइयों के लिए भी इनकी तरह हिलमिल कर रहना शायद कठिन होगा। परन्तु ये दोनों मित्र दो भिन्न धंधों में पड़ कर भी एक साथ रहते थे। वसंत बाबू एल-एल० बी० पास वकील थे और मनोहर बाबू एल० एम० एस० पास डाक्टर थे। दोनों ने एक ही गांव में प्रेक्टिस शुरू की और एक ही घर में सकुटुम्ब रहने लगे। सौभाग्य से दोनों की पत्नियां सुशील थीं। वसन्त बाबू की मालती और मनोहर बाबू की मनोरमा दोनों समान उम्र की कुलीन लड़कियाँ थीं। रंग-रूप और देखने-सुनने में भी अच्छी थीं। दोनों की अच्छी तरह निभ भी जाती थी। एक दूसरी से हिलमिल कर प्रेमपूर्वक वे अपना घरेलू काम-काज किया करती थीं। एक झाड़ना-बुहारना करती, तो दूसरी चूल्हा जला देती। एक चाय के लिए पानी गरम रखती, तो दूसरी चाय के प्यालों को साफ़ करके जमा देती। अगर एक बरतन माँजती, तो दूसरी उन्हें धो डालने को तैयार रहती। इस प्रकार शुरू-शुरू के कुछ दिन तो बड़े आनन्द से बीते। परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गये और परिचय बढ़ता गया, दोनों के स्वभाव में स्पष्ट अन्तर दीखने लगा। जहाँ मनोरमा नित नई बातें पसन्द करती, कोई भी नया काम करने को सदा उत्सुक रहती, वहाँ मालती एकदम चुप्पी साधे रहती थी। मनोरमा वाचाल थी; मालती मूक। मनोरमा का राग-द्वेष उसके चेहरे पर प्रतिबिम्बित होने लगता, मालती सदा गम्भीर बनी रहती। इन बातों से दोनों के स्वभाव का भेद झलकने लगा। उधर इस कुटुम्ब के पुरुषों—वसन्त और मनोहर बाबू—के स्वभाव में भी अन्तर था। जहाँ एक ओर डाक्टर बाबू शान्त, गम्भीर और सरल स्वभाव के थे, वहाँ वकील बाबू हँसोड़ और वाचाल थे। मनोहर बाबू का ज्यादातर समय उनके अपने धंधे में बीतता था। अपवाद के लिए वह दोपहर को जब घर पर रहते, तब या तो कुछ देर लेटे रहते या अखबार पढ़ा करते थे। इधर मनोरमा इस बात के लिए उत्सुक रहती कि वकील बाबू की गैरहाजरी में पतिदेव के साथ बैठ कर उनसे इधर-उधर की बातें करूँ, कुछ पढ़ूँ-पढ़ाऊँ और इस तरह आमोद-प्रमोद में समय बिताऊँ। मनोरमा ऊपरी चमक-दमक और टीम-टाम ज्यादा पसन्द करती थी, अतः वह अपने कमरे को प्रतिदिन नये-नये ढंग से सजाने में लगी रहती। वह दिल में सोचती कि कभी न कभी तो यह जरूर ही "यह किसने सजाया ?", "बड़ा सुन्दर दीखता है" आदि उत्साह को बढ़ाने वाली बातें कहेंगे; परन्तु सब व्यर्थ हो जाता। मनोहर बाबू की सब बातें पहले से ही निश्चित होती थीं। इसके विपरीत वसन्त बाबू स्वभाव से ही नवीनता-प्रिय थे। थोड़ी भी नवीनता और अनूठी सजावट देखते ही वह उसकी तारीफ़ करने लगते। दूसरी जगह, अपनी देखी हुई, नई-नई बातों का वर्णन करने लगते। परन्तु दुर्दैव से मालती को ऐसी बातें न रुचती थीं। जब मित्र-मण्डली चाय-पानी के लिए आती तब मनोरमा तो नई-नई चीजें बना कर बड़ी सज-धज के साथ आये हुए मित्रों को परोसती, परन्तु मालती अलग ही अपनी ढाई चावल की खिचड़ी पकाती रहती। मित्रों को बिदा करके वसन्त बाबू जब घर में आते और भोजन करने बैठते तो दोपहर की बातों को याद करके मनोरमा की खूब तारीफ़ करने लगते। मनोहर बाबू से न रहा जाता, वह कहते, "कौन बड़ी बात है ? दोनों में से किसी एक

को तो करना ही था, उसने किया तो क्या हुआ ? वह नहीं होती तो क्या मालती भाभी न करतीं ?" इसी प्रकार की बातें हुआ करतीं। मनोरमा अपने मन में सोचती कि पतिदेव मेरी बातों पर कौतुक प्रकट करना नहीं चाहते, ऐसी चर्चा ही उन्हें पसन्द नहीं है। अगर दूसरा किसी तरह प्रशंसा करता है, तो वह भी उन्हें असह्य हो जाती है। ऐसे विचारों के जाल में फँस कर अन्त में वह कहने लगती, 'मेरा पति-योग भी, अच्छा नहीं है। पिता के घर सौतेली मा कभी तारीफ़ नहीं करती। उत्साह बढ़े तो कैसे ? अगर पिताजी कभी प्यार करके मुझे होशियार कहते, अच्छा कह कर मेरा उत्साह बढ़ाते, तो माताजी का तिरस्कार दूना हो जाता। समझती थी कि विवाह होने पर सुख मिलेगा, परन्तु वह भी भाग्य में नहीं लिखा है। यह तो बड़े विचित्र प्राणी हैं, इन्हें किसी बात की जरूरत ही नहीं मालूम होती। फिर मैं ही क्यों जान दूँ !' इन विचारों के कारण वह हमेशा गाल फुलाये रहती। मनोहर बाबू तो शांत आदमी थे, उन्हें क्या पड़ी थी जो कभी क्रोध करें। सवेरे उठ कर अस्पताल चले जाते। दोपहर को देर से आकर भोजन करते और फिर पाँच बजे चाय पीकर जो बाहर निकलते तो रात को ८-८॥ बजे वापस लौटते।

(२)

इस तरह दिन बीते जा रहे थे कि एकाएक महायुद्ध शुरू हो गया—जोरों से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। माँ-बाप सरकार की वात्सल्यपूर्ण छाती से प्रजा-स्नेह का प्रेम-दुग्ध बहने लगा! इधर जनता में भी साम्राज्य-सरकार की सहायता करने की प्रेम-पूर्ण स्फूर्ति उत्पन्न हुई। विभिन्न तरीक़ों से सरकार को मदद दी जाने लगी। कई लोग अपनी खोई हुई वीरता को फिर से बुलाने का प्रयत्न करने लगे। ऐसे लोगों में हमारे मनोहर बाबू भी थे। आपने डाक्टरी कमीशन के लिए अपनी माँग पेश की। सरकार ने उन्हें चुन लिया। और शीघ्र ही काम करने की तिथि और स्थान की सूचना भी इन्हें मिल गई। अब घर वालों के प्रबन्ध की फ़िक्र पड़ी। प्रबन्ध तो करना ही क्या था ? इनके सगे-सम्बन्धियों में तो कोई था ही नहीं। पत्नी के पिता के घर कुछ लोग जरूर थे। इन्होंने उन्हें मिलने के लिए बुलाया और मनोरमा को साथ लिवा ले जाने का प्रस्ताव किया। वसंत बाबू के एक बड़ी बहन—जीजी—थीं। उनका इन दोनों पर समान प्रेम था। वह भी इनसे मिलने आई थीं। अब सवाल यह था कि मनोरमा कहाँ रहे ? "मैं जा रहा हूँ, मेरे बाद पत्नी कहाँ रहेगी ?" इन विचारों में मनोहर बाबू चिंतित रहने लगे; मनोरमा की उधेड़-बुन तो चल ही रही थी। पति-पत्नी की इस पर कभी-कभी गरमागरम बहस भी हो जाती परन्तु नतीजा कुछ न निकलता। अंत में विदा की तैयारियाँ होने लगीं, दिन समीप आ गये। सब लोगों से भेंट-वार्तालाप हो गया, इष्ट-मित्रों ने दावतें उड़ाईं। परन्तु मनोरमा के रहने का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। धीरे-धीरे प्रस्थान की घड़ी आ पहुँची। पति-वियोग किसे आघात नहीं पहुँचाता ? मनोरमा की आँखें रोते-रोते लाल हो गईं। उसने पति के कल्याण के लिए अनेक देवताओं की मन्नतें मानीं। मनोहर बाबू का धैर्य छूटा, वह भर्राये हुए करुण शब्दों में विनम्र होकर कहने लगे, "तुम खर्च की फ़िक्र मत करना। जहाँ तुम्हें सुख मिले वहीं रहना। मा का कठोर स्वभाव अब की बार कोमल हो जायगा। फिर पिताजी तो हैं ही।" इतने ही में वसंत बाबू कुछ काम से भीतर आये और बोले "तुम व्यर्थ की चिंता क्यों करते हो ? तुम्हारे चले जाने पर भी यह घर तो उनका ही रहेगा न ? वह चाहे यहाँ रहेंगी, चाहे अपने पिता के घर चली जायँगी। तुम तो अपना प्रबन्ध करो।"

अस्तु । रवाना होने का समय आ पहुँचा। मनोरमा, मालती और जीजी दरवाजे पर आई। "जीजी जाता हूँ। भाभी जाऊँ न ? इसे सम्हालना। मैंने पिताजी को पत्र भेज दिया है, आज या कल कोई न कोई आ ही जायगा। अच्छा आज्ञा है न ?" ये बातें पत्नी की ओर देखते हुए मनोहर बाबू ने कहीं। उनका हृदय भरा आ रहा था। बड़ी कठिनाई से घर से बाहर निकल कर वह चट आगे बढ़ गये। अभी तक जो आँसू रुके हुए थे, एकाएक उमड़ पड़े। उधर अपना हृदय हलका करने के लिए मनोरमा सीधी अपने कमरे में चली गई और पलंग पर पड़ रही। मनोरमा के हृदय का बोझ हलका करने और सान्त्वना देने के लिए मालती और जीजी भी उसके पीछे-पीछे आई। दो दिन बाद पीहर से आदमी आ गया। "अभी से जाकर क्या करेंगी ?" कह कर वसंत बाबू और मालती ने उसे वापस लौटा दिया। जीजी ससुराल चली गई। इनकी दिनचर्या का आरंभ हुआ। मनोरमा को अच्छा लगे, उनका समय आनन्द से बीते, इस बात की वसन्त बाबू ज्यादा खबरदारी रखने लगे। वह तरह-तरह की पुस्तकें और समाचारपत्र उन्हें ला दिया करते। भोजन करते समय इधर-उधर की बातें करते, नई-नई खबरें सुनाते। इससे मनोरमा के दिन अच्छी तरह कटने लगे। मालती भी इस बात की खबर रखती कि किसी तरह मनोरमा को कष्ट न पहुँचे। इन सब बातों का फल कुछ और ही हुआ। मनोरमा का मन अब काम में न लगता। पतिदेव का जो कुछ काम करना पड़ता था, वह भी न रहा। अब तो केवल वकील बाबू थे; घर उनका, गृहस्थी उनकी। मालती अब मालकिन हैं। मनोरमा को क्या गरज जो फालतू बातों के लिए चिन्ता करे ? सबेरे उठ कर इधर-उधर का थोड़ा-बहुत काम कभी किया तो किया अन्यथा झट मनोरंजन के बहाने किताब हाथ में लेकर बैठ जातीं। सायंकाल के समय, वसंत बाबू घर कब आवेंगे, चाय-पानी के समय कौन-कौन सी नई बातें सुनावेंगे, इन्हीं बातों की उसे चाह लगी रहती। जहाँ कुछ मजेदार बात शुरू हुई कि स्वभावतः वाचाल मनोरमा बातें करने में मग्न हो जाती। आगे-पीछे की उसे कुछ सुध न रहती। मालती बेचारी, क्या करती ? चुपचाप बैठी रहती। इस तरफ इन दोनों का ध्यान ही नहीं जाता था, मालती भी इनके बीच पड़ना पसन्द न करती थी। इन गप्प गोष्ठियों के परिणाम-स्वरूप मनोरमा के लिए वसन्त बाबू नई-नई किताबें लाने लगे। मनोरमा उन्हें पढ़ती। जो बातें समझ में न आतीं, उन्हें वसन्त बाबू से उनके घर आने पर पूछती—इसी में इन दोनों का बहुत सा समय बीतने लगा। वसंत बाबू के इस बोलने-चालने, उठने-बैठने, हास्य-विनोद आदि किसी भी काम में मालती कुछ भाग नहीं ले सकती थी। अब मनोरमा को अपनी शिक्षा की कमी खटकने लगी। उसने इस कमी की पूर्ति का निश्चय किया। पत्र द्वारा पतिदेव से सम्मति मँगाई और वसंत बाबू पर भी अपनी इच्छा प्रकट की। मनोहर बाबू ने लिखा, "फुरसत का समय इस तरह के कामों में बिताना अच्छा है।" और वसन्त बाबू भी राजी हो गये। मनोरमा ने पढ़ाई शुरू कर दी। दोपहर को तो अपना पाठ तैयार करती और रात को वसंत बाबू से पूछ-पूछ कर गलतियाँ दुरुस्त कर लेती। इस तरह पठन-पाठन और बात-चीत में बहुत रात बीत जाती। मालती के हृदय पर इन बातों की बुरी छाप पड़ने लगी। सतत् सहवास के कारण मनोरमा की टीका-टिप्पणी, उसकी तर्क-वितर्क शक्ति और पढ़ने की लगन ने वसन्त बाबू को धीरे-धीरे उसकी ओर आकर्षित किया। अतः मालती की पूछ कुछ कम होने लगी। कहीं कुछ सभा इत्यादि हो तो वसन्त

बाबू भाभी मनोरमा से चलने के लिए आग्रह करते, पर मालती से मन समझाने के लिए पूछ भर लेते थे। मालती के इन्कार करने की देर थी कि ये दोनों चल देते। कुछ दिनों बाद पूछना भी बंद हो गया। एक-दो बार मालती ने जब असन्तोष प्रकट किया तो मीठे शब्दों में समझाने की जगह बसन्त बाबू "तू दुष्ट है, तुझे किसी का सुख अच्छा नहीं लगता।" इन शब्दों में उसका अनादर करने लगे। इसपर मालती ने बोलना ही बंद कर दिया। पर अब इस व्यवहार की चर्चा अड़ोस-पड़ोस में होने लगी। जब कभी कोई वकील बाबू से मिलने आता, तो मनोरमा को कुर्सी पर बैठी हुई देखता। और मालती की आहट तक किसी के कान में न पहुँचती। बुराई को खोज-खोज कर प्रकट करने वाली दुनिया ने इन्हें भी अपनी टीका-टिप्पणी का शिकार बनाया। मनोरमा समझने लगी कि इस हवा को पैदा करने वाली मालती है। कुछ ऐसी ही छाप बसन्त बाबू के दिल पर भी पड़ी। नतीजा यह हुआ कि पति-पत्नी का विरोध बढ़ने लगा। इसी अवसर पर जीजी भी मिलने के लिए आई थीं। उन्होंने भी इस लीला को खूब आँखें खोलकर देखा और देखकर सन्ताप प्रकट किया। एक बार मालती की बीमारी की चर्चा भी उन्होंने बसन्त बाबू के सामने उठाई। परन्तु पहले के अनुराग के स्थान पर उन्हें उनकी बात-चीत में क्रोध की मात्रा अधिक दीख पड़ी। मनोरमा भी अब पहले की तरह इनमें बैठने-उठने, बात-चीत करने या गप्पें लगाने में शामिल नहीं होती थी। एक-दो बार जीजी ने कहा—"भाभी, जब तक मैं यहाँ हूँ, क्या चार दिन इधर-उधर घूमने-फिरने न चलोगी? रात-दिन घर में बैठे-बैठे तो अब जी ऊब गया है।" इसपर मनोरमा ने जवाब दिया—"औरतों में बैठकर लोगों के लेने-देने की फ़जूल बातें करना मुझे पसन्द नहीं। मुझे तो अपना घर ही अच्छा लगता है। तुम कहीं जाना चाहो तो जाओ न जीजी!" यह सुनकर जीजी बेचारी चुप होजातीं। अन्त में इस हालत से घबराकर मालती अपने नैहर चली गई। पर वहाँ कब तक रहती? बाबूजी तो उसपर इतने मुग्ध (?) थे कि एक बार 'चले-आने' का सन्देशा-पत्र-भेजकर, मानों हमेशा के लिए झंझट से मुक्त हो गये थे। मालती के नैहर चले जाने पर कुछ दिनों बाद मनोरमा भी अपने पिता के घर चली गई। परन्तु मनोरमा का वहाँ पुरुषों की भांति, बिना हाथ-पैर हिलाये, बैठे रहना उसकी सौतेली माँ को बिलकुल पसन्द नहीं था। दामाद विदेश गये हैं, कभी न आने वाली लड़की आज घर आई है। फिर भी वह मनोरमा से बोलती नहीं थीं। उसके लिए उनके मन में प्रेम, अपनापन और निष्कपट भाव पैदा ही नहीं होता था। मालती फिर ससुराल लौट आई। वहाँ पहुँचते ही बसन्त बाबू ने मनोरमा को लिखा—"मालती अकेली है, उसे साथी चाहिए।" डूबते को तिनके का सहारा मिला। मनोरमा बसन्त बाबू के पास रवाना हो गई। फिर से वही पुरानी दिनचर्या शुरू हो गई। उसमें कोई अन्तर न पड़ा। मालती इस बात की जी तोड़ कोशिश करने लगी कि बसन्त बाबू उसे प्यार करने लगें, उसके हिस्से का प्रेम उसे प्राप्त हो। परन्तु सब व्यर्थ हुआ। मनोरमा के साथ ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता गया, बसन्त बाबू की आँखों पर घना आवरण पड़ता गया। दूसरी ओर मनोरमा भी अपने परदेशगत पति को धीरे-धीरे भूलने लगी। उनकी तन्दुरुस्ती के लिए व्रत, उपवास आदि कर्त्तव्य भी छोड़ बैठी। ऐसे समय एकाएक डाक्टर बाबू के एक मित्र का पत्र उसे मिला। उसमें पत्र न भेजने का कारण बताते हुए लिखा था कि डाक्टर मनोहर बाबू एकाएक नौकरी छोड़कर न जाने कहाँ

चले गये हैं, कुछ पता नहीं चलता। जाते समय यह लिख गये हैं कि "मुझे ढूँढने का कोई व्यर्थ प्रयत्न न करे।" इस पत्र को पाकर लोग अभी हाय-हाय कर ही रहे थे कि इतने ही में मनोरमा और वसन्त बाबू के नाम भी दो पत्र आ पहुँचे। उन पत्रों में लिखा था, "मैं इस संसार से ऊब गया हूँ। हिंदुस्थान और विदेश दोनों जगह के अनुभव ने मुझे हर तरह निराश किया है। मेरे मन में शांति और स्थिरता नहीं है। अकेले स्वार्थ और ऐहिक सुख के लिए लोग जो खटपट करते रहते हैं, उसे देखकर जी घबराने लगता है। अब मुझे बड़े मौक़े से एक सच्चे मार्ग दर्शक मिल गये हैं। उनकी देख-भाल में मैं परमात्मचिंतन में लगा रहता हूँ। अध्यात्मज्ञान की प्राप्ति के लिए मैं व्यग्र हो उठा हूँ। इसीलिए सब कुछ छोड़कर मैं जा रहा हूँ। मुझे ढूँढने की कोशिश मत करना। हाँ, मनोरमा यह सुनकर अवश्य दुःखी होगी। पर मैं उसके लिए उचित प्रबंध कर चुका हूँ। सुखैश्वर्य न भी मिले, दूसरों का मुँह ताकने को उसे जरूरत नहीं पड़ेगी; वह सन्तोषपूर्वक अपना जीवन बिता सकेगी। अच्छा हो अगर वह भी अपने जीवन को परमार्थचिंतन में बिताने लगे। यदि उसे यह पसन्द न हो तो वह अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे सुख से रहे। मैं तो सबसे क्षमा चाहता हूँ।" पत्र पढ़कर दोनों के दिल पर क्या असर हुआ, वे ही जानें। मालती तो अपशकुन की तरह इस समाचार को सुनकर काँप गई। उसके पिता का एक पत्र भी उसे मिला। उसका ऐसा ही कुछ उत्तर दे दिया गया। मनोरमा यहीं रही। आजकल वसन्त बाबू की प्रैक्टिस खूब चल निकली थी। लक्ष्मीदेवी भी उनपर प्रसन्न थीं। जनता में भी उनका अच्छा आदर-सत्कार होने लगा था। गाँव में कोई नया आदमी आता-जाता तो इनसे एक बार जरूर मिलता। हर तरह के सार्वजनिक कामों में ये उदारतापूर्वक सहायता करते। परिवार भी खूब बढ़ गया। उत्तमता की दृष्टि से अनूठा भी हो गया। कमी केवल एक बात की रह गई। वसन्त बाबू पर यद्यपि बाह्यलक्ष्मी प्रसन्न थी और यद्यपि उनका सौभाग्य-सूर्य खूब तेजी से चमक रहा था, तथापि गृहलक्ष्मी सदा असन्तुष्ट ही रहने लगी और दिन-दिन क्षीण भी होने लगी—तात्पर्य, मालती सदा बीमार रहने लगी थी। रोटी खाई नहीं जाती थी। सारे शरीर में सदा दर्द बना रहता था। अनमनी-सी रहती और कभी-कभी बुखार भी आ जाता। पर इस अभागिनी के लिए घर में किसीको चिंता नहीं थी। होती भी किसे? घर में पहले ही इने-गिने आदमी रहते थे। तिसपर भी वसन्त बाबू तो उससे बहुत कम बोलते थे। कभी बोलने का अवसर आता भी तो मुहर्रिर से कहकर सब काम करवा लेते। आये-गये का बहाना लेकर बोलने का मौक़ा भी नहीं आता था। मनोरमा इस अवसर के लिए पहले से तैयार रहती। किसी को भोजन के लिए या चाय-पानी के लिए बुलाना हो तो मनोरमा ही उन्हें बुलाती। मालती और मनोरमा भी एक दूसरे से न बोलतीं। और बोले बिना काम रुक जाता तो 'खाने को चलो, पानी दो,' इस तरह एक-दूसरे से परस्पर बोल लेती थीं। इससे आगे कुछ नहीं। इसमें भी मनोरमा को कोई ज्यादा रुकावट नहीं मालूम होती। वह तो कुछ न कुछ पढ़ती रहती। वसन्त बाबू से बातें किया करती। अगर दिल उचट ही जाता तो कभी वायु-सेवन के बहाने और कभी व्याख्यान सुनने के बहाने बाहर निकल जाती। इधर मालती का घर से बाहर निकलना भी कम हो गया था। इसका एक कारण यह था कि बाहर जाने पर यहां उसके पास भी मिलने के लिए स्त्रियाँ आतीं। परन्तु इस तरह आने-जाने वाली स्त्रियों से मनोरमा दिल

खोल कर मिलती नहीं थी, उनसे मन ही मन द्वेष करती थी। इधर मालती जब दूसरी बहनों के यहाँ जाती तब औरतों की सी बातें होने लगतीं—औरतें ही तो ठहरीं! जहाँ एक छेड़ कर कहे, "क्योंजी देवरानी नहीं आई ?" वहाँ, दूसरी झट कह उठती, "जाने भी दो!" इतने में तीसरी बड़े करुण शब्दों में कहने लगती, "क्या कहूँ बहन, ऐसी सुन्दर स्त्री और ऐसा भोला-भाला पति!" वाक्य पूरा होने के पहले ही पहली स्त्री कह उठती, "अजी, रहने भी दो, मनोरमा को इस बात का कुछ दुःख-दर्द थोड़े ही है ! लोक-लाज न रहे, न सही, मन में कसक तो रहनी ही चाहिए। मनोहर बाबू तो बेचारे एक बार गये सो गये ही!" इस तरह की अनेक बातों से घबरा कर मालती मन ही मन पछता कर कहती—'मैं कहाँ आगई?' वसन्त बाबू को जब ये बातें मालूम होतीं तो वह क्रोध के मारे पागल हो जाते। पत्नी को निगल जाने को तैयार हो जाते। पहले जिस पत्नी की ओर से वे बेखबर रहते थे, अब उससे द्वेष करने लगे! उससे उन्हें दिली नफ़रत हो गई। कभी-कभी मनोरमा 'मालती बहन को मेरे कारण दुःख होता है, मुझे अपने पिता के घर क्यों नहीं भेज देते ?' आदि बातें कह कर घर जाने का अभिनय रचती। सुनते ही वसन्त बाबू भीतर जा कर पत्नी से एकान्त में कहते, "तुम उसे क्यों सताती हो जी? मालूम नहीं विचारी कितनी असहाय और दुःखिनी है। व्यर्थ ही उससे द्वेष करके क्या फल पाओगी ? भला लोगों में बिना कारण हमें बद-नाम क्यों करती हो ? तुम्हें शक किस बात का है ? मालूम तो हो! हमारे चाल-चलन की अगर तुम्हें शंका है तो प्रमाण देकर सिद्ध क्यों नहीं करतीं ? इस तरह दूर ही दूर से द्वेष की आग क्यों भड़काती हो ?" ऐसी एक दो नहीं, क्रोध में आ कर वसन्त बाबू न जाने कितनी बातें कह जाते।

मनोरमा को नैहर जाने की कोई दिली ख्वाहिश तो रहती ही नहीं थी। इस अभिनय के बाद कुछ दिन तक घर में शान्ति रहती। ऐसी दशा में मालती की बीमारी की फ़िक्र करता ही कौन ? वह स्वयं बिस्तर बिछा कर पड़ रहती। एक बार डाक्टर को बुला कर बीमारी की जाँच भी करवाई। डाक्टर साहब ने दवा दी, परन्तु लाभ कुछ न हुआ। इसी मौके पर जीजी के घर वाले कार्यवश यहाँ आ पहुँचे। चार दिन तक वे अपने साले के मिहमान रहे। वे भी इस घर के व्यवहार को देख कर चकराये। वसन्त बाबू ने इनसे दिल खोल कर बातें ही नहीं कीं। बहनोई के घर पर आये हैं, अपने यहाँ के मिहमान हैं, अतः 'इनके लिए यह, करो वह करो' आदि बातें करते हुए इन्होंने इस दम्पती को कभी नहीं देखा। न कभी एकान्त में इन्हें बोलते हुए, एक दूसरे को कनखियों से देखते हुए किंवा परस्पर हँसते हुए ही देखा। चुपचाप सारा काम होता रहता। बहनोई बड़े चकित हुए। वह इस विषय में अधिक खबरदारी से जाँच करने लगे। मनोरमा और वसंत बाबू का आपस का व्यवहार देख कर उन्हें दुःख हुआ। पर रिश्तेदारी में कुछ ऊँच-नीच कहें भी कैसे ? बिदा होते समय उन्हें मालती से मिल कर जाना उचित मालूम हुआ। अतः वह रसोईघर के दरवाज़े तक गये। वसन्त बाबू साथ ही थे। दरवाज़े के पास खड़े रहकर उन्होंने कहा—"मैं जाता हूँ, कुछ सन्देशा कहना है क्या ?" सुनकर मालती कुछ आगे बढ़ आई और कहने लगी—"सन्देशा तो कुछ नहीं है, ज़रा उन्हें ही भेज दीजिए न ! बहुत दिन हुए आई नहीं।" यह सुनकर वसन्त बाबू को भी सभ्यतावश कहना पड़ा! "जीजी को कुछ दिनों के लिए भेजिएगा। इस बार उन्हें आये बहुत दिन हो गये हैं। जाते ही उन्हें रवाना कर दीजिए। कहिए तो आदमी साथ कर दूँ ?" बहनोई

को भेज देने का वचन देना पड़ा। पहले जीजी हर सातवें महीने आती रहती थीं। परन्तु इधर वसन्त बाबू का स्वभाव कुछ विचित्र-सा हो गया था; इसी कारण अब उनकी नजर में अपनों के सिवा कोई खास स्थान नहीं रह गया था। पत्नी की सिफ़ारिश करने के कारण वह जीजी से अभी तक अप्रसन्न ही थे। परन्तु कुछ तो खून का मोह और कुछ लोक-लाज दोनों ने मिलकर उन्हें जीजी को बुलाने के लिए बाध्य किया। (अपूर्ण)

(सौ०) गिरिजाबाई केलकर

ईरान की स्त्रियाँ

ईरान हमारे एशिया महाद्वीप का ही एक खण्ड है। भारत के पश्चिम अफ़ग़ानिस्तान-बिलोचिस्तान से परे, तुर्किस्तान व कास्पियनसागर के दक्षिण, मेसोपोटामिया व कुर्दिस्तान से पूर्व, तथा ओमन व फ़ारस की खाड़ी के उत्तर में यह स्थित है। ६२८००० वर्गमील इसका क्षेत्रफल है और एक करोड़ जन-संख्या है। जो पारसी भाई-बहन हमारे साथ रहते-रहते बिलकुल हमारे देश-वासी ही बन गये हैं, उनकी मूल-मातृभूमि यही देश है। पहले यह पारसियों का ही देश था और ज़रतुश्त यहाँ का धर्म था। परन्तु बाद में मुसलमानों का आक्रमण हुआ और उन्होंने पारसियों को हरा दिया। तबसे अपने धर्म की रक्षा के लिए उनमें से अधिकांश भारतवर्ष चले आये और यहीं रहने लगे; और ईरान में मुसलमानी राज्य एवं मुसलमान धर्म स्थापित हो गया। शिया और सुन्नी यहाँ के मुसलमानों के ज़बर्दस्त भाग हैं और यहाँ की मुख्य-मुख्य जातियों की मोटी संख्या इस प्रकार है—शिया मुसलमान ८५०००००; सुन्नी मुसलमान ८५००००; अर्मीनियन ५००००; यहूदी ४००००; नेस्टोरियन ३००००; पारसी १००००। सन् १९०६ तक यहाँ एकतंत्र शासन था, शाहंशाह ही सब कुछ था; परन्तु अब यहाँ प्रजातंत्र राज्य है और रज़ाशाह पहलवी इस समय यहाँ का राष्ट्रपति एवं सर्वेसर्वा है। राष्ट्रीयता में इस समय यह दूसरे किसी भी एशियाई देश से कम नहीं है। परन्तु, हमें देखना यह है, यहाँ की स्त्रियों का क्या हाल है ?

स्त्रियों की स्थिति यहाँ पर अभी बहुत कुछ वैसी ही है, जैसी कि पहले थी। पुराने बन्धनों ने अभी उन्हें छोड़ नहीं दिया है। बुर्क़ा अर्मा भी आम तौर पर जारी है—उत्तरी भाग में वह चेहरे पर नक़ाब लगाने के रूप में प्रचलित है। विवाह का ढँग भी वही पुराना है। बाल-विवाहों का अभी भी बाहुल्य है—१२-१३ वर्ष तो विवाह की बहुत प्रचलित उम्र है। यही नहीं, बहुविवाह का भी आम रिवाज है; और शिया मुसलमानों में, जिनकी कि यहाँ बहुत अधिक संख्या है, मुतिया या अस्थायी विवाह की प्रथा भी खूब प्रचलित है। मजूरी का यह हाल है कि ५-५ बरस के बच्चे भी मजूरी करते हैं! और वह भी कुछ यों ही नहीं; बल्कि १२-१२ घण्टों तक करघे आदि पर असुविधापूर्ण स्थिति में बैठकर कार्पेट बुनने आदि के काम उन्हें करने पड़ते हैं, जिससे कि लड़के-लड़की दोनों के स्वास्थ्य की गहरी हानि होती है—लड़कियों की गर्भ-धारण शक्ति को तो इससे खास तौर पर सख्त नुक़सान पहुँचता है। ऐसी दशा में नये ढँग की आज़ादी और प्रगति की तो गुंजाइश ही कहाँ ? सन् १९०९ में एक 'तबरीज़' अख़बार में 'स्त्रियों की मुक्ति' पर एक लेख निकला था। उस-पर इतनी खलबली मची कि लेखक को अपने प्राणों के ही लाले पड़ गये; और अपनी प्राण-रक्षा के लिए उसे सरकार का आश्रय लेना पड़ा!

परन्तु, एक कहावत है, "खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग बदलता है।" टर्की, मिस्र इत्यादि अपने सजातीय (मुसलमान) देशों की रफ़्तार का ईरान पर भी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। वह भी अब चौंक उठा है; और भिझक परन्तु उत्सुकता के साथ इस दिशा में उसकी टकटकी लग गई है।

ईरान में पश्चिमीकरण का प्रारम्भ तो, 'न्यू एज इनसाइक्लोपीडिया' के अनुसार, सन् १८४९ में ही हो गया था; परन्तु स्त्री-स्वातंत्र्य के भावों की उस समय तक शायद कोई चर्चा न उठी थी, जब तक कि 'स्त्रियों की मुक्ति' वाला लेख प्रकाशित न हुआ। स्त्री-स्वातंत्र्य के भावों और आन्दोलन के श्रीगणेश का श्रेय तो सन् १९०९ में प्रकाशित उस लेख को ही है, और सचमुच तभी से वहाँ की स्त्रियाँ इस दिशा में पदार्पण करने का कुछ प्रयत्न भी करने लगी हैं—फिर वह प्रयत्न चाहे कितना अल्प ही क्यों न हो। उस लेख से मचने वाली खलबली से एक ओर जहाँ लेखक को अपनी प्राण-रक्षा की फ़िक्र करनी पड़ी, वहाँ दूसरी ओर इस सम्बन्ध में कुछ विचार क्रान्ति हुई और एक नवीन जागृति ने जन्म लिया। नये विचारों और नयी प्रगति के प्रति सर्वसाधारण में जो घोर असहिष्णुता थी, इसी समय से, वह क्रमशः कम होने लग गई। कुछ लोगों में बुर्क़े को नष्ट करने की भावना का भी उदय हुआ। कई मर्द पुलिस की सहायता से स्कूल जाने वाली लड़कियों से बुर्क़ा छुड़वाने की चेष्टा भी करने लगे हैं। उधर ईरानी नौजवानों में, प्रगतिशील राष्ट्रों को देख-देख कर, अलग ही इसके विरुद्ध प्रबल भाव बढ़ और फैल रहे हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि वहाँ पर इसके विरुद्ध शीघ्र ही कोई क़ानून बन जायगा।

बाल-विवाह की बुराइयों पर ईरानी भाई-बहन ध्यान देने लगे हैं। डाक्टरों का ध्यान इस ओर सब से अधिक है। पश्चिम के अनुभव से अब वे इसकी बुराइयों को बख़ूबी समझने लगे हैं और इसके ख़तरों से उन्होंने सरकार को सूचित कर दिया है। ईरानी स्त्रियों ने भी इसके लिए अपना एक छोटा समाज संगठित किया है। इसकी सदस्याओं की यह प्रतिज्ञा है कि १६ वर्ष की उम्र होने से पहले अपनी-अपनी लड़कियों के विवाह वे न करेंगी।

मजूरी करने वाले बालकों के लिए, राष्ट्र-संघ की सहायता से, सन् १९२२ में नये क़ानून बने हैं। इनके अनुसार कारख़ानों में काम करनेवाले लड़के-लड़कियों की उम्र का औसत ८ और १० वर्ष होना आवश्यक है। यही नहीं, १४ वर्ष से कम अवस्था वाले किसी भी लड़के-लड़की से प्रतिदिन ८ घण्टे से अधिक काम न लेने और जो कमउम्र लड़के-लड़की कार्पेट आदि बुनने का काम करते हों उनके लिए स्वास्थ्यकर परिस्थिति एवं सुविधापूर्ण बैठक की व्यवस्था करने का भी इन क़ानूनों में आदेश है।

शिक्षा में आज भी वहाँ की स्त्रियों का औसत .०३ प्रति सैकड़ा से अधिक नहीं है। हाँ, प्रयत्न इस दिशा में भी हो जरूर रहा है। फलस्वरूप हाल में सरकार ने बहुत-सी कन्या-शालायें खोली भी हैं—कई तो अकेले इस्फ़ाहन नगर ही में हैं। पर बाहरी धंधों में अभी तक सिर्फ़ अध्यापकी का ही काम उनके लिए पूरी तरह खुला हुआ है।

हाँ, बहाई स्त्रियों ने इस दिशा में अच्छी तरक़्क़ी कर ली है। बहाई-आन्दोलन ईरान की ही उपज है। इसके अनुयायी स्त्री-पुरुष की समानता के हामी हैं। फलतः इनकी स्त्रियाँ आजादी के साथ पुरुषों से मिलती-जुलती और उनमें हिलती-मिलती हैं। और चूंकि फौज व दूसरे सरकारी महकमों में इनका काफ़ी भाग है, इसलिए समस्त ईरान की स्त्रियों की आजादी पर उनका असर पड़ रहा है। 'जहन' नाम का इनका

स्त्रियों का एक पत्र भी निकलता है। ईरान के स्त्री-स्वातंत्र्य-आन्दोलन का यह प्रतिनिधि है और इसकी सम्पादिका इंग्लैंड व अमेरिका का भ्रमण करके वहाँ की आज़ाद स्त्रियों के जीवन को भलीभाँति देख चुकी हैं। अलावा इसके 'हब्दुल मातिन' नाम का कोई पत्र है, जिसकी उप-सम्पादिका कुमारी एफ़० एस० मुवय्यदज़दा एम० ए० हैं। इन्होंने अफ़ग़ानिस्तान की महारानी सूरिया के हाल के यूरोप-भ्रमण के समय उनके नाम एक खुली चिट्ठी लिख कर पूर्वीय ख़ास कर भारत, ईरान, टर्की, अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान और सम्भव हो तो चीन व जापान की भी स्त्रियों का एक संगठन या सङ्घ बनाने की प्रार्थना की थी। यही क्यों, 'एशियाटिक रिव्यू' के एक लेख के अनुसार, इस वर्ष तो दो बार ईरानी स्त्रियाँ सार्वजनिक प्रदर्शन भी कर चुकी हैं।

इस प्रकार कुछ तो बहाई-आंदोलन और कुछ टर्की, मिस्र आदि सजातीय राष्ट्रों पर हुए पश्चिमी प्रभाव के क्रांतिकारी परिणाम के असर से ईरान के निवासियों में भी, जो कि 'प्रधानतः कृषिकार और चरवाहे' हैं, आज आधुनिक नवजीवन आ रहा है। पश्चिमी सभ्यता का असर दिन-दिन बढ़ रहा है और दूसरे मुसलमान देशों की भांति ईरान की स्त्रियाँ भी झिझक और शिथिलता परन्तु हार्दिक लगन के साथ उसका स्वागत करने के लिए हाथ बढ़ा रही हैं। उनकी यही गति जारी रही तो इसमें संदेह नहीं कि वे भी कालांतर में शीघ्र ही टर्की व मिस्र की नाई पश्चिमी देशों की स्त्रियों का मुक़ाबला करने लगेंगी। परमात्मा उन्हें सफलता दें—परन्तु, क्या ही अच्छा हो कि वे इस रफ़ार में पश्चिमी बहनों के गुणों ही का ग्रहण करें, उनके धूम्र-मद्य-पान आदि अवगुणों को रंचमात्र न अपनावें। क्या वे ऐसा करेंगी ?

एक भारतीय

गर्भवती के लिए कुछ नियम

गर्भस्थिति के पश्चात् स्त्री के शरीर में बड़ा परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है। यह समय स्त्री के जीवन-काल में बड़ा नाज़ुक समय समझा जाता है। परन्तु बहुधा स्त्रियाँ इस काल को बड़ी असावधानी से व्यतीत करती हैं। अतः नीचे कुछ नियम दिये जाते हैं, जिनपर चलने से होने वाली अनेक त्रुटियों से छुटकारा मिल सकता है—

(१) गर्भवती को सादा, हलका और जल्दी पचने वाला भोजन करना चाहिए।

(२) पीने का पानी साफ़ होना चाहिए। अधिक ठंडा भी न हो। चाय, काफ़ी, भंग और अन्य नशीली तथा तेज़ वस्तुओं से यथाशक्ति बचना चाहिए।

(३) गर्भवती को नित्य प्रति एक बार तो अवश्य शौच जाना चाहिए। यदि कभी क़ब्ज़ हो जाय, तो किसी औषधि का अवश्य सेवन करना चाहिए। १ औंस शुद्ध अरंडी का तेल अथवा १ से २ ड्राम पल्व ग्लीसराइज़ा कम्पाउन्ड को दूध के साथ खा लेना उपयुक्त होगा।

(४) प्रत्येक दिन मूत्र भली प्रकार आना चाहिए—यदि कुछ काल तक मूत्र कम आने लगे, अथवा उसकी रंगत में कोई परिवर्तन प्रतीत हो, तो किसी डाक्टर से उसकी अवश्य जाँच करा लेनी चाहिए।

(५) प्रत्येक दिवस स्नानादि करना आवश्यक है—परन्तु, रोग की अवस्था में स्नान करना आवश्यक नहीं। यह ध्यान रहे कि जल न तो अत्यन्त गर्म हो और न अत्यन्त ठण्डा हो।

(६) यदि सम्भव हो तो बाह्य जननेन्द्रियों को नित्य प्रति गर्म पानी से धोना चाहिए।

(७) मुलायम, शुद्ध और हलके वस्त्रों का ही प्रयोग करना उचित है। शरीर के किसी भाग पर, विशेषतया कमर के चारों ओर, किसी प्रकार की सख्त डोरी अथवा पेटी इत्यादि का उपयोग न करना चाहिए।

(८) गर्भावस्था के अंतिम ३-४ मास में यदि उदर को किसी कोमल चौड़ी पेटी के द्वारा सम्हाल रक्खा जा सके, तो कुछ हानि नहीं।

(९) प्रत्येक दिवस बाहर किसी उद्यान इत्यादि में टहलना लाभदायक है।

(१०) किसी प्रकार का कड़ा परिश्रम न करना चाहिए—जैसे भारी बोझ उठाना, बहुत काल तक खड़ा रहना, बार-बार चढ़ना-उतरना, अथवा दूर तक टहलना।

(११) नियमानुसार तो गर्भ-स्थिति के पश्चात् ही सम्भोग बन्द कर देना चाहिए, परन्तु गर्भावस्था के अंतिम ३-४ मास में तो यह क्रिया किसी दशा में भी न करनी चाहिए। ऐसा करना माता, पिता और बालक तीनों के लिए हानिकारक होता है।

(१२) मन को यथाशक्ति शांत और पवित्र रखना चाहिए। लड़ना-झगड़ना, व्यर्थ रोदन करना, और क्रोध ऐसी अवस्था में अत्यन्त हानिकारक होते हैं।

(१३) यदि स्त्री प्रथम बार गर्भवती हुई है तो उसके स्तन के मुखों (Nipples) को ध्यान-पूर्वक देखना चाहिए कि अधिक दबे हुए तो नहीं हैं। यदि वह दशा हो तो स्त्री को उन्हें कोमलता के साथ दिन में ३-४ बार खींचना चाहिए। इसके अतिरिक्त गर्भावस्था के अंतिम ३ मास में उन्हें मैथिलेटेड स्प्रिट से १-२ बार नित्य प्रति धोना चाहिए। ऐसा करने से उनके ऊपर की त्वचा कड़ी हो जाती है और नवजात शिशु दूध पीते समय अधिक कष्ट नहीं देता।

रामनाथ वर्मा

देवि !

संसार तुम्हें पहचान कर भी नहीं पहचानता। तुम्हें पूजनीया मानते हुए भी, उपेक्षा की ही दृष्टि से देखता है। तुम्हारी सहस्र-सहस्र गुण-गरिमा की स्तुति करते हुए भी, उसकी जिह्वा तुम्हारे लिए कड़वी रहती है। जानती हो क्यों? तुम्हारे हृदय में अपने आपका अभिमान नहीं। संसार तो अभिमानियों का ही लोहा मानता है—चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हो। पर देवि! तुम संसार की उपेक्षाओं से अपने स्निग्ध, मधुर, कोमल गुणों को मत छोड़ देना। संसार जब-जब भव-आतप से जल उठा है, तब-तब तुम्हारे ही सद्‌गुणों की शीतल छाया में उसे विश्राम मिला है। यदि वह कृतघ्न हो जाय तो तुम अपने कर्त्तव्य से क्यों चूको?

तुम्हें सदा से ही उपेक्षा और यंत्रणा मिली है। किंतु, तुम तो आदिकाल से ही वही अनंत क्षमाशीला लोक-कल्याणी हो। इसी दैवी गुण ने तुम्हारा सात्त्विक शृंगार करके, तुम्हें देवी बना दिया है।

ओ विश्व-जननी आदिशक्ति! आज तुम फिर अपने-आपको पहचानो। अनादिकाल से जिन महान् गुणों ने तुम्हें पूजनीया बनाया है, देखो, वे नष्ट न होने पावें। सृष्टि की न-जाने कितनी लम्बी उम्र बीत गई, किंतु तुम्हारी वह महत्ता भूले नहीं भूलती।

तुम रति के रूप में सौंदर्य की रानी हो; लक्ष्मी के रूप में संसार की मंगलमयी पूँजी हो; शारदा के रूप में कल्याणी वाणी हो; दुर्गा के रूप में दुर्गति नाशिनी हो; और वात्सल्यमयी अन्नपूर्णा के रूप में अनंत जीवनदात्री हो! इस प्रकार "सत्यं-शिवं-सुंदरं" की प्रत्यक्ष मूर्ति तो तुम्हीं हो। तुम्हारे रहते भी संसार में अशुभ अशांति छा जाय, हाहाकार मच जाय,—यह कैसी अनहोनी!

आज संसार के जीवन-संग्राम में घोर वैषम्य धधक रहा है, सृष्टि की हरियाली झुलस रही है, अपने चारों तरफ त्राहि-त्राहि मची है। अपने जीवन-संग्राम में संसार तुम्हें यथार्थतः सहचरी न बना सका, उसीका यह फल है। किंतु करुणामयी देवि! इस दुर्दशा को देखने के लिए क्या तुम सजल आँखें न खोलोगी?

ओ लक्ष्मी! ओ शारदे! ओ दुर्गा! ओ अन्नपूर्णे! जागो—अपने इसी रूप में जागो! संसार के नीरस जीवन में अपने उसी पूत व्यक्तित्व से माधुर्य ढुलका दो!

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी

विचार-लहरी

(एक मित्र के पत्र से)

प्रिये,

हमारे समाज का वर्तमान स्वरूप बड़ा ही विचित्र हो गया है। धर्म और अधर्म, नीति और अनीति की बड़ी विकट गुत्थमगुत्थी हो गई है। हम सब अज्ञान के अंधेरे में टटोल रहे हैं; कहीं धर्म को अधर्म समझ रहे हैं, और कहीं अधर्म को धर्म। कई बार अनीति को नीति और नीति को अनीति समझते हैं।

इस समय ऐसे दृढ़ और ज्ञाता पुरुषों की आवश्यकता है, जो इस जटिलता को सुलझाकर ठीक नीति का अवलंबन कर सकें। मैंने भी अब निश्चय किया है कि धीरे-धीरे इस काम में लगना चाहिए। मैं चाहता हूँ कि जिसे करने में कोई अनीति न देखूँ, जिसे करने में अगर नीति का अवलंबन तथा कुछ समाज का फायदा भी होता हो, तो उसे जरूर करूँ—समाज के डर से अपनी तथा अपने प्रिय जनों की उन्नति में समाज की रूढ़ि को बाधक न होने दूँ। मैं चाहता हूँ कि अगर हमें जीवन की मंज़िल गौरव-पूर्वक—ग़रीबों के पैसे लूटकर अपनी तोंद बढ़ा के नहीं बल्कि अपने और उनके उद्धार के लिए उनकी सेवा करते हुए—तय करने की इच्छा हो, तो तुम्हें भी इसी तरह धर्म और नीति के कार्यों में निर्भय हो जाना चाहिए।

क्या मैं तुमसे यह पूछूँ कि अब तुम खादी पहनती हो या नहीं? चर्खा नियम से कातती हो या नहीं? अपनी माता और बहनों को खादी का महत्व समझाती हो या नहीं? अगर यह सब करती हो, तब तो तुम अपनी देश-माता के प्रति कुछ सेवा कर रही हो; अन्यथा, कहना होगा कि, अपना समय यों ही गँवा रही हो।

अज्ञान की नींद में बहुत सो लिये। अंग्रेजों को अपने घर का धन खूब लुटा दिया और ग़रीबों को हमने भी खूब लूटा। इसीलिए हम आज पराधीनता में पड़े हैं। हमने धन-दौलत के लोभ से अपनी अंतरात्मा को बहुत दबाया, उसपर बहुत अत्याचार किया। अब हमें उसका प्रायश्चित करना चाहिए। देश को अंग्रेजी राज्य से मुक्त करना चाहिए। स्त्रियों को अब केवल यह न समझना चाहिए कि हमारा काम तो रोटी पकाना है। इस समय हम इस हालत में पहुँच गये हैं कि स्त्रियों को भी देश के उद्धार के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। उनके बिना हमारा आधा संग्राम सूना रहेगा। चर्खा जो स्वराज्य का क़िला सर करने की तोप है, वह स्त्रियों ही के हाथ में है। वे यहाँ से चुपचाप चर्खा कातकर ठेठ विलायत में अंग्रेजों की अक़्ल ठिकाने ला सकती हैं। अतएव इस समय भारत की हरएक सच्ची पुत्री का कर्तव्य है कि वह नियम से चर्खा काते। जो चर्खा काते वही भोजन करे। जो चर्खा कातने को नीचा समझती हैं, वे भारत के कल्याण को नहीं समझतीं।

मुझे पता नहीं, तुम वहाँ किस तरह अपना जीवन बिताती हो। देवी, यह हमारी जवानी है।

परमात्मा ने हमारे शरीर में हमारे देशभाइयों की सेवा करने के लिए खूब खून और शक्ति दी है। इस समय उसकी सेवा करके अपने दिल की सब मुराद पूरी करलें। अभी कलकत्ता की 'अमृतबाज़ार पत्रिका' नामक एक पत्रिका के संपादक बाबू मोतीलाल घोष स्वर्गवासी हो गये। मृत्यु के समय उनकी अवस्था ७७ साल की थी। बड़े देश-भक्त थे। भारत में अख़बार निकालने में सबसे पुराने और सबसे अनुभवी वही थे। देशमाता की सेवा उन्होंने लगातार ५० साल तक की थी। देश आज उनकी मृत्यु पर रो रहा है। तथापि मरते समय उनके भी यही वाक्य थे—"मैं अपनी मातृभूमि की कुछ भी सेवा न कर सका।" उसके पीछे वह बूढ़े हुए, फ़कीर हो गये, और मर भी गये; तथापि, इतनी सेवा भी उन्हें कम मालूम हुई। फिर हमें इतनी सेवा न करनी चाहिए?

हमें तो परमात्मा को इसलिए धन्यवाद देना चाहिए कि उसने हमें भारत के पुनरुद्धार के समय जन्म दिया। सच्ची सेवा का समय यही है। अधीर होने से काम नहीं चलेगा। जो शौक़ के लिए इस आंदोलन में शरीक़ हुए हैं, वे ही अधीर होते हैं। हम स्वराज्य लेकर ही दम ले सकते हैं, उसके सिवा नहीं। फिर वह चाहे एक साथ हो, या जीवन ही उसमें क्यों न बीत जाय!

क्या तुम इन बातों पर अमल करोगी?

तुम्हारा जीवन-साथी—

"शिक्षित स्त्रियों को परदा दूर करना चाहिए और वयःप्राप्त विधवा तथा कुमारिकाओं को निर्भय होकर राजनैतिक जीवन में प्रवेश करना चाहिए। जगत की देवियाँ अपने समानाधिकार के लिए झगड़ रही हैं। मैं भारत में भी अपनी बहनों को उतनी ही धीरता और बहादुरी से बढ़ते हुए देखना चाहता हूँ।"

—सर शंकरन नायर

स्फुट प्रसंग

ब्रिटेन में समान-मताधिकार

इंग्लैण्ड में बहुत दिनों से यह प्रयत्न हो रहा था कि पुरुषों ही के समान स्त्रियों को भी पार्लमेण्ट का मताधिकार मिल जाय। स्त्री-स्वातंत्र्यवादिनियों (Suffragists) का दल बड़े उग्र रूप में इसके लिए प्रयत्नशील था, अनेक पुरुष भी उनके समर्थक हो गये थे, और पिछले दिनों क़ानून के रूप में वह पार्लमेण्ट में पेश भी हो गया था। अब, ८ जुलाई को, लन्दन से रूटर ने ख़बर भेजी है कि वह दर्जे-बदर्जे सब श्रेणियों में पास हो गया है और उसपर सम्राट् ने अपनी स्वीकृति दे दी है। इस प्रकार जिस समान-मताधिकार के लिए ब्रिटिश महिलायें इतने दिनों से लड़ रही थीं, अन्त में, वह उन्हें मिल गया। इसके लिए ब्रिटिश बहनों को हार्दिक बधाई!

अफ़ग़ानिस्तान की प्रगति

अफ़ग़ानिस्तान के अमीर और रानी विदेश क्या गये, अफ़ग़ानिस्तान में नवजीवन का प्रारम्भ हो गया। अपने प्रवास से आकर उन्होंने अपने अनुभवों को कार्य-रूप देना आरम्भ कर दिया है। मुसलमानों में परदा कितना बढ़ा हुआ है, यह सब जानते हैं। पर रानी सूरिया ने यूरोप में उसे तिलांजली दे डाली। और, खुशी की बात है कि, अफ़ग़ानिस्तान पहुँच कर वहाँ उन्होंने न केवल अपना ही क्रम नहीं बदला, बल्कि वहाँ की अपनी बहनों को भी इससे बन्धन-मुक्त कर दिया है। उस दिन एक सार्वजनिक दावत में बिना परदे के, पुरुषों के बीच, वह उपस्थित हुई थीं। और परदा तोड़ने का सरकारी हुक्म भी निकल गया है।

इस संबन्धी एक घटना बड़ी मज़ेदार है। रानी को बे-परदा देखकर कुछ मुल्ला लोग अमीर की ख़िदमत में पहुँचे थे और धर्म की रक्षा के नाम पर उनसे परदा न छुड़ाने की प्रार्थना की। अमीर ने उनसे पूछा—'गाँवों में परदे का क्या हाल है?" इसपर वे चुप रह गये और बोले—'वहाँ तो ग़रीबी है, स्त्रियों को काम भी करना होता है, वहाँ परदा

कहाँ ?' इसपर अमीर ने कहा कि जब वे परदा न करते हुए भी चरित्रहीन नहीं तो शहर वाले ही ऐसा क्यों करें ? जाइए, पहले आप गाँवों में परदा कराइए; फिर यहाँ आना। वे खिसियाकर चुपचाप चले गये।

इस प्रकार हमारे पड़ोसी कट्टर मुसलमान देश अफ़गानिस्तान ने अपने यहाँ से परदे की प्रथा को तिलांजलि दे दी है और बड़े वेग से आधुनिक सुधारों की ओर अग्रसर हो रहा है। हमें आशा है, भारत की मुसलमान बहनें उसकी इस प्रगति से सबक़ लेंगी।

भारतीय महिलाओं की विजय

इन्हीं दिनों भारतीय महिलाओं ने भी एक ज़बर्दस्त सफलता प्राप्त की है। बिहार में उठे परदा-आन्दोलन ने अपना सुफल दिखलाया है। जैसी कि घोषणा हुई थी, ८ जुलाई को प्रान्त भर में परदा तोड़ कर स्त्री-पुरुषों की सम्मिलित सभायें हुईं—और, कहना चाहिए, बड़ी सफलता के साथ हुईं। पानी बरस रहा था, नेताओं के मन में आशङ्का छा रही थी, सर्व-साधारण में अविश्वास था; फिर भी सभाओं में ख़ासी उपस्थिति रही—उपस्थिति भी ऐसी कि बड़े-बड़े घरानों की परदानशीन औरतें भी अच्छी संख्या में शामिल हुईं। और उन्होंने जो निश्चय किया, वह पटना की सभा के निम्न प्रस्तावों से प्रकट है—

"१. (क) स्त्री और पुरुष पटने की इस सभा में इकट्ठे होकर घोषणा करते हैं कि हम लोग आज से परदे के गन्दे रिवाज को हटा रहे हैं जिससे देश, समाज और ख़ास कर स्त्रियों की हालत हर तरह से ख़राब हो चुकी है और दिन बदिन ख़राब हो रही है।

(ख) साथ ही हम लोग उन बहनों और भाइयों से अनुरोध करते हैं, जो अभी तक मिथ्या संकोच में पड़े हुए हैं, कि जितनी जल्दी हो सके इस कुप्रथा को अपने घर से हटा कर देश में शिक्षा और स्वास्थ्य की वृद्धि करें।

(ग) परदा हटाने वाली बहनों तथा भाइयों का ध्यान भारत के महाराष्ट्र, कर्णाटक, गुजरात, मद्रास आदि प्रान्तों की भारतीय सभ्यता के आधार पर प्रचलित प्रथा की ओर दिलाया जाता है और उनसे अनुरोध किया जाता है कि अपनी वेशभूषा में सरलता और सादगी रखते हुए परिवार के भीतर ससुर, पतोहू आदि के बीच जो अन्दरूनी परदा है उसको तथा बाहरी परदे को हटावें।

२. परदा-प्रथा को हटाने के लिए तथा स्त्रियों की शिक्षा और सुधार के लिए प्रान्त में एक प्रान्तीय समिति क़ायम की जाय। और हर ज़िले, सब-डिवीज़न, थाने और ग्राम में सहायक समितियां स्थापित की जायँ।

३. परदा-प्रथा को हटाने के लिए स्त्रियों की सब प्रकार की शिक्षा के प्रबन्ध के लिए तथा परस्पर विचार-विनिमय के लिए प्रान्त भर में हर ज़िले, सब-डिवीज़न, थाने और ग्राम में महिला-समितियां क़ायम की जायँ।

४. स्त्रियों की उन्नति के लिए प्रान्त भर में जगह-जगह महिला-आश्रम खोले जायँ, जिनमें निवास करने वाली महिलाओं और कन्याओं को कुछ समय तक ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे उनका जीवन सादा और परिश्रमशील बने तथा धात्रीशिक्षा, शिशुपालन, सीना-पिरोना आदि गृहकार्य में प्रवीणता प्राप्त करके आदर्श गृहिणी बनने के साथ-साथ साहित्य, संगीत, घरेलू अर्थशास्त्र, हस्तकौशल, इतिहास, भूगोल आदि उपयोगी विषयों का आरम्भिक ज्ञान प्राप्त करके वे देशसेविकायें बनें।"

बिहार के प्रायः सभी सर्वमान्य नेता इसके समर्थक हैं। राष्ट्रीय नेता बा० ब्रजकिशोरप्रसाद और प्रान्तीय स्वशासन विभाग के मन्त्री सर गणेशदत्तसिंह तथा दूसरे सब नेता भी इसके साथ हैं। राजेन्द्र बाबू यहाँ नहीं हैं, पर उन्होंने लन्दन से ही अपनी सहानुभूति भेजी है, और अपने घर की स्त्रियों को इसमें शरीक होने का आदेश किया है। इस प्रकार बिहार इस दिशा में एकदम क्रान्तिकारी परिवर्तन कर रहा है। कुछ लोग इसपर सशंक हुए हैं। कलकत्ते के 'फ़ारवर्ड' में एक वकील साहब ने लिखा है कि परदा तो ज़रूर दूर होना चाहिए, पर क्रमशः—और शिक्षा की वृद्धि करते हुए। नहीं तो, उनका कहना है, लाभ के साथ इससे कुछ नैतिक हानि भी होने की सम्भावना है। इसमें शक नहीं कि उनका यह कहना ग़ैरवाजिब नहीं; क्योंकि बहुत दिनों तक क़ायम रही हुई स्थिति दिमाग़ और वृत्ति को भी कमज़ोर बना देती है। परन्तु जब हम देखते हैं कि इस बात पर

आन्दोलन के अगुओं का पहले ही से बहुत ध्यान है और मौक़े-मौक़े उन्होंने इस तरफ़ ध्यान आकर्षित किया है, तब भयभीत होने की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं मालूम होती। अस्तु, आशा है, बिहारी बहन-भाइयों का यह साहस दूसरे प्रान्तों के बहन-भाइयों के लिए भी मार्ग-दर्शक होगा।

क़ानूनों के द्वारा सुधार

भारतीय धारा-सभा का अधिवेशन निकट आ रहा है। कौन-कौन से प्रस्तावों और विधानों पर उसमें विचार होगा, इसके अनुमान लगाये जा रहे हैं। स्त्रियों सम्बन्धी सुधारों में, जो बातें सबसे ज़्यादा ध्यान आकर्षित कर रही हैं, उनमें सबसे प्रथम श्री हरविलास सारडा का

बालविवाह-निषेध बिल

है। इसपर विचार करने के लिए जो सिलेक्ट कमिटी बैठी थी, उसने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी है। उसने विवाह के लिए लड़के व लड़की की उम्र क्रमशः १८ और १४ वर्ष तय की है। माननीय मालवीयजी का दूसरे सदस्यों से मत-भेद है; वह लड़की की विवाह-वय १२ वर्ष रखना चाहते हैं। और, एक सिफ़ारिश उसने यह की है कि इसे फ़ौजदारी क़ानून बनाया जाय, जिससे जाति-विशेष के लिए मर्यादित न रह-कर इसका अमल सार्वदेशिक हो। और सज़ा के लिए उसकी यह सिफ़ारिश है कि बजाय उन लड़के-लड़कियों के उन अभिभावकों ही को सज़ा दी जाय, जो ऐसे नाजायज़ विवाह करायें या कराने में उत्तेजना देवें। इस प्रकार इसने एक नया और पहले से भी अच्छा रूप धारण किया है और आशा की जाती है कि इस बार के अधिवेशन में इसपर कोई न कोई अन्तिम निर्णय ज़रूर हो जायगा।

सहवास-वय विधान

दूसरा सुधार है, जिसकी इन दिनों चर्चा है। डा० हरि-सिंह गौड़ इसके प्रस्तावक हैं और श्रीयुत मोरोपन्त जोशी की अध्यक्षता में एक सिलेक्ट कमिटी इस सम्बन्ध में जाँच कर रही है। इस सम्बन्धी पुराने और सन् १९२५ के संशोधित विधान की जाँच करके यह मालूम करना उसका काम है कि उनमें सुधार की ज़रूरत है या नहीं। यदि सुधार की ज़रूरत मालूम पड़ी तो यह सिफ़ारिश भी करनी होगी कि क़ानून का भंग होने पर विवाहित और अविवाहित दशा में क्या सज़ा रक्खी जानी चाहिए। सहवास की वय इस बिल में विवाहितों के लिए १३-१४ वर्ष और अविवा-हितों के लिए १४ से १६ वर्ष रक्खी गई है। इसके लिए कमिटी ने एक प्रश्नावली निकाली है, जिसमें पूछा गया है—वर्तमान विधान बदलने की ज़रूरत क्यों है? १९२५ में सहवास-वय १४ वर्ष मुक़र्रिर कर दिये जाने के बाद भी क्या तुम्हारे यहाँ बलात्कार और लड़कियों का व्यभिचार जारी है? लड़कियों के युवावस्था प्राप्त करने की सामान्य वय क्या है? क्या तुम्हारे यहाँ १३ वर्ष से पहले किसी समुदाय में सहवास होता है? इत्यादि। ३० जून से शिमला में इसकी बैठक होगी। सारडाजी के बाल-विवाह-बिल से कहीं लोगों को यह भ्रम न हो जाय कि जब वह पास हो रहा है तो फिर इसकी क्या ज़रूरत, इसके लिए सिलेक्ट-कमिटी की ओर से एक विज्ञप्ति निकाली गई है। उसमें कहा गया है कि बाल विवाह-बिल पास हो जाने पर भी सहवास-विधान तो अलग ही रहेगा और इसलिए उसके कारण इसकी उपेक्षा न की जानी चाहिए।

तलाक का बिल

भी डा० हरिसिंह गौड़ ने ही रक्खा है। इसकी रूप-रेखा इस प्रकार है—

इस क़ानून का नाम 'हिन्दू विवाह-विच्छेद विधान' होगा। तमाम हिन्दुओं पर यह लागू होगा और समस्त ब्रिटिश भारत में इसका अमल होगा।

(क) पति नपुंसक हो, (ख) शरीर व मस्तिष्क से निर्बल-पागल हो, अथवा (ग) कोढ़ी हो, तो हिन्दू स्त्री अपने विवाह-सम्बन्ध को नाजायज़ ठहरवा सकेगी अर्थात् अपने पति को तलाक दे सकेगी।

आजकल इसकी विशेष चर्चा है। इसके समर्थन में शास्त्रों के प्रमाण संग्रह करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न हो रहा है कि हमारे यहाँ पहले भी यह प्रथा जारी थी। बम्बई की महिलाओं ने ज़ोरों के साथ इसका समर्थन किया है, जब कि दूसरी कई जगहों से विरोध की ध्वनि भी आई है। उधर सहयोगी 'अभ्युदय' (प्रयाग) ने एक अग्रलेख लिख-

कर इसपर सावधानी और सतर्कता से विचार करने की सलाह दी है।

इस प्रकार समाज-सुधार के कई विधान क़ानून बनने की बाट जोह रहे हैं। नहीं कह सकते इनमें किस-किसको सफलता मिलेगी, कौन आगे को टलेगा, और कौन व्यर्थ जायगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि इनकी वजह से स्त्री-हितों की दिशा में एक खलबली और दिलचस्पी लोगों में ज़रूर रहेगी। और सर्वसाधारण में स्त्रियों के प्रश्न पर दिलचस्पी पैदा होना किसी न किसी रूप में अभी या भविष्य में अच्छा ही साबित होगा।

स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार

कई लोगों की यह शिकायत है कि भारत में पुरुषों ही को सब साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त हैं। स्त्रियों को नहीं। कोई मरता है तो उसका वारिस प्रायः पुरुष ही होता है।

ऐसे लोगों को आजकल इस दिशा में जो प्रयत्न हो रहे हैं उनसे अवश्य प्रसन्नता होगी।

सामान्यतः दो प्रयत्न इस समय हमारे सामने हैं। अजमेर के श्री हरविलास सारडा ने बड़ी धारा-सभा में अपने बाल-विवाह निषेध बिल के अलावा, एक और बिल पेश करने का निश्चय किया है। आपका मत है कि संयुक्त परिवारों में पति की मृत्यु के बाद विधवा स्त्री को कुछ नहीं मिलता, जिसके कारण हिन्दू-विधवाओं को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतएव आपके इस नये बिल का उद्देश्य है हिन्दू विधवाओं के विरासत के हक़ों की रक्षा।

दूसरी ओर, 'सैनिक' के लेखानुसार, हिन्दू स्त्रियों के अधिकारों की संशोधित धारा के नाम से नागपुर के एडवोकेट श्री डी० डबल्यू० आठवले तथा पूना के श्री एन० बी० भोण्डे ने अखिल भारतीय क़ानूनी खोज संस्था की ओर से एक बड़ी महत्व-पूर्ण धारा तैयार की है, जिसे पास करके भारतीय स्त्रियों के जन्मसिद्ध हक़ों की रक्षा की जायगी। इस धारा के अनुसार पिता के मरने पर, पिता या माता के दत्तक पुत्र का संपत्ति पर पूरा अधिकार न हो जायगा, बल्कि वह सिर्फ़ एक-चौथाई का स्वामी होगा, बाकी हक़ विधवा का होगा; उसके बाद कन्या को, कन्या के न होने पर कन्या के पुत्र को मिलेगा—यदि दोनों न हुए तब पुत्र या दत्तक पुत्र को मिलेगा। अभी तो, वर्तमान क़ानून के अनुसार, संयुक्त परिवार में रहने वाला अपने हिस्से में से अपनी स्त्री, पुत्री, भगिनी के लिए एक ख़ास हिस्से की वसीयत नहीं लिख सकता। इस धारा के अनुसार वह ऐसा कर सकेगा। इसमें सबसे महत्व-पूर्ण बात यह है कि केवल स्त्री होने के कारण कोई स्त्री संपत्ति की उत्तराधिकारिणी होने से वंचित नहीं हो सकेगी। बराबर रिश्ते में होने पर—जैसे बहन-भाई—कन्या या स्त्री पुरुष का आधा हिस्सा पावेगी; यानी भाई दो भाग तो बहन एक भाग। मिताक्षरा क़ानून जो भी कहे, पुत्र के न होने पर विधवा ही पति की संपत्ति की पूर्ण स्वामिनी होगी।

आशा है, हमारी बहनों को इन प्रयत्नों से प्रसन्नता होगी और दिलचस्पी के साथ वे इनकी गति-विधि पर ध्यान रक्खेंगी।

मताधिकार की दिशा में

मताधिकार की दिशा में भारत बढ़ तो रहा है, पर कई बहनें उसे काफ़ी नहीं समझतीं। श्रीमती मायादेवी नामक एक बहन ने हाल ही एक लेख 'हिन्दुस्थान टाइम्स' में लिखा है। उनका कहना है कि कौंसिलों के लिए उम्मीदवार होने का मौजूदा वातावरण स्त्रियों के लिए विशेष उपयुक्त नहीं है। स्त्रियों की मौजूदा हालत के मुताबिक चुनाव का कोई सरल पर प्रभावशाली उपाय निकालना ज़रूरी है। और इसके लिए उनकी यह सूचना है कि स्त्रियों का पृथक् निर्वाचन और प्रतिनिधित्व हो और वह स्त्रियों के द्वारा और स्त्रियों के लिए ही हो। शुरुआत के लिए, उनका कहना है कि, परीक्षण के तौर पर प्रान्त के प्रत्येक डिवीज़न का एक-एक स्थान और चुनाव स्त्रियों के लिए पृथक् कर दिया जाय। यही क्रम स्थानिक स्वशासन संस्थाओं में होना चाहिए। ग़ैरसरकारी मेम्बरों को नामज़द करने की प्रथा की आप सिद्धान्ततः विरोधी हैं और स्त्रियों के लिए कौंसिल की सदस्यता को रक्षित रखने को आप राजनैतिक शिक्षा के सिद्धान्त का विघातक मानती हैं। जातिगत चुनाव का भी आपने विरोध किया है और सदस्यता के लिए उम्मीदवार स्त्री के

गुणों में इस बात पर आपका विशेष ज़ोर है कि वह सब जातियों की विश्वासपात्र हो।

काश्मीर में बाल-विवाह-निषेध

काश्मीर राज्य में हाल में ही एक नया विधान स्वीकृत हुआ है। इसके अनुसार अब वहाँ उस वक्त तक किसी लड़के-लड़की का विवाह न हो सकेगा, जब तक कि वे क्रमशः १८ और १४ वर्ष की उम्र के न हो जावेंगे। यही नहीं, बल्कि १८ वर्ष की उम्र प्राप्त किया हुआ आदमी भी यदि किसी छोटी लड़की से विवाह करेगा तो उसे और उसके साथ ही ऐसा विवाह कराने वाले या जान-बूझ कर उसमें मदद या प्रोत्साहन देने वाले को भी क़ैद या जुर्माना अथवा दोनों प्रकार की सज़ा दी जायगी। इसमें क़ैद एक साल तक की सादी और जुर्माना १०००) रु० तक होगा। आगे चलकर विधान में यह भी कहा गया है कि जो आदमी ५० वर्ष की उम्र हो जाने के बाद किसी अल्पायु लड़की से शादी करेगा उसे ४ साल की क़ैद या २०००) रु० तक जुर्माना अथवा क़ैद और जुर्माना दोनों की सज़ा दी जायगी।

इसमें शक नहीं कि इस विधान के द्वारा काश्मीर राज्य ने सुधार की दिशा में पग बढ़ाया है। ब्रिटिश भारत में हम देखते हैं कि सारदा महाशय का बाल-विवाह-निषेध बिल अभी सिलेक्ट कमिटी की ही खटाई में पड़ा है और काश्मीर ने यह विधान पास करके बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगा भी दिया। कोटा, भरतपुर आदि कुछ रियासतें और भी पहले बाल-विवाह के विरुद्ध हुक्म निकाल चुकी हैं। अब भी अगर ब्रिटिश भारत सारदाजी के बिल को न अपनाये तो उसके लिए यह शर्म की बात होगी।

दिल्ली में नारी-जागृति

दिल्ली में भारतीय महिला-परिषद् के अधिवेशन से स्त्रियों में जागृति की एक नयी लहर उठी है। 'सरस्वती-क्लब' नाम से वहाँ की स्त्रियों ने अपना एक क्लब खोला है, जिसका उद्देश्य है स्त्रियों की शिक्षा और स्वास्थ्य-विषयक प्रगति। इसमें स्त्रियों के लिए बेडमिण्टन आदि हलके और मनोरंजक खेलों का प्रबन्ध होगा, जिससे उनके स्वास्थ्य को लाभ पहुँचेगा, और मानसिक प्रगति के लिए विभिन्न विषयों पर वादविवाद तथा व्याख्यानादि हुआ करेंगे। उधर म्युनिसिपैलिटी की शिक्षा-समिति ने वयस्क स्त्रियों के लिए एक ऐसा स्कूल खोलने का विचार किया है कि जिसमें उनके घर के काम-धन्धों के अतिरिक्त भाषा के साथ-साथ सीने-पिरोने, स्वास्थ्य-सफ़ाई और सेवा-शुश्रूषा की भी उन्हें शिक्षा दी जायगी। इसके अलावा मुसलमान स्त्रियों की विशेष पढ़ाई के लिए भी कुछ मुसलमान बहनें बड़ा प्रयत्न कर रही हैं। इन सब प्रयत्नों में दिल्ली की स्त्रियाँ सफल हुईं तो, इसमें शक नहीं कि, उनकी सफलता से दूसरे शहरों की स्त्रियाँ भी लाभ उठायेंगी। भगवान् उन्हें सफलता दें।

खानों की स्त्री-मजदूर

एक विज्ञप्ति द्वारा सरकार ने अपना यह इरादा ज़ाहिर किया है कि खानों के अन्दर स्त्रियों की मज़ूरी करने की प्रथा को वह उठाना चाहती है। कोयले व नमक की जिन खानों को सरकारी रियायतें प्राप्त हैं उनमें स्त्री-मज़ूरों की संख्या क्रमशः कम होती हुई १९३९ की पहली अप्रैल तक बिलकुल समाप्त हो जायगी। और दूसरी तमाम खानों में अगली पहली अप्रैल से स्त्रियों से मज़ूरी लेना बन्द कर दिया जायगा। धन्यवाद!

पदक की सूचना

श्रीयुत सूर्यनारायण व्यास लिखते हैं—

"जो लेखिका 'मालवे में स्त्रियों की दशा' और 'मालवीय स्त्रियों की उन्नति के साधन' विषयों पर सर्वोत्तम लेख लिखेंगी उन्हें मैं, अपनी स्वर्गीया पत्नी श्रीमती कमलादेवी के स्मरणार्थ, एक-एक 'कमला-पदक' भेंट करूँगा। पदक रौप्य होंगे, और उनके साथ एक-एक प्रति महात्मा गाँधी की 'आत्म-कथा' की भी दी जायगी। पर लेखिका का मालवीय होना अनिवार्य है। लेख की उत्तमता के निर्णायक होंगे 'त्यागभूमि' के संपादकद्वय, श्री बैजनाथ महोदय और श्री गोपीवल्लभ उपाध्याय। 'त्यागभूमि' के द्वितीय वर्ष के अंत में इसका निर्णय होगा।"

आशा है, मालव-निवासी लेखिका बहनें इसपर समुचित ध्यान देंगी।

मुकुट

(पीछे देखिए)

'त्यागभूमि' के उद्देश्य

१—त्यागभूमि केवल बुद्धि की भूख बुझाने नहीं आई है। देश के कोने-कोने में और समाज के अंग-अंग में गहरी और स्पृहणीय उथल पुथल मचाने की धुन इसे सवार है।

२—त्यागभूमि मनुष्यता और स्वाधीनता को एक ही वस्तु मानती है। वह उस राज्यप्रणाली को सर्वश्रेष्ठ मानती है जिसमें प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि प्रजा के हित के लिए प्रजा की सुव्यवस्था करें।

३—त्यागभूमि मानती है कि सत्य मनुष्य का परम साध्य और अहिंसा उसकी परम नीति है। फलतः त्यागभूमि की नीति खुली, सीधी और मधुर होगी।

४—त्यागभूमि असत्य, अन्याय, अत्याचार और असमानता की प्रबल विरोधिनी है।

५—सामाजिक कुरीतियों और दुर्बलताओं की यह दुश्मन है। समाज-सुधार में वह सदा आगे रहेगी।

६—किसानों, मजूरों को तो यह अपने स्वजन समझती है और स्त्रियों एवं अछूतों के उद्धार को अपना परम कर्त्तव्य। इनकी सेवा करने में वह अपने बस कोई बात उठा न रक्खेगी।

७—शहरों की अपेक्षा गाँव उसके हृदय के अधिक नज़दीक हैं। गाँवों को ऊपर उठाने और शहरों को बुराइयों से छुड़ाने का वह यत्न करेगी।

८—दुर्व्यसनों, अश्लीलता तथा कामुकता के बढ़ाने वाले चित्रों, विज्ञापनों एवं पुस्तकों का यह विरोध करेगी। त्यागभूमि स्वयं कोई [illegible] विज्ञापन नहीं छापेगी।

९—त्यागभूमि खादी और चर्खे को भारत का युगधर्म मानती है और अपने जीवन का पवित्र व्रत।

संक्षेप में—लोकरुचि की अंधी आराधना नहीं उसका सहेतुक उन्नयन त्यागभूमि का जीवनोद्देश है।

'त्यागभूमि' के ग्राहक आपको क्यों होना चाहिए?

ज़रा ख़याल कीजिए

१—सब से पहले और केवल मूल्य ही को देखा जाय तो और पत्रिकाओं के हिसाब से 'त्यागभूमि' का मूल्य कम से कम ६) या ६॥) रक्खा जाना चाहिए था जैसा कि इतने ही पृष्ठों की अन्य पत्रिकाओं का है। पर त्यागभूमि का मूल्य तो डाक व्यय सहित केवल वार्षिक ४) ही है।

२—'त्यागभूमि' गंदे और लुभावने विज्ञापनों में आपको नहीं लुभाती। एक मासिक पत्रिका के लिए विज्ञापनों की आमदनी कम नहीं होती। फिर भी पाठकों के हित के ख़याल से त्यागभूमि अपने आपको इस दूषित आय से अछूती रखना चाहती है। इससे पाठक और उनका धन भी धूर्त विज्ञापन बाजों के चंगुल से बचता है, और वे अपनी शक्ति, समय और द्रव्य कहीं अच्छे कामों में लगा सकते हैं। पाठक देखेंगे कि त्यागभूमि के इस त्याग को देखते हुए अपनी घटी को पूरी करने के लिए उसे अपना वार्षिक चन्दा अन्य पत्रिकाओं से भी अधिक रखना चाहिए था।

३—परन्तु त्यागभूमि का उद्देश साहित्य का व्यवसाय करना नहीं है। वह कष्ट सहकर भी पाठकों की सेवा करने के लिए आई है।

अतएव पाठक त्यागभूमि से तभी अधिक से अधिक सेवा ले सकेंगे जब वे अधिक से अधिक संख्या में उसके ग्राहक बनकर व बनाकर उसके जीवन-संघर्ष को सौम्य करने में सहायक होंगे।

नव युवकों से—

(१)

निर्बल की प्यारी लकुटी हो, दीन हृदय के जीवन-धन।
मातृभूमि हित कर देते हो, अपना सर्वस भी अर्पण।
स्वार्थ-विहीन तुम्हारा होता, निर्मल मन-मानस का त्याग।
अंतिम श्वासों तक रटते हो, अपना वह युवकोचित राग।

(२)

कितना सुन्दर हो जाता है—अहा! आन पर मर जाना,
शुभ स्वदेश के लिये समर्पित अपना जीवन कर जाना।
जीवन-हीन दु:खी जीवों में नव जीवन का भर जाना,
कई करोड़ों के हृदयों में, उज्वल स्मृति का धर जाना।

(३)

मातृभूमि की तुम आशा हो, नवयुवकों! आगे आओ,
शुभ स्वराज्य-चर्खा-खादी का पावन मन्त्र सुना जाओ।
सदियों से पिछड़ स्वदेश को, एक बार आगे लाओ,
जिससे 'रामराज्य' भारत में इस दुर्दिन में फिर पाओ।

—चतुर्वेदी रामचन्द्र शर्मा 'विद्यार्थी'

विद्यार्थी और राजनीति

स्वदेश के अधिकार और मान की रक्षा के लिए युद्ध-क्षेत्र में जाने वाला सैनिक यह नहीं सोचता है कि 'मैं युद्ध में मर जाऊँगा तो क्या होगा—मेरे वृद्ध माता-पिता का क्या होगा, मेरी स्त्री और मेरे बच्चों का क्या होगा ?' और यदि कोई सैनिक इस विचार-जाल में फँस जाता है, तो निश्चय समझिए, उसके कारण स्वदेश की सेना को पराजित होना पड़ेगा। जो मनुष्य जान पर खेलने को कमर बाँधे तैयार खड़ा है, उससे सब डरते हैं। जिन लोगों को 'काबुली' कहते हैं, उनको ट्रेन में घुसते हुए रोकने का साहस शायद ही कोई करता होगा। भूखे-प्यासे रहकर अथवा संपत्ति की बहुलता में भी जीवित रहने से अधिक मूल्यवान् और भी कई वस्तुयें हैं, यह समझ लेना आवश्यक है। घोर मानहानि, देश की पराधीनता आदि को चुपचाप सहते हुए प्राणों का मोह रखना पाप है।

जब मैं यह देखता हूँ कि देश के कई सुशिक्षित और अनुभवी पुरुष भी व्यक्तियों के जीवन को देश के कार्य की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं, तो मुझे निराशा होती है और एक प्रकार से उनपर तरस आता है। असहयोग-आंदोलन के समय जिन विद्यार्थियों ने स्कूल या कालेज छोड़ दिये, उनके 'कैरियर' (जीवन) खराब कर देने का दोष गाँधीजी पर लगाने वालों की कमी नहीं है। समझ में नहीं आता, 'कैरियर' क्या होता है ! मनुष्य के जीवन-मरण के विषय में विस्मयकारक खोज करने वाले भारतवर्ष में, कुछ व्यक्तियों का, जीवन-काल में से कुछ समय पराधीनता को पाश को दृढ़तर बनाने वाली शिक्षा से हटकर देश-सेवा में लग जाना अपने आपको देश के नेता समझने वालों को भी अखरता है—यह देखकर मर्मवेदना हुए बिना नहीं रहती। अहिंसावाद को क्षणभर अलग रख कर यह कल्पना करें कि भारतवर्ष के पाँच लाख स्त्री-पुरुषों का रक्तपात होकर भी देश स्वाधीन हो जाय, तो मेरे विचार से तो भारतवर्ष को स्वाधीनता सस्ती ही मिली समझनी चाहिए।

किसी स्वतन्त्र देश में यह संभव होगा कि कुछ अथवा बहुत से लोग राजनीति से वास्ता ही न रक्खें। परन्तु पराधीन देश के जीवन में तो राजनीति को छोड़ने के बाद कुछ रह ही नहीं जाता। वहाँ तो जितने ही प्रश्न हैं, उन सबका सीधा संबन्ध राजनीति से है। देश में दारिद्र्य क्यों ?—राजनीति के कारण। रोज़गार की कमी क्यों ?—राजनीति के कारण। विविध जातियों में कलह क्यों ?—राजनीति के कारण। स्वदेशी कला-कौशल को प्रोत्साहन क्यों नहीं ?—राजनीति के कारण। देशवासियों का देश में अपमान क्यों ?—वही राजनीति के कारण। यहाँ तक कहना होगा कि हमारी राजनीति के हम मालिक बन जावें, तो हमारे बहुत से सामाजिक प्रश्न भी हल हो जायँ। विदेशी कहते हैं—'भारतीयो, तुम सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए हो, इसलिए स्वाधीनता के योग्य तुम नहीं हो।' हम कहते हैं—'भाइयो, हमारी स्वाधीनता के मालिक तुम बन बैठे हो, इसलिए सामाजिक दृष्टि से हम तुम्हें पिछड़े हुए दिखाई देते हैं, अथवा कुछ पिछड़ भी गये हैं।'.

विद्यार्थियों के संबन्ध में जब राजनीति शब्द बोला जाता है, तो इसका अर्थ क्या है ? बेचारे विद्यार्थी लेजिस्लेटिव असेंबली या कहीं की म्युनिसिपैलिटी की मेम्बरी की उम्मीदवारी तो करते नहीं। विद्यार्थियों की राजनीति तो यही है कि आजकल की परिस्थिति से संबन्ध रखने वाली बातों से अपने आपको परिचित करना—उनपर विचार करना। किसी स्टेशन पर से महात्मा गांधीजी, मालवीयजी

आदि निकलें तो उन्हें देखने को चले जाना, उनका कहीं पर व्याख्यान हो तो उसे सुनने को चले जाना; उनके जीवनचरित्र पढ़ लेना; स्वदेशी वस्त्र पहनना, गाँधी-टोपी लगाना, और इस बात के मर्म को समझना कि हमारा देश पराधीन है; और इरादा करना कि देश की स्वाधीनता के लिए कुछ हमें भी करना है। यह सब कुछ राजनीति है, जिससे, हमारे कुछ अनुभवी पुरुष कहते हैं, विद्यार्थियों को दूर रहना चाहिए। 'यङ्ग इण्डिया', 'पीपुल', 'माडर्न रिव्यू' आदि को पढ़ना और 'अमृत बाजार पत्रिका', 'स्वराज्य', 'ट्रिब्यून' आदि में से इधर-उधर की घटनाओं के समाचार पढ़ लेना भी, कहते हैं, 'राजनीति' है। वाइसराय की सवारी देखना, किसी सरकारी कर्मचारी के अभिनन्दन की सभा में जाना, 'पायनियर' और 'टाइम्स आफ़ इंडिया' पढ़ना और लङ्काशायर के बने हुए कपड़ों के कोट-पतलून पहनकर टाई-हैट लगाना—यह सब कुछ राजनीति नहीं है !

आजकल की शिक्षा-पद्धति का खंडन तो सभी करते हैं। विदेशी भाषा की प्रधानता से प्रभावित रहना, विदेशियों की करतूतों की विरदावली को रटना, अक्रियात्मक बातों के पढ़ने में आजकल के मनुष्य की आयु के आधे भाग को बिगाड़ देना और बाद में संसार में किसी भी कार्य की योग्यता से हीन रह जाना, भारतीय संस्कृति को भुला देना, शरीर को अस्थिचर्मावशेष बना डालना—यही तो आजकल की शिक्षा है ! फिर शासन करने वाले तो कहेंगे ही, परन्तु देशवासी भी यह कहें कि कहीं इन विद्यार्थियों को राजनीति की हवा न लग जाय ! इसका पता नहीं है कि ये भारतीय विद्यार्थी संसार में जीवित रहकर करेंगे क्या ? और एक हज़ार एक बातें उनके दिमाग़ में भरेंगी तो यह बात वे क्यों नहीं सोचेंगे और जानेंगे कि उन्हें अपने देश और समाज के लिए भी कुछ करना है ? राजभक्ति के पाठ पढ़ना और बाद में राजभक्ति के भाव से राजसेवा करते हुए जीवन-लीला समाप्त करना—यही ध्येय भारतीय नवयुवकों के लिए पर्याप्त समझा जा रहा है। कितने अफ़सोस की बात है !!

जिस विचार-स्वातन्त्र्य से बौद्धिक विकास होता है, वह तो यहाँ के सम्पादकों और नेताओं को ही सुलभ नहीं है, फिर विद्यार्थियों को पूर्ण रूप से नियन्त्रण में रखना तो उनके लिए स्वयंसिद्ध होगा ही ! जब कुछ लोग यह कहते हैं—विद्यार्थियों का राजनीति में क्रियात्मक भाग (active participation) नहीं होना चाहिए, तो इस क्रियात्मक भाग का कुछ भी अर्थ मेरी समझ में नहीं आता। यहाँ तो चर्चा करना ही पाप है, क्रियात्मक भाग की तो कथा ही और है। परन्तु जब अवसर आवे, जब विद्यार्थियों के आगे पाँव बढ़ाने की आवश्यकता हो, तो कोई कारण नहीं मालूम होता कि विद्यार्थी क्यों न राजनैतिक मामलों में भाग लें ? इंग्लैण्ड में संभवतः यह आवश्यकता नहीं है कि किसी एक या दूसरे दल के समर्थन के लिए विद्यार्थियों को कुछ करना चाहिए। मजूर दल की जीत हो या किसी दूसरे दल की—इस बात से कोई खास सरोकार रखना इंग्लैण्ड के विद्यार्थियों के लिए चाहे आवश्यक न हो; परन्तु भारतवर्ष की पराधीनता तो अवश्य चिरस्थायिनी हो जायगी, यदि विद्यार्थियों की कालेज छोड़ देने के समय तक राजनैतिक विषयों में कुछ अभिरुचि नहीं बनी। इस देश की दशा तो आजकल वैसी ही है, जैसी और देशों में युद्ध के समय होती है—यहाँ पर राजनीति में भाग लेने के कारण विद्यार्थियों के विद्योपार्जन में हानि हो जायगी, उनके 'कैरियर' नष्ट हो जायँगे, यह विचार बड़ी भारी अदूरदर्शिता का है; क्योंकि, भारतीयों का विद्यालाभ और 'कैरियर' का

लोभ भी देश की पराधीनता के जाल की कम से कम दो डोरियाँ हैं। यों तो सभी राष्ट्रों में व्यक्तियों के हानि-लाभ का गौण स्थान होता है; परन्तु भारतवर्ष जैसे परतन्त्र राष्ट्र में सभी देशवासी रणक्षेत्र के सैनिक हैं, इसलिए उसके सामने निज के हानि-लाभ का विचार आना ही नहीं चाहिए। रही साहित्य आदि की उन्नति की बात, सो साहित्य आदि सब कुछ प्रतीक्षा कर सकते हैं। अफग़ानिस्तान ने जीवन के अन्य क्षेत्रों में कौन सी उन्नति कर ली है? तथापि अफग़ानिस्तान का सर्वत्र भारतवर्ष से अधिक सन्मान है - अथवा, सच तो यह है कि, भारतवर्ष की तो कोई स्थिति ही नहीं है। अब स्वाधीन होने के कारण अफग़ानिस्तान चारों ओर उन्नति कर सकता है। भारतवर्ष को और सब विचार छोड़ कर एक ही प्रश्न—पराधीनता को हल करने की चिन्ता करनी चाहिए। इसीलिए इस देश की राजनीति ऐसी है, जिसके सिवाय और कुछ आगे आ नहीं सकता, जिसमें स्त्री-पुरुष, वृद्ध-नवयुवक, गृही-विद्यार्थी, सब को व्याप्त हो जाना चाहिए।

लन्दन के 'इण्डियन स्टुडेण्ट्स यूनियन एण्ड होस्टल' के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर दिये हुए अपने अभिभाषण में एक स्थल पर सुप्रसिद्ध शिक्षा-महारथी सर माइकेल सैडलर ने जो कुछ कहा है, उसका सारानुवाद देखिए—

"राजनीति का (मनुष्य के) जीवन पर बड़ा असर है। इसलिए जो शिक्षा-केन्द्र किशोर बालक और बालिकाओं को जीवन के लिए तय्यार करते हैं, वे अपने आपको राजनीति से अलग नहीं रख सकते। सारे विश्वविद्यालय सदा से ही राजनैतिक शास्त्रार्थ के घटनास्थल रहे हैं।............अण्डर ग्रेजुएट-काल में राजनीति पर विचार करना और राजनीति की चर्चा करना उन मनुष्यों के शिक्षण का अङ्ग शताब्दियों से रहा है, जिनका अपने देश के सार्वजनिक मामलों में आगे बढ़कर भाग लेने का विचार रहा है..............।"

और भारतवर्ष में तो प्रत्येक देशवासी के लिए आवश्यक है कि वह देश के सार्वजनिक मामलों में आगे बढ़ कर भाग ले। फिर भला विद्यार्थी ही कैसे उससे अछूते रह सकते हैं? वही तो और भी हमारे पीड़ित देश के आशा-भरोसा हैं।

हीरालाल शास्त्री

स्फुट विचार

जब तक धनी पूंजीपति, शक्तिमान लोग किसानों, मजदूरों तथा श्रमजीवियों की कमाई को लूटते रहते हैं, उसका नाम सभ्यता, राज्य-व्यवस्था, शांति तथा उन्नति रक्खा जाता है। परन्तु यदि कोई अभागा मजदूर व किसान आँखें खोलकर लूट का सिलसिला बंद करने का यत्न करता है, तो उसका नाम शांति-भङ्ग, अराजकता, असभ्यता और विद्रोह रक्खा जाता है।

लाहौर की ठण्डी सड़क पर प्रातः वायु-सेवन के लिए जाते हुए मुझे एक तीतर वाला मिला करता है। खाली पिंजरा उसके हाथ में होता है और तीतर उससे ३०-४० गज़ की दूरी पर उसके पीछे-पीछे दौड़ता आता है। चकित होकर मैंने पूछा—'क्यों भाई! यह तीतर उड़कर भाग क्यों नहीं जाता?' उत्तर मिला—'इस अभागे का प्रेम तो पिंजरे की तीलियों से हो गया है। मेरी तरफ से खुला छोड़ देने पर भी यह पक्षी अवसर से लाभ नहीं उठाता।'

कृपालदास

राष्ट्र-यज्ञ

(शेषांश)

हमारे देश में नौकरशाही बड़ी प्रबल है। तुम कहते हो कि वह तुम्हारे राष्ट्रीय आदर्श में बाधक होती है। उस सरकारी बाधा के विरोध में हमें अपने आपको बलिदान कर देना चाहिए। हमारी जीत अवश्य होगी। देश की सेवा में सहर्ष सर्वस्व समर्पण कर देने से, मेरा विश्वास है, ऐसी नैतिक शक्ति उत्पन्न होगी, जो कि राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए प्रधान शर्त है। हमसे किस वस्तु की भेंट मांगी जाती है? पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं। किन्तु, यह सब हमें भक्तिपूर्वक अर्पण करना चाहिए। इस समय देश-माता के चरणों पर हम कौनसा "पत्र" अर्पण कर सकते हैं? प्रत्येक इंच स्वदेशी वस्त्र और स्वदेशी वस्त्र का प्रत्येक धागा मेरी समझ में वह "पत्र" है, जो कि प्रभु को प्रिय होगा; क्योंकि, प्रत्येक ऐसे टुकड़े और धागों से भारत के भूखे भगवानों की सेवा होगी। क्योंकि, वे भगवान के अनेक रूप—अनन्त प्रतिमायें हैं। भूखे-दुखी दीन-दरिद्र पर दया करना ही दीनानाथ भगवान कृष्ण की भक्ति करना है। जब देश की प्रत्येक सन्तान स्वेच्छा से स्वदेशी का समादर करके राष्ट्र-यज्ञ में आहुति देगी, तब हमें समझना चाहिए कि स्वाधीनता का सुप्रभात समीप ही है—उसके पूर्व नहीं।

श्लोक में फिर जल-यज्ञ का उल्लेख है। सिन्ध में एक बहुत सुन्दर प्रथा है कि गर्मी के दिनों में बड़े-बड़े घड़ों में पानी भर कर जगह-जगह रक्खा जाता है। इन प्याउओं से हजारों यात्रियों को प्रति दिन पानी पिलाया जाता है। धनी लोग इनका खर्च उठाते हैं और उससे पुण्य अर्जन करने में विश्वास करते हैं। प्यासे को पानी पिलाना पुण्य है। बहुतसे लोग रुपया-पैसा खर्च करने में असमर्थ हैं, किन्तु, वे दीनों को प्रेम का पानी तो पिला सकते हैं। दया-रूपी जल का तो दान दे सकते हैं? दीनों के साथ भाई-चारे का बर्ताव करना ही इस जल-दान करने का असली तात्पर्य है। दीनों के साथ भ्रातृभाव रखने से ही स्व-राज्य का दिन समीप आ सकता है। लेकिन, आज जैसी स्थिति है उसे देख कर, यह नहीं कहा जा सकता कि हमने भारत के दीन-दरिद्रों के साथ अपनी एकता स्थापित करली है।

इसके बाद श्लोक में पुष्प-यज्ञ की चर्चा है। हिन्दुओं के यहाँ पूजा के समय देवताओं को पुष्पां-जलि चढ़ाई जाती है। हम इस राष्ट्र-यज्ञ में मातृभूमि के चरणों पर किन पुष्पों की अंजलि अर्पण कर सकते हैं? एक माता 'मेरा बेटा! मेरा बेटा!' कह कर रो रही थी और कह रही थी—वे दुष्ट मुझ से छीन कर ले गये, वह देश-सेवा के लिए जेल में ठूँस दिया गया, और मैं यहाँ बैठी रोती हूँ। मैंने उससे कहा—'हाँ, वह फूल तुम्हारे उद्यान से छीन लिया गया है; किन्तु वह पैरोंतले नहीं कुचला गया। तुम्हारा प्रेम-पुष्प कृष्ण के पदपद्मों पर अर्पित किया गया है।' पता नहीं कि आज कितने माता-पिता अपनी सन्तानों को देश-सेवा के लिए शिक्षित करने को तैयार हैं! कोरिया देश का स्वातंत्र्य-संग्राम शहीद बालक-बालिकाओं के रक्त से रंजित है। पर भारत में आज कितने बालक-बालिकायें ऐसे हैं, जिनके माता-पिता उन्हें स्वातंत्र्य-संग्राम में बलिदान करने के लिए प्रस्तुत हैं?

फिर फल का यज्ञ है। जीवन का फल क्या है? आदर्श के लिए कष्ट-सहन। सुख की इच्छा, विलासिता या यश-प्राप्ति जीवन का फल नहीं है। जीवन का फल है, तपस्या। आज श्रीकृष्ण देश के लिए तपस्या चाहते हैं। हमारे राष्ट्रीय रण के अन्तर-हृदय में यह तपस्या की भावना जिस परिमाण में होगी, उसी

परिणाम में हमें स्वराज्य-प्राप्ति होगी। मुझे दुःख है कि अन्य स्थानों के समान इस आन्दोलन में भी असंतोष, असहिष्णुता घृणा और राग-द्वेष का अंश मौजूद है। यदि हमारा संग्राम इस तपस्या की भावना से प्रेरित हो, तो हमारे लिए क्या पाना असंभव है? सिक्खों के गुरु श्री अर्जुनदेव के विषय में कथा है कि बादशाह ने उनपर अनेक अमानुषिक अत्याचार किये। वह गरम लोहे के तवों पर बिठाये गये। उनके शरीर पर जलती हुई लाल बालुका फेंकी गई। किन्तु यह सब किस अपाध के लिए? उनका अपराध यही था कि वह समानता के सिद्धान्त में विश्वास करते थे और जनता को जनार्दन का रूप जान कर प्यार करते थे। वह कारागार में बन्द किये गये। उनको हज़रत नामक एक बड़े भारी मुसलमान फ़क़ीर से मित्रता थी। हज़रत के अनेकानेक अनुयायी थे। वह गुरुदेव से कारागार में मिले और उनसे कहा—मैं तुम्हें बाहुबल से अथवा पंजाब में विप्लव कराके मुक्त करना चाहता हूँ। किन्तु, गुरु ने उनसे कहा—मेरा कष्ट-सहन भले के लिए है; मेरे कष्ट का बदला लेने की आवश्यकता नहीं। जितना ही अधिक मैं कष्ट सहन करूंगा, उतना ही मेरा धर्म फैलेगा। मैं लोगों को क़ानून भंग करने के लिए उत्साहित न करूंगा। लोगों को चहिए कि इस अत्याचार का विरोध अपने ईश्वर के रूप में करें। इस प्रकार अर्जुनदेव ने तपस्या की भावना और तप करने की शक्ति का ज्वलन्त आदर्श बताया। और वह सिख राष्ट्र के निर्माणकर्ता सिद्ध हुए।

आधुनिक नीतिशास्त्र के अनेक पश्चिमी उपदेशकों ने कहा है कि श्रेय ही सुख है; किन्तु, गीता का उपदेश है कि त्याग ही श्रेय है। त्याग ही श्रेय है—यह शिक्षा निराशा-वादिनी नहीं है, किन्तु उसके अन्दर एक गहन आशावादिता निहित है। क्योंकि सहर्ष स्वार्थत्याग या आत्म-समर्पण ही सच्चा त्याग है और यदि भारत की उच्च श्रेणियों तथा जनसाधारण में इस संघर्ष अर्थात् स्वार्थत्याग की भावना का पुनर्जन्म हो जाय, तो भारत अपनी प्राचीन प्रतिज्ञा को पुनः प्रकाशित कर सकेगा। भारत संसार के राष्ट्रों के सन्मुख यह सिद्ध कर सकेगा कि स्वाधीनता रक्तपात, हिंसा, या युद्ध के बिना किस प्रकार जीती जा सकती है!

—ठाकुर गजेन्द्रसिंह

मिश्र का महात्मा

(३)

समस्त मिश्र देश में आन्दोलन की एक लहर सी बह गई। यत्र-तत्र-सर्वत्र विदेशी शासकों के अत्याचार की गाथायें सुनाई देने लगीं। इतने थोड़े समय में, जिसमें इतने विराट आन्दोलन की संभावना का अनुमान भी किया जाना कठिन है, इस्माइल अमीर और वीर गारडन के नेतृत्व में मिश्र का राजनैतिक आन्दोलन जड़ पकड़ने लगा। सारा देश एक साथ उस कुशासन से मुक्त होने के लिए आतुर हो उठा। शांत और वैध उपायों से सारा मिश्र देश धीरे-धीरे ब्रिटिश-शासन से अपना संबंध विच्छेद करने लगा। विजय के सूर्य का प्रकाश प्राची दिशा में दिखाई पड़ने लगा।

इस्माइल अमीर की आज्ञा से एक विशाल यात्रा की तैयारी की गई। अल-अज़हर के निर्वासित विद्यार्थी, अध्यापक तथा स्वयं-सेवकों की देख-रेख में हज़ारों मिश्र-वासियों ने काहरा की यात्रा आरंभ की। काहरा से प्रयाण करते समय इस्माइल ने जो दृढ़ निश्चय किया था, उसे पूर्ण करने की ये तैयारियाँ थीं। वह आत्म-सन्मान और गौरव के साथ काहरा में प्रवेश करना चाहता था। हज़ारों-लाखों स्वदेश बांधवों ने उसका साथ दिया।

उस देश-व्यापी आन्दोलन को कुचल डालने के लिए, इस्माइल की चेष्टाओं को असफल बनाने के लिए, ब्रिटिश शासकों ने अनेक प्रयत्न किये; पर वे सब के सब निष्फल ही गये! उनके ज़ोर ज़ुल्म से उलटी आग बढ़ी, जिसमें उन्हीं-

का नाश हुआ। मिश्र के बालक, वृद्ध, युवा, नर, नारी, सभी के मन पर देश-प्रेम की छाप बैठ गई। उस देश-प्रेम को दूर करके अपना आतंक जमाये रखना ब्रिटिश शासकों के लिए अब असंभव हो गया।

काहरा में अपार जन-समुदाय के साथ प्रवेश करने का समय समीप आ गया।

सूर्य उदय हो रहा था, उसके प्रखर प्रकाश में वह दृश्य अलौकिक था। तूफानी समुद्र के जहाजों के पालों की भांति उस विशाल जन-सागर में झण्डे फहरा रहे थे। काहरा की गली गली उन यात्रियों का स्वागत करने के लिए सजी हुई थी। झरोखे-झरोखे में काहरा-वासी नारियाँ फूलों को अपने अपने आँचल में लिये उनका स्वागत करने के लिए उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थीं। अपने नेता की माँग पर-देश-सेवा के लिए घर-बार छोड़ कर कर्त्तव्य-क्षेत्र में कूद पड़ने वाले वीरों के परिजन रास्तों पर टकटकी लगाये खड़े थे। कष्टों के बाद हर्ष का यह प्रकाश लाखों नर-नारियों में स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

आज का दिन मिश्र-वासियों और अमीर इस्माइल के लिए विजय का दिन था। इस प्रकार नगर-प्रवेश पर अनेक चेष्टायें करके भी कोई प्रतिबंध न रख सकना सरकार की पराजय का लक्षण था। अल-अज़हर का द्वार अवरोध करके इस्लाम धर्म के प्रवाह के उद्गम-स्थान को ध्वंस करने वाले अंग्रेज़ी शासन की आज पराजय हो गई! यह लाखों मिश्र-वासियों का सम्मिलित सत्याग्रह था, उसे कौन पददलित कर सकता था? खुदा के बन्दे आज सगर्व अपनी जन्मभूमि में लौट रहे थे। मुहम्मद साहब निर्वासन के बाद विजेता की भाँति जिस प्रकार मक्का को लौटे, उसी प्रकार आज मिश्र-वासियों के साथ इस्माइल भी काहरा में प्रवेश कर रहा था। वर्ष के वर्ष बीत जाते हैं, उसके बाद पुरानी घटनायें फिर से घट जाती हैं! कहते हैं, इतिहास अपने आप अपनी पुनरावृत्ति करता है।

इस्लाम की जय-ध्वनि से आकाश गूंज रहा था। जब स्वयं इस्माइल दिखाई दिया, तो हर्ष-ध्वनि का कुछ वारा-पार ही न रहा! लोग बड़ी आतुरता से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वह सबसे पीछे आ रहा था और हो सकता तो इस सम्मान का बोझ न उठा सकने के कारण शायद वह अपने आपको उससे अलग रख लेता। वह तो खुदा का एक बंदा मात्र है, यह विजय उसी परमात्मा की है। परमात्मा के स्वरूप में वह काहरा में प्रवेश कर रहा है? नहीं, यह तो उसके लिए लज्जा की बात है।

एकत्र जन-समुदाय सोच रहा था कि इस्माइल काहरा में एक विजयी सम्राट् की भाँति, स्वर्ण और रत्न-जटित वेश-भूषा से अलंकृत, बड़े ठाट-बाट से प्रवेश करेगा। परन्तु, उसे देख कर तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। वह सीधे-सादे कपड़े पहने, नत-मस्तक, पैदल चला आ रहा था!

यात्रियों का वह विशाल समुदाय अल-अज़हर विद्यालय के भवन में तथा काहरा-निवासियों के घरों में टिक गया। दूसरे दिन अल-अज़हर के विस्तृत प्रांगण में लाखों नर-नारी एकत्र हुए। प्रांगण के उस सिरे पर की खुली मसज़िद में, क़िबले के आगे नत-मस्तक होकर, विद्यालय के प्रधान अध्यापक ने ईश्वर-प्रार्थना की। प्रार्थना के अंत में "अल्लाह! अल्लाह!!" का भैरव नाद सुनाई दिया। थोड़ी देर की निस्तब्धता में लोगों की उत्सुकता स्पष्ट दिखाई दी। क़िबले के आगे प्रणाम करके जन-समुदाय का हृदय-देव आगे बढ़ता हुआ दिखाई दिया। वक्ता के स्थान पर आने पर, उसके चेहरे पर सूर्य का प्रकाश पड़ रहा था। लोगों को पहली बार उसका चेहरा साफ़ दिखाई दिया। सर्वत्र शांति स्थापित हो गई। उसके दर्शन से ही लोगों में उत्साह आ गया, उसके भाषण ने उन्हें पूर्ण उत्साहित कर दिया।

इस्माइल अमीर के भाषण से श्रोता इतने अधिक प्रभावान्वित हुए थे कि सभी कह रहे थे कि उसने आज से पहले कभी इतना हृदय को विचलित कर देने वाला भाषण नहीं दिया। बहुत ही मंद स्वर से आरंभ करते हुए उसने कहा कि मानवता के उन्नति-पथ में परमात्मा ने आज उन्हें एक नये स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया है। वर्षों के घात-प्रतिघात को सहन करके मिश्र पुनः जीवन के लक्षण दिखा रहा है। संसार के सम्मुख ईश्वर ने उनके मुख उज्ज्वल कर दिये हैं। उस परमात्मा की यह इच्छा थी कि यह प्राचीन राष्ट्र चिरजीवि हो।

"आमीन ! आमीन !!" के कर्णभेदी रव को शान्त करने के लिए अपना हाथ ऊँचा करके उसने लोगों को जीवन की कठिनाइयों को बताते हुए सत्पथ पर चलने का उपदेश दिया, और कहा कि अपने ऊपर किसी को अत्याचार करते देना ईश्वर की आज्ञा न मानना है। इसके मानी हुए, अपने ऊपर खुदाई क़हर को बुलाना। अतः ईश्वर की आज्ञा मान कर पृथ्वी पर केवल उसीकी सत्ता को स्थापित करो।

"परन्तु, वह समय समीप है।" इस्माइल ने ऊँचे स्वर से कहा, "हममें से बहुत से, जो यहाँ उपस्थित हैं, उस अवसर की साक्षी देंगे।"

"मालिक ! मालिक !! तुम भी ?"—एक आवाज़ आई। इस्माइल थोड़ी देर के लिए ठहर गया। दूसरे ही क्षण उसने कुछ चिन्ताजनक शब्दों में कहा—

"नहीं, नहीं, मेरी ये शारीरिक आँखें वह दृश्य नहीं देख सकेंगी।"

एक साथ सैकड़ों व्यक्तियों ने प्रेमपूर्ण विरोध करते हुए कहा—"ईश्वर ऐसा न करे ! ईश्वर ऐसा न करे !"

"ईश्वर की आज्ञा हो चुकी है," इस्माइल ने कहा, "मैं आप लोगों के बीच से आज अलग होता हूँ। मैं अपना काम समाप्त कर चुका। मिश्र में ईश्वर की इच्छा पूरी हो चुकी। अतः हमारे मार्ग अब अलग-अलग होते हैं। आप लोग अब मुझे फिर न देखेंगे।"

विरोध-सूचक शब्द फिर सुनाई दिये। सबने एक साथ इस्माइल से आग्रह किया कि वह उन लोगों के बीच में रहे और उनका पथ-प्रदर्शक बना रहे।

"मेरा काम हो चुका है," उसने कहा, "मेरी तुच्छ शक्तियों के अनुसार, जो परमात्मा ने मुझे प्रदान की थीं, मैं अपना काम कर चुका।"

"नहीं, नहीं"—सैकड़ों व्यक्तियों ने चिल्ला कर कहा। जनता का मन ख़ूब उद्वेलित हो रहा था ! "अल्लाह ! अल्लाह !!" करते हुए सब नतमस्तक होकर झुक गये !

धीमी और शान्त प्रार्थना के आरम्भ होने पर जनता ने सिर उठाया। वक्ता का स्थान खाली था। इस्माइल अमीर चला गया था !

श्रीगोपाल नेवटिया

शूली पर

(१)

हृदय में धधक रही थी आग, देखकर अनय-नीति की मार,
कमर कस, पढ़ा समर का पाठ, हो गये कुछ योद्धा तैयार।
नया था हृदय, नया था जोश, नये भावों की उठी तरङ्ग,
नये ही साधन सब जुट गये, छिड़ गया नवजीवन का रंग॥

(२)

विहँसते सेनापति ने कहा—बढ़ो आगे को मेरे शूर !
आत्म-बलि देकर जीतो समर, रह गई मंजिल थोड़ी दूर।
हुआ सेनापति का निर्देश, बढ़ गये सुभट एक पर एक;
लिया रिपु से लोहा भरपूर, रखी निज विमलधर्म की टेक।

(३)

मर मिटे मुदित सहस्रों वीर, पालकर सैनिक-धर्म महान्,
रह गये आहत हृदय अनेक, बने रिपु के बन्दी महमान।
कटेगा सेनापति का शीश, हुआ रिपु-दल का यह आदेश;
व्यथित हो उठे अनेकों हृदय, अभी क्या होगा हे परमेश॥

(४)

खिला सेनापति का मुख कमल, हर्ष का उमड़ा पारावार,
विहँस कर गर्ज उठा नरसिंह, "खड़ा हूँ मरने को तैयार।"
"न होगा युद्ध हमारा बंद, आत्म-बलि ही में है संतोष;
और है मातृ भूमि के लिए, शीश देने में तनिक न रोष॥"

(५)

"चढ़ा देगी अक्षत से शीश, देश की कोटि-कोटि संतान,
बुझा लेगी रण-चंडी प्यास, जगाकर जीवन-ज्योति महान।"
क्रूरता ठिठकी सी रह गई, देख सेनापति की मुसकान;
खिंचा शूली का फंदा निडर, हुआ अवसान महा बलिदान॥

(६)

जिन्होंने दिया हृदय का रक्त, कौन थे वे मतवाले शूर,
काटने बंधन जो थे चले, मातृ-भू के करने दुख दूर।
देश के योद्धा थे नरसिंह, त्याग था जिनका जीवन-मंत्र;
वही थे लोहा लेने चले, शत्रु से करने देश स्वतंत्र॥

(७)

अरे, वह आज़ादी की लता, खड़ी जो रक्त-बीज पर आज,
पनप जायेगी निश्चय कभी, फलेगा सुरतरु सुखद स्वराज।
बह चलेगी स्वातंत्र्य-बयार, देश का होगा पुनरुत्थान;
मिटेगा ऊँच-नीच का भेद, रहेंगे सब के स्वत्व समान॥

'अमर'

बंसावाला

Lakshmi Art, Bombay, 8

साहित्य-संगीत-कला

कविता में दुःखवाद

संस्कृत-साहित्य में दुखान्त कविताएँ दूषित समझी जाती हैं। नाटकों में भी इस बात का विशेष ध्यान रहता है कि वह दुखान्त न हो। संस्कृत-साहित्य में दुःखवाद कभी अन्तिम लक्ष्य नहीं माना जाता। हम लोगों को यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी पर संस्कृत-साहित्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है अतएव हिन्दी के अधिक लेखक भी दुःखवाद से घृणा करते हैं। अभी हाल ही में श्री पं० पद्मसिंहजी शर्म्मा ने "सुधा" में दुःखान्त कविता के विरुद्ध एक छोटासा नोट छपवाया है। इसी विषय पर अनेक और हिन्दी के विद्वानों ने भी लिखा है और दुःखान्त कविता की खूब निन्दा की है। २६ मई सन् १९२८ के 'कर्मवीर' में भी किसी एक सज्जन ने लिखा है:—"धर्मशास्त्रों में शरीर, ईश्वर का पवित्र मन्दिर समझा जाता है। इसकी रक्षा और इसका लालन-पालन ईश्वरोपासना के ही भीतर समझना चाहिए। जो ईश्वर की पवित्र भूमि को स्वयं अपने हाथों वीरान बनाते हैं (आत्म-हत्या करते हैं) वे धर्म की अदालत में गुनहगार समझे जाते हैं। पाश्चात्य जगत्, जो नारकीय जीवन की बीभत्सता प्रतिदिन अपनी आँखों देखता है, अपने हाथों ही अपनी हत्या करने में बड़ी दिलचस्पी दिखा रहा है। कोई विद्यार्थी इसलिए आत्म-हत्या कर लेता है कि वह स्कूल या कॉलेज ठीक समय पर नहीं पहुँच सका, कोई लड़की इसलिए अपने ऊपर पिस्तौल चला लेती है कि गाड़ी चूक गई। ऐसे समाचार प्रतिदिन पत्रों में मिला करते हैं। इस मानसिक अशान्ति का कारण खोजने के लिए हम जब उसके साहित्य की ओर एक विश्लेषणात्मक दृष्टि डालते हैं तो हमें पता चलता है कि उनके नाटकों और उपन्यासों का अन्तिम पृष्ठ खून से रंजित है। दर्शकों और पाठकों के हृदय में 'हत्या' रोज की साधारण घटना के रूप में अङ्कित हो जाती है। नाटकों और उपन्यासों में बहुधा दिखाया जाता है कि पात्र ने ज़रासी मानसिक उत्तेजना से विवश हो कर अपनी जान अपने हाथों ले ली! जो दृश्य बार-बार हमारी कल्पना द्वारा मस्तिष्क में ग्रहण कर लिए जाते हैं, वे, एक प्रकार से हम में अपने प्रति रागात्मिका प्रवृत्ति जगा देते हैं। हम भी पात्रों की तरह ज़रासे आवेग के वशीभूत होकर भीषणकाण्ड करने में प्रवृत्त हो जाते हैं!

हमारे पूर्वीय आचार्य मनोविज्ञान के बड़े सूक्ष्म पण्डित थे। उन्होंने साहित्य में दुःखवाद को अपना अन्तिम लक्ष्य नहीं बनाया। दर्शकों और पाठकों के मन पर आखिरी परिणाम उल्लास और उत्साह की सुनहली रेख से लिख दिया जाता है। इसका यह आशय नहीं है कि हमारे देश में आत्म-हत्या होती ही नहीं। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि पाश्चात्य देशों से आत्म-हत्या की संख्या हमारे यहाँ अल्प ही है। डाक्टरों का कथन है कि मन को बारबार जिस तरह के संकेतों से परिचित रक्खा जायगा, उसी तरह की भावना को वह अपने भीतर परिपुष्ट करता जायगा। अतः जब पाश्चात्य साहित्य, हत्या और दुःखवाद को ही अपना आदर्श मान कर जनता के सम्मुख रहता है, तब यदि हम वहाँ के देशों में ऐसी अशान्ति से भरे मानसिक उन्माद को देखते हैं तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है? इन हत्याओं और खून-खराबियों का एक मात्र स्वाभाविक उपाय यही है कि देशों में स्वस्थ साहित्य का निर्माण हो जो पाठकों को मानसिक शान्ति और सुख की ओर बरबस खींच सके।"

इसी तरह के और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। परन्तु यहाँ पर इतना ही लिखना पर्याप्त होगा। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में भी अब ऐसी कविताएँ लिखी जा रही हैं जो दुःखान्त कही जा सकती हैं और जिनमें दुःख

की महिमा भी गाई जाती है। अब हिन्दी वालों ने भी दुखान्त उपन्यासों का लिखना प्रारंभ कर दिया है। परन्तु अभी तक ऐसे लेखकों की संख्या बहुत कम है। दुःखान्त कविता के उदाहरण के रूप में मैं श्री सुमित्रानन्दनजी पंत की की निम्नलिखित कविता 'ग्रंथि' से उद्धृत करता हूँ—

आह ! यह किसका अन्धेरा भाग्य है ?
प्रलय-छाया-सा, अनन्त-विषाद-सा !
कौन मेरे वेदना के विपिन में
पागलों-सा यह भ्रमण है घूमता !
हृदय ! यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
धूम ही है शेष अब जिसमें रहा !
इस पवित्र-दुकूल से तू दैव का
वदन ढकने के लिए क्यों व्यग्र है ?
विश्ववाचक ! और भी उपकरण हैं
शेष मेरे पास दुःख का इस समय;
किन्तु मैं सब भांति सुख-सम्पन्न हूँ
वेदना के इस मनोहर-विपिन में।
पतन के नीले-अधर पर भाग्य का
जो निठुर-उपहास मैंने आपको
आज दिखलाया, उसे किसकी दया
कर सकी है मन्द ? क्या लोकेश की ?
कुटिल भावी के अँधेरे कूप में
और कितने हैं अभी आँसू छिपे।
छलकती आँखें उन्हें प्रिय ! फिर कभी
भेंट देंगी कर-कमल में आपके।

जिन लोगों ने श्रीमती महादेवी वर्मा की कविताओं को ध्यान से पढ़ा है वे मुझसे इस विषय में अवश्य ही सहमत होंगे कि उनकी कविता दुःख प्रधान ही होती है। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में भी अब कुछ लोग दुःखवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

(२)

इस सम्बन्ध में यूनान-देश के प्रसिद्ध विद्वान् एरिस्टोटल के मत का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। वह कविता में दुःखवाद का बड़ा पक्षपाती था। उसका विचार था कि कविता तथा साहित्य का सर्व-श्रेष्ठ अंश अवश्य ही दुःखात्मक होगा। वह कहा करता था कि कविता की दृष्टि से सर्व-श्रेष्ठ, आचार की दृष्टि से सर्वोच्च तथा व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त अधिक लाभदायक कविता को अवश्य ही दुःखांत होना चाहिए। एरिस्टोटल ने काव्य-कला पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है। उसमें उसने इन सब बातों पर खूब अच्छी तरह से विचार किया है। वह कहता है—"दुःखांत कविता मन में करुणा तथा भय का संचार करती है और इस प्रकार यह मस्तिष्क को पवित्र कर देती है। इतना ही नहीं, दुःखान्त कविता हम लोगों की वासनाओं में उचित सम्बन्ध स्थापित करती है और हम लोगों के हृदय में आनन्द का संचार करती है।" वास्तव में एरिस्टोटल ने कई जगह दुःखांत कविता की बड़ी प्रशंसा की है। एरिस्टोटल दुःखांत कविता से आनन्द की प्राप्ति मानता है। यदि विचार किया जाय तो भौतिक-जगत् में भी इसी प्रकार का एक सिद्धांत माना जाता है। मीठा के हटाने के लिए मीठे का ही प्रयोग होना चाहिए। होमियोपैथी की सारी औषधियाँ इसी सिद्धांत पर बनाई जाती हैं और उनसे लाभ भी होता है। यदि भाँग के नशे को उतारना हो तो इसमें भाँग का ही प्रयोग किया जाता है। होमियोपैथी में विष की औषधि विष, खट्टे की औषधि खट्टा और पीड़ा की औषधि पीड़ा है। इसीलिए उसमें रोग और औषधि दोनों का गुण एक ही होता है। हमारे यहाँ इस सिद्धांत को यों कहा है:—'विषस्य विषमौषधम्'। यदि इसी सिद्धांत का प्रयोग साहित्य में भी करें तो स्पष्ट ही है कि दुःख की औषधि भी दुःख ही है अर्थात् दुःखांत-साहित्य से दुःख का नाश हो जायगा। इसी कारण पाश्चात्यदेश के अधिक लेखक दुःखांत साहित्य को प्रायः उद्धृत करते हैं, गौरव की दृष्टि से देखते हैं। सिसरो, प्लूटार्च ने कई स्थानों पर दुःखांत-साहित्य का उल्लेख किया है। स्वयं सन्त पॉल ने अपने पवित्र धर्म-ग्रंथ में यूरिपिडेस (Euripides) नामक कवि की कविता को उद्धृत किया है और यूरिपिडेस कविता में दुःखवाद का पक्षपाती था।

पाश्चात्य-देश के लोग दुःखांत कविता को बड़े गौरव की वस्तु समझते हैं और इसीलिए सब लोग दुःखांतसाहित्य

उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। यदि डायोनिसियस नामक व्यक्ति की गणना दुःखांत-साहित्य के उत्पन्न करने वाले पुरुषों में हुई होती तो वह अपने को धन्य मानता। अगस्टस सीज़र को कौन नहीं जानता। उसने भी एक दुःखांत-साहित्य (Ajax) का लिखना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु उसे वह पूरा नहीं कर सका। पाश्चात्यदेश में सेनेका (Seneca) नामक एक प्रसिद्ध दार्शनिक होगया है। सेनेका की कई दुःखांत कविताओं का एक संग्रह भी है। कुछ लोगों का विचार है कि इस प्रसिद्ध दार्शनिक ने ही इन सब पुस्तकों को लिखा। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि दार्शनिक सेनेका ने 'सेनेका' नामक संग्रह की सर्वश्रेष्ठ, दुःखांत-कविताओं को ही लिखा था, सबको नहीं। ग्रीगरी नाज़िअँज़न(Gregory Naziauzen) ने भी एक दुःखांत ग्रंथ लिखा है। इसका नाम है "ईसा का कष्ट" (Christ Suffering)। ग्रीगरी पाश्चात्य-देश का एक बहुत ही अधिक प्रसिद्ध विद्वान् है। वह पादरी था और अपनी पवित्रता तथा ईसा की भक्ति के लिए प्रसिद्ध था। यूनानदेश में एचिलस (Aeschylus) सोफोक्लिस (Sophocles) और यूरीपिडेस (Euripides) ये तीनों अत्यन्तप्रसिद्ध दुखांत लेखक हुए हैं। कुछ समालोचकों का विचार है कि आज तक कोई भी दुःखांत लेखक इनकी समानता नहीं कर सका, इनके बढ़ने की बात कौन कहे। परन्तु कुछ लोगों का विचार इनके विरुद्ध है। कुछ लोग समझते हैं कि शेक्सपियर दुःखांत लेखों में इनसे भी आगे बढ़ गया है।

अंग्रेज़ी साहित्यके दुःखान्त लेखकों की संख्या बहुत अधिक है। कदाचित् अंग्रेज़ी-साहित्य का सब से पहला दुःखान्त तथा पाँच अंकों का नाटक "सैकविले" (Sack Ville) का "फेरे" और 'पेरे' है। ये सन् १५६२ ई० में लिखे गये थे और इनपर 'सेनेका' का काफ़ी प्रभाव पड़ा है। उसके बाद तो अंग्रेज़ी-साहित्य में पाँच अंकों के दुःखान्त नाटक लिखने की प्रथा-सी चलगई। तब से आजतक अनेक दुःखान्त लेखक हो गये हैं। इन सबों का उल्लेख करने से इस लेख का आकार बहुत बढ़ जायगा। तथापि मारलोवे और शेक्सपियर का नाम लेना आवश्यक है। मारलोवे (Marlowe) का ऐतिहासिक तथा दुःखान्त नाटक 'एडवर्ड द्वितीय' बहुत प्रसिद्ध है। मिल्टन ने भी दुःखान्त कविता की है। बायरन भी दुःखान्त कविता तथा नाटक में सिद्ध-हस्त था। टॉमस हार्डी को मरे अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ। वह अपने समय का संसार भर में सर्वश्रेष्ठ उपन्यास लेखक माना जाता था। इसने भी दुःखान्त उपन्यास लिखे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सारा अँग्रेज़ी-साहित्य ही दुःखान्त कविता से भरा पड़ा है।

(३)

इन सब बातों से स्पष्ट है कि पूर्व, साहित्य में दुःखवाद नहीं चाहता और पश्चिम, साहित्य में दुःखवाद को सर्व-श्रेष्ठ समझता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वास्तव में क्या होना चाहिए। एक प्रकार से यह प्रश्न मनोविज्ञान का है। हम लोगों को परीक्षा द्वारा जाँच करनी चाहिए कि दुःखान्त और सुखान्त कविताओं का मनुष्यों के ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है और तब उस प्रभाव के अनुकूल किसी एक बात का निश्चय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह दार्शनिक प्रश्न भी है। यदि संसार भर के दार्शनिकों के विचारों का इस संबंध में विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि संसार में दुःखवादी और सुखवादी दोनों ही प्रकार के दार्शनिक पाए जाते हैं। शोपेनहार दुःखवादी है और उसने गणित की सहायता से सिद्ध कर दिया है कि संसार में सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा ही अधिक है। भारतीय दार्शनिकों में अधिक दुःखवादी हैं। इस प्रकार संसार भर के दार्शनिकों में दुःखवादियों की संख्या ही अधिक है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुख और दुःख ये दोनों मनुष्य की दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ हैं अथवा सुख का अभाव ही दुःख या दुःख का अभाव ही सुख है? अथवा यों कहिए:—"सुख और दुःख ये दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं अथवा इनमें से एक ही स्वतंत्र पदार्थ है और दूसरा इसका अभाव है। यदि एक ही स्वतंत्र पदार्थ है तो वह सुख है अथवा दुःख?" सन्यास-मार्ग के मानने वालों का सिद्धान्त है कि इस संसार में दुःख-ही दुःख है और सुख कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। अवधूत गीता, अष्टावक्र गीता तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में इसी मत का समर्थन किया गया है। जैन तथा बौद्ध धर्म में भी ऐसा ही कुछ कहा गया है। परन्तु कुछ भारतीय दार्श-

निक सुख और दुःख की परिभाषा देकर ही छोड़ देते हैं और इस उलझन में नहीं फँसते कि सुख अथवा दुःख में से कौन मौलिक (स्वतंत्र) है और कौन दूसरे का अभाव। उदाहरण के लिए हम नैय्यायिकों को ही ले सकते हैं। उन्होंने लिखा है:—'अनुकूल वेदनीयं सुखं'; 'प्रतिकूल वेदनीयं दुःखं ।' अर्थात् अनुकूल वेदना ही सुख और प्रतिकूल वेदना ही दुःख है। महर्षि कपिलाचार्य ने भी साङ्ख्य सूत्रवृत्ति के प्रारंभ में कहा है:—

अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः ॥१॥

अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों—(१) शारीरिक (२) आधिभौतिक और (३) आधिदैविक की अत्यन्त निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कपिल ऋषि किसी एक को प्रधान नहीं मानते हैं तथापि उनका ग्रन्थ ही दुःख की निवृत्ति के लिए लिखा गया है।

पतञ्जलि ऋषि ने भी दुःख के विषय में कई स्थानों पर लिखा है। उनका "हेयंदुःखमनागतम्" सूत्र खूब प्रसिद्ध है। वैशेषिक दर्शन में तो दुःख का अनेक स्थानों पर वर्णन है। प्रशस्तदेवजी ने भी अपनी व्याख्या में सुख तथा दुःख की चर्चा की है। परन्तु वैशेषिक दर्शन तथा प्रशस्तदेवजी की व्याख्या में सुख और दुःख दोनों स्वतंत्र माने गये हैं। यदि इन सब दार्शनिक सिद्धांतों को साहित्य के मैदान में ले जाँय तो कई बातें पैदा हो जाती हैं। कविता इस संसार की वस्तु है और इस संसार में दुःख की मात्रा (कुछ दार्शनिकों के अनुसार) ही अधिक है। इसलिए यदि कवितामें दुःखवाद का अस्तित्व पाया जाय तो कोई हानि नहीं हैं। यदि वास्तव में इस संसार में दुःख की मात्रा ही अधिक है तो कविता में केवल सुखवाद का प्रचार करना अस्वाभाविक है। यदि संसार में सुख और दुःख दोनों स्वतन्त्र हैं तो कविता में दुःख ही का वर्णन करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना अधिक वास्तविक होगा। यदि इस संसार में केवल सुखही सुख है तो कविता में भी सुख का ही वर्णन होना चाहिए इत्यादि। अब यह प्रश्न उठता है:—"मानलो कि संसार में दुःख-ही दुःख है तो भी कविता में एक आदर्श स्थापित करने के लिए केवल सुख का ही वर्णन करना क्यों न्याय-संगत नहीं है? कविता में आदर्श स्थापित करना चाहिए अथवा वास्तविकता? आदर्श और वास्तविकता में से एक को प्रधानता देने से क्या लाभ अथवा हानि है?"

(४)

श्री विश्वनाथ कविराज ने साहित्य दर्पण में रस को ब्रह्मानन्द सहोदर माना है और स्वयं उन्होंने प्रश्न किया है—'यदि आनन्दमय को ही रस माना जाय, तो करुण, भयानक और बीभत्स आदि रस नहीं कहला सकते क्योंकि ये तो दुःखमय होते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर श्री विश्वनाथ कविराज ने स्वयं दिया है:—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

अर्थात् करुण आदि रसों में भी परम आनन्द मिलता है। इसमें केवल सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। अपनी इस बात को पुष्ट करने के लिए श्री विश्वनाथजी फिर कहते हैं—

किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

अर्थात् यदि करुण, भयानक तथा बीभत्स रसों में दुःख होता तो इन रसों से संबंध रखने वाले ग्रन्थों को कोई पढ़ता ही नहीं। श्री विश्वनाथ कविराज का यह कथन सर्वथा सत्य है। पतञ्जलि ऋषि ने भी लिखा है:—"सुखानुशायी रागः।" "दुःखानुशायी द्वेषः।" अर्थात् सुख से प्रेम और दुःख से द्वेष उत्पन्न होता है। इसके बाद भी श्री विश्वनाथजी कविराज तरह तरह से इसी बात को सिद्ध करते हैं कि करुणादिक रसों में आनन्द ही आनन्द मिलता है, दुःख नहीं।

यदि हम लोग कविराजजी की इस बात को मान लें तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर दुःखान्त का क्या अभिप्राय है? यदि वास्तव में किसी विशेष कविता के अन्त में करुण-रस हो तो फिर आप उसे दुःखान्त क्यों कहते हैं क्योंकि उसमें भी आनन्द ही मिलता है। श्री विश्वनाथजी कविराज की उक्त व्याख्या और दुःखान्त कविता में संगति कैसे बैठ सकती है? ये दोनों विचार परस्पर भाई-भाई की तरह एक स्थान पर कैसे बैठ सकते हैं? यदि किसी कविता में रस ही न हो तो दूसरी बात है परन्तु जब उसमें रस है

तब श्री विश्वनाथजी के अनुसार उसमें आनन्द ही मिलेगा। ऐसी दशा में हम उसे दुःखान्त कैसे कह सकते हैं?

बहुत लोग दुःखान्त का अर्थ मार काट तथा हत्या आदि ही मानते हैं परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जब तक कोई दुःखान्त-कृति सुन्दर न लगे तब तक वह वास्तविक दुःखान्त कही ही नहीं जा सकती और जब कोई दुःखांत कृति सुन्दर होगी तो उसमें आनन्द भी अवश्य ही आयेगा तथा उसीसे कल्याण भी होगा क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर एक प्रकार से एक ही हैं। महात्मा गांधी ने भी एकबार लिखा था:—"सत्य ही सुन्दर है।" यही बात 'कीट्स' भी कहता है--"Truth is beauty and beauty is truth" अर्थात् सत्य ही सुन्दर और सुन्दर ही सत्य है। सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से देखे जाने पर भिन्न-भिन्न मालूम होते हैं परन्तु वास्तव में निरपेक्ष्य काल और देश में ये सब एक ही सिद्धान्त की तीन दशाएँ हैं। हम लोगों की चेतनता के व्यापार निम्नलिखित तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं:--(१) ज्ञान सम्बन्धी जैसे स्मृति, कल्पना आदि। (२) भाव सम्बन्धी जैसे प्रेम, सुख, दुःख आदि। और (३) क्रिया सम्बन्धी जैसे प्रयत्न, ध्यान आदि। जब हम लोग चेतना के व्यापार को तीन भागों में विभाजित करते हैं तब हम लोगों का अभिप्राय यह नहीं होता कि ये एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं क्योंकि ये तीनों ही व्यापार हमारे जीवन में सम्मिलित रूप में ही आते हैं। मान लो कि मैं एक दुःखी मनुष्य को देखता हूँ। मेरे मन में उसकी सहायता करने का विचार उठ खड़ा होता है और मैं उसे पैसे देता हूँ। इस काम में चेतना के तीनों व्यापार सम्मिलित हैं। दुःखी को देख कर उसके दुःख का अनुभव, तब उसके दुःख हटाने का विचार और उसके बाद क्रिया अर्थात् पैसे का देना। इस प्रकार इस काम में चेतना के तीनों व्यापार—ज्ञान, भाव और क्रिया—सम्मिलित हैं। संसार भर के सब मनुष्यों में ये व्यापार पाये जाते हैं। जिसमें ज्ञान का अंश प्रबल हो जाता है वह सत्य का, जिसमें भाव का अंश प्रबल हो जाता है वह सुन्दरता का और जिसमें क्रिया का अंश प्रबल होता है वह कर्म का प्रेमी तथा अधिक पक्षपाती हो जाता है। जब हम देखते हैं कि महात्मा गांधी सत्य के अधिक प्रेमी हैं तो इसका यही अभिप्राय निकलता है उनमें ज्ञान का अंश अधिक बढ़ गया है। जब हम देखते हैं लोकमान्य तिलक कर्म के अधिक प्रेमी थे तो इसका अभिप्राय यही है कि उनमें क्रिया का अंश अधिक था। जब हम देखते हैं कि वह सवर्थ सुन्दरता का अधिक प्रेमी था, तब हम यह समझते हैं कि उसमें भाव की अधिकता थी। परन्तु यदि ये तीनों सत्पुरुष हों तो एक के सत्य, दूसरे के कर्म और तीसरे की सुन्दरता में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। अतएव एक के 'सत्य', दूसरे के 'शिव' और तीसरे के 'सुन्दर' में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए क्योंकि 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' एक ही पदार्थ की भिन्न-भिन्न तीन दशाएँ हैं। इसलिए जो दुःखान्त कविता सुन्दर होगी, उसीमें आनन्द (सत्य) मिलना चाहिए और उसीसे कल्याण भी (शिव) होना चाहिए।

अवध उपाध्याय

अनन्त की ओर

गरजता सागर, तम है घोर,
घटा घिर आई, सूना तीर।
अँधेरी सी रजनी में पार,
बुलाते हो कैसे बेपीर?

नहीं है तरिणी, कर्णाधार
अपरिचित है वह तेरा देश।
साथ है मेरे निर्मम देव,
एक बस तेरा हो संदेश।

हाथ में लेकर जर्जर बीन,
इन्हीं बिखरे तारों को जोर।
लिए कैसे पीड़ा का भार,
देव आऊँ अनन्त की ओर?

महादेवी वर्मा

सोवियट रूस में साहित्यिक प्रगति

रूस में जब से 'सोवियट' राज्य-पद्धति का आरम्भ हो गया है, तब से बराबर वहाँ साहित्य का प्रचार बढ़ता जा रहा है। महायुद्ध के पूर्व वह सब से पीछे था, सन् १९१२ में पुरानी और नवीन पुस्तकों की संख्या १३,३५,६१,९९६ थी, पर वही संख्या सन् १९२५ में बढ़कर २४,२०,२५,८०४ हो गई। साहित्य की इस प्रगति में 'मास्को' और 'लेनिनग्राड' का नाम सब से प्रथम लिया जायगा। सारे रूस में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उनमें आधी अकेले 'मास्को' ने ही प्रकाशित की हैं और एक चौथाई लेनिन ग्रॉड में तथा शेष चौथाई सारे रूस में प्रकाशित हुई हैं।

सन् १९२५ में प्रकाशित की गई पुस्तकों में समाज शास्त्र पर प्रतिशत ४५, शास्त्रीय अन्वेषण-विषयक प्रतिशत २१, उपन्यास प्रतिशत ११, रसायनशास्त्र प्रतिशत ६ तथा विविध विषय की प्रतिशत १६ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। अकेले इसी वर्ष प्रकाशित पुस्तकों में प्रतिशत ९४ पुस्तकें मौलिक लिखी गईं, और ६ पुस्तकें अनुवादित हुई हैं। सन् १९२३ से लगा कर १९२६ पर्यन्त निम्नलिखित तालिका के अनुसार अखबारों का प्रचार हुआ—

सन्		अखबार संख्या		ग्राहक संख्या
१९२३	...	४०७	...	१५३२९१०
१९२४	...	४९४	...	२२८८०८०
१९२५	...	५७९	...	६९५६०९८
१९२६	...	५९२	...	८२९१८२०

सिर्फ किसानों के लिए निकलने वाले 'किसान' पत्र के मार्च १९२४ में ६०,००० ग्राहक थे, और अप्रेल तथा मई इन दो महीनों में बढ़ कर २,००,००० हो गए। इसी प्रकार 'क्रीन' नामक पत्र के ग्राहक एप्रिल सन् १९२३ में ४९,००० थे, पर १९२४ के मई मास तक बढ़कर ५५,००० हो गए।

सोवियट यूनियन के राजकीय विभाग द्वारा सन १९२५ के अन्त में प्रकाशित होने वाले पत्रों की संख्या इस प्रकार है—

पत्र-विषय		पत्र संख्या	ग्राहक संख्या
कृषि	...	१३१	१९,१३,०००
राष्ट्रीय	...	१९०	९,२८,९४३
मजूर	...	५८	१२,७६,३१०
रेड-आर्मी	...	१५	९५,०८०
यंगकम्युनिष्ट	...	५३	४,७१,४५३
ट्रेडयूनियन	...	१७	८,७०,५००
विविध	...	१३५	२७,२५,१३४

इन अंकों से स्पष्ट है कि नये शासन में रूस, साहित्य-क्षेत्र में भी बड़ी तेज़ी से उन्नति कर रहा है।

सूर्यनारायण व्यास

गौरव-गीत

(७)

राणा कुम्भा का गीत

"राणा मोकल को चाचा, मेरा और महपा ने मार डाला। मेवाड़ अस्तव्यस्त हो गया। हत्यारों ने राज्य में उपद्रव प्रारम्भ कर दिया। कौन उनसे राज्य की रक्षा करेगा? कौन उनसे सिसोदिया-वंश-भूषण राणा मोकल की हत्या का प्रतिशोध लेगा? कौन उनके स्वच्छन्द अत्याचारों को रोकने में समर्थ होगा?" वीरों! "हिन्दू सुरत्राण," सिसोदिया वंशावतंस, वीर-शिरोमणि महाराणा कुम्भा के रहते किसका साहस कि मेवाड़ को ध्वंस करे; कौन ऐसा माई का लाल कि जिसे राज-हत्या का प्रायश्चित न करना पड़े? वह देखो! चाचा और मेरा के शव महाराणा के पैरों के पास लोट रहे हैं? वह देखो! प्राण बचाने को महपा की-भेष में भागा जा रहा है। राणा कुम्भा ने अत्याचारियों के हाथ से मेवाड़ को मुक्त किया। उनका वीरत्व मेवाड़ की रक्षा करने लगा।

"वीरों! राणा कुम्भा मेवाड़ के शासक हुए। मेवाड़ में शान्ति की वंशी बजने लगी। मेवाड़ में सुख का अक्षय भण्डार फट पड़ा। उनकी अजेय असि मेवाड़ की रक्षा करने लगी। अब कौन मेवाड़ की सुख शान्ति पर वक्र-दृष्टि डालने का विचार कर अपने प्राण खोयेगा? अब कौन स्वप्न में भी

मेवाड़ विजय करने का विचार करेगा ? महाराणा कुम्भा के शस्त्राघातों को सहने का किस वीर में कलेजा है। महपा के बहकाने में आकर मूर्ख महमूद मेवाड़ पर चढ़ाई कर बैठा। सारंगपुर में महाराणा की अतुलित शक्तिशालिनी चमूने मालवे के सुलतान को ऐसी करारी हार दी कि महमूदने भाग कर मांडल गढ़ में शरण ली। परन्तु महाराणा कुम्भा को छोड़कर कौन सुख की नींद सोया है ? वह देखो ! राणाजी सुलतान को बन्दी कर चित्तौड़ ले आये। बहुत दिनों सुलतान बंदी गृह में सड़ता रहा। अन्त में राणाजी ने दयाकर उसे छोड़ दिया। नतमस्तक महमूद मालवे लौटा और इस हार का बदला लेने पर कटिबद्ध हुआ। बार बार उसने आक्रमण किया, परन्तु प्रत्येक बार कुम्भा की तलवार ने ऐसी काट की कि सुलतान को भागना तक कठिन हो गया। कुंभलगढ़, मांडलगढ़ और रणथंभोर की युद्ध-स्थलियाँ अब तक यवनों के रक्त से लाल हैं। वे पुकार-पुकार कर कुंभा के शौर्य को प्रकट कर रही हैं।

"वीरो राणा ने मालवे के सुलतान के छक्के छुड़ा दिये। फिर वह अकेले आक्रमण करने का साहस न कर सका। उसने गुजरात के सुलतान को उकसाया। दोनों की सम्मिलित सैन्य ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। परन्तु उससे क्या होता है ? कुंभा की शक्ति का किसने पार पाया है ? वह देखो दोनों सुलतान भागे जा रहे हैं। मेवाड़ यवनों से सुरक्षित हो गया है। राणा कुंभकर्ण ने म्लेच्छों को ऐसा रण-कौशल दिखाया कि उन्होंने मेवाड़ की ओर आँख उठाना ही छोड़ दिया।

"वीरो ! राणा कुंभा ही के कारण मेवाड़ राजस्थान-शिरोमणि माना जाने लगा। राणाजी की अजेय असि ने आबू, सिरोही, बूँदी, और हाड़ावटी को मेवाड़-साम्राज्य के अंग बना दिये। राणाजी की मार के सामने यवन नागौर छोड़ भागे। राणाजी ने नारदीयनगर और धान्यनगर पर अधिकार किया। शोध्यानगरी और हम्मीरपुर, जनकाचल और गिरिपुर (डूँगरपुर) के नरेशों ने घुटने टेक दिये। चम्पावती और *आम्रदाद्रि, †मल्लारण्यपुर और ‡विशालनगर के खण्डहर अबतक राणाजी के क्रोध का परिणाम बता रहे हैं। ÷ सिंहपुर, कोटड़ा तथा वायसपुर के युद्ध क्षेत्र अब तक राणाजी का कीर्ति-गान कर रहे हैं। वीरो ! महाराणा कुम्भकर्ण ने अपने असीम शौर्य से समस्त भारत में मेवाड़ की धाक बाँध दी। गुजरात तथा दिल्ली के यवन-नरेशों ने मेवाड़पति को "हिन्दू-सुरत्राण" विशेषण से विभूषित कर मेवाड़ के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया।

"वीरो ! राणाजी के कीर्ति-स्तम्भ उनका कीर्ति-गान कर रहे हैं। कुम्भलगढ़ और अचलदुर्ग अपने निर्माता के विपुल ऐश्वर्य का परिचय दे रहे हैं। कुम्भस्वामी और आदिवाराह के सुन्दर, विशाल देवगृह राणाजी के धर्म्म-प्रेम का ज्वलन्त प्रदर्शन कर रहे हैं। वीरो ! राणाजी के ग्रन्थ उनके विपुल पाण्डित्य का परिचय दे रहे हैं। निपुण-वीणा-वादन और अभिनव भरताचार्य्य विशेषण उनके साहित्य-प्रेम का निदर्शन कर रहे हैं। वीरो ! ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न राणाजी हमारे पूर्वज हैं, यह विचार कर अभिमान करो, उनके पद चिन्हों का अनुकरण करो और अपने को उनका वंशज सिद्ध करो।"

बालकृष्ण बलदुवा

* अम्बर, † मलारणा, ‡ वीसलनगर, ÷ सांहार।

पागल की मुक्ति !

(१)

पागल को तुमने मुक्त किया,
पैरों की कड़ियाँ आज खोल।
नीरव नेत्रों से, चकित चित्त—
वह देख रहा आनन अमोल।

(२)

थम गये अश्रु बस, आँखों में,
रह गई किसी की लाज शान।
उस व्यक्त और अव्यक्त बीच,
था शेष किसी का प्राणदान।

(३)

क्यों रूठे ? कैसे रीझ गए ?
अन्तस्तल में है चोट कहीं।
तुम स्वयंमेव हा ! दूर हुए—
कोई आँखों की ओट नहीं !

रामसेवक त्रिपाठी

पागल

सवेरे का समय था। पूर्व दिशा में लाली छाई हुई थी। सूर्य की किरणें धीरे-धीरे निकल कर अँधेरे को भगा रही थीं। पहाड़ी-नदी पूर्ण वेग से बहती चली जा रही थी। किनारे के पेड़ से पत्ते टूट-टूट कर नदी में गिरते और धारा के फेर में पड़कर साथ ही बहते चले आ रहे थे।

पागल अपनी पर्णकुटी से निकला और अपने गाने में मग्न नदी के किनारे-किनारे चल दिया। नदी की धारा में वेग था; एक कमल पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। धारा का ज़ोर लगा और कमल बह गया। पागल नदी में कूद पड़ा और नदी को चीरता हुआ कमल के फूल को निकाल लाया।

लोग नदी में नहा-नहाकर आते थे। मन्दिर के सामने मेला-सा लगा हुआ था। मालीगण अपनी-अपनी फूलों की डालियाँ सजाये बैठे थे। कोई फूल ख़रीद रहा था;कोई जल का लोटा लिये ही मन्दिर की सीढ़ियों पर चढ़ रहा था। पागल भी अपना फूल लिए एक जगह खड़ा भीड़ की ओर टकटकी लगाये देख रहा था। एक चार वर्ष का बालक भी अपनी माँ की अँगुली पकड़े नाचता-कूदता इधर-उधर कौतूहल पूर्वक ताकता, इधर ही आ रहा था। बालक ने पागल का फूल देखा; बोल उठा—"माँ ऐसा फूल लूँगा।" पागल ने फूल लड़के के हाथ में दे दिया और वापिस लौट चला।

* * *

ग्रहण का दिन था। नदी पर भीड़ लगी हुई थी। कोई स्नान कर रहा था। कोई सूर्य को अर्घ दे रहा था। एक तरफ़ तैल की मालिश हो रही थी। कुछ लड़के इधर तैर रहे थे। कभी-कभी जब छींटे उछलते थे तो पंडा लड़कों को डांट देता था और फिर किसी दाता के गौ दान का संकल्प कराने में संलग्न हो जाता था। पागल भी एक पेड़ पर खड़ा-खड़ा बड़े ध्यान से इधर देख रहा था। हठात् कोई चिल्ला उठा "गया! गया! गया! वह धारा में पड़ गया।" पागल पेड़ पर से उछलकर नदी में कूद पड़ा और बहते हुए लड़के की कमर पकड़कर बाहर निकाल लाया। यह वही बालक था। किन्तु लड़के का शरीर नीला पड़ गया था। पागल निश्चेष्ट होकर खड़ा हुआ और अपनी कुटी की तरफ़ चल पड़ा।

* * *

"आग लगी! आग लगी।" सारा गाँव निस्तब्ध हो उठा। सब अपने घर से निकलकर दौड़ पड़े। अग्निदेव बड़े वेग से सूखे पत्तों की कुटी को भस्म कर रहे थे। पागल सामने हँस-हँसकर नाच रहा था। फूस की छत जलकर गिर पड़ी। पागल ने एक ठहाका लगाया और जंगल की ओर भाग गया।

'प्रलापी'

क्यों?

तुम आज आये हो? आह, जब सर्वस्व लुट गया!

अरे, कुछ देर पहिले क्यों न आए? मैंने तो तुम्हारे स्वागत के लिए बड़े साज सजाये थे। गगनचुम्बी वे विशाल अट्टालिकाएँ केवल तुम्हारे स्वागत के लिए ही रची गई थीं। ऊँचे सभामण्डप, विस्तृत प्राङ्गण, रत्नखचित खंभे, सुवर्ण-सिंहासन ....तो क्या यह स्वप्न था?.........

......उफ़ कैसा! ले गए, छीन ले गए। कल वे उस सिंहासन के चरणों को चूम रहे थे, आज सिंहासन उनके चरणों को चूम रहा है। हाय! काल की कैसी कुटिल गति है। और—

तुम आज आये हो! आह, जब सर्वस्व लुट गया!

क्या कहते हो? तुम विलास की गन्दी नालियों में लोटने वाले नारकी कीड़े नहीं हो? सो तो भाई, मैं पहिले ही जानता था। अरे, यह तो बाहरी स्वरूप है—हाँ, केवल बाहरी। भीतर का संसार देखोगे तो सिहर उठोगे, आँखें चौंधिया जायेंगी। इन कृत्रिम आँखों में वह शक्ति कहाँ कि उस दैवी प्रकाश को देख सकें! उसके एक-एक अणु में सृष्टि का रहस्य छिपा हुआ है, एक परमाणु में परमात्मा का पवित्र वैभव अन्तर्हित है। तुम उसे क्या जानो, तुम उसे क्या समझो।

तुम आज आये हो? आह, जब सर्वस्व लुट गया!

शान्तिप्रसाद वर्मा

नीर-क्षीर-विवेक

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]

परिचय

संकलयिता—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी। प्रकाशक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)। चौदह छायावादी कवियों का परिचय और उनकी ५८ कविताओं का संग्रह। पृष्ठ-संख्या १८४, मूल्य १)

कविता के दो स्कूल हैं। दोनों ही का उद्गम हृदय है, और दोनों ही का लक्ष्य है आनन्द। परन्तु हैं दोनों स्रोत अलग-अलग। एक स्कूल (Classical) के विचारानुसार किसी भी भाव को, किसी भी बात को, चुने हुए शब्दों में, गिने हुए अक्षरों में, और नपी-तुली मात्राओं में कह देना ही कविता है। नियम ही उसका जीवन है और रूढ़ि ही उसकी शक्ति। यहाँ आँखों को खञ्जन और नाक को तोता ही कहना पड़ेगा। यति और गति की चहारदीवारी से बाहर क़दम रखना यहाँ अपराध समझा जाता है। यहाँ प्रत्येक बात सोच विचार कर कही जाती है। वर्षों सरस्वती की आराधना करने पर कभी एकआध बिन्दु मिलता है। दूसरा स्कूल कहता है कि "अनाहूत एवं स्वयमागत शब्दों द्वारा काव्यानन्द का निर्देश करना ही कविता है। इस निर्देश की कोई निर्दिष्ट शैली नहीं हो सकती; हृदय में वेदना चाहिए, वह स्वयं अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ लेती है।" इस स्कूल का नाम छायावादी (Romantic-!-) है। क्योंकि इसके मत से कविता "शरीर नहीं आत्मा है, छायावान् नहीं छाया है, ढीक ढाँक नहीं लावण्य है।" छायावादी कवि "बन्धनमय छन्दों की छोटी राह छोड़ कर" स्वच्छन्द उड़ान लगाता है। वह मदिरा बनाता नहीं, किन्तु स्वयं उसके मद में छका रहता है। वह कविता से कहता है—

"प्याला—रस कोई हो— भर कर
अपने ही हाथों से मुझे पिला जा।"

एक बात और है, प्रथम स्कूल का कवि बाह्य-जगत् को जैसा देखता है वैसा ही वर्णन कर देना अपना कर्तव्य समझता है, भीतर प्रवेश करने का अपने आपको अधिकारी नहीं समझता। वहाँ श्रृंगारमयी विलास-रजनी की कथा है, युद्ध-प्राङ्गण का रौद्र वर्णन है; परन्तु ऐसा विदित होता है, मानों कवि ने दूर खड़े होकर फोटो ले लिया हो। दूसरी ओर छायावादी कवि इन दृश्यों का उसपर क्या असर पड़ता है, यह बताता है, बाह्य और अन्तर्जगत् का क्या सम्बन्ध है, यही खोजता है। वह कहता है—

"अन्तर्जग की करुण कहानी-
कहना मुझको आता,
यह बहिरंग जगत मेरी—
आँखों को तनिक न भाता।"

बस, वह अपने "प्राणाधार, स्नेहागार" की खोज में—"अन्वेषण में"—कूक उठता है। "इस कूक में निखिल संसृति की व्यथा है, करुणा है, कसक है, सहानुभूति है, और स्नेह है।" यह कूक भले ही बाह्येन्द्रियों को आनन्द न दे, किन्तु हृदय में एक ज़ख्म कर देगी, और उसी ज़ख्म में तो असीम आनन्द है। 'ज़ख्मे जिगर रिस-रिस के अच्छे न हों' तभी तो मज़ा है। "अग्नि के स्पर्श में जितनी ज्वाला है उतनी उसके दर्शन में नहीं, इसी तरह उसके (कवि के) उद्गारों में जितनी मार्मिकता है उतनी उसके सुन लेने में नहीं।"

ऐसे ही कतिपय छायावादी कवियों के उद्गारों का इस

'परिचय' में संकलन किया गया है। प्रत्येक कवि के कविता-संग्रह से पहले उसका गद्य-काव्यमय परिचय है। द्विवेदीजी ने कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसका परिचय प्राप्त करने में कमाल किया है। देखिए—

"रजनी के चञ्चल अञ्चल में नीरव नभ का विकल विलाप, विक्षिप्तावस्था में तूफ़ानों का हाहाकार प्रलाप! संघर्षण! उन्मत्त उदधि का गिरि शिखरों से गहन मिलाप, पल-पल में डर कर पीछे हट कर हम सब उठते हैं काँप। गरज-घुमड़ कर प्रलय-नाद में जलधर भी देते हैं ताल; 'नाविक! नाविक!' कहा किसी ने, 'नाविक! क्या करता है काल!"

इस कविता के रचयिता—श्री भगवतीचरणजी वर्मा—का परिचय आपने यों दिया है—"उसका अन्तस्तल आक्रान्त जगत का एक विशाल दर्पण है। उसमें प्रतिबिम्ब देखिए—*अथाह सागर लहरा रहा है और उसके तट पर दूर तक फैला हुआ उदास मरुस्थल है।* उफ़!" श्री सियारामशरण गुप्त के परिचय से एक वाक्य सुनिए—"उसकी आत्मा एक वीणा है।...आप उसे बजाइए—आपकी लय जिस रागिनी, जिस कल्पना, जिस भावना,—जिस दुनिया का जो अन्तर्क्षेत्र तैयार करेगी—वही,—वह है।"

हम द्विवेदीजी को इस नयी चीज़ के लिए धन्यवाद और बधाई देते हैं—धन्यवाद ऐसे सुन्दर संग्रह के लिए, बधाई ऐसे भावुक परिचय के लिए।

क्या हम आशा करें कि द्विवेदीजी इसी ढंग का एक और संग्रह प्रकाशित करावेंगे? क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक में छायावाद के सभी सुकवियों के परिचय नहीं आये हैं। श्री रायकृष्णदासजी, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्रीमती महादेवी वर्मा इत्यादि अनेक कवियों के परिचय छूट गये हैं।

गो० स्व० भटनागर

क्षत्रिय वंश प्रदीप

द्वितीय भाग तथा नौमुसलिम जाति-निर्णय। लेखक—पं० छोटेलाल शर्मा। मिलने का पता—मैनेजर, वर्णव्यवस्था-मण्डल, फुलेरा (जयपुर)। आकार डिमाई अठपेजी, पृष्ठ संख्या लगभग ४५०, और मूल्य २||)

इस पुस्तक के लिखने का मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं को यह बताना है कि आज की नौमुसलिम जातियाँ पहले हिन्दू ही थीं। आज भी बहुत सी जातियों के रीति-रिवाज, चाल-ढाल हिन्दुओं से अधिक मिलते हैं। लेखक का यह विश्वास है कि वर्तमान सात करोड़ मुसलमानों में से केवल एक लाख अरब के असली निवासी हैं। आगे लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बहुत से हिन्दू, मुसलमान शासकों के अत्याचार और हिन्दुओं की मूर्खता से, मुसलमान बन गये। इस बात की पुष्टि के लिए बहुत से प्रमाण भी दिये गये हैं। बहुत से हिन्दू लोभ व लालच के वश में आकर मुसलमान बन गये। परन्तु इन नौमुसलिमों के आचार-विचार हिन्दुओं के से ही हैं, इसलिए लेखक ने इन्हें हिंदुओं में सम्मिलित करने की सम्मति देते हुए कई ऐतिहासिक प्रमाण देकर दिखाया है कि प्राचीन काल में भी शुद्धि होती थी, यह कोई नई चीज़ नहीं। हिंदू-समाज में तो शुद्धि के इतने सरल तरीके हैं कि वैसे कहीं नहीं मिलेंगे। *गंगा-स्नान, राम और कृष्ण* के स्मरण, गायत्री का जाप, ब्राह्मण के चरणामृत-पान आदि से पतित मनुष्य शुद्ध हो सकता है। स्थान-स्थान पर लेखक ने प्रमाण देने में संकोच नहीं किया।

इसके आगे विद्वान् लेखक ने बहुत सी वर्तमान जातियों को क्रमशः लेकर उनकी उत्पत्ति की दन्तकथायें, उनके भेद, उनके मुसलमान बनने का कारण, उनकी वर्तमान संख्या तथा निवासस्थान और हिंदुओं से मिलते हुए रीति-रिवाज आदि बहुत सी बातों पर विचार किया है, जो पढ़ने योग्य है। इसी प्रसंग में दलित हिंदू जातियों की उत्पत्ति आदि के संबन्ध में भी विचार कर उन्हें द्विज सिद्ध किया गया है। यह विवेचन साढ़े तीन सौ से अधिक पृष्ठों में समाप्त होता है। फिर भी लेखक के कथनानुसार अभी बहुत सी जातियों का विवेचन स्थानाभाव से नहीं दिया गया। लेखक का यह परिश्रम वस्तुतः बहुत स्तुत्य और प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हिंदुओं की आँखें खुल जाती हैं कि हमने अपने ही द्विज भाइयों को किस तरह नीचे गिरा दिया। भले ही लेखक की दी हुई दन्तकथायें प्रामाणिक नहीं हैं, फिर भी उनके प्रचलन से यह तो अवश्य सिद्ध होता है कि ये दलित जातियाँ, जिनमें से अधिकतर मुसलमान हो गई हैं, पहले द्विज ही थीं।

पुस्तक का यदि संपादन एक योग्य विद्वान् करता, तो

इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता। भाषा की ऐसी भद्दी-भद्दी भूलें रह गई हैं कि कई स्थलों पर पुस्तक छोड़ देने को जी करता है। प्रूफ़ की अशुद्धियों की तो बात ही नहीं। पुस्तक के दो स्थानों पर छपने के कारण बीच के आठ पृष्ठ छपे ही नहीं। हमें आशा है कि इसके द्वितीय संस्करण में एक योग्य विद्वान् द्वारा इसको संपादित कराया जायगा, जिससे इसका रूप-रंग और भी अधिक परिष्कृत और महत्त्वपूर्ण हो जायगा।

कृष्ण

मित्रता

लेखक और प्रकाशक—श्री प्रतापमल नाहटा, भीमासर (बीकानेर)। संपादक और प्रकाशक—पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे, ग्रंथ-प्रकाशक, ७।१ प्यारी मोहन लेन, कलकत्ता। छपाई-सफ़ाई साधारण। पृष्ठ-संख्या ८०, मूल्य ।=) ·

हिंदी में ऐसी पुस्तक की आवश्यकता थी। सदाचार विषयक पुस्तकों में मित्रता पर छोटे-छोटे निबन्ध तो अवश्य दिये रहते हैं, परन्तु इस विषय पर स्वतन्त्र पुस्तक कदाचित् यह पहली ही है लिखने का ढंग अच्छा है। मित्र-प्रेम की कथाओं ने पुस्तक को रोचक बना दिया है, साथ ही उक्त विषय पर प्राच्य एवं पाश्चात्य तत्ववेत्ताओं के विचार गंभीर पाठक को काफ़ी सामग्री दे सकते हैं। नाहटाजी अवश्य ही बधाई के पात्र हैं। परन्तु चित्रों के संबन्ध में कुछ आपत्ति है। कृष्ण-सुदामा वाला चित्र तो बड़ा भद्दा और कलाशून्य बना है। उस चित्र को न देने से पुस्तक की शोभा कुछ कम न होती। लेख-सूची का अभाव भी खटकता है।

भटनागर

'दलितान्त्यजादीनां स्पर्श-व्यवस्था' (संस्कृत)

लेखक—पं० दुःखमोचन शर्मा। प्रकाशक—श्री दुर्गाप्रसाद जैन, दुर्गा प्रेस, अजमेर। पृष्ठ संख्या २४।

इस पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। लेखक पं० दुःखमोचन शर्मा संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। वह दलित जाति का स्पर्श शास्त्र-सङ्गत समझते हैं। इसके प्रमाण में उन्होंने कई स्मृति और पुराणों के प्रमाण भी पेश किये हैं। 'अस्सलायन सुत्त' नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी लिखा है कि बुद्ध ने बहुत से 'श्वपच' और 'चाण्डालों' को बौद्ध-भिक्षु बनाया था। इसी प्रकार भागवत के "भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्" आदि श्लोक से भी सिद्ध होता है कि दलितों को अस्पृश्य मानना शास्त्र-सङ्गत कदापि नहीं है। ऐसे अनेक प्रमाणों से लेखक ने इस छुआ-छूत-प्रथा को अमित निन्दनीय सिद्ध किया है। पण्डितजी ने इसके लिखने में काफ़ी परिश्रम किया है, जिसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं। दुःखमोचन पण्डितजी वास्तव में दलित-दुःखमोचन हैं। अच्छा होता, यदि यह पुस्तक सर्व-साधारण के लाभार्थ हिंदी भाषा में लिखी गई होती। मूल्य लिखा नहीं है।

'सूर्य'

आर्द्रा

लेखक—श्री सियारामशरण गुप्त। प्रकाशक—साहित्य-सदन, चिरगांव (झांसी)। पृ० सं० १४४, मूल्य १)

इसमें श्री सियारामशरणजी की १३ पद्य-रचनाओं का संग्रह है, जिनमें से कितनी ही समय-समय पर हिंदी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी है। 'त्याग-भूमि' के पाठक भी इनमें से "खादी की चादर" और "बन्दी" शीर्षक रचनायें पढ़ चुके हैं। प्रायः ये सभी कृतियाँ किन्हीं ख़ास घटनाओं को लक्ष्य करके लिखी गई हैं, और वर्णनशैली इतनी सजीव, सरस एवं सुन्दर है कि बार-बार पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती। अधिकांश रचनायें करुणरस-प्रधान हैं। पढ़ने वालों को स्थान-स्थान पर यही जान पड़ता है कि इन्हीं घटनाओं को प्रत्यक्ष देखने पर उस चमत्कार का अनुभव नहीं होता, जो कि उन्हें इस रूप में पढ़ने पर होता है। "एक फूल की चाह," "चोर" "नृशंस" "डाक्टर," "अब ऐसा न करूँगी" आदि रचनायें विशेष हृदयग्राही हैं। वैसे हूक, डाकू और अबोध में भी कम माधुर्य नहीं है। पुस्तक एक सजीव हृदय का जीता-जागता चित्र है, जो आजकल के नवीन कवियों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम दे सकती है।

गो० उ०

बाल-साहित्य-माला (गुजराती)

१. गणपति बापा
२. चेलैया
३. "उभुं हतुं, उभुं हतुं"
४. हजामढ़ी
५. कबाट
६. बालकों नो बीरबल (१)

उक्त छहों पुस्तिकायें भावनगर (काठियावाड़) के दक्षिणामूर्ति प्रकाशन-मन्दिर की बाल-साहित्य-माला के पुष्प हैं। इनके लेखक श्री गिजूभाई बाल-साहित्य के सिद्धहस्त लेखक हैं। सभी पुस्तकें रोचक, सरल और शिक्षाप्रद हैं। गणपति बापा, हजामढ़ी और "उभुं हतुं, उभुं हतुं" हमें बहुत पसन्द आईं। साइज़ और भाषा भी बालकों के उपयुक्त ही है। हिन्दी वाले भी इस ढंग को अपनावें तो अच्छा हो।

विविध

मूंज की चटाई

श्री मोहनलाल ज्वालाप्रसाद एण्ड संस, कासगंज, ने आसन के बराबर दो मूँज की चटाइयाँ भेजी हैं। चटाइयाँ आसन व पायदान के काम के लिए उपयोगी हैं। इस देशी धन्धे को उत्तेजन मिलना चाहिए।

चित्र

गुजराती सस्तुं साहित्य (अहमदाबाद)ने ओंकार और द्रौपदी-चीरहरण के दीवार पर टांगने के लायक दो चित्र भेजे हैं। चित्र अच्छे हैं।

मुकुट

पत्र-पत्रिका

१. किसान (मासिक)—संपादक—श्री सुखसंपत्तिराय भंडारी। प्रकाशन-स्थान—इंदौर। वा० मू० ३)

२. हिन्दुस्थान (साप्ताहिक)—सम्पादक—भाई अब्दुलगनी। प्रकाशन-स्थान—जबलपुर। वार्षिक मूल्य ३)

साहित्य-सत्कार

१ आयोदय—लेखक—श्री विश्वबन्धु शास्त्री, आचार्य दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर। पृष्ठ-संख्या लगभग २००, पक्की जिल्द। मूल्य १), स्थिर ग्राहकों से ।।।-)

२. ज्ञान सूर्य प्रकाश अर्थात् बीजगणित—रायसाहब सेठ मदनगोपाल माहेश्वरी पेढ़ीवाल, मु० कालिलका के पुत्रों सूरज, चानन, गौरी, जेसू ने निर्माण करके सूरजमल चाननमल, न्यूक्लोथ मार्केट, देहली द्वारा प्रकाशित कराया। पृष्ठ संख्या ३००, मूल्य ॥=)

३. सूर्यकिरण-चिकित्सा—लेखक व प्रकाशक—श्री गोविन्द बापूजी टोंगी। मिलने का पता—श्री पुरुषोत्तम जयराम देशकर, मैनेजर सूर्यकिरण चिकित्सालय, खण्डवा। पृष्ठ-संख्या २००, मूल्य १॥)

४. मेघ महोदय-वर्षप्रबोध—अनुवादक व प्रकाशक—पं० भगवानदास जैन, सेठिया जैन प्रिण्टिङ्ग प्रेस, बीकानेर (राजपूताना)-पृष्ठ-संख्या ५१२, पक्की जिल्द। मूल्य ४)

५. कर्म-शिक्षा—लेखक—श्री रामलोचन शर्मा 'कण्टक'। प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-कार्यालय, लहेरियासराय, ज़ि० दरभंगा। पृष्ठ-संख्या ६१, मूल्य ।)

६. ब्रह्मचर्य-शिक्षा—लेखक व प्रकाशक वही। पृष्ठसंख्या १२८, मूल्य ॥=)

७. विचार-कुसुमाञ्जलि—लेखक व प्रकाशक—पं० बदरीदत्त जोशी, काशीपुर। पृष्ठ संख्या १३०, मूल्य ॥=)

८. चरित्र-शिक्षा—लेखक व प्रकाशक वही। पृष्ठ-संख्या १५०, मू० ॥=)

९. शिक्षा-रत्नावलि—लेखक—पं० श्रीहरि शास्त्री। प्रकाशक—बाबू वासुदेवप्रसाद, जयपुर। पृष्ठ-संख्या १७५।

१०. उत्तर-प्रशस्ति—लेखक व प्रकाशक वही। पृष्ठसंख्या ५०।

११. सत्यनाम—रचयिता—बाबा मथुरादास। प्रकाशक—श्रीरमाविलास पुस्तकालय, अज़मतगढ़ इस्टेट, ज़ि० आज़मगढ़। पृष्ठ-संख्या ८८, मू० ≤)॥

१२ ज्ञान-विचार—लेखक—श्री भगवान शर्मा। जरवाह, पोस्ट ठीकरी, ज़ि॰ धार। पृष्ठ-संख्या ४७, मू॰ ।)

१३. जैनों के तीन रत्न—(बंगला से अनूदित)—अनुवादक—पं॰ रामचरित उपाध्याय। प्रकाशक—श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसायटी, अम्बाला शहर। पृष्ठ-संख्या १८, मू॰ -)॥

१४. जैनों के दैनिक षट्कर्म—अनुवादक, प्रकाशक वही। पृष्ठ-संख्या १६, मू॰ =)

१५. दो ठग मित्र—रचयिता श्री धीरजमलजी बच्छावत। प्रकाशक—अमीधारा साहित्य-प्रचारक कार्यालय, सादड़ी (राजपूताना)। पृष्ठ-संख्या १६, मूल्य -)

१७. महाभारत (राधेश्याम के ढंग पर)

भाग १ भीष्म-प्रतिज्ञा	मूल्य ।)
,, २ पाण्डवों का जन्म	,, ।)
,, ३ पाण्डवों की अस्त्रशिक्षा	,, ।-)
,, ४ पाण्डवों पर अत्याचार	,, ।-)

रचयिता—श्री ओंकार जी। प्रकाशक—पं॰ हरिराम शर्मा। मिलने का पता—महाभारत-पुस्तकालय, अजमेर।

१८. मेघदूत—अनुवादक—पं॰ केशवप्रसाद मिश्र। प्रकाशक—साहित्य सदन, चिरगाँव। (झांसी)। पृष्ठ-संख्या ३१ मू॰ ।)

१९. संलाप—रचयिता—राय कृष्णदासजी। प्रकाशक वही। पृष्ठ-संख्या ६०, मू॰ ।=)

२०. भावुक—रचयिता वही। प्रकाशक—भारती-भण्डार, बनारस सिटी। पृष्ठ-संख्या ६०, मू॰ ॥)

२१. Nritanjali (An Introduction to Hindu Dancing)—लेखिका—श्रीमती रागिणीदेवी। प्रकाशक—हैरिजी. गाबिक, ओरियण्टल पब्लिशर्स, न्यूयार्क (अमेरिका)। सुन्दर सजिल्द, सचित्र, पृष्ठ-संख्या ८४। मू॰ १½ डालर।

जनता का स्वराज्य

सच्ची और झूठी औद्योगिकता

अर्थशास्त्र की दृष्टि से खद्दर की उपयोगिता में आज-कल के उच्च-शिक्षा प्राप्त विचारशील लोगों का एक बड़ा भाग विश्वास नहीं करता। जहाँ कहीं खद्दर का प्रश्न सामने आता है वे विदेशी कपड़े की स्पर्धा प्रतिस्पर्धा और खादी आन्दोलन की शिशुता का ज़िक्र करके खद्दर की आर्थिक उपयोगिता और उसकी अंतिम सफलता में अपना अविश्वास प्रकट करते हैं। इस विषय में सिद्धान्तों के थोथे ज्ञान की अपेक्षा अनुभव जनित पक्की जानकारी ही अधिक लाभदायक और ग़लत-फहमी को दूर करने वाली सिद्ध हुई है।

अभी कुछ दिन पहले श्री॰ राजगोपालाचार्य ने पूने के विचारशील शिक्षितों की एक सभा में 'खद्दर के अर्थशास्त्र' पर कुछ मनन करने योग्य बातें कही थीं। जिनका सार 'त्यागभूमि' के पाठकों के लिए नीचे दिया जाता है।

"ज़मीन में गड़े हुए और लखपतियों के ख़ज़ाने में भरे हुए धन को मैं राष्ट्रीय सम्पत्ति नहीं मानता। राष्ट्रीय सम्पत्ति तो वह धन है जो लाखों आदमियों में बराबर बँटा हुआ हो।

"सम्पत्ति पैदा करने के बाद उसे सबमें बाँट नहीं सकते। लोग इस बात के लिए राजी ही नहीं होंगे। मगर आप ऐसा धन ज़रूर पैदा कर सकते हैं, जो पैदा होने के साथ ही साथ लोगों में बँटता जाय। खादी के काम में इसी तरीक़े से धन पैदा किया जा रहा है।

"हम चाहते हैं कि वस्त्र-व्यवसाय और खेती हिन्दुस्तान की प्राचीन विरासत समझी जायँ और उनपर लाखों आद॰

मियों का हक रहे। ये दोनों धंधे प्राचीन हैं। हर किसी के लिए सरल और सम्भव हैं। हम उद्योग धन्धों का विरोध नहीं करते। आप उन्हें ईमानदारी से पेट भरने के योग्य बनाइये। नये-नये उद्योग धन्धों का आविष्कार कीजिए, उनका संगठन कीजिए। मगर कोशिश ऐसी हो कि वस्त्र-व्यवसाय और खेती पर यंत्र-बल के व्यवसायी आक्रमण न कर सकें। इनपर तो सबका अधिकार होना चाहिए, एक-दो का नहीं। पूँजीपति अगर चाहें तो वे खुशी-खुशी अपने खास व्यवसाय खड़े कर लेवें। मगर खेती और वस्त्र-व्यवसाय को तो संयुक्त संपत्ति मान कर उन्हें अछूता छोड़ दें, क्योंकि हमारे ग़रीब देशबन्धुओं को अकेले इन्हीं का सहारा है।

"देहाती भाइयों और ग़रीबों को मिलों में भेजने की दलील निःसार है। इस समय देश में जो व्यापक हड़तालें जारी हैं, उनसे मिल मज़दूरों की स्थिति का, उनकी असहायता का पता अच्छी तरह लग जाता है। मज़दूरी कम होने से वे अपना पेट तो भर सकते ही नहीं, न कुछ कमाई में से बचत ही कर सकते हैं। हाँ, आलस्य, शराबख़ोरी, जुएबाजी, दुराचार आदि गन्दी आदतें वे जरूर सीख जाते हैं। देहात के किसान-स्त्री-पुरुषों में ये बातें आज भी नहीं के बराबर हैं। वे अधिकांश में नम्र, मिहनती, भले आदमी, अधभूखे, और अपढ़ होते हैं, फिर भी उनमें वह संस्कृति है जिस पर हर कोई राष्ट्र गर्व कर सकता है। ऐसे निर्दोष भाइयों को पाप के रास्ते पर ले जाना देश के कल्याण का काम नहीं, कुछ और ही है।

"बरसों के अटूट प्रयत्नों और असंख्य धन-व्यय के बाद भी देश की कपड़े की मिलों और प्रेसों में कुल चार-लाख आदमी काम पा सके हैं। बाकी के २० करोड़ या २,००० लाख बाहर बेकारी में दिन काट रहे हैं। इधर चर्खे ने केवल चार साल के प्रयत्न के बाद २०,००,००० की पूँजी से १ लाख आदमियों को घर बैठे सहायक धंधा दिया है। यद्यपि अखिल भारतीय चर्खा-संघ का यह काम वटवृक्ष के बीज के समान देखने में छोटा है तथापि समय आने पर—और वह तेजी से आ ही रहा है—यही एक विशालकाय वट-वृक्ष के समान हो जायगा और सारे भारतवर्ष में फैल जायगा। लाखों करोड़ों ग़रीबों को निरन्तर इसीसे सहायता मिलने लगेगी। मिलें, इतनी तादाद में नहीं बढ़ाई जा सकतीं।"

बिहार में खादी की मांग बढ़ रही है

अखिल-भारतीय चरखा संघ की बिहार-शाखा के मंत्री जी "देश" में लिखते हैं—"हमारे प्रांत में खादी की मांग खूब बढ़ चली है। जितनी मांग है उतनी उपज नहीं होने से सारी की सारी मांग की पूर्ति नहीं हो पाती: समस्या जटिल होती जा रही है। जहाँ प्रारंभ में केवल कुर्तों के लिए खादी की मांग होती थी वहाँ अब तो सिर से पैरतक के सारे कपड़ों की मांग ज़ोरों से बढ़ रही है। खास कर धोतियों की मांग बहुत अधिक बढ़ गई है। खादी की धोतियाँ थोड़ी मँहगी होते हु भी टिकाऊ होने के कारण लोगों को सस्ती मालूम होती हैं और वे बराबर धोतियों की मांग कर रहे हैं।"

मंत्री जी का कहना है कि खादी की इस मांग को पूरा करने के लिए एजन्ट श्री राजेन्द्रप्रसाद की सलाह के मुताबिक इस वर्ष अपनी वर्तमान पूंजी से ३,००,०००) की खादी उत्पत्ति और प्रायः ३६०,०००) की बिक्री की योजना तैयार की थी। परन्तु शाखा की चलती पूंजी में जितने रुपये लहने लगे हैं वे लगभग सब—जैसी कि आशा की जाती थी· वसूल नहीं हो पाये। प्रायः २५,००० अटके पड़े हैं। इस कारण उत्पत्ति की प्रगति कम हो गयी। इस विषय में मंत्री जी को जनता से कुछ विचारणीय शिकायत हैं। वे कहते हैं "कुछ सार्वजानिक कार्यकर्ता तो ऐसे भी मिले हैं जो कह डालते हैं कि क्यों तकाज़ा करते हो क्या तुम्हारे घर के रुपये हैं? लोगों ने चर्खा संघ को काफी रुपया दिया है। चर्खा संघ के रुपये हम दो-चार बरस में किसी समय अदा कर देंगे, पचावेंगे नहीं।" वाह क्या खूब है। इस दलील में कितना अज्ञान, भ्रम अदूर-दर्शिता और परायापन है, पाठक देखें। क्या इन सज्जनों से हम नम्रतापूर्वक यह पूछ सकते हैं कि अगर इसी तरह सार्वजनिक कामों में आप दो-दो चार-चार वर्षों की ढिलाई करते रहे तो, इस चर्खा आन्दोलन और स्वराज्य-संग्राम का मतलब ही क्या रहा? घर में तो आग लग रही है और आप कहते हैं 'अजी रहने भी दो, आज नहीं कल ही बुझा देंगे कौन नुकसान हुआ जाता है?' अस्तु

हमें आशा है कि मंत्री जी को इस बार वसूली में खूब कामयाबी होगी। और जैसा कि वे अनुमान करते हैं सितम्बर तक सचमुच ही वे ३,००,०००, की उत्पत्ति दिखला सकेंगे। हम चाहते हैं कि बिहार के सार्वजनिक कार्यकर्ता देश की वर्तमान बारीक परिस्थिति का अध्ययन करें और खादी के अनुकूल वातावरण से लाभ उठाने में, और जनता को लाभ पहुँचाने में किसी प्रकार भी दूसरे प्रांतों से पीछे न रहें। बंगाल में श्री सुभाष बाबू का विदेशी-वस्त्र का बहिष्कार आन्दोलन ज़ोर पकड़ता जा रहा है। क्या बिहार की राष्ट्र और खादीप्रेमी जनता इस अवसर पर पीछे रहना पसन्द करेगी?

महाराष्ट्र में खादी सम्मेलन

तिलक-स्मारक-मन्दिर पूना में महाराष्ट्र खादीसंघ का वार्षिक सम्मेलन गत ता० १३ और १४ मई को सानन्द समाप्त हुआ। इस सम्मेलन में दूर-दूर के ज़िलों के बहुत से खादी-प्रेमी सज्जन इकट्ठे हुए थे। श्री० शं० श्री० देव सम्मेलन के सभापति थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा—"महाराष्ट्र में खादी का तनिक भी विरोध नहीं यह बात अनुभव सिद्ध है। प्रान्तिक परिषद् ने भी अपने स्वदेशी के प्रस्ताव में खादी पर विशेष ज़ोर दिया है। सिर से पैर तक खादी पहनने वाला व्यक्ति ही संघ का सभासद हो सकता है। स्वराज्य-प्राप्ति तक खादी का व्रत पालने वालों की बड़ी आवश्यकता है। हजार बारह सौ लोगों ने अपने हस्ताक्षर करके भेजे भी हैं। जिनमें ७२८ एक दम खद्दरधारी हैं और ४५१ धोती के सिवाय और सब कपड़े खादी के पहनते हैं। XXXX गत वर्ष महाराष्ट्र में २ लाख रुपयों की खादी बिकी। इस तरह प्रति वर्ष २५,०००) रुपयों का खद्दर अधिक बिक रहा है—उसकी माँग बराबर बढ़ती जा रही है। खादी प्रचार के लिए सारे महाराष्ट्र प्रान्त को ८-९ भागों में बाँट लिया जाय, और साल भर तक ऐसा प्रयत्न हो कि जिससे साल के आखिर तक कम से कम ५,००० पूरे खद्दरधारी तैयार हो सकें तो अच्छा होगा। बालकों के लिए एक भिन्न वर्ग खोलना ज़रूरी है। इससे खद्दर के कार्य में उनकी रुचि बढ़ेगी।"

श्री० बापूराव गोखले ने विदेशी-वस्त्र बहिष्कार की योजना को उत्साह पूर्वक चलाने की बात का समर्थन किया। राजनैतिक दृष्टि से बहिष्कार की भारी आवश्यकता है इसीपर आपने अधिक ज़ोर दिया और खद्दर को सोलह आना स्वदेशी बतलाया।

श्री० वा० वि० दास्ताने ने कहा—"१९२५ में अखिल भारतवर्षीय चर्खा संघ स्थापित हुआ। १९२६ के अन्त में महाराष्ट्र में १५,०००) की खादी तैयार हुई और डेढ़ लाख की बिक्री। सन् १९२६-२७ में अठारह हज़ार की खादी बनी और एक लाख बहत्तर हज़ार की बिक्री। महाराष्ट्र में खादी उत्पत्ति के चार महत्व पूर्ण केन्द्र हैं। जिनमें हर तरह की खादी तैयार की जाती है—सावली, किन्ही, चान्दा, और चोपड़ा। चान्दा केन्द्र के महार लोगों में खादी के कार्य का खासा प्रचार हो गया है। सारे महाराष्ट्र भर में कुल २५ वस्त्र भंडार और १२ उत्पत्ति केन्द्र हैं।

कोंकण प्रान्त में खादी के लिए उत्तम क्षेत्र है। श्री० अण्णासाहब पटवर्धन के मतानुसार "कोंकण के लोग निर्धन हैं और उनका बहुत समय बेकारी में बीतता है। इस प्रान्त में सावंतवाड़ी का ठिकाना खादी कार्य के लिए बड़ा उपयोगी है।" हर्ष की बात है कि सावंतवाड़ी सरकार ने खादी के काम को अपने हाथ में लेकर जनता को बेकारी से बचाने का प्रयत्न शुरू कर दिया है।

श्री दीक्षित महोदय ने मराठी-शालाओं में कताई-बुनाई के पाठ्यक्रम की अपनी एक योजना उपस्थित की और उस पर उपस्थित सज्जनों के मत मांगे। इस विषय पर अंतिम निर्णय क्या हुआ इसका हमें ठीक-ठीक पता नहीं चला है। हमें आशा है कि श्री दीक्षित की यह उपयोगी योजना स्वीकृत हो जायगी। जिससे महाराष्ट्र प्रांत के बालकों को किताबी शिक्षण के साथ ही साथ वस्त्र-स्वावलंबन का पाठ भी मिलता रहेगा।

ऊपर के विवरणों से हमारे पाठकों को खादी-आंदोलन की राष्ट्रीय उपयोगिता और आर्थिक महत्ता का पता चलेगा। देश के कोने-कोने में खादी-आंदोलन का संदेश पहुँचाना और सारे राष्ट्र में खादी केन्द्रों की जड़ जमाना ही आज का युग-धर्म है। खादी स्वराज्य है और स्वराज्य खादी है; इसी ध्येय को सामने रखकर देश-भक्तों को जनता के स्वराज्य-यज्ञ

में अपना-अपना हिस्सा देने के लिए तैयार हो जाना चाहिए तभी जनता सच्चा स्वाज्य प्राप्त कर सकेगी।

क्या देश में खद्दर की प्रगति बढ़ रही है?

अखिल भारत चर्खा-संघ ने अपना दूसरा वार्षिक विवरण निकाला है। विवरण ३१ पृष्ठों में समाप्त हुआ है और परिशिष्ट १४ पृष्ठों में। कुल २० लाख रुपये की पूँजी से यह महान् राष्ट्रीय उद्योग चल रहा है। रिपोर्ट से पता चलता है कि खादी ने कितनी प्रगति की है। जहाँ १९२५-२६ ई० में कुल १९,७९,६७०) रुपये की खादी बनी थी वहाँ १९२६-२७ में कुल २४,०६,३७०) रुपये की बनी और बिक्री भी कुल २८,९९,११३) से बढ़कर ३३,४८,७९४) पर पहुँच गई। पिछली रिपोर्ट में कतवैयों की संख्या ५०,००० बतलाई गई थी, इस बार यह बढ़कर ८३,३३९ हो गई। बुनकरों की संख्या ५,१९३ है। संघ की शाखाओं के ज़रिये पिछले साल १,५०० गाँवों में खादी का काम होता था। इस साल यह काम २,३८१ गाँवों में चल रहा है। पिछली बार भी कतवैयों और गाँवों की संख्या कम ही बतलाई गई थी। इस बार भी यह असल (वास्तविक) संख्याएँ, दी हुई संख्याओं से अधिक होंगी। खादी के १७७ उत्पत्ति केन्द्र हैं, जिनमें ६२ संघ के, ४१ संघ से सहायता प्राप्त और ७४ स्वतन्त्र हैं। २०४ दूकानें हैं जिनमें ११५ संघ की, ४३ सहायता प्राप्त और ४६ स्वतन्त्र हैं। संघ के तथा सहायता प्राप्त संस्थाओं के अधीन कुल मिलाकर ७४८ कार्यकर्ता हैं। इनमें स्वतंत्र संस्थाओं में काम करने वालों की तादाद शामिल नहीं है। सूत की उन्नति के बारे में रिपोर्ट में लिखा है कि शुरू में ६ से १० तक अंक का सूत तैयार होता था और अब अधिकांश सूत १५ अंक तक का होता है। थोड़ा सा सूत २५ अंक तक का भी मिलता है। अजमेर में काम शुरू करने के समय ४ से ५ अंक का ही सूत मिलता था। अब वह बढ़कर १० से १२ तक पहुँच गया है। औसत दर्जे के सूत में उन्नति के अलावा बहुत से प्रांतों में ऊँचे अंक का बहुत सूत निकलने लगा है। तामिल नाडू में इस ऊँचे अंक के सूत का कपड़ा ७,९५,५१६) का बनाया गया। मगर आज सबसे महीन खादी बनाने में तो आंध्र ही बाज़ी मारे हुए है। यह भी संतोष की बात है कि कपड़े की किस्म में सुधार होने के साथ साथ दर बराबर घटती गई है। शिक्षा-विभाग के मुख्य कामों का सब से महत्वपूर्ण विभाग कार्यकर्ताओं को खादी बनाने की सभी क्रियायें सिखलाने के लिए खादी पाठशाला चलाना है। यह योजना भी सफल हो रही है। शिक्षा विभाग में ३३ विद्यार्थी खादी के काम की शिक्षा पा रहे हैं।

इसके अलावा गत वर्ष के अन्त तक महात्माजी ने जिन प्रान्तों में (बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तामिलनाड, केरल, लंका) भ्रमण किया उन प्रांतों में लोगों की प्रवृत्ति खादी की ओर बढ़ी है; लोग खादी आंदोलन के वास्तविक रूप और महत्व को समझने लगे हैं। इस संबन्ध में उनकी जो भ्रम और आशंका रहा करती थी वह भी दूर हुई है। छोटे बड़े सब लोग चर्खे से सहानुभूति रखने लगे है। राजनीतिक क्षेत्र में अनेक दल वाले सज्जन भी खादी के बारे में एक मत हो रहे हैं, यह बात इस दौरे में ठीक तरह प्रमाणित हो गई है। दौरे पर रहते हुए महात्माजी कई देशी राज्यों के महमान बने थे। इन राज्यों के मालिकों ने जिस श्रद्धापूर्वक महात्माजी के खादी-संदेश को सुना वह भारतभर के समस्त राजाओं के लिए केवल अनुकरणीय ही नहीं व्यवहार्य भी है। हर्ष की बात है कि मैसोर, सावंतवाड़ी आदि की सरकारों ने अपने राज्य में खादी-प्रचार और खादी-संगठन का एक नया विभाग खोल दिया है और ग़रीबों की बेकारी के प्रश्न को हल करने के लिए इस विभाग की तरक्की पर खूब ध्यान दिया जा रहा है। इधर कुछ सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं के उत्साह और परिश्रम के फल-स्वरूप मध्यभारत के ग्वालियर राज्य ने भी अपनी पाठशालाओं में कताई शुरू कर दी है। उज्जैन में एक 'खादी-प्रचार-संघ' भी खुल चुका है। राज्य में जगह-जगह उत्पत्ति और बिक्री के केन्द्रों को शीघ्र ही कायम करने की बात पर विचार हो रहा है। उज्जैन में तो एक खादी-भंडार खुल भी चुका है।

इधर खादी के कार्य में एक नये और उपयोगी दृष्टिकोण से काम शुरू किया गया है। व्यापारिक उद्देश्य के अतिरिक्त अब खादी-केन्द्रों में से कुछ में वस्त्र-स्वावलंबन और स्वेच्छा कताई के उद्देश से भी काम होने लगा है और वहाँ सफलता भी खूब रही है। स्वेच्छा कताई और वस्त्र-स्वावलंबन का काम शुरू-शुरू उन्हीं केन्द्रों में आरम्भ किया

गया है जहाँ के लोगों की आर्थिक स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से कुछ अच्छी है। राजस्थान के बिजोलिया प्रदेश में स्वेच्छा कताई ने उत्तम प्रगति की है। कुल १२,००० की आबादी में से ६,१५० आदमी अपने हाथ-कते सूत का कपड़ा पहनते हैं। बारडोली तालुके की रानीपरज प्रजा में यह काम तेज़ी से चल रहा है। पंजाब के कुछ केन्द्रों में हाथ-कते सूत के बदले बनी-बनाई खादी बेचने का प्रबन्ध कर रक्खा है। इस साल कुल ६२,११६ गज़ खादी सूत के बदले में बेची गई।

खेद का विषय है कि राष्ट्रोद्धार में चर्खा और खादी का महत्व जानते हुए भी अखिल-भारत चर्खा-संघ के सदस्यों की संख्या नगण्य है। इस साल तो वह और भी घट गई है। चर्खासंघ के तीनों प्रकार (अ,ब और बालवर्ग) के सदस्यों की संख्या जहाँ १९२५-२६ में क्रमशः ३४७२, ९४२ और १९५ थी वहाँ १९२६-२७ में वह केवल २,१०५, ३४० और २६४ ही रह गई है। बालवर्ग में जो तरक्की हुई है, वह नई प्रजा में खादी की प्रीति की द्योतक है। रिपोर्ट में कहा गया है कि इस साल सदस्य बढ़ाने के लिए कोई खास प्रचार-कार्य नहीं किया गया। कुछ प्रान्त अगले साल सद-स्य-संख्या बढ़ाने का विचार कर रहे हैं।

हमें आशा है कि देश के सभी प्रान्त अपने-अपने क्षेत्र में चर्खा-संघ की सदस्य-संख्या को बढ़ाने का खूब प्रयत्न करेंगे और जनता भी उनके इस राष्ट्रीय-यज्ञ में उत्साह-पूर्वक भाग लेगी। ईश्वर करे, खादी का यह पुण्य-कार्य देश में दिन-दूना रात-चौगुना बढ़े और देश की ग़रीब जनता के कंधे से गुलामी का कठोर जूआ जल्दी ही हट जाये।

त्रिवेदी

स्वावलम्बन पद्धति

एक आदमी को वर्ष में औसतन बारह वर्गगज़ कपड़ा चाहिए। यदि एक कुटुम्ब में औसतन पाँच आदमी हों तो उसे ६० वर्गगज़ कपड़ा चाहिए। इस कपड़े के लिए अधिक से अधिक ६०×११०० (ताने के तार) ×२ गज (भरनी के तार) = १,३२,००० गज़ सूत चाहिए। इसे कातने में अधिक से अधिक ३०० गज़ की घंटे की चाल से ४४० घंटे चाहिएँ। इसमें लगभग १९ सेर रुई लगेगी, जिसे धुनकने और पूनी बनाने में लगभग ७६ घंटे लगेंगे। इस तरह कुल (४४०+७६ + ३००=) ८१६ घंटे होते हैं। अब अगर फ़ी कुटुम्ब ढाई आदमी रोज़ काम करें तो ८१६ ÷ २½= लगभग ३२६½ घंटे प्रति मनुष्य का वार्षिक औसत पड़ता है।

अगर देश के किसानों और खेती पर आधार रखने वाले मज़दूरों की संख्या बीस करोड़ समझ ली जाय, उन्हें शिक्षा और सुविधायें दी जाँय, तो वे सब रोटी की ही तरह कपड़ा भी अपने घर पर बना लेंगे। और अगर एक आदमी के १२ गज़ कपड़े की क़ीमत ५) मानी जाय तो बीस करोड़ आदमी खुशी-खुशी एक अरब रुपयों की खादी प्रति वर्ष तैयार कर लेंगे। इस तरह हम लेन-देन, विदेशों से स्पर्द्धा और उत्पत्ति आदि के अनर्थों से बच जायँगे।

जेठालाल गोविंदजी

संकट का कारण

देश के उन पांच करोड़ कुटुम्बों के लिए जो केवल कृषि पर ही अपना गुज़र-बसर करते हैं किसी न किसी सहायक धंधे की बड़ी भारी ज़रूरत है।

"केवल सवा दो एकड़ ज़मीन की खेती करनेवाले किसी आदमी को सालभर में अपेक्षाकृत बहुत थोड़े दिनों तक काम मिलता है।" (बंगाल—मनुष्य गणना का विवरण १९२१)

"पंजाब के पुरुष किसान साल भर तक जो कुछ काम करते हैं उसका औसत लगाने से मालूम हुआ है कि साल भर में वे केवल १५० दिन की पूरी मज़दूरी पाते हैं। (श्री काल्वर्ट)

"खेती—जिसमें हिन्दुस्थान की आबादी का बहुत बड़ा भाग लगा हुआ है—देश के कृषकों आदि को लगातार साल भर तक पूरी मजदूरी नहीं देती।

"हमारे यहां खेती के मानी हैं, दो बार की बोआई, दो बार की फ़सल कटाई, समय-समय की निंदाई, और तीन बार की सिंचाई। इसके बाद तो किसान वर्ष का लग-भग आधा समय सुस्ती में बिताते हैं।"

(मध्यप्रान्त-मनुष्यगणना १९२१)

फिर क्या आप को दिन-दिन बढ़नेवाली देश की दरिद्रता—उसकी क़र्ज़दारी और उसके जीवन-कलह को देख कर आश्चर्य होता है?

राजगोपालाचार्य

विश्वदर्शन

एशिया, स्वतन्त्रता की लहरों में—

एक लहर एशिया की आत्मा को भिगो रही है; एक तूफान आ रहा है, जो आज एशिया में और कल यूरोप में फैलकर ताण्डव करेगा। आज से हज़ारों वर्ष पूर्व जिस राष्ट्र ने दुनिया को सभ्यता का संदेश दिया था उसकी बेड़ियाँ कट गई हैं। ४० करोड़ वीर बच्चों का चीन आज गर्दन उठा कर गर्व भरे नेत्रों से पश्चिम के क्रूर और रक्त-पिपासु राष्ट्रों की ओर देख रहा है। उसकी इस दृष्टि का मर्म कौन समझेगा? वह लहर जो सोवियट रूस से वर्षों पूर्व चली थी, दो धाराओं में फूटकर टर्की, ईरान और अफ़ग़ानिस्तान को एक ओर, और तुर्किस्तान एवं चीन को दूसरी ओर जगा गयी। उसकी हरहराहट में जो संदेश था, जो आकर्षण था, जो विष था,उसकी उपेक्षा'असभ्य'टर्की से लेकर 'अफ़ीमची' चीन तक कोई न कर सका। और देखने वाले देख रहे हैं कि आज सारा एशिया संघटित होकर यूरोप की प्रतिस्पर्द्धा में खड़ा होने की तैयारी कर रहा है।

चीन के संबन्ध में इधर जो समाचार आये हैं उनमें साम्राज्यवादी राष्ट्रों की नृशंसता के बड़े ही क्रूर नमूने मिलते हैं। स्वार्थी शक्तियों ने चीन के मामले में दुनिया को कैसा धोखा दे रक्खा था! रूटर ने ब्रिटेन, अमेरिका और जापान की निर्दोष सरलता का ढिंढोरा पीटने में हद कर दी थी; पर अब मालूम हुआ—और राजनैतिक गति-विधि के पारखियों से पहले भी छिपा न था कि किस प्रकार घूस दे देकर गृहयुद्ध की आग में चीनियों का हाड़-मांस और अंतःकरण जलाया जा रहा था। उस घूसखोर जापान के पिट्ठू चांग-सो-लिन के मरते ही सब समाप्त हो गया। अपने अपूर्व आत्मत्याग और लगन से राष्ट्रीय चीन ने दुनिया के इन गुंडे राष्ट्रों के मुँह पर ऐसा थप्पड़ मारा है, जो उन्हें बहुत दिन तक याद रहेगा। आज सब विदेशी 'विशेष सुविधा' प्राप्त राष्ट्रों के राजदूत राष्ट्रीय चीन के चरणों पर अर्घ्य प्रदान करने को उत्सुक हैं। चीन ने घुड़ककर कह दिया है कि पुरानी हो या नई, सब तरह की संधियाँ आज से तोड़ दी गईं, अब पूर्ण समानता का सिद्धांत मानकर बराबर की संधियाँ फिर से की जायँगी और विदेशियों से विशेष कर लिया जायगा तथा वे चीनी क़ानूनों को मानने को बाध्य किये जायँगे। कल तक यह चीन की हिमाक़त समझी जाती थी; पर आज, उसके स्वतन्त्र होते ही, सबने सिर झुकाकर उसकी बातें मानने की उत्कंठा प्रकट की है। यह है स्वतन्त्रता का जादू!

पर चीन, स्वतन्त्र होकर भी, अपने युद्ध की समाप्ति नहीं समझता। वर्षों के युद्ध के बाद आज सफलता प्राप्त कर वह सुस्ताने, विश्राम करने नहीं बैठा बरन् राष्ट्र-निर्माण के कार्य में जी-जान से लग गया है। जापान के अत्याचार तथा गृहयुद्धों की भयानक विभीषिका के कारण शांटुंग इत्यादि प्रांत उजड़ से रहे थे, प्रजा भूखों मर रही थी, लोग देश छोड़कर भागे जा रहे थे। अब देश की उपज बढ़ाने, नई सड़कें बनाकर अन्तर्प्रान्तीय व्यापारिक सुविधायें पैदा करने तथा घरेलू उद्योगों को उत्तेजन देने का कार्य आरम्भ हो गया है। जहाँ अभी तक चीन में तीन सरकारें थीं, अब एक सरकार का नियंत्रण है। मंचूरिया तक ने राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था की अधीनता स्वीकार कर ली है, यद्यपि पीछे की ख़बर है कि जापान उसे धमकाने की कोशिश कर रहा है।

टर्की ने और भी आगे पैर बढ़ाया है। स्त्रियों की स्वतंत्रता, सामाजिक कुरीतियों एवं कट्टरता के उपकरणों के विनाश एवं अनेक नूतन वैज्ञानिक एवं राजनैतिक कार्य-पद्धतियों के ग्रहण द्वारा वह यूरोपीय राष्ट्रों की प्रतियोगिता

के पथ पर दौड़ रहा है। ईरान भी बदला जा रहा है। अफ़ग़ानिस्तान में तो उसके योग्य शासक अमीर अमानुल्ला-ख़ाँ ने एक नया जीवन भर दिया है। उनकी यूरोप-यात्रा जहाँ उनकी अपनी मातृभूमि के लिए लाभदायक सिद्ध हुई है वहाँ उससे एशिया का बड़ा उपकार-साधन हुआ है। भारत में भी इस छोटे पड़ौसी ने एक उद्वेग-सा उत्पन्न कर दिया है। मिश्र, टर्की, ईरान, रूस और अफ़ग़ानिस्तान में जो संधि हुई है उससे स्वार्थलोलुप यूरोपीय राष्ट्र शंकित हो रहे हैं।

स्वतंत्रता की यह वेदना इन्हीं देशों तक सीमित नहीं, सुदूर मलय द्वीपसमूह में भी—जिसका ज्ञान बहुत कम लोगों को होगा—चिनगारियाँ फैल रही हैं। जावा और सुमात्रा करवटें ले रहे हैं। युवक जाग रहे हैं और प्राण देकर भी मातृभूमि को स्वतंत्र राष्ट्रों की पंक्ति में बैठा देखने को उतावले हैं। डच सरकार इन पाँच करोड़ मलय लोगों को कुचल कर अपने चरणों में रखने को कटिबद्ध है। वह युवकों के न्याय्य प्रयत्नों को निर्मूल कर डालने के लिए जैसे अमानुषिक अत्याचार कर रही है, उसे देख कर मनुष्यता का कलेजा काँप जायगा। पर लहर रुकती नहीं दिखायी देती। हालैण्ड में शिक्षा-प्राप्ति तथा अन्य उद्देश्यों से रहने वाले विद्यार्थियों तक में आग फैल गई है। उन्होंने सहानुभूति रखने वाले कुछ डचों को मिलाकर 'परह्निमपोयनाँ इण्डोनेशिया' (Perhimpoenan Indonesia) नामक संस्था भी खोल रक्खी है। इस संस्था द्वारा वे मातृभूमि को स्वाधीन करने की तैयारी करने में लगे हुए हैं। इस संस्था से 'इण्डोनेशिया मेरडेका' (Indonesia Meredeka अर्थात् स्वतंत्र इण्डोनेशिया) नामक पत्र भी डच-और मलय दोनों भाषाओं में—निकलता है। पुलीस ने गत वर्ष इस संस्था के सब मलय विद्यार्थियों को गिरफ़्तार कर लिया था। उन पर झूठा मुक़द्दमा चलाया गया। इनके सम्बन्धियों पर स्वदेश में दबाव डाला गया कि वे उनसे सम्बन्ध तोड़ दें और उनके निर्वाह के लिए रुपये न भेजें। इनमें जो सरकारी नौकरी में थे या पेंशन पा रहे थे, उनको भी इसी प्रकार डराया गया और पिता-पुत्र वृद्ध-युवक में भेद डालने की कोशिश की गयी। पुलीस द्वारा युवकों को सब तरह से तंग किया गया; पर, वह आग, जो इन सौदाइयों को मतवाला बना रही थी, ऐसी न थी जो बुझ जाती।* फलस्वरूप आज इस भूखण्ड में भी स्वतंत्रता के लिए तुमुल संघर्ष जारी है। और एक युवक विद्यार्थी के शब्दों में उसका यह देश भी एक दिन स्वतंत्र होकर रहेगा।†

इस लहर के फैलने के साथ-साथ, एशिया अपने सब अँगों को मिलाकर—संघटित होकर, एक साथ संसार के सामने खड़ा होने की कोशिश भी कर रहा है। एशियाई राष्ट्रसंघ के निर्माण के लक्षण दिन-दिन अधिकाधिक स्पष्ट होते जाते हैं। अभी उस दिन अमीर अमानुल्ला के भाई अफ़ग़ानिस्तान के राजदूत जनरल अलीअहमदख़ाँ ने—जो मिश्र से संधि करने गये थे—मिश्र के अधिकारियों के समक्ष भाषण देते हुए कहा—

"सम्पूर्ण प्राच्य भूखण्ड में जो जागृति दिखाई दे रही है, पारस्परिक भाई-चारे और आन्तरिक बंधन की जो कड़ियाँ बनती जा रही हैं, वे केवल अवसर—'चान्स'— का परिणाम नहीं हैं। ये तारूस के पर्वतों से लेबनन के सेदारों तक, पामीर की ऊँची चोटियों पर, अफ़ग़ानिस्तान के मैदानों में, अरब की मरुस्थलियों तथा मेसोपोटामिया, ईरान, भारत, चीन, साइबेरिया एवं जापान के भूखण्डों पर फैलती जा रही हैं। इसमें कोई गूढ़तत्व, रहस्यमय संदेश निहित है। ×××× पाश्चात्य राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों ने विश्वशांति की समस्या को हल करने में बड़ी उपेक्षा से काम

---

*गिरफ़्तार अभियुक्त विद्यार्थियों के नेता मुहम्मद हत्ता ने डच अदालत में कहा था—
" ×××|× as we could not be legally prosecuted, other and immoral means were employed to strike at us. Members of our families in Indonesia were threatened with dismissal from the Government service, if they continue to send money to their sons, who remained members of the Perhimpoenan Indonesia."

†"As with all other peoples, a day will dawn when the Indonesians will take their place among free peoples,"

किया है। × × क्या हमारे लिए यह आशा करना बहुत अधिक होगा कि एशिया के नवजाग्रत प्राच्य राष्ट्रों का समूह इस मानवीय आदर्श को निकट-भविष्य में पूरा करने के लिए उठ खड़ा होगा ?"

आज विश्व में जो सांस्कृतिक संघर्ष चल रहा है उसमें भाग लेने और विश्व के सामने एक आदर्श पेश करने के लिए एशिया के प्राण उतावले हो रहे हैं। क्या दुनिया को अमरता का संदेश देने वाला आज का अभागा भारत इस पुकार को सुनकर अपने पैरों की बेड़ियाँ काटने की चेष्टा करेगा ?

'सुमन'

विश्व-शान्ति का प्रस्ताव

गतांक में हमने इस विषय पर लिखते हुए बताया था कि राष्ट्रों की आधुनिक चर्चा का यह मुख्य विषय है। वहीं हमने यह आशा भी दिखाई थी कि बहुत संभवतः फ्रांस इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगा। नये आये हुए समाचारों से मालूम हुआ कि फ्रांस भी हस्ताक्षर करने को तैयार होगया है। इंग्लैण्ड और जर्मनी तो इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ही चुके हैं। पोलैण्ड और इटली के साथ ही जापान, कनाडा, ज़ैकोस्लेवेकिया, और स्विट्ज़रलैण्ड ने भी अमेरिका के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है। इस तरह संसार के बड़े-बड़े राष्ट्रों ने इस प्रस्ताव को मान लिया है; परन्तु इस प्रयत्न की निरुपयोगिता तो हम गतांक में लिख चुके हैं। इंग्लैण्ड ने आत्म-रक्षा की व्याख्या जान कर ही दस्तख़त किये हैं। इटली तो जन-संख्या और सैनिक शक्ति बढ़ाने में लगा हुआ है। मुसोलिनी कहता है कि इटली इतने वायुयान बनावेगा कि उसके पंखों से सूर्य भी छिप जायगा। फ्रांस अटलाण्टिक और भूमध्यसागर के जंगी बेड़ों की तैयारी कर रहा है। अपनी सेनाओं में वह उत्तरी अफ्रिका के हबशियों को भर्ती कर रहा है। 'डेवे' पत्र का संवाददाता लिखता है कि फ्रांस अपनी पूर्वी सीमा से लेकर भूमध्यसागर के तट तक भूमि के भीतर ही भीतर लोहे की ऐसी मज़बूत दीवार कल-पुर्ज़ों सहित बना रहा है कि वह किसी भी समय शत्रु के आक्रमण से फ्रांस की रक्षा कर सके। यह सब तय्यारियां किस बात की सूचक हैं, यह किसी से छिपा नहीं। फिर भी शान्ति के प्रस्ताव को सभी राष्ट्र स्वीकार कर रहे हैं। किलौग के पास फ्रांस ने जो स्वीकृति-सूचक उत्तर भेजा है उससे फ्रांस की आन्तरिक इच्छा स्पष्ट होजाती है। उसमें लिखा है कि फ्रांस को इस बात की प्रसन्नता है कि इन प्रस्तावों से फ्रांस की वे ज़िम्मेदारियाँ नष्ट नहीं होतीं, जो उसने अबतक संधियों के द्वारा अन्य राष्ट्रों से की हैं। क्या इससे स्पष्ट नहीं होता कि वह आवश्यकता पड़ने पर अपने मित्रराष्ट्रों की रक्षा के लिए युद्ध करेगा ?

वस्तुतः यह सारा प्रयत्न संसार के निर्बल राष्ट्रों की आंखों में धूल झोंकने के लिए है।

इटली में असन्तोष की आग

आष्ट्रिया के प्रसिद्ध विद्वान लेखक एलिआविर इटली में प्रचलित निरंकुश मुसोलिनी के शासन-विधान पर अपने विचार प्रकट करते हुए लेख का प्रारंभ इस प्रकार करते हैं—"विचित्र नाम वाली गलियों के शहर रोम में एक शेर के मुख की गली [Via Bocca di Leone] है। परंतु आजकल बहुत अधिक इटली-निवासी प्रत्येक गली को, जिसमें वे चल रहे होते हैं, शेर के मुख की गली अनुभव करते हैं; क्योंकि न जाने किस क्षण में उनपर शेर का पंजा (मुसोलिनी का दमनचक्र) आ पड़े।"

बहुत अंश तक यह कथन बिलकुल ठीक है। निरंकुश और स्वेच्छाचारी मुसोलिनी दिन-रात इटली में प्रजा को दमन करने का कोई न कोई उपाय सोचता रहता है। उसके नवीन शासन-विधान के प्रचलित होने की घोषणा का परिचय हम 'त्यागभूमि' के आठवें अंश में दे चुके हैं। इस नवीन शासन-विधान द्वारा उसने प्रजा के समस्त अधिकार छीन लिये हैं। गणसंस्थायें, जिन्हें मुसोलिनी की सरकार देशहितैषी समझती है, पार्लमेंट के लिए ९०० उम्मीदवार चुनेंगी। फ़ासिस्ट महासभा (Fascist Grand Council) उनमें से तथा कुछ अपने मनोनीत सदस्य मिलाकर कुल चार सौ सभ्यों को चुनेगी। इन चार सौ सभ्यों की सूची में से इटली की जनता अपने प्रतिनिधि निर्वाचित

करेगी । इस पार्लमेंट का काम किसी प्रस्ताव को स्वीकृत या अस्वीकृत करना नहीं होगा, परंतु इसका कार्य केवल सरकार से सहयोग होगा । इस तरह मुसोलिनी ने जनसत्ता को बिलकुल नष्ट कर दिया है । केवल प्रजा के अधिकार ही नहीं छीने गये, परन्तु इटली का राजा विक्टर इमैन्युअल तृतीय भी मुसोलिनी के हाथों की कठपुतली बन गया है । उसने इस नवीन शासन-विधान पर गत १७ मई को हस्ताक्षर कर दिये ।

इटली की जनता, जो पर्याप्त समय से मुसोलिनी के विरुद्ध हो रही थी, इस शासन-विधान के कारण बहुत उद्विग्न और क्षुब्ध हो गई है । ई० स० १८४८ में सैवोय-वंशी राजा चार्ल्स अल्बर्ट ने इटली की प्रजा से इस शासन-पद्धति को प्रचलित करने की प्रतिज्ञा की थी । वर्तमान नरेश ने भी राज्याभिषेक के समय इसी शासन-विधान में परिवर्तन न करने की प्रतिज्ञा की थी । अब उसके नवीन शासन-विधान पर हस्ताक्षर करने से इटली की जनता राजा से बहुत रुष्ट हो गई है । वर्तमान पार्लमेंट में छयालीस सभ्यों ने अपने को ख़तरे में डालते हुए भी इस नवीन शासन-विधान का बड़े ज़ोरों से विरोध किया, जिनमें से अलबर्टिनी, रिफनि और सिसि आदि मुख्य हैं । राजा के विरुद्ध भी आन्दोलन चल पड़ा है । जब राजा ने जनता के साथ की गयी अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ दिया, तो प्रजा भी उसके साथ किये गये वचनों को पालने के लिए, उसकी आज्ञाओं के मानने के लिए, बद्ध नहीं रही। यह जनता की मुख्य युक्ति है । भूतपूर्व प्रधानमन्त्री निटि (Nitti) और काउण्ट फोर्जा, जो राजा का एक निकट-सम्बन्धी है, इस आन्दोलन में मुख्य भाग ले रहे हैं । सीनोर निटि ने तो अपनी घोषणा में यहां तक कह दिया है कि इटली का सच्चा शासन-विधान नष्ट हो चुका है, इसलिए संसार के सभी राष्ट्रों को यह सूचित कर देना चाहिए कि मुसोलिनी के बाद आने वाली सरकार आज से किये गये सरकारी नये ऋणों और सन्धियों के प्रतिपालन के लिए ज़िम्मेवार न रहेगी । फ़ासिस्ट सरकार जो कुछ भी करेगी, वह सब एक अनियमित दल की कार्रवाई समझी जावेगी ।

इसी तरह विक्टर इमैन्युअल तृतीय के सम्बन्धी श्रीयुत फोर्जा ने भी घोषणा की है कि उसे यह गर्व है कि इटली की जनता स्वतन्त्रता में अपना विश्वास रखती है । उसे विश्वास है कि भविष्य में शीघ्र ही इटली की जनता इन हिंसा-पूर्ण अत्याचारों से स्वतन्त्र हो जायगी ।

इसी तरह इटली के दूसरे प्रमुख नेता भी वर्तमान सरकार का बड़े ज़ोरों से विरोध कर रहे हैं । मुसोलिनी की हत्या के लिए भी बाज़ारों में बहुत नोटिस लगाये गये हैं । इन सबसे ज्ञात होता है कि इटली में भी कोई बड़ा परिवर्तन होने वाला है ।

लङ्का में शासन-सुधार

लङ्का भी भारतवर्ष की तरह अंग्रेज़ों के अधीन प्रान्त है, उपनिवेश नहीं । इसका शासन भी भारत की तरह इंगलैण्ड के राजा कर रहे हैं । वहां की शासन-व्यवस्था यद्यपि भारत की व्यवस्था से भिन्न है, तथापि लङ्का-निवासियों के लिए वह उतनी ही असन्तोषप्रद है, जितनी हमारे लिए यहां की व्यवस्था । इसलिए यह स्वाभाविक था कि भारत की तरह लङ्का में भी उस शासन का बहुत विरोध किया जाता । अंग्रेज़ी सरकार ने साइमन-कमीशन की तरह वहां भी लार्ड डोनोमोर की अध्यक्षता में एक कमीशन बिठाया । केवल एक भेद रहा कि लङ्का ने उसका बहिष्कार नहीं किया । उस कमीशन ने अभी अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है । उसने यह मान लिया है कि लंका-निवासी अभी इतने योग्य नहीं कि उन्हें पूर्ण या औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जा सके । इसलिए वर्तमान शासन में ही कुछ सुधार करने चाहिएँ । रिपोर्ट का सारांश यह है—

वर्तमान व्यवस्थापिका सभा के स्थान पर एक स्टेट-कौंसिल हो, जिसमें ६५ निर्वाचित सदस्य हों, कुछ मनोनीत सदस्य हों और ३ सरकारी पदाधिकारी हों । इसमें ग़ैर-सरकारी सदस्यों की संख्या ही अधिक रहेगी । इसके ऊपर शासन-विभाग के तौर पर एक मन्त्रिमण्डल होगा, जिसमें दस मन्त्री होंगे । प्रत्येक के पास एक-एक शासन-विभाग होगा । इनमें से सात मन्त्री स्टेट कौंसिल द्वारा चुने जावेंगे। शेष तीन को सरकार चुनेगी । सम्भवतः ये तीन मन्त्री न्यायसचिव, अर्थसचिव और वैदेशिक सचिव होंगे । अव-

गैर को बहुत से अधिकार दिये गये हैं। वह स्टेट कौंसिल या व्यवस्थापक से किसी भी स्वीकृत प्रस्ताव या व्यवस्था को पुनर्विचार के लिए स्टेट कौंसिल में भेज सकता है, बदल सकता है, और रद्द कर सकता है।

निर्वाचन में मत देने का अधिकार प्रत्येक बालिग पुरुष को और तीस वर्ष से ऊपर की प्रत्येक स्त्री को दिया जायगा। निर्वाचन के विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह कही गई है कि निर्वाचन जातिप्रतिनिधित्व के आधार पर न हो। इसे बिलकुल उठा दिया जाय। कमीशन ने इसकी बुराइयों पर विचार करते हुए लिखा है कि जातिगत चुनाव का लङ्कानिवासियों की सामाजिक व्यवस्था पर अत्यन्त घातक परिणाम हुआ है। इसके कारण लंका में रहने वाली जातियों और धर्मों की परस्पर मुठभेड़ होती रहती है और इसका परिणाम यह होता है कि इस झगड़े में राष्ट्रीय हित का किसी को ध्यान नहीं रहता।

यह रिपोर्ट कहां तक लंकावासियों को सन्तोष दे सकेगी, यह कहना कठिन है। मुख्य तीन विभाग अपने हाथ में रख लेने के बाद बाक़ी कुछ रह ही नहीं जाता। यही विभाग तो किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता के प्रमाण हैं। फिर गवर्नर को जो ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त होगा, सब अधिकार देकर सब सुधारों को अन्यथा सिद्ध कर दिया गया है। मताधिकार की व्यापकता और जातिगत प्रतिनिधित्व की प्रथा का उन्मूलन ये दोनों बातें बहुत अच्छी हुई हैं, जिनके लिए कमीशन प्रशंसा का पात्र है।

इस रिपोर्ट का भारतीय दृष्टि से भी एक महत्व है कि हमें अंग्रेज़ों के झुकाव का कुछ पता लग गया है। साइमन-कमीशन की रिपोर्ट क्या होगी, इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है। शिमले में इस बात की चर्चा है कि भारतीय सरकार भी साइमन-कमीशन के द्वारा यही पद्धति चाहती है। प्रान्तों में इसी प्रकार की शासन-पद्धति प्रचलित होगी और वहां के गवर्नरों को इसी प्रकार के अधिकार दिये जावेंगे। इस पद्धति को पूर्ण प्रांतीय स्वतंत्रता (Full Provincial Autonomy) कहा जायगा। परंतु कहते हैं, इसके बदले में केन्द्रीय सरकार में असेंबली को जो अधिकार हैं, उनमें कमी कर दी जायगी। मताधिकार की व्यापकता और जातिगत प्रतिनिधित्व की प्रथा का उन्मूलन ये दो बातें ऐसी हैं, जिन्हें सुन कर भारतीय सरकार का वातावरण कुछ क्षुब्धसा हो गया है। यहां तो इनकी आशा नहीं सी है।

कृष्ण

मध्ययूरोप में अशांति के चिन्ह

यूरोप में उच्छृंखल शासन बढ़ रहा है। मुसोलिनी इटली में, प्राइमो-द-रेवेरा स्पेन में, ब्रेटिनो रूमानिया में जिस प्रकार का अनियंत्रित शासन चला रहे हैं, उसका अन्त होना एक दिन अनिवार्य है। जनता में असंतोष की चिनगारियाँ जल रही हैं और कहा नहीं जा सकता कि किस दिन ज्वालामुखी फट पड़ेगा। जुगोस्लेविया और रूमानिया में किसानों ने सिर उठाया है। रूमानिया में श्री मेनू (Maniu) की अध्यक्षता में उनका एक बड़ा दल संघटित भी हो गया है। इसमें लगभग दो लाख सदस्य हैं। हाल में ही 'अलबाजूलिया' नामक स्थान में इनका एक बड़ा सम्मेलन भी हुआ था। स्पेन में तो इस एक वर्ग के अंदर शासन-व्यवस्था उलटने के प्रयत्न भी कई बार हो चुके हैं। पेरी के पत्र 'इको द पैरी, (Ecko de Paris) ने अपने २० जुलाई के अंक में ऐसे ही एक नये षड्यंत्र का विवरण प्रकाशित किया है। यह षडयंत्र बार्सिलोना की सीमा पर स्पेन के सम्राट् अलफेन्सो की हत्या करने के लिए किया गया था। नियत समय के पूर्व ही पुलिस द्वारा रहस्योद्घाटन हो जाने कारण इन क्रांतिकारियों की चेष्टा सफल नहीं हुई। लिस्बन का तार है कि पोर्च्युगल में भी क्रांति द्वारा शासन-व्यवस्था बदल डालने का प्रयत्न किया गया था, पर असफल रहा। इटली में मुसोलिनो की हत्या की चेष्टा अनेक बार की जा चुकी है। कई यूरोपीय राष्ट्रों में मनोमालिन्य बढ़ गया है—आपस में भीतर ही भीतर चक-चक चल रही है। इन सब बातों से मालूम होता है कि मध्ययूरोप में अशांति के बादल एकत्र हो रहे हैं। जनता का असन्तोष बढ़ता जाता है। कब क्या हो जायगा, यह कहना कठिन है।

क्या मिश्र में क्रांति होगी?

मिश्र के सम्राट् फ़ुआद ने एक फ़रमान निकाल कर तीन वर्ष के लिए मिश्री पार्लमेण्ट का अंत कर दिया है!

यह घटना मिस्र के आधुनिक इतिहास में बेजोड़ है; किन्तु इसका होना अनिवार्य था, यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चल सकती थी। या तो मिश्र की सरकार अपने आन्तरिक और वैदेशिक मामलों में पूर्णतः स्वतन्त्र हो या वह ग्रेट-ब्रिटेन और जनता दोनों के सामने उत्तरदायी रहे। अभी तक मिश्र दूसरी अवस्था में रहा है और इस अवस्था में रह कर राष्ट्र-निर्माण का कार्य असम्भव है। यह झगड़ा वर्षों से चला आ रहा है। पिछले निर्वाचन में स्व० जगलूलपाशा अपने अनुगामी वफ़्दियों के साथ अत्यधिक संख्या में चुने गये थे। नियमानुकूल मंत्रिमण्डल का संघटन करने का अधिकार उन्हींको था; पर ब्रिटेन को यह कैसे सहन होता ? वह तो जानता था कि राष्ट्रीयता के इस पुजारी के प्राधान्य में उसकी नीचता हाथ-पाँव न फैला सकेगी। उसने सम्राट् फुआद के सामने स्पष्ट कर दिया कि जगलूलपाशा के नियन्त्रण में सरकार का संघटन ब्रिटेन सहन न कर सकेगा। झगड़ा उत्पन्न न हो, इसलिए जगलूलपाशा ने त्याग करना ही उचित समझा और वह अदलीपाशा के पक्ष में प्रधानमन्त्रित्व से हट गये। अदलीपाशा ने नरम और गरम दल का एक संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाया। एक ओर ब्रिटेन के और दूसरी ओर जगलूल-दल के प्रभाव में उसकी बुरी हालत हुई। उसकी असफलता के बाद सरवतपाशा ने प्रधान का पद ग्रहण किया। वह ब्रिटेन के मित्र के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने दोनों राष्ट्रों के बीच बंधुभावस्थापन की चेष्टा भी की, पर ब्रिटेन के क्रूर व्यवहारों के कारण अब (१९२७ में) वह पहले के (१९२२ के) सरवतपाशा न रह गये थे। वह जगलूल की देशभक्ति ने उनके हृदय को भी प्रभावित किया था। विगतवर्ष किंग फुआद इंग्लैण्ड गये थे तो सरवतपाशा उनके साथ ही थे। सम्राट् की प्रेरणा से उन्होंने श्री चेम्बरलेन के साथ एक संधि की। इस सन्धि का पता जब मिश्री पार्लमेंट को लगा तो उसने कठोर तीव्र शब्दों में उसकी निंदा की। फलस्वरूप सरवतपाशा को पदत्याग करना पड़ा और नहसपाशा ने शासन की बागडोर हाथ में ली। इन बेचारे की भी 'दो मुल्लाओं के बीच मुर्गी हराम'—सी हालत हुई। इधर पार्लमेण्ट में राष्ट्रीय दल का बहुमत था और उधर इंग्लैण्ड का फ़ौलादी पंजा गर्दन नापे हुए था। इधर मिश्री पार्लमेण्ट में दो बिल पेश थे, जिनमें एक सार्वजनिक सभाओं की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में था और दूसरा सेना के संघटन के बारे में। यदि ये बिल पास हो जाते और सैनिक संघटन का कार्य हो जाता तथा सार्वजनिक सभाओं का क़ानून बन जाता तो ब्रिटेन की उच्छृंखलता का अंत बहुत निकट आ जाता। अतएव उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि इन बिलों को उठा लो और सदैव के लिए उठा लो। इस मुठमर्दी और अत्याचार का कोई ठिकाना है ! ऐसी अवस्था में नहसपाशा को पदत्याग करना पड़ा। वर्तमान प्रधानमंत्री मुहम्मद महमूदपाशा की भी यही हालत होती, पर इसी बीच सम्राट् फुआद ने तीन वर्ष के लिए पार्लमेण्ट ही तोड़ दी।

प्रसिद्ध जर्मन पत्र 'फ्रैंकफ़र्टज़ीतुंग' में एक लेखक ने लिखा है कि इस अनहोनी घटना के बाद देखना है कि मिश्र, भारत इत्यादि की भाँति, ब्रिटेन का गुलाम बन कर रहता है या अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर उस अवस्था में ब्रिटेन द्वारा होने वाले अत्याचारों को सहने के लिए तैयार होता है। जिन मिश्रियों ने टर्की जैसे छोटे देश को उठ कर स्वतंत्र होते देखा है उनके लिए गुलामी के जुए को वहन करना दुराशामात्र है। अतएव बहुत संभव है कि निकट-भविष्य में संसार को स्वतंत्रता के संग्राम का एक और दृश्य देखने को मिलेगा। अलेकज़ेंड्रिया के तारों से पता चलता है कि जनता उत्तेजित हो रही है। नित्य पुलिस के साथ मारपीट हो जाती है। राष्ट्रीय वफ्द-दल ने एक विज्ञप्ति निकाल कर सरकार के राष्ट्रीयता-विघातक कार्य की निंदा की है। इस विज्ञप्ति में भावी संघर्ष की आशंका भी प्रकट की गई है। उत्तेजना बढ़ती जा रही है और यदि मिश्र ने स्वतंत्र होने का ही निश्चय किया तो उसे एक ओर अपनी सरकार के और दूसरी ओर ब्रिटेन के अत्याचारों की चक्की में पिसना पड़ेगा। भगवान् मिश्रवासियों को इस पराधीन परिस्थिति से शीघ्र मुक्त करें !

'सुमन'

देश-दर्शन

पटुआखाली-सत्याग्रह की विजय

आज से क़रीब दो वर्ष पूर्व पटुआखाली में श्रीयुत सतीन्द्रनाथ सेन के नेतृत्व में कुछ हिन्दू नागरिकों ने नागरिकता के अधिकार की रक्षा के लिए मसजिदों के आगे बाजे बजाने का सत्याग्रह किया था। सार्वजनिक मार्गों पर प्रत्येक नागरिक को अपने दुःख या हर्ष प्रकट करने का अधिकार है, इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए यह सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया था। लगभग दो वर्ष तक यह सत्याग्रह चला, इसमें सैकड़ों क़ैद हुए, सत्याग्रहियों को हज़ारों आपत्तियाँ झेलनी पड़ीं, परन्तु वे अपने आग्रह पर डटे रहे। हिन्दू-सभा के बड़े-बड़े अधिकारियों या हिन्दू-हित का नाम लेकर गत निर्वाचन में खड़े होने वालों ने इस तरफ़ कोई विशेष सहायता नहीं दी, फिर भी तपस्वी सतीन्द्रनाथ के व्यक्तिगत प्रभाव तथा आदर्श तपस्या के कारण यह सत्याग्रह जारी रहा। बीच-बीच में कई बार समझौते के प्रयत्न हुए और आशा हुई कि सत्याग्रह की विजय होगी, परन्तु सफलता नहीं हुई। अब समाचार मिला है कि बारीसाल के ज़िला मजिस्ट्रेट की अध्यक्षता में ज़िले के प्रधान-प्रधान हिन्दू, मुसलमान और ईसाई नेताओं की एक सभा हुई, जिसमें तीनों धर्मों के नेताओं ने यह स्वीकार कर लिया है कि हिन्दुओं को, जब वे चाहें, बाजे के साथ मसजिद के सामने अपना जलूस ले जाने का अधिकार है। इस निर्णय से सत्याग्रह समाप्त हो गया। शायद यह पहला उदाहरण है कि नागरिकों के अधिकार की रक्षा के लिए मुसलमानों और सरकार के विरोध में किया गया यह सत्याग्रह इतनी सफलता के साथ समाप्त हुआ है। हमें आशा करनी चाहिए कि अन्य स्थानों के मुसलमान नेता इस निर्णय का स्वागत करेंगे।

पटुआखाली-सत्याग्रह के विजयी नेता
श्रीयुत सतीन्द्रनाथ सेन

मज़दूर-आन्दोलन की प्रगति

इस सत्याग्रह की समाप्ति के साथ-साथ लिलुआ और आसनसोल की हड़तालें भी समाप्त हो गईं। ईस्ट इण्डियन रेलवे के एजेंट ने मज़दूरों को यह विश्वास दिलाया है कि उनके कार्य प्रारंभ कर देने पर उनकी शिकायतों पर पूरा

विचार किया जायगा। इस आश्वासन के मिलने पर मज़दूरों ने काम करना प्रारंभ कर दिया है, परन्तु अधिकारियों ने अभी तक हड़तालियों की माँग पर कोई ध्यान नहीं दिया।

बम्बई की हड़ताल में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मजूरों के एक नेता श्री निम्बकर को पुलिस ने गिरफ्तार कर उन पर मुकद्दमा दायर किया है, जिसका फ़ैसला अभी तक नहीं हुआ। बम्बई कारपोरेशन के कतिपय सदस्यों ने कई बार हड़तालियों को सहायता देने का प्रस्ताव पेश किया, परन्तु हर बार पूंजीपतियों के अधिक मत होने के कारण वह अस्वीकृत हुआ। इस अवस्था को देख कर हड़तालियों के बच्चों की सहायतार्थ एक मेयर-कोष खोला गया है, उसमें सर विक्टर सासून, सर फ़ज़लभाई करीमभाई व राज प्रतापगिरि आदि ने पर्याप्त मात्रा में चन्दा दिया है। अभी तक मजूर अपनी मांगों पर दृढ़ हैं। उनका कहना है कि जब तक पुरानी दर से वेतन नहीं मिलेगा, हड़ताल बन्द न होगी। सभी मज़दूर अपनी बात पर एकमत हैं। परन्तु मिल-मालिकों में मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। सर मनमोहनदास रामजी तथा अन्य कई मिल मालिक पहली दर पर मिल खोलने को तैयार हैं, परन्तु दूसरे बड़े-बड़े मिल-मालिक इसके लिए तैयार नहीं। सर मनमोहनदास आदि मिलों के खोलने के लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। सुना गया है कि यदि शीघ्र समझौता न हुआ तो वे अपनी मिलें पुरानी दर पर खोल देंगे। श्रीयुत जोशी समझौते के लिए बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। महात्मा गांधी ने भी उन्हें इस विकट स्थिति पर विचार करने के लिए अहमदाबाद बुलाया है। बहुत संभव है कि कुछ समझौता हो जाय, क्योंकि कई मिल-मालिक इस हड़ताल से तंग आ गये हैं।

जमशेदपुर की हड़ताल भी जारी है। यद्यपि कुछ मज़दूरों ने काम पर जाना प्रारंभ कर दिया है, फिर भी हड़ताली अधिक संख्या में मौजूद हैं। काम पर जाने वाले मज़दूरों को रोकने के लिए पिकेटिंग जारी है। स्त्रियां भी पिकेटिंग में भाग लेती हैं।

साउथ इंडियन रेलवे की हड़ताल अभी तक जारी है। वहां के श्रमिक संघ ने रेलवे एजेंट से कहा था कि यदि उसने उनकी मांग पर ध्यान न दिया, तो वे सार्वत्रिक हड़ताल कर देंगे। रेलवे एजेंट ने उलटा उन्हें ही डाट कर कहा कि वह ऐसी धमकी से नहीं डरता। सार्वत्रिक हड़ताल से उन्हें ही नुकसान होगा। इसपर मज़दूरों ने बीस जुलाई के प्रारंभ होते ही आधी रात को हड़ताल प्रारंभ कर दी। स्टेशनों के निम्न कर्मचारी भी हड़ताल में सम्मिलित हुए हैं। वे केवल हड़ताल करके ही शांत नहीं रहे, रेलों के चलने में तरह-तरह की बाधायें भी उपस्थित करने लगे हैं। पटरियों पर पत्थर आदि रख कर, पटरियां तोड़ कर, इन्जिन पर चढ़ कर उसकी आग आदि निकाल कर, तथा अन्य प्रकारों से बाधायें उपस्थित कर रहे हैं। प्रायः सब गाड़ियां उपर्युक्त कारणों से तथा कर्मचारियों के न मिलने से ८, १० घंटे तक लेट हो रही हैं। किलन, तिरुचेकूर, शेकुरा, तूतिकोरन, टिनेवली तथा मानियाची आदि से ऐसी हड़तालों की खबरें आई हैं। रेलवे-एजेंट हैरान है। कई स्थानों पर पुलिस ने गोलियां भी चलाई हैं, जिससे कई मज़दूर मारे गये हैं।

कलकत्ते के पास बौरिया की फ़ोर्ट ग्लौस्टर-जूट मिल कम्पनी की एक मिल में एक छोटी सी बात पर पुलिस से झगड़ा होगया। पुलिस ने गोलियां चलाईं। २१ मज़दूर घायल हुए, जिनमें से ३-४ की अवस्था अधिक सोचनीय है।

वस्तुतः मज़दूरों की समस्या देश में बहुत अधिक विकट रूप धारण कर रही है। भारत के राष्ट्रीय नेताओं को इस तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिए। हम किसी पिछले अंक में पाठकों को यह बता चुके हैं कि इंग्लैण्ड का श्रमिकसंघ भारतीय मज़दूरों को रुपये आदि का प्रलोभन देकर यहां की राष्ट्रीय प्रगति से दूर रखना चाहता है। अब 'फ़ारवर्ड' में प्रकाशित श्रीमती एग्नेस के एक लेख से मालूम हुआ है कि कुछ समय पूर्व यहां दो जर्मन मज़दूर इसी उद्देश्य से आये थे। उन्होंने श्रमी भारत (Toiling India) नामक पुस्तक में भारतीय मज़दूरों की दुर्दशा का चित्र खींचते हुए यूरोप के सर्वराष्ट्रीय श्रमी-संघटन (एम्स्टर्डम इन्टरनेशनल) में सम्मिलित होने की सलाह दी है। श्रीमती एग्नेस कहती हैं कि यह वही संस्था है, जिसने १९१४ में यूरोपीय युद्ध का समर्थन किया था। राष्ट्र-संघ की यह आर्थिक भुजा है। भारत की पराधीनता इसका भी मुख्य उद्देश्य है। वास्तविक बात यह है कि अब मज़दूरों का युग है। प्रत्येक राष्ट्र

दूसरे राष्ट्रों की मज़दूरों को अपनी तरफ़ बना रखना चाहता है। प्रायः सारे एशिया के मज़दूरों की सहानुभूति रूस के मज़दूरों के साथ है और रूस भी इसके लिए बहुत प्रयत्न कर रहा है। यूरोप का उपर्युक्त श्रमीसंघ चाहता है कि भारतीय मज़दूरों का उसकी तरफ़ अधिक झुकाव हो। भारतीय नेताओं को मज़दूर-समस्या को हाथ में लेना चाहिए और यूरोप की इन सब कूटनीतियों से रक्षा करते हुए इस बात का प्रयत्न करना चाहिए की मज़दूर यहां की राष्ट्रीय शक्ति का एक प्रधान अंग बनें।

कृष्ण

कृषि-कमीशन का माया जाल

सन् १९२६ के मध्य में, भारत के एकमात्र आधार, खेती के उद्योग-धन्धे की उन्नति के उपाय बताने के लिए लार्ड लिनलिथगो नाम के अँग्रेज़ ज़मींदार की अध्यक्षता में, पाँच अँग्रेज़ों और पाँच हिन्दुस्थानियों का एक 'शाही कमीशन, नियत किया गया था। इस कमीशन ने, दो वर्ष की लम्बी अवधि के बाद, गत २८ जून को अपना विवरण प्रकाशित किया है। विवरण २१ अध्यायों में समाप्त हुआ है। लगभग १०,००० पृष्ठों की गवाहियों, ७०० पृष्ठों के विवरण और १०० पृष्ठों के परिशिष्ट में कमीशन ने जिन बातों का उल्लेख किया है वे इस प्रकार हैं—

(१) देश में खेती-बाड़ी सम्बन्धी वैज्ञानिक खोज के लिए १९ आदमियों की एक "रिसर्चकौंसिल" बनाई जाय, ५० लाख रुपया उसे एक मुश्त दे दिया जाय और चालू खर्च के लिए उसे अलग धन मिलता रहे। देश के बड़े-बड़े प्रान्तों में इस कौंसिल की शाखायें स्थापित की जायँ और वे तरह-तरह की फसलों, दुग्धालय (Dairy) पशु-पालन तथा पशु-चिकित्सा सम्बन्धी बातों की खोज करें और किसानों में उनका ज्ञान फैलावें। (२) नई-नई खादों का उपयोग किया जाय। खली, गोबर, हड्डी आदि की खाद का बहुत अधिक प्रचार हो। खेतों में नये ढँग का अधिक प्रयोग हो। किसानों में अच्छे बीजों का खूब प्रचार किया जाय। खेती की मशीनों और औज़ारों, कुएँ खोदने और पानी उठाने की कलों का चलन बढ़ाया जाय और खेती के औजारों पर से रेल का किराया घटाया जाय। (३) उन्नत कृषि के नमूने दिखाने के लिए जगह-जगह प्रदर्शन और मेले किये जायँ, सिनेमा दिखाये जायँ और इस काम के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किये जायँ (४) आबपाशी के लिए, कुओं से खूब काम लिया जाय। नहर के पानी को बाँटने के लिए नहर की पंचायतें हों, जिनमें किसान भी रहें। कुओं, बाँध, झरनों आदि से काम उठाने की शिक्षा किसानों को दी जाय। (५) देश की कृषक जनता में, खास कर, उनकी लड़कियों और स्त्रियों में शिक्षा का खूब प्रचार किया जाय, जिससे, वे नये ढँगों के काम को समझ सकें, उनसे लाभ उठा सकें। देश की उच्च-शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी देहाती जीवन की ज़रूरी बातों को स्थान दिया जाय। (६) पशु-पालन और पशु-चिकित्सा की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय। पशु-चिकित्सा के लिए देश भर में, ४०० सर्जन और ७,५०० सहायक सर्जन नियत किये जायँ। (७) ऋण के बदले किसानों की ज़मीन जब्त न की जाय—इस आशय का एक क़ानून बने। ज़मीनों को गिरवी रखने के लिए सहकारी बैंकों की सृष्टि की जाय—उनकी संख्या बढ़ाई जाय। देश की बढ़ी हुई आबादी में से २० लाख आदमियों को ब्रिटिश-गायना में बसाहत के लिए भेजा जाय। (८) देश के किसान, वर्ष में ३-४ मास बेकार रहते हैं, इस समय उन्हें खेती के औज़ारों को बनाने और ठीक करने का काम सिखाया जाय। बाँस से कागज़ बनाने, बढ़ई-गिरी, तेल पेरने, कपड़ा बुनने, रस्सी बनाने, रेशम के कीड़े पालने, मिट्टी के बर्तन बनाने और लाख बटोरने के काम की सलाह भी कमीशन ने दी है।

इनके अतिरिक्त कमीशन का यह भी कहना है कि उसके बतलाये हुए क्रम से शिक्षा देने के लिए देश के शिक्षित समुदाय से सहायता ली जाय। इस तरह कुल मिलाकर कमीशन के विवरण में एक ही बात पर अधिक ज़ोर दिया गया है, वह है किसानों को शिक्षित करना और उन्हें मिलकर काम करने के लाभ बतलाना।

ऊपर हमने कमीशन की जिन सूचनाओं का उल्लेख किया है उनसे देश के कृषकों को तत्काल कोई लाभ की आशा तो बिलकुल नहीं है। अतः इस दृष्टि से इस 'शाही कमीशन' के आने जाने और जाँच करने में, देश के किसानों

की गाढ़ी कमाई के २० लाख रुपयों का योंही बरबाद हो जाना एक खटकने वाली बात है। हाँ, इस कमीशन ने यदि कोई बात स्पष्ट कर दी है तो वह यही कि भारतवर्ष में कृषि की उन्नति के लिए सरकार की जिम्मेवारी बहुत बड़ी है। यों तो देश के किसान अपनी उन्नति के लिए आप ही ज़िम्मेवार हैं फिर भी विदेशी सरकार के शासन में, उनकी उन्नति के मार्ग में, जो असंख्य रुकावटें आये दिन खड़ी होती रही हैं और आज भी खड़ी की जा रही हैं उनको हटा लेने और उनके लिए उत्तम साधनों तथा अनुकूल अवस्थाओं को पैदा करने का प्रथम और मूल उत्तरदायित्व सरकार पर है। परन्तु सरकार तो जान-बूझ कर इस विषय में सदा से उदासीन और काष्ठवत् रही है। हमें आशा नहीं कि कमीशन की इन सूचनाओं का, देश के लिए, कोई अच्छा असर सरकार की भावी नीति पर पड़ेगा। क्योंकि जहाँ व्यापारिक स्वार्थ और आत्म-प्रतिष्ठा की रक्षा ही प्रधान मानी जाती है वहाँ देश के किसानों की भलाई और उनकी सुख-सुविधा पर कोई विचार ही क्यों करेगा?

कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में एक जगह कहा है—"यदि देश के सदियों से गिरे हुए कृषि-उद्योग की गतिहीनता को मिटाना है, उसे उन्नत बनाना है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार के अधीन जितने भी साधन हैं सबके सब ग्राम-सुधार और ग्राम-उन्नति के काम में लगा दिये जायँ। ज़रूरत तो यह है कि जिन सरकारी विभागों का कार्य ग्रामीण जनता से थोड़ा भी परोक्ष या अपरोक्ष सम्बन्ध रखता है वे सब विभाग एक साथ मिलकर संगठित और स्थायी रूप से इस ओर प्रयत्न करें।"

परन्तु हमें डर है कि वर्तमान सरकार, कमीशन की इस व्यवहार्य और आवश्यक सिफारिश को भी कार्यरूप में परिणत करने का सत्साहस नहीं करेगी। हमें तो प्रस्तावित "रिसर्च कौन्सिल" के भावी कार्यों से भी कोई तथ्य निकलता नहीं दीखता है। उसके संगठन की योजना पढ़ कर हँसी आती है। जिस कौन्सिल के ३२ सदस्यों में केवल ५ ग़ैर-सरकारी हों वह कौन्सिल देश-हित के लिए क्या ख़ाक कोशिश करेगी?

कृषि-कमीशन के विवरण को देश के कृषकों की वास्तविक दुःखद परिस्थिति से एकदम अछूता रक्खा गया है। देश की सच्ची परिस्थिति को पहचानने में कमीशन जहाँ कुछ सफल हुआ है वहाँ उसके सुधार के उपायों को बतलाने में उसने उल्टे मुँह की खाई है। विवरण में किसानों की बेकारी, उनकी कुख्यात और दर्दनाक कर्ज़दारी, ज़मीन का छोटे-छोटे हिस्सों बँटा रहना, ढोरों की बढ़ती हुई कमी और दुर्बलता, फ़सल को हेर-फेर कर बोने की आवश्यकता और उत्पन्न माल को सस्ते से सस्ते में बाज़ार तक पहुँचाने की सुविधा आदि देश-हित के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक बातों का कमीशन के विवरण में कहीं उल्लेख तक नहीं है! फिर इस दुःखद परिस्थिति से देश को उबारने के लिए उचित सूचनायें उसमें से मिल ही कैसे सकती हैं? देश की सरकार को तो संसार के सम्मुख अपनी प्रजा-प्रियता का एक प्रहसन भर करके दिखाना था। यही कारण था जिससे आरम्भ ही में कमीशन के अधिकारों और कार्यक्षेत्र को एक निश्चित सीमा की जंजीर में जकड़ दिया गया था!

ऐसी दशा में, हमारी राय में, देश का कोई भी विचारशील व्यक्ति न तो कमीशन से ही सन्तुष्ट हो सका है और न उसकी सिफारिशों ने ही उसपर कुछ असर किया है। देश तो कृषि-सम्बन्धी ज्ञान में इस विवरण के प्रकाशित हो जाने के बाद भी जहाँ का तहाँ ही रहा है। फिर, ऐसे थोथे आधारों पर देश की दीन-हीन कृषक जनता के लाखों रुपये प्रतिवर्ष, विदेशी-नौसिखिये कृषि-स्नातकों का पेट पालने के लिए खर्च करने (स्वार्थी सरकार के दबाव के कारण) से बढ़ कर देश का और दुर्भाग्य ही क्या हो सकता है?

हमारी राय में देश के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं, स्वयंसेवकों, विद्यार्थियों और प्रभावशाली नेताओं के लिए ग्राम-सुधार आदि ठोस कामों को प्रारम्भ करने की इससे बढ़ कर सुवर्ण-सन्धि नहीं हो सकती। निकट भविष्य में, उन्हीं के बल पर, जनता के जो लाखों रुपये देश की नौकरशाही के ख़ज़ाने में पहुँचने वाले हैं, उन्हें अभी से देश-हित के कामों के लिए हमें सुरक्षित रख लेना चाहिए। अगर इन रुपयों से महात्माजी के खादी-कार्य, राष्ट्रीय-शिक्षा, ग्राम-सङ्गठन, अछूतोद्धार आदि विधायक, उपयोगी और स्व-राज्य-प्राप्ति में सहायक कार्यों में मदद पहुँचाई जाय; लालाजी की जन-

सेवक-समिति के कार्यक्षेत्र को अधिक विस्तृत किया जाय; अ० कर्वे के महिला-विद्यापीठ का अर्थ-कोष भरा जाय और इसी तरह के अन्य राष्ट्र-हितकारी कार्यों में इन रुपयों द्वारा जीवनी-शक्ति का संचार किया जाय, तो निस्सन्देह हम स्वराज्य के बहुत समीप पहुँच सकेंगे। देखें, देश के नेता और धनी-मानी सज्जन इस विषय में क्या करते हैं? कृषि-कमीशन ने तो पहाड़ खोद कर चुहिया निकाली है, इसमें सन्देह नहीं! परन्तु हमें दृढ़ आशा है कि कमीशन की यह असफलता देश में एक नया जीवन फूँकेगी। और शीघ्र ही छोटे-बड़े सब, विधायक कार्यों द्वारा, देश का सच्चा हित-साधन करने में लग जायँगे। तथास्तु!

त्रिवेदी

विविध

मुज़फ़्फ़रपुर-सम्मेलन के अनुभव

इस बार जैसी परिस्थिति थी—जैसा वातावरण था, उसमें मित्रों को आशंकायें हो रही थीं कि मुज़फ्फरपुर-सम्मेलन हो सकेगा या नहीं; किंतु सम्मेलन में द्विधापूर्ण, धड़कते हृदय से माता की पूजा के समारोह में एकत्र होने वाले मित्रों की वह निराशा, आशातीत उत्साह और सफलता के प्रवाह में बह गयी। कुछ तो मुज़फ़्फ़रपुर के भाइयों से निकट का सम्बंध होने और उनका आग्रह अमान्य करने की क्षमता से हीन होने के कारण और कुछ कुतूहलवश कतिपय मित्रों के साथ २५ जून को मैं भी मुज़फ़्फ़रपुर पहुँच गया था। भारतीय इतिहास में सबसे गौरवपूर्ण पन्नों के रचयिता बिहार के अंचल में अपने भाइयों के साथ बैठकर मैंने सोचा—"कितना निर्मल, कितना सीधा-सादा है यह प्रान्त! यहां भी झगड़े उठ खड़े हुए!! हिंदी के एकमात्र इस प्रांत में अर्चना के सम्बन्ध में विरोध कैसा?" पर जब गुत्थियाँ खुलीं, जब मशहूर किये गये 'दो दलों' के मित्रों से मिला, तो मालूम हुआ विरोध नहीं, पूजा की विधि में मतभेद मात्र है, जो माँ की भक्ति से उद्वेलित हृदयों की पारस्परिक प्रतियोगिता का स्वाभाविक परिणाम है।

स्वागत-समिति के कार्यकर्ताओं में उत्साह था। भारी समारोह होने पर जैसे परमोत्साही बालकों में एक प्रकार का आश्चर्य—एक प्रकार का विश्रृंखल पर जीवनमय आन्दोलन देख पड़ता है, वैसा ही यहाँ भी दिखायी पड़ा। बिहार तो काम करना जानता है, स्कीम बनाना नहीं। उसे रास्ता दिखाने वाला होना चाहिए—उसका सर्वस्व निछावर है। यह सब विरोध न जाने कहाँ होता, यदि बिहार का वह तपस्वी—वह पतला-दुबला राजेन्द्र उस दिन विदेश में न होता! उसका अभाव कितना खटकता था—इसे उसे समझने वाले ही समझ सकते हैं!

इस बार का सम्मेलन संघर्ष, विद्रोह, असंयम और अधिकार को समझने एवं अपनाने की बढ़ती हुई भावना के शक्ति-संचय का सम्मेलन था। युवकों और उनके आदरणीय वयोवृद्ध साहित्यसेवियों के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का संघर्ष हुआ। इस अखाड़े में धर्मयुद्ध नहीं हुआ। युवकों की ओर से उच्छृंखलतायें हुईं, और वृद्धों की ओर से ज़्यादतियाँ। युवकों में उत्साह था—यौवन का तक़ाज़ा था, वे कभी-कभी बहक जाते थे; पर वृद्ध साहित्य-सेवी भी बहुत संकुचित, बहुत अनुदार हो रहे थे। युवकों में जो असंतोष था उसे आत्मदमन द्वारा वे दबा न सके, इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता; पर आदर्शवाद को छोड़कर युवक हृदय के जोश और विद्रोही प्रवृत्ति पर ध्यान दें तो कहा जा सकता है कि ऐसी बातें वांछनीय तो नहीं हैं, पर साधारण, दुर्बल मनुष्य की दुनिया में स्वाभाविक हैं।

युवकों में कुछ संयम होता और वृद्धों में कुछ गंभीरता होती तो इतनी कटुता न दीख पड़ती। अस्तु; जो हुआ, अच्छा ही हुआ। इस बार मातृ-मंदिर के नये पुजारी, जो 'अछूत' से हो रहे थे, मंदिर में प्रविष्ट हुए और शक्ति एवं अधिकार के साथ पूजा के अधिकारी बने।

अनुमान से केवल २०० प्रतिनिधियों की आशा

मुजफ़्फ़रपुर-सम्मेलन के सभापति
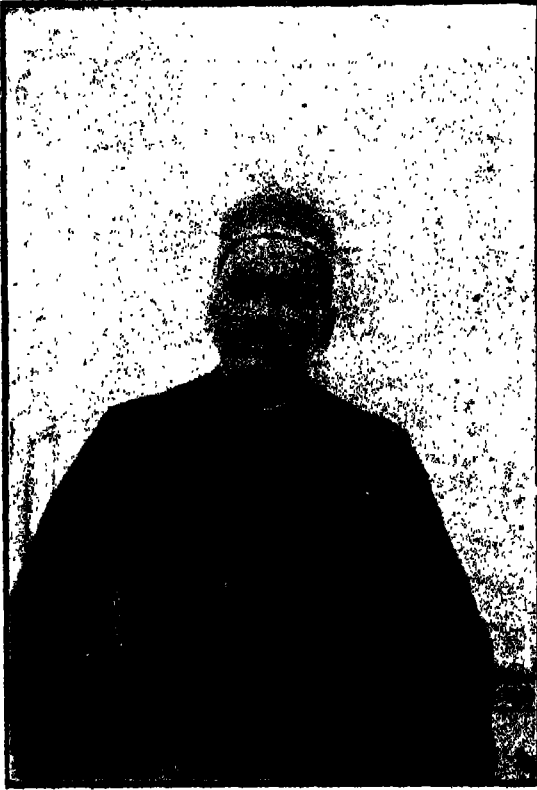
पं० पद्मसिंह शर्मा

की गयी थी, किंतु, एकाएक संख्या में ज्वार आ गया। एकदम ५०० प्रतिनिधि, आशातीत संख्या! भारत के कोने-कोने से आने वाले भाइयों का ऐसा उत्साह—संख्या एवं भाव दोनों के लिहाज़ से—इंदौर-सम्मेलन के अतिरिक्त उसके पहले और पीछे अन्यत्र कहीं नहीं दीख पड़ा था।

पहले दिन जब सम्मेलन के मंच से, भारतीय हिंदी कवि-सम्मेलन के स्वागत मंत्री—बिहार के गर्व की चीज़, भाई मनोरंजनप्रसादसिंह (एम० ए०) ने आगत सज्जनों का स्वागत करते हुए, काँपते गले से गाया—

स्वागत है आज तुम्हारा, भारत के भव्य भवन में।
वैशाली के आँगन में, सीता के स्नेह-सदन में।
स्वागत है० ॥

तो इतने प्रतिनिधियों और शतशः दर्शकों का हृदय स्नेह से काँपने लगा। एक समा बँध गया। स्नेह का एक निराकार बन्धन, मानों सबके हृदयों को एक स्थान में गूँथने का उपक्रम कर रहा हो। मुझे स्मरण नहीं कि इतना सुंदर, इतना अपनापन-बोधक, इतना ममत्व लिये हुए कोई स्वागतगान किसी सम्मेलन में गाया गया हो।

स्वागताध्यक्ष के भाषण में नम्रता, सहृदयता और दीनता, शुरू से अंत तक बिखरी हुई थी—विद्वत्ता का भले ही कुछ अभाव रहा हो—फिर ऐसे समय नम्रता, विद्वत्ता से कहीं अधिक मोहक होती है। सम्मेलन के सभापति आदरणीय पं० पद्मसिंह शर्मा का भाषण सोलह आने साहित्यिक भाषण था। शर्माजी ने हिंदी-साहित्य क्षेत्र में बढ़ती हुई 'उच्छृंखलता' का नग्न चित्र खींचा था। कितना अच्छा होता, यदि यह भाषण एकांगी न होकर सहानुभूतिमय हृदय के अन्वेषण का एक विवरण होता! नये कवियों की 'वीणा' में सदैव बेसुरा स्वर ही नहीं निकलता, साहित्योपवन के नूतन पल्लवों ने सौंदर्य, माधुरी और सुरुचि के सुवास का संदेश भी दिया है। कविता कोई हो, कविता होनी चाहिए। किसी एक प्रकार की कविता को लेकर उसका कल्पित दोषान्वेषण उचित नहीं, गुण-दोष-समीक्षा ही विद्वानों का धर्म है। इसके अभाव के कारण ही युवक और वृद्ध सभी प्रकार के लोगों को शर्माजी के भाषण से असंतोष ही अधिक हुआ और वह असंतोष आदरणीय 'हरिऔध' जी के भाषण तथा भाई बालकृष्ण के ('संक्रांतियुग और उसका साहित्य संबंधी') भाषणों और मेरे तथा मित्रवर कृष्णदेवप्रसादजी गौड़ के लेखों से व्यक्त भी हो गया।

इन सब बातों के होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि शर्माजी गुणग्राही, सीधे और नम्र सज्जन हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने जो कुछ कहा वह नये स्कूल के कवियों

की रचनाओं से अपरिचित होने के कारण ही कहा और जब उन्हें अपनी ग़लती मालूम हुई तो अपने अंतिम भाषण में उन्होंने स्पष्टीकरण भी कर दिया। यह भी कहा कि 'मैं छायावाद या नये प्रकार की अच्छी कविताओं का भक्त हूँ, मेरा विरोध केवल अण्डबण्ड लिखने वालों से है।' जो ग़लतफ़हमी फैली थी वह शर्माजी के इस अंतिम भाषण से बहुत अंशों में शांत हो गई। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इस ग़लतफ़हमी के दूर करने में सहायता की। दूसरे दिन पं० पद्मसिंहजी और पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी जब हम लोगों के डेरे पर आये तो इन आदरणीय सज्जनों और विशेषतः शर्माजी की मधुर बातचीत में सारी कटुता, सारा मनोमालिन्य बह गया।

मंगलाप्रसाद पारितोषिक के सम्बन्ध में कई वर्षों से जनता में जो असंतोष चला आ रहा था, उसे दूर करने के लिए, हम लोगों ने उचित समझा कि निर्णायकों का चुनाव अधिक सुन्दर हो। इसी दृष्टि से, अनेक मित्रों की राय से मैंने विषय-निर्वाचिनी में संशोधन रक्खा। अभी तक स्थायी समिति द्वारा नियुक्त ५ सज्जनों की पारितोषिक समिति केवल २ के 'कोरम'—कार्यक्षम संख्या से ५ निर्णायक चुन लिया करती थी। पक्षपात हुआ या नहीं, यह एक भिन्न प्रश्न है, पर यह नियम सदोष था। यह उचित समझा गया कि स्थायी समिति ही निर्णायक चुने। जब विषय-समिति में यह प्रस्ताव रक्खा गया तो पुराने सज्जनों द्वारा इस परमवैध संशोधन पर भी आपत्ति की गयी। अंत में (recommendatory) प्रस्ताव के रूप में वह बिना विरोध' विषय समिति और साधारण अधिवेशन दोनों से पास हो गया।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रस्ताव जो सम्मेलन ने पास किया, बिहार में सरकार की कृपा से उठ खड़े हुए हिन्दी-उर्दू के नये झगड़े के सम्बन्ध में था। साइमन-कमीशन के आगमन ने हमारी कितनी कड़ियाँ तोड़ दी हैं! जहाँ बिहार में हिन्दू-मुसलमान भाषा का भेदभाव त्याग कर हिन्दी को अपना रहे थे—जो प्रांत सम्पूर्ण भारत में एकमात्र शुद्ध हिन्दी प्रान्त था, हमारे दुर्भाग्य से, हमारे शासकों की कृपा से वहाँ भी एक नया झगड़ा उठ खड़ा हुआ। हिन्दी को इस प्रकार उसके आसन से गिराने का प्रयत्न निन्दनीय है और हर्ष की बात है कि इस सम्बन्ध में जितना ज़ोरदार विरोध संभव था, सम्मेलन के मंच से किया गया। इस विषय पर बिहार के प्रायः सभी प्रतिष्ठित हिन्दी-प्रेमी और कौंसिलर—बिहार के पुराने वृद्ध योद्धा रायबहादुर द्वारकानाथ से लेकर युवक-हृदय राजा चंद्रेश्वर नारायणसिंह एम० ए० तक—बोले। भाषणों में स्वराजियों की अनुपस्थिति के सम्बन्ध में असंतोष भी प्रकट किया गया; पर अंत में प्रस्ताव सर्व-

सम्मेलन के प्राण
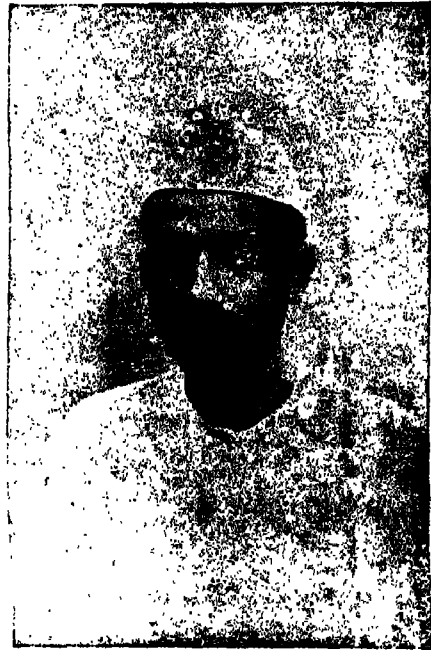
श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन

सम्मति से पास हुआ—एक प्रकार से यही सम्मेलन का मुख्य प्रस्ताव था। नियम-संशोधन-सम्बन्धी कतिपय अन्य प्रस्ताव भी पास हुए।

कवि-सम्मेलन और सम्पादक-सम्मेलन दोनों इस बार असफल रहे। कवि-सम्मेलन की तो वर्षों से बुरी हालत हो रही है। अण्डबण्ड तुकबंदियाँ पढ़ी जाती हैं, समस्या-पूर्तियों में दम नहीं—परकटी कल्पना तड़पती रहती है। भारत जैसे महान् देश की राष्ट्र-भाषा के गौरवमय पद पर अवस्थित

भाषा का भारतीय कवि-सम्मेलन ऐसा दीन-हीन हो, इसे याद कर मस्तक लज्जा से झुक जाता है। एक मुशायरा देखिए और एक कवि-सम्मेलन। कितना अंतर है—एक में जीवन छलका पड़ता है, भाषा पर कवि का अधिकार और विक की मार्मिकता ओत-प्रोत होती है और दूसरी ओर मरणशील कल्पना, बँधे हुए विचार, अस्वाभाविक उक्तियाँ सुनने को मिलती हैं। इस बार भी ऐसा ही हुआ। श्रोता तालियाँ पीट कर इन कवियों को बनाते और कविराम यह सोचकर मगन हुए जाते कि 'वाह, क्या क़द्र हो रही है।' एक उच्छृंखल बिहारी श्रोता ने तो उसी प्रांत के किसी कवि को दो घुँघरू प्रदान करने की घोषणा भी कर दी!

सम्मेलन में आये हुए साहित्यिक व्यक्तियों में, प्रभाव की दृष्टि से, टण्डनजी का नाम सब से पहले आता है। उनके सिद्धान्तों से, प्रणाली से चाहे किसी का मतभेद भी हो, पर उनकी शालीनता, नम्रता, प्रबंध-पटुता, प्रभाव और नेकनीयती के सब क़ायल थे। सम्मेलन में यदि किसी पर सब विचार के—सब दलों के लोगों का विश्वास था, तो वह टण्डनजी थे। उनका त्याग, उनका अपमापन का भाव, उनका प्रसन्न-मुख, उनका शांत भाव, उनकी नम्रता, सब तर्कों का जवाब थीं—सारे विरोध को शांत करने के लिए पर्याप्त थी। कटु विरोध और प्रहारों के बीच भी उनका मुस्कराना, देखने लायक़ था। वे न होते तो इस बार सम्मेलन के निर्विघ्न समाप्त होने में संदेह था।

भारतेंदु बाबू के समय की एक जीवित स्मृति के रूप में, उस मस्त ज़माने के साहित्य-सेवियों में बच रहे बाबू शिवनंदनसहाय को पहली बार इस सम्मेलन में देखा। वह लम्बी सफ़ेद दाढ़ी, वह सोटा, वह सवा दो हाथ का ठिंगना क़द! इस दुनिया में एकाएक पहुँच कर उन्हें हैरत हो रही थी। वह मस्तों का ज़माना देखे हुए, इस समय के विरोध से घबरा से रहे थे!

श्रद्धेय सभापति महोदय का भोलापन, आदरणीय उपाध्यायजी की कविता की गम्भीर आलोचना, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की झुँझलाहट, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का सम्मेलन-प्रेमियों का चिरपरिचित मसखरापन देखने की चीज़ें थीं। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी का भोला हृदय मज़ेदार था। भाई बालकृष्ण के विषय में मेरी क़लम से कुछ लिखे जाने का अर्थ, पूर्व-परिचय के कारण, शायद पक्षपात समझा जाय। अपने अंतर और समाज दोनों के सामने वह कवि हैं!

इस बार सम्मेलन में छोटे-बड़े साहित्य-सेवियों का जमघट था। बड़ा आनन्द आया। जिस मन्त्रि-मण्डल का इतना विरोध था, वह बदल दिया गया। पुराने नये मन्त्रियों में एक का भी चुनाव नहीं हुआ। लोग मन्त्रि-मण्डल से इतना नाराज़ थे किसी ने उसे धन्यवाद देने की सभ्यता का भी पालन नहीं किया। अस्तु।

यह सब तो हुआ—पर स्थायी-समिति और नवीन मन्त्रि-मण्डल के सदस्यों को अब कुछ करके दिखाना चाहिए ज़बानी जमा-खर्च से काम न चलेगा!

श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

उद्योगी हेनरी फ़ोर्ड

इनका जन्म अमेरिका के अंतर्गत मिचिगान नामक एक ग्राम में, एक साधारण कृषक परिवार में, ३३ जुलाई सन् १८६३ ई० में हुआ था। शैशव-काल में फ़ोर्ड अन्य कृषक बालकों के साथ गाँव ही की पाठशाला में पढ़ते और पाठशाला से अवकाश पाने पर अपने पिता के साथ ग्रीष्मकाल की प्रखर धूप में भी खेत में काम करते थे। फ़ोर्ड के पिता की एक छोटी-सी दूकान भी थी, जिसमें बालक हेनरी अपने मन के अनुसार लकड़ी चीर-फाड़ कर कुछ न कुछ बनाया करता था।

१६ वर्ष की अवस्था में फ़ोर्ड मिस्त्री का काम सीखने के लिए अपने गाँव से कुछ दूर पर एक अन्य ग्राम में गये। सारा दिन बढ़ई का काम करते और रात में एक घड़ीसाज़ के यहाँ घड़ी की मरम्मत का काम सीखते। इस प्रकार लगातार ८ वर्ष तक अति परिश्रम और चतुरता से काम करके फ़ोर्ड ने भविष्य के लिए अपनेको उपयुक्त बनाया।

२४ वर्ष की अवस्था में फ़ोर्ड के पिता ने उन्हें घर बुला लिया एवं काम करने के लिए लगभग ४० एकड़ भूमि का एक बग़ीचा दिया, जिसमें बड़े-बड़े वृक्षादि लगे थे। उद्यमी फ़ोर्ड ने शीघ्र ही उस बग़ीचे में एक लकड़ी चीरने की कल की स्थापना की और बढ़ई का काम करना आरंभ

कर दिया। इसी वर्ष आपका विवाह भी हुआ। विवाह हो जाने पर आपने कारख़ाने से कुछ लकड़ी की पट्टी ले एक छोटा घर तैयार किया और उसीमें सपत्नीक रहने लगे। हेनरी का हृदय सदा किसी अजनबी चीज़ की खोज में व्यस्त रहता था।

उन्होंने अपनी छोटी दूकान को इसी बग़ीचे में ला रक्खा और एक भाफ से चलने वाली गाड़ी तैयार करने की धुन में निमग्न हुए। इस स्टीमकार को तैयार करने में उनके सामने अनेक विघ्न-बाधायें आईं; कितने बायलर (Boilers) भी नष्ट हुए, और बहुत हानि भी उठानी पड़ी, पर स्टीमकार का एंजिन तैयार न हो सका। इस प्रकार आपका पहला उद्योग व्यर्थ हुआ। पर इस असफलता पर आप घबराये नहीं, बल्कि दूने उत्साह से अपने इच्छित उद्यम में सफलता प्राप्त करने के लिए लग गये।

२ वर्ष बाद उद्यमी फ़ोर्ड निकट के एक लालटेन के कारख़ाने में ४५ डालर मासिक वेतन पर एंजीनीयर नियुक्त हुए। फ़ोर्ड ने अपनी कार्य-कुशलता और दूरदर्शिता के प्रभाव से बहुत ही शीघ्र कारख़ाने के मालिक को संतुष्ट कर लिया, जिसका फल यह हुआ कि आपका वेतन ४५ डालर से १२५ डालर हो गया।

हेनरी फ़ोर्ड ने ७ वर्ष तक इस कारख़ाने में काम किया। इन सात वर्षों में आप केवल कारख़ाने ही के कामों में नहीं लगे रहे बल्कि अपने बग़ीचे के काम के साथ-साथ एक पक्का घर भी बना लिया। कारख़ाने में काम करने से जो समय बचता उस समय में अपना अविष्कार सम्बन्धी काम भी अदा करते रहते थे। इस प्रकार आपके अनेक दिनों की साधना के फलस्वरूप आपकी प्रथम आविष्कृत पेट्रोल-गाड़ी तैयार होने लगी। यह गाड़ी दो सिलेन्डर-युक्त है तथा इसकी चाल २५-३० मील प्रति घंटा है। अभीतक यह नवाविष्कृत गाड़ी अपनी पहली दशा में मौजूद है।

महाशय फ़ोर्ड अपनी इस सफलता से बड़े प्रसन्न हुए; पर धनाभाव के कारण अपनी आविष्कृत वस्तु का विस्तृत रूप से प्रचार करने में असमर्थ हुए। निदान कतिपय अमेरिकन धनकुबेरों ने मिलकर हेनरी फोर्ड की अध्यक्षता में एक कम्पनी खोली। इस कम्पनी ने बहुत सी गाड़ियाँ तैयार भी कीं। किन्तु फिर कम्पनी के मालिकों से और फोर्ड से कुछ अनबन हो गई। तब आप इस कारख़ाने से अलग हो सन् १९०१ ई० में एक दूसरी मोटर गाड़ी तैयार करने लग गये। इस कार्य में आपको पूर्ण सफलता सन् १९०२ ई० में प्राप्त हुई। सन् १९०३ ई० में वर्तमान फोर्ड-कम्पनी स्थापित हुई, जिसमें आप चौथाई के हिस्सेदार हुए। आपकी नियुक्ति उपाध्यक्ष और फ़ैक्टरी-मैनेजर के पद पर हुई। किन्तु आप सदा इसी चिन्ता में डूबे रहते कि जब तक इस कारख़ाने पर पूर्ण अधिकार नहीं होता, तब तक मेरे मन के अनुसार काम नहीं होगा। निदान आप कम्पनी पर अपना पूर्ण अधिकार जमाने का प्रयत्न करने लगे। कई वर्ष तक अनवरत चेष्टा करते रहने पर आप कारख़ाने के आधे से अधिक हिस्से के मालिक बन बैठे। सन १९१९ ई० में आपका पुत्र एडसेल आपके पूर्व पद पर नियुक्त हुआ। बाद में अमेरिका के क़ानून के अनुसार कम्पनी का मूलधन १ लाख से १० करोड़ डालर हुआ, जो अभी तक इसी मूलधन से चल रहा है। फ़ोर्ड मोटर कम्पनी की पहली गाड़ी सन् १९०३ ई० में बाहर हुई और उसी साल के जुलाई मास से बाज़ार में बिक रही है।

फ़ोर्ड जब अपने इस कार्य्य में पूर्ण सफलता प्राप्त कर चुके तब आपको मोटर-रेस की गाड़ी तैयार करने की धुन सवार हुई। प्रथम रेस-गाड़ी तैयार कर चुकने पर, आपने उसे स्वयं चला कर देश-विदेश में विजय लाभ प्राप्त करना आरंभ कर दिया, जिसका फल यह हुआ कि आपकी ख्याति और गाड़ी की बिक्री दिन-दूनी और रात-चौगुनी होने लगी। अब तो जिस रेस में फ़ोर्ड का नाम नहीं होता उस रेस में लोग दिलचस्पी के साथ भाग नहीं लेते। सन् १९०४ ई० में महाशय फ़ोर्ड ने, लाकाटीमूर नामक स्थान की एक शीत प्रधान जगह में, एक मील प्रति मिनट के हिसाब से गाड़ी चला कर दिखला दिया है। सच है, उद्योग से क्या नहीं हो सकता?

"उद्योगिनं पुरुष सिंह मुपैति लक्ष्मी,
दैवेन देयमितिकापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः॥"

पाण्डेय देवेन्द्रनारायणसिंह

सम्पादकीय

वह दिन !

वह दिन, वह १ अगस्त भूलता नहीं। दिन कितनी शीघ्रता से जाते हैं ! आठ वर्ष बीत गये; किन्तु वह घड़ी, प्रलय का वह दृश्य भुलाये नहीं भूलता। स्वराज्य-संग्राम के उस वीर योद्धा की सांघातिक बीमारी की बात सुनकर लोग कितने बेचैन थे ? जिनके यहाँ टेलीफ़ोन थे, वे घंटी बजी और झट दौड़ पड़ते; समाचारपत्रों के ग्राहक, डाकिये की पदध्वनि की प्रतीक्षा में घंटों बिता देते। लोगों के मनमें वह उत्कंठा तांडव कर रही थी, जो अपना स्पष्ट रूप प्रकट करना नहीं चाहती। लोग धड़कते हृदय से पत्र खोलते थे।

ऐसे ही वातावरण में एक दिन विनाश की बिजली कड़क उठी। सब स्वाहा हो गया। लोकमान्य, शरीर छोड़ कर न जाने किस अदृश्य में अन्तर्धान हो गये !

इस समाचार ने कितने ही लोगों को पागल कर दिया था। कितने रोये थे, उस दिन ! कितनों के घरों में चूल्हे नहीं जले। मानों वह राष्ट्र की जनता के शरीर में—प्राण में मिल गया था। उसे खोकर सब खोये-से हो रहे थे।

जब चारों ओर अंधकार था, लोग जानते न थे कि स्वराज्य क्या बला है, जब एक कट्टर देशभक्त सरकार के विरुद्ध कुछ कहते समय अपने चारों ओर देख लिया करता था कि कहीं कोई आदमी सुन तो नहीं रहा है, तब लोकमान्य ने राष्ट्र को कर्मयोग की दीक्षा दी थी, तब उन्होंने, विश्व के पंचमांश पर ज़बर्दस्ती आधिपत्य करने वाली सरकार की सारी शक्ति को चैलेंज करके कहा था—"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेंगे।" इस एक वाक्य में ही कितना आत्म-विश्वास, राष्ट्रीय आत्मा की कैसी पूर्ण अभिव्यक्ति है ! बंकिम के 'वंदेमातरम्' की भाँति ही इस वाक्य ने भी जनता के मन का सारा भय, सम्पूर्ण तिमिर छिन्न-भिन्न करने में बड़ा काम किया है।

उनका चौड़ा ललाट, गंभीर वाणी, उद्भट पाण्डित्य, विपत्तियों की आँधी में पर्वत के समान उनकी अटलता, राजनीतिज्ञता, सब अद्भुत थी। वह भारत जैसे गुलाम महादेश के नेता होने योग्य थे। उन्होंने न केवल हमारी राजनैतिक गुलामी पर आघात किया वरन् बौद्धिक गुलामी में भी बेचैनी उत्पन्न कर दी थी। उनके वेद-काल-निर्णय तथा 'आर्यों की आदिभूमि' संबन्धी खोजों के पूर्व, यूरोपीय विद्वान् भारतीयों के मस्तिष्क की श्रेष्ठता स्वीकार करने से इन्कार करते थे। उनकी इन खोजों ने भारतीय मस्तिष्क को जगत् के सामने बड़े गौरव-पूर्ण रूप में उपस्थित किया और आज, यद्यपि उनकी कई ऐतिहासिक धारणाओं का सफल खण्डन किया जा चुका है, उनकी असाधारण मेधा-शक्ति के सब क़ायल हैं।

लोकमान्य में अद्भुत कार्य-शक्ति थी। वह जब कोई काम उठाते तो उसमें अपने प्राणों की सारी विभूतियाँ लगा देते थे। आठ-आठ घंटे बिना हिले-डुले बराबर लेख लिखते उन्हें लोगों ने देखा है।

अंग्रेज़ों की कूटनीतिज्ञता को लोकमान्य खूब समझते थे। उनके मन में सरकार की रक्तशोषणी नीति पर घृणा, हृदय में जनता की दुर्दशा और गुलामी पर करुणा और छाती में इस गुलामी के विनाश में अपने को खपा देने का बल था। वह उन चंद लोगों में से थे, जो राजनीति के सब रहस्यों को समझने की शक्ति रखते हैं। भारत की स्वतंत्रता उनका आरम्भिक और अंतिम उद्देश्य था। इसके लिए वह सब कुछ भूल जाते थे। उन्होंने अपने लेखों और भाषणों द्वारा सरकार की काली करतूतों का ऐसा भंडाफोड़ किया, ऐसे नाकों चने चबवाये कि उसे बाध्य होकर साम्राज्यवाद के अन्तिम अस्त्र बल-प्रयोग से काम लेना पड़ा। वे कारागार में बंद कर दिये गये; पर स्वतन्त्रता का पक्षी, जंगल की मुक्त वायु का स्वाद कैसे भूल जाता? नज़रबन्दी और कारा-

बाद के इन दिनों को उन्होंने उन ग्रंथों के प्रणयन में लगाया, जो एक जीवित देश की प्रतिभा के द्योतक थे और जिन्होंने दुनिया की आँखें भारतीय ज्ञानान्वेषण और प्रतिभा की ओर आकर्षित कीं।

ऐसा महापुरुष, देश को स्वराज्य के गुरुमंत्र से दीक्षित करने वाला तपस्वी, जब एक दिन अपनी सारी लौकिक विभूति समेट कर, देखते-देखते महाशून्य में आँखों के ओझल हो गया, तो भारत का हृदय तड़प उठा। राष्ट्र के कलेजे में इस आकस्मिक अभाव ने एक ऐसी ठेस पहुँचाई कि सारा वातावरण क्षुब्ध हो गया। आज भी देश लोकमान्य के गन्तव्यस्थल पर पहुँचने के लिए तड़प रहा है!

× × ×

लोग कहते हैं कि 'महान् पुरुषों की मृत्यु भी महान् होती है।' यह भी प्रसिद्ध है कि प्रलय में ही सृष्टि, विनाश में ही निर्माण का बीजारोपण होता है। लोकमान्य गये किंतु जाते हुए भी भारत को सतत् जागरूक रखने की व्यवस्था कर गये। उनकी मृत्यु ने नये जीवन को जन्म दिया। उनकी चिताभस्म में राष्ट्रात्मा की जाग्रति का जो बीजारोपण हुआ था, वह आधुनिक विश्व के आदर्श तपस्वी गांधी के हाथों सिंचित होकर पौधे के रूप में परिणत हो चुका है। जिस दिन लोकमान्य की मृत्यु हुई उसी दिन भारत के राजनैतिक महाकाश में एक आध्यात्मिक प्रयोग का आरम्भ हुआ। एक महापुरुष का प्रयाण और दूसरे का आगमन! विश्व के इतिहास में यह एक अपूर्व घटना है।

* * *

आज राष्ट्रयज्ञ के उस होता, स्वतन्त्रता के उस उपासक की बर्षी है। आज उसकी याद कर कौन रोना न चाहेगा? किसके हृदय में इतना बल है कि वह राष्ट्र के हृदय में लोहे की कीलों से अंकित उस दिन की, जब चौपाटी के बालुकण एक महाज्वाला में जल उठे थे, याद करके आँसू सम्भाल सके?

पर रोने का समय कहाँ है? युद्ध में आत्मीय का महाप्रस्थान, रोने की नहीं, अट्टहास करने की चीज़ है, दिल को कुचलकर, आशाओं को पददलित कर, कलेजे पर पत्थर रखकर हँसते मुख से आगे बढ़ने की वस्तु है। लोकमान्य ने राष्ट्र को यही संदेश दिया था। उस दिन उनकी चिताभस्म से यही आवाज़ निकली थी। जब तक अभिलषित वस्तु न मिल जाये, जीवन का विश्राम और सुस्ताना कैसा?

क्या उस आवाज़ को राष्ट्र का हृदय आज सुनेगा?

'सुमन'

आख़िरी चेतावनी?

बम्बई के गवर्नर साहब को बम्बई-धारा सभा वाली अपनी आरम्भिक वक्तृता मामूली प्रथा का उल्लंघन करके बारडोली-प्रकरण के ही कारण देनी पड़ी है। अपने इस अन्तिम वर्ष में उन्हें एक अद्भुत समस्या का सामना करना पड़ा है; और खेद के साथ कहना पड़ता है कि उनकी समझौते की बातों ने उनके लिए जो थोड़ा-बहुत सहानुभूति का वातावरण तैयार किया था वह उनकी धमकियों ने नष्ट कर दिया। उनके कथन का सार यह है कि 'मैं बारडोली की लगान-वृद्धि की फिर से जाँच करने के लिए एक पूर्ण स्वतंत्र कमिटी बना देने को तैयार हूँ—पर पहले पुराना लगान अदा कर दिया जाय और बढ़ा हुआ लगान बतौर अमानत के जमा करा दिया जाय। यदि बारडोली वाले केवल न्याय चाहते हैं तो मैं तो निष्पक्ष कमिटी बिठाने को तैयार हूँ। यदि सवाल यह हो कि बारडोली में सरकार की हुकूमत चले या एक्के-दुक्के नागरिक की, तो मेरी सरकार, भारतीय सरकार और स्टेट सेक्रेटरी की सारी शक्ति सरकार की सत्ता की रक्षा में लगा दी जायगी और किसी बात की कसर न रक्खी जायगी। बारडोली का सत्याग्रह क़ानून को ताक में बिठा देने का आन्दोलन है। सरकार ने सूरत में जो पूर्वोक्त दो शर्तें पेश की हैं वे समझौते की आधार-स्वरूप नहीं बल्कि सरकार का निर्णय है और बारडोली के प्रतिनिधियो, यदि आज से १४ दिन में आप इस निर्णय का ठीक-ठीक जवाब न दोगे तो सरकार जो कुछ उचित समझेगी, कर गुज़रेगी।'

लाट साहब ने अपने भाषण में बारडोली की वर्तमान गम्भीर स्थिति का सारा दोष लोक-नेताओं पर मढ़ने की व्यर्थ चेष्टा की है, जो कि उनकी परम्परा के अनुकूल ही है, और अब एकाएक धारासभा के सदस्यों के सामने तमंचा तान दिया है कि 'लो, करो फ़ैसला! नहीं तो यह लो पस्साद!!'

इससे धारासभा के सदस्य बहुत बिगड़ उठे हैं, जो कि बिलकुल स्वाभाविक है। किसान बेचारे चिल्लाते चिल्लाते हार गये, जब किसी ने सुनवाई न की तब उन्होंने वल्लभभाई को न्यौता दिया और उन्होंने भी पहले सरकार से खानगी में लिखा-पढ़ी की। जब सरकार ने उन्हें उल्टा अपमानजनक पत्र भेजा, तब जा कर सत्याग्रह का शंख फूंका गया। फिर भी गवर्नर साहब 'उल्टा चोर कोतवाल को डाँटें' की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं, और बाद को बारडोली में ज़ब्ती के सिलसिले में क़ानून के अमलदरामद के नाम पर जो-जो जुल्म किये गये उन्हें लाट साहब बड़ी आसानी से पी ही गये। पर इन ऊपरी झगड़ों की बातों को छोड़ दें और समझौते की बातों पर विचार करें तो इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि लाट साहब चाहे जितना गर्जन-तर्जन करें, उन्होंने सत्याग्रहियों की सबसे बड़ी बात चुपके से मान ली है और वह है स्वतंत्र जाँच कमिटी बनाना। रह गई थी बढ़े हुए लगान को जमा कराने की बात सो, बम्बई में एक सर गंगाराम—श्रीयुत रामचन्द्र भट्ट, बारडोली के एक ज़मींदार—यह लगान जमा करा देने के लिए आगे बढ़े हैं। सत्याग्रहियों को, सुना है, इस पर कोई आपत्ति नहीं है, और होनी भी क्यों चाहिए? वे तो इस बात के लिए प्रतिज्ञा से बँधे हुए हैं कि वे स्वयं बढ़ा हुआ लगान तब तक न देंगे जब तक स्वतंत्र जाँच कमिटी कायम हो कर कोई फैसला न कर दे। यदि वे अपनी तरफ से किसी को जमा करने के लिए खड़ा करते तब तो और बात थी, और वे अपनी प्रतिज्ञा पर क़ायम रहते हुए ऐसा कर भी कैसे सकते थे? अब रही श्री वल्लभभाई की और शर्तें, जैसे सत्याग्रही कैदियों को छोड़ना, जिनकी ज़मीनें ज़ब्त हुई हैं उन्हें उनका वापिस मिलना, नीलाम किये गये मवेशियों का मुआवज़ा दिया जाना तथा इस्तीफ़ा देने वाले पटवारियों आदि को अपने स्थान पर फिर से नियुक्त करना, आदि। पर जब कि सरकार ने सबसे बड़ी बात—निष्पक्ष कमिटी की—मान ली है, और दूसरी बात—बढ़े हुए लगान का रास्ता भी खुल गया है, तब मैं नहीं समझता कि इन मामूली शर्तों को मान लेने में उसे कोई दिक़्क़त होनी चाहिए। यह तो उसके स्वार्थ की दृष्टि से भी अच्छी बात है। यदि वह चाहती हो कि किसान और तलाटी आदि के भाव सरकार के प्रति अच्छे हो जायँ तो उसे इन शर्तों का उत्साह के साथ स्वागत करना चाहिए।

गवर्नर साहब के इस भय का, कि बारडोली का आंदोलन 'क़ानून को ताक़ पर रख देने का आंदोलन है', जवाब तो कई बार साफ़ शब्दों में दिया जा चुका है कि बारडोलीवाले महज़ अपने लगान-वृद्धि-संबन्धी अन्याय के लिए लड़ रहे हैं, यह कोई स्वराज्य के असहयोग या सविनय अवज्ञा का युद्ध नहीं है—हाँ, इससे अप्रत्यक्ष रूप में उसे लाभ अवश्य पहुँचेगा और इसमें उन्हीं शांतिमय साधनों से काम लिया गया है, जिनसे स्वराज्य के असहयोग आंदोलन में लिया गया था और फिर लिया जा सकता है। फिर भी कितने दुःख की बात है कि ऐसे शांतिपूर्ण लोगों का संयम-युक्त आंदोलन ठण्डे दिल से क़ानून को विध्वंस करने वाला आंदोलन बताया जाय। बारडोली वाले अन्य तमाम क़ानूनों और सरकारी हुक्मों का पालन नम्रता और धीरज के साथ कर रहे हैं, सिर्फ बढ़े हुए लगान को न देने की प्रतिज्ञा उन्होंने की है—पुराने लगान को तो देने के लिए श्री वल्लभभाई ने रज़ामन्दी ज़ाहिर कर ही दी है। अस्तु।

ऐसी अवस्था में बंबई के लाट साहब की इस गर्जना का मूल्य कोरे गाल बजाने से बढ़कर नहीं है। हाँ, इसमें यह आशय हो सकता है कि कहीं लोग यह न समझ लें कि सरकार दब गई, झुक गई! पर असलियत कहीं शब्दाडंबर से छिप सकती है? और इसमें शर्म की बात कौनसी है? अन्याय का परिमार्जन करना तो शर्म की नहीं शोभा की बात है। अतएव मुझे तो इस गर्जन-तर्जन में कोई सार दिखाई नहीं देता। अब तक की परिस्थिति तो समझौते के अनुकूल ही बन रही है—आगे जो ईश्वर को मंजूर हो।

पुनश्च—श्री वल्लभभाई पटेल ने एक महत्वपूर्ण बात की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया है। गवर्नर साहब ने जिस पूर्ण निष्पक्ष कमिटी की बात कही है वह वही है जिसकी रूप-रेखा उन्होंने सूरत के प्रस्तावों में बताई है। वह तो एक ऐसी कमिटी है जिसके प्रधान रेविन्यू आफीसर होंगे और उनकी सहायता कोई न्याय-विभाग के अधिकारी करेंगे। वे ख़ास-ख़ास बातों की जाँच कर लेंगे। श्री वल्लभ-

भाई को इस कमिटी से कैसे सन्तोष हो सकता है ? उन्होंने तो पूर्ण निष्पक्ष कमिटी की माँग की है, जो क़ानून-लगान के सिद्धांत की चाहे जाँच न करे, पर उन सिद्धांतों के अमलदरामद में हुई भूलों की जाँच अवश्य करे और उसके सदस्य ऐसे सज्जन हों जिन पर बारडोली वालों का विश्वास हो—फिर चाहे वे सरकारी हों, चाहे ग़ैर-सरकारी। यदि गवर्नर साहब की पूर्ण निष्पक्ष कमिटी का यही रूप है—तब तो कहना होगा कि 'पूर्ण निष्पक्ष' शब्द धोखा मात्र है और समझौते का रास्ता उतना सुगम नहीं हुआ है, जितना कि ऊपर बताया गया है। नये समाचारों से यह भी मालूम होता है कि बम्बई धारासभा में जो सूरत जिले के प्रतिनिधि हैं वे समझौते की नई शर्तें बना रहे हैं।

इन्दोर कहां जा रहा है ?

पाठकों को जान कर दुःख होगा कि इन्दौर-दरबार ने 'कर्मवीर' के साथ ही, खण्डवे से हाल ही में प्रकाशित 'मालव-बन्धु' का भी अपने राज्य में आना रोक दिया है, जिसके फल-स्वरूप 'मालव-बन्धु' का तो जीवन ही समाप्त हो गया है। 'मालव-बन्धु' मालवे का, कड़ी आलोचना करने वाला प्रथम ही पत्र था और उसके इतने शीघ्र अन्त को देख कर मुझ जैसे 'मालवी' को हार्दिक व्यथा पहुँची है। इसका कारण यह नहीं है कि 'मालव-बन्धु' की सभी बातें निर्दोष और समर्थनीय होती थीं, बल्कि यह कि वह मालवे का था। अब मैंने उसके कितने ही अंक देख लिये हैं, उनकी आलोचनाओं की भाषा शिष्टता की दृष्टि से कहीं कहीं आपत्ति-जनक पाई जाती है; पर जब तक यह साबित नहीं हो जाता कि उसकी बातें असत्य हैं तब तक वह किसी उदार और प्रगतिशील राज्य में प्रवेश-निषेध का पात्र न समझा जाना चाहिए था। और तब तक मेरी सहानुभूति निस्सन्देह 'मालव-बन्धु' और 'कर्मवीर' की ओर रहेगी।

इसके बाद एक और समाचार मिला है, जिस पर तो मेरी अक्ल हैरान हो रही है और एक मित्र ने ठीक लिखा है कि "आप जैसी ठण्डी प्रकृति के स्वाभिमानी व्यक्ति भी ऐसी निरंकुशता पर लानत भेजेंगे।" इन्दौर के लीगल रिमेम्ब्रन्सर साहब ने प्रकाशित किया है कि "अगर कर्मवीर-सम्पादक इन्दौर रियासत में किसी के पास अखबार भेजेंगे तो वे 'हुलकरी' में पाये जाने पर गिरफ्तार किये जायँगे।" इस घोषणा के तो एक-एक अक्षर में बदले की कुत्सित भावना भरी हुई है, जिसे देख कर सचमुच इन्दौर के इन क़ानून-पण्डित की मनोवृत्ति पर आश्चर्य और दुःख होता है और मन में प्रश्न उठता है कि इन्दौर आखिर कहाँ जा रहा है ? ऐसी द्वेष-पूर्ण घोषणा तो ब्रिटिश इलाके में भी सहसा नहीं निकलती है।

मेरी पहली टिप्पणी को पढ़ कर एक जिम्मेवार और सज्जन मित्र ने शासकवर्ग का पक्ष भी मेरे सामने उपस्थित करने की कृपा की है। उनका कहना है—

(१) 'कर्मवीर' में छपी इन्दौर की चिट्ठियों में गन्दे आक्रमण हुए हैं, झूठी निन्दा और बदनामी की गई है। उनमें लगाये गये इल्ज़ाम घृणास्पद और की गई टिप्पणियाँ अनुचित और अन्यायपूर्ण हैं। उनके होते हुए किसी भी सरकार के लिए काम करना असंभव है।

(२) इन्दौर के वर्त्तमान मंत्रि-मंडल ने कुछ काम तो ज़रूर ऐसे अच्छे किये हैं जिन्हें उसके कड़े और प्रतिकूल आलोचक भी स्वीकार करते हैं। कम से कम उनका तो उल्लेख अच्छे शब्दों में 'कर्मवीर' में होना चाहिए था।

उन्होंने मुझे इस बात का भी उलाहना दिया है कि मैंने बिना 'कर्मवीर' के उन अंकों को देखे ही अपनी टिप्पणी लिखी है। अदालत में अपना मामला रख देने की मेरी बात के औचित्य को स्वीकार करते हुए वे इस बात की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते हैं कि वर्त्तमान क़ानून के अनुसार खण्डवे की अदालत में राज्य को अपना दावा पेश करना पड़ता और बहैसियत रियासत के वह ब्रिटिश गवर्नमेंट की किसी अदालत में एक फरीक के तौर पर उपस्थित नहीं रह सकता। ऐसी दशा में वे यह सूचित करते हैं 'कर्मवीर' को इन्दौर राज्य की अदालत में अपनी सफाई देने का पूरा मौक़ा दिलाया जाय तो कैसा ?

मुझे खेद है कि इस टिप्पणी के लिखने तक मैं 'कर्मवीर' के २७ अप्रैल, १९ मई, २ से २३ जून तक के अंकों को ही देख सका। उनमें इन्दौर के भिन्न-भिन्न अधिकारियों के, खास कर श्री बापना साहब और उनके मंत्रिमण्डल के कार्यों की

चर्चा और आलोचना की गई है। जहाँ तक उन बातों की सचाई और वस्तुस्थिति से संबन्ध है, मैं तब तक अपनी राय कैसे दे सकता हूँ जब तक कि दोनों पक्षों की बातें सामने न आ जाँय। पर यदि वे सब सत्य हैं और ज्यों की त्यों वर्णित की गई हैं तो भयंकर हैं। जहाँ तक आलोचना की भाषा और ध्वनि से संबन्ध है, मेरा ख़याल होता है कि वे अधिक शिष्ट, सुरुचिपूर्ण भाषा में और भी शालीनता के साथ लिखी जा सकती थीं। चिट्ठियों की ध्वनि से ऐसा भी शक होने लगता है कि लेखक एक तरफ़ा क्यों लिख रहा है। पर ये चिट्ठियाँ तो संवाददाताओं की हैं, संपादकों की टिप्पणियाँ नहीं हैं। जहाँ तक नीयत से संबन्ध है मेरे दिल पर यह छाप नहीं पड़ी कि वे महज़ श्रीबापना साहब अथवा उनके मन्त्रि-मण्डल को लोगों की दृष्टि में गिराने की नीयत से लिखी गई हैं; क्योंकि इसी तरह की कड़ी और चुभती हुई भाषा में उज्जैन के समाचार भी मैंने पढ़े हैं। मैंने जहाँ तक 'कर्मवीर' को समझा है, वह एक निस्पृह निर्भीक और कड़ा आलोचक है। न वह ब्रिटिश सरकार को छोड़ता है, न हिन्दुस्तानी मंत्रियों की रिआयत करता है, न देशी राज्य के अधिकारियों का मुलाहिज़ा रखता है। यह ठीक है कि कड़वी बातें सदा सबको सहन नहीं होतीं—अधिकारियों की मनोवृत्ति तो और भी उनको कम सहन करती है—फिर भी यदि इस वृत्ति से किसी के साथ अन्याय होता हो तो न्याय के लिए अदालतें खुली ही हुई हैं। हाँ, यदि 'कर्मवीर' में छपी बातें बिलकुल असत्य हों तो 'कर्मवीर' कम से कम मेरी दृष्टि में पूरा दोषी हो जाता है—फिर भी 'कर्मवीर' में अब तक इन्दौर दरबार की ओर से प्रतिवाद नहीं भेजे गये, इस दोष से इन्दौर-दरबार नहीं बच सकता।

हाँ, मित्र की दूसरी बात में अधिक बल है। और मैं समझता हूँ कि यदि 'कर्मवीर' के सुयोग्य संपादकों का ध्यान अब तक इस तरफ न गया हो तो अब अवश्य चला जायगा।

इन्दौर की अदालत में मामला चलवाने की बात के उत्तर में तो 'कर्मवीर' की तरफ से यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत रूप से इन्दौर के राज्याधिकारी मानहानि की नालिश खण्डवा की अदालत में क्यों न करें?

अन्त में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि 'कर्मवीर' और 'मालव-बन्धु का थोड़ा दोष मान भी लिया जाय तो भी इन्दौर दरबार ने आपे से बाहर होकर एकाएक उन पर जो भारी प्रहार किये हैं उनके आगे वह छिप जाता है और इन्दौर दरबार के किये कुछ अच्छे कामों को याद रखते हुए भी अन्त तक 'कर्मवीर' और 'मालव-बन्धु' के साथ सहानुभूति बनी रहती है।

अपूर्व और अनुकरणीय

श्रद्धेय श्री जमनालालजी बजाज भारत के उन कर्मवीरों में हैं जो कहते कम हैं करते ज़्यादा हैं, जो कहते हैं वही करते हैं और करने को तैयार रहते हैं। मैं ज्यों-ज्यों उनके निकट सम्पर्क में आता जाता हूँ त्यों-त्यों उनके संबंध में महात्माजी का यह कथन बड़ा ही अध्ययन-पूर्ण मालूम होता जाता है—'जिन्होंने सेवा-धर्म का स्वीकार किया है उनको जमनालालजी के जीवन में बहुत बातें अनुकरणीय प्रतीत होंगी।' श्रीमान् जमनालालजी के अथक प्रयत्न से हाल ही में उनके वर्धास्थित श्री लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के ट्रस्टियों ने एक प्रस्ताव द्वारा मन्दिर अछूतों के लिए खोल दिया है; जिसके समारोह का रोचक और ज्ञान-प्रद वर्णन और आचार्य विनोबा का सुन्दर प्रवचन एक मित्र ने भेजने की कृपा की है, जिसे स्थानाभाव से, अगले अंक में, प्रकाशित करने की चेष्टा की जायगी। जहाँ तक मुझे पता है अस्पृश्यता-निवारण के सिलसिले में यह पहला ही उद्योग सेठ साहब की तरफ से हुआ है। सत्ताहीन और पराधीन भारत में, फिर हिन्दू जैसी अनेक अन्ध-विश्वासों से पूर्ण शिथिल जाति में सामाजिक और धार्मिक सुधार करना कितना कष्टकर और कठिन है, इसका ज़रा भी ज्ञान जिन्हें है वे जमनालालजी को इस सत्साहस के लिए भूरि-भूरि धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते। आचार्य विनोबा के शब्दों में जमनालालजी ने 'माता को अपनी बिछुड़ी हुई सन्तान से मिला देने का पुण्य प्राप्त किया है।' ऐसे प्रकृत सुधारक हिन्दू-समाज के गर्व और गौरव हैं। परमात्मा इन्हें चिरंजीव करें और इनके आदर्श से हम जैसे हजारों जीव अनुप्राणित हों।

'विशाल भारत' का कार्य-क्षेत्र

त्यागभूमि के एक पिछले अंश में 'विशाल भारत' का स्वागत किया गया है। उसमें उसके 'कार्यक्षेत्र' के संबंध में मैंने अपने अनुमानों का भी ज़िक्र किया है। उसके संबंध में भाई बनारसीदासजी लिखते हैं—

"विशाल भारत" के उद्देशों का जिक्र प्रथम अंक में कर दिया गया है और उन्हीं को लक्ष्य में रख कर 'विशाल भारत' की सेवा कर रहा हूँ। 'एशियाई संघ' की बात को मैं too much ambitious समझता हूँ। मेरे लिए २१ लाख आदमियों का 'विशाल भारत' ही बहुत काफ़ी बड़ा है; बल्कि एक उपनिवेश ही पर्याप्त से भी अधिक है। पर यदि मेरी इच्छानुसार केवल प्रवासी भाइयों का पत्र 'विशाल भारत' को बना दिया जाय तो इसमें बहुत कठिनाइयाँ होंगी। इसी कारण अन्य विषय भी रक्खे गये हैं। यदि आप प्रथम अंक में वर्णित उद्देशों से और मेरे लेखों के चुनाव से मिलान करेंगे तो आपको ज्ञात हो जायगा कि 'विशाल भारत' का एक क्षेत्र है, यद्यपि वह बहुत विस्तृत है और मेरी दृष्टि और ज्ञान की सीमा बहुत संकुचित।"

'विशाल भारत' के प्रथमांक में वर्णित नीति संक्षेप में इस प्रकार है—(१) जातीय विद्वेष को न बढ़ने देना (२) विभिन्न प्रांतों के साहित्य, संगीत, कला, शिक्षा, विज्ञान संबंधी उद्योगों को हिंदी जनता के सम्मुख लाना (३) जावा, सुमात्रा आदि प्राचीन और फिजी, मारिशस आदि आधुनिक विशाल-भारत के सम्बन्ध में ज्ञान फैलाने और उनके साथ मातृभूमि के सम्बन्ध को दृढ़ करने का प्रयत्न करना (४) ग्राम-निवासियों के हित के लिए उद्योग करना (५) साहित्य-सेवियों और कवियों की स्मृति-रक्षा के लिए काम करना (६) भारतीय युवक आन्दोलन का समर्थन करना और माताओं, बहनों तथा मातृभूमि के छोटे से छोटे सेवकों की सेवा और सम्मान करना।

आशा है, इस विवरण से पाठकों को 'विशाल भारत' के कार्य क्षेत्र की सही और निश्चित दिशा मालूम हो जायगी। भाई बनारसीदासजी ने इस बात की ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

मीरा बहन का लेख

पिछले अंश में पू० मगनलालजी भाई पर श्रीमती मीरा बहन का एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है। वह सत्याग्रहाश्रम साबरमती के विद्यार्थियों के हस्तलिखित मासिक पत्र 'मधपुडा' के लिए लिखा गया था और आश्रम से एक आदरणीय मित्र के द्वारा हमें प्राप्त हुआ था। श्रीमती मीरा बहन आश्रम में अपने आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में अपना समय लगाया करती हैं और सार्वजनिक पत्रों में नहीं लिखा करती हैं। अपने पत्र में वे लिखती हैं कि यह लेख आश्रम की सीमा तक परिमित रहने के लिए था। कल ही एक संपादक को मैंने इन्कार लिखा है और आज अब, यह लेख छपा हुआ देख कर, मुझे उनके सामने स्पष्टीकरण करना पड़ेगा। ऐसी दशा में इस घटना से मीरा बहन को कष्ट होना और दुःख पहुँचना स्वाभाविक है। उनके कष्ट को देख कर मुझे भी खेद हो रहा है। पर, आशा है, कि अब इस टिप्पणी को पढ़ कर हमारे संपादक बन्धु उन्हें लेखों के लिए पत्रादि लिखने का विचार छोड़ देंगे और उनकी शांति में किसी प्रकार का विघ्न न डालने की कृपा करेंगे।

स्पष्टीकरण

'त्यागभूमि' खण्ड २ अंश १ के 'स्वगत' नामक स्तम्भ में एक स्वगत इस प्रकार है

"जिसे समय पर खाना खाने की सुध रहती है, जो कभी बीमार नहीं पड़ता, जिसका वजन घटता नहीं रहता, जिसे दूध फल खाने को पैसे मिल जाते हैं, जो साफ़-सुथरे कपड़े तरतीब से पहनता है, जिसे हास्यविनोद के लिए समय मिल जाता है, वह कैसा देश भक्त ? जिसे रात-दिन देश की सच्ची चिन्ता रहती है, उसे भला इन बातों के लिए होश कैसे रह सकता है !!"

थोड़ा ही सूक्ष्म विचार करने से मालूम हो जायगा कि देशभक्त की यह व्याख्या वास्तव में एक मज़ाक है। सच पूछिए तो इसमें उन अव्यवस्थित-चित्त देशभक्तों पर व्यङ्ग्य किया गया है, जो न समय पर ढँग से खाना खाते हैं, न तरकीब से कपड़े पहनते हैं, और जो अव्यवस्थितता, अनियमितता

और स्वच्छंदता ही को देशभक्ति का लक्षण मान बैठे हैं। परन्तु कई मित्रों ने इस विनोद को गम्भीर भाव में ग्रहण करके मुझे उलहना दिया है कि मैंने यह क्या देशभक्त की व्याख्या किया मारी है। मैंने तो यह समझा था कि गंभीर उद्गारों के बीच में इस व्यङ्ग्य का स्वाद पाठकों को खूब आवेगा; और वाक्य के अन्त में आश्चर्य-सूचक चिन्ह भी मैंने इसी उद्देश से दिया था कि पाठक इसे ग़ौर से पढ़ें और इसके सूक्ष्म विनोद को समझें। पर मुझे दुःख है कि कई मित्रों ने इसका भाव कुछ का कुछ समझ लिया है। आशा है, इस स्पष्टी-करण से उनको सन्तोष होगा तथा दूसरे पाठक ग़लतफ़हमी से बच जायँगे।

इ० उ०

नेता

भला इस जंगली युवक को कौन नेता कहेगा?

स्वराज्य आन्दोलन के सूट-बूट धारी मध्ययुगीन नेता के लक्षणों को अगर छोड़ दें तो गांधीयुग के आधुनिक नेता के भी तो कोई चिन्ह इसमें नहीं दिखाई देते? कहाँ है खद्दर का विशुभ्र कुरता, और अंगरेज़ी काट के बाल वाले सिर पर नोकदार गाँधी टोपी? वह लम्बी धोती, सोने की चमकीली रिस्टवॉच और जेब में रोल्ड-गोल्ड की क्लिपदार फाउण्टनपेन? हाँ, नेतागिरी के अगर कोई चिन्ह इसमें है तो सिर्फ़ तीन। मस्तक पर फहराने वाला वह चक्रधर तिरंगा झण्डा, पैर में ढीली-ढीली चट्टी और अपरिपक्व बुद्धि वाला अकेला एक अनुयायी। इनमें से झण्डे की बात तो नगण्य है। क्योंकि झण्डा-सत्याग्रह की विजय के दिन से हमने सार्वजनिक जीवन से उसे विदा दे रक्खी है। हाँ, साल भर में सिर्फ़ एक बार दो-चार दिन तक महासभा के अवसर पर, भारत की अनार्य जातियों के आराध्य देव नाग देवता की भाँति, हम उसकी पूजा ज़रूर करते हैं। अब बताइए, यह नेता कैसा? फिर इसके हाथ में तो एक कुल्हाड़ी है, सिर पर जटा है, ऊँची धोती है, मुँह पर मूँछ की रेखा तक नहीं और वक्षस्थल पर एक घाव है।

संक्षेप में नेता की यह कल्पना बड़ी अटपटी है। पर मुझे तो मालूम होता है जब हम भारत में इस तरह के नेता देखेंगे वह दिन हमारे लिए धन्य होगा। इस चित्र में कल्पना और वास्तविकता का समन्वय हुआ है। नेता का आवश्यक लक्षण सूटबूट, गांधी टोपी, रिस्टवॉच इत्यादि नहीं है। नेता का प्राण है उसका साहस, दृढ़ता, तपस्या और आशावादिता। अपने दाहिने हाथ में प्रयत्नवाद की तेज कुल्हाड़ी लेकर वह लोक-सेवा की दुर्गम पहाड़ियों पर मार्ग बनाने के लिए अकेला निकल पड़ा है। वक्षस्थल में कटु अनुभवों का घाव ताज़ा है, उसमें से खून बहता है फिर भी उसकी कर्तव्यनिष्ठा इतनी दुर्बल नहीं कि उसे बिस्तर पर लिटा दे। इस दृढ़ता, साहस और तेज को देख कर यदि प्रत्यक्ष काल भी कला काट कर उसे मार्ग दे दे तो कौन आश्चर्य की बात है? उसका जटाजुकुट और सीधा-सादी वेश-भूषा उसकी तपस्या के प्रतीक हैं। वह निश्चल दृष्टि और दीर्घ नासिका उसके दृढ़ निश्चय के लक्षण हैं। उसे घूम कर यह देखने की परवाह नहीं कि मैं अकेला हूँ या अनुयायियों का कोई झुण्ड भी

पीछे पीछे चल रहा है। और ऐसे दुर्गम स्थान पर कोई झुण्ड के झुण्ड अनुयायियों की आशा कैसे कर सकता है? मार्ग बनाने वाले तो इने-गिने ही होते हैं। हाँ, मार्ग के बन जाने पर अवश्य ही सैकड़ों बल्कि हज़ारों और लाखों लोग जयनाद करते हुए उस रास्ते चल पड़ते हैं।

सायंकाल की अरुणिमा पश्चिमाकाश को कुंकुमित कर रही है। सारा वन प्रदेश उस क्षण-स्थाई अरुणिमा में नहा रहा है। सामने कठिन, विषम, दुर्गम, कँटीला और गहन पर्वतीय प्रदेश है और है काली कलूटी रात। न जाने यह वीर किस समय से चला है पर अब भी उसके पदक्रम में वही निश्चय और उत्साह है। यह है उसकी आशावादिता। क्या वह दिन हमारे लिए धन्य नहीं होगा जब नेतृत्व के पथिक शहरों में व्यक्तिगत महत्व प्राप्ति की आकांक्षाओं को छोड़ कर प्रयत्नवाद की कुल्हाड़ी ले कर देश-सेवा के गहन-वन में नवीन मार्ग बनाने के लिए निकल पड़ेंगे और महासभा के वार्षिक अधिवेशन के समय साल भर में केवल एक बार नहीं बल्कि जहाँ कहीं हम भूले-भटके निकल जावेंगे, गाँव में या जंगल में, हमें नवीन भारत का वही चक्रधर तिरंगा झण्डा फहराता हुआ दिखाई देगा और दिखाई देगा—उसके पीछे काम करने वाले दृढ़व्रत तपस्वी सेवकों का झुण्ड जिन्होंने अपने आपको अपने अंगीकृत कार्य के पीछे भुला दिया है? धन्य होगा वह दिन जब भारत के नेता शहरों में नहीं भारत के प्रत्येक गाँव में पैदा होंगे।

बन्सीवाला

बन्सीवाले का नाम सुनते ही हमारी आँखों के सामने गोपबालक मनमोहन कृष्ण की मूर्ति खड़ी हो जाती है। पर आज चित्रकार ने हमारे सामने यह किसे लाकर खड़ा कर दिया है? यहां न तो वह सांवली सलोनी मूर्ति है और न वह पीताम्बर। न कहीं मोर-मुकुट है, और न दूर दूर तक ग्वाल-बालों का कहीं पता है। यहां तो खड़ा है इस वृक्ष के सहारे भोली-भाली आँखों वाला एक युवक और उसके पीछे दो रूखी पहाड़ियां।

अरे यह तो हमारे जीवन की यथार्थ भूमिका है। हमारे कृत्रिम जीवन ने हमारी आखों को हर जगह भव्य दृश्य ढूंढने का आदी बना दिया है। अकिंचनता हमारे लिए कोई आकर्षण नहीं रखती। उसे हम दुःख की स्थूल मूर्ति समझते हैं। पर यदि सचमुच ऐसा ही होता तो इस संसार की कितनी बुरी अवस्था होती? अपने चारों तरफ हम दुःख का खौलता हुआ सागर पाते। और उसमें विचरने वाले भीषण जल जन्तुओं के भयंकर विषैले फूत्कारों से हम जल जाते। पर धन्यवाद है उस परमपिता को जिसने हमारे अन्दर अपनी अमर कला की एक ज्योति जगादी है जो अन्धेरे में उजाला कर के मनुष्य को सान्त्वना-मय बना देती है। यह उसी की कृपा है कि आजीवन कैद की सजा पाने वाला एक कैदी भी अपनी सख्त मजदूरी के दंड को भुगतते हुए किसी मनोहर गीत की तानें गुन-गुना सकता है, एक पुत्रशोक-दग्धा माता या पिता अपने दुःख को भूल कर बालकों की निर्दोष क्रीड़ा में लवलीन हो जाता है, एक निर्धन मजूर भी जिसे यह पता तक नहीं कि कल मैं क्या खाऊँगा अपने आपको भूलकर अलगोजा बजाते हुए निश्चिन्त भाव से बादशाह की तरह क्षणभर खड़ा रह सकता है और अपने अलगोजे की मस्त और संक्रामक प्रसन्नतामय तानों से वनप्रांत को गुँजा सकता है।

सचमुच हमारे अंदर एक आध्यात्मिक "रेडियो" है जो हमारे जीवन के भग्नकणों की मरम्मत करके उनमें नित्य नवीन प्राण उत्पन्न करता रहता है। अगर ऐसा न होता तो क्या यह क्षणभंगुर मानवमूर्ति शैतान की दुःख शोकमय चिता की लपेटों से कभी की टूटकर मिट्टी में नहीं मिल गई होती?

हे मानवता! अपने इस अमर ख़ज़ाने की रक्षा कर।

यह सुन्दर चित्र हमें राजामुन्द्री की प्रसिद्ध 'रामराव आर्ट गैलरी' से प्राप्त हुआ है।

वै० महोदय

विषय-सूची

लेखक लोग ध्यान से पढ़ें।

पांच-पांच सौ रुपयों के दो पुरस्कार

१—महाराणा प्रताप का जीवनचरित्र *२—ग्राम-संगठन*

पहला पुरस्कार उन सज्जन को दिया जायगा जो हमारे पास महाराणा प्रताप का खोजपूर्ण, स्फूर्तिजनक, और प्रामाण्य जीवनचरित्र लिखकर भेजेंगे। पुरस्कार उसी निबन्ध पर दिया जायगा, जो हमारे पास आने वाले निबन्धों में ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ होगा।

दूसरा पुरस्कार उन सज्जन को दिया जायगा, जो "भारत में ग्राम-संगठन" पर सर्वोत्कृष्ट निबन्ध लिख कर भेजेंगे। भारत की प्राचीन ग्राम-संगठन की प्रथा एवं संसार के भिन्न-भिन्न देशों में प्रचलित ग्राम-संगठन की रीतियों का अध्ययन करके ऐसी विधि को जनता के सामने रखना, जो भारत की वर्तमान अवस्था को देखते हुए सब से अधिक लाभदायक हो। वह भारत का ही हो या किसी अन्य देश का हो या अनेकों विधियों का समन्वय हो। ग्राम-संस्था के भिन्न-भिन्न अंगों एवं ग्रामों के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी विचार होना ज़रूरी है। प्रत्येक निबन्ध की पृष्ठ-संख्या ४०० हो।

निबन्धों के परीक्षकों के नाम बाद में सूचित किये जावेंगे। निबन्ध इस वर्ष के अन्त तक मण्डल में इस पते पर पहुँच जाने चाहिये—

सम्पादक—सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

सेवा-धर्म

[चित्रकार— श्री देवलालीकर   जगरत्न मन्दिर इन्दौर के सौजन्य से]
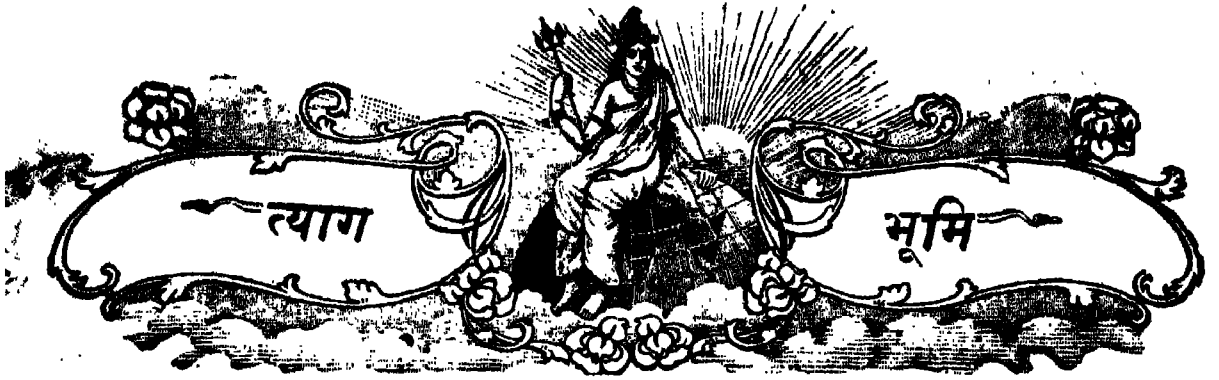
Modern Art Press, Delhi

(जीवन, जागृति, बल और बलिदान की पत्रिका)

आत्म-समर्पण होत जहँ, जहँ विशुभ्र बलिदान
मर मिटवे की साध जहँ, तहँ हैं श्री भगवान ॥'

वर्ष १ | सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर। | अंक ६
खण्ड २ | भाद्रपद संवत् १९८५ | पूर्ण अंक १२

अन्तिम टेर

पड़ी है यह नौका मँझधार।

तरल तरंगों पर उठ-उठ कर गिरती बारम्बार।
खेते-खेते हार गया मैं फेंक दिया पतवार॥

किसे बुलाऊँ, किसे पुकारूँ कौन लगाये पार।
अन्दर बाहर मचा हुआ है निष्ठुर हाहाकार॥

जीवन-मरण हुआ है देखो कैसा एकाकार।
तारनहार कहीं हो कोई तो अब आकर तार॥

क्षेमानन्द 'राहत'

हमारा अन्नदाता

किसान हमारा अन्नदाता है, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। और कम से कम भारत में हम इस बात को भी प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि आज बहुसंख्यक होते हुए भी सब से अधिक दीन-हीन, दुखी, पंगु और दबे हुए यदि कोई हैं तो वे हैं हमारे ये अन्नदाता ही। इसका कारण क्या है? उनकी अविद्या, अपने अधिकारों, अपनी आवश्यकताओं, अपनी असुविधाओं और अपनी परिस्थिति का अज्ञान और तिस पर भी यह बेबसी कि मुँह खोल कर चूँ-तक न कर सकें। भारत में पिछले आर्यों के और हिन्दुओं के ज़माने में तो राजा-प्रजा पिता-पुत्र के आदर्श को मानते थे; राजा लोग स्वयं चाहे आपस में लड़ते रहे हों और भोग विलास में भी कोई कोई अपने ऐश्वर्य को स्वाहा कर देते हों पर आज की तरह प्रजा को—किसानों को लूटने और बेबस बनाये रखने की नीति प्रचलित करने का पाप उन्होंने नहीं किया था। मुसलमानों के समय में धर्म की वृद्धि के लिए चाहे जुल्म-ज़्यादती हुई हो; पर केवल लूटने और चूसने की आसुरी नीति के शिकार ये किसान उस समय भी न हुए थे। हिन्दुस्तान में तो अँगरेज़ों के ज़माने में किसानों की जो तबाही और बरबादी हो रही है, वह इतिहास में कहीं न हुई होगी। रूस में ज़ारशाही का नामोनिशान मिटकर आज जो किसानों का राज्य कायम हो गया है, उसका कारण ज़ार की लूट और ज़ोरो-जुल्म की नीति ही है। भारत की किसान-जनता की भी अन्तरात्मा त्राहि त्राहि कर रही है और मुझे वह दिन दूर नहीं दिखाई देता, जब किसान इस लूट-नीति के ख़िलाफ़ बग़ावत का झण्डा लेकर उठ खड़े हों।

पिछले दिनों संयुक्त प्रान्त में किसानों के आन्दोलन बराबर होते रहे हैं। चंपारन में भी निलहे गोरों के ख़िलाफ़ किसानों ने आन्दोलन किया था और महात्माजी के नेतृत्व में उनके कष्ट दूर हुए। खेड़ा, बोरसद, और हाल ही बारडोली में भी किसानों को सत्याग्रह करना पड़ा और अन्त में सरकार को अपनी हार माननी पड़ी। बारडोली की विजय ने तो एक तरह से मौजूदा सरकार की जड़ को ही हिला दिया है। उसने इस बात पर अच्छी और गहरी रोशनी डाल दी है कि एक तो सरकार किस तरह हर बन्दोबस्त में लगान बढ़ाती ही चली जाती है और दूसरे उसकी मदान्धता किसानों की न्याय-युक्त और उचित बात को सुनने के लिए भी सहसा तैयार नहीं होती। जब से महात्मा गांधी भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में उतरे हैं तभी से उन्होंने किसानों के दुःखों की ओर ध्यान दिया है और कांग्रेस का भी ध्यान ग्राम-संगठन की ओर बहुत-कुछ खींचा है। चरखा-संघ, यदि किसी समाज की सेवा के लिए, स्थापित हुआ है तो वह है हमारा यह अन्नदाता-समाज ही। बारडोली की विजय के बाद तो अपनी सारी शक्ति किसान-संगठन में ही लगा देनी चाहिए और लगान-नीति के प्रश्न को हाथ में लेकर स्वराज्य की लड़ाई में आगे कदम बढ़ाना चाहिए।

ख़ैर; यह तो कांग्रेस के नेताओं के सोचने और करने की बात है—इस लेख में तो हमें इस बात पर विचार करना है कि किसानों के दुःख क्या हैं और वे कैसे दूर हो सकते हैं। उनके दुःखों को हम इतने भागों में बाँट सकते हैं—(१) राजनीति (२) कृषि (३) शिक्षा (४) और स्वास्थ्य-संबंधी। सामाजिक और आर्थिक दुःखों का समावेश इन्हीं में हो जाता है।

राजनैतिक दुःख—सब से बड़ा और गहरा है। आज देश के राजकाज में उनकी न तो कोई आवाज़ है, न उन्हें कुछ सत्ता है। प्राचीन समय में हर गाँव प्रायः स्वतंत्र था—लगान दे देने के अलावा गाँव के सारे शासन-प्रबंध की ज़िम्मेदारी गाँव वालों पर ही थी। अब तो एक मामूली पुलिस का सिपाही भी सारे गाँव वालों के लिए सम्राट से बढ़कर हो जाता है। आज तो किसान हम लोगों के लिए अन्न पैदा करने की मशीन रह गया है। जहाँ ज़मींदारी-पद्धति है वहाँ वे ज़मींदारों के गुलाम हैं और जहाँ रैयतवारी है, वहाँ पटवारी और तहसीलदार उनके प्रभु हैं। जो जाता है, उन्हें लूटने और चूसने की नीयत रखता है। लगान के अलावा कई तरह के अबवाब ऐसे लगे रहते हैं कि किसान की सारी उपज औरों के घर चली जाती है—भूखी उनको

नसीब होती है। ज़मीन का मालिक यदि वह है भी तो नाम-मात्र का। बहु-संख्यक और अन्नदाता होते हुए भी राज-दरबार में न उनकी पूछ होती है, न आदर। जूतियों के पास खड़े रहते हैं, हाथ जोड़े मारे मारे यहाँ से वहाँ भटकते फिरते हैं। उनकी यह ज़िल्लत देखकर किसके मन में बग़ावत के भाव न पैदा होते होंगे? मेरी राय में किसानों की राजनैतिक स्थिति सुधारने के लिए इतनी बातें होनी चाहिए—

(१) यह क़रार दिया जाय कि जमीन का मालिक किसान है और सरकार को जो वह कर या लगान देता है, वह सरकार का हक़ नहीं है, बल्कि सरकार का ख़र्च चलाने का आंशिक बोझ है, जो उसे कर्त्तव्य समझ कर उठाना चाहिए।

(२) कर या लगान किस हिसाब से लिया जाय, इसका निर्णय किसानों के प्रतिनिधियों द्वारा हो।

(३) गाँव के भीतरी प्रबन्ध में किसान स्वतंत्र हों। गाँव की एक पंचायत हो और उसके द्वारा गाँव की व्यवस्था होती रहे।

नोट—ज़मीन का मालिक राज्य (State) रहे, या किसान; इसके संबंध में दो मत हैं। एक मत वालों का कहना है कि ज़मीन राज्य की है और किसान तो उसके जोतने का किराया देता है। किराया घटाना-बढ़ाना मालिक की मर्ज़ी पर है—किसान का जी चाहे, ज़मीन जोते जी चाहे न जोते। दूसरे पक्ष वालों का कहना है कि ज़मीन किसान की है। वह मेहनत करता है, उसे जोतता-बोता है इसलिए उसकी है। सरकार तो अपने ख़र्च के लिए थोड़ा सा कर उससे ले लिया करे। ज़मीन राज्य की है—इस सिद्धान्त को मानने में तब तो कोई आपत्ति न हो सकेगी जब सारा राज्य वास्तविक अर्थ में जनता का हो, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा, जनता के ही हित के लिए, राज्य संचालन होता हो जैसा कि, सुनते हैं, आजकल रूस में हो रहा है। पर जहाँ राजा कोई एक व्यक्ति हो, अथवा ऐसा व्यक्ति समूह हो जो अपने लाभ के लिए राजकाज करता हो वहाँ ज़मीन का मालिक राज्य को मानना अनुचित है। जबतक जनता यह अनुभव नहीं करने लगती कि राज्य हमारा और हमारे हित और सुख के लिए है तबतक ज़मीन पर किसान का ही स्वामित्व रहना चाहिए—और ऐसी अवस्था तब तक नहीं आ सकती जब तक राज्य (State) में किसी सत्ता-धारिणी संस्था (Government) की आवश्यकता रहेगी और वह अपनी सत्ता के बल पर राज काज करेगी। जबतक जनता को यह अनुभव होता रहेगा कि कोई बाहरी शक्ति हम पर अंकुश रख रही है तब तक राज्य के साथ वह एक-रस नहीं हो सकती और जब तक एक-रस न होगी तबतक ज़मीन का मालिक राज्य को बनाने से सिवा सत्ताधारियों के लाभ के और सबका अहित ही है। इससे मैं तो इस नतीजे पर पहुँच रहा हूँ कि अभी तो सैकड़ों बरसों तक समाज में किसी न किसी रूप में सरकार की आवश्यकता रहेगी और इसलिए ज़मीन का मालिक किसान को ही रहना चाहिए।

कृषि-सम्बन्धी दुःख—भी कम नहीं हैं। सरकार लगान तो भर पेट ले लेती है; पर पैदावार बढ़ाने, उसमें सहायक होने का यथोचित ध्यान नहीं रखती। कृषि-विज्ञान के आचार्यों का कहना है कि भारत में भूमि की उर्वरा शक्ति दिन दिन कम होती जा रही है। गोबर, जो खाद के काम में लाया जाना चाहिए, ईंधन के अभाव में, जलाने के काम आता है और सरकार इसकी रोक का कोई उपाय नहीं करती। बाहर के देशों के साथ खुला व्यापार करने की नीति के कारण हिन्दुस्तान का सारा अनाज दूसरे देशों को चला जाता है—किसान के घर में कुछ नहीं बचता, उसका जो मुनाफ़ा होता है वह बीच वाले छोटे-बड़े व्यापारी चाट जाते हैं और बदले में विदेश से आने वाली तरह-तरह की ग़ैर ज़रूरी चीज़ें उसके घर में आती हैं जिससे और पैसा बरबाद होता है। इसका फल यह हुआ कि दूसरे देशों में, जैसे इंग्लैण्ड, जहाँ पहले अनाज के अभाव से अकाल हुआ करते थे वहाँ, तो विपुल अनाज पहुँच जाने से अकालों का होना असम्भव होगया; परन्तु भारत में भीषण अकालों की संख्या बढ़ती जाती है। जब से महात्मा गाँधी ने जनता के अन्दर काम करने, गाँवों को जगाने किसानों का संगठन करने की आवाज़ उठाई, धूर्त सरकार ने सोचा कि अब तो सब चौपट हो जायगा—अपने को किसानों का हित-कर्ता सिद्ध करने के लिए एक कृषि कमीशन बैठ

दिया; जिसकी रिपोर्ट का सार पाठक पिछले अंश में पढ़ चुके हैं। मेरी राय में तो कृषि-सुधार के लिए इतनी बातें अवश्य होनी चाहिएँ।

(१) गोबर के कण्डे बेचना बंद करा के उसका खाद खेतों में पहुँचाना चाहिए तथा और भी वैज्ञानिक खादों के द्वारा भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ानी चाहिए।

(२) किसानों के लिए यह नियम कर दिया जाय कि वे बीज और कम से कम डेढ़ साल तक चलने लायक अनाज और रुई अपने घर में रख कर शेष अनाज बेचें।

(३) लगान की बढ़ी हुई दरें कम की जायँ और इससे आमदनी में जो कमी हो उसकी पूर्ति, असह्य फ़ौजी खर्चा कम करके, अँगरेजों की बड़ी-बड़ी तनख्वाहें और पेन्शनें बन्द करके होनी चाहिए।

(४) कई तरह के अभाव, सामाजिक कुप्रथाओं, और दुर्व्यसनों तथा साहूकारों की लोभ-नीति के कारण किसान अक्सर क़र्ज़दार बने रहते हैं। कोआपरेटिव सोसाइटियाँ, जो कि उनको इस दुःख से मुक्त करने के उद्देश से खोली गई हैं, कई जगह और भी उनके दुःखों को बढ़ाने का कारण हो गई हैं, अतएव किसानों के हित को ही मद्दे नज़र रखकर सेवा-भाव से ऐसी सोसायटियों का काम चलना चाहिए और सेवा-परायण लोगों का समावेश उनमें होना चाहिए—न कि पेट भरने की नीयत से जाने वाले लोगों का।

(५) गाय और बैलों के पालने के लिए काफ़ी चरागाह रक्खे जायँ; दूध-शालाओं और चर्मालयों के प्रश्न को हाथ में लिया जाय।

(६) कल के हलों के प्रवेश से देश और किसानों को बचाया जाय। जबतक ज़मीनें एक एक किसान के पास बहुत ज़्यादा न होंगी तबतक कल के हलों से कोई लाभ नहीं है और एक किसान बहुतेरी ज़मीन तब खरीद सकता है जब या तो उसके पास काफ़ी रुपया हो, या दूसरे पूँजीपति आगे बढ़कर बड़ी-बड़ी ज़मीनें खरीद लें और किसानों को नौकर रखकर उनसे खेती करवावें। इसका नतीजा वही होगा जो कपड़े आदि के बड़े-बड़े कारखाने खुलने से हुआ है—थोड़े लोगों को रोज़ी मिली है और बहुतेरे लोग बेकार हो गये हैं। दूसरे ग़रीबों के घर से पैसा निकल-निकल कर अमीरों के घर में जा रहा है। हाथ के धंधे डूबने से जो बेकारी फैली हुई है उससे कई गुना बेकारी किसानों में, कल के हलों के प्रचार के कारण, फैलेगी, जिसका सामना करना बहुत मुश्किल होगा।

(७)—फ़ुरसत के वक्त कोई हाथ-धन्धा उन्हें अवश्य मिलना चाहिए। यों रस्सी बनाना, गाड़ी-बैल-ऊँट किराये पर देना, ईंधन की लकड़ी बेचना ऐसे ही काम किसान फ़ुरसत के वक्त करता रहता है; परन्तु इन सब से बढ़कर काम है रुई का कातना, पींजना और धुनकना। दोनों काम एक घर में होने से आमदनी भी काफ़ी होती है और इसमें न बहुत रुपया लगाना पड़ता है, न बड़ी अक्ल की ज़रूरत होती है। और लोग इन कामों से परिचित भी हैं। एक किसान की औसत आमदनी ३० साल से अधिक नहीं है—इतनी ही आमदनी और, वह कताई-पिंजाई-धुनाई से भी बड़े मज़े में कर सकता है।

शिक्षा—का तो पूरा अभाव किसानों में है। यों संस्कारिता और सदाचार में किसान शिक्षित कहलाने वाले आज-कल के बहुतेरे लोगों से बढ़ जाते हैं पर अक्षरज्ञान के अभाव से उन्हें कम कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। सरकारी हुक्काम और बनिये-बक्काल उन्हें ठगने में कसर नहीं रखते हैं। दुनिया के रुख और हालात से, कानून तथा देश की हलचलों से नावाकिफ़ होने के कारण चीज़ों को खरीद-बिक्री, मामले-मुक़दमे, धर्म-कर्म की ऊपरी बातें आदि में उन्हें बहुत नुक़सान उठाना पड़ता है। इसके लिए किसानों में प्रारम्भिक शिक्षा का होना बहुत ज़रूरी है। साथ ही कृषि, पशुपालन, देहात की बीमारियों के इलाज, और देश की साधारण राज्यव्यवस्था, हिसाब-किताब आदि की शिक्षा भी मिलनी चाहिए। किसान न केवल अपाहिज हैं, बल्कि शिक्षा के अभाव में, अन्धे भी हैं।

स्वास्थ्य—संबन्धी बातों से अनभिज्ञ होने के कारण गंदगी की बुराइयों को नहीं देख पाते। गाँव के पास ही कूड़ा-करकट रखना, गाँव की गलियों में ही टट्टी-पाखाना बैठ जाना, बीमारियों में इलाज का कोई प्रबन्ध न होना,

देहात में मामूली बात देखी जाती है। अतएव एक ओर जहाँ स्वास्थ्य और बीमारियों का ज्ञान उन्हें कराना आवश्यक है तहाँ दूसरी ओर बीमारियों के इलाज का भी इन्तज़ाम होना चाहिए। अंग्रेज़ी दवायें (ऐलो पैथिक) बहुत मँहगी पड़ती हैं—देशी या होमियोपैथिक दवायें बहुत सस्ती पड़ती हैं और इन्हीं का उपयोग होना चाहिए। ज्वर, फोड़े-फुन्सी, आँख और पेट के दर्द, साँप-बिच्छू का काटना, हाथ-पाँव में चोट आ जाना ये देहात की ख़ास ख़ास बीमारियाँ हैं और हर बड़े गाँव में इनके लिए दवा का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए।

परन्तु वर्तमान विदेशी सरकार जिसकी सारी हस्ती ही हमारी दासता और किसानों की कमाई-रोटी खुद हड़प जाने पर बनी है —ये सुधार स्वेच्छा से क्यों करने लगी? सुधार भी वह करेगी तो वैसा ही और उसी हद तक जिससे दुनिया को तो यह दिखा सके कि किसानों के हित के लिए बड़े-बड़े कमीशन बैठे हैं और बड़ी बड़ी तजवीज़ें हो रही हैं पर जिसका वास्तविक परिणाम होता है उलटा किसानों के दुर्बल कंधों पर और भी बोझ का लद जाना। यदि नहरें खोद कर, अच्छा बीज देकर या खाद के नये प्रयोगों द्वारा उपज बढ़ी तो इधर लगान बढ़ा दिया जाता है—किसान बेचारा यों ही सूखा का सूखा रक्खा रह जाता है। अतएव देश-सेवकों का ध्यान अब इसकी ओर बहुत सरगर्मी से जाना चाहिए और उन्हें अपने को ग्राम-सेवा, किसान-संगठन आदि के लिए तैयार करना चाहिए। जबतक भारत के शिक्षित और देश-सेवा की उमंग रखने वाले युवक देहात को अपना कार्य-क्षेत्र न बनावेंगे और किसानों के इन प्रश्नों को हाथ में लेकर आन्दोलन और संगठन न करेंगे तबतक स्वराज्य-संग्राम में उनकी प्रगति होना कठिन है।

हरिभाऊ उपाध्याय

"यदि तुम्हारे पास विश्वास और भरोसा हो तो ईश्वर के नाम पर उसका एक टुकड़ा मुझे भी दो, संदेह एवं शंकायें तुम अपने तक ही रक्खो, क्योंकि मेरे पास यों ही इनकी अधिकता है।"

—गेटी

पवित्र मेरु

कहा जाता है कि मेरु पर देवताओं का स्वर्ग है। पाण्डवों के महाप्रस्थान की यात्रा में उत्तर कुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है। आदि पर्व (१२२ अध्याय) के अनुसार पाण्डु ने उक्त उत्तर कुरु को अपने पूर्वजों की भूमि कहा है। सभापर्व (२८ अध्याय) में अर्जुन श्वेत पर्वत लाँघ कर किम्पुरुषवर्ष पहुँचे, फिर उत्तर हरिवर्ष गये और तब उत्तर-कुरु के द्वार पर पहुँचे। इस उत्तर कुरु को विजय करने से वे रोके गये और उनसे कहा गया कि यह देवभूमि है; यहीं से कुछ उपहार लेकर वे लौट आये।

बृहत्संहिता में उत्तर प्रदेश के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है—

उत्तरतःकैलासो हिमवान् वसुमान् गिरिर्धनुष्मांश्च
क्रौञ्चो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च १४-२४।

मेरु और उसके पास ही उत्तर कुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रन्थों में मेरु के समीप ही उत्तर कुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों देश और पर्वत पास-पास के हैं। भीष्मपर्व में उत्तर कुरु का विशद वर्णन है—

"देवलोकच्युताः सर्वे जायन्ते तत्र मानवाः
शुक्लाभिजन सम्पन्नाः सर्वे सुप्रिय दर्शनाः
निरामयश्च ते लोका नित्यं मुदित मानसः

× × × ×

दश वर्ष सहस्राणि दश वर्ष शतानि च
जीवन्ति ते महाराज न चान्योन्यं जहत्युत।

यह उत्तर कुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में बड़ा पवित्र और पूर्वजों का देश माना जाता है। यहाँ के लोग शुक्ल, अभिजन, सम्पन्न, नीरोग और दीर्घजीवी

होते हैं। इस प्रदेश का अनुसन्धान लग जाने से मेरु का पता भी चल सकता है।

युधिष्ठिर के राजसूय में तङ्गण देश के निवासियों ने कुछ उपहार दिये हैं। ये लोग मेरु और मन्दराचल के बीच बहने वाली शैलोदा नदी के तट के रहने वाले थे (सभापर्व ५२ अध्याय)। इधर बृहत्संहिता में तङ्गण देश को वर्तमान कुल्लू के पास ही निर्दिष्ट किया है—"अभिसार दरद तङ्गण कुलूत सैरिन्ध्र बन राष्ट्रा:" (१४-२९) ग्रीकों ने अभिसार (Abissorion) देश सिन्धु और झेलम के बीच में लिखा है और काकेशश (हिन्दूकुश) पर्वत के पाददेश में बसने वाली जातियों का उल्लेख करते हुए मेगास्थनीज़ ने शैलोदा जाति (Soleadae) का भी वर्णन किया है। यह शैलोदा नदी तट की जाति है जिसका वर्णन सभापर्व ५२ अध्याय में है।

वेन्दिदाद फरगर्द १ में पारसियों की पवित्र भूमि का वर्णन है; देखिए—

6 (17) The third of the good lands and countries which I, Ahur Mazd created was the strong holy Mouru. (मेरु)

7 (21) The fourth of the good lands ....was the beautiful Bakhdhi (वाल्हीक) with high lifted Banners.

8 (25) The fifth of the good lands ....was Nisaya that lies between Mouru and Bakhdhi.

ऊपर के पारसीक विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरु और वाल्हीक (आधुनिक बलख) के बीच निसय प्रदेश था। ऐतरेय ब्राह्मण में हिमालय के उत्तर के दो विराट् प्रदेशों का साथ ही वर्णन किया है; वे हैं उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र। (८-३-१४) उत्तर शब्द का प्रयोग जो इन देशों के नाम के साथ आता है उसका तात्पर्य मैं यही समझता हूँ कि ये हिमालय के उत्तर में हैं और इसका कारण है मद्र, कुरु और कोशल का हिमालय के दक्षिण में भी अस्तित्व। स्यालकोट (शाकल) को मद्र की राजधानी, हस्तिनापुर को कुरु की राजधानी और अयोध्या को कोशल की राजधानी कहते हैं। ऐसे ही प्रदेशों का संगठन सिन्धु के उस पार भी था। फारस के एक बड़े अंश को प्राचीन काल में मीडिया (Media) कहते थे। यह सम्भवत: उत्तर मद्र था और अफगानिस्तान तथा फारस के कुछ अंश आरकोसिया (Arachotae) उत्तर कोशल तथा हिन्दूकुश (Indian Cacaissius) के पास के काफ़-रिस्तान (बलख से लेकर काश्मीर तक के) प्रदेश को प्राचीन उत्तर कुरु कहा जा सकता है।

जिस निसय प्रदेश का वर्णन पारसियों ने किया है उसी का ठीक-ठीक प्रसंग ग्रीकों के ग्रन्थ में भी पाया जाता है।

सिकन्दर जब हिन्दूकुश (Indian Cacaussius) पर्वत पर पहुँचा तो ग्रीक लोगों ने उसे काकेशश का विजेता माना, क्योंकि वाल्हीक के पास ही भरत के ननिहाल कैकय का वर्णन वाल्मीकि में भी आया है। सम्भवत: वह गिरिव्रज हिन्दूकुश के खवक या कोह-दामन के कोशन के पास रहा होगा। कोहदामन का उल्लेख मुग़लों की चढ़ाई में मिलता है। भरत की यात्रा में इसी को "सुदामानं च पर्वतं" कहा है। सम्भवत: कैकय देश के समीप होने से सिकन्दर के साथियों ने उसे काकेशश कहा हो। हिन्दूकुश से उतर कर सिकन्दर ने वर्तमान चारिकार के समीप अले-ग्जेन्ड्रिया नाम का नगर बसाया। पर्दिकस को सिन्धु की ओर जाने के लिए कह कर स्वयं कुभा की ओर चला। चित्राल की घाटी में पहुँच क्रटेरस को कुनार की घाटी सर करने की आज्ञा दी और स्वयं बाजौर पहुँच कर मसागा (Messaga) का ध्वंस

किया जो वर्तमान मालकन्द गिरिपथ के समीप है। फिर उसने निशा प्रदेश और मेरु विजय करने की इच्छा प्रगट की। वर्तमान स्वात और पेजकोड़ा के ऊपर का यह प्रदेश Hyperborrians उत्तर कुरु के नाम से ग्रीकों द्वारा सम्बोधित किया गया है जिस की प्रधान नगरी उक्त काल में भी पारसीकों द्वारा कथित निसय (Nisaya) विख्यात थी और इसके समीप के शैल को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। आधुनिक काल में उक्त दिव्य जाति को—जो किसी धर्मों और मतों के झगड़ों में नहीं पड़ती थी—मुसलमान लोग काफ़री कहने लगे। इस 'मेरोस' (Meros) या मेरु को अब भी कोहमोर कहते हैं। ग्रीकों ने इस विराट् शैल को त्रिशृङ्ग कहा है और ऋग्वेद में भी इसे त्रिककुद कहा है। विष्णु-पुराण में इसी त्रिककुद को त्रिकूट नाम से अभिहित किया है। मेरु का वर्णन करते हुए विष्णु-पुराण में लिखा है—

> "त्रिकूटः शिशिरश्चैव पतंगो रूचकस्तथा
> निषदाद्या दक्षिणत स्तस्य केसर पर्वताः।"

कुछ लोग शंका करेंगे कि मेरु पर्वत तो श्री तिलक के कथनानुसार उत्तरीय ध्रुव में है परन्तु उनके मेरु प्रदेश और स्वर्ग का संकेत ठीक नहीं जँचता क्योंकि पारसी लोगों के कथनानुसार आर्य्य निवास या ग्रीकों द्वारा वर्णित ऐरिया (Arrea) में हिम-प्रलय होने पर उन्हें लेकर नायक यम, वार प्रदेश की ओर गये जहाँ दिन और रात एक वर्ष के हैं। यही वार प्रदेश उत्तरीय ध्रुव देश है, क्योंकि जो मनुष्य २४ घण्टे वाले दिन-रात के देश में नहीं रहा है वह एक वर्ष के दिन रात की ठीक गणना नहीं कर सकता। इसलिए पारसीकों का स्वर्ग, आर्य्य निवास (Aryanavaijo) ही रिया (Arrea) था जो फ़ारस, अफ़गानिस्तान, काश्मीर, खोकन्द, बदख्शाँ तथा बलख के बीच की रमणीय भूमि है।

ऊपर कहे हुए कोहमोर को मेरु मानने के लिए और भी प्रमाण लीजिए। लिङ्ग पुराण में लिखा है—

> मानसोपरि माहेन्द्री प्राच्यां मेरोः स्थितापुरी
> दक्षिणे भानु पुत्रस्य वरुणस्य तु वारुणे
> सौम्ये सोमस्य विपुला तासु दिग्देवतास्थिताः
> अमरावती संयमिनी सुषा चैव विभा क्रमात्
> दक्षिणां प्रक्रमेद्भानुः क्षिप्तेषुरिवधावति—

मानसरोवर के ऊपर मेरु के पूर्व महेन्द्र की नगरी अमरावती है। मेरु के दक्षिण यम की नगरी संयमिनी है। मेरु के पश्चिम वरुण की नगरी सुसा (Sussa?) है। और मेरु के उत्तर विभा सोम की नगरी है। मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सूर्य्य क्रम से इन नगरियों के ऊपर से जाते हैं। विष्णुपुराण अध्याय ९ में भी इसी तरह का वर्णन है—छठे श्लोक की टीका में "सूर्य्यः प्रत्यहं मेरु प्रदक्षिणी कुर्वन्नपि"—इत्यादि से मेरु की प्रदक्षिणा का स्पष्ट उल्लेख है। सूर्य्य के उत्तरायण और दक्षिणायण होने का यही पौराणिक कारण बतलाया गया है। विष्णुपुराण में जम्बूद्वीप (एशिया) का वर्णन करते हुए लिखा है कि जम्बूद्वीप के बीचों-बीच मेरु पर्वत है—

> "जम्बूद्वीपः समस्तानामेतेषां मध्यसंस्थितः
> तस्यापि मेरु मैत्रेय मध्ये कनक पर्वतः
>
> × × ×
>
> भारते प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्
> हरिवर्षंतथै वान्यन्मेरो र्दक्षिणतो द्विज
> रम्यके चोत्तरेवर्षं तस्यैवानु हिरण्यकम्
> उत्तराः कुरुवश्चैव यथावै भारते तथा ॥१३॥

मेरु के दक्षिण भारत प्रथम वर्ष है तब किम्पुरुष है। (यह महाभारत के अनुसार जमुनोत्री के पास है) अन्य हरिवर्ष आदि भी इसी प्रकार दक्षिण हैं—मेरु के उत्तर में रम्यक—हिरण्यमय—उत्तरकुरु आदि हैं।

इसी प्रकार का वर्णन विष्णुधर्मोत्तर में भी है—

अवगाढ़ा ह्युभयतः समुद्रौ पूर्व पश्चिमौ
जम्बूद्वीपे महाराज षडिमे कुल पर्वताः
हिमवान्हेमकूटश्च नीषधोनील एव च
मेरुश्च शृङ्गवांश्चैव सर्वे रत्नाकराः शुभाः

× × ×

देवाः स्वां नगरीं नित्यं मानसोत्तर मूर्धनि
मेरुन्तु पश्यति विभुस्तत्थो मेरु गतांपुरीं
उदक्शृङ्ग: ततोऽर्वेतु याम्येन कुरु संज्ञितम्
वर्षन्तु कथितं दिव्यं सर्वोपद्रव वर्जितम् ।

(विष्णु धर्मोत्तर १ खण्ड ७ अध्याय)

ऊपर के अवतरणों से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि मेरु और उत्तर-कुरु का ठीक वैसा ही सम्बन्ध हमारे ग्रन्थों में भी मिलता है जैसा पारसीकों ने लिखा है, और जैसा कि सिकन्दर के मेरुविजय और निशा प्रदेश के प्रसंग में मिलता है। इस सर्व-उपद्रव-वर्जित दिव्य उत्तर-कुरु प्रदेश और पवित्र मेरु का नित्य सम्बन्ध है। यहीं स्वर्ग है और इसी विस्तृत प्रदेश के विभाग हैं पादमेरु (Pamere), काश्यपमेरु (काश्मीर) इत्यादि। इसी के लिए असुरों और देवों में युद्ध हुआ है। ग्रीकों ने भी इसी प्रदेश को देख कर कहा था कि पिता दानवेश (Doinesus दायोनीसस) ने एक बार स्वर्ग जय किया था, अब दूसरी बार सिकन्दर ने। यह कोहमोर वैदिक त्रिककुद और पौराणिक त्रिकूट का एक शृङ्ग है। ये तीनों शृङ्ग पेशावर से ही अपनी उँचाई में दिखाई देते हैं। यहाँ पर स्वर्ग-सुख का आनन्द लेने के लिए सिकन्दर ने दस दिन बड़ा भारी महोत्सव मनाया था। उक्त प्रदेश की निसर्गगत रमणीयता का उल्लेख करके ग्रीकों ने बड़े उल्लास से कहा है कि सचमुच यही पृथ्वी का स्वर्ग है।

हाँ, यहाँपर एक बात और लिख देनी असंगत न होगी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि अनेक ग्रन्थकारों ने निशाय देश और मेरु को भी भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत माना है। सम्भवतः यह उस काल के सप्त-सिन्धु प्रदेश की सीमा है। जब दक्षिण का प्रायद्वीप राजपूताना के समुद्र से अलग किया हुआ था; उस समय का सप्तसिन्धु दक्षिण में अधिक विस्तृत न होकर उत्तर में फ़ारस तक रहा होगा और वह कश्यप, गोबी, तथा सीरिया और राजपूताना के ४ समुद्रों से घिरा होगा। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ७५वें सूक्त में इस प्रदेश में नदियों के तीन सप्तक का उल्लेख है जो सम्भवतः सहायक नदियों सहित गङ्गा सिन्धु और हेलमन्द के तीनों बड़े प्रवाहों की ओर संकेत करता है।

जयशङ्कर 'प्रसाद'

कर्तव्य का स्वरूप

हिन्दू जाति पीड़ित है, आध्यात्मिक दारिद्र्य से, नैतिक पतन से और सामाजिक व्याधियों से। यह प्राचीन जाति आज शताब्दियों से रुग्ण है। उसमें न ईश्वर से प्रेम है, न ज्ञान से प्रेम है और न सत्य से प्रेम है। उसमें प्रेम ही नहीं है। हाँ उसमें मोह है—मिथ्या रूढ़िवाद से, मिथ्या अहंकार से और पाशविक कायरता से।

यदि हमको हिन्दू जाति प्यारी है, हिन्दू आदर्श प्यारा है, तो हमें अपने मोह से मुक्त होना पड़ेगा। अपनी जाति और अपने आदर्श का मान करने के पहले अपना, अपने व्यक्तित्व का मान करना सीखना पड़ेगा; अपनी बुद्धि का, अपने हृदय के सुन्दर भावों का और अपनी आत्मा का मान करना होगा। यदि हमको अपनी जाति और अपने देश से सच्चा प्रेम है तो हमें, अपने जीवन को, अपने मुर्दा और कायर समाज के अत्याचारों पर निछावर करके भी, प्रेम, सुधार और स्वाधीनता का सन्देश-वाहक बनना होगा!

'शिशुहृदय'

तेरा आह्वान

१

श्रान्त, ध्वान्त-मय, निद्रित-निशि का
होता अब क्रमशः अवसान।
प्राची दिशि में किञ्चित खिलती
उषा-कामिनी की मुसकान।
मन्द, मन्द, स्वच्छन्द विचरता
पक्षी-कुल का है कल-गान।
कोष-कलेवर के विकास से
हैं कुसुमित, सुरभित उद्यान॥
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

२

हरित पत्र, तृण, पुष्प-पटल पर
निशि का वह नीरव जल-दान।
प्रात-प्रभा में जगमग होता,
उज्ज्वल मुक्तावलि-प्रतिभान।
तुमुल-राग, ध्वनि, शब्द-निनादित
शबल-रङ्ग-मय व्योम-वितान।
मोहमयी जड़ता तज कुछ-कुछ
चेत उठी तेरी सन्तान॥
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

३

सृष्टि-सुहावन, पावन, भावन,
सकल चराचर मुदित महान।
प्रेम-कला का अभिनय कैसा
सद्गुण का प्रत्यक्ष प्रमाण।
रङ्ग-मञ्च पर प्रकृति-नटी का
है कितना विस्तृत-परिधान।
अन्तर्हित तव आदि शक्ति की
लीला का अद्भुत अनुमान॥
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

४

सजग विश्व बन गया, अचानक
जड़-जङ्गम का कर्म्मस्थान।
पशु, पक्षी, सब जीव-जन्तु, कृमि
कीट और नर-वृंद सुजान।
नित-प्रति के दैनिक कृत्यों के
तारतम्य में फँसे निदान।
भूले से प्रच्छन्न प्रेरणा-वश,
बनकर स्वयमेव अजान॥
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

५

जन-जनपद, पक्षी-कुल किंवा
पशु-समूह अज्ञान-प्रधान।
उदर-पूर्ति का, विविध रीति से
ध्यान करें सब एक समान।
नाना गणनातीत कोटि के
उपचारों का हुआ विधान।
कोलाहल-मय विश्व-हाट से
पृथक् ध्यातृ का ये ही ध्यान।
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

६

कार्य-व्यग्र बीता दिन सारा
करते अपना ही कल्याण।
अन्त न जिसका, सन्ध्या-सुन्दरि
ने ताना सिन्दूर-वितान।

विजन-विपिन, निःशब्द अचानक
बोल उठा सुन कल-कल-तान।
तुमुल घोष ने मर्त्य-लोक से
किया गगन-भेदी प्रस्थान॥
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

७

रव भागा, नीरवता आई,
रवि का ओझल हुआ विमान।
व्रत-धारी मुनि सम जग मौनी
बन बैठा हो शान्ति-निधान।
बने बराबर, सभी चराचर,
चेतनता तज के अज्ञान।
किन्तु, स्वप्न के सुन्दर युग में
है कुछ-कुछ ऐसा ही भान॥
विश्वपते! तव अमर-धाम में
गूँज रहा तेरा आह्वान।

हरिशरण श्रीवास्तव्य 'मराल'

विदेशों में भारतीय रजवाड़े

इस समय घर-बाहर सर्वत्र भारत के देशी रजवाड़ों के विषय में चर्चा हो रही है। अंग्रेज प्रभुओं के दृष्टिकोण से भारत के भाग्य का निबटारा करने के लिए साइमन-कमीशन के साथ ही बटलर-कमिटी की नियुक्ति आधुनिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। कमीशन का तो भारतीयों ने ऐसा प्रचंड बहिष्कार किया कि संसार की आँखें खुल गईं और यह विश्वास दृढ़ हो गया कि भारत की राष्ट्रीय आत्मा अभी जीवित है और वह विदेशी तन्त्र से मुक्त होने के लिए व्यग्र और व्याकुल है। किन्तु देशी रजवाड़ों की ओर से बटलर-कमिटी की जैसी पूजा-अर्चा हुई और उसके सामने जिस ढंग से और जिन-जिन बातों की मांगें पेश की गई हैं, वह जागृत भारत के लिए अपमानजनक तथा स्वराज्य-प्राप्त भारत के लिए भय-सूचक है। अतएव इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

भारत में एक-दो रजवाड़े होते तो कोई चिन्ता की बात न होती, किन्तु यहां तो रजवाड़ों का एक बहुत बड़ा समूह है। कोई बड़े हैं और कोई छोटे। कोई पन्द्रहवीं शताब्दि के नमूने हैं और कोई संसार की वर्तमान गति के परखने वाले भी हैं। सम्पूर्ण भारत का क्षेत्रफल १८०५३३२ वर्ग मील है, जिस में ३९ फ़ी सदी देशी रजवाड़ों के कब्ज़े में है। इन राज्यों में लगभग ७२० लाख आदमियों की आबादी है। देशी राज्यों के अस्तित्व पर हम स्वभावतः अभिमान करते आये हैं और यही समझते रहे हैं कि चाहे कैसे ही क्यों न हों, आख़िर अपने ही तो हैं। किन्तु उनकी वर्तमान मनोवृत्ति का परिचय पाकर उनके सच्चे शुभ-चिन्तक भी चिंतित हो उठे हैं और उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कि देशी रजवाड़े एक ऐसे मार्ग पर जा रहे हैं, जिसके आगे खन्दक़ है और पीछे खाई।

जिस समय मिस मेयो ने अपनी कुख्यात किताब में यह लिखा था—"एक राजा ने मुझ से कहा कि हम लोगों ने तो विलायत के बादशाह से सन्धि की है। हिन्दुस्थान के रजवाड़ों ने ऐसी सरकार से कभी सन्धि नहीं की, जिसमें 'बंगाली बाबू' हों। इन लोगों से हम लोग व्यवहार करने को कदापि तैयार नहीं। जब तक अंग्रेज भारत में हैं, तब तक यदि बादशाह की ओर से अंग्रेज सज्जन आयेंगे तो जैसे मित्रों में होना चाहिए, सब काम ठीक-ठाक होता

रहेगा। यदि इंग्लैण्ड का अधिकार उठ गया तो हम लोग जानते हैं कि हिन्दुस्थान में क्या किया जा सकता है और रजवाड़ों को क्या करना चाहिए।" उस समय सभी का ख़याल था कि यह मिस मेयो की कपोल-कल्पना है किन्तु वास्तव में आज हो क्या रहा है? क्या मिस मेयो की बातें सत्य सिद्ध नहीं हो रही हैं? इस समय रजवाड़ों को जो यह धुन समाई है कि उनका सम्बन्ध सीधे इंग्लैण्ड से होना चाहिए, भारत से नहीं, इसका क्या मतलब है?

इस समय विलायत में रजवाड़ों का जमघट क्यों लगा है? दक्षिण अफ्रिका के पत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ है कि "इस समय विलायत में जितने भारतीय रजवाड़े इकट्ठे हुए हैं, इधर बीस वर्ष से उतने कभी नहीं जुटे थे। ये लोग नरेन्द्र-मण्डल के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए पधारे हैं। महाराजा पटियाला भी आ गये हैं, जो मण्डल के चान्सलर हैं। स्थायी समिति के केवल ९ सदस्य हैं, किन्तु अन्य ३० राजे भी ब्रिटिश साम्राज्य के साथ अपना सम्बन्ध दृढ़ करने के अभिप्राय से अधिवेशन में उपस्थित हो रहे हैं। महाराजा पटियाला की सालाना आमदनी ९,००००० पौन्ड की है। पिछली बार जब वह विलायत आये थे तो इतना असबाब लाये थे कि उनका पहाड़-सा ढेर लग गया था और उन्होंने वेस्ट एन्ड होटल में १०० कमरे किराये पर लिये थे। काश्मीर के महाराजा सर हरिसिंह की वार्षिक आय १० लाख पौण्ड है। उनकी अन्तिम यूरोप-यात्रा में ५ लाख पौंड ख़र्च हुआ था। इन करोड़पति रजवाड़ों के जमा किये हुए धन और आभूषणों से अधिकांश देशों का राष्ट्रीय ऋण चुकाया जा सकता है।"

बटलर-कमिटी के समय इन रजवाड़ों ने दूषित मनोवृत्ति का जो नमूना पेश किया था, उसीके समर्थन के लिए आज विलायत की ख़ाक छानी जा रही है। ये रजवाड़े विदेशी साम्राज्य के भक्त बना रहना स्वीकार करते हैं, किन्तु अपने देश-वासियों से नेह-नाता जोड़ना अनुचित समझते हैं। इनको भय है कि 'निकट-भविष्य में ब्रिटिश भारत के माथे पर अवश्य स्वराज्य का सेहरा बँधेगा और वह अपने घरेलू प्रबन्ध में पूर्ण स्वतन्त्र होगा। वाइसराय भारतीय पार्लमेण्ट के सामने जवाबदार होंगे। ऐसी स्थिति में अपनी प्रजा पर मनमानी करने पर भारत की पार्लमेण्ट अवश्य हमसे जवाब तलब कर बैठेगी। फिर तो हमारी सत्ता और महत्ता धूल में मिल जायगी। इससे तो अच्छा यही है कि सीधे ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध जोड़ लिया जाय। उसे हमारे कारनामों से कोई वास्ता नहीं है। हम अपनी प्रजा को चाहे चूसें, चाहे मसलें और चाहे जिस तरह रक्खें, विलायती सरकार उसमें दख़ल देने न आवेगी। उसे केवल एक ही बात की चिन्ता है कि साम्राज्य का पाया पुख़्ता बना रहे और बस। किन्तु 'बंगाली बाबू'? इनकी मातहती क़बूल करना या अन्याय करने पर इनकी डांट-डपट सुनना भारी अपमान की बात होगी। 'महाकवि' ने सत्य ही कहा है—"जाकर मति भ्रम भयउ खगेसा। ता कहँ पच्छिम उगहि दिनेसा।" इसमें सन्देह नहीं कि हमारे रजवाड़ों को भी दिशा-भ्रम हो गया है।

राजाओं की फ़जूलख़र्ची पर भारतीय पार्लमेण्ट चाहे जबाब तलब करे या नहीं, किन्तु यह बात तो प्रजा को भी पूछने का जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसकी गाढ़ी कमाई का क्यों दुरुपयोग और अपव्यय किया जाता है? यदि रजवाड़े यह समझ बैठे हैं कि प्रजा को ऐसा सवाल करने का अधिकार नहीं है, तो यह उनकी भ्रमपूर्ण धारणा है। संसार का सामान्य सिद्धान्त यह है कि प्रजा जो राज-कर देती है उसके ख़र्च में उसकी सहमति होनी चाहिए, अन्यथा "प्रतिनिधित्व के बिना राज-कर कैसा" (No taxation without

representation ?) इस समय भले ही हमारे रजवाड़े सत्ता-मद में चूर हों; किन्तु वह समय अवश्य आवेगा, चाहे शीघ्र आवे या देर से, जब उक्त सिद्धान्त के सम्मुख उन्हें शीश झुकाना ही पड़ेगा। महाराज पटियाला इतना असबाब लाद कर विलायत ले जाते हैं कि उनको होटल में १०० कमरे किराये पर लेने पड़ते हैं। यह क्यों ? केवल शान दिखाने के लिए न ? सर हरिसिंह एक यात्रा में ५,००,००० पौन्ड—इस समय के एक्सचेञ्ज के अनुसार ६६,२५,००० रुपया—फूँक डालते हैं। महाराजा बड़ौदा जैसे सुधार-प्रिय नरेश भी केवल अपनी मोटर के लिए लाखों रुपये पानी की भाँति बहा देते हैं और इन्दौर के भूत-पूर्व महाराज अपने पेरिस के आमोद-भवन में लाखों रुपये स्वाहा कर रहे हैं।* क्या इस प्रकार प्रजा के धन में आग लगाना जारशाही से कुछ कम जुल्म है ? याद रहे कि जब अन्याय का प्याला लबालब भर जायगा तो भारत की भावी पार्लमेन्ट चाहे चुप ही रहना क्यों न पसन्द करे, किन्तु वह अदृष्ट महाशक्ति जिसके संकेत-मात्र पर संसार के बड़े-बड़े साम्राज्य बनते और बिगड़ते हैं, स्वयं आविर्भूत होगी और इस अन्याय का बदला ब्याज-सहित चुका देगी।

दक्षिण आफ्रिका के अखबारों ने व्यङ्ग की उमङ्ग में खूब कहा है कि इन रजवाड़ों के आभूषणों से तो कितने ही देशों के राष्ट्रीय ऋण चुकाये जा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार के उपहास की हमारे देशी रजवाड़े कुछ पर्वाह थोड़े ही करते हैं! जब, आज से कुछ वर्ष पहले हिन्दू-विश्वविद्यालय के शिलारोपण के अवसर पर सामयिक संसार के सर्वोपरि महात्मा गाँधीजी ने सदिच्छा से प्रेरित हो कर यही बात कही थी, तो अनेक राजाओं का आसन हिल गया था, और, वे कान पर हाथ धर, सभा छोड़ कर, भाग खड़े हुए थे। महात्माजी ने कौनसी अनुचित बात कही थी ? यही कहा था न, कि "His Highness the Maharaja, who presided yesterday over our deliberations

---

* हमारे अनेक निरंकुश नरेश भारतीय आकांक्षाओं को कुचल कर जिस अधिकार-प्राप्ति की मृगतृष्णा से बटलर-कमिटी के सामने अपना मामला उपस्थित करने को इंग्लैण्ड पहुँचे हैं उसके लिए ही प्रजा की गाढ़ी कमाई का अपरिमित धन पानी की तरह बहाया जा रहा है। इंग्लैण्ड के बड़े-बड़े पत्रों को घूस तथा प्रभावशाली व्यक्तियों एवं राजनीतिज्ञों को भोज देकर अनुकूल वातावरण पैदा करने की कोशिश की जा रही है। इंग्लैण्ड के पत्र राजाओं के किस्सों से भरे रहते हैं। अपने वकील सर लेस्ली स्काट को ही पुरस्कार रूप में इन राजाओं ने इतना अधिक देने का वादा कर लिया था कि अब मुश्किल हो रही है, रुपयों का टोटा पड़ रहा है। इस सम्बन्ध में नरेन्द्र-मण्डल के चांसलर पटियाला नरेश का एक तार, जो उन्होंने स्थानापन्न चांसलर अलवर-नरेश को दिया था, यह है—

"Dearest Dada, many thanks. Cable very worried about finances. Pound thirteen thousand fifty have to be found July sixteenth for Sir Leslie before case opens. Endeavoured level best to raise money from princes in England but not succeeded......amount required immediately otherwise princes' honour at stake." "अर्थात् अर्थाभाव से चिंतित हूँ। १६ जुलाई तक मामला शुरू होने के पहले, तेरह हज़ार पचास पौण्ड सर लेस्ली के लिये चाहिएँ। इंग्लैण्ड में जो नरेश हैं उनसे रुपया उगाहने की यथाशक्य चेष्टा की पर असफल रहा। तुरंत इतने रुपयों की ज़रूरत है अन्यथा राजाओं की इज़्ज़त खतरे में है।" यह तार बर्लिन से दिया गया था और इसे अलवर नरेश ने नरेन्द्र-मण्डल के सदस्यों के पास भेज कर धन की प्रार्थना की थी। यह है इन राजाओं के भीतर का खोखलापन जो अंधा-धुंध व्यय और विलासिता के कारण प्रतिदिन भयंकर होता जा रहा है।

'त्या० भू०'—सम्पादक

spoke about the poverty of India. Other speakers laid great stress upon it. But what did we witness in the great pandal in which the foundation ceremony was performed by the Viceroy. Certainly a most gorgeous show, an exhibition of jewellery which made a splendid feast for the eyes of the greatest jewellers who chose to come from Paris. I compare with the richly bedecked noblemen, the millions of the poor. And I feel like saying to these noblemen; "there is no salvation for India unless you strip yourselves of this jewellery, and hold it in trust for your countrymen in India." I am sure it is not the desire of the King Emperor, or Lord Hardinge that in order to show the truest loyalty to our King Emperor, it is necessary for us to ransack our jewellery boxes and to appear bedecked from top to toe. I would undertake, at the peril of my life, to bring to you a message from King George himself that he expects nothing of the kind."

अर्थात्, "गत कल की सभा के अध्यक्ष माननीय महाराजा ने हिन्दुस्थान की दरिद्रता के विषय पर भी सम्भाषण किया था। अन्य वक्ता भी इस विषय पर बलपूर्वक बोल गये। किन्तु वाइसराय ने जहाँ आधार-शिलारोपण की क्रिया पूरी की उस मण्डप में हम लोगों ने कैसा दृश्य देखा? वह जवाहिरातों की ऐसी भव्य प्रदर्शिनी थी, जो पेरिस के उन बड़े-बड़े जौहरियों की आँखें खोल दे, जो यहाँ आये हों। बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत इन अमीरों के साथ जब मैं करोड़ों गरीबों की तुलना करता हूँ, तो इन महानुभावों के प्रति मुझे यह कहने की इच्छा होती है कि जबतक आप अपने आभूषणों को उतार कर अपने देशवासियों के लिए ट्रस्ट रूप में न धर देंगे तब तक भारतोद्धार नहीं हो सकता। सम्राट् के प्रति राजभक्ति प्रकट करने के लिए आभूषणों के डब्बे खाली कर उनसे शिख से नख तक सजा लेना आवश्यक है, ऐसी न तो सम्राट् की इच्छा है और न लार्ड हार्डिञ्ज (वाइसराय) की, यह मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ। वे ऐसी इच्छा बिलकुल नहीं रखते, इस आशय का सन्देश, मैं अपनी जान को जोखिम में डाल कर भी, स्वयं सम्राट् जार्ज के यहाँ से लाने को तैयार हूँ।"

साधु-हृदय का यह सरल उद्गार असह्य हुआ और मानहानि-कर समझा गया, किन्तु दक्षिण अफ्रिका के गये-बीते अंग्रेजी अखबार भी आज हमारे रजवाड़ों की आभूषण-प्रियता का उपहास उड़ा रहे है। खैर, इन बातों को जाने दीजिए, असली बात पर विचार कीजिए। रजवाड़ों की इच्छा है कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के तो भक्त रहेंगे, किन्तु भरतीय पार्लमेंण्ट से कोई सम्बन्ध न रक्खेंगे। वे वाइसराय के आदेश और आज्ञा को तभी तक मानेंगे, जब तक कि वाइसराय ब्रिटिश-पार्लमेन्ट का प्रतिनिधिस्वरूप है; किन्तु जिस दिन वाइसराय भारतीय पार्लमेन्ट के सामने उत्तरदायी हो जायगा, उसी दिन से रजवाड़े उसकी सत्ता को अस्वीकृत कर देंगे।

अभी उस दिन ट्रांसवाल के विटवाटरस्ट्रेन्ड-विश्वविद्यालय (Witwaterstraud University) में, आचार्य रैकर्स की अध्यक्षता में, भारत के राजदूत महामान्य श्रीनिवास शास्त्री ने भारत के वर्तमान वातावरण पर एक विद्वत्तापूर्वक व्याख्यान दिया था। श्रोताओं की बहुत बड़ी उपस्थिति थी। अन्य विषयों पर प्रकाश डालते हुए विद्वान् वक्ताने देशी रजवाड़ों के विषय में कहा—

"Some of the principalities were seventeen century in type, and the princes who called themselves independent, maintained councils of their own. These states claim that they had no connection with India except a common soil that their political connection was entirely with Britain; that the Viceroy had nothing to do with them except as the representative of the King. They would not recognise him if he became responsible to the local parliament, with whom they had nothing to do. If that state of things continues to exist, it would be impossible to have self-government in India" अर्थात्, "कुछ रियासतें तो सत्रहवीं सदी के ढंग की हैं, और जो रजवाड़े अपनेको स्वतंत्र कहते हैं उनकी निजी कौंसिलें भी हैं। इन रियासतों का यह दावा है कि भारतवर्ष के साथ एक भूमि होने के सिवाय उनका अन्य कोई सम्बन्ध नहीं—उनका राजनैतिक सम्बन्ध बिलकुल ब्रिटेन के साथ है। वाइसराय को, सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत के अतिरिक्त, उनके साथ और कुछ करने-धरने का कोई अधिकार नहीं है। वे वाइसराय की सत्ता को भी अस्वीकृत कर देंगे, यदि वाइसराय भारतीय पार्लमेंट के समक्ष जवाबदार हो जायगा, जिसके साथ उनका कोई रिश्ता-नाता नहीं है। यदि ऐसी ही स्थिति क़ायम रही, तो भारतवर्ष को स्वराज्य मिलना असंभव है।"

यद्यपि शास्त्रीजी के मुँह से ऐसी बातें शोभा नहीं देतीं, सो भी एक ऐसे देश में, जहाँ भारतीयों के विरुद्ध द्वेष की भट्टी सुलग रही है; किंतु वे बेचारे भी क्या करें? यहाँ के कूटनीतिज्ञ भारतवर्ष की परिस्थिति से अपरिचित नहीं हैं। मिस मेयो की 'मदर इंडिया' ने भी यहाँ भारत के सम्बन्ध में बुरे ख़याल फैलाने में पूरा काम किया है। हमारे रजवाड़ों की सम्राट् से सीधा सम्बन्ध रखने की बात का कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता। स्वयं सम्राट भी एक प्रकार से ब्रिटिश पार्लमेंट के अधीन हैं और यदि हमारे राजे भी ब्रिटिश पार्लमेंट की अधीनता स्वीकार करना चाहते हैं, तो इसका यह अर्थ हुआ कि वे अपने भारतीय भाइयों के समान और समुचित व्यवहार पर लात मार कर ब्रिटिश जनता का दासत्व अङ्गीकार करने पर तुले हुए हैं। क्या हम आशा करें कि इस विषय के विशेषज्ञ इस सम्बन्ध में कुछ और प्रकाश डालने का कष्ट उठावेंगे?

भवानीदयाल सन्यासी (जैकोब्स)

यूरोप में साम्यवाद

(३)

जर्मनी के साम्यवाद-आन्दोलन की चर्चा करने से पहले प्रसिद्ध तत्त्वदर्शी कार्ल मार्क्स और उनके विचारों की चर्चा आवश्यक है। मार्क्स हेगल (Hegel) के शिष्य थे। उनका जन्म सन् १८१८ ई० में हुआ था। सन् १८४१ में उन्होंने विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त की। इसके बाद ही से वह प्रशियन प्रजातंत्र की राजनीति में दिलचस्पी लेने लगे। उन्हें हेगल से सामाजिक विकास का एक ख़याल मिला। इससे मार्क्स को समाज की अवस्था पर बड़ी व्यापक दृष्टि से विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने सोचा कि वर्तमान समाज पर जो सङ्कट आ रहा है, वह सामाजिक परिवर्तन से ही मिट सकता है। अपने उग्र विचारों के कारण वह प्रशिया में अधिक दिनों तक न रहने पाये, और उन्हें पेरिस चला जाना पड़ा। वहाँ उन्हें उस समय के साम्यवादी-आन्दोलन के संसर्ग में आने का मौक़ा मिला और प्राउडन (Proudhen) नाम के तत्त्वदर्शी उनके मित्र बन गये। इस समय साम्यवादी-आन्दोलन की सफलता के लिए दो बातों की बड़ी ज़रूरत थी। एक तो अन्ध-विश्वास और मूढ़ता को दूर कर आन्दोलन के उद्देश और साधनों के निश्चित करने की, और दूसरे

समस्त आन्दोलन को एक राजनैतिक दिशा में चलाने की। मार्क्स और एञ्जिल्स ने ये दोनों काम बड़ी योग्यता से किये। सन् १८४८ की क्रान्ति से पहले मार्क्स ने एक 'कम्युनिस्ट विज्ञप्ति' निकाली। उसमें उन्होंने संसार भर के मज़दूरों से अपील की कि पारस्परिक मेल से अपने कष्टों का अन्त करो। कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद पर 'डैस कैपिटल' (Das-Kapital) नाम का एक बड़ा अच्छा ग्रन्थ लिखा। यह ग्रन्थ साम्यवाद के धर्म-ग्रन्थ (The Bible of Socialism) के नाम से प्रसिद्ध है। सन् १८८३ में मार्क्स का देहान्त हो गया। उनके उद्योग से साम्यवाद एक नये रूप में दुनिया के सामने आया। उसका पुराना सड़ा-गला कूड़ा-कचरा छँट गया अब यह एक ऐसी आसान चीज़ हो गई, जिसे कमअक्ल से कमअक्ल आदमी भी समझ सकता था। अब साम्यवाद के क्षेत्र में छोटे से छोटे मज़दूर को भी कुछ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। थोड़े से बुद्धिमानों की सत्ता उठ गई। एक मज़दूर सार्वजनिक हित में अपना हित समझने लगा, और सार्वजनिक बल में अपना बल। उसके कान में मार्क्स की यह पुकार हर समय गूँजने लगी—"Wage-workers of the whole world! Unite !!" अर्थात्, 'समस्त विश्व के मज़दूरों ! एक सूत्र में बँध जाओ !'

सन् १८६२ की बात है। प्रशिया (Prussia) में, एक ऐसे संघर्षण के लिए, जो फ्रेन्च युद्ध के अन्त, और जर्मन साम्राज्य की स्थापना के साथ समाप्त हुआ, राजनैतिक शक्तियाँ मिल जाने के कारण प्रतिक्रिया की लहर चल पड़ी थी। उस समय प्रशिया के शासन की बागडोर लिबरलों के हाथ में थी। अधिकारियों को गर्व था कि शासन-व्यवस्था फ़ौजी बल पर निर्भर रहने के कारण उतनी ही मजबूत नींव पर टिकी हुई है, जितनी कि शेषनाग के फन पर पृथ्वी। लस्साले (Lassalle) नाम के एक बहादुर आदमी ने लिबरलों का साथ छोड़कर प्रशिया की जनता से अपील की थी कि अपनी स्थिति को वास्तविक परिणामों के आधार पर सम्हालो और प्रजासत्तात्मक शासन की ओर लौटो। लस्साले ने एक ज़ोरदार भाषण दिया, जो मार्क्स की 'कम्युनिस्ट विज्ञप्ति' की तरह बड़ा प्रभावशाली था। उसमें राजनैतिक कामों के लिए मज़दूरों से एक सूत्र में बँध जाने, और अपनी सामाजिक दशा सुधारने की अपील की गई थी। इस वीर पर पुलीस की तेज़ नज़र पड़ गई और उस पर मुक़दमा चलाया गया। उसमें उस पर १५ पौंड का जुर्माना किया गया।

सन् १८८० से घटना-चक्र बदला। लिबरल पार्टी से मज़दूरों का विश्वास उठ गया। लिपज़िग (Leipzig) के मज़दूरों ने भी लिबरल-नीति का बाना उतार फेंका। उन्होंने अपनी एक मज़दूर-कांग्रेस बना डाली। लस्साले ने इस कांग्रेस के नाम एक पत्र भेजा। उसमें उसने मज़दूरों से सामाजिक उद्देश को लेकर एक राजनैतिक दल बनाने की अपील की, और साथ ही यह विचार प्रकट किया कि स्टेट के ख़र्च से स्वायत्त शासन के ढंग पर माल पैदा करने वाली ऐसी संस्थायें बननी चाहिएँ, जिनमें प्रत्येक मज़दूर अपने परिश्रम के बदले में पूर्ण मज़दूरी पा सके। काँग्रेस ने यह प्रस्ताव मंजूर कर लिया।

२३ मई सन् १८६३ को लिपज़िग में 'यूनीवर्सल जर्मन वर्किंग्मेंस एसोसियेशन,' नाम की संस्था का जन्म हुआ। इसकी माँग यह थी कि सार्वभौमिक मताधिकार मिलना चाहिए। मज़दूरों का दावा था कि जब तक हमें मत देने का अधिकार न हो, तब तक, हमारा सामाजिक काम चल ही नहीं सकता। बस, यहीं से जर्मन-आन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। परन्तु, सन् १८६४ में एक मात्र वीर नेता लस्साले का देहान्त हो जाने के कारण आन्दोलन पर एक भयङ्कर वज्रपात हुआ। अब मज़दूर-आन्दोलन एक असहाय अवस्था में रह गया। मज़दूरों के पास इस समय न तो रुपया ही था, और न कोई नेता या सहायक ही।

लस्साले का मज़दूर-संघटन हो जाने के बाद ही साम्यवाद-आन्दोलन के मुक़ाबिले लिबरल संस्थायें खड़ी की गईं। परन्तु, थोड़े ही दिनों में, इन संस्थाओं ने अपने सिर से लिबरल-नीति उतार फेंकी। आगे चल कर तो इन संस्थाओं के संघ ने सम्मिलित स्वर से सार्वभौमिक मताधिकार की घोषणा कर दी। सन् १८६८ में उक्त सङ्घ ने मार्क्स के सिद्धान्तों पर बने हुए 'अन्तर्राष्ट्रीय' साम्यवादी-दल पर अपनी सहमति प्रदान कर दी और अगले वर्ष इस संघ ने अपने आप को 'सोशल डेमोक्रेटिक वर्किंग्मेन्स पार्टी' के

रूप में परिणत कर लिया। अब जर्मन साम्यवादियों में दो दल हो गये। एक प्रशियन और दूसरा साउथ जर्मन और सैक्सन। नार्थ जर्मन कन्फ़ेडरेशन की पार्लमेण्ट में दोनों दलों के प्रतिनिधि जाते थे। किन्तु, उनमें मत-भेद था। सन् १८९५ में दोनों दल मिल गये, और 'सोशलिस्ट वर्किङ्गमेन्स पार्टी आफ़ जर्मनी' के नाम से एक संयुक्त दल बनाया गया। अब साम्यवाद-आन्दोलन अधिकाधिक वेग से बढ़ने लगा। अधिकारियों ने इस पर दाँत लगाया, और इसे कुचल देने का विचार कर लिया। सन् १८९८ में सम्राट् की हत्या का दुबारा प्रयत्न किया गया। इससे जर्मन अधिकारियों को अपनी इच्छा पूरी करने का अवसर हाथ लग गया। 'सोशलिज़्म' को कुचल डालने के लिए एक कानून बना। इसके फल-स्वरूप अख़बार ज़ब्त किये गये, सार्वजनिक सभायें रोकी गईं और साम्यवादी संघटन छिन्न-भिन्न कर दिया गया। मज़दूर और जनता दोनों ही अपने-अपने भाग्य के भरोसे थे। प्रत्येक व्यक्ति कुछ काम करने के लिए अपनी ज़िम्मेदारी अनुभव करता था। दमनचक्र ने कोई ऐसी सार्वजनिक संस्था न छोड़ी जो उसने पीस न डाली हो। इसका नतीजा यह निकला कि जनता में अधिकाधिक जागृति बढ़ने लगी। देश में बाहर से छिपा कर राजनैतिक साहित्य मँगाया जाने लगा। चुनाव में साम्यवादियों के मत ख़ूब बढ़ने लगे। 'सोशलिस्टों' के ख़िलाफ़ बनाये गये क़ानून, और बिस्मार्क का समाज-सुधार-क़ानून दोनों ही, मज़दूर श्रेणी की प्रगतिशील राजनीति के परिणामों को दूर करने में सफल हुए। सन् १८९० में दमन-नीति का अन्त हो गया। तब से भीतरी और बाहरी मामलों में, ख़ासकर पार्लमेंट की नीति, और व्यवस्थापिका सभा में सोशलिस्ट पार्टी की नीति के सम्बन्ध में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। परन्तु, साम्यवादी प्रजा-सत्ता के इतिहास की प्रगति अधिकाधिक रूप से आगे बढ़ती रही है। सन् १८७४ में साम्यवादी दल को ३,५२,००० मत मिले थे। सन् १९०७ के चुनाव में मतों की संख्या बढ़कर ३,२५८,९६८, तथा सन् ११ तक तो और भी अधिक पहुँच गई थी।

जर्मनी के साम्यवादी-आन्दोलन में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात यह रही है कि यहाँ राजनैतिक व्यवस्था की तरह व्यक्ति-वाद (Individualism) की कभी जड़ नहीं जम पाई। जर्मनी का सार्वजनिक जीवन यहाँ के अपने मौलिक सिद्धांतों से सदा प्रभावित रहा है। इसका नतीजा यह हुआ कि शासन-व्यवस्था साम्यवादियों के ज़बरदस्त विरोधियों और अधिकारियों द्वारा भी जायज़ मानी जाती रही है। इस प्रकार जर्मन साम्यवाद, जब कभी इसे राजनैतिक महत्व मिला,—तब भी, एक बौद्धिक शक्ति की तरह प्रभावशाली रहा है।

रूस की झलक

रूस का साम्यवादी-आन्दोलन सफलता के लिए दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। जब अन्य यूरोपीय देशों की राजनैतिक स्वतंत्रता ने रूस के महापुरुषों के दिमाग़ों में एक हलचल मचा दी, तो वहाँ एक छोटा सा अन्दोलन उठ खड़ा हुआ। वह अन्दोलन कुछ अंशों में लिबरल, और कुछ अंशों में साम्यवादी था। इस अन्दोलन का ख़याल सब से पहले कर्नी केविस्की (Kcherny chevsky) के 'क्या किया जाने को है ?' (what is to be done) नाम के उपन्यास तथा कुछ और उपन्यासों में ज़ाहिर किया गया। इस प्रकार के उपन्यासों ने रूसी साहित्य की दिशा ही बदल दी। बाकुनिन, हरज़न, लावरोफ़ आदि वीरश्रेष्ठ निर्वासन के कष्ट सहन कर रहे थे; किन्तु, वे अपने ग्रन्थों के द्वारा उन युवकों तक में विचरते थे, जिन्हें ज्ञान-पिपासा फ़्रान्स और स्विटज़लैंड के विश्वविद्यालयों में खेंच रही थी। किसानों के शिक्षा-आन्दोलन से रूस में साम्यवाद अन्दोलन का श्रीगणेश हुआ। वह अन्दोलन-शुरू होने के थोड़े ही दिनों बाद ज़ार सरकार ने दबा दिया। ज़ुल्म और ज्यादतियों के त्रासमय वातावरण में 'सोशलिस्ट'—आन्दोलन का नवजात पौधा मुरझा गया। इसी बीच रूस के उद्योग धन्धे बढ़े, और इसके साथ ही साम्यवाद की कुप्रथा फिर फूट निकली। विगत शताब्दी के अंतिम दस वर्षों में सामाजिक प्रजा-सत्तात्मक ढंग के मज़दूर संघवाद ने बड़े बड़े औद्योगिक क्षेत्रों में बहुसंख्यक मज़दूरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। फल स्वरूप रूस में सामाजिक प्रजा-सत्तावादी दल (Social Democratic Party)

की अनेक शाखायें खुल गईं। उनमें मुख्यतः जिनेवा, पेरिस और लन्दन में रहने वाले रूसी निर्वासित शामिल थे। जब यह मालूम पड़ा कि रूसी पार्लमेंट (Duma) के द्वारा अब राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने में देर नहीं, तब विभिन्न साम्यवादीदल मिलकर एकदल हो गये, और एक ही समय में इस नामधारी पार्लमेंट में १०० साम्यवादी मेंबर चुन लिये गये। कुछ समय के लिए तो आन्दोलन की प्रतिक्रिया ने बड़ा उग्र रूप धारण किया। साम्यवादियों को जेल, निर्वासन, फाँसी आदि की कड़ी से कड़ी सज़ायें दी गईं। इससे आन्दोलन की आग सदा के लिए बुझी तो नहीं, किंतु, मन्द ज़रूर पड़ गई।

आगे चल कर रूस का साम्यवाद-आन्दोलन निहिलिज़्म, बोलशेविज़्म आदि शाखा-प्रशाखाओं के रूप में खूब फला-फूला। परंतु, साथ ही ज़ारशाही का दमन-दावानल भी बड़े प्रकोप से उमड़ा। न जाने कितने साम्यवादी नेता, राजकुमार और राजकुमारियाँ निर्वासित किये गये, फाँसी पर चढ़ाये गये, और अनेक दर-दर के भिखारी बना दिये गये। ज़ुल्म और ज़्यादतियों की भरमार से जनता संत्रस्त हो गई। चारों ओर अत्याचारों की भट्टी भभक उठी। अंत में रूसी फ़ौजों में—ख़ास कर उत्तरी सेना में—बलवा खड़ा हो गया, और ७ नवम्बर १९१७ को केरेन्स्की (Kerensky) की सरकार उलट दी गई। ज़ारशाही की सत्ता सदा के लिए नेस्तनाबूद कर दी गई। शासन की बागडोर महामना लेनिन के नेतृत्व में बोलशेविकों के हाथ में आई। बाक़ायदा सोवियट सरकार की स्थापना हुई। ये बोलशेविक मार्क्स के अनुयायी हैं। इनका विश्वास था कि रूसी शासन की बागडोर हमारे हाथों में आ जाने से एक विश्वव्यापी सामाजिक क्रान्ति हो जायगी। बोलशेविकों का यह विश्वास कितना भ्रामक था, यह तो सामने आ गया। किन्तु, इसमें कोई संदेह नहीं कि ज़ारशाही को नेस्तनाबूद करने में उन्हें पूरी कामयाबी हासिल हुई।

उपसंहार

इस लेख में साम्यवाद आन्दोलन के क्रम-विकास पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। रूस के अलावा अन्य यूरोपीय देशों के साम्यवाद-आन्दोलन की लगभग सन् १९१० तक की प्रगति का बहुत सरसरी तौर पर चित्र खींचा गया है। रूसी आन्दोलन विश्व के इतिहास में एक ख़ास स्थान रखता है। उसमें घटना-चक्र की विलक्षण ख़ूबियाँ भरी पड़ी हैं। किंतु, लेख लम्बा हो जाने के कारण, उनपर विस्तृत रूप से प्रकाश नहीं डाला जा सकता। रूस के आन्दोलन तथा सन् १९१० के बाद साम्यवाद से अब तक संसार की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है, और इसके कारण विभिन्न देशों की शासन-प्रणालियों में क्या-क्या उलट-फेर हुए हैं, आदि बातों की चर्चा, यदि हो सका तो, फिर कभी की जायगी। (समाप्त)

सुरेन्द्र शर्मा

उत्सर्ग

जाती हूँ मैं नित्य सवेरे
  चुनने को उस तरु के फूल।
कितने प्रिय पद-चिह्न छिपाये—
  है, जिसके नीचे की धूल॥
खेला करते थे हम दोनों,
  जहाँ अकेले, खेल अनेक।
भर लाते वे वारि दृगों में
  जहाँ रूठ जाती मैं नेक।

हाँ! जाती हूँ, चुनती हूँ मैं,
उनके उस प्रिय तरु के फूल।
देती हूँ जीवन-नयनों से,
भरती हूँ फूलों में धूल॥

सुमंगलप्रकाश गुप्त

महात्मा गांधी

(उनका आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन)

(२)

महात्माजी का समस्त जीवन ही दीर्घ, सतत और विजयी आत्म-संयम का एक जीता-जागता स्वरूप है। शरीर और मन को अपने अधीन करने तथा अपनी इच्छानुसार उनसे काम लेने में महात्माजी को जितना लम्बा और कष्ट-पूर्ण आत्म-संयम करना पड़ा होगा, वह निःसन्देह कल्पनातीत है। मैंने उन्हें पाँच-पाँच दिन के दो लम्बे उपवास करते अपनी आँखों देखा है। इन उपवासों के कारण महात्माजी का शरीर तो बहुत कमज़ोर हो गया था, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु उनका चित्त तो इन दिनों भी पहले ही सा सशक्त शान्त, और प्रसन्न बना रहता था। वह कहा करते थे कि उपवास के पहले दो दिन थोड़े कष्ट से बीते थे, परन्तु तीसरे दिन से इस तरह के शारीरिक कष्ट का नाम भी न रहा। वह सम्पूर्ण विश्रांति का सुखद अनुभव लेते रहे। उनका आत्मिक अनुभव तो एकदम निर्दोष, निर्द्वन्द्व और परम शान्तिपूर्ण होता था। उपवास के दिनों में भी 'यंगइण्डिया' और 'नवजीवन' के लिए लिखने और सूत कातने आदि का काम वह नियमानुसार बड़ी तत्परता, नियमितता और शान्ति-पूर्वक करते रहते थे। विवाहित होते हुए भी वह वर्षों से ब्रह्मचर्य-जीवन बिता रहे हैं। जिह्वा स्वाद को स्वाधीन कर लेने के कारण महात्माजी केवल उतना और वैसा ही अन्न ग्रहण करने के आदी हो गये हैं, जितना शरीर की तन्दुरुस्ती और उनके जीवन के लिए नितान्त आवश्यक होता है। लगातार महीनों तक मैंने महात्माजी को दिन में केवल तीन बार-सवेरे, दोपहर और शाम-थोड़ा-थोड़ा खाते देखा है। हर बार के भोजन में आधसेर बकरी का दूध, डबल रोटी के तीन टुकड़े, या इतने ही वज़न की चपातियाँ, २० अंगूर या सूखा मेवा, और दो-एक नारंगी रहती थीं।

मैंने सुना है कि असहयोग के दिनों के पहले महात्माजी प्रतिदिन दो घण्टे चक्की से गेहूँ पीसा करते थे। शरीर से इतने कमज़ोर रहने पर भी केवल आत्मबल के कारण वह इतना शारीरिक परिश्रम कर सकते थे! कुछ वर्ष पहले तक तो वह हमेशा तीसरे दर्जे में रेल का सफ़र करते थे। इन दिनों उन्हें अपने साथी मुसाफ़िरों के हाथ कई बार अपमानित होना पड़ता और कितनी ही असुविधायें उठानी पड़ती थीं। कभी लोग उन्हें ग्वाला समझते और दुर्व्यवहार करते, तो कभी ग़लती से उन्हें जाट या गँवार किसान कहकर अपनी जगह से हट जाने को विवश करते। इन सारे अपमानों और असुविधाओं को वह बड़े सरल भाव से सह लेते, लेकिन लोगों पर अपना व्यक्तित्व प्रकट न होने देते थे। प्रसंगवश एक दिन आश्रम के एक भाई ने मुझे कहा था "अब तो आप बापूजी के साथ बड़े सुख-पूर्वक यात्रा करते हैं; लेकिन ज़माना वह भी था, जब बापूजी सामान की गठरी को अपने सिर पर रख कर स्टेशन से अपने स्थान तक पैदल पहुँच जाया करते थे—फिर वह स्थान चाहे कितनी ही दूर क्यों न हो।" आज की हालत में तो यह सब असंभव हो गया है; क्योंकि, अब तो महात्माजी को अपने समय का पल-पल राष्ट्र के कामों में बिताना पड़ता है। फिर भी उनकी दृष्टि में यात्रा की पुरानी पद्धति और आज के नये ढंग में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। अगर उनसे कोई पूछे भी तो वह यही कहेंगे कि पुरानी पद्धति में तो यात्रा के समय वह अधिक स्वतंत्र रह सके थे, लेकिन आज दूसरे दर्जे की मुसाफ़िरी और निश्चित कार्यक्रम के अनुसार मोटर पर प्रवास करने में उन्हें बहुत अधिक कष्ट उठाना पड़ता है; कई असुविधायें और बन्धन बने रहते हैं।

महात्माजी के इस कथन में न तो झूठी नम्रता का प्रदर्शन है और न भौतिक सुख और सुविधाओं से अरुचि रखने का आडम्बर ही है। मुझे विश्वास नहीं होता कि महात्माजी कभी ऐसी बात भी कह सकते हैं, जिसमें उनका पूर्ण विश्वास न हो। सात महीनों तक लगातार उनके साथ रहने से मेरा तो यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि महात्माजी स्वप्न में भी झूठी बात को आश्रय नहीं दे सकते। लेकिन पाठक यह पूछ सकते हैं कि "जिन चीज़ों से शरीर को सुख मिलता है उन्हीं चीज़ों के उपयोग से महात्माजी को कष्ट क्यों होता है-और, ख़ास कर उस दशा में, जबकि इन

सुख-देने वाली (?) चीजों के लिए आम लोग इतने लालायित और चिंतित रहते हैं ? इस उलझन को सुलझाने के लिए मुझे महात्माजी के जीवन के महत्वपूर्ण अंशों, कार्यों, और उनके स्वभाव तथा रहन-सहन पर काफ़ी प्रकाश डालना पड़ेगा, और यह बतलाना पड़ेगा कि इन बातों में वह विशाल-जन-समुदाय से बहुत परे और ऊपर उठे हुए हैं और उन्होंने अपने जीवन के लिए एक नितान्त नूतन तथा स्वतन्त्र पथ का चुनाव कर लिया है।

आश्रम में पहुँचते ही मुझे यह समझने में देर न लगी कि मूलतः आश्रमके जन्मदाता और प्राण होते हुए भी महात्माजी की उसमें उतनी ही आसक्ति है, जितनी किसी मुसाफ़िर या मेहमान की धर्मशाला या यजमानके घरके प्रति रहती है। उनके सारे अधिकार दूसरे हाथों में बँट चुके थे। अतः जब कोई व्यक्ति आश्रम सम्बन्धी मामलों में, प्रार्थना लेकर उनके पास आता, तो वह उसे कहते कि आश्रम में उनका स्थान एक मेहमान के समान है और इसी कारण किसी तरह के अधिकार का प्रयोग करना अथवा प्रार्थना की स्वीकृति देना उनका काम नहीं है!

महात्मा गांधी

मध्यम श्रेणी के कुटुम्ब में जन्म लेने पर भी उन्होंने अपने लिए कोई सम्पत्ति जुटा कर नहीं रक्खी है। आश्रम के खर्च का भुगतान तो उनके कुछ मित्र कर दिया करते थे। बाज़ार में उनकी बहुसंख्यक पुस्तकें और पर्चे बिकते रहते थे तिसपर भी न तो उन्होंने कभी सर्वाधिकार सुरक्षित रखने का ही प्रयत्न किया और न कभी प्रकाशकों से ही ऐसे अधिकार के लिए कुछ लिया। महासभा के काम के प्रचार के लिए महात्माजी को देश के एक कोने से दूसरे कोने तक की यात्रा करनी पड़ती थी; फिर भी अपने प्रवास-खर्च के लिए उन्होंने अखिल भारतीय तिलक-स्वराज्य कोष से एक पाई भी नहीं ली, न लेनी चाही। व्यक्तिगत उपभोग या उपयोग के लिए धन-संग्रह करनेमें महात्माजी की वृत्ति सम्पूर्ण उदासीन और विरक्त रही है। जब दूर-दूर के प्रवास से महात्माजी आश्रम में वापिस लौटते तब जनसाधारण के झुँड-के झुण्ड आसपास के गाँवों और क़स्बों से, उनके दर्शनके लिए दौड़ेआतेऔर फल-फूलके साथ ही साथ अच्छी संख्या में रुपये-पैसे समर्पण कर उनके प्रति अपने पूज्य-भाव प्रकट करते थे। आश्रम के लिए आय का यह एक अच्छा और प्रामाणिक ज़रिया था; क्योंकि इस तरह की दैनिक भेंट के द्रव्य का परिमाण बहुधा ऊँचे अंकों तक

पहुँच जाया करता था, किंतु कुछ समय बाद जब इससे आश्रम के काम में रुकावट पड़ने लगी तो उन्होंने इस तरह की भेंट को अनुचित ठहरा कर उसे लेना बन्द करवा दिया।

यह तो दुनिया जानती है कि घर-बार छोड़ कर महात्माजी सन्यासी नहीं हो गये हैं। उनका अब तक का सारा जीवन स्त्री और बाल बच्चों के साथ गृहस्थी में ही बीता है। फिर भी उनके व्यक्तित्व की छाप और उसका निरालापन यहाँ भी काम कर रहा है। जहाँ एक ओर वह अपने स्वजनों के सच्चे कल्याण के साधनों को जुटाने और बढ़ाने में सदा जागरूक रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर एक साधारण आदमी की तरह वह उतर कर इतने नीचे भी नहीं आ सके कि रात-दिन कुटुम्ब-हित की दुभयवी चिन्ता में ही व्यस्त रहा करें। मुझे याद नहीं पड़ता कि किसी दिन भी मैंने महात्माजी को स्वजनों और बाहर वालों के साथ व्यवहार करते समय भेद-भाव या पक्षपात से काम लेते देखा हो। इसके विपरीत, जहाँ तक मैं देख पाया हूँ, महात्माजी अपने साथियों और अनुयायियों के प्रति अधिक अपनापन प्रकट किया करते थे। सब के प्रति अपने इसी समान-व्यवहार और सम-वृत्ति के कारण महात्माजी 'बापू' या पिताजी जैसे नाम के अधिकारी हो सके। गुजरात में तो वह "बापू" के नाम से सुप्रसिद्ध हैं ही। इस प्रकार उन्हें 'बापू' कहने का जो अधिकार उनके लड़कों तक ही परिमित था, अब उस पर उनका एकाधिकार नहीं रहा है; अब तो सर्वसाधारण भी उसके समान अधिकारी हो गये हैं। जब कोई व्यक्ति उनके पास थोड़े समय तक रह लेता है, तो उसे इस बात की प्रतीति भलीभाँति हो जाती है। जो लोग आरंभ में समानता के भाव लेकर महात्माजी से मिलने आते हैं वे भी शीघ्र ही उन्हें 'बापूजी' कहने लगते हैं; उनकी इस प्रवृत्ति का कारण स्पष्ट है।

साधारणतः यह देखा जाता है कि लोग अपने प्रशंसकों पर प्रीति जतलाते और निंदकों से घृणा कर उनसे अलग रहने की चेष्टा करते हैं। महात्माजी के सम्बन्ध में मैंने बिलकुल विपरीत अवस्था का अनुभव किया है। उनका कोई भी प्रशंसक उनकी प्रीति को पाने की आशा नहीं रखता। मद्रास के किसी सज्जन ने 'गांधी की देव-वाणी' (The Gospel of Gandhi) शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की थी। जब महात्माजी ने 'गॉस्पेल' शब्द को शीर्षक के साथ जुड़ा हुआ देखा तो उन्हें अत्यधिक कष्ट हुआ। उन्होंने मुझसे कहा था कि उनके उपदेशों के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग करना धर्म का प्रत्यक्ष अपमान है। किसी दूसरे अवसर पर एक विलायती समाचार पत्र (ग्लासगो हेरल्ड) में प्रकाशित एक लेख, जिसमें महात्माजी की प्रशंसा की गई थी, 'यंग-इन्डिया' में छपने के लिए आया था। महात्माजी उस समय प्रवास में थे, अतः 'यंग इन्डिया' में छपने के बाद ही उक्त लेख महात्माजी की नज़रों से गुजरा। इस प्रकाशन से उन्हें अवर्णनीय कष्ट तथा वेदना हुई थी। जब कोई व्यक्ति अपने लोगों से अधिकार और प्रतिष्ठा में अधिक ऊँचा चढ़ जाता है तो साधारण नियमानुसार देश का एक भाग तो उसका प्रशंसक बन जाता है और दूसरा उसका निंदक। महात्माजी के सम्बन्ध में भी मेरा यही अनुभव रहा है। प्रति दिन उनके पास बहुत से पत्र आते थे: उनमें से कुछ तो उनकी अत्यधिक प्रशंसा से भरे रहते और दूसरों में उनके प्रति घृणा, असन्तोष और तिरस्कार प्रकट करने वाले कठोर से कठोर शब्दों का प्रयोग होता था। कभी-कभी मैं उन्हें एक-दो प्रशंसात्मक पत्र पढ़ कर सुनाया भी करता, पर मैंने सदैव यह देखा कि उन्हें सुनकर वह थोड़े भी प्रसन्न न होते वरन् उलटे शिथिल और निराश हो जाते थे। मेरा अपना अनुभव तो यही है। दूसरी ओर जब उनके किसी कार्य की आलोचना या निन्दा उन्हें पढ़कर सुनाई जाती, तो वह उसके एक-एक शब्द को बड़ी सावधानी और एकाग्रता से सुनते और इस बात के लिए चिन्तित रहते कि उसमें सत्य की रक्षा कितनी कम या अधिक मात्रा में की गई है। बम्बई के दंगे के दिनों में * वहाँ के पारसी भाई-बहनों ने महात्माजी के नाम पत्रों का तांता सा लगा दिया था और उन्हें बुरे से बुरे शब्दों में सम्बोधित किया था। मैंने उन्हें इनमें का एक-एक पत्र पढ़ कर सुनाया, लेकिन मैंने देखा कि इन पत्रों का उन पर थोड़ा भी असर नहीं हुआ था; वह पहले जैसे ही शान्त और प्रसन्न बने रहे थे। इतने बुरे ढंग से आक्रमण होने पर भी उनके प्रभाव से एकदम अलिप्त रहना, मुझे

* प्रिन्स आफ वेल्स के बम्बई आने पर—१७ नवम्बर १९२१

उस समय एक तरह का असाधारण आत्म-संयम जान पड़ा था, और वह बिलकुल सच था।

उनके स्वभाव की एक दूसरी असाधारणता ने भी मुझे उतना ही प्रभावित किया है। वह यह है कि जो लोग महात्माजी का विरोध करते थे वे उनसे अधिक, महत्व, सम्मान और प्रेम-पूर्ण अभ्यर्थना पाते—इतनी कि उनके परमप्रिय अनुयायी भी साधारणतः उसे नहीं पा सकते थे। उनकी या उनके सद्गुणों की कैसी भी प्रशंसा उन्हें सदा उदासीन और विरक्त ही रखती है। महात्माजी के प्रशंसक अपनी प्रशंसा के बदले उनसे इससे अधिक कुछ भी पाने की आशा नहीं रख सकते। हाँ, उनके जिन सच्चे अनुयायियों ने अपने आपको पवित्र करने और ऊपर उठाने में किसी सीमा तक कठिन तपस्या की है उनपर महात्माजी की शुभाशीष सदा अखंड रूप से बरसती रही है। तिसपर भी, जो कुछ मैंने देखा है उसपर से, मैं तो इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अपने विरोधियों और मित्रों के बीच महात्माजी का प्रेम और सद्भाव मित्रों की अपेक्षा विरोधियों के लिए अधिक सुरक्षित रहता था।

पतितों और पीड़ितों के लिए महात्माजी की सहानुभूति अत्यधिक गम्भीर और निःसीम होती है। उनकी सहानुभूति के लिए इनसे अच्छे पात्र और नहीं हो सकते। स्वभावतः महात्माजी की सहानुभूति उस मनुष्य के लिए अधिक बढ़ जाती है, जो दूसरों का कोप-भाजन बन चुका होता है। एक बार किसी कारण से आश्रम के अधिकांश निवासी एक विशेष व्यक्ति के प्रति सम्मान प्रकट करने अथवा उसकी बातों को ध्यान देकर सुनने के विरोध में थे। इस व्यक्ति का सदाचार और व्यवहार आश्रम में चारों ओर आलोचना का कारण बन चुका था। स्वयं महात्माजी को भी उसका आचरण पसन्द न था। किन्तु जिस दिन उन्हें मालूम हुआ कि आश्रम के सब अधिवासी उसके प्रति उदासीन और कठोर हो गये हैं, उस दिन से महात्माजी ने हज़ार आवश्यक कामों को छोड़कर प्रतिदिन उसके पास जाने का दृढ़ संकल्प सा कर लिया। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही वह आश्रमवासियों का प्रीति-भाजन बन गया।

ऐसे मामलों में महात्माजी की मानसिक अवस्था माननीय हो जाती है। जब अपने पास के किसी व्यक्ति को वह मिथ्याभाषण करते या अप्रामाणिक व्यवहार करते देखते हैं, तो सबसे पहले वह आत्म-निरीक्षण करते और इस बात का पता लगाते हैं कि उन्होंने किस जगह ग़लती की होगी। उनका दृढ़ विश्वास है कि अगर वह व्यवहार में किसी तरह के दोष या मिथ्यात्व के भागी नहीं हैं, तो उनके निकट-संपर्क में रहकर काम करने वाले भी किसी तरह के असदाचरण के दोषी नहीं हो सकते। महात्माजी के इतने निकट-संसर्ग में रहने के कारण मेरा तो यह सत्य विश्वास हो चुका है कि उनका जीवन इतना निर्मल, पारदर्शी और पवित्र है कि उसमें जनता से छिपाकर रखने की कोई बात शायद ही हो।

ऐसी उच्च पवित्रता और आडम्बर-शून्य सादगी को उन्हों ने किस तरह प्राप्त किया, किन-किन निश्चित अध्यात्म-नियमों द्वारा वह मनुष्य स्वभाव की अपवित्रता और अपूर्णता को इतनी असाधारणता-पूर्वक अपनेमें से निकाल बाहर कर सके? यह एक प्रश्न है, जो उच्च जीवन की आकांक्षा रखने वाले प्रत्येक हृदय में उठता है। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात लिखना कठिन है। क्योंकि सात महीनों तक रात और दिन अखंड रूप से महात्माजी के संसर्ग में रहने पर भी मैं उनके आंतरिक आत्म-संयम के तत्वों को जानने का दावा नहीं कर सकता—हाँ, उनके बाह्यसंयम से इस सम्बन्ध में कुछ परिणाम निकाला जा सकता है। फिर महात्माजी अपने आत्म-संयम के सम्बन्ध में कभी कुछ वार्तालाप भी तो नहीं करते थे। अपने जीवन के अन्तःधार्मिक पहलू को जनता की दृष्टि से छिपाये रखने में वह यथासम्भव खूब सतर्क से दिखाई देते थे। उनके सम्बन्ध में मैं जो कुछ देख पाया हूँ उसपर विचार करते हुए मैं इसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा हूँ। हाँ, उनकी एक बात मेरे लिए बिलकुल स्पष्ट है। वह है सत्य में उनका दृढ़तम विश्वास और आध्यात्मिक शक्ति के रूप में सत्य के अनुसरण का उनका दृढ़ संकल्प। दुनिया में ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसे महात्माजी सत्य की ख़ातिर न छोड़ सकें। इन सब बातों को देखते हुए मेरा यह दृढ़ विश्वास होता जा रहा है कि महात्माजी की आध्यात्मिक शुद्धि, निसर्ग के अनुसरण का परिणाम है—उस निसर्ग-जात सत्य के प्रकाश का, जो निरन्तर उनकी

आत्मा को प्रकाशित करता और उनके जीवन तथा आचरण को उज्ज्वल बनाता रहा है।

वैष्णव-कुल में जन्म लेने के कारण वैष्णवों के संस्कार उनकी नस-नस में व्याप्त हैं। उनका बचपन और लड़कपन गुजरात में बीता, जहाँ जैन-धर्म के सिद्धान्तों का जनता के हृदय पर काफ़ी प्रभुत्व है; अतः अपने जीवन के अत्यन्त कोमल और सुकुमार दिनों में इन धार्मिक सिद्धान्तों की गहरी छाप उनके हृदय पर पड़ी होगी। जब महात्माजी विलायत और दक्षिण आफ्रिका गये थे तो वहाँ भी धार्मिक वातावरण में ही वह अपना जीवन व्यतीत करते थे, और अनेक धर्मप्राण ईसाइयों के संसर्ग में वह रहे थे, जिनसे ईसामसीह के उपदेशों को बड़ी श्रद्धापूर्वक, बाइबल में, पढ़ा था। महात्माजी कई भक्त-हृदय मुसलमानों के संसर्ग में भी रह चुके हैं। उनमें सब धर्मों के विविध सिद्धान्तों को सुलझा कर समझने और उनके गम्भीर सत्य को जानने की अद्भुत शक्ति रही है, जिनके कारण वह साम्प्रदायिक भावों तथा विचारों के दल-दल में गिरने से सदा बचे हैं। आज कल तो गीता ही उनका सर्वस्व बन बैठी है—वह दिन रात उनके हाथ में रहती और उनके लिए एक मार्गदर्शक, सखा तथा गुरु का काम देती है। गीता को तो उन्होंने अपना कण्ठमाल ही बना लिया है। महात्माजी विलायत से लौटे हुए बैरिस्टर हैं, फिर भी अपने स्वभाव, रहन-सहन और व्यवहार में वह एक कट्टर हिन्दू से किसी तरह कम नहीं हैं।

गीता की प्रति के साथ ही साथ महात्माजी के खद्दर के झोले में रुद्राक्ष की एक माला भी रहा करती थी। लेकिन मैंने उन्हें उसका उपयोग करते हुए बहुत कम देखा है। असहयोग-आन्दोलन के नाज़ुक दिनों में दो दिन तक सबेरे मैं महात्माजी का बिछौना उठाने गया था तब मैंने उक्त माला को उनके तकिये के पास पड़ी देखा और विचार किया था कि संभवतः महात्माजी उसे रात में फेरते रहे होंगे। पुनः १९२१ के सितम्बर में जब महात्माजी कलकत्ते में श्रीयुत मुकर्जी से मिले, तब उन्होंने श्री० मुकर्जी को अपनी माला बताई और कहा था कि "ईश्वर नाम-स्मरण के समय मैं इसका उपयोग करता हूँ परन्तु अनुभव ने मुझे यह बतलाया है कि चर्खा कातते हुए ईश-स्मरण करते रहना अधिक हितकर है।" उन्होंने यह भी कहा था कि अगर जनता चर्खे को धार्मिक-संयम की जगह अपना ले तो निस्सन्देह उसकी वृत्ति ईश्वर की ओर अपने आप बढ़ेगी। चर्खे के धार्मिक पहलूपर 'यंगइण्डिया' में लिखते हुए महात्माजी ने इन्हीं भावों को दुहराया है। वह लिखते हैं—"और मुझे दृढ़ विश्वास है कि जब देश के लाखों स्त्री-पुरुष चर्खे को यज्ञ की दृष्टि से अपनायेंगे तो वह उन्हें अवश्य ही आस्तिक बनावेगा" *। उनकी प्रार्थना के ढंग को तो मैं अच्छी तरह नहीं जानता, परन्तु मैंने उन्हें कई बार संपूर्णतया एकाग्र मन से चर्खा चलाते देखा है। इसे देख कर बार-बार मेरे मन में यह विचार उठा है कि संभवतः महात्माजी 'अजपा' † प्रार्थना-विधि का अभ्यास करते थे। परन्तु मैं यह ठीक-ठीक नहीं कह सकता कि उन्होंने प्रार्थना की यह विधि कैसे और कहाँ से सीखी।

महात्माजी के जीवन के धार्मिक-पहलू को जिस तरह मैं समझ सका हूँ और जिस रूप में मैंने उसे समय-समय पर देखा है, उसे मैं पाठकों के सम्मुख रख चुका हूँ। कई लोग, कई तरह से महात्माजी की सर्वतोमुखी महत्ता को पहचानने और उसका अनुमान करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिससे उनके विश्ववन्द्य व्यक्तित्व के सब पहलुओं का दृष्टि-कोण निश्चित किया जा सके। किन्तु मेरा विश्वास है कि महात्माजी के चरित्र का संश्लेषणात्मक (Synthetic) रूप समझना तब तक असम्भव ही है, जब तक कोई उनके जीवन के धार्मिक पहलू को गम्भीरता और योग्यता-पूर्वक समझ न ले; क्योंकि, उनके जीवन के बाहर-भीतर चारों ओर धार्मिकता कूट-कूटकर भरी है। उनकी अन्तःधार्मिकता उनके उच्च,

*चर्खा या हाथकताई बलात्कार जन्य अपवित्रता से हमारी बहनों की रक्षा करेगी। भिखमंगपन को, जो आज कइयों के जीवन का साधन बना है, चर्खा नष्ट-भ्रष्ट कर डालेगा। वह मन को सुस्थिर बनावेगा और मुझे दृढ़ विश्वास है कि जब देश के लाखों स्त्री-पुरुष चर्खे को यज्ञ की दृष्टि से अपनावेंगे तो वह हमें अवश्य ही आस्तिक बनावेगा। चर्खे के धार्मिक पहलू का सार यही है।

†चुप-चाप माला फेरते हुए ईश-स्मरण करते रहना 'जप' करना है; 'अजपा' विधि में श्वासोच्छ्वास के साथ-साथ नाम स्मरण किया जाता है।

पवित्र और आत्म-विस्मरणशील विचारों में समाई हुई है और उसका बाह्य स्वरूप उनके दैनिक राग-द्वेष-हीन कार्यों तथा हलचलों में प्रस्फुटित होता रहता है। गुजरात के सुप्रसिद्ध भक्त कवि श्री नरसी महता का एक भजन महात्माजी को अत्यन्त प्यारा है। उनकी प्रार्थना के समय बहुधा यह भजन गाया जाता है। १० मार्च १९२२ के दिन सबेरे १०॥ बजे अपनी गिरफ्तारी के बाद जब महात्माजी आश्रम से बिदा ले रहे थे, उन्होंने उपस्थित आश्रम वासियों से यही भजन गाने को कहा था। ऐसा मालूम होता है, मानों उनकी सारी आत्मा, उनके जीवन का समस्त सार इस प्रार्थना के द्वारा प्रकट होता रहता है। इस भजन में महात्माजी की मनोवृत्ति और उनकी आत्मा की मांगों का ऐसा हूबहू चित्र खिंचा हुआ है कि पाठकों के लाभार्थ उसे जैसा का तैसा यहाँ देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

"वैष्णव-जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे॥
सकल लोक मां सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर-स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह-माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे॥
राम नामशुं ताळी लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वण लोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्यां रे॥
भणे नरसैंयो तेनुं दरशन करतां कुल एकोतेर तार्यां रे॥

नरसीजी के इस सुप्रसिद्ध भजन में राम-नाम की स्तुति की गई है। एक बार जब महात्माजी दिन भर के कठिन परिश्रम के कारण खूब थक चुके थे, मैंने उन्हें लम्बी-लम्बी सांस लेते और साथ ही उस परम-पिता का "श्रीराम श्रीराम" शब्दों में स्मरण करते सुना था। फिर जिस श्रद्धा और आदर-पूर्वक वह तुलसीदासजी की रामायण का नाम लेते और श्रीराम की स्तुति में कही गई प्रार्थनाओं को सुनते हैं, उसे देख कर मैं तो ठीक इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि महात्माजी 'श्रीराम' का स्मरण भगवत्पूजा की पवित्र भावना से प्रेरित होकर ही करते हैं। (समाप्त)

कृष्णदास

अजमेर

हिन्दू साम्राज्य का अन्तिम केन्द्र, राजवंशों के उत्थान और पतन का निर्निमेष साक्षी, महीभुजों के विलास और विवाद का प्राचीन क्षेत्र अजयमेरु, वर्तमान अजमेर नगर, आज वृद्धावस्था में भी वैसा ही शोभाशाली बना हुआ है जैसा हज़ार वर्ष पहले था। जब अजयमेरु जीवन के प्रभात में मुस्करा रहा था, वैभव की उषा में जगमगा रहा था, तब दिल्ली की नींव भी नहीं पड़ी थी और आगरे का कोई नाम भी नहीं जानता था। ८०० वर्ष पूर्व पृथ्वीराज-विजय के रचयिता जयानक ने अमरावती और लंका को भी इस नगरी के आगे तुच्छ बतलाया था।* यद्यपि आज समय के प्रहारों ने—कोई और खण्डहरों ने—स्थान-स्थान पर अपनी छाप लगा दी है, तथापि कोई भी सहृदय दर्शक अजमेर को देख कर उसकी प्राचीन महत्ता का अनुभव किये बिना न रहेगा।

*विद्वद्वर पं० शिवदत्त शर्म्मा ने 'पृथ्वीराज-विजय' का सारांश 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (भाग ५, संख्या २) में प्रकाशित कराया था। उसमें अजयमेरु का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"उसने (अजयराज ने) अजयमेरु नाम का एक नगर बसाया। इस नगर का यह नाम सार्थक है, क्योंकि मेरु पर देवता वास करते हैं और इसमें पुण्य-प्रभाव से कोई ऐसी बात ही शेष नहीं है, जो अन्यत्र हो और इसमें न हो। यहाँ निरन्तर बड़े-बड़े यज्ञ होते रहते हैं, जिनका धुआँ अधिक वृष्टि का कारण है। यहाँ के भवन ऐसे ऊँचे हैं कि उनपर चढ़ने से तारारूपी पुष्प तोड़े जा सकते हैं, मन्दाकिनीहृद की वन्दना हो सकती है और सप्तर्षियों का तृतीय सवन का स्वर सुना जा सकता है। लोग जो यह कहा करते हैं कि कोई वस्तु या स्थान ऊँचा होनेके कारण पहले दिखाई देता है, यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो सब दिशाओं में दौरा लगाने वाले कलि ने इस नगर को क्यों नहीं देखा? इस नगर में ऐसा कोई धार्मिक नहीं है जो अपना धर्म्म-कर्म्म कीर्त्ति की इच्छा से करता हो। यहाँ के

भला ऐसी महिमा-मयी नगरी की गौरव-गाथा करने की हममें कहाँ योग्यता ? थोड़े से स्थान में, अजमेर जैसा आज है, उसीका वर्णन करेंगे: प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जगहों के नाम गिना देना ही हमारी क्षमता में है। दूर-दूर से दिखाई देती हुई अरावली की चोटियाँ (जिनकी उपत्यका में अजमेर नगर क्रीड़ा कर रहा है) यात्री को बता रही हैं कि इस स्थान पर प्रकृति का कितना स्नेह है। परन्तु इसके प्रति मनुष्य के प्रेम का पता तभी लगेगा, जब आप नगर की प्रतोली—रेलवे स्टेशन—से प्रवेश करके पास के बाज़ार मदार दरवाज़े को देखेंगे। राजपूताने में बहुत थोड़े नगर इतने जन-संकुल हैं। यहाँ की मनुष्य-संख्या एक लाख के लगभग है।

इस प्रचीन नगरी में अनेक ऐतिहासिक तथा दर्शनीय स्थान थोड़ी-थोड़ी दूर पर जड़े हुए से जान पड़ते हैं। स्टेशन से नगर की ओर आने पर सबसे पहला ऐतिहासिक स्थान अकबर का क़िला मिलता है जिसको आजकल मैगज़ीन कहते हैं। यह क़िला सन् १५७२ ईस्वी में बना था।

क़िले का दृश्य (सामने से)

राज-महल अत्यन्त मनोहर हैं और पुण्डरीकों (कमलों) से, अच्छे दाँत वाले हाथियों से और अच्छे अच्छे अश्वों से सुशोभित हैं। आय कारण है, व्यय कार्य है। कारण के पीछे कार्य होता है। परन्तु यहाँ सत्पुरुष पहले सन्मार्ग में व्यय करते हैं और पश्चात् धन प्राप्त करते हैं। यहाँ के लोगों का धर्माचार धन को बढ़ाता है और धन धर्माचार को। यहाँ की विविध बावड़ियों, कुओं, तालाबों और प्याउओं में उनके बनाने वाले स्वर्ग-वासियों का जीवन (जल और प्राण) ज्यों का त्यों दिखाई देता है। यहाँ के राजाओं के लिए वीर्य्य प्रताप का, प्रताप श्री का, श्री धर्म का और धर्म्म भोग और अपवर्ग का कारण है। यहाँ के लोग धर्म के अनुकूल अर्थ कमाते हैं; अर्थानुकूल विलास करते हैं; और उनका विलास भी मोक्षमार्ग के अनुकूल होता है। त्रिलोकी के सार शम्भु हैं; परन्तु उनका भी सार उनकी त्रिनेत्रता है। तिस पर भी अधिक सारवान् चन्द्र है, जिसकी उपमा यहाँ की कान्ताओं के मुख से होती है। यहाँ के निवासी झरोखों में बैठे बैठे स्वर्ग की गंगा की वायु का सेवन करते हैं। बेचारा वरुण समुद्र की सर्वस्वहारी वाड़वाग्नि से डर कर यहाँ के कुओं को सेवता है। यदि यह बात नहीं है तो बताओ कि यहाँ गिरिदुर्ग में जल क्योंकर है ? स्त्रियों के केशों की सुगंधि के लिए जलाई हुई धूप का धूँआ पहले मकानों को, और उसके पीछे चन्द्रमा को श्याम करता है। अन्य नगरों में चोर हैं, निर्दयी शासक हैं, वृष्टि के आधार पर होने वाले खेत हैं, बहुत से निर्धन हैं, काल से पीड़ित हैं, परन्तु यहाँ ऐसी बातों का अभाव होने से कोई नगर इस अजमेर से बढ़कर नहीं हो सकता। यहाँ के सज्जन पुरुष पुष्कर में आकर ब्राह्मणों का सत्कार करते हैं और वहाँ से घर लाये हुए जल के स्पर्श से शुद्धि मानते हैं। रत्नरूपी दीपक को हाथ में लेते हुए किसी बालक को देख कर धात्री सम्भ्रान्त हो "हा ! हा !!" करती है, इसे देख चट हँसते हैं और उसकी हँसी उड़ाते हैं कि तू मणि को अंगार समझती है। इस नगर की समृद्धि ऐसी है कि यहाँ के निवासियों के शरीरों से जो कर्पूर और कस्तूरी गिरती है, वह मार्ग में चलने वालों के वस्त्रों को सितासित कर देती है। समुद्र पार की लंका नगरी, जिसे राम ने जीता था, और समुद्र के बीच की द्वारका, जिसको कृष्ण ने बसाया, ये दोनों अजमेर की दासी भी बनने के योग्य नहीं हैं। यहाँ घर-घर बाजों की ध्वनि होती है।"

अन्दर से यह चतुष्कोणात्मक है। चारों भुजाओं पर बड़े-बड़े कमरों की कतारें हैं। आँगन के बीचोंबीच स्वयं बादशाह के रहने के लिए एक छोटासा सुन्दर महल बना हुआ है। अब इस महल में राजपूताने का पुरातत्व-संग्रहालय है, जिसके अध्यक्ष श्रद्धेय महामहोपाध्याय श्री गौरीशंकरजी हीराचन्दजी ओझा हैं। इसमें प्राचीन शिलालेखों तथा मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। क़िले के चित्र में पाठक वे झरोके देख सकते हैं, जहाँ बैठ कर सम्राट् जहाँगीर प्रजा को प्रति दिन दर्शन दिया करता था और जहाँ सर टामस रो ने उससे पहलेपहल मुलाक़ात की थी। इसी फाटक के पास वह मैदान है, जहाँ हाथियों की लड़ाई और घुड़दौड़ इत्यादि हुआ करती थीं।

क़िले के सामने ही नगर का सर्वश्रेष्ठ बाज़ार नया बाज़ार है। इसके निर्माण-सौन्दर्य के कारण इसे चौपड़ का बाज़ार भी कहते हैं।

आगे चलने पर दरगाह बाज़ार आता है। यहाँ उस महापुरुष का समाधि-मन्दिर है, जिसकी वार्षिक जयन्ती पर फ़ारस और चीन, समरक़न्द और बुख़ारा तक से भक्तगण आते हैं। यह ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह है। ख़्वाजा साहब बारहवीं शताब्दि में बड़े पहुँचे हुए सन्त हो गये हैं, जिनके प्रति हिंदू और मुसलमानों की समान-श्रद्धा बतलाते हैं। प्रतिवर्ष रजब के महीने में आपका उर्स होता है, जिसमें लगभग एक लाख आदमी जमा हो जाते हैं। व्यापारी भी दूर-दूर के आते हैं। परन्तु अत्यन्त शोक की बात है कि इस मेले में दुराचार प्रतिवर्ष बढ़ता ही जाता है। एक योगी की पवित्र स्मृति को व्यभिचार और जुए से कलंकित किया जा रहा है!

दरगाह में मुख्य द्वार से प्रवेश करने पर एक छोटा चौक आता है। इसमें सामने की ओर एक बहुत बड़ा फाटक है, जिसे बलंद दरवाज़ा कहते हैं। चौक की दाहिनी ओर बादशाह अकबर की मस्जिद का दरवाज़ा है। बलंद दरवाज़े को पार करने पर भट्टियों पर रक्खी हुई दो बड़ी देगें मिलती हैं, जिनमें से एक में ७५ मन और दूसरी में २८ मन चावल पक सकते हैं। जब दानी पुरुष इनमें चावल इत्यादि पकवाकर बटवाते हैं, तब एक विचित्र ही दृश्य होता है। लोग शरीर में चिथड़े लपेट कर देग में कूद पड़ते हैं; और चावल निकाल लाते हैं। कितने ही लोग इस व्यापार में जल ही जाते हैं। जिस चौक में ये देगें रक्खी हैं उसके पश्चिम में महफ़िलख़ाना है, जहाँ उर्स के अवसर पर रात-रात भर गाना-बजाना होता है। दूर-दूर के क़व्वाल आते हैं। बलंद दरवाज़े के सामने की ओर दो दरवाज़े हैं, जिनमें एक शाहजहाँ-निर्मित संगमरमर की बनी भव्य
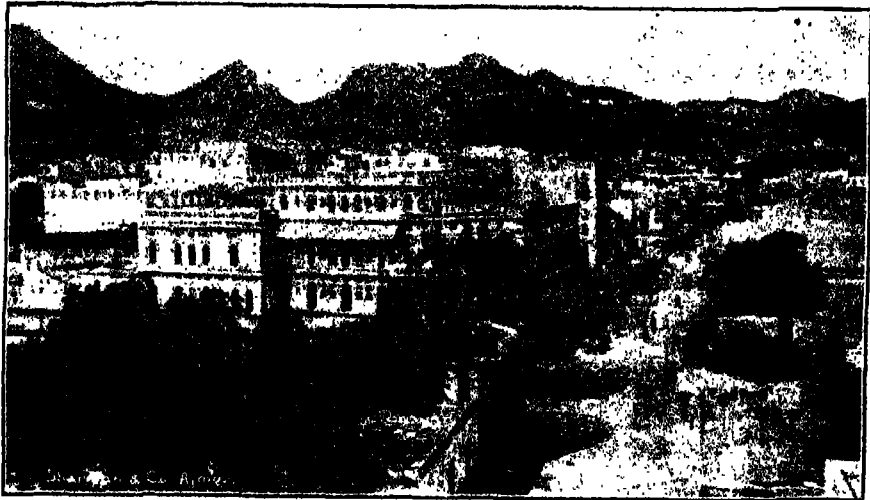
नया बाज़ार
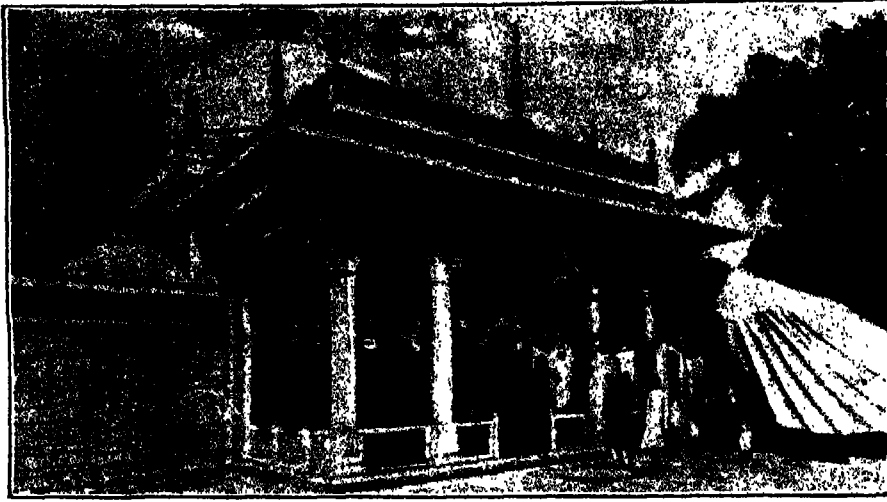
दरगाह के अंदर का दृश्य (बेगमी दालान)

आमामस्जिद का है, दूसरे दरवाज़े से उस चौक में पहुँचते हैं, जहाँ ख्वाजा साहब का समाधि-स्थल है। इस चौक में ही वह स्थान है, जहाँ ख़्वाजा साहब अजमेर आने पर पहले-पहल ठहरे थे। यहीं हुमायूँ बादशाह के प्राण-रक्षक भिश्ती की क़ब्र है। और भी अनेक छोटी-मोटी क़ब्रें हैं। परन्तु ख़्वाजा साहब की समाधि के आगे उनका महत्व घट जाता है।

ख़्वाजा साहब के मकबरे का दालान बेगमी दालान कहलाता है। इसकी दीवारों तथा छत में बहुत बढ़िया संगमूसा का काम हो रहा है; सुनहले बेल-बूटे भी चित्रित हैं। इसके भीतर वाले कमरे की छत पर गुम्बज (कमरा) बना हुआ है। कमरे के तीन दरवाज़े हैं, जिनके किवाड़ चाँदी से मढ़े हुए हैं। अन्दर कई फ़ीट नीचे ख़्वाजा साहब की क़ब्र है। ऊपर संगमरमर की नकली क़ बनी हुई है, जो कमख़ाब के बढ़िया कपड़े से ढकी रहती है। क़ब्र पर सीपियों का छपरखट है। इसमें बहुमूल्य परदे लटके हुए हैं। क़ब्र के चारों ओर चाँदी से मढ़े दो कटघरे हैं। किम्वदन्ती है कि इसी स्थान के नीचे तहख़ाने में शिवलिंग स्थापित है!

दरगाह से संबन्ध रखने वाली और भी अनेक इमारतें हैं, जिनका वर्णन इस छोटे लेख में करना कठिन है। दरगाह के विषय में श्री केन का कथन है कि "जिसने दिल्ली और आगरे की सैर नहीं की उसे तो यह स्थान अवश्य ही मुग्ध कर लेगा।" कला की दृष्टि से तो दरगाह उत्तम शिल्प का नमूना है ही, किन्तु, उर्स के दिनों में, चहल-पहल और सजावट, भीड़भाड़ और जगमगाहट में भी अपनी निराली ही छटा दिखाती है!

दरगाह से थोड़ी ही दूर पर पश्चिम में अढ़ाई दिन का झोंपड़ा है। अढ़ाई दिन तक होने वाले एक मेले के कारण ही इसका यह नाम पड़ा है। यह स्थान प्राचीन काल में एक हिन्दू विद्यालय (सरस्वती-मन्दिर) था, जिसको सुलतान अलतमश ने तुड़वाकर मस्जिद का रूप दे दिया। जनरल कनिंघम के शब्दों में, "इतिहास अथवा कला की दृष्टि से भारत में कोई भी इमारत इतना महत्व नहीं रखती। ....अलंकारिता के आधिक्य, बारीकी की सम्पन्नता, नक्काशी की सर्वांङ्ग-सुन्दरता और निर्माण-कौशल की पराकाष्ठा में (जो निःसन्देह हिन्दू कारीगरी के चिन्ह हैं) यह संसार के किसी भी सर्वोत्कृष्ट भवन की समता कर सकता है।" श्री फर्ग्युसन इस झोंपड़े के विषय में कहते हैं कि "काहरा अथवा फ़ारस की किसी भी इमारत में बारीकी का काम इतनी संपूर्णता को नहीं प्राप्त हुआ है। ऊपरी कारीगरी के सौंदर्य में स्पेन और सीरिया का कोई भी स्थान इसे नहीं पहुँच सकता।"

अढ़ाई दिन का झोंपड़ा एक ऊँचे चबूतरे पर बना हुआ

है। मुख्य द्वार से भीतर जाने पर एक बड़ा चौक मिलता है। जिसमें सामने की ओर महराबदार दरवाज़ों वाला‡ २४८ फ़ीट लम्बा और ४० फ़ीट चौड़ा हॉल है, जिसमें ७० खम्भे हैं। बीच के तीन दरवाज़ों के किनारों पर कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। हाल की छत पर पाँच बड़े और चार छोटे गुम्बज हैं। खम्भों पर और छत में बहुत ही बारीक नक्काशी की गई है। छत की गुम्बज़ों में भी ऐसी ही बारीकी का काम है। इसे देखकर दर्शक मुक्तकंठ से प्रशंसा किये बिना न रहेगा। ऐसी संपूर्ण एवं त्रुटिहीन महराबें, खम्भे और गुम्बजें, श्री सारडाजी के कथनानुसार, हिन्दुओं के गणित के उच्च ज्ञान के परिचायक हैं।

अढ़ाई दिन का झोंपड़ा (भीतरी दृश्य)

इनमें से प्रस्तर पर खुदे हुए दो संस्कृत नाटक हैं। पहला नाटक कवि सोमदेव-कृत ललित-विग्रह-राज है। दूसरा महाराज विग्रहराज-रचित हरकेलि है। प्रत्येक नाटक दो-दो शिलाखण्डों पर अंकित है। एक शिला पर विविध देवताओं की स्तुति खुदी है। एक और शिलालेख मिला है, जो मालव-विजयी अजमेराधिपति अजयदेव की प्रशस्ति है। इस प्रशस्ति के अलग-अलग टुकड़े मिले थे, जिन्हें श्री ओझाजी ने बड़े परिश्रम से जोड़कर पढ़ा। आज-कल उक्त शिलालेख राजपूताना म्यूज़ियम में रक्खे हुए हैं। इन भग्नावशेषों को देखकर किस हिन्दू का मस्तक अभिमान से ऊँचा न उठ जायगा?

यहाँ दरगाह की सी भीड़भाड़ नहीं रहती। सरस्वती का प्राचीन मन्दिर एकान्त में खड़ा रो रहा है! स्वार्थी मनुष्य की उससे क्या सहानुभूति? सारी मस्जिद टूटी-फूटी मूर्तियों से भरी पड़ी है। अलतमश के समय में जब मूर्तियाँ तोड़ी और उखाड़ी गई तो उन्हें दूसरी जगह फेंकवाया नहीं गया। वे वहीं जमा कर दी गई। मुहल्ले वालों ने इन मूर्तियों का साधारण पत्थरों की तरह उपयोग किया। बहुमूल्य शिलाओं को फ़र्श में जड़ा, और इस प्रकार अपनी बर्बरता दिखाने में कोई कसर न रक्खी! यह नृशंस व्यापार थोड़ा-बहुत उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त तक चलता रहा। वहाँ से प्राप्त हुए शिलालेखों का सम्पादन डा० कीलहॉर्न ने किया है।

अढ़ाई दिन के झोंपड़े से प्रायः दो मील दूर प्रसिद्ध नूर-चश्मा है। दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं, बीच में कल-कल करती हुई स्वच्छ जलधारा बह रही है। यह है अजमेर की रम्य उपत्यका। बादशाह नूरुद्दीन जहाँगीर को दो स्थान बहुत पसन्द थे: एक तो काश्मीर, दूसरा यह उपत्यका। अपने ही नाम पर उन्होंने इसका नाम नूर-चश्मा रक्खा था। चश्मे के उद्गम-स्थान पर उनके महलों के खण्डहर अब भी दृष्टि-गोचर होते हैं। इन अवशेषों को देखकर नाना-विध कल्पनायें उठती हैं—कभी यहीं सम्राट् और सम्राज्ञी विहार करते होंगे। कभी इसी स्थान पर सारे भारत की प्रजा का भाग्य-निर्णय होता होगा। इसी पार्वत्य प्रदेश में कभी परमा-सुन्दरी नूरजहाँ, अपना धानी अञ्चल उड़ाती, मदमस्त जहाँगीर को मूर्च्छित सा करती टहलती होगी, और इसी गहन वन के किसी निर्जन विभाग में शेर अफ़ग़ान की विधवा

---

‡मुसलमानों ने केवल ये महराबदार दरवाज़े ही बनवाये हैं। शेष भाग में कोई परिवर्तन नहीं किया है।

मुग़ल साम्राज्य के विध्वंस के उपाय रचती होगी ! इस जगह अन्तःपुर होगा, जहाँ अगणित यवनियाँ बल खाती फिरती होंगी ! यहाँ नौबतख़ाना होगा, जहाँ महान् मुग़ल के कीर्ति गान से अहर्निश व्योम गूँजता होगा ! उधर हाथी झूमते होंगे ! आज भी एक निश्चल हस्ति-मूर्ति इसी बात की साक्षी देती है। परन्तु अब यहाँ क्या है ? इस उपत्यका ने क्या नहीं देखा ? एक सिरे पर कभी ये विलास-हर्म्य थे, और दूसरे सिरे के दौराई-नामक स्थान पर कभी औरङ्गज़ेब और दारा का कलह हुआ था। भाई भाई का रक्त लेने को तुला खड़ा था: और इसी, स्थान पर, अग्रज दारा का सौभाग्य-सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया था !

आइए, अब तारागढ़ पहाड़ पर चढ़ें। यह वही पर्वत है, जो भारतीय इतिहास में 'गढ़ बीटली' के नाम से प्रख्यात है। समुद्र से २८०० फ़ीट ऊँची इसकी एक चोटी पर पुराना दुर्ग है, जिसमें १२०० मनुष्यों के रहने और छः महीने की भोजन-सामग्री का स्थान है। पाँच जलाशय हैं। पुराने समय में घी और तेल के लिए अनेक कुण्ड बने हुए थे जिनके निशान अब भी वर्तमान हैं। यद्यपि दुर्ग पूर्णतया जीर्ण अवस्था में है, परन्तु पुरातन गौरव के चिन्ह अभी मिटे नहीं हैं। मोटी-मोटी दीवारें खड़ी हुई हैं, ऊँचे ऊँचे फाटक बने हुए हैं, चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ और खम्बेदार सड़कें ८०० वर्ष पूर्व की याद दिला रही हैं। जब इन सीढ़ियों के बिछे हुए मख़मल पर सम्राट् विग्रहराज और पृथ्वीराज के पद-चिन्ह अंकित होते होंगे, तब कैसा समय रहा होगा ! जब राजपूत अश्वारोही तलवारों की झनकारों में, मारू बाजे की ताल पर, पर्वत-शिखर से पथरीली सड़क पर उतरते होंगे, तब कैसा विचित्र दृश्य होता रहा होगा ! जब महमूद ग़ज़नवी इन अभेद्य दीवारों के नीचे घायल होकर अनहिलवाड़े की ओर भागा होगा, तब क़िले पर खड़े वीर पुरुषों के सीने कैसे फूल उठे होंगे ! उसके बाद पतन के दिन आये। ६०० वर्ष तक यह क़िला मुसलमानों, राजपूतों और मरहटों का खिलौना बना रहा। फिर मेजर बरगुइन ने बम बरसाये। पाँच महीने तक प्रयास असफल रहा, परन्तु मई १८०१ की ८वीं तारीख़ को विश्वासघातियों ने इसे उसके हाथ बेच दिया ! १८३२ ई० में गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेन्टिक ने इसे अपने 'चरण-कमलों' से पवित्र करने की कृपा की; और, उसके थोड़े ही समय पश्चात्, यह सुदृढ़ प्राचीन दुर्ग सदा के लिए निकम्मा कर दिया गया !

तारागढ़ की दूसरी ओर, नगर से प्रायः चार मील पश्चिम में, फ़ाईसागर नामक एक तालाब है। यह सन् १८९१ ईस्वी में फ़ाई नाम के एक इंजीनियर की अध्यक्षता में बना था। पहले नगर में पचासों कुँवे और बावड़ियाँ थीं। किन्तु, उक्त तालाब के बनने के बाद, वे सब भरवा दिये गये हैं। अब यहीं से नलों के द्वारा शहर में पानी आता है। यहाँ का दृश्य भी बड़ा रमणीय है। पास ही एक छोटा सा बाग़ होने से शोभा और भी बढ़ जाती है !

शहर के उत्तरी फाटक आगरे दरवाज़े से अनक़रीब ही वह प्रसिद्ध सरोवर है, जिसको श्री केन ने "भारतवर्ष के सबसे मनोहर सरोवरों में से एक" लिखा है। यह आठ सौ वर्ष पूर्व सम्राट् पृथ्वीराज के पितामह अर्णोराज का बनवाया हुआ आनासागर है। अब तो इसके ऐश्वर्य के दिन गये। परन्तु कभी यह नाग पहाड़, बाबूगढ़ और जब्या के पहाड़ों से टक्करें मारता था। आठ मील से अधिक इसकी परिधि थी। सरोवर का सर्वोत्तम दृश्य इसके बन्द (पाल) पर से दिखाई देता है। इस बन्द पर सम्राट् शाहजहाँ के समय की संगमरमर की बारहदरियाँ हैं। किसी ज्योत्स्नामयी निस्तब्ध रजनी में ये भवन देखते ही बनते हैं। चन्द्रमा द्वारा मुलम्मा किये हुए ये प्रासाद स्वच्छ आकाश के नीचे निर्मल जल में प्रतिबिंबित होकर नयी ही छटा दिखाते हैं !

बादशाह जहाँगीर के महलों के भग्नावशेष पास ही घने तरुओं के तल में छिपे पड़े हैं। उनका बनवाया हुआ एक छोटा सा बाग़ भी है, जिसका नाम उन्होंने दौलतबाग़—वैभव की वाटिका—रक्खा था। परन्तु अब वह वैभव कहाँ? इससे लगे हुए और भी दो बड़े विशाल बाग़ थे, कालाबाग़ तथा केसरबाग़। परन्तु किसीको क्या पड़ी थी, जो इनकी पर्वाह करते ? कालेबाग़ को उजाड़ कर रईस लोगों ने बंगले बनवा लिये, और केसरबाग़ में सरकारी अस्पताल बन गया है।

एक और तालाब था—विग्रहराज का बनवाया हुआ
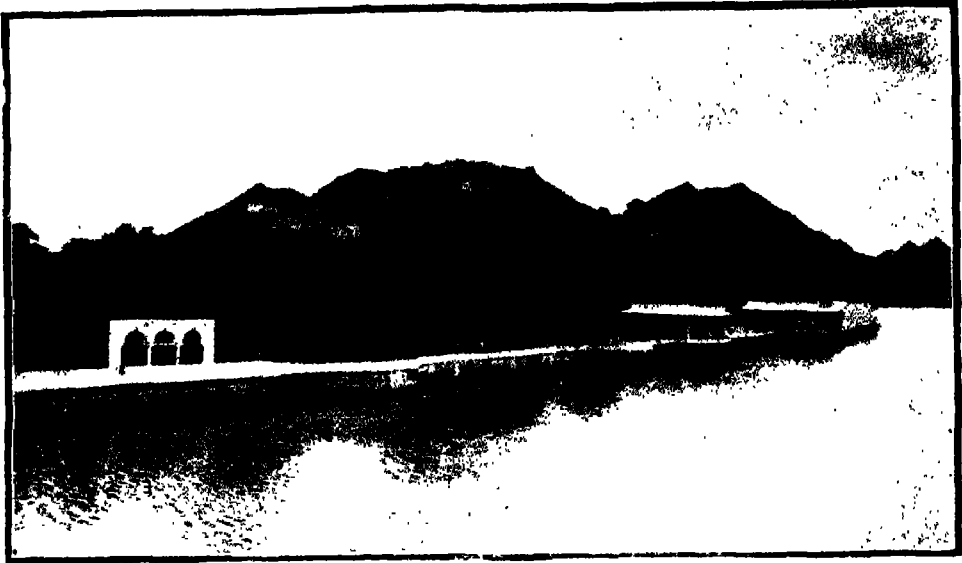
आनासागर (बारहदरियों का दृश्य) अजमेर

घंटाघर (अजमेर)

फाइसागर (अजमेर)
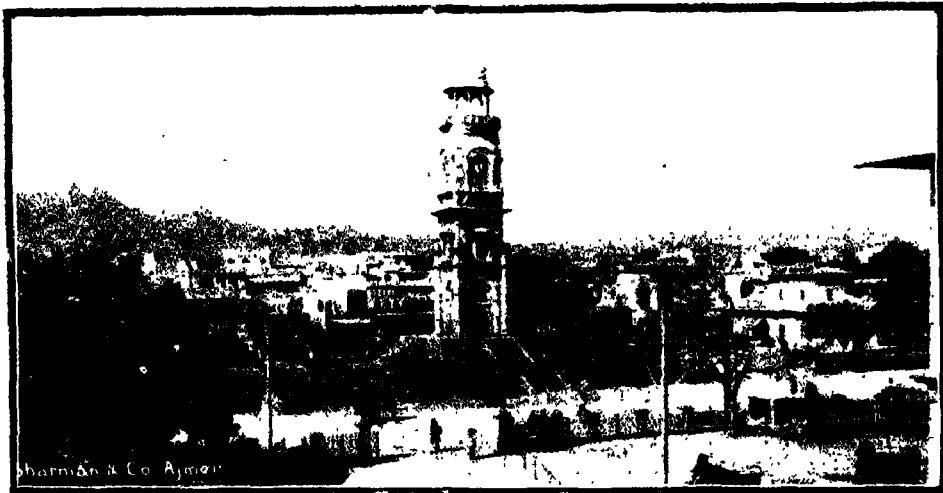
रानी परज (बारडोली) की स्त्रियां

बीसला, नगर के पूर्व में। परम्परा से सुनते आये हैं कि इतना सुन्दर तालाब दूसरा नहीं था। हिन्दू समृद्धि के दिनों में इसके चारों ओर बावन (५२) मन्दिर थे, जिनमें सूर्य के उदय और अस्त के समय देवताओं की आरती होती थी। जब स्वाभ आकाश में असंख्य घंटे-घड़ियालों की ध्वनि गूँज उठती थी, तब कौन ऐसा नास्तिक पुरुष होगा, जिसका सिर एक बार इस अमर संगीत के आगे न झुक जाता होगा? सरोवर के चारों कोनों पर पत्थर की चार मूर्त्तियाँ थीं, जिनसे जल की न्यूनाधिकता नापी जाती थी। शहंशाह जहाँगीर ने भी एक प्रासाद इस सरोवर के तट पर बनवाया था। परन्तु अब इन बातों का पता नहीं है। सब कुछ काल के उदर में समा गया। विग्रहराज का बीसल-सर सूख गया है—अथवा, सुखा दिया गया है! जिस जगह कभी नीली लहरें वायु के साथ क्रीड़ा किया करती थीं, जहाँ राजा-रानी जल-विहार किया करते थे, वहाँ अब गवर्नमेण्ट हाइस्कूल बन गया है। अब यहाँ चश्मा-भूषित पीले चेहरे वाले बालक, जो देश के स्तम्भ हैं, कमर झुकाये पढ़ते हैं! इसी सरोवर के दक्षिण तीर पर एक समय सूर्य्य भगवान् का विशाल मन्दिर था, जहाँ अब ईसाइयों का एक गिरजाघर बन गया है!

दौलतबाग़ के दक्षिण फाटक के निकट ही लाल पत्थर का बना जैनियों का एक बड़ा सुंदर मंदिर है, जिसे सोनी की नसियाँ कहते हैं। अजमेर के यात्री इसकी सैर अवश्य करते हैं। जितना चित्ताकर्षक यह बाहर से है, उससे भी अधिक भीतर से है। अंदर एक बहुत बड़े हाल में छोटे-छोटे खिलौनों द्वारा जैन दन्तकथाओं के दृश्य दिखाये गये हैं। हाल की छत और दीवारों पर बड़ी उत्तम चित्रकारी हो रही है। नीचे फ़र्श पर सुमेरु, अयोध्या और प्रयाग दिखलाये गये हैं; ऊपर छत में विमान लटक रहे हैं। इन खिलौनों के प्रसादों, वाहनों और मनुष्यों को देखकर फिर यही भावना उठने लगती है कि हम क्या थे और क्या हो गये हैं!

चलिए, अब नगर की दूसरी ओर चलें। मेयो कॉलेज मशहूर चीज़ है। यहाँ देशी राज्यों के भावी नरेशों की शिक्षा-दीक्षा होती है। कालेज-भवन वस्तुतः एक दर्शनीय स्थान है; लगभग सात लाख रुपये ख़र्च कर बना है; हिन्दू सारासेनिक कला का उत्कृष्ट नमूना है। सामने इस संस्था के प्रस्तावक लार्ड मेयो की मूर्ति बनी हुई है। यहाँ की शिक्षा-पद्धति और उसका राजकुमारों पर प्रभाव, ये बातें अभी तक जनता को अज्ञात-सी हैं।

मेयो कॉलेज से आधमील की दूरी पर बी० बी० सी० आई० रेलवे की छोटी लाइन के लोको और कैरिज के दो बड़े कारख़ाने हैं। रेलों का अधिकांश सामान यहीं बनता है। पिछले दिनों इनकी और भी उन्नति हुई है। और बायलर इत्यादि बनवाने का भी प्रबन्ध किया गया है। भारतवर्ष में ऐसे कारख़ाने गिनती के ही हैं। रेल के बड़े दफ्तर ऑडिट,

सोनी की नसियाँ
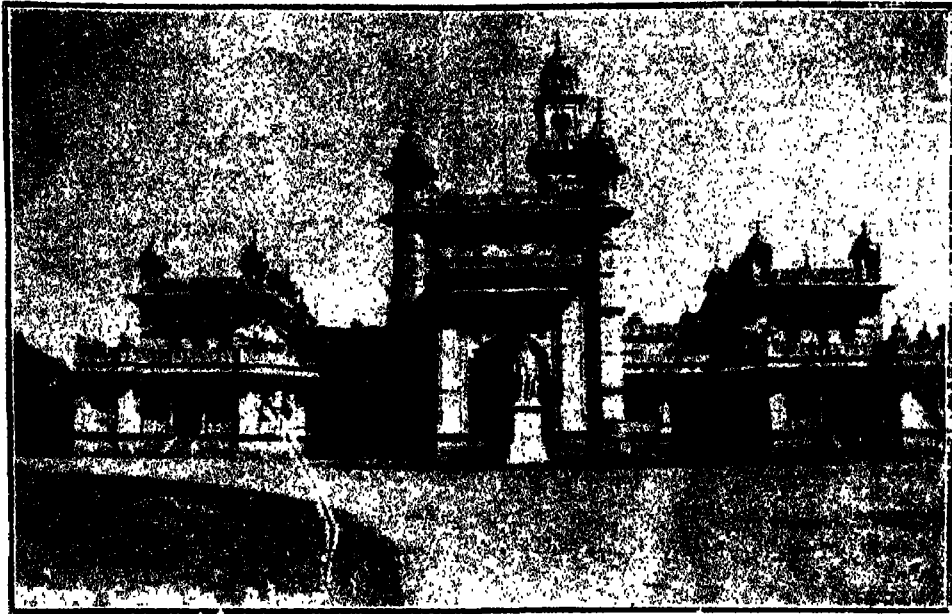
मेयो कॉलेज

ट्रैफ़िक इत्यादि भी अजमेर में हैं। लगभग सत्रह हज़ार आदमी रेलवे में काम करते हैं।

अब हम यहाँ की प्राकृतिक शोभा और जल-वायु के सम्बन्ध में दो शब्द और कहकर इस लेख को समाप्त करेंगे।

अजमेर के आस-पास का प्रांत भी बड़ा रम्य एवं दर्शनीय है। दक्षिण में दौराई (जहाँ दारा और औरङ्गज़ेब का युद्ध हुआ था) का ऐतिहासिक स्थान है, तो उत्तर में पुष्कर पवित्र तीर्थ है। १० मील पश्चिम की ओर अजयपाल के मंदिर हैं।* हरित उपत्यका में, अगम्य बन के बीच, नदी के किनारे, शिवजी के मंदिर बने हुए हैं। यहाँ सदा आनन्द-मंगल रहता है। वर्षा-ऋतु में बड़ी बहार होती है। जल के दोनों तटों पर हरियाली से ढके हुए ऊँचे-ऊँचे पहाड़, हरिण, ख़रगोश इत्यादि जंगली पशु, नाना प्रकार के सुगंधित पुष्प और पहाड़ी वर्षा की फुहारें—नगर-निवासियों के लिए ये स्वर्गोपम दृश्य हैं। पचकुण्ड और बैजनाथ भी कुछ कम रमणीय नहीं हैं। और भी अनेक मनोहर स्थान हैं—आंतेड़, बौराव, चामुण्डा, बूढ़ा पुष्कर इत्यादि।

अजमेर गुलाब और चमेली के फूलों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। गुलाब के ताज़े फूल सस्ते बिकते हैं। नूरजहाँ बेगम ने अजमेर में ही गुलाब के इत्र का आविष्कार किया था। यहाँ के फल भी दूसरी जगहों की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट होते हैं।

अजमेर के जल वायु का तो कहना ही क्या? मई-जून में भी गर्मी का औसत लगभग ९५ डिगरी रहता है। यहाँ की सी ठण्डी और तेज़ हवा का अनुमान दूसरी जगहों के लोग नहीं कर सकते। यह हवा चारों ओर के पहाड़ों से आती है। पहाड़ों की हवा ठण्डी होती ही है, और यहाँ आकाश के निरभ्र होने के कारण सदा तेज़ी से चलती रहती है। राजस्थान में यह कहावत प्रसिद्ध है—"सियालो खाटू भलो, ऊँयालो अजमेर।" अर्थात्, जाड़ों में (मारवाड़ का) खाटू स्थान अच्छा है और गर्मियों में अजमेर। यद्यपि यहाँ दूसरे स्थानों की तरह वर्षा की झर्री नहीं बँध जाती, पर थोड़े ही

*इस जगह अजयमेरु नगर के संस्थापक राजा अजयपाल ने वानप्रस्थ-आश्रम व्यतीत किया था।

समय में इतना पानी अवश्य बरस जाता है, जो नगर की आवश्यकताओं के लिए काफ़ी होता है। यहाँ वर्षा ऋतु बिताने के लिए दूर-दूर से साधु, सन्यासी, परिव्राजक आते हैं। जाड़ा भी इधर अधिक नहीं पड़ता। आग तापने अथवा ओवरकोट पहनने की आवश्यकता तो कदाचित् ही कभी पड़ती हो।

अजमेर की एक विशेषता और भी है। वह है चोर-डाकुओं और विषैले जन्तुओं का अभाव। कहते हैं, किसी फ़क़ीर का इस नगर को यह वरदान है, कि न तो यहाँ अधिक चोरियाँ होंगी और न साँप-बिच्छू का विष ही अधिक चढ़ेगा!

यहाँ का जल-वायु खुश्क होने कारण हैज़ा, प्लेग और क्षय-रोग के लिए विशेष रूप से लाभदायक है। क्षय के रोगियों के निमित्त मदार और तिलोनियां में दो स्वास्थ्य भवन (Sanatorium) भी हैं।

अजमेर में किसी प्रकार की बुराई न रह जाती, केवल यदि यहाँ की म्युनिसिपैलिटी अपने कर्तव्यों की ओर अधिक ध्यान देती!

गोपालस्वरूप भटनागर

जिज्ञासा

कितनी बार उषा आ-आ कर चमका गई सुनहला गात,
कितनी बार मुँदे खुल-खुलकर इस वसुधा पर स्वर्ण-प्रभात।
मेरे इस उजड़े उपवन में, कितने कुसुम खिले अनजान,
गूँज-गूँज कितने अलियों ने गाया अपना मधुमय गान।
मलयानिल चुपके से आकर लुटा गया सौरभ सुकुमार,
चमक-चमक कर सजल सजीले मोती बिखरे कितनी बार।
पर, तेरे आँगन में, सोना, श्री, स्वर, सुरभि, प्रभा, मुसकान,
किस सुवर्ण-युग के वियोग में लगते हैं, माँ, सब निष्प्राण?

सीताराम वर्मा 'साधक'

ब्रिटिश साम्राज्य की शासन-पद्धति

(३)

भारतवर्ष का शासन

"अंग्रेज़ लोग भारतवर्ष में क्यों आये? स्पष्टतया, अपने लाभ के लिए। वे भारतवर्ष में क्यों डटे हैं? फिर भी वही उत्तर होगा—अपने लाभ के लिए। वे कोई ऋषि तो हैं नहीं। वे तमाशे या मनबहलाव के लिए तो भारत पर शासन नहीं कर रहे हैं। उनकी चतुर पैनी दृष्टि तो सदा लाभ पर है। और, अधिक लाभ के लिए तो शासन अपना, अथवा अपने कब्ज़े में होना आवश्यक है।"

—बरनार्ड हाटन

प्राक्कथन—नेपाल भूटान को तथा फ्रांसीसी और पुर्तगीज़ राज्य के अधीन कुछ छोटे-छोटे भागों को छोड़कर, समस्त भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है; और ब्रिटिश साम्राज्य के धन, सम्पत्ति और वैभव को बढ़ाने में प्रधान सहायक है। इसके दो भाग हैं—(क) ब्रिटिश भारतवर्ष, और (ख) भारतवर्ष की देशी रियासतें।

(क) ब्रिटिश भारत

ब्रिटिश भारत की शासन-पद्धति में समय-समय पर कुछ परिवर्तन हुए हैं। अन्तिम सुधार-क़ानून १९१९ में पास हुआ था। उसका उद्देश्य इसे उत्तरदायी शासन का अधिकार देना है। परन्तु अभी केन्द्रीय शासन में वह आरम्भ नहीं किया गया है। भारत-सरकार ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति ही उत्तरदायी है, भारतीय जनता के प्रति नहीं। ब्रिटिश भारत के १५ प्रान्तों में से भी केवल नौ बड़े प्रान्तों का शासन, और वह भी कुछ अंश में, उत्तरदायी किया गया है। उपर्युक्त सुधार-क़ानून के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि दस वर्ष में शासन-सुधार-कमीशन नियुक्त किया जायगा, जो विविध प्रकार की जाँच करके इस बात की रिपोर्ट करेगा कि जो उत्तरदायी शासन यहाँ प्रचलित है उसे कहाँ तक बढ़ाना, बदलना या घटाना उचित है।

[यह कमीशन नियत हो गया है। इसके सातों सद-

स्थ अँग्रेज़ होने के कारण, भारतवर्ष के प्रमुख राजनैतिक दलों ने इसे स्वयं-निर्णय (Self-determination) के सिद्धान्त के विरुद्ध घोषित किया है तथा इससे कुछ भी सम्बन्ध न रखने और इसका बहिष्कार करने का निश्चय किया है ।]

केन्द्रीय सरकार—इंगलैंड का बादशाह भारतवर्ष का सम्राट् कहलाता है । उसकी ओर से जो प्रधान अधिकारी यहाँ काम करता है, उसे गवर्नर-जनरल कहते हैं । भारतवर्ष की देशी रियासतों में उसे वाइसराय कहा जाता है । उसे बादशाह, अपने प्रधान मंत्री की सिफ़ारिश से, नियत करता है । वह प्रायः पाँच वर्ष अपने पद पर रहता है । उसीकी प्रबन्धकारिणी सभा को भारत सरकार कहते हैं । इसमें उसके तथा जंगी लाट के अतिरिक्त, जो अंग्रेज़ होता है, छः सदस्य और होते हैं, जिनमें अब प्रायः तीन हिन्दुस्थानी होते हैं । सभापति गवर्नर-जनरल होता है, वह सभा के निर्णय के विरुद्ध भी काम कर सकता है ।

भारत-सरकार को ब्रिटिश भारत के शासन तथा उसके सेना-प्रबन्ध के निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार है, पर भारत-मंत्री की इच्छा के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकती । भारत-मंत्री इंगलैंड में रहता है, वह ब्रिटिश पार्लमेण्ट का सदस्य होता और उसके प्रति ही भारतीय शासन के लिए उत्तरदाता रहता है । उसे सहायता या परामर्श देने के लिए एक सभा 'इंडिया कौंसिल' (India Council) होती है । इसमें आठ से बारह तक सदस्य होते हैं, जिसमें प्रायः तीन हिन्दुस्थानी होते हैं ।

कार्य-विभाग—इस समय भारत-सरकार के निम्नलिखित आठ विभाग हैं—

१. अर्थ (Finance) विभाग ।

२. स्वदेश (Home) विभाग । इसमें देश के आन्तरिक शासन का निरीक्षण आदि होता है ।

३. शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि (Education, Health, and Lands) विभाग ।

४. रेल और वाणिज्य (Railways and Commerce) विभाग ।

५. उद्योग-धंधे और मज़दूर (Industries and labour) विभाग ।

६. क़ानून (Legislative) विभाग ।

७. सेना (Army) विभाग ।

८. विदेश (Foreign) विभाग । इस विभाग में विदेशी राज्यों तथा भारतवर्ष की देशी रियासतों के सम्बन्ध आदि का कार्य होता है ।

उपर्युक्त प्रथम छः विभागों में से प्रत्येक के लिए गवर्नर-जनरल की प्रबन्धकारिणी सभा का एक सदस्य नियुक्त होता है । विदेश-विभाग गवर्नर-जनरल के अधीन है; और सेना-विभाग पर जंगी लाट अर्थात् कमांडर-इन-चीफ़ का प्रभुत्व है, जो उक्त सभा का असाधारण सदस्य होता है ।

भारतीय व्यवस्थापक मंडल—पिछले सुधारों से भारतीय व्यवस्थापक मंडल के दो भाग हैं—

(१) राज्य-परिषद् (Council of State) । इसका तीन साल में नया संगठन होता है ।

(२) व्यवस्थापक सभा (Legislative Assembly) इसका नया संगठन पाँच साल में होता है ।

राज्य-परिषद् के ६० सदस्य होते हैं, ३३ निर्वाचित और २७ नामज़द । व्यवस्थापक सभा में सदस्यों की संख्या १४८ निश्चित की गई है, जिनमें से कम से कम १०० निर्वाचित हों । इस समय इस सभा में १०३ निर्वाचित और ४१ नामज़द, इस प्रकार कुल १४४ सदस्य हैं । सिवाय कुछ ख़ास हालतों के कोई क़ानूनी मसविदा अब पास हुआ नहीं समझा जाता, जब तक दोनों सभायें उसे मूल रूप में अथवा कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार न कर लें । इनके प्रस्ताव केवल सिफ़ारिश के रूप में होते हैं, वे भारत-सरकार पर बाध्य नहीं होते । गवर्नर-जनरल को अधिकार है कि वह दोनों सभाओं के पास किये हुए क़ानूनी मसविदों को भी अस्वीकार कर दे ।

प्रांतिक सरकार—ब्रिटिश भारत में कुल १५ प्रांत हैं, ९ बड़े और ६ छोटे । छोटे प्रांतों का शासन चीफ़ कमिश्नर करते हैं, जो गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त और भारत-सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हैं । बड़े प्रांतों के शासन-सम्बन्धी विषय दो भागों में विभक्त हैं —रक्षित (Reserved) और हस्तांतरित (Transferred) । रक्षित विषयों के प्रबन्ध का अधिकार गवर्नर और उसकी प्रबन्ध-

कारिणी सभा को होते हैं। हस्तांतरित विषयों का प्रबन्ध गवर्नर अपने मंत्रियों के परामर्श से करता है। गवर्नरों की नियुक्ति इंग्लैण्ड के बादशाह द्वारा होती है। ये कुछ दशाओं में अपनी प्रबन्धकारिणी सभा तथा मंत्रियों के निर्णय के ... भी काम कर सकते हैं। मंत्रि व्यवस्थापक परिषद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं, जो इनका वेतन घटा सकती है।

प्रांतीय व्यवस्थापक परिषदें—प्रत्येक बड़े प्रांत में एक-एक व्यवस्थापक परिषद् है। प्रायः किसी परिषद् में २० फ़ीसदी से अधिक सरकारी और ७० फ़ीसदी से कम निर्वाचित सदस्य नहीं होते। वर्तमान संगठन इस प्रकार है—

सदस्य	मद्रास	बम्बई	बंगाल	संयुक्त प्रान्त	पंजाब	बिहार-उड़ीसा	मध्य-प्रान्त-बरार	आसाम	ब्रह्मा
निर्वाचित	९८	८६	११३	१००	७१	७६	५४	३९	७८
नामज़द	२९	२५	२६	२३	२२	२७	१६	१४	२३
योग	१२७	१११	१३९	१२३	९३	१०३	७०	५३	१०१

परिषदों की आयु साधारणतः तीन वर्ष होती है। प्रत्येक गवर्नर को अधिकार रहता है कि अपने प्रांत की परिषद् से किसी स्वीकृत प्रस्ताव को अस्वीकार कर दे।

सरकारी आय-व्यय—ब्रिटिश भारत का लगभग सवा दो सौ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष प्रत्यक्ष या परोक्ष करों द्वारा वसूल किया जाकर प्रांतीय सरकारों और केन्द्रीय सरकार द्वारा ख़र्च किया जाता है। छोटे प्रांतों के लिए केन्द्रीय सरकार ही ख़र्च करती है। केन्द्रीय सरकार, तथा प्रांतीय सरकारें बहुतसी मदों के लिए अपनी इच्छानुसार ख़र्च कर सकती हैं, कुछ थोड़ी सी मदों के वास्ते भारतीय व्यवस्थापक-मंडल और प्रांतीय व्यवस्थापक-परिषदों को मत देने का अधिकार है, परन्तु गवर्नर-जनरल तथा गवर्नर आवश्यक समझने पर उनके मत की अवहेलना कर सकते हैं।

भारतवर्ष का राजनैतिक ध्येय-स्वतन्त्रता या औपनिवेशिक स्वराज्य—भारतवर्ष का राजनैतिक ध्येय क्या हो, इस विषय में भिन्न-भिन्न राजनीतिज्ञों में मत-भेद है। अदूरदर्शी और अनुदार लोगों को तो भविष्य में होने वाले प्रकाश, जागृति और उत्थान सूचक परिवर्तनों की कुछ कल्पना ही करते नहीं बनती। इन्हें छोड़कर अन्य सज्जनों में प्रायः दो दल हैं: एक भारतवर्ष के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श रखता है, दूसरा स्वाधीन उपनिवेशों की शासन-पद्धति का।

भारतवर्ष की राष्ट्र-सभा—कांग्रेस अब से कुछ वर्ष पहले तक भारतवर्ष के लिए साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य का ध्येय रखती थी। पीछे ब्रिटिश सरकार के कई कटु व्यवहारों के कारण 'साम्राज्यान्तर्गत' का नियम उठा दिया गया, और यह भाव प्रकट किया गया कि भारतवर्ष का स्वराज्य, साम्राज्य के अन्तर्गत भी हो सकता है और बाहर भी; इन दोनों में कौनसा हो, यह ग्रेटब्रिटेन के भावी व्यवहार को देखकर निश्चय किया जाय। गतवर्ष कांग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया है।

इसके विरुद्ध दूसरे दल का कथन है कि भारतवर्ष के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य ही उत्तम है। इसमें कोई बात ऐसी नहीं है जिससे देश के आत्म-सम्मान को क्षति पहुँचे

या किसी सिद्धांत की हत्या हो। जब भारतवर्ष औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कर लेगा, तो इसके जन-धन की महान् शक्ति दूसरे देशों को साम्राज्य के अधीन करने, उनके परतन्त्र बने रहने या उन्हें प्रभाव-क्षेत्र बनाने में प्रयुक्त न की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त साम्राज्यान्तर्गत रहने की दशा में भारतवर्ष अपनी उन्नति या किसी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा संकट के समय साम्राज्य के सम्बन्ध से यथेष्ट लाभ उठा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि सन् १९२६ ई० की साम्राज्य-परिषद् के निश्चय के अनुसार ब्रिटिश-साम्राज्य के स्वाधीन उपनिवेश न केवल अपने आंतरिक शासन-कार्य में स्वतन्त्र हैं, वरन् व्यापारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों में विदेशों से भी अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं और उन्हें इंग्लैण्ड के साथ पूर्ण समानता का पद प्राप्त है।‡ तथापि भारतवर्ष के बहुत से आदमी साम्राज्यवादियों के कारनामों से उकता गये हैं और यहाँ स्वतन्त्रता के पक्ष में मत अधिकाधिक प्रबल होता जा रहा है। कांग्रेस का पूर्वोक्त निश्चय इसका प्रमाण है

उपसंहार—भारतवर्ष स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न में लगा है। अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञों तथा स्वयं ब्रिटिश-पार्लमेंट ने भी यह स्वीकार कर लिया है कि भारतवर्ष में क्रमशः उत्तरदायी शासन स्थापित किया जायगा। अंतिम लक्ष्य के विषय में कुछ संदेह या मत भेद नहीं है। विचारणीय विषय यह है कि उस लक्ष्य की प्राप्ति में जितना समय कम लगे और उसकी मंज़िल जितने प्रेम-पूर्वक तय कर ली जाय, उतना ही ब्रिटेन तथा भारतवर्ष दोनों के लिए हितकर होगा।

(ख) भारतवर्ष की देशी रियासतें

तीन श्रेणियां—भारतवर्ष की छोटी बड़ी सब देशी रियासतों की संख्या छः सौ के लगभग है। इनकी तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम-श्रेणी में हैदराबाद, मैसोर, बड़ोदा, काश्मीर, शिकम और ग्वालियर हैं। इनका भारत-सरकार से सीधा सम्बन्ध है। इनमें से प्रत्येक में उसका एक रेज़ीडेण्ट नामक पदाधिकारी रहता है।

दूसरी श्रेणी में उन रियासतों के समूह हैं, जो पास-पास स्थित हैं। प्रत्येक समूह एक एजन्सी कहलाता है और उसमें ब्रिटिश भारत के गवर्नर-जनरल (वाइसराय) का एक एजन्ट रहता है। ये एजन्सियां राजपूताना एजन्सी, मध्यभारत एजन्सी, बिलोचिस्तान एजन्सी, और पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त एजन्सी हैं।

तीसरी श्रेणी में बहुत सी छोटी छोटी रियासतें हैं, जो ब्रिटिश भारत के प्रान्तों या ज़िलों के बीच स्थित हैं। ये प्रान्तीय सरकारों के अधीन हैं। इनमें से कुछ में पृथक्-पृथक् पोलिटिकल अफ़सर रहते हैं, शेष की देख-भाल का काम ब्रिटिश भारत के निकटवर्ती ज़िलाधीशों के ही सिपुर्द है। इस श्रेणी की कुछ अधिक महत्व वाली रियासतों का भारत-सरकार से सीधा सम्बन्ध होता जा रहा है।

भारत-सरकार और ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध—भारत-सरकार जिस नरेश को अयोग्य या असमर्थ समझे, उसे भारत-मंत्री की सम्मति से गद्दी से उतार सकती है। जब तक सरकार किसी नरेश के व्यवहार से संतुष्ट रहे, वह उसके राज्य की रक्षा की ज़िम्मेवारी लेती है। भारतीय नरेशों को, भारत-सरकार की आज्ञा बिना एक दूसरे से या किसी विदेशी राज्य से राजनैतिक पत्र व्यवहार करने की अनुमति नहीं होती। इन्हें अपने राज्य के आन्तरिक शासन-प्रबन्ध की कुछ कुछ स्वतंत्रता होती है।

देशी रियासतों का ब्रिटिश सरकार से क्या सम्बन्ध रहे, तथा उनका ब्रिटिश भारत से आर्थिक सम्बन्ध कैसा हो, इसका विचार करने के लिए पिछले दिनों एक कमिटी नियुक्त हुई है, जिसके तीनों सदस्य अँग्रेज़ हैं। नरेशों ने अपने अधिकारों की रक्षा तथा ब्रिटिश भारत से सहयोग के सम्बन्ध में एक योजना तैयार करके कमिटी को दी है।* कमिटी की रिपोर्ट अभी प्रकाशित नहीं हुई।

---

‡ स्वाधीन उपनिवेशों की शासन-पद्धति का वर्णन पहले किया जा चुका है। इनका ब्रिटिश सरकार से जो संबन्ध है वह सविस्तर पीछे बताया जायगा।

* प्रजा के अधिकारों का विचार नहीं किया गया। बहुत कम रियासतों में उत्तरदायी शासन पद्धति प्रचलित है, उनमें भी पूर्णतः नहीं।

वर्तमान अवस्था में कुछ नरेश वाइसराय (गवर्नर-जनरल) को 'मेरे दोस्त' लिखते हैं, ब्रिटेन को अपना 'मित्र' समझते हैं, और अपने राज्य में कुछ मनमाना शासन भी कर सकते हैं, तथापि कार्य-व्यवहार में वे अपने राज्य के आंतरिक शासन में भी यथेष्ट स्वतंत्र नहीं कहे जा सकते। बहुधा उन्हें अपनी संतान की शिक्षा और विवाह आदि व्यक्तिगत कार्यों में भी भारत-सरकार का "परामर्श" मानने को बाध्य होना पड़ता है।

जांच-कमीशन—यदि दो अधिक रियासतों में, किसी रियासत और किसी प्रान्तीय सरकार में, या किसी रियासत और भारत-सरकार में, कोई मत भेद उपस्थित हो, एवं जब कोई रियासत भारत-सरकार या उसके किसी प्रतिनिधि के आदेश से असंतुष्ट हो, तो वाइसराय एक कमीशन नियुक्त कर सकता है। अगर वाइसराय इसके आवेदन को मंजूर न कर सके तो वह उस मामले को फ़ैसले के लिए भारत-मंत्री के पास भेज देगा।

यदि किसी रियासत के शासक को राजगद्दी से, या उसके कुछ अधिकारों से या उसके वंश के किसी व्यक्ति को राज्याधिकार से वंचित करना हो, तो भी जाँच-कमीशन नियत किया जा सकता है।

नरेन्द्र-मण्डल—देशी रियासतों सम्बन्धी विषयों पर सम्मति देने के लिए एक नरेन्द्र-मंडल (Chamber of Princes) नामक संस्था संगठित है। इसका सभापति प्रायः वाइसराय ही होता है और उसके द्वारा स्वीकृत विषयों पर ही उसमें विचार होता है। इसका अधिवेशन उसकी इच्छा से, प्रायः साल में एक बार होता है। इसकी कारवाई गुप्त रक्खी जाती है। इसकी एक स्थायी समिति भी है।

(४)

उपनिवेश-विभाग के अधीन भू-भाग

प्राक्कथन—इस लेख में ब्रिटिश साम्राज्यांतर्गत उन भू-भागों की शासन-पद्धति का उल्लेख किया जायगा, जो ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश-विभाग के अधीन हैं। यद्यपि इन में से लंका या सीलोन आदि कुछ भाग ऐसे भी हैं, जो वास्तव में उपनिवेश नहीं कहे जाने चाहिएँ—इन्हें प्रायः राजकीय उपनिवेश (Crown colonies) कहा जाता है। इस का कारण यह है कि इनके लिए क़ानून इंग्लैण्ड का बादशाह अपनी प्रिवी कौन्सिल (Privy Council) की सलाह से बनाता है।

साधारण परिचय—ये उपनिवेश भू-मण्डल भर में बिखरे हुए अनेक छोटे-बड़े टापू या अन्य ऐसे भाग हैं, जिनके अधिकतर निवासी असंगठित और ग़ैर-यूरोपियन हैं तथा असभ्य माने जाते हैं। ये गत तीन शताब्दियों में, भिन्न-भिन्न समय में ब्रिटिश साम्राज्य के भाग बन गये। इनमें बहुतों में अंग्रेज़ पहले-पहल व्यापार करने के उद्देश्य से गये थे, पीछे ये उन के अधिकार में आ गये। कुछ युद्ध तथा संधियों से भी मिले हैं।

आफ्रिका और अमेरिका के निकटवर्ती अथवा अन्तर्गत राजकीय उपनिवेशों में से अधिकांश की जल-वायु अंग्रेज़ों के अनुकूल न होने से, इनमें अधिक जन-संख्या इनके मूल निवासियों की ही है। जिनकी जल-वायु अंग्रेज़ औपनिवेशिकों के लिए अनुकूल रहती है, उन में अंग्रेजों की संख्या खूब बढ़ी तथा बढ़ रही है। किसी-किसी उपनिवेश की पैदावार अच्छी है और अंग्रेज़ उससे तथा उपनिवेश के मूल निवासियों की सस्ती मज़दूरी से अच्छा लाभ उठाते हैं। अदन और जिब्राल्टर आदि कुछ उपनिवेश अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भी विशेष महत्व के हैं।

चार श्रेणियां—शासन-पद्धति की दृष्टि से हम इन उपनिवेशों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) पहली श्रेणी उन उपनिवेशों की है, जिन में केवल गवर्नर ही शासन करता है, और वही कानून भी बनाता है। इन उपनिवेशों में कोई व्यवस्थापक सभा नहीं रहती। ऐसे उपनिवेश ये हैं—

(क) जिब्राल्टर
(ख) सेंटहेलेना
(ग) अशान्टी
(घ) गोल्ड-कोस्ट (Gold Coast) का उत्तरी भाग
(च) नाइजीरिया
(छ) बसूटोलैण्ड
(ज) बिचुआना लैंड

(झ) स्वाजी लैंड

(ट) अदन †

(आ) दूसरी श्रेणी के उपनिवेश वे हैं। जिसमें व्यवस्थापक सभायें संगठित तो हो गई हैं पर हैं पूर्णतया नामज़द सदस्यों की ही। इन व्यवस्थापक सभाओं का शासन-कार्य पर कुछ नियंत्रण नहीं होता। गवर्नर ब्रिटिश-सरकार के आदेशानुसार ही सब कार्य करता है। ऐसे उपनिवेश ये हैं—

(क) ब्रिटिश होंडूरास

(ख) ट्रिनिडाड

(ग) विंडवर्ड द्वीप समुदाय

(घ) पश्चिमी आफ्रिका का उपनिवेश

(च) न्यासालैंड

(छ) हांग-कांग

(ज) स्ट्रेट-सेटलमेण्ट

(झ) सेचलीज

(इ) तीसरी श्रेणी में वे उपनिवेश हैं, जिनमें व्यवस्थापक सभाओं में निर्वाचित सदस्यों की संख्या मनोनीत सदस्यों की संख्या से कम रहती है। इनमें जनता के प्रतिनिधि शासन-सम्बन्धी कार्यों में अपना विशेष प्रभाव नहीं डाल सकते। शासन-कार्य गवर्नर ब्रिटिश-सरकार के आदेशानुसार करते हैं। ऐसे उपनिवेश निम्न लिखित हैं—

(क) जेमेका

(ख) लंका (सीलोन)

(ग) मारीशस

(घ) फ़ीजी

(च) केनिया

(छ) ब्रिटिश गायना

(ज) लीवर्ड द्वीप

(झ) साइप्रस

(ट) यूगेण्डा

(ठ) दक्षिणी रोडेशिया

(ड) उत्तरी रोडेशिया

(ढ) गेम्बिया

(त) सीरालोयन

(थ) फाकलैंड

(द) दक्षिणी जार्जिया

(ध) पेपुआ

इन उपनिवेशों में, सीलोन और केनिया (पूर्व अफ्रिका) में शासन-सुधार के विषय पर विचार करने के लिए कमीशनों की नियुक्ति हुई है। केनिया, महायुद्ध से पहले जर्मन उपनिवेश था, अब ब्रिटिश है। यहाँ के गोरे निर्धारित समय में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त कर लेना चाहते हैं। कमीशन इस बात की जाँच करेगा कि पूर्वीय और मध्य आफ्रिका के ब्रिटिश शासनों में परस्पर सहयोग किस प्रकार हो सकता है।†

(ई) चौथी श्रेणी में वे उपनिवेश हैं, जिनमें दो-दो व्यवस्थापक सभायें हैं। इन सभाओं में से एक के सदस्य यहाँ की सरकार द्वारा मनोनीत रहते हैं, और दूसरी के सदस्य पूर्णतः निर्वाचित होते हैं। मंत्री व्यवस्थापक सभाओं के प्रति उत्तरदाता नहीं होते। ऐसे उपनिवेश ये हैं—

(क) बहामाज़

(ख) बरबडास

(ग) बरमुडास

(घ) माल्टा

गवर्नर और प्रबन्धकारिणी सभा—इन उपनिवेशों के गवर्नरों को इंग्लैण्ड का बादशाह उपनिवेश-मंत्री के परामर्श से नियत करता है। गवर्नरों को शासन सम्बन्धी सब आवश्यक अधिकार प्राप्त होते हैं; परन्तु वे इन अधिकारों का उपयोग उन लिखित आदेशों के अनुसार ही कर सकते हैं, जो उन्हें नियुक्ति के समय बादशाह द्वारा दिये जाते हैं, अथवा जो उन्हें समय-समय पर उपनिवेश-मंत्री द्वारा मिलते रहते हैं। प्रत्येक गवर्नर को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए प्रबन्धकारिणी सभा भी रहती है परन्तु वह इसके बहुमत की अवहेलना कर सकता है।

---

† अदन का सैनिक और राजनैतिक प्रबन्ध ब्रिटिश सरकार करती है। भारत-सरकार केवल नागरिक (म्युनिसिपल) विषयों की देख-भाल रखती है।

† यद्यपि केनिया में गोरों की अपेक्षा भारतवासियों की संख्या कहीं अधिक है, मगर कमीशन में एक भी भारतीय नहीं रक्खा गया।

गवर्नर का कर्तव्य है कि अपने उपनिवेश के भिन्न-भिन्न विभागों के संचालन सम्बन्धी सब महत्वपूर्ण विषयों पर स्वयं समुचित ध्यान दे। उसे विशेष रूप से यह आदेश होता है कि उपनिवेश के मूल निवासियों में धर्म और शिक्षा का प्रचार करे, उनके जान-माल की रक्षा करे तथा उनके विरुद्ध अन्याय या हिंसा होने से रोके। उपनिवेश में रेलें निकालने और बन्दरगाह बनवाने आदि के ऐसे कार्यों की ओर भी उसका बहुत ध्यान रहता है, जिनमें बड़ा ख़र्च करना होता है।

उपसंहार—पिछले एक लेख में बतलाया जा चुका है कि स्वतन्त्र उपनिवेश अपना सब शासन-कार्य अपने हित की दृष्टि से करते हैं। इंग्लैण्ड को वहाँ स्वार्थ-साधन का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु इन राजकीय उपनिवेशों से तो उसे अपरिमित लाभ है। इन भू-भागों में ही वह क्षेत्र है, जहाँ इंग्लैण्ड यदि चाहे तो मानव-जाति की अपार सेवा कर सकता है। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब वह इनकी समस्याओं पर इनके हित की दृष्टि से, स्वार्थ-त्याग-पूर्वक, रंग या जाति के भेद-भाव को भूलकर अपना कर्तव्य पालन करे।

(५)

रक्षित राज्यों का शासन

ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षित राज्य वे राज्य हैं, जो अपने क्षेत्र में अँग्रेज़ों को छोड़कर और किसी को राजनैतिक हस्त-क्षेप नहीं करने देते। इन्होंने गत तीन सौ वर्षों में भिन्न-भिन्न समय पर आत्म-रक्षा के लिए इंग्लैण्ड की संरक्षकता स्वीकार की। इनमें ब्रिटिश-सरकार का नियंत्रण पृथक्-पृथक् परिमाण में है। इनमें से मुख्य ये हैं—

(क) मलाया
(ख) सारवाक
(ग) बोर्नियो
(घ) सूडान
(च) ज़ंज़ीबार

मलाया का शासन एक राज्य-परिषद् द्वारा होता है। उसका सभापति वहाँ का सुल्तान होता है, जिसे अपने कार्य में ब्रिटिश-सरकार द्वारा नियुक्त रेज़िडेण्ट से सहायता मिलती है।

सारवाक के आन्तरिक शासन-कार्य में तो ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है, परन्तु उसके विदेशों सम्बन्धी विषयों का वह नियंत्रण करती है। ब्रिटिश-सरकार ही इस राज्य के उत्तराधिकारी का भी निश्चय करती है।

बोर्नियो का शासन 'ब्रिटिश नार्थ बोर्नियो कम्पनी' के आधीन है। ब्रिटिश सरकार आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करती। कम्पनी के डाइरेक्टर ही शासन-प्रबन्ध करते हैं। गवर्नर कम्पनी द्वारा नियुक्त होता है, परन्तु वह ब्रिटिश सरकार से स्वीकृत कराया जाता है। ब्रिटिश सरकार बाहरी विषयों का ही नियंत्रण करती है।

सूडान, सन् १८९९ ई० के समझौते के अनुसार, इंग्लैण्ड और मिश्र दोनों की रक्षा में है। यहाँ सैनिक तथा मुल्की शासन-कार्य गवर्नर जनरल करता है, जो ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति होने पर मिश्र-सरकार की आज्ञा से नियत किया जाता है और इसी प्रकार हटाया जाता है। गवर्नर-जनरल प्रान्तीय गवर्नरों तथा इन्स्पेक्टरों को नियत करता है; ये लोग ब्रिटिश प्रजा के ही होते हैं।

ज़ंज़ीबार का शासन-कार्य वहाँ के सुलतान के नाम से, ब्रिटिश रेज़िडेण्ट द्वारा होता है। यह रेज़िडेण्ट केनिया के गवर्नर के अधीन होता है, जो यहाँ का हाई-कमिश्नर माना जाता है। क़ानून, सुलतान और रेज़िडेण्ट दोनों मिल कर बनाते हैं; उन्हें शासन-कार्य में सहायता देने के लिए एक प्रबन्ध कारिणी सभा होती है; जिसका सभापति सुलतान और उपसभापति रेज़िडेण्ट होता है। सभा में, इनके अतिरिक्त तीन सरकारी और तीन ग़ैर-सरकारी सदस्य होते हैं। यहाँ एक व्यवस्थापक सभा भी है।

(६)

आदेशयुक्त राज्यों का शासन

ब्रिटिश साम्राज्य के आदेश-युक्त राज्य वे राज्य हैं, जिनका शासन यूरोपीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार तथा स्वतंत्र ब्रिटिश उपनिवेशों की सरकारें, राष्ट्र-संघ (League of Nations) के आदेश—Mandate—के अनुसार करती हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य राज्यों तथा उन

पर शासन करने वाली सरकारों के नाम नीचे दिये जाते हैं—

राज्य	शासक-सरकार
न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया
सेमोआ	न्यूज़ीलैंड
दक्षिण-पश्चिमी आफ्रिका	दक्षिण-आफ्रिका का यूनियन
नौरू	इंगलैंड, न्यूज़ीलैंड, और आस्ट्रेलिया
टांगानिका	ब्रिटिश सरकार
पेलेस्टाइन	” ”
इराक	” ”
टोगोलैंड केमरून	ब्रिटिश सरकार और फ्रेंच सरकार

शासक-सरकारों को कानून और शासन सम्बन्धी सब अधिकार प्राप्त हैं, और वे अपने-अपने शासित राज्य के मूल निवासियों की मानसिक, नैतिक आर्थिक आदि सब प्रकार की उन्नति करने के लिए राष्ट्र-संघ के प्रति उत्तरदायी हैं। उन्हें, *राष्ट्र संघ की ओर से यह आदेश रहता है कि* इन राज्यों में दास-प्रथा तथा बेगार बन्द रहे तथा हथियार और युद्ध सम्बन्धी सामान के प्रवेश पर नियंत्रण रहे, मूल निवासियों के लिए शराब न दी जाय, उन्हें पुलिस या आन्तरिक रक्षा के अतिरिक्त अन्य सैनिक शिक्षा न दी जाय, इन राज्यों में किसी तरह का किला या सैनिक अड्डा न बनाया जाय, राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों को वाणिज्य-व्यापार करने का समान अवसर रहे, पादरी बे-रोक-टोक आ सकें, और धार्मिक स्वतंत्रता रहे।

प्रत्येक आदेश-युक्त राज्य की शासन-सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट राष्ट्र-संघ की परिषद् में उपस्थित की जाती है, और उस की जाँच आदेश-कमीशन द्वारा होती है, जिसमें अधिकांश सदस्य उस राज्य की शासक-सरकार के नहीं होते। यदि आदेश-कमीशन, रिपोर्ट की किन्हीं बातों से संतुष्ट न हो, तो वह शासक-सरकार से उन के विषय में जवाब तलब कर सकता है।

इन नियमों की उत्तमता में किसी को विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु इन के अनुसार उदारतापूर्वक कार्य होने में बहुतों को संदेह है।

(७)

प्रभाव-क्षेत्रों का शासन

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत प्रभाव-क्षेत्र वे भाग हैं जिन में उन भागों का अपना-अपना राज्य होते हुए भी अंग्रेज़ों का प्रभाव अन्य राज्यों की अपेक्षा बहुत अधिक है। इन में भिन्न-भिन्न समय पर अंग्रेज़ों का प्रभाव क्रमशः बढ़ा है। अंग्रेज़ों ने इन में प्रायः व्यापार करना आरम्भ किया, या कल-कारख़ाने स्थापित किये, या वहाँ की सरकारों अथवा प्रधान व्यवसायियों को पूंजी उधार दे दी। इस से ब्रिटिश सरकार को, उन से ऐसा समझौता करने का सुभीता हो गया कि वे इन्हें वहां रहने या व्यापार आदि करने का विशेष अधिकार दे दें।

पहले तो दक्षिण फ़ारिस तथा चीन का कुछ भाग भी ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र था, परन्तु अब वे ऐसे नहीं रहे हैं। इस समय ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र निम्न-लिखित कहे जा सकते हैं—

(क) भूटान
(ख) कुवेत
(ग) अरब का कुछ भाग

इन में भूटान को तो कुछ सज्जन एक रक्षित राज्य-मात्र समझते हैं। भूटान को अंग्रेज़ सरकार से सालाना एक लाख रुपया मिलता है, और यह बाहरी मामलों में उस की सलाह से काम करता है। इस राज्य से, अंग्रेज़ सरकार का सन् १७७४ ई० में शान्ति की संधि हुई थी। इस की सीमा पर भारत सरकार का रेज़िडेण्ट रहता है, उसे इस के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

कुवेत राज्य, फारिस की खाड़ी पर है। इस का शासक सुलतान कहलाता है। इस की स्थिति सैनिक दृष्टि से बहुत

महत्व की है। इसे अपना प्रभाव-क्षेत्र बना लेने से अंग्रेज़ फ़ारिस की खाड़ी पर एक प्रकार से प्रभुता प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने इसके सुलतान से एक संधि की है, जिस के अनुसार वहाँ अंग्रेज़ों का विशेष प्रभाव [illegible] किया गया है।

भारतवर्ष और पूर्व में आने के लिए लाल समुद्र के रास्ते की सुरक्षा में इंग्लैंड का स्वार्थ होने से इंग्लैंड ने अरब की जातियों से, और विशेषतया हजाज़ के राज्य से राजनैतिक सम्बन्ध बना रक्खा है। पेलेस्टाइन और इराक इंगलैण्ड के आदेश-युक्त राज्य होने के कारण, हजाज़ से उक्त सम्बन्ध बहुत महत्व का हो गया है।

उपसंहार

इस लेख माला में हम ने ब्रिटिश साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों की शासन-पद्धति सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातें बतलाई हैं। ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध रखने वाले अन्य आवश्यक प्रश्नों पर पीछे स्वतंत्र रूप से विचार किया जायगा। यहाँ केवल यह और उल्लेख कर देना है कि जिन राज्यों की शासन-पद्धति का इस लेख-माला में वर्णन हुआ है, उन के अतिरिक्त कुछ राज्य और ऐसे हैं, जिन का ब्रिटिश साम्राज्य से कुछ सम्बन्ध तो है, परन्तु उनको साम्राज्यान्तर्गत किसी श्रेणी में रखना बहुत कठिन है। ऐसे राज्यों में मुख्य तीन हैं-मिश्र, तिब्बत और नेपाल। मिश्र स्वाधीन होने के प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हो चुका है। तिब्बत में यद्यपि पिछले दिनों अंग्रेज़ों का प्रभाव बढ़ गया है, परन्तु चीन की काया पलट का उस पर गहरा असर पड़े बिना न रहेगा। कुछ आश्चर्य नहीं यदि नेपाल भी कुछ समय में अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अपना स्थान ठीक करले। इस लिए इस लेख माला में इन राज्यों की शासन-पद्धति का विचार नहीं किया गया है। (समाप्त)

दयाशंकर दुबे
भगवानदास केला

बादशाही ज़माने में गोरक्षा

भारतवर्ष में गाय को हम अत्यन्त प्राचीन काल से पवित्र मानते आये हैं। उस समय गाय की रक्षा एवं वंश-वृद्धि का पूरा-पूरा ख़याल रक्खा जाता था*। सचमुच जब तक हिन्दू राजाओं का आधिपत्य यहाँ रहा, तब तक गोरक्षा का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता रहा। सम्राट् अशोकने तो इस प्रकार के अहिंसा-सिद्धान्त को विदेशों में भी फैला दिया था। अतः संभव है कि हमारे उक्त शीर्षक को देखकर पाठक, यह अनुमान करलें कि मुसलमानी बादशाहत के ज़माने में हिन्दुओं द्वारा किये गये गोरक्षा के कार्यों का बखान इस लेख में होगा। किन्तु बात वास्तव में ठीक इसके विपरीत है। प्रस्तुत लेख का हिन्दुओं ने जो प्रयत्न गोरक्षा के लिए पिछले ज़माने में किये हैं, उन से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें तो मुसलमान बादशाहों ने जो प्रशंसनीय कार्य गोरक्षा के लिए किये हैं, उन को बताना इष्ट है। बेशक, यह एक अनोखी सी बात जँचती है। आजकल देश में जो वायु-मंडल फैला हुआ है उसे देखते हुए पाठकों को यह बात ज़रा विचित्र अवश्य मालूम होगी? क्योंकि गोरक्षा के प्रश्न ने तो यहाँ की दो प्रधान जातियों में भेदभाव इतना गहरा और साम्प्रदायिक विष से पूर्ण कर दिया है कि इस देश का राष्ट्रीय जीवन ही संकट में आ पड़ा है। किन्तु साम्प्रदायिकता को महत्व देना आज एक सच्चे देशहितैषी के लिये उचित नहीं है। हमें तो सत्य से मतलब है। इतिहास में सत्य की पूरी पैठ है। आज इतिहास इस बात को सूर्य के चमकते हुए प्रकाश की तरह प्रकट कर रहा है कि इस्लाम में भी अहिंसा और दया का सिद्धान्त अपनी प्रधानता रखता है और मुसलमान बादशाह भी गोरक्षा के कार्य से अपने को विमुख नहीं रख सके थे। यह हो सकता है कि उनके ऐसा करने में कोई राजनैतिक कारण भी रहा हो; किन्तु 'दीन' के प्रति मुसलमानों की कट्टरता को देखते हुए यह विश्वास नहीं होता कि उन्होंने केवल राजनैतिक परिस्थिति से

---

* एसे ऑन काउ प्रोटेक्शन; पं० द्वारिकाप्रसाद; पृ० २-३

प्रभावित होकर गोरक्षा के कार्य किये थे। ज़रा उनके पैग़म्बर साहब के पाक जीवन पर नज़र डालिए। कितना सादा और पवित्र जीवन था। नंगे पैरों रहना, ज़मीन पर सोना, 'ख़ोरमा' (पिण्ड ख़जूर) व जौ की रोटियाँ खाकर तथा शुद्ध जल पीकर जीवन बिताना, यह बताने के लिए काफ़ी ※ है कि मुहम्मद साहब के हृदय में दया-भाव का कितना अथाह स्रोत था। उसी अमोघ दयाभाव का प्रभाव आज भी मक्काशरीफ़ की पवित्र 'ज़ियारतगाह' में अपना शासन जमा रहा है। कट्टर से कट्टर मुसलमान भी वहाँ एक मच्छर तक के प्राणों पर हाथ नहीं चला सकता है। कहते हैं कि मूल में इस्लाम मांस-भक्षण के रिवाज से अछूता था। उसमें मांस-भक्षण का रिवाज पीछे से आ घुसा है †। जो हो, हमें इससे मतलब नहीं है। हमारे प्रकृत विषय के लिए इतना जान लेना ही पर्याप्त है कि इस्लाम भी जीवों पर दया लाने का—रहम करने का उपदेश देता है। यदि यह बात न होती, तो यह संभव न था कि बादशाह लोग गोरक्षा के कोई कार्य करते। अस्तु।

मुसलमानी बादशाहत के जमाने में यद्यपि हिन्दुओं को चिढ़ाने के लिए मंदिर और मूर्तियां तोड़ी गईं तथा 'गो-कुशी' भी की गई; किन्तु उसी ज़माने में लगातार कितने ही प्रसिद्ध बादशाहों द्वारा गोरक्षा के अनूठे कार्य भी किये गये, जो उपर्युक्त 'काले कारनामों' पर हरताल फेरने वाले हैं। बादशाहों के गोरक्षा सम्बन्धी कार्य के लिए अवश्य ही हिन्दू-संसार उनका कृतज्ञ है। पहले मुग़ल सम्राट् बाबर को ही ले लीजिए। गोरक्षा के महत्व को बाबर ने अच्छी तरह समझा था और वह जानता था कि हिन्दुओं के निकट गो की कैसी पवित्र मान्यता है। हिन्दुओं का दिल उसने नहीं दुखाया और अपनी ज़िन्दगी भर कभी गो-मांस नहीं खाया। बाबर ने बड़ी-बड़ी दावतें भी दीं, परन्तु उनमें गो-मांस पका हो, यह लिखा नहीं मिलता‡। हिन्दुओं की भावना को सम्मान देने के लिए बाबर ने एक गुप्त वसीयतनामा अपने पुत्र हुमायूँ के नाम लिखा था। उसमें इसने हिन्दू-धार्मिक भाव को अच्छी तरह दिखलाया था और गोवध रोकने की आज्ञा दी थी। इस वसीयतनामे की असली नक़ल रियासत भोपाल के पुस्तकालय में अभी तक सुरक्षित है। इसका एक उपयोगी आलोक चित्र (Photo) डॉ० सय्यद महमूद पी. एच. डी. को नवाब कर्नल हमीदउल्लाख़ां साहब के पास से मिला था और उन्होंने उसका उल्लेख "मुसलमानी राज्य में गोरक्षा" नामक अपने एक लेख में किया है, जिसे बम्बई के श्री जीवदया प्रचारक मंडल ने प्रकाशित किया है*। इस लेख में बाबर के उक्त वसीयतनामे का अनुवाद इस प्रकार दिया हुआ है:—

"ऐ मेरे बेटे, हिन्दुस्थान में अनेक धर्मावलम्बी रहते हैं। यह उस शक्तिमान प्रभु की दया है कि उसने इस देश की ज़िम्मेदारी तुम्हारे हाथ में दी। बस इसलिए तुम्हें उचित है कि—

१ अपने राज में कभी धार्मिक झगड़ों को सिर न उठाने देना। पक्षपात-रहित न्याय करना। धार्मिक भावों को समझकर जातिवार प्रजा के मज़हबी रिवाजों का ख़याल रखते हुए शासन करना।

२ गोवध तो ख़ास तौर पर न करना, मेरी इस आज्ञा को मानोगे तो तुम हिन्दू-प्रजा के हृदय को जीत सकोगे। इस मार्ग द्वारा तुम इस देश को कृतज्ञता के बन्धन में बाँध लोगे।

३ किसी जाति विशेष के पूज्य स्थानों को बरबाद न करना, सदा न्याय-प्रिय रहना। इसलिए कि राजा और प्रजा के बीच हार्दिक सम्बन्ध सुदृढ़ हो और संपूर्ण पृथ्वी पर संतोष और शांति फैले।

४ इस्लाम धर्म का फैलाव अत्याचारी तलवार की अपेक्षा प्रेम और कृतज्ञता द्वारा करना कई गुना अच्छा है।

५ सदा शिया और सुन्नियों की पारस्परिक फूट को भुलाते रहना; नहीं तो वे इस्लाम धर्म को दुर्बल बनाने के लिए प्रस्तुत हो जायँगे।

६ प्रजा की विविध विशेषताओं को इस प्रकार मानना

※ सत्यमार्ग; पृ० २६९।

† सत्यमार्ग; पृ० २९४

‡ क्वार्टर्ली जनरल ओफ़ दी मीथिक सोसाइटी, भा० १८, पृ० ११५।

* इण्डियनरिव्यू, अगस्त १९२३, वीर, भाग २ पृ० ४५५।

जैसे वर्ष की ऋतुयें, और इस कारण राजनैतिक स्थूल शरीर सभी तरह के रोगों से दूर रहे, यह ध्यान रखना।

१ की जमादि–उल–अव्वल हिजरी सन् ९३५।"

कितना सुंदर उपदेश है! एक विदेशी विजेता के लिए सम्मान और गौरव की बात यही हो सकती है कि वह अपने नये राज्य के निवासियों को सुखी और संतुष्ट रखकर अपने लिए उनके हृदयों में जगह करले, जिससे कि वे उसके नाम को बड़े प्रेम से बहुत दिनों तक याद करते रहें। बाबर ने भी इसी नीति से काम लिया और उसे कुछ सफलता भी मिली। मालूम होता है, उसकी इस समुचित शिक्षा का प्रभाव उसके वंशजों पर बहुत दिनों तक रहा था।

डॉ॰ सय्यद महमूद के लेख से यह भी पता चलता है कि जिस समय मुसलमानी बादशाहत शुरू हुई थी, कसाइयों पर एक प्रकार का 'कर' लगाया गया था। गाय पर १२ जैताल कर था। फ़ीरोज़शाह के राज्यकाल में कसाइयों ने इसके रोकने की प्रार्थना की थी और बादशाह ने उसे रोक भी दिया था। यह कर केवल गोवध रोकने के लिहाज़ से मुसलमान बादशाहों ने फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ के समय तक चलाया था। यह "जाजीरा" नाम से प्रख्यात् था। मुहम्मद तुग़लक़ के विषय में कहा जाता है कि उसकी शाही रसोई में कभी गोमांस नहीं पकाया गया; क्योंकि, वह गोमांस छूने से भी घृणा करता था। इसी समय फ़रहतुलमुल्क गुजरात का शासक नियुक्त हुआ था और वह मुहम्मद ग़यासुद्दीन तुग़लक़ के शासन-काल में भी इसी पद पर नियत रहा था। फ़रहतुलमुल्क ने हिन्दुओं को बहुत सुभीते दिये थे और गोवध-निषेध की आज्ञा निकाली थी। सुलतान नासिरुद्दीन के राज्य में तो हिन्दुओं ने अच्छा प्रभाव कर लिया था। इस बादशाह ने अपने राज्य में गोवध बिलकुल रोक दिया था। फ़ीरोज़शाह ने जिस 'जाजीरा' कर को उठा दिया था, मालूम होता है, उसे इसने फिर जारी कर दिया था। अकबर के समय तक यह कर बराबर जारी रहा; किन्तु जब अकबर ने गोवध क़ानूनन नाजायज़ ठहरा दिया, तब यह कर भी निरर्थक जान उठा दिया गया था।*

* वीर; भाग २, पृ० ४५३।

बाबर के बाद हुमायूं और शेरशाह बादशाह हुए ज़रूर; परन्तु उनका सारा का सारा जीवन लड़ाइयों और झगड़ों में बीता। उनके राज्यकाल में गोरक्षा के कुछ विशेष कार्य हुए हों, यह विदित नहीं। किन्तु सम्राट् अकबर के समय में गोरक्षा का ख़ूब प्रबन्ध ही हुआ था। उसे तो दूसरा अशोक ही समझिए। एक विद्वान् का कहना है कि अकबर के अहिंसक भाव इतने कट्टर हैं, जितने किसी पक्के जैनी के हों। (His instincts of humanitarianism are as strong as those of any Jain) * सच पूछिए तो अकबर का इस प्रकार अहिंसा-प्रधान जीवन जैनियों के संसर्ग से हुआ था। पहले वह मांस ग्रहण करता था; † किन्तु जैन सिद्धान्त से परिचित होने पर उसने मांस भोजन बिलकुल त्याग दिया। ‡ उसके हृदय में मांस के प्रति घृणा उत्पन्न होगई थी। मृत पशुओं की छटपटाहट ने मानों उसका दिल दहला दिया और उसने उनकी रक्षा के भरसक प्रयत्न किये।

अकबर के दरबार में श्वेताम्बर जैन संप्रदाय के कई साधु पहुँचे थे। इनमें श्री हीरविजयसूरि, विजयसेनसूरि और भानुचंद्रजी विशेष उल्लेखनीय हैं। × इन महात्माओं के पवित्र चरित्र और हृदयग्राही उपदेश का प्रभाव अकबर पर बहुत पड़ा था। जन-साधारण उसे जैनी समझने लगे थे। ÷ एक विदेशी पादरी ने भी उसे जैन सिद्धान्तों का अनुयायी लिखा था। = अतः यह अनुमान करना सुगम है कि अकबर की वृत्ति कितनी दयालु होगी। सचमुच उपर्युक्त महात्माओं ने उसके द्वारा बहुत से भारत-हित के कार्य कराये थे। 'जज़िया' कर-निग्रह, बंदी-मोचन, गाय-भैंस

* का॰ जनरल-मीथिक सो॰; भा १८ पृ॰ ११७।

† आईन-इ-अकबरी; ब्लाकमैन, भाग १, पृ॰ ६१-६२।

‡ विंसेंट स्मिथ; अकबर; पृ॰ ३३५।

× सूरीश्वर और सम्राट् नामक ग्रन्थ देखिए।

÷ जैन टीचर्स आफ़ अकबर; भाण्डारकर कमेमोरेशन वोल॰ सन् १९१७; पृ॰ २६५-२७६।

= स्मिथ का अकबर; पृ॰ २६२। सूरीश्वर और सम्राट्; पृ॰ १७०।

आदि पशुओं की हत्या को सर्वथा बन्द कराना इत्यादि कार्यों में उपर्युक्त महात्माओं की देश-हित-कामना का भाव अच्छी तरह प्रकट होता है। जिस पशुवध को बन्द करने के लिए आज सारा भारत त्राहि-त्राहि कर रहा है तो भी बन्द नहीं होता, वही पशुवध केवल हीरविजयसूरि के उपदेश से बंद होगया था? यह क्या देश-कल्याण के लिए कुछ कम था!

जिस समय हीरविजयसूरि की अकबर से प्रथम भेंट हुई, उस वर्ष अर्थात् संवत् १६३९ के पर्यूषण के (भाद्रमास) आठ दिनों के लिए आगरे में ढिंढोरा पिटवा कर जीव-हिंसा बन्द करा दी गई थी। * और फिर अकबर ने इन महात्माओं को कई फ़रमान गाय, भैंस आदि पशुओं की रक्षा के लिए दिये और उनकी नक़लें सारे साम्राज्य में भिजवा दी गयीं। इन फ़रमानों का फल यह हुआ था कि वर्ष में छः महीने बिलकुल ही पशुहिंसा नहीं होती थी। गोवध बिलकुल बन्द होगया था। † पालीताना के आदीश्वरजी के मंदिर में एक शिलालेख वि० सं० १६५० का है, उसमें अकबर का फ़रमान खुदा हुआ है। ‡ अन्य फ़रमानों की प्राचीन नक़लें भी खंभात के जैन पुस्तक भण्डार में मौजूद हैं। × सारांश यह कि जैन गुरुओं के उपदेश से बादशाह अकबर ने जलाशयों में मच्छी पकड़ना, गाय, भैंस, बैल, भैंस आदि पशुओं का मारना, युद्ध में किसी को क़ैदी बनाना और मृतक मनुष्य का कर लेना रोक दिया था।

एक दफ़ा बादशाह लाहोर में थे, तब जैन यति शांतिचंद्रजी भी उनके निकट थे। बकरीद का त्यौहार आया। जैन यति ईद के एक रोज़ पहले बादशाह के पास पहुँचे और उनसे विदा लेने लगे। बादशाह उनको जाने देने के लिए तैयार न थे। हठात् शांतिचंद्रजी के कहने से उसने अबुल-फ़ज़ल एवं अन्यान्य मौलवियों को बुलवाया और मुसलमानों के माननीय धर्मग्रन्थों को पढ़वाया। शांतिचंद्रजी ने उस समय 'क़ुरानशरीफ़' की कई आयतें बताईं; जिनका यह अभिप्राय था कि रोज़े सिर्फ़ शाक और रोटी खाने ही से दर्गाह-इलाही में कबूल हो जाते हैं। हरेक जीव पर मेहरबानी करनी चाहिए। इसके बाद अकबर ने लाहोर में ढिंढोरा पिटवाया कि 'कल ईद के दिन कोई भी आदमी किसी जीव को न मारे।' बादशाह के इस फ़रमान से करोड़ों जीवों के प्राण बच गये। ※ सचमुच क़ुरानशरीफ़ में क़ुरबानी से मुराद इन्द्रिय-निग्रह से है। वहाँ साफ़ लिखा हुआ है कि मांस की शोखतनी अल्लाह के पास नहीं पहुँचती—लोगों के भले काम और रहम से ही वह ख़ुश होता है। † क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे मुसलमान भाई अपने बुज़ुर्गों की उक्त बातों पर ध्यान देकर राष्ट्र-हित के कार्य करने के लिए कटि-बद्ध हो जावें और साम्प्रदायिक रिवाज के मोह को नष्ट कर दें।

अकबर के गो प्रेम का एक उदाहरण और सुनिए। बादशाह के सिर में दर्द हो रहा था। हकीमों की दवा से कुछ फायदा न हुआ। बादशाह ने भानुचंद्रजी को बुलाया और उनके सांत्वना भरे शब्दों से ही अकबर का सिर-दर्द दूर हो गया। राज्य में ख़ुशियाँ मनाई जाने लगीं। उमराव ने पाँच सौ गायें क़ुरबानी के लिए एकत्र कीं। बादशाह को ज्योंही इस बात की ख़बर लगी, उसने उमरावों को बुला भेजा और क्रुद्ध होकर बोला—"अफ़सोस, मेरे आराम होने की ख़ुशी में दूसरों की क़ुर्बानी! दूसरों को ख़ुश करने के बजाय उनको बिलकुल ही दुनिया से उठा देना!! इनको फ़ौरन् छोड़ दो और बेख़ौफ़ रहने दो।" बस, तत्काल सारी गायें छोड़ दी गईं। ‡

अकबर के समान ही जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी गो-रक्षा के लिए फ़रमान निकाले थे। + जहाँगीर बादशाह ने अपने फ़रमान में अमलदारों और अहलकारों को लिखा था ×

---

* सूरीश्वर और सम्राट्; पृ० १२३।

† सूरी-सम्राट्; पृ० १२३-१८०।

‡ का० जनरल-मीथिक सो०; भा० १८, पृ० ११९।

× सूरी-सम्राट्, प्रस्तावना; पृ० ४।

※ सूरी-सम्राट्; पृ० १४६।

† क़ुरान का अंग्रेज़ी अनुवाद, मिर्ज़ा अब्दुल फ़ैज़ी-कृत; भा० २, पृ० ८९५।

‡ सूरी-सम्राट्; पृ० १४८।

+ का० जनरल-मीथिक सो० भा० १८; पृ० १२०।

× सूरी-सम्राट्; पृ० ३८७।

कि उनको "मालूम हो कि भानुचंद्र यति और 'खुशफ़हम' का ख़िताब वाले सिद्धिचंद्रमति ने हमसे प्रार्थना की कि 'जज़िया कर, गाय, बैल, भैंस और भैंसे की हिंसा, प्रत्येक महीने के नियत दिनों में हिंसा, मरे हुए लोगों के माल पर क़ब्ज़ा करना, लोगों को क़ैद करना और सोरठ सरकार शत्रुंजय तीर्थ पर लोगों से जो महसूल लेती है वह महसूल—इन सारी बातों की आज्ञा हज़रत (अकबर बादशाह) ने मनाई और माफ़ी की है।' इससे हमने भी हरेक आदमी पर महरबानी की है, इससे—एक दूसरा महीना, जिसके अंत में हमारा जन्म हुआ है, और शामिलकर, निम्नलिखित ब्यौरे के अनुसार माफ़ी की है। हमारे आला हुक्म के अनुसार अमल करना। इत्यादि। लिखा ता० १४ शहेरीवर महीना, सन् इलाही ५५।"

बादशाह जहाँगीर ने अकबर बादशाह के जन्मदिन रविवार को और अपने राज्यारोहण के पवित्र दिन बृहस्पतिवार को सब प्रकार की पशुहिंसा और शिकार खेलना बंद कर दिया था।* औरङ्गज़ेब का राज्य लड़ाइयों का हार है; किंतु उसमें भी गो, बैल आदि पशुओं की रक्षा के लिए लोगों ने प्रयत्न किये थे। अंतिम मुग़ल सम्राट् मुहम्मदशाह और शाहआलम ने तो गोरक्षा के लिए ख़ास प्रबंध किया था।† औरङ्ग़जेब जैसे कट्टर मुसलमान बादशाह पर भी दिगंबर जैन गुरुओं का प्रभाव पड़ा था, यह प्रकट है।‡

इस प्रकार मुसलमानी बादशाहों के ज़माने में गोरक्षा के जो सुकृत हुए थे, वह स्पष्ट है। यदि उनसे हमारे भारतीय भाई परस्पर प्रेममय जीवन बिताने के लिए, किंवा सर्वोपरि राष्ट्रोत्थान के वास्ते, सार्वभौमिक प्रेम का पाठ हृदयंगम कर लें और गोरक्षा एवं अवशेष पशुओं की रक्षा की कामना से बद्धपरिकर हो जावें, तो भारत का दारिद्र्य बहुत कुछ कम हो सकता है। क्योंकि, आख़िर भारत कृषि-प्रधान देश है। पशुधन का बाहुल्य ही उसकी समृद्धि का कारण है।

कामताप्रसाद जैन

---

* का० जनरल-मीथिक सो० भा० १८; पृ० १२१

† क्वा० जनरल-मीथिक सो० भा० १८; पृ० १२२।

‡ साउथ इण्डियन जैनीज़्म, भा० २; पृ० १३२।

हृदय की फुलझड़ी

दीपक

तुम किसे खोजते हो ऐ दमकते हुए दीपको! अवश्य ही तुम आँखें हो—रात-रात भर जगकर सत्यान्वेषण करने वाले किसी ऋषि की, अथवा किसी विरहव्यथित दग्ध-हृदय पागल प्रेमी की!

बाग़ में जाकर मैंने देखा कि फूल अपनी गन्ध भेजकर किसी का आवाहन कर रहा है, वृक्षों के झुरमुट में छिपी हुई कोयल पंचम स्वर में किसीको पुकार रही है, और अब मैं देखता हूँ कि इस घर के अन्धेरे कोने में दीपक किसी को ढूँढ रहा है!

दीपक ने जो किया वह केवल त्याग के लिए, जलकर संसार को प्रकाश देने के लिए!

दीपक त्याग की मूर्ति है; यह इतने सारे पतंगे उसके पास त्याग का पदार्थ-पाठ पढ़ रहे हैं।

संसार में तू ही अकेला दुःखी नहीं है ऐ स्नेही! देख, हृदय में स्नेह का सञ्चय करने के कारण बेचारे मिट्टी के दीपक को भी जलना पड़ रहा है!

प्रकाश के साम्राज्य का अन्त हो जाने पर सच्चे सामन्तों की भांति दीपक अपने शत्रु से लड़ रहे हैं और फिर जब प्रकाश के सम्राट् का राज्यारोहण होगा तब ये अपनी समस्त श्री हंसते-हंसते उसके चरणों में अर्पित कर देंगे।

यदि तू योंहीं रह-रहकर बुझेगा ऐ हृदय, तब तू किसी को पायेगा क्योंकर? स्नेही के जलने में जो मज़ा है, वह इस सतत जलने वाले दीपक से पूछ!

यह लग्न की ज्योति है या प्रेम का गीत? आहा, यह मिट्टी का मौन दीप भी कितनी समुज्ज्वल कविता कर रहा है!

क्षेमानन्द 'राहत'

"हम जाग उठीं, सब समझ गईं, अब करके कुछ दिखला देंगी।
हाँ, विश्व-गगन में भारत को, फिर एक बार चमका देंगी॥"

राखी

बाँध रही हो स्नेह-भरे बंधन में क्यों ये प्राण ?
बहन ! करूँगा मैं दुर्बल मनुष्य क्या तेरा त्राण ?

अरी शक्ति की धात्री ! आज जला इतने अंगार,
जल जाये जिसमें स्वदेश का नीरव हाहाकार !

बेड़ी में झंकार सुन पड़े, इसका हूँ अभिलाषी।
जीवन की पतवार पकड़ ले आज स्नेह की 'राखी'।

श्रावणी पर्व,
संवत् १९८५ वै०।

श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

राखी का सन्देश

राखी या रक्षा-बंधन, हम हिंदुओं का एक पवित्र त्योहार है। प्रत्येक वर्ष के रम्यकाल में, जब पुनीत वर्षा अपने धवल बिंदुओं से सृष्टि को नहलाकर हरा-भरा और पवित्र बना देती है, इसका शुभागमन होता है। उस पवित्रता के सुंदर वातावरण में, श्रावण शुक्ल पूर्णिमा के प्रफुल्ल दिवस, पवित्र और सहृदय बहनें अपने भाइयों के करों में कच्चे सूत का धागा बाँधकर अपनी शुभ-कामनायें उन्हें समर्पित करती हैं। इसे ही रक्षा-बंधन या राखी कहा जाता है। भाई-बहन के सुंदर, निःस्वार्थ, अचल, निःसीम और स्वाभाविक स्नेह का तो यह मूर्त रूप है ही; पर, इसका और भी महत्व है।

इसके बारे में हम लोगों में जो कल्पना प्रचलित है, साधारणतः, वह यह है कि स्त्री चूँकि सुकुमार है, चूँकि वह पुरुष से अपेक्षाकृत कम सशक्त है, चूँकि वह कोमल है, इसलिए वह इस रक्षा-बंधन के द्वारा भाई को अपना रक्षक बनाती है। इसके द्वारा बहन अधिकार रखती है कि अपने हित या अपनी रक्षा का कोई भी दुस्तर से दुस्तर और दुरूह से दुरूह कार्य वह 'भाई' से निःसंकोच और चाहे जब ले सकती है। इस कच्चे सूत के धागे का यह महत्त्व है, इसमें वह ग़ज़ब का जादू है, कि अपने जन्मजात भाई ही को नहीं बल्कि किसी भी पुरुष को, विपत्ति के समय, दुःखी-पीड़ित स्त्री इसके द्वारा अपना रक्षक और सहायक होने का निमन्त्रण दे सकती है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जब कि बड़े-बड़े कट्टरदिल शत्रु भी इस कच्चे धागे के आगे हार गये हैं अथवा झुक गये हैं—यहाँ तक कि विजातीय-विधर्मी मुसलमानों तक पर इसने अपना जादू चलाया है! भारत के मुग़लकालीन इतिहास में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं; और वीरभूमि राजस्थान का इतिहास तो ऐसे सुदृष्टांतों से मानों भरा पड़ा है। कहाँ तो मुग़ल बादशाह और कहाँ चित्तौड़ की हिन्दू महारानी, पर रक्षा-बंधन के द्वारा 'भाई' बनते ही चित्तौड़ को नष्ट करने का इच्छुक अपने ही सजातीय से उसी चित्तौड़ की रक्षा के लिए एकदम जूझ पड़ा! क्या यह कुछ कम महत्व की बात है?

पर, जब मैं इसपर विचार करता हूँ, तो मेरे दिल में और ही कल्पना उठती है। राखी के द्वारा बहन भाई के हाथ में अपनी रक्षा का बंधन बाँधती है, यह कल्पना मुझे कोई बहुत ऊँची नहीं जान पड़ती। यह धारणा तो स्पष्ट रूप से इस बात की अप्रत्यक्ष स्वीकृति है कि स्त्रियाँ कमज़ोर हैं और इसलिए उन्हें पराधीन-परवश रहना ही चाहिए। पर, क्या सचमुच वे कमज़ोर हैं? सचमुच ही क्या उनमें शक्ति नहीं हैं?

मेरी बुद्धि इस बात को नहीं स्वीकार करती। कौन कहता है कि स्त्रियाँ शक्ति-हीन हैं? स्त्रियों की ही तो वह शक्ति है, जो पुरुषों को कठिन से कठिन और असाध्य से असाध्य कामों के लिए भी साहसी बनाती रही है और बनाती रहती है। पुरुष अपूर्ण है, यदि उसे स्त्री की शक्ति न प्राप्त हो। स्त्री के ही शरीर से तो पुरुष का निर्माण होता है, और पूर्णाङ्ग भी तो वह स्त्री-रूपी अर्द्धाङ्ग के मिलने से ही न होता है? अरे, स्त्री तो स्वयं शक्ति है; पुरुष तो 'शाक्त' ही न है? महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में सारी शक्ति स्त्री ही के तो अन्तर्गत है! पुरुष में तो, किसी भी रूप में क्यों न हो, स्त्री से ही ये शक्तियाँ प्रस्फुटित होती हैं। फिर वही स्त्री जो शक्ति की खान ही नहीं बल्कि स्वयं शक्ति की प्रतिमा है, अपने ही से पले और परिप्लावित पुरुष से अपनी रक्षा की याचना करे, यह असंगत नहीं तो क्या है?

स्त्री तो शक्ति है; और माता के रूप में जैसे वह पुरुष को संसार में रहने की शक्ति प्रदान करती है, जैसे पत्नी के रूप में वह उसे संसार-परिचालन की मर्यादित शक्ति प्रदान करती है, वैसे ही बहन के रूप में—राखी के द्वारा—वह अमर्याद भ्रातृ-शक्ति से उसे शक्तिमान बनाती है।

राखी शक्ति का आदान है। इसके द्वारा बहन भाई को अपनी शक्ति प्रदान करती है। बहन-भाई का सम्बन्ध

कितना नैसर्गिक, निश्छल, निस्स्वार्थ, स्नेहार्द्र, और पवित्र है, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं। अतः राखी बाँधकर वह भाई को ऐसी पवित्र नैतिक शक्ति प्रदान करती है जो बुरे कामों के लिए नहीं बल्कि अच्छे कामों में ही प्रयुक्त हो। राखी शक्ति है; सूत के पतले धागे में जो महत्व है वह पुरुष की कलाई के चारों ओर लिपट कर उस शक्ति का प्रयोग मर्यादित कर देता है कि पुरुष उस का अनुचित उपयोग न कर सके। जिस बहन से भाई को वह शक्ति मिलती है उसकी जाति—स्त्री-मात्र—के प्रति इस शक्ति का कोई उद्दण्ड और अनुचित उपयोग न करना तो भाई का धर्म हो ही जाता है; पर समष्टि रूप से इसके द्वारा मानव-समुदाय—समस्त पीड़ितजनों के कष्ट-निवारण में अपनी इस शक्ति का उपयोग करना भी उसके लिए आवश्यक हो जाता है। और यदि वह बहन या उसकी जाति—अर्थात् स्त्रियाँ किसी कष्ट या बन्धन में ग्रस्त हों, उनकी प्रगति-सुख में कोई अनुचित विघ्न-बाधा उपस्थित हो, तो उससे उसे या उन्हें मुक्त करने के लिए भाई या भाइयों का कटिबद्ध हो जाना साधारण कृतज्ञता-बुद्धि के अनुसार बिलकुल स्वाभाविक और अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है। राखी के द्वारा बहन की रक्षा का भाव इस मूल सिद्धान्त पर ही निर्भर मालूम पड़ता है—यह दूसरी बात है कि काल के अवसान ने इस भावना को इस ऊँचे और गौरवपूर्ण भाव से आज ऐसे निम्न और अपमान पूर्ण भाव पर ला पटका है! अस्तु।

राखी के रूप में बहन भाई को अपनी शक्ति-महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती की सम्मिलित शक्ति—प्रदान करती है; और संकल्प करती है भाई को शक्ति प्रदान करने के लिए अपनी बड़ी से बड़ी कुर्बानी देने का, जैसे कि कृष्ण की बहन ने अपना मरण सहन कर अपनी समस्त शक्ति से उनको शक्तिशाली किया!

आज तो इस क्रिया का और भी महत्व है। भारत के वर्तमान दुर्दशा-काल में तो भुजा में राखी बाँध कर मानों बहन भाई को यह प्रोत्साहन देती है—"भाई! देश के इस आपत्काल में माता को बंधन-मुक्त करने के लिए शत्रु की हथकड़ी-बेड़ियों से बंधन-मुक्त होने की आवश्यकता पड़े, तो उन्हें भी इसी प्रकार प्रसन्नता-पूर्वक ग्रहण करो।"

इसी में हमारे देश की मुक्ति समाविष्ट है। माता को बन्धन-मुक्त करने के लिए हथकड़ी-बेड़ी धारण करके जेलों में जाने की ज़रूरत पड़े, फाँसी पर झूलने की ज़रूरत पड़े, गोलियाँ खाकर मरने की ज़रूरत पड़े, तो भी न हिचकिचायें-ऐसे ही भाइयों की इस समय देश को ज़रूरत है। और भाइयों को भी बहनों के ऐसे ही प्रोत्साहन की इस समय आवश्यकता है जिससे बहनों की ओर से तो उन्हें आश्वासन रहे ही, साथ ही स्फूर्ति भी प्राप्त हो। यही राखी का संदेश है।

जेलों में जाकर, हथकड़ी-बेड़ी धारण करके, बहनों के भाई शक्ति-हीन होकर नहीं बल्कि अजेय शक्ति प्राप्त करके निकलेंगे, जैसे वसुदेव ने कृष्ण रूपी अजेय शक्ति प्राप्त की थी, कि जिसने न केवल वसुदेव को बंधन-मुक्त किया बल्कि अपने देश के शत्रुओं को नष्ट करके समस्त ब्रज-मंडल को ही बंधन-मुक्त और निश्चिंत कर दिया था! रक्षा-बंधन के बाद ही तो कृष्णावतार (कृष्ण-जन्माष्टमी) होता है। फिर नवरात्र में, शत्रु-दलन के रूप में, संहार शक्ति का परिचय देती हुई शुभ-विजया विजय-संदेश सुनाती है। और फिर, इसके बाद, दीपावलि के आलोक में चमकती और चमचमाती हुई महालक्ष्मी आ उपस्थित होती है और महासरस्वती की भी पूजा होने लगती है।

यही आज भारत की आवश्यकता है; और, आज की दशा में, बहन-भाइयों को, भारत अपना यही संदेश पहुँचाना चाहता है। वह कहता है कि राखी के इस शुभावसर पर भारत की बहनें अपनेको निर्बल समझ कर भाइयों के हाथों में रक्षा-बन्धन न बाँधेंगी, बल्कि अपनी शक्ति का अनुभव करके भाइयों को उसे प्रदान करके उसकी मर्यादा का बन्धन वे इसके द्वारा रक्खेंगी।

इसीमें उनका, हम पुरुषों का, और हमारे राष्ट्र भारत का आशामय उज्ज्वल भविष्य समाविष्ट है!

राखी,
संवत् १९८५ वि०। } मुकुटबिहारी वर्मा

भारतीय स्त्रियों की जागृति

वर्तमान समय का यह एक शुभ चिह्न है कि भारत की स्त्रियाँ दिन-दिन अपनी दयनीय अवस्था से जागृत हो रही हैं। वे इस बात को समझती जा रही हैं कि देश के सामाजिक, आर्थिक और घरेलू जीवन में क़ानूनन उनकी जो स्थिति है वह न केवल अस्वाभाविक है बल्कि उनके हितों के विपरीत और अन्याय-पूर्ण है। राष्ट्र की पुत्रियों, पत्नियों, भगिनियों और माताओं के रूप में वे अपने योग्य कोई अधिकार नहीं रखतीं। क़ानूनन उनकी ऐसी महत्व की कोई स्थिति नहीं कि जिसे खोकर वे दुःखी हों, न उनकी कोई बड़ी मालियत ही रहती है कि जिससे उन्हें वंचित किया जा सके। उन्हें न कोई वारिसाना हक़ है, न उनके लिए कोई धन्धा है, न उपयोगी और सुखी स्वतंत्र जीवन बिताने का ही कोई साधन उन्हें प्राप्त है। लड़की की हैसियत से वे किसी सम्पत्ति की हक़दार (वारिस) नहीं होतीं, पत्नी की हैसियत से वे किसी स्वतंत्रता का उपभोग नहीं करतीं, और न विधवा की हैसियत से वे अपने पति की सम्पत्ति पर किसी अधिकार का दावा कर सकती हैं—उलटे उनके पुनर्विवाह में समाज बाधक ज़रूर होता है! जैसे उनके भाई भारत के पुत्र हैं, उसी प्रकार वे भारत की पुत्रियाँ हैं; फिर भी पुत्रों को तो जन्म से से ही कई अधिकार होते हैं—जैसे कि कुटुम्ब की सम्पत्ति में उनका अधिकार होता है, पर पुत्रियों के कोई अधिकार ही नहीं होते! विधुर पुनर्विवाह कर सकता है; पर विधवा नहीं कर सकती। स्वदेश की सेवा का मार्ग प्रत्येक पुरुष के लिए खुला हुआ है; पर परदेश के अन्दर रहते हुए स्त्री को ऐसी कोई सुविधा नहीं है। उसकी नसों में वही रक्त प्रवाहित है, स्वदेश-सेवा की उसे वैसी ही इच्छा है, और मातृभूमि की देश-भक्त कन्या की हैसियत से अपना कर्तव्य पालन करने की उसमें वैसी ही लगन है। परन्तु उसकी इच्छा-पूर्ति के मार्ग में परदा तथा अन्य अनेक अनिवार्य बंधन हैं। ये बंधन उसे वह सब करने से रोकते हैं, जिसे कि अपने उस भाई ही की तरह वह भी अपना कर्तव्य समझती है—वह भाई, जिसके लिए अपने देश की सेवा के सारे मार्ग खुले हुए हैं। अयोग्यता का यह सेहरा, ये सब बंधन और रुकावटें उनपर पुरुषों ने लगाई हैं; जिसका कारण कुछ तो पुरुषों की स्वार्थपरता है, कुछ पक्षपात है, और कुछ अज्ञान। लेकिन मूल चाहे जो हो, अब तो इन अयोग्यताओं, बंधनों और रुकावटों को न केवल देश की स्त्रियों के हित के लिए बल्कि स्वयं पुरुषों के हित के लिए भी तुरन्त और हमेशा के लिए दूर कर ही देना चाहिए। समय बदल गया है, परिस्थितियाँ भी बदल गई हैं, जीवन की दशा में इतना आश्चर्यकारक परिवर्तन हो गया है कि जिस बात का एक समय अमुक परिणाम निकलता था, अमुक असर पड़ता था, अथवा अमुक उपयोग होता था, अब न केवल उसका वह असर नहीं पड़ता, वह परिणाम नहीं निकलता, और न पूर्णतः असम्बद्ध हो जाने वाली प्राचीन योजना में वह उपयुक्त ही होता है; बल्कि इसके ठीक विपरीत उन्नति के मार्ग में वह एक निश्चित बाधा बन गया है। जब कि भारतवर्ष समस्त संसार से प्रायः पृथक् था, जब कि वह अपनी ज़रूरत की चीज़ें ख़ुद पैदा कर लिया करता था, जब कि वह स्वतन्त्र था, जब कि उसपर किसी विदेशी सरकार का आर्थिक दबाव न था, तब यहाँ पर जो परिस्थितियाँ थीं उनके अनुकूल वह अपना जीवन बनाये रखता था। परन्तु अब सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक सब तरह से भारत विदेशी आक्रमणों के लिए खुला हुआ है, और बड़ी बुरी तरह लूटा,

एवं अज्ञान रक्खा जा रहा है; और इतनी अयोग्यताओं एवं विघ्नों का शिकार हो रहा है कि स्त्रियों के हितों की रक्षा से भी बढ़कर देश के हित के लिए स्त्रियों का बिना विलम्ब मुक्त हो जाना बहुत जरूरी है—अनिवार्य है। इसकी आवश्यकता ऐसी स्पष्टता से विदित हो चुकी है, इसकी शीघ्रता इतनी सम्पूर्णता से समझी जा चुकी है, कि बौद्धिक एवं नैतिक संस्कृति, जीवन की कला एवं सौन्दर्य आदि में पिछड़ा हुआ अफ़ग़ानिस्तान जैसा देश भी आज परदा छोड़ रहा है, और स्त्रियों के मार्ग की अड़चनों को मिटा रहा है, जिससे अपने देश की सेवा और उसकी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वे भी पुरुषों के साथ अपना उत्साह, समय और शक्ति लगा सकें।

भारत में भी स्त्रियाँ अपने मार्ग की कठिनाइयों को समझ रही हैं और अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए, कि जिससे राष्ट्र की सेवा में वे अपने उपयुक्त योग-दान कर सकें, यहाँ-वहाँ अपना संगठन कर रही हैं। अतएव अपने देश का भला चाहने वाले प्रत्येक सहृदय मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अपनी पूरी शक्ति के साथ भारत के स्त्री-आन्दोलन का समर्थन करे।

स्वर्गीय महापुरुष और देशभक्त स्वामी दयानन्द सरस्वती अक्सर कहा करते थे कि जब तक भारत की स्त्रियाँ परदे में तथा अन्य अनावश्यक बन्धनों में जकड़ी रहेंगी, तब तक भारतवर्ष की विशेष प्रगति असंभव है। क्योंकि, यह तो वैसा ही है, जैसे देशी बैलगाड़ी को दो के बजाय सिर्फ एक ही बैल से चलाया जाय। परदा तो उठ ही जाना चाहिए। देश की प्रत्येक कन्या को शिक्षित होना चाहिए, और उसे ऐसी सुविधायें मिलनी चाहिएँ कि जिससे राष्ट्र की सेवा करते हुए वह अपना जीवन सुख-पूर्वक बिता सके। संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली रहे या न रहे, जिस कुटुम्ब में वह पैदा हुई है उसके सदस्य की हैसियत से उसे उसके न्याय्य अधिकार मिलने ही चाहिएँ। यदि उसका भाई अपना पुनर्विवाह कर सकता है, तो उसे भी पुनर्विवाह का अधिकार अवश्य होना चाहिए—फिर वह उसका उपयोग करे चाहे न करे। स्त्री यदि प्रेम और भक्ति की अटूट कड़ियों से अपने पति से बँधी रहती है, तो पुरुष भी क़ानूनन इन्हीं बन्धनों से अपनी स्त्री के साथ बँधा रहना चाहिए। पुरुष को चाहिए कि वह अपनी स्त्री को जंगम सम्पत्ति, दासी, अथवा अपनेसे तुच्छ कभी न समझे। अगर पुरुष स्त्री को छोड़ देने के लिए स्वतंत्र है, तो स्त्री भी उसी प्रकार पुरुष को छोड़ देने के लिए स्वतंत्र होनी चाहिए। हमें चाहिए कि माताओं के रूप में हम स्त्रियों में श्रद्धा और भक्ति रक्खें, भगिनियों के रूप में उनसे स्नेह करें और उन्हें सहायता पहुँचावें, पत्नियों के रूप में उन्हें प्यार करें, तथा पुत्रियों के रूप में उनमें वात्सल्य-भाव रखकर उपयोगी और सुखी जीवन बिताने के लिए उन्हें तैयार करें। ऐसा तभी हो सकता है, जब कि भारत का प्रत्येक पुरुष अपने इस कर्तव्य को भलीभाँति समझ और मान ले कि मैं एक ऐसी सहयोगिनी (help-mate) प्राप्त करूँगा कि जो मुझे सुख और शक्ति प्रदान करेगी, जिससे कठिनाइयों को दूर कर मैं अपने दुश्मनों पर विजय पाऊँगा और अपने देश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने में समर्थ हो सकूँगा। स्त्री *लक्ष्मी* है; वह मुझे सम्पत्तिशाली बनायगी। स्त्री *सरस्वती* है; वह मुझे विद्या देगी। उसे स्वतंत्र करते ही पुरुषों के बन्धन नष्ट हो जायँगे; ग़ुलाम लोग स्वतंत्र संतान पैदा नहीं कर सकते। दासता में पड़ी हुई स्त्रियाँ भी ऐसे पुरुष उत्पन्न नहीं करेंगी कि जो स्वतंत्र होंगे। अगर पुरुष उन्हें दासता में रक्खेंगे तो वे और उनका देश भी दूसरों की दासता में रहेंगे। जब कि अहल्याबाई जैसी

एक राज्य का शासन करने की अधिकारिणी भी हो सकती है, और जब कि स्त्री रियासत की रीजेण्ट हो सकती है—जैसे कि वर्तमानकाल में त्रावणकोर और ग्वालियर की महारानियाँ हैं, तब स्त्रियों को विरासत का कोई अधिकार न होना चाहिए? क्या यह ठीक है? न्याय्य है? उचित है? और अच्छा है? यदि स्त्रियाँ पुरुषों की दया पर निर्भर रक्खी जाती हैं, तो दिन और रात के क्रम की भांति एक दिन पुरुषों को भी दूसरे की दया पर निर्भर होना पड़ेगा। जो अज्ञात पर निश्चित रूप से मानवी मामलों का संचालन करने वाली नैतिक शक्तियों के बारे में थोड़ी-बहुत जानकारी रखते हैं, जो मानव मस्तिष्क के संचालन और उसकी प्रगति को और उसके द्वारा होने वाली मानवी-संस्थाओं की प्रगति पर शासन करने वाले आधारभूत विधानों को समझते हैं, वे इस बात को भलीभाँति जानते हैं कि स्त्रियों की पराधीनता का परिणाम अन्त में पुरुषों की पराधीनता ही होता है।

नवीन टर्की ने इस शिक्षा को बड़ी अच्छी तरह समझा है; और उस महान् देशभक्त कमालपाशा के नेतृत्व में अंगोरा की सरकार ने परदे को उठाकर देशभर में स्त्रियों को मुक्त कर दिया है। भारत में भी प्राचीन काल में स्त्रियाँ स्वतंत्र थीं। महारानी कैकेयी अपने पति महाराजा दशरथ के साथ रण-क्षेत्र में लड़ने गई थीं और वहां जाकर उन्होंने अपने पति की प्राण-रक्षा की थी। राजपूत स्त्रियों ने युद्ध के साज से सज्जित हो, हाथों में अस्त्र धारण करके, चित्तौड़ के क़िले की रक्षा की थी, और अपने भाई और पतियों के समान ही उन्होंने भी युद्धभूमि में अपने प्राणों का हँसते-हँसते उत्सर्ग किया था। झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई एक हाथ में तलवार और दूसरे में भाला लेकर अपनी सेना के पड़ाव पर गईं, और वहां उन्होंने ऐसे-ऐसे पराक्रम के काम किये थे, कि उनकी गौरवपूर्ण स्मृति संसार के इतिहास में सदा के लिए अमर हो चुकी है। उस समय के अंग्रेज जंगीलाट तक को महारानी लक्ष्मीबाई की प्रशंसा में यह घोषित करना पड़ा कि सिपाही-युद्ध में वह सब-से बहादुर सैनिक थीं। वह दिन बहुत दूर नहीं, जब कि भारतीयों को अपने प्राणों के लिए लड़ना होगा; उस समय तक यदि स्त्रियाँ स्वतंत्र न हो गईं, उस आने वाले उग्र संग्राम में अपना भाग लेने में समर्थ
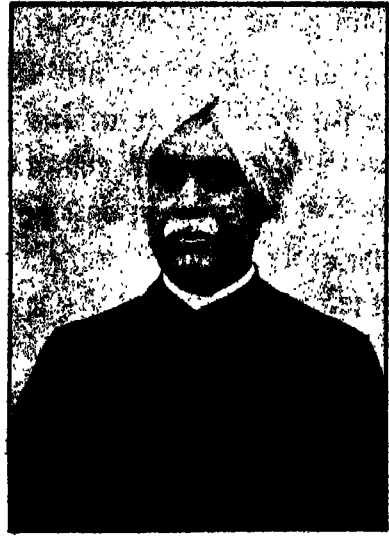
रायसाहब हरविलास सारडा, एम० एल० ए०

न हुईं, तो देश का बड़ा अनिष्ट होगा और हिन्दू जाति का भविष्य अन्धेरा—बिलकुल अन्धेरा और आशाहीन हो जायगा। प्राचीन काल के बेबीलोनिया असीरिया, कार्थेजिया, इट्रूरिया और दूसरे राष्ट्र-वालों का इतिहास के पन्नों के अलावा आज दुनिया में कोई अस्तित्व नहीं रहा है। भारत का भी यदि हमें ऐसा ही भाग्य न होने देना है, यदि भारत को हम ऐसे भाग्य से बचाना चाहते हैं, तो देश की स्त्रियों को

मुक्त कर देना हमारा पहला काम होगा। इतिहास कई सचाइयों को प्रकट करता है। बुद्धिमानों ने उन्हें समझा है, और आँखें रखने वाले आदमी उन्हें देख सकते हैं; पर अभागे राष्ट्र और मनुष्य न तो उन्हें देख सकते हैं, और न समझ ही सकते हैं!

हरविलास सारडा

वही तिथि

अरे, वही तिथि आज घूम-फिर कर फिर आकर
अतिथि हुई यह!

हाय! आज यह मेरा अन्तर,
है उदास; है नहीं चिह्न भी उस वैभव का।
बुझा गई थी दीप यही उस हर्षोत्सव का।
आई है तो क्यों न देख जा आज यहाँ तू;
अपनी ही वह लूट पायगी जहाँ-तहाँ तू।
उस दिन जो कुछ छीन ले गई थी तू छल से,
उसके साथ लपेट ले गई थी कौशल से।
मेरी साधन-सिद्धि। नहीं अब कुछ पावेगी,
स्मृति ही तो रह गई; उसे क्या ले जावेगी?
मैंने उसको छिपा लिया है अन्तःपुर में,
मुखरित है संगीत आज वह उर के उर में!
तो भी यों ही नहीं लौटने दूँगा तुमको,
आगे बढ़कर मन्त्र-मुग्ध-सा लूँगा तुमको।
हृदय-रक्त के अश्रु-बिन्दुओं में से चुन कर,
गूँथा है जो हार, वही उपहार पदों पर।
धर दूँगा मैं और करूँगा एक विनय यह,
रक्खा हो जिस जगह पूर्व का मेरा धन वह।
रखना यह भी वहीं; तथा फिर-फिर तू आकर,
बँधी हुई यह भेंट अदा कर ले जाया कर!

सियारामशरण गुप्त

प्रगतिशील तुर्की बहनें

यों तो, खलीफा का निवास-स्थल होने के कारण, टर्की पहले से ही अपना विशेष स्थान रखता आया है; परन्तु यूरोपीय महा-समर और खासकर टर्की-यूनान-युद्ध के बाद से उसने जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त किया है, वह अद्भुत है। परतंत्र राष्ट्र ही नहीं बल्कि सारा संसार आज चकित नेत्रों से उसकी ओर निहार रहा है। स्वतन्त्र और प्रगतिशील साम्राज्यवादी राष्ट्र जहाँ आज उसकी प्रगति देख सशंक और सावधान हो रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर पारतंत्र्य-ग्रस्त राष्ट्र उसकी प्रगति से स्वराष्ट्रोत्थान में प्रोत्साहन प्राप्त करने में प्रयत्नशील हैं। सचमुच कमालपाशा धन्य हैं, जिन्होंने एकदम टर्की का ऐसा कायापलट कर दिया!

यही वह टर्की है, जहाँ एक समय—अभी पूरे २० वर्ष भी नहीं हुए—स्त्रियों को स्वतन्त्रता से सूर्य-स्पर्श भी मुश्किल था। परदा इतना कड़ा था कि कुछ न पूछिए। लम्बा कुर्त्ता और उसके ऊपर बुर्क़ा यहाँ की स्त्रियों की आम पोशाक थी। इसके विपरीत उनका ज़रासा भी व्यवहार न केवल समाज में बल्कि क़ानूनन भी उनके तथा उनके अभिभावकों के लिए कष्टप्रद था। मर्दों का बैठकखाना अलग होता था, और स्त्रियों का जनाना दूसरा। बैठकखाने में कौन आता-जाता और क्या करता है, उसका स्वागत-सत्कार कैसे-क्या होता है, इत्यादि बातों से स्त्रियों का कोई सरोकार न था। न वहाँ उनकी पहुँच थी, न इन बातों का ध्यान रखना उनका काम ही था। इसी प्रकार जनाने में मर्दों की पहुँच भी बिलकुल बेरोक-टोक न थी। और जब घर पर ही उनका यह हाल था, तब बाहर के कामों—खासकर दफ्तर की नौक-रियों आदि में तो उनका अस्तित्व ही कहाँ से होता?

लेकिन आज स्थिति बिलकुल इसके विपरीत है। परदा तो ग़ायब हो ही गया, पर पोशाक भी बदल गई है। पहले जहाँ बुर्क़ा आवश्यक था, और लड़के-लड़कियों के लिए भी टोप लगाना ईसाइयत का चिह्न समझा जाता था, वहाँ—उसी टर्की में—आज यूरोपीय पोशाक ही मुख्य पोशाक बन गई है! स्त्रियों की रहन-सहन बदल कर बिलकुल यूरोपीय हो गई। वे बाल कटाती हैं, उन्हें टेढ़े-तिरछे काढ़ती हैं, स्कर्ट, स्टाकिंग, हैट-रुमाल, एड़ीदार जूते, तरह-तरह के शृङ्गार-पदार्थ इत्यादि का इस्तेमाल करती हैं। सरकारी दफ्तरों में पुरुषों की बराबरी से काम करती हैं। पुरुषों के साथ हँसती-खेलती, घूमती-फिरतीं, खाती-पीतीं, यहाँ तक कि नाचने-गाने भी लगी हैं—कई तो सिग्रेट का धुआँ उड़ाने में भी पुरुषों से बाजी ले गई हैं! और कोर्टशिप, स्वेच्छया विवाह, तलाक तो व्यावहारिक रूप में परिणत हो गये हैं। सच तो यह है कि इन सब बातों में तुर्की बहनें यूरोप के दूसरे किसी भी देश की स्त्रियों से पीछे न रहने के लिए जी-जान से कटिबद्ध हैं।

कैसी अद्भुत क्रान्ति है! और हुई कैसे?—

"हम मुक्त हो गईं, जबकि पुरुष नहीं देख रहे थे!" 'लिटरेरी डाइजेस्ट' के अनुसार यह उनका जवाब है, जबकि तुर्की बहनों से पूछा जाता है कि वे कैसे परदे से मुक्त हुईं। वह लिखता है—"मर्द उस समय लड़ाई में लगे हुए थे; दूसरे शब्दों में, उन्होंने लड़ाई के ध्यान में इस बात पर कभी ध्यान ही नहीं दिया कि उनकी बहू-बेटियाँ कब मैदान में निकल पड़ीं, कब उन्होंने परदे को तिलाञ्जलि देदी, कब अपने बाल कटा डाले, कब 'ईसाई' टोप लगाने लगीं, और इन सबसे बढ़कर यह कि पुरुषों के सामने नाचने-गाने में भी शरीक होने लगीं! निश्चय ही यह परिवर्तन साधारण न था; परन्तु जब उच्च श्रेणी की कन्यायें दफ्तर का काम करने लगीं—क्योंकि सारे नौजवान युद्धक्षेत्र चले गए थे—तब, तुर्की स्वातंत्र्य वादिनियों के कथनानुसार, यह सब अवश्यम्भावी था।"

कहानी यहीं समाप्त नहीं हो जाती। तुर्की बहनों ने यह सब स्थिति, जैसी कि आज उनकी है, कुछ यों ही नहीं प्राप्त करली; बल्कि लगभग २० वर्ष से, इसके लिए, वे लगातार प्रयत्नशील रही हैं। हर वॉन रोजन नामक एक जर्मन लेखक उनके इस प्रयत्न की शुरुआत सन् १९०९ से बताता है, जिस क्रान्तिकारी वर्ष में, उसके लेखानुसार, एक लेफ्टिनैण्ट की युवा पत्नी परदा छोड़कर कुस्तुनतुनिया की सड़कों पर निकल आई थी और लोगों में जोरदार भाषण देती फिरती थी, जबकि दूसरे अफ़सर लोग बार-बार उसके हाथों को चूमते जाते थे! उसके लेखानुसार, "तबसे उच्चश्रेणीय तुर्की स्त्रियों की मुक्ति ने बड़ी तेज़ी से प्रगति की है और वे लगातार यूरोपीय साँचे में ढलती जा रही हैं-उससे कहीं ज्यादा, जितने की प्रकृति के अभी दुधमुँहे इन प्राणियों से आशा की जा सकती थी।" 'एशियाटिक रिव्यू' का लेखक मार्गरेट स्मिथ इसे और एक साल पहले ले जाता है। सन् १९०८ में होने वाली वैध क्रान्ति में ही वह इसकी शुरुआत बताता है। क्योंकि, उसके लेखानुसार, "उसके दो साल पहले वहां जो गुप्त षड्यंत्रकारी दल स्थापित हुआ था, जो बाद में 'ऐक्य एवं प्रगति-संघ' (Society of Union and Progress) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, उसमें अमीने समी हनूम नामक एक सुप्रसिद्ध लेखिका भी सदस्य थी। और जब सचमुच क्रान्ति फूट पड़ी, तो पुरुषों के समान ही स्त्रियों ने भी हल्ले-गुल्ले में भाग लिया था। 'तमीने' प्रगतिशील दल का पत्र था। इसमें उस समय के बड़े से बड़े लेखक भी काम करते थे, पर इसने अपने साहित्यिक स्तम्भों में लिखने के लिए

हलीदे एदिब नामक एक स्त्री को भी आमंत्रित किया था। यह पत्र स्त्रियों की मुक्ति का पक्षपाती था और इस बात का प्रतिपादन करता था कि शिक्षा में स्त्री-पुरुषों का समान भाग हो और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पुरुषों के समान ही रहे।

हलीदे एदिब, जिसका कि ऊपर ज़िक्र आया है, अपने समय की एक कुशल पत्रकार थी और तुर्की स्त्रियों की नेत्री के रूप में उसका ज़बर्दस्त महत्व था। कुस्तुनतुनिया के अमेरिकन कालेज में शिक्षा पाने वाली नकी हनूम के साथ, जो कि शिक्षकों को आधुनिक ढंग पर शिक्षित करने के नार्मल स्कूल की डाइरेक्टर थी, इसने शिक्षा-प्रसार के लिए भी खूब प्रयत्न किया है। इसने अपने जो संस्मरण (Memoirs) लिखे हैं, उनसे तत्कालीन परिस्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनसे मालूम पड़ता है कि तुर्कियों की सांस्कृतिक प्रगति के लिए सबसे पहला राष्ट्रीय क्लब 'तुर्क ओजक' (Turkish Hearth) सन् १९११ में क़ायम हुआ था। इसकी जनरल कांग्रेस ने हलीदे एदिब को भी अपना सदस्य चुना था और शुरू से वही इसकी एकमात्र महिला-सदस्य थी। इसके बाद, १९१८ से तो, आम तौर पर स्त्रियाँ इसकी सदस्य बनाई जाने लगीं। पश्चात् स्त्री-स्वातंत्र्य के भावों और अपनी सदस्याओं को सुसंस्कृत बनाने के उद्देश से स्त्रियों ने 'तालीनिसवाँ' नाम का सर्व-प्रथम स्त्री-क्लब स्थापित किया, जिसने १९१२ के बालकन-युद्ध के समय अपना एक अस्पताल भी खोला था। इसमें स्त्रियाँ ही परिचारिकायें थीं, जिनके लिए कि पुरुषों की परिचर्या का यह पहला ही अवसर था। यही नहीं बल्कि इस क्लब ने एक सभा भी की, जिसमें मेसिडोनिया में ग़ैर-लड़ाकों की हत्यायें रोकने के लिए यूरोप की महारानियों के पास उसका प्रतिवाद भेजने तथा युद्ध के आश्रितों की मदद करने का निश्चय किया गया था।

१९१३ में नकी हनूम टर्की के धर्मादा-विभाग की अध्यक्ष नियत हुईं जिसके अधीन मसजिदों के समस्त स्कूल थे। इसी दर्मियान हलीदे एदिब भी कन्या-शालाओं तथा छोटे सम्मिलित (लड़के-लड़कियों के) स्कूलों की इन्सपेक्टर-जनरल और सलाहकार बना दी गईं। इससे स्त्री-आंदोलन को काफ़ी प्रोत्साहन मिला। इसी समय से ओजक की सभाओं में स्त्री-पुरुष दोनों की सम्मिलित उपस्थिति शुरू हो गई। हलीदे एदिब ने पुरुषों की अनेक सभाओं में भी भाषण किये।

इसके बाद तो यूरोपीय महासमर ही शुरू हो गया, जो कि तुर्की बहनों की स्वतन्त्रता के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण काल साबित हुआ। इस अवसर पर बीमारों-घायलों की सेवा करने, उन्हें रसद वग़ैरा पहुँचाने, तथा लड़ाई के दूसरे कामों को उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। यही नहीं, मर्दों के लड़ाई पर चले जाने के कारण, दफ्तरों-दूकानों बल्कि युद्ध-क्षेत्र में भी उन्हें काम करना पड़ा। परदा आदि के टूटने में इससे बड़ी सहायता पहुँची। और स्त्रियों में स्वाश्रय तथा आज़ादी के भाव जम गये।

सबसे पहले बाल कटाने वाली युवा महिला कुमारी अकरम कहती हैं—"लड़ाई छिड़ने पर आर्थिक समस्या और पुरुषों को सैनिक कार्य के लिए खाली करने का सवाल सामने आया और उच्च-श्रेणीय महिलाओं को भी काम-धन्धों पर लगने के लिए बाध्य होना पड़ा। तब वे जागीं और सार्वजनिक जीवन में अपने उपयुक्त भाग ग्रहण करने के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता उन्हें अनुभव हुई। अतएव, सर्व-साधारण क्या कहते हैं, इसकी पर्वाह न कर, इस समय उन्होंने स्कूल जाना और विभिन्न काम-धन्धों में पड़ना शुरू कर दिया।

शुरुआत में इससे बड़ी गड़बड़ मची। एक महिला के अपने पति के साथ नाटक में जानेका साहस करने पर जो खलबली मची थी, वह मुझे अभी तक बखूबी याद है। नाटकघर में वही एक ऐसी स्त्री थी, और इसके लिए उसपर खूब ही टीका-टिप्पणी और कानाफूसी हुई। इसके बाद एक-दो ने विदेशी दूतावासों के नाचों में सम्मिलित होने का साहस किया। इसने तो लोगों को बिलकुल ही हिला दिया-क़रीब-क़रीब हरएक इसके विरुद्ध था। तदोपरान्त सिनेमाओं का भी आगमन हुआ।" अस्तु।

कुमारी अकरम
(सर्वप्रथम बाल कटाने वाली तुर्की महिला)

महायुद्ध के बाद का काल तो उनके क्रमिक विकास का समय ही समझिए। महायुद्ध के बाद ही 'नारी-अधिकार-रक्षक-संघ' (Society for the Defence of the Rights of Women) प्रस्थापित हुआ, जिसके उद्देश थे—"तुर्की स्त्रियों के बाहरी ढंग को बदलना; विवाह-प्रणाली में सामान्य बुद्ध्यनुसार सुधार करना; घर में स्त्रियों को सुरक्षित करना; माताओं को अपने बच्चों को आधुनिक ढंग पर शिक्षित करने के उपयुक्त बनाना; तुर्की स्त्रियों को सामाजिक जीवन में दीक्षित करना; स्त्रियों को अपने गुजारे के लिए खुद कमाने के लिए उत्साहित करना और वर्तमान बुराइयों के निवारणार्थ उनके लिए काम का पता लगाना; कन्याओं को अपने देश के उपयुक्त शिक्षा देने के लिए महिला-शालायें खोलना, और जो स्कूल मौजूद हैं उनमें तदनुसार सुधार करना।"

१९२५ में 'तमीने' अखबार में एक लेखक ने लिखा कि देश और समाज के जीवन में हमारे यहाँ स्त्रियों को कोई स्थिति प्राप्त नहीं है, यही हमारी (टर्की की) प्रगति में सबसे बड़ी रुकावट है। यदि हमें टर्की का सच्चा पुनरोद्धार करना है, तो सबसे पहले स्त्रियों को सामाजिक जीवन में लाना चाहिए। गुलाम नहीं बल्कि ऐसी स्त्रियों की हमें जरूरत है, जो अपने नागरिक एवं मानवी अधिकारों की आप स्वामिनी हों और आत्मा एवं बल दोनों दृष्टि से अपने पति की उपयुक्त सहधर्मिणी बन सकें।

राष्ट्रीय सरकार ने किया भी सचमुच ऐसा ही। मुस्तफ़ा कमालपाशा राष्ट्रीय सरकार का सर्वेसर्वा है; और वह ऐसा जोशीला निकला कि कुछ न पूछिए! सच तो यह है कि आज तुर्की बहनों की जो इतनी स्वतंत्रता हमें दिखाई पड़ रही है, उसका बहुत कुछ श्रेय कमालपाशा को ही है; और, यही कारण है कि, स्त्री-स्वातंत्र्य का मुख्य नेता आज वही माना जा रहा है। परदे के खिलाफ उसने हुक्म निकाला था—"तुर्की स्त्रियाँ अपना मुख खोल दें और निर्भीकता के साथ दुनिया की ओर देखें"(Let the Turkish woman show her face to the world and look

the world in the face)। अपनी पत्नी लतीफा हनूम के द्वारा उसने इसे व्यावहारिक रूप भी दिया। सब जानते हैं कि हनूम हमेशा उसके साथ रहती और अंग्रेज औरतों के ही समान पूरी आजादी के साथ अपना व्यवहार रखती थी। यही नहीं, उसने इसे क़ानूनी रूप भी दिया-और, पिछले साल तो, ट्रेबिजोण्ड प्रान्त के वली ने भी परदे का निषेध कर दिया है। अस्तु। प्रजातंत्र का नया विधान बनने पर, इसी अनुसार, उसमें स्त्रियों सम्बन्धी धारायें प्रायः सब बदल गई हैं। बहु-पत्नीत्व अब यहाँ ग़ैरक़ानूनी है, और पुरुषों ही के समान स्त्रियों को भी तलाक के अधिकार प्राप्त हैं। ऐसे ही और भी कई स्त्रियों के अनुकूल सुधार कमालपाशा के शासन में यहाँ हुए हैं तथा और होने की भी सम्भावना है।

सच तो यह है कि आज टर्की पहले का टर्की नहीं रहा बल्कि पूर्ण आधुनिक हो गया है। परदा, बुर्क़ा, बहु-पत्नीत्व कहाँ,—अब तो स्त्रियों को सामाजिक स्वतंत्रता मिल गई है, जिसके लिए कि वे इतने दिनों से तरस रही थीं। अब उन्हें क्या नहीं प्राप्त है? उनके अपने क्लब हैं, आव-भगत ही नहीं बल्कि पुरुषों के साथ नाचने-गाने में भी वे शरीक रहतीं हैं। नाटकों में 'पार्ट' लेने लगी हैं। रंगमंच पर आती हैं; और अखबार व किताबें लिख-लिख कर संपादक और लेखक के रूप में भी वे खूब प्रसिद्ध हो रही हैं। विश्वविद्यालयों में पुरुषों के साथ और उन्हींके समान वे भी डाक्टरी, क़ानून आदि सब विषयों की शिक्षा पाती हैं और इस क्षेत्र में निश्चय ही इसलामी दुनिया में वे सब से आगे हैं। नौकरी का यह हाल कि जनरल पोस्टआफ़िस तथा दूसरे सरकारी महकमों और बैंक आदि व्यापारी धन्धों में आज हजारों स्त्रियाँ काम कर रही हैं। यही नहीं, इण्डियाना के विनोषलेक स्थान में होने वाले हाल के मद्यपान-विरोधी विश्वसंघ के कन्वेंशन में शरीक होने वाली तुर्की प्रतिनिधि महिला सफ़ी हुसायनबे ने तो यह भी कहा है—"टर्की में नारी-मताधिकार का आन्दोलन शुरू हो गया है और पुरुष इस बात के लिए बिलकुल तैयार हैं कि स्त्रियों को मताधिकार दिया जाय। यहाँ एक चुनाव तो हाल में होने वाला है, दूसरा चार वर्ष में होगा। तीसरे चुनाव के समय निश्चय ही स्त्री-पुरुषों का समान-मताधिकार अमल में आ जायगा और कई स्त्रियाँ तो उसके दफ्तर तथा प्रजातंत्र के उच्च पदों पर भी आसीन होंगी।"

इस प्रकार अब तुर्की बहनों की गति खूब बढ़ गई है। कोई उनकी स्वतंत्रता पर आपत्ति नहीं कर सकता। १९२५ की बात है। कुस्तुनतुनिया के नारी-संघ ने धर्मादा-विभाग के अध्यक्ष से प्रार्थना की थी कि मसजिदों में परिषदें तथा अपना प्रचार करने की हमें इजाज़त दे दीजाय। धर्माध्यक्ष ने कहा कि परिषदें दूसरी जगह ही की जाया करें तो अच्छा हो, और धर्मोपदेश या प्रचार के लिए मसजिदों के मुफ्तियों से पूछना चाहिए। बस, इसी पर धर्माध्यक्ष की खूब तीव्र आलोचना की गई! और हदीजे सेलया इकरम तो बड़े गर्व के साथ यह भी कहती हैं कि "मैंने परदा कभी किया ही नहीं! और अपने बाल तो तभी कटवा दिये थे, जबकि कुस्तुनतुनिया के अमेरिकन स्कूल की अमेरिकन लड़कियों ने भी उन्हें कटकटवाना शुरू नहीं किया था!" यह कुमारी अपने २० वें वर्ष में हैं और अमेरिका का चक्कर लगा चुकी हैं। परदा तो कहाँ, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक अमेरिकन पत्र-प्रतिनिधि से कहा, यह तो बाल भी कटाती और धड़ाके के साथ सिगरेट पीती हैं! पाठकों को यह जानकर और भी आश्चर्य होगा कि यह कुमारीजी आजकल तुर्की स्त्रियों की एक नेत्री भी हैं!

यह है आज की तुर्की बहनों की स्थिति। बहुत

सम्भव है कि भारतीय बहन-भाइयों को ये बातें कुछ अटपटी सी प्रतीत हों। हर बात में पश्चिम का अंध-अनुकरण हमें भी पसन्द नहीं। लेकिन काल-प्रवाह जो ठहरा! फिर भी हम इससे शिक्षा और प्रोत्साहन तो प्राप्त कर ही सकते हैं। और हाल में आई हुई यह खबर तो निश्चय ही बड़ी आशाप्रद है कि उनमें देशभक्ति और सादगी के भावों का जोर बढ़ रहा है। इनसे प्रेरित होकर उन्होंने एक ऐसी संस्था क़ायम की है, जिसकी प्रत्येक सदस्या को खुद तो मितव्ययी बनना ही पड़ेगा पर साथ ही अपने मिलने-जुलने वालों तथा परिवार में भी मितव्ययिता का प्रचार करना होगा। इसकी सदस्य प्रत्येक स्त्री उतने ही वस्त्र रख सकेगी, जितने कि उसके लिए अत्यावश्यक हों—और, वे भी टर्की में बने कपड़े के होंगे। अलावा इसके, तड़क-भड़क वाली चीज़ों और गहने-जेवर आदि को बिलकुल छोड़ देना भी उनके लिए अनिवार्य होगा। निश्चय ही यह क़दम सादगी और देशोद्धार की ओर है; और, इसलिए, अतीव उपयोगी है। परमात्मा करें, इसमें उन्हें सफलता प्राप्त हो और अपने उद्धार के साथ-साथ विश्वोद्धार के लिए भी वे प्रयत्नशील बनें!

मुकुटबिहारी वर्मा

"वहाँ की स्त्रियों की ये बातें जानकर और उनके परिश्रम और कार्य-पद्धति को देखकर अपने घरों की स्त्रियों की स्थिति पर विचार करना स्वाभाविक है.........मैं समझता हूँ कि उनको अपनी रक्षा कर लेने के योग्य बना देना उनकी रक्षा का सबसे अच्छा साधन होगा। अपने शरीर अथवा सतीत्व की रक्षा वे स्वयं कर सकती हैं। सतीत्व की रक्षा आज भी वे स्वयं ही करती हैं।......... हम अपने पुराने आदर्श को भूल गये हैं। केवल अपने सतीत्व की ही नहीं बल्कि समय-समय पर सबों की रक्षा हमारी स्त्रियों ने ही की है।"

—बाबू राजेन्द्रप्रसाद

क्रान्तिकारिणी राधा

भविष्यत् पुराण में कहा गया है कि पहले राधा-कृष्ण एक मूर्ति में थे और सहस्र वर्ष तप करने के पश्चात् दोनों पृथक्-पृथक् रूपों में विभक्त हो गये। उन्होंने फिर अलग-अलग हजार वर्ष तप किया। तब दोनों के ज्योतिर्मय शरीरों से एक निर्मल ज्योति-धारा प्रकट हुई। इसी ज्योति से वृन्दावन-धाम उत्पन्न हुआ। यह कथा परमात्मा से आत्मा का अनन्त ऐक्य सूचित करने का बड़ा सुन्दर प्रकार है। जब आत्मा पृथ्वीतल पर शरीर धारण करती है, तब वह शाश्वत ऐक्य भंग हो जाता है। वंशी-ध्वनि उसी पुनर्मिलन के लिए आह्वान है। कृष्ण में पुनर्मिलन-साधन के अर्थ प्रत्येक आत्मा को राधा होना पड़ेगा—नारी-भाव या गोपी-भाव धारण करना होगा। नारी की आत्मा में उत्कट इच्छा होती है—भक्ति होती है। पुराणों में हम पढ़ते हैं कि राधा-कृष्ण यमुना-तट पर मिलते हैं। प्रत्येक हृदय को यमुना होना पड़ेगा—प्रेम-प्रपूरित सरिता का रूप धारण करना होगा।

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि राधा में क्रान्तिकारिणी प्रवृत्ति थी—वह रीति-नीति या लोक-रीति में विश्वास नहीं करती थी। राधा विधि-विधान के बन्धन से मुक्त थी—संसार मेरे विषय में क्या कहता है, इसकी वह अणुमात्र भी पर्वाह न करती थी। वह कहती है—"कृष्ण के लिए मैंने बिना संकोच के कर्तव्य-पथ का त्याग कर दिया है।" जिसे मनुष्य कर्तव्य कहता है, वह बहुधा बाहरी—दिखावटी—नियम-मात्र होता है—केवल ऊपरी माया! क्रान्तिकारी माया या नियम बन्धनों के ऊपर उठता है। नारी-भाव-मय आत्मायें ही भारत का उद्धार करेंगी।

माया से ऊपर उठकर प्रभु से रहस्य में ऐक्य-साधन करना कोई "सुधार" की बात नहीं। उस मनुष्य को बिलकुल "नूतन" हो जाना चाहिए—उसका पुनर्जन्म होना चाहिए। जिसे शास्त्र "पुनर्जन्म" कहते हैं, उसको मैं क्रांति कहता हूँ। माया से ऊपर उठकर परमात्मा से गूढ़ सम्मिलन प्राप्त करने के कुछ निश्चित सोपान हैं। वे सोपान राधा-सम्बन्धी कथाओं और कहावतों में बतलाये गये हैं। और मेरा विश्वास है कि यदि किसी राष्ट्र को नवजीवन-मूलक क्रांति करनी है, तो इन्हीं सोपानों पर होकर, इन्हीं मंजिलों को पार करके, जाना होगा।

सबसे पहला सोपान है—जागृति। शास्त्रों में इसके लिए "विवेक" शब्द का प्रयोग किया गया है। जब राधा का कृष्ण से वियोग होता है, तब राधा अपनी स्थिति समझकर तुरन्त ही जागृत हो जाती है। प्रभु मथुरा चले गये थे। राधा बारम्बार अपने आपसे पूछती है—"वह मुझे छोड़कर क्यों चले गये? उन्होंने मेरा साथ क्यों छोड़ दिया?" ईश्वरीय जीवन की ओर बढ़ने की आशा करने के पहले हममें यह जागृति उत्पन्न होनी चाहिए। जनता में जागृति उत्पन्न हुए बिना हम भारतीय स्वाधीनता की आशा नहीं कर सकते। चाहे तुम कुछ भी क्यों न करो, किन्तु बिना तैयारी, संयम या साधन की मंजिल को बिना पार किये कुछ नहीं हो सकता है—इस सोपान को फाँद कर तुम आगे नहीं जा सकते। भारतवर्ष ग्रामों का देश है—और अभी तक अधिकांश ग्राम स्वाधीनता के सन्देश में जागृत नहीं हुए हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह बिना इस जागृति के सोपान को पार किये आध्यात्मिक मुक्ति पा सके, उसी प्रकार राष्ट्र के लिए भी इस जागृति-युग को बिना प्राप्त किये स्वराज्य पाना असम्भव है। सहनशीलता का संयम प्राप्त करना दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान समय में हमारे लिए सबसे आवश्यक कार्य है इस संदेश को देश के ग्रामों और झोंपड़ियों में पहुँचाना। ग्राम-जीवन को जागृत करो—राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-मन्दिर तक पहुँचने के लिए कोई पगडण्डी नहीं है—कण्टकाकीर्ण लम्बे साधना-मार्ग को पार करके ही मन्दिर के द्वार तक पहुँचा जा सकता है।

जागृति के पश्चात् हममें वह भावना पैदा होनी चाहिए, जिसे शास्त्रों में "व्याकुलता" कहा गया है। मैं उसे आत्मा की पिपासा कहता हूँ। जो लोग आज देश की स्वाधीनता की लम्बी-चौड़ी बातें हाँकते हैं, उनमें से कितने ऐसे हैं, जिनके हृदय में सच्ची लगन है—सच्ची व्याकुलता या पिपासा है? राधा अपनी एक सखी से कहती है—

"मैं अपने दुःख की सीमा कैसे बताऊँ? बहन! मेरी वर्तमान अवस्था को धिक्कार है। दिन-रात मेरा हृदय जलता है—मुझे शान्ति नहीं। क्या ही अच्छा होता, यदि मैं कृष्ण के पास उड़कर जा सकती!"

उस देशभक्ति का क्या मूल्य है, जिसमें हृदय में यह "विरह" नहीं है? मैं ऐसे युवकों को जानता हूँ, जो अंग्रेजों से घृणा करते हैं—वे यह भूल जाते हैं कि प्रेम-वृत्ति ही देशभक्ति है। मैं ऐसे युवकों को जानता हूँ, जो बड़े अभिमान-पूर्वक प्राचीन ऋषियों का उल्लेख करते हैं—अपनेको "ऋषि-सन्तान" कहकर गर्वित होते हैं। वे नहीं समझते कि देशभक्ति हमें अत्यन्त नम्र बनाती है। हम कहते हैं कि हमें ऋषियों का अभिमान है। किन्तु क्या ऋषियों को हमारा अभिमान है? मैं ऐसे नवयुवकों को भी जानता हूँ, जिन्होंने राजनीति को एक व्यवसाय बना रक्खा है, जिसके द्वारा उन्हें अबोध जनता का जय-जयकार बिना मूल्य मिलता है। उन्हें याद रखना चाहिए कि देश

भक्त के दिल में "दर्द" रहना आवश्यक है, क्योंकि देश आज बन्धन में जकड़ा हुआ है।

तीसरा सोपान है—आत्मत्याग। कृष्ण को पाने के लिए राधा ने व्रत लिया – कठोर तपस्या ठान दी, ऐसा पुराणों में कहा है। बंगाली? महाकवि विद्यापति राधा के मुँह से निम्नलिखित भावपूर्ण वचन कहलाते हैं—

"यदि कृष्ण गोकुल को लौट आयेंगे, तो ग्रन्थि-बन्धन के लिए मैं अपने हार की मणियां दूँगी। उन्हीं-की सेवा में मैं अपना सर्वस्व प्राप्त करूँगी।"

क्या हर्ज है, यदि हम और आप भारतीय स्वाधीनता के रण में टुकड़े-टुकड़े हो जायँ—यदि इस युद्ध का अन्त स्वाधीनता के उत्सव में होने को है, तो उसके लिए हमारे-आपके अङ्ग-प्रत्यंग कट जाना कोई बड़ी बात नहीं है!

और जातीय इतिहास के इस क्रान्तिकाल में, हमारे लिए, इससे बढ़कर और कौन पवित्र प्रार्थना हो सकती है कि हम राधा के समान प्रेम और प्रतीक्षामय हृदय से यह कहें—

"हे माता! तुम्हारी सेवा में हम अपना सब कुछ पाते हैं।"*

टी० एल० वास्वानी,

"जब हम किसी महान् कार्य के लिए अपने को या दूसरों को उत्साहित करना चाहते हैं, तो उन वीर स्त्रियों और पुरुषों का उदाहरण देते हैं, जिन्होंने इसी तरह की कठिनाइयाँ झेली हैं, जो शूरता के साथ युद्ध में कूदे हैं, और छाती दिखाते हुए लड़ाई के मैदान को पार कर गये हैं। यह हमारे लिए कम लज्जा का विषय नहीं है कि हम अपने वीर पुरुषों का इतिहास कम जानते हैं। इससे भी अधिक लज्जा का विषय यह है कि हम अपनी वीर-स्त्रियों के विषय में कुछ भी नहीं जानते!" —टेरेन्स मैक्स्विनी

*'श्रीकृष्ण-सन्देश' से।

सन्देह

(२)

जीजी के आ जाने पर मालती को कुछ अच्छा लगने लगा। बातचीत करने में सुविधा हुई और समय अच्छी तरह बीतने लगा। पर ज्वर तो पीछा छोड़ता ही न था। डॉक्टर कहा करते कि अगर यही दशा रही तो रोगी को क्षय हो जायगा। बसन्त बाबू कहते—'आप कहें वही दवा दी जाय, कहिए तो किसी स्वास्थ्यभवन में रखवा दूँ।' परन्तु मालती कहीं भी जाने को तैयार न होती थी। अब उसकी फ़ुरसत का वक़्त ईश्वर-भजन में बीतने लगा। मनुष्य-स्वभाव ठहरा। नैतिक मनुष्य भी जब दुनिया में रहकर अपने कामों में असफल होता है, तो अपने आप उसका ध्यान ईश्वर की ओर झुकने लगता है। सब तरह की अनुकूल परिस्थिति में रहकर सुखोपभोग करते हुए ईश-स्मरण करने वाले विरले ही होते हैं। परन्तु जब निराशा आ घेरती है, तब और सहारा ही किसका रह जाता है? परमात्मा भी इतना क्षमाशील और दयालु है कि आगे-पीछे किसी ओर भी न देखकर जितना उसका स्मरण किया जाय उतना तो सुख और शान्ति दे ही डालता है। इसी तरह की शान्ति पाने की इच्छा से मालती आज-कल ईश्वर के निकट-सम्पर्क में रहने लगी थी। जीजी के आनेपर कभी-कभी कुछ बात चीत कर लिया करती थी। परन्तु, बहुत अधिक निराश हो जाने के कारण, ईश्वर से यही मनाया करती कि 'प्रभु, अबतो जल्दी ही उठा ले!' इसी निराशा-भरी आवाज में वह जीजी से भी कुछ दिन और रह जाने का आग्रह किया करती। मालती के ऐसे करुण आग्रह से जीजी भी बड़ी दुःखी होतीं, परन्तु कोई रास्ता सूझता न था। वह देख रही थीं

कि उनके आने पर भी वसन्त बाबू और मनोरमा के आपस के व्यवहार में तिल-मात्र भेद नहीं हुआ है। दिन भर गप-शप, अदालत का काम और रात को १०-११ बजे तक अभ्यास और अभ्यास के बहाने गपशप होती रहती। इन दोनों को एक-दूसरे के सहवास के अतिरिक्त और कोई काम सूझता ही न था। माना कि ये दोनों अभीतक बिगड़े नहीं; सद्सद्विवेक-बुद्धि से मनही मन झगड़ कर अपने आप को बचाये हुए हैं, फिर भी इसमें शक नहीं कि ये दोनों अब किनारे पर हैं। कब फिसल कर वह जायेंगे, इसका कुछ ठिकाना नहीं। लेकिन किया भी क्या जाय ? बहुत-कुछ सोचा-विचारा, पर सब व्यर्थ हुआ। घर आने पर वसंत बाबू जीजी से दो-चार मीठी बातें करते। जीजी भी मालती को एकदम भूलकर उनसे दो चार मीठी बातें कर लेती। पर दिमाग़ में तो हमेशा यही विचार चक्कर काटते रहते कि इन दोनों का बचाव कैसे हो। मालती का सुख तो नष्ट होही रहा था; मनोरमा के सर्वस्वहरण का समय भी सन्निकट-सा था। जीजी का जितना प्रेम वसंतबाबू पर था, उतना ही बल्कि उससे कुछ अधिक मनोहर बाबू पर था। डॉक्टर बाबू भी जीजी को अपनी सगी बहन से ज्यादा प्यार करते थे। अतः उनके नाम पर धब्बा लगना, अथवा दुनिया की आँखों में मनोरमा का अपमान होना, जीजी के लिए एक असह्य बात थी। उन्होंने बहुत कुछ सोचा। मालती की भी सलाह ली। पर, समस्या हल न हो सकी। मालती तो पूछे जाने पर यही कहती—"जीजी, तुम चार दिन रहकर अपने घर चली जाना। उन्हें तो अब किसी दूसरे आदमी की जरूरत रही नहीं है। ज्यादा कहा-सुनी का परिणाम सिवा अपमान के और क्या होगा ?" लेकिन जीजी का इन बातों से बहुत थोड़ा समाधान होता। आखिर एक दिन बहुत-कुछ सोच-विचार के बाद जीजी ने निश्चय किया कि दादा—वसंत बाबू—से इस सम्बन्ध में कुछ न कह कर सीधे मनोरमा से ही बातचीत करनी चाहिए। अगर उसने मान लिया तो ठीक ही है, अन्यथा बिछौना बाँध कर मैं तैयार रहूँगी ही। इससे अधिक वह मेरा कर भी क्या सकते हैं ? जीजी अपने इसी निश्चय पर दृढ़ रहीं। एक दिन वसन्त बाबू काम से कहीं दूसरे नगर गये थे। ऐसे समय उचित अवसर समझ, वह तीसरे प्रहर के लगभग मनोरमा के कमरे में गईं। मनोरमा अपने कमरे के ऊपरी हिस्से पर चित्रकारी का सामान फैलाये बैठी हुई थी। सामने ही वसन्त बाबू का चित्र पड़ा हुआ था। संभवतः वैसा ही एक दूसरा चित्र तैयार करने की उसकी इच्छा थी। परन्तु जीजी को एकाएक अपने कमरे में आते देख वह सहम गई और झटपट चारों ओर फैले हुए सामान को समेटने के बहाने उस चित्र को छिपाने लगी। वैसे ही जीजी कह उठीं—"वाह भाभी, चित्र-कला में चित्र निकालने तक की तरक्की करली ? मुझे देखने तो दो। मुझे खुद तो चित्र बनाना आता नहीं परन्तु, हाँ, औरों के बनाये चित्र देखना मुझे पसन्द है।"

"वाह जीजी तुम ऐसी बात क्यों कहती हो, तुम्हारे जैसी रांगोली निकालने वाली कोई है भी ?"

"पर, भाभी, चित्र और रांगोली (चौकपूरना) में तो बहुत फ़र्क़ होता है।"

"नहीं जीजी, यह तो उसीका दूसरा रूप है। मुझे जैसी (प्रोषित भर्तृका) को अब किसके लिए रांगोली निकालना है ? बैठे-बैठे यही बना रही थी। मन-बहलाव के लिए कुछ तो करना ही पड़ता है न ?"

"क्यों भाभी, क्या और किसी के लिए रांगोली नहीं निकालोगी ?"

"जाने भी दो जीजी, अब मुझे कहाँ संसार सो

बसाना नहीं है; फिर मेरे घर आने-जाने को ही कौन है? कहीं भी रहकर किसी तरह अपने दिन बिताने है।"

"छीः छीः! भाभी, तुम ग़लती कर रही हो। मैं तुम्हारे घर की मेहमान हूँ। क्या एक दिन भी मेरे लिए रांगोली नहीं निकालोगी? बबुआ भी तो है। उसके लिए नहीं? कहावत जो है—'मामा बिछावे पाट, मामी निकाले रांगोली'।"

"हाँ, ठीक है; जिस दिन उनके मामा पाट बिछाने आवेंगे, उस दिन मामी भी रांगोली निकालेगी!"

"तो फिर तुम कौन हो? कह दो कि तुम मेरे बबुआ की मामी नहीं। मनोहर भय्या ने बचपन से जो रिश्ता जोड़ रक्खा है, उसे तुम—जब वह परदेश में हैं—भुला दोगी भाभी? तुम चाहे भूल भी जाओ, मैं तो कैसे भूलूँगी? डॉक्टर भय्या ने जिस तरह मेरा लाड़-प्यार किया है, उसे भूल कर मैं बेईमान तो न बनूँगी। भाभी, तुम तो अपने विवाह के बाद से हमें जानती हो; परन्तु उसके बहुत पहले की बातों का इतना लम्बा-चौड़ा नक़शा तैयार है कि मनोहर कहते ही डॉक्टर भय्या की तस्वीर आँखों के सामने खड़ी हो जाती है। मैं मनोहर भय्या की गोद में बैठी हूँ, उनके कंधे पर चढ़-चढ़ कर मैंने अमरूद तोड़े और खाये हैं, उनके चाय के प्यालों में से आधी-आधी चाय मैंने पी है। भला ये सब बातें भूलने की हैं? जब-जब भय्या बम्बई से वापिस आते तब-तब अपने घर जाने के पहले वह हमारे घर आते और मुझे खाने को अच्छी-अच्छी मिठाई-फल-फूल और खेलने को गुड़िया वग़ैरा देकर फिर घर जाते थे। अपनी पहली प्रसूति के दिनों जब मैं बीमार थी तब हमारे भावी डॉक्टर—मनोहर भय्या—मेरी नाड़ी को अपने हाथ से सम्हाले बराबर मेरे पास बैठे रहे थे। माताजी और पिताजी दोनों ने बहुत-कुछ कहा-सुना, प्रार्थना की, परन्तु भय्या जो बैठे तो नहीं ही सोये! तुम इन बातों को इतनी जल्दी भूल गई? हमारे देहाती गाँव में दाई नहीं मिलती थी, ऐसे समय भय्या अपनी सहपाठिन को इस तरफ़ की यात्रा के बहाने बम्बई से यहाँ ले आये और आये भी ऐसे मौक़े पर, जब मुझे बच्चा होने ही वाला था! इन दोनों के आने के दूसरे ही दिन मुझे सूतिकागृह में सोना पड़ा था। कुछ दिन बाद वे दोनों लौट गये। अब तुम्हीं बताओ भाभी, पैसे देकर ऐसा काम हो सकता था? मेरे घर के लोग तो कहा करते हैं कि बसंत दादा तो भाई हैं ही, परन्तु मनोहर भय्या का प्रेम तो एकदम अमूल्य है। फिर भाभी, तुम्हीं कहो, क्या तुम्हारे तोड़ने से यह रिश्ता टूटेगा?"

"जीजी, मैंने रिश्ता तोड़ने की बात नहीं कही! हाँ, इस जन्म में मुझे अब और कुछ करना नहीं है।"

"भाभी, तुम घर जाओ तो; सब बन जायगा। भय्या तुम्हारे लिए सब तरह का प्रबन्ध कर गये हैं।"

"जीजी, अकेली जान का घर ही क्या? कहीं भी चार कौर खाने हैं!"

"पर भाभी, पेट को भाड़ा देने के लिए तो सब ही चाहिए न? फिर तुम क्यों एकदम असहाय बनी जाती हो, और अनाथ जैसी बातें करती हो? अलग घर जमाने की सामर्थ्य तुममें है। उत्तम माँ-बाप हैं। तुम तो कहीं भी अपनी इज़्ज़त बनाकर रह सकती हो।"

"कहीं तो रहना ही है, यही समझ कर तो यहाँ पड़ी हूँ।"

"भाभी, यह घर भी तुम्हारा ही है; फिर भी इसमें रहना तुम्हें शोभा नहीं देता। मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हें इस संबन्ध में दो बातें कहूँ। तुम्हें भली लगें या बुरी, कर्त्तव्य जानकर मैं तो कह ही डालूँगी। और कुछ नहीं तो कर्त्तव्य-पालन का सन्तोष तो मुझे होगा।"

इस प्रस्तावना से जीजी आगे क्या कहेंगी, यह समझने में मनोरमा को देर न लगी। परन्तु एकदम इन्कार तो कैसे कर सकती थी? इसीलिए उसने कहा—"ऐसा कौनसा कर्त्तव्य है जीजी, मुझे भी तो मालूम हो।"

"भाभी, सचमुच तुम्हारे जानने जैसी ही बात है। पीठ पीछे दुनिया क्या कहती है, इससे अज्ञान रहने के कारण ही मनुष्य अंधा बना रहता है। एक-बार उसे जान लेने पर उसके सुधरने की बहुत-कुछ सम्भावना रहती है। फिर तुम्हारे यहाँ रहने से दुनिया तुम्हें क्या कहती है, यह जानना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है?"

"मुझे जानकर करना ही क्या है? दुनिया को तो किसी का भला नहीं सुहाता; तिसपर अगर घर के लोग ही हाय-तोबा करने लगें, तो कमी किस बात की रही?"

"भाभी, घर के लोग हाय-तोबा करते हैं, यह बात बिलकुल निराधार है। घर के लोगों को सच बात कहकर बतानी नहीं पड़ती। दुनिया खुद ही अपनी आँखों देख लेती है। उसकी कुछ क़ीमत तो होनी चाहिए। जब तक हम दुनिया में हैं, समाज में रहते हैं, तब तक इन दोनों का उचित आदर करना जरूरी है।"

"इस तरह अगर समाज से सब डरते रहते तो नेता लोग जो थोड़ा-बहुत सुधार कर सके हैं, वह भी न हो पाता।"

"मैंने माना; लेकिन यह किस दशा में? जब कोई उच्चतम आदर्श समाज में प्रचलित करना हो, उसके द्वारा समाज का ऐहिक या पारलौकिक हित होने की सम्भावना हो—निश्चय हो, तब तो समाज से विरोध ठान कर उसकी विरोध-पूर्ण टीका-टिप्पणियों के आघात को सहन करना चाहिए। परन्तु अगर कोई व्यक्ति अपने सुख या स्वच्छन्द आचरण के लिए नेताओं के नाम की ओट में समाज से नाता तोड़ने और उससे अलग रहने लगे, तो इसमें उसका किसी तरह का स्वार्थ-त्याग नहीं हो सकता; उलटा समाज को गिराने का पाप उसके पल्ले जरूर पड़ता है।"

"लेकिन यह भी तो ठीक है कि हरएक समाज-नेता को समाज के इस भय का परित्याग करना पड़ा है। जो काम हम अपनी सद्सद्विवेक-बुद्धि के परामर्श से प्रामाणिक ढंग से करते हैं, उसे करने में इन धांधलेबाज आदमियों से क्यों डरा जाय?"

"लेकिन, भाभी, ऐसा कब कहा जा सकता है? अगर तुम दोनों मिलकर कोई परोपकार का काम करने लगो और समाज तुम्हारी कड़ी आलोचना करें, तब उससे डरना तुम्हारा धर्म नहीं है। परन्तु तुम्हारे वर्तमान व्यवहार में तो इस तरह के किसी विशेष उद्देश्य-साधन की भावना है नहीं। तुम तो केवल अपने लहरी मन की हविस मिटाने की कोशिश भर कर रही हो। अगर सवाल शिक्षा का है, तो उसे तुम अकेली भी प्राप्त कर सकती हो; अथवा यह कोई जरूरी नहीं कि उसके लिए तुम अपना इतना समय नष्ट करो। पठन-पाठन की हविस भी मनुष्य स्वतंत्रता-पूर्वक पूरी कर सकता है। फिर अगर तुम जरूरी ही समझो तो किसी विद्यालय की सहायता प्राप्त कर सकती हो। इस सादे और सरल मार्ग को छोड़कर तुम तो एक ऐसे रास्ते से जा रही हो कि लोग अँगुली न उठाते हों तो भी उठावें। और फिर लोगों में तुम्हारा यह कहते रहना, कि घर के लोग ही हाय-तोबा मचाते हैं, कितना अन्याय-पूर्ण है? तुम ही सोचो न! बिल्ली भले ही आँखें बंद करके दूध पीवे, मकान-मालिक की आँखें तो खुली ही रहती हैं। तुम्हारे घर कोई दो दिन के लिए ही क्यों न आये, उसे यह जानने में तनिक भी देर न लगेगी कि आज-

कल दादा (बसंत बाबू) भाभी से बिगड़े हुए हैं।"

"मैं कब उन्हें कहने गई थी कि वह उनके (मालती के) साथ ऐसा बर्ताव करें ?"

"भाभी, फ़जूल की बातों में क्या धरा है ? कुछ काम ऐसे भी होते हैं, जिन्हें कह कर करवाना नहीं पड़ता। और तुम सरीखी चतुर स्त्री के ध्यान में यह बात अब तक न आई होगी, यह कैसे माना जाय ? दादा का दिल मालती भाभी की अपेक्षा तुम्हारी तरफ़ अधिक खिंचता है, यह तुम नहीं जानतीं ? जहां दिन भर में घण्टों तुम दोनों गपशप लड़ाया करते हो, वहाँ उनके हिस्से उतने मिनट भी नहीं आते, क्या यह बात तुम्हारी अनजानी है ? दाम्पत्य-जीवन के अनुभव से तुम खाली तो हो नहीं। तुम्हीं कहो, यही दादा क्या पहले भाभी से इस तरह का बर्ताव करते थे ? फिर आज उनकी बातों में इतना फ़र्क़ कैसे पड़ गया।"

"मैंने मना किया है उनको, जो वह उनके (मालती के) पास नहीं बैठते ? क्यों नहीं बोलते ? मैं तो चार-चार बार अपने पीहर जाने को तैयार हुई, उन्हींने आग्रह-पूर्वक रोक रक्खा है। जब वह मुझपर निष्कपट मन से बहन-सा-प्रेम रखते हैं, तो मैं उसका निरादर कैसे करूँ ?"

"भाभी, यह तो हमारा कहना है नहीं कि तुम उनके भगिनी-प्रेम का निरादर करो। पर तुम्हीं सोचो, क्या तुमने अपने पिता के पितृ-प्रेम का निरादर नहीं किया है ? केवल सौतेली माँ के थोड़े टर्रे स्वभाव के कारण तुमने उन्हें फटकारा नहीं है ? यह क्यों ? फिर तुम्हारे पिता के यहाँ तो ईश्वर-कृपा से किसी बात की कमी नहीं है। धन-दौलत है, नौकर-चाकर हैं, सब कुछ है। हाँ, माँ की मर्ज़ी को थोड़ा सम्हालना—उनकी इच्छानुसार बरतना जरूर पड़ेगा और तुम्हें यही पसन्द नहीं है। उलटे यहाँ तुम स्वतन्त्र हो; तुम कहो ऐसा सब करते हैं, खुद तुम्हें कुछ करना पड़ता नहीं, किसी के अधीन हो नहीं, औरों को तुम्हारी तबीयत सम्हालनी पड़ती है, चार आदमी सेवा के लिए तैयार रहते हैं। मनुष्य को और चाहिए ही क्या ? पर साथ ही दूसरे के दिल की तुम क्यों सोचने लगीं ? अगर तुम एक दिन खाना न खाओ तो दादा चार-चार बार 'भाभी उठो न, चलो, खालो !' कहकर तुम्हारी मिन्नत-आरजू करते हैं। और नहीं तो चाय-कॉफ़ी कुछ-न-कुछ पिला कर ही दम लेते हैं। उधर, तुम्हीं सोचो, मालती भाभी के खाने-पीने की तुम कभी सुध लेती हो ?"

"मैं तो अपने क़ायदे से एक दो-बार कह ही देती हूँ; हाँ, भाई, ज्यादा आग्रह करना तो मुझे आता नहीं।"

"माना कि तुम्हें नहीं आता; पर, दादा को तो आता है न ? फिर तुम्हें चाहिए कि तुम उनसे आग्रह करो, उन्हें बाध्य करो, उनकी गृहस्थी को सुखी बनाने की इच्छा और प्रयत्न करो। भाई-भौजाई का कल्याण चाहना क्या बहन का धर्म नहीं है ? अगर तुम अपनेको दादा की बहन समझती हो, तो दादा के भटके हुए मन को विवेक की लगाम पहना कर ठीक जगह पर लाना तुम्हारा परम-कर्त्तव्य है। भाई-भौजाई के नाते भी डॉक्टर भय्या, वसन्त दादा और मालती भाभी से बड़े हैं। तुम बड़े भाई की पत्नी हो। तुम, इस दृष्टि से, माता के सन्मान की हक़दार हो। अतः इस नाते से भी तुम दादा को अधिकार-पूर्वक दो बातें कह सकती और भाभी के सुख-दुःख की देख-भाल कर सकती हो। यह ठीक है न ? इन सब बातों की ओर दृष्टिपात न करके तुमने जो कार्यक्रम निश्चित कर रक्खा है, वह क्या उचित है ? अगर अपने इस कार्य के समर्थन में तुम नेताओं का उदाहरण देने और दूसरों को दोषी ठहराने लगोगी, तो क्या तुर

समझती हो कि इससे समाज तुम्हारी ओर उँगली उठाना छोड़ देगा? तुम्हीं सोच देखो, भाभी मुझे तो जो सूझ पड़ा मैं तुमसे कह चुकी हूँ।"

इतना कह कर जीजी वहाँ से उठकर चली आई। पर उन्हें तो पूरा विश्वास था कि अब अपनी कुशल नहीं है। नीचे आते ही उन्होंने अपना सामान इकट्ठा करना शुरू किया। मालती ने बहुत कुछ कहा, किन्तु उन्होंने एक न सुनी। इधर मनोरमा के मन पर जीजी की बातों का थोड़ा-बहुत असर पड़ा। उसकी सारी रात विचार करते बीती। रात को रात भर प्रयत्न करने पर भी नींद न आ सकी। बसन्त बाबू भी उस दिन नहीं आये। दूसरे दिन भोजन के बाद अपने प्रस्थान की पूरी तैयारी कर चुकने पर जीजी मनोरमा के कमरे में पहुँची। मनोरमा, पढ़ने के बहाने, हाथ में किताब लेकर बैठी हुई थी। उसे देखकर जीजी ने कहा—"भाभी, मैं आज जाती हूँ, अच्छी-तरह रहना।"

"इस तरह एकाएक क्यों जा रही हो जीजी?"

"कोई खास कारण तो नहीं है; लेकिन कल मैंने तुम्हें जितनी बातें कहीं, वे अगर दादा को मालूम होगईं, तो वह मुझ पर नाराज़ हुए बिना न रहेंगे। शायद कुछ भला-बुरा भी कहें। मुझसे चुप रहा जायगा नहीं। उनकी मेरी खूब तू-तू मैं-मैं होगी। मैं इसमें कोई भलाई नहीं देखती। इससे तो चला जाना ही बेहतर है। अगर मालती भाभी जीती-जागती रहीं, तो फिर कभी-न-कभी आऊँगी। पहले जैसा ही मुझपर अपना प्रेम बनाये रहना। जो कुछ मैंने कहा है, उसका बुरा न मानना। डॉक्टर भय्या, के लिए, उनके प्रेम की खातिर, उनकी निष्कलंक कीर्ति की रक्षा के लिए, तुम्हें चार शब्द कह देना मुझे उचित जान पड़ा था। मैं तो उन्हें कह गुज़री हूँ। अच्छा हो, अगर तुम मेरी इन बातों को एक पागल ननद का प्रलाप समझ कर जल्दी ही भूल जाओ।"

"इस तरह एकदम यहाँ से चली जा कर क्या करोगी? जीजी, तुम समझती हो कि मैं छोटी-बड़ी सब बातें भाईजी से कह देती हूँ?"

"यह बात नहीं है भाभी! कोई स्वेच्छा से तो कहता नहीं। पर जहाँ सच्चा प्रेम होता है, वहाँ न कहने वाली बात भी कह दी जाती है, और सामने वाला प्रेमी भी इन बातों को किसी तरह जान कर ही दम लेता है। तात्पर्य, अभी तुम दोनों की परस्पर जो मनोवृत्ति बनी हुई है, उसके कारण स्वभावतः तुम्हारे लिए उनसे कोई बात छिपा रखना कठिन है। तुम समझती हो कि हम एक-दूसरे से शुद्ध सात्विक प्रेम का व्यवहार करते हैं, परन्तु उस प्रवाह में तुम इतनी तीव्र गति से बहे जा रहे हो कि मनुष्य के स्वभाव-धर्म और देह-धर्म का भान तक तुम्हें नहीं है। आग का घी के साथ जो सम्बन्ध है, तरुण स्त्री-पुरुष के अतिसंसर्ग का भी वही सम्बन्ध और वही परिणाम है। पुरुष-स्वभाव में जो राजस गुण है, वह अग्नि है—वह स्त्री-स्वभाव के भोले-भाले, मृदु एवं मूर्ख अन्तःकरण से कब-कैसा फायदा उठावेगा, इसका कुछ ठीक नहीं है। अच्छा थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि एक दृढ़ संकल्प वाला मनुष्य अपनी दृढ़ता के कारण शारीरिक पाप से अछूता रहा है, तब भी छाती पर हाथ रखकर कोई यह कहने का साहस नहीं करेगा कि वह मानसिक पाप से भी सर्वथा मुक्त रह सका है। हमारे धर्म में केवल शारीरिक पाप ही पाप नहीं माना गया है; बल्कि कायिक, वाचिक और मानसिक सब तरह के पापों के लिए उचित दण्ड-विधान उसमें है। अतः इस बात को भुला देने से काम नहीं चलेगा। मेरा यह मतलब नहीं कि तुम पतित हो चुकी हो; फिर भी तुम्हारी

दिनचर्या, तुम्हारा पारस्परिक व्यवहार, दादा का भाभी के प्रति वर्तमान रुख, इन सब बातों पर जब मैं विचार करती हूँ, तो मुझे भय होता है कि तुम दोनों किसी पर्वत के किनारे खड़े हो, और कब धक्का लगकर तुम नीचे गिर पड़ोगे इस बात का कोई निश्चय नहीं है।"

"जीजी, पूर्वग्रह के कारण जो जी में आया वह तुम कह रही हो। तुम्हीं बताओ न, मैं कहाँ ग़लती कर रही हूँ? मैंने तो उन्हें कभी कहा नहीं कि उनसे अच्छा व्यवहार न करें और न मैंने ऐसा ही प्रबन्ध कर रक्खा है कि जिससे वह मेरे साथ अच्छा व्यवहार करें। वहीं मेरे कमरे में आकर गप लड़ाया करते हैं।"

"लेकिन आरंभ में ही तुम्हें उनसे यह कह देना चाहिए था कि तुम मेरे कमरे में आकर मत बैठा करो; काम पड़ने पर मैं ही तुम्हारे पास चली आया करूंगी। तुम अपने आप उनके साथ सभा-समितियों में अकेली जाने को तैयार हो जाती हो। तुम्हारे इस कार्य से उनकी पत्नी को बुरा मालूम होगा, इस पर तुमने पलभर भी विचार नहीं किया होगा। तुम ही बतलाओ, डॉक्टर भय्या के होते हुए अगर मालती भाभी तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार करतीं तो तुम्हें वह अच्छा मालूम होता? जब कभी-कभी मित्र-मंडल रात में देर तक गप लड़ाता रहता, या भय्या तुम से बिना पूछे बाहर चले जाते थे, तब तुम्हें कितना ग़ुस्सा आता था? थोड़ा याद तो करो। भय्या के प्रेम का स्मरण करो। भय्या भाभी का, मालव-मालती-कहकर कितना कौतुक किया करते थे, यह बात याद करो। तुम उन्हीं भय्या की धर्म-पत्नी हो। हम आर्य ललनाओं का पातिव्रत-धर्म क्या है, इस पर कुछ तो विचार करो। पति के जीवित रहते—उनके सामने या उनके पीठ पीछे—उन्हें जो प्रिय हैं जो उनकी कीर्ति का कारण है, वही या वैसा ही काम करना हमारा धर्म नहीं है क्या? भय्या योगाभ्यास के लिए संसार छोड़ चुके हैं, उनके योग-सामर्थ्य में—समाधि में अगर उन्हें तुम्हारे इस रंग-ढंग का पता लगा तो उन्हें कितना दुःख होगा? इसपर विचार तो करो! हिन्दू ललनाओं की श्रेष्ठ परम्परा को याद करके उसपर विचार करो और आगे जो तुम्हें उचित जँचे वही करना। आज मालती भाभी का जीवन तुम्हारे हाथों में है। उनकी गृहस्थी का सुख तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। क्योंकि उनके रोगों की एक दवा, दादा का प्रेम है। उसे प्राप्त करा देना, पूर्णतः तुम्हारे अधीन है। दादा तो आज-कल तुम्हारे हाथों की कठपुतली बने हुए हैं। उनपर तुम्हारी मोहिनी पड़ी हुई है, उसे हटा कर उन्हें जाग्रत कर देना, गृहस्थी के कामों के लिए उनमें सुरुचि पैदा कर देना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम जो चाहो करो। जब-तक तुम यहाँ हो तब तक तो प्रयत्न करने पर भी दादा का व्यवहार नहीं सुधरेगा, यह तो तुम भी भली भाँति जानती हो। तुम्हें अपने चंचल मन को क़ाबू में रखना होगा; उसे पवित्र और निर्मल बनाना होगा; और फिर पवित्र अथवा कठोर वाणी द्वारा उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ कर उसी दम यहाँ से दूर चले जाना पड़ेगा। तुम्हें संसार की ऐहिक बातों का मोह छोड़कर अपना मन परमात्मा के चरणों में एकाग्र करना चाहिए, भय्या को वापिस आने की प्रेरणा करने के लिए प्रभु से रात-दिन प्रार्थना करनी और संकट के समय अपने रिश्तेदारों तथा आप्तों के काम आना चाहिए। मेरी राय में इससे बढ़कर तुम्हारा और कोई धर्म हो नहीं सकता। इसी के द्वारा तुम व्यक्ति और समाज का हित कर सकोगी। मेरी बातों पर विचार करना; हो सके तो, उन्हें अमल में भी लाना। अच्छा, जाती हूँ, प्रणाम!" इतना

कह कर जीजी उठीं और नीचे चली आई। आते ही तांगा मंगवाया और मालती की बातों को भी सुनी-अनसुनी करके सीधी स्टेशन पहुँच गई !

इधर मालती की घबराहट की सीमा न रही। घर वालों के आने पर दोनों ओर से अपनी फ़जीहत होगी, इस खयाल ने उसे पागल बना दिया। उधर मनोरमा बराबर विचारों की उधेड़ बुन में लगी हुई थी, उसे भी कुछ सूझता न था। जीजी के तांगे को जाते हुए उसने देखा। उसके मनमें कई तरह की विचार-तरंगें उठने लगीं। समय काटने, कुछ काम ढूँढने के बहाने उसने चाय बनाई और पी। परन्तु चित्त स्थिर होने के बदले अधिक उत्तेजित हो गया; अधिकाधिक विचार आने लगे। जब से अपना भला-बुरा समझने लगी थी, तब से अब तक के अनुभवों के चित्र एक-एक करके उसकी आँखों के सामने नाचने लगे। हाथों को काम में लगाये रहने की ग़रज़ से वह अपने बक्स की चिट्ठी ऊपर नीचे कर रही थीं; उनमें उसे अपने पति की चिट्ठियाँ मिलीं। जब इन चिट्ठियों को वह आज पढ़ने लगी तो उन से एकदम नया अर्थ निकलने लगा। उनके लापता होने के पहले के पत्रों में किस तरह धीरे-धीरे विचार क्रान्ति हो रही थी, अप्रत्यक्ष रीति से इस सार-हीन संसार का विवेचन उन्होंने अपने पत्रों में समय-समय पर किस तरह किया है, उनके इस जीवन की बराबरी में अपना अबतक का आचरण शोभा दे सकता है या नहीं आदि विचार और जीजी की हाल ही में कही हुई उपदेश की बातें, दोनों ने मिलकर मनोरमा के मन में आन्दोलन मचा दिया—घन-मथन शुरू कर दिया। उसी समय वह उठकर चाँदनी पर आई। पश्चिम में भगवान् सूर्यनारायण अस्त होने की तैयारी कर रहे थे। फिर भी उनकी अस्त होने वाली किरणें अपनी लालिमायुक्त कान्ति से चारों ओर प्रकाश फैलाती हुई, मानो संसार को सूचना दे रही थीं कि वह कल फिर इसी तेजोमय स्वरूप में लौटेंगी। इस तरह वे सूर्य-रश्मियां अपने आगमन-समय की भाँति ही गमन-काल में भी पृथ्वी के मनुष्यों में सायंकाल का उत्साह और आनन्द उँडेल रही थीं। जहाँ एक ओर कर्म-निष्ठ पुरुष अपने-अपने धर्मानुसार सूर्यास्त के समय संध्यावन्दन आदि की तैयारी में लग रहे थे, वहाँ दूसरी ओर आचार-प्रिय गृहस्वामिनियाँ अच्छी-अच्छी चीजों से घर को सजा कर, घर में दीपक सँजोकर उसे प्रणाम करने और माँ लक्ष्मी के आगमन की प्रतीक्षा करती हुई इस शुभ काल में उनके स्वागत की तैयारी कर रही थीं। इस सायं-कालीन सौम्य सुंदरता की छाया औरों की भांति मनो-रमा के हृदय पर भी पड़ी। उसका हृदय निर्मल हो गया। मनका मैलापन मिट गया, कलुष दूर हट गया और उसे अपनी भूल समझ में आने लगी। इसी समय सारी परिस्थिति भी चित्रलिखित-सी उसकी आँखों के सामने खड़ी हो गई। ज्ञान-चक्षु खुल गये। मनमें कुछ विचार उठने लगे। उसी समय उसने किसी ख़ास बात का निश्चय किया, और उसी निश्चय-पूर्ण मुद्रा में अपने कमरे में लौट आई। उसने इधर-उधर देखा एक संदूक खाली की। जल्दी में जितनी चीजें उसमें भर सकी भर ली। एक छोटासा बिस्तरा लपेट लिया और दूसरे ही क्षण नीचे आई। मालती उस समय देवता के लिए दीपक सजाने की तैयारी कर रही थी। चूल्हा जल चुका था। "एक प्याला चाय बना दोगी क्या ? मैं इसी गाड़ी से पिताजी के पास जाऊँगी।" मनोरमा ने मालती से कहा।

"कोई चिट्ठी आई है क्या! सब कुशल तो हैं न?"

"हाँ, उन्होंने मुझे, पहली गाड़ी से, चार दिन के लिए बुलाया है।"

मालती ने चाय तैयार की। मनोरमा ने चाय पी; और नौकर को तांगा लाने के लिए भेजा। ताँगा आ-जाने पर मुहर्रिर को बुलाया और टिकट खरीद कर ला देने के लिए उसे अपने साथ लेकर वह स्टेशन चली गई।

अकेली मालती के विचारों का बाँध फूट निकला। आज जाते समय मनोरमा ने प्रतिदिन के मामूली ढंग से बात-चीत न करके बड़े प्रेम और मिठास के साथ मालती से विदा ली थी। बसंत बाबू घर आये। इन दोनों के एकदम चले जाने के समाचार ने उन्हें चक्कर में डाल दिया। जीजी के जाने का उन्हें इतना बुरा नहीं लगा था। पर मनोरमा के विषय में वह बड़ी देर तक पूछ-ताछ करते रहे। पत्र कब आया था, किसका था, जाते समय क्या कह गईं आदि—कई बातें पूछते रहे। मालती बेचारी क्या उत्तर देती? मनोरमा के कमरे में जाकर बसन्त बाबू ने चारों ओर देखा-भाला पर कुछ पता न चला, चार दिन बीते, छः दिन बीते, अब तो बसन्त बाबू की बेचैनी बढ़ी, उन्होंने पता पाने के इरादे से एक पत्र लिखा और कौन बीमार हैं, कैसे बीमार हैं आदि बातें पूछीं। उस पत्र में स्वभावतः मनोरमा से जल्दी चले आने की प्रार्थना भी थी। पर पत्र का उत्तर शीघ्र ही न आया। इधर मालती विक्षिप्त-सी हो रही थी। इन दोनों के एकाएक चले जाने के कारण बसन्त बाबू इतने चिन्तित रहते थे कि उनमें और एक पागल में नाम-मात्र का भेद रह गया था। न घर के काम-धंधे में उनका चित्त लगता था, न घर में पैर ही टिकता था। रात-दिन विचार, विचार! मालती भी भगवान् से शीघ्र ही बुला लेने की प्रार्थना करतीं। एक दिन बसन्त बाबू ने मनोरमा के पिता के घर जाने का निश्चय किया। इतने ही में उनके नाम से एक बड़ा लिफाफा और मालती के नाम से एक चिट्ठी आ पहुँची। मनोरमा ने मालती की चिट्ठी में लिखा था—

"मैं अज्ञान वश तुम्हें कई तरह के कष्ट देती रही हूँ। आशा है, उनके लिए मुझे क्षमा करोगी। अपनी तबियत को बड़ी सावधानी से सम्हालती रहना और बसन्त बाबू की प्रकृति को स्वस्थ बनाये रखने के लिए अपने काबू भर कोशिश करने से बाज न आना। मैं अभी तो तुम्हारे पास न आ सकूँगी; हाँ, जब तुम्हें बाल-बच्चा होगा, तो कठिनाई के समय सहायता के लिए मैं तुम्हारी जिठानी के नाते आऊँगी। अतः ऐसा अवसर आने पर मुझे सूचित करना। मैं भरसक कर्त्तव्य-पालन में ढिलाई न करूँगी। आशा है, तुम प्रसन्न होगी।"

बसन्त बाबू के नाम बड़ी लम्बी चिट्ठी थी। उसमें लिखा था—

"× × × × मैं खुद बहुत गंभीर विचार के बाद वहाँ से पिताजी के पास चली आई हूँ। इसमें प्रिय मालती का तिलभर भी दोष नहीं है। अतः कृपा कर उनपर तनिक भी गुस्सा मत करना। इसके विपरीत आप जितनी अच्छी तरह से उनके साथ प्रेम-पूर्वक रह सकेंगे उतना ही मुझे सुख होगा और मैं उनपर किये गये अत्याचारों एवं अन्याय को उतना ही कम होता पा सकूँगी। × × × × एका-एक मुझे विरक्ति ने आ घेरा, अतः आर्यललना-ओं के कर्त्तव्य जानने की मेरी इच्छा प्रबल हो उठी। उन्हें जानने पर मुझे मालूम हुआ कि अब तक की आर्य-परम्परा के अनुसार स्त्रियों के लिए पति-गृह या पितृ-गृह में रहना ही इष्ट समझा गया है। मेरा स्वतः का घर पति-गृह तो रहा नहीं। ससुराल के नाते आपके यहाँ अथवा अपने पिता के यहाँ मुझे रहना चाहिए। किन्तु मेरे जैसी स्त्री का योंही जीवन बिताते रहना, ईश्वर के दरबार में एक तरह का अक्षम्य अप-

साथ ठहरेगा। प्रत्येक आदमी को सामर्थ्य रहने तक अपना कर्त्तव्य तत्परता के साथ करते रहना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर मैं देखती हूँ कि आपके यहाँ मेरी जरूरत नहीं है। मेरी माता के बालक अभी छोटे हैं। अतः मुझ जैसी स्त्री की जरूरत तो यहाँ अधिक है। सेवा-धर्म, स्त्री-जीवन का सार है, आज मैं अपने छोटे-छोटे भाइयों की देख-भाल करने दूसरे, शब्दों में अपने पूज्य माता-पिता की सेवा करने के लिए यहाँ चली आई हूँ। जिस दिन आपके यहाँ छोटे-छोटे बच्चों के कारण गृह-प्रबन्ध में कठिनाई होने लगेगी, उस दिन आपकी बड़ी भौजाई के नाते सहायता के लिए मैं बिना बुलाये अवश्य चली आऊँगी। स्त्री-जीवन का एक ही ध्येय है। वह है, विशेष आडम्बर न रचते हुए, चुप-चाप, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में, जनता को जनार्दन समझ कर, उसकी सेवा करते रहना। बाहरी दिखावट, आडम्बर या ठाठ-बाट से मनुष्य में सेवक का नाम दूर-दूर तक फैल जाता है। इसमें ऐसा नहीं हो सकेगा। फिर भी आपके साथ रहने से जो चार शब्द मैं सीख सकी हूँ, और उनके कारण जो थोड़ा बहुत मैंने पढ़ लिया है, उनसे और उसके बाद उनके (डॉक्टर बाबू) आशीर्वाद से मेरे हृदय में जो प्रेरणा होती रही है, उसका सार यही है कि जिस आर्य-ललना की अपनी गृहस्थी नहीं है उसका एक-मात्र कर्त्तव्य अपने कुटुम्बी जनों को परमेश्वर का अंश समझ उनकी सेवा करते रहना है। कन्या, पत्नि और माता के रूप में, सब की सेवा करके ईश्वरीय आशीर्वाद प्राप्त करना ही स्त्रियों का एक-मात्र ध्येय है। मैं आज इसी पथ की ओर अग्रसर हो रही हूँ। अतः कृपा कर हमारे आपस के पत्र-व्यवहार को यहीं समाप्त कर दीजिएगा, जिससे मैं व्यर्थ के त्रास से मुक्त हो सकूँ। आशा है, आप मालती बहन के स्वास्थ्य की रक्षा अन्तःकरण पूर्वक करते रहेंगे।"

पत्र पढ़ कर बसन्त बाबू विचार-सागर में लहराने लगे। मालती अखण्ड रूप से आँसू गिरा रही थीं। समय बीतते देर नहीं लगती। वे दिन भी बीत गये। जीजी को कुछ दिनों बाद पता चला कि मनोरमा ने उन्हें गुरु देव की पदवी दी है।

आगे क्या हुआ, यह तो हमें मालूम नहीं, लेकिन इतना जरूर है कि परसों श्रीमती मनोरमा देवी हम से मिली थीं। उनसे हमें मालूम हुआ है कि बसन्त बाबू के यहाँ शीघ्र ही पुत्रजन्मोत्सव होने वाला है और इस उत्सव में भाग लेने को जीजी तथा मनोरमा चाची शीघ्र ही रवाना होंगी।

श्रीमती मनोरमा अब पूर्ण तपस्विनी बन चुकी हैं। जंगल में न जाकर, गुरु की खोज में चक्कर न काटते हुए भी तपस्विनी मनोरमा देवी जैसी स्त्रियाँ इस संसार में किस तरह विदेह हो सकती हैं, इसका मनोरमा देवी एक ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसी साध्वी आर्य-ललनाओं का स्मरण होते ही मन में यह विचार उदय होता है कि इस पुण्य आर्यभूमि भारतवर्ष में अशक्य क्या है ? जिस आर्यभूमि भारत-माता की कोख से ऐसी-ऐसी सुकन्यायें जन्म लेती हैं, उस पुण्यभूमि को धन्य है! (समाप्त)

(सौ०) श्रीमती गिरिजाबाई केलकर

"पति-पत्नी के एक होने के विषय में धर्मग्रंथ में जो लिखा गया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। जो विवाह-ग्रन्थि द्वारा जोड़ दिये गये हैं वे कदापि बिछुड़ नहीं सकते। उन्हें कभी एक दूसरे को न छोड़ना चाहिए, न कोई ऐसा काम करना चाहिए, जिससे परिवार में दुर्भाव उत्पन्न हो जाय। यह तुम तभी कर सकते हो, जब परमात्मा और अपनी अन्तरात्मा के नज़दीक तुम्हारे लिए और कुछ करना असंभव हो।"

—महात्मा टाल्स्टाय

ग्वालियर राज्य और विवाह-क़ानून

किसी भी बुराई को रोकने का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व समाज पर है। पर यदि स्वयं समाज ही उन बुराइयों का जनक या प्रचारक बन जाय, तो शासन द्वारा उसका प्रतिबन्ध होना चाहिए। मैं स्वयं 'क़ानून' बनाने का पक्षपाती नहीं हूँ, पर, ऐसी स्थिति में, जबकि और कोई तरीक़ा उपयुक्त न हो सकता हो, क़ानून ही अंतिम साधन होता है। और आज, हमारे यहाँ भी क्या यही स्थिति नहीं है ?

विवाह के नाम पर आज हमारे समाज में जो कुछ होता है वह इस बात का प्रमाण है। विवाहों का ढंग दूषित है, यह तो प्रायः सब स्वीकार करते हैं। पर यह सब 'बुराई' जारी तो समाजके—उसके धर्म-परिपालन— ही नाम पर है ?

यही कारण है कि आज देश इस दिशा में जागृत हुआ है। बाल-विवाहों का एक सिरे से दूसरे सिरे तक विरोध किया जा रहा है। न केवल स्त्री-सभाय बल्कि पुरुष-समाज भी इसका विरोध कर रहे हैं। बड़ौदा, मैसोर, भरतपुर, काश्मीर आदि रियासतें इसके विरुद्ध आज्ञायें जारी कर चुकी हैं और ब्रिटिश भारत में राय साहब हरविलास सारडा के बाल-विवाह-निषेध विधान पर सर्वसाधारण की आँखें लगी हुई हैं। बहुत संभवतः वह इस बार के शिमलाधिवेशन में स्वीकृत भी हो जायगा।

हर्ष की बात है कि हमारे ग्वालियर राज्य ने भी इस ओर पग बढ़ाया है। स्वर्गीय महाराज-स्थापित 'मजलिसे आम' ने इसकी गंभीरता को समझा है। उसके विगत अधिवेशन (मार्च १९२८) में राज्य के क़ानूनी मेंबर श्री मोहनलाल खोसला ने सरकार की ओर से यह बात रक्खी थी—

"सवाल यह है कि कम-उम्र में शादी किये जाने की मुमानियत किये जाने के मुतल्लिक़ किसी कानून के बनाने की जरूरत है या नहीं ? अगर जरूरत समझी जाय, तो शादी के लिए उम्र की क्या क़ैद लगाई जाय और ऐसे क़ानून के इनहिराफ की हालत में क्या अमल किया जाय ?"

यह प्रशंसनीय प्रस्ताव पेश करते समय खोसला साहब ने जो भाषण दिया, वह खूब जानकारी से भरा हुआ है। उन्होंने कहा—

"कम उम्र की शादी का रिवाज ज्यादातर हिंदुओं में है, सिवाय उन जातियों के जिनमें नातरा-धरीचा का रिवाज है। हिंदुओं में बेवगान की शादी का रिवाज नहीं है, कम उम्र की शादी की वजह से बेवगान की तादाद में कसरत है, और जो दिक्कत इन मासूमों को भुगतनी पड़ती है और जो मज़ालिम हमारे 'सोशलसिस्टम' ने उन पर रक्खे हैं, और असमतफरोशी के लिए जो टेंपटशन्स उनको होते हैं वे मोहताज बयान नहीं। कम उम्र की शादी का रिवाज दूसरे फ़िरक़ों में भी है, लेकिन कम।"

इसके आगे आपने (सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार) राज्य की विधवाओं की संख्या बतलाई—

"पाँच साल और इससे कम उम्र की बेवगान की तादाद ६२४, और पाँच साल से अधिक लेकिन १० बरस से कम उम्र की बेवगान की तादाद १९०७, और दस साल से ज्यादा लेकिन १५ से कम की तादाद ४११५ थी।

पाँच साल और इससे कम उम्र की बेवगान की तादाद, हिंदुओं में ५४२, मुसलमानों में ४६। लामज़हब या अनानिमस्ट—वे लोग हैं जो भूत-प्रेत

जातियों को 'परिस्थिरा' करते हैं, जैसे भील-भिलाले आदि-में ३६ थी।

पाँच साल और उससे कम उम्र वाली बेवगान में से—१ साल से कम उम्र की तादाद ५४, १ साल से दो साल तक की तादाद ४८, २ से ३ साल तक की तादाद १००, ३ से ४ साल तक की तादाद १४४ और ४ से ५ साल तक की तादाद २७८ है।

एक साल से कम उम्र की बेवगान कुल ५४ थीं—हिंदुओं में ४४; मुसलमानों में ८; ला-मजहब २।

एक साल से २ साल तक की उम्र की बेवगान ४८ थीं—हिंदुओं में ३६; मुसलमानों में ५, लामज़हब में ७।

इसी प्रकार दस वर्ष से कम अवस्थावाली विधवाओं की तादाद हिंदुओं में ही बनिस्बत इतर जातियों के अधिक है।

१५ साल से कम उम्र वाली विधवाओं की कुल तादाद ६६५० थी—हिंदुओं में ६११३; मुसलमानों में २१०; ला-मजहब में ३२७।

आगे चल कर आपने रियासत के विवाहित-बालक-बालिकाओं की संख्या भी बतलाई है—"पाँच साल से कम उम्र वाले शादी-शुदा लड़कों की तादाद के देखा जावे तो वह ४५६८ थी, जिनमें एक साल या उससे कम उम्र वाले ३७७ लड़के थे। पाँच साल से ज्यादा १० वर्ष तक के लड़कों की तादाद १०७४१ थी। और १० से १५ वर्ष वालों की तादाद ३६००८ थी।"

यह तो हुई विवाहित बालकों की तादाद, अब विवाहित बालिकाओं की तादाद भी देखिए—

"पाँच साल से कम उम्र की विवाहिता लड़कियों की तादाद ४,९३६ थी, जिसमें १ साल से कम उम्र की तादाद ४०४ थी, पाँच से १० तक की तादाद २६०९३ थी और १० से १५ तक की तादाद ८१७५९ थी।

ग्वालियर राज्य की विधवाओं और विवाहित बालक-बालिकाओं की ऊपर उद्धृत की हुई संख्याओं को देखकर किसी भी सहृदय व्यक्ति को चोट पहुँचे बिना न रहेगी। स्वयं ला मेम्बर ने इस विषय में अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए कहा है—

"बेवगान की तादाद और कम उम्र में शादी के ऐदाद को, जो सेंसस रिपोर्ट के मुताल्आ से ज़ाहिर होती है, देखकर अफ़सोस होता है। सच तो यह है कि हम इस अत्याचार का, जो हम अपनी मासूम औलाद से कर रहे हैं, प्रायश्चित्त, जिस्मानी, दिमाग़ी और अख़लाक़ी कमज़ोरी की शक्ल में, जिसमें हम इन दिनों मुब्तिला हैं, भुगत रहे हैं।"

इस विषय में ग्वालियर राज्य की हालत सारे भारतवर्ष के मुक़ाबिले ज्यादा गिरी हुई है। इस बात को स्वयं राज्य के सेन्सस कमिश्नर ने भी अपनी रिपोर्ट के पैरेग्राफ़ नं० १०२ में स्वीकार करते हुए लिखा है—

"मजमूई तादाद बेवगान से ३१ फ़ीसदी ४० साल से कम उम्र की है, और २२ फ़ीसदी १५ साल से कम उम्र की है, जिस उम्र में यूरोप में किसी की शादी नहीं होती। इस बारे में तमाम हिन्दुस्थान से हमारी हालत अबतर है, जहाँ कि ऐदाद २८ और १.३ फ़ी हज़ार हैं।"

इसके बाद ला मेम्बर ने राय साहब हरबिलास सारडा के शब्दों को, जो उन्होंने बाल विवाह बिलपेश करते हुए असेम्बली में कहे थे, दुहराते हुए "कम उम्र की शादी की रोक होना मुनासिब व ज़रूरी" बतलाया है। ला मेम्बर का कहना है और वह सच है, कि हमारी लड़कियों का लड़कपन बीतने नहीं पाता कि वे विवाहिता होकर मातृत्व को प्राप्त कर लेती हैं; उन्हें बीच की अवस्था, जिसे 'जवानी' कहते हैं, नसीब नहीं होती। इस लड़कपन

में ही 'मातृपद' प्राप्त करना मानो सभी प्रकार "जिस्मानी और दिमाग़ी हालत" ख़राब करना ही नहीं बल्कि मौत को निमन्त्रण देना भी है।

इसके पश्चात् फिर आपका यह भी कहना है कि हमें सिर्फ़ सरकार पर ही इस प्रश्न को नहीं छोड़ देना चाहिये; हमारा यह भी कर्तव्य हो कि हम जनता में इसके प्रचार के लिए दिलचस्पी पैदा करें। और उनसे इस प्रस्ताव को कार्य रूप में परिणत करने के लिए तैयार करे, ताकि यदि क़ानून बन जाय तो उसकी 'तामील में' कठिनाई न पड़े।

इसके बाद इस प्रस्ताव में आगे आने वाली कठिनाइयों का भी आपने उल्लेख किया है। एक "उम्र का तय करना" और दूसरी "ख़िलाफ़वर्ज़ी की सूरत में सज़ा" का निश्चय करना। पहली कठिनाई के विषय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की पृथक-पृथक राय है।

१—बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल में पेश करनेके लिए श्री जयरामदास दौलतराम ने अपने तैयार किए हुए मस्विदे में लड़की का विवाह-काल १३ सालऔर लड़कों का १६ साल 'तजवीज' किया है।

२—डा० मुथुलक्ष्मी रेड्डी ने मद्रास-कौंसिल में पेश करने के लिए लड़कियों की उम्र १४ साल और लड़कों की १८ साल सोची है।

३—राय साहब हरबिलास सारडा ने अपने असेम्बली वाले बिल में लड़की और लड़के की वय क्रमशः १२ और १६ रक्खी थी, पर सिलेक्ट कमेटी ने उसे बदलकर १४ और १८ कर दी है।

४—गत फ़रवरी मास में देहली की महिलाओं की महती सभा ने, जो बेगम साहबा भूपाल की अध्यक्षता में हुई थी, सिफ़ारिश की है कि लड़कों की उम्र २१ साल हो, और लड़कियों की उम्र १६ साल।

इस प्रकार अनेक मतभेदों के कारण इस प्रश्न को हल करना भी कुछ जटिल हो गया है। फिर क़ानून के "इनहिराफ़" की सूरत में शादी पर इसका क्या असर होगा? यानी "शादी क़ायम रहेगी अथवा नाजायज़ होकर क़ानूनी बेवगान" बताई जावेगी "दूल्हा-दुलहिन" के रिश्तेदारों तथा शादी में शरीक होने वालों को सज़ा दी जावेगी या नहीं? इत्यादि, इन पेचीदा प्रश्नों का उत्तर सहज में नहीं दिया जा सकता। अतएव आपने (ला मेम्बर साहब ने) एक सूचना भी पेश की है—

"अगर यह मजलिस कम उम्र की शादी का क़ानून बनाना तजवीज करे तो मैं यह 'सजेस्ट' करूँगा कि इस मजलिस से नानआफ़िशियल (ग़ैर सरकारी) मेम्बर साहबान की एक कमेटी मुक़र्रर की जावे जो इस 'लेजिस्लेशन' के 'डिटेल्स' पर ग़ौर कर मस्विदा तैयार करके गवर्नमेंट की ख़िदमत में पेश करे।"

इस प्रस्ताव के महत्व पर ध्यान देते हुए मजलिस-ई-आम के मेम्बर श्री अब्दुल हमीद साहब, श्री प्रल्हादसिंह, श्री रामगोपालसिंह, श्री रणधीरसिंह तथा मजलिस के प्रभावशाली सदस्य बाबू जगमोहन लाल, पं० रामेश्वरजी शास्त्री और पं० बटुक प्रसाद मिश्र, श्री हीरालालजी, श्री नवाबअली तथा राय बहादुर ठा० श्री ईश्वरीसिंह और श्री पुस्तके साहब ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में इसका समर्थन किया। श्री बाटवे (उज्जैन) श्री निगुड़कर, श्री महादेवरावजी और श्री लक्ष्मणशास्त्री ने विरोध किया। श्री गो० चि० वाटवे ने तो यहाँ तक कहा कि—"इस प्रस्ताव के लिए क़ानून बनाना मिस मेयो की 'मदर इंडिया' के लिए मसाला पैदा करना है।" परन्तु फिर भी प्रस्ताव बहुमत से पास हो ही गया। प्रस्ताव यह है—

"कसरत राय से क़रार पाया कि कम उम्र की शादी की रोक के लिए क़ानून बनाया जाय, और क़ानून का मस्विदा तैयार करने और गवर्नमेंट की

ख़िदमत में पेश करने को हस्ब जैल साहिबान् की एक कमिटी क़ायम की जाय।

१ श्री बा० मोहनलाल खोसला (प्रेसिडेंट) २ श्री जगमोहनलाल (चीफ़ जस्टिस), ३ श्री० पं० बटुकप्रसाद, ४ श्री० पं० रामेश्वर शास्त्री, ५ श्री० पं० धुँ० आष्टेवाले, ६ श्री मुफ़्ती साहब, ७ श्रीशास्त्री साहब, ८ श्री अब्दुल हमीद, ९ श्री अत्रे शास्त्री, १० ठा० ईश्वरीसिंह (रायबहादुर) ११ श्री टोडरमल, १२ चीफ़ मेडिकल आफ़िसर, १३ चौ० नबाब अली, १४ श्री केशरीमल, १५ श्री त्र्यं० रा० पुस्तके (सदस्य)।

कमिटी अपना मसविदा कब पेश करे, इसके लिए कोई समय निश्चित नहीं किया गया है। मजलिसे आम के अधिवेशन को हुए चार मास का अर्सा हो गया है, परन्तु सुना है कि कमिटी की एक बैठक भी इस विषय में नहीं हुई है। यदि यह मसविदा तैयार होकर शीघ्र ही कमिटी द्वारा गवर्नमेंट की सेवा में पेश किया जाय, तो उत्तम हो। कमिटी के विचारशील सदस्यों से हम साग्रह निवेदन करते हैं कि वे यथासम्भव शीघ्र ही उसे तैयार करें, ताकि इस सर्वनाशी रोग से हमारा समाज यथा शीघ्र बचाया जा सके।

मेरे विचार से लड़कियों का विवाह-काल कम से कम १४ वर्ष का और लड़कों का १८ वर्ष से कम न होना चाहिए। इस उम्र से पूर्व विवाह करने वाले, उसमें सहायता करने वाले, और शरीक होने वाले तथा पुरोहित को एक वर्ष तक की सजा और ५००) से १०००) तक जुर्माने का दण्ड होना चाहिए। जिस पुरुष की वय ४० से ऊपर हो और वह १४ साल से कम उम्र की कन्या से शादी करे, तो स्वयं उसे और सहायक आदि लोगों को पूर्वोक्त सजा और दण्ड से द्विगुणित सजा और दण्ड दिया जाना चाहिए।

क्या ही अच्छा हो, यदि कमिटी के विद्वान् और उद्योगी सदस्य अब तत्परता से इस दिशा में कार्य करें और विचार करते समय मेरी इन सूचनाओं पर भी ध्यान देने की कृपा करें।

सूर्यनारायण व्यास (उज्जैन)

स्फुट-प्रसंग

अफ़ग़ानिस्तान प्रगति की ओर

मुद्दतों से जंगली और असभ्य माना जाने वाला अफ़ग़ानिस्तान इन दिनों जिस तेज़ी से प्रगति कर रहा है, उसे देख कर आश्चर्य होता है। टर्की तो ख़ैर बहुत दिनों से यूरोप के घनिष्ट सम्पर्क में है, और किसी समय सुविशाल साम्राज्य का नियन्ता भी रह चुका है, पर अफ़ग़ानिस्तान का तो यह पहला ही अवसर है; परन्तु अमीर और उनकी बेगम के एक ही (यूरोप के) चक्कर ने यह असर दिखाया है कि भारत जैसे देशों को स्पर्द्धा की आकांक्षा होती है। बेगम साहबा द्वारा सार्वजनिक रूप में परदा तोड़ा जाने का वर्णन तो पहले किया ही जा चुका है। अब ख़बर आई है कि अगस्त के मध्य में वहाँ एक 'जिर्गा' होने वाला था और उसमें प्रजा-प्रतिनिधियों के सामने सार्वत्रिक परदा तोड़ने का ही नहीं बल्कि एक प्रस्ताव यह भी रक्खा जाने वाला था कि बहु-पत्नीत्व की प्रथा को उठा दी जाय। कहने की ज़रूरत नहीं कि अफ़ग़ानिस्तान में बहु-पत्नीत्व जितना प्रचलित है, हमारे देश में उतना उसका आधिक्य नहीं है; अतः इस प्रथा के उठ जाने से अफ़ग़ानिस्तान का बड़ा हित होगा। इसमें एक बात और भी ध्यान देने की है। वह यह है कि इस प्रथा को उठाने के लिए सरकारी मुलाज़िमों पर सबसे अधिक कड़ाई की जा रही है; आगे से कई पत्नियाँ रखने वाला पुरुष सरकारी नौकर न हो सकेगा। अलावा इसके स्त्रियों को पुरुषों के बराबर करने की भूमिका-स्वरूप उन्हें साम्पत्तिक आदि कुछ और अधिकार देने का भी विचार और प्रयत्न वहाँ हो रहा है। और शिक्षा की दिशा में तो उन्होंने क़दम बढ़ा भी दिया है। शहर को शिक्षा-संगठन के लिए कई भागों में

बाँट दिया गया है और २५ अफ़ग़ान लड़कियों को शिक्षा-प्राप्ति के लिए टर्की भेजने को चुना गया है। ये सब बातें अफ़ग़ानिस्तान के प्रगतिशील अमीर अमानुल्लाख़ाँ और महारानी सूरिया के लिए गौरवपूर्ण हैं—और इसमें शक नहीं कि इसमें उनकी यूरोप-यात्रा के अनुभवों का ख़ासा असर है। पर, हमारे देशी नरेश भी तो अक्सर यूरोप के चक्कर काटते रहते हैं—कई तो वहाँ अपने निवास-स्थल ही बनाये हुए हैं, वे अपने देश और अपनी प्रजा के उद्धार के लिए क्या कर रहे हैं? क्या वे अमीर और महारानी से इस सम्बन्ध में कुछ सबक़ लेंगे?

बंगाल में स्त्री-शिक्षा

बंगाल की शिक्षा-विषयक पञ्चवार्षिक रिपोर्ट हाल में प्रकाशित हुई है। यह १९२१-२२ से १९२६-२७ तक की है। इस अर्से में बंगाल में शिक्षा-विषयक कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। जो कुछ प्रगति हुई, उसमें स्त्री-शिक्षा मुख्य है। विद्यार्थिनियों की संख्या के अंक निम्नप्रकार हैं—

	सन् १९२१-२२	सन् १९२६-२७
कालेज	२२८	३६४
हाइस्कूल	२६४७	४८०१
मिडल स्कूल	६६४०	८२६९
प्राइमरी स्कूल	३३२६९४	३९६०५६
कुल	३४४२०९	४०९४९०

इनमें प्राइमरी स्कूल की छात्राओं में अधिकांश ऐसी हैं, जो एक साल के बाद ही स्कूल को छोड़ देती हैं और फिर कभी शिक्षा का नाम नहीं लेतीं। जो हो, हिन्दू स्त्रियों में उच्च शिक्षा की माँग क्रमशः बढ़ रही है—छः स्त्रियाँ एम. ए. की परीक्षा पास कर चुकी हैं और कुछ आगे की पढ़ाई के लिए विदेश भी गई हैं। इसके लिए सरकार ने भी दो वज़ीफ़े दिये हैं। मुसलमान स्त्रियों ने कम प्रगति की है, इस दरमियान सिर्फ़ एक मुसलमान महिला ग्रेजुएट हुई है। प्रारम्भिक पढ़ाई में उनकी संख्या हिन्दुओं से अधिक है, लेकिन सिर्फ़ नीची कक्षाओं में। माध्यमिक और उच्च शिक्षा में उनका बहुत कम प्रमाण है। स्त्री-शिक्षा पर कुल ख़र्चा सन् १९२१-२२ में जहाँ १७११६६६) रुपये हुआ था, वहाँ सन् १९२६-२७ में वह बढ़ कर २२०७४८३) रुपये हुआ। पर इस वृद्धि में ५८.७ प्रति सैकड़ा रक़म सार्वजनिक चन्दों से पूरी की गई है। सन् १९२७ में 'बंगीय स्त्री-शिक्षा-संघ' का प्रथमोत्सव हुआ था, उससे स्त्रियों में ख़ूब जागृति फैली है और अब वे इस दिशा में ख़ूब दिलचस्पी ले रही हैं। आशा है, भविष्य इसका सुपरिणाम हमारे सामने रक्खेगा।

महिला-न्यायाधीश

कुमारी डा-ह्मे-ह्मी खिन (Daw Hme Hmee Khin) रंगून-हाइकोर्ट की असिस्टेण्ट जज नियुक्त हुई
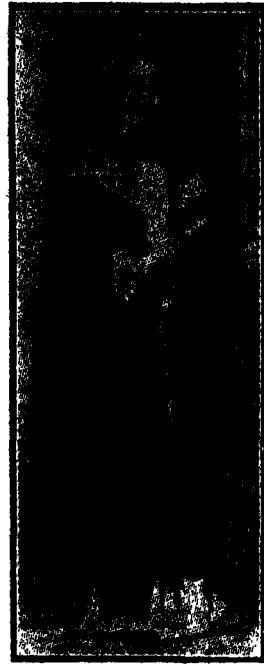
हैं। पिछले दो वर्ष से आप वहाँ रजिस्ट्रार का काम कर रही थीं और न्यायाधीश का पद प्राप्त करने वाली पहली भारतीय (ब्रह्मी) महिला हैं।

मारवाड़ी बाला की प्रगति

श्रीमती रत्नकुमारीदेवी जबलपुर के ख्यातनाम सेठ, राज्यपरिषद् के माननीय सदस्य, बाबू गोविन्ददास की पुत्री हैं। आपकी उम्र इस समय १५ वर्ष की है। इस छोटी उम्र

में ही आपने इस वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध 'कलकत्ता असोसिएशन'की संस्कृत साहित्य की उत्तमा परीक्षा पास करके 'काव्यतीर्थ' की उपाधि प्राप्त की है। संस्कृत की प्रथमा परीक्षा, इसी असोसिएशन की, इन्होंने दो वर्ष पूर्व पास की थी। उसके बाद, दो वर्ष की पढ़ाई एक ही वर्ष में समाप्त करके, गत वर्ष मध्यमा की परीक्षा दी; और, केवल एक वर्ष में ही तीन वर्ष का पाठ्य-क्रम समाप्त करके, इस वर्ष आप उत्तमा परीक्षा में उत्तीर्ण हुई हैं। जैसी हमें सूचना मिली है, उसके अनुसार, मारवाड़ी समाज में आप पहली ही ऐसी बालिका हैं, जो संस्कृत-साहित्य की इतनी उच्च परीक्षा में उत्तीर्ण हुई हैं—ख़ास कर इतने छोटेपन में। अब आप अंग्रेज़ी का अभ्यास कर रही हैं। आशा है, इसमें भी आप इसी प्रकार अच्छी सफलता प्राप्त करके अन्य मारवाड़ी बहनों के सामने एक सुन्दर आदर्श उपस्थित करेंगी। इस में शक नहीं कि बा० गोविन्ददास ने श्रीमती रत्नकुमारी की पढ़ाई का ऐसा मौक़ा देकर मारवाड़ी-समाज के सामने एक अच्छा दृष्टान्त उपस्थित किया है और इसके लिए उक्त समाज को उनका कृतज्ञ होना चाहिए। हमें आशा है, जहाँ बाबू साहब अपनी पुत्री की पढ़ाई की ऐसी व्यवस्था कर रहे हैं, वहाँ साथ ही वह इस बात में भी ख़ूब सजग और सावधान होंगे कि इस पढ़ाई का ऐसा भार उनपर न पड़ने देंगे कि भविष्य में वह अपने स्वास्थ्य से ही हाथ धो बैठें। भगवान् हमारी आशा पूर्ण करें।

श्रीमती रत्नकुमारीदेवी

शाबाश त्रावणकोर !

भारतवर्ष स्त्री-शिक्षा में कितना पिछड़ा देश है यह बताने की आवश्यकता नहीं। कुल ब्रिटिश भारत में स्त्रियों की शिक्षा का प्रति सहस्र औसत (सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार) है सिर्फ़ २१ ! परन्तु त्रावणकोर इस दिशा में उससे कहीं बढ़ा हुआ है। सन् १९११ में उसका यह औसत जहाँ ५० था, वहाँ १९२१ में बढ़कर १७३ हो गया है ! गत वर्ष की शिक्षा के अंक हाल में प्रकाशित हुई हैं। उनके अनुसार वहाँ ४९५ स्वीकृत शिक्षण-संस्थायें थीं और १७६४१९ लड़कियाँ उनमें शिक्षा पाती थीं—१९२ भिन्न-भिन्न कालेजों में, ९५९५ अंग्रेज़ी स्कूलों में, १६५११८ देशी भाषा के स्कूलों में, और १५२४ विशेष स्कूलों में। कहने की ज़रूरत नहीं कि स्त्री-शिक्षा में भारत का और कोई प्रान्त या राज्य इतना बढ़ा हुआ नहीं है। दूसरे देशी राज्यों और ख़ास कर ब्रिटिश भारत को चाहिए कि त्रावणकोर से जहाँ कि एक स्त्री का राज्य है—इस विषय में शिक्षा ग्रहण करें। क्या वे ऐसा करेंगे ?

मुकुट

भेदभाव का भूत

(१)

क्या राजा क्या रंक सभी हित
बिछा सूर्य का है पर्यङ्क।
उषा सुन्दरी की शोभा का
सब करते दर्शन निःशङ्क॥

(२)

मलयानिल है हमें सुनाता
अपनी हृत्तन्त्री का राग।
सुमन बिना ही भेद भाव के
देता सब को सुभग पराग॥

(३)

मोहित सब को ही करती है
सौम्य मूर्ति यह सुन्दर धूप।
सरिता घूम-घूम कर सब को
दिखलाती है रूप अनूप॥

(४)

मूक प्रकृति-बाला वीणा ले
करती है अद्भुत झङ्कार।
मेघ मृदङ्ग बजाते, आते—
हैं सब को, देने उपहार॥

(५)

विधु कर-रूपी-हाथ बढ़ाकर
सब को देता है नवनीत।
नीरव भाषा में पक्षीगण
भ्रातृभाव के गाते गीत॥

(६)

पाती दृष्टि जहाँ तक जाती
साम्यवाद का सुन्दर सूत।
कहाँ हाय! उत्पन्न हुआ यह
भेदभाव का भीषण भूत॥

श्रीरामवचन द्विवेदी 'अरविन्द'

आत्म-चिन्तन

(१)

बाह्य जगत् के क्षुब्ध एवं अशांत वायु-मण्डल में विचरण करते-करते, हमारे हृदय में, स्वभावतः शांति और आश्वासन की आकांक्षा उत्पन्न होती है। उस समय अधिकांश लोग या तो तीर्थाटन के लिए निकले पड़ते हैं, अथवा एकांत में धूनी रमाते हैं। किंतु खेद तो यह है, इस उपचार के बाद भी हमारा हाहाकार कम नहीं हो पाता—अशांत वायु-मण्डल की क्षुब्ध तरंगें शांत नहीं हो पातीं! क्यों? कारण यह है कि हम, बाह्य जगत् की अशांति और दुःख-द्वन्द्व से छुटकारा पाने के लिए, बाह्य जगत में ही उपचार खोजते फिरते हैं; किन्तु, यहाँ तो—

> अरे, क्षण-क्षण सौ-सौ निश्वास
> छा रहे जगती का आकाश।
> चतुर्दिक घहर-घहर आक्रांति
> ग्रस्त करती जग की सुख शांति।

इस अशांति के विषम स्पर्श से हृदय में क्षण भर के लिए जो विरक्ति उत्पन्न होती है, उसीको हम शांति समझ बैठते हैं! किन्तु, यह क्षणिक विरक्ति बाह्य जगत् से दूर किसी अक्षय सुख-शान्ति-निकेतन की ओर प्रेरित करने वाली शुचि-संदेश-वाहिनी है। जिसने उसके उस अज्ञात सन्देश को समझा, वह सचमुच अपनेको भाग्यशाली कह सकता है; क्योंकि, वह एक ऐसे पावन स्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ सुख-शान्ति-शीतलता की अटूट निधि जन्म-काल से ही उसके लिए सुरक्षित रहती है। वह सुख-शांति का निकेतन है—आत्मा। बाह्य जगत् के कोलाहल में हम इतने भूल जाते हैं कि हमें अपने इस आत्म-विश्व (अंतर्जगत्) का ध्यान ही नहीं रहता! एक कथा है—किसी मनुष्य की कोई चीज घर के भीतर खो गई। वह उसे लालटेन की रोशनी में, परेशान होकर, सड़क पर खोजने लगा। किसीने पूछा—'क्यों भाई, बात क्या है?' जवाब मिला—'मेरी चीज घर में खो गई है, सोचा, शायद सड़क पर मिल जाय।' ठीक यही दशा जगत् से ऊबे हुए शांति के आकांक्षी जनों की भी है। वे अपने घर (आत्मा) के भीतर सुख-शांति को न खोज कर बाह्य जगत् में भूलते-भटकते हैं। यद्यपि इस घर के भीतर शांति खोई नहीं है, सुरक्षित है, पर, अंध-नयनों के लिए वह खोई हुई-सी ही है।

बाह्य जगत् की सीमा जितनी निःसीम है, उतनी ही हमारी आकांक्षायें-आवश्यकतायें भी फैलती जाती हैं; और वे जितनी ही फैलती हैं, उतनी ही हमारी मनोवृत्ति दुर्दमनीय एवं संघर्षशील होती जाती है। और जब हम पराजित होने लगते हैं, तब, क्षुब्ध और अशांत होकर, हाहाकार करते हैं। किंतु, इस हाहाकार को हम तभी शांत कर सकते हैं, जब यह सोचें—हमारी आकांक्षायें और आवश्यकतायें कितनी होनी चाहिएँ? इसका ठीक-ठीक उत्तर कौन देगा?—हमारी आत्मा। इस आत्म-विश्व में एक ऐसी शुभ-शीतल ज्योति जगमगाती रहती है, जो प्रत्येक क्षण हमारे मोहाच्छन्न अज्ञानान्धकार को हटा कर हमारे सुख-शांतिमय कर्त्तव्य का बोध कराने में तत्पर है।

(२)

हमें अपनी इस मंगलमयी आत्मा को पहचानना चाहिए। यह आत्मा दैवी निधियों की कल्याणी इन्द्राणी है। जिस प्रकार दैव शक्तिमान, समर्थवान है, उसी प्रकार आत्मा भी हममें से प्रत्येक को यह दैवी विभूति प्रदान कर सकती है। किन्तु इस विभूति

को लेकर हमें जिस कर्त्तव्य का पालन करना है, उसे समझ लेना होगा। उस सर्व-शक्तिमान की सदिच्छा यह है कि उसका प्रत्येक बच्चा परस्पर स्नेह और सहानुभूति से रहे, और यह पहचाने कि किसमें किस रूप में नारायण छिपे हैं। हमारे बाह्य जगत् के आन्दोलन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि हम इतने मिताचारी बनें, जिससे प्रत्येक को शांति प्राप्त हो। हमारा जीवन इतना उज्ज्वल हो कि मरते दम तक हम अपने साथ शांति लेकर ही जगत् से विदा हों और हमारी स्मृति संसार के सुख-सौभाग्य का कारण हो।

किंतु, संसार की दृष्टि में, हम इतनी महान् स्मृति कैसे प्रतिष्ठित कर सकते हैं, जब तक हमारा जीवन महान् न हो? संसार हमें अपना तभी समझेगा, जब हम उसे अपने जीवन में मिला लें। कहा है—'उदार चरितानां वसुधैव कुटुम्बकम्।' हमारी स्मृति ऐसी ही हो, जो हमारे बाद इस बात की प्रतिध्वनि कर सके। जिनके जीवन में यह सूत्र ग्रथित हो चुका है, हमें उनका अध्ययन और मनन करना चाहिए; और विचारना चाहिए कि उनकी आत्मा ने उन्हें किस कर्तव्य की ओर प्रेरित किया, जिससे वे अपने और जगत् की शांति के कारण हुए। ऐसी महान् आत्मायें यदि समय-समय पर चंद्रमा के समान प्रकाशित होकर भव-आतप को शीतल करने में सहायक न होतीं, तो संसार की वेदना इतनी प्रखर हो उठती कि कोई भी एक क्षण यहाँ साँस लेना पसंद न करता। किंतु उन्होंने भी जगत् में जो कुछ किया, आत्म-चिंतन से। वही आत्म-चिंतन प्रत्येक के लिए अनिवार्य है।

स्वामी रामतीर्थ तो इस आत्म-चिंतन से इतने ऊपर उठ गये थे कि वे सचमुच सबमें अपने आपको देखते थे। लोगों के सामने व्याख्यान देते हुए सम्बोधन करते थे—'इन विविध रूपों में विराजमान मेरे ही आत्मन्!' इसका अभिप्राय यह है कि, बाह्य जगत् में सृष्टि की आकृतियाँ चाहे जो हों, सबका भौतिक रूप—आत्म—सब में एक-समान है। इसी आत्मीयता के कारण वे गद्गद् हृदय से गाया करते थे—

"गुल खिलते हैं, गाते हैं रो-रो बुलबुल।
क्या हँसते हैं नाले-नदियां॥
रंगे शफ़क़ खुलता है, बादे-सबा चलती है।
गिरता है छम-छम बारां मुझमें! मुझमें! मुझमें!

करते हैं अंजम जगमग, जलता सूरज धकधक।
सजते हैं बाग़ो बयाबाँ॥
बसते हैं लंदन-पेरिस, पुजते हैं काशी-मक्का।
बनते हैं जन्नत व-रिज़वाँ, मुझमें! मुझमें! मुझमें!

उड़ती हैं रेलें फर-फर, बहती हैं बोटें झर-झर।
आती है आँधी सर-सर।
लड़ती हैं फौजें मर-मर, फिरते हैं योगी दर-दर।
होती है पूजा हर-हर—मुझमें! मुझमें! मुझमें!

चरख़ का रंग रसीला, नीला-नीला हर तरफ़ दमकता है।
कैलास झलकता है, बहर छलकता है।
चाँद चमकता है—मुझमें! मुझमें! मुझमें!

सब वेद और दर्शन सब मज़हब,—
कुरान, इंजील और त्रिपिटक,—
बुद्ध, शंकर, ईसा और अहमद,—
था रहना-सहना इन सबका—मुझमें! मुझमें! मुझमें!

ये कपिल, कणाद और अफ़लातूँ,—
हर्बर्ट स्पेन्सर, कैन्ट और हैमिल्टन,—
श्रीराम, युधिष्ठिर, इसकंदर,—
विक्रम, क़ैसर, लिज़ाबिथ, अकबर,—
मुझमें! मुझमें! मुझमें! मुझमें!

हूँ आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, ज़ाहर-बातन मैं ही मैं!
माशूक़ और आशक़, शाइर, मजनूँ, बुलबुल,
गुलशन, मैं ही मैं।"

ऐसी महान् आत्माओं के जीवन में आनन्द और शांति की जो अविरल धारा बहती रहती है, उसे बाह्य जगत् के विचरण हृदय कब समझेंगे ?

(३)

यदि आप स्वामी रामतीर्थ के आत्मानन्द के सुदूर साम्राज्य तक पहुँच सकने में अभी अपनेको तैयार न पाते हों, तो भी बाह्य जगत् में ही कुछ-कुछ आत्म-चिंतन अवश्य कीजिए । यह आत्म-चिंतन आपके हृदय को क्रमशः वहाँ तक स्वतः अग्रसर करेगा ! वहाँ तक पहुँचने में न जाने बाह्य जगत् की कितनी कड़ियाँ तोड़नी होंगी ! इसके लिए पग-पग पर आत्म-चिंतन ही आपको सचेत करेगा ।

जगत् के अविरत जीवन-संग्राम में विजय-श्री लाभ करना भी आत्मवेत्ता लोगों का ही काम है । अतः जीवन-संग्राम के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मा को पहचानते रहिए । उसको पहचानना यही है कि आप उसके गुणों को समझिए । आत्मा का प्रत्येक गुण कल्याणकर है । उन गुणों से अपने व्यक्तित्व को मंडित कर, आप बाहर-भीतर सर्वत्र विजय प्राप्त कर सकते हैं—चारों तरफ प्रसन्नता आपकी बाट जोहती मिलेगी ।

आत्मा के गुण हैं—साहस, धैर्य, अटूट विश्वास । जीवन-संग्राम आत्मगुणी लोगों के लिए ही है । यहाँ साहस करना है, विश्व के महान् कार्यों में अग्रसर होने के लिए; धैर्य धारण करना है, आगंतुक आपत्तियों का स्वागत करने के लिए; विश्वास रखना है, अपनी सम्पूर्ण दैवी क्षमताओं पर जो मुझमें, इनमें, उनमें सबमें समाहित हैं ।

यह न सोचिए—'मैं भला क्या कर सकता हूँ?' उल्टे, यह भावना बनाइए—'मैं क्या नहीं कर सकता ?' इसी प्रश्न को हल करने के लिए आत्म-चिंतन है । आप प्रायः ऐसे जन्मांध लोगों को देखते होंगे, जिनमें कोई न कोई ऐसा महान् गुण सन्निहित होता है, जिसे देख-सुन कर सबको चकित हो जाना पड़ता है । आप सोचेंगे—'इस बिना पढ़े-लिखे, बिना दुनिया देखे, अन्धे में इतनी करामात कहाँ से आ गई ? इसमें अवश्य कोई न कोई दैवी शक्ति है !' सचमुच, उसमें दैवी शक्ति की ही कला प्रकट होती है । अन्धा होने के कारण, वह प्रायः आत्म-विश्व में ही भ्रमण किया करता है । सतत आत्म-चिंतन से उसे अपनी सक्षम कर्तृत्वशक्ति का बोध होने लगता है । तब, वह एक महान् गुण लेकर हम लोगों में प्रकट हो जाता है । इसीलिए हममें से प्रत्येक को कभी न कभी कुछ आत्म-चिंतन अवश्यय करना चाहिए ।

संसार के जन-समूह में ईश्वर-वंदना की परिपाटी अनादिकाल से चली आ रही है । इस ईश्वर-वंदना का तात्त्विक अभिप्राय यह है कि जगत् के आशा-निराशा, सुख-दुःख, उत्साह-अनुत्साह से भरे हुए वायुमंडल को भूलकर हम कुछ काल के लिए उस महान् सक्षम के गुणों को अपने अंतर में विकसित होने दें, जिससे वस्तुतः हमारा जीवन सफल हो सकता है और हम स्थायी सुख-शान्ति के भागी बन सकते हैं । ईश्वर-वंदना तो आत्म-चिंतन का ही उत्कृष्ट नामकरण है । ईश्वर-वन्दना के इस महत् उद्देश्य को हममें से कितने लोग हृदयंगम करते हैं ?

जो लोग संसार में कर्मवीर, धर्मवीर, महावीर एवं महात्मा कहे जाते हैं, वे और कुछ नहीं, बस, आत्मीय गुणों के सत्ताधारी हैं । हम लोग उनकी पूजा और उनका आदर करते हैं, उनकी दिव्य मूर्तियों पर श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं । यदि इसी बहाने क्षण-भर के लिए हम उनके जीवन और गुणों पर भी दृष्टिपात करें, और अपनी-अपनी आत्मीय क्षमता की नाप-तोल करें, तो हममें से प्रत्येक उनके समान

बन सकता है। जब किसी महात्मा की तरफ हम श्रद्धा से झुकते हैं, तो उसका अभिप्राय यही है कि हमारी आत्मा हमसे तक़ाज़ा करती है कि ज़रा अपनी ओर भी देखो, अपने आपको भी पहचानो। जब कभी कोई व्यक्ति आदर-पूर्वक महात्मा गांधी के पूज्य चरणों पर अपना शीश झुकाता है, तब उनके हृदय में अपरिमित वेदना होने लगती है और वह अपने पैर खींच लेते हैं तथा सस्नेह उसे रोक देते हैं। आदर देना, श्रद्धा रखना, बहुत अच्छी बात है; किन्तु हम इतने से ही यह समझ लेते हैं कि हमारा कर्तव्य पूरा हो गया--स्वयं उनके गुणों से विभूषित न हुए तो न सही, हाथ तो जोड़ लिए! गुणों को अपनाने की बनिस्बत, हम भारतीयों में हाथ जोड़ने और पैर छूने की लालसा अधिक दीख पड़ती है। अरे भाई, तुम्हारे हृदय में यदि असीम श्रद्धा और आदर के भाव ओत प्रोत हैं, तो आदर करो अपनी ज्योतिर्मय आत्मा का और पूजा करो उसकी, जो अपनी विभूतियों को अनादिकाल से न जाने कितने महामनाओं को बाँटता आ रहा है।

(४)

आप अपने जीवन का कोई महत्वपूर्ण लक्ष्य बनाइए। फिर आत्म-चिन्तन कीजिए। आत्मा में अनुभव कीजिए कि वह कहाँ तक लक्ष्य को पहुँचा सकता है। यदि आप अपनी आत्मा के बल-विश्वास को लेकर कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होंगे, तो स्वामी रामतीर्थ का कहना है—ऐसों को नदी भी मार्ग दे देती है; पर्वत भी अपने सिर-आंखों पर उठा लेता है। इस आत्म-बल से वह कौन-सी ग्रंथि है, जो खुल नहीं सकती?

और, यह बल, यह विश्वास, आपको प्राप्त कैसे होगा?—आत्म-चिन्तन से।

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी

युवावस्था

युवावस्था एक प्रकार से, हमारे जीवन का वसन्त-काल है। इस समय हमारी नस-नस से जीवन उछला पड़ता है। हमारी क्रिया-शक्ति' इस क्षेत्र में काम करूँ या किसी दूसरे में?' इस तरह के विचारों द्वारा बाहर फूट निकलने के लिए तड़पती रहती है। भावनायें—बुरी या भली—इतनी तीव्र, इतनी प्रबल हो उठती हैं कि उन्हें रोक रखना हमारे लिए कठिन होजाता है। हमारे पवित्र पूर्व-संस्कार हमें बतलाते हैं कि हमारी कितनी ही भावनायें अशुद्ध हैं, त्याज्य हैं; हमारा विवेक भी इस बात को स्वीकार करता है; फिर भी उनके अधीन होने से बचना हमारे लिए कठिन हो जाता है।

भावों की तीव्रता और कर्तृत्वशक्ति का जोश अगर यौवन का लक्षण है, तो हम कह सकते हैं कि जितने दीर्घ-काल तक मनुष्य अपनी भावनाओं को तीव्र और अपनी कर्तृत्वशक्ति को सुरक्षित रख सके, उतने ही समय तक वह अपने यौवन की रक्षा कर सकता है। और जैसे-जैसे उसकी कर्तृत्वशक्ति क्षीण होती जाती है, अथवा भावनाओं का वेग शिथिल होता जाता है, वैसे-वैसे वह बूढ़ा होता जाता है—चाहे वह उम्र में जवान ही क्यों न रहे।

लोग कहते हैं कि भारतवर्ष की जनता खास कर हिन्दू-भारत अकाल में ही बूढ़ा बन जाता है। कितने तो बचपन से ही बूढ़े होते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि हमारा कर्तृत्व बहुत जल्दी नष्ट हो जाता है और जिन कारणों से दूसरी जाति के जवानों का खून खौलता रहता है, वही कारण हमारे रोयें फड़-काने में भी असफल होते हैं—हमारी भावनाओं की गति, उनका वेग इतना शिथिल—इतना मुर्दा हो जाता है!

गांधीजी श्री अब्बास तय्यबजी को ८० वर्ष का जवान कहते हैं; वह अपनेको उनकी अपेक्षा बूढ़ा समझते हैं। फिर भी, हममें से बहुतों की अपेक्षा गाँधीजी अधिक जवान हैं। मेरे कॉलेज के प्रिन्सिपल डॉ० मैकीकन को अगर कोई वयोवृद्ध (Venerable) कहता, तो वह बड़े दुःखी होते थे। उम्र के अधिक हो जाने, जितने वर्ष जिये उतने वर्ष आगे और जीने की संभावना न रहने, तथा शरीर का एक-एक बाल सफ़ेद होजाने पर भी कितने ही पुरुष युवाओं जैसी कर्तृत्वशक्ति, भावनाओं की तीव्रता और उत्साह दिखला सकते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। इसी तरह मरते समय तक युवावस्था का उपभोग करने, ८०-८५ वर्ष की उम्र होजाने पर भी पूर्ण यौवन का सुख लूटते हुए मरने की इच्छा कौन नहीं करेगा! अगर हमारे युवक भी अपने सामने ऐसा आदर्श रक्खें, तो मेरी राय में इसमें कोई बुराई नहीं है।

लेकिन इस आदर्श की सिद्धि या असिद्धि तो युवावस्था के प्रारंभिक वर्षों पर निर्भर है। जो अपनी जवानी के पहले दस (१०) वर्ष बड़ी सावधानी से बिता सका है, या सकता है, उसके लिए उक्त आदर्श को सिद्ध कर लेना बहुत सरल हो जाता है।

× × ×

जीवन की सफलता अथवा निष्फलता दो बातों पर निर्भर रहती है। युवावस्था में अगर हमारा जीवन इन दोनों बातों में सच्चा पथ ग्रहण कर ले, तो बाद में जितना पश्चात्ताप और असंतोष जन-साधारण के हिस्से आता है, उससे हम साफ़ बच जायँ। ये दो बातें भावना और बुद्धि हैं।

ऊपर युवावस्था को भावनाओं की तीव्रता का पर्याय बताया है। अगर ये भावनायें सच्चे पथ का सहारा लें, तो हमारा जीवन एक तरह का बने; और अगर बुरे पथ का सहारा लें, तो दूसरी तरह का।

भावना के समान बुद्धि का भी मनुष्य में जीवन के निर्माण में बड़ा भारी हाथ है। अगर जीवन-सम्बन्धी आदर्श ही दूषित है, तो सद्भावनायें भी जीवन को विकृत कर देती हैं और परिणाम-स्वरूप उसे निष्फल बना देती हैं।

उदाहरण के लिए यदि कोई युवक तारुण्य में प्रवेश करते ही स्वच्छन्द वृत्तियों के तीव्र वेगों का गुलाम बन जाय, तो वह दीर्घ-काल तक अपने यौवन को सुरक्षित नहीं रख सकेगा—उसका शरीर शीघ्र ही कमज़ोर हो जायगा। भावनाओं के वेग को कुमार्ग पर ले जाने का यह एक उदाहरण हुआ।

इसी तरह एक दूसरा युवा केवल बुद्धि-दोष के कारण ठीक ऐसे ही परिणाम पर पहुँचता है। यदि उसके मस्तिष्क में यह विचार बद्धमूल हो गया है कि मनुष्य को अपने उत्कर्ष के लिए शरीर की चिन्ता—उसकी सार-सम्हाल—करना छोड़ देना चाहिए, जान-बूझकर उसे इस तरह चूस डालना चाहिए कि उसमें नाम लेने को भी ताक़त शेष न रहे, यदि शरीर की पुष्टि और विकास के लिए सावधान रहना उसकी दृष्टि में पाप हो चुका है, तो वह भी अपने शरीर को अकाल में ही क्षीण कर डालेगा—इसमें सन्देह नहीं।

मनुष्य की कर्तृत्वशक्ति अधिकांश में उसकी शारीरिक नीरोगता और विकास पर निर्भर रहती है। अतः विकृत भावना अथवा विकृत बुद्धि दोनों का एक ही परिणाम होगा—कर्तृत्वशक्ति का अकाल विनाश।

× × ×

युवावस्था में नेताओं, प्रसिद्ध पुरुषों, विद्वानों और दूसरे बड़े-बड़े लोगों के साथ रहने की हमें बड़ी

उत्सुकता रहती है। उनसे परिचित होने और उनकी बातों को सुनने का हममें कुतूहल होता है। इन सब का कारण क्या है? यह एक प्रश्न है।

अनजाने ही क्यों न हो, हम यह तो अनुभव करते रहते हैं कि हमारी कर्तृत्वशक्ति प्रबल हो रही है और शुद्ध या अशुद्ध भावनायें हममें जोरों से हलचल मचा रही हैं। अब इस बात को जानने के लिए हम व्यग्र हो उठते हैं कि कौनसी भावना को किस सीमा तक बाह्याचरण में प्रकट करना और प्रबल होती हुई कर्तृत्वशक्ति को किस रास्ते पर लगाना चाहिए। जीवन-संबन्धी हमारा अपना अनुभव तो बहुत थोड़ा होता है, जिससे हमें अपनी खुद की सारासार का विचार करने वाली बुद्धि पर विश्वास नहीं होता। अतः हमारी उचित भावनाओं को पुष्ट करने और अनुचित भावनाओं को अंकुश में रखने तथा अपनी कर्तृत्वशक्ति को एक ऐसे रास्ते पर लगा देने के लिए कि जिससे दिनों दिन हमारी उन्नति होती रहे, युवावस्था के दिनों में हम अपने से बड़ों के साथ रहने के लिए इतने उत्सुक होते हैं। और इसी कारण हम में इस अवस्था में एक तरह की उत्कृष्ट जिज्ञासा और कुतूहलपूर्ण वृत्ति पाई जाती है। हम चाहते हैं कि हमारी भावनायें सन्मार्ग-गामिनी हों, हमारे विचार सच्चे दृष्टि-बिंदु के परिणाम हों, और हमारी कर्तृत्वशक्ति उचित मार्ग का अवलंबन ले। यही कारण है कि हम नेताओं के पीछे-पीछे चलने के लिए इतने उत्सुक रहते हैं। अतः जो नेता हमारी भावनाओं, विचारों, और हमारे कर्तृत्व को सच्चे रास्ते पर लगा देता है, वह हमारी दृष्टि में पूज्य बन जाता है। *

किशोरलाल घनश्याम मश्रुवाला

---

* एक भाषण से।

प्रोत्साहन

१

सम्हलो! सजग सामने आओ,
करो न केवल वचन प्रहार।
वे आये मुर्चा लेने को,
होकर सभी भांति तैयार॥

२

कौन अभी आगे अड़ सकता,
आई देख प्रलय की बाढ़।
ऊसर भी जल-मग्न हुआ जब,
रही न सूखे थल की आड़॥

३

डूब गये अनभिज्ञ अनेकों,
डूब गई है तट की राह।
गर्जन करता ज्वार जोर से,
मिली न उर्मिल जल की थाह॥

४

कभी भूल कर कहो न ऐसा,
"मुझ से अब क्या होगा बन्धु,
हो अगस्त दिखला दो सब को,
करो आचमन बहता सिन्धु"॥

श्रीजगदीश झा 'विमल'

बालकृष्ण

नवयुवक ! वे कौन हैं ? संसार के सुरभित उद्यान के शोभायमान पुष्प, जो विश्व को अपनी सुगंध से परिपूरित करते हैं। शरद् ऋतु के नीलाकाश में प्रज्वलित देवताओं के वे प्रदीप हैं, जो ब्रह्मांड को अपने प्रकाश से भर देते हैं; सत्य की वेदी पर बलिदान होने वाली वे आत्मायें हैं,जो पतित पीड़ित प्राणियों को स्वर्ग का मार्ग बतलाती हैं। परमात्मा के पास पहुँचाने वाली वे शक्तियाँ हैं,जो उसके चरण-कमलों की खोज में अपना अस्तित्व मिटा देती हैं। न्याय पर स्थिर रहने वाली वे विभूतियाँ हैं, जो शरीर को हँसते-हँसते दीवार में चुनवा लेती हैं। उत्साह के वे स्वच्छ स्रोत हैं, जहाँ से आशा की धारा निकल कर ध्येय से टकराती है। हृदय के दुलारे वे प्यारे बालक हैं, जिन्हें मातायें छाती से लगाती हैं।

श्रीकृष्ण! वह कौन हैं? पुष्पों में वह कमल हैं। तारों में वह चन्द्र हैं। शहीदों में वह प्रह्लाद हैं। भक्तों में वह ध्रुव हैं। वीरों में वह गुरु गोविंदसिंह के पुत्र हैं। आशा के केन्द्र वह नवयुवक हैं—यशोदा के दुलारे वह श्रीकृष्ण है।

कोई उन्हें परम-योगी कहता है, कोई परब्रह्म के नाम से पुकारता है; कोई उन्हें राजनीति-विशारद मानता है, कोई एक चतुर सारथी के नाम से जानता है। मैं तो एकांत में जिस समय मोर-मुकुट वाले का ध्यान करता हूँ,पहले उसकी बाँसुरी की ही ध्वनि मुझे सुनाई देती है। वह ध्वनि किसी 'श्मश्रुप्रवृद्धिजनितानन-विक्रियं' योगी के कर्कश कंठ से नहीं निकलती। प्रत्युत माँ की गरम गोद को छोड़कर भागे हुए एक बालक के कोमल कंठ से आविर्भूत होती है। मुरली के इस नाद में कौनसा आकर्षण छिपा हुआ है, जिसे सुनकर पशु-पक्षी तक अपने स्वभाव को भूल जाते हैं ? वह कौन सी सम्मोहिनी शक्ति है, जिसके सामने मनुष्य ही नहीं बल्कि देवता भी अपना सिर झुका देते हैं।

इस अद्भुत शक्ति का रहस्य क्या है ? शैशव पर विपत्ति की घटायें मंडरा रही हैं—नित्य प्रति कंस के भेजे हुए राक्षसगण ब्रज में उत्पात मचा रहे हैं—फिर भी, कानन के सुदूर कोने-कोने से कान्ह की मुरली-ध्वनि सुनाई देती है। अहा! क्या यह बालोचित सरलता नहीं है ? कल-कल-प्रवाहिनी यमुना के श्यामल जल में कन्दुक गिरता है। श्रीकृष्ण उसे लेने जाते हैं, ग्वाल-बाल पीताम्बर पकड़ कर उन्हें पीछे खींचते हैं; पर, वह बालक सरिता में कूदने को तत्पर खड़ा है—और अधर पर वही मुरली गुंजायमान है। क्या यह क्षत्रियोचित निर्भीकता नहीं है ? अरे, अन्त में वह कूद पड़ता है—विषैले नाग के सहस्र फणों पर नृत्य करता है! मित्रगण चिंतित हैं, पर पाप से भी अधिक काले उस जल को चीरकर एक ध्वनि निकलती है—हाँ, उसी वंशी की ध्वनि ! क्या यह मनुष्योचित धैर्य नहीं है ? क्या यह वीरोचित साहस नहीं है ?

❁ ❁ ❁

मुरली सुनने के लिए उसके पास नहीं जाना पड़ेगा—वह स्वयं तुम्हारे पास आ जायगा। पर,आज हमारे यहां कितने ऐसे हैं, जो उसे मुरली सुनाने के लिए बुला सकें ? कितने ऐसे हैं, जो मुरली की ध्वनि सुनने के सच्चे उत्सुक हैं ?

❁ ❁ ❁

नवयुवको ! हृदय को टटोल कर उत्तर दो—क्या तुम्हें मुरली की ध्वनि सुनाई देती है ?

शांतिप्रसाद वर्मा
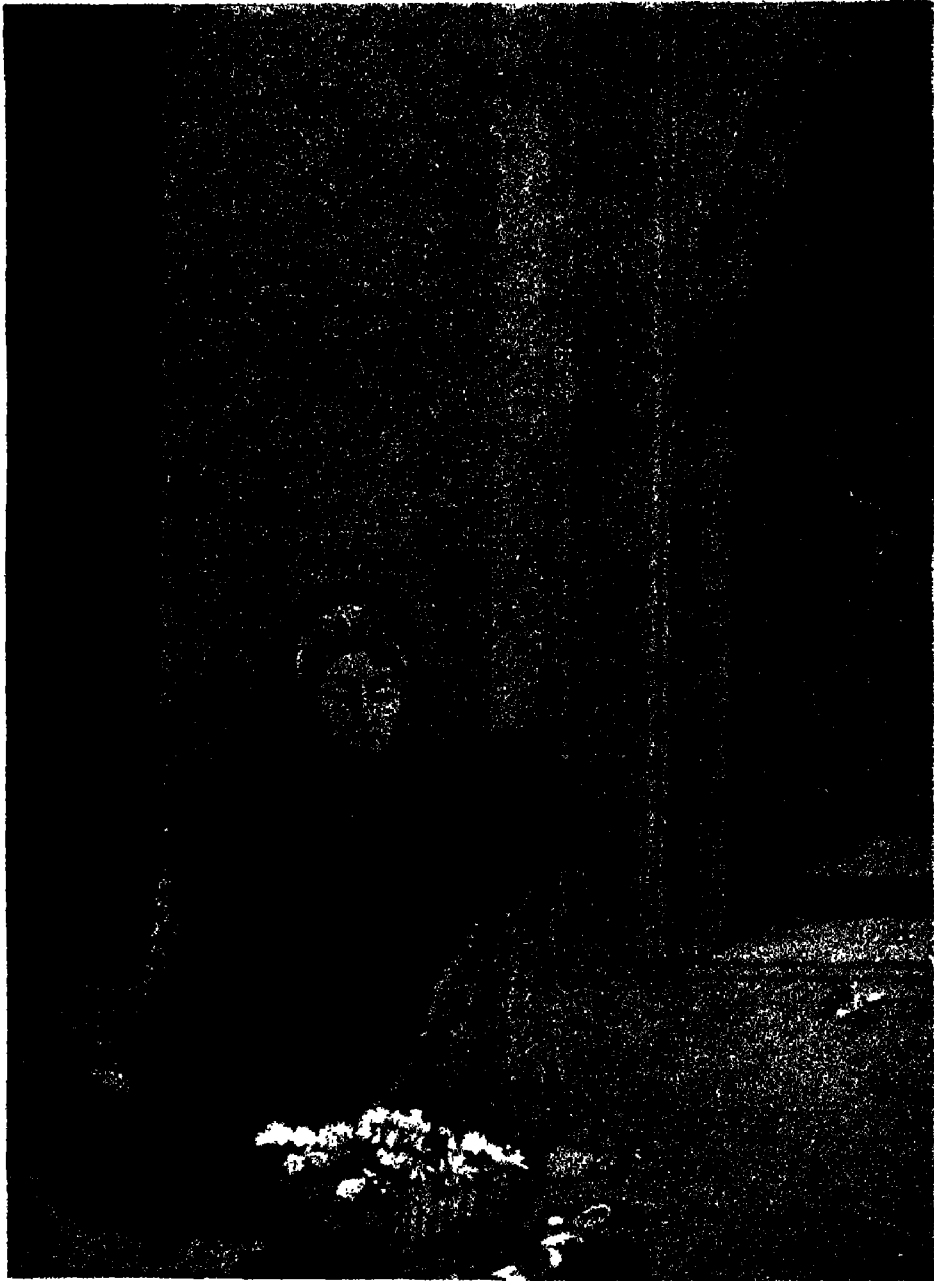
मालिन

[चित्रकार श्री रामगोपालजी विजय वर्गीय के सौजन्य से]

[illegible] Art Press, Delhi

साहित्य-संगीत-कला

उभार में—

क्या अनुभव तुम कर पाओगे अन्तरतम की ज्वाला।
मसल रहे हो निठुर! हाथ से हुलसी हिय की माला!
मौन और अभिव्यक्ति-बीच में असमंजस का मेला।
बिखराये जी के टुकड़ों को फेंक दूर कर डाला।
तेरी झिड़कन की थिरकन पर नाचूँगा मतवाले!
एक बार अपने हाथों से भर दे विष के प्याले॥

× × × ×

मिला आज अमरत्व मुझे है, गरल-पान की लाली—
विलसी है अधरों पर मेरे, भरी आंख की डाली—
बगराती अपने वैभव को, (लूट इसे मत लेना)
गूँथ रहा चुपके, धीरे से, डोरे में कुछ माली।
साध-भरा शृंगार सकुचता, अरे लाज अवगुण्ठन—
एक बार सरका कर प्यारे! भर दे उर में कम्पन॥

'श्रीगात्मा'

कलरव

कल्पना-तरु-डाली पर बैठ,
सुना अमरों को मधुमय गान,
यामिनी में बिखरा संगीत,
लूट लेती तुम तन-मन-प्रान।

सत्य, शिव, सुंदर, मादक, अमर,
विहंगिनि हैं तेरे ये गीत,
इन्हें मत केवल 'कलरव' जान,
विश्व की वाणी यही पुनीत।

सूर्यनाथ तकरू

जगत् के साहित्य

(१)

अरबी साहित्य

अरबी साहित्य का आरम्भ वस्तुतः उन गीतों; क़िस्से-कहानियों तथा धार्मिक दन्त-कथाओं से होता है जो इस्लाम धर्म के प्रचार और मोहम्मद साहब के जन्म के पूर्व विस्तृत मरुभूमि वाले इस देश में प्रचलित थीं। अब तक की खोज से यह मालूम हुआ है कि उस समय अरबों का कोई लिखित साहित्य न था; शायद कोई लिपि भी न थी और रही भी हो तो वह अत्यन्त अपूर्ण और अविकसित थी; उससे कोई काम न लिया जाता था, उसका कोई उपयोग न होता था।

आरंभिक अवस्था

जहाँ लेखन सम्बन्धी प्रगति का अभाव होता है वहाँ स्मृति का उत्कट विकास स्वाभाविक है। सातवीं शताब्दी के पूर्व अरबों का जो साहित्य था, वह स्मृति की उत्ताल तरंगों पर झूला करता था। जब क़बीले के दस-बीस आदमी एक जगह एकत्र होते, स्मरण शक्ति का दंगल आरंभ हो जाता। कोई अपनी वेदना-विह्वल प्रेम-कथा से दर्द-भरे दिलों को सींचता, कोई युद्ध और वीरता के राग छेड़ सोती हुई तलवारों को जगा देता। धार्मिक चर्चाएँ होतीं, लोग अपने अपने अनुभव बयान करते। कभी कभी 'कवितायें' पढ़ी जातीं। इस अवसर पर जो स्वयं न बना सकते थे वे सुनी कविताओं से लोगों की प्यास बुझाते। एक अर्द्धसभ्य जाति का आनंदमय जीवन था।

'ऊकाज़' जैसे मेलों में, जब विभिन्न क़बीलों के लोग एकत्र होते तो कविताओं को स्वर से गाने वालों में प्रतियोगिता भी होती थी, सर्वोत्तम गायक की इज़्ज़त बहुत बढ़ जाती थी और जाति में उसे उच्च स्थान प्राप्त होता था। सहृदय श्रोता अच्छी रचनाओं को स्मृति की सुई से गूँथ लेते और इन फूलों की माला से अपने हृदय का शृंगार करते थे।

'कविता' शब्द से जो कुछ समझा जाता है, ये कवितायें वैसी न थीं। इस दृष्टि से तो उन्हें एक प्रकार का गद्य ही कह सकते हैं। छंद, मात्रा और तुक का इनमें अभाव था। कल्पना की उड़ान, उपमा की बहार, सूक्ति का चमत्कार, व्यंग की चोट तक ही उनकी सीमा थी। यह अवश्य है कि इस प्रकार के 'कवित्वमय गद्य' में साधारण गद्य से कुछ भेद होता था। प्रवाह की अधिकता थी; शब्द मँजे हुए आते थे। योजना ऐसी होती कि पढ़ने में जिह्वा को सुख हो और सुनने में प्यारी लगे। कभी कभी इन्हें गाकर भी सुनाया जाता था।

गद्य से पद्य की ओर

इन बातों का फल यह हुआ कि धीरे धीरे नपे-तुले शब्द आने लगे; वाक्यों की समाप्ति एक ख़ास ढंग से और ख़ास प्रकार से की जाने लगी। शब्द-योजना अधिक साफ़, सुलझी हुई और मधुर हो गई। संगीत के प्रति प्रत्येक 'अर्द्धसभ्य' जाति में जो आग्रह, जो झुकाव होता है उसकी अरबों में कमी न थी। संगीत-प्रेम की भूख ज्यों-ज्यों बढ़ी, इन कविताओं को ध्वनिमय तथा प्रवाहपूर्ण बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। स्वरैक्य लाने के लिए इन गद्यात्मक कविताओं में तुक की सृष्टि करने की चेष्टा हुई। इस चेष्टा ने अरबी साहित्य में कई प्रकार की स्वरसंयुक्त गद्यात्मक रचना-प्रणाली का आविर्भाव किया। इनमें सब से सरल 'सज्अ' है जिसमें, प्रायः, वाक्य छोटे टुकड़ों में बँटा होता है और अंत में कोई तुक आता है। मोहम्मद साहब ने क़ुरान में अनेक स्थानों पर (जैसे सूरा ८१) इसका प्रयोग किया है। *

इसके बाद धीरे धीरे अरबी कविता का एक रूप बनने लगा; वाक्यों की लम्बाई निश्चित कर दी गई; मात्राओं का प्रवेश हुआ। फलस्वरूप छंदों की सृष्टि हुई। 'रजज़' नाम की प्रणाली इस प्रवृत्ति का एक सरल उदाहरण है। इसमें सब चरणार्द्धों में एक ही तुक होता था। पीछे इसमें कई परिवर्तन हुए।

इस प्रकार कविता का मोहक वातावरण तैयार तो हो चला था पर रफ़्तार सुस्त थी और सच पूछिए तो आठवीं

---

*देखिए माईकेल जेन द गोये का लेख। ब्रिटानिका, भाग २ पेज २०१।

शताब्दि के पूर्व काल को हम 'अनिश्चित प्रेरणा का काल' ही कह सकते हैं।

ग्रीक लेखकों की पुस्तकों से मालूम होता है कि उन्हें चतुर्थ शताब्दि में ही उत्तरी अरबों में कविता के प्रचार की [illegible] मालूम थी। * इन सब सूचनाओं के विद्यमान होते हुए [illegible] कहना पड़ेगा कि कि अरबी कविता का ठीक रूप आठवीं शताब्दि में खलील-इब्न-अहमद के समय से ही आरंभ होता है।

प्रारंभिक कविता की प्रकृति

प्रारंभिक अरबी कविता की विशेषताओं को समझने के लिए हमें अरबों के तात्कालिक जीवन को देखना चाहिये। पहली बात तो यह है कि अरब एक उजाड़ और विस्तृत मरु-खण्डों का देश है। उपज, हरियाली और पानी तथा प्रकृति की उन सब सुहावनी एवं मादक अभिव्यक्तियों का वहाँ अभाव है जो मानव में 'चिर-सुन्दर' को जन्म देती हैं। वहाँ प्रकृति की मुस्कराहट नहीं खेलती, उसका अट्टहास ताण्डव करता है—बहुत बिखरा, बड़ा सूना रूप है। उषा मुस्कराती हुई, लज्जा के मधुर भार में दबी नवोढ़ा की भाँति नहीं निकलती, भयंकर बगोलों के चिरसहचर दिन की निष्ठुर दूती के रूप में आती है। ऐसी अवस्था में, स्वभावतः अरबों में वीरता, कष्ट-सहिष्णुता और शारीरिक तृष्णा का प्राबल्य था—आज भी है। वे जहाँ कहीं—प्रकृति के विशाल वक्ष पर कभी कभी कृपण में भी दिखलाई पड़ जाने वाली उदारता की भाँति उगी हुई—हरियाली पाते, बस जाते। प्रायः ऐसा भी होता कि वे चैन से एकत्र न रह सकते; क़ाफ़िले बना कर घूमा करते, लड़ाई-झगड़े में भी व्यस्त रहते।

ऐसी अशांत अवस्थामें उनके द्वारा जो रचनाएँ उद्भूत हुईं, उन पर उनके जीवन का गहरा प्रभाव होना ही चाहिए। मानव-हृदय, अपनी निम्न अवस्था में भी स्थूल जगत् के अतिरिक्त कुछ और चाहता है। उसके भीतर ही भीतर एक नयी दुनिया बना-बिगड़ा करती है. एक स्वप्नलोक के निर्माण की साधना चलती रहती है। अरबों के चारों ओर सूनी प्रकृति फैली थी,—बड़े ही भयंकर और विराट् रूप में—भीतर उन्हें उतनी सरसता कहाँ मिलती? कभी कभी दस-बीस मिलते तो कुछ देर के लिए चहल-पहल हो जाती, मनोविनोद का कुछ सामान एकत्र हो जाता—खूब क़हक़हे लगते। पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी ऐसे अवसरों पर खूब भाग लेतीं और जिनमें प्रतिभा और योग्यता होती वे स्वयं कविताएँ बनाकर दूसरों का मनोरंजन भी करतीं। पुरुष-स्त्री का कोई भेद न था। श्रोतागण, ऐसे अवसरों पर पढ़ी या सुनी हुई अच्छी रचनाओं को स्मृति की गाँठ में बाँध कर साथ ले जाते और उन्हें सुरक्षित रखते थे। ऐसी अवस्था में लम्बी रचनायें लोक-प्रिय न हो सकती थीं क्योंकि उनका याद रखना कठिन कार्य था—इसीलिए स्मृति की सहायतार्थ रचनाओं को सरल, सुलझे और संक्षिप्त रूप में रखने की आवश्यकता महसूस हुई। बहुत प्रारंभिक काल से अरबी में मुक्तक की सृष्टि का यही कारण था। इसका यह तात्पर्य है कि वे याद रखने के लिए प्रत्येक पंक्ति में एक पूरा भाव प्रगट करने की चेष्टा करते थे जिससे सम्पूर्ण कविता भूल जाने पर भी जितना याद रहे वह अपने में पूरा हो। फ़ारसी और उर्दू साहित्य में अधिकांश कवि अब भी इस परम्परा का निर्वाह करते आ रहे हैं। उनके यहाँ प्रत्येक शेर का अपने अर्थ में पूर्ण और स्वतंत्र होना अच्छा समझा जाता है।

अरबी साहित्य में क़सीदों का जन्म भी प्रारंभिक काल से ही हुआ। लड़ने-भिड़ने वाली जाति थी; जीवन कठिनाइयों से भराथा। ऐसी अवस्था में दुःखों और कठिनाइयों का वर्णन आरंभ हुआ। इन क़सीदों का आरंभ भी सदैव एक निश्चित रूप में होता था। इनमें, प्रायः, कवि अपने सहयात्री से रुकने का अनुरोध करता है। फिर छोड़कर अन्यत्र चले जाने वाले साथियों का पता न लगने पर रोता और दुःखी होता है। इसके बाद अपनी प्रेम-कथा सुनाता है, प्रेमपात्र की बेवफ़ाई और अपनी कठिनाइयों का ज़िक करता है। बताता है कि किस प्रकार हृदय में स्वप्न-सृष्टि हुई, किस तरह के दुःख झेले हैं और झेल रहा हूँ—, कहता है मैं अपनी निर्दय प्रेमपात्री के पीछे उजड़ गया। वह न जाने कहाँ है? उसकी खोज ने मुझे धूल में मिला दिया; जंगलों और रेगिस्तानों का चक्कर काटते काटते हड्डियाँ गल गईं। मेरा वफ़ादार जानवर—ऊँट—भी इस खोज में परलोक सिधार गया।' इत्यादि। प्रायः

*'पैट्रोलीजिया ग्रीसा, भाग ७९ कालम १४८

इन बातों के बाद, क़सीदे की, कविता के वर्णनीय विषय की बातों का आरंभ होता है।

विश्व के साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत प्रारंभिक काल से, सभ्यता की बहुत अविकसित अवस्था में भी, कविता ने सुन्दर कल्पना के अपूर्व उदाहरण जगत् के सामने रखे हैं। भाषा की बात छोड़ दीजिये, भाव-क्षेत्र में तो कोई रहस्यमयी शक्ति सदैव से मानव-हृदय में गुदगुदी उत्पन्न करती रही है। उसकी गोद शिक्षित-अशिक्षित, सभ्य-असभ्य में भेद नहीं रखती। अनेक जातियों ने अपनी असभ्यावस्था में भी कविता के क्षेत्र में बड़े-बड़े चमत्कार दिखाये हैं और शायद इसीलिए यह कहा जाता है कि कविता मानवता की विकासकर्त्री है।

अरबों पर भी बहुत प्रारंभ काल से कविता ने जादू की लकड़ी फेरी है। यह प्रारंभिक कविता मँजी हुई न थी। वे सुकुमार उँगलियाँ जो कोमल कलाइयों को दुखाकर भी जूही के कलेजे छेदा करती हैं, वहाँ कहाँ थीं? फिर भी उस काल के अरबों पर उसका प्रभाव अत्यधिक था। सफल कवि का बड़ा सम्मान किया जाता था। समाज उसे 'अश्शायर' अर्थात् 'ज्ञानी' समझ कर उच्च स्थान देता था।

प्रशंसा और निन्दा (प्रहसनात्मक रूप में) अधिकांश कविताओं के मुख्य विषय थे। किसी मनुष्य या क़ाफ़िले की निंदा में जब कोई शक्तिमान कवि कुछ लिखता तो सम्पूर्ण देश में उस व्यक्ति या क़ाफ़िले की बदनामी फैल जाती जिससे उसकी अनेक सांसारिक सुविधायें नष्ट हो जाती थीं, इसलिये भी लोग कवियों से दबते थे—उनका रोब समाज पर ग़ालिब था।

वर्णनीय विषय और प्रसिद्ध कवि

हज़रत मोहम्मद के समय के पहले अरबों का सदाचार मात्र रीति-रिवाज पर ही आश्रित था— उसका सीधा-सादा पर अनिश्चित रूप था। अतिथि-सत्कार, दयाशीलता तथा बहादुरी की गणना गुणों में की जाती थी एवं क्षुद्रता और कायरता का शुमार दुर्गुणों में था। इसलिये अरबी कविता पर इन गुण-दोषों की छाया भी बहुत घनी है।

अरबों की प्राचीन कविता का बहुत थोड़ा अंश आज प्राप्य है। इसका कारण यह है कि लिखित संग्रह न होने से मनुष्यों के साथ कविताएँ भी, व्यक्तिगत गुणों के समान समाप्त होती गईं। आठवीं शताब्दि के बाद, इनके संग्रह की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ था और नवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों में इस ओर विशेष चेष्टा भी की गयी। आज जो कुछ विद्यमान है, इसी चेष्टा का परिणाम है। फिर कौन कह सकता है कि इनके मूल में कितने क्षेपकों को आश्रय मिला है?

प्रारंभिक अरबी कविता की भाषा मध्य अरब के रेगिस्तान के निवासी अरबों की भाषा है। यह ग्रामीण भाषा सैकड़ों वर्षों तक अरबी सहित्य की प्रधान भाषा रही है। नवीं शताब्दि के आरंभ में 'असमाई' नामक, काव्य-प्रेमी ने कतिपय प्रारम्भिक कवियों के काव्यों का संग्रह किया था। इन कवियों में अमर-उल-क़ैस, ज़ुहैर, अलक़मा, शनफ़रा इत्यादि मुख्य थे। 'द सैसी' द्वारा * शनफ़रा की एक कविता का अनुवाद फ्रेंच भाषा में भी किया जा चुका है और ह्वाजेज़ ने † उसका अंग्रेजी अनुवाद भी १८९६ ई० में प्रकाशित किया था। बनी तमीम, हातिमताई इत्यादि अपनी वर्णन शैली के कारण प्रसिद्ध थे। सेमुएल इब्न-अदिया' नामक एक यहूदी की कई रचनाओं का हवाला अरबी कविता के जर्मन समालोचकों ने अपनी पुस्तकों में दिया है। अदी-इब्न-ज़ैद इत्यादि दो एक इसाई कवि भी इस काल में प्रसिद्ध थे। ज़ैद ने तो मदिरा और मृत्यु के आनन्द का अखण्ड गान गाया है। मोहम्मद के समय में मक्का निवासी 'उम्मैया—इब्न—अब्बीसाल्त' नामक एक युवक कवि ने बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। वह कट्टर एकेश्वरवादी था और धार्मिक कविताएँ बनाया करता था। उसे इस्लाम धर्म में लाने की बड़ी चेष्टा की गयी पर अंत तक उसका इस नूतन धर्म पर विश्वास न हुआ। ६३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी।

मोहम्मद साहब के समय में भी जनता पर कवियों का बहुत अधिक प्रभाव था। ये कवि प्रायः नवीन धर्म-इस्लाम के विरोधी थे, इसलिए मोहम्मद साहब और इनके बीच

---

* देखिए द सैसी का 'क्रेस्तोमैथी अरेब' (de Sacy's Chrestomathie Arabe)

† देखिए नोल्डेक का 'बीत्रेग' (Beitrage) पृष्ठ ५२—८९।

बहुत दिनों तक विरोध चलता रहा। कितने ही युद्धों में मारे गये, कितने ही फाँसी पर चढ़ गये। काब-इब्न-जुहैर नामक एक कवि पहले मोहम्मद साहब का घोर विरोधी था उसे मृत्युदण्ड दिया गया। फिर क्षमा करके छोड़ दिया गया। पीछे उसने स्वयं मोहम्मद साहब की प्रशंसा में एक [illegible] कविता लिखी और बड़ा नाम कमाया। अबू मिहजान नामक एक कवि ने मदिरा की प्रशंसा में पेज के पेज रंग डाले थे, इसे भी निर्वासन-दण्ड दिया गया। 'जर्मन ओरिएण्टल सोसायटी जर्नल' के ४६ वें भाग के ४६, ४७ पृष्ठों पर जरवल-इब्न-औस नामक एक कवि के वर्णन में लिखा है कि वह देश में एक स्थान से दूसरे स्थान पर रमता फिरता और अपनी तीव्र व्यंग-रचनायें लोगों को सुनाया करता था। फल-स्वरूप हज़रत उमर द्वारा उसे कारादण्ड दिया गया। इस काल की कवयित्रियों में खुनसा सब से प्रसिद्ध थी।

नयी दिशा में

मोहम्मद साहब के बाद के चारों खलीफ़ाओं ने कवियों को बहुत दबाया; कविता नारकीय वस्तु भी क़रार दी गयी। पर यह अवस्था कब तक रहती ? प्रकृति को दबाने के लिए मनुष्य अभी बड़ा अपूर्ण, बड़ा असहाय है। अपने विरुद्ध चलने वालों को वह एक साँस में अपने अंदर विलीन कर लेती है। उम्मैयाद् वंश के शासकों ने इसे समझा, उनमें धर्म की उतनी कट्टरता न थी। इस्लाम धर्म को मानते हुए भी उन्होंने इसाइयों तथा प्राचीन अरब-धर्म के अनुयायियों को पूर्ण स्वतंत्रता दी थी। फल स्वरूप उनके समय में कविता ने खूब उन्नति की। उसमें उदारता की भावनायें आईं। नगरों से धीरे-धीरे सम्पर्क बढ़ता गया। फल स्वरूप ग्रामीण भाषा का स्थान काव्य-जगत् में नागरिक भाषा ने ले लिया। किन्तु इतना होते हुए भी अभी सर्वत्र प्राचीनता का ही बोल-बाला था। अब्बासाइद शासकों के काल में नवीनता का स्वागत किया गया; पुराने बंधन टूट गये। नये ढंग इख़्तियार किये गये, नये छंदों की सृष्टि हुई। अख्तल, फ़र्ज़दक और जरीर इस काल के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। अख्तल ईसाई था। फ़र्ज़दक सच्चरित्र तो न था पर भाषा के ऊपर उसका आश्चर्य-जनक अधिकार था। जरीर अपनी व्यंग-रचनाओं के लिये प्रसिद्ध था और अपनी रचनाओं से दोनों विरोधियों को इसने परास्त किया था। लैला-उल-अख़्यलिया थी, जिसकी मृत्यु ७०६ ई० में हुई, इस काल के साधारण कवियों में प्रसिद्ध थी। क़ुरैश निवासी क़ैस-इर-रुक़ैयात तथा मक्का-निवासी 'उमर-इब्न-अबीरबिया' दोनों अपने समय में अरब के प्रसिद्ध कवियों में गिने जाते थे। इब्न उमर ने तो कविता के प्राचीन नियमों को तोड़कर एक नयी शैली भी चलाई पर कवियों पर अधिक प्रभाव न होने के कारण उसकी यह शैली स्थायी न बन सकी।

अब्बासाइदों के काल से अरबी कविता का नया रूप बन गया। नयी बातें, नयी उपमाएँ, नये छंद, नये भाव लाये गये। फ़ारसी कविता की मधुरता और रहस्यमयता ने भी उसपर प्रभाव डाला। क़ाफ़िलों की रामकहानी का स्थान व्यक्तिगत अनुभूति तथा दिल के दर्द ने छीन लिया। मानव जीवन की समस्याओं ने कविता के अंतर में प्रवेश किया। इस प्रकार के आरंभिक कवियों में मुती-इब्न-अयाज़ प्रसिद्ध है। उसकी कविता व्यक्तिगत अनुभूतियों का कोष है और भाषा तथा शैली सुलझी हुई। अबू नवाज़, आठवीं शताब्दि का सब से बड़ा अरबी कवि है। उसकी भाषा शुद्ध अरबी है; भावों में नागरिकता और अभिव्यक्ति में अनुभव की छाया है।

१० वीं शताब्दि में अरबी कविता को अलप्पो के सुलतान सैफुद्दौला द्वारा बड़ी स्फूर्ति प्राप्त हुई। उसने अनेक कवियों को अपने दरबार में आश्रय दिया। जिनमें मोतनब्बी प्रधान था। इसे अब भी कितने ही लोग अरबी का अंतिम महाकवि मानते हैं पर मेरी समझ से तो इसके बाद भी कई महान् कवि हुए हैं। अबुल-अला-उल-मआरी की कविता में कहीं कहीं आध्यात्मिक रंग भी पाया जाता है। इब्न-फ़रीद अरबी का सब से बड़ा रहस्यवादी कवि हुआ है। स्पेन में जब अरबों का राज्य फैला तो वहाँ भी कई अच्छे कवि उत्पन्न हुए। इनमें इब्न अब्दून बहुत प्रसिद्ध है। स्पेन में १२ वीं शताब्दि में इब्न क़ुज़मान नामक परिव्राजक कवि तथा गायक हुआ जिसने कविता में बातचीत की भाषा को स्थान देकर ग़ज़ल की नींव डाली।

उसके बाद तो अरबी कविता ने वह रूप धारण किया जो आज तक चला आता है। यद्यपि पिछले काल की अरबी

कविता पर फ़ारसी काव्य-शैली और कल्पना का कुछ प्रभाव पड़ा है किंतु उसकी मुख्य धारा फ़ारसी से न केवल स्वतंत्र वरन् अधिकांश में भिन्न भी है। फ़ारसी कविता में आकर्षण, माधुर्य, विलासिता, कल्पना का आधिक्य है; अरबी कविता में सादगी का बोलबाला है।

गद्य

गद्य का जन्म तो कविता के साथ-साथ ही हुआ पर उसके विकास की गति बहुत सुस्त रही। लेख के आरंभ में जिस प्रवाहमय गद्य का उल्लेख किया गया है उसीका पीछे धीरे-धीरे विकास हुआ। कुरान की भाषा तुकमय गद्य है—जैसे हमारे यहाँ वेदों की भाषा है। पिछले काल में 'हमाधानी' ने इस शैली में 'मक़ामा' नामक एक नये ढंग की रचना शुरू की। 'हरीरी' नामक लेखक ने इस ढंग की रचना में ऐसी सफलता प्राप्त की कि आज तक भी अरबी लेखक उसका प्रभाव अनुभव करते हैं। परन्तु इस ढंग की रचना में ज़बान की संजीदगी पर ही ज़्यादा ज़ोर दिया जाता था अतएव शीघ्र ही सदाचारिक साहित्य के निर्माणार्थ 'अदब' नामक रचना-विभाग की सृष्टि हुई। 'इब्न कुतैब' नामक लेखक ने इस शैली में मित्रता, राज्य, युद्ध, सदाचार, पवित्रता इत्यादि अनेक विषयों पर कितनी ही कहानियां और गद्यलेख लिखे। जाहिज़ ने नवीं और बैहाक़ी ने दसवीं शताब्दि में इस ओर खूब उन्नति की।

बीच में लेख तथा कहानियाँ बराबर लिखी जाती रहीं किन्तु अरबी गद्य का वर्तमान रूप १३वीं शताब्दि में स्थिर हुआ। और आज तो इसमें काफ़ी उन्नति हो चुकी है।

अरबों की वीरता और युद्ध-प्रियता, सादे और कठोर जीवन, शासन सम्बन्धी सफलता, धर्म-प्रेम, जोश और अशान्त जीवन का प्रभाव उनके साहित्य पर खूब पड़ा है। ग्रीस, मिश्र तथा प्राचीन ईरान और सीरिया के दर्शनिक एवं धार्मिक तथ्यों ने भी उनकी अनेक भावनाओं को प्रभावित किया है। उनकी 'फ़िलासफ़ी' पर तो इन उद्गमों का प्रभाव स्पष्ट है। अरबी में आज जो साहित्य उपलब्ध है उसमें क्रमशः कविता, दर्शन, धर्म, इतिहास तथा व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों का आधिक्य है और सादगी अरबी साहित्य की जान है।

श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

काला तिल

वह थे और मैं था। संध्या हो रही थी। किन्तु रात होगी या दिन, अंधकार आवेगा या प्रकाश, कुछ जान नहीं पड़ता था। पश्चिम दिशा लाल थी और पूर्व भी ज्योतिःपूर्ण था। सूर्य अस्त होते हुए चन्द्रमा की तरह धरती के नीचे खिसका जा रहा था और चन्द्रमा शिशिर ऋतु के बालसूर्य की तरह आकाश के ऊपर उठ रहा था। उसकी गति में वैसा ही भारीपन था, जैसा किसी चोर के पैरों में। सामने खुले हुए मैदान में कुछ प्रकाश, कुछ छाया; एक दूसरे का अस्तित्व, एक दूसरे की अनन्तता में समाया जा रहा था। दूर क्षितिज के निकट की पहाड़ियाँ पृथ्वी से ऊपर उठे हुए धुएँ सी जान पड़ रही थीं और वह धुआँ या वसन्त ऋतु के काले काले बादलों की तरह।

हम दोनों चुप-चाप जा रहे थे। मैं उनकी ओर देख रहा था और वे चन्द्रमा की ओर। सहसा उन्होंने निस्तब्धता भंग की। बोले "सूर्य के डर से चन्द्रमा सहमा हुआ सा जान पड़ता है।" मैंने कहा "अंधकार का और भी बुरा हाल है। सूर्य को गया देख उसने क्षितिज के ऊपर अपना पैर रक्खा ही था कि सामने चन्द्रमा को देख बेचारा वहीं ठिठक कर रह गया।"

सूर्य की छाया दूर हो रही थी और उसकी जगह चन्द्रमा का फीका किन्तु स्पष्ट प्रकाश फैल रहा था। पश्चिम में, क्षितिज से कुछ ऊपर, शुक्र झिलमिला रहा था। उमंग के मारे उसकी चमक आपे में नहीं समाती थी, मानों सूर्य चलते समय प्रकाश का सेहरा उसी के सिर बाँध गया हो। धीरे-धीरे तारे निकल आये। उनके प्रकाश से आकाश रत्न-जटित नीलम के चँदोवे की तरह जगमगा उठा। अकस्मात् वे मेरी ओर देखकर बोले-"शायद कुबेर ने आज अपने कोष की अतुल रत्न-राशि आकाश में बिखेर दी है। फूल धरती का कवित्व है और ये तारे आकाश का संगीत। एक ही गति एक ही लय और एक ही रागिनी से ये किस प्रकार सदा आकाश में चलते रहते हैं! और इन तारों से घिरा हुआ यह प्रकाश का पुञ्ज! मानो मान सरोवर में राजहंस मोती चुंगता फिर रहा है।" इतना कहकर वे फिर चन्द्रमा की छिटकी हुई चाँदनी की ओर निहारने लगे।

प्रकृति, मधुर आशाओं के स्वप्न से घिरी हुई युवती की निद्रा की तरह मनोहर और शान्त थी और उसकी साँस थके हुए बटोही की भाँति धीरे धीरे चल रही थी। मैंने सोचा कि चलते चलते थक गये होंगे। किन्तु मैं जानता था कि वे कहने से नहीं बैठेंगे। इसलिए एक साफ़ सी जगह देख कर पहले मैं बैठ गया। मुझे बैठते देख वे भी बैठ गये, किन्तु उनकी दृष्टि थी उसी ओर। एक ओर कुछ झुरमुटें थीं, दूसरी ओर दिगन्त में फैली हुई एक रेखा। ऊपर चाँद और तारे थे। नीचे हम और वे! मैं देख रहा था कि चन्द्रमा के मुग्ध कर किस प्रकार उनके बालों के संग खेल रहे हैं। अचानक उन्होंने पूछा—"खिली हुई चाँदनी के बीच में यह झुरमुट इतना अच्छा क्यों जान पड़ता है!"

मैं झुरमुट की ओर देखने लगा। किन्तु उनके विलक्षण प्रश्न का कोई उत्तर मेरी समझ में नहीं आया। अच्छी चीज़ देखने में अच्छी मालूम होती है, बस ख़तम होगया। क्यों अच्छी मालूम होती है, इस प्रश्न को लेकर वाद-विवाद करने की आवश्यकता ही क्या है? मुझे चुप देखकर उन्होंने कहा—"अच्छा, उसे जाने दो। चन्द्रमा की ओर देखो। उसकी कालिमा कैसी अच्छी जान पड़ती है। बता सकते हो क्यों?"

उनके कहने से मैं चन्द्रमा की ओर देखने लगा। उसकी कालिमा वास्तव में अच्छी जान पड़ रही थी। किन्तु उनके 'क्यों' का फिर भी मुझे कोई उत्तर नहीं सूझा। मैं चन्द्रमा की ओर देखता रह गया।

सामने वनस्थली के भार से लदी हुई एक काली पहाड़ी थी। वह मानों अपने हाथ पसार कर सुनील आकाश से भेंटने का प्रयत्न कर रही थी। चन्द्रमा के साथ साथ उसपर भी उनकी दृष्टि पड़ी। उसे देखकर उन्होंने पुनः कहा—"चाँदनी के अङ्क में घनीभूत कुहासे के समान वह पहाड़ी चन्द्रमा में उसके कलङ्क से भी अच्छी जान पड़ती है। बताओ, क्यों?"

अब की बार मुझे क्रोध आ गया। मैं मानों यह कहने के लिए कि आज उन्हें क्या हो गया है उनके मुख की ओर देखने लगा। वे मेरे मन का भाव समझ न पाकर बोले—"मेरी ओर क्या देखते हो?"

मैंने खीझ कर कहा "तुम्हारे प्रश्न के उत्तर को।"

"वह क्या मेरे मुख पर लिखा है?"

मैंने कह दिया—"हाँ।"

उनकी ज़िद भी अजीब थी।

बोले—"तो फिर बताओ।"

"बताऊँ क्या?" अचानक मेरी दृष्टि उनके कपोल के एक काले तिल पर पड़ी। देख कर मेरा हृदय भीतर ही भीतर उछल पड़ा। मैंने तुरन्त कहा "तुम्हीं बताओ न, तुम्हारे उस स्थान पर यह काला तिल क्यों इतना सुन्दर जान पड़ता है?"

सुनते ही सहसा वे गम्भीर बन गये। ओंठ कुछ फरके। भौंहें कुछ मिलीं। फिर बोले "तो तुम मेरे प्रश्न का उत्तर न दोगे?" मैंने सहसा अपना निश्चय प्रकट किया—"मेरे प्रश्न के उत्तर में ही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।"

कृष्णानन्द गुप्त

साहित्य की दुनिया में—

एक महान् साहित्यकार का अन्त

आधुनिक अंग्रेज़ी साहित्य से जिनका थोड़ा भी परिचय है, उन्होंने एडमण्ड गॉस का नाम अवश्य सुना होगा। दुःख की बात है कि विगत १६ मई को उनका देहान्त हो गया।

श्री गॉस ने ही पहले-पहल भारत-कोकिला श्रीमती सरोजनी नायडू को, उनकी कविताओं की प्रशंसा करके, उत्साहित किया था। वे भारतीय साहित्य के प्रेमी थे। उनका अध्ययन गम्भीर था। यद्यपि उनकी आलोचनायें, वर्तमान समालोचना प्रणाली की कसौटी पर खरी उतरने वाली नहीं पर वे जो लिखते उसमें एक प्रकार का स्वाद अवश्य आता था। वे रचना की तह तक पहुँचते थे और इसीलिए उनसे अनेक प्रसिद्ध लेखक असंतुष्ट भी हो गये थे।

अंग्रेज़ी साहित्य की वर्तमान धारा पर दृष्टि रखते हुए उन्हें 'वर्तमान काल का लेखक' नहीं माना जा सकता। साहित्य-क्षेत्र में वे पुराने विचारों के अनुयायी थे, उनकी शैली पुरानी थी। प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में उनका ज्ञान आश्चर्य-जनक था। अपनी रचना में वे कोई कमज़ोरी न देख सकते थे और जब तक उन्हें सन्देह बना रहता, कभी अपनी रचनाएँ प्रकाशनार्थ न भेजते। वे अपने ढंग के अंग्रेज़ी-साहित्य-संसार में एक ही थे!

'सण्डे टाइम्स' (लन्दन) में प्रसिद्ध आलोचक डेसमोण्ड मैक्कार्थी ने लिखा है—"वे मनुष्य के सच्चे चित्रकार, साहित्यिक उत्क्रांतियों के सच्चे निर्देशक और 'वातावरण' के व्याख्याता थे!" * उनकी कल्पना बहुत विस्तृत और ऊँची होती थी। उनके हृदय पर अनुभूतियों का अधिकार था और सच पूछिये तो वे विवेचक की अपेक्षा कलाकार ही अधिक थे।

यद्यपि श्री गॉस लोकप्रिय न थे पर उनकी कर्तृत्व-शक्ति इतनी विस्तृत थी कि विगत ६० वर्षों का अँग्रेज़ी साहित्य का कोई भी इतिहास उनके उल्लेख बिना अधूरा रहेगा। श्रद्धा का अंश उनमें कम था, विवेचक का अधिक। वे मनुष्य के एक बहुत ऊँचे चित्रकार थे। 'फ़ादर एण्ड सन' में उन्होंने जो आत्म-चित्रण किया है वह अँग्रेज़ी साहित्य की एक अमर सम्पत्ति है। रेशम की भाँति चिकनी और मुलायम उनकी रचनाएँ पढ़ने में एक अपूर्व आनन्द आता है।

दुःख है कि विश्व के साहित्याकाश से टूट कर यह नक्षत्र महाशून्य में विलीन हो गया।

* * *

प्रगतिशील हिंदी-साहित्य

हिन्दी-साहित्य में आज जीवन-तत्त्व जाग्रत हो चुका है। चारों ओर आन्दोलन, संघर्ष जारी है। प्रत्येक समस्या, लोगों का ध्यान अपनी ओर खींच रही है। यह शुभ लक्षण है, जिसे देख आशा होती है कि भारत की राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन हिंदी का साहित्य निकट भविष्य में अपने गौरव के अनुकूल हो सकेगा।

हमारे साहित्य में एक नवीन धारा दिखाई पड़ रही है। कविता, उपन्यास, नाटक सर्वत्र नयी बातें, नयी भावनायें प्रवेश कर रही हैं। माता के पुजारियों का 'नया' युग उपासना में उत्साह और तल्लीनता दिखा रहा है। वयोवृद्ध आदरणीय अग्रों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ है।

नाटक, उपन्यास, आलोचना, कविता सभी विषयों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। नाटक-लेखकों में नवीन हिंदी कविता के जनक 'प्रसाद' जी का नाम उल्लेखनीय है। अजात शत्रु, जन्मेजय का नागयज्ञ, कामना, इत्यादि नाटकों द्वारा उन्होंने हिंदी की श्री-वृद्धि की है। इधर स्कंद-गुप्त नामक उनका एक नया नाटक प्रकाशित हुआ है। 'पल्लव' और 'वीणा' के सुन्दर कवि श्रीसुमित्रानंदन पंत भी एक नाटक लिख रहे हैं। 'अन्तर्जगत' के गायक श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र का 'अशोक' प्रकाशित हो चुका है। वे भी एक सुन्दर नाटक लिख रहे हैं।

उपन्यासों और कहानियों की ओर लोगों का ध्यान तेज़ी से आकर्षित हो रहा है। श्री 'उग्र' राजनीतिक, और 'प्रसाद' जी, श्रीविनोदशंकर व्यास, श्रीकृष्णानन्द गुप्त साहित्यिक कहानियों से हमारा भण्डार भर रहे हैं। सहृदय श्री इला-चन्द्र जोशी ने कुछ समय पूर्व एक उपन्यास लिखने की सूचना की थी। श्री भगवतीप्रसादजी वाजपेयी दो उपन्यास लिख रहे हैं, जिनमें अनेक सामाजिक और मानसिक समस्याओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है। 'प्रसाद' जी ने 'कंकाल' नामक एक बड़ा उपन्यास १०, १५ दिन हुए पूरा किया है। वह उपन्यास, प्रकाशित होने पर, अपनी भाषा और चरित्र-चित्रण द्वारा एक नया आदर्श, साहित्य में उपस्थित करेगा। श्री विनोद शंकर व्यास 'पतितों का देश' नामक उपन्यास लिख रहे हैं। कुमारी तेजरानी दीक्षित बी० ए० का एक उपन्यास—'हृदय का काँटा'—हाल में ही प्रकाशित हुआ है। हिंदी के उपन्यास-क्षेत्र में एक स्त्री का यह प्रथम प्रवेश है और भाव एवं भाषा दोनों की दृष्टि से यह कृति सुंदर हुई है। यह हर्ष और गर्व की बात है कि उपर्युक्त लेखकों और कवियों में से अधिकांश नूतन युग के संदेश में विश्वास रखते हैं।

श्री रामनाथ लाल 'सुमन'

[नोट—प्रत्येक अंक में प्रगति की ऐसी संक्षिप्त सूचनाएँ देने का प्रबन्ध किया गया है। आशा है मेरे स्नेही मित्र और कृपालु लेखक गण अपनी महत्वपूर्ण अप्रकाशित रचनाओं के सम्बन्ध में समय समय पर सूचित करते रहेंगे। 'सुमन']

---

* "He was a painter of portraits, an interpreter of literary epochs, and a definer of atmospheres."

आग्रह

'तेरे घर के द्वार अनेकों,
किससे होकर आऊँ मैं ।'

पगले ! मैंने सुना है कि तू बहुरूपिया है । तेरी, अनेक अवतारों की लीलायें भी बहुत सुनी हैं । किन्तु, कह तो मैं तुझे पाऊं कहां ?

मन्दिरों में जाता हूँ । अनेक प्रकार की प्रतिमायें पाता हूँ और पाता हूँ तेरे पाने के लिये भ्रमोत्पादक और दुस्तर मार्ग । निराश होता हूँ—आशा निराशा में परिणत हो जाती है । मन में सोचता हूँ कि तू कहीं भूल-भुलैया में छुपा बैठा है, तेरा पाना इस जीवन में नहीं हो सकता । यदि तू निराकार है, जैसा मैं कभी-कभी सुन लिया करता हूँ तब तो तेरे पाने की मेरी आशा पर पानी पड़ ही गया ! फिर भी मन नहीं मानता । तेरे पीछे पागल हो रहा हूँ । क्या तू न बतायगा कि तेरा रंग-मंच कैसा और कहाँ है, और तू उसके किस कोने में छुपा बैठा है ?

मैं न तो तेरी उस गीता का ज्ञान चाहता हूँ और न तेरे लम्बे-लम्बे उपाख्यानों का । मैं अज्ञान हूँ, तेरे इन गूढ़ तत्वों को क्या समझ सकूँगा; किन्तु मैं चाहता हूँ तुझे एक बार देखना ।

मैंने सुना है तू पिता है । तब इतनी निठुरता तूने कहाँ सीखी ? मुझे एक बार अपनी गोद में बैठा ले । मैं सोचता हूँ तेरे दाढ़ी भी होगी, मूछें भी होंगी और सर में बड़े बड़े बाल भी होंगे । वे सब बुढ़ापे के कारण सफ़ेद हो गये होंगे । मैं सोचता हूँ, जैसा बहुधा देखा जाता है, तू सफेद कपड़े भी पहिने होगा । पिता ! मेरा यह कलुषित और काला हृदय सफेद होने दे, उसमें भी सफेदी आने दे । मुझे गोद में बैठने दे, अपने उन सफेद बालों को कुतूहल वश नोचने दे । और मुझे क्रीड़ावश मचलने का सुअवसर दे । मैं मचलूँ, तू मना । मैं रोऊं, तू बहला ।

'पगला'

पहला सुख

क्षय और उसका प्रतिबन्ध

आज जो महामारियाँ शनि-रूप होकर हमारे पीछे पड़ी हुई हैं, उनमें क्षय-रोग मुख्य है । कोई इसे तपेदिक़ कहते हैं, कोई राजयक्ष्मा । ट्युबरक्युलोसिस (Tuberculosis) और कंज़म्पशन् (Consumption) इसके अंगरेज़ी नाम है । इसका आरंभ कहाँ से और कब हुआ, यह तो हमें नहीं मालूम; पर इसमें सन्देह नहीं कि इसने ज़ोर पकड़ा है इसी युग में, और आधुनिक उद्योगवाद मानों इसका मौसेरा भाई है । जहाँ-जहाँ उद्योगवाद की पैठ हुई वहीं इसका सिक्का जमता जाता है ।

काम करने से शीघ्र थक जाना, नींद का भलीभाँति न आना, चित्त का चंचल रहना, काम में जी न लगना, एकान्तवास और निठल्ले बैठे रहने को जी करना, घर के कामकाज और कुटुम्बियों के प्रति उदासीनता, सायंकाल ज्वर सा मालूम होना, दिल का बार-बार धड़कना, कंधों व छाती में दर्द होना, ज़रा सा कुछ खाते ही पेट भरा सा मालूम होना या पेट में गड़बड़ रहना आदि इसके प्रारम्भिक लक्षण हैं । बढ़ जाने पर खाँसी बड़ी कष्टदायक हो जाती है, शरीर का वज़न और बल घटने लगता है, सायंकाल ज्वर और रात को पसीना आने लगता है, तथा ज़रा सा कुछ काम करते ही साँस फूल जाता है । यहाँ तक कि होते-होते अन्त में आदमी बिल्कुल निकम्मा ही हो रहता है ।

लगातार खोजों के फल स्वरूप यह तो अब सिद्ध हो

गया है कि यह रोग असाध्य नहीं साध्य है, और उपाय करने पर रोका जा सकता है; साथ ही वंशपरम्परागत भी नहीं। परन्तु फिर भी इसकी भयङ्करता में अणुमात्र सन्देह नहीं। अल्पायु बालकों के लिए तो यह बहुत ही भयङ्कर है, और इसके संक्रामक होने में तो सन्देह ही किसे? इसीलिए छोटे बच्चों को तो क्षयग्रस्त का साया भी ठीक नहीं। युवावस्था में जो इसका भयावह रूप प्रगट होता है, वह बाल्यावस्था की उस बे-अहतियाती या उपेक्षा का ही तो कारण रूप है। सच तो यह है कि सजीव शरीर में यह एक ऐसा घुन है जिसका पता किसी को मुश्किल से ही लग पाता है, पर यह तो अन्दर ही अन्दर चुपचाप उस शरीर का सत्यानाश करता रहता और अन्त में उसे व्यर्थ ही कर देता है! शराबियों को तो इसकी सम्भावना रहती ही है, पर बेचारे अधिक परिश्रम करने वाले और पुष्टिकर भोजन न पाने वाले भी इसकी चपेट से नहीं बचते। यहाँ तक कि कभी-कभी तो अपने मुख्य प्रत्यक्ष चिन्ह खाँसी के बग़ैर भी यह अन्दर ही अन्दर बढ़ता हुआ फेफड़े या अन्य प्रकार के क्षय का रूप धारण कर लेता है! इस प्रकार हमेशा ही हमारे लिए यह भय-रूप बना रहता है।

फिर भारत तो—आज का पराधीन भारत—निर्धन ठहरा, और उसके निवासी दरिद्र के साथ ही अशिक्षित और असंस्कृत या असभ्य। उधर मुसलिम काल के 'सौगात'-रूप पर्दा और बाल-विवाह अलग ही हमारा मानमर्दन कर रहे हैं। ऐसी दशा में क्या आश्चर्य, यदि इस महामारी ने हमें अपना भक्ष्य समझ हमारे ऊपर अपना साम्राज्य फैला लिया? ज़माना भी तो योग्यतम के अस्तित्व (Survival of the fittest) ही का न है? यही कारण है कि आज हमारे यहाँ (भारतवर्ष में) क्षयग्रस्तों की संख्या का न्यूनातिन्यून अनुमान है ६० लाख—अर्थात् कुल जनसंख्या के २ प्रति सैकड़ा व्यक्ति इस महामारी के चंगुल में फँसे हुए हैं! मौतों की संख्या भी कुछ कम नहीं, १२॥ लाख व्यक्ति तो हर साल इसकी भेंट चढ़ ही जाते हैं! फिर समय के साथ यह घट रहा हो सो भी नहीं, इसमें तो अनुदिन वृद्धि हो रही है। ड्यौढ़ा—५० सैकड़ा तो यह गत २० वर्षों में ही बढ़ गया है, जैसा कि हाल में हुई भारत भर की तत्सम्बन्धी सरकारी और ग़ैर सरकारी दोनों प्रकार की जाँचों से ज्ञात होता है। फिर इसकी चिकित्सा की व्यवस्था भी कुछ समुचित नहीं। क्योंकि जैसी इसकी व्यापकता है वह तो ऊपर आ ही गयी; पर चिकित्सा की यह व्यवस्था कि, सरकारी अंकों के ही मुताबिक कुल ६० लाख क्षयग्रस्तों में स्वास्थ्यगृहों में चिकित्सा का इन्तज़ाम है सिर्फ १०० के लिए; और बावजूद इतने अस्पताल और डिस्पेन्सरियों के इलाज तो हर साल होता है (स्थानीय व बाहरी मिला कर) सिर्फ डेढ़ लाख बल्कि उससे भी कम रोगियों का! कहाँ ६० लाख और कहाँ १॥ लाख—तुलना भी करें तो आख़िर कहाँ तक? पर कहें किससे, सरकार तो हमसे भी ज़्यादा न हमारी हितेच्छु है!!!

पर इधर कुछ दिनों से कई महानुभावों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है। राज्य-परिषद् में इस आशय का एक प्रस्ताव भी पास हुआ है कि क्षय के अस्पताल, स्वास्थ्यगृह और क्षय-चिकित्सा के शिक्षणालयों के संबंध में विचार करने के लिए भारत भर के सरकारी व ग़ैर सरकारी प्रतिनिधियों का सम्मेलन किया जाये। सर इब्राहीम हारून-ज़ाफ़र ने बड़ी योग्यता से अंकों द्वारा इसका समर्थन किया है। उनके मतानुसार 'इस महान समस्या का हल तभी हो सकता है जब इसके लिए एक मध्यस्थ संगठन कर दिया जाये जो विभिन्न प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधियों का हो और उन्हीं के सहयोग में कार्य करे।' क्षय-चिकित्सा के अस्पताल तथा स्वास्थ्यगृह बढ़ाये जाने पर आपका ज़ोर है। अलबत्ता इसमें ख़र्च बढ़ेगा; पर रोग निवारण के लिए वह बर्दाश्त किया ही जाना चाहिए। हाँ सार्वजनिक दाता भी उसमें हाथ बटावें यह आपकी इच्छा है। यही नहीं, इस चिकित्सा के लिए कार्यकर्त्ताओं को शिक्षित करने पर भी आपका ज़ोर है और इसके लिए शिक्षित-संस्थाओं की स्थापना का अपने प्रतिपादन किया है। उधर स्वनामधन्य भारतीय विशेषज्ञ डा० मुथ्थू ने तो मानों अपना जीवन ही इसके लिए अर्पण कर दिया है। कई वर्षों से इंगलैण्ड व भारत में वह इसके कारणों और रोग-निवारण के उपायों की खोज में सतत प्रयत्न-शील हैं। यहाँ तक कि इसके फलस्वरूप उन्होंने बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर इस

दिशा में पथ-सम्पादन भी किया है। उनके कथनानुसार पर्दा और बालविवाह, भारतीय समाज में इस महामारी के फैलने के मुख्य कारण हैं। खान-पान में मांस-मदिरादि उत्तेजक चीज़ें तो इसका मुख्य कारण हैं ही, आपके मतानुसार, चावल और पतली दाल का अधिक सेवन भी किसी हद तक इसके लिए दायी है। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में क्षय का जो ज़्यादा ज़ोर है, उसका कारण यही बताया जाता है। अलावा इसके राय बहादुर कप्तान महाराजकृष्ण कपूर एम० डी०, डी० पी-एच० ने भी ('डी० ए० वी० कॉलेज यूनियन मैगज़ीन' में) इसके कुछ कारण बताये हैं जिनसे विद्यार्थी-अवस्था में—में प्रवेश करते ही हमारे बालक इसके चंगुल में जा फँसते हैं। उनका कहना है कि घर पर तो अभी तक वे स्वच्छन्द वातावरण में पले होते हैं, आज़ादी के साथ हँसते-खेलते और खुली हवा-धूप में कूदते-फाँदते रहते हैं; इस अवस्था में प्रवेश करते ही इन सब बातों में एक साथ प्रतिबन्ध लग जाता है—ख़ास कर छात्रावास की स्थिति में तो और भी सबल और एक साथ। वनवासी पशु तक वनस्पति उद्यान में लाये जाने पर ज़रा भी असावधानी होने से जब क्षय के शिकार होजाते हैं, तब ये तो सभ्य वातावरण के रहने और मनुष्य-शरीर धारण करने वाले ठहरे; अतः यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी अवस्था में प्रवेश करते ही इन प्रतिबन्धों तथा आस-पास के भयपूर्ण वातावरण और इमारतों के कुढंगेपन एवं कमरों में छात्रों के संख्याधिक्य से यह रोग उनपर अपना धावा बोल देता है। इसीलिए आपके कथनानुसार वांछनीय तो यह है कि प्रथम इमारतों तथा कमरों में बालकों के संख्याधिक्य के कुढंगेपन को दूर किया जाय, बालकों की स्वच्छन्दता पर एकदम ताला न ठोक कर शनैः शनैः और बड़ी आहिस्तगी के साथ उन्हें ढंग पर लाने का काम किया जाय साथ ही वातावरण भयपूर्ण के बजाय प्रेममय रखने का प्रयत्न हो। यह है भी ठीक, परिवर्त्तन एक साथ न हो दर्जा ब-दर्जा हो तो होना चाहिए।

अस्तु, यह सब बातें तो विचारणीय हैं ही; पर शिकागो के (अमेरिका) म्युनिसिपल सैनिटोरियम ने इस सम्बन्ध में जो कुछ उपयोगी सूचनायें निकाली हैं, वे ख़ास तौर पर उपयोगी हैं। जैसे—

(१) पेटेण्ट दवाओं का सेवन मत करो।

(२) क्षयहारी दवाओं के चक्कर में मत पड़ो।

(३) क्षय की शर्तिया दवा आज तक नहीं मिली है, यह याद रक्खो।

(४) इलाज अपने परिचित या बड़े चिकित्सक का ही कराओ।

(५) भूख से ज़्यादा मत खाओ। सरलता से जितना पच सके उतना ही खाओ।

(६) भोजन नियमित समय पर और पेट को देख कर करो।

(७) पाचनशक्ति को दुरुस्त रक्खो।

(८) चबा चबा कर खाओ।

(९) शरीर के अन्य अवयवों की भाँति पाचनशक्ति को भी बीच-बीच में आराम दो अर्थात् उपवास करते रहो।

(१०) बार-बार मत खाओ; इससे हाज़मा कमज़ोर होता है।

(११) अरुचिकर अर्थात् जिसे खाने से तुम्हें प्रसन्नता न हो ऐसा, भोजन मत करो।

(१२) अण्डे खाते हो तो, दिन भर में एक दो से ज़्यादा कभी मत खाओ।

(१३) भोजन के साथ थोड़ा दूध पिया करो।

(१४) किसी प्रकार की चरबी मत खाओ।

(१५) मक्खन खाओ, बड़ा फ़ायदेमन्द है।

(१६) थूक में क्षय के कीड़े होते हैं, अतः घर के आसपास या फ़र्श अथवा दीवारों पर न थूक कर काग़ज़, रुमाल या कपड़े पर थूको और फिर उन्हें जला दिया करो।

(१७) पीकदान में थूकना हो तो उसमें कार्बोलिक एसिड और पानी (अनुपात १:२० चम्मच) डाले रहो तथा दिन में दो बार गरम पानी से उसे साफ़ किया करो।

(१८) खाँसते-छींकते वक्त मुँह के सामने रूमाल लगाओ, जिससे क्षयाणु इधर-उधर न फैलें, और उसे खौलते हुए पानी में धो लिया करो।

(१९) किसी का चुम्बन मत लो, ख़ासकर बच्चों को कभी मत चूमो; इससे क्षय के कीड़े उनमें प्रवेश करते हैं।

(२०) ज़्यादा से ज़्यादा आराम करो।

(२१) जहाँ तक हो सके घर के बाहर खुली हवा में

अथवा बरामदे में ही रहो। चलने-फिरने या बैठे रहने से लेटे या सोते रहना ज्यादा अच्छा है। ज्वर हो तब तो पूर्ण विश्राम करो।

(२२) नहाओ रोज़। ज्वर हो तो गरम पानी में कपड़ा भिगो कर ही सही, पर नागा न हो।

(२३) अन्धेरे और कम हवादार मकान में न रहकर खुब और हवादार जगह में रहो।

(२४) दूसरों को इससे बचाये रखने के लिए, इधर-उधर सारे घर में घूमने के बजाय, अपने ही कमरे में रहो।

(२५) अपने भोजनादि के बर्त्तन धोने से भी घर के और बर्तनों में मत मिलने दो और अपना जूठा किसी को मत खाने दो।

(२६) इस बात का ख़याल रक्खो कि उपर्युक्त नियमों का पालन करने और बच्चों को अपने सहवास से अलग रखने से ही इसका प्रतिबन्ध तथा इसके लक्षण दिखाई देते ही इलाज कराने और शान्ति, आराम, उत्तम भोजन, ताज़ा व शुद्ध हवा का प्रबन्ध करने पर ही यह रोग दूर हो सकता है।

जो इस महामारी के चंगुल में फँस चुके या फँसने की दिशा में हैं, वे, इन सूचनाओं पर ध्यान दें तो, क्या कुछ लाभ न उठायेंगे?

मुकुट

तम्बाकू

(शेषांश)

इंग्लैण्ड के सब से नामी वैज्ञानिक और चिकित्सक—डाक्टर बी० डबल्यू० रिचर्डसन ने तम्बाकू पीने से निम्न-लिखित हानियाँ बताई हैं—

(१) रक्त बहुत पतला हो जाता है और लाल रक्त-कणों में परिवर्तन हो जाता है।

(२) पक्वाशय की कार्यकारिणी शक्ति क्षीण होजाती है; इससे निर्बलता आती और जी मचलता है।

(३) दिल और फेफड़े कमज़ोर हो जाते हैं वे नियमित रीति से काम नहीं करते।

(४) ज्ञानेन्द्रिय में क्षीणता आती है। आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं और आँखों के नीचे काला-पीला दिखाई देता है। कानों से स्पष्ट सुनाई नहीं देता, कई प्रकार की आवाज़ें सुनाई देती हैं।

(५) मस्तिष्क के पोषण और मल निकलने में बाधा पहुँचती है।

(६) शरीर की नाड़ियाँ शिथिल पड़ जाती हैं अतः रक्त पिण्डों से रक्त पैदा करने के लिए, जिन पर उनका पूरा प्रभाव रहता है, पर्याप्त शक्ति नहीं रहती।

(७) मुँह की कला में गड़बड़ पैदा होती है। गले की कौड़ी बढ़ जाती है और उसमें जख़्म पैदा हो जाता है। कला लाल, खुश्क होती और कभी-कभी छिल जाती है। मसूड़ों में छेद हो जाते हैं, वे सिकुड़ जाते हैं तथा कमज़ोर पड़जाते हैं। मुँह से बास आती है और दाँतों में मैल जम कर वे जल्दी गिर जाते हैं।

(८) फेंफड़ों (Bronchial surface) में बाधा पहुँचती है, उनमें उत्तेजना होती है और कफ़ बढ़ता है।

नाकटाइन से रक्त-कणों को जो हानि पहुँचती है वह अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा किसी पुराने तम्बाकू पीने वाले के रक्त में देखी जा सकती है। इसके विषय में डा० रिचर्डसन कहते हैं:—

"तम्बाकू का व्यवहार करने वालों की बाहरी त्वचा प्रायः ज़र्द और सूजी हुई मालूम पड़ती है। अणुवीक्षण यंत्र से देखा गया है कि तम्बाकू सेवन करने वालों के रक्त-कणों का गोलों-सा आकार नष्ट हो गया है, वे चपटे हो गये हैं, उनके सिरे निकल आये हैं, और आपस में एक दूसरे से सटे रहने के बजाय अलग-अलग हो गये हैं। तम्बाकू का विष माँस पर प्रभाव डालता है, पाचन-शक्ति को बिगाड़ देता है, स्वाद और घ्राण की शक्ति को क्षीण कर देता है, रक्त को बिगाड़ता है, मस्तिष्क में विकार उत्पन्न करता है, दिल की नाड़ियों को उत्तेजित करता है, पट्ठों को बरबाद कर देता है, यकृत की गति में रुकावट डालता है, दृष्टि को निर्बल करता है और प्रत्येक मांस-तन्तु और इन्द्रिय को हानि पहुँचाता है। तम्बाकू सेवन का अर्थ जीवन-ज्योति को क्षीण करना, ज्ञान-शक्ति को नष्ट करना, आयु को घटाना और शरीर का अन्त करना है।"

उक्त डाक्टर साहब के शब्दों में—"स्त्री-पुरुषों के बड़े समुदाय को बचपन से ही तम्बाकू का पूर्ण प्रेमी बनाओ। अनन्तर उन स्त्री-पुरुषों को विवाह सूत्र में बाँध दो और देखो कि उनके द्वारा कैसी अयोग्य संतानें उत्पन्न होती हैं।"

अब हम तम्बाकू की हानियों का सविस्तर वर्णन करते हैं।

तम्बाकू पीने से गले में घाव हो जाते हैं।—तम्बाकू के ज़हरीले गरम धुएँ से मुँह और गले की चिपचिपी झिल्ली (कला) पर अरुणता और नीरसता उत्पन्न होती है। धूम्रपान-प्रेमियों का कथन है कि तम्बाकू से गला साफ़ होता है। यदि गले में घाव हो गया हो तो तम्बाकू से कुछ देर के लिए साफ़ हो जाता है। परन्तु तम्बाकू से गले का घाव आराम नहीं होता बल्कि बढ़ता है।

तम्बाकू और क्षय—दूषित वायु में साँस लेने से फेफड़ों का रोग तथा क्षय रोग हो जाते हैं। तम्बाकू का विषमय धुँआ रक्त तथा फेफड़ों में प्रवेश करके क्षय रोग उत्पन्न कर देता है। विलायत के 'मेट्रोपोलिटन फ्री हास्पिटल' के प्रधान डाक्टर इसकी पुष्टि में 'पब्लिक हेल्थ' नामक पत्र में लिखते हैं—"युवकों में क्षय रोग बहुधा तम्बाकू पीने से हो जाता है।"

तम्बाकू दिल की बीमारी का एक कारण है—नाड़ी से दिल की दशा का परिचय होता है। तम्बाकू पीने वाले की नाड़ी से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि उसका दिल निर्बल हो गया है, उसकी गति में विकार उत्पन्न हो गया है, *अर्थात् दिल भी तम्बाकू के बुरे असर से बचा हुआ नहीं* है। तम्बाकू-सेवन से अकसर दिल धड़कने की बीमारी (हृत्कम्प; इख़्तलाज़-ए-क़ल्ब) हो जाती है।

तम्बाकू और अजीर्ण—बहुत लोग समझते हैं कि तम्बाकू से पेट के रोग दूर होते हैं। परन्तु वास्तव में इससे प्रायः अजीर्ण रोग हो जाता है। तम्बाकू के व्यवहार से आमाशय की क्रिया शिथिल पड़ जाती है, और आमाशय में इसका उत्पादन बहुत कम होता है। तम्बाकू के सेवन से भूख शान्त हो सकती है। यद्यपि शरीर को भोजन की आवश्यकता रहती है किन्तु तम्बाकू के अचेतन प्रभाव से भूख मर जाती है इससे पचनेन्द्रिय की दशा बिगड़ जाती है और अजीर्ण जैसा रोग घर दबाता है।

तम्बाकू केन्सर (Cancer) का एक कारण है—तम्बाकू से बहुधा केन्सर रोग हो जाता है। खाने पीने से गाल, ओंठ और जीभ में केन्सर रोग प्रकट होता है। केन्सर एक असाध्य रोग है। भारतवर्ष में यह रोग प्रायः तम्बाकू खाने से और विलायत में मिट्टी के हुक्के—Claypipe—से तम्बाकू पीने से हो जाता है।

तम्बाकू से लकवे की बीमारी हो जाती है—तम्बाकू के सेवन से शरीर की नाड़ियाँ और पुट्ठे निर्बल हो जाते हैं। नाड़ियों और पुट्ठों की अशक्तता ही लकवे की बीमारी बन जाती है।

नसों की कमज़ोरी—जो लोग तम्बाकू खाते, पीते या सूँघते हैं उनकी वात-रज्जु अधिकतर निर्बल हो जाती है। जल्दी उत्तेजित हो उठना, सहज ही भयभीत हो जाना, हाथ काँपना इत्यादि का आविर्भाव होता है। तम्बाकू के इस्तेमाल के थोड़ी देर बाद ऐसा मालूम होता है कि नाड़ियों में शक्ति आ गई है परन्तु वास्तव में बात उलटी ही है। तम्बाकू का व्यवहार अप्राकृतिक है और मनुष्य के शरीर के संगठन के अनुकूल नहीं है।

तम्बाकू का प्रभाव सन्तान पर भी पड़ता है—डा० पिडका का कथन है—"जो मनुष्य तम्बाकू के व्यसन में लिप्त रह कर अपने स्वास्थ्य तथा अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास करने पर कमर बाँधता है उसके दुर्गुण के प्रभाव का अन्त उसके शरीर के साथ ही हो जाय तो कोई बात नहीं। किन्तु ऐसा नहीं होता। तम्बाकू के व्यवहार का प्रभाव सन्तान पर भी पड़ता है। तम्बाकूबाज़ों की सन्तान की रोगी प्रकृति, असामयिक मृत्यु, नाटा क़द क्षय और उन्माद आदि रोग उनकी (माता-पिता की) तम्बाकू जनित निर्बलता और अस्वस्थता के पर्य्याप्त प्रमाण हैं।

इस लेख में वर्णित रोगों के अतिरिक्त और भी अनेक रोग मानव शरीर को तम्बाकू के कारण जर्जरित करते हैं। तो भी हमें आशा है कि यह छोटा सा लेख यह सिद्ध करने में सफल हो सकेगा कि तम्बाकू-सेवन किसी भी दशा में लाभदायक नहीं। जो युवक तम्बाकू खाने-पीने की आदत डाल रहे हैं उनको इसके दोष जान कर सावधान हो जाना चाहिए।

तम्बाकू के दुर्व्यसन से छुटकारा पाने का उपाय यही है कि उसे एक बारगी छोड़ दो। शनैः शनैः छोड़ना केवल मन बहलावा है, और शनैः-शनैः छोड़ने का पथ बड़ा दुस्तर है। यह समझना ग़लत है कि एकदम तम्बाकू छोड़ देने से जान के लाले पड़ जावेंगे। चाहे इसमें कुछ तकलीफ़ और असुविधा मालूम हो परन्तु इससे जीवन के लिए कोई भय नहीं है। जेल में पहुँचते ही क़ैदियों से तम्बाकू छुड़ा दी जाती है, उनको कोई भी शारीरिक हानि नहीं होती वरन् समयान्तर में लाभ ही पहुँचता है।

महात्मा गाँधी कहते हैं—

"चुरुट का ख़र्च कुछ साधारण ख़र्च नहीं। कितने ही मनुष्यों का ख़र्च ७५) रु० मासिक से भी अधिक हो जाता है, ऐसे उदाहरण स्वयं देखे हैं। भारतवर्ष के ३२ करोड़ मनुष्यों में से यदि कम से कम सात करोड़ भी इसको सेवन करने वाले मान लिये जाँय और उनमें से प्रति मनुष्य का ख़र्च अगर ॥) प्रति मास भी मान लिया जाय तो सालाना ख़र्च कम से कम बयालीस करोड़ रुपये होते हैं और पेटियों का ख़र्च अलहदा। यदि इतना द्रव्य, अपने उन भाइयों को, जिनको पूरी ख़ुराक़ भी नहीं मिलती है, दिया जाय तो कैसा?"

क्या हमारे तम्बाकू-सेवी पाठक, तम्बाकू के दुर्गुणों पर ध्यान देने की कृपा करेंगे?

श्रीनिवास शर्मा

नीर-क्षीर-विवेक

[समालोचना के लिए प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियां आना आवश्यक है। एक प्रति आने पर आलोचना न हो सकेगी। प्रत्येक पुस्तक का साहित्य-सत्कार तो उसी अंक में हो जाया करेगा—आलोचना, यदि हुई तो, सुविधानुसार बाद में होगी।]

मानसी

संग्रहकर्त्ता—श्री गोपाल नेवटिया। प्रकाशक—हिंदी-मंदिर, प्रयाग। पृष्ट-संख्या ८२, मूल्य ॥); छपाई—सफ़ाई प्रशंसनीय।

प्रस्तुत संग्रह में पं० रामनरेशजी त्रिपाठी की पचास कवितायें हैं। ये ईश्वर-भक्ति, देश-भक्ति, मनोविनोद, और भावुकता की दृष्टि से पठनीय हैं।

कवि की ईश्वर-भक्ति में उत्पीड़ित जनों के दुःख दर्द को भरपूर स्थान मिला है। देखिये ये पंक्तियाँ कितनी सहानुभूतिपूर्ण और सत्य हैं—

(१) तू आह बन किसी की मुझ को पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में॥

* * *

मैं सोचता तुझे था रावण की लालसा में।
पर था दधीचि के तू परमार्थ-रूप तन में॥
('अन्वेषण', पृ० १२)

देश-भक्ति-संबंधी रचनाओं में ज्ञान का दण्ड, कामना, वह देश कौन-सा है? आह्वान, दीपक तथा विधवा का दर्पण उल्लेखनीय हैं। इनमें भी 'विधवा का दर्पण' में कवित्व का मेल राष्ट्रीयता से खूब हुआ है। पढ़ते-पढ़ते करुणार्द्र हृदय की भावनायें आँखों को भी तर कर देती है।

मनोविनोद-संबंधी रचनाओं में चंद, मनुष्य, पशु, मारवाड़ी, नानी का घर, कुछ देश भक्तों के गुण, हैट के गुण, उल्लेखनीय हैं। वर्तमान पत्रों में जो मनोरंजन के पद्य लिखे जाते हैं, उनमें हँसी का पुट तो होता है, किन्तु वे अंतः सार-शून्य होते हैं। त्रिपाठी जी के मनोविनोदपूर्ण पद्यों को पढ़कर हृदय में हँसी और शिक्षा—दोनों का उदय होता है।

कुछ प्रेम-संबंधी रचनायें भी हैं। जिनमें 'स्मृति' और 'प्रियतम' में कवि के प्रेमार्द्र भावुक हृदय का सरस परिचय मिलता है। किन्तु, 'श्याम की शोभा,' 'आँखों का आकर्षण' 'चितवन का जादू,' 'विरहिणी,' शीर्षक रचनाओं में जो कुछ कहा गया है, वह प्राचीन कवियों ने अपने पद्यों में खूब कह दिया है। इनमें नवीनता नहीं।

यहाँ भाषा और भाव की दृष्टि से 'पश्चात्ताप' और 'पुष्प-विकास' नाम की कवितायें विशेष विवेचनीय हैं। 'पश्चात्ताप' में कवि ने बालपन को सायंकाल, यौवन को अर्धरात्रि, और श्वेत-केश-मय वार्धक्य को उज्ज्वल प्रभात बतलाया है। इस रचना के सम्बन्ध में 'माधुरी' और 'सरस्वती' के किसी अंक में वाद-विवाद भी हो चुका है। जिस तर्क से जीवन के इस क्रम-विकास का समर्थन 'सरस्वती' में किया गया है, उसे 'परिचय' में श्री गोपाल नेवटिया ने उद्धृत कर, उसका अनुमोदन किया है। किंतु वह कुछ युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। क्रम-विकास की दृष्टि से प्रभात पहले आता है, तब सायंकाल। जीवन में भी बचपन पहले आता है, तब कहीं बहुत पीछे वार्धक्य। अर्धरात्रि को यौवन बताना भी ठीक नहीं, कारण यौवन में वह निस्तब्धता और शांति नहीं रहती जो अर्धरात्रि में। प्रभात की सुख, श्री, शीतलता, बचपन में दीख पड़ती; मध्यान्ह का उत्ताप, उन्माद, उन्मेषण, और प्रस्फुरण—यौवन में प्रकट होता; तथा सायंकाल की नीरसता उदासीनता, फिर शांति—वार्धक्य में अंकित होती तो क्रम ठीक बैठता। कवि ने बुढ़ापे के सफ़ेद बालों को उज्ज्वल किरणें बताने के लिए ही प्रभात की कल्पना की है। किन्तु, प्रभात की किरणों में जो संजीवनी है, वह सफ़ेद बालों में कहाँ!

'पुष्प-विकास' में कवि की सूझ अनूठी है, किन्तु भाषा का निर्वाह अच्छा नहीं हुआ है। देखिये, यह लाइन कितनी खटकती है—

"एक दिन मोहन प्रभात ही पधारे, उन्हें
देख, फूल उठे हाथ-पाँव उपवन के।"

पढ़ने से अपने आप नहीं ज्ञात होता कि उपवन के हाथ-पाँव क्या हैं। श्री श्रीगोपाल नेवटिया ने 'परिचय' में बतलाया है कि, लता-द्रुमादि ही उपवन के हाथ-पाँव हैं। किन्तु, लताद्रुमों को उपवन के हाथ-पाँव बताना क्लिष्ट एवं कठोर कल्पना जान पड़ती है। आनंद से हाथ-पाँव फूल उठना भी ठीक नहीं। कारण, हाथ-पाँव, भय और आतंक से फूल उठते हैं, प्रसन्नता से नहीं।

'मानसी' की एकाध रचनाओं में मुझे भाव-साम्य दीख पड़ा है। कवि की एक कविता है—'रहस्य'। उसकी इन पंक्तियों को देखिये—

"कौनसा सँदेशा पौन कहता प्रसून से है
खिल उठता है मुख जिससे सुमन का।
कौन से रसिक को रिझाती है सुधा के गान
कौन जानता है भेद कोयल के मन का।"

इसके बाद, श्री मदनमोहन मिहिर-लिखित 'जिज्ञासा' नाम की कविता की इन लाइनों पर ध्यान दीजिये—

"किस का संदेशा आकर कहते प्रसून से हैं?
क्यों फूल-फूल उठता, उड़ती सुगंध क्यों है?"

"शृंगार प्रकृति रचकर प्रतिक्षण नवीन अपना
किसको रिझा रही है? वह कौनसा रसिक है?"
"अथवा कहीं पिकी जब करती कुहू-कुहू है,
तब अर्थ कौन है उस संगीत का समझता?"

मिहिर जी की यह कविता, त्रिपाठी जी की 'कविता-कौमुदी' (द्वितीय भाग) में, अंतिम पृष्ठ पर संगृहीत है। इन दोनों रचनाओं में इतनी समानता है कि, दोनों एक दूसरे की 'फोटो' कही जायँ तो आश्चर्य नहीं।

जो हो। 'मानसी' की ध्वनि में अपना हृदय, मिला देने पर हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि त्रिपाठी जी की रचनायें प्रायः सरल एवं सुबोध हैं। उनके भावों में सर्वसाधारण का हृत्स्पन्दन है। उनका यह संग्रह प्रत्येक विचार के काव्य-प्रेमियों द्वारा अपनाये जाने योग्य है।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

संलाप

लेखक—राय कृष्णदास। प्रकाशक साहित्य सदन चिरगांव (झांसी) पृष्ठ० सं० ६० । मू० ।≈)

राय साहब हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक और भावुक कवि हैं आपकी रचनाओं की विशेषता है, उनकी सुरुचि, देश-प्रेम, और भावुकता ! प्रस्तुत 'संलाप' भी इस बात का अपवाद नहीं है । इसमें 'समीर और सुमन', 'हीरा और कोयला', 'सागर और मेघ', 'शुक और कपोत' तथा 'उर्वशी और अर्जुन', अपने-अपने हृद्‌गतभावों को बड़े अच्छे ढंग से एक दूसरे को सुना रहे हैं। इस 'संलाप' में सरसता और सहानुभूति है, व्यंग और वीरता है संयम और सहृदयता है । और खोजने वाले को इसमें और भी बहुत कुछ मिल सकता है—जैसे देश की लाचारी पर खून के दो आँसू और प्रलोभनमयी कामुकता पर मानवी संयम की गौरव-पूर्ण विजय ।

जिन पाठकों को देश की दयनीय विवशता और दुर्दशा का शब्दचित्र पढ़ना हो उन्हें रायजी के 'शुक और कपोत' संलाप को अवश्य पढ़ना चाहिए। पाश्चात्य सभ्यता का सब ओर से अनुकरण करने वाले अदूरदर्शी भारतीय भाई-बहन अगर रायजी की इस मानसिक कृति, शुक की इस मूक वेदना, से कुछ सीख सकें तो अवश्य सीखें ।

मानवता के गौरव और मर्त्यों की महत्ता का मनन करने के लिए पाठक उर्वशी और अर्जुन' के संलाप को अवश्य पढ़ें, 'समीर और सुमन', 'हीरा और कोयला',सागर और मेघ' भी अपने ढंग के अनूठे संलाप हैं । पर हमें तो पूर्वोक्त दो खूब पसंद आये ।

आशा है, सहृदय हिन्दी-नवयुवक-समाज रायजी की इस कृति का समुचित आदर करेगा ।

पुस्तक की छपाई सफ़ाई सुन्दर और सादगी से परिपूर्ण है । और कागज बढ़िया । काशीनाथ त्रिवेदी

धर्म दिवाकर

लेखक—पं० रामवचन द्विवेदी। प्रकाशक—राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया । पृ० सं० ६४, मूल्य ।)।

इस पुस्तक में हिन्दू-जीवन (दिन-चर्या) का क्रम, हिन्दू-धर्म के बड़े-बड़े सिद्धान्त, *हिन्दूधर्म शास्त्र*, ईश्वर, अवतार आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । अन्त में ईश्वर-भक्ति विषयक तथा भारतवर्ष सम्बन्धी कुछ पद्य भी दिये गये हैं । कृष्ण

विचार कुसुमाञ्जलि

लेखक—बदरीदत्त जोशी । प्रकाशक—वही । पृ० सं० १३० । मूल्य ॥≈)

प्रस्तुत पुस्तक में जोशीजी ने अपने विचार-कुसुमों को बड़ी योग्यता पूर्वक सँवारा है । देश के नवयुवक हृदयों को इस अञ्जलि के सौरभ से लाभ उठाना चाहिए । छोटे-बड़े सब मिला कर १३ सुरम्य कुसुमों की, विचार जगत में क्रान्ति करने वाली, यह कुसुमाञ्जलि साहित्य के भण्डार की एक शोभा है । इसमें मनुष्यता का आदर्श, धर्मवाद की मौढ़ता, धर्म और समाज, धर्म और मतवाद, सामाजिक संगठन, व्यक्ति और समाज, राष्ट्रवाद, जातीय आदर्श, शिक्षा का महत्व, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रभाषा, भारत का भविष्य और संसार का भावी धर्म जैसे एक से एक नवयुवकोपयोगी एवं राष्ट्रहित-वर्द्धक-विषयों पर लेखक के सुलझे हुए, प्रामाणिक सुरुचिपूर्ण और गम्भीर तथा उपदेश पूर्ण विचार समाविष्ट हैं । पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से उपादेय और संग्रहणीय है । देश को स्वतंत्र विचारों का प्रचार करने वाली ऐसी पुस्तकों की ज़रूरत है । इन विचारों में मतभेद हो सकता है, लेकिन इनकी उपयोगिता और आवश्यकता में कोई सन्देह नहीं कर सकता। आशा है ? हिन्दी-संसार जोशीजी की इस पुस्तक का समुचित आदर करेगा ।

काशीनाथ त्रिवेदी

साहित्य सत्कार

मराठी

१—*भारतीय नाट्यशास्त्र*—लेखक—कुमारी गोदावरी वासुदेव केतकर । प्रकाशक—वासुदेव परशुराम केतकर—चिपळूण, जि० रत्नागिरी । पृष्ठ संख्या ३५४, मूल्य ४) ।

हिन्दी

२—आगरा प्रान्त का लेनान्निवास सम्बन्धी क़ानून—अनुवादक—श्री० झुंडीलाल गुप्त उरई । प्रकाशक—रमेशचन्द्र भदर्स उरई । पृष्ठ-संख्या ३२३, मूल्य २) सजिल्द २।) ।

३—*समन्वय*—*श्री भगवानदास के कुछ लेखों और व्याख्यानों का संग्रह* । प्रकाशक—*भारती-भण्डार काशी* । पृष्ठ-संख्या, ४०७, मू० ३) सजिल्द ।

४—मारवाड़ राज्य का इतिहास—लेखक—विद्याविनोद श्री जगदीशसिंह गहलोत एम० आर० ए० एस० (लण्डन)। प्रकाशक हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, जोधपुर। पृष्ठ-संख्या ५८२, द्वितीय संस्करण मू० २॥)

५—आरोग्य-सूत्रावली—कविराज प्रतापसिंह तथा शिवनारायण मिश्र भिषक् रत्न। प्रकाशक—व्यवस्थापक-प्रकाश पुस्तकालय तथा प्रकाश आयुर्वेदीय औषधालय, कानपुर पृष्ठ० सं० ४७, मूल्य छः आना।

६—ग्रामसुधार—लेखक—श्री गिरिवरधर वकील समस्तीपुर। लेखक से ही प्राप्त हो सकती है। पृ० सं० १६२, मूल्य ॥)।

७—शिक्षादान—लेखक—स्वर्गीय पण्डित बालकृष्ण भट्ट। प्रकाशक—एल० के० भट्ट, अहियापुर प्रयाग। दूसरा संस्करण। पृ० सं० ६३, मू० ।=)।

सुबोध ग्रन्थमाला कार्यालय, रांची की पुस्तकें

८—हिन्दी उत्तर-राम चरित—लेखक—श्री० अ० रामदासराय और बाबू वीरेश्वरनाथराय, बी० ए० एल० एल० बी०। प्रकाशक—पण्डित गौरीशंकर शर्म्मा। पृ० सं० १०६, मू० ॥)।

९—यज्ञफल (महाकवि भास प्रणीत नाटक का हिन्दी अनुवाद)—अनुवादक—श्री० अध्यापक रामदासराय। प्रकाशक—वही। पृ० सं० २०, मू =)।

१०—दूतवाक्य—अनुवादक—श्री० अ० रामदासराय और पाण्डेय संजीवनराय। प्रकाशक—वही—पृ० सं० २०, मू० =)।

११—मध्यम व्यायोग—अनुवादक—श्री० अ० रामदासराय। प्रकाशक—वही पृ० सं० १९, मू० =)

१२—मनुकालिक ब्रह्मचारी—रचयिता—श्री० अ० रामदासराय 'काव्यतीर्थ'। प्रकाशक—वही—पृ० सं० ३२, मू० ।)।

पत्र-पत्रिका

गुजराती

१—बालमित्र (मासिक)—संपादक—श्री० चन्द्रशंकर मणिशंकर भट्ट। प्रकाशक—आणंद चणोतर एज्युकेशन सोसायटी—आणंद (गुजरात)। वा० मू०, लिखा नहीं।

विश्व दर्शन

विनाश की बाज़ी

दुनिया किधर दौड़ी जा रही है, यह समझ में नहीं आता। यह कहना भी कठिन है कि जिस प्यास से विश्व की आत्मा आज छटपटा रही है, जो चिनगारियाँ खून के छींटे दे देकर, ग़रीबों की हड्डियों के ईंधन में आज जलाई जा रही हैं, वे आग लगाकर तमाशा देखने वालों को कब तक अछूता छोड़ रखेंगी। किंतु इतना सत्य है कि मानवता के कलेजे में आग लग गयी है; वह छटपटा कर, निराश होकर इधर उधर दौड़ रही है, रक्षा का कोई उपाय उसे सूझता नहीं। विनाश का आकर्षण इतना बढ़ गया है कि समझते सब हैं, और बहुत से तो देख भी रहे हैं कि महाप्रलय लम्बी टाँगें बढ़ाये चला आ रहा है पर हटने का मन नहीं करता। मंत्र-मुग्ध प्राणी की भाँति, उन्मत्त पतंग के सदृश, सब उस लपट में जल मरने को बढ़े चले जा रहे हैं। एक प्रकार का नशा, एक तरह का पागलपन सब पर सवार है। कोई समझाता है, रोकता है तो लोग क्षण भर को खड़े हो जाते हैं और उसकी ओर इस तरह देखते हैं जैसे वह उनकी दुनिया में घुस आने वाला कोई विचित्र प्राणी हो। उसकी बातें, कभी-कभी सुनी भी जाती हैं पर किसी को अपने कानों पर विश्वास नहीं होता, किसी के दिल में बात नहीं बैठती। सब सोचते हैं कि कहीं इसकी नीयत में

हमें ही हड़प लेने की न हो। दौड़ते-दौड़ते सब थक गये हैं—कोई-कोई दूसरों को पुकार कर कहते भी हैं 'कि क्यों भाई! कहाँ बढ़े चले जा रहे हो; आगे बारूद की खानें हैं। उनकी शांति में विघ्न डालोगे तो वह ज्वाला उठेगी जो सारे संसार को अपनी लपटों के पेट में निगल जाय,'—पर स्वयं आगे दौड़े चले जा रहे हैं। कोई खड़ा होकर, शांत चित्त से सोचना नहीं चाहता कि इस मूर्खता का अंत क्या होगा?

* * *

देशभक्ति के नाम पर बहुतेरे राजनैतिक मदारी विश्व के राजपथ पर विनाश की होड़ का यह नाटक चला रहे हैं। कई बार अभिनेताओं के बीच, खेलते खेलते, अभिनय में तलवारें खनक चुकी हैं पर पता नहीं कि दुनिया के करोड़ों असहायों का रक्त चूस कर, उन्हें कंकालों का रूप देने वालों की यह विनाश-लीला कब ख़त्म होगी? आज राष्ट्र के नाम पर ही राष्ट्र नष्ट किये जा रहे हैं। राष्ट्र को कल्पित गौरव-वृद्धि के झूठे सपने दिखा-दिखाकर कुछ लोग सैनिक शासन-दण्ड चला रहे हैं। कोई युद्ध नहीं, कोई बात नहीं पर अपनी अकड़, अपनी शान के लिये, बच्चों के पेट काट कर, मांओं के स्तनों का दूध सुखाकर सेनायें बढ़ाई जा रही हैं। एक ओर कहा जाता है कि दुनिया में शांति-स्थापन के लिये सैनिक भय दूर होने की ज़रूरत है, सैनिकता की बढ़ती हुई ज्वाला रुकनी चाहिए। इसके लिए प्रस्ताव होते हैं, बात-चीत चलायी जाती है पर सारा आदर्श ज़बानी जमाख़र्च तक ही सीमाबद्ध रहता है। छोटे, शक्तिहीन और परतंत्र देशों को धोका देने के लिये ख़ून के प्यासे ये योद्धा ही यह सब करते हैं पर नक़ली अभिनय में भी सफलता नहीं होती।

कितनी बार शांति-स्थापनार्थ उद्योग किये जा चुके हैं पर ये उद्योग झूठे थे,—दिखाने के लिये थे, अतएव कभी उनमें सफलता प्राप्त न हुई। किसी की इच्छा भी न थी कि सफलता होती। यह तो एक परदा खड़ा किया जा रहा था जिसकी आड़ में पवित्रता की दोहाई देकर ज़रूरत पड़ने पर नंगा नाच नाचा जा सके।

अभी बहुत दिन नहीं हुए जब शांति-परिषद् की बैठक में रूसी प्रतिनिधियों ने पूर्ण निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक योजना पेश की थी। उस योजना को अव्यावहारिक कह कर उसकी ख़ूब हँसी उड़ाई गई। फिर इनकी नीयत का पर्दा फ़ाश करने के उद्देश्य से योजना में परिवर्तन करके उसे व्यावहारिक रूप में उपस्थित किया गया; फिर भी अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस और इटली के इस 'ब्रिटेन-प्रधान गुट' को उसकी बातें प्रिय न लगीं। मामला वहीं रह गया।

तब से कई बार ऊपर से चेष्टायें की गयीं और हाल में संयुक्त राज्य अमेरिका के श्री. केलाग के प्रयत्न से आठ दस राष्ट्रों ने—जो कतिपय साम्राज्यवादी राष्ट्रों के गुट्ट, 'राष्ट्र संघ' के सदस्य हैं—शांतिविषयक एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने की बात स्वीकार करली। विगत २७ अगस्त को इन राष्ट्रों के हस्ताक्षर भी हो गये।

एक ओर यह हो रहा है और दूसरी ओर सैनिक तैयारियाँ ज़ोरों पर हैं। हवाई जहाज़ों की दौड़ में एक राष्ट्र दूसरे से आगे निकल जाने को उत्सुक है। अमेरिका और ब्रिटेन की सरकारों ने तो साफ़ तौर से यह भी कह दिया है कि इस संधिपत्र से 'आत्मरक्षार्थ' आवश्यकतानुसार सेना घटाने बढ़ाने के हमारे अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फ्रांस और ब्रिटेन ने हाल में इसी ढंग की एक संधि भी करली है—सब एक दूसरे को धोका देने के फेर में हैं। इसीलिए बार-बार प्रयत्न करके भी कुछ होता जाता नहीं है। जबतक हृदय नहीं बदलते, जबतक अविश्वास और विश्वासघात का वर्तमान वातावरण बना है तबतक ऐसे संधिपत्रों से कुछ होना-जाना नहीं। कागज़ के निर्जीव टुकड़ों पर हस्ताक्षर हुए तो क्या, न हुए तो क्या? इस दृष्टि से इस प्रयत्न की निःस्सारता स्वयं सिद्ध है। श्रीलायड जार्ज जैसे अनुभवी और देशभक्त राजनीतिज्ञ तक ने कह दिया कि 'विश्व की रक्षा का यह प्रयत्न बिल्कुल निस्सार एवं काल्पनिक है।' ❀'मैंचेस्टर गार्जियन और †'नेशन'

❀"स्वतः तो पैक्ट कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। (The pact, by itself, can achieve almost nothing)

† ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्तराष्ट्र ने अपने लिए यह अधिकार सुरक्षित रक्खा है कि जब वे समझें कि कोई राष्ट्र उनके

जैसे पत्रों ने भी इस झूठे दिखावे की हँसी उड़ाई है ।

'रंगीन' और परतंत्र जातियों के अधिकारों के सम्बन्ध में तो संधिपत्र एकदम चुप है। ऐसी अवस्था में सहज ही इन स्वार्थी राष्ट्रों का उद्देश्य प्रकट हो जाता है। रूस, जिसने [illegible] योजना पर इतना ज़ोर दिया था, इस गुट में निमंत्रित तक नहीं किया गया ! स्पेन भी नहीं ।

इधर यह प्रहसन हो रहा है, उधर मध्य यूरोप तथा मध्य एशिया में आग की चिनगारियाँ फैलती जा रही हैं। उधर जुगोस्लेविया, फ्रांस, इटली, रूमानिया एवं अलबेनिया में असंतोष फैल चुका है; इधर इराक, तिब्बत एवं पड़ोसी मिश्र में तूफान आने के चिह्न प्रकट हो रहे हैं। भविष्य में क्या होगा और किस प्रकार रक्षा होगी, यह सोचे समझे बिना ही *आज विष और नशे के गुलाम ये राष्ट्र अपनी हेकड़ी* दिखाने के लिए, मदोन्मत्त हो विनाश के पथ पर दौड़े चले जा रहे हैं। प्रत्येक का दावा है कि दौड़ में मैं आगे रहूँगा और जीतूँगा पर ये अभागे यह नहीं सोचते कि सब से आगे जाने वाला सब से शीघ्र नष्ट होगा। दुनिया आज अत्याचार-पीड़ित, असहाय अबला की भाँति तड़प रही है कि किसी तरह यह अभिनय समाप्त हो, यह बंधन टूटे पर कौन कह सकता है कि विनाश की बाज़ी कब ख़त्म होगी ?

श्री रामनाथ लाल 'सुमन'

साथ आक्रमणात्मक नीति बरतना चाहता है तो उससे आवश्यकता पड़ने पर युद्ध छेड़ सकें। इस पर 'नेशन' लिखता है—

"+ + + + In spite of the experience of war and the efforts which have been made to build up a better international order,our statesmen have reverted to international anarchy and claimed for each nation the right to be sole judge in its' own cause.

'पूर्व का गुण्डा' झुक गया—

साम्राज्यवाद में राष्ट्र का कैसा नैतिक पतन हो सकता है, जापान इसका एक उदाहरण है। चीन के सम्बन्ध में बार-बार उसने अपनी नीचता का परिचय दिया है। अभी ढाई महीने पहले जब मंचूरिया के देश-द्रोही अधिपति 'चांग सो-लिन' का बम-विस्फोट में अंत हो गया, राष्ट्रीय दल ने पेकिंग में प्रवेश किया और महान चीनी दीवार के नीचे का सारा देश राष्ट्रीय सरकार के अधीन हो गया तो एकाएक नाटक की भाँति उन सब गृह-युद्धों का अंत हो गया जो विदेशियों की स्वार्थ-रक्षा के निमित्त उनके द्वारा घूस देकर चलाये जा रहे थे। इस खेल का ख़ात्मा होते ही चीन की राष्ट्रीय सरकार के वर्तमान पर-राष्ट्र सचिव डाक्टर सी० टी० वैंग ने सब राष्ट्रों को सूचित कर दिया कि आज से सब पुरानी संधियाँ रद्द की जाती हैं और चीन सब राष्ट्रों के साथ समानता का व्यवहार ही कर सकेगा ।

इस घोषणा से उन राष्ट्रों के कलेजे काँप गये जो चीन की असहाय अवस्था में उसके करोड़ों बच्चों का पेट काट कर, उनको विशेषाधिकार देने पर मजबूर करके, अपना घर भर रहे थे। छिपी धमकियाँ दी गयीं, चकमे दिये गये पर अब चीन वह न था—अब उसके हाथ-पाँव ताज़ा ख़ून से गरम हो रहे थे। अंत में इन पश्चिम के स्वार्थी राष्ट्रों को झुकना पड़ा। जिस ब्रिटेन के लिये चीन के एक-एक बच्चे के मन में घृणा का भाव भरा था, उसी ब्रिटेन से सब से पहले चीन ने बराबरी की संधि कर ली। अमेरिका भी झटपट तैयार हो गया। ये हैं आज़ादी के करिश्मे !

पर इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना घटी, जिससे जापान घबड़ा गया। बात यह है कि चीन-जापान-युद्ध की समाप्ति पर जो संधि हुई थी उसमें जापान ने कमज़ोर पाकर चीन से न केवल कोरिया और फ़ारमोसा ले लिया वरन् मंचूरिया में भी उसने अपना अड्डा क़ायम कर लिया। इस संधि को 'शिमोनोसेकी की संधि' (The Treaty of Shimonoseki) कहते हैं। शर्त और क़ानून के अनुसार मंचूरिया चीन के ही अधीन रहा है पर रूस-जापान-युद्ध के समय से जापान ने वहाँ अपने सैनिक अड्डे बनाने शुरू कर दिया।

चीन का यह भाग अत्यन्त उपजाऊ और महत्वपूर्ण है अत-एव जापानियों की संख्या भी यहाँ बढ़ने लगी। चीन को अशक्त देख जापानी व्यापारियों ने विशेषाधिकारों के बल पर खूब हाथ पाँव फैलाये। फल यह हुआ कि नाम मात्र को हो मंचूरिया, चीन के क़ब्ज़े में रहा; उसके सच्चे विधाता जापानी बन बैठे।

जब 'चांग-सो-लिन' की मृत्यु हो गई और उसके २७ वर्ष के युवक पुत्र 'चंग-शू-लंग' को अधिकार प्राप्त हुआ तो उसने अक़्ल से काम लिया और राष्ट्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार करने को तैयार हो गया। यह ख़बर जापान के कलेजे में तीर के समान चुभ गई। वह तो मंचूरिया को समूचा निगल जाने की ताक में था और दक्षिण तथा उत्तर दल-रूपी भेड़िये को लड़ता देख मंचूरिया को लेकर भाग रहा था। शांति स्थापित हो जाने से उसके कार्य में बाधा पड़ी और 'चंग-श-लंग' से उसने साफ़ कह दिया कि यदि तुम नानकिंग-सरकार की अधीनता स्वीकार करोगे तो जापान इसे सहन न कर सकेगा।* 'चंग-श-लंग' देश भक्त था, उसने कहा 'मैं जनता की इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सकता। चीन को संगठित देखने की मेरी इच्छा है।' पर अंत में जापान की धमकियों के कारण उसे राष्ट्रीय सरकार से अपना सम्बन्ध स्थगित कर देना पड़ा। किंतु राष्ट्रीय सरकार तो इन बातों से दबने वाली न थी। उसने शक्ति के साथ काम लेना आरंभ कर दिया। अंत में 'पूर्व का गुण्डा'-जैसा कि अनेक पत्र जापान को पुकारते हैं-झुक गया, ठीक वैसे ही जैसे बारडोली में सरकार झुक गयी। अब उसने कहा है कि 'अच्छा, तीन महीने तक तुम राष्ट्रीय झंडा मत उड़ाओ। इसके बाद स्वेच्छा से कार्य कर सकते हो!'

'सुमन'

"दक्षिण और उत्तर दल रूपी भेड़ियों को लड़ता देख जापान रूपी कुत्ता मंचूरिया को लेकर भाग रहा था।"

विश्वशांति का प्रस्ताव

फ्रांस के, श्रीयुत केलौग के मूल प्रस्ताव का प्रारम्भ में विरोध करने का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ था कि अमेरिका ने उक्त प्रस्ताव केवल पांच महाशक्तियों के पास ही नहीं परन्तु दूसरे देशों के पास भी भेजा था। इंग्लैण्ड जरमनी, फ्रांस, इटली और जापान तथा पोलेन्ड कनाडा, ज़ेकोस्लोवेकिया और स्विट्ज़रलैण्ड के उक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने का समाचार भी हम गतांक में दे चुके हैं। इनके अतिरिक्त श्रीयुत केलौग ने आयरिश स्वतंत्र राज्य, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका, और बेल्जियम की सरकारों के पास भी उक्त प्रस्ताव सहयोग के

---

*...... Should Chang Hsue-Laug hoist the National flag, Japan would act on her own initiative and with a free hand.

लिए भेज दिया है। इन सब देशों के पास उक्त प्रस्ताव भेजने का यही कारण है कि फ्रांस ने यह आन्दोलन किया था कि अमेरिका इस प्रस्ताव द्वारा राष्ट्र संघ और लोकार्नो की संधि का महत्व नष्ट करना चाहता है। उक्त सब देश वे [illegible]भी लोकार्नो की संधि पर हस्ताक्षर कर चुके हैं। फ्रांस के आन्दोलन का दूसरा परिणाम यह हुआ कि श्रीयुत केलौग ने उक्त प्रस्ताव की प्रस्तावना (Preamble) में इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया है, जिससे पहले की हुई अन्य राष्ट्रों के साथ की संधियाँ न टूटें।

इस सम्पूर्ण प्रहसन की निरुपयोगिता के सम्बन्ध में भी कई बार इस स्तंभ में लिखा जा चुका है। अब रूस के प्रधान राजनीतिज्ञ श्रीयुत लिटविनोफ़ ने इसकी खूब पोल खोली है। वे कहते हैं कि यह सारा प्रयत्न रूस को अलग करने के लिए है। यदि विश्व-शांति ही अभीष्ट होती, तो रूस के, चारवर्ष में पूर्ण निशस्त्रीकरण के, प्रस्ताव की उपेक्षा न की जाती। आश्चर्य यह है कि अन्य छोटे छोटे देशों के पास उक्त प्रस्ताव भेजा गया है, पर आधे यूरोप और आधे एशिया में व्याप्त रूस से इस संबन्ध में कुछ बात-चीत भी न की गई। इस संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने वाले इटली और फ्रांस की युद्ध की तैयारियों का निर्देश संक्षेप से हम गतांक में कर चुके हैं। इंग्लैण्ड भी अब नये क्रूज़र बनाने में लगा हुआ है। अभी तक उसने सिंगापुर का अड्डा बनाना स्थगित नहीं किया। भारत में जो युद्ध की तैयारियाँ हो रही हैं, वे किसी से अविदित नहीं। इस प्रस्ताव के प्रस्तावक अमेरिका की भी तैयारियाँ पहले की तरह जारी हैं। कुछ दिन हुए वहाँ के राष्ट्रपति श्री कूलिज ने एक घोषणा कर कहा है कि इस विश्वशांति के प्रस्ताव से कोई यह न समझे कि अमेरिका की जलसेना या स्थलसेना में कमी करने का विचार है। अभी उसकी सैनिक शक्ति केवल आत्मरक्षा के लिए ही पर्याप्त है।

श्रीयुत कूलिज की उपर्युक्त घोषणा के बाद किसी को इन राष्ट्रों की कूट इच्छा में संदेह नहीं रह सकता। अबतक हृदयों में दूसरे राज्य को हड़प जाने की इच्छा, सम्पूर्ण व्यापार को हस्तगत करने की दुरभिलाषा वर्तमान है, तबतक शांति कठिन ही नहीं असंभव भी है। कृष्ण

शाण्टुंग में पेट की ज्वाला का अट्टहास

शाण्टुंग, चीन का एक बड़ा गरीब, बड़ा अभागा प्रान्त है। इसे 'चीन का उड़ीसा' समझ लीजिए। यहाँ के अधि-वासी कभी सुखी नहीं रह पाते; किसी तरह आधा पेट खाकर सो रहते हैं। परन्तु आज उस पर भी बाधा पड़ रही है। शक्ति के मद से उन्मत्त सैनिक शासकों ने अपनी महत्वाकांक्षा की तृप्ति के लिये जो गृह-युद्ध अभी तक छेड़ रखा था, उसके कारण खेत के खेत उजड़ गये, गाँव के गाँव वीरान हो गये। फलस्वरूप विगत तीन महीनों के बीच लाखों आदमी मर गये। आज कम से कम तीस लाख किसान भूखों तड़प रहे हैं। अवस्था ऐसी भयंकर हो गयी है कि कोई उपाय सूझ नहीं पड़ रहा है। कुछ दिनों पूर्व शिकागो के 'डेलीन्यूज़' में शंघाई के रेजीनाल्ड स्वीट्लैण्ड ने इस सम्बन्ध में जो समाचार प्रकाशित कराये थे, वे अत्यंत हृदय विदारक हैं और उन्हें पढ़ते पढ़ते आँखों में आँसू आ जाते हैं। श्री स्वीट्लैण्ड लिखते हैं—

"आज वृक्षों और झाड़ियों की जड़ें तथा सूखी घास इस भूख की ज्वाला से तड़पते हुए लाखों आदमियों का आहार है। वह भी बहुत थोड़े लोगों को नसीब हो रही है। लोग खाद्य-द्रव्य की तलाश में पागल की भाँति अस्थिर होकर स्थान स्थान पर घूम रहे हैं। कई महीनों से इन मनुष्यों को एक लुक़मा भोजन नहीं मिला। लाखों घर द्वार तथा बच्चों को छोड़कर मंचूरिया भाग गये और जिनमें चलने फिरने की शक्ति शेष है वे अब भी भागते जा रहे हैं; मार्ग व्यय के लिये माता पिता अपने गोद के बच्चों को कौड़ियों के मोल बेच रहे हैं। सारा प्रांत उत्तर-दक्षिण-दल का युद्धस्थल हो रहा था, जिसका फल ये अभागे भोग रहे हैं। अवर्षा, लूट, टिड्डीदल तथा अत्यधिक कर-वृद्धि ने कम से कम तीस लाख आदमियों को निकम्मा कर दिया है। आशा की जाती है कि राष्ट्रीय सरकार के शासन में इस प्रांत की अवस्था कुछ सुधरेगी पर अभी तो पुराने अधिका-रियों के अत्याचारों के परिणाम-रूप * लाखों मनुष्य मृत्यु-मुख

* राष्ट्रीय सरकार के अधिकार में आने के पूर्व इस प्रांत का गवर्नर 'चंग-चुंग-चैंग' था। इसने इन भूखे किसानों से

में विलीन होते जा रहे हैं । सीनन के हज़ारों शांतिप्रिय आदमियों ने जापानी अधिकारियों के अत्याचारों से ऊब कर नगर-त्याग दिया है।"

इतना ही बस नहीं है। भूख की ज्वाला असीम हो रही है। कितने ही लड़कों ने अपने वृद्ध अभिभावकों का गला घोंट दिया, केवल इसलिए कि कुछ अधिक दिन निर्वाह किया जा सके।

भूख से तड़पता बच्चा और रोती माँ

भूख से छटपटाते बच्चों के दुःख को न देख सकने के कारण अथवा अपने को जीवित रखने के लिये लोग बच्चों को मार डालते हैं अथवा खाइयों में एवं रास्तों पर फेंक देते हैं।*

इस भूख से इतने अधिक लोग घर द्वार छोड़कर भाग रहे हैं कि 'न्यूयार्कटाइम्स' इसे दुनियां की सब से बड़ी हिजरत कहता है। श्री स्वीट्लैण्ड कहते हैं कि इनमें कम से कम दस लाख तो निश्चय ही मर जायेंगे; दस लाख की अवस्था अनिश्चित है और दस लाख, काफ़ी सहायता पहुँचने पर बचाये जा सकते हैं!

मंचूरिया जाने के लिए तैयार प्राणी

चीन की 'स्वस्तिक' सोसायटी (रेड क्रास सोसायटी' के ढंग पर संगठित दीन दुखियों की सेवा करने वाली चीनी सभा) ने कुछ आदमियों की सहायता का प्रबन्ध किया है फिर भी १५ लाख का विनाश तो निश्चित है। इतने आदमियों का संहार सृष्टि के इतिहास की एक महान घटना है और इस बात का उदाहरण पेश करती है कि उच्छृंखल सेनाधिकारी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए दीन-हीन अधिवासियों पर कैसे पाशविक अत्याचार कर सकते हैं। यदि भूख की यह ज्वाला अपने उन्माद में साम्य चार वर्ष की पेशगी मालगुज़ारी वसूल की। घर-द्वार नीलाम करा लिये।

*अटलाण्टा (अमेरिका) के 'कांस्टिट्यूशन' में प्रकाशित हुआ है—"Horror is blended with pity at tales of strong sons who have strangled their aged parents in order to keep them from the pangs of starvation, strangled their parents and then started afoot on the 1,000-mile journey to the free lands of Manchuria. Infanticide is now generally practised in the famine districts by parents who can barely keep themselves alive, or who can not endure to see their children dying of slow starvation. Every

बाद को आश्रय दे तो क्या कुछ आश्चर्य की बात होगी ? आज चीन में इन अभागों के ऊपर जो बीत रही है, उसे पढ़ते-पढ़ते मनुष्य से घृणा हो जाती है। इन असहायों का आर्तनाद सुनने वाले भगवान क्या आज न रहे ?

'सुमन'

देश दर्शन

रस्सी ढीली हो रही है

वस्तुतः केवल बारडोली में समझौता हो जाने से पूर्ण समस्या का हल नहीं हुआ। सरकार की सम्पूर्ण लगान-नीति ही इतनी अन्याय्य और अनुचित है कि उसे पूरा बदलने की आवश्यकता है। बारडोली के वीर किसानों ने इसका रास्ता दिखा दिया है, दूसरे स्थानों के किसानों को भी इससे शिक्षा लेनी चाहिए।

इस समझौते के हो जाने से जहाँ एक ओर सारे भारत में प्रसन्नता छा गई है, वहाँ किसी दूसरे स्थिर कार्यक्रम के निश्चित न होने से एक सुस्ती के भी आने की सम्भावना है। साइमन कमीशन के विरोधान्दोलन में तो बहुत ढील आ गई है। पंजाब, बंगाल, बम्बई, बर्मा और आसाम की कौंसिलों ने तो साइमन कमीशन से सहयोग करने के लिए समितियों का भी निर्वाचन कर लिया है, जिनमें सरकारी पिट्ठू लोग पहुँच गये हैं। संयुक्त-प्रान्त में भूतपूर्व मन्त्रियों के मन्त्रि-पद को ठुकरा देने पर भी राजा जगन्नाथबख्शसिंह ने मन्त्रित्व स्वीकार कर अपनी दुर्बलता और देशद्रोह का प्रमाण दिया है। इस महीने में होने वाली युक्तप्रान्तीय कौंसिल में फिर सहयोग समिति के निर्वाचन का प्रश्न उपस्थित होगा। वहाँ के नये गवर्नर कूटनीतिज्ञ श्री हेली इसकी सफलता में कुछ उठा न रक्खेंगे, यह निश्चित है। पंजाब में भी उन्होंने सफलता प्राप्त की है। इसलिए बहुत संभव है कि अब वहाँ की कौंसिल में भी एक सहयोग-समिति का चुनाव हो जाय। मध्यप्रान्त में डाक्टर मुञ्जे और श्रीयुत अभयंकर आदि के प्रयत्न से अभी तक बहिष्कार का ही ज़ोर है। वहाँ मंत्रियों के इस्तीफ़ा दे देने से एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई है। डा० मुञ्जे ने यह भी आशा दिलाई है कि मध्यप्रान्तीय कौंसिल में, यदि सहयोग-समिति के निर्वाचन का प्रश्न आया तो निश्चित रूप से वह गिर जायगा। सर फ़ीरोज़ सेठना ने राज्य-परिषद् (The Council of State) में इस आशय का प्रस्ताव उपस्थित करना चाहा था कि गवर्नर-जनरल यह कोशिश करें कि साइमन कमीशन में गोरों के बराबर भारतीय सदस्य भी नियुक्त किये जावें और जब तक यह न हो जावे तब तक सारी कार्यवाही स्थगित रक्खी जावे। परन्तु सभापति ने उसे इस अधिवेशन में पेश करने की आज्ञा नहीं दी। बहुत सम्भव है कि बड़ी व्यवस्थापिका सभा में भी फिर से सहयोग समिति बनाने पर विचार हो। पंजाब के राजा नरेन्द्रनाथ तो इतने गिर गये हैं कि उन्होंने साइमन कमीशन के लिए जो आवेदन पत्र तैयार किया है, उसमें वे लिखते हैं कि आगामी दस वर्षों तक पंजाब में गोरों की सरकारी नौकरियां कम न की जायँ। पंजाब को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का भी आपने पूरा विरोध किया है। कौंसिल के अतिरिक्त देश में भी अब साइमन कमीशन के विरोध का आन्दोलन शिथिल हो गया है। लाहोर की मुस्लिम लीग की तरह कलकत्ते की मुस्लिम लीग का भी साइमन कमीशन के सामने अपनी मांग रखने का दुःखप्रद समाचार

---

day the women of our villages bring in tiny babes who have been picked up, half-starved and frozen blue, from way-side and from ditches. Some die within a few hours of their rescue."

सुना गया है। साइमन कमीशन से सहयोग करने न करने के प्रश्न पर ही मुस्लिम लीग में दो दल हुए थे। बहुत संभव है कि कलकत्ते की मुस्लिम लोग के प्रमुख नेता श्रीयुत जिन्ना के भारत में आ जाने से उसका यह विचार बदल जाय। इसी तरह कई अन्य मुसलमान नेता भी साइमन-सहयोग का विचार पेश कर रहे हैं।

इस सम्बन्ध में भारत के गोरे व्यापारियों ने साइमन कमीशन के पास जो आवेदन पत्र भेजा है, वह गोरों को मनोवृत्ति जानने के लिए महत्वपूर्ण है। इसका सारांश यह है। प्रान्तों को योग्यतानुसार पूर्ण स्वायत्त शासन दिया जाय परन्तु इसके बदले भारतीय व्यवस्थापिका सभा की शक्ति कम करके भारतीय सरकार की शक्ति बढ़ा दी जाय अर्थात् सरकारी सदस्य बढ़ा दिये जावें। प्रान्तों में दूसरी व्यवस्थापिका सभा भी स्थापित की जाय। प्रान्तों की शासन परिषद् (Executive Council) तोड़कर उसके सब काम मन्त्रिमण्डल को सौंप दिये जावें, जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के सामने उत्तरदायी हो। साम्प्रदायिक निर्वाचन को क़ायम रखना चाहिए और विशेष स्थानों के प्रतिनिधि मनोनीत करने चाहिएँ। बड़ी कौंसिल में जंगीलाट का राजनैतिक विवाद में पड़ना उचित नहीं है, इसलिए वे बड़ी कौंसिल से हटा दिये जावें।

देशी रियासतों के बारे में इस संघ की राय है कि यदि ऐसे शासन-विधान के लिए सब लोग राजी हो सकें, जिससे सम्पूर्ण भारत आर्थिक दृष्टि से एक माना जा सके, तो सम्पूर्ण भारत को बहुत लाभ होगा।

व्यापार के विषय में उसने यह सलाह दी है कि नये शासन विधान में ऐसी धारा बढ़ायी जाय कि कानून बनाने और कर लगाने में उद्योग-धंधों और व्यापारिक हित में भेद-भाव न किया जाय। इसी तरह गोरे कर्मचारियों के सम्बन्ध में इस आवेदनपत्र में कहा गया है कि वर्तमान श्वेतांग कर्मचारियों की तरक्की, पेंशन आदि को निरापद करने की व्यवस्था की जाय और आनुपातिक पेंशन का हक़ और भी पूर्व देने का नियम बनाया जाय।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शासन-विधान भारत के लिए बहुत अधिक असन्तोष-जनक है। भारतीय सरकार की शक्ति बढ़ाना किसी भी प्रकार भारत को इष्ट नहीं है। पंजाब के ईसाइयों ने भी इसी तरह एक आवेदन पत्र तैयार किया है। इसमें निम्नलिखित सिफ़ारिशें की गई हैं। द्वैध-शासन (डायर्की) प्रणाली नष्ट कर दी जाय। मंत्रिमंडल के साथ प्रांतिक स्वतंत्रता दी जाय। पंजाब कौंसिल में ईसाइयों के लिये तीन स्थान रिज़र्व हों। साम्प्रदायिक निर्वाचन-पद्धति हटा दी जाय और सम्मिलित निर्वाचन का विधान बनाया जाय। यदि साम्प्रदायिक पद्धति का रखना लाज़िमी हो तो ईसाइयों के लिये भी पृथक् प्रतिनिधित्व होना चाहिए। प्रान्तीय शासन दो सभाओं द्वारा हो। एक सभा का निर्माण सामान्य निर्वाचन द्वारा हो और दूसरी का साम्प्रदायिक निर्वाचन द्वारा। म्युनिसिपैलिटियों में जहां ईसाइयों की संख्या केवल एक फ़ी सदो हो वहां एक ईसाई प्रतिनिधि की नियुक्ति होनी चाहिए। एक पब्लिक सर्विस कमीशन बैठाया जाय जो प्रांतिक सरकारी नौकरियों के लिये उम्मीदवारों का चुनाव करे।

यह शासनविधान भी भारत के लिए उपयुक्त नहीं है। साम्प्रदायिक चुनाव की नीति का विरोध कर फिर उसी का समर्थन करना उनके शिथिल-संकल्प होने का द्योतक है।

इधर साइमन कमीशन के बहिष्कार के सम्बन्ध में कांग्रेस की यह ढील देश के लिए बहुत घातक है। केवल लाला लाजपतराय, पंजाब में देश का द्रोह करने वाले राजा नरेन्द्रनाथ का बहुत ज़ोरों से विरोध कर रहे हैं। यह समय बारडोली की विजय की प्रसन्नता से फूल कर शान्त बैठने का नहीं, परन्तु अपनी शक्तियों को दूसरे कार्य में लगाने का है। साइमन कमीशन के बहिष्कार को फिर से उत्तेजन देने की आवश्यकता है। मिश्र की तरह कमीशन का क्रियात्मक बहिष्कार होने की ज़रूरत है। यदि इसमें हम सफल न हुए तो दुनिया में हमारी कितनी हँसी होगी यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

पंजाब के कुछ सहयोगियों के ज़ोर देने पर सर साइमन ने यह मान लिया है कि सहयोग समितियों से कोई गवाही गुप्त न रखी जायगी। इससे कई सहयोगी फूल उठे हैं, परन्तु उन्हें यह जान लेना चाहिए कि इससे कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा।

मज़दूर आन्दोलन की प्रगति

प्रायः चार मास से अधिक होगये बम्बई के मज़दूरों की हड़ताल समाप्त नहीं हुई। बार-बार समझौते के प्रयत्न किये गये और यह आशा भी हुई कि अब शान्ति हो जायगी, [illegible] इस प्रयत्न निष्फल ही हुए। गतांक में हमने लिखा था कि मिलमालिक समझौता करने के लिए तैयार हैं। उन्होंने निश्चय किया कि मिलों के तीन विभाग कर क्रमशः एक-एक विभाग खोला जाय। इसके अनुसार गत ६ अगस्त को ११ कारख़ाने खोले गये। परन्तु मज़दूर अपने विचार पर दृढ़ थे। ११ मिलों में से केवल एक में ३० मज़दूर गये। दूसरे दिन वे भी न गये। ८ अगस्त को कुछ दूसरे कारख़ाने खोले गये, परन्तु एक भी मज़दूर न गया। इसी तरह १० तारीख़ को भी कारख़ानों के खुलने पर कोई मज़दूर न गया। अन्त में हार कर मिलमालिकों ने ११ तारीख़ को कुल मिलें बन्द रखीं। अब मिलें बन्द हैं। मिल-मालिकों ने हार कर बम्बई सरकार से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। बम्बई की व्यवस्थापिका सभा में श्रीयुत बोले ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि इस झगड़े का निर्णय करने के लिए सरकार एक समझौता-बोर्ड की स्थापना करे। उन्होंने यह भी विश्वास दिलाया कि मज़दूर बोर्ड के समझौते को मानने के लिए तैयार हैं। वादविवाद के पश्चात् श्रीयुत एन. एम. जोशी का निम्नलिखित आशय का प्रस्ताव पास हुआ कि सरकार दोनों दलों के प्रतिनिधियों को बुलाकर यह मालूम करे कि वे बोर्ड के निर्णय को मानने को तैयार हैं या नहीं। यदि तैयार हों, तो सरकार एक बोर्ड नियत करे। दोनों दलों ने स्वतन्त्र समझौता बोर्ड का निर्णय स्वीकार करना मान लिया है। दोनों दलों ने बोर्ड के लिए अपने प्रतिनिधि भी चुन लिए हैं। अब कुछ आशा है कि शीघ्र ही समझौता होजाय। मिल-मालिक अब समझौते के लिए उत्सुक हैं।

इधर मद्रास-रेलवे की हड़ताल समाप्त हो गयी है। बहुत से उपद्रवी गिरफ़्तार कर लिये गये हैं। मुक़द्दमे चल रहे हैं। जमशेदपुर-हड़ताल की समस्या इधर और जटिल हो गयी है। सोने की खान की हड़ताल के संबन्ध में भी एन. एम जोशी और वी. वी. गिरि नागापट्टम पहुँचे, परन्तु वहां के अधिकारियों ने शहर में १४४ धारा लगा कर उन्हें भाषण करने से रोक दिया है और वहां से चले जाने की आज्ञा दी है।

मज़दूर आन्दोलन की प्रगति में एक नया अध्याय शुरू होने वाला है और उसका सूत्रपात होगा सरकार के नये बिल से, जिसका नाम ट्रेड्स डिस्प्यूट बिल (श्रमियों का विवाद सम्बन्धी मसौदा) है। यह बिल शिमला में होने वाले बड़ी कौंसिल के आगामी अधिवेशन में पेश होगा। इसके अनुसार व्यवसाय सम्बन्धी झगड़ों के बारे में जांच करने तथा निपटाने के लिए विभिन्न प्रकार के दो निर्णायक होंगे। तहक़ीकाती बोर्ड में वे लोग नियुक्त होंगे, जिनका झगड़े से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होगा। यह प्रत्येक झगड़े की तहक़ीकात करके रिपोर्ट तैयार करेगा। समझौता बोर्ड में दोनों दलों के प्रतिनिधि लिये जायेंगे। इन दोनों बोर्डों को अधिकार होगा कि वे गवाहों को बुलायें और काग़ज़ात पेश करावें। सर्वोपयोगी सेवा में लगे हुए नौकर यदि एक मास पूर्व सूचना दिये बिना हड़ताल कर देंगे तो उन्हें एक मास की क़ैद और जुर्माने की सज़ा दी जायगी। यदि मज़दूर व्यावसायिक झगड़े के बजाय सरकार को नुक़सान पहुँचाने या किसी अन्य उद्देश्य से हड़ताल करेंगे, तो उन्हें दण्ड दिया जायगा और ट्रेड यूनियन ऐक्ट की संरक्षा से वंचित कर दिया जायगा। हड़ताल कराने वाले या मज़दूरों को हड़ताल के लिए प्रेरित करने वालों को दण्ड दिया जायगा।

उपर्युक्त व्यवस्था किसी रेलवे में काम नहीं आवेगी, जबतक कि रेल वाले ख़ास प्रार्थना न करेंगे।

इस बिल से मज़दूर जगत में बड़ा भारी असन्तोष उत्पन्न होगया है। वस्तुतः यह बिल है भी बहुत भयंकर। बंगाल के श्रमीसंघ के अध्यक्ष श्रीयुत मृणालकान्ति बोस के कथनानुसार भारतीय मज़दूरों को यह चैलेञ्ज दिया गया है। आगे उन्होंने यह भी आशा प्रकट की है कि मज़दूर इस चैलेंज को स्वीकृत करेंगे।

मज़दूरों की वर्तमान जागृति से सरकार बहुत चिंतित होगई है। भारत के पूंजीपतियों में सरकार बहुत बड़ी पूंजीपति है। उसके नीचे सैंकड़ों काम हैं। इसलिए उसे पूंजीपतियों का हित देखना ही पड़ता है। बहुत से यूरोपियन

पूंजीपतियों का भी ज़ोर सरकार पर पड़ा है, इसलिए वह इस मज़दूर आन्दोलन को कुचल देना चाहती है। इस बिल के द्वारा सरकार मालिकों और मज़दूरों के झगड़े के निर्णय का अधिकार अपने हाथ में ले लेगी। एक मास पूर्व सूचना देनी ही पड़ेगी, चाहे मालिक मज़दूरों पर कितना भी अत्याचार क्यों न कर रहे हों। फिर केवल व्यापारिक उद्देश्य के अतिरिक्त अन्य उद्देश्य से हड़तालें न हो सकेंगी। इसका अर्थ यह है कि किसी मिल के मज़दूरों की सहानुभूति में हड़तालें न हो सकेंगी। फिर सरकार तो किसी भी उद्देश्य से मज़दूरों को दबाने का प्रयत्न कर उनका दमन कर सकेगी। इस बिल की सबसे अधिक भयंकर धारा यह है, जिसमें उक्त बिल से रेलवे हड़तालों को पृथक् रखा जायगा। रेलवे की हड़तालों में प्रायः सरकार और मज़दूरों का झगड़ा होता है, और सरकार प्रस्तुत बिल के अनुसार समझौता बोर्ड में मज़दूरों के प्रतिनिधियों के साथ मिल कर विचार करने को तैयार नहीं। पिछले तीन चार महीनों में जो हड़तालें हुई हैं, उनमें कम से कम तिहाई हड़तालें रेलवे की हैं। सरकार ने इनके दमन में बहुत कठोरता से काम लिया है। प्रस्तुत बिल के अनुसार तहक़ीक़ाती बोर्ड उनकी पोल खोलता। वस्तुतः यह बिल मज़दूर आन्दोलन को समूल नष्ट करना चाहता है। भावी संभावित युद्धों में रेलवे मज़दूर हड़ताल न करें तथा अन्य कारख़ानों में भी मज़दूर हड़ताल न कर सकें, इसलिए अभी से इस आन्दोलन को नष्ट कर देना ही सरकार की सम्मति में इष्ट है।

इस समय भारत के राष्ट्रीय नेताओं को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। भारत की राष्ट्रीय उन्नति बिना मज़दूरों और किसानों की उन्नति के होना असंभव है, यह हमें हर समय याद रखना चाहिए। हमें आशा करनी चाहिए कि बड़ी कौंसिल के सदस्य इस को पास नहीं होने देंगे।

सिनेमा-समिति की रिपोर्ट

गत वर्ष भारतीय व्यवस्थापिका सभा के शिमले के अधिवेशन में भारतवर्ष में प्रचलित सिनेमा-फ़िल्मों के सम्बन्ध में जांच करने के लिए श्रीयुत रंगाचारियर की अध्यक्षता में एक सिनेमा-समिति नियुक्त की गई थी। अब इस समिति ने सम्पूर्ण भारत में भ्रमण करके १० अध्यायों में १६० पृष्ठों की एक रिपोर्ट तैयार की है। इस रिपोर्ट की मुख्य बातें नीचे लिखी जाती हैं—

इस समय ब्रिटिश भारत में ३०० और देशी रियासतों में ६० सिनेमा घर हैं। यह संख्या १९२१ से दूनी है। अधिकतर फ़िल्में विदेशों में तैयार होती हैं। सिनेमा देखने का शौक़ अभी सर्व-साधारण में बहुत अधिक नहीं है। हाँ, भारतीय जीवन दिखाने वाली फ़िल्मों में सर्व-साधारण बहुत चाव लेते हैं। यहां फ़िल्में तैयार करने के लिए पर्याप्त सुविधाएँ हैं, ख़र्च भी कम पड़ेगा। फ़िल्म व्यवसाय को उन्नत करने में भारत सरकार को विशेष रुचि लेनी चाहिए। इसकी वृद्धि में सहायता देने के लिए व्यवसाय-विभाग के नीचे एक बोर्ड बनाया जाय, जिसमें सभापति और अधिकतर सदस्य भारतीय हों। इसका मुख्य कार्यालय बम्बई में रहे। इस बोर्ड का वार्षिक व्यय ६ लाख रुपया हो यह रक़म पूरी करने के लिए विदेशी फ़िल्मों पर आयात-कर बढ़ाया जाय तथा सेंसर की फ़ीस में भी बढ़ती की जाय। यह बोर्ड भारत में आने वाली और बनी दोनों प्रकार की फ़िल्मों पर सेंसर करेगा। इसी विभाग के अधीन अन्य प्रान्तों में भी सेंसर बोर्ड स्थापित किये जायँगे। प्रान्तिक सरकार को क़ानून और व्यवस्था के अतिरिक्त किसी दूसरे कारण से किसी फ़िल्म को रोकने का अधिकार नहीं होगा।

फ़िल्मों की खपत के लिए देश में स्थान-स्थान पर सिनेमागृह निर्माण किये जायंगे। इस कार्य के लिए आवश्यकता पड़ने पर क़र्ज़ भी दिया जायगा। प्रत्येक सिनेमा कम्पनी को साल में कुछ भारतीय फ़िल्में अवश्य दिखानी होंगी और कुछ विद्यार्थियों को सिनेमा व्यवसाय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विदेशों में छात्रवृत्ति दे कर भेजना होगा। सिनेमा तैयार करने वाली संस्थाओं को सरकार की तरफ़ से बहुत सी सुविधाएँ दी जावेंगी।

फ़िल्मों की जाँच की दर प्रति हज़ार ५) रु० से बढ़ा कर १०) रु० कर दी जावगी।

व्यवसाय रक्षा के नाम पर आयात कर में वृद्धि नहीं की गयी, हाँ, शिक्षाप्रद फ़िल्मों पर कुछ रियायत की जावगी। ब्रिटिश फ़िल्मों पर रियायत करना समिति ने अनावश्यक

समझा है, परन्तु साम्राज्य की फ़िल्मों से रियायत करने का प्रश्न समिति ने व्यवस्थापिका सभा के निर्णय पर छोड़ दिया है।

भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक कमीशन या समिति की [illegible] में यह नियम सा चला आया है कि अंगरेज़ और भारतीय सदस्य भिन्न-भिन्न मत के हों। इसमें भी यही बात हुई है। समिति के अंगरेज़ सदस्यों ने अपना अल्पमत प्रकाशित किया है। इसमें मुख्यतः दो बातों से विरोध है—(१) फ़िल्म बनाने वाली संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना और (२) प्रत्येक सिनेमा कम्पनी के लिए कुछ भारतीय फ़िल्मों का बाधित रूप से दिखाना।

सिनेमा-समिति की यह रिपोर्ट बहुत सन्तोषजनक है। गत वर्ष इस समिति के नियुक्त होने पर हमें भय था कि यह समिति भी इंग्लैण्ड के फ़िल्म व्यवसाय को बढ़ाने का ही साधन बनेगी, वह अब दूर हो गया। समिति ने भारतीय फ़िल्म व्यवसाय को उन्नत करने की बहुत सिफ़ारिश की है और ब्रिटिश माल पर रियायत की आवश्यकता भी उसने नहीं समझी। यह दोनों बातें बहुत उत्तम हैं। परन्तु हमें भय है कि सरकार इस पर बहुत कम ध्यान देगी।

भारत ग़रीब क्यों है ?

१९२६-२७ में भारत में निम्नलिखित पदार्थ आये, जिनकी क़ीमत के रूप में हमारा करोड़ों रुपया विदेश चला गया।

पदार्थ	क़ीमत	
चमड़ा	९०,७४,३५०	रुपया
दवाई और रासायनिक पदार्थ	४,५०,९५,०६९	,,
बाइसिकल	१,०७,०७,३४५	,,
मोटर	५,०९,३९,०००	,,
चाकू, छुरा कैंची आदि	४१,३७,५४१	,,
शीशे का सामान	२,५२,८८ २३९	,,
साबुन	१,५२,४१,२७८	,,
चमड़ा कमाने के पदार्थ	२,१३,२२,७७२	,,
शराब	३,५२,८५,८३८	,,
तम्बाकू	२,५६,१०,६६९	,,
बिस्कुट, केक, जमा हुआ दूध सूखा हुआ गोश्त	५,५०,४८,[illegible]	,,
टेबल, कुर्सियाँ अलमारी आदि	२९,६८,२०५	रुपया
बाजे	२६,६३,०८३	,,
खिलौने	६२,११,१७८	,,
स्टेशनरी	८१,९६,९८१	,,
सिले हुए कपड़े	१,१३,५०,३५६	,,
बटन	३,७०,३६०	,,
मोमबत्तियाँ	२,३०,९०६	,,
शक्कर	१९,१६,५०,५३०	,,

अभी ये अंक अपूर्ण हैं, इनमें घड़ियों, भिन्न-भिन्न मशीनों आदि के अङ्क नहीं जोड़े गये।

पाठक आँख खोल कर इन अंकों को पढ़ें और सोचें कि वे अपने देश के प्रति कितना बड़ा पाप कर रहे हैं। इनमें से कितनी ऐसी चीज़ें हैं, जो भारत में अच्छी से अच्छी बन सकती हैं। चमड़ा, चाकू, कैंची, तम्बाकू, बिस्कुट, केक आदि, लकड़ी का फ़र्नीचर, खिलौने मोमबत्तियाँ आदि क्या यहाँ नहीं बन सकतीं ? साबुन ही डेढ़ करोड़ रुपया प्रतिवर्ष भारत से खींच ले जाता है, क्या देशी साबुन अच्छा नहीं मिल सकता ? शराब तो साढ़े तीन करोड़ रुपये छीनने के अतिरिक्त हमारा चरित्र भ्रष्ट और पतित कर देती है, क्या इसका भी त्याग नहीं हो सकता ? शक्कर के कारण तो १९ करोड़ से भी अधिक रुपया भारत के बाहर चला जाता है। क्या भारत में खाँड नहीं बनती या गन्ने की खेती होनी बन्द हो गई है, जो यहाँ के व्यवसायी नहीं बना सकते ? कपड़े की तो बात ही नहीं, उसके लिए महात्मा गांधी तथा राष्ट्रीय महासभा के अन्य नेता कई वर्षों से चिल्ला रहे हैं, परन्तु हमारे कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। खद्दर नहीं तो न सही, भारतीय मिलों का कपड़ा तो पहना जा सकता है।

बहुत-सा रुपया हमारे देश व आराम और भोग-विलास की पूर्ति में स्वाहा हो जाता है। यदि हम थोड़ा भी सरल जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करें, तो भारत का करोड़ों रुपया बच जाय।

कृष्ण,

असहाय किसान

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। इसकी कुल आबादी का एक बड़ा हिस्सा केवल खेती द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता है। सौ में पचासी आदमी ऐसे हैं जो खेती पर जीते हैं। फिर भी देश का दुर्भाग्य इतना भयंकर है कि उसके ७ करोड़ निवासी रात दिन भूखों रहते और बचे हुए किसी तरह आधेपेट खाकर अपने दिन बिताते हैं। ज़मीन से अन्न-वस्त्र उपजाने वालों की इतनी बड़ी तादाद होते हुए भी देश की भूख नहीं मिटती, यह आश्चर्य है। सरकार कहती है कि देश के किसान समृद्ध हो रहे हैं अतः लगान-वृद्धि करके अपनी दूसरी ज़रूरतों को पूरा करना चाहिए। इधर प्रजा की स्थिति इतनी विकट और दयनीय हो रही है कि उसका विचार आते ही साधारण आदमी की अक्ल गुम हो जाती है। बेकारी, मँहगी; अकाल, विदेशी लूट और देश में सरकार की निरंकुशतापूर्ण लगान-नीति एवं कर-वृद्धि आदि ऐसे कई कारण हैं जिनके चंगुल में फँसकर देश के किसान पंगु और दीन हो गये हैं। देश की इस समय जैसी परिस्थिति है उसका ख़याल रखते हुए इन में से कुछ कारणों पर थोड़ा प्रकाश डालना ज़रूरी जान पड़ता है।

पहले बेकारी को ही लीजिए। सरकार कहती है कि देश में बेकारी की समस्या, केवल मध्यमश्रेणी के लोगों की जीविका की समस्या है। अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों में, जो शिक्षित होने का दावा रखते हैं और इसी तरह के दूसरे मध्यमश्रेणी के लोगों में बेकारी की प्रगति इतनी तेज़ी से हो रही है और यह समस्या इतनी जटिल होती जा रही है कि बड़े बड़े विचारकों की अक्ल काम नहीं करती और सरकार की परेशानी तथा घबराहट की तो हद ही नहीं हो सकती। फिर भी थोड़े से प्रस्तावों और समाचार पत्रों में आन्दोलन करने के सिवा सरकार इस विषय में बेकार नवयुवकों को कोई विधायक कार्यक्रम नहीं बता सकी है। नेतागण, सब ओर से, युवकों को ग्रामों में जाकर ग्रामसुधार के काम को उठा लेने की सलाह दे रहे हैं। उनकी यह सलाह निःसन्देह बड़ी अच्छी और समय के अनुकूल है, लेकिन बेचारे नवयुवक इतने स्वतंत्र नहीं हैं कि बिना किसी पृष्ठ पोषक और मार्ग-दर्शक के इस तरह के सांगठनिक कामों में पिल पड़ें। ग़रीबी, समाजव्यवस्था, शिक्षा के संस्कार, सामाजिक कुरीतियां आदि उनके मार्ग का काँटा बन रही हैं। फिर भी देश में नवयुवकों की जाग्रति के चिह्न अप्रकट नहीं हैं। वे अपना संगठन बड़ी तेज़ी से कर रहे हैं और निकट

भविष्य में देश की महत्वपूर्ण समस्याओं को अपने हाथ में ले लेने में वे समर्थ हो जायँगे। शिक्षित नवयुवकों की बेकारी का इससे अच्छा हल और क्या हो सकता है कि वे गुलाम-मनोवृत्ति को एकदम छोड़ कर स्वतंत्र जीवन बिताने का संकल्प करलें, और जहाँ तक हो सके स्वावलंबन द्वारा अपने मार्ग की अनेक बाधाओं को हटा कर खुद स्वतंत्र बनें और देश को भी स्वतंत्र बनाने में सहायक हों। सरकार से इस सम्बन्ध में किसी तरह की कल्याणकारी सहायता की आशा करना दुराशा मात्र है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सब करते हुए नवयुवकों को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ेगा। हमें आशा रखनी चाहिए कि देश के नवयुवक इन कष्टों के लिए तैयार हैं। स्वतंत्रता, सुख और सफलता पाने के लिए पराधीन देश के नवयुवकों को तप, त्याग, और बलिदान की कसौटी पर खरा प्रमाणित होना पड़ता है। यही इसका सुवर्ण मार्ग है भी। अस्तु

हमारी सरकार को किसानों की बेकारी देश के लिए अधिक भयंकर नहीं मालूम होती। लेकिन हम पाठकों को बतलायेंगे कि किस तरह केवल किसानों की बढ़ी हुई बेकारी और देश में खेती की दुरवस्था के कारण सारा भारतवर्ष चौपट हुआ जा रहा है।

बड़े-बड़े अंग्रेज़ अधिकारियों और अर्थशास्त्रियों ने एक स्वर से इस बात को क़बूल किया है कि भारतवर्ष के किसान, वर्षभर में, दस घण्टे प्रतिदिन के हिसाब से औसतन केवल १५० दिन काम करते हैं। इन १५० दिनों में रबी और ख़रीफ़ की फ़स्ल का सारा काम वे समाप्त कर चुकते हैं और शेष २१५ दिन उन्हें बेकारी में बिताने पड़ते हैं। इस बेकारी का एक कारण यह भी है देश में खेती की ज़मीन का बँटवारा इतना विषम और असंतोषकारक है कि औसतन २½ एकड़ से ज्यादा ज़मीन हमारे एक किसान के पास नहीं रहती। इतने छोटे से टुकड़े पर किसान वर्ष भर तक काम करे तो कैसे करे? देश में केवल खेती का काम करने वालों की संख्या १९२१ की गणना के अनुसार १०,००,००,००० है। अगर कम से कम ९० दिन इनकी बेकारी के मान लें और हर एक की औसत दैनिक आय ‌॥) आना स्वीकार कर लें तो देश को इनकी बेकारी से प्रतिवर्ष १,८०,५६,२५,००० रु० की घटी सहनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में देश पर प्रति मनुष्य ५ रुपये ७ आने का बोझ अधिक पड़ता है। और फिर यह बेकारी एक दिन की नहीं है। वर्षों से चली आ रही है और न जाने कब तक बनी रहेगी। ऐसी दशा में देश की कितनी आर्थिक हानि हो रही है, हो चुकी है, और होगी आपकी इसकी कल्पना भी भयंकर है।

इंग्लैण्ड में १९२१ में कोयले की खानों में देशव्यापी हड़ताल हुई थी, तब बेकार हड़तालियों की संख्या २१, ७१, २८८ थी जो वहाँ की कुल आबादी का केवल २⁄१ वाँ हिस्सा था, लेकिन इतनी सी बेकारी से इंग्लैण्ड में उन दिनों जो आन्दोलन खड़ा हुआ था, उसे देखकर वहाँ की पार्लमेंट और वहाँ के राजनीतिज्ञों में खलबली सी मच गई थी। इधर बेचारा भारत अपनी एक तिहाई आबादी के साथ वर्षों, नहीं युगों से, बेकार बैठा है, फिर भी न तो भारत सरकार के ही कान पर जूं रेंगती है और न नौकरशाही इस के प्रतीकार के लिये कुछ प्रयत्न करती है।

किसानों के लिए सिवा खेती के और कोई सहायक धंदा देश में नहीं है। यंत्र-युग के कारण अन्य धंदे वालों को भी बेकार हो जाना पड़ा है। इस तरह चारों ओर से देश की ज़मीन पर ही लोगों के पालन-पोषण का भार बढ़ता जा रहा है। यह बात नीचे लिखे अंकों से भलीभाँति सिद्ध होती है—

वर्ष	सौ में कितने आदमी केवल खेती पर ही निर्भर थे।
१८९१	६१.१
१९०१	६६.५
१९११	७१.२७
१९२१	७२.७८

इन सात आठ वर्षों में खेती की ज़मीन का बोझ और भी बढ़ गया है। खेती के लिए ज़मीन बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट चुकी है। देश में सर्वत्र क्रमागत ह्रास का नियम काम करने लगा है।

अन्न-वस्त्र और जीविका के लिए अन्य ज़रूरी चीज़ें जितनी तेज़ी से महँगी हो रही हैं, इसे बतलाने की ज़रूरत नहीं है। किसान लोग सरकार और साहूकारों के क़र्ज़ के

नीचे किस बुरी तरह से पिस रहे हैं यह किसी भी देश-प्रेमी से छिपा नहीं है। खेती की यह हालत है कि बेचारे किसान सिवा बरसात पर निर्भर रहने के और कुछ कर ही नहीं सकते। देश में बरसात का ढंग भी कुछ ऐसा विचित्र है कि कहीं अनावृष्टि के मारे वह तबाह होजाती है और कहीं अतिवृष्टि के कारण जनता नंगी, भूखी और दीन हीन बन जाती है। खेती करने के औज़ारों में पर्याप्त सुधार करने के लिए किसानों के पास काफ़ी धन नहीं रहता, और जिनके पास कुछ थोड़ा होता भी है उनकी ज़मीन इतनी ज़रासी होती है कि यंत्रों का उपयोग लाभ पहुँचाने के बदले घटी का कारण बन जाता है। रेल और जंगलों पर सरकारी नियंत्रण के कारण देश में लकड़ी की इतनी कमी होगई है कि लोगों को, ख़ास कर किसानों को, बेबस होकर उपले जला कर भोजन बनाना पड़ता है। इस तरह देश की एक सस्ती खाद व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है और जमीन भूखी तथा ग़रीब बनी रहती है। इन सब कष्टों का सरताज कष्ट है हमारे किसान भाइयों की दयनीय अशिक्षा। वे इतने भोले-भाले अशिक्षित तथा असंगठित हैं कि सरकारी अमलों और साहूकारों को उनकी मूर्खता से बेजा फ़ायदा उठाने में थोड़ी भी कठिनाई नहीं होती।

यह तो हुई इन भाइयों की पारम्परिक कठिनाइयाँ। इस साल तो अन्न-कष्ट, अतिवृष्टि, और अनावृष्टि के कारण सारे देश में, भूखमरी, ग़रीबी और अकाल आदि का जैसा भयंकर बवण्डर उठा है, चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है उसने सारे देश के भविष्य को एकदम अंधकार में डाल दिया है। भारत सरकार ने गत मास की कृषि सम्बन्धी रिपोर्ट प्रकाशित की है। उसमें लिखा है—"१८ अगस्त तक समाप्त होने वाले सप्ताह में जहाँ संयुक्तप्रान्त, पंजाब, आसाम, उत्तर-पश्चिमी-सीमा प्रदेश, राजपूताना, अजमेर-मेरवाड़ा, मद्रास, सिन्ध, मध्यप्रदेश, बलूचिस्तान, मध्य-भारत, और पंजाब तथा पश्चिमीभारत की रियासतों में अब तक बहुत कम बरसात हुई है, वहाँ बिहार-उड़ीसा तथा ऊपरी बर्मा में बरसात बहुत ज़्यादा और बम्बई तथा अन्यत्र संतोष जनक हुई है।" फ़सल का उल्लेख करते हुए उसी रिपोर्ट में जूट की फ़सल को आसाम में साधारण और बंगाल में गिरी हुई बतलाया है। मध्यप्रान्त के कुछ ज़िलों में कपास की निंदाई हो रही है। पंजाब में कपास की फ़सल को टिड्डी-दल से हानि पहुँची है। सिन्ध और दक्षिण हैदराबाद तथा सीमाप्रदेश के कुछ ज़िलों में टिड्डी-दल के कारण और प्रतिकूल वायु के कारण हानि पहुँची है। संयुक्तप्रान्त की दशा शोचनीय है। देश में अनाज के भण्डार साधारणतः पर्याप्त बतलाये गये हैं और ढोरों के लिए घास तथा खेती के लिए पानी भी राजपूताना के सिवा पर्याप्त कहा गया है। बलूचि-स्तान के एक ज़िले में भयंकर गर्मी के कारण ढोरों के चरागाह सूख रहे हैं। बम्बई, बलूचिस्तान और राजपूताने के गरीब ढोरों को छोड़ कर और सब जगह के ढोर अच्छी दशा में हैं। मद्रास, दक्षिण प्रदेश, बर्मा और दक्षिण हैदराबाद के ढोरों में बीमारी फैली हुई है! बम्बई, मध्यप्रान्त, आसाम, दक्षिण-हैदराबाद, बलूचिस्तान, राजपूताना, अजमेर-मेरवाड़ा और मध्यभारत में अनाज का निर्ख़ कायम रहा है। मद्रास में गत वर्ष से कुछ कम है और पश्चिमी देशी रियासतों में मध्यम होते हुए भी गिरने की दशा में है। संयुक्तप्रदेश और सीमा प्रदेश में अनाज की क़ीमत बढ़ रही है। बंगाल में चावल और जूट महँगे हो गये है; बर्मा में चावल गत वर्ष से कुछ सस्ता है, बिहार-उड़ीसा में उनकी क़ीमत धीरे-धीरे बढ़ रही है और पंजाब में गेहूँ गतवर्ष की अपेक्षा कुछ सस्ता है। बंगाल, मध्यप्रान्त और मध्यभारत तथा सीमा प्रदेश के एक ज़िले को छोड़ कर सब जगह की आर्थिक दशा सन्तोषजनक है।"

पाठक याद रक्खें कि यह रिपोर्ट सरकारी है और इसमें वस्तुस्थिति को सौम्य करके बतलाने की पूरी-पूरी सम्भावना है। इधर समाचार पत्रों में बंगाल के दुष्काल, उड़ीसा की बाढ़ और पंजाब के हाहाकार की जो ख़बरें छपी हैं उनसे सरकारी रिपोर्ट की सचाई का पता सहज ही लग सकता है।

ऐसी भयंकर एवं दयनीय परिस्थिति में बड़े से बड़ा आशावादी भी निराश हो सकता है। परन्तु भारत का सौभाग्य-सूर्य अभी एक दम अस्त नहीं हुआ है, अब तो उसकी किरणें फिर से प्रखर होने की तैयारी कर रही हैं। महात्माजी के चर्खा-संगठन ने देश के किसानों को एक

ज़बर्दस्त सहायक धंदा सौंपा है, बारडोली के सत्याग्रह-संग्राम ने देश की कृषक जनता में जाग्रति का शंख फूंका है और बम्बई-कर्नाटक की कृषक परिषद् ने इस शंखनाद से जाग्रत होकर अपनी तत्परता प्रकट की है।

अपने किसान भाइयों के कल्याण के लिए हम सरकार से कुछ आशा नहीं रखते, न हमें रखनी चाहिए। हमारा तो एक मात्र आधार स्वावलम्बन और संगठन होना चाहिए। जो लोग कृषि-कमीशन की रिपोर्ट पढ़ कर देश के भविष्य को प्रकाशमय देखने की आशा किये हुए हैं उन्हें अन्त में निराशा के सिवा कुछ भी नहीं मिलेगा।

देश की जनता अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ जाग्रत हो रही है और हमें आशा है कि निकट भविष्य में हमारे असहाय कृषकबन्धु सबल और स्वाश्रयी बन जायँगे।

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

पीड़ित मज़दूर

"... ......यदि मैं मज़दूरों को वाजिब मज़दूरी दूँ तो मेरे पास निकम्मी पड़ी रहने को दौलत जमा न हो; मैं ऐयाशी में पैसा न ख़र्चूँ और मेरे घर गरीबी भी न आवे। जिसको मैं वाजिब मज़दूरी दूँगा वह दूसरों को भी वाजिब देना सीखेगा।......जिस प्रजा में इस तरह न्यायबुद्धि होगी वही प्रजा सुखी होगी और उचित रूप से फले-फूलेगी।

"...... .....सरकारी नौकरी में वेतन बँधा रहता है। वहाँ नौकरी करने वाले को अपनी होशियारी का प्रमाण देना पड़ता है। वहाँ स्पर्धा केवल होशियारी ही की रहती है।.........केवल व्यापार में ही मिथ्या स्पर्धा होती है। इसी कारण आज दग़ा, लुचपन, चोरी आदि अनीतियाँ फैल रही हैं। जो माल तैयार होता है वह ख़राब और सड़ा होता है। व्यापारी समझता है कि मैं खा जाऊँ, मज़दूर सोचता है कि मैं धोखा दूँ और ग्राहक विचारता है कि, मैं बीच में कुछ कमा लूँ। इस प्रकार व्यवहार बिगड़ता है, मनुष्यों में झगड़ा खड़ा होता है, फाक़ाकशी बढ़ती है, हड़तालें होने लगती हैं, व्यापारी लफ़ंगे बनने लगते हैं और ग्राहक अनीति सीखते हैं।......सारे झगड़े की जड़, धन को परमेश्वर मानने की लोगों की समझ है। अंग्रेज़-प्रजा, धन को ही सर्वोपरि मानती है। उसमें अनीति की वृद्धि का मुख्य कारण यही है।.........चाहे जिस तरह भी पैसा पैदा करने के लिए प्रजा को शिक्षित करना उसे कुमार्ग पर धकेलना है।" —रस्किन

लगभग डेढ़ शताब्दि पूर्व कहे हुए महात्मा रस्किन के ये शब्द आज भी भारतवर्ष की परिस्थिति में ज्यों के त्यों लागू होते हैं। व्यापारियों और पूंजीपतियों में स्वार्थ के कारण अनीति का जैसा दौर-दौरा इस समय है वैसा शायद ही कभी रहा हो। बड़े-बड़े प्रजातंत्र-राष्ट्रों को अपने स्वार्थ के कारण इन लोलुप पूँजी-पतियों ने संकट में डाल रक्खा है। फिर पराधीन देशों का तो कहना ही क्या? अपना मतलब गाँठने के लिए ये देश की प्रजा को अशिक्षित रक्खेंगे, गुलाम बनावेंगे, अधिकार-हीन रक्खेंगे, दिनरात उससे मेहनत करवायेंगे और मज़दूरी देते समय अपने स्वार्थ और व्यवसाय में घटी की दुहाई देकर धूर्ततापूर्वक देश के मज़दूरों को भूखों मारेंगे लेकिन इनकी पाषाण-आत्मा में क्षण-भर के लिए भी दया या पश्चात्ताप की भावना का संचार न होगा! कितनी कुटिलता है यह?

देश का मज़दूर-वर्ग आज घोर नींद से जाग पड़ा है। संगठन और संयम द्वारा उसने अपने अधिकारों को प्राप्त कर लेने पर कमर बाँध ली है। बम्बई की मज़दूर हड़ताल और दूसरी देश भर में यत्रतत्र फैली हुई हड़तालें इस बात की सबूत हैं।

मज़दूरों की संसारव्यापी शिकायतों को दूर करने और उनकी सुख-सुविधा तथा उन्नति का प्रबन्ध करने के लिए संसार में एक अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ स्थापित है। उसका प्रधान कार्यालय जिनेवा में है। कुछ सप्ताह हुए, इस संघ का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। श्री दीवान चमनलाल भारत की ओर से उसमें सम्मिलित हुए थे। उन्होंने अपने भाषण में देश के मज़दूरों की दयनीय अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और कहा है कि जबतक संसार के राष्ट्रों के सब पूंजीपति और मज़दूर एक दूसरे की सहायता नहीं करते तब तक अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ चाहे जितने प्रस्ताव क्यों न पास कर दे, किसी भी पक्ष का स्थायी हित न हो सकेगा। भारत के मज़दूरों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—

"१—देशी रियासतों में मज़दूरों की दशा पहले जैसी बनी हुई है। बहुत कम रियासतों में संघ की इच्छा के अनुसार प्रबन्ध किया गया है। भारत सरकार भी इस विषय में उदासीन-सी है। अगर वह चाहे तो कुप्रबन्ध के नाम पर देशी राज्यों को संघ की शर्तें मानने के लिए बाध्य कर सकती है।

२—मज़दूरी के घण्टों के सम्बन्ध में भारत की दशा बड़ी विचित्र है। वहाँ की खानों में स्त्री-पुरुष अब भी १२—१२ घण्टे काम करते हैं। भारत सरकार ने संघ की शर्तों को मानने में कुछ रियायतें प्राप्त करली हैं। यह वांछनीय नहीं है। अन्य राष्ट्रों की भाँति भारत में भी ८ घण्टे प्रति-दिन का नियम हो जाना चाहिए।

३—कारख़ानों का निरीक्षण करने वालों का प्रबन्ध असंतोषकारक है। शिक्षित और ज़िम्मेदार निरीक्षक नियुक्त किये जाने चाहिएँ। और मज़दूरों की देख-भाल के लिए शिक्षित स्त्री-निरीक्षिकाएँ पर्याप्त संख्या में नियुक्त होनी चाहिएँ।

४—डायरेक्टर के विवरण से पता चलता है कि संयुक्त समिति की पाँच उप-समितियाँ मज़दूरों के स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा, मातृत्व की रक्षा, क्षय का प्रतिबंध, संक्रामक रोगों की रोक और शिशु-संरक्षण की जाँच के लिये नियुक्त की गई हैं। अगर ये समितियाँ केवल यूरोपीय दृष्टि-कोण की पोषक हैं तो मैं समझता हूँ कि अ. रा. म. सं. अधीन देशों में यूरोपीय राष्ट्रों की लूट को सङ्गठित करने वाली एक संस्था के सिवा और कुछ नहीं है।

५—बेकारी के सम्बन्ध में विवरण में लिखा है कि भारत में नौकरी दिलाने वाली संस्थाओं (Employment agencies) की ज़रूरत नहीं है। मैं इस कथन का ज़ोरों से खण्डन करता हूँ और इसे सिद्ध करने के लिए अपना चैलेञ्ज पेश करता हूँ। भारत में बेकारी की समस्या बड़ी विकट हो रही है। तिसपर भी नौकरशाही की कुटिल नीति के कारण बड़ी व्यवस्थापक सभा में इसके प्रतिबंध का प्रस्ताव पास न हो सका है। इस विषय में सरकार को अपना दृष्टिकोण शीघ्र ही बदल डालना चाहिए।

६—बालमृत्यु की भीषणता भारत की एक विशेषता बन बैठी है। वह बड़ी दर्दनाक है। अंकों से पता लगता है कि १९१८ और १९२२ के बीच बम्बई में बालमृत्यु सम्बन्धी संख्या प्रति सहस्र ५५७ थी। १९२१ में यह संख्या ठीक ६६७ थी। मज़दूरों का बड़ी संख्या में पशुओं के समान छोटे-छोटे मकानों में रहना इसका मुख्य कारण है। भारत में इस समस्या को हल करने के कोई साधन नहीं हैं। इस परिषद् में इस प्रश्न पर विचार होना ही चाहिए।

७—वेतन और मज़दूरी तो भारतीय कारीगरों व मज़दूरों को इतनी कम मिलती है कि, पेट की ज्वाला और दारिद्र्य के मारे वे बेमौत मर जाते हैं और उनकी औसत आयु २४ वर्ष से ज़्यादा भी नहीं रही है।

हम यह जानते हैं कि भारत अपने पैरों पर ही स्वाधीनता पूर्वक खड़ा रह सकेगा। फिर भी प्रचार-दृष्टि से इस संघ का महत्व कुछ कम नहीं है।

सामाजिक बीमा (Social insurance) हमारे देश के लिए एक सब से बड़ी ज़रूरत है। असेम्बली में दुर्दैव से यह प्रस्ताव भी पास न हो सका इसका मुझे रंज है।

अन्त में, मैं अपने पाश्चात्य भाइयों से, भारत के संगठित और विशाल मज़दूर-संघ की ओर से सहकारिता और सहानुभूति की आशा रखता हूँ और उन्हें विश्वबन्धुत्व में विश्वास रखने की प्रार्थना करता हूँ। मुझे आशा है कि वे कंधे से कंधा मिलाकर अपने ऊँचे लक्ष्य तक पहुँचने का अन्त तक प्रयत्न करते रहेंगे। हमारा वह लक्ष्य है, मज़दूर संसार की शान्ति, सम्पत्ति, सुख और प्रगति।"

जहाँ एक ओर दीवान चमनलाल संसार के अन्य राष्ट्रों से हमारे मज़दूर भाइयों की उन्नति और उनके उद्धार के लिये सहयोग की प्रार्थना करते हैं वहाँ देश की नौकरशाही इन पीड़ित मज़दूरों को सदा के लिए कुचल देने की गरज़ से 'ट्रेड्स डिस्प्यूट् बिल' नामका एक नया शस्त्र अपने शस्त्रागार से निकाल रही है। यह शस्त्र, नौकरशाही की यह मार देश के मज़दूर वर्ग को किस तरह कुचल डालेगी इसका वर्णन पाठकों को अन्यत्र मिलेगा।

हम देश के मज़दूर भाइयों की हर तरह सफलता चाहते, उनके कष्टों में अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते और उनके संगठन, संयम तथा अधिकार—प्राप्ति के अर्थ अबतक के धैर्य-पूर्ण युद्ध के लिए उन्हें हृदय से बधाई देते हैं।

त्रिवेदी

विविध

कलकत्ते में मारवाड़ियों का जीवन

(२)

कलकत्ता यों बंगाल की राजधानी है, पर उसमें मारवाड़ियों का ख़ूब दौर-दौरा है। वहाँ का प्रायः सारा व्यापार-उद्योग या तो अँगरेज़ों के हाथ में है या मारवाड़ियों के। कलकत्ते में एक लाख से ऊपर मारवाड़ी होंगे। लाख से कम सम्पत्ति जिसके पास है वह मारवाड़ी ग़रीब सा समझा जाता है। मारवाड़ियों का प्रधान व्यवसाय है फाटका। अब कुछ नव-शिक्षित धनी लोग संगठित उद्योग में भी दिलचस्पी लेने लगे हैं। कलकत्ते के ही नहीं बल्कि बंगाल के अधिकांश सार्वजनिक कामों में प्रायः मारवाड़ियों का ही धन लगता है। बंगाली तन और मन देने में आगा-पीछा नहीं सोचते, उसी तरह मारवाड़ी, समय पड़ने पर, धन देने में नहीं हिचकते।

मारवाड़ी संस्कारतः स्थिति-पालक हैं। शिक्षा और ज्ञान की कमी से धर्म की ऊपरी बातों को—बाह्य आडम्बरों को बहुत प्रधानता देते हैं और उसके मूलभूत अथवा प्राणरूप सिद्धान्तों की परवा कम करते हैं। नई शिक्षा के प्रवेश के साथ ही उनमें नव जागृति फैल रही है जिसके फल-स्वरूप सनातनी और सुधारक दो दल बन गये हैं। सनातनी वे कहलाते हैं जो हर पुरानी बात को अच्छी मानते हैं और आँखें मूँदकर उसी की लकीर पीटते चले जाते हैं। सुधारक वे कहलाते हैं जो पुरानी बातों को विवेक की कसौटी पर कसकर जो बातें आज उपयोगी मालूम होती हैं उन्हें ग्रहण करते हैं और जो व्यर्थ अथवा हानिकर जान पड़ती हैं उनको हटाने और मिटाने का उद्योग करते हैं। पिछले दिनों कलकत्ते के अख़बारों में कुछ विधवा-विवाह हुए हैं जिनके कारण वहाँ इन दोनों दल वालों में काफ़ी तू-तू-मैं-मैं हुई जिसके फलस्वरूप कितने ही लोग एक-दूसरे को बुरा समझने लगे हैं। स्वयं सुधारेच्छु होने के कारण मैं सुधारकों के अग्रणी के यहाँ ठहरा था। मारवाड़ी युवक समाज अथवा सुधारक दल के दो सर्वमान्य नेता हैं (१) श्री जमनालालजी बजाज (२) श्री घनश्यामदासजी बिड़ला। कलकत्ते के सूत्रधार बिड़लाजी माने जाते हैं। सनातनी उनके विचारों को तो नापसन्द करते हैं; परन्तु उनके शील-स्वभाव को आदर की दृष्टि से देखते हैं। श्री प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका को तो सनातनी और भी प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। बा० पद्मराजजी जैन गरमागरम सुधारक हैं। इनकी लगन जहाँ हृदय को खींचती है वहाँ इनका अधैर्य और एकतर्फ़ा जोश सनातनियों के मन में दुर्भाव उत्पन्न कर देता है। सुधारक भाइयों में जहाँ उत्साह और लगन की कमी नहीं है, जहाँ वे अपने सिद्धान्त और समाज के लिए आग में भी कूद पड़ने को तैयार हैं, तहाँ कुछ लोग सनातनियों के प्रति मन ही मन में कुछ घृणा का भाव भी रखते हैं। वे यह मानते हैं कि हम सुधारक हैं, इसलिए समाज के और देश के हितैषी हैं—सनातनी तो यों ही भारभूत हैं। न उनमें विद्या है, न समाज-हित की भावना है। इसलिए वे उन्हें फिटकार बताने में, उन्हें कोसने में कोताही नहीं करते। सनातनियों को उनके संबंध में सब से बड़ी यही शिकायत है। उनके एक नेता ने मुझसे कहा कि सुधारकों की बहुतेरी बातें सही और ठीक हैं; पर उनकी कार्यविधि और हमारे साथ का बरताव सुधारकोचित नहीं है। यह सही है कि सनातनी बहुत पिछड़े हुए हैं—पर उन्हें आगे बढ़ाने का काम है सुधारकों का। यह काम वे उनके प्रति प्रेम, सहानुभूति और सद्भाव प्रकाशित करके ही, उनके अन्दर ज्ञान की ज्योति फैला करके ही, कर सकते हैं। उन्हें गालियाँ देकर, अथवा उनका तिरस्कार करके नहीं। सनातनी नेता की इस बात में बहुत बल है और मेरी राय में कलकत्ते के ही

नहीं और जगहों के अग्रगामी सुधारकों को भी इस उलझने से काम उठाना चाहिए। सनातनी अगुओं में ऐसे सज्जन बहुत कम होंगे जो सुधारकों से केवल उनके विचारों के कारण नाराज़ रहते हों; ऐसे लोगों की संख्या शायद अधिक है जो उनकी कार्य-विधि से असंतुष्ट हैं अथवा जो किसी कारण से व्यक्तिगत राग-द्वेष के शिकार हो गये हैं। यदि सुधारक, सनातनियों पर क्रोध करने के बजाय उनकी कमज़ोरियों के साथ सहानुभूति रखने लगें तो सुधार की गति निस्सन्देह बहुत बढ़ जाय। सहानुभूति और प्रेम में हृदय की मलीनता और जड़ता को मिटाने का बल होता है—इसके विपरीत क्रोध और कुवचन, अज्ञान, अंधकार, दुर्भाव और दुराचार की वृद्धि करते हैं। हम सुधार करने के लिए सुधारक बने हैं, बिगाड़ करने के लिए नहीं।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में सनातनी-नेता महाशय ने विधवाश्रम आदि खोल कर विधवाओं को धर्म-कर्म की अच्छी शिक्षा देने और वैधव्य धर्म को निबाहने की प्रेरणा करने पर ज़ोर दिया। उनका यह प्रस्ताव बिलकुल ठीक है, और मैं समझता हूँ किसी भी सुधारक का विरोध इससे नहीं हो सकता। सुधारक सिर्फ़ इतना और चाहते हैं कि भाई, जो विधवायें विवाह करना चाहती हैं—विवाह न कर लेने से जिनके पतन का भय है उन्हें जबरन न रोको। पर यदि सनातनियों की समझ में उनकी यह बात न आती हो तो उनके मनोनुकूल विधवाश्रमों की स्थापना करने से उन्हें कौन रोकता है? मैं तो बड़ी खुशी के साथ उन सनातनी मारवाड़ी भाइयों का स्वागत करूँगा जो अपने दान का प्रधान भाग विधवाओं का जीवन सुधारने और स्त्रियों को शिक्षित बनाने में ख़र्च करेंगे। क्या कलकत्ते के सनातनी धनी भाई इस दिशा में शीघ्र ही कुछ कर दिखावेंगे?

सुधारकों में एक छोटासा समूह उन सज्जनों का भी है जो व्यक्तिगत जीवन में तो भरसक सुधार कर रहे हैं; पर जिन्हें सामूहिक सुधार की हलचल और धूम-धड़के से प्रीति नहीं है। दोनों की यह स्वभाव-भिन्नता कभी-कभी एक दूसरे की कड़ी आलोचना का भी विषय हो जाती है। आलोचना वही उपयोगी और आवश्यक होती है जिसका अन्तिम लक्ष्य हो परस्पर सहयोग। पर जिस आलोचना का परिणाम मनोमालिन्य हो उसे घातक समझना चाहिए। कुछ मित्रों ने कहा—हमने चाहे काला चश्मा चढ़ा रक्खा हो, पर हम धूर्त निस्सन्देह नहीं हैं। इसमें मित्रों ने दोनों के दोषों को देखने की चेष्टा की है। यदि हम एक दूसरे के गुणों को ही देखें तो क्या सचमुच यह संसार स्वर्ग न हो जायगा?

× × ×

अख़बार नवीसी कोई येन-केन प्रकारेण पेट भरने का पेशा नहीं है—वह तो समाज की सेवा का एक साधन है। जिस अख़बार के पाठक जितने ही अधिक होंगे उतना ही प्रचार उसकी सत् शिक्षाओं का होगा। अतएव अख़बार की लोकप्रियता की कसौटी जहाँ उसकी ग्राहक-संख्या है वहाँ उसकी सार्थकता की कसौटी उसकी सत्-शिक्षायें, उसके सद्विचार, सदभिरुचि आदि हैं। यदि हम अच्छी बातों के बजाय बुरी बातें, स्वच्छता के बजाय गंदगी, सुरुचि के बजाय कुरुचि अपने दिल और दिमाग़ से निकाल कर—पैदा करके अपने बहुसंख्यक पाठकों के पास भेजते रहें तो इससे उनका हित होगा या अहित? और इस दशा में हमारा जन्म सेवा के लिए हुआ है या असेवा के लिए? पर हमारे कितने ही समाचार-पत्रों के ध्यान से यह मूल बात हटती आ रही है और इसकी शिकायत कलकत्ते में बहुत सुनी गई है। आजकल यह एक विचार-धारा चल पड़ी है कि समाज की अथवा व्यक्ति की बुराइयों का नग्न चित्र खींचे बिना वे दूर नहीं हो सकतीं। एक अंश तक यह विचार ठीक है; पर बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान दिलाना एक बात है और उनका चित्र इस तरह खींचना कि जिससे औरों को उनके बुराइयों की प्रेरणा मिले, दूसरी बात है। गर्भ गिराने से होने वाली बुराइयाँ लोगों को समझाना एक बात है और गर्भपात के समय का हूबहू चित्र खींचना दूसरी बात है। व्यभिचार के दोष खोल कर लोगों के सामने रखना एक चीज़ है, और व्यभिचारी स्त्री-पुरुषों की गुप्त और मोहक व्यभिचार लीलाओं का सरस और रोचक वर्णन करना दूसरी बात है। लोगों की बुद्धि को उनकी बुराइयाँ समझाना एक बात है और इस तरह उनका चित्र खींचना कि लोगों के आनन्द, कुतूहल, जिज्ञासा की उससे वृद्धि हो, उसमें निमग्न होने का विकार मन में जाग्रत होने लगे, बिलकुल दूसरी बात है। जो भाई

वह दलील पेश करते हैं कि 'हम तो गंदगी फैलाते नहीं सिर्फ़ दिखाते भर हैं' वे इस पर विचार करने की कृपा करें।

इसके अतिरिक्त केवल गंदी बातें प्रकाशित करते रहने से ही कोई बुराई दूर नहीं हो जाती। उसके निवारण के लिए जब तक कोई काम नहीं किया जाता, सुधार का निश्चित कार्यक्रम नहीं बना किया जाता, उसके लिए संस्थायें और मण्डलियां नहीं बनाई जातीं, लेखक और व्याख्याता स्वयं अपने घरों में उनका पालन नहीं करते, तब तक ये बुराइयाँ कभी दूर नहीं हो सकतीं। स्वाभाविक बात तो है गंदी बातों से घृणा और ग्लानि उत्पन्न होना; पर यदि वह मनोरंजन और रस-पान का विषय होने लगे तो मानना चाहिए कि हमारी बुद्धि में कुछ विकार उत्पन्न हो गया है। और हमें सतर्क रहकर अपनी बुद्धि का इलाज करना चाहिए। बुराई कहाँ नहीं है, और किस में नहीं है? यदि हम अपने ही मन और घर को देखने लगें तो हमारा जी घृणा से ऊब उठेगा। अतएव यदि हम सच्चे सुधारक हैं, सचमुच सुधार ही चाहते हैं, तो पहले हमें अपने मन की और घर की गंदगियों को धोने का उद्योग करना चाहिए—हम स्वयं जितने ही अधिक निर्दोष होंगे, उतना ही बल हमारी वाणी और लेखनी में होगा और फिर संकेत मात्र में हमारी बात लोगों के दिल पर असर करने लगेगी। बुराई के प्रति हमारे हृदय की एक दर्द भरी व्यथा की लकीर हमारे सौ नग्नचित्रों से अधिक कारगर साबित होगी।

× × ×

जो संस्थायें और कारख़ाने मैंने देखे उनमें मुख्य अबलाश्रम, बालिका-विद्यालय, अछूत-पाठशालायें दक्षिणेश्वर विक्टोरिया मेमोरियल, एक जूट मिल और एक कॉटन मिल है।

पहली तीनों संस्थायें मारवाड़ियों, विशेषकर सुधारकों, के धन से चल रही हैं। अबलाश्रम में अनाथ, भूलीभटकी तथा किसी कारण से नीतिच्युत विधवाओं और स्त्रियों की रक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। जो चाहती हैं, उनका पुनर्विवाह भी कर दिया जाता है। इसमें बंगाली स्त्रियाँ ही अधिक देखी गईं। दो भोली-भाली कुमारी गर्भवती बहनों को देखकर पुरुषों के अपराध पर मन को असह्य वेदना होने लगी। बंगाल में कन्याओं की अधिकता बतलाई जाती है और इसलिए उनकी बड़ी बेक़द्री है। नदिया स्त्रियों के पतित जीवन का अड्डा बताया जाता है। अबलाश्रम इन बहनों की रक्षा का उद्योग है। अभी इसमें स्त्रियों के लिए नैतिक और कला-कौशल की शिक्षा के समुचित प्रबंध की गुंजाइश है। इसके अथक उत्साही मंत्री श्री पद्मराजजी और श्री बालकृष्णजी मोहता ने इसकी पूर्ति करने का आश्वासन मुझे दिया है। अबलाश्रम से यदि देश और समाज की सेविकायें निकलने लगें, तो बड़ा काम हो।

रिपोर्ट देखने से पता चलता है कि १ जून १९२५ से ३१ मई १९२८ तक इस अबलाश्रम में ३१० स्त्रियाँ आईं, जिनमें १७४ अभिभावकों के पास भेज दी गईं, ३६ का उनकी इच्छानुसार विवाह कर दिया गया, ३१ अन्य आश्रमों एवं अनाथालयों में स्थानांतरित की गईं, ६ की मृत्यु हुई और सात भाग गईं। दो मुसलमान लड़कियाँ आई थीं वे पुलिस कमिश्नर के द्वारा मुस्लिम अनाथालय में भरती करा दी गईं। इन बहनों के अतिरिक्त ७२ शिशुओं का भी यथोचित प्रबन्ध होता रहा। इस आश्रम के संरक्षकों में सर देवप्रसाद सर्वाधिकारी, सर प्रफुल्लचन्द्रराय तथा महाराज सर प्रद्योतकुमार ठाकुर जैसे लोग भी हैं। अबला-बहनों की सेवा का जो कार्य यह कर रहा है, वह स्तुत्य है।

बालिका विद्यालय में मारवाड़ी तथा अन्य हिन्दू लड़कियाँ शिक्षा पाती हैं। छोटी छोटी कन्याओं के तलवार और लाठी के खेल देखते ही बनते थे। यह विद्यालय कन्याओं को सुगृहिणी बनाने के लिए है। पर बाल-विवाह की कुरीति के कारण कन्यायें १०—१२ वर्ष की अवस्था के बाद इससे लाभ नहीं उठा पातीं। इसे अधिक उन्नत और कार्यक्षम बनाने की ओर संचालकों का ध्यान जा रहा है। कन्याओं के अन्दर समाज-सेवा के तथा निर्भयता के भाव भरने की बहुत आवश्यकता है। सेवा-भाव ही ऐसी संस्थाओं का प्राण हुआ करता है।

अछूत पाठशालाओं में छूत और अछूत सब बालकों को एक साथ पढ़ते हुए देख कर बड़ा हर्ष हुआ। कोरी अछूत पाठशालायें तो आपद्धर्म हैं। पाठशालाओं में लड़कों के कपड़े, दाँत आदि की सफ़ाई की ओर अधिक ध्यान जाना चाहिए।

हमें उन वर्णों में से जहाँ अछूतों के प्रति घृणा का भाव निकालने का उद्योग करना है तहाँ स्वयं अछूतों की गन्दी आदतें भी मिटाना हैं। ऐसा करने पर ही अछूतपन का प्रश्न हल हो सकता है।

गंगातट पर दक्षिणेश्वर वह स्थान है जहाँ रामकृष्ण परमहंस काली की पूजा किया करते थे और जहाँ उन्होंने समाधि ली। स्थान तो भव्य और पवित्र मालूम हुआ; पर बाग़ को बे-मरम्मत देख कर बड़ा दुःख हुआ—ऐसा मालूम होता था मानों उसकी किसी को परवा ही नहीं है। देवी के मन्दिर में आज भी बलिदान होता है, यह सुन कर और भी खेद हुआ। परमहंस जैसी विभूति की पवित्रता भी जिस क्रूरता को अब तक न मिटा सकी उसकी जड़ कितनी गहरी होनी चाहिए और उस समाज के कुसंस्कारों पर कितनी दया आनी चाहिए?

विक्टोरिया मेमोरियल एक विशाल चित्र संग्रहालय है, जिसकी बनावट, चित्रों का चुनाव, रचना और सजावट उछल-उछल कर अंगरेज़ों की भारत पर विजय और उनके वर्तमान साम्राज्य-वैभव का प्रत्यक्ष दर्शन करा रही थी। अंगरेज़ों की जीत और हिन्दुस्तानियों की हार का यह जीता जागता चित्र और इतिहास है। मैंने बड़ी शर्म और आत्म-ग्लानि के साथ इस चित्रालय को अथ से इति तक देखा।

मिलों में मेरे काम की बात थी वहाँ मज़दूरों के जीवन को देखना। मज़दूरों का क़द नाटा, शरीर दुबला-पतला, पेट आगे बढ़ा हुआ और छाती अन्दर धँसी हुई, पर हड्डियाँ ऊपर को उठी हुईं; दुबले हाथ-पाँव—जैसे कि अक्सर विज्ञापन बाज़ वैद्य अपने विज्ञापनों में बीमारों की तस्वीरें छपवाया करते हैं। केशोराम कॉटन मिल में मजूरों के रहने के स्थान इतने तंग और छोटे हैं कि हम एक दिन भी अन्दर रह लें तो दूसरे ही दिन बीमार हो जायँ। सन्तोष की बात है कि मिल के सञ्चालक मजूरों के इस कष्ट को दूर करने का उपाय सोच रहे हैं। मैनेजिंग एजण्ट श्री बिड़लाजी का ध्यान मैं ख़ास तौर पर इस बात की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

हरिभाऊ उपाध्याय

अन्धकार में

वे आडम्बर और अंध-श्रद्धा को धर्म समझ रहे हैं और धर्म के नाम पर मनुष्य को मनुष्य से, समाज को समाज से और राष्ट्र को राष्ट्र से विलग कर रहे हैं।

वे बाह्याचार और रूढ़ि-पूजा को 'सदाचार' कह रहे हैं और सदाचार के नाम पर समाज में दम्भ और पाखण्ड के छूत का प्रसार कर रहे हैं।

वे राजा के क़ानून और समाज के नियम को ईश्वर का क़ानून और जीवन का नियम समझ रहे हैं और उस दैवी ज्योति से आँखें बन्द करके आनन्द और मंगल से वंचित हो रहे हैं, जो स्वाधीनता की पूजा करने से प्राप्त होती है।

वे अहंकार और नैतिक निर्बलता को 'पवित्रता' कह रहे हैं और पवित्रता के नाम पर जीवन को घृणास्पद, पीड़ा-मय और असह्य बना रहे हैं।

वे शब्दों तथा सिद्धान्तों की जानकारी को ज्ञान और वक्तृत्व-कला को सद्गुण समझ रहे हैं और ज्ञान तथा सद्-गुण के नाम पर जन-साधारण के सरल विश्वास का अम-र्यादित रूप से अपने स्थूल लाभों के लिए उपयोग कर रहे हैं।

वे भावशून्य शाब्दिक क्रन्दन को 'भक्ति' कहते हैं और अपनी भक्ति का नग्न प्रदर्शन करने में हर्ष मानते हैं।

वे शारीरिक पीड़ा को 'तपस्या' समझते हैं और आत्मा के मंदिर—इस शरीर—का ह्रास कर रहे हैं।

वे अपनी तुच्छ इच्छाओं की पूर्ति के लिए पूजा और प्रार्थना करते हैं और ईश्वरार्पण का जीवन बिताने का दावा करके ईश्वरीय पूजा और प्रार्थना का उपहास कर रहे हैं।

वे वासना और मोह को 'प्रेम' समझ रहे हैं और प्रेम के नाम पर अधोगति को प्राप्त हो रहे हैं।

वे सुख और शांति की खोज में व्यग्र होकर भटक रहे हैं पर अफ़सोस, दिनों दिन वे दुःख और अशांति के जाल में फँसते जा रहे हैं।

"शिशु-हृदय"

सम्पादकीय

'त्याग-भूमि' की ओर से

पाठक बन्धुओ, 'त्याग भूमि' आज कुछ अपनी कथा आपको सुनाना चाहती है। इस अंक के आपके हाथ में पहुँचने पर 'त्याग भूमि' का प्रथम वर्ष ख़तम होता है। जब यह निकली थी तब प्रथम वर्ष की सफलता के लिए मैंने दो बातें अपने सामने रक्खी थीं-एक तो यह कि वह अपने जीवन-कार्य और कार्य-क्षेत्र की विशेषता की छाप पाठकों के दिल पर डाल दे और दूसरे इसके ३००० ग्राहक हो जाँय। मुझे यह देखकर हर्ष होता है कि प्रायः दोनों बातों में इसने इस वर्ष सफलता प्राप्त कर ली है। किसी नई पत्रिका के प्रथम वर्ष में ही २,३०० ग्राहक होजाना सफलता की ही बात है। फिर 'त्याग-भूमि' में न तो चटक-मटक है, न रसीली रँगीली बातें हैं और वह प्रकाशित भी ऐसे स्थान से होती है जहाँ न छपाई की सुविधा है, न काग़ज़ की, न चित्रों या ब्लाकों की। मंडल ने यदि अपना प्रेस न किया होता तो यहाँ से इसका निकलना ही असंभव होता। इसके अलावा उसे नामधारी संपादक भी कैसे मिले? एक तो साल भर एक जगह जम कर बैठा ही नहीं और दूसरे ठहरे कवि, जिनका भावुक मन अपनी मस्ती के साथ मुक्त गगन में उड़ता रहता है। फिर भी पत्रिका जिस रूप में आप के सामने आती रही है वह प्रधानतः हमारे उन साथियों के मौन परिश्रम का फल है, जो क़ानून की भाषा में सम्पादक नहीं समझे जाते हैं। यही कारण है जो मैं अपने को इस हर्ष का थोड़ा सा अधिकारी मान सकता हूँ। पर यह हर्ष दुःख-मिश्रित भी है। इसके सम्पादन में, प्रूफ-संशोधन में, छपाई सफ़ाई में, अथवा व्यवस्था-सम्बन्धी बातों में जो कुछ त्रुटियां रही हैं उनसे मैं भली भाँति परिचित हूं। इन दोषों का अपराधी मैं अपने को मानता हूं। मेरा कर्त्तव्य था कि यहाँ, अजमेर में, बैठ कर अपने साथियों की मदद करता। पर मैंने अपने को, अच्छा हो या बुरा, दो घोड़ों पर बैठा रक्खा है। और इस के लिए अपने सहृदय पाठकों से क्षमा मांगने के सिवा दूसरा उपाय अभी नहीं दिखाई देता। अस्तु।

परन्तु हमारे साथी तो इस सफलता का श्रेय हमारे उन मित्रों को देना चाहते हैं जिन्होंने समय-समय पर उसे मार्ग दिखाया है, उत्साहित किया है, और लेख, कवितादि भेजते रहे हैं तथा मंडल को 'त्याग-भूमि' की आर्थिक चिन्ता से प्रायः मुक्त कर रक्खा है, जिसके कारण वह इतनी सस्ती दी जा रही है। हमारे वे मित्र और हितैषी भी इस श्रेय के भागी हैं, जिन्होंने हमारे पाठक-परिवार की वृद्धि करने में सहायता दी है।

पर सफलता के इस वर्णन से आप यह न समझें कि हम अपने को कृतार्थ मानते हैं। पत्रिका के नाम को सार्थक और उसके गुरुतर उद्देश्य की पूर्ति के लिए तो अभी हमें और हमारे साथियों को अपना सारा जीवन खपाना होगा। अभी इसके कई अंगों में कई प्रकार के सुधार की आवश्यकता है, जिनके कुछ नमूने पाठकों को अगले वर्ष से दिखाई देंगे।

इस एक वर्ष में 'त्याग-भूमि' ने हिन्दी-संसार में और राष्ट्रीय सेवा-क्षेत्र में, क्या काम किया इसके सम्बन्ध में हम अपने मुँह से क्या कहें? मित्रों, पत्रों, तथा विद्वानों की जो रायें अब तक प्रकाशित की जा चुकी हैं वे ही इस बात पर भली भाँति प्रकाश डाल रही हैं। फिर 'त्याग-भूमि' के प्रकाशित होने के बाद मासिक पत्र-पत्रिकाओं के स्तम्भों में तथा सामयिक विषयों में जो वृद्धि और रूपान्तर हुए हैं, उनकी ओर भी आप एक बार दृष्टिपात कर लें। इसके प्रकाशन से हिन्दी-संसार में एक हलकी हलचल-सी होती

हुई दिखाई पड़ रही है। फिर भी मैं समझता हूँ, इसके निर्णय के वास्तविक अधिकारी तो हमारे पाठक, सम्पादक और आलोचक-बन्धु ही हैं।

२,२०० ग्राहक होजाने पर भी 'त्याग-भूमि' को इस वर्ष ८,०००) घटी उठानी पड़ी है। इसका पहला कारण यह है कि 'त्याग-भूमि' अभी ५) में घर पड़ती है, पर पाठकों को रु० ४) में ही दी जाती है। दूसरे विज्ञापन की आमदनी भी 'त्याग-भूमि' ने अपने लिए अग्राह्य मानी है। यह ठीक है कि मित्रों ने 'त्याग-भूमि' को आर्थिक चिन्ता से मुक्त-सा कर रक्खा है; परन्तु 'त्याग-भूमि' तो केवल उनके स्नेह पर निश्चिन्त नहीं होना चाहती। उसने स्वाव-लम्बन का दुर्गम-पथ अपने लिए स्वीकार किया है। वह चाहती है कि केवल अपने पाठकों से प्राप्त मूल्य के बल पर खड़ी रहे। न विज्ञापन का सहारा ले, न मित्रों की विशेष सहायता का। हो सकता है कि आज यह पागल का स्वप्न जान पड़े। पर 'त्याग-भूमि' की आशा तो इसी दिशा में है। जितनी तेज़ी से उसके पाठक-परिवार की वृद्धि होती जायगी उतना ही मित्रों की कृपा का यह बोझ हलका होता जायगा! जिस दिन 'त्याग-भूमि' की सहायता में लगने वाला मित्रों का रुपया उससे श्रेष्ठ काम में लगने लगेगा, उस दिन मुझे 'त्याग-भूमि' की सफलता का सच्चा हर्ष हो सकेगा।

यहां इन मित्रों के नामोल्लेख करने की इच्छा प्रबल होती है परन्तु इनके स्नेह की पवित्रता मुझे भौंहें तान कर उँगली से मना कर रही है। और मुझे उसके सामने सिर झुका ही लेना चाहिए।

अन्त में मैं उन सज्जनों से क्षमा-प्रार्थना करना चाहता हूँ जिन पर 'त्यागभूमि' में मुझे प्रसंगोपात्त कर्तव्य-वश कठोर टीका टिप्पणी करनी पड़ी है। 'त्यागभूमि' न तो केवल आलो-चना या विरोध करने वाली पत्रिका है, न 'हाँ में हाँ' मिलाने वाली। वह अपनी बुद्धि और शक्ति भर सत्य और न्याय को सामने रख कर लिखती है—उसमें कभी मित्रों पर टीका हो जाती है और कभी विरोधियों की स्तुति। 'त्यागभूमि' का उस दिन मेरी दृष्टि में कुछ मूल्य न रहेगा, जिस दिन वह किसी का विरोध केवल इसलिए करेगी कि वह विरोधी है और किसी का समर्थन केवल इसलिए करेगी कि वह उसका मित्र है। आशा है, पाठक उसको इस स्थिति को अच्छी तरह समझ लेने की कृपा करेंगे।

बारडोली की विजय

बारडोली की विजय यदि सिर्फ़ बारडोली के सत्या-ग्रहियों की विजय होती—सरकार की अपनी शान पर भी विजय न होती—तो अभिमान और गौरव के साथ उस विजय का नाम लेते हुए मैं सकुचाता। क्योंकि उस दशा में वह सत्याग्रही के धर्म के विपरीत होता। सत्याग्रही प्रति-पक्षी को पराजित करना, नीचा दिखाना, या ज़लील करना नहीं चाहता, वह तो उसका सुधार करके उसे ऊपर उठाना चाहता है, उससे अपनी भूल स्वीकार कराना चाहता है, न्याय कराना चाहता है, सो भी इस तरह कि उसका स्वाभिमान सुरक्षित रहे, उसका आत्मगौरव बढ़े। बारडोली में सत्याग्रहियों ने ऐसी ही दुतर्फ़ा—शुद्ध—विजय प्राप्त की है। बारडोली ने अपने पर हुए अन्याय के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई थी—उसका कहना था कि एक निष्पक्ष कमिटी से जाँच करवा लो, वह कह देगी कि बढ़ा हुआ लगान ठीक ही बढ़ा है तो हम दे देंगे, वर्ना एक पाई न देंगे और इसके लिए हमें मिट्टी में मिल जाना पड़े, तो मिल जायँगे। बम्बई-सरकार ने कमिटी बिठाना स्वीकार कर लिया—यह बारडोली की विजय हुई। सत्याग्रहियों की और सब शर्तें भी—जैसे सत्याग्रही क़ैदियों की रिहाई, ज़ब्त और नीलाम कर दी गई ज़मीनें वापस मिलना, स्तीफ़ा दे चुकने वाले तलाटियों को फिर से मुक़र्रर करना—सरकार ने मंज़ूर कर लीं। सरकार इस समझौते को तब तक मंज़ूर न कर सकती थी जबतक वह अपनी सत्ता के मिथ्याभिमान पर विजय न प्राप्त कर लेती। सरकार ने अपनी झूठी शान एक ओर रख कर बारडोली के सत्याग्रहियों के सत्य को पहचाना, यह उसकी अपनी प्रतिष्ठा के मिथ्या भाव पर विजय है। सरकार की यह विजय गौरवपूर्ण होती, यदि वह सीधे और खुले तरीक़े से इसबात को जनता के सामने रख देती। फिर भी इस विजय के लिए वह तथा बारडोली के वीर और उनके मनस्वी नेता सब बधाई के पात्र हैं। बारडोली के लोग सरकार के अन्दाज़ से अधिक पक्के और सरकार लोगों की कल्पना से अधिक दूरन्देश साबित हुई। बारडोली के संग्राम की आग को सारे देश में फैला कर जल्दी ही अपनी

दूसरी को मिटाने की मूर्खता करने के बजाय आज ही झुक कर अधिक दिन जीवित रह सकने की बुद्धिमानी उसने दिखाई।

बारडोली की इस सुन्दर विजय का रहस्य तीन बातों में है—(१) लोगों की हद दरजे की शांति, (२) श्री वल्लभ भाई की यह सावधानता कि जबतक समझौते की थोड़ी सी आशा है तबतक बारडोली के लगान के प्रश्न को और सत्याग्रह को व्यापक रूप न देना और (३) लोगों की दृढ़ता तथा कार्यकर्ताओं की नियम बद्धता और आज्ञा-पालन। बारडोली के संग्राम का यह सबक़ हम सब देश-सेवकों को अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लेना चाहिए।

बारडोली की विजय पर सारे देश में हर्ष-ध्वनि हो रही है। कोई कहता है—बारडोली ने वर्तमान सदोष लगान-पद्धति का प्रश्न हल कर दिया है, कोई कहता है, अब से सरकार को लगान के मामले में भी लोक-मत के सामने झुकना पड़ेगा; कोई कहता है बारडोली स्वराज्य की आत्मा सिद्ध हो रही है। महात्माजी के सत्याग्रह की अपूर्व और अनोखी विजय है। मैं कहता हूँ यह भावी शांतिमय स्वराज्य-संग्राम का सफल पदार्थ-पाठ है और पहला मोर्चा है। इससे होने वाले लाभों को मैं बारडोली-संग्राम नामक लेख में पहले ही गिना चुका हूँ। अब आवश्यकता इस बात की है कि कहीं यह विजय हमें अभिमान और शिथिलता की नींद में न सुला दे; इससे हम सावधान रहें और इसकी शिक्षाओं को ध्यान में रखकर ग्रामों के संगठन में जी जान से लग जायँ। बारडोली के किसान जो इतनी दृढ़ता और एकता दिखा सके थे, उसका कारण है १९२१ से ही वहाँ, खादी, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय-शिक्षा, मद्यपान-निषेध आदि रचनात्मक कार्यों का विधिपूर्वक होते रहना। अतएव यदि हम सच्चे दिल से चाहते हैं कि बारडोली की तरह एक दिन, और सो भी जल्दी ही, स्वराज्य-संग्राम का शंख हम फिर एक स्वर से फूकें और उसमें ऐसी ही विजय प्राप्त करें तो हमारे लिए सिवा रचनात्मक और संगठनात्मक कामों में पड़ने के दूसरी गति नहीं है।

'रामबाण दवा' के विषय में—

मैं देखता हूँ कि मेरी 'रामबाण दवा' (त्या० भू० श्रावण) कुछ सज्जनों को तो बिल्कुल ही हज़म न हुई। कुछ मित्रों ने ज़रा मुँह बनाकर उसे गले के नीचे उतारा, कुछ ने उगलना भी दिया है और कुछ ने नाक भकने की भी कोशिश की है। इसके विपरीत कुछ सज्जनों ने अपनी पसंदगी भी प्रदर्शित की है यह स्वाभाविक ही है। एक मित्र ने लिखा है कि 'त्यागभूमि' के अमृत में से यह विष निकाल डालिए। एक लिखते हैं, आपने अबकी ऐसा बम गोला छोड़ दिया है जिससे मुझ जैसे सुधारकों का भी मार्ग दुर्गम हो सकता है। एक सूचित करते हैं कि महात्माजी की सम्मति के अनुकूल यह है अथवा नहीं। एक आदरणीय मित्र ने सावधान किया कि हम लोगों के आचार विचार से लोग महात्मा जी के आचार-विचार की कल्पना कर लेते हैं। क्योंकि हमें वे उनके निकटवर्ती अनुयायी मानते हैं और इस लिए यदि वे ऐसी धारणा बना लें कि ऐसे गंभीर विषय में इन्होंने ज़रूर महात्माजी से परामर्श कर लिया होगा तो आश्चर्य नहीं। कुछ पाठकों ने तरह-तरह की शंकायें भी लिख भेजी हैं उन पर तो मैं फ़ुरसत से अपने विचार प्रकट करूँगा। इस टिप्पणी में तो सिर्फ़ दो एक आवश्यक बातें लिखे देता हूँ, जिनसे पाठकों की कुछ ग़लतफ़हमियाँ दूर हो जायँ।

पहली बात तो यह है कि वह लेख मैंने प्रसंगोपात्त लिखा है और अपने ऐसे ही विचार मैं 'स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्तव्य' * नामक अपने निबंध में एक साल पहले प्रकट कर चुका हूँ। फिर श्रावण की ही संख्या में एक टिप्पणी में अपने यह विचार भी प्रदर्शित कर चुका हूँ कि मैं तो सबसे पहले उस काम का करना पसंद करता हूँ जिससे स्वराज्य नज़दीक आता हो। इससे पाठकों को यह समझ लेना चाहिए मैं आज इस बात का प्रचार करने में अपनी शक्ति लगाने के लिए तैयार नहीं हूँ कि हिन्दू युवक मुसलमानों की लड़कियों के साथ शादी करें। हिन्दू-मुसलमान-समस्या को सुलझाने में, इस समय, देश के सर्व-

* प्रकाशक सस्ता-साहित्य मण्डल, मूल्य ।-)

लेह दिमाग़ लगे हुए हैं; मैंने भी अपनी बुद्धि के अनुसार इस समस्या को हल करने की चेष्टा की है और अनेक उपायों में एक उपाय मुझे यह भी दिखाई पड़ता है। अब यह देश के विचारशील नेताओं का काम है कि वे इसे ठीक समझते हों तो अपनावें वर्ना ख़ैर। ये मेरे अपने निजी विचार हैं। महात्माजी से अथवा अन्य किसी बड़े नेता से मैंने इस विषय में चर्चा नहीं की है। मैं नहीं जानता कि इस विषय में उनके क्या विचार हैं। यह भी आवश्यक नहीं कि 'त्याग-भूमि'-परिवार के सभी मित्र इनसे सहमत हों। मुझे जो-जो बात ठीक मालूम हुई लिख दी। हो सका तो आगामी अंक में कुछ सज्जनों की शंकाओं का यथामति समाधान करने की चेष्टा करूँगा।

"हमारे नेता तथा कार्यकर्ता"

एक 'नेतृ-त्रस्त' कार्यकर्ता बिगड़कर लिखते हैं—

'त्यागभूमि' के छठे अंक में 'नेता और कार्यकर्ता' तथा 'एक ग़लत ख़याल' नाम की आपकी दो टिप्पणियाँ मैंने पढ़ीं और सातवें अंक में आपके 'स्वगत' में फिर उसी की कुछ प्रतिध्वनि दिखाई दी। मेरा तो यह ख़याल है कि आपको समझने में या दूसरों का आपको समझाने में कुछ भ्रम हो गया है। मैंने अब तक कोई भी कार्यकर्ता ऐसा नहीं देखा जो विपुल संपत्ति पहले इकट्ठा करके फिर देश-सेवा की धुन में हो। हाँ, एक बात देखी और वह अब भी ज्यों की त्यों दीख रही है। कार्यकर्ता यह अवश्य चाहते हैं, इसकी फ़िक्र में हैं और धुन में हैं कि किसी प्रकार अपनी स्वतन्त्र आजीविका प्राप्त कर लें, चाहे वह इतनी कम हो कि उसके द्वारा उन्हें केवल सूखी रोटी या चने ही चबाने को मिलें और फिर देश सेवा करें। कारण इसका वही है जो आपको बताया जा चुका है। पैसा लेकर काम करने वाले को नेता लोग हेय समझते हैं और उनके साथ ऐसा व्यवहार करते हैं कि एक स्वाभिमानी आदमी सहन कर ही नहीं सकता। नेताओंकी दृष्टि में पैसा लेकर काम करने वाला आदमी नौकर है, किराये का टट्टू है, तुच्छ है, उसका कोई मूल्य नहीं, उसकी सेवाओं की कोई वक़अत नहीं, क्या आप इसके लिए उदाहरण चाहते हैं? कितने ? एक-दो या हज़ार-पाँच सौ ? मेरा ख़याल है, आप, अवश्य चाहेंगे। आपने मुझे नेतृत्रस्त कार्यकर्ता लिखा, यह भूल की। मैं दुर्भाग्य या सौभाग्य से कभी किसी नेता के सम्पर्क में नहीं आया और इस प्रकार किसी नेता के द्वारा त्रस्त नहीं हुआ। मैंने दूसरे कार्य-कर्ताओं को त्रस्त होते देखा, उनकी मुसीबत, उनके अपमान तथा उनके साथ किये गये अन्याय की बात सुनी। सुनकर और देखकर मैं, अपने को न संभाल सका, मेरा हृदय रो पड़ा और मेरी आत्मा चीख़ उठी। सीतापुर जेल की बात है, बेचारे स्वयं सेवकों को इसलिए जूतों की मार तक खानी पड़ी कि वे माफ़ी माँगलें! उन्हें तीन-तीन दिन तक भूखा रक्खा गया, उनसे नाकें रगड़-वाई गई और तब खाना दिया! लखनऊ की छोटी जेल में मलीहाबाद वालों की मारे जूतों और घूसों के मस-मस ढीली करवादी! सब नेता लोग वहीं थे। उनके पास समाचार पहुँचा। वे बोले, ये लोग बदमाश हैं, हमारी इनके साथ कोई सहानुभूति नहीं। लखनऊ की बड़ी जेल की बात है। बेड़ी-डंडा पड़े हुए राजनैतिक क़ैदियों पर इतनी मार पड़ी कि हड्डियां तक टूट गई। बरेली जेल में बेचारे स्वयं सेवकों पर कैसी कैसी मारें पड़ीं। किसी ने सुना? किसी ने कुछ किया ? किसी ने उनकी सुध ली ? कोई वाला देहरादून के पं० कृष्णदत्तजी ढाई साल की क़ैद लाये। घर में अकेली गर्भवती स्त्री थी, पड़ोसी लोग भले आदमी नहीं थे। घर में ६ मास तक का खाने पीने का प्रबन्ध इसलिए कर आये थे कि उस समय इससे अधिक सज़ा न होती थी। वह सामान जुर्माने में कुर्क हो गया। देहरादून कांग्रेस के प्रधान व मंत्री को उन्होंने पत्र पर पत्र डाले कि वे केवल यह लिखें कि उनकी धर्मपत्नी कैसे है। पर जवाब तक न मिला! तंग आकर बेचारे ने माफ़ी माँग ली! अब क्या हम आशा करें कि ये लोग फिर हमारा साथ देंगे ? हम किस मुँह से उनके पास पहुँचें ? सम्भवतः उन्हें यह कहते हुए कि तुम ईमानदार, सच्चे, त्यागी तपस्वी और काम में अपने को खपा देने वाले नहीं हो! शायद ऐसा कहने से वे काम में जुट पड़ें।

अब दूसरा पहलू लीजिए। एक डिप्टी कलक्टर थे। देश और जाति प्रेम के कारण उन्हें अपने पद से हट जाना

पड़ा। बहुत दिन बाद एक जातीय स्कूल के हेडमास्टर बने। डेढ़ सौ रुपये लेना ही स्वीकार किया। परन्तु अवैतनिक अधिकारियों ने उन्हें बड़ा सताया, खूब तंग किया, खूब अपमान किया। वे अवैतनिक अधिकारी जो अधिक से अधिक उनके चपरासी का काम कर सकते थे। बेचारे ने तंग आकर नौकरी छोड़ दी। विदेशी सरकार के पास फिर जाना उचित न समझ एक राज्य में चला गया। अब तेरह सौ मासिक पाता है। एक राष्ट्रीय विद्यालय से एक प्रोफ़ेसर इसलिए पृथक कर दिये गये कि वह बेचारे स्वतंत्र ख़याल के थे, आदमी की आरती उतारा जाना उन्हें पसंद न था। ख़ुशामद और जो हुजूरी भी उन्हें न आती थी। एक बहुत बड़े नेता ने एक कार्यकर्त्ता पर बातों ही बातों में झल्लाकर, उसे अपने नौकरों से पिटवाया और अपने बंगले से बाहर निकलवा दिया! एक दूसरे नेता ने भी कुछ लगभग ऐसा ही काम किया।

आपने बेचारे नेताओं की खूब हिमायत की। वे न तो बोल ही सकते थे, और न लिख ही। उन्हें जवाब देना नहीं आता था, उनकी ओर से आपने उत्तर दे दिया। बड़ी कृपा की। देश और नेता दोनों बच गये। वास्तव में मैंने बड़ी धृष्टता की, जो नेताओं का क़सूर बता डाला! कुछ भी करो, क़सूर तो सदा छोटों का ही होता है। यहाँ पर एक भले आदमी की बात हमें याद आती है। उन्होंने एक बार अपने एक सम्माननीय मित्र को लिखा था कि मुझे तो ऐसा भासित होता है कि इन मौजूदा नेताओं द्वारा संचालित हमारी स्वराज्य सरकार इससे भी बदतर होगी।"

लेखक का दिल चोट खाया हुआ है और इसलिए उनकी बातों में असर डालने की शक्ति है। नेता और कार्यकर्त्ता के बीच मुझे क़ाज़ी बनने का क्या अधिकार? नेता कार्यकर्त्ताओं के ऐबों और बुराइयों को देखते रहें, पर अपने दोषों को न देखेंगे तो वे अधिक दिन तक नेता न रह सकेंगे। इसी तरह कार्यकर्त्ता भी इसी मनोवृत्ति को पसंद करेंगे तो नेताओं को हज़ार कोसने पर भी न तो नेताओं पर उनकी बातों का विशेष असर होगा, न वे स्वयं नेतृत्व के योग्य अपने को बना सकेंगे। कुछ नेताओं की जो शिकायतें लेखक ने की हैं वे यदि सही हैं तो उन नेताओं के लिए दुःख की बात है—पर अब भी अपने बड़ों के लिए कड़ी बात लिखते हुए मेरी क़लम हिचकिचा रही है।

ह० उ०

'जननी सुत इरयो जणे, जिरयो दुर्गादास'

बहुत दिन हो गये; २२० वर्ष पहले की बात है, मारवाड़ के एक साधारण गृह में एक बालक पैदा हुआ था। उस समय कौन जानता था कि वह अपने शौर्य की ज्वाला में मारवाड़ का सम्पूर्ण कलंक भस्म कर देगा!

भारत का भाग्याकाश, अंधेरे में डूबा जा रहा था। असहिष्णुता और अनुदारता के बादल उसमें घिर रहे थे। *औरंगज़ेब की धर्मान्धता ताण्डव कर रही थी।* उसकी अज्ञान की प्यास खून के कितने सोते सोख गई; कितनी माताएँ, कितने बच्चे अनाथ हो गये! शासन में नीति की कोई मर्यादा नहीं, स्वेच्छाचारिता का सार्वत्रिक अभिनय हो रहा था। ऐसे समय पश्चिम के मरुस्थल से बादलों के कलेजे चीरती हुई एक बिजली कड़की। वीरता ने अत्याचार का गला घोंट दिया।

बिजली की वह चिनगारी मारवाड़ में फिर नहीं चमकी। दुर्गादास की वह हुंकार फिर नहीं सुनी गई। आज तो क्या सुनाई देगी?

आज (३० अगस्त को) उस राठौर-वीर दुर्गादास की जन्मतिथि पड़ती है जिसने राजपूताना की सच्ची वीरता का एक नमूना भारत के इतिहास में रखा था। आज हम पंगु हैं, असहाय हैं, कायरता हमारी ढाल है, जीवन आत्म-वंचना के भावों से जल रहा है। हम उसे क्या समझेंगे? दुर्गादास को समझने के लिए दुर्गादास होना चाहिए। उसकी-सी वीरता और उदारता, उसका-सा साहस और आत्मोत्सर्ग हम कहाँ पावें? हम तो उन प्रकाशमान स्मृतियों की वेदी पर सिर झुकाकर उस महापुरुष को प्रणाम कर सकते हैं। और हमारे पास क्या है?

ओ राजपूताना! तेरे, सदैव जलने वाले बालुकण एक दिन जिस वीर के तेज से जीवनमय होकर काँप

राठौड़ वीर दुर्गादास

बढे थे, उनकी याद में देश की अगणित माँओं से प्रार्थना है—

जननी सुत इस्यो जणे, जिस्यो दुर्गादास।

'सुमन'

भारतीय शासन-विधान की समस्या

१९२१ के असहयोग आन्दोलन के समय से ही हमारे अनेक नेता इस बात पर ज़ोर देते रहे हैं कि आन्दोलन के निश्चित लक्ष्य का निरूपण करने के लिए स्वराज्य-विधान की व्याख्या कर दी जानी चाहिए। काशी के प्रसिद्ध मनीषी बाबू भगवानदासजी आरंभ से ही इस ओर विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। श्री श्रीनिवास ऐयंगर, श्री रंगस्वामी ऐयंगर, तथा बाबू भगवानदासजी के शासन-विधान छप भी चुके हैं। इनमें भगवानदासजी के विधान का झुकाव स्वभावतः नैतिक धारणाओं की ओर है और प्रथम दो सज्जनों ने एक व्यावहारिक शासन-योजना देश के सन्मुख रखने का प्रयत्न किया है।

किंतु इन योग्य विधानों के बन जाने के बाद भी सम्पूर्ण दलों की एक संयुक्त माँग न होने से विरोधियों और शासकों को आक्षेप का मौक़ा मिलता रहा। साइमन कमीशन की नियुक्ति ने इस ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया। परिणाम स्वरूप विगत १९ मई को बम्बई में डाक्टर अन्सारी की अध्यक्षता में सब राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों का एक अधिवेशन हुआ जिसमें श्रीमती बेसेंट के प्रस्ताव पर पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी इसलिए बनायी गई कि वह सब दलों के स्वीकार कर लेने योग्य, भारतीय-शासन विधान सम्बन्धी एक मसविदा तैयार करे। अध्यक्ष के अतिरिक्त सर अलीइमाम, सर तेज बहादुर सप्रू, श्री अणे, श्रीमंगलसिंह, श्रीशुऐबकुरैशी, श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री जी.-आर. प्रधान इस कमेटी के सदस्य थे।

विगत १० अगस्त को इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। इस रिपोर्ट की जो कापी हमें अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू की कृपा से प्राप्त हुई है उसे देखने से विदित होता है कि सदस्यों ने अपना कार्य बड़ी योग्यता और सच्चाई के साथ पूरा करने का प्रयत्न किया है। रिपोर्ट पढ़ने से ही मालूम होता है कि कमेटी के योग्य एवं विद्वान सदस्यों ने एक ऐसे निर्णय पर पहुँचने का यत्न किया है जो सब दलों की माँगों के बीच एक समझौता बन सके। कुल रिपोर्ट १३३ पेज में समाप्त हुई है। इसमें आरंभ में १४ पेज की भूमिका और अंत में ८ पेज विभिन्न बैठकों के विवरण के शामिल हैं। इनके अतिरिक्त १५ पेज परिशिष्ट के भी हैं।

आरंभ की भूमिका में उन आक्षेपों के उत्तर दिये गये हैं जो भारतीय स्वाधीनता के विरोधियों की ओर से प्रायः हम पर होते रहते हैं। रिपोर्ट के लेखकों ने 'पूर्ण स्वायत्त-शासन' और औपनिवेशिक स्वराज्य की अभिन्नता सिद्ध करते हुए लिखा है—"हम लोगों ने निम्नलिखित बातों का ध्यान रखकर ये सिफ़ारिशें की है (१) हम इस बात पर एक मत हैं कि औपनिवेशिक मर्यादा से कम में भारत संतुष्ट न हो सकेगा (२) भारत में स्थापित होने वाली सरकार अन्य स्वशासित उपनिवेशों के समान होगी और किसी प्रकार उनकी अपेक्षा निम्न कोटि की न होगी।"

रिपोर्ट की भूमिका में एक बात बड़े मार्के की कही गई है—"हमारी समझ से, असली समस्या, इंग्लैण्ड की जनता से राजनैतिक-शक्ति और ज़िम्मेदारी, भारत की जनता को हस्तान्तरित कर देने में है।" *

इस कमेटी ने जो भारतीय विधान बनाने की सिफ़ारिश की है, उसके अनुसार भारत की क़ानूनी स्थिति कनाडा, दक्षिण अफ़्रिका, आस्ट्रेलिया और आयर्लैण्ड जैसे स्वतंत्र उपनिवेशों के समान होगी। भारतीय राष्ट्र 'कामनवेल्थ ऑव इंडिया' कहलायेगा। भारत की केंद्रीय व्यवस्थापिका सभा के दो भाग होंगे। (१) प्रतिनिधि-मण्डल (हाउस ऑव रिप्रेजेण्टेटिव्स) और (२) सीनेट

---

* The real problem, to our mind, consists in the transference of political power *from the people of England to the people of India.* (रिपोर्ट पृ० ८)

सीनेट में २०० तथा प्रतिनिधि मंडल में ५०० अथवा जन संख्या-वृद्धि के अनुसार अधिक सदस्य होंगे। प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं में सीनेट न होगा, व्यवस्थापक-मंडल मात्र रहेगा। साधारणत: १००,००० की जन संख्या पर एक सदस्य चुना जायगा। किन्तु एक करोड़ से कम जन-संख्या वाले प्रांत में १०० सदस्य तक निर्वाचित किये जा सकेंगे। सब बालिग़ अधिवासियों को वोट देने का अधिकार रहेगा। पुरुष-स्त्री में, इस संबन्ध में कोई भेद न किया जायगा। सीनेट के निर्वाचक, केवल प्रांतीय व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य ही हो सकेंगे पर इस निर्वाचन में भी जन-संख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जायगा। केंद्रीय प्रतिनिधि-मण्डल की अवधि ५ वर्ष और सीनेट की ७ वर्ष होगी।

'कामनवेल्थ ऑफ इंडिया' की शासन समिति में एक प्रधानमंत्री तथा अधिक से अधिक ६ अन्य मंत्री होंगे। मंत्रिमंडल 'प्रतिनिधि मण्डल' के सामने उत्तर-दायी रहेगा। प्रत्येक प्रांतीय मंत्रिमण्डल में एक प्रधानमंत्री होगा।

क़ानून के विरुद्ध किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता या सम्पत्ति हरण न की जा सकेगी। सार्वजनिक नैतिक मर्यादा के अनुकूल सब को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त होगी। सभा करने तथा अपनी स्वाधीन राय ज़ाहिर करने का सब को अधिकार होगा। सम्पूर्ण अधिवासियों को प्राथमिक शिक्षा मुफ़्त दी जायगी, तथा सब लोग क़ानून की दृष्टि में बराबर समझे जायँगे। सड़कों, कुओं तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों पर सबका समान नागरिक स्वत्व समझा जायगा। स्त्री-पुरुष के अधिकारों में भेद न होगा। सब लोग क़ानून के अनुसार शस्त्र रख सकेंगे। सम्राट के प्रतिनिधि रूप में एक गवर्नर जेनरल रहेगा। उसका वेतन भारतीय आय से दिया जायगा। वह सात मंत्रियों की सहायता से शासन-कार्य करेगा। सब प्रकार की सेनाओं का प्रधान सेनापति भी वही होगा। भारत का, अपनी सेना पर नियंत्रण रहेगा और वह विदेशों में अपने प्रतिनिधि एवं दूत नियत कर सकेगा। देश की रक्षा का काम सदस्यों की एक समिति करेगी। भारतीय रियासतों के साथ भारत सरकार का जो सम्बन्ध आज है वह क़ायम रहेगा। प्रांतों का विभाग भाषा के अनुसार किया जायगा। साम्प्रदायिक निर्वाचन की प्रथा तोड़ दी जायगी। संयुक्त निर्वाचन होगा। जिन प्रांतों में मुसलमान अल्पसंख्यक होंगे वहाँ उनके लिए कुछ स्थान सुरक्षित रहेंगे। सीमाप्रान्त में हिन्दुओं के लिए भी यही सुविधा रहेगी। ये सुविधाएँ १० वर्ष तक रहेंगी। बंगाल और पंजाब में किसी जाति को कोई विशेषाधिकार प्राप्त न होगा।
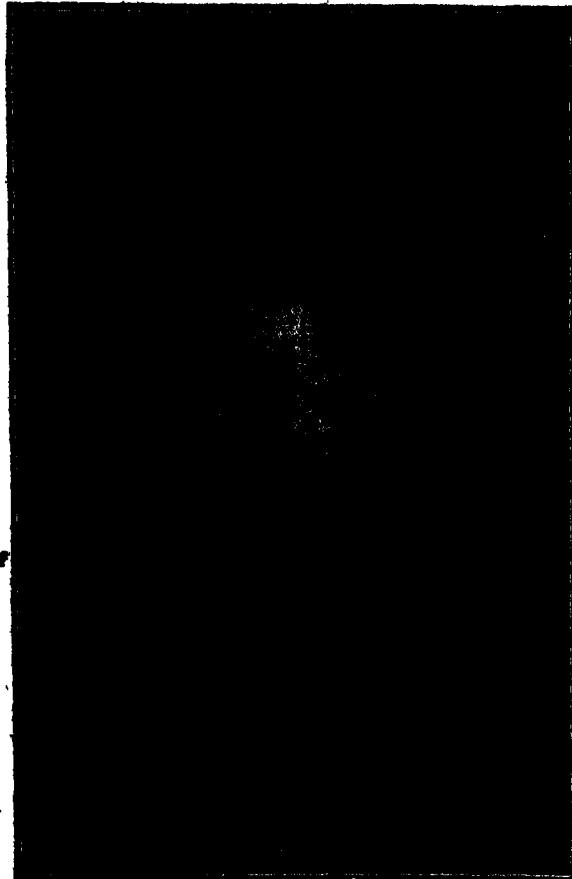
पूर्ण भारतीय स्वाधीनता के समर्थक

पं० जवाहरलाल नेहरू

विगत २८, २९, ३० अगस्त को लखनऊ में सर्व-दल सम्मेलन के सम्मुख यह रिपोर्ट पेश की गई। हर्ष की बात है कि नाममात्र के परिवर्तन के साथ यह रिपोर्ट स्वीकार

नेहरू कमेटी के सदस्य

भारत सरकार के भू० पू० लॉ मेम्बर
सर अली इमाम

कर ली गई है। पंजाब में मुस्लिम विशेषाधिकार और सिंध के बम्बई से पृथक करने के सम्बन्ध में ही मुख्य विरोध था पर अब शान्ति-पूर्वक परस्पर समझौता हो गया है। सब दल एवं सिंध के प्रतिनिधियों ने सिंध के पृथक्करण की बात स्वीकार करली है—इस शर्त पर कि सिंध की जनता व्यय का भार ले ले। इस सम्बन्ध में आगे क्या होगा, सिंध की आर्थिक दुरवस्था देखते हुए यह कहना कठिन है। पर इस समय शांति के साथ एक निबटारा हो गया, यह कम संतोष की बात नहीं है। पंजाब के मुसलमान, सिख और हिन्दू प्रतिनिधियों ने भी इस संशोधन पर समझौता कर लिया है कि वहाँ चुनाव संयुक्त ही रहे। नेहरू कमेटी में श्रीमती बेसेण्ट शामिल करली गई हैं और उसे ही स्वीकृत रिपोर्ट के आधार पर भारतीय शासन-विधान सम्बन्धी एक बिल बनानेका कार्य सौंपा गया है।

इस प्रकार रिपोर्ट की प्रायः सभी बातें नाममात्र के परिवर्तन के बाद स्वीकार कर ली गई हैं। सम्मेलन ने जो योजना स्वीकृत की है उसमें भी औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग है। सम्मेलन ने उन लोगों को अपने मत का प्रचार करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी है जो पूर्ण स्वाधीनता ही ध्येय मानते हैं।

हमारे लिए रिपोर्ट की प्रत्येक बात से सहमत होना कठिन है। उसका उद्देश्य राष्ट्रीय महासभा के लक्ष्य से भी टकराता है। पं० जवाहरलाल नेहरू के सम्मेलन के वातावरण में कम्पन पैदा करने वाले ये शब्द हमें याद आ रहे हैं— "दुनिया में इंग्लैण्ड और भारत के अतिरिक्त और देश भी हैं।" इन शब्दों की मार्मिकता से कौन इन्कार करेगा?

नेहरू कमेटी के सदस्य

भारत सरकार के भू० पू० क़ानूनी सलाहकार
सर तेजबहादुर सप्रू

फिर भी सम्मेलन का बदला हुआ वातावरण हमारे हृदय में आशा की ज्योति फैला रहा है। सम्मेलन में परस्पर विरोधी विचार रखने वाले अनेक सज्जन उपस्थित थे पर सब ने एक दूसरे को समझने और विरोध घटाने की पूर्ण चेष्टा की। यह शुभ लक्षण है। किन्तु इतना कह देना हम आवश्यक समझते हैं कि चाहे कोई विधान हो, ज़बानी जमाख़र्च का ज़माना अब नहीं रहा। हमारा इस बात में विश्वास नहीं है कि कोई संयुक्त विधान बना देने से ही सब कुछ सिद्ध हो जायगा। हमारे शासक, इस विषय में हमसे अधिक चालाक हैं। शब्दों की भाषा की अपेक्षा कार्य की भाषा वे शीघ्र समझ लेते हैं। ऐसी अवस्था में हमें तो आशा नहीं कि देश की समस्या इन विधानों के निर्माण से हल हो जायगी। जब तक देश में सच्ची शक्ति जाग्रत न होगी कोरे विधान शासकों को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहेंगे। मांग के पीछे लेने का अधिकार होना चाहिए, शक्ति होनी चाहिए। जब राष्ट्र की आत्मा जागकर उठ खड़ी होगी, इसने वाद-विवाद की आवश्यकता न पड़ेगी; सब कुछ क्षणभर में ठीक होजायगा।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'
श्री कृष्णचंद्र 'विद्यालंकार'

विजयी बारडोली में—

रविवार १२ अगस्त का दिन भारतवर्ष के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखा जायगा। वह और उसके आसपास के चार पांच दिनों में मैंने वहां जो कुछ

पू० महात्माजी बच्चों के बीच

रानीपरज—बारडोली के आदिम निवासी
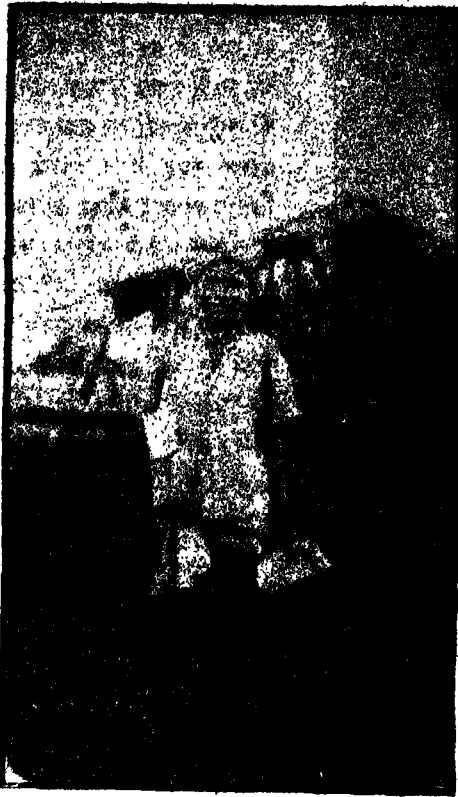
यह देहाती पोस्टमैन १) मासिक पर काम करता है

पू० महात्माजी एक सभा में

देखा उसे अपने जीवन में कभी भूल नहीं सकता। वह तो देव-दुर्लभ दृश्य था। बारडोली के प्रत्येक कण में पवित्रता और दिव्यता का मैं दर्शन कर रहा था। वहाँ की वायु का प्रत्येक स्पन्दन हृदय को ऊँचा उठाने वाला था!

वह विजय-महोत्सव का दिन था। प्रत्येक गांव में जीवन और उत्साह की बाढ़ सी आई थी, ऐसी बाढ़ कि जिसकी हम बाहर के लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। मैंने वह

सरदार वल्लभ भाई और श्री केलकर ....

वृक्षों की छाया में सभाएँ होती थीं
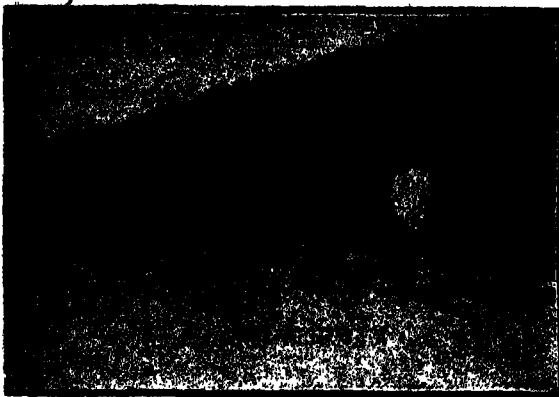
गांवों में हड़ताल का एक दृश्य
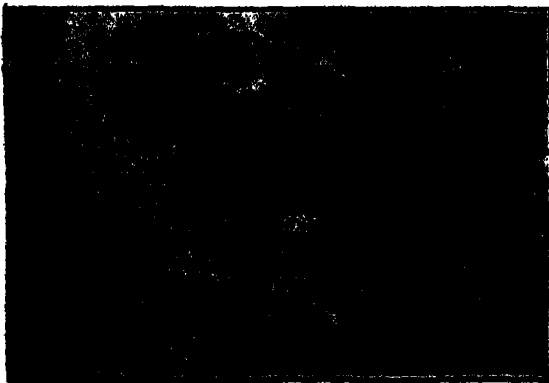
।सावधान ! जब्ती अफ़सर आ रहे हैं।।

महोत्सव अपनी आंखों देखा। पर सच तो यह है कि उसे देख कर भी मैं उसके सम्पूर्ण आनन्द को अनुभव नहीं कर सकता था। कारण स्पष्ट है। विजय का जितना आनन्द योद्धा को होता भला एक प्रेक्षक उसका अनुभव कैसे कर सकता है? बारडोली के उन वीर स्त्री-पुरुषों के चेहरे पर जो असाधारण तेज था उसकी समता मैं अपने अन्दर नहीं पाता था। सरदार वल्लभ भाई के दर्शनार्थ आने वाली स्त्रियों के झुण्ड में मैं एक स्वाधीन राष्ट्र की माताओं का दर्शन कर रहा था। उनका लिबास किसानी और भाषा देहाती थी। पर वही तो बारडोली की शक्तियां थीं। उनका सहयोग, सहायता और प्रोत्साहन न मिलता तो पुरुष-वर्ग के लिए सरकार से लोहा लेना असंभव हो जाता। वे तो पुरुषों के साथ प्रत्येक सार्वजनिक और राजनैतिक काम में आज इस तरह भाग ले रही थीं मानों एक महान् धार्मिक उत्सव ही हो। उनकी भाव-प्रबलता ने सारे आन्दोलन को एक धार्मिक स्वरूप सा दे दिया था। सत्य, न्याय, और प्रतिज्ञा पालन के मंत्रोच्चार ने उनकी हृतंत्री के सूक्ष्म से सूक्ष्म तार को भी झंकृत कर दिया था। उनके सामने कमज़ोरी की कल्पना भी पुरुषों को लज्जा-जनक मालूम हो रही थी। जहाँ-जहाँ महात्माजी या वल्लभ भाई जाते, वे बहनें मीलों चलकर सूत, श्रीफल और भेंट लेकर सैकड़ों की संख्या में रणगीत गाती हुई पहुँचतीं और धर्मभाव पूर्वक अपने सरदार और गुरुदेव की पूजा करतीं। कीचड़ और बरसाती नदियां उनके उत्साह को कभी भंग नहीं कर सकती थीं। बारडोली के वन-प्रदेश ने, वहां के पेड़ों और नदियों ने शायद ही कभी इतने गीत सुने हों, शायद ही कभी ऐसा उत्सव देखा हो। स्वराज्य आश्रम की वह सभा, सूरत में स्वयंसेवकों का स्वागत और ताप्ती-तीर का वह विराट् सम्मेलन एक नवीन युग के आगमन की दुंदुभी बजा रहे थे।

पर यह तो विजय का रहस्य था। बारडोली को इस विजय के लिए क्या-क्या सहना नहीं पड़ा ? उसके युवकों और नेताओं ने किस तरह अविराम परिश्रम किया ? वहाँ के किसानों ने कितनी आर्थिक हानि उठाई ? सरकार की सत्ता किस तरह बारडोली पर से पूरी तरह उठ गई थी इत्यादि तो पाठक शीघ्र ही मंडल से प्रकाशित होने वाली पुस्तक में पढ़ेंगे। मैं यहाँ संक्षेप में इस विजय के रहस्य को समझाने की चेष्टा कर रहा हूँ।

आज बारडोली में सरकार की सत्ता का अस्तित्व नाम को भी नहीं है। महीनों से सरकार की अदालतें सूनी पड़ी हुई हैं और पुलिस बेकार है। लोगों में इतना आत्म-विश्वास और निर्भयता आ गई है कि कलेक्टर और कमिश्नर भी अब उनसे ज़बरदस्ती कोई काम नहीं ले सकते। पटेल और पटवारी (तलाटी) उन्हें साफ़ साफ़ जवाब सुना देते हैं। युद्ध के दिनों में तो जब कभी कोई सरकारी अधिकारी आते, स्वयंसेवक ढोल पीटकर सारे गांव को ख़बर कर देते और फ़ौरन गांव भर में हड़ताल पड़ जाती। सिर्फ़ सत्याग्रही स्वयं-सेवक पहरा देते हुए यहाँ-वहाँ नज़र आते।

बारडोली तालुके में कुल १३४ गांव हैं। सत्याग्रह-मंडल ने इन्हें पांच विभागों में बांट दिया था और प्रत्येक पर एक विभाग-पति क़ायम कर दिया था। इन पांच विभागों के अतिरिक्त ७ दूसरे उपविभाग भी थे। इन सभी विभागों का प्रायः सड़कों द्वारा एक दूसरे से सम्बन्ध है जिससे हर समय मोटर द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया जा सकता है। सत्याग्रह के समय यहाँ २५० बाहर के शिक्षित तथा कोई १५०० स्थानीय स्वयं-सेवक काम कर रहे थे।

प्रत्येक गांव में आवश्यकतानुसार एक-एक या दो-दो बाहर के सुशिक्षित स्वयं-सेवक और आठ-आठ दस-दस स्थानीय स्वयं-सेवक होते थे। वे गांव में तथा गांव के चारों तरफ़ पहरा दिया करते। जनता से बात-चीत करके गांव के भावों और हलचलों से खुद परिचित रहते और अपने विभाग-पति के पास अपने कार्य की तथा गांव की हालत की दैनिक लिखित रिपोर्ट भेजते रहते थे। प्रत्येक गांव से इस तरह रिपोर्ट आने पर विभागपति अपने सारे विभाग के (जिसमें १५ से लेकर ३० तक गांव होते थे) विशेष समाचार (बारडोली-स्वराज्य-आश्रम के) मुख्य कार्यालय में भेज देते थे। और जिन कार्यों का खुद इन्तज़ाम कर सकते थे फ़ौरन कर देते थे। प्रधान कार्यालय में समाचार पहुँचते ही वे सरदार वल्लभ भाई की पेटी में आते। साथ ही प्रकाशित करने योग्य ख़बरें शाम को प्रकाशनार्थ तुरत छपने के लिए भेज दी जातीं। जवाब देने योग्य बातों का उत्तर और सरदार साहब की आवश्यक आज्ञायें मुख्य कार्यालय से सुबह रवाना हो जातीं और दिन के बारह बजने से पहले-पहले प्रत्येक विभागपति के पास पहुँच जातीं। इस तरह चौबीस घण्टे के अन्दर प्रत्येक आवश्यक कार्य पर सरदार साहब का हुक्म विभाग-पति के पास पहुँच कर उस पर अमल भी होने लग जाता। प्रत्येक केन्द्र पर यह भी इन्तज़ाम था कि किसी भी गांव में विशेष परिस्थिति खड़ी होने पर उसकी ख़बर दो घंटे के अन्दर प्रधान कार्यालय में पहुँचा दी जाय। इसके लिए स्पेशल मोटरें छोड़ी जातीं। सरकारी तार विभाग से भी आवश्यकता पड़ने पर काम ले लिया जाता था। सत्याग्रही स्वयं-सेवकों, विभागपतियों तथा सरदार साहब की सहायता के लिए सत्याग्रह-कार्यालय के पास १० मोटरें थीं। यही मोटरें और स्वयं-सेवक नियम से दैनिक डाक तथा दैनिक सत्याग्रह समाचार-पत्रिकाएँ भी गांव-गांव पहुँचा देते थे। अब भी यह क्रम जारी है। इस तरह प्रत्येक गांव में तालुके भर की ताज़ी ख़बरें रोज़ पहुँच जातीं। सत्याग्रही मोटरों के अतिरिक्त तालुके में अन्य कम्पनियों की तथा खानगी मोटरें भी किराये पर चलती हैं। पत्रिकाओं को बाँटने का काम वे भी ख़ुशी-ख़ुशी करतीं और प्रतिदिन डाक के समय स्टेशनों पर हाज़िर रहकर पत्रिका का इन्तिज़ार करतीं।

स्वयं-सेवकों में ख़ुफ़िया स्वयं-सेवकों का एक दल भी था। इसमें काम करने वाले स्वयं-सेवकों का नाम बिलकुल गुप्त रक्खा जाता था। यहाँ तक कि ख़ुफ़िया स्वयं-सेवक आपस में एक दूसरे को नहीं जानते थे। वे सरकारी अधि-कारियों की हल-चलों पर और संदिग्ध आचरण वाले गाँव के लोगों पर भी कड़ी नज़र रखते और अपने नायक को समाचार देते रहते। जनता में भेद डालने की जो अनेक

कोशिशें रोज़ होती रहती थीं, इन कुशल गुप्तचरों के कारण निष्फल हो जातीं। क्योंकि ऐसे आपत्तिजनक लोग या सामग्री जनता के पास पहुँचने के पहले ही गाँव को सावधान कर दिया जाता। जाति-जाति में फूट पैदा करने तथा हिंदू-मुसलमानों में आग भड़काने की जितनी भी कोशिशें प्रतिपक्षियों द्वारा की गईं सब इसी तरह निष्फल हो गईं। इसके कई मनोरंजक उदाहरण दिये जा सकते हैं परन्तु स्थानाभाव के कारण मुझे यहाँ संयम से काम लेना है।

सारे संगठन में कठोर अनुशासन से काम लिया जाता। कोई स्वयं-सेवक अपने नायक या विभाग-पति से यह नहीं पूछता था कि अमुक काम क्यों करना चाहिए या वह इतने समय के भीतर मुझसे न हो सकेगा। जिस किसी स्वयं सेवक के आचरण में शिथिलता पाई जाती, उसे फ़ौरन लौटा दिया जाता। अनुशासन की यही कठोरता युद्ध के अधिनायक सरदार वल्लभभाई और उनके साथियों के बीच भी थी। डा० सुमन्त मेहता, डा० चन्दूलाल भाई, गुरु अब्बास तैयब जी, दर्भा के दरबार साहब श्री गोपालदास भाई, इमाम साहब इत्यादि मुख्य-मुख्य विभाग-पतियों के नाम हैं। इनमें से प्रत्येक पुरुष गुजरात का रत्न है। वल्लभ भाई के शब्दों में कहें तो प्रत्येक पुरुष बारडोली का सेना नायक होने योग्य है। परन्तु वे सब अनुशासन के महत्व को जानते थे और अपने सरदार के एक-एक शब्द का पालन पूर्ण दक्षता के साथ करते थे।

बारडोली की विजय का एक महत्वपूर्ण कारण यही सैनिक संयम, संगठन और कठोर अनुशासन है। यह अनुशासन उस हालत में कभी न पाया जाता यदि "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा" वाला हाल यहां भी होता।

यहाँ तो विभागों के सँभालने के लिए ऐसे पुरुष रक्खे गये थे जो गुजरात के एक-एक ज़िले के नेता हैं, जो अपने-अपने ज़िले में कई स्वतन्त्र लोक-सेवक संस्थायें खोले बैठे हैं, जिन्हें अब धन, मान और पद प्रतिष्ठा की कोई अभिलाषा नहीं रह गई है, जिनके लिए ये सब चीज़ें उच्छिष्ट सी हैं, जिनकी बुद्धि और संस्कार इतने ऊँचे हैं कि किसी भी देश को ऐसे नागरिकों पर गर्व हो सकता है, जिन्हें देखकर श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है, मानों राजर्षियों का झुण्ड तपस्या करने को निकल पड़ा हो। ऐसे विभाग-पतियों के मुक़ाबले बेचारे पेट के पुजारी सरकारी अधिकारी कहाँ टिक पाते?

और स्वयं सेवक कैसे थे?

गुजरात की राष्ट्रीय तथा सरकारी हाईस्कूलों और कॉलेजों के विद्यार्थी तथा कितने ही अन्य शिक्षित युवक इस अवसर को अपना अहोभाग्य समझकर बारडोली की सेवा करने के लिए निकल पड़े थे। किसी ने यह न कहा कि क्या करें साहब परीक्षा सिर पर आ गई है, 'स्टडीज़' सफ़र कर रही हैं। वे एक तरफ़ सत्याग्रह पत्रिकाएँ 'यंगइंडिया' और 'नवजीवन' तथा दूसरी तरफ 'टाइम्स आफ इंडिया' की कुटिल टिप्पणियाँ पढ़कर और नित्य नई खेली जाने वाली सरकारी चालों को, तथा उनका मुक़ाबला किस तरह किया जाता है इसे देखकर, राजनीति का व्यावहारिक अध्ययन कर रहे थे। समाज-शास्त्र और अर्थशास्त्र का अध्ययन रानीपरज तथा अन्य बारडोली निवासी जातियों की सामाजिक अवस्था एवं आर्थिक परिस्थिति की जाँच द्वारा कर रहे थे।

पर सारी तहसील के लिए इतने स्वयं-सेवक काफ़ी न थे। इनके अतिरिक्त (क़रीब १५००) स्थानीय स्वयं-सेवक भी थे जो अक्षर-ज्ञान में चाहे इनसे कम हों, पर उत्साह, उपाय-प्रचुरता, दक्षता आदि गुणों में इनसे किसी प्रकार पीछे रहने वाले न थे।

इन सब नियमों और व्यवस्थाओं ने मिलकर बारडोली को एक व्यवस्थित सत्याग्रही दुर्ग का रूप दे दिया था। जहाँ हर कोई आ जा तो सकता था परन्तु उसकी उपस्थिति वहाँ की जनता पर अनिष्टकारी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती थी।

पर विजय के कई अन्य कारण भी हैं, जिनको यहाँ लिख देना परम आवश्यक है।

विजयोत्सव के दूसरे दिन वालोड़ पेटा के विभागपति और भड़ूच के तेजस्वी नेता डा० चन्दूलालभाई से कोई दो घण्टे तक बारडोली सत्याग्रह पर बड़ी मनोरंजक बातचीत होती रही। नम्रतापूर्वक मैंने उनसे पूछा कि आप की इस विजय का रहस्य क्या है? यह आपको कैसे मिली? उन्होंने इसके नीचे लिखे कारण बताये—

(१) आश्रम-व्यवस्था
(२) पिछड़ी हुई जातियों का हमारे साथ होना
(३) आध्यात्मिक राजनीति से भरा हुआ नेतृत्व
(४) चुस्त सैनिक संगठन और कठोर अनुशासन
(५) सुन्दर प्रचार
(६) भजन मंडलियाँ

आश्रम व्यवस्था के मानी हैं ग्रामसुधार के लिए स्थापन किये गये खादी-केन्द्र। इनका संचालन और व्यवस्था सत्याग्रह-आश्रम साबरमती के ढंग पर होती है। आश्रमों के साथ साथ इन पिछड़ी हुई जातियों के लिए विद्यालय भी होते हैं। चर्खा-प्रचार ने गृहस्थ स्त्री-पुरुषों में और विद्यालयों के युवकों तथा बालकों में उद्यम, स्वावलंबन और स्वतंत्रता का वायु-मंडल उत्पन्न करने का काम किया। १९२१ से लेकर आज सात आठ वर्ष से यह वायु-मंडल बनाने का काम ये आश्रम करते आ रहे हैं। और आज बारडोली को जो सफलता मिली है उसका प्रधान-श्रेय इसी व्यवस्था को है।

भूखों मरती दीन-दुर्बल प्रजा में खादी ने नवीन शक्ति और पवित्रता का संचार कर दिया। एक ओर जहाँ उनको उद्यमी बनाकर शराबखोरी जैसी आदमी को बरबाद कर देने वाली आदत से छुड़ाने का काम खादी ने किया, वहाँ दूसरी तरफ़ सामान्य हित के कारण सब को बड़ी अच्छी तरह संगठित कर दिया। पिछड़ी हुई जातियाँ इसलिए स्वभावतः हमारी तरफ़ हो गईं। बल्कि सच तो यह है कि जबतक आपके साथ पिछड़ी हुई जातियाँ न होंगी तब तक आपको किसी भी सार्वजनिक सामूहिक आन्दोलन (Mass movement) में या अहिंसात्मक युद्ध में सफलता नहीं मिल सकती।

तीसरी बात है सरदार वल्लभ भाई का भाव-प्रवण नेतृत्व। उनके व्याख्यानों ने एक नवीन शैली उत्पन्न कर दी है। लोकमान्य की राजनीति पटुता, और महात्माजी की अध्यात्मिकता का अपनी स्वाभाविक किसानोचित (वे स्वयं किसान ही तो हैं) स्पष्टता के साथ उन्होंने बड़ा अद्‌भुत समन्वय कर लिया है। इसके लिए उनके व्याख्यान किसानों और पढ़े लिखे लोगों को भी एक से प्रिय और मार्ग-दर्शक होते हैं।

हमारे पक्ष में सत्य होने पर भी कोई नेता जनता के हृदय पर तबतक अधिकार नहीं कर सकता जब तक उसमें आध्यात्मिकता न हो। आध्यात्मिकता के मानी हैं अहंकार का अभाव, भक्ति, और विमल तेजस्विता। वल्लभभाई में ये तीनों बातें थीं। जैसा कि पूज्य महात्माजी ने उस दिन अहमदाबाद में प्राह्म-समाज के उत्सव में व्याख्यान देते हुए कहा था 'श्री वल्लभभाई ने बारडोली के सत्याग्रह द्वारा सचमुच अपने वल्लभ (परमात्मा) को प्राप्त कर लिया।' अपने भक्तिमय और साथ ही तेजस्वी व्याख्यानों द्वारा जनता की शक्ति को जागृत करके वे उसे आत्म-सुधार की पुनीत धारा में लगा देते थे।

समझौता इतनी जल्दी हो गया इस पर कितने ही लोग और कार्यकर्ता तो बड़े निराश हो गये। उन्होंने पूज्य महात्मा जी को इस आशय की कई चिट्ठियाँ भी लिखीं। महात्माजी ने इसका उत्तर बड़े अच्छे ढंग से दिया।

महोत्सव—ता० १२ अगस्त के दिन दोपहर को पू० महात्माजी ने ताल्लुके के समस्त स्वयं सेवकों को एकत्र किया और कहा—

"हमारे लिए यह कितने भाग्य की बात थी कि इस युद्ध का अवसर हमें मिला और उसमें हमें सम्पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। हमने जो जो चाहा सोलहों आना मिल गया। हमने जो माँगा उससे कहीं अधिक माँग सकते थे। जाँच की शर्तों में हम यह भी एक शर्त रख सकते थे कि लगान वसूल करते समय सरकारी अधिकारियों ने किसानों पर जो जो जुल्म किये उनकी भी जाँच होनी चाहिए। पर हमने यह नहीं माँगा। इसे वल्लभ भाई की उदारता समझनी चाहिए। सत्याग्रही को तो तात्विक वस्तु मिली कि वह राजी हो जाता है। वह लोभ या हठ नहीं करता।

पर अब हम क्या करें। हम इस उत्सव को आत्म-निरीक्षण का अवसर बनावें। जो स्वयं-सेवक केवल इस युद्ध के निमित्त ही आये थे, जो यह निश्चय करके आये थे कि युद्ध समाप्त होते ही हम लौट आवेंगे, वे अवश्य जा सकते हैं। परन्तु जिन्हें लौट जाने की जरूरत नहीं, जिनपर वल्लभ-

भाई की नज़र जम गई है, वे तो यहीं रहें और समझ लें कि यही काम उनके करने योग्य है। इस काम में उनकी पूरी पूरी परीक्षा हो जायगी।

अगर कोई यह समझते हों कि स्वराज्य तो हम केवल योद्धा बनकर ही ले सकते हैं, तो मैं उन्हें कह देना चाहता हूँ कि यह उनका भ्रम है। वे भी ग़लती करते हैं जो सोचते हैं कि हिंसक लड़ाइयों में तो योद्धा दिन रात युद्ध का ही विचार किया करते हैं। गैरीबाल्डी इटली का एक महान सेनापति था। समरांगण में उसने भारी वीरता दिखाई थी। परन्तु युद्ध समाप्त होने पर तो वह हल चला कर खेती ही करता रहता। दक्षिण आफ्रिका का जनरल बोथा कौन था। वह भी बारडोली के किसानों के समान एक किसान ही था। वह ४०००० भेड़ें रखता था। भेड़ों की परीक्षा वह इतनी अच्छी करता कि स्वयं भेड़ों को चराने वाले भी चकित हो जाते।..................इसके बाद जनरल स्मट्स की मिसाल लीजिए। वह कोरा जनरल ही नहीं है। वह तो वकील है। वकालत में अटर्नी जनरल होने के साथ साथ वह एक चतुर किसान भी था।

मतलब यह कि लड़ाई से मुल्क जीते जाते हैं परन्तु देश को आबाद तो रचनात्मक कार्य के द्वारा ही किया जा सकता है। आप सब ने युद्धकाल में तो वल्लभ भाई की सरदारी को क़बूल किया। क्या इसी तरह रचनात्मक कार्य्य में भी वल्लभ भाई के नेतृत्व में आप काम कर सकेंगे, क्या यह आप से बन पड़ेगा? अगर आप यह न कर सके तो निश्चय पूर्वक समझिए कि आप की यह कमाई धूल में मिल गई। फिर बारडोली के किसानों के एक लाख रुपये बचे तो क्या और न भी बचे तो क्या?'

इसके बाद महात्माजी ने सफाई, मद्यपान निषेध, खादी प्रचार तथा अंत्यजोद्धार की महान आवश्यकता पर ज़ोर देकर कहा कि "यदि इस जीत का उपयोग हम समस्त भारत को मुक्त करने के लिए करना चाहें, तो इन तथा इन्हीं जैसे अनेक प्रश्नों को हमें हल करना पड़ेगा।"

हम देखते हैं कि पू० महात्मा जी और सरदार वल्लभ भाई के शब्दों पर अमल होना शुरू हो गया है।

मान-पत्रों की धूम है। पर इसके साथ ही रचनात्मक कार्य का संगठन भी हो रहा है। मान-पत्रों के बहाने इस काम के लिए वल्लभ भाई को बुलाकर उनसे नवीन स्फूर्ति ग्रहण करने के लिए लोग उत्सुक हो रहे हैं। समाचार मिले हैं कि अमुक जाति के पंच समाज-सुधार के कामों में सरदार साहब का अनुगमन करने की तैयारी कर रहे हैं। चारों तरफ़ से बाल-विवाह, फज़ूल ख़र्ची आदि बुराइयों को अपने अन्दर से निकाल बाहर करने के लिए लोग आतुर हो रहे हैं। सिर्फ़ एक झिझक है "आगे कौन बढ़े।" सरदार वल्लभ भाई कहते हैं आओ यह कठिनाई मैं दूर कर देता हूँ। यह न समझो कि किफ़ायत सारी से तुम्हारी कीर्ति कम हो जायगी। मैंने ११) में लड़के की शादी कर दी है। क्या इससे मेरी आबरू घट गई?

उधर रानी-परज के मुखियाओं ने ता० २२ अगस्त को खुंटाखिया में सभा की और अपनी जाति में सुधार का प्रचार करने के लिए एक स्थायी स्वयं-सेवकों का संगठन बना लिया है। ये स्वयं-सेवक भजन-मंडलियां बनाकर गांव गांव घूम कर जाति को जगावेंगे, चरखे का प्रचार करेंगे, सत्याग्रह का साहित्य पढ़ एवं सुना कर इस अपूर्व आन्दोलन का रहस्य लोगों को समझावेंगे, और जब कभी सरकारी अधिकारी प्रजापर अत्याचार करेंगे, तब गरीब प्रजा की सहायता करेंगे और इसकी ख़बर सत्याग्रह केन्द्रों में भेजकर उसके प्रतीकार की आवश्यक तजवीज करेंगे। इधर इन छावनियों की भी नवीन रूप से रचना शुरू हो गई है।

युद्ध काल में जो सत्याग्रह छावनियां स्थान स्थान पर खोली गई थीं वे अब कायम रक्खी जायंगी। यद्यपि कितने ही कार्य-कर्ता अपने पुराने अंगीकृत कामों को संभालने चले जावेंगे तथापि यह व्यवस्था कर दी गई है कि प्रत्येक छावनी में आवश्यक संख्या में कार्यकर्ता बने रहें। प्रत्येक छावनी में चरखा और खादी के जानकार स्वयं सेवक रख दिये गये हैं या रक्खे जा रहे हैं। वे खादी को मुख्य स्थान देकर उसकी सहायता से अन्य सेवा कार्य भी करते रहेंगे।

सत्याग्रह की सफलता में प्रचार विभाग ने भी बड़ा ही महत्वपूर्ण काम किया। इस विभाग के मंत्री श्री जुगतरामभाई दवे और श्री कल्याणजीभाई अपने काम में बड़े कुशल हैं। प्रति-दिन हज़ारों की संख्या में सत्याग्रह के समाचार पत्र मुद्र-

में प्रकाशित होते और प्रत्येक गाँव में मुफ़्त पहुँचा जाते। पीछे बाद में इनकी संख्या दैनिक १५,००० पहुँच चुकी थी। महत्वपूर्ण भाषण अलग पुस्तिका-रूप प्रकाशित कर दिये जाते। अंग्रेजी प्रकाशन का काम भी प्रायः इसी तरह होता रहता था। देश के कोई १०-१५ मुख्य अंग्रेज़ी दैनिक, साप्ताहिक समाचार-पत्रों को भेजते थे। यह काम श्री प्यारेलालजी के ज़िम्मे था 'यंगइंडिया' के सम्पादकीय विभाग में काम कर चुके हैं। कल्याणजी भाई फ़ोटो द्वारा प्रचार करते। सरकारी समाचारों की मामूली ख़बरों की सत्यता से सरकार इन्कार कर सकती थी पर जब फ़ोटो सहित—सचित्र—ख़बरें छपने लगीं तब भला सरकार उनका खण्डन कैसे करती? लाजवाब हो जाती।

किसानों को सचेत करने का काम श्री फूलचन्द भाई शाह के भजनों ने ख़ूब किया। उनकी वाणी में ओज और वीरता है। उनके गीत जन-हृदय को झकझोर कर जगा देते। जिस प्रकार साधना से मंत्रों में शक्ति संचार करने लगती है उसी प्रकार ज्यों ज्यों इन गीतों का प्रचार होता गया, वे गाये जाने लगे, उनमें नवीन शक्ति का संचार होता गया और वे बारडोली के स्त्री-पुरुषों में शान्त-वीरता के अपार भाव भरने लगे।

स्त्रियों में जागृति उत्पन्न करने का श्रेय कुमारी मीठूबेन पीटिट, (स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी की पौत्री) श्रीमती भक्तिबा देसाई, श्री॰ शारदाबेन मेहता, कुमारी मणीबेन पटेल, आदि वीर बहनों को है। श्रीमती मीठूबेन तो और सब बातों को छोड़कर खादी के पीछे पागल-सी हो रही हैं। इन बहनों की चातुरी सरलता और सेवावृत्ति देखते ही बनती है। श्रीमती भक्तिबा तो मानो त्याग की सात्विक मूर्ति हैं। दसा के भूतपूर्व दरबार साहब श्री गोपालदास भाई की आप सुयोग्य पत्नी हैं। कहाँ उनका वह राजसी ठाठ-बाट और कहाँ आज-कल का विनम्र सेवाभाव! श्रीमती शारदाबेन मेहता बड़ौदा के सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध डा॰ सुमन्त मेहता की धर्मपत्नी हैं। आप गुजरात की पहली महिला ग्रेजुएटों में से हैं। श्रीमती मणीबेन पटेल सेनापति वल्लभभाई की सुशिक्षित पुत्री हैं। आप गुजरात राष्ट्रीय महाविद्यालय की स्नातिका हैं और पूज्य महात्माजी की निकट परिचारिका हैं।

इस तरह बारडोली में इस समय एक असाधारण शक्ति जागृत हो गई है। जनता में अद्भुत चैतन्य फैल गया है। परन्तु बारडोली अब जो करने जा रही है उसका दिग्दर्शन सरदार वल्लभभाई के व्याख्यानों के नीचे दिये अंश करावेंगे।

सुलह के बाद तालुके के मुख्य-मुख्य केन्द्रों में उत्सव मनाये गये। पू॰ बापूजी (महात्माजी) और सरदार वल्लभभाई को भी निमन्त्रित किया गया था। सभाओं में व्याख्यान देते समय वल्लभभाई सब से यही कहते कि-"सरकार पर विजय प्राप्त करना तो आसान था पर अब अपने ऊपर तुम विजय प्राप्त करो तब बात है। हमारी १९२१ की प्रतिज्ञा अभी तक अधूरी है। उसे पूरा करके हमें मुक्त होना है। यह काम ऐसा-वैसा नहीं। उसके लिए हमें आत्मशुद्धि का व्रत लेना होगा। शराब, ताड़ी पीकर कहीं स्वराज्य मिल सकता है? नन्ही नन्ही लड़कियों की शादी कर देने से कहीं राष्ट्र बलवान हो सकता है? विदेशी कपड़े पहन कर तो तुम कभी स्वराज्य मंदिर में प्रवेश ही नहीं कर सकते। जबतक "दुबलाओं" को गुलाम और अछूतों को अछूत बनाये रक्खोगे, स्वराज्य की आशा करना भी व्यर्थ है। इन सब बुराइयों से झगड़ने के लिए हमें युद्ध करना होगा। यह युद्ध समाप्त होते ही इस काम में आप सब को लगा देना चाहता हूँ। अब तो बारडोली ही मेरा कार्य-क्षेत्र बनेगी।"

जिस तालुके की सेवा के लिए ऐसे नर पुंगवों और नारी-रत्नों का शुभ समुदाय जुट पड़े और जिसे पू॰ महात्माजी तथा पू॰ बा की शुभ-आशीष प्राप्त हो क्या वह धन्य नहीं है?

सन् १९२१ में बारडोलीने सारे देश को अपनी तरफ़ आकर्षित कर लिया था। आज इस सफलता द्वारा उसने देश की आशा-लता को पुनः पल्लवित कर दिया और नास्तिकों को आस्तिक बना दिया है।

स्वराज्य का रामबाण उपाय है, देश में अनेकानेक बारडोलियों का तैयार होना।

वैजनाथ महोदय

चित्र दर्शन

लक्ष्मण

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम ।

"वत्स लक्ष्मण तुम अभिप्राय के जानने वाले हो। धर्मज्ञ हो, कृतज्ञ हो। तुम्हारा स्वभाव ठीक पिताजी के समान ही है। तुम्हारी इन सेवाओं ने तो धर्मात्मा पिताजी को भी भुला दिया है। अहा! तुम्हारी बनाई यह पर्णकुटी कितनी मनोहर और सुविधाजनक है? यह तो मुझे अयोध्या के महलों से भी अधिक प्यारी मालूम होती है। यह रमणीय कुटी बना करके तुमने इस गहन वन को हमारे रहने योग्य बना दिया। जी चाहता है कि तुम्हें कुछ दूँ। पर इस वनवासी राम के पास तुम्हारे देने योग्य है ही क्या? आओ वत्स! अकिंचन राम का यह हृदय ही तुम्हें अर्पित है"।

लक्ष्मण के लिए वह दृढ़ आलिंगन करोड़ों धनधनी साम्राज्यों की संपत्ति से भी अधिक सुखद था!

पर पर्णकुटी बनाकर लक्ष्मण ने कुल्हाड़ी और धनुष-बाण उठाया और फल-फूल लेने के लिए चल दिये। सेवक कहीं विश्रांति जानता है? लक्ष्मण का यह सेवा-क्रम चौदहों वर्ष तक नियमित रूप से जारी रहा। प्रातःकाल उठते ही वे फल-फूल और ईंधन लेने को चल देते और दिन रात हाथ में धनुष-बाण धारण किये अपने अलौकिक भाई भौजाई की रक्षा किया करते। दिन में उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए हाथ जोड़े सदा तैयार रहते और जब वे एकांत में बातचीत करते रहते अथवा रात को सोते रहते तब एक ईमानदार सेवक की भांति दूर खड़े रहकर पहरा दिया करते।

मेघनाद जैसे प्रबल राक्षस का वध करने की शक्ति का रहस्य इसी अखंड जागरूकता, धर्म और ब्रह्मचर्यमय सेवा में है। भरत और लक्ष्मण की सेवाओं और भ्रातृप्रेम का वर्णन पढ़ कर कौन न चाहेगा कि हमारे भाई भी ऐसे हों। पर इससे पहले राम बनने की ज़रूरत है।

हाँ, इसे न भूलना चाहिए। पहले हम खुद राम श्रीराम का अतुलत्याग, अखंड शील-मर्यादा, प्रगाढ़-प्रे अप्रतिम उदारता ही सीता, लक्ष्मण और भरतको आक करते, उत्पन्न करते, एवं जगाते हैं। है० म०

भिखारिन

"......मैं घंटों से तेरी पूजा की सामग्री लिये देख रही हूँ जबकि जाने वाले एक के बाद एक आ और मेरे फूल ले जाते हैं।

सवेरे का और दो पहर का भी समय बीत गया सांझ की छाया में मेरी आंखें नींद से भरी हैं। लोग ओर देखकर हंसते हुए और मुझे शरमिंदा करते हुए जा रहे हैं। मैं एक भिखारिन की तरह...... .. .... हूँ। और जब वे पूछते हैं "तू क्या चाहती है?" तब अपनी आँखें बंद कर लेती हूँ और कोई उत्तर नहीं देती।

ओः! सचमुच किस तरह मैं उन्हें कहूँ कि मैं तेरी देख रही हूँ। और तू ने आने का मुझे वचन दिया है। मारे के मैं यह भी कैसे कहूँ कि मेरे दहेज के लिए मेरे पास ग़रीबी है। इस अभिमान को मैं अपने हृदय के अन्तस में छिपाये बैठी हूँ।

मैं......बैठी हुई......टकटकी लगाये यह स्व देखती हूँ कि जब तू आयेगा, चारों ओर अचानक रोश फैल जायगी। तेरे रथ पर सुनहरी पताकायें फहराती हों और जब मुझे हँसने वाले वे लोग मुझे अपने आस से उतर मुझ ग्रीष्म ऋतु की बेल के समान लज्जा और से कांपती हुई........भिखारिन को धूल से उठाते पायेंगे तो सड़क के किनारे मुँह बाये देखते रह जायेंगे।

रवीन्द्र (गीतांजलि से)